प्राक्कथन

मानव-वृत्तियो की विकसनशील अनन्तता साहित्य मे निरन्तर नूतन उत्थानो को जन्म देती रहती है। साहित्य का नियन्ता किंवा आलोचक इन उत्थानो की गति-विधियो का निरीक्षण-परीक्षण कर उनके स्वरूप का निर्धारण करता है। आलोचक का यह कार्य इतना जटिल है कि उसे प्रत्येक क्षण अत्यन्त जागरूक रहकर अग्रसर होना पडता है, तनिक से भी प्रमाद से वह अपने पद-गौरव से स्खलित हो सकता है। यही कारण है कि साहित्य के परीक्षक का कार्य जहाँ एक ओर उसके यश-स्तम्भ का विधायक है, वही दूसरी ओर, प्रमाद की स्थिति मे, खतरे से भी खाली नही।

साहित्य-परीक्षा का यह कार्य तभी से चला आ रहा है, जब से सर्जनात्मक साहित्य प्रकाश मे आया। साहित्य ज्यो-ज्यो नये मोड ले रहा है, त्यो-त्यो यह परीक्षण-कार्य गुरुतर होता जा रहा है। किन्तु फिर भी सहृदय पाठक की सुविधा के लिए सशक्त हाथ इस कार्य को निरन्तर सम्पन्न कर रहे हैं। साथ ही आज की उच्चस्तरीय परीक्षाओ ने भी इस कार्य मे एक अदृष्टपूर्व गति का आधान कर दिया है। परीक्षार्थियो की कठिनाइयो को दूर करने के लिए नैकविध आलोचना प्रकाश मे आ रही है।

वृहत् साहित्यिक निबन्ध इसी दिशा मे एक विनम्र प्रयास है। आज हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन अद्भुत प्रगति पर है—दिन पर दिन हिन्दी-साहित्य के समक्ष नयी नयी समस्याएँ आ रही हैं और उच्चस्तरीय कक्षाओ के परीक्षार्थियो को इन समस्याओ का सामना करना पड रहा है। ऐसी स्थिति मे इस बात की बहुत बडी आवश्यकता थी कि कोई एक ऐसी पुस्तक प्रस्तुत की जाय, जिसमे इन व्यापक समस्याओ का बौद्धिक स्तर पर समाधान मिल जाय। यो तो हिन्दी-साहित्य के विभिन्न विषयो पर ऐसी अनेको पुस्तकें प्रकाश मे आ चुकी हैं जिनमे एक अथवा कतिपय गिनी-चुनी समस्याओ का समाधान प्रस्तुत किया गया है, किन्तु अद्यतन एक भी ऐसी पुस्तक प्रकाशित नही हुई है जिसमे परीक्षार्थी को सभी समस्याओ का समाधान मिल जाय और उसे इधर-उधर न भटकना पडे। भारतीय एव पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भाषा-विज्ञान तथा हिन्दी-साहित्य का इतिहास इत्यादि। प्राय सभी पक्षो का इसमे सन्निवेश कर दिया गया है। यह विषय वैविध्य निस्सन्देह उच्च कक्षा के छात्रो का व्यापक रूप में

पथ-प्रदर्शन कर सकेगा ऐसी आशा स्वाभाविक ही है। शैली सुगम होते हुए भी परिनिष्ठित रखी गयी है जिससे परीक्षार्थी उच्चस्तरीय शैली से भी अवगत हो सकें।

जहाँ तक छात्रवर्ग का प्रश्न है उनके सुबोध को ध्यान में रखते हुए ये निबन्ध इस दृष्टि से लिखे गये हैं कि उन्हें साहित्य-जगत् में प्रचलित तथा प्रतिष्ठित वस्तु का ज्ञान भी हो और उनमें मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो सके। इसीलिये शुष्क वस्तु का परिचय देते हुए भी मौलिक चिन्तन की अवहेलना नहीं की गई है। प्रस्तुत निबन्धों की रचना में जिन विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना लेखकों का परम कर्त्तव्य है। साथ ही प्रकाशन की शीघ्रता में कतिपय निबन्ध अन्य विद्वानों से भी लिखा लिये गये हैं। आशा है यह निबन्ध-संग्रह अपने विषय-वैविध्य द्वारा जहाँ एक ओर छात्रों के ज्ञान की परिधि का विस्तार कर उन्हें परीक्षोपयोगी सामग्री प्रदान करेगा वहाँ दूसरी ओर उनमें मौलिक चिन्तन तथा जिज्ञासावृत्ति जगाएगा। यदि छात्रवृन्द तथा विद्वज्जन इन निबन्धों से उपकृत हो सके तो लेखकद्वय अपने प्रयास को सफल समझेगा—'क्लेशः फलेनहि पुनर्नवतां विधत्ते।'

लेखक
रामसागर त्रिपाठी
शान्ति स्वरूप गुप्त

दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

प्रथम वर्ग—भारतीय काव्य-शास्त्र

द्वितीय वर्ग—पाश्चात्य काव्य-शास्त्र

तृतीय वर्ग—भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन

चतुर्थ वर्ग—भाषा-विज्ञान एवं हिन्दी भाषा

द्वितीय खंड

पचम वर्ग—हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत परिशीलन

षष्ठ वर्ग—हिन्दी साहित्य के विभिन्न वाद

सप्तम वर्ग—हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाएँ

अष्टम वर्ग—हिन्दी साहित्य के प्रमुख साहित्यकार

प्रथम खण्ड

प्रथम वर्ग

भारतीय काव्य शास्त्र

: १ :

रस का स्वरूप

१ प्रारम्भिक आचार्यों के मत में रस का स्वरूप ।
२ अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित रस का स्वरूप ।
३ विश्वनाथ का रस स्वरूप विश्लेषण ।
४ पण्डितराज का मत ।
५ संस्कृत काव्यशास्त्र के रस स्वरूप का उपसंहार ।
६ हिन्दी काव्यशास्त्र में रस का स्वरूप ।

प्रारभिक आचार्यों के मत में रस का स्वरूप

स्वरूप निर्धारण मे परिभाषा का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है। किन्तु प्राचीन काव्यशास्त्रियो का ध्यान निर्दुष्ट परिभाषा प्रस्तुत करने की ओर नही था। वे अपने मन्तव्य को समझाने के लिए कुछ शब्दो मे किसी तत्व का परिचय देते थे और यदि वह तत्व सर्वसाधारण मे माना जाना हुआ तो परिचय देने की भी आवश्यकता नही समझते थे। रस के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। भरतमुनि ने रस निष्पत्ति का तो विस्तारपूर्वक विवेचन किया है किन्तु रस क्या वस्तु है इस पर विचार प्रकट करने की आवश्यकता नही समझी। जब रस शास्त्र मे ही परिभाषा निर्माण की ओर आचार्य का अभिनिवेश नही है तब काव्य शास्त्र के आचार्यों से तो हम परिभाषा की आशा ही नही कर सकते। भामह ने 'रसवत्' का तो परिचय दिया है किन्तु रस क्या है यह बतलाने की चेष्टा नहीं की। दण्डी ने मधुर्यगुण मे रस की सत्ता बतलाई है और रसवत् अलकार के प्रसग मे सभी रसो का परिचय दिया है किन्तु रस क्या है यह बतलाने की आवश्यकता नही समझी। यही बात वामन, उद्भट और रुद्रट के विषय मे कही जा सकती है। आनन्दवर्धन ने रस ध्वनि को ही केन्द्र बिन्दु मानकर काव्य सम्बन्धी समस्त तत्वो का मूल्याकन किया है। किन्तु उन्होने भी रस की परिभाषा पर विचार करने की आवश्यकता नही समझी।

भरतमुनि ने रस की परिभाषा तो नही दी है किन्तु रस पदार्थ पर विचार अवश्य किया है। यदि हम चाहे तो इसे रस की परिभाषा मान सकते है। भरत ने प्रश्न उठाया है—'रस कौन पदार्थ है।' इसका उत्तर दिया है 'आस्वाद्य होने के कारण' फिर प्रश्न किया है—'रस का आस्वादन कैसे किया जाता ?' इसका उत्तर दिया है—

'निस्सन्देह जिस प्रकार नाना व्यञ्जनों से संस्कृत अन्न का भोजन करते हुए सुन्दर मन वाले पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्ष इत्यादि को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार नाना भावाभिनय से व्यञ्जित वाणी अंग और सत्त्व से युक्त स्थायीभावों का सुन्दर मन वाले प्रेक्षक आस्वाद लेते हैं और हर्ष इत्यादि को प्राप्त करते हैं। इसीलिये नाट्यरस इस नाम से इनकी व्याख्या की जाती है। यहाँ पर भरत ने रस को आस्वाद्य बतलाया है और उसके लिए अन्न के आस्वादन का उदाहरण दिया है।

विद्वानों ने भरत के इस विवेचन में उसके विषयगत रूप के दर्शन किये हैं। विद्वानों का कहना है कि भरत ने यहाँ पर रस को विषय गत माना है। वास्तविकता यह है कि विषय और विषयी शब्दों का प्राचीन शास्त्रों में प्रयोग तो पाया जाता है किन्तु आजकल जिस अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग होता है उनसे प्राचीन प्रयोग कुछ भिन्न है। आजकल विषयीगत और विषय गत शब्दों का प्रयोग अंग्रेजी के सब्जेक्टिव और आब्जेक्टिव शब्दों के अनुवाद के रूप में होता है। इस प्रकार विषयगत शब्द का अर्थ हुआ वस्तुगत अर्थात् रंगमञ्चीय रस और विषयीगत का अर्थ हुआ सहृदयगत अथवा आस्वाद रूप रस। आशय यह है कि इन विद्वानों के मत में भरत की दृष्टि रंगमञ्चीय उपस्थापन की ओर थी और सहृदय की ओर नहीं। किन्तु मेरा अनुमान है कि भरत इस प्रकार के विभाजन को लेकर नहीं चले थे। उनकी दृष्टि में प्रयोक्ता और प्रतिपत्ता दोनों थे। यह बात मूल पाठ पर कुछ गहराई से विचार करने पर स्वतः सिद्ध हो जाती है। उन्होंने रस को 'आस्वाद्य' बतलाया है जिसका अर्थ है आस्वाद योग्य तत्त्व। इसके लिए उन्होंने भोज्य रस का दृष्टान्त दिया है। भोज्य रस न्याय शास्त्र की भाषा में गुण है द्रव्य या वस्तु नहीं। न्याय शास्त्र में २४ गुणों के अन्तर्गत रसनाग्राह्य गुण को रस कहते हैं। जिस प्रकार गन्ध कोई द्रव्य नहीं। पुष्प एक द्रव्य या वस्तु है और उसके अन्दर रहने वाला एक सूक्ष्म तत्त्व गन्ध है जिसको घ्राण से ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार भोज्य द्रव्य में सूक्ष्म तत्त्व के रूप में विद्यमान 'रस' को रसनेन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार न्यायशास्त्र के अनुसार जो गुण है उसे द्रव्य नहीं माना जा सकता और रसनेन्द्रिय से द्रव्य का ग्रहण नहीं अपितु गुण का ग्रहण होता है। यही बात भरतमुनि के इस कथन से भी सिद्ध होती है कि 'यथाहिनानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनय व्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायि भावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।' यहाँ अन्न को भोज्य बतलाया है और रस को उससे पृथक करके आस्वाद्य बतलाया है। ये दोनों पृथक तत्त्व हैं और द्रव्याश्रित रहना ही गुणों का स्वभाव है। इसी नियम के अनुसार मधुरादि रस 'अन्न' के आश्रित रहते हैं और इसी प्रकार शृंगारादि रस भी विभावानुभावादि के आश्रित रहते हैं। यहाँ पर 'आस्वादयन्ति' की कर्तृवाच्य क्रिया भी ध्यान देने योग्य है और 'सुमनसः प्रेक्षकाः' का कर्ता भी विचारणीय है। कोई भी रस तभी रसरूपता को

धारण कर सकता है जबकि उसका आस्वादन किया जाय। यही आस्वाद्यत्व का अर्थ है। इस प्रकार परिशीलक की दृष्टि से ही रस को आस्वाद्य कहा जा सकता है अन्यथा नही। आस्वाद्यत्व का 'त्व' प्रत्यय भी यही बात कहता है। 'त्व' प्रत्यय साधारण धर्म या भाव के लिए आता है। धर्म या भाव का आशय है जो तत्व किसी भी वस्तु को तद्रूपता प्रदान करे। आस्वाद ही वह धर्म है जो आस्वाद्य को आस्वाद्य बनाता है। इस प्रकार आस्वाद्यत्व धर्म आस्वाद के अतिरिक्त और कुछ नही है। मेरा आशय यह नही है भरत का ध्यान वस्तुनिष्ठता की ओर नही था। मेरा पक्ष केवल यही है कि भरत इस प्रकार के विभाजन को मन मे रखकर विवेचन करने की ओर अग्रसर नही हुए थे और जिन वचनो के आधार पर रस को वस्तुगत सिद्ध किया जाता है उन्ही के आधार पर उसे सहृदयगत भी सफलतापूर्वक सिद्ध किया जा सकता है।

प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना रस पृथक्-पृथक् होता है। किन्तु जब अनेक द्रव्य एक साथ मिलकर किसी नये द्रव्य का निर्माण करते हैं तब उन सबका एक साघातिक रस तैयार हो जाता है। उनमे कुछ तो मूल द्रव्य होते हैं जैसे भात इत्यादि और कुछ केवल रसाभिव्यञ्जन के लिए ही मिलाये जाते हैं जैसे दही काजी मिर्च मसाला इत्यादि। इन सबसे मिलकर एक नया रस बन जाता है जिसे भरतमुनि ने 'षाडव' रस कहा है। सम्भवत 'षाडव' से भरत का अभिप्राय छ रसो के सम्मिश्रण से ही है। 'षाडव' नाम का कोई द्रव्य प्रतीत नही होता जैसी कि कुछ लोगो ने कल्पना की है।

यहाँ पर एक बात पर और ध्यान दिला देने की आवश्यकता है। भरत ने दो शब्दो का प्रयोग किया है—'रसान् आस्वादयन्ति और हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति' 'रस' का आस्वादन किया जाता है और 'हर्ष' इत्यादि की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि रस और हर्ष भरत के मत मे दो अलग-अलग तत्व हैं। अतएव कुछ लोगो ने जो यह माना है कि सहृदय का आस्वादन रस रूप नही होता अपितु हर्षादि रूप होता है वह ठीक नही है। लोक मे देखा जाता है कि किसी उत्तम भोजन को करने के अवसर पर भोक्ता मधुरादि रसो का ही स्वाद लेता है और उसे प्रसन्नता इस बात की होती है कि उसे उत्तम भोजन प्राप्ति का सौभाग्य मिल गया। उत्तम अभिनय को देखने मे भी यही बात होती है। अभिनय देखने के अवसर पर शृगारादि की भावना का आस्वादन किया जाता है और प्रसन्नता का अनुभव भी होता है। रस के विषय मे जो यह कहा जाता है कि रस विभावादि जीवितावधि होता है अर्थात् रस उतने समय तक ही रहता है जब तक विभावादि विद्यमान रहते हैं। अर्थात् रसास्वादन तो उतने समय तक ही होता है जब तक सहृदय व्यक्ति नाटक को देखता या काव्य को पढ़ता रहता है। उसके बाद आस्वादन शेष नही रह जाता। किन्तु हर्ष तो बहुत बाद तक बना रहता है। मधुरादि रसो का स्वाद भी उतने समय तक ही लिया जाता है जितने समय तक हम भोजन करते रहते हैं। किन्तु हर्ष, प्रसन्नता या तृप्ति का अनुभव हम

बाद तक और बहुत बाद तक करते रहते हैं। यही एक प्रमाण है जो इस बात को सिद्ध करता है कि रस और हर्ष एकार्थक नहीं है। इसीलिए भरत ने पृथक करके दोनों का निर्देश किया है कि सहृदय लोग रस का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं। अतएव यह मानना ठीक नहीं है कि भरत के मत में रस एक प्रकार की भावमूलक कलात्मक स्थिति है जो कविनिबद्ध विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के प्रसंग से नाट्य सामग्री के द्वारा रंगमंच पर उपस्थित की जाती है। आशय यह है कि नाट्य सौंदर्य और काव्य सौन्दर्य के माध्यम से स्थायीभाव की उपस्थिति ही रस नहीं अपितु उसकी आस्वाद्यता भी रस है। भरत का यही आशय है।

जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है कि प्राचीन आलंकारिकों ने रस के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है। दण्डी इत्यादि ने रस के भेदों का विवेचन किया है। उससे उनके रस-परिभाषा विषयक अभिमत का भी अनुमान लगाया जा सकता है और अभिनव गुप्त ने इस प्रकार का अनुमान लगाया भी है। अभिनव गुप्त का कहना है कि दण्डी इत्यादि प्राचीन आचार्य भट्ट लोल्लट की दृष्टि के ही समर्थक थे कि स्थायी भाव ही उपचित होकर रस बन जाता है। जैसाकि दण्डी ने शृङ्गार रस की परिभाषा में लिखा है कि 'रति रूप-बाहुल्य के योग से शृंगारत्व को प्राप्त होती है। प्रकर्षकोटि को प्राप्त कर कोप रौद्रात्मक बन जाता है।' इत्यादि। इन उद्धरणों से तथा अभिनव गुप्त के इस कथन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि इन आचार्यों की दृष्टि सहृदय के आस्वाद की ओर नहीं थी। वे केवल रंगमंचीय रस की ही व्याख्या कर रहे थे। अभिनव गुप्त के कथन का आशय केवल यही है कि वे प्राचीन आचार्य रस को स्थायीभाव का उपचित रूप ही मानते थे। स्थायीभाव अनुपचित अवस्था है और रस उपचित अवस्था। केवल परिमाण का भेद है। तत्त्व के रूप में दोनों एक हैं। जबकि परवर्ती आचार्य रस को स्थायीभाव से सर्वथा विलक्षण मानते हैं। अभिनव गुप्त के कथन से भी यही बात सिद्ध होती है। भट्टलोल्लट भी रस को केवल रंगमंचीय मानते हों ऐसी बात नहीं है। उनके ये शब्द—उभयोरपि अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धान बलात्—'अर्थात् वह रस उभयगत होता है अनुकार्य में भी और अनुकर्ता में भी क्योंकि उसमें अनुसन्धान किया जाता है। ये शब्द भ्रामक अवश्य हैं और ऐसी प्रतीति उत्पन्न करते हैं कि अनुकार्य में तो रस मुख्य रूप से उत्पन्न होता है और नट अपने को अनुकार्य के रूप में समझता है इसलिये उसमें रस उत्पन्न होता है। किन्तु यहाँ पर एक 'वैसे' लगा हुआ है जिससे सिद्ध होता है कि यहाँ पर कोई शब्द छूट गया है। मम्मट ने 'प्रतीयमान' शब्द का प्रयोग किया है। मम्मट ने लोल्लट के ही शब्दों का प्रयोग नहीं किया है अपितु उनके आशय को अपने शब्दों में समझाया है। हो सकता है कि मम्मट को अभिनव भारती की जो पुस्तक मिली हो उसमें इस 'वैसे' के स्थान पर प्रतीयमान' या इसी की कोटि का कोई दूसरा शब्द मिला हो। जो भी हो यहाँ

पर जो भी शब्द जोडा जायेगा वह सहृदय की आस्वादनिष्ठता की ओर संकेत अवश्य करेगा। इस विवेचन का मेरा निष्कर्ष यही है कि प्राचीन आचार्यों ने विवेचन करने मे 'विषयीगत' और 'विषयिगत' रूप को निश्चय करने की ओर ध्यान नही दिया था और इस समय जो मूलपाठ प्राप्त होता है उससे यह निश्चय करना कठिन भी है। इसके अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों ने रस के स्वरूप के विषय मे कुछ नही कहा है। शंकुक और भट्टनायक दोनो ने रस स्वरूप को सहृदय गत मानकर ही उसकी व्याख्या की है।

अभिनय गुप्त द्वारा प्रतिपादित रस का स्वरूप

रस के स्वरूप का विस्तृत विश्लेषण करने वाले आचार्य अभिनव गुप्त ही हैं। ये शैवाद्वैत दर्शन के प्रतिष्ठित आचार्य हैं और रस के स्वरूप विवेचन पर भी इनकी सम्प्रदायनिष्ठता का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इन्होंने रस को आनन्द रूप माना है। आनन्द वस्तुत आत्मा का धर्म है, वह विषय वस्तु मे नही रहता। रसास्वादन मे विषय अर्थात रस-सामग्री विभावानुभाव(रंगमंच) का उपयोग यही है कि वह आत्म-परामर्श के माध्यम के रूप मे हमारे सामने आता है। काव्य विषय के परिशीलन करने से प्रमाता की संवेदना आत्मा मे विश्रान्त हो जाती है और इस प्रकार प्रमाता अपनी आत्मा के ही आनन्द का अनुभव करता है, विषय मे आनन्द की स्थिति नही है। अभिनव ने उस प्रक्रिया पर भी विचार किया है जिससे काव्य वस्तु आत्मानुसन्धान तथा संविद्विश्रान्ति मे सहायक होती है। अभिनव के विवेचन का सार यह है —

नाट्य एक विशेष प्रकार के अर्थ को कहते हैं जिसका द्योतन अभिनय के द्वारा होता है या विशेष प्रकार के काव्य के अध्ययन के द्वारा। जब नट कुशलतापूर्वक अभिनय करता है और प्रेक्षक या पाठक एकतान होकर निश्चल मन से उसका परिशीलन करता है तब वह काव्यार्थ उसके सामने प्रत्यक्ष सा आता जाता है। उस काव्यार्थ मे अनेक विभावानुभाव इत्यादि भरे होते हैं और वह काव्यार्थ उन्ही का समूह होता है। किन्तु विभावगत समस्त जड पदार्थों का विलय विभिन्न पात्रो की संवेदना मे होता है और संवेदना का विलय रंगमंच पर स्थित विशिष्ट भाव के भोक्ता पात्र की चित्तवृत्ति मे हो जाता है। समस्त पात्रो की चित्तवृत्ति का विलय प्रधान भोक्ता की चित्तवृत्ति मे हो जाता है। उदाहरण के लिये रामायण मे अनेक कथानक तथा अनेक पात्र भरे पडे हैं। स्थान स्थान पर उसमे प्रकृति वर्णन भी किया गया है। समस्त जड प्रकृति कवि के वर्णन के प्रभाव से तत्स्थानीय पात्र की चित्तवृत्ति के रूप मे ही अवगत होगी। पाठक समस्त जड प्रकृति को उस पात्र की चित्तवृत्ति के अनुसार ही देखेगा। पात्र भी बहुत हैं। दशरथ कौशल्या सुग्रीव लक्ष्मण इत्यादि की अपनी अपनी चित्तवृत्तियाँ हैं। इन चित्तवृत्तियो का विलय प्रधानपात्र राम की चित्तवृत्ति मे हो जायेगा और प्रधान पात्र की चित्तवृत्ति का ही पाठक अनुसरण करेगा। साराश यह है काव्यार्थ का स्वभाव या स्वरूप है प्रधानपात्र की चित्तवृत्ति, जिसे हम नायक की चित्तवृत्ति कह सकते हैं।

नायक की यह एक ही चित्तवृत्ति सैकड़ों विशेषताओं से भरी होती है, उसमें अपनी चित्तवृत्ति पराई चित्तवृत्ति इत्यादि समस्त चित्तवृत्तियों की विशेषतायें होती हैं। अब यहाँ पर काव्यकला का क्षेत्र समुपस्थित होता है। लौकिक गीत नेपथ्य लास्य के सभी अंग उस काव्यार्थ के स्वीकृत लक्षणों और गुणों में एक प्रकार का जीवन डाल देते हैं गीत वाद्य इत्यादि के द्वारा काव्य भलीभांति रमणीय बन जाता है दूसरी ओर नट निरन्तर तादात्म्य में प्रयोग करता रहता है, इस प्रकार काव्य की महिमा और नट के अभ्यास के कारण वह एक नायक गत) चित्तवृत्ति व्यक्ति निष्ठता से प्रच्युत कर दी जाती है और इस प्रकार उसका साधारणीकरण हो जाता है।

अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण को व्यापक माना है। परिमित नहीं। जब हम किसी भयानक रस की सामग्री का अवलोकन करते हैं उदाहरण के लिये अभिज्ञान शाकुन्तल में राजा के शरसन्धान को देख कर मृग भयभीत हो जाता है उस समय त्रासक (राजा) और त्रस्त (मृग) दोनों ही कवि कल्पित होने से अपारमार्थिक हैं। अतएव जब 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' इत्यादि वाक्यों के अर्थ की प्रतिपत्ति हो चुकती है तो हम मृग इत्यादि की मानसिक साक्षात्कारात्मिका प्रतिपत्ति होती है। किन्तु इनके अपार मार्थिक होने के कारण एक ऐसी प्रतीति उत्पन्न हो जाती है जिसमें न देश-काल का निर्देश होता है और न त्रासक या त्रास्य की सत्ता विद्यमान रहती है। इस प्रकार केवल भय शेष रह जाता है। तथा उसमें नटादि सामग्री केवल सहयोग प्रदान करती है। अतएव सभी सामाजिकों को एकघन रूप प्रतिपत्ति होती है जो कि रस परि पोष में कारण हो जाती है। जो कुछ रङ्गमंच पर प्रदर्शित किया जाता है उससे सभी परिशीलकों की वासना मेल रखा ही जाती है क्योंकि सभी की चित्तवृत्तियाँ अनादि वासना से वासित होने के कारण चित्रित हुई ही रहती हैं।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि व्याकरण के अनुसार साधारणीकरण का अर्थ है जो पहले साधारण न रहा हो और बाद में साधारण हो जाय। अतएव साधारणीकरण के लिये प्राक्तन अवस्था में असाधारण रहना अनिवार्य होता है। आशय यह है कि भावों का उपादान सर्वदा व्यक्तिवैचित्र्य से ही सम्भव होता है। व्यक्ति वैचित्र्य के माध्यम से ही उनका उपादान होता है और अभिनय या गुणालङ्कार की प्रक्रिया में पड़कर वे अपनी असाधारणता या विशेषनिष्ठता का त्याग कर साधारण बन जाते हैं।

प्रमुख नायक की चित्तवृत्ति कला सौष्ठव और अभिनयकौशल से व्यक्तिनिष्ठता को छोड़कर जब साधारण रूपता में परिणत हो जाती है तब अपनी सत्ता में सामाजिकों को भी लपेट लेती है। उस समय सामाजिकों का नायक से तादात्म्य हो जाता है। उस समय यह चित्त वृत्ति हम जिस रूप में निर्भासित होती है वह उन सभी प्रकार की चित्तवृत्तियों से विलक्षण होती है जिनकी सत्ता लोक में मानी जाती है। न वह लौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आती है न अनुमान के न अपूर्ण योगियों के ज्ञान के

जिससे चक्षु इत्यादि लौकिक बाह्यकरणो की अपेक्षा नही होती और न परिपक्व योगियो के ज्ञान के अन्तर्गत आती है जिसमे अन्य सासारिक ज्ञेय पदार्थों का सस्पर्श भी नही होता और जिसका पर्यवसान केवल अपनी आत्मा मे होता है। न यह तटस्थ की चित्त-वृत्ति के रूप मे आती है न प्रमाता की न प्रमेय की । न स्वगत न परगत। इन सबसे विलक्षण रूप मे ही इसका प्रतिभास होता है । यह अपनी परिमित आत्मा के रूप मे भी प्रतिभासित नही होती और न अन्य की आत्मा के रूप मे प्रतिभासित होती है। अतएव इसमे अन्य प्रकार की चित्तवृत्तियो के जनन की भी क्षमता नही होती। आशय यह है कि लोक मे किसी घटना को हम किसी न किसी लौकिक भाव के परिप्रेक्ष्य मे देखते हैं। वह या तो हमें अपने से सम्बद्ध प्रतीत होती है या शत्रु से या तटस्थ से। किन्तु काव्य मे साधारणीकरण हो जाने से वह घटना हमे न तो स्वसबद्ध प्रतीत होती है न शत्रु सम्बद्ध और न तटस्थ सम्बद्ध । अतएव जिस प्रकार लोक मे किसी घटना को देखकर हमारे अन्दर कोई नई भावना और प्रतिक्रिया जागृत होती है वैसी भावना और प्रतिक्रिया काव्य मे उद्भूत नही होती। लोक मे शत्रु के उत्साह को देखकर हमारे अन्दर क्रोध उत्पन्न होता है, मित्र के उत्साह को देखकर हमारे अन्दर उत्साह होता है। ऐसी दशा मे अपनी भावना के अनुकूल किसी न किसी प्रकार की प्रतिक्रिया और प्रवृत्ति भी हमारे अन्दर जागृत हो जाती है। किन्तु यहा तो सवेदना की विश्रान्ति हो जाती है और रसन या आस्वादन रूप व्यापार से हम उसे ग्रहण कर लेते हैं। इसीलिये उसे हम रस कहने लगते हैं। अभिनव गुप्त के मत मे यह आस्वादन ही रस है। आशय यह है कि अभिनव गुप्त ने स्पष्ट रूप मे रस को सहृदय-सम्बद्ध कर दिया है और रस के सहृदय द्वारा गृहीन रूप की ही व्याख्या की है। रस की अलौकिकता के ही कारण इसके कार्य कारण और सहकारी कारणो को विभाव, अनुभाव और सचारी भावो को अलौकिक सज्ञा से अभिहित किया जाता है। रस के स्वरूप के विषय मे अभिनव गुप्त का यही मत है।

परवर्ती काल मे अभिनव का काव्यशास्त्र पर व्यापक प्रभाव रहा है। रस-स्वरूप के विषय मे इन्ही की मान्यता प्रतिष्ठित रही और परवर्ती आचार्य उसी की व्याख्या करते रहे। रस स्वरूप के विषय मे विस्तृत प्रकाश डालने वाले दो प्रमुख आचार्य हुये हैं—विश्वनाथ और पण्डितराज। अत इन दोनो आचार्यों के रस स्वरूप पर प्रकाश डाल लेना अप्रासगिक न होगा।

विश्वनाथ का रस स्वरूप-विश्लेषण

विश्वनाथ ने रम स्वरूप के विश्लेषण मे निम्नलिखित दो कारिकायें लिखी हैं —

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर ॥

लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमातृभि ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस ॥

यहाँ पर प्रथमान्त शब्द रस के विशेषण हैं और उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। प्रथम पद्य में रस के तीन विशेषणों को एक ही समास में अन्तर्निविष्ट कर दिया गया है। अखण्ड स्वप्रकाश और आनन्दचिन्मय। इन विशेषणों का हेतु दिया गया है— सत्त्वोद्रेकात्। इसका आशय यह है कि यह आत्मा ब्रह्म रूप है। ब्रह्म की विशेषतायें इस आत्मा के अन्दर भी विद्यमान हैं। किन्तु जीवात्मा पर रजोगुण और तमोगुण का एक बहुत घना और मोटा परदा पड़ा हुआ है जिससे ब्रह्म से एकाकार होते हुए भी जीवात्मा तादात्म्य का अनुभव नहीं कर पाता। नाट्य के अवलोकन और काव्य के परिशीलन का एक प्रभाव यह पड़ता है कि ये रजोगुण और तमोगुण से पर्दे विदीर्ण हो जाते हैं और इससे शुद्ध सत्त्वगुण का आविर्भाव हो जाता है। उस समय आत्मा में समस्त जगत् से एकरूपता का अनुभव करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। तब आत्मा ब्रह्म सत्ता में लीन हो जाता है क्योंकि रस रूप है। अतएव ब्रह्म की विशेषतायें इसमें भी दृष्टिगत होने लगती हैं। ये विशेषतायें ये हैं—(१) ब्रह्म अखण्ड तथा एकरूप और एकरस है। उसी प्रकार रस का आस्वादन भी अखण्ड रूप में ही होता है। न तो उसमें विभावानुभाव इत्यादि उपकरण वर्ग की स्वतन्त्र प्रतीति होती है और न रसानुभव में कोई क्रिया ही होती है। विभावादि की समूहालम्बनात्मक प्रतीति रस की विशेषता है जिस प्रकार तत्त्वज्ञानी को दृश्यमान विश्व में अखण्ड ब्रह्म चेतना की अनुभूति होती है। (२) रस स्वप्रकाश है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार ब्रह्म स्वतः प्रकाशमान तत्त्व है उसी प्रकार रस भी प्रकाशित ही होता है। उसकी उत्पत्ति इत्यादि नहीं होती। यह एक नित्य तत्त्व है जो रजोगुण इत्यादि के मायाजन्य आवरण से आवृत रहता है और काव्यपरिशीलन के अवसर पर स्वतः प्रादुर्भूत हो जाता है। विद्यमान वस्तु की अभिव्यक्ति ही होती है। अविद्यमान की उत्पत्ति नहीं होती। (३) ब्रह्म एक आनन्दमयी चेतना है। जीव भी चेतन तत्त्व है किन्तु इसमें आनन्द की सत्ता नहीं है क्योंकि माया का आवरण ही इसके आनन्द रूप अंश को ढके हुए है। माया का आवरण हट जाने पर शुद्ध सत्त्व के उद्रेक होने से उसकी आनन्दमयी कला जागृत हो जाती है और आनन्दमयी चेतना के रूप में उसकी परिणति हो जाती है। यहाँ पर विश्वनाथ ने रस की आनन्द रूपता स्वीकार की है।

विश्वनाथ ने दूसरा विशेषण दिया है कि यह रस वेद्यान्तरस्पर्शशून्य होता है। आशय यह है कि जब हम रसास्वादन करते हैं तब जानी हुई या जानने योग्य सभी वस्तुओं का ज्ञान विलीन हो जाता है और इतनी तन्मयता आ जाती है कि उसे आत्ममता भी रसमय ही प्रतीत होती है। यही बात आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार कही है कि कुछ रूप रस की वस्तुयें ऐसी होती हैं कि उनके सामने आने पर हमारी अपनी सत्ता का ज्ञान ही हवा हो जाता है और इतनी तन्मयता आ जाती है कि विश्व का

कोई भी पदार्थ हमे प्रतीत ही नही होता ।

रस का एक अन्य विशेषण है ब्रह्मास्वाद सहोदर । यहा पर यह ध्यान देने की बात है कि रस लौकिक आनन्द तथा ब्रह्मानन्द के मध्य की वस्तु है । लोक मे भाव की तदनुकूल ही अनुभूति नही होती । एक भाव से किसी अन्य भाव की उत्पत्ति होती है । साथ ही लोक मे अर्जन विसर्जन की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है । ब्रह्मानन्द सभी प्रकार के विशेषण विशेष्य से रहित एक मात्र अखण्ड आनन्द है । काव्यानन्द इन दोनो से भिन्न है । काव्यानन्द मे लौकिक आनन्द के समान अर्जन विसर्जन की न तो प्रवृत्ति ही उद्भूत होती है और न एक कामना से दूसरी कामना ही जागृत होती है । साथ ही ब्रह्मानन्द के समान काव्यानन्द निर्विकल्पक भी नही होता । इसमे सरसता और आस्वादन तो होता है परन्तु वह आनन्द सविकल्पक ही होता है तथा उसमे शृगार, हास्य, करुण इत्यादि की प्रकारबुद्धि भी सन्निविष्ट रहती है । इसीलिये विश्वनाथ ने काव्य रस को ब्रह्मानन्द नही कहा है अपितु ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है । ब्रह्मानन्द स्थायी है काव्यानन्द विभावादि जीवितावधि है तथा ब्रह्मानन्द मे लौकिक विषयो का तिरोधान हो जाता है किन्तु काव्यानन्द लौकिक विषयो की सत्ता का सर्वथा निषेध नही होता ।

विश्वनाथ ने काव्यानद के लिये एक और विशेषण दिया है कि यह 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' है । अर्थात् इस रस का जीवन यही है कि इसमे लोकातीत चमत्कार विद्यमान रहता है । आचार्यो ने प्रायश काव्य की अलौकिकता का प्रकथन किया है । मम्मट ने काव्य सृष्टि को नियतिकृत नियम रहित तथा अनन्य परतन्त्र बतलाते हुए इसकी अपूर्वता तथा अलौकिकता का प्रतिपादन किया है । लोचनकार का यह कहना कि सरस्वती का तत्त्व कारणकला से रहित अपूर्व वस्तु का विस्तार किया करता है इसी वास्तविकता को प्रमाणित करता है । इसका आशय यह नही है कि काव्य मे लोक का अचल बिल्कुल छूट जाता है । हमारे आचार्यों ने काव्य को लोक स्वभाव से ही उत्पन्न बतलाया है । किंतु उसका रस अतीन्द्रिय अवश्य होता है । विश्वनाथ चमत्कार को भी रसास्वादन के लिये अनिवार्य मानते हैं जोकि विस्मय का दूसरा पर्याय है । यहा विश्वनाथ ने अद्भुत रस की व्यापकता स्वीकार की है ।

विश्वनाथ ने रस की उपर्युक्त विशेषताओ को बतला कर कहा है कि इस रस का आस्वादन कतिपय प्रमाता ही कर पाते हैं । इसका आशय यह है कि विश्वनाथ रस आस्वादन के लिये प्रमाता मे योग्यता को अनिवार्य मानते है । उन्होने अन्यत्र कहा है कि जिन लोगो मे वासना होती है वे ही लोग रसास्वादन कर पाते हैं अन्यथा नही । रस के विषय मे विश्वनाथ ने दूसरी बात यह कही है कि रस का आस्वादन अपने आकार से अभिन्न रूप मे किया जाता है । आशय यह है कि रस आस्वाद रूप हीहोता है, आस्वाद्य रूप नही । किंतु वस्तुनिष्ठता मे इसका औपचारिक प्रयोग होता है । इसके अतिरिक्त विश्वनाथ ने साधारणीकरण इत्यादि की प्रक्रिया भी अभिनव के मत के अनु-

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

यहाँ पर प्रयुक्त शब्द रस के विशेषण हैं और उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। प्रथम श्लोक में रस के तीन विशेषणों को एक ही समास में अन्तर्निविष्ट कर दिया गया है। अखण्ड, स्वप्रकाश और आनन्दचिन्मय। इन विशेषणों का हेतु दिया गया है— सत्त्वोद्रेकात्। इसका आशय यह है कि यह आत्मा ब्रह्म रूप है। ब्रह्म की विशेषतायें इस आत्मा के अन्दर भी विद्यमान हैं। किन्तु जीवात्मा पर रजोगुण और तमोगुण का एक बहुत घना और मोटा परदा पड़ा हुआ है जिससे ब्रह्म से एकाकार होते हुए भी जीवात्मा तादात्म्य का अनुभव नहीं कर पाता। नाट्य के अवलोकन और काव्य के परिशीलन का एक प्रभाव यह पड़ता है कि ये रजोगुण और तमोगुण से पर्दे विशीर्ण हो जाते हैं और इससे शुद्ध सत्त्वगुण का आविर्भाव हो जाता है। उस समय आत्मा में समस्त जगत् से एकरूपता का अनुभव करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। तब आत्मा ब्रह्म सत्ता में लीन हो जाता है क्योंकि रस ब्रह्म है। अतएव ब्रह्म की विशेषतायें इसमें भी दृष्टिगत होने लगती हैं। वे विशेषतायें ये हैं—(१) ब्रह्म अखण्ड तथा एकरूप और एकरस है। इसी प्रकार रस का आस्वादन भी अखण्ड रूप में ही होता है। न तो उसमें विभावानुभाव इत्यादि उपकरण वर्ग की स्वतन्त्र प्रतीति होती है और न रसानुभव में कोटियाँ ही होती हैं। विभावादि की समूहालम्बनात्मक प्रतीति रस की विशेषता है जिस प्रकार तत्त्वज्ञानी को दृश्यमान विश्व में अखण्ड ब्रह्म चेतना की अनुभूति होती है। (२) रस स्वप्रकाश है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार ब्रह्म स्वतः प्रकाशमान तत्त्व है उसी प्रकार रस भी प्रकाशित ही होता है। उसकी उत्पत्ति इत्यादि नहीं होती। यह एक नित्य तत्त्व है जो रजोगुण इत्यादि के मायाजन्य आवरण से आवृत रहता है और काव्यपरिशीलन के अवसर पर स्वतः प्रादुर्भूत हो जाता है। विद्यमान वस्तु की अभिव्यक्ति ही होती है। अविद्यमान की उत्पत्ति नहीं होती। (३) ब्रह्म एक आनन्दमयी चेतना है। जीव भी चेतन तत्त्व है, किन्तु इसमें आनन्द की सत्ता नहीं है क्योंकि माया का आवरण ही इसके आनन्द रूप अंश को ढके हुए है। माया का आवरण हट जाने पर शुद्ध सत्त्व के उद्रेक के होने से उसकी आनन्दमयी कला जागृत हो जाती है और आनन्दमयी चेतना के रूप में उसकी परिणिति हो जाती है। यहाँ पर विश्वनाथ ने रस की आनन्द रूपता स्वीकार की है।

विश्वनाथ ने दूसरा विशेषण दिया है कि यह रस 'वेद्यान्तर स्पर्श शून्य' होता है। आशय यह है कि जब हम रसास्वादन करते हैं तब जानी हुई या जानने योग्य सभी वस्तुओं का ज्ञान विलीन हो जाता है और इतनी तन्मयता आ जाती है कि इसे आत्मसत्ता भी तन्मय ही प्रतीत होती है। यही बात आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार कही है कि कुछ रूप रंग की वस्तुयें ऐसी होती हैं कि उनके सामने आने पर हमारी अपनी सत्ता का ज्ञान ही हवा हो जाता है और इतनी तन्मयता आ जाती है कि विश्व का

कोई भी पदार्थ हमे प्रतीत ही नही होता ।

रस का एक अन्य विशेषण है ब्रह्मास्वाद सहोदर । यहा पर यह ध्यान देने की बात है कि रस लौकिक आनन्द तथा ब्रह्मानन्द के मध्य की वस्तु है । लोक मे भाव की तदनुकूल ही अनुभूति नही होती । एक भाव से किसी अन्य भाव की उत्पत्ति होती है । साथ ही लोक मे अर्जन विसर्जन की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है । ब्रह्मानन्द सभी प्रकार के विशेषण विशेष्य से रहित एक मात्र अखण्ड आनन्द है । काव्यानन्द इन दोनो से भिन्न है । काव्यानन्द मे लौकिक आनन्द के समान अर्जन विसर्जन की न तो प्रवृत्ति ही उद्भूत होती है और न एक कामना से दूसरी कामना ही जागृत होती है । साथ ही ब्रह्मानन्द के समान काव्यानन्द निर्विकल्पक भी नही होता । इसमे सरसता और आस्वादन तो होता है परन्तु वह आनन्द सविकल्पक ही होता है तथा उसमे शृगार, हास्य, करुण इत्यादि की प्रकारबुद्धि भी सन्निविष्ट रहती है । इसीलिये विश्वनाथ ने काव्य रस को ब्रह्मानन्द नही कहा है अपितु ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है । ब्रह्मानन्द स्थायी है काव्यानन्द विभावादि जीवितावधि है तथा ब्रह्मानन्द मे लौकिक विषयो का तिरोधान हो जाता है किन्तु काव्यानन्द लौकिक विषयो की सत्ता का सर्वथा निषेध नही होता ।

विश्वनाथ ने काव्यानद के लिये एक और विशेषण दिया है कि यह 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' है । अर्थात् इस रस का जीवन यही है कि इसमे लोकातीत चमत्कार विद्यमान रहता है । आचार्यो ने प्रायश काव्य की अलौकिकता का प्रकथन किया है । मम्मट ने काव्य सृष्टि को नियतिकृत नियम रहित तथा अनन्य परतन्त्र बतलाते हुए इसकी अपूर्वता तथा अलौकिकता का प्रतिपादन किया है । लोचनकार का यह कहना कि सरस्वती का तत्त्व कारणकला से रहित अपूर्व वस्तु का विस्तार किया करता है इसी वास्तविकता को प्रमाणित करता है । इसका आशय यह नही है कि काव्य मे लोक का अचल बिल्कुल छूट जाता है । हमारे आचार्यो ने काव्य को लोक स्वभाव से ही उत्पन्न बतलाया है । किंतु उसका रस अतीन्द्रिय अवश्य होता है । विश्वनाथ चमत्कार को भी रसास्वादन के लिये अनिवार्य मानते है जोकि विस्मय का दूसरा पर्याय है । यहा विश्वनाथ ने अद्भुत रस की व्यापकता स्वीकार की है ।

विश्वनाथ ने रस की उपर्युक्त विशेषताओ को बतला कर कहा है कि इस रस का आस्वादन कतिपय प्रमाता ही कर पाते हैं । इसका आशय यह है कि विश्वनाथ रस आस्वादन के लिये प्रमाता मे योग्यता को अनिवार्य मानते हैं । उन्होने अन्यत्र कहा है कि जिन लोगो में वासना होती है वे ही लोग रसास्वादन कर पाते हैं अन्यथा नही । रस के विषय मे विश्वनाथ ने दूसरी बात यह कही है कि रस का आस्वादन अपने आकार से अभिन्न रूप मे किया जाता है । आशय यह है कि रस आस्वाद रूप हीहोता है, आस्वाद्य रूप नही । किंतु वस्तुनिष्ठता मे इसका औपचारिक प्रयोग होता है । इसके अतिरिक्त विश्वनाथ ने साधारणीकरण इत्यादि की प्रक्रिया भी अभिनव के मत के अनु-

सार ही मानी है। आशय यह है कि विश्वनाथ का विवेचन अभिव्यक्तिवाद में अभिनव की व्याख्या ही है।

पण्डितराज का मत

पण्डितराज संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम आचार्य हैं और उत्तम विवेचक के रूप में इनको चरम प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। किन्तु इन्होंने किसी नवीन सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया है अपितु परम्परागत विचारधाराओं का व्याख्यान ही सफलता पूर्वक किया है। रस के स्वरूप के विषय में भी पुनराख्याता की ही इनको प्रतिष्ठा प्राप्त है। इन्होंने अपने विवेचन के उपसंहार में कहा है कि—'इस प्रकार अभिनव गुप्त और मम्मट भट्ट इत्यादि के ग्रन्थ के स्वारस्य से यह सिद्धान्त निकलता है कि जब चेतना का आवरण भग्न हो जाता है उस अवस्था में रति इत्यादि जो स्थायीभाव होते हैं वे ही रस कहलाते हैं। आशय यह है कि परिशीलक की चेतना में वासना रूप से स्थायीभावों की सत्ता सर्वदा सन्निहित रहती है पर यह आवरणों में छिपी रहती है जब आवरण भग हो जाता है तब वह स्थायीभाव प्रकट हो जाता है जो आनन्द को अपने अन्दर समाये रहता है। इस प्रकार स्थायीभाव की आनन्दमयी चेतना ही पण्डित राज के मत में रस है।

पण्डितराज ने आनन्दमयी चेतना के प्रोद्भास पर भी प्रकाश डाला है। इनका कहना है कि ये वासनायें मानव के अन्तःकरण में पहले से ही सन्निविष्ट हो चुकी रहती हैं। आशय यह है कि जीवात्मा अनेक योनियों में भटकता हुआ अनेक जन्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव करता है। इन सब अनुभवों से उत्पन्न वासनायें उसके अन्दर सर्वदा के लिए सन्निविष्ट हो जाती हैं। जन्म जन्मान्तरों की परम्परा में वह जिस योनि में जन्म लेता है उसी को उपाधि मानकर वे वासनायें उद्बुद्ध हो जाती हैं। इसीलिए जन्म से ही अपनी उद्बोधक सामग्री के अभाव से भाव थोड़ा भय इत्यादि अपनी-अपनी योनि की क्रियाएं करते देखे जाते हैं। पहले ही पहले भूख लगने पर दूध पीने की प्रवृत्ति इसी वासना का परिणाम है। जिस प्रकार किसी योनि विशेष में जन्म लेने पर जन्मजन्मान्तर की वासनायें स्वतः प्रादुर्भूत हो जाती हैं उसी प्रकार काव्यानु शीलन भी वासना का उद्बोधक ही होता है।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पण्डितराज का मत अद्वैत वेदान्त से प्रभावित है और उसी के प्रकाश में पण्डितराज ने रस का स्वरूप समझाने की चेष्टा की है। जैसे अभिनव गुप्त ने जिस शैवदर्शन के आधार पर रस-स्वरूप समझाने की चेष्टा की थी वह भी अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत सन्निविष्ट पड़ता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म ही एक सत् पदार्थ है वह अद्वितीय है अर्थात् उसके अतिरिक्त संसार में कोई पदार्थ है ही नहीं। जीवात्मा भी शुद्ध बुद्ध आनन्द स्वरूप उस ब्रह्म का स्वरूप ही नहीं अपितु स्वयं ब्रह्म है। यह ब्रह्म माया से आवृत रहता है। इस माया की दो शक्ति हैं एक आवरण और दूसरी विक्षेप। आवरण शक्ति से पहले ब्रह्म का तिरो-

धान हो जाता है अर्थात जीवात्मा का ब्रह्म रूप छिप जाता है और तब विक्षेप शक्ति से वह अपने अन्दर विभिन्न सीमित तत्त्व देखने लगता है और इस प्रकार अपने को सारे ससार स पृथक् कर लेता है। उस समय उसके अन्दर अनेक प्रकार की प्रातिभासिक सत्तायें प्रतीत होने लगती हैं। जब किसी साधन से इस माया (अज्ञान) की निवृत्ति हो जाती है तब जीवात्मा स्वप्रकाश आनन्द चिन्मय हो जाता है। आशय यह है कि काव्य के अनुशीलन से जब अज्ञान का आवरण विशीर्ण हो जाता है तब जीवात्मा अपने स्वाभाविक आनन्दमय रूप मे आ जाता है और उसी आनद को रस कहने लगते है।

माया की आवरण शक्ति के विशीर्ण करने का एक साधन काव्यानुशीलन है। किन्तु यह कार्य अत्यत दुष्कर है। अत काव्य के अन्दर भी कुछ गुण अपेक्षित होते हैं। काव्य के गुण है—औचित्य और लालित्य। काव्य के सन्निवेश मे ये दोनो गुण अनिवार्य है। यदि काव्य मे औचित्य नही होगा तो परिशीलक की चेतना उसे मिथ्या तथा अग्राह्य समझकर उससे विरत हो जायगी और काव्य मे उसका अनुरञ्जन हो ही न सकेगा। औचित्य के समान लालित्य भी साधारणीकरण के लिए अनिवार्य शर्त है। हम अभिनव के रस स्वरूप विवेचन के अवसर देख आये हैं कि गीत, वाद्य, नृत्य गुणालकार इत्यादि किस प्रकार परिशीलक को तन्मय कर देते हैं जिससे प्रधान नायक का भाव साधारणीकृत होकर आस्वादन का हेतु बन जाता है। आशय यह है कि काव्य के ये दो गुण औचित्य और लालित्य ही परिशीलक की आनद रूपता की प्राप्ति मे हेतु होते हैं। विभावादि कारण सामग्री का उपादान इसी रूप मे होना चाहिये तभी उससे आनन्दानुभूति की सम्भावना की जा सकती है। यह तो हुई काव्य की तथा रससामग्री की विशेषता की बात। कुछ विशेषता परिशीलक की भी होती है। सभी व्यक्तियो को रसास्वादन नही होता। रसास्वादन केवल उन्हीं को होता है जो सहृदय होते हैं। विश्वनाथ ने कहा ही है कि काव्यवासना से वासित अन्त करण वाले सहृदयो को ही रस का आस्वादन होता है। वासनाहीन व्यक्ति रग शाला मे ऐसे ही रस का आस्वादन नही कर सकते जिस प्रकार रगशाला मे पडी हुई पत्थर और लकडी की कुर्सियाँ नित्य अभिनय देखती हैं, किन्तु उन्हें कभी रसास्वादन नही होता। निर्मल मनोमुकुर में ही यह विश्व प्रतिफलित हो सकता है अन्यथा नही। इस प्रकार रसानुभूति के लिए जहा विषयगत विशेषतायें अपेक्षित हैं वहाँ विषयीगत भी अपेक्षित ही हैं।

जब सहृदयो के सामने उक्त प्रकार से औचित्य और लालित्य के साथ वस्तु उपस्थित की जाती है तब सहृदय की भावना उद्बुद्ध हो जाती है। उस भावना मे सहयोग सहृदयता का भी रहता है। उस भावना की महिमा मे शकुन्तला इत्यादि पात्रों से व्यक्तिगत सीमा समाप्त हो जाती है। उस समय वे हमे दुष्यत की पत्नी इत्यादि के रूप मे नही दिखाई पडती। उनमे एक प्रकार की अलौकिकता आ जाती है। इसीलिये रस-सामग्री के लिए हम लौकिक शब्दो को छोड़कर अन्य शब्दो का प्रयोग करने लगते

सार ही मानी है । आशय यह है कि विश्वनाथ का विवेचन अभिनवगुप्त में अभिमत की व्याख्या ही है ।

पण्डितराज का मत

पण्डितराज संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम आचार्य हैं और समर्थ विवेचक के रूप में इनको परम प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है । किन्तु इन्होंने किसी नवीन सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया है अपितु परम्परागत विचारधाराओं का व्याख्यान ही सफलता पूर्वक किया है । रस के स्वरूप के विषय में भी पुनराख्याता की ही इनको प्रतिष्ठा प्राप्त है । इन्होंने अपने विवेचन के उपसंहार में कहा है कि—'इस प्रकार अभिनव गुप्त और मम्मट भट्ट इत्यादि के ग्रन्थ के स्वारस्य से यह सिद्धान्त निकलता है कि जब चेतना का आवरण भग्न हो जाता है उस अवस्था में रति इत्यादि जो स्थायीभाव होते हैं वे ही रस कहलाते हैं । आशय यह है कि परिशीलक की चेतना में वासना रूप में स्थायीभावों की सत्ता सर्वदा सन्निहित रहती है पर यह आवरणों में छिपी रहती है जब आवरण भग्न हो जाता है तब वह स्थायीभाव प्रकट हो जाता है जो आनन्द को अपने अन्दर समाये रहता है । इस प्रकार स्थायीभाव की आनन्दमयी चेतना ही पण्डितराज के मत में रस है ।

पण्डितराज ने आनन्दमयी चेतना के प्रोद्भास पर भी प्रकाश डाला है । इनका कहना है कि ये वासनायें मानव के अन्तःकरण में पहले से ही सन्निविष्ट हो चुकी रहती हैं । आशय यह है कि जीवात्मा अनेक योनियों में भटकता हुआ अनेक जन्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव करता है । उन सब अनुभवों से उत्पन्न वासनायें उसके अन्दर सर्वदा के लिए सन्निविष्ट हो जाती हैं । जन्म जन्मान्तरों की परम्परा में वह जिस योनि में जन्म लेता है उसी को उपाधि मानकर वे वासनायें उद्बुद्ध हो जाती हैं । इसीलिए जन्म से ही अपनी उद्बोधक सामग्री के प्रभाव से गाय घोड़ा भैंस इत्यादि अपनी-अपनी योनि की क्रियायें करती देखे जाते हैं । पहले ही पहले मुख लगने पर दूध पीने की प्रवृत्ति इसी वासना का परिणाम है । जिस प्रकार किसी योनि विशेष में जन्म लेने पर जन्मजन्मान्तर की वासनायें स्वतः प्रादुर्भूत हो जाती हैं उसी प्रकार काव्यानुशीलन भी वासना का उद्बोधक ही होता है ।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पण्डितराज का मत अद्वैत वेदान्त से प्रभावित है और उसी के प्रकाश में पण्डितराज ने रस का स्वरूप समझाने की चेष्टा की है । जैसे अभिनव गुप्त ने जिस शैवदर्शन के आधार पर रस-स्वरूप समझाने की चेष्टा की थी वह भी अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत सन्निविष्ट पड़ता है । अद्वैत वेदान्त के अनुसार केवल ब्रह्म ही एक सत् पदार्थ है; वह अद्वितीय है अर्थात् उसके अतिरिक्त संसार में कोई पदार्थ है ही नहीं । जीवात्मा भी शुद्ध बुद्ध आनन्द स्वरूप उस ब्रह्म का स्वरूप ही नहीं अपितु स्वयं ब्रह्म है । यह ब्रह्म माया से आवृत रहता है । इस माया की दो शक्ति हैं – एक आवरण और दूसरी विक्षेप । आवरण शक्ति से पहले ब्रह्म का तिरो-

धान हो जाता है अर्थात जीवात्मा का ब्रह्म रूप छिप जाता है और तव विक्षेप शक्ति से वह अपने अन्दर विभिन्न सीमित तत्त्व देखने लगता है और इस प्रकार अपने को मारे ससार से पृथक् कर लेता है। उस समय उसके अन्दर अनेक प्रकार की प्रातिभासिक सत्तायें प्रतीत होने लगती हैं। जव किसी साधन से इस माया (अज्ञान) की निवृत्ति हो जाती है तव जीवात्मा स्वप्रकाश आनन्द चिन्मय हो जाता है। आशय यह है कि काव्य के अनुशीलन से जव अज्ञान का आवरण विशीर्ण हो जाता है तव जीवात्मा अपने स्वाभाविक आनन्दमय रूप मे आ जाता है और उसी आनद को रस कहने लगते हैं।

माया की आवरण शक्ति के विशीण करने का एक साधन काव्यानुशीलन है। किन्तु यह कार्य अत्यत दुष्कर है। अत काव्य के अन्दर भी कुछ गुण अपेक्षित होते है। काव्य के गुण है—औचित्य और लालित्य। काव्य के सन्निवेश मे ये दोनो गुण अनिवार्य है। यदि काव्य में औचित्य नही होगा तो परिशीलक की चेतना उसे मिथ्या तथा अग्राह्य समझकर उससे विरत हो जायगी और काव्य मे उसका अनुरञ्जन हो ही न सकेगा। औचित्य के समान लालित्य भी साधारणीकरण के लिए अनिवार्य शर्त है। हम अभिनव के रस स्वरूप विवेचन के अवसर देख आये हैं कि गीत, वाद्य, नृत्य गुणालकार इत्यादि किस प्रकार परिशीलक को तन्मय कर देते हैं जिससे प्रधान नायक का भाव साधारणीकृत होकर आस्वादन का हेतु वन जाता है। आशय यह है कि काव्य के ये दो गुण औचित्य और लालित्य ही परिशीलक की आनद रूपना की प्राप्ति मे हेतु होते हैं। विभावादि कारण सामग्री का उपादान इसी रूप मे होना चाहिये तभी उससे आनन्दानुभूति की सम्भावना की जा सकती है। यह तो हुई काव्य की तथा रससामग्री की विशेषता की वात। कुछ विशेषता परिशीलक की भी होती है। सभी व्यक्तियो को रसास्वादन नही होता। रसास्वादन केवल उन्हीं को होता है जो सहृदय होते है। विश्वनाथ ने कहा ही है कि काव्यवासना से वासित अन्त करण वाले सहृदयो को ही रस का आस्वादन होता है। वासनाहीन व्यक्ति रग शाला मे ऐसे ही रस का आस्वादन नही कर सकते जिस प्रकार रगशाला मे पडी हुई पत्थर और लकडी की कुर्मियाँ नित्य अभिनय देखती हैं, किन्तु उन्हे कभी रसास्वादन नही होता। निर्मल मनोमुकुर में ही यह विश्व प्रतिफलित हो सकता है अन्यथा नही। इस प्रकार रसानुभूति के लिए जहा विषयगत विशेषतायें अपेक्षित हैं वहाँ विषयीगत भी अपेक्षित ही हैं।

जव सहृदयो के सामने उक्त प्रकार से औचित्य और लालित्य के साथ वस्तु उपस्थित की जाती है तव सहृदय की भावना उवुद्ध हो जाती है। उस भावना मे सहयोग सहृदयता का भी रहता है। उस भावना की महिमा मे शकुन्तला इत्यादि पात्रों से व्यक्तिगत सीमा समाप्त हो जाती है। उस समय वे हमे दुष्यत की पत्नी इत्यादि के रूप मे नही दिखाई पडती। उनमें एक प्रकार की अलौकिकता आ जाती है। इसीलिये रस-सामग्री के लिए हम लौकिक शब्दो को छोड़कर अन्य शब्दो का प्रयोग करने लगते

है। रस के नायिका इत्यादि को जनक कारण कहा जा सकता है और चंद्रोदय इत्यादि जो उद्दीपक अथवा पोषक कारण कहे जा सकते हैं स्थायीभाव या रस का विभावन या प्रस्यापन कराने के कारण विभाव कहलाते हैं। रति इत्यादि से होने वाली कायिक वाचिक और मानसिक विभिन्न चेष्टाएं जो स्थायीभाव का कार्य कही जा सकती है स्थायी भाव को अनुभव के योग्य बनाने के कारण अनुभाव कहलाती है और लज्जा इत्यादि भाव जो समुद्र में उठने वाली लहरों के समान स्थायी भाव में विशेष रूप से चारों ओर से विचरण करते हैं और जिन्हें हम स्थायीभाव का सहकारी कह सकते हैं अभिचरण या पूर्ण रूप से सञ्चरण करने के कारण व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। इन्हीं के द्वारा वासना रूप में निरत रहने वाले स्थायीभाव का प्रकाशन किया जाता है। इस क्रिया में विभावादिकों की प्रतीति समूहालम्बनात्मक होती है। यह समूहालम्बनात्मक प्रतीति घट और पट की समूहालम्बनात्मक प्रतीति जैसी नहीं होती जिसमें सभी तत्त्व पृथक रूप में प्रवभासित होते रहते हैं। किन्तु यह प्रतीति पानक रस के समान होती है जिसमें कपूर इत्यादि भिन्न-भिन्न वस्तुओं की सत्ता पृथक-पृथक नहीं मालूम पड़ती।

उक्त विभावादि जब स्थायीभाव का प्रकाशन करने के लिए मिल जाते हैं तब उनमें एक ऐसा व्यापार उत्पन्न होता है जो लोक में नहीं पाया जाता। तर्क शास्त्र के अनुसार कार्य की तीन कोटियां होती हैं—कारण व्यापार और कार्य कारण से व्यापार उत्पन्न होता है और व्यापार से कार्य या फल। यहाँ विभावादि की समूहालम्बनात्मक स्थिति कारण है। उससे एक व्यापार उत्पन्न होता है जिसे शास्त्रीय भाषा में साधारणीकरण कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने साधारणीकरण को व्यापार ही कहा है—'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः'। इस व्यापार का फल यह होता है कि आत्मस्वरूप पर जो आवरण पड़ा होता है वह तत्काल निवृत्त हो जाता है और प्रमाता को जो धर्म परिमितप्रमातृत्व के घेरे में जकड़े रहते हैं वे दूर हो जाते हैं। तभी स्वप्रकाशानन्द चिन्मय रूप रस का आस्वाद होता है।

पण्डितराज ने आनन्द का स्वरूप भी स्पष्ट किया है। यह आनन्द तीन प्रकार का होता है – वैषयिक आनन्द काव्यानन्द और ब्रह्मानंद। प्राचीन आचार्यों के समान पण्डितराज ने भी काव्यानन्द को विषयानन्द तथा ब्रह्मानंद दोनों से भिन्न माना है। वैषयिक आनन्द में चित्त की विषयाकारापरिणति चैतन्य के आभास से आभासित होकर कार्य करती है। उस समय जो सुख रूप में आनंद की प्रतीति होती है वह वास्तविक तथा सच्चा आनन्द नहीं है अपितु आनन्द का आभास मात्र है। इस प्रकार लौकिक आनन्द (आनन्दमात्र) वृत्ति रूप होता है। इसके प्रतिकूल ब्रह्मानंद की प्रतीति सर्वथा वृत्ति शून्य होती है। आनन्द का वास्तविक स्वरूप वही है और उसी में पूर्ण रूप से ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है। काव्यानन्द इन दोनों के बीच की चीज है। किन्तु ब्रह्मानंद की ओर अधिक झुका हुआ है। वह लौकिक वैषयिक सुख भोग के समान वृत्तियों

पर आधारित नही अपितु आत्मानद का ही रूप है। अन्तर केवल यह है कि यद्यपि ब्रह्मानद के समान काव्यानद भी आत्मा का ही आनंद है फिर भी निरुपाधि नही सोपाधि आनद है। इसमे रति इत्यादि उपाधियो की प्रतीति होती रहती हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के रस स्वरूप का उपसंहार

सस्कृत काव्य शास्त्र मे रस स्वरूप के विषय मे आचार्य अभिनव गुप्त की मान्यता मूर्धन्य रूप मे स्वीकृत की जाती है। पूर्ववर्ती आचार्यों के विवेचन मे यह स्पष्ट नही हो सका कि वे लोग रस को विषयगत मानते है या विषयीगत। उनके उपलब्ध पाठ की योजना दोनो रूपो मे की जा सकती है। वस्तुत उन आचार्यों का ध्यान इस प्रश्न का उत्तर देने की ओर था ही नही कि रस को विषयगत माना जाय या विषयीगत। उनकी व्याख्या का सार यही है कि रस की उद्‌भव मूलभूत पात्र मे भी होती है, नट अपने अभिनय कौशल से उसका प्रदर्शन करता है और सहृदय उसका आस्वादन करता है। इसके बाद शकुक के समय से लेकर रस का विषयीगत तत्त्व अधिक मुखर हो गया और भट्ट नायक ने पूर्ण रूप से सहृदयगत रूप का ही विवेचन किया। अभिनवगुप्त ने रस के विषयीगत रूप को चरम कोटि पर पहुचा दिया। ये इतने सबल आचार्य थे कि परवर्ती साहित्य मे इन्ही की मान्यता प्रतिष्ठित रही और आचार्यगण इन्ही की व्याख्या परिभाषा स्वीकार करते रहे। आशय यह है कि सस्कृत के अधिकाश आचार्य रस को सहृदयगत या विषयगत ही मानने के पक्ष मे हैं।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न जो कि रस स्वरूप के विषय मे विवेचक के सामने आता है वह है रस की आनन्द रूपता। प्रश्न यह है कि रस केवल आनन्द रूप है या सुख-दु:खात्मक। इस विषय मे अभिनवगुप्त की स्पष्ट घोषणा है कि रस आनन्द रूप ही है क्योकि आत्मा आनन्द रूप है और आत्मतत्त्व का प्रोद्‌भास ही रस है। किन्तु दूसरी ओर रामचन्द्र गुण चन्द्र रस को सुखदु:खात्मक मानते हैं। उन्हे यह मत ठीक प्रतीत नही होता कि करुण इत्यादि दु:ख मूलक रसो को भी आनन्द मूलक ही माना जाय। रामचन्द्र गुणचन्द्र का प्रतिपादन अधिक प्रसार तथा मान्यता प्राप्त नही कर सका और अभिनव गुप्त का ही मत परवर्ती साहित्य मे अधिकाश रूप मे मान्य हुआ।

रस आनन्दमयी चेतना है जो भावानुभूति और भावाभिव्यक्ति पर आधारित रहती है। इसके उपकरण अज्ञानजन्य मायाजन्य रजोगुण और तमोगुण के पर्दों को विशीर्ण कर शुद्ध सत्त्व का आविर्भाव कर देते हैं जिससे आत्मा का प्रोद्‌भास हो जाता है और वह आनन्द तत्त्व से सवलित होकर रस रूप धारण कर लेती है। यही प्राचीनो की मान्यता का सार है।

हिन्दी काव्यशास्त्र में रस का स्वरूप

हिन्दी के रीतिकाल में रस पर बहुत सी पुस्तकें पाई जाती हैं। किन्तु उनमे विवेचन की कमी है। कारण यह है कि रीतिकाल मे गद्य का विकास नही हुआ था और विवेचन तथा सिद्धान्त निरूपण के लिये गद्य की विशेष आवश्यकता पडती है।

दूसरी बात यह है कि इस काल मे कविता और आचार्यत्व एक साथ मिलकर चले हैं। मुख्य रूप से कवियों की उपास्य कविता ही थी। पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये चलते रूप म इन आचार्य कवियों ने साहित्यशास्त्र सम्बन्धी अपनी मान्यतायें भी दे दी हैं। अत एव कविता के लिये उपयोगी तत्वो का ही इनके ग्रन्थों में समावेश हो सका है। इस कार्य के लिये रस की कच्ची सामग्री तो उपयोगिनी हो सकती थी रस स्वरूप के विवेचन के लिये नहीं। फिर भी यत्र तत्र कुछ विद्वानो ने रस के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। इन आचार्यों से हम मौलिकता की आशा तो कर ही नहीं सकते। इन्होंने संस्कृत काव्य शास्त्र की चली आती हुई विचारधारा को ही आत्मसात् किया है और रस को अलौकिक आनन्द रूप तथा ब्रह्मानन्द सहोदर ही प्रतिपादित किया है। इसके अतिरिक्त यत्र तत्र इन आचार्य कवियों ने आवरण भंग इत्यादि का भी उसी रूप में प्रकथन कर दिया है जिस रूप मे संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने निर्णय दिया था।

आधुनिक काल म भी अधिकांश विवेचकों ने रस के स्वरूप की उसी परम्परा को अपनाया है जिसका कि संस्कृत साहित्य में विकास हुआ था। अधिकांश पुरातनवादी आलोचक ही हैं। केशव प्रसाद मिश्र रामदहिन मिश्र श्यामसुन्दर दास गुलाबराय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति विवेचकों ने संस्कृत काव्य शास्त्र के मान्य सिद्धान्तों का ही कथन कर दिया है। इसके अतिरिक्त किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना नहीं की।

आचार्य शुक्ल अपने मौलिक चिन्तन के लिये प्रसिद्ध हैं। इन्होंने रामचन्द्र शुक्लचन्द्र के मत म अपनी सहमति प्रकट की है। उनके अनुसार साधारणीकरण का आशय यही है कि जिस भाव की अनुभूति पात्र कर रहा हो उसी भाव की अनुभूति सहृदय भी कर सके। यदि मुख्य पात्र क्रोध जुगुप्सा शोक इत्यादि का अनुभव करता है और पाठक या दर्शक में आनन्दमयी चेतना जाग्रत होती है तो साधारणीकरण नहीं कहा जा सकता। 'क्या शोक क्रोध जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय मे प्रकट होते हैं, अपने प्राकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं उसे कुछ भी सत्ता नहीं रहने देते ? क्या विभावत्व उनका स्वरूप हरकर उन्हें एक ही स्वरूप गुण या दे देता है ? क्या दुःख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं ? आचार्य शुक्ल का यह कथन समुचित प्रतीत होता है कि शैव्या से मृत पुत्र के लिये हरिश्चन्द्र कफन मांगे और हम आनन्द म डूब पड़े। हमारे आंसू न निकले। महमूद के अत्याचार पाठकों मे क्षोभ ही जगाते हैं आनन्द नहीं। दुःखान्त की खिन्नता बहुत देर तक बनी रहती है। आचार्य शुक्ल का विचार है कि इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।

आचार्य शुक्ल ने अन्यत्र हृदय की मुक्तावस्था को रस दशा कहा है। इनके अनुसार काव्य म रसास्वादन के अवसर पर अपनी पृथक् सत्ता का परिहार हो जाता

है और पाठक प्रस्तुत विषय को अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध करके देखने लगता है। वहाँ पाठक विषय को निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय से ग्रहण करता है। इसी को पाश्चात्य समीक्षा पद्धति मे अह का विमर्जन और निस्सगता कहते हैं। 'इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द सहोदरत्व कहिये चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व।'

यहाँ पर आचार्य शुक्ल रस को स्पष्ट रूप मे ब्रह्मानन्द सहोदर के रूप मे स्वीकार करते हैं। इन दोनो के विरुद्ध प्रतीत होने वाले वक्तव्यो की यदि सगति लगाई जाय तो ज्ञात होगा कि आचार्य शुक्ल के अनुसार रस का अनुभव शृगार और करुण दोनो रूपो मे सुख और दु ख दोनो मे अधिक उदात्त और अवदात होता है।

डॉ० नगेन्द्र अधुनातम सबल चिन्तक हैं जिनका विवेचन प्रामाणिक कोटि मे आता है। इन्होने प्राच्य और पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तो का मन्थन कर तुलनात्मक दृष्टि से अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। इस दिशा मे उनके निष्कर्ष भी भारतीय मनीषियो के निष्कर्षो से मेल खाते हैं इन्होने भी रस को आनन्दमयी चेतना माना है जो कि विषयानन्द और ब्रह्मानन्द की मध्यवर्तिनी वस्तु है। इस विषय मे इनका यह उद्धरण पर्याप्त होगा—'काव्यानन्द शुद्ध आत्मानन्द नही है और वस्तुत ऐसा किसी ने एकदम माना भी नही है – दोनो मे प्रकृति का भेद न मानते हुये भी गुण का भेद तो माना ही गया है। आत्मानन्द जहाँ शुद्ध आत्मतत्त्व का भोग है, वहाँ काव्यानन्द मे भौतिक जीवन की भूमिका अवश्य बनी रहती है। साधारणीकृत भावभूमिका भी अभौतिक नही है, उसमे व्यक्तिगत रागद्वेप से मुक्ति के फलस्वरूप भाव का परिष्कार है उन्नयन है—परन्तु यह स्थिति भी अभौतिक या अतीन्द्रिय क्यो है ? इसका अनुभव भी तो मन ही करता है। काव्य का आनन्द प्रत्यक्ष स्थायीभाव का आस्वाद नही है—काव्य निबद्ध या काव्य द्वारा परिशुद्ध स्थायीभाव का आस्वाद है। अब प्रश्न यह है कि क्या स्थायीभाव काव्य निबद्ध होकर, या प्रमातृ चेतना मे काव्य के प्रभाव से व्यक्ति ससर्गों से मुक्त होकर आध्यात्मिक अनुभूति मे परिणत हो जाता है ? मैं समझता हू कि इसका उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है क्योकि काव्य की रचना या अनुभूति की क्रिया आत्मा की क्रिया नही है - कम से कम उस अर्थ मे तो नही ही हैं जिस अर्थ मे योगसाधन या ब्रह्म चिन्तन आदि हैं। ऐसी स्थिति मे काव्य निबद्ध या काव्य प्रेरित स्थायीभाव के आस्वाद को भी आध्यात्मिक आनन्द नही कहा जा सकता। अर्थात् काव्यानन्द प्रचलित अर्थ मे आत्मानन्द का पर्याय या उसका रूप विशेष नहीं है। वस्तुत इस स्थापना के लिये सामान्य अनुभव से बढकर और क्या प्रमाण होगा ? यदि हम यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक अनुभूति आत्मा की ही अनुभूति है और आनन्द के सभी प्रकार आत्मानन्द के ही रूप हैं, तब तो सारा भेद ही मिट जाता है। किन्तु यदि हम आनन्द के सभी रूपो और सारो में भेद करते हैं तब फिर काव्यानन्द को अत्यन्त उदात्त और अवदात मानने पर भी आत्मानन्द रूप नही माना जा सकता।"

दूसरी बात यह है कि इस काल में कविता और आचार्यत्व एक साथ मिलकर चले हैं। मुख्य रूप से कवियों की उपास्य कविता ही थी। पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये चलत रूप में इन आचार्य कवियों ने साहित्यशास्त्र सम्बन्धी अपनी मान्यतायें भी दे दी हैं। अत एव कविता के लिये उपयोगी तत्वों का ही इनके ग्रन्थों में समावेश हो सका है। इस कार्य के लिये रस की कच्ची सामग्री तो उपयोगिनी हो सकती थी रस स्वरूप के विवेचन के लिए नहीं। फिर भी यत्र तत्र कुछ विद्वानों ने रस के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। इन आचार्यों से हम मौलिकता की आशा तो कर ही नहीं सकते। इन्होंने संस्कृत काव्य शास्त्र की चली आती हुई विचारधारा को ही आत्मसात् किया है और रस को अलौकिक आनन्द रूप तथा ब्रह्मानन्द सहोदर ही प्रतिपादित किया है। इसके अतिरिक्त यत्र तत्र इन आचार्य कवियों ने भावरस भंग इत्यादि का भी उसी रूप में प्रकथन कर दिया है जिस रूप में संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने निरूपण किया था।

आधुनिक काल में भी अधिकांश विवेचकों ने रस के स्वरूप की उसी परम्परा को अपनाया है जिसका कि संस्कृत साहित्य में विकास हुआ था। अधिकांश पुरानपन्थी आलोचक ही हैं। केशव प्रसाद मिश्र रामदहिन मिश्र श्यामसुन्दर दास गुलाबराय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति विवेचकों ने संस्कृत काव्य शास्त्र के मान्य सिद्धान्तों का ही कथन कर दिया है। इसके अतिरिक्त किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना नहीं की।

आचार्य शुक्ल अपने मौलिक चिन्तन के लिये प्रसिद्ध हैं। इन्होंने रामचन्द्र गुणचन्द्र के मत से अपनी सहमति प्रकट की है। उनके अनुसार साधारणीकरण का आशय यही है कि जिस भाव की अनुभूति पात्र कर रहा हो उसी भाव की अनुभूति सहृदय भी कर सके। यदि मुख्य पात्र क्रोध जुगुप्सा शोक इत्यादि का अनुभव करता है और पाठक या दर्शक में आनन्दमयी चेतना जागृत होती है तो साधारणीकरण नहीं कहा जा सकता। 'क्या शोक क्रोध जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं अपने प्राकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं उसे कुछ भी क्षमा नहीं रहने देते ? क्या विभावत्व उनका स्वरूप हरकर उन्हें एक ही स्वरूप सुख का दे देता है ? क्या दुःख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं ? आचार्य शुक्ल को यह सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है कि ईर्ष्या से मृत पुत्र के लिये हरिश्चन्द्र कफन मांगें और हम आनन्द से हंस पड़ें। हमारे आंसू न निकलें। महमूद के अत्याचार पाठकों में क्रोध ही जगाते हैं आनन्द नहीं। दुःखान्त की भिन्नता बहुत बार तक बनी रहती है। आचार्य शुक्ल का विचार है कि इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।

आचार्य शुक्ल ने अन्तःकरण हृदय की मुक्तावस्था को रस दशा कहा है। उनके अनुसार काव्य में रसास्वादन के अवसर पर अपनी पृथक सत्ता का परिहार हो जाता

है उसी प्रकार अभिनव गुप्त ने भट्टनायक के उद्धरण देकर उनकी मान्यताओं का शालीनता के साथ ही सही, प्रतिषेध करने की चेष्टा की है। लोचन मे भट्टनायक का खण्डन करने के लिये ही कहा गया है कि विद्वान् लोग रस सिद्धान्त के विषय मे एकमत हैं ही नही है—'रस स्वरूप के विषय मे ही प्रतिवादियो मे विप्रतिपत्तियाँ पाई जाती है—कुछ लोग कहते हैं कि पूर्वावस्था मे स्थित स्थायीभाव व्यभिचारी भाव इत्यादि के सम्पतन (सम्मिलन) से परिपोष को प्राप्त होकर अनुकार्यगत रस होता है। दूसरे लोग कहते हैं कि स्थायी भाव मे आस्वाद रूपिणी प्रतिपत्ति अनुकर्त्ता (नट) मे रह कर रस बनती है। नट अनुकार्य मे अभिन्न रूप मे प्रतीतिगोचर होता है और सामाजिक उसी मे रसास्वादन करता है। अन्य विचारक नट मे लोकातीत रूप मे स्थायी की आस्वादात्मक प्रतीति को रस कहते हैं। कुछ लोग विभाव और अनुभाव को ही रस कहते हैं। दूसरे लोग शुद्ध विभाव को, अन्य विचारक शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग केवल स्थायी को दूसरे लोग केवल व्यभिचारी को, कुछ और लोग उनके सयोग को, कुछ दूसरे लोग अनुकार्य को और दूसरे विचारक सामग्री के सम्पूर्ण समुदाय को रस कहते हैं।" इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि अभिनव गुप्त के सामने रस सूत्र की बहुत सी व्याख्यायें सन्निहित थीं। यह भी सम्भव है कि इनमे कुछ विचार भरत के रस सूत्र की व्याख्या के रूप मे न आये हो सर्वथा स्वतन्त्र हो जैसा कि पण्डितराज ने स्वीकार किया है। किन्तु इतना निश्चित है कि भरत से अभिनव गुप्त तक अनेक व्याख्याकार हुये हैं और अभिनव गुप्त ने उन सबका लाभ उठाया है।

अभिनव भारती मे अभिनव गुप्त ने उक्त समस्त व्याख्याओं से छाटकर चार आचार्यों का विस्तृत परिचय दिया है - भट्टलोल्लट, शकुक, साख्यवादी और भट्टनायक। इनमे साख्यवादी किसी एक आचार्य का नाम निर्देशन नही किया गया है और उनका परिचय भी बहुत ही चलता हुआ दिया गया है। इसके बाद आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने मत की स्थापना विस्तारपूर्वक की है। आगे चलकर मम्मट ने भट्टलोल्लट, शकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मतो का विस्तारपूर्वक परिचय दिया तथा अभिनव गुप्त के मत को ही परिष्कृत मत के रूप मे स्वीकार किया। यद्यपि आज अनेक दृष्टियो से अभिनव के मत की आलोचना प्रत्यालोचना की जाती है तथापि आज भी इन्ही का मत प्रामाणिक माना जाता है। अग्रिम पृष्ठो मे इसी प्रतिष्ठित परम्परा के अनुसार उक्त चार मतो का परिचय मात्र ही दिया जायेगा। यहाँ पर यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उक्त सूत्र मे विभाव, अनुभाव और सचारी भाव तो रस की सामग्री है जो स्थायी भाव को आस्वादगोचर बनाने मे कारण होती है। शेष दो शब्द सयोग और निष्पत्ति सामग्री सयोजना के प्रकार और फल का निर्देश करते हैं। अत कहा जा सकता है विभावादि तीन शब्द सामग्री वाचक है और सयोग तथा निष्पत्ति शब्द प्रक्रिया परक। सामग्री मे मतभेद नही है, केवल प्रक्रिया मे ही मतभेद है। इसीलिये इन दो शब्दो मे विभिन्न अर्थों के आधार पर ही विभिन्न मतो की प्रवृत्ति हुई है।

२
रस निष्पत्ति

१ उपक्रम ।
२ भट्ट लोल्लट की रस सूत्र व्याख्या ।
३ लोल्लट की उपपत्ति और उनके मत के दोष ।
४ शंकुक का अनुमितिवाद ।
५ शंकुक की उपपत्ति और उनके दोष ।
६ भट्टनायक का मत ।
७ भट्टनायक की उपपत्तियां और उनके दोष ।
अभिनव गुप्त का मत ।
८ अभिनव गुप्त की प्रमुख स्थापनाएं ।

उपक्रम

भरत का रस-सूत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः अपने जन्म-काल से ही मनीषियों की विचिकित्सा का विषय रहा है। अनेक विवेचकों ने अपने दृष्टि कोण से इस सूत्र की व्याख्या कर नये सिद्धान्त और नई विचारधारा को जन्म दिया। किन्तु कालक्रम से ये सभी विचारधारायें लुप्त हो गई। आज उनका पता हम अभिनव गुप्त की व्याख्याओं से प्राप्त होता है। कुछ लोगों का विचार है कि अभिनव ने उन विचारधाराओं को काट-छांट कर ऐसे रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की जो या तो उनके मत को पुष्ट कर सके या सरलता से उसका खण्डन किया जा सके। यह असम्भव नहीं है। किन्तु साधनान्तर के अभाव में अभिनव पर विश्वास करने के अतिरिक्त हमारे पास और चारा भी तो नहीं है।

अभिनव गुप्त ने कुछ विचारधाराओं का संकेत मात्र दिया है और कुछ का विवेचकों के नामोल्लेखपूर्वक विस्तृत विवेचन कर उनकी आलोचना की है और अपना परिष्कृत मत प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। ध्वन्यालोक की लोचन टीका को देखने से अवगत होता है कि यद्यपि इनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी और इतिहास तथा मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भी तत्त्व विवेचन की इन्होंने चेष्टा की है जो कि भारतीयों की प्रवृत्ति से बाह्य था तथापि इनका मुख्य लक्ष्य मण्डनात्मक ही थे। जिस प्रकार पण्डित राज के ग्रन्थों में अप्पय दीक्षित को प्रतिद्वन्द्वी बनाकर उनका सदर्प खण्डन किया गया

है उसी प्रकार अभिनव गुप्त ने भट्टनायक के उद्धरण देकर उनकी मान्यताओ का शालीनता के साथ ही सही, प्रतिषेध करने की चेष्टा की है। लोचन मे भट्टनायक का खण्डन करने के लिये ही कहा गया है कि विद्वान् लोग रस सिद्धान्त के विषय मे एकमत हैं ही नही हैं—'रस स्वरूप के विषय मे ही प्रतिवादियो मे विप्रतिपत्तियाँ पाई जाती है—कुछ लोग कहते हैं कि पूर्वावस्था मे स्थित स्थायीभाव व्यभिचारी भाव इत्यादि के सम्पतन (सम्मिलन) से परिपोष को प्राप्त होकर अनुकार्यगत रस होता है। दूसरे लोग कहते हैं कि स्थायी भाव मे आस्वाद रूपिणी प्रतिपत्ति अनुकर्त्ता (नट) मे रह कर रस वनती है। नट अनुकार्य से अभिन्न रूप मे प्रतीतिगोचर होता है और सामाजिक उसी मे रसास्वादन करता है। अन्य विचारक नट मे लोकातीत रूप मे स्थायी की आस्वादात्मक प्रतीति को रस कहते हैं। कुछ लोग विभाव और अनुभाव को ही रस कहते हैं। दूसरे लोग शुद्ध विभाव को, अन्य विचारक शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग केवल स्थायी को दूसरे लोग केवल व्यभिचारी को, कुछ और लोग उनके सयोग को, कुछ दूसरे लोग अनुकार्य को और दूसरे विचारक सामग्री के सम्पूर्ण समुदाय को रस कहते हैं।" इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि अभिनव गुप्त के सामने रस सूत्र की बहुत सी व्याख्याये सन्निहित थी। यह भी सम्भव है कि इनमे कुछ विचार भरत के रस सूत्र की व्याख्या के रूप मे न आये हो सर्वथा स्वतन्त्र हो जैसा कि पण्डितराज ने स्वीकार किया है। किन्तु इतना निश्चित है कि भरत से अभिनव गुप्त तक अनेक व्याख्याकार हुये है और अभिनव गुप्त ने उन सबका लाभ उठाया है।

अभिनव भारती मे अभिनव गुप्त ने उक्त समस्त व्याख्याओ मे छाटकर चार आचार्यों का विस्तृत परिचय दिया है - भट्टलोल्लट, शकुक, साख्यवादी और भट्टनायक। इनमे साख्यवादी किसी एक आचार्य का नाम निर्देशन नही किया गया है और उनका परिचय भी बहुत ही चलता हुआ दिया गया है। इसके वाद आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने मत की स्थापना विस्तारपूर्वक की है। आगे चलकर मम्मट ने भट्टलोल्लट, शकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मतो का विस्तारपूर्वक परिचय दिया तथा अभिनव गुप्त के मत को ही परिष्कृत मत के रूप मे स्वीकार किया। यद्यपि आज अनेक दृष्टियो से अभिनव के मत की आलोचना प्रत्यालोचना की जाती है तथापि आज भी इन्ही का मत प्रामाणिक माना जाता है। अग्रिम पृष्ठो मे इसी प्रतिष्ठित परम्परा के अनुसार उक्त चार मतो का परिचय मात्र ही दिया जायेगा। यहाँ पर यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उक्त सूत्र मे विभाव, अनुभाव और सचारी भाव तो रस की सामग्री है जो स्थायी भाव को आस्वादगोचर बनाने मे कारण होती है। शेष दो शब्द सयोग और निष्पत्ति सामग्री सयोजना के प्रकार और फल का निर्देश करते हैं। अत कहा जा सकता है विभावादि तीन शब्द सामग्री वाचक है और सयोग तथा निष्पत्ति शब्द प्रक्रिया परक। सामग्री मे मतभेद नही है, केवल प्रक्रिया मे ही मतभेद है। इसीलिये इन दो शब्दो मे विभिन्न अर्थों के आधार पर ही विभिन्न मतो की प्रवृत्ति हुई है।

भट्टलोल्लट की रस सूत्र व्याख्या

भट्टलोल्लट रस सूत्र के प्रथम व्याख्याता हैं। किन्तु ये एक विचारधारा के प्रतिनिधि के रूप में ही सामने आते हैं। अभिनव गुप्त ने लिखा है कि भट्टलोल्लट का ही मत प्राचीनों (अलंकारवादियों) का भी है। इस मत को उत्पत्तिवाद उपचय वाद और आरोपवाद की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। इस मत में निष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति और संयोग का अर्थ है उत्पाद्य उत्पादक भाव। आशय यह है कि रस की उत्पत्ति होती है। अतएव उत्पत्ति के सभी तत्त्व इसमें माने चाहिये। न्याय दर्शन मे प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मे तीन तत्त्व माने जाते हैं—कारण कार्य और सहकारी कारण। घट की उत्पत्ति में मिट्टी कारण है कुम्हार, दण्ड चाक तथा इत्यादि सहकारी कारण हैं और घट कार्य (फल) है। रस की उत्पत्ति मानने पर इन्हीं सब तत्त्वों के अनुसन्धान की आवश्यकता पड़ेगी। भट्टलोल्लट के मत में स्थायी भाव ही उपचित होकर रस बन जाता है। उस स्थायी भाव की उत्पत्ति में कारण ललना इत्यादि आलम्बन और उद्यान इत्यादि उद्दीपन होते हैं जिनको सम्मिलित रूप मे विभाव कहा जाता है। इसमे कार्य कटाक्ष भुजाक्षेप इत्यादि होते हैं जिनको अनुभाव कहा जाता है। यहाँ पर एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि कार्य-कारण सिद्धान्त मे कार्य शब्द का अर्थ 'फल' होता है। जैसे घट' इत्यादि में बना हुआ 'घड़ा' कार्य कहलाता है। अनुभावों को रस का कार्य मानने पर वह रस के बाद की वस्तु सिद्ध होगी जो कि सर्वथा अनुचित है। सभी प्रक्रिया पर ध्यान देने से रस ही अन्तिम फल सिद्ध होता है। उसके बाद कोई वस्तु नहीं होनी चाहिये। किन्तु कार्य सबसे बाद में होता है। इस अनौचित्य को दूर करने के लिये लोल्लट का कहना है कि यहाँ पर अनुभाव रस-जन्य (रस का कार्य) नहीं होते किन्तु भावों के ही कार्य होते हैं। विभावादि से उत्पन्न अनुभाव इत्यादि से प्रतीति योग्य बनाया हुआ स्थायी भाव का सहकारीकारण-स्थानीय संचारी भावों से उपचय हो जाता है। यहाँ पर भी एक अनुपपत्ति यह उत्पन्न होती है कि दो भाव नियमानुसार एक साथ नहीं रह सकते। स्थायी भाव भी एक मनोवृत्ति है और संचारी भाव भी मनोवृत्ति ही है। एक मनोवृत्ति दूसरी को हटाकर ही उसके स्थान पर आती है। एक का दूसरे के द्वारा उपचय किसी प्रकार नहीं हो सकता। भट्टलोल्लट के पास इसका उत्तर यह है कि संचारी भाव स्थायी भाव के साथ सहचर रूप में नहीं रहते अपितु स्थायी भाव की संचारी भाव मे वासना रहती है। इसीलिये संचारी भावों से स्थायी भाव का उपचय या परिपोष हो जाता है। इस रति इत्यादि स्थायी भाव की उत्पत्ति मुख्य रूप से अनुकार्यगत (मुख्य राम इत्यादि म) ही होती है। किन्तु उसके रूप का अनुसन्धान नट में भी कर लिया जाता है। इस प्रकार का उपचित स्थायी भाव ही रस कहलाता है।

यहाँ कारण कार्य और सहकारी कारण के द्वारा स्थायीभाव की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसलिये भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को उत्पत्ति वाद की संज्ञा से अभिहित

किया जाता है। नट पर मुख्य राम इत्यादि अनुकार्य का आरोप होता है इसलिये इसे आरोपवाद कहते हैं और स्थायीभाव का उपचित रूप रस माना जाता है— इसलिये इसे उपचयवाद कहते हैं।

इस मत का सार यही है कि जब हम किसी नाटक को देखते है या काव्य का अध्ययन करते हैं तो रसो के रति इत्यादि स्थायीभावो की उत्पत्ति होती है। (१) नायिका इत्यादि आलम्बन और उद्यान इत्यादि उद्दीपन दोनो ही प्रकार के विभाव रति इत्यादि भावो को उत्पन्न करते हैं। (२) कटाक्ष भुजाक्षेप इत्यादि जितने भी अनुभाव हैं और जिन्हे हम स्थायीभावो का कार्य कह सकते हैं वे स्थायी भाव को इस योग्य बना देते हैं कि उसकी उत्पत्ति की प्रतीति हो सके अर्थात् दूसरे लोग उसकी उत्पत्ति को समझ सके। (३) निर्वेद इत्यादि सञ्चारी भाव जिनमे स्थायी भाव वासना रूप मे विद्यमान रहा करते हैं और इसीलिये जो सहकारी कहे जाने के अधिकारी हैं इस स्थायीभाव का पोषण करते हैं। यही रति इत्यादि स्थायीभावो की उत्पत्ति का क्रम है। इन भावो की उत्पत्ति मुख्य रूप से वास्तविक राम इत्यादि मे ही होती है जिसका नर्तक रगमच पर अभिनय करता है। कारण यह है कि वास्तविक राम इत्यादि का ही सीता मे साक्षात् सम्बन्ध होता है। नर्तक राम इत्यादि का रूप धारण कर लेता है और दर्शक लोग उसी मे राम के रूप का अनुसन्धान कर लेते हैं। अतएव वस्तुत न होते हुये भी नर्तक मे भी दर्शको को रस की प्रतीति होने लगती है जिस प्रकार रस्सी मे साप की प्रतीति होती है।

प्रस्तुत निबन्ध का क्षेत्र शुद्ध रूप मे परिचय देना मात्र है, किसी विवाद ग्रस्त विषय के विस्तार मे जाना नही। फिर भी यहाँ यह निर्देश कर देना अनुचित न होगा कि अभिनव गुप्त और मम्मट द्वारा भट्टलोल्लट के मत के विवरण मे किसी प्रकार का परस्पर भेद नही है जैसा कि कुछ लोगो ने समझा है। सम्भवत मम्मट ने भी भट्टलोल्लट के मत को समझने के लिये अभिनव गुप्त को ही आधार बनाया है और अभिनव गुप्त के उल्लेख का जैसा आशय उन्होंने समझा उसी को प्रकट कर दिया। मतभेद का मूल कारण मम्मट का 'प्रतीयमान' शब्द का प्रयोग है जिससे कुछ लोग यह समझते हैं मम्मट द्वारा उल्लिखित भट्टलोल्लट के मत मे सामाजिको की दृष्टि का सन्निवेश है जब कि अभिनव के उल्लेख में शुद्ध रूप मे रगमञ्चीय स्थिति का ही उपादान किया गया है। मेरा अनुमान है कि अभिनव भारती मे 'अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धान बलात्—' के आगे जो डैस लगा हुआ है वह इस बात का सूचक है कि अभिनव ने भी 'प्रतीयमान' जैसे किसी शब्द का प्रयोग किया होगा। जो कि उच्छिन्न हो गया है। प्रकरण के अनुसार यहा जो भी शब्द वाक्य पूर्ति के लिये जोडा जायेगा उस का अर्थ वही होगा जो मम्मट ने लिखा है। अथवा नया शब्द न भी सही तो भी 'अनुसन्धान बलात्' का अर्थ करने मे 'अनुसन्धाता कौन है'? यह जिज्ञासा स्वत उत्पन्न होती है और वह सामाजिक ही हो सकता है कोई और नही।

लोल्लट की उपलब्धि और उनके मत के दोष

लोल्लट के मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह प्राचीनों के मत का प्रतिनिधित्व करता है और भरत के सर्वाधिक निकट पड़ता है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि लोल्लट सामाजिक की मन स्थिति का विश्लेषण नहीं कर पाया किन्तु रस सिद्धान्त के क्षेत्र मे व्यक्तिगत मन स्थिति का अध्ययन यहीं से प्रारम्भ होता है और रस सिद्धान्त के विकास म लोल्लट का यह योगदान अत्यन्त महत्त्व है। भाव को लोल्लट ने मुख्य पात्र से सम्बद्ध बतलाया है और तद्रूपता के अनुसन्धान के माध्यम से नट म भी रस की स्थिति स्वीकार की है। इससे स्वभावत सिद्ध होता है लोल्लट कला के क्षेत्र मे वस्तु की सच्चाई के पक्षपाती है जो कि एक महत्त्वपूर्ण देन है। साथ ही अभिनेता मे रस स्थिति मान कर लोल्लट ने सफल अनुकरण की महत्ता पर बल दिया है और इस तथ्य को अंगीकृत कर लिया है कि सफल अभिनय के लिये नट की भी तद्रूप अनुभूति अनिवार्य है।

किन्तु लोल्लट की सीमायें भी है और गुणों की अपेक्षा इस सिद्धान्त में दोष अधिक है। पहली बात तो यह है कि इसमें इस बात की व्याख्या नहीं की जा सकी है कि सहृदयो को रसास्वादन क्यों होता है ? इसमें तो केवल इतना बतलाया गया है कि रस की उत्पत्ति राम मे होती है और नर्तक में उसकी प्रतीति होती है। दर्शकों का सीता इत्यादि आलम्बनों से क्या सम्बन्ध जो उन्हे भी उनके प्रेम में आनन्द आता है ? दूसरी बात यह है कि रस और विभावादिकों में कार्य कारण भाव माना गया है जो सर्वथा असंगत है। कारण कभी न कभी कार्य से अपना पृथक अस्तित्व अवश्य रखता है किन्तु यहाँ विभावादि की सत्ता रस के अभाव में सम्भव ही नहीं। तीसरी बात यह है कि उपचित स्थायी भाव को रस कहा गया है। उपचित वही वस्तु हो सकती है जो अनुपचित अवस्था मे स्वतन्त्र रूप मे विद्यमान अवश्य हो और उसकी प्रतीति भी की जा सके। यहाँ स्थायी भाव की प्रतीति विभावादि के योग के अभाव में सम्भव ही नहीं। फिर उपचय किसका होगा। जब विभावादिकों से संवलित होकर स्थायीभाव प्रतीत होता है तब वह अनुपचित अवस्था नहीं रहती। अत स्थायी भाव की सत्ता ही विलुप्त हो जाती है। इसके लिये यह आवश्यक हो जायेगा कि स्थायीभाव की परोक्ष सत्ता मानी जाय ऐसी दशा में पहले उसका सम्प्रतिधान अनिवार्य हो जायेगा। परोक्षात्मक ज्ञान के साक्षात्कारात्मक न होने से उसकी रसरूपता हो ही नहीं सकती। यदि स्थायी भाव के समान विभावादि से पहले रस की भी परोक्ष सत्ता स्वीकार कर ली जाय तो रस-सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि ऐसी दशा में दूसरे सहायक की आवश्यकता ही क्या रहेगी ? रस में न्यूनाधिक्य या तारतम्य की भावना नहीं होती किन्तु स्थायी भाव में होती है। यदि स्थायी भाव को ही रस माना जायगा तो रस मे भी मन्द मन्दतर मन्दतम आदि अनेक भेद होने लगेंगे और यह बात ठीक नहीं होगी कि रस में कोटियाँ नहीं होतीं। एक समाधान यह सम्भव है कि जिस प्रकार रस की कोटियाँ नहीं मानी

जाती वैसे ही स्थायी भाव की भी कोटियाँ न मानी जावें। ऐसी दशा मे 'हास' की ६ कोटियाँ सिद्ध नही हो सकेगी। दूसरा समाधान यह सम्भव है कि स्थायी भाव के आधार पर रस की भी कोटियाँ मान ली जावे। ऐसी दशा मे काम की १० दशाओ के स्थान पर असख्य दशायें माननी पड़ेंगी। इस प्रकार लोल्लट का यह सिद्धान्त निस्सार सिद्ध हो जाता है कि स्थायी भाव ही रस बन जाता है। इनके सिद्धान्त का दूसरा पक्ष है उपचयवाद अर्थात् स्थायीभाव सञ्चारी भावो से उपचित होकर रस बनता हैं। किन्तु यह मान्यता भी तर्क की कसौटी पर खरी नही उतरती। भावनाओ का उपचय कभी नही होता सर्वदा अपचय ही होता है। शोक इत्यादि भाव जितनी तीव्रता से उद्भूत होते हैं उतनी तीव्रता उनमे बनी नही रहती धीरे-धीरे कम होती जाती है। यदि क्रोध, उत्साह, रति इत्यादि भावो को बीच-बीच मे परिपोषक सामग्री न मिलती जाय तो ये भाव स्वय घटते जाते हैं। अत स्थायी भावो के उपचय की बात भी बनती नही है। इस प्रकार लोल्लट का सिद्धान्त कसौटी पर खरा नही उतरता।

शकुक का अनुमितिवाद

न्याय शास्त्र के आचार्य श्री शकुक भरत के रस सूत्र के दूसरे व्याख्याता हैं। इन्होंने निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति किया है और सयोग का अनुमाप्य अनुमापक भाव। इनके सिद्धान्त का सार इस प्रकार है—जब नट राम इत्यादि किसी पात्र का अभिनय करता है तब दर्शको को यह प्रतीति होने लगती हैं कि 'यह राम ही है।' इस प्रतीति को हम उन चारो प्रकार की प्रतीतियो मे सन्निविष्ट नही कर सकते जो लोक मे या न्याय शास्त्र मे मानी जाती हैं। (१) इसे हम 'यह राम ही है' या 'यही राम है' इस प्रकार की दो सम्यक् प्रतीतियो मे सन्निविष्ट नही कर सकते। सम्यक प्रतीति वही पर होती है जहाँ सचमुच राम उपस्थित हो, यहाँ सचमुच राम उपस्थित नही है इसलिये यह प्रतीति यहाँ पर नही हो सकती।(२)यहाँ पर 'यह राम हैं' इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति भी नही हो सकती। मिथ्या प्रतीति वही पर होती है जहाँ राम न हो और उनको कोई राम कहे और जहाँ पर बाद मे बाध अवश्य हो तथा यह प्रतीति होने लगे कि 'यह राम नही हैं।' यहाँ पर यह प्रतीति नही हो सकती क्योकि उत्तर कालिक बाध नही होता। इसे हम 'यह राम है या नही' इस प्रकार की सशयात्मक प्रतीति भी नही कह सकते क्योकि यहाँ पर सशय का अनुभव नही होता। (४) 'यह राम के समान है' इस प्रकार की सादृश्य प्रतीति भी यहाँ पर नही हो सकती। क्योकि हमे सादृश्य का अनुभव नही होता। इस प्रकार यह प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, सशय और सादृश्य इन चारो प्रकार की प्रतीतियो से विलक्षण एक नये ही प्रकार की प्रतीति होती है जिस प्रकार चित्र में बने हुये घोडे मे घोडे की प्रतीति हुआ करती है। जब नट —

पीलो छवि रस माधुरी सींचो जीवन बेल,
जी लो सुख से आयु भर यह माया का खेल,

मिलो स्नेह से बने
घने प्रेम तरु तले (स्कन्दगुप्त)

इस प्रकार के संयोग सम्बन्धी काव्य वाक्यों का अनुसन्धान करता है। अथवा

अाह् वेदना मिली विदाई
मैंने भ्रम वश जीवन संचित मधु करियों की भीख लुटाई।
छल छल थे सन्ध्या के श्रम कण
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी
नीरवता अनन्त अँगड़ाई॥ (स्कन्द गुप्त)

इस प्रकार के काव्य गत वियोग वाक्यों का अनुसन्धान करता है तथा शिक्षा और अभ्यास का आश्रय लेकर अपना कार्य कौशल प्रकट करता है तब उन काव्यगत वाक्यों के अनुसन्धान के बल पर तथा शिक्षा और अभ्यास के द्वारा प्रदर्शित किये हुये कार्य के बल पर उसी नट के द्वारा भावो के जिन कार्यों कारणों और सहकारी कारणों को अभिनय द्वारा प्रकाशित करता है वे होते तो वास्तव मे कृत्रिम हैं किन्तु कौशल की सूक्ष्मता के कारण कृत्रिम मालूम नही पड़ते हैं। इस प्रकार वे अपना कारण कार्य और सहकारी कारण नाम छोड़कर विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव के नाम से पुकारे जाने लगते हैं। इनसे एक प्रकार की व्याप्ति बनती है और वह इस प्रकार की होती है कि — जहाँ कहीं इन विभावादिको का संयोग होता है वहाँ रति इत्यादि भाव अवश्य होते हैं। इस व्याप्ति मे गम्य अर्थात् अनुमाप्य तो रति इत्यादि भाव हैं और गमक अर्थात् अनुमापक विभावादिकों का संयोग है। इस व्याप्ति के बल पर नट मे रति इत्यादि भावों का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु इसमें वस्तु की ऐसी सुन्दर विलक्षणता होती है जिससे उसमे आस्वाद उत्पन्न करने की अपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है। यही कारण है कि अनुमान होते हुये भी अन्य अनुमानों से विलक्षण होने के कारण यह अनुमान रूप मे प्रतीत नही होता और इसका नाम स्थायीभाव पड़ जाता है। इस स्थायी भाव का अनुमान नट मे ही लगाया जाता है। यद्यपि यह नट में विद्यमान नही होता है किन्तु समाज मे उपस्थित दर्शकगण अपनी वासना से प्रेरित होकर दूसरा चर्वण करते हैं। यही रस है।

...त का सार यही है कि ... ार जकड़ती हुई मूल को पुष्प समझ कर
...नुमान लगा ले ... है नट यह प्रकट करता है कि विभावादि
विभावादि मे ... ादि भाव का दर्शक लोग नट मे ही
है यद्यपि यह ... । नही है ... मित रतिभाव
...व का हेतु ... है।

...नट विभाव
...स अनुकार्य

मे स्थायीभाव की उत्पत्ति मानी थी। किन्तु अनुकार्य (वास्तविक राम) से नट का कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता। शकुक ने इस शका का समाधान प्रस्तुत कर दिया है। उनका कहना है कि कवि जिस प्रकार के विभावादि का वर्णन करता है नट उसी का अनुकरण करता है। अनुभावो का अनुकरण शिक्षा के बल पर किया जाता है। सचारी भावो का अनुकरण अपने अनुभव के बल पर कृत्रिम रूप मे करता है। इसका आशय यह है कि प्राय प्रत्येक काव्य मे पात्रो (विभावो) की वेशभूषा इत्यादि का प्रकथन कर दिया जाता है। नट उसी वेशभूषा मे रगमच पर उपस्थित होता है। उसको अभिनय की शिक्षा दी जा चुकी होती है। इससे वह अनुभावो का अनुकरण करता है। लोक मे हर्ष चिन्ता इत्यादि का उसका अपना अनुभव होता है। उसी के बल पर वह अपने अन्दर उन भावो की कल्पना कर लेता है। किन्तु स्थायी भाव का अनुसन्धान तो वह किसी रूप मे नही कर सकता। वह तो प्रतीति गोचर ही होता है और उसका तो अनुमान ही लगाया जाता है। इसीलिये मुनि ने भिन्न विभक्तिक भी स्थायीभाव शब्द का प्रयोग नही किया है। क्योकि वह बहुत अनुचित हो जाता।

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि मिथ्या ज्ञान और अनुकरण से रस कैसे उत्पन्न हो सकता है ? शंकुक के पास इसका उत्तर यह है कि प्राय मिथ्या ज्ञान से भी अर्थ क्रिया देखी जाती है। अत यह कोई अनुपपत्ति नही है।

शंकुक की उपलब्धि और उनके दोष

शकुक का रस सिद्धान्त असदिग्ध रूप मे भट्ट लोल्लट के सिद्धान्त का विकास है। लोल्लट के सिद्धान्त मे सामाजिक के योगदान पर नही के बराबर विचार किया गया था किन्तु शकुक ने सामाजिक के आस्वादन को मुख्य रूप से विवेचन का विषय बनाया। अनुकार्य मे रस की कल्पना भी कुछ अधिक समीचीन नही थी। क्योकि जो व्यक्ति कभी दृष्टिगत हुआ ही नही उसकी भावनायें आस्वादन का विषय बन सकें यह सम्भव ही नही है। शकुक ने विभाव को कवि-कल्पित मानकर इस अनुपपत्ति का निराकरण कर दिया है। लोल्लट ने जो स्थायीभाव का प्रत्यक्ष उपचय माना था उसका भी समाधान शकुक मे मिल जाता है। ये अनुकरण को महत्व देते हैं जिससे वह दोष नही आता जो लोल्लट के विवेचन मे आया था।

किन्तु लोल्लट के समान शकुक के दोष उनकी उपलब्धियो की अपेक्षा अधिक मुख्य हैं। पहली बात तो यह है कि इसमे यह भुला दिया गया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कार का कारण होता है। जो चमत्कार प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा हो सकता है वह अनुमानजन्य ज्ञान मे सम्भव नही। दूसरी बात यह है कि इसमे यह भुला दिया गया है कि जब दर्शक का आलम्बन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही है तब उसे रसास्वादन होता कैसे ?

अभिनव गुप्त ने अपने गुरु भट्ट तौत के नाम पर शकुक के मत मे कतिपय अन्य अनुपत्तियाँ भी दिखलाई हैं। उनका मुख्य आक्षेप अनुकरण सिद्धान्त पर है। यह

मिलो स्नेह से बसे
बसे प्रेम तरु तले (स्कन्दगुप्त)

इस प्रकार के संयोग सम्बन्धी काव्य वाक्यों का अनुसन्धान करता है। अथवा

आह वेदना मिली विदाई
मैंने भ्रम वश जीवन संचित मधु करियों की भीख लुटाई।
छल छल थे सन्ध्या के श्रम कण
आंसू से गिरते थे प्रतिक्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी
नीरवता अनन्त अंगड़ाई॥ (स्कन्द गुप्त)

इस प्रकार के काव्य गत वियोग वाक्यो का अनुसन्धान करता है तथा शिक्षा और अभ्यास का आश्रय लेकर अपना कार्य कौशल प्रकट करता है तब उन काव्यगत वाक्यो के अनुसन्धान के बल पर तथा शिक्षा और अभ्यास के द्वारा प्रदर्शित किये हुये कार्य के बल पर उसी नट के द्वारा भावों के जिन कार्यों कारणों और सहकारी कारणों को अभिनय द्वारा प्रकाशित करता है वे होते तो वास्तव में कृत्रिम हैं किन्तु कौशल की सूक्ष्मता के कारण कृत्रिम मालूम नहीं पड़ते हैं। इस प्रकार वे अपना कारण कार्य और सहकारी कारण नाम छोड़कर विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव के नाम से पुकारे जाने लगते हैं। इनसे एक प्रकार की व्याप्ति बनती है और वह इस प्रकार की होती है कि 'जहाँ जहाँ इन विभावादिकों का संयोग होता है वहाँ रति इत्यादि भाव अवश्य होते हैं। इस व्याप्ति में गम्य अर्थात् अनुमाप्य तो रति इत्यादि भाव हैं और गमक अर्थात् अनुमापक विभावादिकों का संयोग है। इस व्याप्ति के बल पर नट में रति इत्यादि भावो का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु इसमें वस्तु की ऐसी सुन्दर विलक्षणता होती है जिससे उसमें आस्वाद उत्पन्न करने की अपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है। यही कारण है कि अनुमान होते हुये भी अन्य अनुमानों से विलक्षण होने के कारण यह अनुमान रूप में प्रतीत नहीं होगा और इसका नाम स्थायीभाव पड़ जाता है। इस स्थायी भाव का अनुमान नट में ही लगाया जाता है। यद्यपि यह नट में विद्यमान नहीं होता * किन्तु समाज में उपस्थित दर्शकगण अपनी वासना से प्रेरित होकर दूसरा चर्वण करते हैं। यही रस है।

इस मत का सार यही है कि जिस प्रकार उड़ती हुई धूल को धुआँ समझ कर कोई आग का अनुमान लगा ले उसी प्रकार जब नट यह प्रकट करता है कि विभावादि हमारे ही हैं तब विभावादि से नियत रति इत्यादि भाव का दर्शक लोग नट में ही अनुमान लगा लेते हैं यद्यपि वह रतिभाव उसमें होता नहीं है। यही अनुमित रतिभाव सामाजिकों के आस्वाद का हेतु होने से रस कहलाता है।

शंकुक का सिद्धान्त प्रमुख रूप से अनुकरण पर आधारित है। नट विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव का अनुकरण करता है। लोल्लट ने मुख्य रूप से अनुकार्य

की अवस्थिति सामाजिक मे ही मानी जावे तो इसका आशय यही होगा कि सामाजिक मे रस की उत्पत्ति हुई है। अब मान लीजिये कि रगमञ्च पर राम-सीता के प्रेम का अभिनय हो रहा है—उस अवस्था मे सामाजिक के हृदय मे सीता के प्रति रति जागृत हो ही कैसे सकती है? यह भी नही कहा जा सकता कि सीता के अन्दर से सीतात्व रूप व्यक्तित्व के अश के पृथक् हो जाने से तथा सर्वसाधारण कान्तात्व की प्रतीति होने से सामाजिको मे रस भावना का उद्बोध हो जाता है, क्योकि देवता इत्यादि पूज्यो के प्रति कान्तात्व बुद्धि हो ही नही सकती। दूसरी बात यह है कि जिन कार्यों का सम्पादन हमारी शक्ति से सर्वथा बाहर है उनको अपनी शक्ति से करने की हम कल्पना ही कैसे कर सकते हैं। हम यह कैसे मान सकते हैं कि हम समुद्र पर पुल बाध रहे है या समुद्र को लाघ रहे है या अपने हाथ पर पहाड उठा रहे हैं। शक्तिमान राम इत्यादि का स्मरण भी हमारे रसोदबोध मे कारण नही हो सकता क्योकि एक तो हम ने कभी राम को देखा नही जो कि स्मरण की अनिवार्य शर्त है दूसरे स्मरणमात्र मे रसोद्बोध हो भी नही सकता। इस प्रकार रस न तो स्वगत माना जा सकता है न अनुकार्यगत और न नटगत। रस उत्पन्न होता है यह भी नही माना जा सकता। कारण यह है कि यदि करुण रस की उत्पत्ति हो और उससे सामाजिको को दु ख हो तो उसके पढने मे कौन प्रवृत्त होगा? दु ख मे कोई पडना नही चाहता। अब रही अभिव्यक्ति की बात। अभिव्यक्ति किसी ऐसी वस्तु की होती है जो पहले विद्यमान हो और प्रकाश इत्यादि के द्वारा वह प्रकट कर दी जावे। जैसे अधेरे मे रक्खे हुए घडे को दीपक का प्रकाश अभिव्यक्त कर देता है। यदि रस पहले से सामाजिको के अन्त करण मे विद्यमान हो तभी काव्य इत्यादि के परिशीलन से उसकी अभिव्यक्ति मानी जा सकती है। किन्तु इसमे यह एक दोष होगा कि जिस प्रकार घडे को अधिकाधिक स्पष्टता देने के लिए प्रकाश की मात्रा भी बढानी पडती है उसी प्रकार विषय वासना का अधिकाधिक विस्तार प्रारम्भ हो जायेगा। रस प्रतीत भी नही होता क्योकि प्रतीत वही वस्तु होती है जो पहले से विद्यमान हो। राम वहाँ विद्यमान नही अत उनकी रति भी विद्यमान नही है। अत उसकी प्रतीति हो ही किस प्रकार सकती है? इस प्रकार स्वगतत्व परगतत्व उत्पत्ति अभिव्यक्ति प्रतीति इत्यादि सभी मान्यताओ का निराकरण हो जाता है। अतएव मानना पडेगा कि काव्य के शब्दो मे अन्य शब्दो की अपेक्षा कुछ विलक्षणता होती है।

उक्त विलक्षणता के आधार पर मानना पडेगा कि काव्य मे लोक की अपेक्षा दो अतिरिक्त शब्द व्यापार (शब्द वृत्तियाँ) होती हैं। इस प्रकार काव्य मे तीन शब्द वृत्तियाँ होती है—अभिधायकत्व, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधायकत्व वृत्ति का पर्यवसान वाच्यार्थ मे होता है। रस इत्यादि के विषय मे भावकत्व वृत्ति मानी जाती है और सहृदयों के विषय मे भोजकत्व वृत्ति से काम लिया जाता है। काव्य मे यही तीन अश भूत व्यापार होते हैं। इस अभिधायकत्व वृत्ति का यही काम है कि काव्य मे आने वाले जितने भी विभावादि होते हैं उनके अन्दर से व्यक्तित्व अश को हटाकर

अनुकरण सामाजिक की दृष्टि से ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि सामाजिक ने राम की विभिन्न चेष्टायें देखी नहीं है। अतः वह यह अनुमान लगा ही नहीं सकता कि नट राम की चेष्टाओं का अनुकरण कर रहा है। दूसरे ऐन्द्रिय विषयों का अनुकरण सम्भव भी हो किन्तु रति इत्यादि मानसिक तत्वों का अनुकरण तो कभी हो ही नहीं सकता। नट की दृष्टि से भी अनुकरण ठीक नहीं बनता। क्योंकि नट ने जो वस्तु देखी ही नहीं उसका वह अनुकरण (सदृशता-सम्पादन) कर ही कैसे सकता है? दूसरी बात यह है कि नट शोक का अनुकरण किस वस्तु से करेगा? क्या शोक के द्वारा? वह तो नट के अन्दर है ही नहीं। क्या अश्रु पात इत्यादि के द्वारा? इन बाह्य तत्वों से आभ्यन्तर भाव का अनुकरण कैसे होगा? वस्तु वृत्त विवेचन की दृष्टि से भी अनुकरण सिद्धान्त ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि जो घटना पहले घट चुकी है नाटक में बाद में उसकी संवेदना ही जगाई जाती है। वस्तु वृत्त का ठीक विवेचन तो वही कर सकता है जिसने प्रत्यक्ष रूप से उसे देखा हो। बाद में तो उसकी सूचना भर प्राप्त की जा सकती है। भरत की दृष्टि से अनुकरण सिद्धान्त ठीक नहीं जंचता। क्योंकि भरत में कोई ऐसा वाक्य ही दिखलाई नहीं देता जो इस प्रतिपादन का मूलाधार कहा जा सके। इस प्रकार जब शंकुक के सिद्धान्त का मूलाधार अनुकरण सिद्धान्त ही ध्वस्त हो गया तो वह सिद्धान्त स्वतः विशीर्ण हो जाता है।

भट्टनायक का मत

भट्ट नायक के सिद्धान्त को भुक्तिवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। ये निष्पत्ति का अर्थ करते हैं भुक्ति और संयोग का अर्थ करते हैं भोज्य-भोजक सम्बन्ध। इन्होंने अपने विवेचन में सर्वप्रथम उन मान्यताओं का निराकरण किया जो या तो सम्भावना मूलक थी या उनके पहले उस प्रकार की मान्यताओं का निरूपण किसी न किसी के द्वारा किया जा चुका था। इन्होंने स्वगतत्व परगतत्व प्रतीति उत्पत्ति अभिव्यक्ति इत्यादि सभी मान्यताओं का प्रतिषेध कर अपने नवीन मत की स्थापना की है। इस प्रकार इनके मत को दो पक्षों में विभाजित किया जा सकता है—पहले प्रतिषेध पक्ष और फिर विधि पक्ष। इनके मत का सार इस प्रकार होगा —

नाटक में रसानुभाव में तीन व्यक्तित्व होते हैं (१) जिनका अनुकरण किया जाता है जैसे राम इत्यादि। (२) अनुकरण करने वाला नट इत्यादि और (३) आस्वाद लेने वाला सामाजिक। यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामाजिक जिस रस का आस्वादन करता है वह रस उस सामाजिक से ही सम्बन्ध रखता है अथवा अन्य से। आशय यह है कि रस स्वगत होता है या परगत। यदि रस परगत होता है अर्थात् उसका सम्बन्ध सामाजिक से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति (नट या अनुकार्य) से होता है। तो सामाजिक तो एक तटस्थ व्यक्ति हो गया। वह अपने से सम्बन्ध न रखने वाले रस का आस्वादन ही क्यों करेगा? यदि रस स्वगत माना जावे अर्थात् रस

की अवस्थिति सामाजिक मे ही मानी जावे तो इसका आशय यही होगा कि सामाजिक मे रस की उत्पत्ति हुई है। अब मान लीजिये कि रंगमञ्च पर राम-सीता के प्रेम का अभिनय हो रहा है—उस अवस्था मे सामाजिक के हृदय मे सीता के प्रति रति जागृत हो ही कैसे सकती है ? यह भी नही कहा जा सकता कि सीता के अन्दर से सीतात्व रूप व्यक्तित्व के अश के पृथक् हो जाने से तथा सर्वसाधारण कान्तात्व की प्रतीति होने से सामाजिको मे रस भावना का उद्बोध हो जाता है, क्योकि देवता इत्यादि पूज्यो के प्रति कान्तात्व बुद्धि हो ही नही सकती। दूसरी बात यह है कि जिन कार्यों का सम्पादन हमारी शक्ति से सर्वथा बाहर है उनको अपनी शक्ति से करने की हम कल्पना ही कैसे कर सकते है। हम यह कैसे मान सकते हैं कि हम समुद्र पर पुल बाध रहे है या समुद्र को लाघ रहे है या अपने हाथ पर पहाड उठा रहे हैं। शक्तिमान राम इत्यादि का स्मरण भी हमारे रसोदबोध मे कारण नही हो सकता क्योकि एक तो हम ने कभी राम को देखा नही जो कि स्मरण की अनिवार्य शर्त है दूसरे स्मरणमात्र से रसोद्बोध हो भी नही सकता। इस प्रकार रस न तो स्वगत माना जा सकता है न अनुकार्यगत और न नटगत। रस उत्पन्न होता है यह भी नही माना जा सकता। कारण यह है कि यदि करुण रस की उत्पत्ति हो और उससे सामाजिको को दुःख हो तो उसके पढने मे कौन प्रवृत्त होगा ? दुःख मे कोई पडना नही चाहता। अब रही अभिव्यक्ति की बात। अभिव्यक्ति किसी ऐसी वस्तु की होती है जो पहले विद्यमान हो और प्रकाश इत्यादि के द्वारा वह प्रकट कर दी जावे। जैसे अधेरे मे रक्खे हुए घडे को दीपक का प्रकाश अभिव्यक्त कर देता है। यदि रस पहले से सामाजिको के अन्तःकरण मे विद्यमान हो तभी काव्य इत्यादि के परिशीलन से उसकी अभिव्यक्ति मानी जा सकती है। किन्तु इसमे यह एक दोष होगा कि जिस प्रकार घडे को अधिकाधिक स्पष्टता देने के लिए प्रकाश की मात्रा भी बढानी पडती है उसी प्रकार विषय वासना का अधिकाधिक विस्तार प्रारम्भ हो जायेगा। रस प्रतीत भी नही होता क्योंकि प्रतीत वही वस्तु होती है जो पहले से विद्यमान हो। राम वहाँ विद्यमान नही अतः उनकी रति भी विद्यमान नही है। अतः उसकी प्रतीति हो ही किस प्रकार सकती है ? इस प्रकार स्वगतत्व परगतत्व उत्पत्ति अभिव्यक्ति प्रतीति इत्यादि सभी मान्यताओ का निराकरण हो जाता है। अतएव मानना पडेगा कि काव्य के शब्दो मे अन्य शब्दो की अपेक्षा कुछ विलक्षणता होती है।

उक्त विलक्षणता के आधार पर मानना पडेगा कि काव्य मे लोक की अपेक्षा दो अतिरिक्त शब्द व्यापार (शब्द वृत्तियाँ) होती हैं। इस प्रकार काव्य मे तीन शब्द वृत्तियाँ होती है—अभिधायकत्व, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधायकत्व वृत्ति का पर्यवसान वाच्यार्थ मे होता है। रस इत्यादि के विषय मे भावकत्व वृत्ति मानी जाती है और सहृदयो के विषय मे भोजकत्व वृत्ति से काम लिया जाता है। काव्य मे यही तीन अश भूत व्यापार होते हैं। इस अभिधायकत्व वृत्ति का यही काम है कि काव्य मे आने वाले जितने भी विभावादि होते हैं उनके अन्दर से व्यक्तित्व अश को हटाकर

उनमें साधारणीकरण कर दिया जाता है जिससे उन विभावादिकों में सामाजिकों के रसास्वादन के प्रयोजक बनने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार भावकत्व वृत्ति का काम है साधारणीकरण करना। तीसरी है भोजकत्व वृत्ति। इस वृत्ति के प्रभाव से सामाजिक के अन्तःकरण रसभोग के योग्य बन जाते हैं। यह भोग स्मरण अनुभव इत्यादि सब प्रकार की लौकिक प्रतिपत्तियों से भिन्न होता है। सामाजिकों की चित्तवृत्ति उस रसास्वादन काल में कभी-कभी द्रवित हो जाती है कभी-कभी उनका विस्तार हो जाता है और कभी-कभी उनका विकास हो जाता है। यह आस्वाद उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का ब्रह्मानन्द हुआ करता है। लोक में हम दूसरे के सुख दुःख को अपना सुख दुःख नहीं समझ पाते और न हम अपनी आत्मा के व्यापकत्व का अनुभव ही कर पाते हैं क्योंकि हमारी चित्तवृत्तियों पर रजोगुण और तमोगुण का पर्दा पड़ा रहता है। काव्यास्वादन के अवसर पर भोजकत्व वृत्ति के प्रभाव से वह पर्दा विशीर्ण हो जाता है और सत्त्व के उद्रेक से हम अपनी चित्त-वृत्तियों को संसार के साथ एकाकारता में परिणत कर देते हैं जिससे हमें काव्य या नाट्य में वे क्रियायें आनन्द देने लगती हैं जिनको पराया समझ कर लोक में हम तटस्थ बने रहते हैं। उस सत्त्व के उद्रेक में रजोगुण और तमोगुण की विचित्रतायें भी सम्मिलित रहती हैं किन्तु प्रधान सत्ता सत्त्व की ही रहती है। अपनी सत्ता के द्वारा हम ऐसे लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करने लगते हैं जिसमें संसार के अन्य सारे संवेदनीय पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं और उस आनन्द का पर्यवसान अपनी चेतना में हो जाता है। रजोगुण के प्रभाव से हमारी आत्मा में द्रुति उत्पन्न होती है' तमोगुण से विस्तार हो जाता है और सत्त्व गुण के प्रभाव से उसका विकास हो जाता है। वह रस चैतन्य चित्तवृत्ति स्वरूप होता है। यही प्रधान अंश होता है। चित्तवृत्तियां सिद्ध होती हैं अतः रस भी सिद्ध ही कहा जाता है। उस रसास्वादन के लिए पाठकों को जिस प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है वह प्रधान होती है। रस सर्वदा सिद्ध रूप ही माना जाता है। यह है भट्ट नायक के सिद्धान्त का सार।

भट्टनायक की उपलब्धियाँ और उनके दोष

भट्टनायक की सबसे बड़ी उपलब्धि है साधारणीकरण की परिकल्पना। यह एक इतना महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि परवर्ती विचारकों ने भी यहाँ तक सब से बड़े प्रतिनिवेशी अभिनव गुप्त ने भी इसे नत मस्तक होकर स्वीकार कर लिया। यह दूसरी बात है कि इसकी प्रक्रिया क्षेत्र और उपादान के विषय में मत भेद हो किन्तु जहाँ तक सिद्धान्त की मान्यता का प्रश्न है इसके प्रवर्तक के रूप में भट्टनायक ही याद किये जायेंगे। दूसरी बात यह है कि सामाजिक की दृष्टि से रसास्वाद की ठीक व्याख्या सर्वप्रथम भट्टनायक ने ही की कि रजोगुण तथा तमोगुण के परिहार के द्वारा सत्त्व का उद्रेक चित्त को आस्वादन क्षम बनाता है। इस सिद्धान्त का भी प्रवर्तन भट्टनायक ने ही किया जो कि रस सिद्धान्त में पर्याप्त महत्त्व का अधिकारी है।

किन्तु भट्टनायक के सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी इस बात में है कि इन्होंने

दो ऐसी वृत्तियाँ स्वीकार की है जो पूर्ववर्ती काव्य-शास्त्र मे नही पाई जाती । आस्तिकता का तकाजा यह था कि जो सामग्री उन्हे प्राप्त हुई थी उसी की ठीक व्याख्या कर देते और उसी मे अपना काम चलाते । अभिनव गुप्त को सबसे बडी आपत्ति यही है कि भट्टनायक रस की प्रतीति नही मानते । जो प्रतीत नही होता उसकी सत्ता ही किस प्रकार मानी जा सकती है ? हाँ विभिन्न प्रतीतियो के उपाय विलक्षण होते हैं । इसी आधार पर दर्शन, अनुमिति, श्रुति, उपमिति प्रतिभान इत्यादि नये नाम पड जाते है। किन्तु प्रतीति तो सभी की होती है । उपाय विलक्षणता के आधार पर ही आप उसे भोग, या आस्वादन अथवा रसन इत्यादि कोई नाम दे सकते हैं किन्तु प्रतीति का प्रतिषेध नही हो सकता । प्रतीति का अर्थ भोग ही माना जा सकता है और यह भी स्वीकार किया जा सकता है वह भोग द्रुति इत्यादि रूप मे होता है । किन्तु यह भोग विधा तीन ही प्रकार की होती है यह मानना ठीक नही । क्योकि जितने रस होते हैं उतने प्रकार का रस भोग भी हो सकता है । केवल उतने प्रकार का ही नही अपितु नायक गुण इत्यादि को लेकर एक एक रस का भोग भी अनन्त प्रकार का हो सकता है । इस प्रकार अभिनव गुप्त रस-भोग से तो सहमत हैं किन्तु उसकी सख्या से नही । वस्तुत द्रुति इत्यादि तो भोग के प्रकार हैं । इनके ही असख्य अवान्तर भेद किये जा सकते हैं । अत अभिनव गुप्त का यह आक्षेप, आक्षेप के लिये ही है इसमे सन्देह नही । वैसे अभिनव गुप्त रस प्रक्रिया के क्षेत्र मे भट्टनायक के बहुत अधिक आभारी है । उन्होंने भावित स्थायी की रस रूपतापत्ति स्वीकार ही कर ली है । हाँ भावना वृत्ति को शास्त्रान्तर मे दिखला कर उसकी नवीन कल्पना का प्रतिषेध कर दिया है । वास्तविकता यह है कि अभिनव ने अपने मत की स्थापना मे भट्टनायक का बहुत अधिक आश्रय लिया है ।

अभिनव गुप्त का मत

इन प्राचीन विचारको की विचारधारा का परिचय हमे अभिनव गुप्त से ही प्राप्त होता है । इनका परिचय देकर अभिनव ने अपने मत की स्थापना की जोकि काव्य शास्त्र के क्षेत्र मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन गयी तथा परवर्ती विद्वानो ने अधिकाश रूप मे उसे ही स्वीकार किया । अभिनव गुप्त से आचार्य मम्मट तक कतिपय विचारको ने जिनमे महिम भट्ट, धनञ्जय इत्यादि प्रमुख है अभिनव की कई मान्यताओ से असहमति प्रकट की । मम्मट ने उन सब अनुपपत्तियो का निराकरण कर निर्दुष्ट रूप मे अभिनव गुप्त के सिद्धान्त को हमारे समक्ष रखने की चेष्टा की । अत अभिनव के मत का परिचय प्राप्त करने के लिये मम्मट के प्रतिपादन का सार दे देना ही पर्याप्त होगा —

रति इत्यादि स्थायीभाव जन्म जात होते हैं और ऐसे सहृदयो के हृदयो मे वासना रूप से निरन्तर सन्निहित रहते हैं जिन्हे लोक मे प्रमदा इत्यादि कारणो, कटाक्ष इत्यादि कार्यों और निर्वेद इत्यादि सहकारियो के आश्रय से स्थायीभाव का अनुभव करने की पूर्ण अभ्यास पटुता प्राप्त हो चुकी है । इन स्थायी भावो की अभिव्यक्ति उन्ही प्रमदा, कटाक्ष निर्वेद इत्यादि कारणो, कार्यों और सहकारियो के मिलन से होती है किन्तु इसमे विशेषता यह है कि जब ये कारण कार्य और सहकारी काव्य और नाट्य के क्षेत्र मे

उनमें साधारणीकरण कर दिया जाता है जिससे उन विभावादिकों में सामाजिकों के रसास्वादन के प्रयोजक बनने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार भावकत्व वृत्ति का काम है साधारणीकरण करना। तीसरी है भोजकत्व वृत्ति। इस वृत्ति के प्रभाव से सामाजिक के अन्तःकरण रसभोग के योग्य बन जाते हैं। यह भोग स्मरण अनुभव इत्यादि सब प्रकार की लौकिक प्रतिपत्तियों से भिन्न होता है। सामाजिकों की चित्तवृत्ति उस रसास्वादन काल में कभी-कभी द्रवित हो जाती है कभी-कभी उसका विस्तार हो जाता है और कभी-कभी उसका विकास हो जाता है। यह आस्वाद उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का ब्रह्मानन्द हुआ करता है। लोक में हम दूसरों के सुख दुःख को अपना सुख दुःख नहीं समझ पाते और न हम अपनी आत्मा के व्यापकत्व का अनुभव ही कर पाते हैं क्योंकि हमारी चित्तवृत्तियों पर रजोगुण और तमोगुण का पर्दा पड़ा रहता है। काव्यास्वादन के अवसर पर भोजकत्व वृत्ति के प्रभाव से वह पर्दा विदीर्ण हो जाता है और सत्त्व के उद्रेक से हम अपनी चित्त-वृत्तियों को संसार के साथ एकाकारता में परिणत कर देते हैं जिससे हमें काव्य या नाट्य में वे क्रियायें आनन्द देने लगती हैं जिनको पराया समझ कर लोक में हम तटस्थ बने रहते हैं। उस सत्त्व के उद्रेक में रजोगुण और तमोगुण की विचित्रतायें भी सम्मिलित रहती हैं किन्तु प्रधान सत्ता सत्त्व की ही रहती है। अपनी सत्ता के द्वारा हम ऐसे लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करने लगते हैं जिसमें संसार के अन्य सारे संवेदनीय पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं और उस आनन्द का पर्यवसान अपनी चेतना में हो जाता है। रजोगुण के प्रभाव से हमारी आत्मा में द्रुति उत्पन्न होती है तमोगुण से विस्तार हो जाता है और सत्त्व गुण के प्रभाव से उसका विकास हो जाता है। वह रस चैतन्य चित्तवृत्ति स्वरूप होता है। वही प्रधान अत: होता है। चित्तवृत्तियां सिद्ध होती हैं अतः रस भी सिद्ध ही कहा जाता है। उस रसास्वादन के लिए पाठकों को जिस प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है वह प्रधान होती है। रस सर्वथा सिद्ध रूप ही माना जाता है। यह है भट्ट नायक के सिद्धान्त का सार।

भट्टनायक की उपलब्धियां और उनके दोष

भट्टनायक की सबसे बड़ी उपलब्धि है साधारणीकरण की परिकल्पना। यह एक इतना महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि परवर्ती विचारकों ने भी यहाँ तक सब से बड़े प्रतिनिवेशी अभिनव गुप्त ने भी इसे नत मस्तक होकर स्वीकार कर लिया। यह दूसरी बात है कि इसकी प्रक्रिया क्षेत्र और उपादान के विषय में मत भेद हो किन्तु जहाँ तक सिद्धान्त की मान्यता का प्रश्न है इसके प्रवर्तक के रूप में भट्टनायक ही याद किये जायेंगे। दूसरी बात यह है कि सामाजिक की दृष्टि से रसास्वाद की ठीक व्याख्या सर्वप्रथम भट्टनायक ने ही की कि रजोगुण तथा तमोगुण के परिहार के द्वारा सत्त्व का उद्रेक चित्त को आस्वादन क्षम बनाता है। इस सिद्धान्त का भी प्रवर्तन भट्टनायक ने ही किया जो कि रस सिद्धान्त में पर्याप्त महत्त्व का अधिकारी है।

किन्तु भट्टनायक के सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी इस बात में है कि इन्होंने

से भिन्न नही होता उसी प्रकार रस का गोचरीकरण भी रस से भिन्न नही होता फिर भी इसका प्रत्यक्ष होता ही है। इसके प्राण या स्वरूप की निष्पत्ति इसका चर्वण करना ही है। इसका जीवन उतने ही काल का होता है जब तक कि विभाव इत्यादि विद्यमान रहते है। जिस प्रकार इलायची कपूर इत्यादि विलक्षण वस्तुश्रो से बना हुआ पावक-रस समस्त वस्तुश्रो के समूह से तैयार किये हुए एक विभिन्न प्रकार के रस को व्यक्त किया करता है उसी प्रकार विभावादि से विलक्षण लोकातीत आस्वाद का चर्वण इस रस मे भी होता है। जब इसका स्वाद लिया जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो यह आखो के सामने स्फुरित हो रहा हो मानो हृदय मे प्रवेश कर रहा हो, मानो सारे शरीर का आलिगन कर रहा हो अर्थात् सारे शरीर को अमृत के रस से सीच रहा हो। यह अन्य सब कुछ तिरोहित कर देता है। यह उसी प्रकार हृदय को आनद का अनुभव कराता है जिस प्रकार मुक्तिदशा मे ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। यही अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करने वाला शृगार इत्यादि रस नाम से पुकारा जाने लगता है। इस रस को हम कार्य नहीं कह सकते। क्योकि कार्य उपादान से भिन्न अन्य कारणो के विनाश पर भी बना रहता है किंतु रस विभावादि के विनाश पर नही रहता। रस ज्ञाप्य भी नही हो सकता। क्योकि ज्ञाप्य वही वस्तु हो सकती है जो पूरी तौर से बन चुकी हो जैसे घडा के बन जाने पर ही दीपक उसे प्रकट कर सकता है। परन्तु यह रस कभी पूर्ण रूप से सिद्ध ही नही होता। फिर भी विभाव इत्यादि के द्वारा यह व्यजना वृत्ति से प्रकट होता है और तभी वह आस्वादन के योग्य हो जाता है। यहा पर कोई भी मुझसे पूछ सकता है कि क्या इस रस से भिन्न कही कोई भी वस्तु देखी गई है जो न तो कारक (किसी वस्तु को पैदा करने वाली) हो और न ज्ञापक (किसी वस्तु को प्रकट करने वाली) हो। इस पर मेरा उत्तर होगा कि वास्तव मे ऐसी कोई वस्तु नही देखी गई है। किंतु यह केवल रस की अलौकिकता को ही सिद्ध करता है जो रस के लिये भूषण की बात है दूषण की नही। यदि आप चाहें तो इसे कार्य भी कह सकते हैं क्योकि इसमे चर्वण या आस्वादन की उत्पत्ति होती है। उसी चर्वण की निष्पत्ति को लेकर रस की भी निष्पत्ति का व्यवहार होता है। इसीलिए नाट्य शास्त्र मे रस निष्पत्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार इसे ज्ञाप्य या ज्ञेय भी कहते है। क्योकि यह एक ऐसे स्वपर्यवसित लोकोत्तर ज्ञान का विषय होता है जो उन सभी प्रकार के अन्य ज्ञानो से विलक्षण होता है जिन्हे हम चाहे (१) लौकिक प्रत्यक्षादि ज्ञान कहे चाहे (२) अपूर्ण योगियो का ज्ञान कहे जिसमे चक्षु इत्यादि लौकिक बाह्य करणो की अपेक्षा नही होती और चाहे (३) परिपक्व योगियो का ऐसा ज्ञान कहे जिसमे अन्य सासारिक ज्ञेय पदार्थों का सस्पर्श भी नही होता और जिसका पर्यवसान केवल अपनी आत्मा मे ही होता है। विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त किये हुए आनद स्वरूप स्वय प्रकाश होने के कारण इसे हम ज्ञाप्य ज्ञान भी कह सकते हैं। इस ज्ञान का ग्राहक निर्विकल्पक ज्ञान नही हो सकता। क्योकि रसानुभूति मे विभाव इत्यादि का परामर्श प्रधान रहता है जोकि निर्विकल्पक ज्ञान मे होना नही चाहिए।

जाते हैं तब वे अपना कारण इत्यादि नाम छोड़ देते हैं और इनके लिये विभाव इत्यादि ऐसे शब्दों का प्रयोग होने लगता है जिनका व्यवहार लोक में नहीं होता। इस नामकरण का कारण यह है कि इनमें एक प्रकार की अलौकिकता होती है। वह अलौकिकता यह है कि लोक में हर्ष शोक और मोह के कारणों से हर्ष शोक और मोह पैदा होते हैं किन्तु काव्य और नाट्य में सभी कारणों से केवल आनन्द ही उत्पन्न होता है। दूसरी बात यह है कि काव्य और नाट्य में एक प्रकार की नवीन क्रिया या व्यापार होता है और उसी के आधार पर इनका नामकरण होता है। वासना रूप में जो स्थायीभाव अन्तःकरण में रहते हैं प्रमदा इत्यादि कारण उनका विभावन करते हुए पीतु उगहु प्रतीति के योग्य बनाते हैं। इसीलिए इन्हें विभाव कहते हैं। कटाक्षादि कार्य उन भावों का अनुभावन करते हैं अर्थात् उन्हें अनुभव के योग्य बनाते हैं। इसीलिये इन्हें अनुभाव कहते हैं। निर्वेदादि सहकारी इन स्थायी भावों में व्यभिचरण करते हैं अर्थात् चारों ओर से भली भाँति सञ्चरण करते हैं। इसीलिये इन्हें संचारी भाव कहते हैं। किसी विशेष व्यक्ति से इनके किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार करने का कोई भी नियम नहीं है जिससे हम यह कह सकें कि यह हमारा ही है, यह शत्रु का ही है या यह किसी अन्य तटस्थ व्यक्ति का ही है। और न किसी विशेष व्यक्ति से किसी विशेष प्रकार के सम्बन्ध के परित्याग का ही कोई नियम है जिससे हम यह कह सकें कि यह हमारा भी नहीं है यह शत्रु का भी नहीं है और यह किसी तटस्थ व्यक्ति का भी नहीं है। हम उस आलम्बन इत्यादि को अपना नहीं कह सकते। यदि उसे हम अपना समझें तो अपने ही प्रेम इत्यादि का सबके सामने अभिनय होता देखकर हमें आनन्द के स्थान में लज्जा का ही अनुभव होगा। यदि शत्रु का समझें तो आनन्द के स्थान पर द्वेष ही होगा। यदि उदासीन का समझेंगे तो हम उसके प्रति उदासीन हो जायेंगे। यदि हम यह समझने लगेंगे कि यह हमारा भी नहीं है शत्रु का भी नहीं है और उदासीन का भी नहीं है तो हम उससे सरोकार ही क्या रखेंगे ?

बस इसी प्रकार के विभावादि नाम से विख्यात कारणादिकों से दर्शकों की चित्तवृत्ति में वासना रूप में विद्यमान रति इत्यादि स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है। यह अभिव्यक्ति यद्यपि उस समय नियमित रूप से आस्वादन करने वाले के अन्तःकरण में ही होती है किन्तु ऊपर बतलाये हुए रूप में व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध का परित्याग कर देने के कारण साधारणीकरण के प्रभाव से प्रमाता के चित्त में एक ऐसा अपरिमित भाव जागृत हो जाता है कि उस क्षण समय अपनी परिमित प्रमातृसत्ता का बिल्कुल ध्यान ही नहीं रहता और उस अवस्था में उसकी दृष्टि से वे सारी वस्तुयें बिल्कुल तिरोहित हो जाती हैं जो जानने योग्य नहीं हो सकती हैं। इस प्रकार वह सारे विश्व में अपनी आत्मा को मिला देता है और सारे विश्व में एकात्म भाव का अनुभव करने लगता है। वह प्रमाता ही समस्त सहृदयों से एकाकार होकर उस रति इत्यादि भाव को प्रत्यक्ष करता है। यद्यपि वह बहुत ही साधारण रूप से उपस्थित किया जाता है और अभिन्न होता है—जिस प्रकार ज्ञान से ज्ञान का विषय ज्ञान

ी स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि लोक के क्रियाकलाप प्रेरक होते हैं तथा
नमे भावान्तर जनन क्षमता होती है। किन्तु काव्य मे किसी प्रकार का भी
भावादि का उपादान परिशीलको को कार्य मे नही लगाता और न भावान्तर की
त्पत्ति उससे हो सकती है। उदाहरण के लिये लोक मे किसी व्यक्ति को कोई काम
रते देखकर उस व्यक्ति से अपने सम्बन्ध के अनुसार हमारे अन्दर कोई प्रतिक्रिया
ागृत हो सकती है परन्तु काव्य मे न तो ऐसी प्रतिक्रिया ही जागृत होती है और न
मारे अन्दर कोई दूसरा भाव ही आता है। इसलिये काव्य-वाक्य केवल आस्वादन
 प्रवर्तक ही माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त अभिनव की व्याख्या काव्यशास्त्र के
ार्वाधिक प्रतिष्ठित सिद्धान्त ध्वनि के अनुकूल है और निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति
ानकर तथा सयोग को व्यग्य व्यजक-भाव परक मानकर अभिनव ने ध्वनि सिद्धान्त
ा सफल निर्वाह किया है इसमे सदेह नही।

अभिनव की एक बहुत बडी विशेषता उसके दार्शनिक पक्ष की है। इन्होंने
ौवाद्वैत सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य मे इस सिद्धान्त की सफल व्याख्या की है। यही कारण
है कि परवर्ती काल मे इनका रस सिद्धान्त इतनी मान्यता प्राप्त कर सका। अभिनव
के सिद्धान्त में दोष हो सकते हैं और उनके दोष दिखलाये भी गये है परन्तु उनके
सिद्धान्त की महत्ता अक्षुण्ण है।

इसे हम सविकल्पक ज्ञान की श्रेणी में भी नहीं रख सकते क्योंकि सविकल्पक ज्ञान वहीं पर होता है जहा पर एक ज्ञान में कोई दूसरा ज्ञान (उसके विशेषण का ज्ञान) कारण रूप में विद्यमान रहे। किन्तु यह चर्वणात्म रस ज्ञान एक ऐसा अखण्ड स्वसंवेदन सिद्ध अखण्ड आनन्दमय ज्ञान है जिसमे किसी प्रकार के विशेषण ज्ञान का अवसर ही नही रहता। इस प्रकार यह न तो सविकल्पक है न निर्विकल्पक। साथ ही निर्विकल्पक न होने से सविकल्पक भी है और सविकल्पक न होने से निर्विकल्पक भी है। दोनों प्रकार का न होना और दोनो प्रकार का होना यह जो विरोध है यह भी रस प्रक्रिया के लिये दोष नही कहा जा सकता प्रत्युत इसे अलौकिक ही सिद्ध करता है क्योंकि इसके लिए एक भूषण की ही बात है दोष की नही। यही अभिनव गुप्त के सिद्धांत का सार है।

अभिनव गुप्त की प्रमुख कल्पनायें

अभिनव ने स्वीकार किया है कि उन्होंने प्राचीन मान्यताओं का ही शोधन किया है। किन्तु यह शोधन इस प्रकार का है कि उसमे मौलिक चिंतन और प्रवर्तन की प्रतिष्ठा दृष्टिगत होती है। उन्होंने भाव की निर्विघ्न तथा आस्वादात्मक प्रतीति को ही रस माना है तथा उन विघ्नो का भी उल्लेख किया है जिनसे भाव के साधा रणीकरण मे विघ्न पड़ता है। अभिनव के अनुसार ये विघ्न सात होते हैं। उदाहरण के लिये पहला विघ्न है प्रतिपत्ति की अयोग्यता। अलोक सामान्य तत्वो का साधारणी भाव नही हो सकता। अत अलोक सामान्य वस्तुओं को छोड़कर सम्भावनामूलक वस्तु का ही उपादान करना चाहिये। इसी प्रकार देशकाल इत्यादि का इस रूप में उपादान कि दर्शकों को वे अपने से सम्बद्ध मालूम पड़े जिससे उनके अपने सुख-दुःख की प्रवृत्ति हो जावे। यह भी एक विघ्न है। परिशीलक उस अवस्था मे भी साधारणीभाव का अनुभव नहीं कर पाता कि जब वह अपने सुख-दुःख से अत्यन्त लिप्त होता है। इसके लिये संविधानक इतना उच्चकोटि का होना चाहिये कि हृदयहीन व्यक्ति का भी मन उसम रम सके। प्रतीति की कमी रह जाना स्फुटता का अभाव अप्रधानता और सन्देहास्पदता भी दोष है जिनसे साधारणीकरण नहीं हो पाता। इसलिये विशेष सतर्क रहने से शब्द और नाट्य आस्वाद-क्षम बन जाते हैं। साधारणीकरण का साधन अभिनव के मत म विभावादि का उपादान है। इस रस का आस्वादन सहृदय ही करते है किन्तु यह आस्वादन व्यक्तिगत सीमा से परे होता है।

अभिनव गुप्त के विवेचन का एक महत्वपूर्ण अंश यह है कि उन्होंने समस्त भावनाओ को जन्मजात माना है और स्पष्ट कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही इन संविदनाओं से युक्त रहता है। यही कारण है कि ये भाव सर्वसाधारण मे एक जैसे मिलते हैं और व्यक्तिगत साधारणीकरण के स्थान पर सामूहिक साधारणीकरण भी पुष्ट हो जाता है।

अभिनव गुप्त ने सम्पन्नतापूर्वक लोकानुभूति तथा काव्यानुभूति के अन्तर को

भी स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि लोक के क्रियाकलाप प्रेरक होते हैं तथा उनमे भावान्तर जनन क्षमता होती है। किन्तु काव्य मे किसी प्रकार का भी विभावादि का उपादान परिशीलको को कार्य मे नही लगाता और न भावान्तर की उत्पत्ति उससे हो सकती है। उदाहरण के लिये लोक मे किसी व्यक्ति को कोई काम करते देखकर उस व्यक्ति से अपने सम्बन्ध के अनुसार हमारे अन्दर कोई प्रतिक्रिया जागृत हो सकती है परन्तु काव्य मे न तो ऐसी प्रतिक्रिया ही जागृत होती है और न हमारे अन्दर कोई दूसरा भाव ही आता है। इसलिये काव्य-वाक्य केवल आस्वादन के प्रवर्तक ही माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त अभिनव की व्याख्या काव्यशास्त्र के सर्वाधिक प्रतिष्ठित सिद्धान्त ध्वनि के अनुकूल है और निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति मानकर तथा सयोग को व्यग्य व्यजक-भाव परक मानकर अभिनव ने ध्वनि सिद्धान्त का सफल निर्वाह किया है इसमे सदेह नही।

अभिनव की एक बहुत बडी विशेषता उसके दार्शनिक पक्ष की है। इन्होंने शैवाद्वैत सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य मे इस सिद्धान्त की सफल व्याख्या की है। यही कारण है कि परवर्ती काल मे इनका रस सिद्धान्त इतनी मान्यता प्राप्त कर सका। अभिनव के सिद्धान्त मे दोष हो सकते हैं और उनके दोष दिखलाये भी गये है परन्तु उनके सिद्धान्त की महत्ता अक्षुण्ण है।

३

साधारणीकरण

१. साधारणीकरण की परिभाषा।
२. साधारणीकरण की प्रक्रिया।
३. साधारणीकरण का महत्व।
४. संस्कृत आचार्यों द्वारा साधारणीकरण की व्याख्या।
५. आचार्य श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य शुक्ल के मत, उनमें सम्भावित शंकाएँ और उनका विवेचन।
६. डा. नगेन्द्र का मत।
७. उपसंहार।

साधारणीकरण की परिभाषा

साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है—व्यक्तित्व का विलयन, निर्वैयक्तीकरण, सम्बन्ध विशेष का त्याग, असाधारण का साधारणीकरण। साधारणीकरण वह सामान्यीकृत अनुभव है जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक रूप में दिखाई पड़ती हैं।

साधारणीकरण की प्रक्रिया

साधारणीकरण की प्रक्रिया वह प्रक्रिया है, जिसमें सहृदय अपने सामान्य मानवीय हृदय द्वारा काव्य या जीवन के विभावादि को सामान्यीकृत अथवा मानवीय रूप में ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया से सहृदय तथा काव्य या नाटक का मूलपात्र (अनुकार्य) दोनों कालगत तथा स्थानगत विशिष्ट उपाधियों को छोड़कर सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। साधारणीकरण का व्यापार विशिष्ट भावों की वैयक्तिक अनुभूति को रस-रूप में परिणत कर देता है। यह क्रिया पाठक, श्रोता, दर्शक, कवि सबके हृदय में घटित होती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साधारणीकरण की प्रक्रिया में पाँच अवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं—पूर्वज्ञान (Apperception), इन्द्रियसन्निकर्ष (Preparation), अनुभूति (Perception), तुलना (Comparision) और सामान्यीकरण (Abstraction)। प्रथम अवस्था में सहृदय काव्य-नाटकादि के अध्ययन तथा लोक-निरीक्षण आदि से काव्य या जगत् की अनुभूतियों को समझने की शक्ति पाता है। द्वितीय अवस्था में

वह काव्य, नाटक अथवा प्रत्यक्ष जीवन का दृश्य रागात्मक रूप मे देखता है, निज के सुख-दुख आदि भावो से मुक्त होता है। तृतीय अवस्था मे वह काव्य पढने या नाटक देखते समय पात्रो को विशिष्ट देश, काल, नाम आदि उपाधियो से मुक्त रूप मे देखता या अनुभव करता है। चतुर्थ अवस्था मे वह अपने मन मे आये हुए विशिष्ट उपाधियो से युक्त पात्रो की अपनी कल्पना द्वारा अपनी पूर्वोपार्जित अनुभूतियो तथा सस्कारो से बार-बार तुलना करता है। यही तन्मयता की स्थिति होती है। पाँचवी स्थिति मे उन पात्रो मे पूर्वोपार्जित अनुभूतिओ, आदर्शों तथा सस्कारो की अनुरूपता पाकर उनको उपाधिमुक्त रूप मे निरूपित करता है। इसी को साधारणीकरण की स्थिति कहते हैं। इसमे पात्रगत अनुभूतियो की व्यक्तिनिष्ठता दूर हो जाती है।

साधारणीकरण का कारण मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति मानव-सुलभ सहानुभूति अथवा वस्तु को एक साचे मे देखने की प्रवृत्ति है।

साधारणीकरण का महत्व

रसवत्ता काव्य की जननी है, यह रसवत्ता साधारणीकरण की क्षमता से आती है। अत बिना साधारणीकरण की शक्ति के काव्य-सृष्टि नही हो सकती। साधारणीकरण के व्यापार को अपनाये बिना जो काव्य लिखा जायगा, वह शब्द-जाल होगा, शब्दो की कारीगरी या चमत्कार मात्र होगा, कविता नही, वह पाठक को चमत्कृत भले ही कर सके, रससिक्त नही कर सकता।

कविता कहने को भले ही स्वान्त सुखाय लिखी जाय, पर वस्तुत कवि अपनी भावना को शत-सहस्र व्यक्तियो तक प्रेषित करने के लिए ही काव्य लिखता है। यदि कविता मे दूसरो के भाव उद्‌बुद्ध करने की क्षमता नही तो वह व्यर्थ है। यह क्षमता उसमे साधारणीकरण द्वारा ही आ सकती है। दूसरे लोग कविता तभी पढेंगे जब वे उसमे अपने चित्त, भाव, विचार, आदर्श, कल्पना, धारणा की प्रतिछाया देखेंगे अर्थात् जब उसकी भाव धारा सार्वजनीन होगी। और यह साधारणीकरण द्वारा ही हो सकता है। कवि की आत्मानुभूति साधारणीकरण द्वारा ही विश्वानुभूति बन सकती है।

साधारणीकरण के द्वारा ही रस चिन्मय और लोकोत्तर बनता है। इसी व्यापार को अपनाने के कारण सहृदय अपनी पृथक सत्ता का त्याग करता है, अपने वैयक्तिक स्वार्थों की सकुचित सीमा से उठकर लोक-सामान्य भावभूमि पर विचरण करने लगता है। जिस मनुष्य मे साधारणीकरण की जितनी अधिक शक्ति होगी, उसके हृदय के बन्धन उतने ही अधिक खुल जायेंगे, उसका हृदय-सकोच उतना ही नष्ट हो जायगा, उसे मनुष्यता की उच्च भूमियो के दर्शन उतनी ही अधिक मात्रा मे होगे।

कविता, नाटक, कथा आदि मे साधारणीकरण की जितनी क्षमता होगी, उसमे उतना ही अधिक सौन्दर्य होगा। इसी साधारणीकरण के कारण मानव जीवन की विषम परिस्थितियो मे भी कविता को सुरक्षित रखता है, पीढियो तक उसका पोषण करता है। इसी विशेषता को धारण कर कला कृति युग-युगो तक मानव को नया

जीवन नवीन संयम प्रदान करती रहती है इसी के कारण मानव मानव बना रहता है।

इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हमारे आचार्यों ने लोक-हृदय की सामान्य अनुभूति परखकर की। यह सिद्धान्त जिस आधारशिला पर टिका है वह न तो कल्पित है और न कृत्रिम। उसका सम्बन्ध काव्य रचना की किसी रूढ़ि या परम्परा से भी नहीं है। सभ्यता के उत्थान या पतन विकास या ह्रास से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जीवन-व्यापार के बाहरी रूप रंग भले ही बदलें उसका उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि उसकी नींव बड़ी गहरी है। इसका सम्बन्ध तो मानव के अन्तर्मन से है उसकी सामान्य भावभूमि या वासनाओं से है जो देश-काल की उपाधियों से मुक्त होती हैं। साधारणीकरण का महत्त्व केवल काव्य में ही नहीं है जीवन में भी है पर यहाँ हम काव्य को ही दृष्टि में रखना है।

काव्य में इसका महत्त्व उसके प्रत्येक अंग में है—कवि भावना भाषा कल्पना अलंकार, सहृदय आदि सभी में। किसी अंग में भी इसका अभाव होने पर काव्य का सौन्दर्य विकृत हो जायगा। अतः कवि के मन भाव कल्पना और सहृदय का मन तो लोक-सामान्य होने ही चाहिए कवि की अभिव्यंजना भी इतनी सक्षम होनी चाहिए कि वह कवि की अनुभूति का सही-सही प्रेषण कर सके। इसीलिए साधारणीकरण के तीन तत्त्व माने गये हैं — १ कवि का लोकधर्मी व्यक्तित्व २ पर प्रतीति से मुक्त ममत्व स्वस्थ सहृदय तथा ३ भाषा का भावमय प्रयोग।

अब हम प्राचीन संस्कृत आचार्यों के साधारणीकरण के सम्बन्ध में विचार देखें

संस्कृत आचार्यों के मत

भरत मुनि के सुविख्यात सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की व्याख्या करने के लिए जो चार प्रसिद्ध आचार्य—लोल्लट शंकुक भट्टनायक और अभिनवगुप्त उठे उनमें से सर्वप्रथम भट्टनायक ने साधारणीकरण शब्द का प्रयोग किया और उसका स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया। भट्टलोल्लट और शंकुक ने भरत सूत्र की जो व्याख्या की थी उस पर यह आक्षेप लगाया गया था कि सहृदय पाठक या श्रोता मूल नायक-नायिका अथवा कवि-निर्मित पात्रों के भावों से किस प्रकार रसास्वाद प्राप्त कर सकता है। भट्टनायक ने इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए 'साधारणीकरण सिद्धान्त' को उपस्थित किया। उनका कथन है कि दर्शक पहले अभिधा शक्ति से नायक-नायिका (नट-नटी) के संवादों का अर्थ ग्रहण करता है और फिर भावकत्व व्यापार द्वारा जो काव्य-सौन्दर्य गुण शक्ति आदि से अद्भुत होता है उनका भावन करता है। भावकत्व व्यापार के द्वारा विभाव अनुभाव और संचारी भाव का साधारणीकरण हो जाता है। परिणामस्वरूप मोह संकट आदि से जन्य सामाजिक के अज्ञान का निवारण हो जाता है। भावना-व्यापार का सम्बन्ध कवि

१ हिन्दी अभिनव-भारती पृ २८४-५

कर्म से है। अत भट्टनायक के साधारणीकरण मे वल विभावादि के साधारणीकरण पर भले ही हो, पर उन्हे कवि-कर्म का साधारणीकरण अभीष्ट है। उनके साधारणीकरण-विवेचन मे सहृदय, कवि-निरूपित विभावादि को सामान्यीकृत रूप मे अपनी अनुभूति का विषय बनाने की, उसके हृदय मे सत्वोद्रेक होने की बात भी कही गई है। अत सहृदय के साधारणीकरण की बात भी उन्हें मान्य है।

भट्टनायक के सक्षिप्त कथन की व्याख्या करने का श्रेय अभिनवगुप्त को है। उनका मत है कि साधारणीकरण द्वारा कवि-निर्मित पात्र व्यक्ति-विशेष न रहकर सामान्य प्राणिमात्र बन जाता है, वह देश-काल की सीमा मे बद्ध न रहकर सार्वदेशिक बन जाता है। अर्थात् वे भाव जो काव्यगत नायक-नायिका मे व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण होते हैं, नाटक देखने अथवा काव्य-पठन से सहृदय पाठक मे साधारणीकृत हो जाते हैं। उनमे से ममत्व तथा परत्व की भावना निकल जाती है। उदाहरण के लिए 'अभिज्ञान शाकुन्तल' पढते समय दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति जो रति-भाव है, वह सहृदय पाठक के लिए शुद्ध सात्विक रति-भाव बन जाता है। उस भाव की उद्भूति सभी सहृदयो मे उसी रूप मे होगी। प्रत्येक सहृदय को शकुन्तला केवल स्त्री मात्र लगेगी, दुष्यन्त पुरुष मात्र प्रतीत होगा। समस्त घटनाचक्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित हो जाएगा, अत सहृदय पात्रो के रति आदि भावो को ग्रहण कर उन्ही के अनुरूप मानसिक रूप में आचरण करने लगेगा। इनके साधारणीकरण-विवेचन मे सहृदय के ऊपर अधिक बल है।

अभिनवगुप्त के बाद धनजय ने 'साधारणीकरण' तत्व पर प्रकाश डाला। उन्होने रसास्वाद तक पहुचने के लिए दो सोपान स्वीकार किये। पहले सोपान पर काव्यगत नायक—राम, दुष्यन्त आदि पात्र धीरोदत्त, धीरप्रशान्त आदि नायको की अवस्था के द्योतक होते हैं, "धीरोदात्ताद्यवस्थाना रामादि प्रतिपादक" अर्थात् अनुकार्य चाहे जैसा रहा हो, काव्य-नाटक मे वह कवि की परिकल्पना के अनुसार धीरोदात्त आदि नायक के रूप मे ही चित्रित होता है। दूसरे सोपान पर काव्यगत पात्र अपने विशेष व्यक्तित्व को – रामत्व, सीतात्व आदि को छोडकर सामान्य पुरुष और स्त्री मात्र बन जाते हैं और तब सहृदय को रसास्वाद प्रदान करते हैं। उनके कथन का सार यही है कि काव्य-पठन या नाटक-दर्शन के समय नायक के प्रति सहृदय का पूर्व-संस्कार-जन्य विशिष्ट भाव (पूज्य बुद्धि आदि) लुप्त हो जाता है। उसके सम्मुख ऐतिहासिक व्यक्ति के स्थान पर केवल कवि-निर्मित पात्र रह जाता है। धनञ्जय की व्याख्या का महत्व यह है कि यद्यपि उन्होने अपनी व्याख्या का आधार तो भट्टनायक और अभिनवगुप्त को ही बनाया, पर 'कवि-तत्त्व' का स्पष्ट उल्लेख पहली बार किया।

धनञ्जय के उपरान्त इस दिशा मे उल्लेखनीय आचार्य साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ हैं। उन्होने अभिनवगुप्त के मत को स्वीकार कर उसे और अधिक स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया। उनके अनुसार भी विभाव, अनुभाव, सचारी भाव तीनो का साधारणी-

करण होता है, समस्त घटनाचक्र अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से रहित हो जाता है। राम आदि पात्र और सहृदय में अभेद स्थापित हो जाता है दोनों के रति आदि भाव एक समान हो जाते हैं और सहृदय पात्रों के अनुरूप मानसिक रूप में आचरण करने लगता है। इस प्रकार उन्होंने विभावादि स्थायीभाव तथा सामाजिक का साधारणीकरण बताते हुए सहृदय के माध्यम के साथ तादात्म्य की भी चर्चा की।

विश्वनाथ के बाद 'रसगंगाधर' के रचयिता पंडितराज जगन्नाथ ने 'साधारणीकरण' को प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार नहीं किया। उनका भट्टनायक से दो बातों में मतभेद है—(१) जगन्नाथ व्यंजना को स्वीकार करते हैं किन्तु भट्टनायक नहीं। (२) वे 'दोष' अर्थात् आत्मा की मनानावच्छिन्नता को मानते हैं जबकि भट्टनायक उसे नहीं मानते। फिर भी वह यह तो स्वीकार करते हैं कि इस 'दोष' के द्वारा सहृदय का आलम्बन (शकुन्तला) के प्रति वैसा ही भाव उत्पन्न हो जाता है जैसा आश्रय (दुष्यन्त) का प्रकारान्तर से वह साधारणीकरण की बात मान लेते हैं।

इस प्रकार भट्टनायक से जगन्नाथ तक साधारणीकरण' की व्याख्या होती रही और उसकी मूल धारणा में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। सभी ने विभावादि पर आधारित किसी विशेष समग्र क्रिया-कलाप का साधारणीकरण माना।[1]

साधारणीकरण क्या है और किसका होता है? इसके सम्बन्ध में हिन्दी के कतिपय विद्वानों ने भी अपने-अपने मत प्रकट किए। साधारणीकरण क्या है? इसका उत्तर अभिनवगुप्त से लेकर डॉ० नगेन्द्र तक सबने लगभग एक-सा दिया कि साधारणीकरण व्यापार उसे कहते हैं जिसके द्वारा सहृदय अपने पूर्व मोह आदि भावों से मुक्त हो जाता है। साधारणीकरण रसास्वाद के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है वह रसास्वाद की पूर्वस्थिति है वहाँ तक पहुँचाने के लिए अनिवार्य सोपान है—यह भी संस्कृत-हिन्दी दोनों के विद्वानों को मान्य है। विवाद का विषय है—साधारणीकरण किसका होता है? संस्कृत आचार्यों का मत था कि साधारणीकरण विभावादि के सम्मिलित क्रिया-कलाप का समस्त घटनाचक्र का होता है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास का मत

डॉ० श्यामसुन्दर दास ने भावक या पाठक का साधारणीकरण माना है। उनके मतानुसार साधारणीकरण की स्थिति योग की मधुमती भूमिका के सदृश होती है। उनका कथन है कि साधारणीकरण की अवस्था में प्राणी या वस्तु के साथ की सम्बन्ध होता है वह मिट जाता है। पंडित केशवप्रसाद ने अपने 'मेघदूत' की भूमिका में मधुमती भूमिका की परिभाषा इस प्रकार दी है 'मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। परन्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी इन दोनों के भेदों का अनुभव करना ही वितर्क है।

१ असाधारणस्य साधारणीकरणम् इति साधारणीकरणम्।

साधारणीकरण की अवस्था को मधुमती भूमिका के समान बताना उचित नही। प्रथम तो योग की मधुमती भूमिका साधनात्मक होती है, उसमे काव्य की-सी रागात्मकता और सरसता नही होती। दूसरे, काव्य का आनन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर होते हुए भी इसी लोक मे सम्बद्ध होता है जबकि मधुमती भूमिका मे प्राप्त आनन्द अलौकिक नही तो पारलौकिक तो अवश्य होता है। साराश यह कि डॉ० श्यामसुन्दर दास का मत हमे मान्य नही।

आचार्य शुक्ल का मत

आचार्य शुक्ल ने 'चिन्तामणि-प्रथम भाग' मे साधारणीकरण सम्बन्धी नवीन मान्यताए एव व्याख्याए उपस्थित की जो इस प्रकार है

(१) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य मे वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठको या श्रोताओ के भाव का आलम्बन होती है।[1]

(२) जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना मे वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है। हाँ, कभी-कभी कल्पना मे उसी के समान धर्मवाली कोई मूर्ति-विशेष आ जाती है उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना मे आएगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ, तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्ति उसके मन मे आएगी।[2]

(३) साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमे प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओ या पाठको के मन मे एक ही भाव का उदय थोडा या बहुत होता है।[3]

(४) रस की एक नीची अवस्था और है श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नही करता जिसकी व्यजना पात्र (आश्रय) अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यजना करने वाले उस पात्र (आश्रय) के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस-दशा ही है—यद्यपि इसमे आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नही रहता 'इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की मानेंगे।[4]

(५) जहाँ पाठक या दर्शक पात्र या आश्रय के शील-द्रष्टा के रूप मे स्थित होता है, वहाँ भी उस पात्र (आश्रय) का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नही होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन

---

१ रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि, प्रथम भाग—पृ० २२६-३०

२. वही, पृ० २३०

३. वही, पृ० २३०

४. रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० २३१

रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।[1]

शुक्लजी समन्वयवादी आलोचक थे। वे अपनी आलोचना-पद्धति में पूर्व के साथ पश्चिम को भी लेकर चलते थे। वे जहाँ एक ओर अभिनवगुप्त और विश्वनाथ से प्रभावित थे वहाँ पाश्चात्य समीक्षकों सैड आदि से भी। पाश्चात्य समीक्षकों ने आश्रय के साथ तादात्म्य वाली बात पर जोर दिया है। अतः शुक्लजी ने भी आलम्बन के साधारणीकरण के साथ-साथ आश्रय के साथ तादात्म्य की बात कही। यह भी हो सकता है कि पाश्चात्य प्रभाव के साथ-साथ विश्वनाथ की 'तदभेदेन'[2] उक्ति से उन्हें आश्रय से तादात्म्य-सम्बन्ध के स्वीकार करने की प्रेरणा मिली हो। बात कुछ भी रही हो आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण के दो पक्ष किये हैं—सहृदय का आश्रय से तादात्म्य और आलम्बन का साधारणीकरण।

अब हम शुक्लजी के 'साधारणीकरण सिद्धान्त' के सम्बन्ध में जो शंकाएँ उठती हैं उनका निरोध करते हुए उनके मत का विवेचन करेंगे।

शुक्लजी का कहना है 'काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है 'सामान्य' नहीं। वह 'व्यक्ति' सामने लाता है 'जाति' नहीं। क्योंकि 'काव्य' का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना बुद्धि के सामने कोई विचार (concept) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा सामान्य या जाति का नहीं।'[3] इस कथन का तथा ऊपर लिखे उनके दूसरे उद्धरण का यह निष्कर्ष निकाला गया कि शुक्लजी आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं, आलम्बनत्व धर्म का नहीं। इसी भ्रान्ति के कारण यह शंका प्रस्तुत की गई कि सीता के प्रति पूज्य भाव वाला व्यक्ति पुष्प-वाटिका की सीता को अपनी प्रेयसी किस तरह स्वीकार करेगा? जिस व्यक्ति के हृदय में सीता के प्रति मातृभाव है, वह राम के निम्न शब्दों 'मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा विश्व विजय तिन कीन्ही' को पढ़कर या सुनकर राम के समान सीता के प्रति रतिभाव कैसे अनुभव करेगा? यह तो मर्यादा का अतिक्रमण होगा। परन्तु ये विद्वान् यह भूल जाते हैं कि शुक्लजी ने स्पष्ट शब्दों में आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की बात कही है। हमने शुक्लजी के निबन्ध से जिन पाँच उद्धरणों को ऊपर दिया है, उनमें से तीसरा स्पष्ट शब्दों में आलम्बनत्व धर्म के ही साधारणीकरण की बात कहता है। उनके इस उद्धरण को पढ़कर हम यही मानेंगे कि शुक्लजी पुष्पवाटिका-प्रसंग में राम (आश्रय) और सीता (आलम्बन) के प्रणय-सम्बन्ध में सीता रूप आलम्बन का साधारणीकरण

१ रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि प्रथम भाग—पृ० २११-१२

२ प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते

३ चिन्तामणि प्रथम भाग पृ० १८

नही मानते, अपितु सीतात्व का अर्थात् नायिका-भाव अथवा प्रेमिका-भाव का ही साधारणीकरण मानते हैं। अत, जो विद्वान् यह कहकर शुक्लजी पर आक्षेप करते हैं कि वे आलम्बन का साधारणीकरण मानते थे, आलम्बनत्व धर्म का नही, स्वय शुक्लजी को नही समझ पाये हैं।

आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की बात तो शुक्लजी ने स्पष्ट कही है, पर आश्रयत्व धर्म के साधारणीकरण का स्पष्ट उल्लेख उन्होने कही नही किया है, केवल आश्रय के साथ तादात्म्य की बात कही है। इसी को लेकर कुछ लोगो ने उनकी आलोचना करते हुए कहा कि 'रामचरितमानस' मे 'पुष्पवाटिका' के प्रसग को पढकर प्रत्येक सहृदय सीता को पत्नी के रूप मे देखने लगेगा क्योकि वह अपने को राम मानने लगेगा। पर ऐसा होना सम्भव नही है—चाहे पूज्य भाव के कारण हो और चाहे राम की तुलना मे अपनी हीन स्थिति की अनुभूति के कारण हो। इन लोगों का तर्क था कि कगला तेली अपने को राजा भोज कैसे मान लेगा, राम राम ही रहेगे और मानव मानव ही। इस भ्रान्ति का कारण भी यही है कि शुक्लजी ने आश्रय शब्द का प्रयोग किया, आश्रयत्व धर्म का नही। हमे तो ऐसा लगता है कि उनका तात्पर्य आश्रयत्व धर्म से ही था, भले ही उन्होंने आश्रय शब्द का प्रयोग किया हो अर्थात् राम से तात्पर्य राम नही अपितु रामत्व, नायक-भाव या प्रेमी भाव ही है। अस्तु, शुक्लजी के 'आलम्बन' शब्द से तात्पर्य आलम्बन-धर्म लिया जाना चाहिए (उन्होने आलम्बनत्व धर्म शब्द का प्रयोग भी किया है) और 'आश्रय' से तात्पर्य आश्रयत्व-धर्म लेना चाहिए क्योकि तादात्म्य आश्रय से सम्भव नही है, आश्रय-धर्म से ही सम्भव है।

आचार्य शुक्ल के जिन पाँच वक्तव्यो को हमने ऊपर उद्धृत किया है, उनमे से चौथे मे उन्होंने एक ऐसी स्थिति का उल्लेख किया है जिसमे सहृदय का आश्रय (आश्रयत्व धर्म) के साथ तादात्म्य नही होता और न आलम्बन का ही साधारणीकरण हो पाता है। उदाहरण के लिए राम-रावण युद्ध मे जब रावण राम के प्रति कठोर वचन कहता है या राम की पराजय पर हर्ष प्रकट करता है, तब सहृदय का रावण के साथ तादात्म्य नही होता, वह रावण की खुशी मे खुशी नही मानता इसी प्रकार अशोक वाटिका मे जब रावण सीता के प्रति अपशब्द कहता है, उन्हे धमकाता-डराता है, तब भी हमारा रावण के साथ तादात्म्य नही होता। शुक्लजी के अनुसार ये स्थल नाटक या काव्य मे आह्लादजनक तो होते है, पर ऐसे स्थलो मे उनके अनुसार रस की उच्च अवस्था न होकर नीची अवस्था होती है।

पर क्या 'रसात्मकता की मध्यम कोटि' होती है? क्या रसानुभूति मे कोटियाँ हो सकती है? जहाँ तक दूसरा प्रश्न है हमारा मन्तव्य है कि रसानुभूति मे कोटियाँ हो सकती हैं। कुछ आलोचक, जो यह मानते हैं कि रस ब्रह्मानद सहोदर है, अत. अखड, अविभक्त और अभेद है, रसानुभूति को कोटियाँ मानने मे सकोच करते हैं परन्तु देश, काल, वय आदि के कारण रसानुभूति का भिन्न-भिन्न होना अस्वीकार नहीं किया जा सकता। रंगमच पर नायक-नायिका के प्रणयालाप को देख-सुन कर सभी

प्रेक्षकों पर एकसा प्रभाव नहीं पड़ता। बालक युवा वृद्ध तीनों पर उसका अलग २ प्रभाव पड़ेगा। अतः रसानुभूति की भिन्न भिन्न कोटियाँ हो सकती हैं।

अब रहा प्रश्न यह कि जिन प्रसंगों में शुक्लजी ने रस की मध्यम कोटि स्वीकार की है क्या वह समुचित है ? इस सम्बन्ध में हमारा मत है कि जिस प्रकार शृंगार रस के वर्णन में आलम्बन और आश्रय क्षण २ पर बदलते रहते हैं कभी दुष्यन्त शकुन्तला के लिए आलम्बन होता है, तो कभी शकुन्तला दुष्यन्त के लिए, कभी दुष्यंत आश्रय होता है तो कभी शकुन्तला। इसी प्रकार उस प्रसंग में जहाँ रावण अशोक वाटिका में स्थित सीता को धमका रहा है वहाँ आश्रय रावण नहीं होता सीता होती है और हमारा तादात्म्य सीता से होता है, रावण से नहीं। इस प्रसंग में आलम्बन सीता नहीं होती रावण होता है। अतः सीता के हृदय में रावण के प्रति जिस प्रकार के भाव उत्पन्न होंगे वैसे ही सहृदय के मन में भी उसके प्रति उठेंगे अतः यहाँ रसानुभूति उतनी ही पूर्ण होगी जितनी किसी अन्य प्रसंग में।

एक और प्रसंग लीजिए। परशुराम जनक की सभा में राम की भर्त्सना करते हैं लक्ष्मण को कटु वचन कहते हैं। यहाँ पाठक का तादात्म्य किससे होता है— परशुराम से या राम-लक्ष्मण से। इस प्रसंग में आश्रय परशुराम हैं आलम्बन राम लक्ष्मण। अतः हमारा तादात्म्य परशुराम से होना चाहिए। पर वस्तुतः हिन्दू पाठक का जो राम-कथा से परिचित है वैष्णव संस्कारों व वातावरण में पला है, राम लक्ष्मण से तादात्म्य होता है। इसका कारण क्या है ? हमारी सम्मति में स्पष्ट ही इसका कारण पाठक के संस्कार हैं, उसका पूर्वग्रह है, उसको कथा प्रसंग का पहले से ही ज्ञान है अतः उसकी सहानुभूति राम-लक्ष्मण के साथ है और वह उन्हीं से तादात्म्य करता है। यदि ये बाधाएँ—संस्कार, पूर्वग्रह कथा का पूर्व परिचय आदि न हों तो (यदि कवि ने निष्पक्ष होकर परशुराम के क्रोध का सफल वर्णन किया है) पाठक का तादात्म्य परशुराम से ही होता और रसानुभूति मध्यम कोटि की न होती।

पर ऐसा भी प्रसंग हो सकता है जहाँ कोई क्रोधी व्यक्ति किसी निरीह बालक को अपशब्दों की बौछार के साथ-साथ निर्दयतापूर्वक पीट भी रहा है। इस प्रसंग में शास्त्रीय शब्दावली के अनुसार बालक आलम्बन होगा पीटने वाला आश्रय। पर यदि रावण-सीता प्रसंग की तरह क्रम उलट दें और बालक को आश्रय मान लें तो भी एक शंका बनी रहती है—पिटते हुए बालक के मन में पीटने वाले निर्दय व्यक्ति के प्रति भय है, और अधिक पीटे जाने की आशंका है क्रोध या घृणा नहीं है। तो क्या पाठक के मन में भी भय और शंका का भाव उत्पन्न होगा ? निश्चय ही नहीं। उसके हृदय में तो उस निर्दय कठोर व्यक्ति के प्रति आक्रोश रोष घृणा आदि के भाव उत्पन्न होंगे। इस दशा में न तो उसका तादात्म्य पीटने वाले से होता है, न बालक से। फिर किससे होता है ? हमारा उत्तर है कि इस प्रसंग में उसका तादात्म्य कवि के अव्यक्त

भाव से होता है। कवि का अपना भाव उस व्यक्ति के प्रति क्रोध आक्रोश, घृणा का होता है, अत वैसे ही भाव पाठक के मन मे उदय पाते हैं। शुक्ल जी ने भी यह बात मानी है "जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना मे लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है। अत पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्राय हो जाता है।"[1]

काव्य मे कुछ स्थल या व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनका कवि केवल चित्रण करके रह जाता है। वहाँ न आलम्बन होता है और न आश्रय। ऐसे स्थान पर हम किसका साधारणीकरण मानें और किससे तादात्म्य स्थापित करेंगे ? शुक्ल जी ने इसका उत्तर दिया है, "जहा कवि किसी वस्तु (जैसे हिमालय, विंध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड देता है, वहा कवि ही आश्रय के रूप मे रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण वह उसके प्रति कोई भाव रखकर ही करता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है, उसी का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन हो जाता है।"[2]

निरीह बालक के पिटने वाले प्रसग तथा हिमालय वर्णन के प्रसग मे पाठक का तादात्म्य कवि के भाव से होता है, उस तादात्म्य से उत्पन्न रसानुभूति भी पूर्ण होती है फिर भी शुक्ल जी ने उसे मध्यम कोटि की रसानुभूति क्यो कहा है ? इसका उत्तर हमारी समझ मे यह है कि शुक्ल जी उसी काव्यात्मक रसानुभूति को उत्तम कोटि की रसावस्था मानते थे जिसमे कवि, सहृदय तथा विभावादि तीनो तत्त्वो का साधारणीकरण सम्भव होता है। जहाँ पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होकर कवि की भावना के साथ साधारणीकरण हो, वहाँ वह मध्यम कोटि की रसावस्था मानते थे, जो उचित नही है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं उन प्रसगो मे भी जहाँ कवि की भावना के साथ हमारा तादात्म्य होता है पूर्ण रसानुभूति उपलब्ध होती है। रावण-सीता सवाद अथवा कैकेयी-दशरथ सवाद आदि जिन प्रसगो मे हमारा आश्रय के साथ तादात्म्य नही होता, वहाँ कवि की अनुभूति के साथ होता है और हमे पूर्ण रसानुभूति प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए सीता-रावण सवाद मे कवि का ध्येय रावण के प्रति हमारे मन मे घृणा उत्पन्न कराना था, अतः उसने रावण के मुख से वैसे ही वचन कहलवाए हैं। इसी प्रकार कैकेयी—दशरथ सवाद मे कैकेयी (आश्रय) के जो भाव दशरथ (आलम्बन) के प्रति हैं, उन्हें देख हमे कैकेयी के प्रति इसलिए घृणा होती है कि तुलसीदास यही चाहते थे और इसीलिए उन्होने उसके मुख से दशरथ के प्रति ऐसे कठोर तथा व्यग्य भरे वचन कहलवाये .

---

१. रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि प्रथम भाग पृ० २३२

२ वही, पृ० २३२

राम साधु तुम साधु सयाने ।
राम मातु भलि सब पहिचाने ।। (अयोध्याकांड)

रस की मध्यम कोटि की बात कहने का दूसरा कारण शुक्ल जी का साहित्य के प्रति लोक-मंगल तथा लोक-मर्यादा का भाव भी था। अतः निष्कर्ष यह है कि शुक्ल जी का रस की मध्यम कोटि स्वीकार करना हम स्वीकार नहीं।

कतिपय विद्वानों का मत है कि शुक्ल जी ने केवल आश्रय से तादात्म्य और आलम्बन के साधारणीकरण की बात कही है किन्तु केवल इतने मात्र को साधारणीकरण कहना समुचित नहीं। पर शुक्ल जी ने साधारणीकरण में आश्रय और आलम्बन की ही चर्चा नहीं की, कवि विभावादि तथा तथा सहृदय तीनों के साधारणीकरण की बात कही है। उन्हीं के शब्द देखिये 'जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है वहाँ तीनों हृदयों का समन्वय चाहिए। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभावादि द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है वह तभी चरितार्थ हो सकता है।'[1] स्पष्ट है कि वह साधारणीकरण की स्थिति के लिए सर्वप्रथम कवि की अनुभूति के साधारणीकरण पर बल देते हैं। उन्होंने और भी कहा है, विषय के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी तभी यह साधारणीकरण हो सकता है। कवि की अनुभूति अथवा कवि-कर्म के साधारणीकरण को मानने के कारण ही तो उन्होंने सच्चे कवि की कसौटी लोक-हृदय की पहचान बतायी है।[2] कविता की उत्तमता का निर्धारण करने के लिए भी उन्होंने कवि की अनुभूति की तारतम्यता को ही कसौटी माना है। वाल्मीकि कालिदास और तुलसी यदि रीतिकालीन कवियों से श्रेष्ठ बताये हैं तो इसीलिए कि प्रथम तीनों कवियों में साधारणीकृत अनुभूति की मात्रा रीति-कविता की अपेक्षा अधिक है। इस प्रकार यह अर्थस्पष्ट है कि शुक्ल जी कवि की अनुभूति के साधारणीकरण की बात को अच्छी तरह समझते थे और उन्होंने इस पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष स्पष्ट-अस्पष्ट रूप से अनेक बार अनेक बातें अनेक प्रसंगों में कही हैं।

उन्होंने सहृदय या श्रोता के हृदय के साधारणीकरण को भी स्वीकार किया है 'थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक हृदय हो जाता है, उसका अपना हृदय नहीं रहता।' विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं' यह वाक्य भी यही बताता है कि वह विभाव अनुभाव संचारीभाव तथा आश्रय सभी का साधारणीकरण स्वीकार करते थे। इस पर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने सर्वोपरि बल आलम्बन के साधारणीकरण पर दिया है। ऐसा क्यों? उनका मत था कि जीवन तथा साहित्य दोनों में अनुभूति उत्पन्न करने की सबसे अधिक क्षमता आल

१ शुक्ल रसमीमांसा १७०।
२ वही। पृ ४
३ चिन्तामणि प्रथम भाग पृ ११०

म्बन मे होती है । कवि या श्रोता आलम्बन के ही माध्यम से अपनी अनुभूति साधारणीकृत करता है । कवि मे भावुकता की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आधार या उपादान ये ही हैं । उदात्त कोटि की सौन्दर्य-भावना जगाने का अर्थ है—मन मे उदात्त कोटि के आलम्बन का चित्र आना । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शुक्ल जी के ये विचार बिल्कुल यथार्थ हैं । उन्होने आलम्बन के लोक-धर्मी स्वरूप पर भी इसीलिए बल दिया है कि सहृदय मात्र का उसके साथ साधारणीकरण हो सके और वह रसानुभूति प्राप्त कर सके ।

साराश यह है कि साधारणीकरण के स्वरूप-निरूपण मे शुक्लजी तथा प्राचीन सस्कृत आचार्य—भट्ट-नायक, अभिनव गुप्त लगभग सहमत है, केवल बल मे कुछ अतर दिखाई पडता हैं । कवि—सहृदय के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सचारी भाव सभी का साधारणीकरण इन्हे मान्य है । पर जहाँ भट्टनायक कवि की कारयित्री प्रतिभा पर बल देते हैं, वहाँ अभिनवगुप्त सहृदय पर और शुक्लजी आलम्बन के लोक-धर्मी स्वरूप पर ।

डॉ० नगेन्द्र का मत

डॉ० नगेन्द्र ने आचार्य शुक्ल की रसात्मकता की मध्यमकोटि की बात को ध्यान मे रख यह मान्यता प्रस्तुत की कि साधारणीकरण न तो आश्रय का होता है न आलम्बन का, अपितु वह कवि की अनुभूति का होता है । अत जब तुलसी का रावण राम की भर्त्सना करता होता है, तब हमारे हृदय मे रावण के प्रति तुच्छ भाव या घृणाभाव उत्पन्न होते हैं क्योकि कवि का वही अभिप्रेत था और जब हम माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाथ वध' के रावण या मेघनाथ के प्रति सहानुभूति अनुभव करते हैं, तो इसका कारण भी यही है कि कवि स्वय उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण है । यदि तुलसी की सीता का रूप-वर्णन हमारे हृदय मे उतना उत्कृष्ट शृगार भाव उद्दीप्त नही कर पाता जितना कालिदास के 'कुमारसभव' का शिव-पार्वती का शृगार वर्णन, तो इसका कारण भी कवि की अलग-अलग अनुभूतियाँ हैं । तुलसी भक्त कवि हैं और कालिदास सरस कवि । डॉ नगेन्द्र आलम्बन को कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य मानते हैं । "जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव मे कवि को अपनी अनुभूति का सवेद्य रूप हैं । उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण ।" कवि की अनुभूति के साधारणीकरण की बात, जैसा हम ऊपर दिखा आये हैं, सस्कृत आचार्यों तथा शुक्ल जी दोनो ने कही थी, परन्तु शुक्ल जी की लोक-मगल, लोक-कल्याण सम्बन्धी दृष्टि ने उन प्रसगो मे जहाँ आलम्बन लोक-धर्मी नही है, रस की मध्यम कोटि की बात कहलाई । यही हमारे मत मे उनकी त्रुटि है अन्यथा उनका विवेचन अत्यत शास्त्रीय, वैज्ञानिक और परिपूर्ण है ।

डॉ० नगेन्द्र का जीवन-दर्शन मनोविश्लेषणात्मक है, अत वह कवि के मन का विश्लेषण करते हुए उसके आन्तरिक पक्ष अनुभूति पर पहुँचे और उन्होंने उसी का

साधारणीकरण माना। यह सत्य है कि कवि की अनुभूति कविता में प्रधान वस्तु है। उसके लोक-साधारण हुए बिना तथा कवि द्वारा उस लोक-साधारण अनुभूति का समर्थ अभिव्यंजना-शक्ति द्वारा साधारणीकरण किये बिना रस निष्पत्ति हो ही नहीं सकती। पर कवि की अनुभूति साधन मात्र है साध्य तो विभावादि का सम्मिलित क्रिया कलाप है। वह आधार है आधेय तथा कथ्य ही है। सहृदय इसी कथ्य को पढ़ता है और इसी के साधारणीकृत होने पर रसास्वाद की भूमिका तैयार होती है। जब तक अनुभूति कवि के हृदय मे सीमित रहेगी कथ्य का आकार नहीं धारण करेगी तब तक सहृदय उसे जान ही नहीं सकता उसका सम्बन्ध तो कवि की अनुभूति से तभी स्थापित होगा जब वह आकार धारण कर लेगी। अतः रसास्वाद की स्थिति प्राप्त करने के लिए विभावादि सभी का साधारणीकरण आवश्यक है केवल कवि की अनुभूति का नहीं। भले ही डॉ नगेन्द्र ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में न कहा हो पर जब वह कहते हैं कि कवि वही है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर पाता है अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति द्वारा अन्य सभी के अन्तर में समान अनुभूति जाग्रत कर देता है तो अप्रत्यक्ष रूप से वह भी विभावादि सभी का साधारणीकरण मानते हैं क्योंकि विभावादि कवि की अनुभूति के ही तो संवेद्य रूप हैं।

अब इस प्रश्न पर भी विचार किया जाय कि कवि किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है? साधारणीकरण के तीन पक्ष हैं—कवि का जो अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है सहृदय का जो कविता पढ़कर या नाटक देखकर कवि की अभिव्यक्ति द्वारा अपने हृदय मे वही अनुभूति जागती पाता है जो कवि की है। कवि की अपनी अनुभूति ही गहरी और लोक-व्यापक न हो अपितु उसका अभिव्यंजना-कौशल भी समर्थ होना चाहिए। अतः यह तीसरा पक्ष हो गया। इस प्रकार साधारणीकरण के तीन पक्ष हुए कवि सहृदय और कवि का अभिव्यंजना-कौशल। ये तीनों मिलकर ही साधारणीकरण की स्थिति का निर्माण करते हैं। जो कवि मानव जगत् के परम प्रिय व्यापक और सर्वसाधारण द्वारा गृहीत भावों को लेकर कविता की सृष्टि करेगा और उसकी कविता में इतनी अभिव्यंजना शक्ति होगी कि वह कवि की अनुभूति को पाठक तक प्रेषित कर सके तथा पाठक भी इतना सहृदय हो कि उसके भाव लोक-सामान्य भूमि पर प्रतिष्ठित हों तो कविता कानों में पड़ते ही सहृदय के मानस में वही भाव-तरंग उद्वेलित करने लगेगी जो कवि के हृदय में थी। इस दशा में वह निजत्व-परत्व की भावना से परे कालगत तथा स्थानगत विशिष्ट उपाधियों से मुक्त हो रस की अनुभूति कर सकेगा।

: ४ :

रसों की संख्या

भरत द्वारा प्रतिपादित रस-संख्या

रस शास्त्र का समुपलब्ध सर्व-प्राचीन ग्रन्थ भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र है । काव्य के इतिहास मे यह ग्रन्थ आप्त वाक्य के रूप मे समादृत होता है और प्रारम्भ से ही प्रमाण पदवी पर आरूढ होता आया है। नाट्यशास्त्र मे रस-परिसख्यान मे दो प्रकार का पाठ अधिगत होता है । एक के द्वारा रसो की सख्या ८ सिद्ध होती है और दूसरे के द्वारा ९ । अनेक प्रमाणों के आधार पर प्रथम पाठ ही मुनिसम्मत सिद्ध हो चुका है और नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध व्याख्याता आचार्य अभिनव गुप्त ने प्रथम पाठ को ही मान्यता दी है। इससे सिद्ध होता है कि ८ रस ही मुनिसम्मत हैं और उन्ही का प्रतिपादन नाट्यशास्त्र मे किया गया है ।

रसों का नवविधत्व

बौद्ध श्रमणो और जैन महात्माओ के प्रभाव से ऐसा साहित्य पर्याप्त मात्रा में लिखा जा चुका था जो कि उक्त रसो से भिन्न शान्त रस की कोटि मे आता था । अत नाट्यशास्त्र की रचना के कुछ ही समय बाद शान्त रस को सम्मिलित कर रसो की सख्या ९ कर दी गयी । सर्वप्रथम जैनियो के अनुयोगदार मे 'नव कव्यरसा' का उल्लेख मिलता है। उद्भट ने अपने काव्यालकार-सार-सग्रह मे शान्त का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे शान्त रस की मान्यता स्वीकार की है और अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती तथा लोचन टीकाओ मे विस्तारपूर्वक शान्त रस

की मान्यता पर विचार कर उसका समर्थन किया है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार चर्चा में महाभारत तथा रामायण का अंगी रस शान्त ही माना है। काव्य प्रकाश में भरत के बतलाये हुए ८ रसों के अतिरिक्त शान्त का पृथक उल्लेख किया गया है। इस प्रकार इन आचार्यों के मत में रसों की सख्या ९ है।

हिन्दी साहित्य क आचार्यों ने अधिकतर ९ रस ही माने हैं। केशव के रस विवेचन म बहुत कुछ नवीनता पाई जाती है। परन्तु रसो की सख्या केशव ने भी ९ ही रक्खी है। इसी प्रकार चिन्तामणि त्रिपाठी न कविकुल-कल्पतरु के ७ वें और ८ वें अध्यायो मे ९ रसो का विवेचन किया है। तोष के सुधानिधि आचार्य कुलपतिमिश्र क रसरहस्य सूरतिमिश्र के काव्यसिद्धान्त सोमनाथ के रसपीयूषनिधि भिखारीदास क काव्यनिर्णय महाराजा रामसिंह के रसनिवास बेनी प्रवीन के नवरसतरग इत्यादि ग्रन्थो मे रसो की सख्या नही मानी गई है। कविवर देव न यद्यपि साहित्य जगत् म नवीनता की उद्भावना का पर्याप्त प्रयास किया और मौलिक पद्धति पर काव्य शास्त्र लिखने की चेष्टा की तथापि इनके ग्रन्थो म भी अलौकिक रसो की संख्या ९ ही पाई जाती है। आधुनिक काल मे भी रस-शास्त्र पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। ग्वाल कवि ने रस को अलौकिक ही माना है और औपनयिक अलौकिक रस क नही भेद किये हैं। लछिराम भट्ट ने भी यह स्वीकार करते हुए भी कि भरत ने ८ ही रस माने हैं रसो का नवविधत्व ही स्वीकार किया है। इसी प्रकार हरिऔध क रसकलश भानु जी के काव्यप्रभाकर आदि ग्रन्थो मे भी रसो की सख्या यही रक्खी गई है। आशय यह है कि साहित्यचार्यों का बहुमत रसो की सख्या ९ मानने के ही पक्ष मे है।

अन्य रसों का प्रवर्तन

शान्तरस को रसो की सख्या म सन्निविष्ट करने स मुनि की मान्यता तथा मान्यता पर एक प्रहार हुआ तथा अन्य लेखको और आचार्यों को अवसर प्राप्त हो गया कि व इस सख्या म और भी वृद्धि करें। इस क्षेत्र म अग्रणीय होने वाला दूसरा रस वत्सल था। कुछ लोगो ने लिखा है कि उद्भट न म रसवत् की मान्यता सर्व प्रथम स्वीकार की। उन्हे यह समझना चाहिये कि ध्वन्यालोक से पहले जितने भी अल कार-सम्प्रदाय के आचार्य थे वे रस की सत्ता म ही रसवद् अलकार स्वीकार करत थ। उनकी दृष्टि मे तब तक यह तथ्य नही आया था कि रस अलंकार का रूप तभी धारण करता है जबकि वह अपराग होकर गुणीभूत हो जावे। यदि रस प्रधान हो तो वह अलकार्य ही होगा अलकार नही। ऐसी दशा म रसवद् क समकक्ष प्रेयस् अलकार को रखने स यह कभी सिद्ध नही होता कि उद्भट्ट वत्सल को पृथक रस मानते हैं। यदि उन्होंने वात्सल्य को स्थायी भाव और वत्सल को रस माना होता तो उसका समावेश रसवत् अलकार मे ही हो जाता और प्रेयस् को पृथक रखने की आवश्यकता ही न पडती। दूसरी बात यह है कि यद्यपि उदाहरण वत्सल रस का ही दिया गया है तथापि उद्भट्ट के मत म केवल वात्सल्य ही प्रेयस् की श्रेणी म नही आता अपितु

दाम्पत्य रति से भिन्न जितने प्रकार की रति है सबका समावेश प्रेयस् अलकार के अन्दर हो जाता है। ऐसी दशा मे काव्य प्रकाश की ही मान्यता उद्भट के मत मे भी प्रमाणित होती है कि दाम्पत्य रति से भिन्न प्रकार की रति भाव क्षेत्र मे आती है रस क्षेत्र मे नही। दण्डी ने प्रेयस् का अर्थ किया है प्रियतर आख्यान और भगवद्भक्ति तथा राज विषयक रति के उदाहरण दिये हैं तथा उससे रसवत् को भिन्न मानकर उसमे कान्ताविषयक रति का उदाहरण दिया है। दण्डी ने स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि प्रीति ही रति का रूप धारण कर रस रूपता मे परिणत होती है। भामह ने भी उक्त मत का ही समर्थन किया है। इससे सिद्ध होता है कि ये सभी प्राचीन आचार्य वत्सल रस अथवा देवादि विषयक रति को रस मानने के पक्ष मे नही थे। काव्य प्रकाशकार ने सम्भवत इन्ही प्राचीनो की मान्यता के आधार पर देवादि विषयक रति को भाव और कान्ता विषयक रति को रस कहा था। रुद्रट और धनञ्जय भी इसी मत के समर्थक है, और आनन्द वर्धन तथा अभिनव गुप्त मे भी इसी प्रकार के सकेत मिलते हैं। वत्सल रस का सर्वप्रथम उल्लेख भोजराज के शृगार-प्रकाश मे प्राप्त होता है और उसका सकेत सरस्वती-कण्ठाभरण मे भी किया गया है। विश्वनाथ ने मुनीन्द्र के नाम पर वत्सल रस का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "स्पष्ट रूप मे चमत्कार पाये जाने के कारण वत्सल को भी रस कहते हैं।" इस विषय मे विश्वनाथ ने अपना मत नही दिया है। यह बात विश्वनाथ के स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल है। काव्यप्रकाश को उपजीव्य बनाकर भी जो स्थान-स्थान पर उसका निर्ममतापूर्वक खण्डन कर सकता है वह व्यक्ति मुनीन्द्र के नाम पर वत्सल रस का उल्लेख कर अपना मत देने मे उदासीन हो जावे यह कुछ समझ मे नही आता। प्रतीत होता है कि वत्सल रस के विषय मे विश्वनाथ का दृष्टि-कोण स्वय ही निश्चत नही था। हिन्दी साहित्य के आचार्यों ने अधिकतर सस्कृत साहित्याचार्यों की प्रसिद्ध सरणि का ही अवलम्बन लिया है और रसो की सख्या ९ ही मानी है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक नामक ग्रन्थो मे गौडीय भक्ति की मान्यता स्वीकार कर जहा दास्य, सख्य और माधुर्य को रसो मे समिविष्ट किया है वहा वत्सल रस को भी पृथक् रस के रूप मे ही प्रतिष्ठित किया है। आनन्दप्रकाश दीक्षित ने "काव्य मे रस" शीर्षक अपने शोध प्रवध मे इस रस के भेदोपभेद शृगार के समान ही किये हैं। जिस प्रकार शृगार रस मे प्रवत्स्यत् पतिका, प्रोषित पतिका, आगत पतिका इत्यादि भेद हैं, उसी प्रकार गच्छत्प्रवास, प्रवासस्थित, प्रवासागत। इसी प्रकार करुण विप्रलम्भ के समान 'करुण भेद भी वत्सलरस का माना है। (पृ० ४९३-९६)

महत्व की दृष्टि से उक्त दोनो रसो के बाद मधुर रस अथवा भक्ति रस का प्रश्न सामने आता है जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, धनञ्जय इत्यादि प्रमुख आचार्य दाम्पत्य प्रेम से भिन्न सभी प्रकार की प्रीति या रति को भाव क्षेत्र मे ले आने के पक्ष मे हैं। दूसरी ओर चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियो ने बगाल मे भक्ति रस का पूरी शक्ति के साथ

समर्थन किया है। गौडीय भक्ति-सम्प्रदाय में यह भक्तिरस पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ और रूप गोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिन्धु लिखकर इस रस की मान्यता की सबल स्थापना की है। इस सम्प्रदाय वालों की मान्यता है कि भगवद्विषयक शृंगार उज्ज्वल और मधुर इन दो नामों से अभिहित किया गया है। इसी प्रकार भगवद्विषयक दूसरे भाव भी रस रूपता को धारण करते हैं। ये रस चार प्रकार के हैं—शान्त हास्य सख्य और वात्सल्य। इन चारों में उज्ज्वल या मधुर रस को सम्मिलित कर पाँचों प्रकार के सम्मिलित रस को भक्ति रस कहते हैं। इस प्रकार इन लोगों के मत में रस दो प्रकार का सिद्ध होता है मुख्य और अमुख्य। मुख्य रस ५ प्रकार का होता है—उज्ज्वल या मधुर शान्त हास्य सख्य और वात्सल्य। अमुख्य रस ७ प्रकार का होता है वीर हास्य रौद्र करुण भयानक बीभत्स और अद्भुत। ये अमुख्य रस भी भगवद्विषयक ही होते हैं क्योंकि ये रस का रूप तभी धारण करते हैं जबकि वे रति के पोषक होकर आते हैं। कविकर्णपूर ने अलंकार कौस्तुभ में भगवत्प्रेम को अंगी रस माना है और राधाकृष्ण प्रेम इत्यादि जितने भी रस हैं उनको कृष्ण प्रेम का अंग या पोषक रस ही माना है। मधुसूदन सरस्वती ने भगवद्भक्ति रसायन में भक्ति की रस रूपता का विस्तारपूर्वक समर्थन किया है। उन्होंने भक्ति को परमपुरुषार्थ माना है क्योंकि उनके मत में दुख से असस्पष्ट सुख ही परम पुरुषार्थ है और भक्ति ही केवल ऐसा तत्त्व है जिसमें दुख से असंस्पृष्ट सुख का अधिगम होता है। क्योंकि अन्य पुरुषार्थों में ऐसा नहीं होता। उनके मत में हृदय का भगवदाकारता में परिणत हो जाना ही भक्तिरस का स्थायी भाव है। मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि जो आचार्य देवादिविषयक रति को भाव मानते हैं उनका आशय यही है कि अन्य देवताओं के विषय में जो रति होती है उससे परानन्द का प्रकाशन नहीं होता और दूसरे देव ईश्वर संज्ञा में न आकर जीव संज्ञा में ही आते हैं। अतः तद्विषयक रति भाव नहीं जा सकती है। परमानन्द रूप परमात्मा के विषय में रति भाव नहीं कही जा सकती। 'कान्ता इत्यादि विषयक जितने भी रस इत्यादि हैं उनमें इतना रस पुष्ट नहीं होता क्योंकि उनमें पूर्ण सुख का स्पर्श नहीं होता। अतएव जिस प्रकार खद्योतों की प्रभा से आदित्य की प्रभा अधिक बलवती होती है उसी प्रकार क्षुद्र रसों की अपेक्षा भगवद्भक्ति अधिक बलवती होती है'। हिन्दी साहित्य में भी भक्ति रस के समर्थक कई आचार्य हैं। कन्हैयालाल पोद्दार ने भी साहित्य समीक्षा में भक्ति को सर्वोपरि रस माना है।

अभिनव भारती के देखने से ज्ञात होता है कि भट्ट लोल्लट तथा रुद्रट दोनों आचार्य रसों की अनन्त संख्या मानते थे। उनका मत था कि कोई ऐसी चित्तवृत्ति नहीं होती जो परिपोष को प्राप्त कर रस रूपता को धारण नहीं कर लेती। भरतमुनि ने स्थायी भावों की द्विरूपता बतलाई है—एक ओर ये स्थायी होते हैं और दूसरी ओर संचारी। इसी प्रकार सञ्चारीभाव भी दूसरों के सञ्चारी होकर उन्हें स्थायी

बना सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि कोई भी व्यभिचारी भाव दूसरे व्यभिचारियों से पुष्ट होकर रस रूपता को धारण कर सकता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने और भी अनेक रसों का उल्लेख किया है। जैसे लौल्यरस जिसमें गर्ध या लोभ स्थायी भाव होता है। धनञ्जय ने मृगया रस और अक्षरस का उल्लेख किया है। रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र ने नाट्य दर्पण में अभिनवभारती का अनुसरण करते हुए लिखा है कि दूसरे रस भी सम्भव है, जैसे लौल्य जिसका स्थायी लोभ है, स्नेह जिसका स्थायी आर्द्रता है, व्यसन जिसका स्थायी आसक्ति है, दुःख जिसका स्थायी अरति है, सुख जिसका स्थायी सन्तोष है।

भोजराज ने अपने सरस्वती कण्ठाभरण में स्थायीभाव ८ ही माने हैं किन्तु रसों की संख्या १२ कर दी है। भरतमुनि ने ८ रस तथा शान्त और वात्सल्य तो माने ही हैं, धीरोदात्त नायक का आश्रय उदात्तरस ये दो अतिरिक्त रस मान कर कुल संख्या १२ कर दी है। आशय यह है कि रसों की संख्या नियत है ही नहीं और इस विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। इसी मतभेद का उल्लेख करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन में लिखा है—कुछ लोग कहते हैं शुद्ध विभाव ही रस होता है, दूसरे लोग कहते हैं शुद्ध अनुभाव ही रस होता है, कुछ लोग कहते हैं केवल स्थायी भाव ही रस होता है, दूसरे लोग कहते हैं व्यभिचारी भाव ही रस होता है, और लोग इन सबके संयोग को रस मानते है, कुछ लोग अनुकार्य (राम इत्यादि) को ही रस कहते हैं कुछ और लोग समस्त समुदाय को रस मानते हैं। अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता? सारांश यह है कि विचारकों में रस के विषय में ऐकमत्य है ही नहीं।

रससंख्या के निर्धारण का सामान्य आधार—लक्ष्यपरीक्षा

रससंख्या का निर्धारण सामान्यतः दो दृष्टिकोणों से किया जाना चाहिये, एक है लक्ष्य-परीक्षा जिसे हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण कह सकते हैं और दूसरा है सम्भावनात्मक दृष्टिकोण जिसे हम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण कह सकते हैं।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र नाट्य के दृष्टिकोण से लिखा गया था और सम्भवतः उस समय तक शान्तरस परक कोई नाटक साहित्य-क्षेत्र में नहीं आ सका था। यही कारण है कि भरत मुनि ने जहाँ सम्भावनामूलक अन्य रसों का अभिधान किया है वहाँ शान्त रस की ओर दृष्टिपात नहीं किया है। वस्तुतः शान्तरसास्वादन की ओर मुनि का ध्यान न हो ऐसी बात नहीं है। मुनि ने स्वयं एवं दो स्थानों पर शान्त की आस्वादनीयता का उल्लेख किया है। किन्तु लक्ष्यपरीक्षा के आधार पर उनको रस-परिसंख्यान में उसकी उपेक्षा करनी पड़ी

बाद में जब प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्यों में भी रस की आवश्यकता पर बल दिया गया तब शान्त रस का रसों में सन्निवेश अनिवार्य हो गया। भारत भूमि निर्वेद तथा साधना प्रधान है और लौकिक सुखभोग को यहाँ कभी महत्व नहीं दिया। अतएव शान्ति परक काव्य तो प्रारम्भ में ही लिखे जाते रहे तथा भगवान् बुद्ध और महावीर

स्थायी के धार्मिक क्षेत्र मे आ जाने पर उसमें और अधिक अभिवृद्धि हो गई। किन्तु नाटकों का एकमात्र लक्ष्य लोकाराधन ही माना जाता था और लोक-भावना में निर्वेद की सत्ता यदि असम्भव नही तो दुष्कर अवश्य है। इसीलिए अभिनव गुप्त ने उसको अप्रधान माना है। अभिनवगुप्त ने लिखा है— अनादिकाल से प्रवाह के रूप में रागद्वेष चले आ रहे हैं अत उनका उच्छेदन अशक्य है। अतएव स्थायी होते हुए भी शान्त की प्रधानता नही हो सकती। क्योंकि जीमूतवाहन में त्रिवर्गफल प्राप्ति ही फल है जिसमे परोपकार की प्रधानता है। इसी आशय से नाटक के गुणों मे लिखा गया है कि ऋद्धि और विलास की जिनमें प्रधानता हो और अर्थ तथा काम ही जिनका फल हो इस प्रकार के चरित्र को नाटक मे निविष्ट करना चाहिये जिसस मे समस्त लोकहृदय से सवाद प्राप्त कर सकें। यही कारण था कि शान्त रस को रसों में भरतमुनि ने सन्निविष्ट नही किया।

हमारे साहित्य मे भगवद्भक्ति का बीज यद्यपि प्रारम्भ से ही विद्यमान था तथापि रसात्मक काव्य के विषय के रूप में उसका उपादान बहुत बाद मे हुआ। जब महायान शाखा के प्रभाव से तथा मुस्लिम सस्कृति के सम्पर्क मे आने के कारण हमारे काव्यजगत् में भक्ति का स्वर मुखर हो उठा तब आचार्यों का ध्यान भक्ति को रस रूपता प्रदान करने की ओर गया और सम्प्रदायविशेष ने भक्ति को ही मूलरस के रूप मे मूर्धाभिषिक्त कर दिया। यही बात वात्सल्यरस के विषय मे भी कही जा सकती है। हमारे चिर अतीत के साहित्य में बाल विनोद तथा वात्सल्य को प्रधानता देकर काव्य रचना इस परिमाण मे हुई ही नही थी कि उसको रस रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता। कृष्णभक्त कवियो ने और प्रधानतया सूर ने काव्यक्षेत्र में पदार्पण कर इस अभाव की पर्याप्त मात्रा में पूर्ति कर दी। कृष्णभक्त कवियो ने कृष्ण-लीला के प्रसग मे वात्सल्य के रसत्व प्राप्ति के लिए अपेक्षित समस्त अंगोपागो का जिस कौशल और पूर्णता के साथ गुम्फन किया है बालक्रीडाओ का जो मनोवैज्ञानिक चित्रण इन कवियो की वाणी मे मुखरित हुआ है उसे देखते हुए वात्सल्य को रसरूपता प्रदान न करना उचित नहीं जचा और अनेक आचार्यों ने वात्सल्य स्थायी भावात्मक वत्सल रस को रसो में परिगणित कर दिया। यही बात लौल्य इत्यादि के विषय मे भी कही जा सकती है। आज काव्य बहुमुखी हो गया है। काव्यवस्तु अनेक शाखाओ प्रशाखाओं में प्रस्फुटित तथा विस्तीर्ण होकर नित्यप्रति पल्लवित, कुसुमित और फलित हो रही है। अतएव इस दृष्टिकोण से रसो की संख्या के विषय में विचार उठना स्वाभाविक ही है।

मनोवैज्ञानिक आधार और रससख्या का निर्णय

हमारे आचार्यों ने जहाँ लक्ष्य परीक्षा पर दृष्टि रखी है वहाँ मनोवैज्ञानिक आधार भी पूर्ण रूप से अपनाया है। मनोवैज्ञानिक आधार पर विचार करने के पहले हमें इस बात पर विचार कर लेना चाहिये कि कोई तत्त्व रस रूपता में परिणत होता

किस प्रकार है ? हमारी चित्तवृत्तियाँ अनन्त प्रपञ्चात्मक विश्व का प्रतिफलन रूप हैं। विश्व की अनन्तता हमारी चित्तवृत्तियो की अनेकरूपता की साधक होती है। सामान्य अवस्था मे निर्वातस्तिमित आकाश की भाति अथवा वीचि-विकलित महासागर की भाति हमारा मनस्तत्व, निर्लिप्त तथा प्रशान्त बना रहता है। जिस प्रकार मदिरापान करने से शरीर मे एक स्फूर्ति आ जाती है उसी प्रकार किसी बाह्य अप्रत्याशित अथवा असामान्य परिस्थिति का प्रभाव पडने से हमारी चित्तवृत्तियो मे एक उत्कम्प अथवा आलोडन प्रारम्भ हो जाता है। इन्हे ही हम मनोविकार की सज्ञा से अभिहित करते हैं। इसी विकार को भाव कहते हैं। जब अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ हमारे सामने आती है तब उनके सवेदनो से हमारे अन्त करणो मे तदनुकूल परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। इस परिवर्तन का प्रभाव केवल अन्त करण तक ही सीमित नही रहता अपितु सारे शरीर पर पडता है और तद्भावानुकूल परिवर्तन भी आविर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी मनोविकार की अनुभूति मे एक ओर परिस्थितिया कारण होती हैं तो दूसरी ओर उनके प्रभाव से शारीरिक प्रयत्न उत्पन्न हो जाते है तथा शरीर की स्थिति परिवर्तित हो जाती है। यह तो लोक की बात हुई। कवि हमारे मनोविकार को उत्तेजित करके आस्वाद के योग्य बनाने के लिए उसी प्रकार की परिस्थिति तथा प्रभाव की उद्भावना करता है जो लोक मे उस प्रकार के प्रभाव को जागृत करने मे कारण होते हैं।

भरतमुनि ने भाव के नामकरण का कारण लिखते हुए लिखा है कि जिस प्रकार कोई द्रव्य किसी सुगन्ध इत्यादि से भावित किया जाता है अर्थात् बसाया जाता है उसी प्रकार हमारे अनिर्लिप्त अन्त करण भी किसी मनोविकार या भावना के द्वारा भावित या वासित किये जाते हैं। इसीलिये इन्हे भाव कहते हैं। ये भाव अनेक प्रकार के होते हैं, कुछ हमारे अन्त करणो को अल्पकाल के लिए भावित कर चलते बनते हैं, कुछ स्थिरता को प्राप्त कर लेते हैं, कुछ भाव स्वतन्त्र होते हैं और कुछ कई भावों का सघात रूप, कुछ पोषक होते है कुछ पोष्य। साहित्य शास्त्र मे इन सभी प्रकार के मनोविकारो को भावशब्द से अभिहित किया जाता है। पोष्य भावो को स्थायी और पोषक भावो को सञ्चारी या व्यभिचारी कहते हैं।

भावो की सख्या के विषय मे मुनि का मत अनुशासन की भाँति माना जाता है। मुनि ने भावो की सख्या ४९ बतलाई है—३३ सचारी, ८ स्थायी और ८ सात्विक। सात्विक भाव मनोवृत्ति मे उत्पन्न होकर शरीर पर प्रभाव अधिक डालते है। अतएव इन्हें अनुभाव कहना विशेष सगत प्रतीत होता है। शेष ४२ भाव आस्वाद-गोचर बनते हैं। जब इनमे कोई भाव आस्वादरूपता को धारण करता है तब हम उसे भावध्वनि की सज्ञा से अभिहित करते हैं। कभी-कभी कई भाव मिलकर एक विशेष भाव को पुष्ट करने लगते है। तब हम उस विशेष भाव के आधार पर उसे रस सज्ञा प्रदान करते हैं और पोषक भावो को सचारी या व्यभिचारी कहते है। उक्त विवेचन से सिद्ध है कि रस हम उसे ही कह सकते है —

१ जो स्थायी मनोवृत्ति के नाम से अभिहित किया जा सके।

२ जिसमे विभाव अनुभाव इत्यादि के संयोग से रसनीयता का अभिव्यंजन किया जाना सम्भव हो। और

३ जिसको दूसरे भावों से पुष्ट किया जा सके तथा दूसरे भाव जिसका तिरोभाव न कर पोषक का कार्य करें।

इसके प्रतिकूल जिन भावों का आस्वादन स्वतन्त्र तथा एकाकी रूप में किया जा सके उनमे चाहे कितनी ही गहराई तथा तीव्रता हो और उनका चाहे कितना ही अधिक विस्तार हुआ हो हम उन्हें रस न कहकर केवल भाव ही कहेंगे।

जब मनस्तत्व पर बाह्य परिस्थिति या भावना का कोई प्रभाव पड़ता है तब उसमे चार प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न होता है। प्रत्येक परिवर्तन के दो-दो रूप होते हैं—मुख्य और गौण। इस प्रकार प्रधानतया ८ ही रस सम्वेदना गोचर होकर आस्वाद्यता धारण करते हैं। मनस्तत्व के विकास से मुख्य रूप में शृंगार तथा गौण रूप में हास्य मनस्तत्व के विस्तार से मुख्य रूप में वीर और गौण रूप में अद्भुत। क्षोभ से मुख्यतया क्रोध और अमुख्यतया करुणा। विक्षेप से मुख्यतया वीभत्स और अमुख्यतया भयानक की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार मुनि के बतलाये हुए ८ रस ही प्रमाण हैं। अब देखना है कि इन आठ रसों के अतिरिक्त जिन अन्य रसों की सत्ता बतलाई गई है उनमे कितने वास्तविक रस कहलाने के अधिकारी हैं।

शांत

शान्त रस की रसनीयता पर अभिनव भारती में विस्तार पूर्वक विचार किया गया है जिसका सारांश प्रस्तुत निबन्ध के छोटे से कलेवर में देना असम्भव है। इसी विषय मे आनन्दवर्धन ने भी विचार किया है और उस पर लोचनकार ने भी संक्षिप्त टिप्पणी लिखी है। ध्वन्यालोक तथा लोचन का सार यहां पर दिया जा रहा है, विस्तार के लिये अभिनव भारती का अवलोकन करना चाहिये।

जिस प्रकार प्रशान्त चित्त मे उत्पन्न होकर मनोविकार आनन्द-साधना में कारण बनते हैं उसी प्रकार चित्त की प्रशमावस्था भी आनन्द में कारण होती है। यह इस प्रकार समझिये जैसे तृप्तिपूर्वक भोजन कर लेने के बाद जब अन्य किसी वस्तु का खाने की इच्छा नहीं होती उस अवस्था मे भी एक प्रकार की आनन्दानुभूति सहृदय संविदना-सिद्ध है। इसी प्रकार जब किसी प्रकार की भावना मन को आन्दोलित नहीं कर रही होती है तब भी एक प्रकार का अनिर्वचनीय सुख अनुभव गोचर होता है। इसे हम तृष्णाक्षय सुख कह सकते हैं। तृष्णाक्षय सुख का अर्थ है विषयाभिलाषा की धारों ओर से निवृत्ति तथा उसमे उत्पन्न होने वाला निर्वेद। यही निर्वेद ही शान्त रस का स्थायी भाव है। यहां पर यह ध्यान रखना चाहिये कि चेष्टा तथा भावना का आत्यन्तिक उपरम ही निर्वेद नहीं है। यदि चेष्टाओ का उपरम निर्वेद माना जावेगा तो उसमे अभिनेयता किस प्रकार आ सकती ? यदि भावना का सर्वथा विराम

हो जावेगा तो वर्ण्य वस्तु मे भी रसनीयता का सचार किस प्रकार हो सकेगा ? निर्वेद का अर्थ तृष्णाक्षय सुख ही है। इसका आशय यह है कि जब लौकिक वासनाओं का विराम हो जाता है तब मनोवृत्ति परमात्म सत्ता की ओर उन्मुख हो जाती है। उस समय विहारी की यह भावना सामने आ जाती है।

मनमोहन सो मोह करि तू घनश्याम विहारि।
कुन्जविहारी सो विहरि गिरधारी उर धारि॥

अभिनव गुप्त ने लिखा है कि कुछ लोग सब प्रकार की चित्तवृत्तियो के प्रशम को ही शान्त का स्थायी मानते हैं। यह वृत्तियो का प्रतिषेध है जोकि दो प्रकार का हुआ करता है, प्रसज्य तथा पर्युदास। प्रसज्य मे किसी वस्तु का सर्वथा अभाव व्यक्त होता है और पर्युदास मे तत्समकक्ष दूसरी वस्तु का उपादान हुआ करता है। सामान्यत प्रसज्य प्रतिषेध मे 'न' का प्रयोग पृथक् होता है और पर्युदास मे समास हो जाता है। जैसे 'ब्राह्मण न आनय' का अर्थ होगा कि ब्राह्मण को न लाया जावे और न किसी और को ही लाया जावे। यह प्रसज्य प्रतिषेध है। इसके प्रतिकूल पर्युदास इस प्रकार होगा—'अब्राह्मणम् आनय' अर्थात् ब्राह्मण से भिन्न तथा ब्राह्मण के सदृश किसी व्यक्ति को ले आओ। चित्तवृत्ति के प्रशम को यदि प्रसज्य प्रतिषेध माना जावेगा तो जब कोई मनोविकार या मनोवृत्ति होगी ही नही तो आस्वादन किसका होगा ? अतएव पर्युदास ही मानना चाहिये जिसका आशय होगा—चित्त-वृत्तियां लोकोन्मुख न होकर परासत्ता की ओर उन्मुख हो। यही निर्वेद है। इसमे भी अद्वितीय आनन्द की उपलब्धि होती है। कहा गया है—ससार मे जो कुछ कामना का सुख है और जो दिव्य महासुख है वह सब मिलकर भी तृष्णाक्षय सुख की षोडशीकला को भी प्राप्त नही कर सकता।

भरतमुनि ने एक वाक्य लिखा था जिसका आशय यह था कि निर्लिप्त चित्तवृत्ति को शान्त कहते हैं, अपने अपने निमित्त का उपादान कर प्रत्येक भाव शान्त से ही उत्पन्न होता है और निमित्त के अपगत हो जाने पर शान्त मे ही प्रलीन हो जाता है। इस वाक्य को लेकर कुछ लोगो ने लिखा था कि ऐसी चित्तवृत्ति जिसमे किसी प्रकार का भाव न उत्पन्न हुआ हो, शान्त कहलाती है। इस पर लोचनकार का कहना है कि यह पक्ष हमसे बहुत दूर नही है क्योकि हम मनोविकार के प्रध्वस को शान्त कहते हैं और ये लोग मनोविकार के उत्पन्न न होने को शान्त कहते हैं। वस्तुत भावो के प्रध्वस को ही शात कहना ठीक है क्योकि कहा गया है कि वीतराग को ही मोक्ष प्राप्त होता है। मुनि ने भी 'क्वचिच्छम' कह कर शम की आस्वाद्यता स्वीकृत की है।

यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि जबकि शान्त मे समस्त चेष्टाओ का उपरम हो जाता है तब उसकी अभिनेयता या भाव के रूप मे आस्वाद्यता किस प्रकार सगत हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि शान्त में समस्त चेष्टाओ का उपरम तभी होता है जबकि शान्त की पर्यन्त भूमि (अन्तिम दशा) प्राप्त हो जाती है। किसी

भी रस की पर्यन्त भूमि का वर्णन नहीं किया जाता। उदाहरण के लिये शृंगार की पर्यन्त भूमि होगी हत्या। इस का वर्णन या अभिनय शास्त्र में निषिद्ध है। इसी प्रकार शान्त की पर्यन्त-भूमि चेष्टोपरम अभिनेय या वर्ण्य नहीं होता। पूर्व भूमि में तो आस्वाद्यता होती ही है। योग का एक सूत्र है—'तस्य प्रशान्त वाहित संस्कारात् मनो वृत्ति का स्वभाव है प्रवाहित होना क्योंकि उसमे इस प्रकार के संस्कार विद्यमान है। जब योग की पूर्वभूमि आती है तब चित्तवृत्ति लोक विमुख होकर परमात्म सत्ता या लोकेतर भाव की ओर प्रवाहित होती है। एक दूसरा और सूत्र है जिसका आशय है—'योग के अन्तराल मे पुराने संस्कारों के प्रभाव से भावनाओं का व्युत्थान होता ही है, यद्यपि इसमे लौकिक भावना समाप्त हो जाती है। आशय यह है कि पूर्वभूमि में शान्त रस आस्वाद्य होता ही है।

शान्त रस के विरोध मे दूसरा तर्क यह है कि शान्त रस सभी व्यक्तियो के लिए आदरणीय नही होता अतः उसे रस संज्ञा प्राप्त नही होनी चाहिये। इसका उत्तर लोचन कार ने यह दिया है कि वीतराग के लिये शृंगार आस्वाद्य नही होता अतः क्या उसे भी रस की सीमा से च्युत कर दोगे? यदि यह माना भी जाय कि इसमे सर्वजनानुभवगोचरता नही है तथापि अलोकसामान्य महानुभावो की इस विशेष चित्त वृत्ति का प्रतिषेध कैसे किया जा सकता है?

शान्त रस के विषय मे एक प्रश्न यह है कि इसका अन्तर्भाव दयावीर या धर्म-वीर में क्यों न कर लिया जाये? इसका उत्तर यह है कि वीर रस में अभिमानमयता होती है और इसमे अभिमान का प्रशम हो जाता है। इच्छा-प्रवृत्ति और इच्छा रहित प्रवृत्ति इन दोनों म भेद होते हुए भी यदि दोनों को एक माना जायेगा तो युद्धवीर तथा रौद्र मे तो इतना भी भेद नही होता दोनो का फल भी एक ही होता है फिर भी उन्हें एक क्यो नही माना जाता? एक विकल्प यह भी है कि दयावीर और धर्मवीर का अन्तर्भाव शान्त मे कर लिया जावे। किन्तु इन दोनों मे पर्याप्त अंतर है। यदि चित्तवृत्ति सब प्रकार से अहंकार रहित हो तो दया को शांत रस मे सन्निविष्ट करेंगे और यदि उसम अहंकार का मिश्रण हो तो दयावीर रस होगा। इसी प्रकार विषयो के प्रति जुगुप्सा होते हुए भी हम बीभत्स मे शान्त रस का अन्तर्भाव नही कर सकते। ऐसे स्थल पर जुगुप्सा शान्त का व्यभिचारी भाव होगा। यदि जुगुप्सा पर्यन्तावस्था म पहुंच जावे तब भी वह स्थायी नहीं बन सकती। क्योंकि पर्यन्तावस्था में किसी भाव का वर्णन निषिद्ध ही है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। यह है ध्वन्यालोकलोचन का सार।

वस्तुतः निर्वेद की ओर प्रवृत्ति भी मानव की जन्मजात विशेषता है। जहां मानव संसार का उन्मुक्त उपभोग करना चाहता है वहां वह उसकी परिणाम-भयंकरता को देखकर स्वभावतः विराम की ओर उन्मुख हो जाता है। जिस प्रकार अनुकूल परिस्थिति की भर्त्सना करके शृंगार को आस्वादयोग्य बनाया जा सकता है इसी प्रकार अनुकूल

परिस्थितियो के सम्पर्क से निर्वेद भी आस्वाद्य बन जाता है। संसार की अनित्यता वस्तुजगत् की असारता और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान इसके आलम्बन है। भगवान् के पवित्र आश्रम, तीर्थस्थान, रम्य एकान्त, वन, महापुरुषो का सत्सग, इसके उद्दीपन हैं। रोमांच इत्यादि अनुभाव हैं और हर्ष, स्मरण, मति-उन्माद इत्यादि सचारी भाव हैं। इस प्रकार समस्त सामग्री प्रस्तुत होने पर शान्त रस को स्वीकार करना ही उचित है।

भक्ति रस

शान्त के ही समकक्ष दूसरा विचारणीय रस आता है भक्ति। गौडीय भक्ति-सम्प्रदाय मे इसको चरम महत्ता प्रदान की गई है और रूप गोस्वामी ने अपने उज्ज्वल नीलमणि तथा भक्तिरसामृत सिन्धु मे इसको सब रसों का मूर्धन्य माना है। भक्ति-रसामृतसिन्धु मे भक्ति रस से सम्बन्धित जिन तत्वो का निरूपण किया गया है उन्हे हम स्थूलतया दो रूपो मे बाट सकते हैं—(१) भगवदाश्रित भाव और (२) भगवदा-लम्बनात्मक भाव। कुछ भाव ऐसे होते है जिनका आश्रय भगवान् है। उदाहरण के लिये यदि भगवान् कृष्ण की रति राधा तथा दूसरी गोपियो के प्रति वर्ण्य विषय होगी तो उसका आश्रय स्पष्टतया भगवान् ही होंगे। हम इस रतिभाव को भक्ति का नाम नहीं दे सकते क्योकि यह रति तो भगवान् कृष्ण मे स्थित हैं। इस रति को भक्ति का नाम देने का अर्थ होगा भगवान् को भक्त मान लेना जो कि मूले कुठाराघात होगा। अब दूसरे प्रकार के भावो को लीजिये—ये भाव भगवान को आलम्बन मान कर प्रवृत्त होते हैं। ये भाव भी दो प्रकार के हो सकते हैं—भगवान् के प्रति कोई भी मान्यता प्राप्त स्थायी भाव और भगवान के प्रति प्रेम मात्र। भगवान् के प्रति कोई भी स्थायी भाव रसरूपता को धारण कर सकता है। उदाहरण के लिये राधा की दाम्पत्य मूलक रति, रावण, कस, शिशुपाल, जरासन्ध वाणासुर इत्यादि का शत्रुताजन्य उत्साह अथवा क्रोध या भय। ये स्वतत्र भाव है और इनके द्वारा शृगारादि विभिन्न रसो की अभिव्यक्ति होती है। अत हम इन्हे भी भक्ति की कोटि मे नही रख सकते। भक्ति सर्वदा आराध्य की महत्ता का द्योतन करती है जबकि दाम्पत्यभावनाप्रसूत रति इस प्रकार की महत्ता से सर्वथा दूर है। अत जिस प्रकार हम रावण इत्यादि-के क्रोधादि को भक्ति नही कह सकते उसी प्रकार राधा के दाम्पत्य प्रेम को भी भक्ति की सज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती। उसे हम शृगार के नाम से ही अभिहित करेंगे।

अब कृष्ण के प्रति भक्त के प्रेम की बात सामने आती है। यदि इसमें हर्ष स्मरण, मति-उन्माद इत्यादि सञ्चारी हैं और उनसे निर्वेद की पुष्टि होती है तो इस भगवत प्रेम को हम शान्त रस मे ही समाविष्ट करेंगे। पहले बतलाया जा चुका है कि निर्वेद का अर्थ सर्वचेष्टा निवृत्ति नही है अपितु सांसारिकता से विरक्ति मात्र हैं और भगवत्प्रेम में सासारिकता के प्रति विरक्ति कारण रहती ही है। अतएव इस प्रकार के प्रेम को हम शान्त रस मे ही संनिविष्ट करेंगे, इसे हम स्वतन्त्र रस कभी नही मान

सकते। जब केवल भगवद् प्रेम की ही अभिव्यक्ति हेतु होती है और वही आस्वाद्य हो जाता है तब भावभाव का आस्वादन करने के कारण हम इसे भावध्वनि ही कहेंगे। पहले बतलाया जा चुका है कि भावना की गहराई तथा वर्णन का विस्तार कभी भी रस संज्ञा का निमित्त नहीं होता अपितु इतर भावों से परिपोष ही स्वाभाविक रूप में आस्वादनीयता का सचार कर रस संज्ञा के प्रदान में कारण होता है। भक्ति रस के पोषक तत्व वस्तुत निर्वेद के अभिव्यञ्जक होते हैं जैसा कि शान्त रस के संचारियों के परिगणन से सिद्ध होता है। भक्ति सूत्रों में भक्ति को सर्वथा कामना-मुक्त तथा निवृत्ति परक माना गया है। भक्तिसूत्रों के अनुसार भक्ति में लोक और वेद के व्यापार का परित्याग हो जाता है प्रियतम भगवान में अनन्यता उत्पन्न हो जाती है और विरोधी विषयों में उदासीनता होती ही है। नारदभक्तिसूत्र में लिखा है कि 'जो व्यक्ति कर्मफलों को भी छोड़ देता है कर्मों को भी छोड़ देता है वेदों का भी परित्याग कर देता है केवल भगवान् के प्रति अनुराग को धारण करता है वही व्यक्ति स्वयं भी तरता है और दूसरों को भी तार देता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्ति में वैराग्य को व्यापक तथा भक्ति का पूर्ववर्ती माना है। उनके मत में पहले वैदिक धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है फिर उससे लोक से विराग की उत्पत्ति होती है और उस विराग से भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। विराग कारण है और भक्ति कार्य —

> प्रथमहिं विप्रचरण अतिप्रीति। निज निज कर्म निरत श्रुति रीति॥
> इहिकर फल पुनि विषय विरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥"

इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने रूपक कल्पना में भी —

> "कहहुं भगति भगवन्त कर संजुत विरति विवेक॥"

कह कर भक्ति से वैराग्य की अपरिहार्यता का परिचय दिया है। आशय यह है कि जब तक निर्वेद की पराभूमि नहीं आती तब तक उसमें भगवदुन्मुखता सन्निहित रहती ही है और भक्ति से वैराग्य व्यापार ही रहता है। अतएव अन्यभावों से परिपोष को प्राप्त भगवत्प्रेम शान्त रस ही कहा जावेगा। शुद्ध भगवत्प्रेम में जिसमें निर्वेद की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती भाव संज्ञा का ही अधिकारी है।

यहां पर एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि राधाकृष्ण का शृंगार भगवद्विषयक है अत सामान्य शृंगार से इसमें भेद होना ही चाहिये। इसका उत्तर यह है कि रस-निष्पत्ति के लिये तीन प्रकार की प्रकृतियां मानी गई हैं—दिव्य अदिव्य और दिव्यादिव्य। तीनों प्रकार की प्रकृतियों के विषय में अभिव्यक्त रस शृंगार कोटि में ही आता है। रस-निष्पत्ति के विषय में प्रकृतियों के विभेद पर ध्यान नहीं दिया जाता। रस के विषय में एक बात सर्वदा ध्यान रखनी चाहिये कि रसास्वादन में भाव मात्र उपास्य होता है। कारण कवि वही हो सकता है जो प्रकृतियों को यथावत पूर्वक चित्रित करे। उदाहरण के लिये कालिदास ने भगवान् शंकर तथा

भगवती पार्वती के विषय' मे शृगार का लौकिक शृगार के समान ही अभिव्यंजन किया है। इस प्रकार का शृगार वर्णन वहुत ही निषिद्ध है। इस पर टिप्पणी करते हुये आलोककार ने लिखा है कि जव हम कालिदासकृत भगवद्विषयक रति का आस्वादन करने लगते है तव हमे ध्यान ही नही रहता कि हम जिस रति का आस्वादन कर रहे हैं वह भगवद्विषयक है। हम वहा पर रतिमात्र का आस्वादन करते है जोकि सार्वजनीन है। कवि की इसी मे सफलता है कि वह अपने वाग्वैभव से आलम्बन तथा आश्रय तथा आश्रय की वैयक्तिक सत्ता को तिरोहित करने मे सर्वथा सफल हुआ है। यही साधारणीकरण का अर्थ है और यही हम राधा-कृष्ण-प्रेम के विषय मे भी कह सकते हैं।

अव यहा पर प्रश्न उपस्थित होता है कि इस कृष्ण काव्य मे भगवदाश्रित तथा राधा इत्यादि के आश्रित काव्य की स्थिति क्या होगी ? इसका सामान्य उत्तर यही है कि इन काव्यो के रस अग होंगे और भक्ति को अगीभाव का पद दिया जावेगा। इस प्रकार इन काव्यो के रस अपराग गुणीभूत की कोटि मे आवेंगे। प्रकाशकार ने इस प्रकार के काव्य को मध्यम काव्य माना है। किन्तु पण्डितराज ने यह देखा कि इन काव्यो मे रस का परिपाक स्वय पूर्णमात्रा मे है और इन काव्यो को मध्यम कोटि मे रखना अनुचित है। अतएव पण्डितराज ने इनकी एक कोटि और वना दी तथा जो काव्य किसी के प्रति गुणीभूत नही होता उसे उन्होने उत्तमोत्तम काव्य की सज्ञा प्रदान की और जो काव्य गुणीभूत होकर भी रस परिपाक मे स्वत पूर्ण होता है उस काव्य को उन्होंने उत्तम काव्य कहा। इस प्रकार पण्डितराज के मत मे इस प्रकार के काव्य को मध्यम न कह कर उत्तम ही कहेंगे। शृगारादि रस भगवान की महत्ता के द्योतक होने के कारण भक्तिभाव मे उद्दीपन होकर आते हैं। इस विषय मे एक उदाहरण देना अप्रासगिक न होगा—ध्वन्यालोक मे लिखा है कि महाभारत के उपक्रम मे प्रतिज्ञा की गई है कि इसमे सनातन वासुदेव का कीर्तन किया जावेगा। किन्तु महाभारत में भगवान कृष्ण की लीलाओ का विशेष विस्तार है ही नही, फिर इस प्रतिज्ञा की सगति किस प्रकार लगती है ? इसका वहा पर उत्तर दिया गया है कि यहाँ पर वासुदेव के साथ सनातन शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका आशय है परब्रह्म परमात्मा। पाण्डवादिको का चरित्र परिणाम मे कितना विरस रहा और अनेक वीरो के सक्षय से ससार की असारता की व्यजना करते हुए भारतकार ने परिशीलक को भगवान की ओर उन्मुख किया है। अतएव महाभारत का प्रधान रस शान्त ही है, अन्य रस उसके पोषक हैं।

भक्ति को रस मानने वाले आचार्यों का एक तर्क और है—जव "रसो वै स" इस सूत्र के अनुसार भगवान रस रूप माना जाता है तव भगवद्विषयक रति को रस न मानना कहा तक सगत है ? यहा पर यह ध्यान रखना चाहिये कि भगवान के रस रूप होने का यह अर्थ नही है कि हम भावना के द्वारा भगवान को प्राप्त करे अपितु इसका आशय यही है कि रस के द्वारा ही हृदय की मुक्तावस्था प्राप्त कर हम भगवान की अनन्त विश्व मे विस्तीर्ण अद्वैतसत्ता से सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं। जव हम दुष्यत

और शकुन्तला की प्रेममीमांसा का भी आस्वादन करते हैं उस समय भी हम अपने पराये का भेद भूल कर आनन्द की परम कोटि पर आरूढ़ हो जाते हैं जो कि भगवान् का रूप है—जैसा कि कहा गया है— आनन्दो वै स: आनन्दं ह्येवायं लब्ध्वा हृष्टी भवति'। अतः भक्ति को भाव मानना ही समीचीन है। स्मरण मति इत्यादि अनुभावों से पुष्ट होने पर विरक्ति की अभिव्यक्ति के कारण उसे शान्त रस की ही संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

—

वात्सल्य रस

वात्सल्य को भी प्राचीन आचार्यों ने भाव ही माना है जैसा कि उद्भट के उदाहरण से सिद्ध है। कुछ लोगों ने वात्सल्य को रस माना है और प्रवास के आधार पर उसके उपभेद भी किये हैं। किन्तु एक तो जिस अवस्था में वात्सल्य का चरम प्रकर्ष रहता है उस अवस्था में प्रायः प्रवास होता नहीं। दूसरी बात यह है कि जिन सचारी भावों को वात्सल्य के पोषक के रूप में स्वीकार किया गया है वे या तो वात्सल्य रूप हैं या स्वतन्त्र आस्वाद्य होते हैं। हर्ष गर्व उद्वेग और अनिष्ट की आशंका ये वात्सल्य के व्यभिचारी माने गये हैं। पुत्र की सत्ता में आनन्द का अनुभव करना और पुत्रहीनों की अपेक्षा अपने को अधिक सौभाग्यशाली समझना ही वात्सल्य का अभिप्रेत है। इस प्रकार हर्ष और गर्व का समावेश तो वात्सल्य के अभिप्रेतार्थ में ही हो जाता है, शेष दो सचारी। उद्वेग और अनिष्ट की आशंका स्वतन्त्र आस्वाद्य होकर 'व्यभिचारी तथाञ्जित' के अनुसार भावध्वनि का रूप धारण करते हैं। उदाहरण के लिये अनिष्ट की आशंका दो प्रकार की हो सकती है पुत्र पर आपत्ति आने की आशंका और पुत्र के विरक्त हो जाने की आशंका। यदि आपत्ति आने की आशंका है और अब तक आपत्ति आई नहीं है तो निश्चिन्त होकर पुत्रप्रेम का अनुभव करते हुए बैठे नहीं रहा जा सकता। उस अवस्था में तो सारा ध्यान आने वाली आपत्ति पर ही केन्द्रित होगा और अनुभावों के रूप में उन आपत्तियों के निराकरण की चेष्टा ही की जावेगी। ऐसी दशा में अनिष्ट की आशंका ही आस्वाद का विषय बनेगी। आशंका चाहे पुत्र के प्रति हो चाहे अन्य किसी प्रेमी जन के विषय में उसका रूप एकसा ही होगा और आशंका पुत्रप्रेम की पोषिका नहीं कही जा सकेगी। स्पष्ट ही है कि दाम्पत्य प्रेम में आशंका का रूप कुछ और ही प्रकार का होता है 'उसमें आशंका का सीधा सम्बन्ध प्रेम से ही होता है' प्रेम के प्रकट होने की आशंका प्रेमी के निष्ठुर व्यवहार की आशंका वियोग की आशंका आदि। आशंकाओं का निमित्त सुरत ही आनन्दातिरेक में कारण होता है और जब समाज के विरोध इत्यादि की आशंका होती है तब प्रेम का आग्रह दृढ़तर हो जाता है। इस प्रकार शृंगार में आशंका रति को पुष्ट करती है किन्तु वात्सल्य में पुत्र के अनर्थ की आशंका से ध्यान आशंका पर ही केन्द्रित रहता है। अतः वहाँ आशंका पुत्रप्रेम की पोषिका न होकर स्वतन्त्र आस्वाद का विषय बन जाती है। यही बात आवेग के

षय मे कही जा सकती है। आशका के वाद की स्थिति आवेग है। जव तक अनर्थ म्भावित रहता है तव तक आशका ही रहती है, किन्तु जव अनर्थातिशय उपस्थित जाता है तो उससे एक प्रकार का सभ्रम उत्पन्न हो जाता है जिसे आवेग कहते । यह परिभाषा पण्डितराज ने दी है। शृगार रस मे जब तक लोक विरोध अथवा वियोग सम्भावित रहता है तव तक आशका और उसके प्रभाव से दृढता उत्पन्न होती और जब इस प्रकार का वियोग अथवा लोक-विरोध उत्पन्न हो जाता है तब एक कार का सभ्रम उत्पन्न हो जाया करता है। जैसे विहारी की नायिका—

> ह्वां तै ह्यां ह्या तें उहां नैकों धरति न धीर।
> निसि दिन डाढी सी रहति वाढी गाढी पीर॥

यहा पर सभ्रम प्रेम का पोषक है। किन्तु पुत्र इत्यादि के ऊपर आपत्ति आ जाने से प्रेम की वेदना नही अपितु दुःख की ही प्रधानता होती है। अत. वहा पर आवेग पुत्रप्रेम का पोषक न होकर स्वतन्त्र चर्बणीय होता है। इस प्रकार वात्सल्य को भी भाव सज्ञा प्रदान करना ही ठीक है, रस सज्ञा नही

५

करुण रस का आस्वाद

१ उपक्रम।
२ सुख दुःखमयी भावार्थ
३ करुण रस के आस्वाद में आनन्दात्मकता का सिद्धान्त
४ समाधान
५ दो प्रमुख पक्ष और दोनों में अनुपपत्तियां
६ दुःखवादियों द्वारा समाधान की चेष्टा और उनकी समीक्षा
७. करुणप्रसंगों में सुख की सत्ता पर विचार
८. विरेचन सिद्धान्त
९ कला-सत्य का सिद्धान्त
१० परमात्म सत्ता का ध्यान
११ शिल्प की सुखमयता का सिद्धान्त
१२ मनोवैज्ञानिक आधार
१३ अलौकिकता का सिद्धान्त
१४ लोकदृष्टि और कला-दृष्टि के विभेद का सिद्धान्त
१५ अभिनवगुप्त की आनन्दवादी व्याख्या

उपक्रम

भारतीय मनीषियों ने रस को आनन्द स्वरूप माना है। यह बात शृंगार हास्य इत्यादि सुखात्मक रसों में तो ठीक बैठ जाती है किन्तु करुण इत्यादि कुछ ऐसे दुःखात्मक रस हैं जिनमें यह बात ठीक नहीं बैठती। पुत्र की मृत्यु पर रोती हुई माता को देखकर आनन्द का अनुभव हो यह कुछ समझ में नहीं आता। जहाँ चारों ओर हाहाकार मचा हो हरा भरा कानन उजड़ रहा हो भय और आतंक का साम्राज्य हो घृणा जगाने वाली परिस्थिति उत्पन्न हो वहाँ दर्शक आनन्द का अनुभव करें और हर्ष मनायें तो उन दर्शकों को सहृदय तो कोई न कहेगा वे तो प्रथम कोटि के हृदय हीन व्यक्ति ही सिद्ध होंगे। दूसरी ओर कहा जा सकता है कि यदि करुण दृश्यों से दुःख और शोक की अनुभूति होती है तो फिर उन दृश्यों को देखने की ओर जनसमाज क्यों प्रवृत्त होता है? करुण-रसप्रधान चित्रपटों को देखने के लिये इतनी भीड़ क्यों लग जाती है? मानव स्वभाव दुःख से बचने की ही चेष्टायें करता है। दुःख में पड़ना

कोई नही चाहता। फिर दुःखप्रधान काव्य क्यो पढे जाते हैं और उस प्रकार के दृश्य क्यो देखे जाते है? यदि इस प्रकार के काव्यो को पढने और देखने की ओर ही जनसमाज की प्रवृत्ति नही होगी तो न तो इस प्रकार के काव्यो की रचना ही होगी और असख्य धन व्यय कर उनके अभिनय का सविधानक ही तैयार किया जा सकेगा। किन्तु होती उल्टी बात है। सर्वाधिक प्रतिष्ठा करुण काव्य ही प्राप्त कर पाते हैं, शोक से ही कविता का जन्म हुआ और अनेक महाकाव्यो का व्यापक तत्व करुण रस ही है। रामायण मे करुण दृश्यो की ही प्रधानता है। यदि हम करुण रस को दु खजनक मानेंगे तो रामायण महाकाव्य भी दु खजनक हो जायेगा जबकि आनन्द के लिये ही लोग उसका पारायण करते हैं। इस प्रकार दु खात्मक काव्यो के विषय मे दो पक्ष हमारे सामने आते हैं—एक ओर तो विवेचको का कहना है कि करुण इत्यादि दृश्यो मे शोक और दु ख की ही अनुभूति होती है, उसमे आनन्द की उपलब्धि मानना वास्तविकता पर बलात्कार है और सहृदयो की सहृदयता पर अन्याय करना है। दूसरी ओर वे लोग हैं जो करुण काव्यो का इतना प्रचार और प्रसार देखकर यह मानने को तैयार नही होते कि कोई दु ख मे पडना चाहता है। अत उन लोगो की मान्यता है कि रस केवल सुखात्मक होता है और आनन्द साधना ही उसका प्रमुख लक्ष्य है। अधिकाश आचार्य और विशेष रूप से अधिकाश प्रामाणिक आचार्य इसी द्वितीय मत के हैं कि रस केवल सुखात्मक होता है। किन्तु उन विचारको की भी कमी नहीं है जो रस को सुख-दु खात्मक दोनो प्रकार का मानते हैं—सुखात्मक शृगारादि को सुखात्मक और दुःखात्मक करुण इत्यादि को दु खात्मक। यहाँ पर दोनो प्रकार के विवेचको की मान्यता का सार देकर यह देखने की चेष्टा की जायेगी कि दूसरे पक्ष की ओर से एक पक्ष की उठाई हुई आपत्तियो का क्या समाधान हो सकता है तथा उचित पक्ष कौन है?

सुखदु खवादी आचार्य

दु खवादी आचार्यों की परम्परा चिर अतीत मे भी जाती है। रस के विषय में विभिन्न आचार्यों के मतो का सर्वप्रथम उपस्थापन अभिनवगुप्त ने किया था। उस समय भी उनके सामने कुछ ऐसे विचारक विद्यमान थे जो रस को आनन्दस्वरूप नहीं, सुखदु खात्मक मानते थे। इन लोगो का मत था कि कवि को विषय सामग्री बाहर से ही लेनी पडती है जिसका स्वभाव है सुखदु खात्मक। अभिनवगुप्त का कहना है कि ये लोग साख्य मत के अनुयायी हैं। साख्य शास्त्र मे पुरुष और प्रकृति दो तत्त्व माने जाते हैं। मूल प्रकृति का जन्म किसी से नही होता किन्तु वह महतत्त्व इत्यादि की परम्परा से सृष्टि की उत्पत्ति करने वाली होती है। किन्तु पुरुष निर्लिप्त तथा प्रकृति विकृतिहीन है अर्थात् पुरुष का जन्म न तो किसी दूसरे तत्त्व से होता है और न पुरुष किसी अन्य तत्त्व को जन्म देने वाला होता है। सारा सृष्टिप्रपञ्च प्रकृति का ही क्रियाकलाप है। प्रकृति मे तीन गुण होते हैं—सत्त्व, रज और तम। इस प्रकार समस्त

सृष्टि के ये तीन गुण होते हैं। सत्त्व का स्वभाव है सुख रजोगुण का स्वभाव है दुःख और तमोगुण का स्वभाव है मोह। इस प्रकार सारे संसार की उत्पत्ति के मूल में ही सुख दुःख और मोह विद्यमान हैं। इनसे रहित यह विश्व हो ही नहीं सकता। रस के लिये जिस सामग्री का उपादान किया जाता है वह इसी सृष्टि प्रपञ्च से आती है। इस सामग्री से ही आन्तरिक स्थायीभावों का जनन होता है। अतः स्थायीभावों का स्वभाव भी सुख-दुःख और मोह रूप ही होता है। इस कथन से भरत मुनि के इस प्रतिपादन का विरोध आता है कि स्थायीभावों को 'रसरूपता प्रदान करेंगे'। इस विरोध को दूर करने के लिये सांख्यवादियों ने भरतमुनि के उक्त वाक्य में उपादान लक्षणा मान ली और व्याख्या कर दी कि यहाँ पर 'रस' का अर्थ है सुख दुःख और मोह। इन लोगों का प्रतिवाद करने के लिये अभिनवगुप्त ने केवल इतना ही कहा कि ये लोग स्वयं समझते हैं कि उनकी व्याख्या भरतमुनि के ग्रन्थ के विरुद्ध है, इसीलिये तो ये लक्षणा तक दौड़ने की चेष्टा करते हैं। इससे स्पष्ट ही सिद्ध होता है कि ये लोग प्रामाणिक आचार्यों पर आक्षेप कर रहे हैं। अतः इनके विषय में हम और कुछ कह ही क्या सकते हैं? अभिनवगुप्त के इस कथन से इतना तो सिद्ध ही होता है कि इनसे पहले भी कतिपय ऐसे आचार्य हो चुके थे जो रस को सुखदुःखात्मक मानते थे और अभिनव के पास इनके खण्डन का केवल यही तर्क था कि उससे भरत के ग्रन्थ का विरोध होता है।

अभिनव के बाद रस को सुखदुःखात्मक रूप में स्वीकार करने वाले आचार्यों की परम्परा चलती रही। इनमें सर्वाधिक प्रमुख नाम लिया जाता है नाट्य दर्पणकार जैन आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र का। इन्होंने स्पष्ट रूप में रसों के दो वर्ग बनाये हैं—इष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप सम्पत्ति को प्रकाशित करने वाले शृंगार हास्य और, अद्भुत और शान्त ये पाँच सुख प्रधान रस हैं और करुण बीभत्स रौद्र और भयानक ये चार अनिष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप लाभ करने के कारण दुःखात्मक हैं। इसीलिये जैन आचार्य का मत है कि 'सुखदुःखात्मको रसः' इसके अतिरिक्त नाट्यदर्पण कार ने उन लोगों की आलोचना भी की है जो लोग रस को केवल सुखात्मक मानते हैं। उनका कहना है कि रस को केवल सुखात्मक मानना प्रतीति-विरुद्ध है। करुण रस में तो शोक ही स्थायीभाव होता है उसके सुखात्मक होने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त भयानक इत्यादि जो उद्वेग रस हैं उनमें भी उद्वेग उत्पन्न होता है। अतः उनको भी सुखात्मक मानना ठीक नहीं है। इन्होंने रस की सुख दुःखात्मकता के विषय में जो कुछ कहा है उसका सार यह है—भयानक बीभत्स करुण और रौद्र रसास्वादन करने वालों को किसी ऐसी क्लेश दशा में पहुँचा देते हैं जिसका आख्यान किया ही नहीं जा सकता। अतएव भयानक इत्यादि रसों से समाज में उद्वेग उत्पन्न हो जाता है। किन्तु यदि रस में सुखास्वाद माना जावे तो उद्वेग की सङ्गति कैसे लगेगी। आशय यह है कि सुख में कोई उद्विग्न नहीं होता। किन्तु करुण इत्यादि रसों में उद्वेग होता है। अतः करुण आदि रसों में सुखास्वाद नहीं माना जा

सकता। जब हम द्रौपदी के केशाम्बराकर्षण, सीताविलाप, दशरथमरण इत्यादि दृश्यो को रगमच पर अभिनीत होते हुए देखते हैं तब हमे हर्ष और आनन्द की अनुभूति होती है यह तो कहा ही नही जा सकता। भरत ने त्रैलोक्यानुकृति को ही नाट्य सज्ञा दी है। काव्यो मे रामादि चरित का उपनिबन्धन लोकवृत्त का अनुसरण करते हुए ही होता है। लोक मे सुख और दु ख दोनो की सत्ता पाई जाती है। ऐसी दशा मे यदि काव्य मे केवल सुख का ही निबन्धन किया जायेगा तो लोक का पूरा प्रतिनिधित्व नही हो सकेगा। आशय यह है कि कवि को समग्र जीवन का उपादान करना पडता है। यदि कवि केवल सुखमय परिस्थितियो का ही चित्रण करे और सुख की धारा मे ही परिशीलको को बहाने की चेष्टा करे तो लोकवृत्त के साथ न्याय नही हो सकेगा। दूसरी बात यह है कि अनुकार्य (जिसका अभिनय किया जाय अर्थात् वास्तविक राम) के अन्दर तो करुण इत्यादि ही हैं, उनके रुदन इत्यादि का ही तो अनुकरण किया जाता है। यदि अनुकरण करने मे वे दु खात्मक के स्थान पर सुखात्मक बन जायें तो अनुकरण सर्वथा असफल कहा जायेगा क्योकि उसका प्रतिभास वैपरीत्य के साथ होगा। प्राय देखा जाता है कि जो लोग वियोग दु ख से पीडित होते हैं यदि उनके सामने दु ख की बात की जाय तो उन्हे सुख का ही अनुभव होता है। किन्तु दु खी व्यक्ति के सामने दु ख का वर्णन या अभिनय से जो सुखास्वाद होता है वह परमार्थत दु खास्वाद ही है। कारण यह है कि वही व्यक्ति सुख की बात से दु खी हो जाता है। आशय यह है कि यदि दु खी व्यक्ति के सामने दु ख के अभिनय से उसके सुखास्वाद का आश्रय लेकर यदि करुण दृश्यो मे भी सुखात्मक आस्वाद की कल्पना की जा सकती है तो उसी के सामने सुखात्मक-अभिनय मे दु खास्वाद की कल्पना भी की जा सकती है। करुण इत्यादि रस तो दु खात्मक ही हैं फिर भी सहृदयो की उनकी ओर प्रवृत्ति और उनसे आनन्द लाभ का रहस्य यह है कि सहृदय को आस्वाद तो दु खात्मक ही होता है। किन्तु जब उस आस्वाद का विराम हो जाता है तब उसका ध्यान नट के अभिनय कौशल पर जाता है जिसके द्वारा कि वह वस्तु को अपने यथावस्थित रूप मे दिखलाने मे समर्थ होता है। कवि और नट की शक्ति से जो चमत्कार उत्पन्न होता है वह समस्त अग को आह्लाद देने वाला हो जाता है। इसी आह्लाद से धोके में पडकर बुद्धिमान् (?) विवेचक दु खात्मक करुण इत्यादि रसो में भी परमानन्दरूपता का प्रतिपादन करते हैं।

करुण रस मे दु खात्मकता का प्रतिपादन करने वाले रामचन्द्र गुणचन्द्र एकाकी नही है। 'रस-कलिका' मे रुद्र भट्ट ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि रस क्योकि सुखदु खात्मक होता है और उसमे दोनो लक्षण पाये जाते हैं यही कारण है कि करुण इत्यादि रस भी उपादेय हो जाते है। यही एक प्रमाण रस की उभयजनकता का है। इस प्रकार के रस की भी उपादेयता अन्वय-व्यतिरेक से अधिगत होती है। बात यह है कि या तो नट चेष्टा या काव्य श्रवण इन मे दोनो मे से किसी एक माध्यम से सामाजिक लोग नायकाश्रित रस का ही साक्षात् भावन करते हैं।

जब उनका भावन किया जाता है तब परिशीलक के अन्दर वैसा ही अनुभव जागृत होता है जैसा कि भावक का अनुभव हुआ करता है। नायक को दोनों प्रकार का अनुभव होता है सुखात्मक भी और दुःखात्मक भी। अतः रस उभयविध माना जाना चाहिये। प्रश्न यह है कि फिर दुःख में सामाजिकों की प्रवृत्ति क्यों होती है? इसका उत्तर यह है कि नट परगत रस को जो भली भाँति भावन करता है। यही एक ऐसी विशेषता है जो निरतिशय आनन्द की जनक होती है। इसी आश्चर्यजनक तथा आनन्ददायक अनुकरण का आस्वाद लेने के लिये सहृदय प्रवृत्त हुआ करते हैं। आशय यह है कि सहृदयों की प्रवृत्ति शोकाभिनय में आनन्द लाभ के लिये नहीं होती अपितु नटों का कौशल देखने के लिये होती है और उसी में उन्हें आनन्द आया करता है। यह है 'रसकलिका' कार रुद्रभट्ट का मत।

आचार्य शुक्ल ने भी करुण रस के आस्वादन में दुःखानुभूति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उन्होंने रसमीमांसा में लिखा है कि "यदि श्रोता के हृदय में भी प्रदर्शितभाव का उदय न हुआ—इस भाव की स्वानुभूति से भिन्न प्रकार का आनन्द रूप अनुभव हुआ तो साधारणीकरण कैसा? क्रोध शोक जुगुप्सा आदि के वर्णन यदि श्रोता के हृदय में आनन्द का सञ्चार करें तो या तो श्रोता सहृदय नहीं या कवि ने बिना इन भावों का अनुभव किये उनका रूप प्रदर्शित किया है।

करुण रस के आस्वाद में आनन्दात्मकता का सिद्धान्त

ऊपर उन विद्वानों की सम्मति उद्धृत की गई है जो करुण रस के आस्वाद को दुःखात्मक मानते हैं। इसके प्रतिकूल ऐसे विचारकों की संख्या कहीं अधिक है जो रस को एक मात्र आनन्दचिन्मय मानते हैं तथा करुण इत्यादि रसों के आस्वादन को भी सुखात्मक ही स्वीकार करते हैं। भरत ने लिखा था कि संस्कार किये हुये व्यञ्जन को खाने वाले और रसों का आस्वादन करने वाले हर्ष इत्यादि को प्राप्त करते हैं। 'रस इत्यादि' शब्द का दोनों पक्ष अपने-अपने अनुकूल अर्थ लगाते हैं। दुःखवादी आचार्य 'हर्ष आदि' का अर्थ 'शोक आदि' करते हैं और आनन्दवादी आचार्य 'आदि' का अर्थ वैवश्य इत्यादि करते हैं। भरत के दृष्टान्त की पर्यालोचना करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भरत रस को आनन्दात्मक ही मानते हैं। उन्होंने भोज्य पदार्थ का उदाहरण दिया है। भोज्य रस चाहे मधुर हो चाहे कटु या तिक्त भोक्ता को सन्तोष और हर्ष ही प्रदान करता है। भट्टनायक ने स्पष्ट घोषणा की है कि रस को स्वगत मानने पर करुण में दुःखरूपता आ जायेगी। इसका आशय यह है कि भट्टनायक रस को केवल आनन्द रूप मानते हैं। रस शास्त्र के सर्व प्रमुख आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है कि हमारे मत में तो आनन्दघन संवेदना का ही आस्वाद लिया जाता है फिर उसमें दुःख की शंका हो ही कैसे सकती है? अभिनव का ही मत परवर्ती आचार्यों ने भी अपनाया है। मम्मट ने काव्य सृष्टि के लिये 'ह्लादैकमयी' विशेषण दिया है तथा काव्य का सबसे बड़ा प्रयोजन बतलाया है 'रसास्वादनसमुद्भूत विगलितवेद्यान्तर

मानन्दम्' अर्थात् काव्य ऐसे रसास्वादनजन्य आनन्द का आधान करता है जिसमे जानने योग्य समस्त पदार्थों का तिरोधान हो जाता है। विश्वनाथ ने भी करुण रस की आस्वादरूपता का प्रतिपादन करते हुये लिखा है —

करुणादावपि रसे जायते यत्पर सुखम् ।
सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम् ।।
किञ्च तेषु यदा दु ख न कोऽपिस्यात्तदुन्मुख ।
तथा रामायणादीनाभविता दु खहेतुता ।।

अर्थात् करुण इत्यादि रसो मे भी जो परम सुख उपलब्ध होता है उसमे केवल सहृदयो के हृदय ही प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त यदि उनमे दु ख माना जाय तो कोई व्यक्ति उनकी ओर उन्मुख भी न हो और रामायण इत्यादि भी दु खरूप ही बन जावें।' पण्डितराज ने भी 'रसो वै स' 'रस-ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इन श्रुतिवाक्यो के और सहृदयहृदय के प्रमाण को लेकर सिद्ध किया है कि करुणप्रधान काव्यो मे भी आनन्द की ही उपलब्धि होती है।

हिन्दी को सस्कृत की ही काव्यशास्त्रीय परम्परा विरासत मे मिली और सस्कृत-काव्यशास्त्र मे आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ का नाम तथा इनके सिद्धान्त इतने बद्धमूल हो चुके थे कि उनके प्रतिपादन ही आप्त पदवी पर आरूढ हो गये। आधुनिक भारतीय भाषाओ के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे अधिकाश रूप मे इन्ही आचार्यों के मतो का पिष्टपेषण होता रहा। अत काव्यशास्त्र के पुनराख्याता विद्वानो ने, जिनमे केशव प्रसाद मिश्र, डा० भगवानदास, श्यामसुन्दरदास, गुलाबराय, प० रामदहिन मिश्र इत्यादि प्रमुख है। आनन्दवाद की ही पुष्टि की है। हिन्दी के विद्वानो मे भारतीय काव्यशास्त्र के अध्येताओ मे डा० नगेन्द्र का अन्यतम स्थान है। उन्होने प्राच्य और पाश्चात्य, दोनो, पद्धतियो से प्रस्तुत विषय का पूरा परिचय देकर यह प्रतिपादित किया है कि करुण रस का आस्वाद आल्हादमय ही होता है। इसी प्रकार मराठी के केलकर, वाटवे देशपाण्डे प्रभृति विद्वानो ने और बगला के अतुल चन्द्रगुप्त और रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रभृति समालोचको ने इसी आनन्द-वाद का प्रतिपादन किया है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे प्लेटो ने कला का निषेध किया है, काव्यास्वाद को आस्वादमय मानने मे उन्हे विप्रतिपत्ति नही है। अरस्तू ने प्रत्यक्ष रूप मे स्वीकार किया है कि जिन वस्तुओ का प्रत्यक्ष दर्शन हमे क्लेश देता है उन्ही का अनुकरण हमारे अन्दर आनन्द की भावना जागृत करता है। इसी प्रकार लाञ्जाइनस, विक्टर-ह्यूगो, शिलर इत्यादि विचारको ने भी आल्हादमयता ही स्वीकार की है। आशय यह है कि प्रामाणिक काव्यशास्त्रीय विद्वानों का बहुमत करुण रस के आस्वाद को आल्हादमय मानने के ही पक्ष मे है।

अन्य पक्ष

ऊपर आनन्दवादी और सुख दुःखात्मकतावादी दृष्टिकोणों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त कतिपय मध्यवर्ती पक्ष भी हैं। सुख दुःखात्मकतावादी दृष्टिकोण में कतिपय रस सुखात्मक और कतिपय दुःखात्मक माने जाते हैं। इसके अनुसार करुण रस का आस्वाद दुःखात्मक होता है। इसके अतिरिक्त एक पक्ष ऐसा भी है जो करुण रस का मिश्रित आस्वाद मानता है जिसमें सुखात्मकता और दुःखात्मकता दोनों विद्यमान रहती हैं। आचार्य वामन ने काव्यालंकार सूत्र वृत्ति में यही मत व्यक्त किया है —

> करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः ।
> यथानुभवतः सिद्धस्तथैवौजःप्रसादयोः ॥

अर्थात् करुण रस के अभिनय के अवलोकन के अवसर पर जिस प्रकार विरोधी दो भावों सुख और दुःख का सम्मिश्रण देखा जाता है उसी प्रकार ओज और प्रसाद में भी समझना चाहिये।

आचार्य अभिनव गुप्त के एक उद्धरण से भी यही सिद्ध होता है कि उन्होंने लोकस्वभाव को सुख दुःख समन्वित कहा है। उनका कहना है कि रति हास उत्साह और विस्मय सुखप्रधान हैं और क्रोध भय शोक और जुगुप्सा दुःखप्रधान। अभिनवगुप्त का मत है कि प्रत्येक स्थायी भाव में सुख और दुःख दोनों का मिश्रण रहता है। रति हास उत्साह इत्यादि में प्रधानता सुख की होती है। किन्तु इनमें स्पर्श दुःख का भी होता है। इसी प्रकार क्रोध भय और जुगुप्सा में दुःख की प्रधानता होती है किन्तु संस्पर्श सुख का भी रहता है। सबसे अधिक दुःख की भावना करुण रस में होती है। किन्तु प्रास्तन सुख का संस्पर्श उसके साथ भी सन्निहित रहता ही है। मधुसूदन सरस्वती ने भी कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं। उनका कहना है कि सत्त्वगुण में दुःख नहीं होता। क्रोध में रजोगुण की प्रधानता होती है और शोक में तमोगुण की। किन्तु क्रोध और शोक में भी क्रमशः रजोगुण और तमोगुण के साथ सत्त्व गुण भी विद्यमान रहता है जिससे उन्हें स्थायीभावत्व प्राप्त हो जाता है। किन्तु सत्त्व के आस्वादन में रज और तम के संस्पर्श से तारतम्य आ जाता है। द्रवीभाव तो सत्त्व धर्म वाला होता है। सत्त्व के बिना स्थायीभावत्व सम्भव ही नहीं है। अतः सत्त्व गुण तो सभी स्थायीभावों में सन्निविष्ट रहता ही है अतएव सभी भाव सुखमय ही होते हैं। किन्तु रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण से उनमें तारतम्य हो जाता है। अतएव सभी रसों में समान सुख का अनुभव नहीं होता है। इस प्रकार इन आचार्यों के मत में सभी भावों को और साथ ही शोक को भी उभय स्वभाव माना जाता है

किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ये आचार्य यहाँ पर रस की नहीं अपितु स्थायीभाव की बात कर रहे हैं। स्थायी भाव चाहे केवल सुखमय हो केवल दुःखमय हो या उभयस्वभाव वाला हो इस पर न तो किसी को आपत्ति हो सकती है

और न अनुपपत्ति। प्रश्न यह है कि स्थायीभावो से निष्पन्न रस सुखमय होता है या सुख दु खमय। निस्सन्देह इस विषय मे अभिनव गुप्त इत्यादि आचार्यों की यही सम्मति है कि रस स्थायीभाव से विलक्षण होता है। अत स्थायीभाव के सुखदु खमय मानने पर भी रस की आनन्दात्मकता मे कोई अनुपपत्ति नही रह जाती।

एक अन्य पक्ष यह भी प्रस्तुत किया गया है कि कला का उद्देश्य मनोरजन या आह्लाद और शिक्षा नही है। वह एक सरल अनुभूति नही है अपितु उसमे अनेक, प्राय परस्परविरोधी वृत्तियो का सतुलन रहता है। डॉ० आई० ए० रिचर्ड्स के अनुसार "कला के भव्यतर रूपो से प्रेरित अनुभव इतने परिपूर्ण, इतने विविध और इतने अखण्ड होते हैं—उनमे परस्पर विरोधी अन्त वृत्तियो—करुणा और त्रास सुख और निराशा आदि का इतना सूक्ष्म सन्तुलन रहता है कि किसी एक सामान्य प्रचलित शब्द द्वारा उनका सरलता से बोध नही हो सकता" (रस-सिद्धान्त, डॉ० नरेन्द्र) यह पक्ष भी प्राक्तनपक्ष से भिन्न नही है। क्योकि जितने भी भाव हैं सभी का समाहार सुख और दु ख मे किया जा सकता है। कोई भी भाव या तो सुखात्मक होगा या दु खात्मक। उनके सम्मिश्रण का भी आशय उभयात्मकता ही है। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि अनेक आचार्य विभिन्न भावो मे सुख और दु ख दोनो तत्त्वो का अवलोकन करते हैं। केवल निर्वेद ही ऐसा भाव है जिसमे एकमात्र सुखात्मकता होती है। अन्यथा सभी भावो मे सुखदु खात्मकता बनी ही रहती हैं। किसी एक आस्वाद मे अनेक विरोधी अविरोधी भावो के मिश्रण का जहाँ तक प्रश्न है यह सिद्धान्त भारतीय रस-शास्त्र की मान्यताओ से भी अधिक व्यवहित नही है। क्योकि रस-शास्त्र मे भी यही माना गया है कि अनेक व्यभिचारी भाव जब किसी एक स्थायी भाव का पोषण करते हैं तभी वह स्थायीभाव रस रूप मे परिणत होता है। आशय यह है किसी एक स्थायी भाव मे अनेक भावो का सरल जटिल सघात सन्निहित होकर उसे आस्वाद-गोचर बनाया करता है। यह सिद्धान्त भी लगभग वैसा ही है जैसा कि स्थायी भावो को सुख-दु खात्मकता की मिश्र प्रतिक्रिया मानने वालो का है। अतएव इसके उत्तर मे भी वही कहा जा सकता है कि यहाँ प्रश्न उपादेय भावो का उसके पोषक सञ्चारियो की सुखदु खात्मकता का नही है। मुनि ने त्रैलोक्यानुकृति को नाट्य बतलाया है और त्रैलोक्यानुकृति सुखदु खात्मकता से व्यतिरिक्त हो ही नही सकती। अत इसमे तो किसी को अनुपपत्ति हो ही नही सकती कि लोक से जिस वस्तु या भाव को रस-निष्पत्ति के निमित्त उपात्त किया जाता है वह सुखदु खात्मक तथा अनेक विरोधी वृत्तियो का समवाय हुआ करता है। किन्तु रस उन सबसे भिन्न है और उन सबकी परिणति है। अत यहाँ पर प्रश्न यह है कि समस्त समूह की परिणति सुखात्मक या आनन्दात्मक होती है या उभयात्मक ? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत पक्ष मे नही मिल पाता। अत यह पक्ष भी निस्सार ही है।

एक पक्ष है आचार्य शुक्ल का। इन्होने रसास्वादन को सुख और दु ख दोनो से

ऊपर की अवस्था माना है। इनका कहना है कि जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। तात्पर्य यह है कि आचार्य शुक्ल के अनुसार रसदशा में अपनी पृथक सत्ता और भावना का सर्वथा परिहार हो जाता है। वैसे तो लौकिक विषयों के ग्रहण करने में हम उन विषयों का अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध कर लेते हैं और उस समय हमारे हृदय अपने योग-क्षेम की वासना से वासित रहते हैं। किन्तु जब हम काव्य का परिशीलन करते हैं तब उनसे हमारा व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं होता बल्कि उन्हें हम निर्विक्षेप शुद्ध और मुक्त स्वभाव से ग्रहण करते हैं। इसी को निस्संगता (डिटैचमेंट) कहते हैं और इसी को हम ब्रह्मानन्द सहोदर इत्यादि चाहे जो संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। शुक्ल जी ने यहाँ चित्त की अभावात्मक स्थिति की कल्पना कर विषाद का समाधान किया है। जब हमारी अन्तः वृत्तियाँ शान्त और समन्वित होकर प्रकृतिस्थ हो जाती हैं तब उनमें निस्सन्देह वैशद्य आ जाता है। यह वैशद्य आनन्द से अधिक व्यवहित नहीं है। वृत्तियों का शमन और चित्त की मुक्तावस्था स्वयं में आनन्द प्रवण होती है इसमें किसे सन्देह हो सकता है। लौकिक रागद्वेष हमारे मानसपटल को निरन्तर आन्दोलित करते रहते हैं। यदि इनसे छुटकारा मिल जाय तो स्वभावतः हमारे अन्दर परितोष और आनन्द उत्पन्न हो जाते हैं। एक उदाहरण लीजिये। जब हमें भूख लगी होती है तब एक अभाव का अनुभव होता है; चित्त में एक व्याकुलता एक लालसा घर किये रहती है। यह एक अवस्था है। दूसरी वह है जब एक व्यक्ति सुस्वादु मधुर भोजन का आनन्द ले रहा है। वह जिस अन्न का आस्वादन कर रहा है वह मधुर भी हो सकता है नमकीन भी खट्टा भी और चरपरा भी। किन्तु प्रत्येक प्रकार के भोजन से उसे आनन्दानुभूति ही होती है। एक तीसरी अवस्था और है जब व्यक्ति तृप्ति भर भोजन कर चुका है और विश्राम के दशा का आनन्द ले रहा है। उस समय भी उसके अन्दर तृप्तिजन्य आनन्द विद्यमान है और जब कोई उससे कुछ और खाने का आग्रह करता है तो वह यही उत्तर देता है कि अब तो मैं बहुत आनन्द में हूँ अब मुझे अमृत भी नहीं चाहिए। आशय यह है कि आस्वादजन्य आनन्द तो होता ही है, तृप्तिजन्य आनन्द भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। अतएव आचार्य शुक्ल के अनुसार यदि हम यह मानें कि चित्त की मुक्तावस्था ही रसदशा है तो भी हमें इससे आपत्ति नहीं होगी वह रसदशा वस्तुतः आनन्दमय है और आनन्द में ही उसका पर्यवसान होता है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल भी आनन्दवादी ही ठहरते हैं।

दो प्रमुख पक्ष और दोनों में अनुपपत्तियाँ

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया कि रसास्वादन के सम्बन्ध में दो ही प्रमुख पक्ष शेष रह जाते हैं एक पक्ष के अनुसार रस उभयात्मक है अर्थात् कुछ रस सुखात्मक हैं और कुछ दुःखात्मक तथा दूसरे पक्ष के अनुसार रस सर्वथा आनन्दमय है ब्रह्मानन्द सहोदर है और सदा सर्वथा स्वादैकमयी है। दोनों पक्षों में एक दूसरे पर अनुपपत्तियाँ

उठाई जाती है। यदि प्रथम पक्ष के अनुसार यह माना जाय कि रस सुखात्मक भी है और दुःखात्मक भी है तो इन लोगो के पास इसका कोई समाधान नही है कि फिर दुःखात्मक काव्य के परिशीलन के लिए सहृदयगण प्रवृत्त क्यो होते है ? दुःख मे पडना कौन चाहता है ? यदि विशिष्ट काव्यास्वादन का प्रमुख प्रयोजन दुःखानुभूति ही है तो फिर करुण अभिनयो के देखने के लिए इतने लम्बे-लम्बे क्यू क्यो लगते हैं और दर्शको को उनके देखने के लिए उत्कण्ठा क्यो होती है ? निस्सन्देह दर्शको की यह भीडभाड और यह उत्कण्ठा इस बात को सिद्ध करती है कि करुण कथाओ के अभिनयो और कलाकृतियो मे भी सुख का कोई न कोई अश अवश्य होगा। अन्यथा जनसाधारण की प्रवृत्ति उस ओर हो ही नही सकती। दूसरी ओर आनन्दसाधना को ही एकमात्र लक्ष्य मानने वाले आचार्यों से यह पूछा जा सकता है कि करुण दृश्यो से सुख कैसे मिल सकता है ? इसकी तो कल्पना भी नही की जा सकती कि मृत पुत्र के वियोग मे विलाप करती हुई माता को देखकर दर्शक हर्षोत्फुल हो जावें। यही दो प्रमुख आपत्तियाँ हैं जिनका उत्तर दोनो पक्षो को देना है।

दुःखवादियो द्वारा समाधान की चेष्टा और उसकी समीक्षा

यदि रस सुखदुःखात्मक है तो उसमे परिशीलको की प्रवृत्ति क्यो होती है इसका उत्तर देने की दुःखवादियो ने चेष्टा की है। उनका कहना है कि दुःखप्रधान अभिनयो को देखने के लिए दर्शको की प्रवृत्ति इसीलिये होती है कि उनमे कला का सौन्दर्य सन्निहित रहता है। उस कलासौन्दर्य का आनन्द लेने के लिए ही दर्शक इतनी उत्कण्ठा से उसकी ओर बढते है। दूसरे शब्दो मे यही बात इस प्रकार कही गई है कि किसी भाव का सफल अनुकरण कर लेना अपने मे स्वय एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। नट के लिए यह एक बहुत बडे श्रेय की बात है कि वह जैसे का तैसा ही अनुकरण कर लेता है। उसके इस कौशल पर दर्शक आश्चर्यचकित हो जाता है और इसी सफलता को देखने के लिये वह उस ओर प्रवृत्त होता है। किन्तु यह समाधान खरा नही उतरता। क्या वास्तव मे अभिनय देखने के बाद दर्शक नट की प्रशसा ही करता रह जाता है ? क्या वह उस भावना मे नही बहता जिसका परिशीलन करने का सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ है। यदि ऐसा है तो वह कला कभी सफल नही कही जा सकेगी। प्रसिद्ध पाश्चात्य-विचारक न्यूमैन ने कला की उच्चता का मानदण्ड यही रक्खा है कि जहाँ नट या कवि अपने को पूर्ण रूप से छिपा ले वही पर कला सफल कही जा सकती है। उदाहरण के लिये तुलसी के भरत चरित्र को पढकर हमारे अन्दर दो प्रकार की प्रतिक्रियायें उत्पन्न होती हैं—एक तो यह कि तुलसी बडे अच्छे कवि थे और दूसरी यह कि भरत का राम के प्रति प्रेम अगाध तथा अद्वितीय था। न्यूमैन के अनुसार यदि पहले प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है तो इसका आशय यही होगा कि कवि अपने विषय का पूरा प्रभाव पाठक पर डालने मे सफल नही हो सका है। इसी प्रकार यदि नट का कौशल निरन्तर हमारे ध्यान को आकृष्ट करता रहेगा और

हम यह कहते पायेंगे कि अमुक नट बहुत अच्छा अभिनय करता है तो इसका आशय यही होगा कि नट मूल पात्र के साथ तादात्म्य प्राप्त कर ही नहीं पाया और तदनुकूल अनुभूति के अभाव में वह अपने दर्शकों को भी उस भावना में नहीं बहा सका है। इससे कवि और नट की असफलता ही सिद्ध होगी। कवि या अभिनेता तभी सफल कहा जा सकेगा जब वह परिशीलकों को उसी भावना में बहा सके। दूसरी बात यह है कि अनुकरण तो स्वयं में हास्य रस का साधन हो जाता है। यदि अनुकरण की प्रतीति अनुकरण के रूप में ही होती रहे तो उससे हास्य रस ही निष्पन्न होगा क्योंकि कलाकार की बहुत बड़ी असफलता है। अनुकरण का प्रयोग तो उपहास के लिये ही होता है। एक बात और है कि जब हम करुण दृश्यों को देखकर निकलते हैं तो नट की प्रशंसा नहीं करते जाते हैं अपितु बार बार उसी धारा में बहते जाते हैं जिसमें हम अभिनय काल में बह रहे थे और उसको याद कर हम हर्षोत्फुल्ल होते जाते हैं तथा इस बात को अपना सौभाग्य समझते हैं कि इतना उच्चकोटि का अभिनय हमने देख लिया। यह सब क्या है ? क्या इससे यही सिद्ध नहीं होता कि हम नट के कलाकौशल से प्रभावित नहीं होते अपितु काव्य में करुण प्रसंगों को भी आनन्दरूपता में परिणत कर देने वाली एक शक्ति सन्निहित रहती है जो हमें करुण प्रसंगों को देखने के लिए निरन्तर प्रोत्साहित करती रहती है।

करुण प्रसंगों में सुख की सत्ता पर विचार

किन्तु करुण प्रसंगों में सुख की सत्ता तब तक स्वीकार्य नहीं हो सकती जब तक उसका समाधान आनन्दवादियों की ओर से न दे दिया जाय। प्रश्न यह है कि इस बात पर विश्वास कैसे जम सकता है कि करुण प्रसंगों को देखकर पाठक या दर्शक आनन्द की धारा में बहने लगता है ? इसका उत्तर अपने-अपने ढंग से आनन्दवादियों ने दिया है। प्रमुख समाधानों का संक्षिप्त परिचय और उन पर विचार अग्रिम पंक्तियों में दिया जा रहा है —

(१) सर्वप्रथम अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त सामने आता है। अरस्तू एक चिकित्सक परिवार का सदस्य था और उसी प्रवृत्ति के आधार पर उसने करुण रस के आस्वाद की भी व्याख्या की। उसका कहना है कि जिस प्रकार उदरस्थ मल एक खिन्नता एवं अवसाद उत्पन्न करते रहते हैं। जब कोई भिषक विरेचक औषधियों उसके मल को निकाल देता है तब उसे स्वस्थता और प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है तथा उसका अवसाद जाता रहता है। उसी प्रकार हमारे बुद्धि के अवचेतन भाग में कुछ दरावने तत्व सर्वदा सन्निहित रहते हैं और वे हमारे अन्तःकरणों को प्रसन्नता का अनुभव नहीं करने देते। जब हम करुण दृश्यों को देखते हैं और हमारे आँसुओं के रूप में समाविष्ट बह जाते हैं तथा उत्तेजक तत्वों का परिशमन हो जाता है तब हमारे अन्तःकरणों को एक प्रकार की मोक्ष से एक प्रकार की आनन्दानुभूति की प्राप्ति हो जाती है

[illegible] किन्तु इसमें समस्या

का ठीक रूप मे समाधान नही होता। इसका तो आशय यह हुआ कि विरेचन इत्यादि ओषधियो से उन्ही को लाभ होता है जो अस्वस्थ हो, स्वस्थ अवस्था मे विरेचन न तो हितकर ही होते हैं और न उपादेय ही। ऐसी दशा मे करुण दृश्य उनके लिये तो उपयोगी हो सकते हैं जिनके मन अस्वस्थ हो किंतु उनके लिये वे उपयोगी नही हो सकते जिनके मन स्वत स्वस्थ हैं तथा जिनको मनोमलो को निकालने की आवश्यकता नही है। यदि ऐसा माना जाय तो करुण दृश्यो को देखने वाले वे ही व्यक्ति होगे जो भौतिक परेशानियो मे पीडित हो। किंतु ऐसा होता नही है। इसके प्रतिकूल अधिक अस्वस्थ तथा उन्माद रोग से पीडित और निराश व्यक्तियो को कभी-कभी चिकित्सक करुण दृश्य देखने से मना भी कर देता है। दूसरी वात यह है कि विरेचनीय द्रव्यो से मल-शोध हो जाने के वाद ही प्रसन्नता की अनुभूति होती है, मलशोधन के अवसर पर नही। ऐसी दशा मे करुण दृश्यो के देखने के अवसर पर आनन्द की अनुभूति नही होनी चाहिये किंतु अभिनय देखने के वाद ही उसे आनन्द की प्राप्ति होनी चाहिये। किन्तु ऐसा होता नही है। अतएव अरस्तू का विरेचनसिद्धान्त करुण की आस्वादनीयता की व्याख्या मे अकिञ्चत्कर है और उससे ठीक समाधान नहीं होता।

(२) दूसरा है काव्यसौन्दर्य का सिद्धान्त। पहले वतलाया जा चुका है कि रामचन्द्र गुप्त चन्द्र के समर्थक दु खानुभूति का समर्थन करते हुये भी दर्शको की प्रवृत्ति का कारण नट के अभिनयकौशल को मानते थे। इसी से मिलता जुलता कतिपय पाश्चात्य विद्वानो का यह भी सिद्धान्त है कि करुण दृश्यो मे काव्य सौन्दर्य तथा कला सौन्दर्य का अतिरेक करुण दृश्यो को आनन्दमय वना देता है। कल्पना-वैभव, लय ताल इत्यादि का अनुसरण, गीत नृत्य वाद्य इत्यादि का अभिनिवेश करुण दृश्यो को आच्छादित कर लेता है और पाठक तथा दर्शक उक्त कलासौन्दर्य से ऐसे अभिभूत हो जाते हैं कि करुण प्रसग उनकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। किन्तु यह मान्यता स्वय वाधित हेत्वाभास मे आती है। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कि करुण दृश्यो का अवलोकन करने वाला परिशीलक करुण प्रसगो से ही प्रभवित होता है। यदि वह लय ताल इत्यादि के अनुसरण से प्रभावान्वित हो तो वह उसी की प्रशसा करे। इसके प्रतिकूल करुण प्रसगों का उसके मानस पर ऐसा गहरा प्रभाव पडता है कि उसका मन निरन्तर उसी मे आन्दोलित होता रहता है और वह उस नाटक मे आये हुए लय ताल इत्यादि को भूल भी जाता है। यदि पाठक या दर्शक का मन लय ताल इत्यादि की ओर चला जाये तो सफल रसास्वादन नही कहा जा सकेगा।

(३) श्लैगल का मत है कि हम दूसरो की दु खदशा को देख कर परमात्म सत्ता के निकट पहुच जाते हैं तथा हमे ज्ञात हो जाता है कि विश्व को परिचालित करने वाली सत्ता कोई और है। किन्तु यह मत भी ठीक नही है। यदि दूसरो की करुण दशा को देखकर हमे परात्मसत्ता की नियामकता का ध्यान आ जावे तो हम उस दु ख को परमात्मा का दिया हुआ जानकर विरक्त हो जायेंगे। हमे उसमे आनन्दानुभूति किस प्रकार हो सकेगी ? अतएव यह सिद्धान्त भी सत्य से वहुत दूर है।

(४) शापेनहावर दुःखवादी है। उनकी दृष्टि मे सारा विश्व दुःखमय है। अतएव जब हमारे सामने करुण दृश्य आते हैं तब हमें विशेष रूप से सत्य की अनुभूति होने लगती है। इस सत्य की अनुभूति में ही एक प्रकार का आनन्द छिपा हुआ है। यह सत्य है कि करुण दृश्यों को देखकर हमारे अन्दर संसार की असारता की भावना जाग्रत होती है। हमे यह मालूम पड़ने लगता है कि यह संसार ऐसा ही असार है इसमे दुःख के अतिरिक्त और कुछ नही है किन्तु इस भावना के उदय होने से भी हमे करुण प्रसंगो में आनन्दानुभूति क्यों होती है। इसका उत्तर इस सिद्धान्त में नही दिया गया है। वस्तुत काव्य का लक्ष्य ही परिशीलक की उदारता का इतना अधिक विस्तार है कि उसमें सारा विश्व समेटा जा सके। यदि इस लक्ष्य की प्राप्ति हो जाय तो कवि को आप्तकाम ही समझना चाहिये किन्तु यह करुण दृश्यों की आनन्दसाधना की कोई व्याख्या नही है।

(५) कतिपय विचारकों ने करुण दृश्यों म आनन्दानुभूति की व्याख्या मनोवैज्ञानिक आधार पर की है। इन लोगो ने इसके कई हेतु दिये है—(अ) करुण दृश्यों को देखकर हमारे अन्दर यह विचार जाग्रत होता है कि दुःख केवल हमारे ऊपर ही नही आता विश्व म दूसरे लोग भी दुःखी है। यह समझ कर हमे एक प्रकार का असन्तोष होता है। करुण दृश्यो मे आनन्दानुभूति का यही रहस्य है कि हम असन्तोष जन्य आनन्दानुभूति का आस्वादन करते है। किंतु यह विचार भी समीचीन नही। यह बात अनुभव विरुद्ध है कि करुण दृश्यों के देखने के अवसर पर हम अनुकार्य की दशा की तुलना अपनी दशा से करते हैं और इस प्रकार सन्तोषजन्य आनन्दानुभूति करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि कलापरिशीलन के अवसर पर पाठक या दर्शक अपनी परिमित प्रमाता सत्ता को ही भूल जाता है तथा उसे अपनी परिस्थितियों का ध्यान भी नही रहता। वह उस समय आनन्द रूप म परिणत हो जाता है। ऐसी दशा में परिशीलक का अपनी करुण दशा से तुलना करना किसी प्रकार तर्कसंगत नही कहा जा सकता। (आ) दूसरा मनोवैज्ञानिक तर्क यह है कि दूसरे के दुःख को देखकर हमारी आसुर वृत्तिया शान्त होती है। मानव वर्ग मे अधिकांशत यह प्रवृत्ति होती है कि वह स्वय तो सुखी दूसरो को दुःखी देखना चाहता है। जब मानव किसी की उन्नति या आनन्दमयी परिस्थिति का अवलोकन करता है तब उसका हृदय ईर्ष्या से जल उठता है और जब वह दूसरो को दुःखी देखता है तब उसमे उसे आनन्द आता है। यही उसकी आसुरी वृत्ति है। करुण अभिनय के अवसर पर उसे दूसरों को दुःखी देख कर आनन्द का अनुभव होता है। परन्तु यह व्याख्या ठीक नही। कला का लक्ष्य परिशीलकों को मानवता के उच्च धरातल पर ले जाना है या उनकी आसुरी वृत्तियो का परितोष करना ? कला के क्षेत्र मे हमारी आसुरी वृत्तियाँ तृप्त नही होती इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि हम दूसरे का सुखी देखकर भी सुखी ही होते है। दूसरी बात यह है कि आसुर वृत्ति की परितृप्ति की बात अनुभवविरुद्ध भी है। राम की गीता

के लिये वन मे विलाप करते और इधर उधर घूमते हुए देखकर यह तो हम स्वप्न मे भी कल्पना नही कर सकते कि चलो अच्छा है राम अपनी प्रियतमा के लिये दर-दर भटक रहे है। मेरी प्रियतमा तो मेरे साथ है मुझे ऐसा कोई दुःख नही है। न हम यही समझ सकते हैं कि चलो दशरथ मर गये अच्छा हुआ, हम तो जीवित हैं। आशय यह है कि आसुरी वृत्ति की परितृप्ति के आधार पर समाधान भी ठीक नही है। (इ) दूसरे के दुःख से दया ममता इत्यादि भावो की उत्पत्ति होती है और हम मानवता के उच्च धरातल पर पहुच जाते हैं। यह सत्य है कि लोक मे दूसरो को दुःखी देखकर हमारे अन्दर दया की भावना जागृत होती है यह भी सही है कि दूसरो के दुःख मे हमे उससे ममता हो जाती है। परन्तु लोक मे दया और ममता की भावना से हमें हर्ष की उपलब्धि तो होती नही, फिर कला के क्षेत्र मे ही हमे इस प्रकार के आनन्द की उपलब्धि क्यो होती है ? जिस प्रकार हम लोक मे दूसरे के दुःख मे दुःखी हो जाते हैं उसी प्रकार कला के क्षेत्र मे क्यो नही होते ? जिस प्रकार हम लोक मे ऐसी परिस्थिति मे पडने से बचना चाहते हैं उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र मे भी हम ऐसी परिस्थिति से बचना क्यो नही चाहते ? हम ऐसी परिस्थिति देखने के लिये आतुर क्यो होते हैं और उसको देखकर हर्ष और आनन्द का अनुभव क्यो करते हैं ? इन सब प्रश्नो का इन सिद्धान्तो मे कोई उत्तर नही दिया गया है। अत ये व्याख्याये भी करुण दृश्यो मे आनन्दानुभव के सिद्धान्त की व्याख्या करने मे अकिञ्चिकर है।

(६) भारतीय मनीषियो ने रस की अलौकिकता का प्रतिपादन कर इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। आचार्य मम्मट ने कला-सृष्टि को केवल आनन्दमयी बतलाया है। विश्वनाथ ने स्पष्ट कहा है कि 'हर्ष शोक इत्यादि लौकिक परिस्थितियो से लौकिक हर्ष शोकादि की उत्पत्ति होती रहती हैं। किंतु काव्य के सश्रय से विभाव इत्यादि अलौकिकता को धारण कर लेते हैं। अत इन अलौकिक विभाव इत्यादि से सभी परिस्थितियो मे यदि केवल सुख ही उत्पन्न हो तो उसमे आश्चर्य की क्या बात है और उसमे हानि ही किस बात की है ? यह तो स्पष्ट ही है कि रस-सिद्धान्त के प्रवर्तको ने अलौकिकता सिद्ध करने के मन्तव्य से ही कारण कार्य और सहकारी कारणो को क्रमश विभाव अनुभाव और सचारीभाव कहा। किंतु यह अलौकिकता का सिद्धान्त आज के बुद्धिवादी युग मे अधिक माननीय नही हो सकता। दूसरे शब्दो मे इस सिद्धान्त का आशय यही है कि विचारको के पास करुण रस की आल्हादात्मकता के लिये कोई तर्क नही है। वे केवल अन्धविश्वास के आधार पर ही इसे स्वीकार करते हैं, अर्थात् यह समस्या का समाधान नही, समस्या से पलायन है।

(७) भट्ट नायक ने इस समस्या का समाधान दूसरे रूप मे प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि लौकिक सुख दुःख और कलाक्षेत्र के सुख दुःख मे एक मौलिक अन्तर है। लोक मे जो सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं वे देशकाल की सीमा से आबद्ध हुआ करते है। लोक मे राम का सीतावियोग एक काल विशेष की तथा एक देश विशेष की घटना है। वहाँ राम

दुःख के प्रत्यक्ष विषयी हैं। शोक की भावनायें व्यक्तिगत परिस्थितियों से आबद्ध होती हैं। यदि हमारे किसी मित्र पर कोई विपत्ति आती है और हम उसे दुःख में देखते हैं तो उसे चुपचाप देखते रहना और आँसू बहाते रहना हमारा कर्तव्य नहीं होता। वहाँ हमें पूरी शक्ति से मित्र की सहायता में प्रवृत्त हो जाना पड़ता है। इसके प्रतिकूल यदि हम शत्रु को आपत्ति में देखते हैं तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि ऐसी परिस्थितियों के निर्माण में सहायता दें जिससे हमारा शत्रु आपत्ति के घेरे से बाहर न आ सके। यदि हम तटस्थ को आपद्ग्रस्त देखते हैं तो मानवता का जितना तकाजा है और स्वार्थ रक्षा करते हुए जितनी सहायता हम उसे प्रदान कर सकते हैं उतनी सहायता करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। किन्तु कला के क्षेत्र में ऐसी बात नहीं होती। कलागत पात्रों के सुख-दुःख को हम न तो अपना सुख-दुःख समझ सकते हैं न पराये का और न तटस्थ का साथ ही हमें ज्ञात होता है कि यह सुख दुःख हमारा भी है शत्रु का भी है और तटस्थ का भी है। इस प्रकार इस शोकभावना का पूर्ण रूप से साधारणीकरण हो जाता है। हम भूमा में पहुँच जाते हैं जहाँ आनन्द ही आनन्द है। करुण रस में हम इसी समाजीकृत तथा साधारणीकृत भाव का आनन्द लेते हैं। स्पष्ट ही है कि जब हमें इस प्रकार की अनुभूति होने लगती है कि जो विपरीत परिस्थितियाँ हमारे सामने चित्रित की जा रही हैं उनका प्रभाव हमारे ऊपर कुछ नहीं है और न हमारा प्रिय व्यक्ति ही कोई इससे प्रभावित हो रहा है साथ ही सारा समाज हमारे साथ भावनाओं का आस्वादन कर रहा है तब इस सहयोग की भावना और भूमा से हमारे अन्दर आनन्द की भावना का उदय हो जाना स्वाभाविक ही है। यही भट्टनायक के मत का सार है।

(८) अभिनवगुप्त ने इसका दार्शनिक हेतु दिया है। उनका कहना है रस परब्रह्म का स्वरूप है। पर ब्रह्म का मुख्य तथा व्यावर्तक गुण है आनन्द। यह ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और हम सब उस ब्रह्म के ही रूप हैं। इस ब्रह्म को आवृत करने वाली माया है। इस माया के दो गुण होते हैं— आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति से ब्रह्म रूपता तथा आनन्दबोध का तिरोधान हो जाता है और विक्षेप शक्ति से उसमें सीमित होने की भावना उत्पन्न हो जाती है तथा हम समस्त विश्व को अपने से पृथक तथा अपने को समस्त विश्व से पृथक देखने लगते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि ब्रह्मसत्ता के कारण सारा विश्व हमारा रूप है और हमारे अन्दर सारा विश्व समाया हुआ है। किन्तु माया का एक ऐसा आवरण है जो विश्व सत्ता में हमें लीन नहीं होने देता और हम स्वार्थवशता के संकुचित घेरे में आबद्ध रहते हैं। यदि वह आवरण भंग हो जाय तो हम अपनी चेतना सारे विश्व में समाहित कर सकते हैं और वह आनन्दस्रोत हमारे अन्दर उद्भूत हो सकता है।

लोक में भी कभी-कभी हमें अपने इस स्वरूप का अधिगम होता है। हमारी आत्मा शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यानन्द-स्वरूप है किन्तु मायाजन्य प्रभाव के कारण हमें इसका ज्ञान नहीं होता। जब कभी इस प्रभाव का तिरोधान हो जाता है तब हमें उस

आनन्द का क्षणिक आभास प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के लिये हमे भूख लगती है, हम पीडित हो जाते हैं। अन्दर से एक प्रकार की कमी का अनुभव होने लगता है। उस कमी की अनुभूति के कारण हमे आत्मस्वरूप की प्राप्ति नही हो पाती। हम तृप्तिभर भोजन कर लेते है, वह अभाव दूर हो गया और हमे थोडी देर के लिये आत्मानन्द की प्राप्ति हो गई। किन्तु नई भूख जागृत हो गई। दूसरी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो की ओर दौड पडी। एक नया अभाव सामने आया और आनन्द का स्वरूप तिरोहित हो गया। आशय यह है कि आनन्द तो हमारा स्वरूपनिष्ठ गुण है। वह माया की शक्तियो से आवृत रहता है। यदि माया का आवरण भग हो जाय तो स्वरूप की प्राप्ति हो जाने से हमे आनन्दाश का अधिगम हो सकता है।

माया के इस आवरण को भग करने का एक उपाय है योगसाधना। हम यम, नियम, आसन, प्राणायाम इत्यादि योगसाधनो के द्वारा माया के आवरण को उच्छिन्न कर आत्मरूप मे लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार दूसरा उपाय है कला का परिशीलन। कला के परिशीलन के अवसर पर हम अपने और पराये के भाव से बहुत ऊपर उठ जाते हैं। साधारणीकरण के माध्यम से हम अपने हृदय को लोकहृदय मे मिला देते हैं। उस समय हमारे अन्दर इस प्रकार की उदात्त और अवदात भावनायें जागृत हो जाती हैं कि रगमच पर प्रस्तुत की जाने की परिस्थिति न हमारी है, न शत्रु की है, न तटस्थ की है तथा हमारी भी है, शत्रु की भी है और तटस्थ की भी है। मम्मट के शब्दो मे इस प्रकार का भाव, आस्वादन के अवसर पर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो आखो के सामने स्फुरित हो रहा हो, मानो हृदय मे प्रवेश कर रहा हो, मानो सारे शरीर को अमृतरस से ही सीच रहा हो। आशय यह है कि अभिनव के मत मे आनन्द एक सिद्ध तत्त्व है और हमारी सत्ता का अपना रूप है। कलापरिशीलन से वह आनन्द ही उमडकर सामने आ जाता है और हम उसका आस्वादन करने लगते हैं। सिद्ध वस्तु (आनन्द) की अभिव्यक्ति होती है, वह कोई नवीन तत्त्व उद्भूत या उत्पन्न नही होता। यही कारण है कि कला चाहे सुखात्मक हो चाहे दुःखात्मक, सभी प्रकार की कला से हमें आनन्द की ही उपलब्धि होती है।

करुण रस के आस्वादन तथा आनन्दरूपता की यही सबसे अच्छी व्याख्या है।

६

रस के उपादान

१ कार्यकारण सम्बन्ध।
२ विभाव।
३ नायिका-नायक भेद।
४ उद्दीपन विभाव।
५ अनुभाव।
६ सात्त्विकभाव।
७ भाव।

कार्य कारण सम्बन्ध

तर्कशास्त्र में कार्य की परिभाषा यह की गई है जिसमें प्रागभाव हो उसे कार्य कहते हैं। अर्थात् जिस वस्तु का पहले से अभाव रहा हो और वह बाद में सत्ता में आ जाय उसे कार्य कहते हैं। जितनी भी वस्तुयें सदा से विद्यमान नहीं होती और बाद में सत्ता में आ जाती हैं उन्हें कार्य कहते हैं। कार्य की उत्पत्ति कारणों से होती है। कारण की परिभाषा है—'जो कार्य की उत्पत्ति से पहले निश्चित रूप से विद्यमान हो और अन्यथासिद्ध भी न हो उसे कारण कहते हैं। उदाहरण के लिए घड़ा एक कार्य है उसके पहले मिट्टी चाक कुम्हार इत्यादि उपकरणों का होना निश्चित है। अन्यथा घड़ा बनाया ही नहीं जा सकता। अतएव ये सब कारण हैं। वैसे तो संसार की असंख्य वस्तुयें और व्यक्ति घड़े के निर्माण के पहले विद्यमान थीं। किन्तु उन सबको हम कारणकोटि में सन्निविष्ट नहीं कर सकते क्योंकि उनकी पूर्ववर्तिता अनिवार्य नहीं होती। कतिपय ऐसे पदार्थ भी होते हैं जिनकी पूर्ववर्तिता असंदिग्ध होती है किन्तु फिर भी कारण-संज्ञा प्राप्त नहीं होती। उदाहरण के लिये घट-निर्माण से पहले ईश्वर काल आकाश इत्यादि अनेक पदार्थ विद्यमान थे किन्तु इनको हम कारण नहीं मानते अर्थात् हम यह नहीं कहते कि घट ईश्वर का बनाया हुआ है। क्योंकि ईश्वर की कारणता तो सभी वस्तुओं के प्रति मानी जाती है। अतएव ईश्वर अन्यथासिद्ध है।

कारण तीन प्रकार के होते हैं—समवायि असमवायि और निमित्त। कार्य में जो कारण समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध से रहते हैं उन्हें समवायि कारण कहते हैं। समवाय सम्बन्ध का आशय यह है कि जब तक कार्य बना रहता है ये कारण भी

उसके साथ बने रहते हैं और कारण की समाप्ति के साथ कार्य की भी समाप्ति हो जाती है। उदाहरण के लिये वस्त्र मे सूत समवायि कारण है और घडे मे मिट्टी समवायि कारण है। समवायि कारण अथवा कार्य के साथ समवाय सम्बन्ध से स्थित होकर जो तत्त्व कार्य की उत्पत्ति करते है उन्हे असमवायि कारण कहते हैं। जैसे सूत के तन्तुओ का परस्पर सयोग असमवायि कारण है। शेष समस्त कारण निमित्त कारण हैं जैसे वस्त्र मे जुलाहा ताना-बाना इत्यादि और घट मे कुम्हार, चाक इत्यादि। समवायि कारण को ही 'उपादान' भी कहा जाता है।

रस का कार्यकारण भाव

रस नित्य होने से कार्य कोटि मे नही आता। किन्तु आस्वाद की उत्पत्ति होती है। अत काव्यप्रकाश के अनुसार रस के लिये भी 'कार्य' शब्द का प्रयोग औपचारिक रूप मे होता है। अत इस रस के भी उपादान होने चाहिये। सामान्यतया रस का एक ही उपादान है 'स्थायीभाव'। क्योकि जिस प्रकार मिट्टी से घडा बनता है या सूत से वस्त्र बनता है उसी प्रकार स्थायीभाव से रस (आस्वादन) बनता है। किन्तु स्थायीभाव एक अमूर्त पदार्थ है। अत जब तक उसे किसी व्यक्ति के अन्दर मूर्त करके नही दिखलाया जाता तब तक वह प्रतीतिगोचर ही नही हो सकता। इसीलिये आश्रय की परिकल्पना करनी पडती है और उसके अन्दर वह स्थायीभाव प्रदर्शित किया जाता है। साथ ही स्थायीभाव शब्द सापेक्षिक भी है। जैसे ही हम क्रोध की बात कहते हैं कि 'राम को क्रोध आ गया' तत्काल अपेक्षाविषयक प्रश्न उपस्थित होता है कि 'किसके प्रति क्रोध आ गया ?' इस प्रकार आश्रय के साथ आलम्बन भी आ जाता है। कवि को वस्तु का स्वरूप इस रूप मे खडा करना पडता है कि लोकप्रतीति उसे असम्भवनीय घोषित न कर दे। लोक मे प्राय देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम या क्रोध की भावना को कोई व्यक्ति सर्वदा प्रदर्शित नही करता रहता। कारण का प्रश्न भी साथ ही जुडा रहता है कि अमुक व्यक्ति के प्रति अमुक व्यक्ति को क्रोध क्यो आया। साथ ही कुछ परिस्थितियाँ ऐसी बन जाती हैं जिनसे कोई भाव स्वभावत बढता रहता है। इन परिस्थितियो को उद्दीपन कहते हैं। अमूर्त भाव कभी आस्वादगोचर नही हो सकता। अत उसको मूर्तरूप प्रदान करने के लिए उसके प्रभावो को भी दिखलाना पडता है। साथ ही कोई भी स्थायी-भाव स्वत एक इकाई नही होता। वह वासना रूप मे अनेक छोटे-छोटे भावो मे सन्निहित रहता है। अत उन छोटे-छोटे भावो का ही प्रदर्शन किया जाता है जिनसे स्थायीभाव स्वत प्रतीतिगोचर हो जाता है।

स्थायी भाव का आस्वादन एक विलक्षण कार्य है। अन्य कार्यों से इसमे अन्तर यह है कि अन्य कार्यों के कारण सर्वदा मूर्त ही होते हैं किन्तु स्थायी भाव जो कि आस्वादन (कार्य) का कारण है, सर्वदा अमूर्त ही होता है। इसीलिये मूर्त द्रव्यो की जो यह विशेषता होती है कि वे सर्वदा उत्पन्न ही हुआ करते हैं तथा अनित्य ही होते हैं।

वह स्थायीभाव में नहीं होती। स्थायी भाव नित्य पदार्थ है। अतएव उसकी उत्पत्ति और उसके विनाश की भी कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिए बतलाया जा चुका है कि स्थायीभाव की उत्पत्ति एक औपचारिक प्रयोग है। उसका प्रतीति गोचर होना ही उसकी उत्पत्ति है। इसीलिए उसके उत्पादक कारणों को 'कारण' संज्ञा न देकर विभाव कहा जाता है जिसका अर्थ है विभावित करने वाला या प्रतीतिगोचर बनाने वाला तत्व। उस स्थायीभाव को इन्द्रिय-गोचरता प्रदान करने के लिए जो स्वरूप दिया जाता है वही उसका कार्य है। किन्तु सामान्य कार्यों से विलक्षण होने के कारण उसे सामान्य 'कार्य' शब्द से अभिहित न कर अनुभाव की संज्ञा दे दी जाती है जिसका अर्थ है भाव के पीछे आने वाला ऐसा तत्व जो भाव को अनुभव के योग्य बनाता है। अलौकिकता के कारण यही स्थायी भाव के सहकारी कारणों को सहकारी कारण न कहकर सञ्चारी भाव कहते हैं। आशय यह है कि आस्वादन रूप रस में इन समस्त उपाधियों से उपस्कृत स्थायीभाव ही उपादान कहा जा सकता है। इस प्रकार विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव द्वारा प्रतीतिगोचर बनाया हुआ स्थायीभाव रस का समवायि कारण या उपादान कारण है अथवा शास्त्रीय भाषा में इसे हम रस का करण कह सकते हैं क्योंकि असाधारण कारण को ही करण कहते हैं।

उक्त संक्षिप्त परिचय के प्रकाश में लोल्लट की अभिमत द्वारा उक्त उत्पत्ति परक व्याख्या का समझ लेना भी दुष्कर न होगा। लोल्लट का आशय यही है कि विभावादि के माध्यम से जब स्थायी भाव का अभिनय किया जाता है तब स्थायीभाव की उत्पत्ति होती है। उस उत्पत्ति में 'विभाव' कारण होते हैं और अनुभाव कार्य। यहां लोल्लट ने स्पष्ट रूप में ही प्रतिपादित कर दिया है कि ये कारण और कार्य स्थायीभाव के होते हैं। रस के नहीं क्योंकि विभावादि का समस्त वर्ग रस के कारणों में ही आता है। यदि अनुभाव को रस का कार्य कहा जायगा तो इसका अर्थ यह होगा कि रस ने कारण बनकर किसी अन्य तत्व को जन्म दिया है। अतएव रस अन्तिम नहीं बन सकेगा और रस का कार्य 'अनुभाव' ही आस्वादन का लक्ष्य बन जायेगा। लोल्लट के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं —

अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिता। तेषा रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपितु भावानामेव ये अनुभावाः।

अर्थात् अनुभावों का यहाँ पर रसजन्य कहा जाना अभीष्ट नहीं है। अपितु भावों के ही जो अनुभाव होते हैं उन्हीं का कहा जाना यहाँ अभीष्ट है। इसी प्रकार सचारी भाव के विषय में भी एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि ये भाव स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं तो क्या ये स्थायीभाव के साथ रहते हैं ? किन्तु स्थायीभाव भी चित्तवृत्ति ही है और सञ्चारी भाव भी एक प्रकार की चित्तवृत्ति ही है। चित्त वृत्तियों का एक साथ रहना असम्भव है। इसीलिए यह भाव स्थायी के सहयोगी नहीं माने जाते अपितु इन भावों में स्थायी भाव वासना रूप में सन्निहित रहता है। इसी

लिये सचारियो का अभिनय करने से स्थायीभाव उनमे से स्वयं फूट पडता है। यही बात लोल्लट ने इन शब्दो मे कही है—

'व्यभिचाणिश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविन स्थायिना तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिता । दृष्टान्तेऽपि व्यजनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत् । अन्यस्योद्भतता व्याभिचारित् ।

अर्थात् व्याभिचारी भाव चित्तवृत्यात्मक होते हैं अतएव यद्यपि वे स्थायीभाव के साथ में नही रहते तथापि उस (स्थायीभाव) मे वासना रूप के (रहने के कारण ही) उनकी विवक्षा की जाती है। (रस के लिए भरत मुनि ने भोजन-रस का दृष्टात दिया है) इस दृष्टात मे भी जैसे भोजन मे कोई वस्तु उद्भूत होती है अर्थात् उसका स्वरूप दृष्टिगत होता है और किसी वस्तु की उसमे वासना मात्र होती है। उदारहण के लिए दही को कपूर इत्यादि छोक कर एक व्यजन तैयार किया जाय और उसे भात इत्यादि में मिला कर खाया जाय तो दही का रूप तो उद्भूत होगा किन्तु कपूर की उसमे केवल वासना होगी। इसी प्रकार सञ्चारी का रूप तो उद्भूत होता है किन्तु स्थायी की उसमे भावना होती है।

नट किसी भाव का अभिनय करता है । उसे विभाव इत्यादि का ज्ञान तो काव्य के बल पर हो जाता है। काव्य मे पात्रो का वर्णन होता है और उनकी वेष-भूषा इत्यादि का भी प्रकथन किया जाता है। उसी से वह भिन्न-भिन्न वेष बनाने की प्रेरणा लेता है। अभिनय या अनुभाव की उसे शिक्षा दी जाती है और सचारी भाव लज्जा इत्यादि का उसे स्वय लोकवृत्त से अनुभव होता है। वह काव्य मे बतलाये हुए विभाव (पात्र इत्यादि) का सविधानक काव्य के आदेशो के अनुसार निर्मित करता है और लोकवृत्त से अधिगत हुए लज्जा इत्यादि भावो को अपने अन्दर विद्य-मान समझकर उस प्रक्रिया से भावो का अभिनय करता है जिसकी शिक्षा उसे दी जा चुकी होती है। इस प्रकार जब विभाव, अनुभाव और सचारी भाव यह तीनो तत्त्व उपस्थित हो जाते हैं तब उनके सयोग से स्थायीभाव खुद फूट पडता है । स्थायीभाव स्वय सन्निहित नही होता। अभिनय के माध्यम से उसकी प्रतीति हो जाती है। यही कारण है कि मुनि ने रस सूत्र 'विभावानुभाव-व्यभिचारि-सयोगाद्रसनिप्पत्ति' मे स्थायी भाव का उपादान किसी अन्य विभक्ति (तृतीया) के साथ भी नही किया। यदि स्थायीभाव इसी प्रकार अभिव्यक्त हो जाने वाली वस्तु न होता तो भरतमुनि 'स्था-यिना' इस तृतीया को सूत्र मे अवश्य रखते जिससे उसका अर्थ हो जाता—'स्थायीभाव के साथ विभाव अनुभाव और सचारीभाव का सयोग होने पर रस-निप्पत्ति होती है।' किंतु क्योकि स्थायीभाव कोई पृथक् से सयुक्त होने वाली वस्तु नही हैं किंतु तीनो के सयोग से अभिव्यक्त होती है, इसीलिये मुनि ने तृतीयान्त के साथ 'स्थायीभाव' का उपादान नही किया।

इस क्षेत्र में गोस्वामी जी का प्रयास अधिक सफल हुआ। उनकी जीवनी से पता चलता है कि गोस्वामी जी को अपने स्वतन्त्र विचारों के लिए अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा था। उनके पिता ने भारतेन्दु जी से मिलने के लिए उन्हें मना कर रखा था क्योंकि उनके पिता भारतेन्दु जी को नास्तिक समझते थे। एक बार वे भारतेन्दु जी से मिलने के लिए आधी रात को घर से निकले और इसके लिए उन्हें अपने दरबान को रिश्वत भी देनी पड़ी थी। श्रद्धानन्द द्वारा लिखित कल्याण मार्ग के पथिक का भी विशेष सम्मान है। भाई परमानन्द जी की लिखी हुई 'आप बीती' एक साहसपूर्ण जीवन के घात प्रतिघातों की कहानी है। वियोगी हरि की आत्मकथा मेरा जीवन प्रवाह के नाम से प्रकाशित हो चुकी है। देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद जी की आत्मकथा सच्चे साधक की आत्मोन्नति के कण्टकाकीर्ण पथ की श्रमशील यात्रा का वर्णन है।

पत्र-साहित्य के गुण तथा विकास

पत्र वस्तुतः एक प्रकार से आत्मकथा के ही स्थानापन्न हैं। अन्तर केवल इस बात में है कि आत्म कथा में व्यक्ति का इतिहास रहता है जबकि पत्रों में आत्म कथा जैसी सम्बद्धता नहीं मिलती। पत्र-साहित्य का महत्त्व बतलाते हुए गुलाब राय जी ने लिखा है कि पत्रों के द्वारा हमको लेखक के सहज व्यक्तित्व का पता चल जाता है। उसमें हमको बने-ठने सजे-सजाये मनुष्य का चित्र नहीं वरन् एक चलते-फिरते मनुष्य का स्नेप-शाट (Snap Shot) मिल जाता है लेखक के वैयक्तिक सम्बन्ध उसके मानसिक और बाह्य संघर्ष तथा उसकी रुचि और उस पर पड़ने वाले प्रभावों का हमको पता चल जाता है। पत्रों में कभी-कभी तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक या साहित्यिक इतिहास की झलक भी मिल जाती है। आत्मकथा की भाँति कुछ पत्रों का महत्त्व उनके विषय पर निर्भर रहता है, कुछ का शैली पर जिन पत्रों के विषय और शैली दोनों ही महत्त्वपूर्ण हों वे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बन जाते हैं।

यह तो ठीक है कि पत्र-लेखक पत्र किसी एक व्यक्ति को लिखता है किन्तु फिर भी वे सर्व-साधारण के मनोरञ्जन के साधन बन सकते हैं। पत्रों में पत्र-लेखक के व्यक्तित्व की छाप साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा कहीं अधिक रहती है। पत्रों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह होती है कि पत्र-लेखक पत्रों को कभी छापकर नहीं लिखता। वह कभी यह विचार नहीं करता कि जिस व्यक्ति के लिए पत्र लिखा गया है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य भी उसे पढ़ेगा। इसीलिए पत्र-लेखन में अचेतन कला का प्रभाव रहता है किन्तु फिर भी कुछ लोग ऐसे सिद्धहस्त होते हैं कि उनके द्वारा किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न न किये जाने पर भी उनके लेखों में अतीव साहित्यिकता आ जाती है।

जो बात हम साहित्य की अन्य विधाओं में पाते हैं वही पत्रों में भी। साहित्य की विभिन्न विधाओं में लेखक अपने हृदय की उमंग को अभिव्यक्ति प्रदान करता है और इस प्रकार वह अपनी उमंग अथवा उत्साह को अपने पाठक तक सम्प्रेषित कर देता है। पत्र में भी लेखक अपने हृदय की सचाई पैदा करता है। वस्तुतः यदि वह ईमानदार है यदि उसकी लेखनी में कुछ भी शक्ति है तो वह अपनी सचाई में सफल हो जायेगा और उसके द्वारा लिखे गये पत्र साहित्य का रूप धारण कर लेंगे।

"साधारण साहित्य और पत्र-साहित्य मे केवल इस बात का अन्तर है कि साधारण साहित्य मे भाव-ग्राहक के व्यक्तित्व का ध्यान नही रखा जाता है और न उससे कोई निजी सम्बन्ध होता है। साधारण साहित्य तो परिप्रेषित कर दिया जाता है, जहा कही ग्राहक यन्त्र होगा वहाँ ग्रहण कर लिया जायगा। पत्र-लेखक को अपने भाव-ग्राहक के व्यक्तित्व और उसकी सवेदनशीलता का ध्यान रहता है, वह उसी के अनुकूल अपने पत्र को बनाता है। वहाँ एक व्यक्तित्व से टकराता है, कभी सघर्ष के लिए और कभी प्रेमपूर्ण प्रतिपादन द्वारा पारस्परिक जीवन को अधिक-से-अधिक सम्पन्न बनाने के लिए। ऐसे ही पत्र साहित्य की कोटि मे आ सकते हैं। सब साहित्यिको के सभी पत्र साहित्यिक नही होते, लेकिन कुछ कुशल साहित्यिको मे यह विशेषता होती है कि वे जो बात कहना चाहते हैं उसको वे छोटे-से-छोटे शब्दो में स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देते हैं। उनके घरेलू या व्यावहारिक पत्रो मे भी साहित्य का आनन्द आ जाता है।"

पत्रो मे असीमित लम्बाई के लिए स्थान नही होता। इनकी स्थिति निबन्ध की तरह मुक्तक-काव्य जैसी होती है। वे अपने मे पूर्ण होते है।

पत्रो के शिल्प के विषय मे बाबू गुलाबराय का मन्तव्य है कि पत्र का सबसे बडा टेकनीक यही है कि अपने पाठक पर दूर बैठे हुए भी उसके द्वारा उतना ही प्रभाव पड सके जितना कि सामने वार्तालाप करने पर पडता है। बात को थोडे शब्दो मे अधिक से अधिक स्पष्टता देना पत्र की सबसे बडी माँग है। पत्रो मे कुछ लोग तो अपना सारा व्यक्तित्व उँडेल देना चाहते हैं और कुछ उनको निर्वैयक्तिक तथा रगीनी से खाली रखना चाहते हैं। इस सम्बन्ध मे भी मध्यम मार्ग श्रेयस्कर है।

पत्र-प्रकाशन के विषय मे एक प्रश्न उठता है, और वह यह कि क्या ऐसे पत्रो को भी प्रकाशित किया जाना चाहिए जिनमे पत्र-लेखक के अथवा किसी अन्य व्यक्ति के निजी रहस्य हो? इसके उत्तर मे बाबू गुलाबराय की सम्मति ही प्रमाण है। उनका कहना है कि लेखक के अतिरिक्त जिन पत्रो में दूसरे के रहस्यो का उद्घाटन हो और जिनके कारण उनको समाज मे लज्जित होना पडे, छापना उचित नही है। लेखक के रहस्यो का उद्घाटन करने वाले पत्रो को उसके जीवन काल मे न छाप कर उसकी मृत्यु के पश्चात् छाप सकते हैं, विशेषकर जबकि लेखक के व्यक्तित्व पर प्रकाश पडता हो या उनमें साहित्यिकता हो। बहुत से पत्र गद्य-काव्य की कोटि मे आ जाते हैं। जब लेखक के वैयक्तिक भावनाओ से पूर्ण गीतो को प्रकाशित कर दिया जाता है तो ऐसे पत्रो के प्रकाशन मे भी विशेष हानि नही किन्तु उसमे दो बातो का ध्यान रखना चाहिए - पहली बात तो यह कि उन पत्रो से जिन व्यक्तियो के नाम हो उनके नाम न दिये जायें, दूसरी बात यह है कि वे पत्र कुरुचि के प्रचारक न हो। अग्रेजी कवि कीट्स (Keats) के निजी पत्रो के सम्बन्ध मे जो उसने फेनी ब्राउने (Fanny Brawne) को लिखे थे, बडा विवाद रहा। उनके सम्बन्ध मे आर्नोल्ड (Arnold) महोदय ने लिखा है कि उसमे इन्द्रियलोलुप पुरुष बोलता हुआ सुनाई पडता है और वह इन्द्रियलोलुपता बिना शिक्षा-दीक्षा की है। एक दूसरे महाशय कहते

Droping) की बात आ जाती है। इसके प्रतिपक्ष में एक तीसरे महोदय लिखते हैं कि जो कीट्स के प्रेम को नहीं समझ सकता वह उसके काव्य को नहीं समझ सकता। वास्तव में पत्रों के चुनाव में हमको पत्रों का उतना ही अंश लेना चाहिए जिससे कि व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़े कुरुचि का प्रचार न हो और दूसरों को किसी प्रकार लज्जित होना न पड़े।

हिन्दी में पत्र-साहित्य अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में प्रकाशित हुआ है। किन्तु इससे यह अर्थ न लगा लेना चाहिए कि हिन्दी वाले हृदयहीन हैं अथवा उन्हें पत्र लिखना नहीं आता। वास्तविक बात तो यह है कि हिन्दी में जितना भी पत्र-साहित्य है उसका ठीक प्रकार से संग्रह और प्रकाशन नहीं हुआ है। माखनलाल चतुर्वेदी के पास पत्रों का अच्छा संग्रह है किन्तु अपने आलस्य के कारण वे अभी तक इसे प्रकाश में नहीं ला रहे हैं। पत्र-साहित्य की दृष्टि से अंग्रेजी तथा उर्दू का साहित्य बहुत अधिक धनी है।

हिन्दी में अभी पत्र-साहित्य की पर्याप्त कमी है। एक-दो उपन्यास जैसे उग्र जी का 'चन्द हसीनों के खतूत' पत्र-शैली में लिखे गये हैं। अभी तक जो पत्र साहित्य प्रकाश में आया है उसमें महात्मा गांधी के पत्र एवं जवाहरलाल नेहरू के अपनी पुत्री को लिखे गए पत्रों के अनुवाद डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के पत्र भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा लिखित 'भिक्षु के पत्र' तथा सुमन जी के 'भाई के पत्र' आदि ही उल्लेख योग्य हैं। सुमन जी के पत्र भारत की नारी-समस्या पर अच्छा प्रकाश डालते हैं किन्तु वस्तुतः ये निबन्ध हैं उनका ऊपरी आकार पत्रों का है। श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर के 'पत्नी के पत्र' भी नारी-जीवन की समस्याओं को लेकर चले हैं। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी के पत्र भी प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु उनमें वैयक्तिकता की अपेक्षा व्यवहार की स्पष्टता का प्राधान्य है। प्रभाकर माचवे ने 'जैनेन्द्र जी के विचार' नाम से एक पुस्तक का सम्पादन किया है जिसमें जैनेन्द्र जी के कुछ साहित्यिक पत्र प्रकाशित हुए हैं।

गद्य-काव्य का स्वरूप एवं विकास

गद्य-काव्य गद्य साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा है। सामान्यतः गद्य काव्य तथा भावात्मक निबन्धों को एक मान लिया जाता है किन्तु वास्तव में इन दोनों विधाओं में पर्याप्त अन्तर है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों में ही भावनाओं की प्रधानता रहती है किन्तु भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्य-काव्य में वैयक्तिकता तथा एकतन्मयता का अंश अधिक रहता है। गद्य काव्य में एक ही भावना का प्राधान्य होने से उसका आकार निबन्ध की अपेक्षा छोटा होता है और उसमें अन्विति भी निबन्ध की अपेक्षा अधिक रहती है।

गद्य-काव्य की भाषा गद्य की होती है किन्तु भाव प्रगति काव्यों के-से। गद्य के शरीर में पद्य की-सी आत्मा बोलती हुई दिखाई देती है। भाषा का प्रवाह भी साधारण गद्य की अपेक्षा कुछ अधिक सरस और संगीतमय होता है। गद्य काव्य में रूपक और अन्योक्तियों का प्राधान्य रहता है। इसमें कहानी की भांति एक ही संवेदना रहती है किन्तु वहां वह प्रभाव शैली का अनुकरण करता है वहां अन्विति का भाव भी भावातिरेक का द्योतक होता है

यहा पर गद्य-काव्य तथा गद्य गीत में भी अन्तर समझ लेना चाहिए। गद्य गीतो में गद्य काव्य की अपेक्षा लय कुछ अधिक होती है और उसका विन्यास भी गीतों जैसा ही होता है। गद्य गीत का आकार भी अपेक्षाकृत छोटा होता है।

बाबू गुलाबराय ने गद्य-काव्य की परम्परा को वेदो से विकसित माना है। उपनिषदो मे भी कतिपय ऐसे गद्यांश मिल जाते हैं जिनमें कवित्व का सुन्दर निर्वाह हुआ है, उदाहरणार्थ, 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तोन वाह्य किञ्चन वेदनान्तर एवमेवाय पुरुष अज्ञानेनात्मना परिष्वक्तोन न वाह्य किञ्चन वेदनान्तर तद्वा अस्य एतदात्मकाम अकाय रूपम्' अर्थात् जिस प्रिया स्त्री के आलिगन मे पुरुष न वाह्य का और न अन्तर का ज्ञान रखता है उसी प्रकार यह पुरुष अज्ञान-रूप आत्मा से सपरिष्वक्त (आलिंगित) होकर न बाहर का अनुभव करता है और न भीतर का, क्योकि उसको उससे एक ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है जिसको प्राप्त कर उसे कोई और लक्ष्य प्राप्त करना नहीं रह जाता है, वह आप्तकाम हो जाता है।

हिन्दी गद्य काव्य के क्षेत्र मे विशेष ख्याति राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री तथा दिनेश नन्दिनी डालमिया ने प्राप्त की है। राय कृष्णदास की 'साधना' 'छायापथ', 'प्रवाल' आदि पुस्तको को अच्छी ख्याति प्राप्त हुई है। वियोगी हरि के गद्य काव्य 'अन्तर्नाद' तथा 'भावना' शीर्षको से प्रकाशित हुए हैं। "वियोगी जी की भावावेशमयी भाषा जहा निर्झर गति से चलती है वही राय कृष्णदास जी की भाषा शान्त, स्निग्ध और प्रवाहमय है।"

चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' के गद्य-काव्यो मे भाषा पर्याप्त स्वाभाविक और गतिशील है। वैयक्तिकता, रहस्य तथा सामयिकता का प्राधान्य है। दिनेश नन्दिनी डालमिया के गद्य गीत-सग्रहो के नाम 'शबनम' तथा 'मौलिक पाल' हैं। इनमे साधारण घरेलू रूपको द्वारा विश्व के अन्तस्तल मे निवास करने वाले अव्यक्त आलम्बन के प्रति रहस्यमयी प्रेम-भावना को अभिव्यक्ति मिली है। 'अज्ञेय' जी के 'अग्रदूत' तथा 'चिन्ता' नामक सग्रहो के भाव प्रधान तथा चिन्तन प्रधान गीतो के नारी तथा पुरुष विषयक सम्बन्धो के विवेचन मे पुरुषो के दृष्टिकोण को प्रधानता मिली है। महाराज कुमार डाक्टर रघुवीरसिंह के भी भावात्मक निबन्ध गद्य-काव्य की कोटि मे आते हैं। उन्होने इतिहास की खूँटियो पर भावो की मालाए सँजोई हैं।"

रेखाचित्र का स्वरूप एव विकास

रेखाचित्रो का स्वरूप-विश्लेषण करते हुये गुलावराय जी ने लिखा है—"रेखाचित्र भी गद्य-काव्य से मिलती-जुलती एक विधा है। इसमे वर्णन का प्राधान्य रहता है किंतु ये वर्णन प्राय' सस्मरणो से सम्वद्ध रहते हैं। इनमे सजीव पात्रो के वाहरी आपे के साथ चरित्र का भी चित्रण रहता है किंतु चरित्र-प्रधान कहानियो की अपेक्षा ये अधिक वास्तविकता पर निर्भर रहते हैं। इनके रचने मे कल्पना का अवश्य काम पडता है किंतु इनके विषय काल्पनिक नही होते हैं। ये सजी और निर्जीव दोनो ही तरह के व्यक्तियो और वस्तुओ के होते हैं। इन रेखाचित्रो मे लेखक के दृष्टिकोण को कुछ अधिक मुख्यता मिलती है। (यद्यपि वह उस वस्तु या व्यक्ति के सबध मे दूसरो का भी दृष्टिकोण व्यक्त कर देता है।) जो काम चित्रकार अपनी तूलिका से करता है

यह रेखा-चित्रकार शब्दों से करता है। वह व्यक्ति या वस्तु को दूसरों के लिए आकर्षक बना देता है।

आधुनिक युग के कई लेखकों ने रेखाचित्र लिखे हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा के कुछ रेखाचित्र 'पद्मपराग' में संकलित हैं। पं० श्रीराम शर्मा ने भी कुछ अच्छे रेखाचित्र अंकित किये हैं जो 'बोलती प्रतिमा' में संकलित हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी की 'मिट्टी की मूरतें' अत्यन्त सजीव बन पड़ी हैं। उन्होंने अधिकांशतः उपेक्षित लोगों के ही चित्र अंकित किये हैं। बुधिया, बलदेवसिंह, बैजू मामा, सुभानखाँ आदि इनके चरित्र नायक हैं। बाबू गुलाबराय ने भी 'मेरे नापितावार्य' नाम से अपने नाई का चित्र अंकित किया है। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने अधिकतर ख्यातिप्राप्त लोगों के रेखाचित्र खींचे हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त के 'पीपल', 'खंडहर', 'मिट्टी के पुतले' आदि रेखाचित्र अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। इनके रेखाचित्रों का संकलन 'रेखाचित्र और पुरानी स्मृतियाँ' तथा 'नये स्केच' में हुआ है। चतुर्वेदी जी के रेखाचित्र संस्मरणात्मक अधिक हो गये हैं।

संस्मरण का स्वरूप एवं विकास

संस्मरणों का सम्बन्ध भी रेखाचित्र की ही भाँति व्यक्ति से होता है। दोनों में अन्तर यह कि जहाँ रेखाचित्रों में वर्णन की अधिकता रहती है वहाँ संस्मरणों में विवरण की। संस्मरणों का समावेश जीवनी-साहित्य में अन्तर्गत हो जाता है। घटना प्रधान होते हैं किन्तु ये घटनाएँ सत्य होती हैं और साथ ही चरित्र की परिचायक भी। साथ ही संस्मरण तथा रेखाचित्र में यह भी अन्तर है कि जहाँ संस्मरण व्यक्ति के किसी एक पक्ष की झाँकी प्रस्तुत करते हैं वहाँ रेखाचित्र व्यक्ति के व्यापक व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं।

संस्मरण-साहित्य का जीवनी-साहित्य के अन्तर्गत परिचय दिया जा चुका है अतः यहाँ पर उसका विकास दिखाकर व्यर्थ स्थान घेरना उचित प्रतीत नहीं होता।

रिपोर्ताज का स्वरूप एवं विकास

रिपोर्ताज गद्य की एक साहित्यिक विधा है जो धीरे-धीरे पाश्चात्य प्रभाव से यहाँ प्रचार में आ रही है या जिसकी चर्चा होने लगी है। यह शब्द फ्रांसीसी भाषा से आया है। इसका सम्बन्ध अं० की शब्द रिपोर्ट से है किन्तु यह सरकारी या अखबारी रिपोर्टों से सर्वथा भिन्न है। रिपोर्ट की भाँति यह घटना या घटनाओं का वर्णन तो अवश्य होता है किन्तु इसमें लेखक के हृदय का निजी उत्साह रहता है जो वस्तुगत सत्य पर बिना किसी प्रकार का आवरण डाले उसको प्रभावमय बना देता है। इसमें लेखक छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर पाठक के मन पर एक सामूहिक प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है। इनका सम्बन्ध वर्तमान से होता है। ये घटनायें कल्पना प्रसूत नहीं होती हैं। इन घटनाओं के वर्णन द्वारा वह चरित्र को भी प्रकाश में ले आता है। इसका लेखक घटनास्थल पर उपस्थित होता है और वह प्रायः आँखों देखी बातें ही

लिखता है। वह कलम का शूर तो होता ही है साथ ही चन्दवरदाई की भांति साहसी तथा वीर भी होता है।''

रिपोर्ताज-साहित्य का सर्जन सोवियत-प्रभाव मे अधिक हुआ है। यही कारण है कि प्रभाकर माचवे, प्रकाशचन्द गुप्त, अमृत राय, शिवदानसिंह चौहान जैसे प्रगतिशील लेखको मे यह साहित्य विधा विशेष रूप मे लोकप्रिय हुई है।

रिपोर्ताज के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर मलखानसिंह के 'अन्तिम मोर्चा' नामक रिपोर्ताज से एक उदाहरण दिया जा रहा है। इस उद्धरण का प्रतिपाद्य स्वतन्त्रता से ग्रामो मे हिन्दू-मुसलमानो की फूट और फलस्वरूप विभाजन का वर्णन और साथ ही राष्ट्रीय सरकार द्वारा की गयी सर्वहारा वर्ग की उपेक्षा और पूंजीपतियो का पोषण है।

"किन्तु साम्राज्यवाद के चतुर सचिव ने राष्ट्रीयता की इसी कमजोरी का फायदा उठाया और रातो-रात उसने आकर उसकी सेनाओ को एक दूसरे के विरुद्ध भडका दिया।''

"जबकि शत्रु का अन्तिम मोर्चा भर ही तोडने को शेष रहा था, राष्ट्रीयता की सेनाएँ एक दूसरे की तरफ मुड पडी। एक भाई दूसरे भाई के खून से अपनी शक्ति को तोलना चाहता था। दुश्मन के शीश पर बिजली की तरह कौंधकर लपकने वाली शमशीर एक दूसरे की गर्दन पर चलना चाहती थी। असहाय वन्दिनी माता के सामने ही उसके दो समर्थ पुत्र आपस मे भिडकर मिटना चाहते थे। आह! उस दासी माँ ने अपनी गुलामी के कितने वर्ष, मास और दिन बेटो के जवान होने तक गिन-गिनकर काटे थे, लेकिन ''

"वह अभागिनी अधिक न देख सकी, एक दर्दनाक चीख के साथ वह बेहोश हो गयी। हिमालय के सिर पर जैसे बज्र टूट पडा। वह दोनो हाथो से उसे पकडे कराहकर झुक गया। विंध्य और नीलगिरि उठती हुई हिचकियो को रोकने का भीम प्रयत्न करने लगे। गगा का कलनाद करुण-क्रन्दन मे परिवर्तित हो गया।''

"एक क्षण के लिये राष्ट्रीयता स्तम्भित हो गयी। वह इस आत्मसहार को रोकने मे असमर्थ एव किंकर्तव्य-विमूढ थी। देश का दुर्भाग्य अट्टहास कर उठा।

"अब साम्राज्यवाद की चढ़ बनी थी। वह अपनी शर्तों पर राष्ट्रीयता की सन्धि करने को मजबूर करने जा रहा था। आहत अभिमान से उसकी निगाह नीची हो गयी। वह अस्सी करोड भुजाओ का अपमान था, ऐसा अपमान जिससे शहीदो की आत्माएँ भी तडप कर बोल उठी थी, अभागे भारत! विवश होकर कितनी बार तूने अपमान का कडवा घूंट नहीं पिया और अब इतने बलिदानो के बाद भी कब तक पिये जायेगा। बोल, सदियो के बन्दी! बोल!

"इसके उत्तर मे ही जैसे आसपास मे बादलो के दल गरज उठे हो, इन्कलाब जिन्दाबाद! हिन्दुस्तान हो आजाद!।''

"साम्राज्यवाद के पैरो-तले की धरती खिसक गयी। राष्ट्रीयता ने चिहुककर

अष्टम वर्ग

हिन्दी साहित्य के प्रमुख साहित्यकार

: ८४ :

चंदवरदाई और उनका काव्य

चदवरदाई-जीवनी और व्यक्तित्व

हिन्दी के आदि महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता के रूप मे विख्यात और परम्परा मे हिन्दू-कुल के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के सखा, मत्री, सेनापति एव राजकवि के रूप मे प्रसिद्ध महाकवि चदवरदाई का अस्तित्व और कृतित्व जितना विवाद का विपय रहा है, उनकी लोकप्रियता और महत्त्व उतना ही निर्विवाद। उनके कृतित्व को अप्रामाणिक एव अनैतिहासिक प्रमाणित करने की आँधी मे उनका अस्तित्व कही-कही इतना धूमिल हो गया कि इतिहास के साक्ष्य पर आलोचको ने यहाँ तक कह डाला, "इस अवस्था मे यही कहा जा सकता है कि चदवरदाई नाम का यदि कोई कवि था, तो वह पृथ्वीराज की सभा मे न रहा होगा, अधिक सम्भव यह जान पडता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज या उनके भाई हरिराज अथवा उन दोनो में से किसी के वशज के यहाँ चद नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो, जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन मे कुछ रचना की हो। पीछे जो वहुत-सा कल्पित 'भट्ट भणत' तैयार होता गया, उन सवको लेकर और चद को पृथ्वी-राज का समसामयिक मानकर उसी के नाम पर 'रासो' नाम की यह वडी इमारत खडी की गई हो" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) इधर जव से मुनि जिन विजय ने 'पुरातन-प्रवन्ध-सग्रह' में प्राप्त चदवरदाई-रचित चार छप्पयो की ओर पण्डितो का ध्यान आकर्षित किया है, तव से मूल रासो मे प्रक्षेप वाले सिद्धान्त की पुष्टि हो गयी है और अव यह मानने मे किसी को कोई आपत्ति नही होनी चाहिये कि मूल रूप मे 'रासो' चन्दवरदाई की ही रचना है और जैसा कि उन छप्पयो की भाषा से स्पष्ट है, चन्दवरदाई सम्राट पृथ्वीराज चौहान के राजकवि रहे होगे।

दुर्भाग्य से चन्दवरदाई के सम्वध में इतिहासकार पूर्णरूपेण मौन हैं और उनके जीवन तथा व्यक्तित्व के सम्वध में हमे कोई वाह्य साक्ष्य प्राप्त नही है। अतएव इस

यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है—कारणों के समवाय से कार्य की उत्पत्ति दो रूपों में हो सकती है। एक तो विवर्त और दूसरा विकार। जब कारण अपने नाम का परित्याग न करते हुए कार्य रूप में किसी अन्य नाम को स्वीकार कर लेता है तब उसे विवर्त कहते हैं। जैसे स्वर्ण के बने कुण्डल और काष्ठ की बनी कुर्सी स्वर्ण और काष्ठ भी बने रहते हैं और कुण्डल तथा कुर्सी ये नये नाम भी हो जाते हैं। यह विवर्त है। इसके प्रतिकूल जब कारण अपना नाम रूप छोड़कर बिल्कुल नया नाम-रूप धारण कर लेता है तब उसे विकार कहते हैं। जैसे दूध से बना दही बिल्कुल रूपान्तर में परिणत हो जाता है अतः वह विकार कहा जाता है। विभावादि से रस की उत्पत्ति म लोल्लट इत्यादि विवर्त मानते हैं—इसीलिये उन्होंने कहा है—स्थायी भाव एव रस। इसके प्रतिकूल अभिनव गुप्त उसे विकार मानते हैं। इसीलिये उन्होंने कहा है कि स्थायिविलक्षण एव रस

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सारांश यही है कि मुख्य रूप से स्थायी भाव ही रस का उपकरण है। किन्तु वह स्थूल द्रव्य नहीं है अभिव्यक्त हुआ करता है। उसकी अभिव्यक्ति के साधन हैं—विभाव अनुभाव और संचारीभाव। साधन और साध्य दोनों मिलाकर रस के उपादानों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—विभाव अनुभाव संचारी भाव और स्थायीभाव। इन्हीं का संक्षिप्त परिचय अग्रिम पंक्तियों में दिया जायेगा।

विभाव

विभाव शब्द का अर्थ है विभावन करना या प्रतीति-गोचर बनाना। वस्तुतः 'भाव' एक नित्य वस्तु है। अतएव उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिये उसको केवल प्रतीति-गोचर ही बनाया जा सकता है उसका निर्माण नहीं हो सकता। अतएव उसको प्रतीति गोचर बनाने वालेतत्त्व को विभाव अर्थात् 'प्रतीतिगोचर बनाने वाला तत्त्व' कहा जाता है। भाव' की अनन्त विधायें होती हैं। यह प्रतिरूप भिन्न होता है। जिस प्रकार के भाव का अभिव्यञ्जन करना होता है उसी प्रकार के व्य[illegible] का भी चयन किया जाता है। ये व्यक्ति व्यक्ति ही भाव को प्रतीति गोचर बनाने का माध्यम होते हैं। अतः इन्हें विभाव कहते हैं। साथ ही केवल व्यक्तियों का उपादान ही रस निष्पत्ति में कारण नहीं हो सकता। व्यक्तियों के साथ उनकी [illegible] भी अपेक्षणीय होती हैं और साथ ही तदनुरूप परिस्थितियों का निर्माण भी अनिवार्य हो जाता है। विभाव के अन्तर्गत जिन पात्रों की कल्पना की जाती है वे दो प्रकार के हो सकते हैं—एक तो वे पात्र जिनके अन्दर प्रमुख भाव दिखलाये जाते हैं और दूसरे प्रकार के वे पात्र जिनके प्रति वह भाव प्रकट किये जाते हैं। प्रथम प्रकार के पात्र भाव के अधिष्ठान होने से आश्रय कहलाते हैं और दूसरे प्रकार के पात्र भाव को सहारा देकर खड़ा करने से आलम्बन कहे जाते हैं। भाव के उद्बुद्ध होने के लिये ये ही दो तत्त्व पर्याप्त होते हैं। किन्तु उद्बुद्ध भाव भाव

जीवन-चरित ऐतिहासिक भले ही न हो, जैसा कि डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने कहा है, "ऐतिहासिक दृष्टि से इसमे अनेक असगतियां हैं, अत इसे चन्द का वास्तविक परिचय नही कहा जा सकता।" परन्तु चद के काव्य-व्यक्तित्व को समझने मे हमे इससे वडी सहायता मिलती है और इस दृष्टि से चन्द की इस जीवनी का भी कम महत्त्व नही है।

चद का कृतित्व-"पृथ्वीराज रासो"

चन्दवरदाई-रचित केवल 'पृथ्वीराज रासो' नामक महाकाव्य की ही प्रसिद्धि है तथा कविकृत अन्य रचनाओ की जनश्रुति भी सुनने मे नही आई। अपने वृहत्तम रूप मे, आकार मे अत्यन्त विशाल, 'पृथ्वीराज रासो' चन्दवरदाई की प्रसिद्धि का अक्षय आधार और हमारे साहित्य का प्रथम कीर्त्तिस्तम्भ है। ऐतिहासिक वादविवादो के कोलाहल, हिन्दी साहित्य की अमूल्य विरासत के रूप मे 'पृथ्वीराज रासो' की प्रसिद्धि, और विशेपकर राजपूताने मे इसकी लोकप्रियता, निर्विवाद है। पूर्ववर्ती उत्तर मध्यकाल मे कई शताब्दियाँ ऐसी बीती जबकि 'पृथ्वीराज रासो' के आधार पर राजस्थान के अनेक राजवशो की वशावलियाँ तक बना डाली गयी। साहित्यिक परम्परा में इसकी लोकप्रियता और महत्त्व का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस ग्रथ की सैकडो हस्तलिखित प्रतियाँ भारतवर्ष के विभिन्न पुस्तकालयों तथा व्यक्तिगत सग्रहालयो मे हैं तथा इनके अतिरिक्त लदन के ब्रिटिश-म्युजियम मे भी इसकी कई प्रतियाँ हैं। अब तक प्राप्त अनेक प्रतियो के आधार पर रासो के विभिन्न आकार के विभिन्न रूपान्तरो को मुख्य रूप से चार वर्गों में रक्खा जा सकता है—(१) वृहत् रूपान्तर, (२) मध्यम रूपान्तर, (३) लघु रूपान्तर और (४) लघुतम रूपान्तर। इन रूपान्तरो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) **वृहत् रूपान्तर**—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतिया हैं जिनका लिपिकाल सवत् १७५० विक्रमाब्द के पश्चात् का है। उदयपुर राज्य के पुस्तकालय मे इस रूपान्तर की कई प्रतिया मिलती हैं। श्री मोहनलाल विष्णुलाल पड्या, श्री राधाकृष्णदास और डॉक्टर श्यामसुन्दरदास द्वारा सपादित तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' का आधार 'रासो' का यही वृहत् रूपान्तर है, यद्यपि सभा के सस्करण की आधार-प्रति सवत् १६४२ की लिखी हुई वतायी जाती है। इस रूपान्तर की विशेषता अध्यायों का 'सम्यौ' नामकरण है। इस सस्करण की कुल छन्द सख्या १६३०६ है, और यह ६९ समयो मे विभक्त है।

(२) **मध्यम रूपान्तर**—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतिया हैं जो सवत् १७२३ और सवत् १७३९-१७४० में लिपिवद्ध हुई। अबोहर के साहित्य-सदन, वीका-नेर के जैन-ज्ञान-भण्डार और श्रीयुत अगरचन्द नाहटा के पास इस रूपान्तर की कुछ प्रतिया सुरक्षित हैं। इसकी कुल छन्द सख्या ७००० है और इसकी विशेपता यह है कि वृहत् रूपान्तर के 'सम्यौ' के स्थान पर इस रूपान्तर मे अध्यायो का नाम 'प्रस्ताव' है।

(३) **लघु रूपान्तर**—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतिया हैं जो सत्रहवीं

सम्बंध में स्वयं चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराजरासो' में आये विवरणों (अन्तःसाक्ष्य) पर ही आश्रित रहना पड़ेगा। 'रासो' के अनुसार चन्दबरदाई का जन्म सम्राट पृथ्वीराज चौहान के साथ ही संवत् ११५१ विक्रमाब्द लाहौर में हुआ था। उनके पिता का नाम मतह था जो महाराज सोमेश्वर के दरबार में किसी न किसी रूप में रह थे और इसी से बालक चन्द तथा कुमार पृथ्वीराज को साथ-साथ रहने खेलने-कूदने तथा बाल्यकाल से ही परस्पर मित्रभाव होने के अवसर मिलते रहे होंगे। उनकी शिक्षा-दीक्षा भी कुमार पृथ्वीराज के साथ ही हुई। महाराज सोमेश्वर के समय से ही वे दरबार में रहने लगे थे। कुमार पृथ्वीराज के सिंहासनारूढ़ होने पर उनका ऐश्वर्य विशेष बढ़ गया था और वे राजकवि ही नहीं सम्राट पृथ्वीराज के मन्त्री और सेनापति भी थे। 'रासो' के अनुसार चन्द को सम्राट पृथ्वीराज से बीस गाँव मिले हुए थे। जिससे उनका जीवन काफी सुखी और समृद्ध रहा होगा। चन्द स्वयं ही अपने को बरदाई कहा करते थे और देश-विदेशों में भी 'बरदाई' कह कर ही संबोधित और वर्णित होते थे। वे सर्वत्र और सभी प्रसंगों में सम्राट के साथ रहते थे। जब शहाबुद्दीन गोरी सम्राट पृथ्वीराज को गजनी ले गया तो चन्द भी अपने स्वामी को मुक्त कराने के विचार से गजनी पहुँचे। 'रासो' की रचना वे इससे पूर्व से ही कर रहे थे और गजनी जाने से पहले उन्होंने यह कार्य अपने पुत्र जल्हण को सौंप दिया था। गजनी पहुँच कर चन्द पृथ्वीराज से मिले और उन्होंने अपनी चतुराई से शहाबुद्दीन गोरी की प्रशंसा और विश्वास पा लिया। चन्द ने गोरी के सम्मुख पृथ्वीराज की बाण-संधान-कुशलता का बड़ा सुन्दर वर्णन किया और इसके प्रदर्शन के लिए गोरी से वचन ले लिया। चन्द ने पृथ्वीराज को भी इस आयोजन के लिये तैयार कर लिया। और गोरी के वध की योजना भी समझा दी। आयोजन के समय गोरी के आदेश के साथ पृथ्वीराज का शब्द वेधी बाण गोरी के सिर के टुकड़े करता हुआ पार हो गया और इस प्रकार गोरी का अन्त हो गया। गोरी के मरते ही इससे पूर्व कि गोरी के दरबार उन्हें मार सकें चन्द ने अपनी कटारी से छुरी निकाल कर अपना सिर अलग कर दिया और छुरी महाराज पृथ्वीराज को दे दी जिससे उन्होंने भी अपना प्राणान्त कर लिया।

इस प्रकार पृथ्वीराज रासो में चन्दबरदाई को हम अपने सम्राट की मान मर्यादा की रक्षा के लिए, उनके शत्रु से बदला लेकर अपना प्राणोत्सर्ग कर देने वाले वीर कवि और मित्र के रूप में पाते हैं। चन्द ने अपना सारा जीवन सम्राट पृथ्वीराज की सेवा में व्यतीत किया और उन्हीं की सेवा में अपने प्राणों की बलि दे दी। 'रासो' में अन्य अनेक स्थलों पर भी चन्दबरदाई कवि के साथ-साथ अद्वितीय वीर और रण कुशल योद्धा के रूप में हमारे समाने आते हैं। साथ ही वे प्रकाण्ड पण्डित और भाषाविद् भी थे। 'रासो' में उनके बहुभाषी व्याकरण काव्य साहित्य छन्द शास्त्र ज्योतिष पुराण नाटक आदि अनेक विद्याओं में निष्णात होने का परिचय मिलता है। अनेक धर्मों के संबंध में भी उनका ज्ञान बड़ा विस्तृत था और उन्होंने पट्टनपुर में भानुमतरेखा के जैन मन्त्री सेवरा को शास्त्रार्थ में हराया था।

चन्दबरदाई के सबंध में 'रासो' के विवरणों के अतिरिक्त और कोई ऐति- ... नहीं मिलती। 'रासो' में प्राप्त विवरणों के आधार पर प्रस्तुत मह

जीवन-चरित ऐतिहासिक भले ही न हो, जैसा कि डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने कहा है, "ऐतिहासिक दृष्टि से इसमे अनेक असगतिया हैं, अत इसे चन्द का वास्तविक परिचय नही कहा जा सकता।" परन्तु चद के काव्य-व्यक्तित्व को समझने मे हमे इससे बडी सहायता मिलती है और इस दृष्टि से चन्द की इस जीवनी का भी कम महत्त्व नही है।

चद का कृतित्व-"पृथ्वीराज रासो"

चन्दवरदाई-रचित केवल 'पृथ्वीराज रासो' नामक महाकाव्य की ही प्रसिद्धि है तथा कविकृत अन्य रचनाओ की जनश्रुति भी सुनने मे नही आई। अपने बृहत्तम रूप मे, आकार मे अत्यन्त विशाल, 'पृथ्वीराज रासो' चन्दवरदाई की प्रसिद्धि का अक्षय आधार और हमारे साहित्य का प्रथम कीर्त्तिस्तम्भ है। ऐतिहासिक वादविवादो के कोलाहल, हिन्दी साहित्य की अमूल्य विरासत के रूप मे 'पृथ्वीराज रासो' की प्रसिद्धि, और विशेपकर राजपूताने मे इसकी लोकप्रियता, निर्विवाद है। पूर्ववर्ती उत्तर मध्यकाल मे कई शताब्दियाँ ऐसी बीती जबकि 'पृथ्वीराज रासो' के आधार पर राजस्थान के अनेक राजवशो की वशावलियाँ तक बना डाली गयी। साहित्यिक परम्परा मे इसकी लोकप्रियता और महत्त्व का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस ग्रथ की सैकडो हस्तलिखित प्रतियाँ भारतवर्ष के विभिन्न पुस्तकालयो तथा व्यक्तिगत सग्रहालयो मे हैं तथा इनके अतिरिक्त लदन के ब्रिटिश-म्युजियम मे भी इसकी कई प्रतियाँ हैं। अब तक प्राप्त अनेक प्रतियो के आधार पर रासो के विभिन्न आकार के विभिन्न रूपान्तरो को मुख्य रूप से चार वर्गों में रक्खा जा सकता है—(१) बृहत् रूपान्तर, (२) मध्यम रूपान्तर, (३) लघु रूपान्तर और (४) लघुतम रूपान्तर। इन रूपान्तरो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) बृहत् रूपान्तर—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतिया हैं जिनका लिपिकाल सवत् १७५० विक्रमाब्द के पश्चात् का है। उदयपुर राज्य के पुस्तकालय मे इस रूपान्तर की कई प्रतिया मिलती हैं। श्री मोहनलाल विष्णुलाल पड्या, श्री राधाकृष्णदास और डॉक्टर श्यामसुन्दरदास द्वारा सपादित तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' का आधार 'रासो' का यही बृहत् रूपान्तर है, यद्यपि सभा के सस्करण की आधार-प्रति सवत् १६४२ की लिखी हुई बतायी जाती है। इस रूपान्तर की विशेपता अध्यायो का 'सम्यौ' नामकरण है। इस सस्करण की कुल छन्द सख्या १६३०६ है, और यह ६९ समयो मे विभक्त है।

(२) मध्यम रूपान्तर—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतिया हैं जो सवत् १७२३ और सवत् १७३९-१७४० मे लिपिबद्ध हुई। अबोहर के साहित्य-सदन, बीकानेर के जैन-ज्ञान-भण्डार और श्रीयुत अगरचन्द नाहटा के पास इस रूपान्तर की कुछ प्रतिया सुरक्षित हैं। इसकी कुल छन्द सख्या ७००० है और इसकी विशेपता यह है कि बृहत् रूपान्तर के 'सम्यौ' के स्थान पर इस रूपान्तर मे अध्यायो का नाम 'प्रस्ताव' है।

(३) लघु रूपान्तर—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतिया हैं जो सत्रहवीं

शताब्दी में लिपिबद्ध हुई हैं। बीकानेर राज्य के 'अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय' में इस रूपान्तर की तीन प्रतियां सुरक्षित हैं। इनमें से कुछ प्रतियों के अन्त में निम्नलिखित पंक्तियां मिलती हैं।

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथ्वीराज सुजसु कवि चन्दकृत चन्द्रसिंह उद्धरिय इमि॥

इन पंक्तियों से इस रूपान्तर का किसी चन्द्रसिंह नामक व्यक्ति द्वारा संकलित किया जाना ज्ञात होता है। डॉक्टर बी पी शर्मा द्वारा संपादित होकर यह रूपान्तर प्रकाशित भी हो गया है। इस रूपान्तर की विशेषता यह है कि बृहद् रूपान्तर से सम्मो' और मध्यम रूपान्तर से प्रस्ताव के स्थान पर इसमें अध्यायों का नाम खण्ड' है।

(४) लघुतम रूपान्तर—इस रूपान्तर का आधार भी ऐसी प्रतियाँ हैं जो सत्रहवी शताब्दी मे लिपिबद्ध हुई। इसके अन्वेषण का श्रेय श्री अगरचन्द जी नाहटा को है। इसमे कुल मिलाकर केवल १९ छन्द है और इसकी विशेषता यह है कि अन्य रूपान्तरों के समान इसमे अध्यायों का विभाजन नही।

रासो की प्रामाणिकता

साहित्यिक परम्परा मे रासो की लोकप्रियता की ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। 'रासो' की तत्कालीन सर्वव्यापी मान्यता इतनी प्रभावशालिनी थी कि अनेक विदेशी विद्वान् इसकी ओर आकृष्ट हुए और उन्होने इसे प्रामाणिक रचना के रूप में ग्रहण किया था। प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड ने अपने राजस्थान के इतिहास में 'रासो' के आधार पर अनेक बातें लिखी। उन्होने इसके पच्चीस हजार छन्दों का अग्र जी अनुवाद भी कर लिया था। कर्नल टॉड के अतिरिक्त रूसी विद्वान् राबर्ट लेंज फ्रांसीसी विद्वान् मार्से द तासी तथा अग्रेजी विद्वान् एफ एस ग्राउज जान बीम्स डॉक्टर ए एफ रोडल्फ हार्नले और डाक्टर ग्रियर्सन भी रासो से बहुत प्रभावित हुए थे। उसी समय डाक्टर हार्नले द्वारा वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित और अनुवाद 'रासो' का प्रकाशन भी बगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी से प्रारम्भ कर दिया था और कई अध्यायो (समय २६ १६) का प्रकाशन हो भी गया। इसी बीच पजाब विश्व विद्यालय के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् डाक्टर बुलर को काश्मीर मे प्राचीन ग्रन्थो की खोज करते हुए जयानक कवि रचित 'पृथ्वीराज विजय' नामक काव्य की एक खण्डित प्रति मिली। ऐतिहासिक दृष्टि से परीक्षा करने पर 'पृथ्वीराज विजय' की घटनाएं संवत् नाम और वंशावलियां तो ऐतिहासिक प्रमाणो शिलालेखो तथा ताम्रपत्रो से मिल गयी परन्तु रासो के संवत् और घटनाए – सभी कुछ ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक न बैठा। फलस्वरूप डाक्टर बुलर ने रायल एशियाटिक सोसायटी के मैगजीन से एक लेख मे 'रासो' को अप्रामाणिक सिद्ध करते हुए इसके प्रकाशन को बन्द कर देने की सिफारिश की और तदनुसार प्रकाशन रोक दिया गया। इसके बाद तो ऐतिहासिक खोज बीन और प्रामाणिकता सम्बन्धी चर्चा का तांता लग गया। इतिहास के अनेक विद्वानो ने प्रबल तर्कों के आधार पर इसे जाली'

और 'भट्ट भणत' तक कहा और यह अनुमान लगाया गया कि इस ग्रन्थ की रचना पन्द्रहवी से अठारवी शताब्दी तक किसी समय हुई होगी। दूसरी ओर 'रासो' के प्रति एक प्रकार का सात्त्विक मोह रखने वाले विद्वानो ने नाना युक्तियो से इसे प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया और प्रामाणिक-अप्रामाणिक का यह विवाद काफी दिनो तक चलता रहा है। इधर जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है, जब से मुनिजिनविजय ने 'पुरातन—प्रबन्ध सग्रह' मे प्राप्त 'रासो' के चार छप्पयो की ओर विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया है, तब से इस बात की पुष्टि हो गई है कि मूल रूप मे 'रासो' चन्दवरदाई की कृति है, परन्तु निरन्तर प्रक्षेपो के कारण इसका रूप विकृत और परिवर्तित हो गया है। और अब इसे प्रामाणिक या 'अर्द्ध प्रामाणिक' रचना माना जाने लगा है। यहाँ सक्षेप मे 'रासो' की प्रामाणिकता पर विचार किया जा रहा है।

(क) **रासो को अप्रामाणिक रचना मानने वाले विद्वानो के मत**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'रासो' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे अधिक सन्देह करने वाले सबसे पहले विद्वान् डाक्टर बुलर हैं। उन्ही की प्रेरणा से दूसरे विद्वानो ने भी 'रासो' का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन किया और कइयो ने इसे पूर्णत अप्रामाणिक रचना कहा। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि डॉक्टर बुलर से भी पहले कविराज श्यामल दास और मुन्शी देवी प्रसाद रासो की अनैतिहासिकता के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट कर चुके थे, परन्तु उनका वैसा अभीष्ट प्रभाव नही पडा था, जैसा डाक्टर बुलर का।

'रासो' को अनैतिहासिक और अप्रामाणिक मानने वाले विद्वानो मे सबसे अधिक परिश्रम डाक्टर गौरीशकर हीराचद ओझा ने किया है। उन्होने ऐतिहासिक दृष्टि से 'रासो' की पूरी छानबीन के पश्चात् बताया कि 'रासो' मे सवत्, वशावलियाँ, घटनाएँ, नाम आदि सभी अशुद्ध है या कपोल कल्पित हैं। सक्षेप मे 'रासो' की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे ओझा जी के आक्षेप इस प्रकार हैं—

(अ) **रासो के सवत्**—ओझा जी के अनुसार रासो मे दिये गये सभी सवत् अशुद्ध हैं। इनमे निम्नलिखित का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है—

(१) 'रासो' के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म सवत् १११५ विक्रमान्द है। (अनद-विक्रम संवत् को स्वीकार करने पर सवत् १२०५-६ वि०), जबकि ऐतिहासिक प्रमाणो से पृथ्वीराज का जन्म सवत् १२२१ सिद्ध हो गया है।

(२) 'रासो' मे पृथ्वीराज का राज्यारोहण सवत् १२१० मे लिखा गया, जो असम्भव है, क्योकि सवत १२२१ मे तो वह पैदा भी नही हुआ था।

(३) 'रासो' के अनुसार वीसलदेव का राज्यारोहण सवत ८२१ वि० (पांड्या जी के अनुसार म० (९१२ वि०) है, किंतु उसके शिलालेख सवत् १२१०, १२११ और १२२० वि० के मिले हैं। अत उसका राज्यारोहण ८२१ वि० किसी प्रकार नही माना जा सकता।

(४) रासो के अनुसार (सं. ११३६ वि. में आबू के परमार सामंत सलख द्वारा शहाबुद्दीन गोरी को कैद किए जाने की कथा काल्पनिक है।

(५) 'रासो' के अनुसार अनंगपाल द्वारा संवत ११२१ (अनंद वि. १२११) में पृथ्वीराज को गोद लेना और सं. ११३८ (अनंद वि. १२२८) में राज्यारोहण संवत अशुद्ध है क्योंकि सं. १२२८-२९ में दिल्ली में अनंगपाल नामक कोई राजा राज्य नहीं करता था। दिल्ली को इससे पूर्व ही पृथ्वीराज के चाचा बीसलदेव चतुर्थ ने अपने राज्य में मिला लिया था।

(६) 'रासो' में कल्पित संवतों की संख्या बहुत अधिक है।

(आ) रासो की घटनाएं—(१) पृथ्वीराज को अनंगपाल द्वारा दिल्ली का राज्य दिया जाना और गोद लेने की कथा गलत है। पृथ्वीराज से पूर्व दिल्ली में अनंगपाल नामक कोई राजा राज्य नहीं करता था।

(२) रासो में दी गई संयोगिता—स्वयंवर की कथा अनैतिहासिक है।

(३) चित्तौड़ के रावल समरसिंह का अपने छोटे पुत्र रत्नसिंह को उत्तराधिकारी बनाना और उसके ज्येष्ठ पुत्र कुम्भा का दक्षिण में बीदर के मुसलमान राजा के यहाँ जाकर रहना असत्य घटना है क्योंकि उस समय दक्षिण में मुसलमानों ने प्रवेश भी नहीं किया था।

(४) शहाबुद्दीन का पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले जाना और उसके बाद का इतिवृत्त निर्मूल है, क्योंकि इतिहास से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि शहाबुद्दीन को संवत् १२६३ में भारत से वापस लौटते हुए गक्खरों ने मारा था।

(५) पृथ्वीराज के चौदह विवाहों की कथा भी भ्रामक है।

(६) रासो में परमार, प्रतिहार, चालुक्य तथा चौहान वंशों की उत्पत्ति उनके कुल और वंश-परम्परा सम्बन्धी विवरण अशुद्ध रूप में वर्णित हैं।

इनके अतिरिक्त ओझा जी ने 'रासो' के नाम तथा वंशावलियों को भी असत्य और अनैतिहासिक प्रमाणित करते हुए 'रासो' को एक नितान्त अनैतिहासिक और अप्रामाणिक रचना माना है।

(इ) रासो की अप्रामाणिकता के विषय में विद्वानों के मत—'रासो' की प्रामाणिकता के विरुद्ध दिये गये इन विविध तर्कों के विपक्ष में कई विद्वानों ने अपने मत दिए हैं और ओझा जी के आक्षेपों का निराकरण करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'रासो' पूर्णरूपेण अनैतिहासिक और अप्रामाणिक रचना नहीं है। समय के साथ-साथ 'रासो' में अनेक प्रक्षेप होते गये हैं और उसके मूल रूप में इतिहास-सम्बन्धी भूलें बहुत कम या नहीं के बराबर हैं। विद्वानों ने अनेक आधारों पर 'रासो' के मूल रूप तक पहुँचने का प्रयत्न भी किया है। इस प्रकार 'रासो' को प्रामाणिक या अर्द्ध प्रामाणिक (मूल रूप में प्रामाणिक) रचना मानने वाले विद्वानों में श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, श्री रामनारायण दूगड़, डाक्टर श्यामसुन्दरदास, मुनि जिनविजय, डॉ. दशरथ शर्मा और और डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के नाम प्रमुख हैं।

श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या और श्री रामनारायण दूगड़ 'रासो' को पूर्णतः प्रामाणिक रचना मानने के पक्ष में हैं। पंड्या जी ने इसके लिए अनंद विक्रम

सवत्' की कल्पना की है, जो विक्रम सवत् से लगभग ९० वर्ष पीछे पडता है। पड्याजी के अनुसार विक्रम सवत के स्थान पर इसी 'अनद विक्रम' सवत् का प्रयोग हुआ है। परन्तु जैसा कि उनके पश्चात् ओझा जी ने परीक्षा की, 'रासो' के सवतो को अनद-विक्रम सवत् अर्थात् ९० वर्ष पीछे मानने पर भी 'रासो' के सवत् इतिहास से मेल नही खाते। रामनारायण दूगड ने महाराणा अमरसिंह के समय मे 'रासो' का सकलन स्वीकार किया है, परन्तु इससे भी हमे 'रासो' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे कोई सहायता नहीं मिलती।

इधर मुनिजिनविजय ने 'पुरातन प्रबन्ध' मे प्राप्त 'रासो' के चार छप्पयो की ओर विद्वानो का ध्यान आकर्षित करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि रासो अपने मूलरूप मे तेरहवी शताब्दी से पूर्व की ही रचना है। उनके द्वारा उल्लिखित चारो छप्पय रासो के विभिन्न सस्करणो मे भी मिल जाते हैं। उनकी भाषा परवर्ती अप-भ्र श या अनहद के निकट अर्थात् पुरानी हिन्दी है, जिसमे ाचीन ब्रज के तत्त्व भी प्रचुरता से मिलते हैं। डॉ० शिव प्रसादसिंह ने भी इसी आधार पर 'रासो' के मूल रूप को प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है। मुनि जिनविजय के अनुसार 'रासो' का वर्तमान स्वरूप उसके मूल स्वरूप का ही विकृत और परिवर्द्धित रूप है।

मुनिजिन विजय के अतिरिक्त 'रासो' को मूलरूप मे प्रामाणिक तथा अपने वर्तमान स्वरूप मे प्रक्षिप्त अशो के कारण विकृत तथा भाषा की दृष्टि से परिवर्द्धित और विकसित रचना मानने वाले विद्वानो मे डॉक्टर दशरथ शर्मा और डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार विशेष महत्त्वपूर्ण है। डॉ० दशरथ शर्मा के अनुसार 'रासो' की प्रतियो मे लघुतम रूपान्तर ही मूल रासो है। उसमे सभी अशुद्ध और अनैतिहा-सिक बातो का अभाव है। उसमे न तो पृथ्वीराज को अग्निवशी बताया गया है और न समरसिंह का विवाह पृथा से दिखाया गया है। उसमे गुजरात के राजा भीमराज द्वारा सोमेश्वर का मारा जाना भी नही है और न ही पृथ्वीराज के इतने विवाहो का वर्णन मिलता है। इस लघुतम रूपान्तर मे सयोगिता-स्वयवर, अनगपाल द्वारा पृथ्वी-राज को दिल्ली का राज्य दिये जाने और शहाबुद्दीन गौरी द्वारा पृथ्वीराज को बन्दी कर गजनी ले जाने तथा गौरी वध की कथाए अवश्य मिलती हैं, जिन्हें डॉ० दशरथ शर्मा ने उपयुक्त प्रमाणो द्वारा ऐतिहासिक सिद्ध किया है। सक्षेप मे उनके अनुसार 'रासो' चन्दवरदाई की रचना अवश्य है किन्तु उसमे बहुत अधिक प्रक्षिप्त अश आ गया है।

डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' नामक पुस्तक मे 'रासो' को अर्द्ध प्रामणिक माना है। उनके अनुसार 'रासो' की रचना शुक-शुकी-सवाद मे रूप मे हुई थी, अतएव उन्ही अशो को प्रामाणिक मानना चाहिए जिनमे सवाद का यह रूप मिलता है। इस दृष्टि से उन्होंने निम्नलिखित प्रसगो को प्रामाणिक माना है—(१) आरम्भिक अश, (२) इछिनी विवाह, (३) शशिव्रता का गन्धर्व विवाह, (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकडना, (५) सयोगिता-विवाह, (६) कैमास-वध-सवधी कथा। इसके अतिरिक्त डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ऐतिहासिक चरित काव्यो की परम्परा दिखाते हुये यह भी प्रामाणित किया है कि 'वस्तुत इस देश

में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। सभी ऐतिहासिक कहे जाने वाले काव्यों के समान इसमें (रासो में) भी इतिहास और कल्पना का फैक्ट और फिक्शन का मिश्रण है। और इस दृष्टि से 'रासो' का वर्तमान स्वरूप कुछ अनुचित नहीं प्रतीत होता।

(ग) निष्कर्ष—ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रासो' जाली या अप्रामाणिक रचना नहीं है हाँ अपने वर्तमान रूप में वह इतनी इतिहास विरुद्ध घटनाओं का भाण्डार है कि किसी भी युक्ति से उसे इतिहास के अनुकूल प्रमाणित नहीं किया जा सकता न ऐसा प्रयत्न होना ही चाहिये। 'रासो' जैसी लोकप्रिय कृति में प्रक्षेप और परिवर्द्धन होना नितान्त स्वाभाविक है। अपने मूल रूप में चंद कवि की यह रचना आज न तो सुरक्षित है न उसके बृहत् रूप में से प्रामाणिक अंश निकाल पाना ही संभव है। हाँ इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'रासो' का लघुतम रूपान्तर चंद की मूल कृति के सर्वाधिक निकट होना चाहिये। यह प्रसिद्ध है कि चंद के पुत्र 'जल्हण' ने अपने पिता के अधूरे ग्रन्थ को पूरा किया था। नहीं कहा जा सकता कि इस 'पुट' ने कितना विस्तार किया है और इन पुत्रों की संख्या कितनी रही होगी। अन्त में डॉक्टर विपिनबिहारी त्रिवेदी के शब्दों में रासो के प्रामाणिकता-संबंधी विवाद का निष्कर्ष इस प्रकार रक्खा जा सकता है— 'रासो' के ऐतिह्य पर सन्देह प्रकट करने वाले इतिहासकारों ने इतिहास विरोधी बातों का 'रासो' से संकलन करके दस-पांच अकाट्य तर्क पेश किए परन्तु साहित्यकारों कवि का उत्तराधिकारी मान बैठने वालों के न्यायासन में क्या इतना सौजन्य न था कि वे यह भी बतलाते कि इस काव्य में ऐतिहासिक तथ्य कितने हैं? 'रासो' की ऐतिहासिक विवेचनाओं की विशाल राशि के संतुलन में अनैतिहासिक तथ्य नगण्य सिद्ध होंगे—जिनका परवर्ती प्रक्षेप होना भी असंभव नहीं यह मेरा एक साहित्य-सेवी होने के नाते प्रस्ताव है।

'रासो' का काव्यत्व

'रासो' की प्रामाणिकता के संबंध में अनेक कठिनाइयों के होते हुये भी उसका साहित्यिक मूल्यांकन उसे उच्चकोटि का काव्य प्रमाणित करता है। भले ही वह पूर्ण रूप से १२ वीं शताब्दी की रचना न हो उसमें प्रधान घटनाएं सर्वथा अनैतिहासिक तथा कल्पित हों और भले ही उसका रचयिता चन्दबरदाई पृथ्वीराज का समकालीन न हो (यद्यपि अब उसके अस्तित्व और पृथ्वीराज के समकालीन होने में कोई सन्देह करना व्यर्थ है) तथापि ऐतिहासिक वादविवादों से परे 'पृथ्वीराज रासो' जैसा जो कुछ हमारे सामने है, वह सौन्दर्य की दृष्टि से एक अनूठी रचना है। इतिवृत्तात्मकता और रसात्मकता का जैसा सुन्दर संयोग जायसी के 'पद्मावत' में मिलता है वैसा ही हमें 'रासो' में भी दिखायी देता है। विशेष रूप से वस्तु वर्णन और भावाभिव्यञ्जना की दृष्टि से 'रासो' एक नितान्त कलात्मक रचना है। साथ ही उसका बाह्यरूप भी उतना ही सुन्दर बन पड़ा है। यहाँ कथाविस्तार, वस्तुवर्णन भावव्यंजना और कलापक्ष चमत्कार छंद योजना और भाषा की दृष्टि से 'रासो' का संक्षिप्त मूल्यांकन किया जा रहा है।

कथाविस्तार—'रासो' मे चन्दवरदाई की कल्पना कुशलता और प्रवन्ध-निर्वाह का अच्छा निदर्शन मिलता है। कवि ने अनेक प्रसगो की कल्पना करके उन्हे इतनी मार्मिकता से चित्रित किया है कि पाठक कवि के कौशल पर मुग्ध हुये विना नही रह सकता। अपने वर्तमान रूप मे भी 'रासो' मे कथा के विन्यास और सबध निर्वाह का यह गुण सर्वत्र मिलता है। राजपूत सामन्तो के अदम्य साहस, युद्ध वीरता स्वाभिमान प्रतिज्ञापालन और महान् पौरुष के साथ उनके वैभव—विलास, क्रीडा-विनोद आदि तथा उनकी रमणियो की पवित्र धार्मिकता, पति-परायणता, उच्च कर्त्तव्य भावना और हसते-हसते ज्वाला पुञ्जो का आलिगन करने की उत्कट उत्सुकता के सजीव और मार्मिक प्रसगो की योजना और उनका रसानुकूल चित्रण हमे मुग्ध कर लेता है और थोडी देर के लिये हमारी तर्क वुद्धि हमे रसमग्न होने के लिये छूट दे देती है।

'रासो' मे चदवरदाई ने मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रसगो को विशेष विस्तार और रसात्मकता की पूरी योजना के साथ चित्रित किया है—

(१) पृथ्वीराज के शौर्य के प्रसग-युद्धो के वर्णन।

(२) पृथ्वीराज के विवाह-प्रसग—इछिनी, पद्मावती शशिव्रता, इन्द्रावती, हसवती और सयोगिता आदि रानियो से विवाह के प्रसग।

(३) पृथ्वीराज के आखेट।

(४) पृथ्वीराज के विलास-होली तथा दीपमालिका के उत्सव।

वस्तु-वर्णन—चदवरदाई वस्तु-वर्णन मे विशेष रूप से रमे दिखाई देते हैं। 'रासो' मे व्यूह-वर्णन, नगर-वर्णन, पनघट-वर्णन, विवाह-वर्णन, युद्ध-वर्णन तथा उत्सव, ज्योनार, षड्ऋतु, वारह मासा, रूप सौन्दर्य आदि के वर्णन नितान्त मनोहारी हुये हैं। षड्ऋतु, वारहमासा, तथा नखशिख और रूप सौन्दर्य के वर्णन मे तो चन्द कवि की प्रतिभा विशेष तीव्रता से मुखर हो उठी है। कवि ने ऐसे वर्णनो के लिये बडे ही मार्मिक स्थल चुने हैं। इन वर्णनो की विशेषता है उनमे भाषा और भाव, ध्वनि और विम्ब का सुन्दर सामजस्य। वसन्तऋतु का एक भाव-सापेक्ष्य चित्र द्रष्टव्य है—

मवरी अब फुतिलग कदब रयनी विद्य दीस।
भँवर भाव भुल्लैवसन्त मकरन्द वरीस॥
वहत वात, उज्जलत, मौर, अति विरह अमिनि किय।
कुहुकुहुन्त कल कन्ठ पत्र राषस मति अगिय॥

इन पक्तियो में रानी इछिनी पृथ्वीराज से कह रही है—प्राणनाथ, इस ऋतु में भला कोई वाहर जाता है? जब आम वौरा गये हो, कदम्ब फूल चुके हो, रात्रि की दीर्घता में कोई कमी न आई हो, भ्रमर भावमन्त होकर भूम रहे हो, मकरन्द की झडी लगी हुई हो, मन्द मन्द पवन विरहाग्नि को सुलगाने मे लगी हो, कोकिल कूक रही हो, और किसलय रूपी राक्षस प्रीति की आग लगा रहे हो तव कैसे कोई युवती रमणी अपने प्रिय को वाहर जाने की अनुमति दे सकती है, भाव-सापेक्षता चन्द की चिन्तनकला का प्रमुख गुण है, जो युद्ध से लेकर नखशिख और रूप सौन्दर्य के वर्णन तक में समान रूप से मिलता है। विस्तार भय से और कोई उदाहरण न देकर आचार्य

हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में हम चन्द की वस्तु वर्णन-कुशलता का निष्कर्ष इस प्रकार दे सकते हैं वे केवल कल्पना विलासी ही नहीं निपुण मंत्रदाता के रूप में भी सामने आते हैं। चाहे रूप और शोभा का वर्णन हो चाहे वस्तुवर्णन की उत्फुल्लता का प्रसंग हो या युद्ध की भेरी का प्रसंग हो चन्दबरदाई सर्वत्र एक समान अविचलित और प्रसन्न दिखाई देते हैं। रूप और सौन्दर्य के प्रसंग में तो उनकी कविता रुकना ही नहीं चाहती।

भाव व्यंजना—वस्तु-वर्णन के साथ चन्दबरदाई भावाभिव्यंजना में विशेष प्रवण दिखाई देते हैं। डॉक्टर श्यामसुन्दर दास के शब्दों में रसात्मकता के विचार से रासो की गणना हिन्दी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थों में हो सकती है।

'रासो' युद्ध प्रधान काव्य है, और पृथ्वीराज का सदृश वीर योद्धा का जीवन वृत्तान्त होने के कारण इसमें उस समय की आदर्श वीरता का चित्रण मिलता है। इसीलिए इस काव्य में रसानुगुण भाषा द्वारा वीर भावों की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति देखने को मिलती है जिसमें कवि की कल्पना ने विशेष योग दिया है। क्षात्र-धर्म और स्वामि-धर्म का निरूपण करने वाले इस काल में तेजस्वी क्षत्रिय वीरों का युद्धोत्साह और तुमुल तथा वे घोर युद्ध देखते ही बनते हैं। वीर भावों की अभिव्यक्ति में कवि विशेष रूप से रमा है। आलम्बन उद्दीपन अनुभाव और सचारी भावों की सांगोपांग योजना का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> हृवक्कयं सवेमर । निसान बज्जि घुम्मरं ॥
> नफेरि बीर बज्जई । मृदंग सस्सरो भई ॥
> सुनंत हँस रज्जई । ततीस राग सज्जई ॥
> सुभेरी सु रूप धन । अचल्ल काहि संभान ॥
> उसाह सच्च ते बसे । सस्तुन्न ब वि ले भसे ॥
> ससूर सूरयं कलं । दिनं सु सप्तमी बलं ॥

'रासो' में शृंगार को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। युद्धवीर स्वभावतः रति प्रेमी होते हैं। प्रथम मिलन का निम्नलिखित वर्णन जिसमें शशिव्रता के हृदयस्थ रति स्थायी भाव की उसके अंगों सहित व्यंजना हुई है चन्दकवि की कवित्व शक्ति का पूर्ण परिचय देता है—

> कर्म प्रयत्त कटाछ सुरंग बिराजही।
> कल पुच्छम की लाहि पै पुच्छम लाजही ॥
> बैन सैन में बात अवभनसो कहैं।
> काम किथौ प्रथिराज मेवकरि ना नहैं ॥
>
> × × ×
>
> चौहान हथ्थ बाला गहिव सो ओपम कवि चंद कहि।
> मानों कि लता कंचन लहरि मत्त बीर गजराज गहि ॥

वीर और शृंगार के अतिरिक्त रौद्र भयानक वीभत्स आदि रसों की सुन्दर योजना भी 'रासो' में मिल जाती है। हास्य शान्त और करुण के वर्णन 'रासो' में हमें

रस-निष्पत्ति को परिपूर्णता तक कभी नही पहुचा सकता । अतएव उस भाव को उद्दीप्त करने वाले तत्त्व भी अपेक्षित होते हैं । वे तत्त्व उद्दीपन कहलाते हैं । इनमे एक ओर तो आलम्बन के गुण और उनकी चेष्टायें सम्मिलित हो जाती हैं और दूसरी ओर प्राकृतिक परिस्थितियाँ तथा वातावरण भी उसको उद्दीप्त करता है । विभाव के ये ही तीन प्रमुख भेद माने जाते हैं ।

नायिका-नायक भेद

जहाँ तक पात्रो के वैविध्य का प्रश्न है इस दिशा मे मनोविज्ञान का सहारा लेकर काव्यशास्त्र के आचार्यो ने वर्गीकरण करने की चेष्टा की है । किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि स्त्री-चरित्र तथा स्त्री-मनोविज्ञान कुछ अधिक जटिल है । इसके कई कारण हैं, एक तो सामाजिक बन्धन जितने स्त्री के लिए हैं उतने पुरुषो के लिए नही हैं । इसलिए प्रेमप्रवृत्ति होने पर भी स्त्रीजाति को समाज से छिपना पडता है और उनका उन्मुक्त विहार प्रतिहत हो जाता है । दूसरी बात यह है कि सहवास मे पुरुष क्रियाशील होता है । किन्तु स्त्री को यह सौभाग्य प्राप्त नही होता । अत उनका सुरत पराधीन होने के कारण स्वभावत स्वच्छन्द नही हो सकता । इसलिये भी उनकी मनोवृत्ति विचित्र बन जाती है । एक बात यह भी है कि स्त्रीजाति मे भावगोपन की प्रवृत्ति सविशेष मात्रा मे होती है । जिसके प्रति उनका अनुराग होता है उसी से भाव छिपाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है । महती उत्कण्ठा मे भी प्रियतम की प्रार्थना के अवसर पर प्रतीप आचरण, गुणानुसरण मे भी दोषदर्शन, अभिमत वस्तु मे भी निषेधात्मक विधि ये कुछ स्त्रीचरित्र की स्वभावगत विशेषताएँ हैं । यही कारण है कि भारतीय काव्य-शास्त्रियो ने नायिकाभेद का अधिक गहराई से विवेचन किया है, फलत नायिकाओ की सख्या भी बहुत अधिक बढ गई है ।

सस्कृत-साहित्य मे नायिका-भेद पर कामसूत्र' और 'नाट्यशास्त्र' दोनो का व्यापक प्रभाव है । कामसूत्र जहाँ एक ओर यौन सम्बन्ध के विषय मे अधिकारी ग्रन्थ है वहाँ दूसरी ओर उसमे नायिकाओ के स्वभाव और प्रभाव का भी यथेष्ट वर्णन प्राप्त होता है । वस्तुत इस ग्रन्थ के विवेचन मे मनोविज्ञान की स्पष्ट छाया दृष्टिगत होती है । नाट्यशास्त्र मे भी स्त्रियो के शील का पर्याप्त विस्तार के साथ प्रतिपादन मिलता है । यद्यपि इस ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य अभिनयकला है किन्तु प्रसगवश अन्य विषयो का भी पर्याप्त विस्तार किया गया है । नायिका भेद भी उनमे एक है । इन दो ग्रन्थो के अतिरिक्त नायिकाभेद के प्रमुख ग्रन्थ हैं—धनञ्जय का 'दशरूपक', भानुदत्त की 'रस मञ्जरी' और विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' । इन ग्रन्थो और विशेषकर भानुदत्त की रस मञ्जरी के आधार पर हिन्दी साहित्य के रीतिकाल मे नायिकाभेद-विषयक बहुत से ग्रन्थ लिखे गये । वास्तविकता यह है कि नायिका-भेद रीतिकाल के प्रमुख विषयो मे एक रहा है । आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरण मे भी अनेक पुस्तकें लिखी गईं । इन सभी ग्रन्थो मे लेखको के अपने दृष्टिकोण के अनुसार कही-कही परिवर्तन

को छोड़कर पद्य में इस प्रकार के काव्य लिखने की प्रथा खूब चली। डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था विवरण-संग्रह की ओर कम कल्पना विलास का अधिक मान था तथ्य निरूपण का कम संभावनाओं की ओर अधिक रुचि थी घटनाओं की ओर कम। 'रासो' भी इसी परम्परा में लिखा गया ऐतिहासिक चरितकाव्य है और उसका वर्तमान रूप जिसमें इतिहास के स्थान पर कल्पना का प्राधान्य है इस परम्परा के अनुकूल ही है।

(ख) रासो एक रासक काव्य—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'रासो' एक रासक काव्य है। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में 'रासो' या 'रासक काव्यों' को गेयरूपक माना है। ये गेयरूपक तीन प्रकार के होते थे—मसृण अर्थात् कोमल उद्धत और मिश्र। चन्द का 'पृथ्वीराजरासो' प्रधान रूप से उद्धत प्रयोग प्रधान और मसृण प्रयोगयुक्त मिश्र गेयरूपक है।

(ग) वीरकाव्य की दृष्टि से 'रासो' का मूल्यांकन—वीर रस को प्रमुखता देकर काव्यरचना की परम्परा अपभ्रंश से ही चली आ रही थी। इस प्रकार के वीरकाव्यों की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—वीर रस की प्रधानता ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना और अतिशयोक्ति की भरमार वीरकथाओं के साथ-साथ शृंगारिक कथाओं का योग कथाओं की बहुलता युद्धादि के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन ओजगुण प्रधान भाषा आदि। जैसा कि 'रासो' की प्रामाणिकता और काव्यत्व-सम्बन्धी चर्चा में बताया जा चुका है 'रासो' में ये सभी विशेषताएँ मिलती हैं। वह प्रधान रूप से वीर रस का काव्य है और उसमें शृंगार का भी योग है। अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तो 'रासो' में भरे पड़े हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विषय वर्णन और रसात्मकता की दृष्टि से 'रासो' एक सफल वीर काव्य बन पड़ा है।

उपसंहार

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि 'रासो' अप्रामाणिकता-सम्बन्धी अनेक आक्षेपों के बावजूद हिन्दी साहित्य का अद्वितीय गौरव ग्रन्थ है। अपने वर्तमान रूप में उसमें प्रक्षेपों की भरमार है इसमें सन्देह नहीं परन्तु इस रूप में भी वह काव्यगुणों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। रसात्मकता और कलात्मकता का उसमें वैसा ही योग मिलता है जैसा रससिद्ध अमर महाकवियों की वाणी में अपेक्षित है। हिन्दी के आदि महाकवि के रूप में चन्दबरदाई की कीर्ति सदैव अक्षुण्ण रहेगी यह उसके काव्य से स्पष्ट प्रमाणित हो चुका है। रससिद्ध वाणी का वह अमर गायक भला कैसे भुलाया जा सकता है?

गिने या नही के बराबर ही मिलेंगे ।

कलापक्ष अलकार छन्दयोजना और भाषा—भावुकता और सहृदयता के साथ चन्दवरदाई मे चमत्कार और कलात्मकता भी प्रचुरता से मिलती है । कोमल कल्पनाओ और मनोहारिणी उक्तियो द्वारा अपूर्व काव्य चमत्कार की सृष्टि चन्द की कविता की विशेषता है । ऐसे स्थलो पर रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारो का प्रयोग प्राय मिलता है । उत्प्रेक्षा पर तो कवि का असाधारण अधिकार है । दो उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं ।

(क) छुटि मृगमद कै काम छुटि, छुटि सुगध की बास ।
तु गमनो ह्वौ तन दियौ, कञ्चन सभ प्रकास ।।

(ख) चौहान हथ्थ वाला गहिय, सो ओपन कवि चद कहि ।
मानो फिलता कचन लहरि मत्तवीर गजराज गहि ।

रूपक अलकार का एक उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

काव्य-समुद्र कविचन्द कृत मुगरि समप्पन ज्ञान ।
राजनीति वोहिथ सफल, पार उतारन यान ।।

छद-योजना की दृष्टि से 'रासो' एक विचित्र रचना कही जायेगी । अत्यन्त विशाल आकार के इस काव्य मे लगभग ३०-३२ मात्रावृत्त, छ सयुक्त वृत्त, ३० वर्णवृत्त और चार अन्य प्रकार के छन्दो का प्रयोग मिलता है ।

छन्द के समान ही 'रासो' मे भाषा-रूपो मे अद्भुत विविधता मिलेगी । डॉक्टर विपिनविहारी त्रिवेदी के शब्दो मे, "भाषाशास्त्री को यदि भारत की गौडीय भाषाओ की अभिसधि देखनी हो तो 'रासो' से अधिक चमत्कृत करने वाला दूसरा कोई काव्य-ग्रन्थ उसे न मिलेगा ।" 'रासो' की भाषा मे बौद्धिक, सस्कृत, पालि, पैशाची, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रश, प्राचीन राजस्थानी, प्राचीन गुजराती, पजाबी, व्रज आदि भारतीय आर्यभाषाओ के शब्दो के अतिरिक्त अरबी, फारसी और तुर्की शब्दो की अनोखी खिचडी तैयार मिलती है और साथ देशज शब्दो का भी प्रचुरता से प्रयोग किया गया है । सक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि 'रासो' की भाषा प्राचीन तत्त्वो से पूर्ण मिश्रित भाषा है जिसमे अनेक भाषाओ के प्रयोग समान रूप से मिलते हैं ।

'रासो' की काव्य-शैली

'पृथ्वीराजरासो' की काव्यशैली पर विचार करते हुए मुख्य रूप से तीन बातो की चर्चा की जा सकती है—(क) 'रासो' एक चरित काव्य है, (ख) 'रासो' एक रासक काव्य है, और (ग) 'रासो' एक वीरकाव्य है । यहाँ सक्षेप मे इन दृष्टियो से 'रासो' का मूल्याकन प्रस्तुत है ।

(क) 'चरितकाव्य' के रूप मे 'रासो' का मूल्याकन—ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर उनके 'चरित' की विशेष व्याख्या करने वाले ऐतिहासिक चरितकाव्यो की रचना भारतीय साहित्य मे प्राचीन काल से होती चली आ रही है । 'हर्षचरित' समसामयिक राजा के नाम से लिखा गया ऐसा प्रथम चरित काव्य है । बाद में गद्य

श्री धम्भूप्रसाद बहुगुना के शब्दों में 'राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः' से प्रारम्भ होने वाली उनकी 'कोमल-कान्त-पदावली' 'वासुदेव रति-केलि-कथा-समेत' थी। और राधा कृष्ण के रूप में देश के युवक और युवतियों के प्रेममय जीवन की एक झलक इनके काव्य में विद्यमान थी।

प्रेम और सौन्दर्य के अमर गायक कवि विद्यापति

'अभिनव जयदेव' के नाम से विख्यात होकर कवि विद्यापति जयदेव के चलाये हुए मार्ग पर सफलतापूर्वक चले। जयदेव के गीतगोविन्द में राधाकृष्ण को जो स्थान मिला था वही स्थान विद्यापति ने उन्हें अपनी 'पदावली' में दिया। जयदेव के 'गीतगोविन्द' में जिस प्रकार 'राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः' से प्रारम्भ होने वाली 'वासुदेव रति-केलि-कथा समेत' वाणी विलासकला के कुतूहल को दूर करने वाली है उसी प्रकार विद्यापति की वाणी भी 'विलासकला' की वस्तु है। जयदेव के पद यदि इतने सुन्दर हैं कि सुन्दरता से चेतना जड़ हो जाती है तो विद्यापति के पदों में भी काम-बाणों की-सी प्रखरता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में विद्यापति की नवीन प्रेमभरी कविता भी आपके इस (विलास कला के) कुतूहल को दूर कर सकती है। यही नहीं विद्यापति ने अपने पूर्ववर्ती सभी शृंगारी कवियों से सामग्री लेकर अपने काव्य की विलासकला को विशेष रूप से बढ़ाया है। महाकवि कालिदास की शृंगार रस प्रधान वाणी गाथा सप्त-शती आर्या सप्तशती आदि मुक्तक काव्यों के रसाप्लुत श्लोक और श्रीमद्भागवत तथा मम्मट आदि आचार्यों के शृंगार पूर्ण ग्रन्थ उनके सामने थे। विद्यापति ने अपनी शृंगार भावना की अभिव्यक्तियों में इन सभी से प्रेरणा ग्रहण की है और निस्संदेह वे उनसे कुछ कदम आगे निकल गये हैं।

इस प्रकार शृंगार-परम्परा की पूरी विरासत से लाभ उठाकर अपनी वाणी का वैभव बढ़ाने वाले कवि विद्यापति प्रेम और सौन्दर्य के अमर गायक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी कविता में राधाकृष्ण के रूप में स्वस्थ-तरुण तरुणियों के यौवन की शृंगारी प्रेम लीलाओं के एक से एक सुन्दर और मधुर गीत गाये गये हैं। नारी-सौन्दर्य की यह झाँकी कितनी मोहक और चित्ताकर्षक है।

> 'मेलि कामिनी गजहु गामिनी विहुसि पलटि निहारि।
> इन्द्रजालक कुसुम सायक कुहुक भेलि वर नारि ॥
> जोरि भुज युग मोरि बेढ़ल ततहि वयन सुछन्द।
> दाम चम्पक काम पूजल जैसे सारद चन्द ॥

उस कामिनी (राधा) के नयनमन अपांग वीक्षण इन्द्रजाली पुष्पबाण जैसे के फूलों की रस्सी जैसे बाहु-पाश सुमधुर वचन और शरद्-चन्द्र जैसे मुखमण्डल से तरुण हृदयों में प्रेम की रसधारा उमड़े बिना नहीं रह सकती।

विद्यापति का शृंगार-वर्णन विविध पक्ष

विद्यापति की पदावली में शृंगारी प्रेमलीलाओं के विविध रस प्रवण-चित्र मिलते हैं यह ऊपर कहा जा चुका है। कवि ने शृंगार की विशद् व्यंजना के लिए

: ८५ :

विद्यापति का शृङ्गार-वर्णन

१• भूमिका-राधा कृष्ण-सबधी कथाओं में शृगारिकता का विकास
२• कवि विद्यापति प्रेम और सौन्दर्य के अमर गायक
३ विद्यापति का शृंगार-वर्णन-विविध पक्ष
४• विद्यापति का सयोग-शृंगार
५ विद्यापति का वियोग-वर्णन
६• विद्यापति के शृगार-वर्णन की प्रमुख-प्रवृत्तिया
७ उपसहार विद्यापति के शृगार-वर्णन का निष्कर्ष

साहित्य मे भक्ति और शृ गार का मिश्रण अनादिकाल से चला आता रहा है। भावुकभक्त अपनी भक्ति की भाव-लहरो मे अपने उपास्यदेवो मे शृ गार की कलपना भी करता है। प्रारम्भ मे यह शृ गार-भावना गौण रूप मे आती है, परन्तु उपयुक्त परिस्थितिया पाकर शृ गार-भावना बल पकड जाती है और भक्ति पर शृगार का ऐसा आवरण चढ जाता है कि उसका अस्तित्त्व समाप्त-सा हो जाता है। हमारा साहित्य भी शृगार के इसी क्रम विकास की सूचना देता है। भारतीय जीवन और साहित्य के स्वर्ण युग मे सयम और त्याग की शालीन धाराएँ—भक्ति की पावन अनुभूतियाँ—विलासिता और ऐश्वर्य की कोमल चेतनाओ– शृगार की भावपूर्ण अनुभूतियो—के साथ मिलकर साहित्य मे आती हैं। बदली हुई परिस्थिति के आन्दोलनो के युग मे शिव-पार्वती या राधाकृष्ण की शृ गारी कथाएँ कवियो और भक्तो के लिये उर्वरा भूमि के समान सिद्ध हुई हैं। प्रारम्भ मे शृ गारी साहित्य मे शृ गार के साथ-साथ भक्ति के दर्शन भी हो जाते हैं, किन्तु धीरे-धीरे शृ गारी भावनाओ के अकुर शृगार के लहलहाते हुए खेतो मे परिणत हो जाते हैं और भक्ति के कही दर्शन भी नही होते। साहित्य मे राधा-कृष्ण सम्बन्धी कथाओ की भावधारा के सम्बन्ध मे हमे यही क्रम देखने को मिलता है। युग की सामयिक परिस्थितियो में कर्मण्यशील पुरुषत्व के साथ स्त्रीत्व का समावेश हो जाने पर व्यक्तिगत पारस्परिक सघर्ष जिस दिन से पुरुषत्व को स्त्रैण बनाने में सफल हो जाता है, उसी दिन से साहित्य में कृष्ण राधा के पुच्छल तारे बन जाते है। इस रूप में गवा को प्रसिद्धि में लाने वाले प्रथम कवि पीयूषवर्षी जयदेव थे। सस्कृत साहित्य मे उनका आविर्भाव एक महत्त्वपूण घटना है। विलास-कथाओ के कुतूहल को विषय बनाने वाली उनकी मधुर-कोमल कान्त-पदावली राधा कृष्ण के मोहक चित्र प्रस्तुत करती है

नारी सौन्दर्य-वय सन्धि, सद्यस्नाता के चित्र, प्रथम दर्शन, प्रेमोत्कण्ठा, सखी-शिक्षा, मिलन, मान विदग्धविलास और विरह-इन विविध पक्षो की विस्तृत अभिव्यक्ति अपने साथ मे की है।

शृगार रस की व्यञ्जना मे दो पक्ष होते हैं—१ सयोग शृगार और २ वियोग शृगार। यहाँ विद्यापति के साथ मे इन दोनो पक्षो की व्यञ्जना पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

विद्यापति का सयोग-श्रृ गार

शृगार के सयोग-पक्ष मे प्रथम दर्शन से लेकर मिलन तक के अनेक प्रसगो की व्यजना आती है। विद्यापति की सूक्ष्म दृष्टि उन सभी प्रसगों की ओर गई है। वास्तव मे विद्यापति सयोग शृ गार के ही कवि है और उनके काव्य मे जितनी विस्तृत व्यजना सयोग शृ गार की मिलती है उतनी वियोग शृ गार की नही। राधा और कृष्ण के अनेक भावोद्बोधक सयोग-चित्र विद्यापति की पदावली मे इतनी सजीवता और मार्मिता से प्रस्तुत किये गये हैं, कि उनके पढने से वे चित्र आँखो के सामने साकार हो उठते हैं। उन्होने राधा-कृष्ण को परस्पर आलम्बन और आश्रय बनाकर वय सन्धि, दूती वसत आदि शृ गारी के उद्दीपन विभावो और उनके साथ सचारी भावो तथा अनुभावो का रसानुकूल वर्णन किया है। इस वर्णन मे मद का विशेष समावेश हुआ है

प्रथम मिलन और प्रेमोत्कण्ठा—विद्यापति के शृ गार-वर्णन मे प्रथम-मिलन के मादक चित्रो की प्रचुरिता है।

प्रथम मिलन का एक दृश्य द्रष्टव्य है—

"माधव पेखल रमनि सधान। घाटहि भेटल करत सिनान॥
तनसुक सुबसन हिरदय लागि। जे पुरुष देखब सोइ कर भाग॥

यहाँ रसोद्बोधन के लिए आलम्बन का उद्दीपक वर्णन नितान्त उपयुक्त बन पडा है। राधा के इस रूप को देखकर उद्वुद्ध कृष्ण के मनोभाव भी द्रष्टव्य हैं—

"आज मभु शुभ दिन भेला। कामिनी पेखल सनानक बेला॥
तेइ उदसल कुचजोरा। पटलि वैसा ओल कनक कटोरा॥"

× × × ×

"आज देखल धनि जाइत रे, मोहि उपजत रग।"

विद्यापति की राधा मे प्रेमोत्कण्ठा का बडा सुन्दर समावेश हुआ है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विद्यापति को राधा का जो चित्र खीचा है, वह द्रष्टव्य है, "विद्यापति की राधा नवीना है, नवस्फुटा है, हृदय की सारी नवीन वासनाएँ पख फैलाकर उडना चाहती हैं, पर अभी रास्ता नहीं मालूम। कुतूहल और अनाभिज्ञता—वश वह जरा अग्रसर होती है, फिर सिकुडे आँचल की ओट मे अपने एकान्त कोमल घोसले मे फिर जाती हैं। नवीना का नया प्रेम जिस प्रकार मुग्ध, मिश्रित, विचित्र, कौतुक कुतूहल पूर्ण हुआ करता है, उससे इसमे कुछ भी कमी नहीं है।" प्रथम मिलन का एक चित्र और द्रष्टव्य है, जिसमे राधा के इस मुग्धा, नवीना और प्रेमोत्कण्ठापूर्ण स्वरूप की झाँकी के साथ-साथ शृ गार रस की पूरी सामग्री मिल जाती है—

मिल गये हैं आँखों ने कान का रास्ता ले लिया है वाणी में चातुर्य आ गया है हास्य की रेखा अधरों पर खेलने लगी है पृथ्वी पर आकाश का चन्द्र प्रकाशित हो उठा है—

शैशव यौवन दुहुँ मिलि गेल। स्रवनक पथ दुहुँ लोचन लेल ॥
बचनक चातुरी लहु लहु हास। धरनीए चाँद करए परगास ॥

विद्यापति ने राधा की जो मूर्ति खड़ी है वह विश्व के अन्यतम सौन्दर्य को अपने में समेटे हुए हृदय को स्पर्श करने वाली और हृदय के सूक्ष्म तारों को भी झंकृत कर देने वाली है। राधा का एक और चित्र लीजिए। राधा का आधा आँचल खिसक गया है आधे मुख तक हंसी आकर रुक गई है आधे झुके हुये उरोज पर दृष्टि बंध गई है। मोतियों की भांति झलकती हुई दन्त पंक्ति पर प्रवाल जैसे अधर मिल गये हैं और वह मृदु भाषा में बातें कर रही है। उसे देखकर कृष्ण की आशा कैसे पूरी उसे देखते भी नहीं अघाता।

आध आँचर खसि आध बदन हँसि आधहि नयन तरंग।
आध उरज हेरि आध आँचर भरि तब धरि दगधे अनंग।
दसन मुकुता पाँति अधर मिलायत मृदु मृदु कहत कि भाषा।
विद्यापति कह अतए से दुख रह हेरि-हेरि न पुरल आसा ॥

सौन्दर्य-चित्रण में विद्यापति ने प्राकृतिक उपादानों का सुन्दर प्रयोग किया है। राधा के घने काले बाल खुलकर उरोजों पर बिखरे हैं उनसे उलझे हुये हार के मोती ऐसे प्रतीत होते हैं मानों चन्द्रविहीन ताराओं का उदय सुमेरु पर्वत पर हुआ हो—

कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपरि मिलि ऊगल चाँद विहीन सब तारा ॥

विद्यापति की राधा का यह चित्र अपनी शालीनता और प्राकृतिक सम्पदा के कारण सहृदयों के मन नारी सौन्दर्य में लीन करने में पूर्णरूपेण समर्थ है। कवि ने कृष्ण के रूप का ऐसे ही हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत किये हैं। कृष्ण के कमल के समान सुन्दर चरण चन्द्रज्योत्स्ना के समान दीप्त नख श्याम शरीर नवीन कोपलों के समान कोमल तथा ललिमामय हथेलियाँ निर्मल बिम्बाफल के समान अधरोष्ठ कीर के समान नासिका चंचल खंजन पक्षी के नेत्रों के समान सुन्दर नेत्र काली और घनी कुन्तल केशराशि और मयूर पंखों से बना मुकुट उनके इस रूप की एक सरस झाँकी कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से बड़ी सहजता से चित्रित कर दी है—

कमल जुगल पर चाँदकमाला। ता पर उपजल तरुन तमाला।
तापरि बेढ़लि बिजुरी लता। कालिंदी तट धीरे चलि जाता ॥
साखा सिखर सुधाकर पाँती। ताहि नव पल्लव अरुनक भाँती।
विमल बिम्बफल जुगल विकास। तापरि कीर थीर कय बास।
तापर चंचल खंजन जोर। तापर साँपिनि झाँपल मोर।

"कि कहब हे सखि आनँद ओर ।
चिर दिने माधव मन्दिर मोर ।।"

चिरकाल के वाद के मिलन से पूर्व के सारे दुख प्रिय के मिलते ही न जाने कहाँ चले गये । प्रिय के दर्शन से हृदय की सारी साधे पूरी हो गई —उसके आलिगन मे प्राप्त सुख से शरीर मे रोमाच हो आया और अधर-रस का पान कर वह विरह का सारा दुख भूल गई । निम्नलिखित पक्तियो मे राधा के इसी प्रेमोल्लास का चित्रण कवि ने किया है ।

वारुन वसन्त जत दुख देल । हरि मुख हेरइते सब दुख गेल ।।
पाप सुधाकर जत दुख देल । पिया मुख दरसने तत सुख भेल ।।
यतहु आछल मोर हृदयक साध । से सब पूटल हरि परसाद ।।
रसभ अलिगने पुलकित भेल । अधर कपाने विरह दूर गेल ।।

प्रियमिलन के वर्णन मे राधा के प्रेमोल्लास की और भी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है । प्रियमिलन का वर्णन करते-करते विद्यापति की राधा आनद गद्-गद् हो उठती है । वह प्रिय की प्रीति कह नही सकती । उस प्रीति की भावोल्लासमय झाँकी निम्नलिखित पक्तियो मे द्रष्टव्य है—

पियाक पिरीति हम कहइ नइ पार । लाख बयान बिहि न देल्ह हमार ।।
करे घर पिया मोर बइठावल कोर । सुगन्धि चन्दने तनु लेपल मोर ।।
आपनि माल तिमाल हिया से उतारि । कठे पहिरावल यतने हमारि ।।
फूयल कबरी बाँधल अनुपाम । ताहे वेढ़यल चमाक दाम ।।
मधुर मधुर दिठि हेरय बयान । आनन्द जले परिपूरल नयान ।।
भनय विद्यापति इह परसग । धुनि भूतल कहइते रजनीक रग ।।

राधा के प्रेमोल्लासपूर्ण हृदय की वाणी यहाँ सहृदयो को भी रसात्मक करने मे समर्थ है । वह सखियो से अपने प्रिय-मिलन की कहानी कह रही है 'प्रिय ने मुझे हाथ पकड गोद मे बैठाया और मेरे शरीर मे सुगन्ध और चदन का लेप किया ।

अपने हृदय की मालती माला उतार का वटे यत्नपूर्वक मेरे गले मे पहना दी । अनुपम रूप से मेरे लम्बे केश बाँध दिये, उसमे चम्पे की फूलो की माला लपेट दी, मधुर दृष्टि से मुख निहारने लगा , आनन्द से उसकी आँखें भर आई ।' यह प्रसग कहते हुए राधा भी रात के रस रग मे भूल गई । यह रसरीति निश्चय ही अपूर्व है । विद्यापति के साथ मे इस प्रकार के प्रसगो की ऐसी ही रसात्मक व्यजना प्राय मिलेगी ।

शृ गार मे आलम्बन का चित्रण सौन्दर्य-वर्णन—शृ गार मे नायक-नायिका परस्पर आलम्बन होते हैं, अत रस के उद्दीपन के रूप मे दोनो के रूप-सौन्दर्य का चित्रण शृ गार मे मिलता है । इस दृष्टि से जितनी सफलता विद्यापति को मिली है, उतनी हिन्दी के किसी अन्य कवि को नही । उनकी राधा तो अपूर्ण सृष्टि है । वह विलासकतामयी, किशोरी है । यौवन का ईषद् उद्भेद हुआ है । रूप लावण्य की कीर्ति से वह दीप्त है । वय सन्धि के चित्रण मे कवि ने उसकी जो रूप रेखा प्रस्तुत की है, नितान्त मोहक है एक चित्र लीजिये वय सन्धि की अवस्था है शैशव और यौवन दोनो

झंपि घन गरजंत संतत भुवन बरसंतिया ।
कंत पाहुन काम दारुण सघन खरसर हन्तिया ॥
कुलिस कतसत पात मुदित मयूर नाच मातिया ।
मत्त दादुर डाक डाहुक फाटि जायत छतिया ॥
तिमिर दिग भरि घोर यामिनि अथिर बिजुरिक पाँतिया ।
विद्यापति कह कइसे गमाओब हरि बिना दिन रतिया ॥

इन पंक्तियों मे विरह की बड़ी करुण व्यञ्जना हुई है। विरहिणी का हृदय यहाँ जैसे घनीभूत पीड़ा का आगार हो गया है। इसकी विशेषता यह है कि कवि यहाँ एक ओर तो वर्षा के उद्दाम रूप की स्वाभाविक झाँकी प्रस्तुत करने में सक्षम हुआ है दूसरी ओर विरहिणी की व्यथा की मार्मिक अभिव्यक्ति भी इन पंक्तियों म हुई है। साथ ही यहा जब सारे संसार को अपनी घनघोर वर्षा से आप्लावित करते हुए मेघों का वर्णन और इस उद्दीपन से बढ़ती हुई वियोग व्यथा का चित्र उतारने की आवश्यकता हुई है कवि ने हृदयस्थ व्यथा के अनुकूल ही लघु और दीर्घ चरणों का प्रयोग एक ही पद म करके भावानुकूल छन्द योजना द्वारा विरह की अतीव स्वाभाविक मार्मिक और कलात्मक अभिव्यक्ति की है।

वियोग-वर्णन में विद्यापति ने षड्ऋतु वर्णन और बारहमासा की पद्धति को भी अपनाया है। प्रकृति के वातावरण से उद्दीपन की यह व्यञ्जना द्रष्टव्य है—

मोर पिया सखि गेल दूरि देस ।
जौबन दए गेल साल सनेस ॥
मास असाढ़ उनत नव मेघ ।
पिया बिसलेस रहओं निरथेघ ।
कौन पुरुष सखि कौन सो देस ।
करब मोय तहाँ जोगिन बेस ।

वियोग की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण—वियोग की विभिन्न अवस्थाओं के चित्र भी विद्यापति के काव्य मे मिल जाते हैं। विरहिणी को जो वस्तुएं संयोग के समय आनन्द देने वाली थी वे ही अब उसकी वियोगावस्था मे वेदना की तीव्रता का कारण बन रही हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में उद्दीपन की यही अवस्था चित्रित है—

कानन कान तए अधिक कतए उपवन अति उतरोले रे ।
मलय पवन बहु रहु घर देख कानन विधिप्रतिकूले रे ॥

प्रकृति के विभिन्न उपादानों द्वारा स्मरण दशा का चित्र भी द्रष्टव्य है—

कत दिन पूछब यह हाहाकार । कत दिन पूछब गुरु दुख भार ॥
कर दिन चांद कुसुम तुय भेलि । कत दिन कमल भमर कर केलि ।

विरह मे प्रिय-दर्शन की कामना ही विरहिणी को जीवित रखने हुये है—

कत दिन पिय मोर पूछब बात । कबहु पयोधर देइब हाथ ॥
कत दिन मिट बैठाइब कोर । कत दिन मनोरथ पूरब मोर ॥

इस प्रकार संयोग शृंगार के विविध पक्षो का सजीव और मनमोहक चित्रण विद्यापति की पदावली मे मिलता है ।

विद्यापति का वियोग-वर्णन

सयोग की अपेक्षा, वियोग के वर्णन मे कवि ने सक्षिप्तता से काम लिया है, परन्तु यहा कवि की वृत्ति कुछ अधिक अन्तर्मुखी है। सामान्य रूप से विद्यापति की पदावली मे वियोग शृंगार की बडी सुन्दर और मार्मिक अनलकृत योजना पाई जाती है। एक चित्र लीजिए। कृष्ण चले गये हैं। वे क्या गये, राधा को तो सर्वस्व ही चला गया। स्वप्न मे उसने देखा कि उसके हाथ से पारसमणि छूट गई, वह दूसरे के धन से धनवती हुई थी, जिसका धन था, उसके पास चला गया। गोकुल जिस चाद के लिये सदैव चकोर की भाँति देखा करता था, उसी चन्द्रमा की चोरी हो गई। निम्नलिखित पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सूतहु घलहु अपने गृह रे, निन्दइ बोलऊँ सपनाई ।
कर सौंघुटल पारसिमनि रे, कोन गेल अपनाई ।।
गोकुल चान चकोरलरे, चोरी गेल चन्दव ।
बिघुडि चललि वुहु जोडी रे, जीव दइ घेल धधा ।

विरह की इस अनलकृत व्यञ्जना के लिये कवि ने लोक गीतो की धुनो का भी उपयोग किया है, जिससे पाठको मे विशेष करुणा जाग्रत करके विद्यापति विरह की साद्रता और सघनता की स्पष्ट अभिव्यक्ति कर सके हैं। निम्नलिखित पक्तियो मे लोक धुनि का ऐसा ही प्रयोग किया गया है, जिसमे वेदना अपने सघनरूप मे व्यक्त हुई है—

लोचन धाए फेनाएल, हरि नहिं आएल रे ।
सिव सिव जिवओ म जाये, आस अरुझायल रे ।।
मन करे तहँ उडि जाइअ, जहा हरि पाइअ रे ।
प्रेम परसमनि जानि आनि उर लाइअ रे ।

वियोग वर्णन मे प्रकृति का उपयोग—सयोग पक्ष मे रूप चित्रण की आलकारि व्यञ्जना के अतिरिक्त वियोग वर्णन के अन्तर्गत प्रकृति का उपयोग विद्यापति ने प्रमुख रूप से उद्दीपन के रूप मे किया है। उनके इस प्रकार के वर्णनो मे कवि की निरन्तर जागरूकता सूक्ष्मदर्शिता और सवेदनशीलता का अच्छा परिचय मिलता है। प्रिय के दूर होने पर विरहिणी प्रिया के लिए भादो की काली रातें कितनी दारुण और भयावह हैं। उस समय उसका दुख असीम हो जाता है। आकाश मे बादली का गर्जन प्रिय की रिक्तता के कारण भय उत्पन्न करता है। विद्यापति ने इस प्रकार के प्रसगो मे प्रकृति के विभिन्न उपादानो को विरहिणी के दुख मे लय कर दिया है। निम्नलिखित पक्तियो मे वियोग शृगार ऐसी ही व्यञ्जना द्रष्टव्य है—

सखि रे हमक दुखक नहिं ओर ।
ई भर बादर, माह भादर, सून मदिर मोर ।।

अवश्य हुआ है किन्तु मूलतत्त्व सभी में लगभग एक-से ही हैं।

सामान्यतया नायिकायें तीन प्रकार की मानी गई हैं—स्वकीया परकीया और सामान्या। इनमें सर्वाधिक महत्त्व स्वकीया का ही है क्योंकि यौवन रूप शीलादि का महत्त्व इसी में पाया जाता है। यही नायिका प्रधान रस की नायिका बनने की अधिकारिणी है। इस नायिका के वय क्रम से तीन भेद किये गये हैं—मुग्धा मध्या और प्रौढ़ा। मुग्धा में लज्जाधिक्य और उत्कण्ठा की न्यूनता पाई जाती है। मध्या में दोनों तत्त्व समकोटिक होते हैं और प्रौढ़ा में लज्जा की न्यूनता तथा उत्कण्ठा की अधिकता पाई जाती है। कुछ लोगों ने परकीया और सामान्या में भी इन तीनों भेदों की सम्भावना स्वीकार की है जो उचित नहीं कही जा सकती। कुछ लोगों ने मुग्धा के भी अंकुरित यौवना नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ा अथवा ज्ञात यौवना और अज्ञातयौवना ये भेद किये हैं। परकीया के विषय में भी मतभेद है। सामान्यतया इसके कन्या और परोढ़ा ये भेद माने गये हैं। भानुदत्त ने ६ भेद और माने हैं। किन्तु अनेक आचार्यों ने धर्मव्यतिक्रम के भय से परकीया के भेदों का विस्तार करना उचित नहीं समझा। नायक-प्रेम की दृष्टि से ज्येष्ठा कनिष्ठा ये भेद भी माने गये हैं। इनमें परोढ़ा और सामान्या मुख्य रस की आलम्बन नहीं बन सकतीं कन्या का मुख्य रस का आलम्बन बनना ऐच्छिक है। स्वकीया ही इस अधिकार को प्राप्त कर सकती है।

वय क्रम धर्म और गुण के आधार पर नायिका भेद का दिग्दर्शन ऊपर कराया गया। इनके अवस्था भेद से आठ प्रकार हो सकते हैं—स्वाधीन-पतिका वासक सज्जा विरहोत्कण्ठिता खण्डिता कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितपतिका और अभिसारिका। कुछ हेरफेर के साथ यही भेद अविवादग्रस्त समझाये गये हैं। इनके उपभेद भी किये गये हैं और उनमें यत्र तत्र मतभेद भी पाया जाता है। नायिकाओं के दशा भेद से भी कतिपय भेद किये गये हैं। इन नायिकाओं के परस्पर साङ्कर्य से नायिका भेद की संख्या सहस्रों तक पहुँच जाती है।

संक्षेप में नायिकायें तीन प्रकार की होती हैं—स्वकीया परकीया और सामान्या। परकीया के दो भेद होते हैं—कन्या और परोढ़ा। कन्या में स्वकीया के रूप में परिणत होने की सम्भावना रहती है परोढ़ा में नहीं। धार्मिक दृष्टि से स्वकीया और कन्या के प्रति प्रेम उचित होता है परोढ़ा तथा सामान्या के प्रति नहीं। अतएव स्वकीया और कन्या ही रस की आलम्बन मानी जाती हैं। स्वकीया के तीन भेद होते हैं—मुग्धा मध्या और प्रौढ़ा। कन्या केवल मुग्धा और मध्या ही हो सकती है। मध्यादि धर्म के दिखलाये जाने में औचित्य की सीमा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये नहीं तो रस अपकर्षता को प्राप्त हो सकता है। परोढ़ा का मध्या के रूप में वर्णन सर्वथा समुचित नहीं होता किन्तु प्रौढ़ा के रूप में उसका वर्णन वेश्या की सीमा तक पहुँच कर रस को मलिन कर सकता है। मुग्धा के चार भेद होते हैं—अज्ञात यौवना,

विरह की उन्माद दशा मे विरहिणी पक्षियो से प्रिय के लिए अपना सदेश कहती है और उनसे सहानुभूति की इच्छा करती है—

'के पतिया लेइ जाइत रे, मोरा प्रियतम पास।
हिम महि सहअ असह दुख रे, भले साओन मास ।।

कभी वह पक्षियो को लालच देती है कि वे उसके प्रिय का सन्देश सुनायें—

काक भाष निज भाषह रे, फिअ आओत मोरा।
खीर भाड भोजन देव र, भरि कनक करोरा ।।

इस प्रकार विद्यापति ने विरह की अनेक परिस्थितियो का मार्मिक और स्वाभाविक चित्रण अपने काव्य मे किया है और उनमे कवि की दृष्टि सर्वत्र लोक-रुचि और मनोविज्ञान के अनुकूल रही है।

विद्यापति के वियोग-वर्णन की विशेषताए—विद्यापति भावनाओ सूक्ष्म द्रष्टा कवि थे। अतएव उनके काव्य मे वियोग की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यजना भी देखने को मिलती है। इस दृष्टि से उनकी सबसे बडी विशेपता है—साकेतिक अभिव्यक्ति। नीचे की पक्तियो मे उन्होने केवल उद्दीपनो के वर्णन के माध्यम से विरह मे कृशगात्री राधा का एक सजीव चित्र उपस्थित किया है—

चानन भेल विषम सारे, भूषन भेल भारी।
सपनेहु हरि आएल रे, गोकुल गिरधारी ।।
एक सरि ठाढ़ि कदम तर रे पथ हेरति मुरारी।
हरि बिन हृदय दगध भेल रे,झामर भेल सारी।

विद्यापति के विरह वर्णन की एक और विशेपता है—आशावादिता। विरहिणी के लिए उसका दुख भी अमूल्य निधि है और वह उसे छोडना नही चाहती। प्रिय के आने की लालसा ही उसे जीवित रखे हैं, वही उसका आधार है। विरह की आशावादिता के उदाहरण ऊपर अवस्थाओ के चित्रो मे दिये जा चुके हैं।

कही-कही विरह-वर्णन मे कवि ने तन्मयता की अपूर्वस्थिति का चित्रण किया है। राधा अपने प्रिय को याद करते-करते स्वय ही माधव हो गई है। वह अपने ही गुणो पर लुब्ध हैं, अपने विरह मे ही अपना शरीर जर्जर कर रही है। राधा की इस स्थिति का चित्रण निम्नलिखित पक्तियो मे हुआ है—

अनुखन माधव माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावइ अपने गुन लुबधाई ।।
माधव अपरुब तोहर सनेह।
अपने विरह अपन तन जजर जीवइत भेल सदेह ।।

विद्यापति सयोग काल के कवि हैं, इसीलिए वियोग-वर्णन मे उनका हृदय अधिक नही रमा है। उनके काल मे सयोग शृगार की प्रधानता का एक कारण उनका राज्याश्रित कवि होना भी है। उनके काव्य मे भावो तथा परिस्थितियो का उतना सूक्ष्म और हृदयग्राही वर्णन उतना नही मिलता, जितना सयोगकालीन विलास क्रीड़ाओ और भावो का। फिर भी विद्यापति की प्रतिभा और कला-कुशलता इस वात

में है कि जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है उन्होंने कहीं कहीं वियोग के बड़े मार्मिक चित्र प्रस्तुत किये हैं। कहीं-कहीं तो विरह की अनुभूति परम उत्कर्ष को प्राप्त हो गई है और इस प्रकार के स्थलों में हमारा मन भावविभोर हुए बिना नहीं रहता जैसे कि ऊपर की 'मधुबन माधव माधव सुमरत' आदि पंक्तियों में।

विद्यापति के श्रृंगार वर्णन की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

ऊपर विद्यापति के संयोग-वर्णन और वियोग-वर्णन का विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। विद्यापति के श्रृंगार के इन दोनों पक्षों के वर्णन में कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। ये प्रवृत्तियाँ हैं—अति श्रृंगारिकता शारीरिकता और विलासिता की प्रधानता और अपास्थान भावों की सा ग्रता। नीचे संक्षेप में इन पर विचार किया जा रहा है।

अतिश्रृंगारिकता— विद्यापति के सम्बन्ध में एक बात यह है कि उन्होंने श्रृंगार वर्णन में मर्यादा का ध्यान न रखकर उसका अति की सीमा तक और कहीं अश्लीलता की सीमा तक वर्णन किया है। उनकी इस प्रवृत्ति का परिचय निम्नलिखित पंक्तियों से भी मिलता है मानो वे इनमें अपनी अभिलाषा की ही व्यञ्जना कर रहे हों—

लिखि-बन्ध करत उदेस। विद्यापतिय मनोरथ सेस॥

संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत कवि की दृष्टि बार-बार विलास चेष्टाओं की ओर ही रहती है भाव सौन्दर्य की ओर नहीं। प्रथम मिलन के वर्णन में ही अति श्रृंगारिकता की यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। राधा को देखकर चकित श्रीकृष्ण के मनोभावों का चित्रण द्रष्टव्य है—

'आज मजु शुभ छिन भेला। कामिनि पेखल सनानक बेला।
तहँ उरसल कुच जोरा। पलटि बैसा ग्रोल कनक कटोरा॥
लिखि-बंध करत उदेसा। ॥

दूसरी ओर कृष्ण को देखकर राधा की यह दशा होती है—

'भूमि भूमि मर कंचुअ फाटल बाहु बलया भाँगु।

कामावेग या कामातिरेक का इससे बढ़कर और क्या वर्णन हो सकता है कि शरीर फूल उठने से कंचुकी फट जाये और वलय टूट जाये।

संयोग के विभिन्न प्रसंगों—दूती नोंक झोंक सखी शिक्षा सखी-संभाषण मिलन आदि— में जिस उद्दाम वासना से उन्मत्त प्रेमी प्रेमिकाओं का कामोत्तेजक वर्णन किया गया है वह भी श्रृंगार भावना की अति सूचित करता है। श्रृंगार का एक ऐसा ही अमर्यादित चित्र निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है—

दृढ़ परिरम्भन पीडलि भवने। अधरि आएलेहुँ सखि कुच धुने॥
टूटि छिड़ि आएल मोतिक हार। तिमुर लोटाएल मुरंग पँवार॥
सुन्दर कुच युग नख क्षत भरी। जनि गजकुम्भ विदारल हरी॥
अधर दसन देखि जिउ मोरा काँपे। चाँद मंडल जनि राहुक झाँपे॥

अभिसार और विदग्ध विलास आदि प्रसंगों में विद्यापति और भी आगे बढ़ गये हैं। संयोग-वर्णनों में उन्होंने कामशास्त्र की कोई बात कहने से छोड़ी नहीं है।

कुछ पदो मे रति क्रीडा का अत्यधिक उद्दाम और युद्ध जैसा वर्णन भी उन्होने किया है। यहाँ उदाहरण के लिए केवल दो पक्तिया दी जा रही हैं—

अम्बर खसल धराधर डलडल, धरती डगमग डोल।
खरतर वेग समीरन सचरु, चर्चरि न कह रोल॥

वियोग-वर्णन मे अतिशृगारिकता के लिए कम स्थान रहता है और कुछ सीमा तक उसमे विद्यापति भावो की अधिक रक्षा कर सके हैं।

शारीरिकता और विलास की प्रधानता—विद्यापति के शृगार-वर्णन (सयोग और वियोग दोनो पक्षो) मे शारीरिकता और विलास की प्रधानता है, हृदय पक्ष गौण है वास्तव मे विद्यापति की दृष्टि अन्तर्जगत की ओर कम और वहिर्जगत की ओर अधिक रहती है। परिणाम यह हुआ है कि शृगार मे प्राय शरीर पर ही कवि सी दृष्टि केन्द्रित रहती है। सयोग-वर्णन मे तो स्पष्ट ही कवि शरीर और विलास को अधिक महत्त्व देता है। विद्यापति के काव्य मे राधाकृष्ण का प्रेम रूप-लिप्सा जन्य है। विद्यापति की राधा कृष्ण के सौन्दर्य के कारण कामुकतावश आकर्षित होती है। विद्यापति ने वयसधि की अवस्था में ही राधा मे काम का उदय दिखा दिया है—'सखि पूछब कैसे सुरति विहार।'' राधा कृष्ण से मिलन-चित्रो मे भी शारीरिकता और विलास की ही प्रधानता है। और कवि की दृष्टि सभी प्रसगो मे एका-एक कुचो पर जा पडती है और तदनुसार ही उसके राधा कृष्ण भी विलास और शारीरिक काम-भावना की प्रतिमूर्त्ति के रूप मे हमारे सामने आते हैं। निम्नलिखित पक्तियो मे राधा की विलास-चेष्टा नितान्त शारीरिक हो गई है—

लीला कमल भमर धरु वारि। चमकि चललि गोरि चकित निहारि॥
तैं भेल बेकत पयोधर सोभ। कनक कमल हेरि काहि न लोभ॥
आधु नुकाइल आध उदास। कुच कुम्भे कहि गेल अप्पन आस॥
से अब अमिल निधिदए गेल सदेस। किछु नहिं रखलिन्ह रस परिसेस॥

वियोग पक्ष मे यद्यपि शारीरिकता कम है, परन्तु वहाँ भी यथास्थल मानसिक वेदना के स्थान पर शारीरिक काम-पीडा का चित्रण प्राय मिलता है। एक पक्ति मे विरह मे शारीरिकता की प्रधानता इस प्रकार व्यक्त हुई है—

"इह नव जौवन विरह गॅवाओव, कि करब से पिया गेहे।"

भावो की सान्द्रता—सयोगपक्ष मे कही-कही और वियोग-पक्ष मे प्राय भावो की सान्द्रता भी विद्यापति के शृगार-वर्णन मे पाई जाती है। यह सही है कि सयोग के प्रसगो मे कवि अमर्यादित हो गया है और उसमे शारीरिकता की भी प्रधानता है, परन्तु उसमे भी कवि ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि और अद्भुत रस-प्रवणता का परिचय दिया है। विद्यापति का सयोग-शृगार—सौन्दर्य-वर्णन, प्रथम मिलन और विलास क्रीडाए सबमे एक ऐसा गुण है जो पाठक को रसमग्न करने मे पूरी तरह समर्थ है। इसीलिये सयोग के वर्णन मे विद्यापति अप्रतिम स्थान के अधिकारी हैं। वियोग पक्ष मे भी, जैसाकि 'अनुखन माधव माधव सुमरइत' के प्रसग मे कहा जा चुका है, कवि ने तन्मयता की वडी मार्मिक व्यञ्जनाए की हैं।

उपसंहार विद्यापति के शृंगार-वर्णन का निष्कर्ष

विद्यापति के शृंगार-वर्णन के इस विवेचन से कवि की प्रतिभा का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। शृंगार के दोनों पक्षों मे जिस रूप में विद्यापति ने उन्हें ग्रहण किया है, उन पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। शृंगार के आलम्बन रूप नायक-नायिका का जैसा हृदय-ग्राही चित्रण विद्यापति कर सके हैं, ऐसा हिंदी में अन्यत्र नहीं मिलता। उनके शृंगार मे भावों की जो सान्द्रता प्रकृति का जो रंग रूप सौन्दर्य की जो छटा और पाठक को भाव विभोर कर देने की जो क्षमता मिलती है, वह उन्हें शृंगार-रस का कलाविलासी कवि प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है 'गीत गोविन्द' के कर्त्ता पीयूष वर्षी जयदेव की वाणी मे जो रस उनकी सरस्वती म विलासकला का जो कुतूहल और उनकी कविता-कामिनी मे जो हाव भाव निहित है वे सब अभिनव जयदेव कवि विद्यापति में कहीं अधिक तीव्रता से अवतरित हुये हैं। राधा और कृष्ण के मव्यतम सौन्दर्य चित्र और उनके संयोग के मादक और मनोमुग्धकारी चित्र जैसे विद्यापति मे मिलते हैं वैसे न उनसे पूर्व और न उनके बाद ही चित्रित किये गये। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे कहे तो उनकी पदावली म राधा और कृष्ण की जिस प्रेमलीला का चित्रण है वह अपूर्व है। इस वर्णन म प्रम के शरीर पक्ष की प्रधानता अवश्य है पर इससे सहृदय के चित्त मे विकार नहीं उत्पन्न होता बल्कि भावो की सान्द्रता और अभिव्यक्ति की प्रेषणीय धुनिता के कारण वह बहुत ही आकर्षक हो गया है।

: ८६ :

कबीर की दार्शनिक विचारधारा

१ भूमिका—निर्गुण संतसम्प्रदाय की उत्पत्ति उत्तरदायी परिस्थितिया
२ कबीर का साहित्यिक व्यक्तित्व दार्शनिक पहले, कवि बाद में
३ कबीर की दार्शनिक विचारधारा समन्वय-साधना विभिन्न तत्त्वों का समावेश
४ उपसंहार कबीर-दर्शन की मूलवर्तिनी धारा

भूमिका निर्गुण सत सम्प्रदाय की उत्पत्ति उत्तरदायी परिस्थितियां

भारतीय इतिहास के मध्यकाल मे भक्ति की लहर विभिन्न रूपो मे सारे साहित्यिक और सामाजिक वातावरण को आच्छादित करती हुई समग्र उत्तर भारत मे फैल गयी थी, जिसके प्रवर्तन का मुख्य श्रेय निर्गुण पथी कवि कबीर को है, उसके पीछे एक लम्बी ऐतिहासिक और धार्मिक परम्परा है। कबीर के रूप मे जो धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, वह अपने युग की मध्यकालीन भारत की-एक ऐसी आवश्यकता थी, जिसका उद्देश्य था—इस अज्ञान और अध परम्परा का निराकरण, जिसने एक ओर तो मुसलमानी धर्मान्धता को जन्म दिया था और दूसरी ओर शूद्रो के ऊपर सामाजिक अत्याचार को। उस समय का भारत राजनैतिक,सामाजिक, धार्मिक-सभी दृष्टियो से विघटन की ओर जा रहा था। कबीर के जन्म से पूर्व चौदहवी शताब्दी के मध्य भाग मे मोहम्मद तुगलक की ऊटपटांग शासन-व्यवस्था, दैनिक प्रकोप (दुर्भिक्ष,) फीरोजशाह की धर्मान्धता और अत्याचारपूर्ण शासननीति और फिर तैमूर लग का आक्रमण-इन सारी राजनैतिक परिस्थितियो ने मिलकर तत्कालीन भारत विशेषत हिन्दुओ को अत्याचार और शोषण की जिस चक्की मे पीस डाला था, वह कथा इतिहास के पत्रो पर उन घृणित अक्षरो मे लिखी हुई है, जिन्हें मानवता सम्भवत कभी भी धोकर साफ नही कर सकती। हिंदू धर्म और उनके अनुयायियो के लिए यह वह समय था, जबकि उनका सम्मान उनकी मर्यादा, उनके बाल बच्चे और उनकी धन-सम्पत्ति सभी कुछ अत्याचारी शासको और नृशस आक्रमणकारियो की लोलुप दृष्टि का शिकार बना हुआ था। सामाजिक क्षेत्र मे सर्वत्र अस्तव्यस्तता और व्यस्तता आ गई थी और समाज मे अनेक प्रकार के आडम्बर, कुप्रथाए और अन्धविश्वास प्रवेश पा रहे थे। इस प्रकार की परिस्थितियो मे विभेद और सघर्ष उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था और हिंदू मुसलमानो मे यही विभेद सामाजिक अशान्ति का कारण बन रहा था।

इस प्रकार की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियो ने तत्कालीन उत्तर भारत मे एक ऐसा वातावरण पैदा कर दिया था जो धर्म के प्रति अविश्वास और साम्प्रदायिक

अनेकता तथा विभेद को जन्म दे रहा था। जिस युग में कबीर का आविर्भाव हुआ उस समय के भारत धार्मिक क्षेत्र में अनेकमत मतान्तर प्रचलित थे और विभिन्न सम्प्रदायों के जटिल विधानों और उनके अनुयायियों की परस्पर विरोधी आचरणों की अधाधुन्ध में वास्तविक धर्म भावना का लोप हो रहा था। प्रचलित मतों की संख्या क्रमशः बढ़ रही थी क्योंकि उस समय प्रत्येक धर्म के अन्तर्गत अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदाय बन गये जो अपने को एक दूसरे से भिन्न समझते थे। नाथ पंथ शैव सम्प्रदाय जैन धर्म बौद्ध धर्म तथा वैष्णव धर्म का प्रस्तार तो था ही इनके अन्तर्गत भी सकड़ों अन्य सम्प्रदाय और मतमतान्तर प्रचलित थे। पं० परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में उस समय के ये सभी मत मतान्तर अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाना चाहते थे और अपने साम्प्रदायिक नियमों के सामने दूसरों की ओर दृष्टिपात तक नहीं करते थे।

राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में विशृंखलता और विघटन के इस युग में वज्रयानी सिद्ध नामदेव और नाथपंथी योगियों ने सबसे पहले सम्मिलन की भावना का प्रचार करना प्रारम्भ किया था। इस दृष्टि से नाथपंथ का योगदान अविस्मरणीय रहेगा। वज्रयानी सिद्ध सम्प्रदाय में विकार आने पर गुरु गोरखनाथ ने सिद्धों से पृथक अपने नये पंथ को जन्म दिया और पतञ्जलि के उच्च लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्तन किया। गोरखनाथ की हठयोग साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी अतः हिंदुओं के साथ-साथ उसमें मुसलमानों के लिए भी पर्याप्त आकर्षण था। फलस्वरूप ईश्वर को मिलाने का प्रयत्न करने वाला यह पंथ हिंदू मुसलमान दोनों के लिये एक समन्वय-साधना के रूप में प्रस्तुत हुआ। सब नाथपंथी सिद्धों और योगियों ने अब शून्य बाहरी विधि विधान पर्वस्नान तीर्थाटन आदि की निस्सारता का प्रचार किया और सामान्य अन्तस्साधना का मार्ग निकाला। इसी समय मुसलमानों के सूफी मत ने भी प्रेममार्ग का प्रचारकर सम्मिलन की भावना को जाग्रत किया। संक्षेप में तत्कालीन धर्म भावना की विशृंखलता के सम्मिलन की भूमिका का मूलाधार हिंदुओं के वेदान्त और मुसलमानों के सूफी मत ने प्रस्तुत किया। कबीर ने नाथपंथियों की भारतीय परम्परा को ग्रहण किया और उनमें सूफियों का प्रेमतत्त्व मिलाकर अपना नया मार्ग निकाला क्योंकि नाथपंथियों की साधना हृदय शून्य थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में निर्गुण सन्त सम्प्रदाय वेदान्त के ज्ञानवाद सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाये हुए रास्ते पर चल पड़ा। निर्गुण संत संप्रदाय की इसी समन्वय साधना की पूर्ण अभिव्यक्ति हम कबीर में मिलती है।

कबीर का साहित्यिक व्यक्तित्व दार्शनिक पहले कवि बाद में

युग की इन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में कबीर का काव्य युगद्रष्टा और जननायक कवि की वाणी के रूप में हमारे सामने आता है। शुद्ध कविता कबीर का लक्ष्य नहीं था कविता को उन्होंने अपने भावों तथा विचारों को जनता तक पहुँचाने का माध्यम बनाया था। इसीलिए उनकी कविताओं में अधिकांश में काव्यत्व गौण और सन्देश प्रधान हो गया है। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में कहें तो "कबीर की

रचनाओ मे सिद्धान्त का प्राधान्य है, काव्य का नहीं।" कबीर ने स्पष्ट ही अपने लक्ष्य की घोषणा निम्नलिखित शब्दो मे की है—

हरिजी यहै विचारिया, साखी कहै कबीर।
भौसागर मै जीव है, जों कोइ पकड़ै तीर॥

उनकी कविता 'गीत' नही 'ब्रह्म विचार' है और उसमे कवि की आत्मसाधना का सार भरा हुआ है। कबीर की निम्नलिखित पक्तियो मे उनकी निम्नोक्ति द्रष्टव्य है—

आपही आप विचारिये, तब केता होइ अनद रे।
तुम्ह जनि जानो गीत है, यहु निज ब्रह्मविचार।
केवल कहि समुझाइया, आतम साधन रे॥

कबीर ने अपने काव्य मे इसी 'ब्रह्मविचार' की अभिव्यक्ति की है, अपनी आत्मसाधना का सारा सार भरकर, उसे अपने शब्दो द्वारा केवल प्रत्यक्ष कर देने भर की चेष्टा की है और इसी लक्ष्य के अनुकूल उनके काव्य मे उनका दर्शन, उनके विचार पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुए हैं।

कबीर दर्शन समन्वय साधना

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियो के भावात्मक रहस्यवाद-प्रेमतत्त्व हठयोगियो के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवो के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पथ खडा किया था और इस प्रकार उनके काव्य मे तत्कालीन सस्कृतियो और विचारधाराओ के समन्वय का पूरा प्रयत्न किया गया है। किन्ही किन्ही विद्वानो के अनुसार तो कबीर मे तत्कालीन विभिन्न साधना-परक सम्प्रदायो का अपूर्व सग्रह मिलता है। कबीर ने अपने समय मे प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायो की पर्याप्त चर्चा अपने काव्य मे की है। अपने एक पद मे उन्होंने वतलाया है कि जहा कही भी देखिये, प्रत्येक व्यवि१ हरि के वास्तविक रहस्य से परिचित जान पडता है 'छह दरसन' और 'छयनावै पाखड' भी इसके लिए व्यग्र जान पडते हैं, परन्तु वास्तव मे वे सभी कुछ भी नही जानते—सभी अज्ञान के गर्त्त मे है—

आलम दुनी सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयाना।
छह दरसन छ्यानवै पाखड, आकुल किनहूं न जानां॥

स्पष्ट ही इन पक्तियो मे 'छह दरसन' से कबीर का तात्पर्य 'जोगी जगम सेवडे, वोध, सन्यासी सेस' से है और 'छ्यानवै पाखड' का तात्पर्य 'दस सन्यासी, वारह जोगी, चौदह सेख वखान, अठारह ब्राह्मण, अठारह जगम, भुविस सेवडा जान' आदि विविध मत-मतान्तरो से है। कबीर की रचनाओ से यह वात स्पष्ट मालूम हो जाती है कि जोगी से नाथपथ, जगम से शैव सम्प्रदाय, सेवड से जैनधर्म, सन्यासी से वौद्ध धम, दरवेस से इस्लाम एव ब्राह्मण से हिन्दू धर्म की ओर सकेत किया गया है। कबीर इन विभिन्न धर्म-सम्प्रदायो से पूर्णत प्रभावित थे, यद्यपि उन्होने इनका नितान्त नवीन और अपना मौलिक समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके काव्य मे भारतीय कर्मवाद एव जन्मान्तरवाद मे स्पष्ट आस्था दिखाई देती है, और कही-कही भाग्यवाद में

भी' कहीं वे ऐसे विराट ब्रह्म की कल्पना करते हैं जिसकी सेवा में सूर्य चन्द्र वायु, ब्रह्म शिवमादि भी प्रस्तुत रहते हैं तो कहीं अवतारवाद के अनुकूल विष्णु के रूप में ब्रह्म की कल्पना करते हैं। जन्मान्तरवाद कर्मवाद भाग्यवाद आदि के अतिरिक्त नाथपंथियों की योगसाधना जैनियों की अहिंसा सहजयानियों की 'सहज' भावना मुसलमानों के एकेश्वरवाद और सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद आदि अनेक विचार धाराओं से समान रूप से प्रभावित दिखाई देते हैं। कबीर की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कहा है कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वासग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती इसीलिए वह ग्रहणशील है वर्जनाशील नहीं। इसीलिए उन्होंने हिन्दू मुसलमान सूफी वैष्णव योगी प्रभृति सब साधनाओं को जोर से पकड़ रखा है।

कबीर की समन्वय-साधना को विभिन्न मतमतान्तरों की विचारधाराओं का संग्रह कहना उचित नहीं है। उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अनेक देश तथा विदेशी मतों और मार्गों से जो-जो अच्छा लगा उस-उसका संग्रह करके एक नया पंथ खड़ा किया और वह भी बेमेल था उनके विचारों में किसी प्रकार की संगति और सामञ्जस्य नहीं था। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निम्नलिखित वक्तव्य महत्वपूर्ण और उपयुक्त है 'यदि थोड़ी देर के लिए अपढ़ और जुलाहा कबीर को भूलकर किंचित धैर्य और मनोनिवेश के साथ उनकी उक्तियों का अनुशीलन किया जाये तो यह निश्चित रूप से स्पष्ट हो जायेगा कि उनकी साधना पद्धति सर्वथा असंगत सिद्धांतों का बेमेल ढांचा ही नहीं है उसमें कुछ सामंजस्य भी है और सार भी। यह कहना कि कबीरदास कभी तो अद्वैतवाद की ओर झुकते दिखाई देते हैं, कभी एकेश्वरवाद की ओर कभी वे पौराणिक सगुण भाव से भगवान को पुकारते हैं और कभी निर्गुण भाव से असल में उनका कोई निश्चित तात्त्विक सिद्धांत नहीं था केवल अपढ़ता प्रसूत है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का कथन भी दृष्टव्य है, 'कबीर का समन्वयवाद तो किसी प्रकार का समझौता है और न भिन्न बातों से चुनी हुई अच्छाइयों का समुच्चय मात्र है। यह वास्तव में कोई वाद भी नहीं। यह एक प्रकार का सुझाव है जिस पर स्वयं कबीर साहब ने अमल किया है और जिस पर निरपेक्ष होकर विचार करने को सभी स्वतन्त्र हैं। कबीर की रचनाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने सत्य के वास्तविक स्वरूप को समझने और दूसरों को उसे समझाने की चेष्टा की थी और उन्हें विश्वास था कि धार्मिक मतभेदों को सरलता पूर्वक दूर किया जा सकता है लोगों में सम्मिलन की भावना उत्पन्न की जा सकती है।

अब यहाँ कबीर की दार्शनिक विचारधारा का निर्माण करने वाले विभिन्न उपादानों की दृष्टि से उनकी विचारधारा का विवेचन किया जा रहा है।

भारतीय ब्रह्मवाद (वेदान्तिक और उपनिषदिक अद्वैतवाद)—अपने पंथ के लिए कबीर ने चाहे किसी से कुछ भी ग्रहण किया हो परन्तु उनका आधार भारतीय ब्रह्मवाद ही था। वेदान्तियों और उपनिषदों से वे बहुत अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं उनकी 'राम' भावना भी भारतीय ब्रह्मभावना से सर्वथा मिलती है। संक्षेप में व दि

ग्रन्थो से कबीर को निम्नलिखित तत्त्व प्राप्त हुए थे— एकात्म अद्वैतवाद, ज्ञानतत्त्व, गुरुभक्ति और भगवद् भक्ति, अध्यात्मयोग, प्रणयोपासना और जन्मान्तरवाद । ये सारे तत्त्व वेदान्तिक और उपनिपदिक अद्वैतवाद के ही अनुकूल पडते हैं और कबीर मे इनके ग्रहण से उन्हे अद्वैतवादी कहना ही उपयुक्त ठहरता है । कुछ विद्वानो का मत है कि कबीर बाह्यार्थमूलक मुसलमानी एकेश्वरवाद या खुदावाद के समर्थक थे । यद्यपि यह कहना नितात असगत प्रतीत होता है कि क्योकि यह मान्य है कि कबीर बहुदेववाद के कट्टर विरोधी थे और मुसलमानी एकेश्वरवाद और हिन्दू बहुदेववाद में कोई तात्विक भेद नही है और इसीलिए कबीर को एकेश्वरवादी नही कहा जा सकता । कबीर की ब्रह्मभावना के अधिक स्पष्ट विवेचन के लिए यहा निम्नलिखित विचार करना आवश्यक है—(क) क्या कबीर एकेश्वरवादी थे ? (ख) कबीर मे वेदान्तिक और उपनिपदिक अद्वैतवाद की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है, (ग) कबीर मे वैष्णव तत्त्व और (घ) कबीर के 'राम' का स्वरूप ।

क्या कबीर एकेश्वरवादी थे ?—ऊपर बताया जा चुका है कि कबीर की ब्रह्म भावना मुसलमानी एकेश्वरवाद से मेल नही खाती, क्योंकि कबीर बहुदेववाद के विरोधी है, जो मुसलमानी एकेश्वरवाद के ही समान है । डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों मे, "स्थूल दृष्टि से मूर्त्तिद्रोही एकेश्वरवाद और मूर्तिपूजक बहुदेववाद मे बहुत बडा अन्तर है, परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो उनमे उतना अन्तर नही दीख पडेगा, जितना एकेश्वरवाद और ब्रह्मवाद मे है, वरन् सारत वे दोनो एक ही हैं, क्योकि बहुत से देवी-देवताओ की अलग-अलग भावना और सबके गुरु गोवर्धनदास एक ईश्वर को मानना एक ही वाद है ।" कबीर ने जिस विचार-शृखला का प्रचार किया, वह न तो बहुदेववाद से ही मेल खाती है, न मुसलमानी एकेश्वरवाद से ही । मुसलमानो से ईश्वर-सम्बन्धी विश्वास का निचोड इस वाक्य मे है, "लाइलाहे इल्लिलाह मुहम्मद रसूलिल्लाह" जिसका अर्थ है 'अल्लाह का कोई अल्लाह नही, वह एक मात्र परमेश्वर है, और मुहम्मद उसका रसूल अर्थात् पैगम्बर या दूत है ।' कबीर ने मुहम्मद के दूतत्व को अस्वीकार करके स्वय ही एकेश्वरवाद का खण्डन कर दिया है। इस्लाम धर्म की भाति कबीर भी ईश्वर को एक मानते हैं, परन्तु उनके मानने मे अतर है । इस्लाम की अल्लाह भावना मे अल्लाह एकाधिपति शाहशाह और दयालु भी है, परन्तु कबीर के लिए ईश्वर वा ब्रह्म का यह स्वरूप केवल गौण है । उनका ब्रह्म एक व्यापक तत्त्व है, जिसका मुसलमानी भावना से अन्तर कबीर ने इस प्रकार प्रकट किया है—

मुसल्मान का एक खुदाइ । कबीर का स्वामी रह्या समाइ ।।

कबीर के अन्यत्र भी मुसलमानी एकेश्वरवाद से अपनी ब्रह्मभावना का पार्थक्य प्रदर्शित किया हैं, जैसे निम्नलिखित पक्तियो मे—

तुरक मसीति देहुरै हिन्दू, दुहुआ राम खुदाई ।
जहा मसीति देहुरा नाहीं, तह काकी ठकुराई ।।

वास्तव मे कबीर की 'राम' भावना मुसलमानी एकेश्वरवाद से मेल न खाकर भारतीय ब्रह्मवाद के ही अनुरूप है । डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दो में, "कबीर

की ब्रह्म-सम्बन्धी धारणा कदापि एकेश्वरवादी नहीं है। वह पूर्णरूपेण वैदिक अद्वैतवाद के सांचे में ढलकर निकली है। उसमे स्थान-स्थान पर एकत्व का जो आग्रह दिखलाई पड़ता है वह वैदिक अद्वैतवाद के अनुकरण पर है। मुसलमान ईश्वर की साकार भावना स्वीकार करते हैं। कबीर की यह साकार भावना मान्य नहीं थी। उनका ब्रह्म इस्लामी खुदा के समान न तो सातवें आसमान में अपने सिंहासन पर आरूढ़ है, उसके खुदा के समान न उसके मुख है न तो हाथ ही वह उपनिषद् के ब्रह्म के समान अनिर्वचनीय तत्त्व रूप है। निम्नलिखित साखी में कबीर ने इसी अनिर्वचनीय तत्त्व रूप ब्रह्म भावना की अभिव्यक्ति की है—

जाके मुह माथा नाहीं नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास थैं पातरा ऐसा तत्त अनूप॥

अतएव केवल 'एक' शब्द के आधार पर ही कबीर को एकेश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि एकत्व की भावना वैदिक अद्वैतवाद की भी आधार भूमि है। इसी भावना के अनुसार कबीर भी ईश्वर के एकत्व की घोषणा करते हैं—'हम तो एक एक करि जाना।'

कबीर की ब्रह्म भावना और मुसलमानी एकेश्वरवाद मे तात्त्विक अन्तर भी है। एकेश्वरवाद भौतिकवाद है वह जीवात्मा परमात्मा और जड़ जगत-तीनों की पृथक-पृथक सत्ता मानता है। कबीर मे यह भौतिक या यथार्थवाद कहीं भी नहीं मिलता बल्कि स्थान-स्थान पर आत्मवाद की स्पष्ट झलक मिलती है जो भारतीय ब्रह्मवाद के अनुकूल है। भारतीय ब्रह्मवाद शुद्ध आत्मतत्त्व अर्थात् चैतन्य के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं मानता। उसके अनुसार आत्मा भी परमात्मा ही है और जड़ जगत भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही जगत मे एक मात्र सत्ता है उसके अतिरिक्त ससार में और कुछ भी नहीं है जो कुछ है ब्रह्म ही है ब्रह्म ही से सब की उत्पत्ति होती है और अन्त मे सब उसी मे लीन हो जाते हैं। कबीर ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

पाणी ही तै हिम भया हिम ह्वै गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया अब कुछ कह्या न जाय॥

इस प्रकार कबीर को एकेश्वरवादी कहना नितान्त असगत और अनुपयुक्त है।

कबीर मे वेदान्तिक और उपनिषदिक अद्वैतवाद की अभिव्यक्ति—अपनी दार्शनिक विचारधारा मे कबीर अद्वैतवाद के समर्थक हैं और उन्होंने ब्रह्म के सम्बन्ध मे उसी प्रकार से विचार व्यक्त किये हैं जिस प्रकार वेदान्त और उपनिषदों मे किये गये हैं। अद्वैतवाद की भाँति ही कबीर ने आत्मा और परमात्मा की एकता स्वीकार की है। कबीर के अनुसार जीवात्मा मे परमात्मा तत्त्व पूर्णरूप में विद्यमान है। निम्नलिखित पंक्तियों मे आत्मा-परमात्मा का यही सबंध व्यक्त हुआ है।

जल मे कुंभ कुंभ में जल है बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथ्यो गियानी॥

ज्ञात-यौवना, नवोढा और विश्रब्ध नवोढा। मध्या और प्रौढा मे प्रत्येक तीन भेद होते हैं — धीरा, धीरा-धीरा और अधीरा। इनमे से प्रत्येक के ज्येष्ठा, कनिष्ठा तथा उन सब मे से, प्रत्येक के उत्तमा, मध्यमा और अधमा ये भेद और किये जा सकते हैं, जो अधिक महत्त्व नही रखते। परकीया रसाभास का आलम्बन होती है और सामान्या वासनातृप्ति का साधनमात्र। अतएव इन नायिकाओ का विशेष विस्तार आचार्यों को अभि-प्रेत नही है। परकीया के प्रति भावना अधिक तीव्र होती है और कतिपय धार्मिक सम्प्रदायो मे भगवत्प्रेम को परकीयाप्रेम के समकक्ष माना गया है। अतएव इस भेद का भी कतिपय आचार्यों ने विशेष विस्तार किया है और इसके भी भेदोपभेदो की कल्पना की है जो पीछे दिखलाई जा चुकी है। अवस्थाभेद से नायिकायें आठ प्रकार की होती हैं और दशाभेद मे तीन प्रकार की। यही नायिका भेद का सक्षिप्त परिचय है।

जैसा कि बतलाया जा चुका है नायक-भेद मे अधिक जटिलता नही होती, क्योकि एक तो पुरुष का स्वभाव ही ऋजु होता है, दूसरे समाज मे उसे अधिक बन्धनो का सामना भी नही करना पडता जिससे परिस्थितियो के वैषम्य के कारण उसकी प्रवृत्ति मे बहुरूपता आकर उसकी भेदोपभेद कल्पना को अधिक विस्तार दिया जा सके। यदि पुरुष मे कामप्रवृत्ति है तो सुरत के सम्भव हो जाने मे कोई सन्देह नही रह जायेगा जबकि इस विषय मे स्त्री परमुखापेक्षिणी होती है। अतएव सुरत-प्रवृत्ति के तारतम्य के आधार पर जो नायिका के मुग्धा इत्यादि भेद किये गए थे वे पुरुष मे सम्भव ही नही है। स्त्री के बहुविवाह का विधान न होने के कारण अपराध का प्रश्न ही नही उठता। अत स्वकीया के धीरा धीरादि भेद भी पुरुष मे सम्भव नही होते और इसी के कारण अन्य सम्भोग-दु खिता और 'मानवती' इत्यादि जो नायिकाओ के भेद किये गए हैं वे पुरुष मे हो ही नही सकते। पुरुष मे न तो स्वकीय' 'परकीय' इत्यादि भेद सम्भव हैं और स्वाधीनपत्नीत्व, कलहान्तरित्व, विप्रलब्धत्व, खण्डितत्व इत्यादि भेद ही किये जा सकते हैं। शृगार करके पत्नी की प्रतीक्षा भी पुरुप मे विशेष चमत्कारकारिणी नही होती और न पुरुष का अभिसरण ही विशेष कौतूहलाधायक होता है। अतएव वासकसज्ज और अभिसारक की भी कल्पना पुरुष मे नही की जा सकती। इस प्रकार नायिकाभेद के ममान नायकभेद एक तो सम्भव नही है दूसरे यदि कही सम्भव भी है तो नायिका के अन्दर वही बात अधिक कौतूहल-वर्धक होती है। अतएव नायिकाभेद के अन्तर्गत उन भेदो को रखना अधिक उपयुक्त है। जब एक पक्ष के उस प्रकार के भेदोपभेद कर दिये तो दूसरे पक्ष के तदनुकूल भेद स्वत ही हो जाते हैं। उदाहरण के लिए यह कहने पर कि नायिका प्रोपितपतिका है नायक की स्थिति स्वत स्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अभिसारिका की परिभाषा दोनों रूपो मे की गई है—'जो कामपरवश होकर या तो स्वय अभिसरण करे या प्रियतम से अभिसरण करावे, दोनो का अभिसारिका कहा जाता है।' इस परिभाषा मे पुरुषो के अभिसरण की भी बात आ गई। नायिका को

कबीर ने माया को किस प्रकार अनेक रूपों से वर्णित किया है यह उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से जाना जा सकता है—

(क) तू माया रघुनाथ की खेलन चढ़ी अहेड़ ।

(ख) कबीर माया मोहनी जैसे मीठी खांड ।

(ग) माया महा ठगिनि हम जानी ।
तिरगुन फांस लिए कर डोलै । बोलै मधुरी बानी ॥

(घ) इक डाइनि मेरे मन बसै । निति उठि मेरे जिय को डसै ।
या डाइनि लरिका पाँच रे । निसिदिन मोहिं नचावै नाच रे ॥

ब्रह्म की सत्यता और संसार के मिथ्यात्व की अभिव्यक्ति में कबीर ने अद्वैतवाद के अनुसार ही की है । संसार को वे 'बिराना देस' कहते हैं और नश्वर शरीर को कागद की पुड़िया । अन्य अनेक रूपों में भी जैसे पानी के बुदबुदों प्रातःकालीन तारों के छपने की उपमा देकर भी कबीर ने मनुष्य और संसार की नश्वरता बताई है । निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(क) रहना नहिं देस बिराना है ।
यह संसार कागद की पुड़िया बूंद पड़े घुल जाना है ॥

(ख) पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात ।
देखत ही छपि जाहिंगे ज्यूं तारा परभात ॥

उपनिषदिक ब्रह्मतत्त्व—कबीर उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा से भी परिचित और प्रभावित मालूम पड़ते हैं । उनके काव्य में 'अहं ब्रह्मोऽस्मि' 'तत्त्वमसि' आदि सिद्धान्तों का खूब स्थान मिला है । साधक की आत्मा और परमात्मा की एकता की अनुभूति होने पर वह अपने ही को ब्रह्म समझता है और इस प्रकार ब्रह्म रूप हो जाता है । इस अनुभूति में 'अहम्' और 'त्वम्' दोनों दशाओं का समावेश होता है । कबीर ने निम्नलिखित पंक्तियों में आत्मा-परमात्मा की इसी एकता की अनुभूति को वाणी दी है—

(क) हरि मरिहैं तौ हमहू मरिहैं । हरि न मरें हम काहें कू मरिहैं ।

(ख) तू तू करता तू भया मुझ मैं रही न हूँ ।

श्रीमद्भगवद्गीता' के अनुकरण पर कबीर ने संसार को बिना जड़ के एक ऐसे वृक्ष के रूप में वर्णित किया है जिसमें बिना फूले ही फल लगते हैं और जो शाखाओं और पत्तियों से रहित होकर भी आठों दिशाओं में फैला है । 'श्रीमद्भगवद्गीता' में संसार की तुलना एक वृक्ष से की गई है जिसकी जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे फैली हुई हैं । 'गीता' का श्लोक इस प्रकार है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

कबीर ने इसी भाव को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

तरवर एक मूल बिन ठाढ़ा बिन फूले फल लागै ।
साखा पत्र कछू नहिं ताके सकल कवल मुख गाजै ॥

कबीर ने अनेक स्थानो पर अद्वैतवाद की व्याख्या सी की है। वे सारे ससार मे ब्रह्म की और ब्रह्म मे सारे ससार को व्याप्त कहते हैं और दोनो मे कोई अन्तर नही मानते। कबीर की ब्रह्मवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति निम्नलिखित पक्तियो मे भी देखी जा सकती है—

(क) खालिक खलक, खलक मे खालिक, सब जग-रह्यो समाई ॥

(ख) इनमै आप आप सबहिन मै, आप आप सू खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाँडे, रूप धरे धरि मेलै।

(ग) हम सब माँहि सकल हम मोहीं। हमथै और दूसरा नहीं ॥
तीनि लोक मे हमार पसारा। आवागमन सब खेल हमारा ॥
खट दरसन कहियत हम भेखा। हमहि अतीत रूप नहि रेखा ॥
हमहीं आप कबीर कहावा। हमहीं अपना आप लखावा ॥

वेदान्त के प्रतिबिम्ववाद, कनक-कुण्डल न्याय और जल-तरग-न्याय की अभिव्यक्ति भी कबीर ने की है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्मबिम्ब है, और नाना रूपात्मक दृश्य जगत उस ब्रह्मरूप बिम्ब का प्रतिबिम्ब है। कबीर कहते हैं—

खडित मूल विलास कहो किम विगतह कीजै।
ज्यू जल मैं प्रतिबिम्व, त्यू सकल रामहि जाणीजै ॥

'कनक-कुण्डल-न्याय' के अनुसार जिस प्रकार सोने से कुण्डल बनता है, और उस कुण्डल के नष्ट हो जाने पर वह सोना ही रहता है, उसी प्रकार नाना-रूपात्मक दृश्य जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है और नष्ट होने पर वे ब्रह्म मे ही समा जाते हैं। कबीर ने इसे इस प्रकार कहा है—

जैसे बहु कचन के भूषन, पे कहि गालि तवावहिंगे।
ऐसे हम लोक वेद के विछुरे सुन्निहि माहि समावहिंगे ॥

जल-तरग-न्याय की अभिव्यक्ति निम्नलिखित पक्तियों मे हुई है—

जैसे जलहि तरग तरगनी, ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर, हसहि हस मिलावहिंगे ॥

वेदान्तिक अद्वैतवाद मे माया को आत्मा और परमात्मा की एकता मे वाधक माना गया है। उसके अनुसार माया ही जीव को भ्रम में डालती है और उसे परमात्मा से नही मिलने देती। जव तक जीव इस माया के जजाल मे फँसा रहता है, तव तक वह ब्रह्म का साक्षात्कार नही कर सकता। कबीर ने इसी विचारधारा के अनुकूल माया को मोहनी, ठगिनी आदि के रूप मे वर्णित किया है। कवीर के अनुसार ससार का सारा दुख ही मायाकृत है। जो लोग माया मे लिपटे रहते हैं, वे उस दुख मे पडे हुए भी उसे समझ नही सकते। इस दुख का ज्ञान उसी को हो सकता है जो माया के अज्ञान-रूपी आवरण को दूर कर चुका है। निम्नलिखित पक्तियो मे कबीर ने इसी भाव की अभिव्यक्ति की है—

सुखिया सब ससार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥

भक्ति आन्दोलन के बाद सबसे अधिक हाथ सिद्धों और नाथपंथी योगियों का है। सिद्धों में प्रारम्भ मे दो सम्प्रदाय थे वज्रयान और सहजयान जो बाद में मिलकर एक हो गये थे। खंडन-मंडन की प्रवृत्ति के अतिरिक्त कबीर ने शून्यवाद द्वैताद्वैतविलक्षण ब्रह्म और रहस्यात्मक अभिव्यक्ति की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ इन सिद्धों से ही ग्रहण की है। यही सिद्ध सम्प्रदाय आगे चलकर नाथ-पंथ में परिणत हो गया था। धार्मिक आन्दोलन के ऐतिहासिक क्रम मे कबीर-पंथ को जन्म देने मे नाथपंथी योगियों का बहुत कुछ हाथ था और कबीर पर पड़े हुए प्रभावों मे नाथसम्प्रदाय का प्रभाव सबसे अधिक तीव्र और गहरा है। कबीर ने इस सम्प्रदाय से भाषा और अभिव्यक्ति तो ग्रहण की ही दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से नाथपंथ की साधना पद्धति-हठयोग और उसके दार्शनिक सिद्धान्त भी कबीर ने पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिये।

हठयोग की साधना-पद्धति के अनुसार योगी प्राणायाम की पूरक कुम्भक और रेचक क्रियाओं द्वारा प्राणों का संयमन करता है। इस साधना पद्धति मे मनुष्य के शरीर के अन्दर मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत विशुद्ध और आज्ञा—ये छ चक्र माने गये है जिनकी बनावट विभिन्न दलो वाले कमल पुष्पों के समान है। इन छ चक्रों के ऊपर एक और चक्र है जिसे सहस्रारचक्र या सहस्र दल कमल कहा गया है। इन चक्रों के साथ ही मानव-शरीर मे तीन नाड़ियाँ मानी गयी है जिन्हे सुषुम्ना इडा और पिंगला कहा गया है। इन नाड़ियों का मूल मूलाधार चक्र है। इस मूलाधार चक्र मे कुण्डलिनी सुप्तावस्था मे पड़ी रहती है। योगी अपनी साधना से कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करता है जो क्रमश छ चक्रों को बेधती हुई सहस्रारचक्र में प्रविष्ट हो जाती है और तब योगी साधक को परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। इस साधना द्वारा योगी मन का संयमन करके ब्रह्म की अनुभूति करता है। कबीर ने इस साधना पद्धति को ही स्वीकार किया था और उनके काव्य मे इसका उल्लेख स्थान-स्थान पर हुआ है। निम्नलिखित पंक्तियो मे हठयोगियो के इस साधनात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति ही कबीर ने की है—

हिंडोलनाँ तहाँ झूलै आतमराम।
प्रेम भगति हिंडोलनाँ सब संतनि कौ बिश्राम॥
चंद सूर दोइ खंभवा बंक नालि की डोरि।
झूलें पंच पियारियाँ तहाँ झूलै जिय मोर॥
× × ×
भरम उरम की गंगा जमुनाँ मूल कवल को घाट।
षट चक्र की गागरी त्रिवेणीसंगम बाट॥

सूफियों का भावात्मक रहस्यवाद प्रेम-तत्त्व

कबीर के निर्गुण ज्ञानमार्ग विशेष रूप से भारतीय ब्रह्मवाद व अद्वैतवाद से गृहीत ब्रह्म विचार मे ज्ञान के साथ प्रेम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सम्बन्ध म कबीर की विशेषता यह है कि सामान्य रूप से भक्ति या प्रेम का सम्बन्ध सगुण ब्रह्मोपासना से होता है जबकि कबीर ने निर्गुण ब्रह्मोपासना में प्रेम का योग किया

कबीर मे वैष्णव तत्व—ब्रह्म की जो भावना वैष्णव धर्म मे आगे चल कर विकसित हुई उसके तत्त्व भी कवीर मे पाए जाते है। भगवान् के विविध वैष्णवी नामो जैसे राम हरि, गोविन्द, मुकुन्द, विष्णु आदि का कवीर ने स्वच्छन्दता से प्रयोग किया है। इसी प्रकार ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनो रूप कवीर को मान्य प्रतीत होते हैं, जो वैष्णव धर्म का तत्त्व है। वैष्णवो के दूसरे तत्त्व-भक्ति, उपासना, माया आदि को भी कवीर ने ग्रहण किया है। माया के सबध मे ऊपर कहा जा चुका है। भक्ति, उपासना आदि को भी कवीर ने स्वीकार किया है, जैसे निम्नलिखित पक्तियो मे—

(क) कवीर सूता क्या करै, गुण गोविन्द के गाइ।
(ख) कवीर राम रिझाइ लै, मुख अमृत गुण गाइ॥
(ग) लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मै गई मै भी ह्वै गई लाल॥

सामान्य रूप से कवीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं, परन्तु कही-कही वे सगुण को भी स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। निम्नलिखित पक्तियो मे कवीर ने अवतारवाद मे अपनी आस्था प्रकट की है।

महापुरुष देवाधि देव, नरसिंह प्रकट कियौ भगति भेव।
कहै कवीर कोइ लहै न पार, प्रहिलाद उवारौ अनेक वार॥

कवीर के राम—ब्रह्म के लिए कवीर ने सर्वत्र 'राम' नाम का प्रयोग किया है, जिसकी दीक्षा उन्होंने गुरु रामानन्द से ली थी, परन्तु उनके 'राम' गुरु रामानन्द के 'राम' से भिन्न है। कवीर के 'राम' निर्गुण ब्रह्म हैं, दशरथ के पुत्र राम नही—

दसरथ सुत तिहुँ लोक वखाना। राम नाम का मरम है आना॥

इस प्रकार कवीर ने सर्वत्र ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए 'निरगुण राम निरगुण राम जपहुरे भाई' का ही उपदेश दिया है। उनके राम त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैतविलक्षण, भावाभाव विनिर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेम-पारावार, निर्गुण ब्रह्म हैं, सगुण ब्रह्म नही। वह घट घट मे व्यापक है, अजर अमर और सर्वशक्तिमान् है। कही कही तो वे उसे निर्गुण और सगुण से भी परे कहते हैं। निम्नलिखित पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सर्गुण की सेवा करौ, निर्गुण का करु ग्यान।
निर्गुण सर्गुण के परे, तहाँ हमारा ध्यान॥

कवीर के 'राम' का स्वरूप आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे इस प्रकार है, "वह (ब्रह्म विचार) किसी भी दार्शनिकवाद के मानदण्ड से परे है, तार्किक वहस से ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य है, पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है।" कवीर का ब्रह्म निराला है, जैसा वह है, वैसा उसे कोई नही जानता, वह केवल अनुभव गम्य है—

जस तू तस तोहि कोइ न जान। लोग कहैं सव आनहिं आन।

हठयोगियो (नाथपथ) का साधनात्मक रहस्यवाद

कवीर की दार्शनिक विचारधारा के निर्माण में भारतीय ब्रह्मवाद और वैष्णव

विशेष तैयारी के साथ तथा जनसमाज की दृष्टि बचाते हुए अभिसरण करना पड़ता है यह भेद उसी में सम्भव है नायक का समावेश उसमें स्वतः हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय मनीषियों ने नायिकाभेद के समान नायकभेद को अधिक महत्त्व नहीं दिया है।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से नायक के केवल चार भेद किये गये हैं। उत्तम दक्षिण शठ और धृष्ट। इन्ही के अन्तर्गत अधिकांश नायिकाभेद का विभाजन हो जाता है। यह सब विस्तार शृंगाररस की दृष्टि से किया गया है। इसके अतिरिक्त सामान्य नायक भेद भी किया गया है। सामान्य नायक चार प्रकार का होता है—धीरोदात्त धीरोद्धत धीर शान्त और धीरललित। नायक के विनय' इत्यादि कतिपय सामान्य गुण भी माने गये हैं जिनको कुछ लोग नायक-भेद के रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्राचीन काव्य में स्त्री चरित्र का अधिक विकास नही हो पाया और नायक' का ही महान् कार्यों में बोलबाला माना जाता रहा। स्त्रीजाति तो रस में विषय मात्र ही रही। जब वह विषयी भी बहुत कम बनी है तब उससे यह सम्भावना भी नही की जा सकती कि वह महान् कार्यो का आश्रय बन सकेगी। किन्तु यदि कहीं सम्भव हो और पुरुष के स्थान पर स्त्री को आधार मानकर काव्य रचना की गई हो तो धीरोदात्तादि भेदों का स्त्री के प्रसंग में भी निरूपण कर देने पर कोई अधिक हानि नही होती। इसके अतिरिक्त विनय इत्यादि नायक-गुणों का नायिका के प्रसंग में भी विचार किया जा सकता है।

नायक और नायिका काव्य के मुख्य पात्र होते हैं। इनके कुछ अमुख्य पात्र भी होते हैं। ये नायक-नायिका के सहायक कहे जाते हैं। इनमें मुख्य हैं—पीठमर्द विट विदूषक इत्यादि। इसी प्रकार शृंगाररस मे नायिका की सखी और दूती भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। विप्रलम्भकथा तथा प्रेमसंयोजन के लिए इनका बहुत बड़ा उपयोग है। प्रेम संयोजन के क्षेत्र मे नायिका भी दूती का काम करती है। उस अवस्था में उसे 'स्वयं दूती' भी कहते हैं। रस के आलम्बन का यही संक्षिप्तपरिचय है।

उद्दीपन विभाव

जैसा कि बतलाया जा चुका है उद्दीपन के क्षेत्र में एक ओर तो नायिका के गुण तथा चेष्टायें आती हैं और दूसरी ओर प्राकृतिक सौन्दर्य भी उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही आता है। साहित्य शास्त्र मे स्त्रीजाति की चेष्टाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। ये चेष्टायें अलंकार कही जाती हैं। क्योंकि ये आभूषणों के समान ही सौन्दर्य को बढ़ाती हैं। इनकी संख्या २८ है तथा इन्हें ३ भागो में विभाजित किया गया है। कुछ अलंकार शारीरिक विकार तक ही सीमित होते हैं; इनको अंगज अलंकार कहते हैं। कुछ अलंकार आभ्यन्तर होते हैं। कुछ चेष्टायें भाव के साथ ही प्रवृत्त हो जाती हैं जिन्हें अयत्नज अलंकार कहा जाता है और कुछ चेष्टाओं के लिये बाह्य प्रयत्न अपेक्षित होते हैं जिन्हें यत्नज अलंकार नाम कहते हैं। अंगज अलंकार

है। कबीर का यह यह प्रेम त्त्व सूफी माधको के भावात्मक रहस्यवाद या प्रेम तत्त्व से गृहीत है, जिसमे प्रेम और विरह की व्यापकता तथा विरह की प्रधानता रहती है। कबीर ने अपने काव्य मे निर्गुण निराकार ब्रह्म को अपना स्वामी मानकर और स्वय को उनकी पत्नी स्वीकार करते हुए ('मैं राम की बहुरिया' आदि उक्तियों द्वारा) आत्मा और परमात्मा के बीच मधुर दाम्पत्य-सम्बन्धो की प्रतिष्ठा की है। इन प्रसगो मे प्रेम के विविध पक्षो की मार्मिक व्यजना कबीर ने की है। निम्नलिखित पक्तियो मे सूफियो के इसी प्रेम तत्त्व का प्रभाव है—

(क) आखडिया झाईं पडीं, पथ निहारि निहारि।
जीभडिया छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि।

(ख) दुलहिनी गावहु मगलाचार।
हमघरि आए हो राजाराम भरतार॥
तन रत करि मै मन रत करि हौं, पचतत्त बराती।
रामदेव सगि भांवरि लै हौं, मैं जोबन मैंमाती॥

(ग) कै विरहनि कूं मीचु दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा, मोपै सह्या न जाइ॥

इसी प्रकार आठ पहर कबीर ने अनेक स्थलो पर मधुर दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति की है। कही वे पति-पत्नी के रूप परमात्मा और आत्मा के सयोगोल्लास का वर्णन करते हैं और कही-कही उनके विरह का और यह विरह-भावना ही वास्तव मे कबीर के प्रेम का मूल रूप है। इन सभी प्रसगो मे कबीर मे सूफी प्रेमतत्त्व स्वीकार किया गया है।

कबीर की दार्शनिक विचारधारा को प्रभावित करने वाले अन्य उपादान

कबीर की दार्शनिक विचारधारा मे मुख्य रूप से जिन तीन उपादानो—भारतीय ब्रह्मवाद (वेदान्तिक और उपनिषदिक अद्वैतवाद तथा वैष्णव भक्ति), हठयोगियो की साधना सौर सूफियो के प्रेमतत्त्व का समावेश मिलता है, उनका सम्यक् विवेचन करने के वाद कुछ और ऐसे उपादान भी रह जाते हैं, जिनका आशिक प्रभाव कबीर की दाशनिक विचारधारा पर मिलता है। ये उपादान हैं—बौद्धधर्म, निरजन पथ और महाशब्दीय सत सम्प्रदाय। कबीर ने आर्य सत्य, वुद्धिवादिता तत्त्व की अनिर्वचनीयता और साम्यवाद आदि भावनाएँ बौद्धो से ग्रहण की हैं। महाराष्ट्रीय सत सम्प्रदाय मे नामदेव का नाम लिया जा सकता है, जिनकी अनेक वातो—अद्वैत का समर्थन, गुरु की महत्ता, मूर्ति पूजा पर व्यग्य, जातिपाँति-भेद का विरोध आदि कवीर ने ज्यो की त्यो ग्रहण कर ली है। कुछ विद्वानो के अनुसार कवीर पर इस्लाम का प्रभाव भी मिलता है। पीछे कवीर की दार्शनिक विचारधारा की विवेचना मे यह दिखाया जा चुका है कि कबीर ने इस्लाम के एकेश्वरवाद को नही, भारतीय अद्वैतवाद को ही स्वीकार किया है। वास्तव मे कवीर ने इस्लाम की चर्चा उनकी रोजा-नमाज आदि व्यवस्थाओ के खडन मे ही की है. सिद्धान्त-प्रतिपादन मे नही।

गोचर बनाने का काम अनुभाव का होता है। नाट्यशास्त्र में अनुभाव की परिभाषा यह दी हुई है—'क्योंकि वाचिक और आंगिक अभिनय के द्वारा अर्थ का अनुभावन किया जाता है इसीलिए वाणी और अंग उपांग से संयुक्त उस अभिनय को अनुभाव कहा जाता है। दशरूपककार ने लिखा है—सामाजिकों को स्थायी भावों का अनुभव कराने वाले भ्रू विक्षेप कटाक्ष इत्यादि जो कि रस को पुष्ट करने वाले होते है, अनुभाव कहलाते हैं। साहित्यदर्पणकार की परिभाषा इस प्रकार है—'अपने अपने कारणों से उद्बुद्ध होने वाला तथा बहिर्भाव को प्रकाशित करने वाला जो तत्त्व लोक में कार्यरूप होता है वह काव्य और नाट्य में अनुभाव कहलाता है। रसगंगाधरकार का कथन इस प्रकार है— जो तत्त्व स्थायीभाव के कार्य रूप में प्रसिद्ध हैं उन का व्यपदेश अनुभाव शब्द से होता है। क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति है 'अनु' अर्थात् पश्चात् जिन का भाव' अर्थात् उत्पत्ति हो' अथवा जो अनुभाव करावें' उन्हें अनुभाव कहा जाता है। सभी परिभाषाओं का सार यही है कि अनुभाव किसी स्थायीभाव की अभिव्यक्ति के बाद आते है और सामाजिकों में उसको अनुभवगोचर बनाते हैं। आशय यह है कि सभी प्रकार के अभिनय अनुभाव के अन्दर ही आते हैं।

भरत मुनि ने संकेत दिया था कि अभिनय या तो वाणी से किया जाता है या अंगों से। साथ ही भरत मुनि ने कई अध्यायों में अनुभाव का विवेचन भी किया। उनके करण और अंगहार अनुभाव ही हैं। साथ ही वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आता है। यदि वास्तव में देखा जाय तो रस-शास्त्र की रीढ़ की हड्डी ये अनुभाव ही हैं। क्योंकि भाव की अभिव्यंजना ही रस का मूल तत्त्व होता है और भाव की अभिव्यंजना का माध्यम ये अनुभाव ही होते हैं। अतः रस-शास्त्र में इनका विस्तार स्वाभाविक है। भानुदत्त ने अनुभाव को चार प्रकार का माना है—कायिक अर्थात् शरीर से किये जाने वाले अभिनय वाचिक अर्थात् वाणी के अभिनय आहार्य अर्थात् वेशभूषा से किये जाने वाले अभिनय और सात्त्विक अर्थात् चेतना जन्य अभिनय। इनमें सात्त्विक अनुभाव ही मुख्य है जिन पर पृथक प्रकाश डाला जायेगा। सामान्यतया ये ही अनुभाव माने जाते हैं। इनका उपयोग अभिनय में रंगमंच पर किया जाता है किन्तु काव्य में जहां रंगमंच का अवसर नहीं होता इनके वर्णन से काम चलाया जाता है।

शारदातनय ने गात्रारम्भानुभाव मन आरम्भानुभाव और बुद्ध्यारम्भानुभाव ये संज्ञायें प्रदान की हैं। शिंगभूपाल का भी नामकरण इसी प्रकार का है किन्तु उसमें चित्तारम्भानुभाव कहा गया है। रूपगोस्वामी ने भिन्न प्रकार से ही प्रकथन किया है। उनके अनुसार अनुभाव तीन प्रकार का होता है अलंकार उद्भास्वर और वाचिक। उन्होंने सात्त्विक भावों को सामग्री में पृथक स्थान दिया है। इन आचार्यों ने अधिकांश अलंकारों को अनुभाव के अन्तर्गत ले लिया है। रूपगोस्वामी के वर्णन में कुछ नवीनता है। उन्होंने मौट्टायित अलंकार के अन्तर्गत अनेक गात्रारम्भानुभावों को उद्भास्वरानुभाव कहकर उनका वर्णन किया है।

तीन होते हैं—भाव, हाव, हेला। अयत्नज अलकार होते हैं—शोभाकान्ति दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य तथा यत्न। चेष्टायें १८ होती है जिनका नाम निर्देश निम्नलिखित कारिकाओ मे किया गया है —

लीला विलासो विच्छित्तिर्विव्वोक किलकिञ्चितम्।
मोहायित कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मद ॥
विहृत तपन मौग्ध्य विक्षेपश्च कुतूहलम्।
हसित चकित केलि

इन २८ प्रकार के अलकारो को कुछ आचार्य 'हाव' शब्द से अभिहित करते हैं क्योकि इनमे पहला अलकार 'भाव तो सामान्य शब्द है और प्राय समस्त रस-सामग्री के लिए उसका प्रयोग होता है। दूसरा अलकार 'हाव' है उसी के नाम पर इस समस्त वर्ग को हाव की सामान्य सज्ञा से अभिहित कर दिया जाता है। प्रथम तत्त्व को प्रधान मानकर उसके आधार पर निर्देश कर देना एक सामान्य परम्परा है।

यहाँ पर एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि चेष्टायें दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे चेष्टायें जो स्वभावत प्रवृत्त हो जाया करती हैं और उनसे किसी प्रकार की भावाभिव्यक्ति नही होती। दूसरी प्रकार की चेष्टाये भावाभिव्यक्ति का साधन होती हैं। प्रथम प्रकार की चेष्टाओं को अलकार या हाव कहते है और दूसरी प्रकार की चेष्टाओ को अनुभाव। हाव या अलकार का उपयोग भाव को जागृत करना होता है, भाव को अभिव्यक्त करना नही। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि आलम्बन की चेष्टायें अलकार या उद्दीपन मे आती हैं और आश्रय की चेष्टायें अनुभाव मे।

इस विषय मे प्रश्न यह है कि हाव को अनुभाव के अन्तर्गत लिया जाय या उद्दीपन के अन्तर्गत। आचार्य शुक्ल ने आलम्बन की चेष्टाओ को उद्दीपन के ही अन्तर्गत माना है। रामदहिन मिश्र ने प्राचीन आचार्यों के साक्ष्य पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हाव या अलकार अनुभाव मे ही आते है। कतिपय अलकार ऐसे अवश्य हैं जिनसे अनुभाव होने का भ्रम हो जाता है। अधिकतर नायिकाओ के अन्त:करण का अनुराग भी नायको मे रतिभाव जागृत करने का कारण बन जाता है। यह ज्ञान भी कि कोई प्रेमिका प्रेम मे घुल रही है, प्रेमी के प्रेमभाव को उद्दीप्त करने में कारण हो जाता है। इस प्रकार भानुदत्त के अनुसार इन दोनो के सामजस्य का रहस्य यही हो सकता है कि आलम्बन हो या आश्रय, दोनो मे विद्यमान भाव से उद्भूत चेष्टायें जितने अश में भावना जाग्रत करने का कार्य करती हैं उतने अश मे उद्दीपन के अन्तर्गत आती हैं और जितने अश में भाव का भी अभिव्यञ्जन करती हैं उतने अश में अनुभाव कहलाती हैं।

अनुभाव

विभाव के द्वारा स्थायीभाव के विभावित कर दिये जाने के बाद उसे अनुभव-

प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं तब हमारी चेष्टायें भी परिवर्तित हो जाती हैं। यह तो लोक की प्रक्रिया है। काव्य में किसी भाव को आस्वादगोचर बनाने के लिये तदनुकूल कल्पित परिस्थिति और तदनुकूल शारीरिक क्रियाओं के द्वारा विभिन्न मनोविकारों का प्रदर्शन इस रूप में किया जाता है कि वे मनोविकार आस्वाद प्रवर्तक हो जाते हैं। इन मनोविकारों को भाव की संज्ञा प्रदान की जाती है।

भरतमुनि ने इनके नामकरण का कारण यह लिखा है कि जिस प्रकार पुष्पों से तिलों को भावित या वासित कर जो तेल निकला जाता है वह उन्हीं पुष्पों के नाम से अभिहित किया जाता है। उसी प्रकार हमारे अन्तःकरण भी विभिन्न प्रकार के मनोविकारों से भावित या वासित कर दिये जाते हैं। अतएव इन्हें भाव कहते हैं। ये भाव शुद्ध मिश्र मन्द, तीव्र अस्थायी स्थायी इत्यादि अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जो मनोविकार दूसरे मनोविकारों के द्वारा पोषित होकर स्थायित्व धारण करने की क्षमता रखते हैं उन्हें मनोवृत्ति या स्थायीभाव कहा जाता है और पोषक भावों को सञ्चारी भाव कहा जाता है। सञ्चारी का नामकरण इसलिये किया गया है कि ये स्थायी भावों मे सञ्चरण करते हैं। इसी प्रकार विशेष रूप से चारों ओर से विचरण करने के कारण इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है।

नाट्यशास्त्र मे ३३ सञ्चारी माने गये हैं और ८ स्थायी। सञ्चारी भाव तो अभिव्यञ्जक तत्वों म ही आते हैं और उनका उद्देश्य स्थायी भावों का पोषण करना ही होता है तथा स्थायी की अभिव्यञ्जना में विभाव और अनुभाव का सहायता प्रदान कर ये रससामग्री के अन्तर्गत ही आने के अधिकारी हो जाते हैं। सञ्चारी भावों की सख्या मुनि के निर्देश पर निश्चित ही रही और इसमे घटाने बढ़ाने का साहस बहुत कम आचार्यों को हुआ। किन्तु फिर भी इसमें कभी-कभी कुछ वृद्धि करने की चेष्टा की जाती रही। रसतरंगिणी म एक अतिरिक्त सञ्चारी छल मान लिया गया था जिसका अनुसरण बाद में देव ने किया। किन्तु आचार्य शुक्ल ने इसे अवहित्थ मे अन्तर्भूत करके इसकी पृथक्ता का निराकरण कर दिया। रूपगोस्वामी ने भी इस सख्या को बढ़ाने की कुछ चेष्टा की किन्तु उनके अतिरिक्त सञ्चारियों को मान्यता प्राप्त नही हो सकी। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये सञ्चारी का अर्थ है केवल सञ्चारी अर्थात् जिन भावो मे स्थायी बनने की क्षमता नही होती उन्हें सञ्चारी कहते हैं। जो भाव स्थायी भी बन सकते हैं वे भी सञ्चारी होते हैं और एक रस मे स्थायी का काम देते हैं तथा दूसरे मे सञ्चारी बन जाते हैं। उदाहरण के लिये उत्साह वीर रस का स्थायी है किन्तु रति को पुष्ट करने की दिशा मे सञ्चारी बन जाता है। वस्तुत मनोविकार अनन्त हैं क्योंकि उनका उद्भव लौकिक प्रपञ्च से ही होता है। जिस प्रकार लौकिक प्रपञ्च की इयत्ता नहीं उसी प्रकार मनोविकारों की सख्या का भी निर्धारण नही किया जा सकता। किन्तु भावों की संख्या परम्परा पुरोग से ही चली आती है और मुनि वचन इसमे आप्त की भाँति प्रामाणिक माने जाते हैं।

सात्विक भाव

सत्त्व का अर्थ है समाहित मन। जब अभिनेता किसी भाव का अभिनय करता है तब उसे जो लोकानुभव हुआ रहता है उसके आधार पर अपने अन्दर वह उन्ही भावों को समझने लगता है जिन भावो का वह अभिनय करना चाहता है। इस प्रकार जो भाव उसमे नही है उसको समझ लेना ही मन की समाहित अवस्था है। अभिनय तब तक ठीक नही हो सकता जब तक कि अभिनेता अपने को तद्रूप नहीं समझ लेता। अतएव सभी अनुभाव सात्विक ही होते हैं। किन्तु कुछ भाव ऐसे होते हैं जिनका उद्‌भव विना बाह्य प्रयत्न के सत्त्व मात्र से हो जाता है। उन्ही अनुभावो को सात्त्विक अनुभाव की सज्ञा दी जाती है। सात्त्विक का अर्थ है केवल सत्त्व से उद्‌भूत। दशरूपक प्रतापरुद्रीय इत्यादि मे इसी मत का समर्थन किया गया है। सत्त्व का एक अर्थ यह भी है कि मन की रजोगुण तथा तमोगुण से अस्पृष्ट अवस्था जबकि शुद्ध सत्त्व की ही सत्ता शेष रह जाती है। इसकी रस के लिये नितान्त आवश्यकता है यह बात सभी लोग स्वीकार करते हैं।

इन सात्त्विक भावो की सख्या ८ है—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और मूर्छा। इनके विषय मे एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि इन्हे अनुभावो में सन्निविष्ट किया जाय या सञ्चारी भावो में। भरत ने ८ सात्विको की सख्या पृथक् करके ४६ भाव बतलाये हैं—३३ सचारी, ८ स्थायी और ८ सात्त्विक। अतएव रूपगोस्वामी का सात्त्विको को अनुभाव और सञ्चारी भाव दोनो से पृथक् स्थान देना उचित ही है। किन्तु यदि इन्हे एकत्र सन्निविष्ट करना अभीष्ट ही हो तो बहुमत इन्हे अनुभाव के अन्तर्गत मानने के ही पक्ष मे है। पण्डितराज अश्रुपातादि को अनुभाव कहते हैं। अभिनवगुप्त ने भावो की सख्या ४६ रखते हुए भी सात्विको को अनुभावो के अन्तर्गत ही रक्खा है। वस्तुत यही उचित भी है। वस्तुत ये मनोविकार नही मनोविकार का कारण ही हैं जो कि अनुभावो का क्षेत्र है सञ्चारी भावों का नही।

भाव

रस सिद्धान्त भावों पर ही आधारित है। साध्य भाव ही होते हैं, इतर तत्त्वो का उपादान भावो की सिद्धि के लिये ही होता है। हमारी चित्तवृत्तियाँ प्रशान्त महासागर के समान शान्त तथा अविक्षुब्ध बनी रहती हैं। किन्तु जिस प्रकार वायु के आघातो से समुद्रतल-आलोडित विलोडित हो जाता है उसी प्रकार बाह्य-सवेदनो से हमारे चित्त मे भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं और हमारा मन ठीक उसी प्रकार का नही रहता जो उसका स्वाभाविक रूप होता है। लोक मे बाह्य परिस्थितियो से हमारे अन्त करणो मे जो आलोडन-विलोडन होता रहता है वह कभी तो द्रवणशीलता के रूप मे होता है कभी विक्षोप के रूप मे और कभी विस्तार के रूप मे। इस प्रकार प्रशान्त मन को विकार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियाँ होती हैं। जब इस

७

अलकार-सम्प्रदाय

१ उपक्रम
२ पूर्वरंग
३ अलंकार की व्युत्पत्ति और स्वरूप
४ अलंकारों की संख्या
५ अलंकारों का वर्गीकरण
६ पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अलंकार-विवेचन
७ उपसंहार

उपक्रम

वामन ने काव्य की आत्मा के अनुसन्धान का सूत्रपात किया था और तब से इस दिशा में अनेक लब्धप्रतिष्ठ आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विभिन्न तत्वों को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की। इसी आधार पर विभिन्न सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ। यह क्रम ११वीं शती तक लगभग तीन सौ वर्ष चलता रहा। इसी के अन्तर्गत वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक बने और आनन्दवर्धन ध्वनि-सिद्धान्त के। कुन्तक ने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया तथा क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। भरत ने जिस रससिद्धान्त को मान्यता प्रदान की थी उसकी महत्ता काव्य के क्षेत्र में भी अबाध रूप से स्वीकृत की जाती रही तथा आनन्दवर्धन के द्वारा रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृति प्रदान कर देने पर साहित्यमर्मज्ञों में उसका महत्त्व और अधिक बढ़ गया तथा आगे चलकर विश्वनाथ इत्यादि के द्वारा उसको काव्यजीवन के रूप में मान्यता प्रदान की जा सकी। किन्तु अलंकार को 'काव्य की आत्मा' कहने वाला सम्भवतः कोई आचार्य नहीं है। आगे चलकर जब काव्यात्मभूत समस्त तत्वों का आकलन किया जाने लगा तब अलंकार के महत्त्व को देखते हुए विवेचकों ने इसे भी एक सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार कर लिया।

सम्प्रदायरूपता देने वाला और आत्म-तत्त्व के रूप में स्वीकार करने वाला चाहे कोई एक आचार्य न रहा हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अलंकारसिद्धान्त अति प्राचीन है। इसने लेखकों और परिशीलकों को जितना अपनी ओर आकृष्ट किया है और काव्यविवेचकों में यह सिद्धान्त जितनी अनिवार्य आवश्यकता बन गया है उतना प्रसार सम्भवतः किसी भी सम्प्रदाय का नहीं हो सका। इसका सबसे बड़ा

उपसंहार

ऊपर रस सामग्री का जो सक्षिप्त परिचय दिया गया है उससे स्पष्ट है कि रसास्वादन मे मूल कारण तो केवल स्थायी भाव ही होते हैं किन्तु एकमात्र स्थायी-भाव स्वसत्तामात्र से ही ग्रास्वादगोचर नही हो सकते। उनके प्रदर्शन की ग्रावश्यकता होती है। उसी के लिये ग्राश्रय ग्रौर ग्रालम्बन की कल्पना की जाती है ग्रौर उसके प्रभाव का ग्रभिनय भी इसी उद्देश्य से किया जाता है। यह सब रससामग्री है जिसकी नियोजना कुशलता से करने पर ही काव्य उपादेय हो सकता है। कभी-कभी रस का कोई एक ग्रग ही प्रमुखता पा जाता है। तब इतर ग्रगो का ग्राक्षेप करके रसास्वादन की सामग्री पूरी की जाती है। जब कोई सञ्चारी भाव ही ग्रधिक उद्भूत हो जाता है तब रस की पूर्ति नही होती ग्रौर उस भाव की ही ध्वनि कही जाती है। भाव सन्धि इत्यादि ग्रवस्था मे भी ग्रास्वाद्य होती हैं यही रस सामग्री का सक्षिप्त परिचय है।

इसके उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि उपमा भी क्या करते हुए काव्य को अलंकृत किया करती है। यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि उपमा तो सादृश्य की स्थापना करके काव्य को अलंकृत करती है तो रस के विषय में भी कहा जा सकता है कि रस काव्य को सरस बनाकर अलंकृत करता है। आशय यह है प्राचीनों के मत मे अलंकार काव्य के उन सभी तत्त्वों के कह सकते हैं जो काव्य मे काव्यत्व का सम्पादन करते हैं। दूसरे शब्दों म कहा जा सकता है कि यद्यपि अलंकार को काव्य की आत्मा कहने वाला कोई आचार्य नहीं हुआ किन्तु प्राचीन आचार्यों म अलंकार को सामान्य-रूपेण मानकर एक प्रकार से अलंकार की काव्यात्मता प्रतिपादित ही कर दी थी। अत एव इन प्राचीनों को हम अलंकार सम्प्रदायवादी कह सकते हैं। अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्य हैं—भामह दण्डी उद्भट और रुद्रट।

भामह ने अलंकार की परिभाषा नहीं दी है किन्तु काव्य में अलंकार के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि वनिता का मुख कितना ही रूपवान् हो किन्तु बिना आभूषण के अच्छा नहीं लगता। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेकत्र अलंकारमयी वाणी की प्रशंसा की है —

'अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम्'
अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।

भामह ने काव्य परिभाषा बनाने की चेष्टा नहीं की। किन्तु प्राचीनों की मान्यता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि कुछ लोग रूपक इत्यादि अर्थालंकारों मे ही काव्यत्व मानते हैं इसके प्रतिकूल दूसरे लोग शब्दों की व्युत्पत्ति को ही अलंकार कहते हैं और काव्यत्व को शब्दगत ही मानने के पक्षपाती हैं। किन्तु भामह के मत म काव्यत्व उभयगत (शब्दार्थोभयगत) होता है। स्पष्ट ही है कि भामह यहाँ पर साधारण शब्द और अर्थ को काव्य नहीं कह रहे हैं अपितु शब्दालंकार और अर्थालंकार को ही काव्यत्व का व्यवर्तक मान रहे हैं। भामह ने अलंकारो का विवेचन ही सर्वाधिक विस्तार के साथ किया है और रस को भी अलंकारो के अन्दर ही रखने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त सभी अलंकारों का मूलतत्त्व अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को मानकर उसी को कवि का साध्य बतलाया है। इन तथ्यो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भामह अलंकारवादी आचार्य थे और वे अलंकारों को ही काव्य का व्यावर्तक धर्म तथा दूसरे शब्दों मे काव्य का जीवन मानते थे।

दण्डी ने अलंकार की परिभाषा करते हुये लिखा है—'काव्यशोभाकारक धर्मों को अलंकार कहते हैं। दण्डी के मत मे जितने भी काव्य शोभाकारक धर्म हैं वे सब अलंकार ही कहे जाने के अधिकारी हैं। सर्व प्रथम दण्डी ने काव्य के दो मार्ग बतलाये हैं और उनके गुणों का भी विवेचन किया है। उनको भी दण्डी अलंकार ही कहते हैं —'वैदर्भमार्गविभागार्थमुक्ता प्रागलंक्रिया' अर्थात् मार्गों के विभाग के लिए कुछ अलंकार बतलाये गये हैं। इसके अतिरिक्त दण्डी ने स्पष्ट कहा है —

—

प्रमाण यही है कि प्रारम्भिक चरण मे अनेक शताब्दियो तक अलकारशास्त्र काव्य-शास्त्र का पर्याय माना जाता रहा है और अधिकाश ग्रन्थो का नामकरण 'अलकार' के नाम पर ही हुआ है। ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तन के पहले काव्यशास्त्र के ५ महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—भामह का 'काव्यालङ्कार', दण्डी का 'काव्यादर्श', उद्भट का 'काव्यालङ्कारसारसग्रह', वामन की 'काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति' और रुद्रट का 'काव्यालङ्कार'। इनमे दण्डी के काव्यादर्श को छोडकर शेष सभी पुस्तको के नामकरण मे 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग किया गया है। इतना ही नही अपितु अलकार के महत्त्वस्थापन मे भी ये आचार्य कभी पीछे नही रहे। ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तन के बाद काव्यशास्त्र एक रूप से प्रतिष्ठित और व्यवस्थित हो गया। किन्तु उसके बाद भी पीयूष-वर्ष जैसे आचार्यों ने यह प्रतिपादन करने मे सकोच नही किया कि जो लोग काव्यत्व को अलकारहीनता मे भी स्वीकार करते हैं वे बडे साहसी हैं और वे अग्नि को भी उष्णताहीन मान सकते हैं। आशय यह है कि अलकारसम्प्रदाय को चाहे किसी एक आचार्य ने आत्मा के रूप मे मान्यता दी हो या न दी हो इतना निश्चय है कि काव्य मे इसकी अनिवार्यता स्वीकार करने वाले अनेक आचार्य हुए हैं और इनकी महत्ता से तो कभी किसी को मतभेद हुआ ही नही। यह सम्प्रदाय सर्वाधिक प्राचीन है और साथ ही सर्वाधिक व्यापक भी।

पूर्ववृत्त

'अलकार' का इतिहास काव्यशास्त्र के प्रवर्तन के बहुत पहले प्रारम्भ हो गया था। सर्वप्रथम निरुक्त और निघण्टु मे अलंकार की छाया दिखाई देती है। इन ग्रन्थो की रचना भाषा की दृष्टि से वेदो का अध्ययन करने के मन्तव्य से हुई थी। इनका सम्बन्ध काव्यशास्त्र से बिल्कुल नही था। भाषा के प्रसग मे ही वैदिक उपमा का अध्ययन निघण्टु मे किया गया है और उसके १२ भेद किये गये हैं। निरुक्त व्याख्या परकग्रन्थ है जिसमे यास्क ने सभी प्रकार की उपमाओं के उदाहरण वेदो से प्रस्तुत किये हैं। पाणिनि भी व्याकरण के ही आचार्य हैं और उन्होंने भाषा का व्याकरण की दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होने अनेकश उपमा के अङ्गो उपमा (उपमान) उपमेय वाचक शब्द और सामान्य (धर्म) शब्दो का प्रयोग किया है। तद्धित, कृदन्त, समास, स्त्री प्रत्यय इत्यादि का उपमा पर क्या प्रभाव पडता है इस सब का विस्तृत विचार पाणिनि ने अपने व्याकरण मे किया है। आशय यह है कि पाणिनी के समय तक 'उपमा' का पूर्ण विकास हो गया प्रतीत होता है। काणे ने अलङ्कारसाहित्य के इतिहास मे लिखा है कि रुद्रदामन के शिलालेख मे गद्य और पद्य को अलकृत करने की बात कही गई है। इसके अतिरिक्त राजशेखर काल्पनिक विवरण मे कतिपय आलङ्कारिको के भी नाम दिये हुए हैं जिनमे अनुप्रास के आद्य आचार्य प्रचेतायन, यमक के चित्राङ्गद, शब्दश्लेष के शेष, वास्तव के पुलस्त्य, उपमा के औपकायन, अतिशयोक्ति के पाराशर, अर्थश्लेष के उतत्थ्य और उभयालङ्कार के

कुबेर अलंकारशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। कहा नहीं जा सकता कि राजशेखर के इस वर्णन का आधार क्या है और इसमें सत्य का अंश कितना है। इसी विवरण में नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक भरत और रस के प्रवर्तक नन्दिकेश्वर का भी उल्लेख पाया है तथा अधिकांश नाम पौराणिक तथा प्रसिद्ध हैं। इससे सिद्ध होता है कि इसमें कुछ न कुछ सत्य का अंश अवश्य होगा। जो भी हो इतना सत्य है कि चिर अतीत में भी अलङ्कारशास्त्र किसी न किसी रूप में विद्यमान अवश्य था। किन्तु उसकी अनुपलब्धि में उसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक ग्रन्थों का परिशीलन करने से ही एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इस काल में नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र दोनों पृथक्-पृथक् शास्त्र थे किन्तु दोनों का यह दावा था कि उनके अपने क्षेत्र में दूसरे के तत्त्व भी प्रयोजनीय तथा उपकारक होते हैं। नाट्यशास्त्र में रस की प्रधानता थी और काव्यशास्त्र में अलङ्कार की। किन्तु नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में काव्यालङ्कारों का विवेचन किया जाता था और काव्यशास्त्र में नाट्य रस को अलंकारों के अन्तर्गत कोई न कोई स्थान देने की चेष्टा की जाती थी। इसी के अनुसार वाचिकाभिनय के प्रसङ्ग में भरत ने काव्यालंकारों का विवेचन किया है। नाट्यशास्त्र का १६वाँ अध्याय वाचिकाभिनय विषयक है जिसमें सर्वप्रथम ३६ काव्यलक्षणों का विस्तार से विवेचन किया गया है। इसके बाद काव्यालंकारों का वर्णन है जिनमें ४ अलंकार आये हैं—उपमा रूपक दीपक और श्लेष। भरत ने उपमा के प्रसङ्ग में उपमान और उपमेय शब्दों का प्रयोग किया है और उनके आधार पर इसके विभाजन की चेष्टा की है। इसके बाद उपमा के ५ भेद किये गये हैं—प्रशंसोपमा निन्दोपमा कल्पितोपमा सदृशी उपमा और किञ्चित्सदृशी उपमा। रूपक और दीपक के न तो भेदोपभेद किये गये हैं और न अधिक विस्तार किया गया है। किन्तु यमक के दस भेदों का विस्तारपूर्वक विवेचन है। यहाँ पर शब्दालंकार और अर्थालंकार एक में मिला दिये गये हैं। इसके बाद १० दोष और १० गुणों का विवेचन किया गया है। भरत के ३६ काव्य-लक्षण काव्यशास्त्र के परवर्ती इतिहास में मान्यता प्राप्त नहीं कर सके। इनमें कुछ तो अलंकारों में सम्मिलित हो गये और कुछ का प्रत्याख्यान कर दिया गया। भरत का अलंकार विवेचन और विविध रूप से उपमा के भेदोपभेद परवर्ती साहित्य में मान्यता प्राप्त नहीं कर सके। भरत ने केवल गुण दोष और अलंकार का विवेचन और उपादान नाट्य की दृष्टि से किया है। अतः हम उनसे काव्यशास्त्र के पूर्ण विवेचन की आशा भी नहीं कर सकते। भरत और भामह के मध्य में भी कतिपय आलंकारिक हुए हैं जिनका उल्लेखमात्र भामह के काव्यालंकार में किया गया है, किन्तु उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। भामह के पहले अलंकार-सम्प्रदाय की स्थिति का यही संक्षिप्त परिचय है। भामह से अलंकारसम्प्रदाय का व्यवस्थित इतिहास प्राप्त होता है।

यच्च सन्ध्यग वृत्यग लक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिद सर्वमलकारतयैवतत् ॥

अर्थात दूसरे शास्त्रो मे जितने भी सन्ध्यग, वृत्यग लक्षण इत्यादि का वर्णन किया है वह सब हमारे मन मे अलकार ही है । आशय यही है कि दण्डी उन सभी तत्त्वो को अलकार ही मानते हैं जिनको काव्यत्व सम्पादन के लिए उपादेय माना जाता है । इन अलकारो की सख्या सीमातीत है । आज भी जो नये नये काव्यतत्त्व आविर्भूत होते रहते हैं वे सब अलकार कहे जा सकते हैं । अत परिपूर्ण रूप से उनके निरूपण कर सकने की क्षमता किसी मे है ही नही ।

उदभट भामह के अनुयायी हैं । इन्होने अलकार-सार-सग्रह मे भामह का ही पदानुसरण किया है । यहाँ तक कि क्रम भी भामह से मिलता है और अनेकश परिभाषायें भी वैसी ही हैं । जहा कही भेदोपभेद कथन या परिभाषा मे अन्तर आ गया है वह भामह का अतिक्रमण नही अपितु विकास ही कहा जा सकता है । इस प्रकार उद्भट भामह के समान ही अलकारवादी हैं और अलकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं ।

रुद्रट के काव्यालकार मे ऐसा कोई सकेत अधिगत नही होता जिससे उन्हे काव्यशास्त्र के किसी सम्प्रदाय मे स्थान दिया जा सके । इन्होने रसो को अलकार के क्षेत्र से सर्वथा मुक्त रक्खा है । किन्तु ग्रन्थ के नामकरण और आधे से अधिक ग्रन्थभाग मे अलकारविवेचन को देखकर कहा जा सकता है कि ये काव्य सम्बन्धी सभी तत्त्वो को अलकार कहने के पक्षपाती थे ।

इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य आचार्यों ने भी अलकार की सामान्य परक परिभाषा की है । वामन ने लिखा है—'काव्य ग्राह्यमलकारात्' अर्थात् अलकार काव्य को ग्राह्य बनाते हैं 'और 'सौन्दर्यमलकार' सौन्दर्य को अलकार कहते हैं ।' वामन ने यद्यपि गुण और अलकारो का विभाजन किया है और गुणो को नित्य धर्म तथा अलंकारो को अनित्य धर्म माना है फिर भी अपने समय की प्रचलित परम्परा का वे अतिक्रमण नही कर सके और उन्हें सामान्य परक परिभाषा बनानी पडी । महिम भट्ट ने भी लिखा है कि—'अलकार भगीभणिति रूप होते हैं ।' व्यक्तिविवेक के टीकाकार ने लिखा है कि 'वैचित्र्यापरपर्याय चारुत्व ही प्रकाशित होकर अलकार कहा जाता है ।' तथा 'चारुत्व को अलकार कहते हैं ।' इसी प्रकार 'शब्दार्थ की विच्छत्ति को अलकार कहते हैं ।' रुद्रट की व्याख्या मे नमिसाधु ने लिखा है कि 'जितने भी हृदयावर्जक अर्थ होते हैं उतने ही अलकार कहे जाते हैं ।' इन सब परिभाषाओ और विचारो से एक ही दृष्टिकोण प्रकट होता है कि अलकार व्यापक तत्त्व है और शब्द और अर्थ को उपादेय बनाने वाले समस्त तत्त्वो को अलकार की सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है । यदि यह दृष्टिकोण अपनाया जावे तो अलकार-सम्प्रदाय के स्वीकार करने मे भी कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती ।

इसके उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि उपमा भी क्या करते हुए काव्य को अलंकृत किया करती है। यदि इसके उत्तर मे यह कहा जाय कि उपमा तो सादृश्य की स्थापना करके काव्य को अलंकृत करती है तो रस के विषय मे भी कहा जा सकता है कि रस काव्य को सरस बनाकर अलंकृत करता है। आशय यह है प्राचीनों के मत मे अलंकार काव्य के उन सभी तत्त्वों को कह सकते हैं जो काव्य में काव्यत्व का सम्पादन करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यद्यपि अलंकार को काव्य की आत्मा कहने वाला कोई आचार्य नहीं हुआ किन्तु प्राचीन आचार्यों ने अलंकार को सामान्य-रूप मानकर एक प्रकार से अलंकार की काव्यात्मता प्रतिपादित ही कर दी थी। अतएव इन प्राचीनों को हम अलंकार सम्प्रदायवादी कह सकते हैं। अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्य हैं—भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट।

भामह ने अलंकार की परिभाषा नहीं दी है किन्तु काव्य में अलंकार के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि वनिता का मुख कितना ही रूपवान् हो किन्तु बिना आभूषण के अच्छा नहीं लगता। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेकधा अलंकारमयी वाणी की प्रशंसा की है —

अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम्
'अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।

भामह ने काव्य परिभाषा बनाने की चेष्टा नहीं की। किन्तु प्राचीनों की मान्यता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि कुछ लोग रूपक इत्यादि अर्थालंकारों में ही काव्यत्व मानते हैं, इसके प्रतिकूल दूसरे लोग शब्दों की व्युत्पत्ति को ही अलंकार कहते हैं और काव्यत्व को शब्दगत ही मानने के पक्षपाती हैं। किन्तु भामह के मत में काव्यत्व उभयगत (शब्दार्थोभयगत) होता है। स्पष्ट ही है कि भामह यहाँ पर साधारण शब्द और अर्थ को काव्य नहीं कह रहे हैं अपितु शब्दालंकार और अर्थालंकार को ही काव्यत्व का व्यवर्तक मान रहे हैं। भामह ने अलंकारों का विवेचन ही सर्वाधिक विस्तार के साथ किया है और रस को भी अलंकारों के अन्दर ही रखने की चेष्टा की है। इनके अतिरिक्त सभी अलंकारों का मूलतत्त्व अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को मानकर उसी को कवि का साध्य बतलाया है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भामह अलंकारवादी आचार्य थे और वे अलंकारों को ही काव्य का व्यावर्तक धर्म तथा दूसरे शब्दों में काव्य का जीवन मानते थे।

दण्डी ने अलंकार की परिभाषा करते हुये लिखा है—'काव्यशोभाकारक धर्मों को अलंकार कहते हैं। दण्डी के मत में जितने भी काव्य शोभाकारक धर्म हैं वे सब अलंकार ही कहे जाने के अधिकारी हैं। सर्व प्रथम दण्डी ने काव्य के दो मार्ग बतलाये हैं और उनके गुणों का भी विवेचन किया है। उनको भी दण्डी अलंकार ही कहते हैं —'वैदर्भमार्गविभागार्थमुक्ता प्रागप्यलंक्रिया' अर्थात् पहले ही मार्ग के विभाग के लिए कुछ अलंकार बतलाये गये हैं। इसके अतिरिक्त दण्डी ने स्पष्ट कहा है —

अलंकार की व्युत्पत्ति और स्वरूप

अलकार शब्द 'अलम्' उपपद 'कृ' धातु से सज्ञा अर्थ मे या करण अर्थ मे घन प्रत्यय होकर बना है। इस प्रकार इसकी दो प्रकार की व्युत्पत्ति होगी—'अलकरोतीत्यलंकार' और अलक्रियतेऽनेन इत्यलकार' अर्थात् जो अलकृत करे उसे अलकार कहते हैं, अथवा 'जिसके द्वारा अलकृत किया जाय उसे अलकार कहते है।' 'अलम्' यह अव्यय शब्द है जिसका अर्थ है कि 'पर्याप्त', 'योग्य', परिपूर्ण रूप से।' अतएव अलकार शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ हुआ ऐसा तत्त्व जो पर्याप्त कर दे, योग्य बनादे या परिपूर्णता तक पहुचा दे अथवा ऐसा तत्त्व जिसके द्वारा कोई वस्तु योग्य बना दी जाय, पर्याप्त करदी जाय या परिपूर्णता तक पहुँचा दी जाय। यह शब्द योगरूढ है जिसका प्रयोग सौन्दर्य के लिए ही होता है। इस प्रकार अलकार ऐसे तत्त्व को कहते हैं जो सौन्दर्य को परिपूर्ण बना दे अथवा उसको इतना पर्याप्त करदे कि उसके आगे उसकी अभिवृद्धि का अवसर न रहे। इस व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से यह बात निश्चय ही उपपन्न हो जाती है कि अलकार न तो काव्य के और न रमणी के सौन्दर्य के उद्भावक तत्त्व हैं किन्तु ये उसे परिपूर्णता तक पहुचाने के साधन मात्र हैं। सौन्दर्य परिनिष्ठित कही अन्यत्र रहता है किन्तु अलकार उसे बढाकर इस योग्य बना देते हैं जिसके आगे सामान्यत उसके बढने का अवसर नही रहता। ये सौन्दर्य का आधार नही अपितु उसके अभिवर्धक मात्र हैं।

किन्तु प्राचीन आचार्यों की दृष्टि अलकार की इस व्युत्पत्ति की ओर नही थी। वे रमणीयता के सभी तत्त्वो को चाहे वह जनक हो, चाहे पूरक हो, अलकार शब्द से अभिहित करने के पक्षपाती थे। उसके दृष्टिकोण की इस रूप मे व्याख्या की जा सकती है कि काव्य के शब्द और अर्थ लोक-व्यतिरिक्त अवश्य होते हैं। लोक और शास्त्र मे शब्द प्रयोग का मन्तव्य अर्थ-प्रत्यायन ही होता है किन्तु काव्य मे शब्द और अर्थ दोनो ही चमत्कृति और सौन्दर्य प्रतीति मे साधन होते हैं। साध्य सौन्दर्य ही है। इस प्रकार जो तत्त्व काव्य को लोक और शास्त्र के क्षेत्र से ऊपर उठाकर चमत्कार-सम्पादन और रमणीयता के अनुभावन मे कारण हो वे सब अलकार शब्द से अभिहित किये जाने के अधिकारी हैं फिर चाहे वे लक्षण हो गुण हो या स्वय रस ही क्यो न हो। आचार्य रस को भी इसी आधार पर अलकार की सीमा मे घसीट लाने के पक्षपाती थे। इन लोगो की मनोवृत्ति का परिचय देते हुए आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त ने लिखा है कि इन लोगो का मत यह था कि सौन्दर्य को अलकार कहते हैं। काव्य सबधी जितने भी तत्त्व अब तक प्रतीतिगोचर हो सके हैं या आगे चलकर होगे वे सब यदि सौन्दर्य के क्षेत्र मे आ जाते है तो वे भी अलकार का ही एक विशेष प्रकार बन सकते है तथा उनकी स्वीकृति से हमारी इस मान्यता का विरोध नही होता कि काव्यसबधी सभी तत्त्व अलकार कहे जाने के अधिकारी हैं। अन्यत्र अभिनव गुप्त ने लिखा है कि 'रस को हम अलकार क्यो मानें? रस क्या करते हुए काव्य को अलकृत करता है?

किन्तु अलंकार का नामकरण ही उसकी सीमा बना देता है। अलंकार एक बाह्य आभूषणों में रूढ़ हो गया है। अतः उसको शरीररूपता प्रदान करना भी कठिन है फिर आत्मा के रूप में तो उसे स्वीकार ही नहीं किया जा सकता। आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त की तत्त्व विमर्शिनी दृष्टि से यह बात ओझल नहीं रह सकी। इन आचार्यों ने स्थान-स्थान पर अलंकार की सीमा पर विचार किया है। इन आचार्यों की मान्यता है कि अलंकारों का सन्निवेश सदा रसोपकारक के रूप में ही होता है। लोचनकार ने स्पष्ट लिखा है कि—'कोई निपुण रमणी कितनी ही निपुणता से केसर का लेप करे किन्तु शरीर के रंग में उसका रंग बिल्कुल मिल जाना सर्वथा कठिन है। इसी प्रकार कोई अच्छा कवि कितनी ही निपुणता से अलंकारों की योजना करे किन्तु वे शब्द और अर्थ के समान काव्य के शरीर बन सकें यह भी बहुत ही कठिन है। फिर वे आत्मरूप तो हो ही नहीं सकते। आशय यह है कि काव्य में अलंकार अधिकांश में ऊपर से ओढ़े हुए मालूम पड़ते हैं वाच्यार्थ से उनका एक रूप हो जाना किंचित असम्भव है। इतना ही नहीं यदि ये अलंकार निपुणता पूर्वक नहीं संयुक्त किये जाते तो काव्य को बिगाड़ भी देते हैं। रूपक इत्यादि अलंकार वस्तु का तभी यथार्थता प्राप्त होती है जब समीक्षापूर्वक उनका विनिवेश किया जाता है। यह समीक्षा किस प्रकार की हो सकती है इसके भी विस्तृत नियम ध्वनिकार ने बनाये हैं—जिस अलंकार की विवक्षा रसांग के रूप में ही हो कभी अंगी के रूप में न हो जिस अलंकार को आवश्यकतानुसार ग्रहण भी किया जा सके और छोड़ा भी जा सके जिस अलंकार को परिपूर्णता तक पहुँचाने की कवि की चेष्टा प्रतीत न हो रही हो अर्थात् जहाँ कवि का उद्देश्य रस हो अलंकार न हो यदि अलंकार पूर्णता तक पहुँच गया हो तो प्रयत्न करके जिस अलंकार को अंग बना दिया जावे ऐसा ही रूपक इत्यादि अलंकार रसपोषक होता है और वही अलंकार भी कहा जाता है। आनन्द ने अलंकार की योजना के विषय में कहा है कि अलंकार की पहली शर्त है अपृथग् यत्ननिर्वर्त्यत्व अर्थात् कवि रस निष्पत्ति के लिये सचेष्ट होता है उसका ध्यान अलंकार योजना की ओर नहीं जाता उसे अलंकार योजना के लिये पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता किन्तु अलंकार होड़ लगा कर स्वतः आते जाते हैं और जब कवि कविता पूरी कर चुकता है तब उसे आश्चर्य हो जाता है कि अमुक अलंकार इस कविता में कैसे आ गया और यह यहाँ पर कितना सुन्दर मालूम पड़ता है। इसी प्रकार के अलंकार काव्य में चारुता लाने वाले होते हैं अन्यथा वे भार बन जाते हैं।

आशय यह है कि अलंकार की वेदी पर काव्यत्व का बलिदान नहीं किया जाना चाहिये। अलंकार काव्य की आत्मा नहीं हो सकते। औचित्य सामंजस्य परिमाण सन्तुलन इत्यादि विशेषतायें ही काव्य को ग्राह्य बनाती हैं। काव्य की आत्मा रस है जिसके अभाव में अभिनव गुप्त के अनुसार अलंकार उसी प्रकार सुशोभित नहीं होते जैसे किसी मुर्दे के शरीर पर सजाये गये आभूषण। इसी प्रकार यदि अलंकार निर्मो-

यच्च सन्ध्यंग वृत्यग लक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिद सर्वमलकारतयैवतत् ।।

अर्थात दूसरे शास्त्रो मे जितने भी सन्ध्यग, वृत्यग लक्षण इत्यादि का वर्णन किया है वह सब हमारे मन मे अलकार ही है । आशय यही है कि दण्डी उन सभी तत्त्वो को अलकार ही मानते हैं जिनको काव्यत्व सम्पादन के लिए उपादेय माना जाता है । इन अलकारो की सख्या सीमातीत है । आज भी जो नये नये काव्यतत्त्व आविर्भूत होते रहते हैं वे सब अलकार कहे जा सकते हैं । अत परिपूर्ण रूप से उनके निरूपण कर सकने की क्षमता किसी मे है ही नही ।

उदभट भामह के अनुयायी हैं । इन्होने अलकार-सार-सग्रह मे भामह का ही पदानुसरण किया है । यहाँ तक कि क्रम भी भामह से मिलता है और अनेकश परिभाषायें भी वैसी ही हैं । जहा कही भेदोपभेद कथन या परिभाषा मे अन्तर आ गया है वह भामह का अतिक्रमण नही अपितु विकास ही कहा जा सकता है । इस प्रकार उद्भट भामह के समान ही अलकारवादी हैं और अलकार-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं ।

रुद्रट के काव्यालकार मे ऐसा कोई सकेत अधिगत नही होता जिससे उन्हे काव्यशास्त्र के किसी सम्प्रदाय मे स्थान दिया जा सके । इन्होंने रसो को अलकार के क्षेत्र से सर्वथा मुक्त रक्खा है । किन्तु ग्रन्थ के नामकरण और आधे से अधिक ग्रन्थभाग मे अलकारविवेचन को देखकर कहा जा सकता है कि ये काव्य सम्बन्धी सभी तत्त्वो को अलकार कहने के पक्षपाती थे ।

इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य आचार्यों ने भी अलकार की सामान्य परक परिभाषा की है । वामन ने लिखा है—'काव्य ग्राह्यमलकारात्' अर्थात् अलकार काव्य को ग्राह्य बनाते हैं 'और 'सौन्दर्यमलकार' सौन्दर्य को अलकार कहते हैं ।' वामन ने यद्यपि गुण और अलकारो का विभाजन किया है और गुणो को नित्य धर्म तथा अलकारो को अनित्य धर्म माना है फिर भी अपने समय की प्रचलित परम्परा का वे अतिक्रमण नही कर सके और उन्हे सामान्य परक परिभाषा बनानी पडी । महिम भट्ट ने भी लिखा है कि—'अलकार भगीभणिति रूप होते हैं ।' व्यक्तिविवेक के टीकाकार ने लिखा है कि 'वैचित्र्यापरपर्याय चारुत्व ही प्रकाशित होकर अलकार कहा जाता है ।' तथा 'चारुत्व को अलकार कहते हैं ।' इसी प्रकार 'शब्दार्थ की विच्छत्ति को अलकार कहते हैं ।' रुद्रट की व्याख्या मे नमिसाधु ने लिखा है कि 'जितने भी हृदयावर्जक अर्थ होते हैं उतने ही अलकार कहे जाते हैं ।' इन सब परिभाषाओ और विचारो से एक ही दृष्टिकोण प्रकट होता है कि अलकार व्यापक तत्त्व है और शब्द और अर्थ को उपादेय बनाने वाले समस्त तत्त्वो को अलकार की सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है । यदि यह दृष्टिकोण अपनाया जावे तो अलकार-सम्प्रदाय के स्वीकार करने मे भी कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती ।

ध्वनिकार के विवेचन के बाद अलंकारों की यही स्थिति साहित्यजगत् में प्रतिष्ठित हो गई। अलंकार और अलंकार्य का भेद किया जाने लगा और अलंकार के पोषक रूप का प्रतिपादन प्राय सार्वजनीन हो गया। पीयूषवर्ष की अग्नि की उष्णता जैसी काव्य में अलंकारों की स्थिति की उद्घोषणा भी अलंकार को अपने स्थान से आगे नहीं बढ़ा सकी। कुन्तक ने विस्तारपूर्वक अलंकार और अलंकार्य के पृथक्करण पर बल दिया है और अलंकार्य होने के कारण ही स्वभावोक्ति को अलंकार रूप में स्वीकार नहीं किया है। यह दूसरी बात है कि कुन्तक ऐसे अलंकारों के पक्षपाती हैं जो अलं कार्य के साथ एकरूप में होकर काव्यत्व का सम्पादन करने में सहायक हो। उनका कहना है कि वस्तुत काव्यत्व तो सालंकार शब्दार्थ में ही होता है किंतु अपोद्धार के साथ निरूपण के लिये अलंकार और अलंकार्य का भेद कर लिया जाता है। पूर्वापर परीक्षा से कुन्तक की यही मान्यता अवगत होती है कि यद्यपि अलंकार अलंकार्य में ऊपर से नियोजित किये जाते हैं किंतु उनकी नियोजना इतनी कुशलता से करनी चाहिए कि वे ऊपर से जोड़े हुए प्रतीत न हो। इसी प्रकार भोज ने भी अलंकारों को तीन प्रकार का बतलाया है—बाह्य आभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर। माला आभूषण इत्यादि बाह्य अलंकार है, दाँतों का शृंगार आभ्यन्तर अलंकार है और स्नान धूप विलेपन इत्यादि बाह्याभ्यन्तर अलंकार हैं। इसी प्रकार काव्य में भी तीन प्रकार के अलंकार हो सकते हैं।

परवर्ती आचार्यों ने अधिकांश रूप में ध्वनिकार द्वारा प्रतिष्ठापित मान्यता को ही आश्रय दिया है। मम्मट ने अलंकार की यह परिभाषा दी है —

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥

अर्थात् विद्यमान रस को शब्द अर्थ रूप के माध्यम से जो अनुप्रास उपमा इत्यादि हार इत्यादि के समान उपकृत करते हैं उन्हें अलंकार कहते हैं। प्रकाशकार की परिभाषा में स्पष्ट रूप से अलंकारों की कादाचित्कता और शब्दार्थनिष्ठता तथा साधन रूपता पर बल दिया गया है। साहित्य दर्पण की परिभाषा भी इसी से मिलती जुलती है —

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

(शब्द और अर्थ के जो धर्म काव्य शोभा में वृद्धि करने वाले होते हैं तथा रस इत्यादि का उपकार करते हैं उन अस्थिर धर्मों को कपूर इत्यादि के समान अलंकार कहते हैं।) आशय यह है कि ये सभी परवर्ती आचार्य अलंकारों को आभूषण स्थानीय ही मानते हैं।

हिन्दी साहित्य में अलंकार ग्रन्थों की बहुत बड़ी संख्या है। रीतिकाल में अधिकांश ग्रन्थ या तो शृंगार रस परक लिखे गये हैं या अलंकार विषयक। इन ग्रन्थों की रचना

जना मे औचित्य का ध्यान नही रक्खा जायेगा तो भी अलकार शोभित नही होगे जैसे किसी सन्यासी को आभूषण पहिरा देने से उसकी शोभा नही होती। नीलकण्ठ दीक्षित की भी कुछ ऐसी ही सम्मति है —

अन्योन्यससर्गविशेषरम्याप्यलकृति प्रत्युत शोचनीया।
निर्व्यंग्यसारे कविसूक्तिवन्धे निष्क्रान्तजीवे वपुषीव दत्ता।

(चाहे अनेक अलकारो की योजना मे एक दूसरे के ससर्गविशेष से अलकारो की कितनी ही शोभा हो रही हो किन्तु यदि व्यग्यहीन कवि सूक्ति मे उन्हे आवद्ध किया जाता है तो वे इसी प्रकार शोचनीय हो जाते हैं जैसे जीवनहीन शरीर मे सजाये हुए अलकार।) क्षेमेन्द्र ने अनेकश अलकार योजना मे औचित्य का ध्यान रखने का आदेश दिया है। भोजराज ने भी लिखा है कि अपागो के दीर्घ होने पर ही दोनो नेत्रो को अजन की शोभा आभूपित करती हैं और विशाल होने पर ही स्तनो को हारयष्टि अन्वित कर सकती है। आनन्दवर्धन का निष्कर्ष यह है कि रस भाव इत्यादि को तात्पर्यरूप मे स्वीकार कर नियोजना करना ही सभी अलकारो की अलकारता का साधक होता है। ये अलकार शब्दार्थरूप शरीर के माध्यम से भाव या मनोवृत्ति की अभिव्यजना मे ही सहायक होते है। अभिनव गुप्त का कहना है कि उपमा से यद्यपि वाच्यार्थ ही अलकृत किया जाता है तथापि उसमे अलकारता तभी आती है जव कि उसमे वाच्यार्थाभिव्यजन की क्षमता हो। वास्तव मे ध्वनि रूप आत्मा ही अलकार्य होती है। कटक के पूर इत्यादि भी शरीर के समवायी होकर विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति के औचित्य की सूचना देते हुए आत्मा को ही अलकृत करते हैं। साराश यह है कि अलकार का काव्य मे क्या स्थान है यह जानने के लिये अलकार और अलकार्य के भेद पर सर्वदा दृष्टि रखनी चाहिये। जो भी उपादानरूप मे स्थित होकर सौन्दर्याभिवर्धक होता है वही अलकार कहा जाता है। रस भी यदि मुख्य रसान्तर की सौन्दर्याभिवृद्धि के लिये उपात्त होता है तो उसे भी अलकार ही कहा जाता है। ध्वनिसम्प्रदायवादियो ने रसवत् इत्यादि अलकारो का यही आशय बतलाया है। इस प्रकार ध्वनिवादियो के हाथ मे पडकर अलकारो ने अपना प्रमुख स्थान खो दिया और वे पोषक तत्त्वमात्र रह गये। इसके अतिरिक्त ध्वनिवादियो ने ऐसे स्थान भी बतलाये हैं जहाँ अलकार ध्वनि का रूप धारण कर लेते है। किंतु वहा पर उनके लिये अलकारत्व का प्रयोग ब्राह्मण-श्रमणन्याय से ही होता है। अर्थात् सन्याम लेने के वाद ब्राह्मण वर्णव्यवस्था से ऊपर उठ जाता है और ब्राह्मण नही रह जाता। किन्तु क्योंकि वह पहले ब्राह्मण था इसलिये उसे अब भी लोग ब्राह्मण सन्यासी कह दिया करते हैं। यही वात अलकारो की भी है। यदि उन्हें वाच्यरूप मे प्रस्तुत कर दिया जाय तो वे अलकार कहलाने लगेंगे। अब ध्वनि-रूप मे स्थित होकर वे अलकार नही रहे। किन्तु भूतपूर्व गति का आश्रय लेकर उन्हे अलकारध्वनि कह दिया जाता है। ध्वनिकार का कहना है कि जिन अलकारो का शरीरीकरण वाच्यत्व के रूप मे व्यवस्थित नही होता वे अलकार-ध्वनि का अग वनकर वहुत वडे काव्यसौन्दर्य को प्राप्त हो जाते हैं।

प्रकार के अलंकार विवेचकों को दिखाई दिये मान लिए गये और इनकी संख्या बढ़ती बढ़ती रही। यही कारण है कि आधुनिक काल में पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आने पर नये अलंकार निस्संकोच भाव से हिन्दी साहित्य में प्रसार पा सके।

अलंकारों का वर्गीकरण

सामान्यतया अलंकारों को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है—शब्दालंकार अर्थालंकार और उभयालंकार। अर्थ निरपेक्ष शब्द से सौन्दर्यमात्र के आधार पर जहाँ अलंकारत्व की प्रतीति होती है उसे शब्दालंकार कहते हैं। जहाँ अलंकार के प्रत्यायन के लिये अर्थ की अपेक्षा होती है उसे अर्थालंकार कहते हैं। जहाँ शब्द और अर्थ उभयगत सौन्दर्य अलंकारत्व का प्रत्यायक होता है वहाँ उभयालंकार कहा जाता है।

अर्थालंकारों का विस्तार भी अधिक है और क्षेत्र भी व्यापक है। सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने अर्थालंकारों का वर्गीकरण किया। इन्होंने अर्थालंकारों को चार भागों में विभाजित किया—औपम्य वास्तव अतिशय और श्लेष। इनमें प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत अनेक अलंकार रखे गये हैं। इनमें औपम्यमूलक अलंकार प्रधान हैं। किसी किसी आचार्य ने सभी अलंकारों को उपमा प्रपञ्च कहा है और उपमा को एक ऐसी नटी की उपमा दी है जो अनेक भूमिकाओं में अभिनय करने में समर्थ है। रुद्रट का वर्गीकरण इस प्रकार है —

औपम्य के अन्तर्गत— उपमा उत्प्रेक्षा रूपक अपह्नुति संशय समासोक्ति मत उत्तर, अप्रस्तुत प्रशंसा प्रतीप अर्थान्तर न्यास उभयन्यास भ्रान्तिमान् आक्षेप प्रत्यनीक दृष्टान्त पूर्व सहोक्ति, समुच्चय साम्य और स्मरण ये २१ अलंकार आते हैं।

वास्तव के अन्तर्गत— सहोक्ति समुच्चय जाति स्वभावोक्ति यथासंख्य भाव पर्याय विषम अनुमान दीपक परिकर परिवृत्ति परिसंख्या हेतु कारणमाला व्यतिरेक अन्योन्य उत्तर सार सूक्ष्म लेश अवसर मीलित और एकावली ये २३ अलंकार आते हैं।

अतिशय के अन्तर्गत—पूर्व विशेष उत्प्रेक्षा विभावना तद्गुण अधिक विरोध विषम असंगति पिहित व्याघात और हेतु ये १२ अलंकार आते हैं।

श्लेष के अन्तर्गत इसके दस भेद आते हैं।

रुद्रट के बाद रुय्यक तथा उनके शिष्य मङ्खक ने अलंकार सूत्र तथा अलंकार सर्वस्व में जो वर्गीकरण किया है वह अधिक तर्क संगत तथा वैज्ञानिक है। उनके अनुसार अर्थालंकार के ७ वर्ग किये जा सकते हैं—सादृश्यमूलक विरोधमूलक शृंखलामूलक वाक्य न्यायमूलक और गूढार्थ प्रतीतिमूलक।

ध्वन्यालोककार ने अलंकारों का विवेचन और वर्गीकरण नहीं किया है और न वह उनका लक्ष्य ही था। उनको ध्वनि सिद्धान्त की दृष्टि से काव्य के समस्त तत्त्वों का पर्यालोचन करना था। इसी दृष्टि से उन्होंने अलंकारों की स्थिति पर भी

केशव के समय से ही या इससे कुछ पहले ही प्रारम्भ हो गई थी और अब तक चलती चली जा रही है। इस दिशा मे कई एक शोध प्रबन्ध भी लिखे जा चुके हैं। किन्तु इस दिशा मे हिन्दी साहित्य का कोई बहुत बडा योगदान नही है। विभिन्न अलकारो के लक्षण और उदाहरणो के सकलन के अतिरिक्त इनमे मौलिकता बहुत ही कम है। आचार्य शुक्ल ने इन लक्षणो और अलकारो की अपूर्णता का अनेकश निर्देश किया है।

अलकारो की संख्या

जैसा कि बतलाया जा चुका है कि आचार्यों ने अलकारो की सख्या की इयत्ता पर कभी बल नही दिया। अधिकाश आचार्य अभिनवगुप्त के इस कथन से सहमत प्रतीत होते हैं कि अलकार का सामान्य लक्षण है—'सौन्दर्य को अलकार कहते हैं।' काव्य-सम्बन्धी जितने भी तत्व सौन्दर्यप्रवण हैं या परवर्ती आचार्यों के मत से सौन्दर्यवर्धक हैं उन सबको अलकार कहा जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र मे नई नई विधायें और कथन की नई नई शैलियाँ आविर्भूत होती रहती हैं। इसीलिये इस क्षेत्र मे नये नये अलकार आते रहते हैं। कभी-कभी पूर्ववर्त्ती साहित्य मे किसी अलकार का कोई एक रूप माना जाता है तथा परवर्त्ती साहित्य मे उसका दूसरा ही रूप हो जाता है। यही कारण है कि साहित्य जगत् में अलकारो की सख्या नियत नही रहती। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है कि अब तक जिन अलकारो का आविर्भाव हो चुका है या जिनका भविष्य मे आविर्भाव होगा उन सबको हम मान्यता देते हैं।

यह बात आचार्यों द्वारा निश्चित की गई अलकारो की विभिन्न सख्या के आधार पर सिद्ध हो जावेगी। भरतमुनि ने केवल चार अलकार माने थे। कुछ अलकार उनके द्वारा निर्दिष्ट ३६ काव्य लक्षणो मे भी आ गये थे। भामह ने ३८ अलकारो का विवेचन किया है जबकि दण्डी के काव्यादर्श मे ये अलकार केवल ३६ ही रह गये। किन्तु विभिन्न अलकारो के भेदोपभेदो के परिगणन से इनकी सख्या बहुत अधिक बढ जाती है। उटभट् ने भामह का ही क्रम रक्खा है किन्तु इनकी सख्या ४१ हो गई है। वामन ने ३३ अलकारो का विवेचन किया है। रुद्रट ने ५ शब्दालकार और ५० अर्थालकार लिखे हैं। भोज ने २४ शब्दालकार और २४ अर्थालकार, मम्मट ने ८ शब्दालकार और ६२ अर्थालकार, रुय्यक ने कुल ८४ अलकार, वाग्भट ने ४ शब्दालकार और ३५ अर्थालकार लिखे हैं। इसी प्रकार हेमचन्द ने ६ शब्दालकार और २६ अर्थालकार, जयदेव ने ८ शब्दालकार और ८२ अर्थालकार लिखे हैं। विश्वनाथ कविराज ने ९० अलकारो का विवेचन किया है। यह सख्या अप्पय दीक्षित तक बहुत बढ जाती है। इन्होने १२५ अलकारो का निरूपण किया है। सस्कृत काव्य शास्त्र का अन्तिम ग्रन्थ पण्डितराज जगन्नाथ का रस गगाधर माना जाता है। इसमे ७० अलकारो का निरूपण किया गया है। यद्यपि यह ग्रन्थ उच्छिन्न रूप से ही हम तक पहुच सका है। इससे स्पष्ट है कि अलकारो की सख्या के विषय मे हमारे यहाँ रूढिवादिता कभी नही अपनाई गई और जब जैसी आवश्यकता हुई या जब जिस

वस्तु के देखने से उसके मानस पटल पर अनुभूत हुए हैं। रेमण्ड का कहना है कि जब कवि मानस चित्र को ठीक उसी रूप मे दूसरों पर संक्रान्त नहीं कर सकता तब वह काल्पनिक चित्रो का आश्रय लेता है। इस प्रकार रेमण्ड के मत में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दोनों प्रकार के अलंकार आ जाते है। आनन्दवर्धन ने जिस प्रकार के अलंकार प्रयोग के नियम बनाये हैं कतिपय पाश्चात्य विद्वानो ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं। पीटर ने स्किनर के प्रमाण पर इस बात पर बल दिया है कि अलंकार प्रयोग में सर्वाधिक विचारणीय तत्त्व यही रह जाता है कि कहाँ पर उसका परित्याग किया जा सके जो कवि परित्याग की कला से परिचित नहीं वह अलंकार प्रयोग मे सिद्धहस्त हो ही नहीं सकता।

भारतीय तथा पाश्चात्य अलंकारो के वर्गीकरण में वैषम्य को स्वीकार करते हुए भी साम्य लक्षित किया जा सकता है। जिस प्रकार हमारे यहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार ये दो उपविभाग किये गये हैं उसी प्रकार क्विन्टेलियन प्रभृति विचारको ने फिगर्स आफ स्पीच और फिगर्स आफ थाट ये दो वर्ग बनाये है। शब्दालंकारो की संख्या भारतीय साहित्य की अपेक्षा पाश्चात्य साहित्य में अधिक है। हमारे यहाँ वक्रोक्ति पर विशेष बल दिया है और शब्दावृत्ति में केवल लाटानुप्रास और यमक के भेद आते हैं। किन्तु पाश्चात्य साहित्य मे अधिकांश अलंकारो मे शब्दावृत्ति पर विचार किया गया है।

अर्थालंकारो म साधर्म्यमूलक अलंकारो की भाँति पाश्चात्य साहित्य मे भी तुलनात्मक वर्ग बनाया गया है जिसमे अप्रस्तुत योजना पर विचार किया जाता है। इसमें सिमिली मैटेफर, पैरीफ्रेसिस पैराबोल पैराबिल परसानीफिकेशन ट्रान्स्फेर्ड एपिथेट हाइपेलेज आदि अलंकार आते हैं। इन अलंकारो मे भी भारतीय प्रवृत्ति के समान सादृश्य के तारतम्य का आधार लिया गया है और उसी के आधार पर इनका वर्गीकरण किया गया है। केवल पैरेबिल इत्यादि को भारतीय साहित्य मे अलंकार नहीं माना जाता। किन्तु इसको हम रूपक अथवा रूपकातिशयोक्ति के अन्तर्गत ग्रहण कर सकते हैं।

विरोधमूलक अलंकारो मे एण्टीथीसिस (विरोधाभास) इन्वर्शन (विपर्यय) पैराडाक्स (विरोध) आक्सीमोरन (असंगति) और कन्ट्रास्ट (वैषम्य) आदि अलंकार आते हैं। विरोधमूलक अलंकारो में विरोध का प्रवेश वैचित्र्य तथा चमत्कार के माध्यम से होता है। विरोधमूलक अलंकार के अन्तर्गत ही अतिरंजनामूलक अलंकार आते हैं क्योंकि अतिरंजना लौकिक मनोवृत्ति के विरोध मे ही आती है। इस प्रकार हाइपरबोल (अतिशयोक्ति) तथा क्लाइमैक्स इत्यादि अलंकार इसी कोटि मे आ जाते हैं।

संस्कृत साहित्य मे कतिपय अलंकार शब्द शक्तियो पर भी आधारित हैं। उदाहरण के लिये रूपक गौणी सारोपा लक्षणा पर और रूपकातिशयोक्ति गौणी साध्यवसाना लक्षणा पर आधारित है। किन्तु पाश्चात्य काव्यशास्त्र में कतिपय अलंकार

प्रकाश डाला है। ध्वनिवादियो के अनुसार सभी अलकार गुणीभूत व्यग्य के क्षेत्र मे आते हैं। वक्रोक्ति भी गुणीभूत व्यग्य ही है। यह वक्रोक्ति अलकारो का एक व्यापक तत्त्व है और कोई भी अलकार इसके अभाव मे नही हो सकता। इस दृष्टि से इन्होंने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को एक ही माना है। यदि ध्वनिकाव्य की दृष्टि से अलकारो का वर्गीकरण किया जाय तो सर्वप्रथम अलकारो को दो वर्गों मे विभाजित करना होगा—व्यग्यार्थमूलक अलकार और व्यग्यार्थोपस्कारक अलकार। व्यग्यार्थमूलक अलकार दो प्रकार के होगे—रसाभिव्यजना मूलक और वस्तुव्यजनामूलक। रसाभिव्यजनामूलक अलकारो मे रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावसन्धि इत्यादि अलकार सन्निविष्ट किये जा सकते हैं और वस्तुव्यजनामूलक अलकारो मे समासोक्ति, पर्यायोक्त, अप्रस्तुत प्रशसा इत्यादि अलकार आ जाते हैं। व्यग्यार्थोपस्कारक अलकार व्यग्यवस्तु और रस का उपस्कार करते हैं और कभी-कभी वाच्य वस्तु तथा अलकार का भी उपस्कार किया करते हैं। इनके भी तीन भेद हो सकते हैं—शब्दालकार, अर्थालकार और उभयालकार। अनुप्रास इत्यादि शब्दालकार होते हैं। अर्थालकार दो प्रकार के होते हैं—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति रुद्रट का बतलाया हुआ वास्तव वर्ग है। यदि हम चाहें तो वक्रोक्ति को रुय्यक के बतलाये हुए ७ वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। यही अलकारो का सक्षिप्त वर्गीकरण है। इनका लक्षण-उदाहरण के द्वारा विवेचन यहाँ पर सम्भव नही है। इनका विवेचन आचार्यों ने अनेकश किया है और आज भी एतद्विषयक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। इनका परिज्ञान उन्ही ग्रन्थो से किया जाना चाहिये।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अलकार विवेचन

यूरोपीय काव्य की भाँति काव्यशास्त्र का उद्गम् भी यूनान मे ही हुआ। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'रहेटारिक' यूनानी शब्द है जिसका अर्थ है भाषण कला जो श्रोता को अपने मत में करने के लिये प्रयुक्त होती थी। धीरे-धीरे सम्भाषण की विशेषता से इसका प्रयोग लिखित भाषा के लिये होने लगा। अलकार के विषय मे पाश्चात्य विचारधारा आश्चर्यजनक रूप मे भारतीय विचारधारा से मेल खाती है। जैसा कि बतलाया जा चुका है कि भारतीय विचार धारा में अलकार का उपयोग भावाभिव्यक्ति में सहायता देना है। यही बात रेमण्ड ने भी इस प्रकार कही है—'अलकारो की योजना के लिये जो भी नियम बनाये जावें एक सिद्धान्त सब मे अन्तर्हित रहता है कि जिन विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए अलकारो का प्रयोग होता है यदि उनसे प्रभाव की अभिवृद्धि न हो तो अलकारो का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। भाषा का उपयोग यही है कि हम अपने विचार दूसरो को प्रेषित कर सकें और सामान्य वार्तालाप मे हम साधारण और अलकृत दोनो प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने पर पडे हुए प्रभाव को दूसरो तक प्रेषित करना चाहता है तब वह केवल इष्ट वस्तुओ का परिगणन करके ही सन्तोष नही कर लेता अपितु वह उन समस्त विचारो और भावनाओ को प्रेषित करना चाहता है जो अमुक

सिद्धान्त का महत्व स्वीकार किया है दूसरी ओर ध्वनि के एक प्रकार के रूप में भी इसे स्वीकार किया है।

अरस्तू लौंजाइनस जैसे पाश्चात्य आलोचक भी चमत्कार का उपयोग सौन्दर्य आकर्षण और आह्लादकता के लिये मानते हैं। सामान्य भाषा से काव्य भाषा को पृथक करने वाला तत्व चमत्कार ही है। चमत्कार से ही से कथन सौन्दर्य प्रखरता और दीप्ति आती है। सक्रियता और सजीवता बहुत कुछ अलंकार प्रयोग पर निर्भर होती है। चमत्कार प्रयोग से ही विषय स्पष्टता को प्राप्त करता है और उसी से रसानुभूति तीव्रतर होती है। काव्य में आकर्षण उत्पन्न करने के लिये चमत्कार का प्रयोग आवश्यक है और इसी के माध्यम से कवि और पाठक में तादात्म्य स्थापित होता है। किन्तु इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये यह भी अत्यधिक आवश्यक है कि कवि चमत्कार प्रयोग में औचित्य के प्रति जागरूक रहे। जब तक चमत्कार के पीछे भावाभिनिवेश नहीं होगा चमत्कार कभी भी ग्राह्य बन ही नहीं सकते। चमत्कार प्रयोग में इस बात का ध्यान रखना भी बहुत आवश्यक है कि कल्पना इतनी दूरारूढ़ न हो कि लोक मानस से उसका सामञ्जस्य न बैठ सके। ध्वनिकार ने चमत्कार को अपृथग्यत्न निर्वर्त्य बतलाया है और लौंजाइनस ने कहा है कि चमत्कार का गुम्फन इस रूप में होना चाहिये कि पाठक लक्षित भी न कर सके कि चमत्कार का प्रयोग किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस मीमांसा में लिखा है कि चमत्कारों का प्रयोग सदा प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिये ही होता है। अतः उसका प्रयोग उसी सीमा तक उचित है जहाँ तक कि वे विषय की मार्मिक अनुभूति में सहायक सिद्ध होते हैं अन्यथा उनका प्रयोग निष्फल हो जाता है। आशय यह है कि भावावेश प्रेरणा और रसोपकारकता में ही चमत्कार प्रयोग की सफलता होती है।

शुद्ध रूप मे शब्द शक्तियो पर ही आधारित हैं। डा० नगेन्द्र के शब्दो मे—'वैसे तो संस्कृत मे भी अनेक अलकारो मे लक्षणा का आधार है, रूपक, परिकराकुर और समासोक्ति मे तो स्पष्ट रूप मे लक्षणा का चमत्कार है फिर भी भाषा के ऐसे लाक्षणिक प्रयोग हैं जिन्हे अग्रेजी मे स्वतन्त्र-अलकार माना गया है। परन्तु सस्कृत मे वे केवल शब्द शक्ति के रूप ही माने गये है। जैसे—मैटोनिमी, जिसमे लिगी के लिए लिग, आधेय के लिए आधार, कर्ता के लिए करण का प्रयोग होता है, सिनक्डकी, जिसमे व्यक्ति के लिए जाति, जाति के लिए व्यक्ति, अग के लिए अगी, अगी के लिए अग, मूर्त के लिए अमूर्त और अमूर्त के लिए मूर्त का प्रयोग होता है हाइपैलेज जिसमे विशेषण का विपर्यय हो जाता है या परसानीफिकेशन जिसमे जड वस्तुओ अथवा गुणों का मानवीकरण कर दिया जाता है।"

उपसंहार

कविता में वर्णना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है। भट्टतौत के अनुसार आदि कवि वाल्मीकि का दर्शन नित्य तथा स्वच्छ था। किन्तु कविता तब तक उदित नही हुई जब तक उसको वर्णना का आश्रय प्राप्त नही हुआ। कविता नीरस से नीरस और तुच्छ से तुच्छ वस्तु को सरस और सारवान् बना देती है। कविता का आश्रय लेकर असुन्दर से असुन्दर वस्तु सुन्दर बन जाती है। नीलकण्ठ दीक्षित ने कहा है कि जो अर्थशास्त्र मे दुर्ग्रह भी होता है वह भी कविसूक्ति का आश्रय प्राप्त कर आस्वाद मे निमित्त बन जाता हैं। सर्प के मस्तक में जो मणि बडी भयानक प्रतीत होती है वही हाथ मे धारण की जाने पर बडी ही मनोरम बन जाती है।' कविता मे सर्वदा महत्त्वपूर्ण तत्त्व ही विषय के रूप मे स्वीकृत नही किये जाते अपितु अधिकाश रूप में साधारण से साधारण विषय भी काव्य विषय बन जाते हैं। लीहण्ट का कहना है कि 'प्राय साधारण तथ्य भी इतने रमणीय और प्रभावोत्पादक हो जाते हैं कि उनको केवल अपने रूप मे ही छोड देने मे कवि की प्रतिभा सर्वाधिक रूप मे प्रस्फुटित होती है।' किन्तु उन्होने दूसरे स्थान पर कहा है कि कविता मे तथ्य के प्रत्यक्षीकरण और प्रत्युपस्थापन के लिए भावना और कल्पना दोनो का योग अत्यन्त अपेक्षित होता है।

कविता में जहाँ भावना अपरिहार्य है वहाँ उसकी व्यञ्जना भी कम महत्त्व-पूर्ण नही है। कल्पना भावना को सुन्दरतम तथा तीव्र तम रूप मे प्रस्तुत करती है। इसीलिये कल्पना का महत्त्व भी भावना के समान ही स्वीकार्य है। रस को तीव्रता प्रदान करने वाले अलकार ही होते हैं। यही कारण है आचार्य मम्मट के काव्य मे अलकारो को अनिवार्य न मान कर भी अलकार प्रकरण सबसे अधिक विस्तृत है। प्रत्येक सम्प्रदाय में अलकार को काव्य के प्रमुखत तत्त्वो मे स्थान दिया गया है। कुन्तक ने 'सालङ्कारस्य काव्यता' कह कर इसके महत्त्व को स्वीकृति दी है। वामन ने 'काव्य ग्राह्यमलङ्कारात्' तथा 'सौन्दर्यमलकार' कह कर इस तत्त्व को व्यापक बना दिया है। ध्वनि सम्प्रदाय वादियो ने एक ओर व्यग्यार्थ को तीव्रता देने की दृष्टि से अलकार

यह कोई मातुलेय भगिनी से विवाह की ऐसी प्रथा नही है जो देशाचार के रूप में स्वीकार की जा सके' कह कर उसका उपहास उड़ाया है, किन्तु देश भेद के आधार का सर्वथा प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। आज हम अंग्र की साहित्य की विशेषता अथवा काव्य की विशेषता इत्यादि को स्वीकार ही करते है उसी प्रकार यदि प्राचीन काल मे भी देश भेद के आधार पर काव्य रीतियो का विवेचन किया जाता था तो यह न तो कोई आश्चर्य की बात है और न इसका सर्वथा प्रत्याख्यान ही किया जा सकता है।

भरत मुनि ने देश तथा प्रदेश भेद पर आधारित रीति-रिवाजो का अध्ययन किया है तथा उसे प्रवृत्ति शब्द से अभिहित किया गया है। देश भेद के अनुसार कुछ न कुछ आचार व्यवहार सम्भाषण भेद इत्यादि होते ही है। उसी को आधार बनाकर भरत ने आवन्ती दाक्षिणात्या औड्र मागधी और पाञ्चाली इन चार प्रवृतियों का उल्लेख किया है जो क्रमश पश्चिम दक्षिण पूर्व और उत्तर से सम्बन्ध रखती है। पाञ्चाली (कन्नौज के आस पास की प्रवृत्ति) को हम मध्यदेश की प्रवृत्ति भी कह सकते है। इसके अतिरिक्त भरत मुनि ने गुण दोष लक्षण इत्यादि के विवेचन में उन सभी तत्वो को अन्तर्हित कर दिया है जो आगे चलकर रीति के आधारभूत तत्व सिद्ध हुये। इस प्रकार रीतियों के प्रवर्तन का आधार भरतमुनि से ही या उससे भी पहले ही हो चुका था। सबसे पहले बाण भट्ट ने हर्ष चरित के प्राक्कथन में देश भेद पर आधारित रीतियो की विशेषता बतलाई। उनका कहना है कि 'उत्तर के लोग श्लेष मयी रचना करते है पश्चिम के लोग साधारण अर्थ तक ही अपने को सीमित रखते है दाक्षिणात्यो की शैली उत्प्रेक्षा प्रधान है और गौड (बंगाली) लोग आडम्बर पूर्ण शैली को पसन्द करते है। किन्तु बाण इन शैलियो मे किसी एक को पसन्द करने के पक्षपाती नही है। उनको सभी गुणो का समन्वय अच्छा लगता है और ऐसी शैली को वे दुर्लभ कहकर कवि की कसौटी मानने का संकेत देते है। आदर्श शैली के विषय में उनका कहना है कि अर्थभावता बुरी नही है किन्तु उसमें कल्पना का योग होना चाहिये जिससे पुराना अर्थ भी नया मालूम पड़े। स्वाभाविक चित्रण (जाति) में ग्राम्य दोष नही होना चाहिये। श्लेष का महत्व है पर उसमें क्लिष्टता नही होनी चाहिये। गौड लोगो के अक्षराडम्बर का अपना महत्व है किन्तु उससे रस के स्पष्टीकरण में सहायता मिलनी चाहिये। आशय यह है कि बाण चार रीतियो में किसी पर अधिक बल देने के पक्षपाती नही है।

काव्य शास्त्र के प्रथम आचार्य भामह माने जाते है। उनके 'काव्यालङ्कार' को देखने से अवगत होता है कि उनके समय तक दाक्षिणात्यो और गौड़ो ने अपनी अपनी पृथक पृथक शैलिया का विकास कर लिया था। वैदर्भी शैली अधिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखी जाती थी और गौडी शैली को लोग आदर की दृष्टि से नही देखते थे। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना अनावश्यक न होगा कि विदर्भ प्राचीन काल में कोमलता का देश माना जाता था और सुन्दरता के स[...] का अधिष्ठान विदर्भ ही था।

किया। किन्तु यह समझना ठीक नहीं होगा कि दण्डी रीति-सम्प्रदायवादी आचार्य थे। काव्य मार्ग विवेचन करते हुए भी उसको उचित महत्त्व देते हुए भी इन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि काव्य में सभी तत्त्व हमारे मत में अलंकार कहे जाने के ही अधिकारी हैं। अतः इनको अलंकार सम्प्रदायवादी मानना ही ठीक होगा। वामन के पहले रीति-सम्प्रदाय की यही स्थिति थी।

वामन

वामन का काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश केवल रीति-सम्प्रदाय की दृष्टि से नहीं इतर सम्प्रदायों की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सर्व प्रथम इन्होंने ही काव्यात्मा के अनुसंधान का सूत्रपात किया जिसका बाद में अनेक आचार्यों द्वारा अनुसरण किया गया। रीति-सम्प्रदाय की दृष्टि से इनकी मौलिकता कई दृष्टियों से देखी जा सकती है—एक तो रीति का नामकरण इन्होंने किया रीति की परिभाषा भी इन्होंने बनाई और रीति को काव्यात्मा के रूप में भी इन्होंने स्वीकार किया। रीति की परिभाषा इन्होंने यह बनाई है—'विशिष्टा पदरचना रीतिः' अर्थात् एक विशेष प्रकार की पद रचना को रीति कहते हैं। यह विशेषता वामन के मत में 'गुणात्मकता' है। गुणों की परिभाषा में उन्होंने कहा है कि 'काव्य शोभा कारक धर्मों को गुण कहते हैं। इसका आशय यही है काव्य में रमणीयता लाने वाले शब्दों और अर्थों का प्रयोग ही काव्य में काव्यत्व का सम्पादक होता है। इस प्रकार वामन के मत में—शब्दगत रमणीयता अर्थगत रमणीयता या शब्द चमत्कार और अर्थ चमत्कार से युक्त पद रचना को ही काव्य कहते हैं। इसका आशय यही है कि वामन के मत में रमणीयता ही कवि का उपास्य तत्त्व है उसी को ध्यान में रखकर कवि काव्य रचना करता है। रमणीयता शब्द और अर्थ में होती है। शब्द रमणीयता को शब्द गुण कहते हैं और अर्थ रमणीयता को अर्थ गुण कहते हैं। इन्हें हम शब्द चमत्कार और अर्थ चमत्कार के नाम से भी अभिहित कर सकते हैं।

रीतियों का आधार गुण है। अतः रीति विवेचन के पहले 'गुण' पर प्रकाश डालना अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। इस विषय में दो प्रश्न सामने आते हैं—१—गुण और अलंकार में क्या भेद है? २—गुण कितने प्रकार के होते हैं तथा उन की स्थिति रीति और काव्य में किस प्रकार होती है? वामन ने दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि गुण काव्य शोभा कारक धर्म होते हैं और उसकी अतिशयता का सम्पादन करने वाले धर्म अलंकार कहलाते हैं। वामन ने गुणों को दो भागों में विभाजित किया है—शब्द गुण और अर्थ गुण। काव्य में चारुता शब्द और अर्थ के ही गुणों से ही आती है। अतः शब्द गुण और अर्थ गुण काव्य शोभा के आधारभूत उत्पादक धर्म हैं। अलंकारों से काव्य में अतिशयता आती है।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि गुण और अलंकार के विभेद के विषय में वामन का यह मत परवर्ती आचार्यों में निर्विवाद रूप से मान्य नहीं हुआ। भट्टोद

इसीलिए कवियो ने इन्दुमती, दमयन्ती, रुक्मिणी इत्यादि सुन्दरतम नायिकाओ का उपादान विदर्भ से ही किया है। किन्तु भामह को यह विभाजन पसन्द नही था। भामह अत्यन्त सबल शब्दो में देश भेद पर अधिक बल देने का निषेध करते हैं। उनका कहना है कि—'जिस में अर्थ का पोषण न हो, जिसमें वक्रोक्ति न हो, जो प्रसाद गुण सम्पन्न हो, सरल हो, कोमल हो वह तो केवल श्रुति पेशल ही कहा जावेगा और वह काव्य से भिन्न सगीत मात्र ही रह जावेगा। × × × यदि गौडी रीति अलकार युक्त, अग्राम्य, सार्थक और अनाकुल हो तो वह भी अच्छी ही मानी जावेगी। यदि ये गुण न न हो तो वैदर्भी रीति की भी प्रशसा नही हो सकेगी। × × × कतिपय बुद्धिमान् विवेचक कहते हैं कि वैदर्भी शैली कुछ और ही है और वही उत्तम है, उससे भिन्न कोई अन्य शैली सार्थक होते हुए भी अच्छी नही है। × × × यह तो गतानुगतिकता (भेडा चाल) है। जो बुद्धिहीन हैं वे उस गतानुगीतकतथा का आश्रय लेकर कुछ भी कहने को स्वतन्त्र हैं।' भामह की इन उक्तियो से स्पष्ट है कि उस समय वैदर्भी रीति को बहुत आदर दिया जाता था और गौडी रीति की उपेक्षा की जाती थी। यह भी स्पष्ट होता है कि गौडी का अनादर अत्यलङ्कार, आकुलत्व, अक्षराडम्बर इत्यादि दोषो के कारण होता था और वैदर्भी का आदर अनतिपोष, अनतिवक्रोक्ति, प्रसाद, आर्जव, कोमलत्व, श्रुतिपेशलत्व इत्यादि के कारण होता था। किन्तु भामह किसी एक शैली को अत्यधिक महत्त्व नही देते क्योकि गुण कितने ही अच्छे हो जब उनकी अति हो जाती है तब वे ही वैराग्य जनन में कारण बन जाते हैं। इसके प्रतिकूल यदि उचित मात्रा में उन तत्त्वो का भी समावेश किया जाय जो दोष रहे जाते हैं तो उनसे काव्य में मनोरमता ही आएगी।

दण्डी ने भामह के प्रतिकूल मार्ग भेद को काव्य समीक्षा के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होने प्रथम अध्याय में ही मार्ग भेद पर आधारित काव्य शैली का विवेचन किया है। उनका कहना है कि काव्य के सभी गुण विदर्भ मार्ग में देखे जाते है और प्राय उन सभी गुणो का अभाव गौड मार्ग में पाया जाता है। दण्डी का मार्ग शब्द रीति का ही पर्याय है। दण्डी ने १० गुणो का विवेचन किया है जबकि भामह ने केवल तीन गुण ही माने थे। इन्होने एक-एक गुण को लेकर यह दिखलाने की चेष्टा की कि उस गुण की सत्ता विदर्भ मार्ग में पाई जाती है और गौड मार्ग में उसका अभाव है। उदाहरण के लिए कान्ति गुण की परिभाषा की गई है कि 'लौकिक अर्थ का अतिक्रमण न करने से जो सभी जगत् को प्रिय प्रतीत हो उसे कान्ति गुण कहते हैं।।' इसके उदाहरण के रूप में बतलाया गया है कि स्तन विस्तार का वर्णन वैदर्भी रीति के अनुसार इस प्रकार होगा—'ये बढने वाले तुम्हारे स्तन बाहुलता मे नही समा सके।' किन्तु गौडी रीति मे कहा जायेगा—'ब्रह्मा जी ने जब आकाश बनाया था तब उन्हे यह ध्यान ही नही रहा कि तुम्हारे स्तन इतने बढ जायेंगे। इसलिये ब्रह्म आकाश इतना छोटा बन गया।' इस प्रकार दण्डी ने सभी गुणो का अधिष्ठान वैदर्भी रीति को बतलाया और गौडी रीति मे उनके अभाव का प्रतिपादन

दृष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा—पहले शब्द गुणों की परिभाषा का निर्देश किया जायगा और फिर अर्थ गुणों की परिभाषा बतलाई जायेगी। विस्तारभय से उदाहरणों के द्वारा उनकी व्याख्या नहीं की जायेगी। शब्दगत प्रोज वहाँ पर होता है जहाँ बन्ध (पद रचना) प्रगाढ़ हो। जहाँ प्रोज के साथ शिथिलता मिली होती है वहाँ प्रसाद गुण होता है। केवल शैथिल्य तो दोष होता है किन्तु प्रोज मिश्रित शैथिल्य गुण माना जाता है जो कि प्रसाद गुण के नाम से अभिहित किया जाता है। इस मिश्रण में कहीं तो प्रोज और शैथिल्य का साम्य होता है और कहीं वैषम्य। वैषम्य भी कहीं प्रोज प्रधान होगा है कहीं शैथिल्य प्रधान। तीसरा गुण है श्लेष जो वर्णों की मसृणता में होता है। मसृणता का आशय यह है कि बहुत से पद एक जैसे प्रतीत हों। जिस मार्ग से उपक्रम किया गया हो उपसंहार तक उसी रूप में चल जाना समता नामक गुण कहलाता है। समाधि उतार चढ़ाव के ठीक क्रम निर्वाह को कहते हैं। यद्यपि शैथिल्य में अवरोह और गाढ़ता में आरोह में दोनों मिलकर ही समाधि गुण का निर्माण करते हैं। इस प्रकार समाधि गुण कोई नया गुण नहीं है फिर भी समाधि में उक्त दोनों गुणों का समन्वय कुछ भिन्न प्रकार का होता है। इसमें दोनों गुण नदी के दो प्रवाहों की भाँति पृथक्-पृथक् बहते हुए एक हो जाते हैं। इसके प्रतिकूल उक्त गुणों में दोनों की सत्ता पृथक् ही बनी रहती है। इसीलिये इसे अतिरिक्त गुण के रूप में स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है कि उन पृथक्-पृथक् गुणों में आरोह और अवरोह अनिवार्य है भी नहीं। इसीलिये भी इसे पृथक् गुण के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। पदों का समास रहित पृथक्-पृथक् प्रयोग माधुर्य कहलाता है और बन्ध की अकठोरता सौकुमार्य के नाम से अभिहित की जाती है। बन्ध की विकटता में उदारता गुण होता है और उज्ज्वलता में कांति गुण की सत्ता स्वीकार की जा सकती है।

वामन के मत में उक्त १ पद गुण अर्थगत भी हो सकते हैं और तब वे अर्थ गुण कहे जाते हैं। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—(१) अर्थ की प्रौढ़ता 'प्रोज' कहलाती है। अर्थ में प्रौढ़ता सम्पादन के अनेक उपाय हैं—कहीं एक पद में कही जाने वाली बात के लिये एक वाक्य बनाया जाता है कहीं एक वाक्य में कही जाने वाली बात केवल एक शब्द में कह दी जाती है। कहीं दूसरे प्रकार से व्यास और समास का आश्रय लिया जाता है और कहीं प्रकरण के लिए उपयुक्त साभिप्राय पद-वाक्य का प्रयोग किया जाता है। ये सभी विषय प्रोज के हैं। (२) अर्थ की स्वच्छता प्रसादगुण कही जाती है। (३) विशिष्ट प्रकार की घटना (सघटना) 'श्लेष' कहलाती है। इस घटना में क्रम कौटिल्य (विदग्ध चेष्टा) अनुल्वणत्व (प्रसिद्ध वर्णन शैली और उपपत्ति) युक्ति विन्यास ये तत्त्व विद्यमान रहते हैं। (४) जिस विषय का उपक्रम हुआ हो उसको उसी रूप में निभा देना तथा उसमें भेद न आने देना 'समता गुण कहा जाता है अथवा सरलतापूर्वक समझे जाने की योग्यता समता गुण कहलाती है। (५) नवीन अर्थ के अवलोकन की शक्ति 'समाधि' गुण कहलाती है। समाधि का अर्थ है मनोयोग। कवि मनोयोग के द्वारा नवीन अर्थ

भट ने वामन की इस स्थापना को चुनौती दी और कहा कि हम यह तो मान सकते हैं कि किसी पुरुष के शौर्य इत्यादि गुण उसके नित्य धर्म होते हैं तथा आभूषण उसकी शोभा की अभिवृद्धि का ही कार्य करते हैं, वे उसके नित्य धर्म नही होते। किन्तु ऐसा विभाजन काव्य के क्षेत्र मे लागू नही होता। काव्य मे तो दोनो ही (गुण और अलकार) समवाय या नित्य सम्बन्ध से ही रहते हैं। अत इनके भेद का विवेचन एक परम्परा पालन मात्र है उसमे तथ्य कुछ भी नही। किन्तु दूसरे लोगो ने भेद स्वीकार किया है। आनन्द वर्धन ने रस की दृष्टि से भेद किया है—आनन्दवर्धन का कहना है कि गुण रस धर्म न होते है और अलकार शब्द और अर्थ के धर्म। जिस प्रकार गुण अगी (आत्मा) के धर्म होते है और अलकार शरीर को ही भूषित करते है। आचाय मम्मट ने भी आनन्द वर्धन का ही अनुसरण कर गुणो को रस धर्म तथा अलकारो को शरीर धर्म माना है। वैसे मम्मट के मन मे गुण और अलकार दोनो का लक्ष्य रस पोषण ही होता है। किन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि गुण साक्षात् रस के उपकारक होते हैं और अलकार शब्द और अर्थ मे सौन्दर्याभिव्यक्ति के माध्यम से रस का उपकार करते हैं। दूसरा अन्तर यह है कि गुणो की काव्य मे स्थिति अचल होती है किन्तु अलकारो की स्थिति 'जातुचित्' अर्थात् प्रायिक होती है। मम्मट ने काव्य के लक्षण मे भी गुणो की अनिवार्यता और अलकारो की प्रायिकता का भी प्रतिपादन किया है। यदि गहराई से देखा जाय तो इन ध्वनिवादियो के इस भेद प्रदर्शन से वामन का मत अधिक भिन्न नही है। अन्तर केवल यही है कि ध्वनि वादियो के पास रस के रूप मे एक ऐसा माध्यम विद्यमान था जिसकी दृष्टि से गुणो की सत्ता का निरूपण किया जा सके। किन्तु वामन के पास ऐसे किसी माध्यम की कमी के कारण उन्होने काव्य के नित्य अनित्य धर्म के आधार पर ही गुण और अलकार का विभाजन किया है।

अब गुणो की सख्या का प्रश्न सामने आता है। इस विषय मे वामन से पहले दो मत प्राप्त होते हैं एक भामह का जिसमे गुणो की सख्या तीन मानी गई है—प्रसाद, माधुर्य और ओज। दूसरा मत दण्डी का है जिसमे १० गुण माने गये हैं—श्लेष, समता, प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, उदारता, ओज, काँति और समाधि। दण्डी ने ये गुण भरत से लिये हैं किन्तु दण्डी के लक्षण और निरूपण मे कही कही भरत मे भेद पाया जाता है? वामन दण्डी की परम्परा मे आते है और जिस प्रकार भामह की व्याख्या और अनुसरण की दिशा मे उद्भट का नाम लिया जाता है उसी प्रकार दण्डी का ही पदानुसरण करने वाले वामन माने जाते हैं। इन्होने गुणो का उपादान तो दण्डी से ही किया किन्तु उनमे प्रत्येक के दो भेद दिखला दिये—शब्द गुण और अर्थगुण। यह प्रेरणा इन्हें भरत मुनि से मिली थी। भरत मुनि ने भी प्रत्येक गुण दो प्रकार का दिखलाया था जिसमे अनेकश शब्द गुण और अर्थ गुण के भेद के दर्शन किये जा सकते थे।

यहाँ पर वामन के बतलाये हुए उक्त २० गुणो के स्वरूप पर एक सक्षिप्त

हो जाते हैं फिर समस्त अर्थगुण सम्पत्ति की उपस्थिति में आस्वाद का कहना ही क्या ?

आगे चलकर वामन के बतलाये हुए न तो काव्यगुण ही अनुभव हो सके और न रीति की वह महत्ता ही स्वीकार की जा सकी जिसका प्रतिपादन वामन ने किया था। विश्वनाथ के अनुसार कुछ गुण तो भामह के तीन गुणों में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं कुछ दोष का अभाव मात्र है और कुछ तो गुण ही नहीं हैं उनका पालन काव्य को सदोष ही बनाता है। अतः इनकी अपेक्षा भामह के गुण अधिक समादृत हुए। किन्तु वामन ने एक नया मार्ग दिखलाया था और काव्य के आत्मा के अनुसन्धान के लिये जो प्रश्न इन्होंने उठाया था वह स्वयं मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी दृष्टि से इनका मूल्यांकन करना चाहिये।

परवर्ती आचार्य और रीति सम्प्रदाय

वामन के उपरान्त रुद्रट ने रीति सिद्धान्त के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन्होंने 'लाटी' (गुजराती) रीति की नवीन परिकल्पना की। इन्होंने रीति का सम्बन्ध समास मे स्थापित कर उसके चार भेद कर दिये—(१) जहाँ समास का सर्वथा अभाव हो उसे वैदर्भी रीति कहते हैं। यदि उपसर्ग और धातु की सम्पृक्ति हो जाय तो इस आधार पर उसे वैदर्भी की सीमा से च्युत नहीं किया जा सकता क्यों कि आख्यात उपसर्ग का संयोग तो अर्थ प्रत्यायन के लिए ही होता है। रुद्रट उसे समास नहीं मानते। (२) पाञ्चाली रीति मे समास अल्पमात्र होता है। (३) लाटी रीति में समास मध्यम श्रेणी का होता है और (४) गौड़ी रीति मे समास का बाहुल्य होता है और बड़े बड़े समास होते हैं। इस प्रकार रुद्रट रीतियों के दो छोर मानते हैं—एक ओर वैदर्भी और दूसरी ओर गौड़ी। पाञ्चाली वैदर्भी के निकट है और लाटी गौड़ी के निकट। इन्होंने स्पष्ट कहा है कि ये रीतियां अलंकार नहीं होतीं अपितु गुण ही होती हैं। इन्होंने एक और नई दिशा उन्मीलित की—रीतियों का सम्बन्ध विषयवस्तु तथा रस से कर दिया। इनका कहना है कि औचित्य का ध्यान रखते हुए प्रेयस करुण में भयानक और अद्भुत मे वैदर्भी और पाञ्चाली इन दो रीतियों की योजना की जानी चाहिए तथा रौद्र रस में लाटी और गौड़ी रीति की योजना करनी चाहिए। शेष रसों मे रीति का कोई नियम नहीं है। इनकी योजना रस के औचित्य को ध्यान मे रखकर करनी चाहिए। धीरे धीरे वैदर्भी का माधुर्य से और गौड़ी का ओज से अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित हो गया रीतियां विषयानुसार मानी जाने लगी और कवियों को दोनों शैलियों मे रचना करने का आदेश दिया जाने लगा। केवल इतना ही नहीं अपितु भरत इत्यादि प्राक्तन आचार्य रस के आधार पर जिन कैशिकी की इत्यादि वृत्तियों का अध्ययन करते चले आये थे उन वृत्तियों का रीतियों से अभेद सम्बन्ध स्थापित हो गया। माधुर्य और सौकुमार्य के कारण वैदर्भी कैशिकी से संबद्ध हो गई तथा ओज गुण की प्रधानता के कारण गौड़ी रीति का सम्बन्ध आरभटी वृत्ति से हो गया।

के अवलोकन मे सक्षम हो जाते हैं। इसीलिये इसे समाधिगुण कहा गया है। नवीन अर्थ का अवलोकन दोनो प्रकार का हो सकता है सर्वथा नवीन अर्थ का अवलोकन भी और प्राचीन अर्थ की छाया लिये हुए नवीन परिकल्पना भी। व्यक्त अर्थ की भी कल्पना की जा सकती है और सूक्ष्म अर्थ की भी। (६) उक्ति वैचित्र्य को 'माधुर्य' गुण कहते हैं। (७) कठोरता का अभाव 'सौकुमार्य' गुण कहा जाता है। (८) अग्राम्यत्व मे उदारता गुण होता है। (९) वस्तु के स्वभाव का स्फुट रूप मे प्रकथन 'अर्थव्यक्ति' गुण कहा जाता है और (१०) शृगारादि रसो की प्रदीप्तता मे 'कान्ति' गुण होता है। इस प्रकार वामन ने दण्डी के दस गुणो की सख्या २० कर दी।

वामन के मत मे रीतियो का आधार उक्त गुण ही हैं। यद्यपि इनका नामकरण देशो के आधार पर किया गया है किन्तु इसका आशय यह नही है कि जिस प्रकार विशिष्ट द्रव्य देश विशेष मे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार ये काव्यगुण भी किसी देश में ही पैदा होते हैं। ये गुण किसी भी देश की कविता मे देखे जा सकते हैं। किन्तु इनका नामकरण इस आधार पर कर दिया गया है कि ये गुण उन देशो की तत्कालीन कविता मे पाये जाते हैं। वामन ने दो के स्थान पर तीन गुण माने हैं—(१) वैदर्भी रीति—जिसमे कविता के उक्त सभी गुण पाये जाते हैं। उसमे दोषो की मात्रा विद्यमान नही होती और उसका सौभाग्य वीणा स्वर जैसा होता है। "वक्ता भी विद्यमान हो, अर्थ भी विद्यमान हो और शब्दानुशासन का भी पूरी तौर से पालन किया गया हो किन्तु फिर भी काव्य मे कोई एक ऐसा तत्त्व शेष रह जाता है जिसके न होने पर वाणी मधु-वर्षा नही कर सकती।" वही तत्त्व वैदर्भी रीति के अन्तर्गत आते हैं। (२) दूसरी रीति है गौड़ी जिसमे केवल दो ही गुण होते हैं—ओज और कान्ति। इसमे माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव होता है, समास का प्रयोग अधिक किया जाता है और पद स्वच्छ नही होते। (३) तीसरी रीति पाञ्चाली है जिसमे माधुर्य और सौकुमार्य ये दो गुण होते हैं। इसमे ओज गुण का अभाव होने से सुकुमारता और कान्ति का अभाव होने से विच्छायता होती है। 'जिस प्रकार रेखाओ मे चित्र स्थित होता है उसी प्रकार इन रीतियो मे काव्य प्रतिष्ठित रहता है। वामन का कहना है कि गुणों की समग्रता के कारण वैदर्भी रीति का ही अभ्यास करना चाहिये, गौडी और पाञ्चाली रीतियो का नही क्योकि इनमे समग्र गुण नही होते।' यह भी कहना ठीक नही कि अभ्यास के लिये गौडी और पाञ्चाली को स्वीकार कर लेना चाहिये किन्तु मुख्य लक्ष्य तो वैदर्भी का ही रखना चाहिये। गौडी और पाञ्चाली मे जब वैदर्भी के तत्त्व हैं ही नही तब इनके अभ्यास से वैदर्भी मे प्रवीणता कैसे प्राप्त हो सकती है? सन की रस्सी बटने से रेशम बुनने की प्रवीणता कैसे आ सकती है? इसलिये वैदर्भी रीति का अभ्यास ही उचित है। वैदर्भी रीति मे भी यदि समास का प्रयोग कम किया जावे तो उसमे अधिक उत्तमता आ जाती है। यदि वैदर्भी का आश्रय लिया जावे तो स्वल्प मात्रा मे विद्यमान गुण भी आस्वाद मे हेतु

सर्वथा मौलिक है और साहित्य-शास्त्र के प्रति उनकी देन स्तुत्य है। किन्तु अन्य विचारों के समान उनके मार्ग और गुणों को भी स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकी और परवर्ती काल में वे उपेक्षित ही बने रहे।

रीति सिद्धांत के क्षेत्र में योग देने वाले अन्य प्रमुख आचार्य हैं राजशेखर भोज अग्निपुराणकार इत्यादि। राजशेखर का रीति विषयक अध्याय लुप्त हो गया है किन्तु जो स्फुट विवरण काव्यमीमांसा बालरामायण इत्यादि में प्राप्त होते हैं उनसे इनकी मान्यता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। काव्य पुरुष की परिकल्पना तथा साहित्य विद्या के उसके अनुसरण के रूपक में गौड़ी वैदर्भी इत्यादि रीतियों पर इन्होंने प्रकाश डाला है। काव्य पुरुष जब रुष्ट होकर घर से चल देता है तब साहित्य विद्या उसको वश में करने के लिए पहले गौड़ देश में जाती है। वहाँ वह जैसी भाषा बोलती है वैसा वेश धारण करती है काव्य पुरुष उससे विरक्त हो जाता है। पांचाल देश मे कुछ अनुराग उत्पन्न होता है और अन्त में विदर्भ में आ कर उसका विवाह आदि कवि करा देते हैं। राजशेखर ने वैदर्भी रीति की अत्यधिक प्रशंसा की है और सभी प्रकार की सुकुमारता कोमलता इत्यादि का अधिष्ठान विदर्भ को बतलाया है। राजशेखर ने वृत्तियों के विषय में एक नया दृष्टि कोण दिया है—"विदर्भ में सुप्वृत्ति (विभक्ति सौन्दर्य) पसन्द है गौड लोग समास को अधिक पसन्द करते हैं; दाक्षिणात्य लोगों को तद्धित का प्रयोग प्रिय है उत्तर के लोग कृदन्त के प्रयोग को महत्त्व देते हैं और तिङन्त (क्रिया) की सुन्दरता पर सभी लोग बल देते हैं। इस कथन का आधार क्या है इसका पता नहीं। इसमें विदर्भ को दक्षिण से पृथक बतलाया गया है। भोज की प्रवृत्ति सकलन करने की है। वे किसी क्षेत्र में सख्या विस्तार की परवा नहीं करते। रुद्रट की चार रीतियों के अतिरिक्त उन्होने दो रीतियां और मानी हैं—मागधी और अवन्तिका। इनका निरूपण सर्वथा अव्यवहारिक तथा अस्पष्ट है। पुराण का चालीसवां अध्याय रीति-निरूपण कहलाता है जो वस्तुतः बुद्धयारम्भ अनुभाव का निरूपण है। पहले मन आरंभ और वागारम्भ तथा बाद मे शरीरारम्भ का वर्णन है। इस अध्याय में रीति और वृत्ति दोनों का वर्णन किया गया है। इसमे चार वृत्तियो भारती के भेदों भारतटी के लक्षण तथा भेदों का वर्णन तो प्राप्त होता है चौथे का वर्णन फिर भी शेष रह गया है। इससे यह अध्याय अधूरा मालूम पड़ता है। इनके अतिरिक्त हेमचन्द्र वृद्धवाग्भट शिंगभूपाल इत्यादि ने भी रीति सिद्धांत का प्रकरणानुकूल प्रकथन किया है किन्तु उसमें कोई विशिष्टता मौलिकता दृष्टिगत नहीं होती। आचार्य मम्मट विश्वनाथ इत्यादि प्रामाणिक आचार्यों ने ध्वनिकारा द्वारा स्थापित परम्परा का ही अनुमोदन किया है। वामन के आधार पर काव्य की आत्मा रीति को मानने वाला केवल एक आचार्य और है—अमृतानंद योगी जिसने अलकार संग्रह में 'रीतिरात्मा काव्यस्य कहा है।

आनन्दवर्धन से पहले वृत्तियो की दो प्रकार की स्थिति अधिगत होती हैं—भरत इत्यादि रस वादियो की वृत्तियाँ और अलकार वादियो की। भरत ने चार प्रकार की वृत्तियाँ मानी हैं—सात्वती, कैशिकी, आरभटी और भारती। इनमे सात्त्वती वृत्ति सात्विक अभिनय मे प्रयुक्त होती है। भारतीवृत्ति का उपयोग वाचिक अभिनय मे होता है। इस भारती को कैशिकी और आरभाटी परिवर्तित कर क्रमश वैदर्भी और गौडी रीतियो का रूप दे देती हैं। दूसरे प्रकार की वृतिया आलकारिको की हैं। वृत्य-नुप्रास के प्रसग मे तीन प्रकार की वृत्तियाँ मानी गई हैं—उपनागरिका परुषा और कोमला। उपनागरिका शृँगारादि कोमल रसो मे परुषा रौद्रादि कठोर रसो मे और कोमला हास्य इत्यादि मे विश्रात होती है। आनन्दवर्धन ने दोनो प्रकार की वृत्तियो का विषय विभाजन करने की चेष्टा की। उनके अनुसार भरत की सात्वती इत्यादि अर्थ वृत्तियाँ हैं और उद्भट की उपनागरिका इत्यादि शब्द वृत्तियाँ। इनका रसो से अनिवार्य सम्बन्ध होता है। वैदर्भी रीति, कैशिकी अर्थ वृत्ति और उपनागरिका शब्द-वृत्ति माधुर्य गुण के कारण शृगार रस के अनुकूल होती हैं। इसी प्रकार गौडी रीति, आरभटी अर्थवृत्ति और परुषा शब्द वृत्ति ये ओज के कारण रौद्र रस के अनुकूल होती हैं। पाचाली रीति, सात्वती अर्थवृत्ति और कोमला शब्दवृत्ति ये प्रसाद की प्रधानता के कारण हास्य इत्यादि के अनुकूल होती हैं। इस प्रकार वृत्तियो से रस सिद्धात ही पुष्ट होता है। आनन्द वर्धन का कहना है, कि रीति प्रवर्तक आचार्यों का ध्यान काव्य के आत्म तत्त्व की खोज करना ही था। उन्होंने यह तो विचार किया कि काव्यत्व का अधिष्ठान क्या है, उनका निष्कर्ष था कि काव्यत्व रीतियो मे समाहित रहता है। किन्तु उन्होने यह विचार नही किया कि रीतियो का अधिष्ठान क्या है, यदि उन्होने यह विचार किया होता तो वे रस और ध्वनि सिद्धात तक पहुच सकते थे। इस प्रकार आनदवर्धन के अनुसार अपनी अशक्ति के कारण रीति सम्प्रदायवादी मार्ग मे ही भटक गए।

कुन्तक की प्रवृत्ति सर्वथा मौलिक चिन्तन की है। अन्य दिशाओ के समान रीति सिद्धातो मे भी इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। सबसे पहली बात तो इन्होने यह की कि 'रीति' शब्द को हटाकर दण्डी के 'मार्ग' को इन्होने पुनरुज्जीवित किया। दूसरे रीतियो की रसानुसार तथा देशानुसार व्यवस्था हटाकर उसके स्थान पर रीतियो की कवियो की दृष्टि से मान्यता देने का प्रतिपादन किया। भारतीय आचार्यों मे सम्भवत यही एक मात्र ऐसे आचार्य हैं जो शैली को कविगत मानते हैं। इन्होंने मार्गों का नाम-करण तो भिन्न रूप मे किया है किन्तु उनकी सख्या तीन ही रखी है—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इनके स्वरूप भी परम्परागत रीतियो के स्वरूप मे किंचित भिन्न ही हैं। गुणो के विषय मे भी उन्होने नवीन कल्पना की है। गुण दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य गुण सर्व रचना सामान्य होते हैं परन्तु विशेष गुण विभिन्न मार्गों मे नियत होते हैं। सामान्य गुण दो होते हैं—औचित्य और सौभाग्य। विशेषगुण चार होते हैं—प्रसाद, माधुर्य लावण्य और आभिजात्य। ये गुण होते सभी मार्गों मे हैं किन्तु इनके स्वरूप मे मार्गानुसार भेद हो जाता है। कुन्तक का चिन्तन

मे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में रीति गुण वृत्ति का शैली के अन्तर्गत विवेचन किया है। उन्होने पाश्चात्य काव्य शास्त्र के प्रकाश मे भरत भामह इत्यादि सभी के मतों का विवरण दिया है। यद्यपि इन्होने मम्मट को उचित आदर देते हुये भी वामन के सभी गुणों का तीन में अन्तर्भाव करने का विरोध किया है। उनके मत मे वामन के गुणा से शैली की अनेक विशेषताओं का उद्घाटन होता है। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने परम्परागत रीति का उपहास करते हुये उसे निर्जीव शक्ति ग्रस्त बताकर कला मे अभिव्यञ्जनाशैली पर बल दिया है। रीतियों की दिशा मे नये प्रयोग वस्तु परक न होकर सर्वथा व्यक्ति परक हैं। डा नगेन्द्र ने इतर भारतीय काव्य सिद्धान्तों के समान रीति सिद्धान्त के भी प्रत्येक क्षेत्र का आधुनिक और प्राचीन दोनों पद्धतियों पर विचार किया है। उनके अनुसार देह को महत्व देना तो आवश्यक है किन्तु उसको आत्मा ही मान लेना भ्रम ञ्जना है। इसी कारण रीति सम्प्रदाय किसी भी रूप मे जीवित नहीं रहा। रस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी रस को महत्वहीन बनाना है। रस को केवल एक गुण में और वह भी एक साधारण गुण मे स्थान दे देना रस के प्रति न्याय नहीं कहा जा सकता। रमणीयता काव्य का मुख्य उपास्य तत्व है जो कि भाव सौन्दर्य पर ही आधारित रहती है। अत काव्य मे रस को गौण स्थान नहीं दिया जा सकता। फिर भी वामन का सिद्धान्त इतना सारहीन नहीं है। डा नगेन्द्र के अनुसार वामन के दस गुणों का विश्लेषण करने पर आधुनिक आलोचना शास्त्र के अनेक तत्व यथार्थ हो जाते हैं।

पाश्चात्य काव्य शास्त्र और रीति

पाश्चात्य आलोचकों ने भी विषयानुरूप शैली का उल्लेख किया है। अरिस्टाटिल ने स्तुति करुणा प्रोत्साहन इत्यादि भावों के आधार पर शैली में परिवर्तन का निर्देश किया है। डेमेट्रियस ने शैली के विषय मे लिखा है कि कुछ ऐसे विषय होते हैं जिनमे ओजस्विनी शैली अधिक उपयुक्त होती है। इस प्रकार के विषय होते हैं युद्ध के दृश्य इत्यादि। डेमेट्रियस ने यातत्व-वर्णन की भांति वर्णध्वनि की ओर भी संकेत किया है और लिखा है कि श्रुति दुष्ट इत्यादि दोष कठोर रसों में गुण हो जाते हैं। डेमेट्रियस ने शृगार इत्यादि कोमल रसो को कोमल शैली मे लिखने का आदेश दिया है। उन्होने लिखा है कि कठोर रस ऊबड़ खाबड़ सड़क के समान होते हैं और कोमल रस परियों के विहारोद्यान जैसे होते हैं। मि मुरी ने विषय और शब्द इन दो तत्वों को शैली का नियामक माना है। उन्होने The Problem of style मे लिखा है कि 'मैंने प्राय कथित शैली के दो तत्वों की परीक्षा की—पद्य की संगीतात्मक अभिव्यञ्जना और कल्पना की दृश्यमान अभिव्यञ्जना और मैंने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि ये दोनो गौण होते हैं। यथार्थ दिशा मे मुझे ज्ञात हुआ कि मुग्धता ही मुख्य गुण है। मुग्धता न तो बौद्धिक होनी चाहिये न पारिभाषिक अपितु भावात्मक अभि

हिन्दी साहित्य में रीतिसिद्धान्त

हिन्दी मे रीति सिद्धान्त के भी प्रथम प्रस्तोता आचार्य केशवदास ही कहे जा सकते हैं। इन्होने रस की दृष्टि मे भरत की चार वृत्तियो का निरूपण किया है। वस्तुत केशव की वृत्तियाँ रस वर्णन शैली मात्र है। चिन्तामणि ने 'कविकुलकल्पतरु' मे रीति को काव्यपुरुष का स्वभाव और वृत्ति को उसकी 'वृत्ति' व्यवहार बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि ये रीति और वृत्ति मे सूक्ष्म भेद मानते थे। सम्भवत. इन्होंने कुन्तक के कवि स्वभाव का आधार लिया है। इसके अतिरिक्त वृत्त्यनुप्रास मे इन्होंने उपनागरिका इत्यादि वृत्तियो का भी विवेचन किया है। कुलपति मिश्र ने 'रस-रहस्य' मे रीति के मूलाधार गुणो और रीति की पर्याय वृत्तियो का वर्णन काव्य प्रकाश के आधार पर किया है। देव ने गुणो और रीतियो का अद्वैत सम्बन्ध स्थापित कर दिया है तथा रीतियो का नाम न लेकर गुणो को ही रीति कहा है। इन्होने दण्डी तथा वामन के १० गुणो के साथ अनुप्रास और यमक को भी गुणो (रीतियो) मे स्थान देकर उनकी सख्या १२ कर दी है। दास का रीति विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण है— इन्होंने स्थायी भावो की वासना के समान गुणो की वासना भी मानव चित्तवृत्ति मे मानी है तथा गुणो का वर्गीकरण भी किया है। इन्होने रसो का भी रीतियो और गुणो से स्थायी तथा अपरिहार्य सम्बन्ध माना है। आधुनिक हिन्दी आलोचना क्षेत्र मे भी कतिपय प्राचीन परम्परावादी विचारको के दर्शन होते हैं। कन्हैय्यालाल पोद्दार ने मम्मट को ही प्रामाणिक मान कर रीतियो का परिचय दिया है। उनका उपनागरिका कोमला और परुषा का वर्णन मम्मट का अनुवाद मात्र है। मिश्र बन्धुओ ने 'साहित्य पारिजात' मे रीतियो का विवेचन किया है। किन्तु इसमे मौलिकता भी दृष्टिगत होती है और हिन्दी की प्रकृति का भी इसमे पूरा ध्यान रक्खा गया है। अर्जुनदास केडिया ने भी 'भारती भूपण' मे रीतियो का विवेचन किया है। इस दिशा मे राम दहिन मिश्र का 'काव्य-दर्पण' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे गुण-रीति-वृत्ति इन तीनो का सूक्ष्म अध्ययन किया गया है जिसमे काव्य प्रकाश के अतिरिक्त अन्य सस्कृत ग्रन्थों का भी आधार लिया गया है। मिश्र जी ने भरत, वामन, विश्वनाथ, जगन्नाथ, भोज इत्यादि के मत देकर मम्मट का ही समर्थन कर दिया है।

आधुनिक युग मे नई शैली की आलोचना पर पाश्चात्य आलोचना शैली का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने वर्डसवर्थ के समान बोलचाल की साधारण शैली का समर्थन किया। यह दूसरी बात है कि इस प्रयास मे उन्हें सफलता न मिल सकी। श्याम सुन्दरदास ने काव्य मे बुद्धि तत्त्व, कल्पना तत्त्व और भावतत्त्व के अतिरिक्त एक शैली तत्त्व और माना है। उनकी दृष्टि मे शैली का अर्थ है रूप सौन्दर्य, रूप चमत्कार या रचना चमत्कार। किसी लेखक की शब्द योजना, वाक्याशो का प्रयोग, वाक्यो की बनावट और उनकी ध्वनि का नाम शैली है। शैली विचारो का बाह्य और प्रत्यक्ष रूप है। आचार्य शुक्ल ने रीति अलकार इत्यादि समस्त काव्य तत्त्व रस पर्यवसायी ही माने हैं। उन्होने काव्य भाषा के विषय

हो किन्तु इतना तो सत्य ही है कि शैली दो प्रकार की हो सकती है एक स्पृहणीय और दूसरी असपृहणीय। एक कोमल और दूसरी कठोर। देशभेद के आधार पर नामकरण के विषय मे अनुपपत्ति हो सकती है, किन्तु वामन का यह स्पष्टीकरण भी अनर्गल नही कहा जा सकता कि रीतियाँ किसी द्रव्य की भाँति देशविशेष में जन्म नही लेती किन्तु किसी प्रदेश विशेष मे बहुतायत से प्रयोग होने के कारण उनका नामकरण कर दिया जाता है। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि रीतियों के तीन आधार माने गये हैं—गुण वर्ण्यवस्तु और कवि का व्यक्तित्व। तीनो ही प्रकार अपने स्थान पर उचित हैं और तीनों ही विशेष दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं।

रीतियो का मूल अधिष्ठान गुण हैं। वामन ने १ शब्द गुणों और १ अर्थ गुणों का विभाजन और वर्गीकरण कर काव्य के समस्त मूलभूत तत्वों को आत्मसात् कर लिया है। विशेष रूप से अर्थ गुणों का इतना विस्तार कर दिया गया है कि उनमे रागतत्व बुद्धितत्व कल्पना और शैली ये चारो तत्व समविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार शैली गत और विषय गत विशेषताओ का भी इन गुणो मे ठीक रूप में आकलन किया गया है।

शैली अथवा रीति की प्रतिष्ठा स्वत: एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के आचार्यों मे ऐसा कोई भी नही है जो अभिव्यक्ति को महत्व न देता हो। काव्य शैली ही एक ऐसा तत्व है जो काव्य को शास्त्र से पृथक करता है। अत: शैली गत विशेषता काव्य मे निस्सन्देह स्पृहणीय होती है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि रीति को काव्य की आत्मा मानना कहाँ तक ठीक है। वैसे रीति काव्य का नित्य धर्म तो है ही। काव्य भी रीतिनिष्ठ होता ही है। किन्तु रीति किन्निष्ठ होती है यह विचार करने पर भाव या रस के अतिरिक्त और कोई तत्व सामने नही आता। रमणीयता ही काव्य का एक मात्र उपास्य तत्व है और रमणीयता भाव की ही होती है। रीति की योजना भाव की दृष्टि से ही की जाती है। अतएव इसमे सन्देह नही रह जाता कि काव्य की आत्मा तो भाव या रस ही है। रीति भावाभिव्यञ्जन की साधिका मात्र होती है। रीति को काव्य की आत्मा कहना वैसा ही जैसा कि आत्मा को अभिव्यक्त करने वाले शरीर को ही आत्मा कहना है। दूसरी बात यह है कि वामन ने रस को उचित महत्व नहीं दिया है। कान्ति गुण के अन्तर्गत रस को सम्मिलित किया गया है जो गौडी रीति का ही एक विशेष गुण है। गौडी रीति स्वयं वामन के अनुसार वाञ्छनीय नही होती। इस प्रकार रस को उचित महत्व न देने के कारण रीति सम्प्रदाय अपने मे अपूर्ण है। इस विषय में आलम्ब वर्णन का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि रीतियो का प्रवर्तन काव्यात्मा के अनुसन्धान की एक चेष्टा थी। अनुसन्धाता की अशक्ति के कारण उस चेष्टा मे अन्तिम उपलब्धि नहीं हो सकी और वे अनुसन्धाता मार्ग म ही अटक गये। यदि वे ठीक रूप में आगे बढ़ते जाते तो काव्य के चरम लक्ष्य रस तत्व तक पहुंच सकते थे।

यजना की शुद्धता ही अपेक्षित होती है।।" शब्द की संगीतात्मक अभिव्यजना शब्द गुण तथा शब्दालकार मे आती है और कल्पना की दृश्यमान अभिव्यजना अर्थ गुण तथा अर्थालकार के अन्दर आती है। मि० मुरी के अनुसार ये दोनो तत्व गौण हैं। ये दोनो तत्त्व गौण है। ये दोनो वाच्य वाचक के क्षेत्र मे आते हैं। मुख्य तो भावात्मक अभिव्यजना ही है जिसे हम रसध्वनि के नाम से अभिहित कर सकते है। मुरी का 'प्रीसीजन' रसौचित्य ही है। रोम के प्रसिद्ध रीति-शास्त्रकार होरेस ने शब्द चयन के विषय मे काट-छांट कठोर शब्दो की मसृणता और शक्ति तथा गरिमा-शून्य शब्दो के बहिष्कार का उपदेश दिया है। किन्तु प्रचलित शब्दो का वहिष्कार न करने का निर्देश किया है। डायोनिसस ने शब्दचयन की अपेक्षा शब्दयोजना पर अधिक वल दिया है। तथा इन्होने कुन्तक केसमान शैली के व्यक्तित्वनिष्ट आधार तथा रुद्रट के अनुसार वस्तु-निष्ठ आधार दोनो को मान्यता प्रदान की है। लान्जाइनस महान् शैली को आत्मा की प्रतिध्वनि मानते हैं।

शोयेन हावर ने शैली के विषय मे लिखा है कि किसी भी लेख मे स्पष्टतम, सुन्दरतम तथा शक्तिमत्तम शब्द होने चाहिये। इस प्रकार लेख के तीन गुणो का उल्लेख है स्पष्टता, सुन्दरता और दोनो का निष्कर्ष शक्ति। 'इतने स्पष्ट, इतने निश्चित और इतने उचित जितने कभी सम्भव हो।' यह तभी सम्भव है जब ऐसे शब्दो का प्रयोग किया जावे जिनका अर्थ न कम हो न अधिक, जिनका अर्थ न सन्देह-जनक हो न कुछ और। शौपेन हावर शक्ति के लिये न तो व्याकरण के बलिदान का पक्षपाती है और न स्पष्टता का ही बलिदान करना चाहता है। इसका कहना है कि लक्ष्य भेद ही शैली की सबसे बडी विशेषता है। यदि शब्द उस लक्ष्य के अतिरिक्त भर दिये जाते हैं जिसका कथन अभीष्ट होता है तो विचारधारा अस्पष्ट हो जाती है। प्रत्येक व्यर्थ शब्द अर्थाभिव्यक्ति का बाधक हो जाता है। वामन के अर्थवैमल्य का भी यही आशय है।

रीतियो की सख्या के विषय मे समता भी पाश्चात्य साहित्य मे देखी जा सकती है। दण्डी के समान ही अरिष्टाटल ने भी एक प्रकार की शैली मानी है सुकुमार और उसका विरोध आडम्बर पूर्ण तथा अलकार गर्भित शैली से माना है। इन्होने शैली को शब्द सघटना और वर्ण से सम्बद्ध किया है और उसे कवि-सम्बद्ध करने का निषेध किया है। अरिष्टाटल के बाद गम्भीर अपचित और मध्यम शैलियो की बात की जाने लगी जिनका उद्देश्य था प्रभावोत्पादन, प्रसादन और नियमन। कहने का आशय यह है कि रीति विषयक विचारधारा का भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो विवेचकों के दृष्टि कोण मे पर्याप्त साम्य है।

रीति सिद्धान्त का मूल्याङ्कन

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि रीति सिद्धान्त का इतिहास चिर अतीत तक फैला हुआ है और इसको सम्प्रदाय रूपता देने वाले वामन से बहुत पहले रीति का विवेचन किया जाने लगा था। इसके भेदो के विषय मे चाहे भामह ने अरुचि दिखलाई

६

शब्द शक्ति

उपक्रम

न्यायशास्त्र के अनुसार प्रत्येक कार्य की तीन कोटियाँ होती हैं—कारण व्यापार और फल अथवा कार्य। कारण से व्यापार उत्पन्न होता है और व्यापार से कार्य। उदाहरण के लिये घड़ा एक कार्य है। इसका कारण है मृत्तिका जिसमे चाक का घूमना इत्यादि व्यापार उत्पन्न होता है और उस व्यापार से घड़ा रूप कार्य या फल तैयार हो जाता है। इसी प्रकार कारण 'रुई' मे ताना बाना इत्यादि कार्य होते है जिससे वस्त्र रूपी फल तैयार हो जाता है।

तर्क शास्त्र मे सभी प्रकार के ज्ञान भी कार्य ही माने जाते है। अतः उनमें भी उक्त तीनो कोटियाँ अपेक्षित होती है। उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष ज्ञान को लीजिये—इसमे नेत्र कारण है। नेत्र और दृष्टव्य वस्तु (घट इत्यादि) का संयोग व्यापार है जिसे तर्क शास्त्र की भाषा मे सन्निकर्ष कहते है। इस नेत्र और द्रव्य के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण को लीजिये—इसमे दो वस्तुओं के साहचर्य को निरन्तर बार-बार देखने से एक व्याप्ति बन जाती है। जैसे धुआँ और आग के साहचर्य को बार-बार देखने से एक व्याप्ति बनती है—'जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है। यह व्याप्ति ही कारण है। फिर कभी कहीं धुआँ को देखकर व्याप्ति का स्मरण और धुआँ से उसके सम्पर्क का विमर्श होता है कि 'जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है यहाँ धुआँ मौजूद है अतः आग होनी चाहिये।। इस विमर्श को ही तर्क की भाषा मे परामर्श कहते है।

फिर भी ध्वनिवादी आचार्यों ने भी रीतियो को रस का प्रत्यक्ष तथा नित्य धर्म माना है। अलकार शरीर के माध्यम से आत्म रूप रस को भूषित करते हैं किन्तु रीतियाँ प्रत्यक्ष रस की ही उपकारक होती हैं। यही ठीक भी है। जब तक कोमल भाव को कोमल शब्दो मे अभिव्यक्त नही किया जावेगा तब तक शृगारादि रस निष्पन्न हो ही नही सकते। इसी प्रकार कठोर रसो के लिये कठोर शब्दो और कठोर अर्थ दोनो की आवश्यकता है। अर्थ मे भी कठोरता और कोमलता को रीतियो के क्षेत्र मे सन्निविष्ट कर वामन ने एक प्रकार से उन्हें रस का अनिवार्य नित्य धर्म उद्घोषित कर दिया है। इस प्रकार काव्य की आत्मा के रूप मे रीतियो को न स्वीकार करते हुये भी उनके महत्त्व पर किसी को सन्देह नही रह जाता।

मानी थी—भावकत्व वृत्ति और भोजकत्व वृत्ति। एक तो यह सर्वथा नवीन परिकल्पना थी और दूसरे इनकी सत्ता किसी न किसी रूप में शास्त्र के अन्तर्गत विद्यमान थी। अतएव ये दोनों वृत्तियाँ प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सकी। इस प्रकार प्रौढ़ और सम्भ्रान्त साहित्य-शास्त्री तीन ही वृत्तियों को स्वीकार करते हैं—अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना। यहाँ पर इस विवाद में पड़ना वाञ्छनीय नहीं है कि इन तीन ही वृत्तियों को क्यों स्वीकार किया जाय। इस विषय में शास्त्र में अत्यन्त व्यापक रूप में परिचर्चा की गई है और इनका निर्धारण विद्वद्वर्ग की मनीषा का एक मापदण्ड बन गया है। यहाँ पर केवल उक्त तीन वृत्तियों को ही स्वीकार कर उनका परिचय मात्र दिया जायेगा। इनके विषय में विवाद शास्त्रान्तरों में देखा जाना चाहिये। यहाँ पहले तात्पर्य वृत्ति की मान्यता पर विचार कर लेना आवश्यक है।

तात्पर्य वृत्ति की मान्यता

तात्पर्य वृत्ति की मान्यता के विषय में दो मत हैं—एक है कुमारिल भट्ट के अनुयायियों का जिसको अभिहितान्वय-वाद कहते हैं और दूसरा है प्रभाकर (गुरु) और उनके अनुयायियों का जिसे अन्विताभिधानवाद कहते हैं। भट्ट सम्प्रदाय के अनुयायियों का सिद्धान्त इस प्रकार है—

वाक्यार्थ ज्ञान में और वाक्यार्थपूर्ति में तीन हेतु होते हैं—(१) आकांक्षा—वाक्यार्थ ज्ञान के लिये दो शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता। इस आकांक्षा के अभाव में दो शब्द एक वाक्य बना ही नहीं सकते। जैसे गाय घोड़ा हाथी इत्यादि शब्द एक वाक्य नहीं बनाते क्योंकि इनमें आकांक्षा नहीं है। (२) योग्यता—शब्दों के परस्पर सम्बन्ध में किसी प्रकार की बाधा का न होना। जैसे आग से सींचता है इन शब्दों का सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि इनमें मिलने की योग्यता नहीं है। (३) सन्निधि—निकटवर्तित्व। इसके अभाव में भी शब्दों में आपस में सम्बन्ध नहीं हो सकता। जैसे एक-एक पहर बाद कहे हुये दो शब्दों में आपस में अन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि उनमें आपस में सन्निधि अर्थात् निकटता नहीं है।

इन हेतुओं के द्वारा जब कतिपय वाक्यार्थ जिनका वर्णन आगे चलकर किया जायेगा—परस्पर अन्वित हो जाते हैं उस समय एक ऐसा अर्थ शेष रह जाता है जो उस वाक्य में स्थित शब्दों में किसी के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। उसी विशेष अर्थ को वाक्यार्थ कहते हैं और वही तात्पर्यार्थ कहलाता है। कहने का आशय यह है कि भट्ट मतानुयायियों के अनुसार शब्दों का अर्थ शब्दार्थ मात्र होता है; अन्वय में शब्द की शक्ति नहीं होती। इसी अन्वयार्थ को पूरा करने के लिये तात्पर्यार्थ की कल्पना करनी पड़ती है। यह अर्थ वाच्यादि अर्थ से सर्वथा भिन्न होता है और बिना ही शब्द के आकांक्षादि के कारण इसका भान हुआ करता है। जैसे 'देवदत्त गाय लाता है' इस वाक्य में देवदत्त का अर्थ है व्यक्ति विशेष' गाय का अर्थ है पशु विशेष और लाता है क्रिया का अर्थ है विशेष प्रकार की क्रिया। किन्तु देवदत्त का

यह परामर्श व्यापार है। इस से जो वोध उत्पन्न होता है कि 'यहाँ आग है' वह फल या कार्य कहा जाता है।

शब्दवोध भी एक ज्ञान है। शब्द उसमे कारण है और किसी अर्थ का ज्ञान फल या कार्य है। शब्द से शब्द बोध तक पहुचने के लिये किसी व्यापार की नितान्त आवश्यकता है। यह व्यापार शब्द मे ही वर्तमान होता है, इसी से इसे वृत्ति (वर्तमान होना) कहते है। आशय यह है कि शब्द वृत्ति एक व्यापार है जो कारणभूत शब्द ज्ञान से उत्पन्न होता है और शब्द-बोध रूप फल को उत्पन्न किया करता है।

शब्द-वृत्ति कितने प्रकार की होती है इस विषय मे विभिन्न दर्शनो मे विभिन्न प्रकार की मान्यताओ का प्रतिपादन किया गया है। फलत शब्दवृत्तियो की सख्या के विषय मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। किन्तु एक वृत्ति के विषय मे किसी को अनुपपत्ति नही है और वह है शब्द शक्ति इसीलिये वृत्ति के स्थान पर 'शब्द शक्ति' यह लाक्षणिक प्रयोग चल पडा है। आशय यह है कि शब्द शक्ति मे शब्द के ऐसे व्यापार पर विचार किया जाता है जो शब्दार्थ वोध मे कारण हुआ करता है।

शब्दशक्ति का विभाजन

दर्शन के क्षेत्र मे शब्द शक्तियो का विभाजन चर्चा का प्रमुख विषय रहा है। कतिपय दार्शनिक केवल एक शक्ति मानते हैं—अभिधा। दूसरे लोग अभिधा और लक्षणा ये दो शक्तियाँ मानते हैं। कतिपय अन्य लोग (वैय्याकरण) लक्षणा को स्वीकार नहीं करते अपितु अभिधा और व्यजना इन दो शक्तियो को मानते हैं। दूसरो के मत मे तीन शक्तियाँ हैं अभिधा, लक्षणा और गुणवृत्ति। अन्य लोग गुणवृत्ति को लक्षणा का ही एक भेद गौणी लक्षणा मान कर शब्द शक्तियो की सख्या दो ही रखते हैं। साहित्य शास्त्री और विशेष रूप से ध्वनिवादी तीन शक्तियो को स्वीकार करते हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इन शक्तियो के आधार पर ही साहित्य-शास्त्र मे शब्द भी तीन प्रकार का माना जाता हैं—वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक। इसी प्रकार अर्थ भी तीन प्रकार का ही माना जाता है वाच्य, लक्ष्य और व्यग्य।

साहित्य-शास्त्र मे भी उक्त विभाजन को सर्वसम्मति से स्वीकार नही किया जाता। अनेक आचार्य व्यञ्जना वृत्ति के विरोधी है और उसका अन्तर्भाव कही अन्यत्र करना चाहते हैं। कुछ लोगो ने एक नई शक्ति की कल्पना की है और उसका नामकरण किया है तात्पर्य-वृत्ति। इस तात्पर्य-वृत्ति के दो रूप प्राप्त होते हैं—एक तो वाक्यार्थ का प्रत्यायन कराने वाली तात्पर्य वृत्ति और दूसरे व्यञ्जन के समस्त क्षत्र को आत्मसात् करने वाली तात्पर्य वृत्ति। किन्तु इसको अपवाद रूप मे ही स्वीकार किया गया है। वाक्यार्थ प्रत्यायन के लिये तात्पर्य वृत्ति कहाँ तक आवश्यक है इस पर पृथक् विचार किया जायेगा। अब रही दूसरे प्रकार की तात्पर्य वृत्ति इसको यदि व्यञ्जना का स्थानापन्न मानना है तो व्यञ्जना वृत्ति को ही मान लेने मे क्या दोष है ?

साहित्य शास्त्र मे ही रस प्रक्रिया के अन्तर्गत भट्टनायक ने दो वृत्तियाँ और

(१) व्याकरण—धातु प्रत्यय इत्यादि का निर्णय इसी के द्वारा होता है।

(२) उपमान—जैसे गाय के समान गवय होता है। इस वाक्य को सुनकर जंगल में जाकर गाय की समानता के आधार पर गवय को न जानने वाला व्यक्ति गवय में शक्ति ग्रहण कर लेता है।

(३) कोश—कोश में शब्दों के अर्थ दिये रहते हैं उनसे भी शब्दों के अर्थ का ज्ञान हो जाता है।

(४) व्यवहार—जैसे 'गाय लाओ' इत्यादि वाक्य और उसकी क्रिया को देखकर बालक को 'गाय' इत्यादि पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

(५) वाक्य शेष—कभी-कभी वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द का अर्थ मालूम नहीं पड़ता। किन्तु जब उस वाक्य के साथ अन्य वाक्य को जोड़ दिया जाता है तो उस शब्द का अर्थ मालूम पड़ जाता है। जैसे 'सिंह से डरना चाहिये' इस वाक्य में यदि किसी व्यक्ति को 'सिंह' के अर्थ का पता न हो और उसके बाद वह इस वाक्य को सुने कि 'क्योंकि सिंह समस्त जंगली जीवों का राजा है' तो वह सिंह अर्थ समझ जावेगा।

(६) आप्त वाक्य—जब कोई आप्त (विश्वसनीय अधिकारी) व्यक्ति बतला देता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ है तो उस शब्द के अर्थ का ज्ञान हो जाता है।

(७) विवृत्ति—विवरण। जैसे 'कुम्भकार' का विवरण 'कुम्भ को करने वाला' कर देने से कुम्हार का अर्थ समझ में आ जाता है।

(८) सिद्धपद सान्निध्य—सिद्ध या ज्ञात शब्द की निकटता से शब्दार्थ का बोध हो जाता है। जैसे 'पिक मस्ती से बसन्त में कूजता है।' यहाँ बसन्त और 'कूजना' शब्दों का अर्थ मालूम होने पर 'पिक' का अर्थ कोकिल है, यह मालूम पड़ जाता है।

ऊपर संकेत ग्रहण के उपायों का परिचय दिया गया। यह संकेत ग्रहण सर्वदा व्यक्ति में ही होता है। उदाहरण के लिये 'गाय लाओ' इस वाक्य में 'गाय' का संकेत ग्रहण केवल एक गाय में होगा क्योंकि लाना क्रिया उसी में सम्भव है। व्यवहार में व्यक्ति ही आता है और प्रयोजन की सिद्धि भी उसी में सम्भव है। अतः नियमानुकूल व्यक्ति ही वाच्य होनी चाहिए और व्यक्ति में ही संकेत ग्रहण होना चाहिये। किन्तु यह दो ही प्रकार से सम्भव है या तो समस्त व्यक्तियों में शक्ति मानें या कतिपय व्यक्तियों में शक्ति स्वीकार करें। यदि हम समस्त व्यक्तियों में पृथक्-पृथक् शक्ति मानने लगेंगे तो व्यक्ति के अनन्त होने के कारण शक्ति भी अनन्त माननी पड़ेगी और यदि हम कतिपय व्यक्तियों में शक्ति मानेंगे तो अन्य व्यक्तियों में या तो संकेत ग्रहण ही न होगा और यदि ग्रहण होगा तो यह नियम जाता रहेगा कि जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत ग्रहण हो वह शब्द उसी अर्थ का वाचक होता है। एक

क्रिया मे कर्तृत्व और गाय का क्रिया मे कर्मत्व किसी भी शब्द का अर्थ नही है। आकाक्षा इत्यादि के कारण इसका भान होता है यही वाक्यार्थ (फल) है और इसमे व्यापार को तात्पर्य वृत्ति कहते हैं।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर गुरु के अनुयायी तात्पर्य वृत्ति को स्वीकार नही करते। उनका मत है कि वाच्यार्थ वाक्य के द्वारा ही प्रकट किया जाता है। अत अभिधावृत्ति के अन्दर ही तात्पर्य वृत्ति का भी समावेश हो जाता है। इस सिद्धान्त का सार यह है कि बालक को सर्वप्रथम शक्तिग्रह वाक्य मे ही होता है। जब कोई वृद्ध किसी युवक को 'गाय लाओ' यह आदेश देता है और युवक उसकी आज्ञा से गाय ले आता है तथा यह क्रिया बार-बार होती है तब बालक 'गाय लाओ' इस वाक्य का और गाय ले आने की क्रिया का सम्बन्ध समझ लेता है। इस प्रकार सबसे पहले बालक को शक्तिग्रह वाक्य मे ही होता है। इसके बाद वही बालक जब 'गाय ले जाओ' 'अश्व ले आओ' इत्यादि वाक्यो को सुनता है और उनकी क्रियाओ को देखता है तब एक वाक्य के भिन्न-भिन्न शब्दो के भिन्न प्रयोगो पर ध्यान देता है और वाक्यान्तर्गत शब्दो के निर्गम और प्रवेश के द्वारा शब्दो की जिस शक्ति को समझ जाता है उसमे अन्वय का अश भी विद्यमान होता है। इस प्रकार कारक पदो का क्रिया पदो के साथ और क्रिया पदो का कारक पदो के साथ सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है तब इस अन्वित शक्ति का अपलाप नही हो सकता और शब्दो की शक्ति अन्वय मे भी सिद्ध हो जाती है। अत उसके लिये पृथक् से तात्पर्यवृत्ति मानने की आवश्यकता नही पडती। इसे अन्विताभिधानवाद कहते हैं। यहाँ पर इतना और ध्यान रखना चाहिये कि साहित्यशास्त्रियो ने भट्टमत (अभिहितान्वयवादी) को अधिक आदर दिया है। इसका कारण यह है कि अन्वितघटादि मे घट पद की शक्ति मान भी ली जावे किन्तु जहाँ पर केवल अन्वय का ही बोध करना होगा वहाँ पर आकाक्षादि को कारण मानना ही पडेगा। अत तात्पर्य वृत्ति का मानना उचित है। किन्तु यह वृत्ति वाक्यार्थ बोध मे ही कारण बनती है शब्दो की वृत्ति के अन्तर्गत नही आती। अत इसके मानने से भी शब्दशक्तियो की त्रिरूपता मे अन्तर नही आता।

शब्द की अभिधा शक्ति या व्यापार

शब्द और अर्थ का अनादि सम्बन्ध है। प्रत्येक शब्द के लिये अर्थ नियत है और प्रत्येक अर्थ के लिये शब्द नियत है। किसी अर्थ के लिये शब्द का नियत होना उस अर्थ में उस शब्द का सकेत कहलाता है। यह सकेत परम्परागत रूप मे प्राप्त होता जाता है। अत किसी एक व्यक्ति को किसी अर्थ मे किसी शब्द के सकेत नियत करने का श्रेय नही दिया जा सकता। इसीलिये कुछ लोग सकेत को ईश्वरेच्छाजन्य मानते हैं। उनका आशय यही है सकेत का नियत करना सर्वथा सायोगिक है और एक व्यक्ति इस दिशा में कुछ भी नही कर सकता। अर्थज्ञान के लिये इस सकेत का ज्ञान होना नितान्त अपरिहार्य है। सकेत ग्रहण निम्नलिखित ८ प्रकारो से होता है—

बात और है—अभी हम कहते हैं—'बैल सफेद है, वह चल रहा है, उसका नाम डित्थ है' इसमे चार धर्म हैं बैल (जाति) सफेद (गुण) चलना (क्रिया) और डित्थ (यदृच्छा शब्द) एक ही व्यक्ति मे ये चार धर्म हैं। यदि हम व्यक्ति को वाच्य मानने लगेंगे तो इन चारो का न तो विभेद ही हो सकेगा और न पृथक्करण ही सम्भव होगा। क्योंकि व्यक्ति एक ही है और एक ही व्यक्ति मे चार सकेत ग्रहण हो ही नही सकते। अत हमे व्यक्ति के उपाधि रूप धर्म मे शक्ति ग्रहण मानना चाहिये, व्यक्ति मे नही। व्यक्ति की उपाधि मे चारो धर्म सम्मिलित हो जाते हैं। जाति व्यक्ति की ऐसी उपाधि है जो कि व्यक्ति की आकृति मे सन्निहित रहती है। किसी व्यक्ति को देखने पर उसकी आकृति हमारे अन्त करणो मे खिच जाती है और उसी आकृति वाले किसी दूसरे व्यक्ति को देखकर हम उसी नाम से पुकारने लगते हैं। इसी उपाधि के आधार पर हम गाय, घोडा, पक्षी, मनुष्य इत्यादि के सामान्य रूप मे शक्ति ग्रहण करते हैं। व्यक्ति की दूसरी उपाधि है गुण जो कि उसे सजातीय व्यक्तियो से पृथक् करती है। गोत्व जाति तो सभी गायो मे होती है किन्तु 'सफेद' 'नीली' 'भूरी' इत्यादि विशेषण उसे अपनी जाति के इतर पशुओ से पृथक् कर देते हैं। ये दोनो उपाधियाँ तो व्यक्ति मे सिद्ध होती हैं। इसके अतिरिक्त एक साध्य उपाधि भी होती है। उदाहरण के लिये चलना फिरना उठना बैठना इत्यादि क्रियाये साध्य होती हैं। कभी-कभी वक्ता किसी वस्तु पर कल्पित आधार का भी आरोप कर लेता है। जैसे किसी का नाम देवदत्त यज्ञदत्त डित्थ कपित्थ इत्यादि रख लिया जाता है। इन सब उपाधियो मे एक साथ शक्तिग्रह उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार 'कपडा' कहने से तन्तुओ की राशि का एक साथ बोध हुआ करता है। कुछ लोग केवल जाति को ही वाच्य मानते हैं। इन लोगो के मत मे गुणो की भी जाति होती है। सफेदी अनेक-अनेक व्यक्तियो मे होती है कि तु सफेदी यह धर्म एक ही होता है जिसको ज्ञात कर सभी प्रकार की सफेदियो का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार क्रिया की भी जाति बनाई जा सकती है। इस विषय मे नैय्यायिक इत्यादि के मतो मे भेद है जिस पर विषय विस्तार के भय से विचार करना वाञ्छनीय नही है।

वाच्यार्थ तीन प्रकार का होता है—(१) जहाँ केवल समुदाय शक्ति का बोध होता है, भागो की कल्पना नही की जाती वहाँ 'रूढि' मानी जाती है। जैसे मणि इत्यादि शब्द। (२) जहाँ केवल प्रकृति प्रत्यय के रूप मे खण्ड करके ही अर्थ का बोध होता है और खण्डो के आधार पर ही सकेत माना जाता है वहाँ यौगिक अर्थ माना जाता है। जैसे 'पाचक' शब्द के दो खण्ड हैं—'पच+अक' पच का अर्थ है पकाना और 'अक' का अर्थ है वाला। इस प्रकार जो भी पकाने का काम करता है उसे पाचक कहने लगते हैं। (३) जहाँ यौगिक शब्द किसी विशेष अर्थ मे रूढ हो जाता है वहाँ योग रूढ़ि कही जाती है जैसे पङ्कज शब्द का यौगिक अर्थ है कीचड से उत्पन्न होने वाला। किन्तु इसका प्रयोग कीचड से उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओ के लिये न होकर केवल कमल के लिये होता है। इसलिये यह योगरूढ़ शब्द है।

कहते हैं। (२) मुख्यार्थ के स्थान पर कोई दूसरा ऐसा अर्थ ले लिया जावे जो मुख्यार्थ सम्बद्ध हो और जिससे प्रयोजनीय अर्थ की सिद्धि हो जावे और (३) उस शब्द की उस अर्थ में या तो परम्परा चल पडी हो या वक्ता का कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध हो रहा हो। यही लक्षणा की तीन शर्तें हैं। अतएव लक्षणा के प्रतीति गोचर होने वाले अर्थ का क्रम इस प्रकार होगा—पहले शब्द का प्रयोग करने पर शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है। फिर किसी कारण वश उस अर्थ का वाध हो जाता है। इस विषय मे दो मत हैं—कुछ लोग तो अन्वय की अनुपपत्ति को वाध का कारण मानते हैं और कुछ लोग तात्पर्य की अनुपपत्ति को वाध का हेतु मानते है। उदाहरण के लिए—'गगा मे घर' इस प्रयोग मे गगा (प्रवाह) मे घर का अन्वय ही ठीक नही वनता। अत इसे अन्वयानुपत्ति कह सकते हैं। इसी प्रकार 'कौओ' से दही वचाओ' इस कथन मे वक्ता का तात्पर्य केवल कौओ से दही बचाने मे नही प्रतीत होता। इसलिये यहा तत्पर्यानुपपत्ति हो जाती है। इस विषय मे नागेश भट्ट का मत है कि केवल तात्पर्यानुपत्ति को ही वाध का हेतु मानना ठीक है। इससे सर्वत्र निर्वाह हो जाता है और किसी प्रकार की अनुपपत्ति भी नही होती। तात्पर्यानुपपत्ति से मुख्यार्थ वाध हो जाने पर एक ऐसा अर्थ ले लिया जाता है जो एक ओर मुख्यार्थ से किसी न किसी रूप मे सम्वद्ध हो और दूसरी ओर उस अनुपपत्ति का निराकरण कर दे। यह दूसरा अर्थ ही लक्षणाजन्य होने से लक्ष्यार्थ कहा जाता है।

वाधित अर्थ में शब्द प्रयोग करने के दो हेतु हो सकते है—या तो उस अर्थ मे शब्दप्रयोग वहुत समय से चला आ रहा हो और सामान्य श्रोता या पाठक को उस अर्थ में उस शब्द का प्रयोग अभिधा जैसा ही स्वाभाविक प्रतीत होने लगे। इसे रूढि कहते हैं। इसमे सामान्य श्रोता का ध्यान शब्द के मूल अर्थ की ओर जाता ही नही और वह लक्ष्यार्थ को शक्यार्थ के समान ही ग्रहण करता है। कही-कही लाक्षणिक प्रयोग के द्वारा किसी प्रयोजन की सिद्धि से होती है उसे प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। यही लक्षणा का सामान्य परिचय है।

लक्षणा के भेद

ऊपर लक्षणा के दो हेतु बतलाये गये हैं या तो रूढि या प्रयोजन। स्थूल रूप से लक्षणा के यही भेद हैं—जहाँ रूढि के कारण वाधित शब्द का प्रयोग किया जाता है उसे निरूढा लक्षणा कहते हैं। और जहाँ किसी प्रयोजन से वाधित शब्द का प्रयोग किया जाता है उसे प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं।

निरूढा लक्षणा का उदाहरण जैसे 'कर्म मे कुशल'। यहा कुशल शब्द का अर्थ है 'कुशो को वीनने वाला'। किन्तु प्रकरण मे इस अर्थ का तात्पर्य सगत नही होता। अत तात्पर्यानुपपत्ति हो जाती है। इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध हो जाने से कुशल शब्द का अर्थ हो जाता है विवेचक। मुख्यार्थ 'कुशो के वीनने वाले' और लक्ष्यार्थ 'विवेचक' मे यह सम्वन्ध है कि दोनो को ही त्याज्य भाग छोड कर ग्राह्य भाग लेना पड़ता है। इस प्रकार मुख्यार्थ के द्वारा अमुख्यार्थ लक्षित होता है। यही मुख्यार्थ पर

वन्दूक धारी पुरुष के लिए किया गया है। भयानकता की प्रतीति प्रयोजन है। (२) स्थिति जैसे 'कुर्सिया शोर मचा रही हैं।' यहा कुर्सी शब्द का प्रयोग उन पर बैठे हुए पुरुषो के लिए हुआ है। (३) तादर्थ्य अर्थात् किसी कार्य के लिए किसी वस्तु का होना जैसे—चटाई बनाने के लिए जो पुआल रक्खा हो उसके लिए कोई यह चटाई है' यह कहे (४) आचरण या व्यवहार जैसे—यदि कोई व्यक्ति राजा का जैसा व्यवहार कर रहा हो तो उसके लिये कोई कहे 'ये राजा साहब आ रहे हैं।'(५) परिमाण जैसे 'सत्तू एक सेर हैं' सत्तू एक सेर नही हैं किन्तु एक सेर मे तोले हुए हैं। यहाँ परिमाण के कारण वाधित अर्थ मे प्रयोग किया गया है। (६) धारण करना—जैसे तराजू पर रक्खे चन्दन को लाने के लिए कोई कहे —'यह तराजू ले आओ।' (७) निकटता जैसे गगा मे घर। (७) योग अर्थात् मिला होना जैसे यदि किसी अधिकारी के आने की सूचना यह कहकर दी जाय कि 'कार आ रही है।' कार का अधिकारी से योग होने के कारण वाधित अर्थ मे शब्द का प्रयोग किया गया है। (८) साधन—जैसे प्राण का साधन होने के कारण कोई व्यक्ति अन्न को प्राण कहे (९) आधिपत्य जैसे किसी वश पर किसी पुरुष का अधिकार होने से उस वश के लिए उस पुरुष का नाम लिया जाय।

शुद्धालक्षणा दो प्रकार की होती है—उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा। जहा शक्यार्थ का कुछ अश लक्ष्यार्थ मे चला जाता है वहाँ उपादान लक्षणा होती है—जैसे 'भाले घुस रहे है 'छडियाँ आ रही हैं।' यहाँ यह बात असम्भव है कि भाले प्रवेश कर सकें या छडियाँ आ सकें। क्योकि प्रवेश करना तो चेतन धर्म है वह भाले और छडियो मे सम्भव नही है। अत शक्यार्थ का वाघ हो जाता है और उसके स्थान पर लक्ष्यार्थ 'भाला वाले आदमी' और 'छडी वाले आदमी' ले लिया जाता है। आदमियो के साथ भाले प्रवेश कर रहे है और छाडिया आ रही हैं। भाले और छडी ने अपने अर्थ की सगति के लिए पुरुष के अर्थ का उपादान कर लिया है और अपना अर्थ भी नही छोडा इसलिये यहा पर उपादान लक्षणा है। इसी को अजहत्स्वार्थी भी कहते हैं क्योकि यह अपने शक्यार्थ को भी नहीं छोडती। यह लक्षणा प्रयोजनवती है क्योकि परिस्थिति की भीषणता के दिखलाने के लिए पुरुष के स्थान पर भाले और छडी का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'कौओ से दही बचाओ' मे कौआ शब्द सभी दही के उपघातक जीवो को समेट लेता है और अपन अर्थ को भी नही छोडता। ये सब उपादान लक्षणा के उदाहरण हैं।

जहाँ शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। इसी को दूसरे शास्त्रो मे जहत्स्वार्था भी कहते हैं। उदाहरण के लिए 'गगा मे घर' प्रयोग मे 'गगा' के 'प्रवाह' अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है और उसके स्थान पर तट अर्थ आ जाता है। लक्षण का अर्थ है स्वार्थ समर्पण। उसके द्वारा यह लक्षित की जाती है इसलिये इसे लक्षण-लक्षणा कहते है।

ऊपर प्रयोजनवती लक्षणा के तीन भेद बतलाये गये हैं—(१) गौणी (२) शुद्धा उपादान लक्षणा और (३) शुद्धा लक्षणलक्षणा । इन तीन प्रकार की लक्षणाओं में प्रत्येक दो प्रकार की होती है—सारोपा और साध्यवसाना । सारोपालक्षणा वहाँ पर होती है जहाँ विषय और विषयी अर्थात् जिसका आरोप किया जाय और जिस पर आरोप किया जाय दोनों को ही शब्द के द्वारा प्रकट कर दिया जावे । जैसे 'कुली बैल है' यहाँ विषय और विषयी दोनों का शब्द के द्वारा उपादान कर दिया गया है । साध्यवसाना लक्षणा उसे कहते हैं जिसमें विषयी का निगरण कर केवल विषय का उल्लेख किया जावे जैसे 'बैल से कहो कि सामान जल्दी ले आवे । यहाँ पर कुली शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है केवल बैल शब्द से ही उसका बोध होता है । इसी प्रकार शुद्धालक्षणा में 'अन्न जीवन है' इस कथन में विषय और विषयी दोनों का उपादान शब्द के द्वारा हुआ है । इसलिये यह शुद्धा सारोपा लक्षणा है । इसके प्रतिकूल अन्न ले जाने वाला व्यक्ति कहे कि 'मैं जीवन लिये जा रहा हूँ' इस वाक्य में अन्न शब्द का प्रयोग नहीं हुआ । केवल जीवन का शब्द से उसका बोध कराया गया है । इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद हो जाते हैं—(१) गौणी सारोपा जैसे 'कुली बैल है।' (२) गौणी साध्यवसाना जैसे 'बैल से सामान लाने के लिए कहो । (३) शुद्धासारोपा उपादान लक्षणा जैसे 'कौवों से दही बचाओ' (४) शुद्धा साध्यवसाना उपादान लक्षणा जैसे भाले आ रहे हैं । (५) शुद्धा सारोपा लक्षण लक्षणा जैसे 'अन्न जीवन है' (६) शुद्धा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा जैसे 'मैं जीवन लिये जा रहा हूँ' । जिस प्रकार लक्षणा के उपाधिकृत उपर्युक्त ६ भेद होते हैं उसी प्रकार व्यंग्य के अनुसार भी भेद हो सकते हैं—निरूढा लक्षणा व्यंग्य से रहित होती है । प्रयोजनवती लक्षणा व्यंग्य से युक्त होती है । इस प्रकार व्यंग्य के आधार पर उक्त दोनों भेदों को अव्यंग्यालक्षणा और सव्यंग्यालक्षणा कह सकते हैं । सव्यंग्या अर्थात् प्रयोजनवतीलक्षणा भी दो प्रकार की होती है—गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या । जहाँ लक्षणा का प्रयोजन केवल सहृदय संवेद्य हो उसे गूढ़ व्यंग्यालक्षणा कहते हैं और जहाँ लक्षणा का प्रयोजन सर्वजन संवेद्य हो उसे अगूढ़ व्यंग्यालक्षणा कहते हैं । इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के उक्त छः भेदों में प्रत्येक के इन दोनों भेदों को मिलाकर १२ भेद हो जाते हैं और एक भेद अव्यंग्या निरूढा लक्षणा का हो जाता है । लक्षणा के यही १३ भेद 'काव्य शास्त्र में माने गये हैं ।

व्यञ्जनावृत्ति

लक्षणा के उक्त विवेचन में प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति की बात कही गई थी । यहाँ एक प्रश्न स्वभावतः उठता है—लक्षणा के प्रयोजन की प्रतिपत्ति होती है तो शब्द से ही है । इस प्रतिपत्ति में शब्द का कौन सा व्यापार हेतु माना जावे ? अभी तक दो व्यापार बतलाये गये हैं एक तो अभिधा और दूसरी लक्षणा । 'गंगा में घर' इस कथन में गंगा का अभिधेयार्थ है प्रवाह और लक्ष्यार्थ है तट । यहाँ

बन्दूक वारी पुरुष के लिए किया गया है। भयानकता की प्रतीति प्रयोजन है । (२) स्थिति जैसे 'कुर्सिया शोर मचा रही हैं।' यहा कुर्सी शब्द का प्रयोग उन पर बैठे हुए पुरुषो के लिए हुआ है। (३) तादर्थ्य अर्थात् किसी कार्य के लिए किसी वस्तु का होना जैसे—चटाई बनाने के लिए जो पुआल रक्खा हो उसके लिए कोई यह चटाई है' यह कहे (४) आचरण या व्यवहार जैसे—यदि कोई व्यक्ति राजा का जैसा व्यवहार कर रहा हो तो उसके लिये कोई कहे 'ये राजा साहब आ रहे हैं।'(५) परिमाण जैसे 'सत्तू एक सेर हैं' सत्तू एक सेर नही हैं किन्तु एक सेर से तोले हुए हैं । यहाँ परिमाण के कारण बाधित अर्थ मे प्रयोग किया गया है। (६) धारण करना—जैसे तराजू पर रक्खे चन्दन को लाने के लिए कोई कहे —'यह तराजू ले आओ।' (७) निकटता जैसे गगा मे घर। (७) योग अर्थात् मिला होना जैसे यदि किसी अधिकारी के आने की सूचना यह कहकर दी जाय कि 'कार आ रही है।' कार का अधिकारी से योग होने के कारण बाधित अर्थ मे शब्द का प्रयोग किया गया है। (८) साधन—जैसे प्राण का साधन होने के कारण कोई व्यक्ति अन्न को प्राण कहे (९) आधिपत्य जैसे किसी वश पर किसी पुरुष का अधिकार होने से उस वश के लिए उस पुरुष का नाम लिया जाय।

शुद्धालक्षणा दो प्रकार की होती है—उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा। जहा शक्यार्थ का कुछ अश लक्ष्यार्थ मे चला जाता है वहाँ उपादान लक्षणा होती है—जैसे 'भाले घुस रहे हैं 'छडियाँ आ रही है।' यहाँ यह बात असम्भव है कि भाले प्रवेश कर सकें या छडियाँ आ सकें। क्योकि प्रवेश करना तो चेतन धर्म है वह भाले और छडियो मे सम्भव नही है। अत शक्यार्थ का बाध हो जाता है और उसके स्थान पर लक्ष्यार्थ 'भाला वाले आदमी' और 'छडी वाले आदमी' ले लिया जाता है। आदमियो के साथ भाले प्रवेश कर रहे हैं और छाडिया आ रही हैं। भाले और छडी ने अपने अर्थ की सगति के लिए पुरुष के अर्थ का उपादान कर लिया है और अपना अर्थ भी नही छोडा इसलिये यहा पर उपादान लक्षणा है। इसी को अजहत्स्वार्थी भी कहते हैं क्योकि यह अपने शक्यार्थ को भी नही छोडती। यह लक्षणा प्रयोजनवती है क्योकि परिस्थिति की भीषणता के दिखलाने के लिए पुरुष के स्थान पर भाले और छडी का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'कौओ से दही बचाओ' मे कौआ शब्द सभी दही के उपघातक जीवो को समेट लेता है और अपने अर्थ को भी नही छोडता। ये सब उपादान लक्षणा के उदाहरण हैं।

जहाँ शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। इसी को दूसरे शास्त्रो मे जहत्स्वार्था भी कहते हैं। उदाहरण के लिए 'गगा मे घर' प्रयोग मे 'गगा' के 'प्रवाह' अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है और उसके स्थान पर तट अर्थ आ जाता है। लक्षण का अर्थ है स्वार्थ समर्पण। उसके द्वारा यह लक्षित की जाती है इसलिये इसे लक्षण-लक्षणा कहते हैं।

जिसका मुख्यार्थ से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य हो किन्तु व्यंजना लिए इस प्रकार के सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है। लक्षणा में कोई न कोई प्रयोजन होना ही चाहिए या फिर रूढ़ अर्थ के समान शब्दक्रम से उसका प्रयोग किया गया हो। किन्तु व्यंजना में इस शर्त की भी अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार ये दोनों वृत्तियाँ सर्वथा भिन्न हैं।

जिस प्रकार लक्षणा की तीन शर्तें हैं उसी प्रकार व्यञ्जना की भी कुछ शर्तें हैं जिनका काव्यप्रकाशकार ने निम्नलिखित रूप में परिगणन किया है —

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।

अर्थात् (१) वक्ता की विशेषता (२) बोद्धव्य (जिससे कोई बात कही जा रही हो उसकी) विशेषता (३) काकु या उच्चारण के ढंग की विशेषता (४) वाक्य रचना की विशेषता (५) वाच्यार्थ की विशेषता (६) अन्यव्यक्ति के निकट होने की विशेषता (७) प्रस्ताव की विशेषता (८) देश की विशेषता और (९) काल की विशेषता। इसी प्रकार चेष्टा इत्यादि की दूसरी विशेषतायें भी हो सकती हैं। इनसे वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ का जो प्रत्यायन होता है उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं और उस अर्थ को प्रतीतिगोचर बनाने वाले शब्द-व्यापार को व्यञ्जना कहते हैं। उदाहरण के लिए कोई नायिका प्रेमी से मिलने जाने वाली है और उसका निश्चित समय आ गया है। वह अपनी माँ से कहती है 'माँ मैं बाजार से सौदा लाने जा रही हूँ। कुछ दूर पर सौदा सस्ता मिलता है। यदि मुझे कुछ विलम्ब हो जावे तो चिन्ता न करना' यहाँ अर्थ पूर्ण है। किन्तु रहस्य को जानने वाला व्यक्ति समझ जाता है कि यह अपने प्रियतम से मिलने जा रही है। यह अर्थ किसी युवती के कथन के कारण ही निकलता है। अन्यथा यह अर्थ नहीं निकल सकता। अतः वक्ता की विशेषता से यह अर्थ निकला है। इसी प्रकार यदि कोई प्रेमी किसी प्रेमिका से सबके सामने कहता है कि 'मैं तो दोपहर में अमुक स्थान पर कुञ्जों की झुरमुट में पड़ा करता हूं। वह स्थान बड़ा एकान्त और आनन्ददायक है।' तो रहस्य को समझने वाला समझ जावेगा कि वह उसे एकान्त में मिलने की प्रेरणा दे रहा है। दूसरे लोग उसका सामान्य अर्थ ही समझेंगे। यह अर्थ इसलिए निकलता है कि जिससे वह कह रहा है वह उसकी प्रच्छन्न प्रेमिका है। इस प्रकार यहाँ पर बोद्धव्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ की प्रतीति हुई है। इसी प्रकार अन्य शर्तों के उदाहरण भी समझ लिये जाने चाहिए।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में परस्पर महान् भेद होता है। इस भेद की व्याख्या अनेक रूपों में की जा सकती है—(१) स्वरूप भेद—वाच्यार्थ का स्वरूप होगा—'मैं बाजार से सौदा लेने जाऊँगी' और व्यंग्यार्थ होगा— इसका प्रेमी से मिलने का समय

पर जो शीतलत्व पावनत्व की प्रतीति की बात कही गई है उसमे शब्द का कौन सा व्यापार माना जा सकता है ? अभिधा हो ही नहीं सकती क्योकि कोशग्रन्थो मे कही भी गगा का अर्थ शीतलत्व पावनत्व नही लिखा है । तो क्या लक्षणा हो सकती है ? लक्षणा वही पर होती है जहा तीन शर्ते उपस्थित हो मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ सम्बन्ध और कोई अन्य प्रयोजन; जिस प्रकार 'गगा मे घर' कहने पर अर्थ अनुपन्न हो जाता है उसी प्रकार यदि 'गगा तट पर घर' कहने मे भी अर्थ अपपपन्न हो जावे तो लक्षणा हो सकती है । किन्तु ऐसा होता नही । जिस प्रकार प्रवाह का तट से सम्बन्ध है उसी प्रकार यदि पावनत्व इत्यादि अर्थो का तट से सम्बन्ध हो तो लक्षणा का अवसर बतलाया जा सकता है । किन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध होता नही है । तीसरी शर्त है कोई प्रयोजन ।'गगा मे घर' इस बाधित शब्द का प्रयोग शीतलत्व पावनत्व रूप प्रयोजन प्रतिपत्ति के लिए किया गया था । यहा पर शीतलत्व पावनत्व के स्थान पर 'तट शब्द का प्रयोग किस प्रयोजन मे किया गया है ? यदि किसी प्रयोजन की कल्पना भी करली जाय तो भी उस प्रयोजन के लिए लक्षणाकी तीन शर्ते और माननी पडेगी जिन में प्रयोजन भी कोई न कोई तलाश करना ही होगा । उस प्रयोजन के लिए एक अन्य प्रयोजन की परिकल्पना होगी । इस प्रकार कही भी अन्त प्राप्त ही न हो सकेगा । एक विकल्प यह भी सम्भव है कि लक्ष्यार्थ को प्रयोजन के सहित स्वीकार किया जावे, किन्तु यह हो ही नही सकता क्योकि प्रत्येक कार्य मे विषय और होता है और उसका फल और होता है । परीक्षा का विषय साहित्य इत्यादि हो सकता है किन्तु उसका फल उत्तीर्ण होना इत्यादि होता है । अत लक्ष्यार्थ और प्रयोजन को पृथक्-पृथक् ही रखना पडेगा । इससे सिद्ध है कि प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिये लक्षणा की तीनो शर्तो मे एक भी नही मिलती । अतएव यहा पर जैसे अभिधा नही हो सकती उसी प्रकार लक्षणा भी नही हो सकती । उसके लिये एक अतिरिक्त वृत्ति माननी पडेगी वह है व्यजना । व्यजना का अर्थ है विद्यमान वस्तु को प्रकाशित करना । जैसे कमरे मे रक्खे घडे की व्यजना दीपक से होती है, उसी प्रकार विद्यमान प्रयोजन को जो शब्द का व्यापार व्यक्त कर देता है उसे व्यजना कहते हैं ।

ऊपर जिस व्यजना की बात कही गई है वह लक्षणामूलाव्यञ्जना है । किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि व्यञ्जना सर्वदा लक्षणा का आधार लेती ही है । व्यजना जिस प्रकार लक्षणामूला हो सकती है उसी प्रकार अभिधामूला भी हो सकती है । अभिधा के प्रसग में सयोग इत्यादि अर्थनियन्त्रक तत्त्व दिखलाये जा चुके हैं । उनसे जब अभिधेयाथ की प्रतीति हो चुकती है और उसमे किसी प्रकार की अनुपपत्ति या बाध का अवसर शेष नही रह जाता तब उससे एक अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति होती है । उसको भी व्यञ्जना कहते हैं । यह व्यञ्जना अभिधामूला होती है । व्यञ्जना और लक्षणा मे अन्तर यह है कि लक्षणा के लिये बाधप्रतिसन्धान अनिवार्य होता है जबकि व्यञ्जना मे बाध की आवश्यकता नही होती । लक्ष्यार्थ वही हो सकता है

भावो का बनाना तो मेरे बायें हाथ का खेल है। इस प्रकार वाच्य और व्यंग्य अर्थों में अनेक भेद बतलाये जा सकते हैं।

जिस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ मे भेद होता है उसी प्रकार वाचक और व्यञ्जक शब्दों मे भी भेद हुआ करता है। वाचक शब्द अर्थ का प्रत्यायन तभी करता है जब निश्चित अर्थ में उसका संकेत ग्रहण किया जा चुका हो। किन्तु व्यञ्जक ऐसे अर्थ का भी प्रत्यायन कराता है जिसका संकेत ग्रहण न हो चुका हो। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति फ्रेंच बोल रहा होगा तो फ्रेंच भाषा से परिचय न रखने वाले व्यक्ति की समझ मे वाच्यार्थ कुछ नहीं आयेगा किन्तु उसे यह पता चल जायेगा कि वह बात क्रोध से कही जा रही या भय से अथवा हर्ष मे कही जा रही है या किसी अन्य भावना के साथ कही जा रही है। इस प्रकार शब्द की ये तीन वृत्तियाँ साहित्य शास्त्र मे मानी जाती हैं।

उपसंहार

वृत्तियो का परिज्ञान काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे नितान्त उपयोगी है। वस्तुतः काव्य मे अर्थ का ही सारा चमत्कार है। वाच्यार्थ के आधार पर ही लक्ष्यार्थ और अधिकांश व्यंग्यार्थ निकलता है। अतः उसका परिज्ञान आवश्यक है ही। लक्षणा का प्रयोग भी काव्य के अनेक क्षेत्रों मे होता है। उपादान लक्षणा अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि की उपयोगिनी होती है। लक्षण-लक्षणा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि की उपयोगिनी होती है। गौणी सारोपा रूपकालंकार मे प्रयोजनीय होती है और गौणी साध्यवसाना रूपकातिशयोक्ति के काम आती है। शुद्धासारोपा चतुर्थ अतिशयोक्ति की प्रयोजिका होती है और शुद्धासाध्यवसाना कार्यकारित्व की अतिशयता को प्रकट कर व्यंग्य की प्रयोजिका होती है। कुछ लोग शुद्धा के सारोपा और साध्यवसाना भेदों को हेत्वलंकार का प्रयोजक मानते हैं। किन्तु हेत्वलंकार सर्वसम्मत अलंकार नहीं है। अतः यह मान्यता सार्वजनीन नहीं कही जा सकती।

व्यंजना-वृत्ति ध्वनि सम्प्रदाय मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। वस्तुतः काव्यत्व का मूल ही व्यंजनावृत्ति है। यही वह तत्त्व है जो समस्त काव्यांगो की ठीक रूप से व्याख्या कर देता है और उनका स्थान भी निर्धारित कर देता है। रसतत्त्व आत्मसात् करने वाली यही वृत्ति है और यह प्रतिपादन कर कि गुण अलंकार रीतिवृत्ति प्रवृत्ति इत्यादि सभी काव्य सत्त्वान रस की दृष्टि से ही नियोजित होते हैं इस वृत्ति की मान्यता अत्यधिक बढ़ गई है।

कुछ आचार्यों ने व्यञ्जना वृत्ति को कहीं अन्यत्र अन्तर्भूत करने की चेष्टा की है। उनमे प्रमुख व्यक्ति है विवेककार महिमभट्ट। इन्होंने व्यञ्जना का अनुमान मे अन्तर्भाव करने की चेष्टा की है। किन्तु इस विषय मे दो मत नहीं हो सकते कि काव्य कोई तर्कशास्त्र नहीं है जिसमे तार्किक [illegible] ही प्रत्येक [illegible] जाय। वास्तविकता यह है कि व्यंजनावृत्ति तर्क से [illegible] त किया [illegible] नी है।
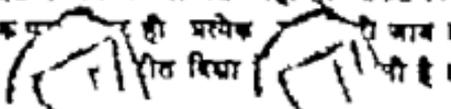
आ गया है इसलिए यह शीघ्र जाना चाहती है।' (२) कालभेद—वाच्यार्थ की प्रतीति पहले होती है और व्यग्यार्थ की प्रतीति बाद मे। (३) आश्रय भेद—वाच्यार्थ का आश्रय शब्द होता है। किन्तु व्यग्यार्थ का आश्रय शब्द, शब्दाश, वर्ण, वाक्य, प्रकरण, प्रबन्ध इत्यादि अनेक हो सकते हैं। (४) निमित्त-भेद—वाच्यार्थ मे केवल व्याकरण, कोश इत्यादि निमित्त होते हैं किन्तु व्यग्यार्थ मे शब्दानुशासन के अतिरिक्त वक्ता की विशेषता इत्यादि भी निमित्त होते हैं। (५) प्रभावभेद—वाच्यार्थ को सभी भाषाविद् समझ सकते हैं किन्तु व्यग्यार्थ को रहस्य समझने वाले तथा कुशाग्र बुद्धि के लोग ही समझ सकते हैं। (६) सख्या-भेद—वाच्यार्थ केवल एक प्रकार का होता है किन्तु व्यग्यार्थ अनेक प्रकार का हो सकता है। जैसे 'सूर्य अस्त हो गया' का वाच्यार्थ तो एक ही होगा किन्तु व्यग्यार्थ अनेक होगे—यदि यह वाक्य युद्ध के अवसर पर कहा जावेगा तो इसका व्यग्यार्थ होगा 'शत्रुओ पर आक्रमण का समय आ गया।' यदि दूती नायिका से कहेगी तो इसका व्यग्यार्थ होगा 'प्रेमी के पास चुपके से चलने का यही समय ठीक है।' यदि सखी वासक सज्जा नायिका से कहेगी तो इसका अर्थ होगा अब तुम्हारा प्रियतम आने ही वाला है। यदि यह वाक्य कोई मजदूर अपने साथी मजदूर से कहेगा तो इसका व्यग्यार्थ होगा—'अब काम बन्द करो।' यदि किसी ब्राह्मण से कहा जायेगा तो इसका अर्थ होगा—'सन्ध्या वन्दन का समय हो गया।' यदि कोई प्रिय व्यक्ति बाहर जा रहा हो और उससे यह कहा जाय तो इसका अर्थ होगा 'दूर मत जाना' यदि कोई व्यक्ति चरवाहे से ये शब्द कहेगा तो इसका अर्थ होगा 'अब पशुओ को घर ले चलो।' यदि दूकानदार अपने नौकरो से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—अब बिक्री की वस्तुओ को समेट लो। यदि प्रोषितपतिका अपनी सहेली से कहे तो इसका अर्थ होगा 'पति अब तक नही लौटा।' आशय यह है कि जितनी बार यह वाक्य बोला जायेगा प्रकरण के अनुसार इसके उतने ही अर्थ निकलेंगे। इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ मे सख्या भेद होता है। (७) विषय भेद अर्थात् विभिन्न व्यक्तियो के प्रति विभिन्न अर्थ। उदाहरण के लिए किसी नायिका ने पर पुरुष सम्भोग किया है और उसने नायिका का अधरक्षत कर दिया है। सखी नायिका से कहती है—'तुम मना करने पर तो मानती ही नही। मैंने तुम्हें मना किया किन्तु तुमने भ्रमरयुक्त पुष्प को सूघ ही लिया।' यहाँ वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक है। किन्तु व्यग्यार्थ विभिन्न व्यक्तियो के विषय मे विभिन्न हो जावेगा—(अ) नायिका के प्रति इसका अर्थ होगा जरा होशियार रहा करो नही तो रहस्य खुलते देर नही लगेगी। (आ) उपपति के प्रति इसका अर्थ होगा जरा अपने ऊपर नियन्त्रण रक्खा करो। खैर आज तो मैंने बात बना दी। आगे की हम नही जानती। (इ) पति के प्रति इसका अर्थ होगा—नायिका पर शक मत करना इसका अधरक्षत फूल मे बैठे भौंरे' ने किया है। (ई) पडोसियो के प्रति इसका अर्थ होगा—नायिका का चरित्र सन्दिग्ध नही है। (उ) दूसरी जानकार स्त्रियो के प्रति इसका अर्थ होगा—'देखो मैं कितनी निपुण हू। ऐसी

१०

ध्वनि सम्प्रदाय

१ उपक्रम ।
ध्वनि का अर्थ और उसका स्वरूप ।
३ ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य ।
४ ध्वनि-सिद्धान्त का प्रवर्तन ।
५ प्रेरक तत्त्वों का अनुसन्धान ।
६ वृत्ति परिचय और ध्वनि सिद्धान्त ।
७ व्यञ्जना और ध्वनि ।
८ ध्वनि के विभिन्न रूप तथा उसके भेदोपभेद ।
९ गुणीभूत व्यंग्य ।
१ चित्र काव्य ।
११ काव्य के उत्तम मध्यम इत्यादि प्रकार ।
१२ हिन्दी में ध्वनि सिद्धान्त ।
१३ मूल्यांकन ।

उपक्रम

भारतीय काव्यशास्त्र जगत् में ९ वीं शती में ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रवर्तन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह वह सिद्धान्त है जिसने एक ओर परम्परागत काव्य सिद्धान्तों की परीक्षा कर यह निर्णय करने की चेष्टा की कि विभिन्न काव्य-सिद्धान्तों का काव्य में स्थान क्या है तथा उनका उपयोग काव्य में किस प्रकार किया जाना चाहिये दूसरी ओर यह भी निर्णय करने की चेष्टा की कि काव्य का मूलतत्त्व क्या है तथा उसकी दृष्टि से विभिन्न काव्यसिद्धान्तों को किस प्रकार व्यवस्थापित किया जा सकता है। साथ ही इस सम्प्रदाय में भारतीय विचार धारा के परिप्रेक्ष्य में काव्य शास्त्र को रखकर नाट्य शास्त्र और काव्य शास्त्र दोनों के एकीकरण का सफल प्रयास किया गया। अपने उन्नायकों के प्रयास से यह सिद्धान्त इतना महत्त्वपूर्ण बन गया कि विरोधियों के प्रबल आघातों के समक्ष भी यह एक प्रस्तर भित्ति की भाँति अविचल खड़ा रहा। सौभाग्य से इसे कई प्रबल समर्थक मिल गये जिनसे इस सिद्धान्त का महत्त्व चिर काल तक अक्षुण्ण बना रह सका। प्रायः समस्त महनीय काव्य शास्त्रियों ने इस सिद्धान्त को नत मस्तक होकर स्वीकार किया और आज भी इस की महत्ता अविकल रूप में अक्षुण्ण बनी हुई है।

तर्क से वही वात सिद्ध होती है जिसके अतिरिक्त और कुछ सम्भव ही न हो। अन्यथा हेत्वाभास हो जाता है। इसके प्रतिकूल व्यजनावृत्ति वही पर हो सकती है जहाँ कुछ और वात भी सम्भव हो। क्योकि कोई भी व्यक्ति किसी वात को छिपाकर तभी कह सकता है जव उसमे पक्षान्तर की सम्भावना विद्यमान हो। इस प्रकार व्यजना और अनुमिति मे पर्याप्त भेद है। यह व्यजनावृत्ति ही भारतीय चिन्ताधारा के भी किकट पडती है जिसके अनुसार परोक्षसत्ता ही सर्वाधिक महनीय मानी जाती है। इस जगत् से व्रह्म की व्यजना ही होती है। वा व्यशास्त्र के क्षेत्र मे व्यजना की परिकल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसमे सन्देह नही।

का कष्ट सह कर जिस आनन्द रूपी दूध को दुहते हैं उसकी अपेक्षा रसिकों के लिए स्वयं प्रस्तुत हुआ कवि भारती का रस रूपी दूध कहीं अधिक उत्कृष्ट होता है। योगी लोग जिस आनन्दरूपी दूध को दुहते हैं उसमें रसावेश नहीं होता अपितु उन्हें बलात्कार के साथ योग साधना से वह आनन्द प्राप्त होता है। उसकी स्वयं प्रस्तुत हुये काव्य रस से तुलना ही क्या की जा सकती है। इस प्रकार का रस प्रवाह काव्य की आत्मा है। उसको अभिव्यक्त करने वाले शब्द और अर्थ का स्फुरण ही महा कवित्व का पद देने वाला होता है जोकि एक दुष्कर कार्य है। आशय यह है कि शब्द और अर्थ की शक्ति को परखना और उनकी अभिव्यञ्जकता का अनुसरण करना ही महा कवि का परम कर्त्तव्य है। ध्वनि शब्द के ५ अर्थ किये गये हैं—ध्वनतीति 'ध्वनि' इस व्युत्पत्ति से ध्वनित करने वाले दो तत्त्व आ जाते हैं शब्द और अर्थ। 'ध्वन्यते इति ध्वनि' से रस आ जाता है और 'ध्वननम् ध्वनि' अर्थात् ध्वनन की प्रक्रिया को ध्वनि कहते हैं इससे समस्त व्यञ्जक प्रक्रिया आ जाती है। पांचवां अर्थ है इन सब का समूह काव्य। इस प्रकार इस शब्द के अन्तर्गत काव्य सम्बन्धी सभी तत्त्व आ जाते हैं। ध्वनि सिद्धान्त के रहस्य को ठीक रूप में समझने के लिये इसके प्रवर्तक आचार्य तथा प्रेरक तत्त्वों पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य

ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तक ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' दो भागों में विभक्त है—कारिका और वृत्ति। वृत्तिकार तो असंदिग्ध रूप में आनन्द वर्धन ही हैं कुछ लोग इन्हें ही कारिकाकार भी मानते हैं जो कि अपने ही ग्रन्थ पर वृत्ति लिखने की संस्कृत परम्परा के प्रतिकूल नहीं है। कतिपय परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार कहते हैं इससे यह धारणा और अधिक पुष्ट हो जाती है। दूसरी ओर ध्वनिकार का पृथक व्यक्तित्व माना जाता है जिसकी कारिकाओं पर आनन्द वर्धन ने व्याख्या लिखी। विचारकों का कहना है कि आनन्द वर्धन की व्याख्या से ही ध्वनि सिद्धान्त साहित्य जगत् में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया। कहीं कहीं दोनों में मतभेद भी है जिसका निर्देश पग पग लोचन व्याख्या में किया गया है। अभिनवगुप्त ने ग्रन्थकार और वृत्तिकार दोनों को पृथक पृथक निर्दिष्ट किया है। आनन्दवर्धन को ध्वनिकार कहना उन्हें कारिका कार सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि वृत्ति-ग्रन्थ से ही यह सिद्धान्त समादृत हुआ था। इस प्रकार दोनों व्यक्तियों का अद्वैत भ्रमजन्य है।

ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन

स्वयं कारिकाकार अपने को ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं मानते। उनका कहना है कि चिर प्राचीन से यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित था किन्तु काल क्रम से लुप्त हो गया। किन्तु उस प्राचीन परम्परा का साहित्य जगत् को आज परिज्ञान नहीं है। आनन्दवर्धन ने भी अभाववाद इत्यादि का सम्भावना मूलक ही विवेचन किया है। कहा नहीं जा सकता कि ध्वनिकार ने जिस प्राचीन परम्परा का निर्देश किया है वह

इस सिद्धान्त और सम्प्रदाय के प्रवर्तन से पहले काव्य जगत् मे तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिष्ठित न हो चुके थे भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट इत्यादि आचार्यों ने अलकार सम्प्रदाय का पोषण किया था, भरत ने रस सिद्धान्त को महत्ता दी थी और वामन ने रीति सम्पदाय को प्रतिष्ठित किया था। रीति सिद्धान्त के समर्थन मे वामन ने ही काव्य की आत्मा के अनुसन्धान का सूत्रपात कर दिया था जिसका आगे चलकर अनेक सिद्धान्तो मे परीक्षण किया गया। ध्वनिकार ने रस ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर उसी दृष्टि से अलकार रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति लक्षण इत्यादि सभी काव्य सिद्धान्तो का परीक्षण किया और काव्य मे उसकी सफल नियोजना पर सिद्धान्त रूप में प्रकाशडाल कर उसका मूल्याकन किया। इस सिद्धान्त के इतना प्रसार पाने का श्रेय इसी तथ्य को प्राप्त है कि इसमें काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले सभी सिद्धान्तो का व्यापक रूप मे परीक्षण कर निष्पक्ष निर्णय देने की चेष्टा की गई है।

ध्वनि का अर्थ और उसका स्वरूप

ध्वनि सिद्धान्त का मूलाधार यह मान्यता है कि काव्य मे महत्त्व उस तत्त्व का नही होता जिसका उपादान कवि के द्वारा किया जाता है। कवि अपने मन्तव्य को शब्दो और अर्थों के माध्यम मे प्रकट करना चाहता है। किन्तु शब्द और अर्थ लोक व्यवहार मे तो पर्याप्त हो जाते हैं और शास्त्र मे भी उनमे काम चल जाता है। वहाँ वक्ता जो कुछ कहना चाहता है उसको शब्दो के द्वारा अभिव्यक्त कर देता है। किन्तु काव्य मे प्रधानतया उपास्य रमणीयता होती है जोकि शब्दो का विषय हो ही नही सकती। अत कवि जो कुछ कहता है उसके पीछे एक अन्य अर्थ छिपा रहता है जोकि रमणीयता के कारण परिशीलक के मानस मे आस्वाद का प्रवर्तन करने वाला होता है। जहा पर अर्थ अपने स्वरूप को और शब्द अपने अभिधेय को गौण बना कर एक नवीन अर्थ की व्यञ्जना करते है उसे ध्वनि सज्ञा मे अभिहित किया जाता है। जिस प्रकार अङ्गनाओ का लावण्य कोई विशेष अङ्ग नही होता किन्तु सभी अङ्गो से फूट पडता है उसी प्रकार वह विशिष्ट अर्थ किसी शब्द विशेष का नही होता किन्तु अङ्गनाओ के लावण्य की भाँति समस्त सविधान से फूट पडता है। उसमे शब्द और अर्थ साधन मात्र होते हैं। साध्य रस ही होता है जो कभी भी शब्दाभिधेय हो ही नही सकता। इस प्रकार के विलक्षण शब्द और अर्थ का परिस्फुरण कवि प्रतिभा का ही काम है जो कि भगवती सरस्वती की ही कृपा से किसी ही किसी को प्राप्त होती है। जिस पर भगवती सरस्वती की अनुकम्पा होती है उसकी वाणी मे वह सार तत्त्व अकस्मात् नवहित होने लगता है तथा उसके लिये कवि को कोई उद्योग नही करना पडता। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि—'कवि भारती एक दुधारू गाय है। जिस प्रकार गाय अपने बच्चों की तृष्णा शान्त करने के लिये अपने थनो से स्वयमेव दूध बहाने लगती है उसी प्रकार रसिकों की रस सम्बन्धिनी तृष्णा शान्त करने के लिये कवि भारती रस रूपी दूध को स्वयमेव प्रवाहित करने लगती है। योगी लोग परमात्म-साक्षात्कार के लिये साधना

का कष्ट सह कर जिस आनन्द रूपी दूध को दुहते हैं उसकी अपेक्षा रसिकों के लिए स्वयं प्रस्तुत हुआ कवि भारती का रस रूपी दूध कहीं अधिक उत्कृष्ट होता है। योगी लोग जिस आनन्दरूपी दूध को दुहते हैं उसमें रसावेश नहीं होता अपितु उन्हें चमत्कार के साथ योग साधना से यह आनन्द प्राप्त होता है। उसकी स्वयं प्रस्तुत हुये काव्य रस से तुलना ही क्या की जा सकती है। इस प्रकार का रस प्रवाह काव्य की आत्मा है। उसको अभिव्यक्त करने वाले शब्द और अर्थ का स्फुरण ही महा कवित्व का पद देने वाला होता है क्योंकि एक दुष्कर काम है। आशय यह है कि शब्द और अर्थ की शक्ति को परखना और उसकी अभिव्यञ्जकता का अनुसरण करना ही महा कवि का परम कर्तव्य है। ध्वनि शब्द के ५ अर्थ किये गये हैं—ध्वनतीति 'ध्वनि' इस व्युत्पत्ति से ध्वनित करने वाले दो तत्त्व आ जाते हैं शब्द और अर्थ। 'ध्वन्यते इति ध्वनि' से रस आ जाता है और 'ध्वननम् ध्वनि' अर्थात् ध्वनन की प्रक्रिया को ध्वनि कहते हैं इससे समस्त व्यञ्जक प्रक्रिया आ जाती है। पांचवा अर्थ है इन सब का समूह काव्य। इस प्रकार इस शब्द के अन्तर्गत काव्य सम्बन्धी सभी तत्त्व आ जाते हैं। ध्वनि सिद्धान्त के रहस्य को ठीक रूप में समझने के लिये इसके प्रवर्तक आचार्य तथा प्रेरक तत्त्वों पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य

ध्वनि-सिद्धान्त का प्रवर्तक ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' दो भागों में विभक्त है—कारिका और वृत्ति। वृत्तिकार तो असंदिग्ध रूप में आनन्द वर्धन ही हैं कुछ लोग इन्हें ही कारिकाकार भी मानते हैं जो कि अपने ही ग्रन्थ पर वृत्ति लिखने की संस्कृत परम्परा के प्रतिकूल नहीं है। कतिपय परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार कहते हैं इससे यह धारणा और अधिक पुष्ट हो जाती है। दूसरी ओर ध्वनिकार का पृथक व्यक्तित्व माना जाता है जिनकी कारिकाओं पर आनन्द वर्धन ने व्याख्या लिखी। विचारकों का कहना है कि आनन्द वर्धन की व्याख्या से ही ध्वनि सिद्धान्त साहित्य जगत् में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया। कहीं कहीं दोनों में मतभेद भी है जिसका निर्देश पत्र तत्र लोचन व्याख्या में किया गया है। अभिनवगुप्त ने ग्रन्थकार और वृत्तिकार दोनों को पृथक् पृथक निर्दिष्ट किया है। आनन्दवर्धन को ध्वनिकार कहना उन्हें कारिकाकार सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि वृत्ति-ग्रन्थ से ही यह सिद्धान्त समादृत हुआ था। इस प्रकार दोनो व्यक्तियों का अद्वैत भ्रमजन्य है।

ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन

स्वयं कारिकाकार अपने को ध्वनि सिद्धांत का प्रवर्तक नहीं मानते। उनका कहना है कि चिर अतीत से यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित था किन्तु काल-क्रम से लुप्त हो गया। किन्तु उस प्राचीन परम्परा का साहित्य-जगत् को ज्ञान परिज्ञात नहीं है। आनन्दवर्धन ने भी समाख्यात इत्यादि का सम्भावना मूलक ही विवेचन किया है। कहा नहीं जा सकता कि ध्वनिकार ने जिस प्राचीन परम्परा का निर्देश किया है वह

कोई थी भी या प्राचीनता के प्रति आदर की भावना का संश्रय लेने के लिए ध्वनि-कार ने यो ही कह दिया ।

ध्वनिकार की मान्यता नतमस्तक होकर नही स्वीकार की गई । इसका विरोध कई क्षेत्रो से हुआ । लोचन के उद्धरणो से प्रतीत होता है कि हृदय दर्पण मे भट्टनायक ने इस मान्यता का प्रबल प्रतिषेध किया था । कुन्तक ने वक्रोक्ति की स्थापनाकर इस सिद्धात का विरोध किया और महिम भट्ट ने प्रत्यक्ष रूप मे इसका खडण्न करने के लिये ही व्यक्ति विवेक की रचना कर डाली । किन्तु इस सिद्धात को अभिनव गुप्त जैसा सबल समर्थक प्राप्त हो गया जिससे विरोध प्रसार नही पा सके । आचार्य मम्मट ने अपने समय तक किये हुये ध्वनि विरोधो की पूर्ण परीक्षा की । इस दिशा मे उन्हे बहुत कुछ आधार तो अभिनवगुप्त का ही प्राप्त हो गया था । पण्डितराज जगन्नाथ ध्वनि सिद्धात के अन्यतम आधार स्तम्भ हैं । इस प्रकार अत्यत प्रतिष्ठित समर्थको को प्राप्त कर ध्वनि सिद्धात सर्वातिशायी हो गया । काव्यशास्त्र मे इससे पहले किसी दूसरे तत्त्व की इतनी सबल व्याख्या हुई भी नही थी और न किसी दूसरे सिद्धात मे पूर्ववर्ती सभी मान्यताओं का सफल समन्वय ही प्रस्तुत किया गया था । ध्वनि सिद्धात के महान् आदर का एक यह भी कारण है ।

प्रेरक तत्वों का अनुसन्धान

जैसा कि बतलाया जा चुका है हम उस प्राचीन परम्परा से परिचित नही हैं जिसका निर्देश ध्वनिकार ने किया है । किन्तु इस सिद्धात की भावना हमे भारतीय तत्व चिन्तन मे सर्वत्र ओत प्रोत दिखाई पडती है । भारतीय चिन्ताधारा का मूल भूत तत्व है दृश्यमान जगत मे परोक्ष सत्ता की अनुभूति । परोक्ष सत्ता का प्रतिभास प्रदान करना ही दृश्यमान जगत् का सबसे बडा उपयोग है । अत जीवन का आनन्द प्राप्त करने के लिये हमे दृश्यमान जगत् मे ही सन्तुष्ट न रहकर परोक्ष सत्ता का अनुशीलन करना चाहिए । यही वह तत्त्व है जो हृदय को मुक्तावस्था की ओर उन्मुख करता है । परोक्षसत्ता की यही अनुभूति हमे वैदिक ऋचाओ मे प्राकृतिक तत्वो के अन्दर देवत्त्व भावना की प्रतिष्ठा में दृष्टिगत होती है । यही भावना उपनिषदो के ब्रह्मवाद मे अन्तर्निहित है । साख्य में पुरुष के रूप मे इसकी प्रतिष्ठा की गई है । अद्वैत वेदान्त में दृश्य मे प्रपच को अविद्या कल्पित मानकर उसी तत्व की सत्यता प्रतिपादित की गई है । रामानुज ने परिणामवाद को मानकर चिदचिद्विशिष्ट रूप मे उसी तत्व को स्वीकार किया है । चाहे माध्व का द्वैतवाद हो चाहे निम्बार्क का द्वैताद्वैत और चाहे वल्लभ का शुद्धाद्वैत सभी मे परोक्ष सत्ता का अनुशीलन परम पुरुषार्थ माना गया है । नकुलीश पाशुपत दर्शन का निरपेक्ष शिवतत्व और शैव-दर्शन का सापेक्ष शिवतत्व कुछ ऐसी ही कथा कहते हैं । आशय यह है कि अधिकाश भारतीय चिन्तन परम्परा में अप्रत्यक्ष तत्व का प्रत्यक्ष जगत् मे अनुसन्धान परम पुरुषार्थ माना गया है । यही भावना ध्वनि सिद्धात मे भी प्रतिफलित हुई है ।

ध्वनि सिद्धांत के आचार्यों ने ध्वनि का उद्गम वैयाकरणों के स्फोटवाद से माना है। संक्षेप में स्फोट वाद का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है —

वैय्याकरण लोग शब्द और अर्थ का तादात्म्य मानते हैं—जो शब्द है वही अर्थ है जो अर्थ है वही शब्द है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि लोक में अर्थ की जो क्रियायें हैं व शब्द की क्यों दृष्टिगत नहीं होती ? मधुर शब्द और अर्थ दोनों एक हैं तो जिस प्रकार मधुर अर्थ (वस्तु) से मुख मीठा हो जाता है उसी प्रकार मधुर शब्द से मुंह मीठा हो जाना चाहिये। अग्नि शब्द से मुंह जल जाना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस शंका का समाधान वैयाकरण इस प्रकार करते हैं—किसी शब्द का अर्थ बाह्य नहीं होता। प्रत्येक वस्तु का एक भावात्मक बिम्ब हम लोगों के अन्तःकरण में बन जाता है। वह आकृति ही जाति कहलाती है— आकृतिर्जातिपदवाच्या। वह आकृति ही शब्द का वास्तविक अर्थ होती है। इसी को बौद्धार्थ कहते हैं। शब्द और अर्थदोनों की सत्ता अन्तःकरण में होती है। अतः दोनों का तादात्म्य सिद्ध हो जाता है। इस विषय में वैयाकरणों का सिद्धांत अभेदवादी वेदांतियों के बहुत अधिक निकट पड़ता है। अभेदवादी वेदांती दृश्यमान जगत् को भ्रममात्र मानते हैं। ब्रह्मतत्त्व को जान लेने पर उस भ्रम का निराकरण उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार जागने पर दृश्यमान स्वप्न जगत् का तिरोधान हो जाता है। दृश्यमान भ्रमात्मक विश्व के सब पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं। किन्तु ब्रह्म के रूप में सब एक हो जाते हैं। इसको इस प्रकार समझिये—यदि हम कार्य का निषेध कर कारण की सत्ता ज्ञात करते चलें तो एकता या अभेद की ओर अग्रसर होते जायेंगे। जैसे लकड़ी की बनी लकड़ी वस्तुयें परस्पर भिन्न होती हैं किन्तु लकड़ी के रूप में सब एक हैं। इसी प्रकार लोहे की वस्तुयें लोहे के रूप में पत्थर की वस्तुयें पत्थर के रूप में और मिट्टी की वस्तुयें मिट्टी के रूप में एक होती हैं। मिट्टी पत्थर लोहा लकड़ी सब परस्पर भिन्न हैं किन्तु पृथ्वी के विकार के रूप में एक हो जाते हैं। यदि हम इसी प्रकार कार्य का निषेध करते हुये कारण की सत्ता मानते चले जायें तो समस्त तत्त्व एक हो जायेंगे। इसी तत्त्व को ब्रह्मनाम से अभिहित किया जाता है। अन्तःकरण तत्त्व में शब्द ब्रह्म की यही एकता परा वाणी कही जाती है। वहाँ पर जिस प्रकार घट पट मठ इत्यादि सभी तत्त्व एक हैं उसी प्रकार क' ख' ग इत्यादि शब्द तत्त्व भी एक ही हैं। जब शब्द ब्रह्म को घट पट इत्यादि रूप में बुद्धि ग्रहण करती है तब उस परा वाणी का नाम पश्यन्ती हो जाता है। कान बन्द कर लेने पर कंठ देश में अनुभव गोचर होने वाली सनसनाहट मध्यमा वाणी का रूप है जो पश्यन्ती से आगे की स्थिति है। पराबाणी का स्थान नाभि देश है, पश्यन्ती का हृदय और मध्यमा का कण्ठ। इन तीनों अवस्थाओं में सभी वर्ण एक रूप रहते हैं क्योंकि भेदक तत्त्व का उनसे अब तक संयोग नहीं हो चुका होता है। कण्ठ से आगे बढ़कर जब वर्ण मुखाग्र में आते हैं तब स्थान और प्रयत्न के द्वारा उन वर्णों का पृथक्-पृथक उच्चारण होता है और उनको भिन्न भिन्न रूप में ही इतर व्यक्ति ग्रहण करते हैं। कण्ठ तालु इत्यादि

कोई थी भी या प्राचीनता के प्रति आदर की भावना का सश्रय लेने के लिए ध्वनि-कार ने यो ही कह दिया ।

ध्वनिकार की मान्यता नतमस्तक होकर नही स्वीकार की गई । इसका विरोध कई क्षेत्रो से हुआ । लोचन के उद्धरणो से प्रतीत होता है कि हृदय दर्पण मे भट्टनायक ने इस मान्यता का प्रवल प्रतिषेध किया था । कुन्तक ने वक्रोक्ति की स्थापनाकर इस सिद्धात का विरोध किया और महिम भट्ट ने प्रत्यक्ष रूप मे इसका खडण्न करने के लिये ही व्यक्ति विवेक की रचना कर डाली । किन्तु इस सिद्धात को अभिनव गुप्त जैसा सवल समर्थक प्राप्त हो गया जिससे विरोध प्रसार नही पा सके । आचार्य मम्मट ने अपने समय तक किये हुये ध्वनि विरोधो की पूर्ण परीक्षा की । इस दिशा मे उन्हे बहुत कुछ आधार तो अभिनवगुप्त का ही प्राप्त हो गया था । पण्डितराज जगन्नाथ ध्वनि सिद्धात के अन्यतम आधार स्तम्भ हैं । इस प्रकार अत्यत प्रतिष्ठित समर्थको को प्राप्त कर ध्वनि सिद्धात सर्वातिशायी हो गया । काव्यशास्त्र मे इससे पहले किसी दूसरे तत्त्व की इतनी सवल व्याख्या हुई भी नही थी और न किसी दूसरे सिद्धात मे पूर्ववर्ती सभी मान्यताओं का सफल समन्वय ही प्रस्तुत किया गया था । ध्वनि सिद्धात के महान् आदर का एक यह भी कारण है ।

प्रेरक तत्वो का अनुसन्धान

जैसा कि वतलाया जा चुका है हम उस प्राचीन परम्परा से परिचित नही हैं जिसका निर्देश ध्वनिकार ने किया है । किन्तु इस सिद्धात की भावना हमे भारतीय तत्व चिन्तन मे सर्वत्र ओत प्रोत दिखाई पडती है । भारतीय चिन्ताधारा का मूल भूत तत्व है दृश्यमान जगत मे परोक्ष सत्ता की अनुभूति । परोक्ष सत्ता का प्रतिभास प्रदान करना ही दृश्यमान जगत् का सबसे बडा उपयोग है । अत जीवन का आनन्द प्राप्त करने के लिये हमें दृश्यमान जगत् मे ही सन्तुष्ट न रहकर परोक्ष सत्ता का अनुशीलन करना चाहिए । यही वह तत्व है जो हृदय को मुक्तावस्था की ओर उन्मुख करता है । परोक्षसत्ता की यही अनुभूति हमे वैदिक ऋचाओ मे प्राकृतिक तत्वो के अन्दर देवत्त्व भावना की प्रतिष्ठा मे दृष्टिगत होती है । यही भावना उपनिषदो के ब्रह्मवाद मे अन्तर्निहित है । साख्य मे पुरुष के रूप मे इसकी प्रतिष्ठा की गई है । अद्वैत वेदान्त में दृश्य मे प्रपच को अविद्या कल्पित मानकर उसी तत्व की सत्यता प्रतिपादित की गई है । रामानुज ने परिणामवाद को मानकर चिदचिद्विशिष्ट रूप में उसी तत्व को स्वीकार किया है । चाहे माध्व का द्वैतवाद हो चाहे निम्बार्क का द्वैताद्वैत और चाहे वल्लभ का शुद्धाद्वैत सभी मे परोक्ष सत्ता का अनुशीलन परम पुरुषार्थ माना गया है । नकुलीश पाशुपत दर्शन का निरपेक्ष शिवतत्व और शैव-दर्शन का सापेक्ष शिवतत्व कुछ ऐसी ही कथा कहते हैं । आशय यह है कि अधिकाश भारतीय चिन्तन परम्परा मे अप्रत्यक्ष तत्व का प्रत्यक्ष जगत् में अनुसन्धान परम पुरुषार्थ माना गया है । यही भावना ध्वनि सिद्धात मे भी प्रतिफलित हुई है ।

जाने लगा। साथ ही इन सबका समूह काव्य भी ध्वनि के क्षेत्र में आ गया। इस प्रकार काव्य के लिए उपयुक्त समस्त सामग्री का अन्तर्भाव ध्वनि शब्द में हो गया और ध्वनि ने काव्य की आत्मा का रूप धारण कर लिया।

ऊपर ध्वनि की वर्णनसम्प्रदायोपजीविता और व्याकरण के स्फोटवाद से उसके उद्गम का संक्षिप्त परिचय दिया गया। इसके अतिरिक्त काव्य शास्त्रीय प्राक्तन सम्प्रदायों में भी इसकी भावना का अनुसन्धान किया जा सकता है। ध्वनि से पहले काव्य शास्त्र में तीन ही सम्प्रदाय प्रतिष्ठित थे—काव्य में अलंकार और रीति तथा नाट्य में रस। कुछ ऐसे अलंकारों को मान्यता प्रदान की गई थी जिनमें अनिवार्य रूप से वस्तु-व्यञ्जना अन्तर्निहित रहती है। इस प्रकार के अलंकारों में प्रमुख थे—समासोक्ति आक्षेप अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति पर्यायोक्त अपह्नुति दीपक संकर अप्रस्तुतप्रशंसा इत्यादि। ये अलंकार वस्तुव्यञ्जनामूलक कहे जा सकते हैं। कुछ अलंकार ऐसे हैं जिनमें दूसरा अलंकार अनिवार्यरूप से व्यग्य रहता है। उदाहरण के लिये रूपक रूप कातिशयोक्ति अपह्नुति इत्यादि औपम्य मूलक अलंकारों में उपमा गर्भित रहती है। रसवद् प्रेय इत्यादि अलंकारों में रस व्यग्य रहता ही है। इस प्रकार वस्तु अलंकार और रस तीनों प्रकार की व्यञ्जनाओं का आश्रय अलंकार सम्प्रदाय में अनिवार्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त अतिशयोक्ति सर्वत्र व्यग्य रहती ही है। उसके अभाव में कोई भी लक्षण अलंकारता का सम्पादन नहीं कर सकता। इस विषय में लोचन का निम्नलिखित प्रकरण द्रष्टव्य है—

यदि बिना अतिशयोक्ति के वैसे ही अलंकारों की सत्ता मान ली जावे तो निम्नलिखित स्थानों पर भी अलंकार हो जावेंगे—

(१) उपमा उसे कहते हैं जिसमें दो वस्तुओं का सादृश्य बतलाया जावे। यह परिभाषा तो गाय के समान गवय होता है इसमें भी लागू हो जाती है। अतः यह भी उपमा कही जावेगी।

(२) रूपक में एक वस्तु का दूसरे पर आरोप किया जाता है 'खसेवाली' खलिहान के खम्भे को कहते हैं और यूप यज्ञ के स्तम्भ के कहते हैं जिसमें पशु बांधा जाता है। यदि कहा जाय कि 'खसेवाली यूप' है तो इसमें खसेवाली पर यूप का आरोप होने से रूपक का लक्षण लागू हो जाता है। अतः इसे भी रूपक कहा जावेगा।

(३) श्लेष उसे कहते हैं जिसमें एक शब्द के एक से अधिक अर्थ लिये जावें। व्याकरण में कई सूत्र ऐसे हैं जिनमें किसी शब्द का एक बार प्रयोग किया जाता है और अर्थ दो बार लिया जाता है। इस प्रक्रिया को व्याकरण में तन्त्र कहते हैं। उदाहरण के लिये एक सूत्र है—'द्विर्वचनेऽचि' इसका अर्थ है यदि द्वित्व निमित्तक अच् बाद में हो और द्वित्व करना हो तो स्वर के लिये कोई आदेश नहीं होता। यहाँ पर द्विर्वचनेऽचि में दो अर्थ लिये गये हैं—(१) द्वित्व निमित्तक अच् बाद में होने पर और (२) द्वित्व के योग्य होने पर। यह तन्त्र की प्रक्रिया है। यहाँ पर श्लेष का लक्षण लागू हो जाता है। अतः इसे भी श्लेष कहा जाने लगेगा।

स्थानो से वायु-सयोग का ही यह प्रभाव है कि वर्ण एक दूसरे से भिन्न हो जाते है। जिस वायु सयोग के द्वारा स्थान और प्रयत्न से शब्द अभिव्यक्त हुआ करते हैं उसे वैयाकरण लोग ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार शब्द के दो भाग होते हैं एक तो स्फोट या अर्थ भाग और दूसरा वायु सयोगात्मक ध्वनि। स्फोट मे किसी प्रकार का भेद नही होता और न उसमे किसी प्रकार की उपाधि होती है। भेद ध्वनि मे होता है। इसीलिये विभिन्न व्यक्तियो द्वारा उच्चारण की हुई ध्वनि विभिन्न प्रकार की होती है। नव परिणीतावधू की ध्वनि और प्रकार की होती है, वीर व्यक्ति की ध्वनि और प्रकार की तथा और दूसरे लोगो की ध्वनि और प्रकार की इस ध्वनि भेद मे स्फोट रूप शब्द ब्रह्म मे भेद नही होता। किन्तु वह स्फोट रूप शब्द ब्रह्म वायु सयोग रूप ध्वनि के द्वारा ही अभिव्यक्त हुआ करता है। ध्वनि का अर्थ से सम्बन्ध नही होता और अर्थ-भाग बिना ध्वनि के प्रतीति गोचर नही हो सकता। इसीलिये जब कभी दूर पर मेला इत्यादि लगा होता है और बहुत से लोग एक साथ बोलते है तब उनका स्वर तो सुनाई देता है किन्तु कथन का अर्थ समझ मे नही आता। तब लोग यही कहा करते है कि बहुत बडी ध्वनि सुनाई पड रही है। आशय यह है कि जिस प्रकार अनिर्वचनीय ख्याति से ब्रह्म का विवर्त जगत् है उसी प्रकार शब्द ब्रह्म से विवर्तित होने वाला और उसी मे पर्यवसान को प्राप्त होने वाला समस्त वाङ्मय और उसका वाच्य अर्थ सभी कुछ स्फोट रूप शब्द ब्रह्म का ही विपरिणाम है। उसकी व्यजना करने वाले वायु सयोग को ध्वनि कहते हैं। विभिन्न प्रकार का भेद ध्वनि भेद हुआ करता है, स्फोट मे किसी प्रकार का भेद नही होता। यह इस प्रकार यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार शरीर की स्थूलता और कृशता से आत्मा मे स्थूलता कृशता नही होती अथवा तेल मुकुट खग इत्यादि विभिन्न वस्तुओ मे देखने से मुखाकृति विभिन्न प्रकार की प्रतीति होती है किन्तु मुख मे भेद नही होता। यह स्फोट सिद्धात का सार है। वैय्याकरण स्फोट के व्यजको को ध्वनि कहते थे। उनके मत मे ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति होगी—'ध्वनतीति ध्वनि।' साहित्य शास्त्रियो ने इसी ध्वनि शब्द को लेकर और अधिक विस्तार किया। उन्होने ध्वनित करना एक साधारण धर्म मान लिया और जितने भी ध्वनित करने वाले तत्त्व थे उन सबका अन्तर्भाव ध्वनि मे कर दिया। इस प्रकार रीति, वृत्ति, गुण, अलकार शब्द, पद, पदाश, वर्ण वाक्य, रचना इत्यादि समस्त व्यजक वर्ग इस ध्वनि शब्द से सगहीत होने लगा। केवल इतना ही नही अपितु यदि अर्थ भी अर्थान्तर को ध्वनित करता हो तो वह भी व्यजक वर्ग मे ही सन्निविष्ट हो गया। यह व्यजक अर्थ वाच्य भी हो सकता है लक्ष्य भी और यदि एक व्यग्य अर्थ के द्वारा दूसरा व्यग्य अर्थ अभिव्यक्त होने लगे तो व्यग्यार्थ भी व्यञ्जक कोटि मे आ जावेगा। ध्वनि शब्द का यही तक विस्तार नही हुआ अपितु उसकी कर्म-साधन व्युत्पत्ति को मानकर व्यज्यमान अर्थ को भी ध्वनि सज्ञा प्रदान की गई और इस प्रकार वस्तु अलकार और रस तीनो का समावेश ध्वनि मे हो गया। इसके अतिरिक्त भावसाधन व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर व्यजना की प्रक्रिया को भी ध्वनि शब्द से अभिहित किया

वृत्ति परिचय और ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि सम्प्रदाय का मूलाधार व्यञ्जना वृत्ति है। वृत्ति शब्द का अर्थ है वर्तमान होना। शब्द वृत्ति का अर्थ है शब्द का अर्थ में वर्तमान होना। शब्द जिस व्यापार के द्वारा अर्थ मे वर्तमान रहता है और उसका प्रत्यायन कराया करता है उसे शब्द वृत्ति की संज्ञा दी जाती है। शब्द सर्वदा अर्थ का प्रत्यायन संकेत की सहायता से ही किया करता है। शब्द और अर्थ का अनिवार्य रूप से परस्पर सम्बन्ध रहता है और प्रत्येक शब्द का संकेत किसी अर्थ मे रहता है जो उस संकेत को पहले ग्रहण कर चुका होता है उस शब्द के उच्चारण मात्र से ही उस वस्तु की एक बौद्ध आकृति हमारे सामने आजाती है। उदाहरण के लिए 'घट' शब्द के उच्चारण मात्र से 'कम्बुग्रीवादि मान' घटाकार हमारे सामने आ जाता है। यह कम्बुग्रीवादिमान् आकार ही 'घट' शब्द का अर्थ है। इस अर्थ के प्रत्यायन मे घट शब्द अपनी शक्ति से ही वर्तमान है। अत शब्द की इस वृत्ति (वर्तमानता) को शब्द की शक्ति कहा जाता है। अर्थ का अभिधान करने के कारण इस वृत्ति को अभिधा भी कहते हैं शब्द वाचक होता है और अर्थ वाच्य। यह अभिधा वृत्ति सभी को स्वीकार्य है। यह दूसरी बात है कि शब्द को सभी दार्शनिक प्रमाण कोटि म नही लाते।

किन्तु कतिपय स्थल ऐसे होते हैं जहाँ अभिधा का प्रसार पराहत हो जाता है। शब्द की शक्ति किसी दूसरे अर्थ मे होती है और उसका प्रयोग किसी दूसरे अर्थ म कर दिया जाता है। यह प्रयोग औपचारिक होता है जिसमे शब्द की मुख्य वृत्ति नही होती। ऐसे स्थान पर अमुख्य वृत्ति स्वीकार की जाती है। इस उपचार-जन्य अर्थप्रत्यायन की ओर चिर प्राचीन म भी हमारे विचारकों का ध्यान गया था और किसी न किसी रूप मे आचार्यों ने इसकी सत्ता स्वीकार की थी। उस औपचारिक प्रयोग को साहित्य शास्त्र मे जो आश्रय दिया गया। इस प्रकार इसमे शब्द का मुख्यार्थ के स्थान पर किसी अन्य अर्थ म प्रयोग किया जाता है। इस लक्षणा वृत्ति कहते हैं। इसकी प्रक्रिया यह होती है कि पहले शब्द का प्रयोग किया जाता है और श्रोता उसके मुख्यार्थ को ही समझ लेता है। किन्तु जब ज्ञात होता है कि वक्ता का तात्पर्य उस अर्थ मे नही है तब वह उस शब्द से ही सम्बन्ध रखने वाले किसी ऐसे अर्थ को समझ लेता है जिसमें वक्ता का तात्पर्य होता है साथ ही वह उस भी एक प्रयोजन को समझ जाता है जिस के कारण वक्ता ने इस प्रकार अन्य शब्द का अन्य अर्थ मे प्रयोग किया। कभी-कभी प्रयोग परम्परा के कारण भी एक शब्द किसी अन्य अर्थ मे रूढ़ हो जाता है। इस सम्बन्ध विधा म पाठकों श्रोताओं और दर्शकों को इतना अभ्यास हो जाता है कि इस लाक्षणिक क्रिया मे भी उन्हें कुछ भी विलम्ब नही लगता और न अन्य शब्द बोलन ही लक्ष्यार्थ तक पहुंच जाते हैं।

यह लक्षणा दो प्रकार की होती है निरूढा, जहाँ परम्परागत प्रयोग के कारण शब्द का रूढि जैसा प्रयोग होता हो और प्रयोजनवती जहाँ किसी प्रयोजन से लक्षणा

(४) यथासख्य अलकार वहाँ पर होता है जहाँ समान सख्या वाले दो वर्गों का क्रमश अन्वय किया जाता है। व्याकरण मे भी नियम बनाया गया है—'यथासख्यमनुदेश समानाम्' अर्थात् समान सम्बन्ध वाली विधि क्रमश होती है। इसका अधिक स्पष्ट उदाहरण है—'एचोऽयवायाव' अर्थात् ए, ओ, ऐ औ, को अय्, अव्, आय् और आव् आदेश हो जाते हैं। 'ए' इत्यादि चार हैं और अय् इत्यादि भी चार ही हैं। अत इनका क्रमश अन्वय हो जाता है। यथासख्य का उक्त लक्षण यहाँ पर भी घटित हो जाता है। अत यह यथासख्य अलकार कहा जा सकता है।

इसी प्रकार दीपक, ससन्देह अपह्नुति पर्यायोक्त, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत प्रशसा, आक्षेप, रूपकातिशयोक्ति, अभेदातिशयोक्ति इत्यादि सभी अलकारो के विषय मे समझा जाना चाहिये। इनमे निर्दिष्ट अलकारो की सगति के कारण अलकारता आ जानी चाहिए। किन्तु इन्हे अलकार कहा नही जाता क्योकि इनमे अलकारता का प्रयोजक प्रधान तत्त्व अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति की व्यञ्जना सन्निहित नहीं है। भामह ने सभी अलकारो का बीज वक्रोक्ति को ही माना है। आशय यह है कि अलकार सम्प्रदाय मे व्यग्यार्थ परिकल्पना अनिवार्य हो जाती है। अन्यथा किसी काव्य में अलकारता स्वीकृत ही नही की जा सकती।

दूसरा सम्प्रदाय है रीति सम्प्रदाय। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य है वामन। इन्होंने अलकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नही माना है, पर उसको केवल शोभाधायक के रूप मे ही स्वीकार किया है। इनके मत मे रीति काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। रीतियो की व्यवस्था वर्ण्य विषय के आधार पर ही होती है। कोई विशिष्ट रीति वर्ण्य वस्तु को जितना स्पष्ट और प्रभावशाली बना सके वह उतनी ही महत्व पूर्ण मानी जाती है। जब तक पद सघटना के द्वारा रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति स्वीकार न की जाय तब तक रीति को काव्य की आत्मा मानना सगत हो ही नही सकता। इस प्रकार अलकार सम्प्रदाय के समान रीति सम्प्रदाय मे भी व्यग्यार्थ की सत्ता मानना अनिवार्य हो जाता है।

रस सम्प्रदाय नाट्य शास्त्र का महत्त्व पूर्ण सम्प्रदाय है और उसकी महत्ता काव्य शास्त्र मे भी स्वीकार की गई है। इस सिद्धान्त मे व्यञ्जना वृत्ति की सर्वाधिक अपरिहार्यता है। रस या स्थायी भाव अथवा सञ्चारी भाव कभी स्व शब्द वाच्य नही हो सकते। जहाँ कही स्वशब्दाभिधान होता भी है वहाँ भी आस्वादन तो विभावादि के माध्यम से ही होता है। आशय यह है कि विभावादि रस के व्यञ्जक होते हैं और रस व्यग्य। इस प्रकार यदि सभी काव्य तत्त्वो को एक मे मिलाने की चेष्टा की जाय तो व्यञ्जना ही वह तत्त्व अधिगत होगा जो सभी सम्प्रदायो को आत्मसात् करने की क्षमता रखता है। ध्वनि सम्प्रदाय की पृष्ठ भूमि का यही सक्षिप्त परिचय है।

भी सम्बार करे इसी प्रकार के प्रधानीभूत व्यंग्यार्थ का ध्वनि कहते हैं। यही ध्वनि और व्यञ्जना म अन्तर है। इस प्रकार की ध्वनि ही काव्य की आत्मा होने की अधिकारिणी है। संक्षेप म कहा जा सकता है कि रस ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

ध्वनि के विभिन्न रूप तथा उसके भेदोपभेद

आचार्यों ने मुख्य रूप से ध्वनि के दो भेद किये हैं—लक्षणामूला ध्वनि और अभिधामूला ध्वनि। लक्षणामूलाध्वनि वहाँ पर होती है जहाँ वाच्यार्थ की प्रतीति लक्षणा क बल पर हुआ करती है। जैसा कि बतलाया जा चुका है कि बाधित अर्थ में शब्द प्रयोग किसी न किसी प्रयोजन से अवश्य किया जाता है। उस प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिये जिस वृत्ति का सहारा लेना पड़ता है वह व्यञ्जना वृत्ति ही है। यहाँ इस प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे लक्षणामूलाध्वनि कहा जाता है। इस ध्वनि के आचार्यों ने दो भेद किये हैं अविवक्षित वाच्य अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। जैसे होमति सुख करि कामना तुमहिं मिलन की लाग। यहाँ पर होम के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो गया है। दूसरा भेद *विवक्षितान्यपर* वाच्य कहा जाता है जहाँ लक्ष्यार्थ के साथ वाच्यार्थ का भी सहयोग रहता है। जैसे— 'बड़ बोली बलि होत कत बड़े दृगनु के जोर' यहाँ पर बड़े नेत्रों का अर्थ समस्त शरीर का सौन्दर्य है जिसमें नेत्र भी सम्मिलित ही हैं। लक्षणामूला ध्वनि के ये दोनों भेद शब्दगत भी हो सकते हैं और वाक्यगत भी। इस प्रकार लक्षणामूला ध्वनि के चार भेद होते हैं।

ध्वनि का दूसरा भेद है अभिधामूलक ध्वनि। इसमें अभिधेयार्थ से ही ध्वनि निकल आती है। लक्षणा इत्यादि के लिये आवश्यक बाध प्रतिसन्धान इत्यादि की इसमे आवश्यकता नहीं पड़ती। यह दो प्रकार की होती है—असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का धर्म है रसध्वनि। इस रसध्वनि को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य इसलिये कहते हैं कि रसव्यञ्जना म एक क्रम होता है—पहले वाक्य का प्रयोग होता है, उससे एक अर्थ (वाच्यार्थ) की प्रतीति होती है। फिर विभावादि का अवगमन होता है और रस की प्रतीति होती है। किन्तु सारी क्रिया इतनी क्षिप्रता के साथ होती है यह विद्यमान भी क्रम लक्षित नहीं होता। दूसरी बात यह है कि रस के व्यञ्जक वर्ण भी होते हैं। कोमल वर्ण शृंगारादि रसो के व्यञ्जक होते हैं और कठोर वर्ण रौद्रादि रसों के। जब सबसे पहले किसी रसानुकूल रचना को सुना जाता है तब अर्थ को बिना समझे ही कुछ न कुछ रस प्रकट होने लगता है। फिर क्रमानुसार अन्त मे उसकी पूर्ति होती है। इस प्रकार प्रथम स्तर से ही रस का सञ्चार होता है और उसकी परिसमाप्ति अन्तिम कोटि मे होती है। अतएव रस व्यञ्जना में क्रम का लक्षित न किया जा सकना स्वाभाविक ही है। इस रसध्वनि के अन्तर्गत रस का समस्त विस्तार आ जाता है सभी प्रकार के रस सभी प्रकार के रसाभास भावध्वनि भावाभासध्वनि भाव की विभिन्न अवस्थायें जैसे भावोदय

का प्रयोग किया जावे। प्रयोजनवती लक्षणा दो प्रकार की होती है। गौणी—जहाँ गुणों के सादृश्य के कारण बाधित शब्द का प्रयोग हो और शुद्धा – जहाँ किसी अन्य सम्बन्ध से शब्द का अर्थान्तर मे प्रयोग हो। शुद्धा लक्षणा दो प्रकार की होती है—उपादान लक्षणा – जिसमें लक्ष्यार्थ के साथ शक्यार्थ का भी कुछ सम्बन्ध हो और लक्षण लक्षणा जिसमे शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता हो। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के तीन भेद हो गये—शुद्धा उपादान लक्षणा, शुद्धा लक्षण लक्षणा और गौणी लक्षणा। इन तीनो मे से प्रत्येक के दो भेद होते हैं—सारोपा तथा साध्यवसाना। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के मुख्य रूप से ये ही ६ भेद होते है। इनके लक्षणो और उदाहरणो का परिचय अन्यत्र प्राप्त करना चाहिये।

लक्षणा के अतिरिक्त एक तीसरी वृत्ति और होती है जिसे व्यञ्जना कहा कहा जाता है। इसमे लक्षणा के समान न तो तात्पर्यानुपपत्ति अपेक्षित होती है न शक्यार्थ बाध और न शक्यार्थ सम्बन्ध। जो कुछ कहा जाता है उसका अर्थ पूरा हो जाता है और श्रोता उसे ठीक अर्थ मे ग्रहण भी कर लेता है। किन्तु उस कथन के पीछे वक्ता की एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति छिपी रहती है उसका भी प्रतिभास जानकार को हो जाता है। उसमे प्रकरण इत्यादि की कारणता भी सन्निहित रहती है। यह अर्थ अभिधा-जन्य अर्थ से भी निकल सकता है, लक्षणा-जन्य अर्थ से भी और एक व्यंग्यार्थ से भी दूसरा व्यंग्यार्थ निकल सकता है। इसके अतिरिक्त एक वाच्यार्थ से कई व्यंग्यार्थ भी निकल सकते हैं और अनेक श्रोताओ की दृष्टि मे उसके भिन्न-भिन्न अर्थ भी हो सकते हैं। कही वाच्यार्थ विधि परक होता है तो व्यंग्यार्थ निषेध परक और कहीं वाच्यार्थ निषेध परक तो व्यंग्यार्थ विधि परक, कही वाच्यार्थ अनुभय परक होता है तो व्यंग्यार्थ विधि का निषेध परक, इसके प्रतिकूल कही वाच्यार्थ विधि या निषेध परक होता है तो व्यंग्यार्थ अनुभय परक। इस प्रकार व्यंग्यार्थ के अनेक रूप हो सकते हैं।

व्यंग्यार्थ और ध्वनि

यह व्यंग्यार्थ प्राय समस्त वाङ्मय मे व्याप्त रहता है और कहा जाता है कि एक भी ऐसा वाक्य नही होता जिसमे कोई न कोई व्यंग्यार्थ विद्यमान न हो। आचार्यों ने इसकी उपमा ब्रह्म मे दी है। जिस प्रकार ससार के प्रत्येक पदार्थ मे ब्रह्म व्यापक होता है उसी प्रकार ससार के प्रत्येक वाक्यार्थ मे एक व्यंग्यार्थ अवश्य सन्निहित रहता है। किन्तु सभी व्यंग्यार्थ ध्वनि का रूप धारण नही कर सकते। जिस प्रकार चेतना के व्याप्त होने पर भी सर्वत्र उसकी प्रतीति नही होती। चेतना की प्रतीति के लिये विशेष प्रकार के अवयव सस्थान की आवश्यकता है उसी प्रकार व्यञ्जना के ध्वनि रूपता धारण करने मे विशेष प्रकार के काव्यशरीर की आवश्यकता होती है। जब शब्द, अर्थ गुण, अलकार, रीति वृत्ति इत्यादि काव्यतत्त्वो मे नियन्त्रित होकर व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो और वह व्यंग्यार्थ चमत्कार जनकता के साथ रस का

यहाँ पर व्यंग्यार्थ है—'तुम विष्णु हो' यह रूपक अलंकार है 'समुद्र तुम्हें विष्णु समझता है' यह भ्रान्तिमदलंकार है तुम विष्णु से अच्छे हो क्योंकि विष्णु का शत्रु रावण लंका में मौजूद था जिसके लिये उन्हें समुद्र पर पुल बाँधना पड़ा और विष्णु के पास लक्ष्मी नहीं थी जिसके लिये उन्ह समुद्र मथना पड़ा किन्तु तुम्हारा न कोई शत्रु है और न तुम्हारे पास लक्ष्मी का अभाव है। यह व्यतिरेक अलंकार ध्वनि है। इस प्रकार ध्वनि के तीन भेद किये जा सकते हैं—रसध्वनि वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य दो प्रकार का होता है—शब्द शक्तिमूलक और अर्थशक्ति मूलक। शब्द शक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यंग्य वहाँ पर होता है जहाँ द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग किया जाय और एक अर्थ के पूरा हो जाने पर शब्दशक्ति के प्रभाव से एक दूसरा और अर्थ निकल आवे तथा वह अर्थ चमत्कारपूर्ण हो। जैसे—

लग्यो सुमनु ह्वै है सफलु आतपरोसु निवारि।
बारी-बारी आपनी सींचि सुहृदयता वारि॥

यहाँ पर मालीपरक अर्थ के पूर्ण हो जाने पर 'सुमनु' इत्यादि शब्दों की द्व्यर्थकता के बल पर नायिकापरक जो नया अर्थ निकलता है वह शब्द शक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का उदाहरण है। यह शब्दशक्तिमूलक ध्वनि दो प्रकार की होती है—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि।

दूसरे प्रकार की संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि अर्थशक्तिमूलक होती है। इसके भेदोपभेद एक तो वाच्यार्थ की दृष्टि से किये जाते हैं दूसरे व्यंग्यार्थ की दृष्टि से। वाच्यार्थ मूलरूप से दो प्रकार का होता है—वस्तुरूप और अलंकार रूप। इनमें प्रत्येक के तीन प्रकार होते हैं—सम्भव कविकल्पित और पात्रकल्पित। इस प्रकार वाच्य-वस्तु के ६ प्रकार हुये। व्यंग्यार्थ दो प्रकार का होता है—वस्तुरूप और अलंकाररूप। इस प्रकार वाच्यवस्तु के ६ प्रकारों से प्रत्येक से अभिव्यक्त होने वाले व्यंग्यार्थ के दो भेदों को लेकर अर्थशक्तिमूलकध्वनि के १२ भेद हो जाते हैं—(१) सम्भववस्तु से वस्तुध्वनि (२) सम्भववस्तु से अलंकारध्वनि (३) कविकल्पित वस्तु से वस्तु ध्वनि (४) कविकल्पित वस्तु से अलंकारध्वनि (५) पात्र कल्पितवस्तु से वस्तु ध्वनि (६) पात्रकल्पित वस्तु से अलंकारध्वनि (७) सम्भवअलंकार से वस्तुध्वनि (८ सम्भव अलंकार से अलंकारध्वनि (९) कवि कल्पित अलंकार से वस्तुध्वनि (१) कवि कल्पित अलंकार से अलंकारध्वनि (११) पात्रकल्पित अलंकार से वस्तुध्वनि और (१२) पात्र कल्पित अलंकार से अलंकारध्वनि। इन सबके उदाहरण लक्षणग्रन्थों में और विशेषकर रीतिकाल के काव्यों में मिल जाते हैं। पण्डितराज ने पात्र कल्पित वस्तु और अलंकार से वस्तु और अलंकार के चार भेद स्वीकार नहीं किये हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में कल्पना तो कल्पना ही है चाहे वह किसी पात्र की हो

भावसन्धि, भावशान्ति, भावशवलता इत्यादि रस के क्षेत्र मे आने वाले सभी तत्त्व असल्लक्ष्यक्रमव्यग्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसके व्यजको का भी पर्याप्त विस्तार है। इसकी व्यजना वर्ण, पद, वाक्य, पदाश, प्रकरण, प्रवन्ध इत्यादि भाषा के सभी अगों से हो जाती है। शब्दविभक्ति, क्रियाविभक्ति, विशेषण, सर्वनाम, वचन, लिंग कारकशक्ति इत्यादि सभी से असल्लक्ष्यक्रमव्यग्य की व्यजना की जा सकती है। इसके अतिरिक्त वर्ण सघटना, गुण, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, अलकार इन सभी की रस व्यजकता काव्यशास्त्र मे स्वीकार की गई है। यह रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है और कवि को इसी ध्वनि की दृष्टि से अलकारादि काव्यागो की योजना करनी पडती है। इतर-ध्वनियाँ भी जब तक रस पर्यवसायिनी नही होती तव तक उन्हे काव्यत्व की स्वीकृति प्राप्त ही नही हो सकती। इस प्रकार ध्वनिशास्त्र के आचार्यों ने रस को पूर्ण स्वीकृति ही प्रदान नही की अपितु रसध्वनि को ही एकमात्र उपास्य मानकर रस सम्प्रदाय से भी एक प्रकार से अपना अद्वैत ही स्थापित कर लिया।

दूसरे प्रकार की अभिवाशक्तिमूलक ध्वनि है सल्लक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि। असल्लक्ष्य और सल्लक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनियो मे एक बहुत बडा अन्तर यह है कि असल्लक्ष्यक्रमव्यग्य मे वाच्यार्थ ही रसव्यजक होता है। वाच्यार्थ विभावादि रूप होता है और उसमें रसनिष्पादन की क्षमता विद्यमान होती है। इसके प्रतिकूल सल्लक्ष्यक्रम-व्यग्य मे रस का प्रवर्तन सीधा वाच्यार्थ से नही होता अपितु वाच्यार्थ से एक नया अर्थ प्रतीत होता है। वह अर्थ या तो वाच्यार्थ से सर्वथा विपरीत होता है या फिर इतना भिन्न अवश्य होता है कि पृथक् रूप मे लक्षित किया जा सके। इस प्रकार जो वाच्यव्यतिरिक्त अर्थ प्रतीतिगोचर होता है उसमे स्पष्ट रूप मे क्रम की प्रतीति हो जाती है कि पहले वाच्यार्थ की प्रतीति हुई फिर व्यग्यार्थ की। यदि वह व्यग्यार्थ रसप्रवण तथा चमत्काराधायक होता है तो उसे वस्तु व्यजना कहते हैं। उदाहरण के लिये कोई नायिका अपनी मा से कहे कि 'मा अब दिन थोडा ही रह गया है, मुझे वतला दो कि मुझे बाजार से क्या-क्या लाना है।' तो इस वाक्य मे कोई अनुपपत्ति नही होगी। तटस्थ श्रोता यही समझेगा कि यह लडकी बाजार से सौदा लाने का काम जल्दी ही पूरा करना चाहती है। किन्तु जानकार सहेली रहस्य को समझ जायेगी कि इसके प्रेमी के मिलने का समय निकट आ गया है और यह बाजार का बहाना करके अपने प्रेमी से मिलने जाना चाहती है। यह दूसरा अर्थ व्यग्यार्थ है जो कि रस प्रवर्तक है, इसलिये यह वस्तुध्वनि है। यही वस्तुव्यजना कभी-कभी ऐसे रूप मे सामने आती है कि यदि इसे वाच्य वना दिया जाय तो यह अलकार वन जाय। उदाहरण के लिये कोई चारण किसी राजा से कह रहा है कि 'हे राजन्! जव तुम समुद्र के निकट आते हो तो यह समुद्र कापने लगता है। ज्ञात होता है कि तुम इस पर सेतु बाधने वाले और इसे मथने वाले हो इसलिये यह तुमसे डरता है। किन्तु तुम्हारा तो द्वीपान्तर मे कोई भी व्यक्ति अवशवद नही है और तुम्हारा तो लक्ष्मी सेवन ही कर रही है।'

में ही होता है। किन्तु मध्यवर्ती स्थिति को लेकर इसका नामकरण कर दिया गया है। ध्वनिकार ने काव्य की उत्तम मध्यम इत्यादि श्रेणियाँ निर्धारित नहीं की थी। आप चलकर मम्मट ने ध्वनि को उत्तम काव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य को मध्यम काव्य और चित्र को अधम काव्य कहा। इसमें संशोधन पण्डितराज ने किया। इन्होंने तीन के स्थान पर चार भेद किया बताये (१) उत्तमोत्तम काव्य-जहाँ पर शब्द और अर्थ अपने को गुणी भूत बना कर किसी चमत्कार पूर्ण अर्थान्तर की अभिव्यञ्जना करते हैं वह प्रथम प्रकार का काव्य उत्तमोत्तम काव्य होता है। इसी प्रकार जिस वाच्यार्थ की अपेक्षा एक व्यङ्ग्यार्थ प्रधान हो और और दूसरा व्यङ्ग्यार्थ उसकी अपेक्षा गौण हो रहा उसे भी प्रथम कोटि का ही काव्य समझना चाहिये और वह भी ध्वनि काव्य ही होता है (२) जहा व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान होते हुए भी चमत्कार कारक हो तो वह द्वितीय प्रकार का काव्य उत्तम काव्य होता है। (३ जहा व्यङ्ग्यार्थ चमत्कारकारक न हो और वाच्यार्थ चमत्कार कारक हो उसे मध्यम काव्य कहते हैं। (४) जिसमें अर्थ चमत्कृति के साथ शब्द चमत्कृति प्रधान हो वह चतुर्थ प्रकार का अधम काव्य होता है। इसमें सन्देह नहीं कि पण्डितराज के विभाजन में अधिक गहराई तथा परिमार्जित दृष्टिकोण का परिचय दिया गया है।

हिन्दी ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त की दृष्टि से हिन्दी लक्षण ग्रन्थों की परीक्षा की जा सकती है और की भी गई है जिससे एक बात स्पष्टता प्रमाणित होती है कि चाहे सिद्धान्त रूप में ध्वनि का अधिक विवेचन न हुआ हो किन्तु भारतीय काव्य परम्परा के उत्तराधिकारी होने के नाते हिन्दी साहित्य पर ध्वनि सिद्धान्त का पर्याप्त प्रभाव रहा है। सैद्धान्तिक विवेचन की दृष्टि से देखने पर भी ज्ञात होता है कि अनेक कवियों ने ध्वनि सिद्धान्त को स्वीकार किया है। तुलसी ने मानस रूपक में 'धुनि अवरेब कवित गुन जाती' कह कर इस सिद्धान्त को मान्यता दी है। सेनापति ने अपने काव्य में 'जामें धुनि है' कहा ही है। कुलपति ने रस रहस्य में ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है और भिखारी दास ने यद्यपि आत्मा तो रस को ही माना है किन्तु उनकी दृष्टि रस ध्वनि की ओर थी यह उन्हीं के 'काव्य निर्णय' से स्पष्ट हो जाता है। प्रताप साहि ने 'व्यङ्ग्यार्थ कौमुदी' लिख कर इस सिद्धान्त को पूर्ण प्रतिष्ठा प्रदान की है। किन्तु यह सब होते हुये भी हिन्दी रीतिकाल में अलंकार और रस की ही प्रधानता रही। अधिकांश ग्रन्थ इन्हीं दो सिद्धान्तों पर लिखे गये। ध्वनि का उपादान तो चलते रूप में ही हुआ और कम से कम दो प्रतिष्ठित आचार्यों ने तो ध्वनि का विरोध भी किया है वे हैं केशव और देव। आधुनिक काल में प्राचीन शैली पर जो ग्रन्थ लिखे गये उनमें चलते हुये रूप में ही ध्वनि सिद्धान्त का यत्र तत्र उल्लेख पाया जाता है। इस काल में भी अधिक बल रस पर ही दिया गया है। ध्वनि सिद्धान्त पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डालने वालने प्रमुख तीन व्यक्ति हैं—रामदहिन मिश्र आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

चाहे कवि की। किन्तु पात्र की कल्पना और कवि की कल्पना मे चमत्कार का अन्तर अवश्य होता है। स्पष्ट ही है कि राम के विषय मे भरत के मुख से कोई बात कहलाने मे कुछ और ही बात होगी और तुलसी जो कुछ कहेगे उस कल्पना का प्रभाव कुछ और ही पडेगा। अतएव उक्त बारह भेद स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। कुछ ध्वनि भेद ऐसे होते है जिनमे शब्द और अर्थ का सम्मिलित सहयोग अपेक्षित होता है। इसे शब्दार्थोभयशक्तिमूलक कहते हैं। मल्लक्ष्यक्रमव्यग्य के प्रकार शब्द से भी व्यक्त होते है और अर्थ से भी। अर्थशक्तिमूलक भेद प्रबन्धव्यग्य भी होते हैं। इन ध्वनि भेदो के परस्पर साकर्य से यह भेद सख्या सहस्रावधि हो जाती है।

गुणीभूत व्यग्य

ऊपर ध्वनि भेदों का विवेचन किया गया। काव्य का दूसरा प्रकार होता है गुणीभूत व्यग्य। इसमे व्यग्यार्थ गौण होता है। इस गौणता के दो कारण हो सकते हैं या तो व्यग्यार्थ मे चमत्कार का पर्यवसान न होने से वह असुन्दर हो या परमुखापेक्षी हो। काव्यप्रकाशकार ने गुणीभूत व्यग्य के ८ प्रकार लिखे हैं—(१) अगूढ अर्थात् जो व्यग्यार्थ बिल्कुल खुला हुआ हो और वाच्यार्थ के समान प्रतीतिगोचर हो जावे, (२) अपराग अर्थात् जो व्यग्यार्थ किसी अन्य तत्त्व का अग हो; (३) जो वाच्य सिद्धि मे सहायक हो अर्थात् उसका प्रयोजन केवल वाच्यार्थ की सिद्धि हो। (४) अस्फुट अर्थात् जिसका समझना श्रमसाध्य हो, (५) सन्दिग्ध प्राधान्य अर्थात् जिसमें निश्चयपूर्वक यह न कहा जा सके कि वाच्यार्थ की प्रधानता है या व्यग्यार्थ की, (६) तुल्यप्राधान्य अर्थात् जिसमे व्यग्यार्थ और वाच्यार्थ की प्रधानता समान कोटि की हो, (७) जिसका आक्षेप काकु अर्थात् कण्ठरव से ही कर लिया जावे और (८) जिसमे सुन्दरता न हो। ये ८ प्रकार गुणीभूत व्यग्य के बतलाये गये हैं। ध्वनिकार के अनुसार इनकी भी परिणति अन्तत ध्वनि मे ही होती है, अत इन्हें भी ध्वनिकाव्य से बाह्य नही कर सकते।

चित्र काव्य

ध्वनिकार के मत मे तीसरे प्रकार का काव्य चित्र काव्य होता है इसमे चित्रण की प्रधानता होती है। जिस प्रकार सफल चित्र बन जाने पर वह जीवित-सा दिखलाई देता है उसी प्रकार सफल चित्रण में भी काव्य जीवन रस का प्रतिभास होने लगता है। इसी लिये इसे काव्य के अन्तर्गत माना जाता है। वर्तमान साहित्य मे चरित्र चित्रण, प्रकृति चित्रण इत्यादि समस्त तत्त्व इसी चित्र-काव्य की श्रेणी मे आते है। यह चित्र काव्य दो प्रकार का होता है शब्द चित्र और अर्थ चित्र। शब्द चित्र में शब्द योजना वैचित्र्य पर विचार किया जाता है और अर्थ चित्र मे चित्रण की विशेषता पर।

काव्य के उत्तम मध्यम इत्य दि प्रकार

ध्वनिकार ने काव्य के उक्त तीन भेद ही किये थे। पर्यवसान तो सबका ध्वनि

की विशेषता के रूप में स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता। अब दो सिद्धान्तों को ऐसा एक मे मिला दिया गया है कि विभाजक रेखा खींचना ही कठिन हो जाता है। ध्वनि वादियों को कोई भी व्यक्ति निस्संकोच रस वादी कह सकता है। किन्तु फिर भी कुछ काव्य ऐसा अवश्य है, चाहे वह निम्न कोटिका ही क्यों न हो जो रस क्षेत्र में नहीं आता। सूक्ति काव्य रस प्रधान नहीं होता भले ही रस से उसका आवश्यक सम्बन्ध स्थापित कर लिया जावे। इसके प्रतिकूल रस के विषय में यह अटल सत्य है कि रस कभी भी वाच्य नहीं हो सकता। इस प्रकार ध्वनि का क्षेत्र व्यापक है और रस व्याप्य। इसके अतिरिक्त ध्वनि शब्द के विभिन्न अर्थ काव्य के समस्त तत्वों को को आत्मसात् कर लेते है जो बात रस सिद्धान्त में नहीं। 'को बड़ छोट कहत अपराधू' को मानते हुये भी ध्वनि सिद्धान्त को अधिक महत्व पूर्ण स्थान न देना सम्भवत' सम्भव नहीं है।

और डा० नगेन्द्र। मिश्र जी ने ध्वनि सिद्धान्तो का पुरानी शैली मे ही परिचय दिया है। शुक्ल जी मौलिक चिन्तक थे और उनकी तत्त्वान्वेषिणी दृष्टि ने काव्य के प्राय सभी सिद्धान्तो को उनके उचित रूप मे देखने की चेष्टा की थी। आचार्य शुक्ल ने वस्तु ध्वनि और अलकार ध्वनि को रस प्रवण होने पर ही काव्यात्मा के रूपमे स्वीकार किया है। वे भाव ध्वनि के पक्षपाती थे। उनका यह विचार स्वय ध्वनि प्रवर्तको का ही विचार है। डा० नगेन्द्र इस युग के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के सबसे बडे अन्वाख्याता हैं। उन्होने प्राचीन विचार परम्परा को नई दृष्टि से देख कर प्राच्य तथा पाश्चात्य अनेक काव्य सिद्धान्तो का आकलन किया है और दोनो की तुलनात्मक समीक्षा भी प्रस्तुत की है। ध्वनि को उन्होने यथेष्ट महत्व दिया है। किन्तु फिर भी उन्हे ध्वनि वादी नहीं कहा जा सकता। यदि उन्हे सम्प्रदाय के किसी कटघरे मे बैठाना अनिवार्य ही हो तो कोई भी पाठक निस्सङ्कोच भाव से उन्हे रस वादी कह देगा। किन्तु ध्वनि सम्प्रदाय के भी प्राय सभी आचार्य रस वादी कहे जा सकते हैं। इस प्रकार ध्वनि वादिता और रस वादिता मे परस्पर विरोध नही है। ध्वनि सिद्धान्त पर कई शोध प्रबन्ध भी लिखे जा चुके हैं और अनेक विश्वविद्यालयो मे इस दिशा मे पर्याप्त कार्य हो रहा है जिससे इस सम्प्रदाय के अधिक परिमार्जन की सम्भावना है।

मूल्याङ्कन

ध्वनि सिद्धान्त एक सार्वजनीन सिद्धान्त है और काव्य के मूल तत्त्व को अधिक सफलता पूर्वक आत्मसात् किये है इसमे सन्देह नही। इस सिद्धान्त का सार यही है कि कविता का लक्ष्य अर्थबोध मात्र नही है किन्तु परिशीलक मे सवेदना जगाना और उसके हृदय का विस्तार कर उसे विश्व हृदय मे मिला देना भी है। अत कवि शब्दार्थ मात्र के उपादान से कवि पद प्राप्त नही कर सकता। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानो ने ध्वनि रूप मे किसी तत्त्व का निरूपण नही किया है तथापि इस सिद्धान्त की झलक उनके विवेचनो मे भी देखी जा सकती है। अरस्तू के अनुसार कवि लोक सिद्ध वस्तु मात्र का उपादान कर कल्पना द्वारा उसका पुनर्निर्माण करता है जिसको पाठक उसी रूप मे ग्रहण करता है। यह कवि मानस बिम्ब का ग्रहण ध्वनि सिद्धान्त से व्यतिरिक्त नही है। इसी प्रकार दूसरे पाश्चात्य परिशीलको की दृष्टि मे भी सिद्ध किया जा सकता है कि वे अर्थ ग्रहण के अतिरिक्त काव्य वस्तु को भिन्न ही मानते थे। आशय यह है कि ध्वनि सिद्धान्त काव्य का मूलतत्त्व बनने की क्षमता रखता है।

यहाँ पर ध्वनि सिद्धान्त के स्थान निर्धारण का प्रश्न सामने आता है। जहा तक अलकार रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्तो का प्रश्न है ये निस्सन्देह रूप मे काव्य के सौन्दर्य के एक अग की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और पूर्ण नही कहे जा सकते। ध्वनि-कार के इस कथन से सम्भवत किसी को विरोध न होगा कि ये आचार्य काव्यात्मा के अनुसन्धान के मार्ग मे ही भटक रहे हैं, अन्तिम लक्ष्य तक नही पहुचे। औचित्य सिद्धान्त, एक व्यापक सिद्धान्त बन सकता है, किन्तु यह इतना सामान्य है कि उसे काव्य

जिस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त को स्वीकृति प्रदान कराने के लिए ध्वनिकार को एक पूरी पुस्तक लिखनी पड़ी उसी प्रकार वक्रोक्ति के लिये यदि एक पुस्तक नहीं तो कम से कम एक अध्याय तो लिखा ही गया होता। इसका स्पष्ट आशय यही है कि भामह के बहुत पहले से ही यह सिद्धान्त काव्य जगत् में प्रतिष्ठित हो चुका था और इसकी सर्वजन संवेद्यता ने ही भामह को इसके परिचय विस्तार में जाने से रोक दिया।

सम्प्रदाय प्रवृत्ति से पूर्व इसकी स्थिति और सिद्धान्त विकास पर यदि विश्लेषणात्मक विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि इस तत्त्व के विषय में कुन्तक के पहले पाँच प्रकार के विचार अधिगत होते हैं—(१) भामह की सर्वालंकार रूपता (२) दण्डी की अतिशयोक्ति व्यतिरिक्तता (३) वामन की सादृश्य लक्षणारूपता (४) रुद्रट की शब्दालंकार मात्रता और (५) आनन्दवर्धन की गुणीभूत व्यंग्यात्मकता।

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम भामह हमारे सामने आते हैं। इन्होंने काव्य शास्त्र के सम्बन्ध में वक्रोक्ति को मानदण्ड के रूप में मान लिया है। यदि किसी विशिष्ट तत्त्व को वक्रोक्ति का प्रसाद प्राप्त है तो वह काव्य शास्त्र सम्बद्ध होने का अधिकारी है अन्यथा नहीं। उनकी निम्न लिखित उपपत्तियां ध्यातव्य हैं:—

१—अभिधेय (अर्थ) और अभिधान (शब्द की वक्रोक्ति) ही वाणी का अलंकार मानी जाती है। (१६)

(२) 'शब्द और अर्थ की वक्रता ही अलंकारत्व सम्पादन में कारण होती है। (५६६)

(३) 'जो वचन किसी निमित्त से लोकातिक्रान्त गोचर हो उसे अलंकार के रूप में अतिशयोक्ति माना जाता है। (२८१) यह सभी अतिशयोक्ति वक्रोक्ति का ही रूप है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि परवर्ती आचार्यों ने भामह के इस कथन की व्याख्या अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को एक मान कर की है। काव्य प्रकाशकार ने कहा है कि अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति भामह के मत से दोनों एक हैं। लोचनकार ने वक्रता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेण अवस्थानम् अर्थात् लोकोत्तर रूप में अवस्थित होना ही शब्द और अर्थ की वक्रता कही जाती है।

४—हेतु सूक्ष्म और लेश अलंकार नहीं माने जाते क्योंकि इनमें वक्रोक्ति नहीं होती।

५ भामह वैदर्भी इत्यादि रीतियों को भी यदि उनमें वक्रोक्ति न हो तो मानने के लिए उद्यत नहीं।

आशय यह है कि भामह काव्य के समस्त तत्त्वों में वक्रोक्ति को व्यापक मानते हैं और जिस तत्त्व में वक्रोक्ति न हो उसे काव्य सम्बद्ध भी मानने को तैयार नहीं हैं।

दण्डी ने वक्रोक्ति का क्षेत्र कुछ सीमित करने की चेष्टा की। उन्होंने वाङ्मय के दो भेद किये—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति—

: ११ :

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

१ उपक्रम ।
२ पूर्ववृत्त ।
३ कुन्तक द्वारा सम्प्रदाय रूपता प्रदान ।
४ वक्रोक्ति के भेदोपभेद ।
५ वर्ण विन्यास वक्रता ।
६ पद पूर्वार्ध वक्रता ।
७ पद परार्ध वक्रता ।
८. वाक्य वक्रता ।
९ प्रकरण वक्रता ।
१०. प्रबन्ध वक्रता ।
११ हिन्दी में वक्रोक्ति सिद्धान्त ।
१२ वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जनावाद ।
१३ उपसंहार ।

उपक्रम

काव्यशास्त्र के अरुणोदय काल मे ही वक्रोक्ति सिद्धान्त कवियो और शास्त्र-कारों दोनो मे समान रूप मे प्रतिष्ठित रहा है । राघवपाण्डवीय मे वक्रोक्ति को प्रतिष्ठा का आधार मानकर कतिपय कवियो को ही इसमे निष्णात बतलाया जाना, कवि-वर अमरुक का वक्रोक्ति के माध्यम से भावसूचन विदग्ध ललनाओ का ही प्रौढ विलास मानना और बाण भट्ट द्वारा वक्रोक्ति निपुण परिचारक वर्ग से ही राज समाज की शोभा को स्वीकार किया जाना कुछ ऐसी ही कहानी कहते हैं ।

पूर्ववृत्त

काव्य शास्त्र के क्षेत्र मे उस समय वक्रोक्ति-सम्प्रदाय को वही महत्व प्राप्त था जो नाट्यशास्त्र के क्षेत्र मे रस को । इस सिद्धान्त को सम्प्रदाय रूपता तो बहुत बाद मे कुन्तक ने प्रदान की । किन्तु इसका महत्व प्रारम्भ से ही था । यह बात इसी से सिद्ध होती है कि काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने अलकारो को काव्य का जीवन और वक्रोक्ति को अलकारो का जीवन माना है । इस महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने वक्रोक्ति विवेचन की आवश्यकता नही समझी । यदि यह शब्द अपनी पूर्ण पारिभाषिकता के साथ काव्य परिशीलको मे प्रतिष्ठित न रहा होता तो

बहुत निकट पहुंच गए हैं इसमें सन्देह नहीं। फिर भी इतना तो मानना पड़ेगा कि वामन का दृष्टिकोण वक्रोक्ति के विषय में दण्डी की अपेक्षा भी अधिक सीमित है और विशिष्ट अलंकार के रूप से स्वीकृति प्रदान किये जाने से तथा सादृश्येतर निबन्धन लक्षणा को भी वक्रोक्ति क्षेत्र से बाहर कर दिये जाने कारण वक्रोक्ति का क्षेत्र वामन में और भी संकुचित हो गया है।

वक्रोक्ति का दुर्भाग्य यहीं पर समाप्त नहीं हुआ। रुद्रट के हाथों में पड़कर इसकी अर्थालंकारता भी समाप्त हो गई और शब्दालंकार के एक विशिष्ट भेद के रूप में ही जीवित रहने के लिये इसे बाध्य होना पड़ा। रुद्रट ने पहली बुनियाद वाले एक विशिष्ट प्रकार के अलंकार को ही वक्रोक्ति के रूप में मान्यता प्रदान की। या तो श्लेष के द्वारा मनोरंजन के उद्देश्य से श्रोता समझे हुए अर्थ का भी अर्थान्तर कर उत्तर देता है या काकु से अपनी असहमति प्रकट करता है वहां वक्रोक्ति होती है यह बात रुद्रट ने उद्घोष के साथ कही और उसका इतना प्रभाव पड़ा कि अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने उनकी बतलाई हुई वक्रोक्ति को ही मान्यता देना आवश्यक समझा।

काव्य शास्त्र के विषय में आनन्दवर्धन की व्यापक दृष्टि वक्रोक्ति के दोनों रूपों को देखने में समर्थ हो सकी। यदि हम 'लोचन' के माध्यम से ध्वन्यालोक का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि इन आचार्यों ने वक्रोक्ति को उसके उचित स्थान पर विन्यस्त करने की चेष्टा की। एक तो अभिनवगुप्त ने मनोरथ की कारिका में आये हुए 'वक्रोक्तिशून्य च यत्' की व्याख्या करते हुए लिखा कि—वक्रोक्तिशून्यशब्देन सर्वालंकाराभाव उक्तः। तृतीय उद्योत में उन्होंने एक-एक अलंकार को लेकर यह दिखलाने की चेष्टा की कि लक्षणों की पूर्ति में भी कोई भी अलंकार तब तक अलंकार कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता जब तक उसमें अतिशयोक्ति की अभिव्यंजना न हो। यही अतिशयोक्ति वक्रोक्ति से अभिन्न है। इस प्रकार भामह की बतलाई हुई वक्रोक्ति को इन आचार्यों ने भी मान्यता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त इन आचार्यों में वक्रोक्ति की एक नई व्याख्या भी सामने आती है—इन आचार्यों को नाट्य शास्त्र और काव्य शास्त्र के एकीकरण का भी प्रशस्त कार्य सम्पादित करना था। इसके लिये भामह के अनुयायी विज्ञाम्यते का इन्होंने एक नया अर्थ लिया कि 'वक्रोक्ति ही किसी अर्थ तत्त्व को विभाव रूपता प्रदान करती है। आशय यह है कि नाट्य में रंगमंच पर जो काम अभिनय द्वारा सम्पन्न किया जाता है वही काम काव्य में वक्रोक्ति के द्वारा होता है। इसी मान्यता के आधार पर काव्य में भी रस परिकल्पना सम्भव हो सकी। इसके अतिरिक्त समास्य क्रम व्यंग्य के अवसर पर आनन्दवर्धन ने यह भी कहा कि जहाँ किसी अलंकार की व्यंजना हो रही हो किन्तु कोई ऐसा शब्द आ जाय जो उस अलंकार को वाच्य बना दे तो वहां अलंकार की ध्वनि नहीं होती अपितु वहां पर वक्रोक्ति इत्यादि वाच्यालंकार ही होता है। यह वक्रोक्ति का नया रूप है—भामह की यह वक्रोक्ति नहीं हो सकती क्योंकि इत्यादि शब्द के प्रयोग से यह तो सिद्ध ही होता है कि वक्रोक्ति से अन्य भी वाच्यालंकार हो सकते हैं। रुद्रट की भी यह वक्रोक्ति नहीं है क्योंकि इसे

द्विधा भिन्न स्वभावोक्ति वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।

दण्डी ने स्वभावोक्ति को अलकार माना । इस प्रकार जहा भामह अलकार मात्र में वक्रोक्ति को व्यापक तत्व के रूप मे स्वीकार करते थे वहा दण्डी ने अलकारों का स्वभावोक्ति मूलक एक वर्ग वक्रोक्ति की सीमा से बाहर कर दिया। कुछ लोगो का विचार है कि भामह भी स्वभावोक्ति को अलकार नही मानते क्योकि उन्होने 'कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि स्वभावोक्ति भी एक अलकार होता है' कह कर उसके प्रति अपनी अमान्यता उद्घोषित की है। किन्तु भामह की शैली ही ऐसी है कि वे जिस तत्त्व को स्वीकार नही करते उसके खण्डन के लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं और जिसको मानते हैं उसका लक्षण और उदाहरण लिखते हैं तथा कही-कही यह भी कहते चलते हैं कि 'कुछ लोग ऐसा मानते हैं।' जैसे बहुत से लोग रूपक इत्यादि अलकारो को स्वीकार करते हैं इत्यादि। आशय यह है कि भामह स्वभावोक्ति को भी अलकार के अन्तर्गत रखकर उसे वक्रोक्ति मे अन्तर्निविष्ट कर देते हैं, किन्तु दण्डी ने स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दोनो को पृथक् मानकर वक्रोक्ति के क्षेत्र को कुछ सीमित कर दिया है।

भामह और दण्डी के बाद उन्ही के मत का पल्लवन करने वाले दो आचार्य काव्य शास्त्र के क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए—भामह के मत का पल्लवन उद्भट ने 'भामह विवरण' में किया जो कि अब उपलब्ध नहीं है और दण्डी के मत का अनुसरण वामन ने अपने काव्यालकार सूत्र मे किया। 'भामह विवरण' के जो बिखरे हुए अश इतस्तत उद्धरणों मे प्राप्त होते हैं उनसे ज्ञात होता है कि उद्भट ने सम्भवत दो प्रकार का वाङ्मय माना था, वार्ता और वक्रोक्ति। वार्ता तो शब्दो के मुख्यार्थ को कहते हैं और उसका प्रयोग शास्त्र तथा लोक व्यवहार मे होता है तथा वक्रोक्ति मे लोकातिक्रान्त गोचर अर्थ होता है जिसका उपयोग काव्य में हुआ करता है। इस प्रकार उद्भट का मत भामह से भिन्न प्रतीत नही होता। इसके प्रतिकूल वामन ने वक्रोक्ति की सर्वथा नवीन दिशा का निर्देश किया—उन्होंने 'सादृश्य सम्बन्ध मे लक्षणा' को वक्रोक्ति कह कर उसे अर्थालकार के एक विशेष प्रकार के रूप मे स्वीकार कर लिया। कहा जाता है कि वामन को यह प्रेरणा दण्डी के समाधि गुण से प्राप्त हुई है, इसमे सबसे बडा प्रमाण यही है कि दण्डी ने समाधिगुण का जो उदाहरण दिया था वामन ने वही उदाहरण वक्रोक्ति का भी दे दिया। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जिस प्रकार दण्डी समाधिगुण को सभी कवियो का उपजीव्य मानते हैं उसी प्रकार वामन भी वक्रोक्ति को कवियो के लिए यदि अनिवार्य नही तो एक अत्यावश्यक तत्व के रूप मे अवश्य स्वीकार कर लिया है। कम से कम इतना तो मानना ही होगा कि वक्रोक्ति को दण्डी के समाधि गुण के निकट लाकर, अलकारो को काव्य का ग्राहक तत्व मानकर, सभी अलकारो को सादृश्य पर आधारित उपमा का ही प्रपच कह कर और वक्रोक्ति की परिभाषा मे सादृश्य सम्बन्ध को सन्निविष्ट कर ये वक्रोक्ति के व्यापक रूप के भी

बहुत निकट पहुंच गए हैं इसमें सन्देह नहीं। फिर भी इतना तो मानना पड़ेगा कि वामन का दृष्टिकोण वक्रोक्ति के विषय में दण्डी की अपेक्षा भी अधिक सीमित है और विशिष्ट अलंकार के रूप से स्वीकृति प्रदान किये जाने से तथा सादृश्येतर निबन्धन लक्षणा को भी वक्रोक्ति क्षेत्र से बाहर कर दिये जाने कारण वक्रोक्ति का क्षेत्र वामन में और भी संकुचित हो गया है।

वक्रोक्ति का दुर्भाग्य यहीं पर समाप्त नहीं हुआ। रुद्रट के हाथों में पड़कर इसकी अर्थालंकारता भी समाप्त हो गई और शब्दालंकार के एक विशिष्ट भेद के रूप में ही जीवित रहने के लिये इसे बाध्य होना पड़ा। रुद्रट ने पहेली बुझौवल वाले एक विशिष्ट प्रकार के चमत्कार को ही वक्रोक्ति के रूप में मान्यता प्रदान की। या तो श्लेष के द्वारा मनोरंजन के उद्देश्य से श्रोता समझे हुए अर्थ का भी अर्थान्तर कर उत्तर देता है या काकु से अपनी असहमति प्रकट करता है वहाँ वक्रोक्ति होती है यह बात रुद्रट ने उद्घोष के साथ कही और उनका इतना प्रभाव पड़ा कि अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने उनकी बतलाई हुई वक्रोक्ति को ही मान्यता देना श्रेयस्कर समझा।

काव्य शास्त्र के विषय में आनन्दवर्धन की व्यापक दृष्टि वक्रोक्ति के दोनों रूपों को देखने में समर्थ हो सकी। यदि हम 'लोचन' के माध्यम से ध्वन्यालोक का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि इन आचार्यों ने वक्रोक्ति को उसके उचित स्थान पर विन्यस्त करने की चेष्टा की। एक तो अभिनवगुप्त ने मनोरथ की कारिका में आये हुए 'वक्रोक्तिशून्य च यत्' की व्याख्या करते हुए लिखा कि—वक्रोक्तिशून्यशब्देन सर्वालंकाराभाव उक्तः। तृतीय उद्योत में उन्होंने एक-एक अलंकार को लेकर यह दिखलाने की चेष्टा की कि लक्षणों की पूर्ति में भी कोई भी अलंकार तब तक अलंकार कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता जब तक उसमें अतिशयोक्ति की अभिव्यंजना न हो। यही अतिशयोक्ति वक्रोक्ति से अभिन्न है। इस प्रकार भामह की बतलाई हुई वक्रोक्ति को इन आचार्यों ने भी मान्यता प्रदान की है। इसके अतिरिक्त इन आचार्यों ने वक्रोक्ति की एक नई व्याख्या भी सामने आती है—इन आचार्यों को नाट्य शास्त्र और काव्य शास्त्र के एकीकरण का भी प्रशस्त कार्य सम्पादित करना था। इसके लिये भामह के 'अनयार्थो विभाव्यते' का इन्होंने एक नया अर्थ किया कि 'वक्रोक्ति ही किसी अर्थ तत्त्व को विभाव रूपता प्रदान करती है। आशय यह है कि नाट्य में रंगमंच पर जो काम अभिनय द्वारा सम्पन्न किया जाता है वही काम काव्य में वक्रोक्ति के द्वारा होता है। इसी मान्यता के आधार पर काव्य में भी रस परिकल्पना सम्भव हो सकी। इसके अतिरिक्त समस्त क्रम व्यंग्य के अवसर पर आनन्दवर्धन ने यह भी कहा कि जहाँ किसी अलंकार की व्यंजना हो रही हो किन्तु कोई ऐसा शब्द या भाव जो उस अलंकार को वाच्य बना दे तो वहाँ अलंकार की ध्वनि नहीं होती अपितु वहाँ पर वक्रोक्ति इत्यादि वाच्यालंकार ही होता है। यह वक्रोक्ति का नया रूप है—भामह की यह वक्रोक्ति नहीं हो सकती क्योंकि इत्यादि शब्द के प्रयोग से यह तो सिद्ध ही होता है कि वक्रोक्ति से भिन्न भी वाच्यालंकार हो सकते हैं। रुद्रट की भी यह वक्रोक्ति नहीं है क्योंकि इसे

वाच्यालकार कहा गया जबकि रुद्रट ने केवल वाचकालकार माना है। हो सकता है यह वामन की सादृश्य मूलक लक्षणा की ओर सकेत हो या फिर आगे चलकर रूप्यक ने जिस नवीन रूप की परिकल्पना की उसका मूल रूप इन आचार्यों के प्रतिपादन मे सन्निहित हो। कुछ भी हो इन आचार्यों ने वक्रोक्ति के सभी रूपो पर ध्यान दिया है—साथ ही सबल शब्दो मे वक्रोक्ति को एक ओर सभी अलकारो का मूल, दूसरी ओर काव्य मे विभावता सम्पादित कर रस निष्पत्ति मे सहायक और तीसरी ओर एक नये वाच्यालकार के रूप मे प्रतिष्ठित स्वीकार किया है। कुन्तक से पहले वक्रोक्ति की यही स्थिति थी।

कुन्तक द्वारा सम्प्रदाय रूपता प्रदान

कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं और मौलिक चिन्तन मे इनकी प्रतिभा अद्वितीय है। इसमे सन्देह नही कि सम्प्रदाय प्रवर्तन की दिशा मे इन्हे सर्वाधिक प्रेरणा आनन्द वर्धन से ही प्राप्त हुई। एक तो आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति सिद्धात को जहाँ पर लाकर छोडा था उससे सम्प्रादाय रूप मे उसके स्वीकार किये जाने की सम्भावना सर्वाधिक रूप मे बढ गई थी, दूसरे कुन्तक ने यह देखा कि काव्यात्मकता की परिकल्पना के लिए आनन्दवर्धन को एक नये तत्त्व की प्रवर्तना करनी पडी है जबकि हमारे प्राचीन माहित्य मे ही वक्रोक्ति के रूप मे ऐसा तत्त्व मौजूद है जो काव्यात्मा के रूप मे अभिषिक्त किया जा सके। इस प्रकार काव्यात्मतत्त्व के अनुसन्धान की प्रेरणा तो उन्हें आनन्दवर्धन से मिली किन्तु वह तत्व भामह से प्राप्त हुआ। आनद वर्धन से इन्हे प्रेरणा प्राप्त हुई है इसका सबसे बडा प्रमाण यही कि इन्होने स्वरूप निर्देश भेदोपभेद कल्पना और कही-कही उदाहरण भी ध्वन्यालोक से लिये हैं। किन्तु इनकी वक्रोक्ति सर्वाधिक रूप मे भामह की मान्यता के निकट पडती है।

कुन्तक ने काव्य के नामकरण मे ही वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग कर तथा उसके साथ 'जीवित' जोडकर अपने मन्तव्य का प्रत्यायन कराया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने काव्य लक्षण मे भी 'वक्र' शब्द का प्रयोग कर इस सिद्धान्त की महत्ता का स्थापन किया है। इनका कहना है कि एक अर्थ के बोध कराने वाले वीसो शब्द होते हैं किन्तु कवि उनमे से छाटकर किसी ऐसे शब्द को रखता है जो उसके मन्तव्य के प्रकाशन मे सर्वाधिक उपयुक्त होता है। इसी प्रकार कवि के वर्णनीय विषय के अनेक धर्म होते हैं किन्तु कवि ऐसे ही अर्थ का उपादान करता है जो सहृदयो को आह्लाद देने मे समर्थ हो। सफल कवि के शब्द और अर्थ एक दूसरे से होड लगाकर आते हैं और मानो चिल्ला-चिल्लाकर घोषणा करते हैं कि जिस स्थान पर मैं हू उस स्थान पर मुझसे अधिक उपयुक्त न कोई दूसरा शब्द हो सकता है और न अर्थ। कवि ऐसे ही शब्द और अर्थ का उपादान करता है जो अपने स्वभाव से ही काव्य मे रमणीयता का सम्पादन कर देते हैं। इससे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के भेद की बात का भी समाधान हो जाता है। कुन्तक के मत मे शब्द और अर्थ दोनो ही अलकार्य होते हैं।

कवि स्वभावतः लोकोत्तर मन का ही उपादान करता है। अतएव अर्थ की लोकोत्तरता में जो लोग स्वभावोक्ति अलंकार स्वीकार करते हैं कुन्तक की दृष्टि में उनकी चेष्टा ऐसी ही है जैसे कोई व्यक्ति अपने ही कन्धे पर चढ़ने की चेष्टा कर रहा हो। लोकोत्तराह्लादजनक स्वभाव कथन ही कवि की उपादेय वस्तु है वही अलंकार्य है। अतः उसे अलंकार कहना ठीक नहीं।

शब्द और अर्थ अलंकार्य होते हैं उनको अलंकृत करने वाला तत्त्व वक्रोक्ति ही है। वक्रोक्ति का आशय है एक ऐसी विचित्र प्रकार की अभिधा जो लोक प्रसिद्ध अभिधान से विलक्षण हुआ करती है। लोक अपने मन्तव्य का प्रत्यायन कराने के लिये जिस प्रकार के शब्द और अर्थ रूप माध्यम को अपनाता है काव्य में उससे व्यतिरिक्त अर्थ देने की क्षमता इन दोनों तत्त्वों में होती है जो सहृदयों के हृदयों को चमत्कृत कर सकती है। कुन्तक ने उसे वैदग्ध्य भंगी भणिति कहा।

वक्रोक्ति के भेदोपभेद

वक्रोक्ति के भेदाभेद ध्वनि के अनुकरण पर ही किये गये हैं। किन्तु इसमें आचार्य की मौलिक चिन्तन-शक्ति सर्वत्र दृष्टिगत होती है। कुन्तक ने सभी तत्त्वों का नवीन शैली और नवीन भंगिमा के साथ विवेचन किया है। मूलरूप में वक्रोक्ति के छ भेद माने गये हैं—वर्णविन्यास वक्रता पदपूर्वार्धवक्रता पद परार्धवक्रता वाक्यवक्रता प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता।

(अ) वर्णविन्यासवक्रता

वर्णगत सर्वविध रमणीयता को कुन्तक ने वर्णविन्यासवक्रता के रूप में अभिहित किया है। इसके अन्तर्गत अनुप्रास यमक इत्यादि समस्त शब्दालंकार शब्दगुण रीति और वृत्ति का समावेश हो जाता है। यद्यपि कुन्तक ने इस रूप में इनका कथन किया नहीं है फिर भी इनके विवेचन के अन्तर्गत ये समस्त तत्त्व आ जाते हैं।

(आ) पदपूर्वार्धवक्रता

व्याकरण में सविभक्तिक शब्द को पद कहते हैं। इस पद के दो भाग किये जा सकते हैं—प्रकृति और प्रत्यय। प्रकृति पद का पूर्वार्ध होती है और प्रत्यय परार्ध। इस प्रकार प्रकृति के अन्तर्गत आने वाली समस्त विशेषताओं को पदपूर्वार्ध वक्रता के नाम से अभिहित किया जा सकता है और प्रत्ययगत विशेषताओं को पद परार्धवक्रता का नाम दिया जा सकता है। पद पूर्वार्द्ध वक्रता में प्रातिपदिक और धातु की वे सब विलक्षणतायें आ जाती हैं जिनको कवि चमत्कारोत्पादन के मन्तव्य से प्रयुक्त करता है। अभिनवगुप्त ने तो यह कहकर पीछा छुड़ाया था कि शब्दों ह की इयत्ता ही नहीं जितनी कल्पनायें हैं उतने प्रकार की वक्रोक्ति मानी जा सकती है। किन्तु कुन्तक ने वक्रोक्तिक वर्गीकरण और विवेचन की चेष्टा की है। पद पूर्वार्ध वक्रता के उन्होंने निम्नलिखित प्रकार माने हैं :—

वाच्यालकार कहा गया जबकि रुद्रट ने केवल वाचकालकार माना है। हो सकता है यह वामन की सादृश्य मूलक लक्षणा की ओर सकेत हो या फिर आगे चलकर रूय्यक ने जिस नवीन रूप की परिकल्पना की उसका मूल रूप इन आचार्यों के प्रतिपादन मे सन्निहित हो। कुछ भी हो इन आचार्यों ने वक्रोक्ति के सभी रूपो पर ध्यान दिया है —साथ ही सबल शब्दो मे वक्रोक्ति को एक ओर सभी अलकारो का मूल, दूसरी ओर काव्य मे विभावता सम्पादित कर रस निष्पत्ति मे सहायक और तीसरी ओर एक नये वाच्यालकार के रूप मे प्रतिष्ठित स्वीकार किया है। कुन्तक से पहले वक्रोक्ति की यही स्थिति थी।

कुन्तक द्वारा सम्प्रदाय रूपता प्रदान

कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य है और मौलिक चिन्तन मे इनकी प्रतिभा अद्वितीय है। इसमे सन्देह नही कि सम्प्रदाय प्रवर्तन की दिशा मे इन्हे सर्वाधिक प्रेरणा आनन्द वर्धन से ही प्राप्त हुई। एक तो आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति सिद्धात को जहाँ पर लाकर छोडा था उमसे सम्प्रादाय रूप मे उसके स्वीकार किये जाने की सम्भावना सर्वाधिक रूप मे वढ गई थी, दूसरे कुन्तक ने यह देखा कि काव्यात्मकता की परिकल्पना के लिए आनन्दवर्धन को एक नये तत्त्व की प्रवर्तना करनी पडी है जबकि हमारे प्राचीन साहित्य मे ही वक्रोक्ति के रूप मे ऐसा तत्त्व मौजूद है जो काव्यात्मा के रूप मे अभिषिक्त किया जा सके। इस प्रकार काव्यात्मतत्त्व के अनुसन्धान की प्रेरणा तो उन्हे आनन्दवर्धन से मिली किन्तु वह तत्व भामह से प्राप्त हुआ। आनद वर्धन से इन्हे प्रेरणा प्राप्त हुई है इसका सबसे वडा प्रमाण यही कि इन्होने स्वरूप निर्देश भेदोपभेद कल्पना और कही-कही उदाहरण भी ध्वन्यालोक से लिये हैं। किन्तु इनकी वक्रोक्ति सर्वाधिक रूप मे भामह की मान्यता के निकट पडती है।

कुन्तक ने काव्य के नामकरण मे ही वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग कर तथा उसके साथ 'जीवित' जोडकर अपने मन्तव्य का प्रत्यायन कराया है। इसके अतिरिक्त इन्होने काव्य लक्षण मे भी 'वक्र' शब्द का प्रयोग कर इस सिद्धान्त की महत्ता का ख्यापन किया है। इनका कहना है कि एक अर्थ के बोध कराने वाले वीसो शब्द होते हैं किन्तु कवि उनमे से छाटकर किसी ऐसे शब्द को रखता है जो उसके मन्तव्य के प्रकाशन मे सर्वाधिक उपयुक्त होता है। इसी प्रकार कवि के वर्णनीय विषय के अनेक धर्म होते हैं किन्तु कवि ऐसे ही अर्थ का उपादान करता है जो सहृदयो को आह्लाद देने मे समर्थ हो। सफल कवि के शब्द और अर्थ एक दूसरे से होड लगाकर आते हैं और मानो चिल्ला-चिल्लाकर घोषणा करते हैं कि जिस स्थान पर मैं हू उस स्थान पर मुझसे अधिक उपयुक्त न कोई दूसरा शब्द हो सकता है और न अर्थ। कवि ऐसे ही शब्द और अर्थ का उपादान करता है जो अपने स्वभाव से ही काव्य मे रमणीयता का सम्पादन कर देते हैं। इससे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के भेद की बात का भी समाधान हो जाता है। कुन्तक के मत मे शब्द और अर्थ दोनो ही अलकार्य होते हैं।

'गड़ी मुचित नाहीं करति करि ललचौंहीं डीठि

यहाँ 'ललचौंही' यह 'डीठि' का विशेषण है जो नायिका की उद्दाम काम वासना को व्यक्त करता है।

(५) संवृतिवक्रता—जब कवि यह सिद्ध करना चाहता है कि अमुक वस्तु किसी अपनी उत्कट विशेषता के कारण कवि की वचन शक्ति के बाहर है तब कवि 'सर्वनाम' इत्यादि का प्रयोग कर उसकी अवर्णनीयता की व्यंजना कर देता है। इसी को संवृतिवक्रता कहते हैं। यह अनेक प्रकार का हो सकती है। एक उदाहरण

जाग रहा यह कौन धनुधर जबकि भुवनभर सोता है?

यहा लक्ष्मण की साधना की अद्वितीयता का प्रत्यायन कराने के लिए कौन इस सर्वनाम का प्रयोग किया गया है।

(६) वृत्तिवक्रता—जहाँ समास इत्यादि के कारण वस्तु के उत्कर्ष का प्रत्यायन कराया जाय वहाँ वृत्तिवक्रता होती है। जैसे निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' के प्रारम्भ में युद्धवर्णन के लिए जो समास गर्भित वर्णन किया है उससे ओज की अभिव्यक्ता सिद्ध होती है। अत वहाँ पर वृत्तिवक्रता है।

(७) भाववक्रता—जहाँ साध्यक्रिया का सिद्ध रूप में प्रयोग किया जाय वहाँ भाववक्रता होती है। जैसे —

'कियो सबै जगु कामबस जीते जिते अजेय'

वस्तुत सबका काम परवश होना और विजित हो जाना कामदेव के बिना धनुष धारण किये सम्भव नहीं। अत ये दोनों कार्य साध्य हैं। किन्तु इनका सिद्ध रूप में वर्णन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि अगहन के महीने में सभी व्यक्ति अनायास ही काम परवश हो जाते हैं। साध्य क्रिया के सिद्ध रूप में प्रयुक्त किये जाने के कारण यहाँ पर भाववैचित्र्य वक्रता है।

(८) लिंग वैचित्र्य वक्रता जहाँ किसी विशिष्ट लिंग के प्रयोग के कारण किसी विशिष्ट अर्थ का प्रत्यायन हो अथवा जहाँ स्त्री जाति की स्वाभाविक सुन्दरता को ध्यान में रखकर पुल्लिंग के स्थान पर स्त्रीलिंग का प्रयोग किया जाय वहाँ लिंग वैचित्र्य वक्रता है। जैसे —

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि तूने कैसे पहिचाना।
कहाँ कहाँ हे बालविहंगिनि सीखा तूने यह गाना॥

यहाँ रमणीयता के दृष्टिकोण से विहग के स्थान पर स्त्रीलिंग का प्रयोग किया गया है।

(९) क्रिया वैचित्र्यवक्रता —क्रिया के दो अंग होते हैं धातु और प्रत्यय। धातु को ही प्रकृति कहते हैं जो पद पूर्वार्ध में समर्पित पाती है। वहीं रही चमत्कार तथा वैशिष्ट्य के उद्देश्य से विचित्र धातु का प्रयोग किया जाता है। इसके अनेक

(१) रूढि वैचित्र्य वक्रता—जहाँ कवि किसी रूढ शब्द का किसी विशिष्ट अर्थ की व्यजना के लिये प्रयोग करता है वहाँ रूढि वैचित्र्य वक्रता होती है। यह दो प्रकार की हो सकती है—कभी कवि किसी व्यक्ति वाचक सज्ञा से कोई ऐसी व्यजना करता है जो उसके साथ जुडी नही होती और न उस व्यक्ति से वैसी सम्भावना ही की जा सकती है। जैसे —

'हठु न धरिय अति कठिन है यो तारिबो गुपाल'

यहाँ 'गुपाल' से व्यक्त होता है कि तुम उद्धार करने जैसे महान् कार्य को क्या जानो, तुम तो बस गायें ही चरा सकते हो इस असम्भावित अर्थ की व्यजना के कारण यहाँ रूढि वैचित्र्य वक्रता कही जा सकती है। कही-कही विद्यमान धर्म की अतिशयता भी व्यक्त होती है जैसे —

'जो मै राम तो कुल सहित कहहि दशानन आय'

यहाँ 'राम' से पराक्रमातिशयता व्यक्त होती है।

(२) जहाँ एक अर्थ मे आने वाले अनेक शब्दो से छाँट कर प्रकरणानुकूल सर्वाधिक उपयुक्त शब्द प्रयुक्त किया जाय वहाँ पर्याय वक्रता होती है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार आ जाते है—कही प्राकरणिक अर्थ म उत्कर्ष का सम्पादन हो जाता है, कही अभिधेयार्थ की निकटवर्तिता सिद्ध होती है, कही साम्योत्कर्प होता है कही वैपम्योत्कर्प जैसे —

अबलाजीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आचल में है दूध और आखो में पानी॥

यहाँ स्त्री वाचक 'अवला' शब्द प्रकरण के अनुसार अभिधेय का अन्तरतम है। महाकवियो की वाणी मे उपयुक्त शब्द प्रयोग पर विशेप ध्यान सर्वत्र दिया जाता है।

(३) उपचार वक्रता—जहाँ कवि अत्यन्त भिन्न एव दूरस्थवस्तु का किसी वस्तु के साथ अभेद स्थापन करता है तथा बाधित (लाक्षणिक) शब्दो के प्रयोग के द्वारा किसी नवीन चमत्कारपूर्ण अर्थ का प्रत्यायन कराता है वहाँ उपचार वक्रता होती है जैसे —

'लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यो'

लज्जा से भरना बतलाना और मौन रहना मानवधर्म है जो सौन्दर्य मे सम्भव नही। यहाँ इसका औपचारिक प्रयोग किया गया है। अत उपचार वक्रता है।

(४) विशेपण वक्रता—क्रिया विशेपण रूप मे भी हो सकती है और द्रव्य के विशेपण के रूप मे भी। उदाहरण :—

लाज गहो 'बेकाज' कत घेरि रहे घर जाँहि'।

यहाँ घेरना क्रिया का विशेपण 'वेकाज' है जो व्यक्त करता है कि 'यहाँ रास्ते की छेडछाड मे क्या लाभ होगा? यहाँ, हमारा तुम्हारा सगम तो हो ही नही सकेगा। अत जल्दी घर चलो वही हम लोग मिलेंगे।' इसी प्रकार—

तो मुझ एक को तार देना कितनी बड़ी बात है। इस प्रकार वैसादृश्य पूर्ण प्रयोग के कारण यहाँ वचन या संख्या वक्रता है।

(४) पुरुष वक्रता—जहाँ काव्य सौन्दर्य के लिये उत्तम मध्यम इत्यादि पुरुषों का व्यत्यास किया जाता है वहाँ पुरुष वक्रता होती है। जैसे—

'मार सुमार करी खरी अरी मरीहि न मारि'

यहाँ मुझे मत मारो' कहने के स्थान पर मरी को मत मारो कहा गया है जिससे नायिका के सन्तापाधिक्य की अभिव्यक्ति होती है। उत्तम पुरुष के स्थान पर अन्य पुरुष का प्रयोग करने के कारण यहाँ पुरुष वक्रता है।

(५) उपग्रह वक्रता संस्कृत मे दो पद होते हैं—परस्मपद और आत्मेन पद हिन्दी में इस प्रकार के पदों का विभाजन नहीं होता। किन्तु कर्मवाच्य में आ मनेपद का अनिवार्य प्रयोग होता है और कर्तृ वाच्य में अधिकांश रूप में परस्मैपद का प्रयोग होता है। इसलिए कतृ वाच्य और कर्मवाच्य के व्यत्यास में उपग्रह वक्रता मानी जा सकती है। जैसे—

'मोर चन्द्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करत गुमान।
लखिबी पायन पर लुठति सुनियत राधा मान॥

यहा 'सुनियत मे कर्मवाच्य से व्यक्त होता है कि सखी सन्देश की सच्चाई का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेना चाहती। इससे सखी का नैपुण्याधिक्य व्यक्त होता है। अत यह उपग्रह वक्रता है।

(६) प्रत्यय वक्रता—जहाँ कृदन्त या तद्धित के प्रयोग से रमणीयता का सम्पादन किया जाय वहाँ प्रत्यय वक्रता होती है। जैसे—

'लाल कालि मैं देखियतु उर उकसौंहीं भाँति'

यहा 'उकसौंही' मे तद्धित प्रत्यय वय-सन्धिजन्य सौन्दर्याधिक्य को व्यक्त करता है

(७) उपसर्ग वक्रता—यद्यपि उपसर्ग पदपरार्ध मे नहीं आता तथापि इसको पदपरार्ध वक्रता के एक भेद के रूप मे रक्खा गया है जिसका सम्भवत कारण यह है कि उपसर्ग मुख्य प्रकृति भाग से पृथक जुड़ता है। आचार्य ने मुख्य प्रकृति को पद पूर्वार्ध कहा है, शेष समस्त भाग को चाहे वह पहले जुड़े चाहे बाद मे पदपरार्ध के अन्तर्गत रख दिया है। जहाँ उपसर्ग से काव्य सौन्दर्य की सिद्धि होती है वहाँ उपसर्ग वक्रता कही जाती है। जैसे—

मैं विवि॰ दुःखविनिवृत्ति हेतु'

यहाँ वि' 'नि' उपसर्ग से दु खो की पूर्ण समाप्ति अभिव्यक्त होती है।

(८) निपात वक्रता—निपात मे प्रकृति प्रत्यय या पदपूर्वार्ध पदपरार्ध का विश्लेषण ही नहीं होता। अत निपात वक्रता को भी पदपरार्ध मे रखना उचित नहीं

प्रकार हो सकते हैं। कही क्रिया कर्ता की अत्यन्त निकटवर्तिनी होती है, कही सामान्य कर्ता की अपेक्षा उसमे अधिक विलक्षणता होती है, कही विशेषण वैलक्षण्य से व्यापार मे वैलक्षण्य आ जाता है, कही लाक्षणिक प्रयोग के कारण व्यापार मे रमणीयता आ जाती है और कही मवृत्तिजन्य रमणीयता होती है। व्यापार वैलक्षण्य के कारण ये सव क्रियाएँ वैचित्र्यवक्रता के अन्तर्गत ही आती हैं। एक उदाहरण —

'तिर रही अतृप्ति जलधि में नीलम की नाव निराली'

यहाँ विलक्षण व्यापार के कारण क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता है।

(इ) पदपरार्धवक्रता

प्रत्यय और विभक्ति पद के परार्ध भाग हैं। इनमे वचन, कारक, काल, पुरुष इत्यादि का प्रत्यायन होता है। अत पदपरार्ध वक्रता के यही प्रकार माने जाते हैं। इनमे जिस किसी तत्त्व के वैलक्षण्य के आधार पर कवि रमणीय तथा चमत्कारोत्पादक अभिव्यक्ति करता है उसी की वक्रता मानी जाती है। इसका दिग्दर्शनमात्र पर्याप्त होगा।

(१) काल वैचित्र्य वक्रता—किसी भी कार्य के लिए नियत समय से भिन्न समय का जव काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से उपादान किया जाता है तव उसे कालवैचित्र्य वक्रता कहते है, जैसे—

कहा कहौं वाकी दशा हरि प्रानन्नु के ईस।
विरह ज्वाल जरिवो लखें मरिवो भई असीस।

यहाँ 'भई' इस भूतकाल का प्रयोग विषादाधिक्य की अभिव्यजना के लिये किया गया है।

(२) कारक वक्रता—किसी भी व्यापार मे जो वास्तविक कारक है उसके स्थान मे उसे किसी अन्यकारक मे रक्खा जाय और उससे रमणीयता की अभिवृद्धि हो उसे कारक वक्रता कहते हैं। जैसे—

'हरि धनुर्भ ग को पुनर्वार ज्यो उठा हस्त'

यहाँ पर हाथ उठाया गया है उठा नही है। इस प्रकार कर्म कारक का प्रयोग होना चाहिये किन्तु कर्ता कारक मे प्रयोग किया गया है। अत यहाँ पर कारक वक्रता है।

(३) सख्या वक्रता —जहाँ काव्य सौन्दर्य के निमित्त वचन व्यत्यय कर किसी विशेष वचन का प्रयोग विशेष अभिप्राय से किया जाता है वहाँ सख्या वक्रता होती है। जैसे —

'मोहूँ दीजै मोषु, ज्यों अनेक अधमनि दियौ।'

यहाँ 'अधमनि' के बहुवचन और 'मोहू' के एक वचन से व्यक्त होता है कि 'जब आप का स्वभाव ही उद्धार करने का है जिसके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं

सवाद में तुलसी ने भी इसका चमत्कार दिखलाया है। किसी प्रचलित कथानक में अनेक अवान्तर भाग गुथे रहते है। प्रबन्धकार की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि नीरस भागों को छोड़कर सरस भागो को चुन ले और उन्ही का पल्लवन करे। (२) कवि रसहीन कथा भाग मे अपनी कल्पना के द्वारा कुछ ऐसे परिवर्तन कर देता है कि जिससे समस्त प्रकरण जगमगा उठता है और पाठक रस-विभोर हो जाता है। कवि इस प्रकार के परिवर्तन के लिए नई परिकल्पना भी कर लेता है और पुराने कथानक में विद्यमान का सशोधन भी कर देता है। (३) कभी कभी कवि कथानक में ऐसे तत्त्व सन्निविष्ट कर देता है जिसका प्रभाव कही दूर जाकर पड़ता है और इस प्रकार कोई विशिष्ट प्रकरण मुख्य कथा का उपकारक हो जाता है। इस प्रकार के प्रकरणों की नियोजना कवि के प्रतिभा विकास की सूचना देती है। उदाहरण के लिए प्रबस्था मिमी नाटक मे सकराज का धूमकेतु देखना उसके भावी विनाश की सूचना देता है।(४) एक ही प्रकरण का बार-बार इस रूप मे उपनिबन्धन किया जाय कि उसमे नई-नई रमणीयता उत्पन्न होती जाय प्रत्येक प्रकरण में नई प्रतिमा के दर्शन हों और चमत्कार तथा रस की इस रूपमे नियोजना की जाय कि प्रत्येक प्रकरण मे नई प्रतिमा के दर्शन हो और चमत्कार तथा रस की इस रूप म नियोजना की जाय कि नये ढंग से चमक उठे (५)महाकाव्य इत्यादि में रमणीयता के लिए कथा वैचित्र्यसम्पादक जल क्रीड़ाइत्यादि का जो प्रकरणवश वर्णन किया जाता है वह भी प्रकरण वक्रता का नया प्रकार है। इस प्रकार अवान्तर प्रकरण कथा प्रसग मे आते ही रहते हैं। कामायनी मे मनु के चिन्तन क्षणो मे देव-विलास तथा प्रलय दृश्य का बहुत ही सजीव वर्णन किया गया है। इसी प्रकार सारस्वत प्रदेश की शासन व्यवस्था को लेकर आदर्श राज्य की एक मनोरम झाँकी प्रस्तुत की गई है। ये सब प्रकरण वक्रता के ही उदाहरण हैं। (६) प्रत्येक काव्य का एक अगीरस होता है उसी की निष्पत्ति के लिए कवि समस्त प्रबन्ध में जागरूक रहता है। किन्तु उस काव्य में वह कोई ऐसा प्रकरण रख देता है जो उस अगीरस का नितान्त पोषक हो जाता है जैसा परिपोष न तो पहले हुआ रहता है और न बाद मे। यह भी प्रकरण वक्रता का एक प्रकार है। (७) कभी-कभी कवि प्रधान कार्य की निष्पत्ति के लिये एक ऐसी नई विचित्र वस्तु की कल्पना कर लेता है जो उस की प्रतिभा से ही सम्भव है। यह भी एक प्रकार की प्रकरण वक्रता ही होती है। उदाहरण के लिये मुद्राराक्षस मे प्रधान कार्य है राक्षस को पकड़ना। उसके लिए नाटक के अन्तिम भाग मे फाँसी का जो दृश्य दिखलाया गया है वह कवि की एक चमत्कार पूर्ण नई कल्पना है और प्रकरण वक्रता के अन्तर्गत आती है। (८) एक नाटक मे ही कभी-कभी एक प्रकरण के अन्तर्गत किसी दूसरे प्रकरण का स्मरण कर लिया जाता है और नाटक के मध्य में ही कोई नये नाटक का अभिनय दिखलाया जाता है। यह भी एक नये प्रकार की प्रकरण वक्रता होती है आजकल बहुत से चित्रपटों मे किसी कालेज के महोत्सव के नाटक इत्यादि की योजना दिखलाई जाती है वह उसी का उदाहरण है

है। किन्तु जैसा कि बतलाया चुका है कि पदपूर्वार्ध व्यक्तिरिक्त समस्त भागो को आचार्य ने पदपरार्ध मे रख दिया है। निपात वक्रता का उदाहरण।

'पावसगूढ़ न बात यह बूढनहू रगु होय'

यहा 'बूढनहू' मे 'हू' (भी) के प्रयोग से व्यक्त होता है कि युवको का तो कहना ही क्या ? उनके अन्तर मे तो प्रेमवासना ही भरी रहती है। इस प्रकार इस 'निपात' से पावस का उद्दीपकाधिक्य प्रकट होता है।

(४) **वाक्य वक्रता** से कुन्तक का अभिप्राय वाच्यवक्रता से है और यही नामकरण भी होना चाहिए इसे हम वस्तु वक्रता भी कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत कुन्तक ने दो दृष्टियो से विचार किया है—कवि की दृष्टि से और पाठक की दृष्टि से। कवि की दृष्टि से वाक्य वक्रता दो प्रकार की होती है—सहजा और आहार्या। कवि प्राय स्वभावसुन्दर वस्तु का ही उपादान करता है जो कि अपने स्वभाव सौन्दर्य से वर्णन को सजीव बनाकर सहृदयो को आल्हाद दिया करती है। इस प्रकार की वस्तु सहजा वस्तु कही जाती है। इसके प्रतिकूल आहार्या वस्तु कवि कल्पना जन्य होती है। किंतु यह समझना ठीक नही है कि इस प्रकार की वस्तु सर्वथा कल्पित ही होती हैं। यह भी सत्तामात्र से प्रतिभासित रहती है और कवि कल्पना मे उसके ऐसे तत्वो को उभाड कर तथा अति रजित कर सामने लाते हैं कि उनमे रमणीयता उत्पन्न हो जाती है। यही आहार्य वस्तु कही जाती है। कुन्तक के अनुसार आहार्य रमणीयता मे ही वाच्य अलकारो का अन्तर्भाव हो जाता है। सहृदय जिस रूप मे वस्तु का ग्रहण करता है उस दृष्टि से वस्तु के तीन भेद किये जा सकते हैं—स्वभावप्रधान, रसप्रधान और नीति प्रधान। वर्ण्य वस्तु का स्वरूप भी दो भागो मे विभाजित किया गया है जड और चेतन। जड पदार्थ का वर्णन रसो के उद्दीपन रूप मे ही होनी चाहिये। मुख्यत चेतन पदार्थ ही काव्य विषय होते हैं। ये दो प्रकार के हो सकते हैं देवता, मानव आदि प्रधान चेतन और तिर्यग्गत पशु पक्षी इत्यादि अप्रधान चेतन अप्रधान चेतन भी मुख्यत उद्दीपन रूपता के ही अधिकारी हैं। प्रधान चेतन ही काव्य का मुख्य विषय बन सकते हैं।

(५) प्रकरण वक्रता

एक प्रबन्ध मे अनेक अवान्तर प्रकरण होते हैं। इन प्रकरणो या प्रसगो को औचित्य पूर्ण तथा प्रभावशाली बनाना ही प्रकरण वक्रता का प्रयोजन है। इस कार्य को कवि अनेक प्रकार से सम्पादित करता है—वार्तालाप मे भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना के द्वारा व्यवहार करने वालो की चमत्कारपूर्ण अलौकिक प्रवृत्ति देखी जाती है। उसमे वार्तालाप परायण व्यक्तियो का अदम्य उत्साह रहता है तथा निरर्गल व्यवसाय से उसकी शोभा चारो ओर बिखरी सी जान पडती है। उसमे वक्ताओ के हृदय का उल्लास होता है और सामान्य जन उसको मनोरथ मे भी नही ला सकते। केशव के सवादों मे यह तत्त्व अधिकांश रूप मे मिलेगा, राम-परशुराम सवाद, तथा अगद-रावण

साहित्य और सूफी साहित्य की ओर ध्यान दें अपने अपने ढंग की वक्रोक्ति प्राय सर्वत्र अभिगत होगी। रीतिकाल म कविता का कलापक्ष अनेक कवियों में बहुत उभरा हुआ है और इस काल मे प्राय वाग्वैदग्ध्य तथा चमत्कार को अधिक महत्त्व दिया गया है । इस प्रकार रीतिकालमे भी काव्यके अन्तगत कला तथा चमत्कार का उत्कर्ष पाया जाता है। द्विवदी काल इस प्रकार की प्रवृत्ति से सर्वथा विकसित तो नही किन्तु कुछ न्यूनता ग्रस्त अवश्य रहा यद्यपि इस काल के दीक्षा गुरु आचार्य द्विवेदी ने बहुत चमत्कार का महत्त्व प्रतिपादित किया किन्तु कवियों की प्रवृत्ति अधिकाश रूप मे इति-वृत्तात्मक ही रही। फिर स्थान स्थान पर इस काल में भी प्रतिभा का स्फुरण पाया जाता है। छायावाद तो कला-सौन्दर्य को ही आदर्श मानकर चला था और वक्रता का जितना अधिक समावेश छायावाद में हुआ है उतना सम्भवत किसी काल में नही हुआ। कहने का आशय यह है कि वक्रता भदय की दृष्टि से एक व्यापक तथा सर्व स्वीकार्य तत्त्व रही है और प्रयोग पक्षकी दृष्टि से किसी भी काल की कविता में इसकी सामान्य प्रवृत्ति के दर्शन किये जा सकते हैं।

जहाँ तक लक्षण विवेचन का प्रश्न है सस्कृत साहित्य की ही परवर्ती अर्घ शताब्दी मे वक्रोक्ति अपना मूल रूप खोकर रुद्रट का पहली कुलीयम वाला अलङ्कार मात्र रह गई थी या अधिक से अधिक इस पर रुय्यक की अर्थालङ्काररूपता देने का ही अनुग्रह किया जा सका था। यही दशा हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में भी बनी रही। हाँ कही कही कवियो ने अवश्य ही कुन्तक की वक्रोक्ति की ओर सङ्केत किया है। स्वयभू (आदिकाल) के दीघ-समास-प्रवाह्य काव्य मे समास वक्रता का निर्देश प्राप्त होता है विद्यापति ने अपनी भाषा को 'बालचन्द्र' बतलाया है जिसकी उपमा वक्रोक्तिवाद मे दी जाती है कि काव्य मे बालचन्द्र के समान वक्रता का महत्त्व होता है। इसी प्रकार तुलसी ने 'मुनि अवरेब' मे अवरेब शब्द का अर्थ वक्रोक्ति ही लगाया जाता है। बिहारी का 'बकाई से 'भाव' चढ़ने की बात कहना वक्रता की ओर सकेत है। केशव ने स्पष्ट ही 'कविप्रिया' मे वैदग्ध्य भङ्गीभणिति को वक्रोक्ति कहा है। हिन्दी के आधुनिक काल मे भी काव्यशास्त्र सम्बन्धी जो परिचयात्मक ग्रन्थ लिखे गए उनमे भी प्राधान्य रुद्रट की वक्रोक्ति का ही रहा। हाँ किसी किसी ने रुय्यक की अर्थालङ्कार रूप वक्रोक्ति पर भी दृष्टि पात कर लिया है। जहाँ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार प्रभृति विद्वानो ने परम्परागत शब्दालङ्कार रूपता का परिचय दिया है वहाँ मिश्रबन्धु ने उसे अर्थालङ्कार माना है। वक्रोक्ति सिद्धान्त को बहुत कुछ ध्यान आधुनिक शैली के आलोचको से प्राप्त हुआ है। इनकी आलोचना मे भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रो के समन्वय की चेष्टा रहती है। इस दिशा म आचार्य द्विवेदी और श्री पद्मसिंह शर्मा का नाम प्रमुख रूप मे लिया जा सकता है। द्विवेदी जी ने चमत्कार-पूर्ण उक्ति का काव्य मे महत्त्व अनेकश उद्घोषित किया है। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की आलोचना मे इस तत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इसी प्रकार रत्नाकर और हरि औधजी ने इसका महत्त्व स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल के समय तक व्याख्यालोक

(९) मुख, प्रतिमुख इत्यादि सन्धियो का पौर्वापर्यक्रम से उचित तथा विवेक पूर्ण सन्निवेश प्रकरण वक्रता का ही एक प्रकार है।

(अ) प्रबन्ध वक्रता—प्रबन्ध वक्रता के अन्तर्गत प्रबन्धात्मक काव्य रूपो का वस्तु कौशल अपेक्षित होता है। प्रबन्ध का क्षेत्र सर्वाधिक व्यापक है और सभी प्रकार की वक्रताओ का इसमे सहयोग अपेक्षित होता है। कुन्तक ने इसके भी कई भेद किये है—(१) कवि जहाँ से इतिवृत्त का उपादान करता है उसमे जो रस विद्यमान हो उसको छोड कर दूसरे—अङ्गी रस से प्रबन्ध का निर्वाह करना प्रथम प्रकार की प्रबन्ध वक्रता है। उदाहरण के लिये रामायण की कथा का उपादान अनेक काव्यो मे किया गया। किन्तु सभी काव्यो मे अङ्गीरस परिवर्तित होता जाता है। (२) कवि जिस पात्र को नायक के रूप मे चुनता है उसके चरित्र को उत्कर्ष देना उसका कर्तव्य होता है। अत कवि को चाहिये कि काव्य को ऐसे स्थान पर समाप्त करे जहाँ पर नायक का उत्कर्ष सर्वाधिक रूप मे अभिव्यक्त हो रहा हो। यदि बाद की घटनायें उसके उत्कर्ष को गिराने वाली हो तो कथानक को आगे नही ले जाना चाहिये। ।३) कभी कभी कवि जिस उद्देश्य को लेकर प्रबन्ध रचना मे प्रवृत्त होता है उस उद्देश्य की पूर्ति के पहले ही किसी अवान्तर प्रसङ्ग मे ऐसा उत्कर्ष आ जाता है कि कवि का उद्देश्य वही पर पूरा हो जाता है। अत कवि अग्रिम कथा भाग की उपेक्षा कर अपना प्रबन्ध उसी अवान्तर कथा पर समाप्त कर देता है। यह भी प्रबन्ध वक्रता का एक प्रकार है। शिशुपालवध मे कवि ने युधिष्ठिर के यज्ञ वर्णन का उपक्रम किया है। किन्तु यज्ञ की समाप्ति के पहले ही शिशुपाल के वध का वर्णन करके प्रबन्ध को को समाप्त कर दिया गया है। (४) किसी प्रबन्ध मे नायक आधिकारिक कथा वस्तु के किसी एक फल को प्राप्त करने लिये उद्यम करता है किन्तु अधिकारिक कथावस्तु के समान ही अनन्त फलो के प्राप्त करने मे निमित्त बन जाता है वह भी प्रबन्ध वक्रता का एक प्रकार है। (५) वस्तु की वक्रता को जाने दीजिये कभी कभी नाम करण मे भी कवि वक्रता-सयोजना-जन्य कौशल दिखला देता है जबकि नाम से ही समस्त प्रबन्ध सामने आ जाता है। यह भी प्रबन्ध वक्रता का ही एक प्रकार है। (६) एक ही कथा-वस्तु को लेकर आधार बनाकर लिखे हुये अनेक प्रबन्ध काव्य अपने अपने वैचित्र्य तथा चमत्कार को आत्मसात् किये होते हैं। उनमे अपनी अपनी अपनी प्रबन्ध वक्रता विद्यमान रहती है। रामकथा को आधार बनाकर अनेक दृष्टियो से लिखे हुये अनेक प्रबन्ध काव्य इसके निदर्शन हैं। प्रबन्ध वक्रता का यही सक्षिप्त परिचय है।

हिन्दी में वक्रोक्ति सिद्धान्त

जहाँ तक लक्ष्य-नियोजन और प्रयोग पक्ष का प्रश्न है वक्रोक्ति सिद्धान्त कला-पक्ष की सभी विशेषताओ के आत्मसात् करने के कारण सभी कालो और सभी ललित साहित्यो मे अधिगत होगा। हिन्दी साहित्य भी इसका अपवाद नही है। चाहे हम वीर गाथाओ को लें चाहे उस काल की धार्मिक काव्य धारा पर विचार करें अथवा सन्त

वक्रोक्ति का स्वरूप नहीं अपितु उसे विसामती सरणि माना है। अतः आचार्य की की धारणा भी बहुत अंशों में मान्य हो सकती है।

उपसंहार

कुन्तक ने वक्रोक्ति वाद को कवि व्यापार के समानाधिकरण में स्थापित कर निस्सन्देह कलावाद के अभ्युत्थान में एक महत्व पूर्ण योगदान दिया है। इनके सिद्धान्त के अन्तर्गत वर्ण चमत्कार से लेकर प्रबन्ध चमत्कार पर्यन्त काव्य के प्राय सभी तत्त्व सम्मिविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ यह सिद्धान्त वक्रोक्ति को मूलतत्त्व के रूप मे स्वीकार करता है वहां काव्यशास्त्र के समस्त कलेवर को आवेष्टित करने में भी प्राप्त काम हो जाता है। साथ ही इस सिद्धान्त मे रस का विरोध नही किया गया है अपितु रस को वक्रोक्ति का प्राण रस माना गया है। यदि कुछ विरोध माना है तो केवल इस दृष्टि कोण का कि कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानते हैं और रस को भी उसका सहायक उपकरण मात्र स्वीकार करते हैं। रस वस्तुतः कुन्तक के मत मे स्वीकार्य होते हुये भी गौण स्थान का ही अधिकारी है और यह स्थिति काव्यशास्त्र के विद्यार्थी की दृष्टि म कठिनता से ही आदरणीय हो सकती है। यह तो निश्चित है कि यदि उक्ति भाव प्रेरित नही होगी तो वह कभी काव्य का रूप धारण नही कर सकती। दूसरी ओर सरस वाणी स्वभावतः दीप्त होकर वक्रता को आत्मसात् कर लेती है। किन्तु उसमे प्राधान्य रस का ही होता है। फिर भी वक्रोक्ति का अपना महत्व है इसे कोई विचारक अस्वीकार नही कर सकता।

का अधिक पठन पाठन प्रारम्भ नही हुआ था फिर भी आचार्य जी ने वक्रोक्ति और चमत्कार के मूल्याङ्कन पर विचार किया है। यद्यपि रसवादी होने के कारण आचार्य जी ने वक्रोक्ति को गौण स्थान ही प्रदान किया है फिर भी इन्होंने काव्य मे वक्रोक्ति की उपादेयता और वाच्छनीयता को स्वीकार किया है। श्री लक्ष्मी नारायण सुधाशु, गुलाव राय, वल देव प्रसाद उपाध्याय प्रभृति विवेचको ने इस दिशा मे महत्त्व पूर्ण योग दान दिया है किन्तु इस सिद्धान्त की पूर्ण तथा सर्वाङ्गीण विवेचना तो डा० नगेन्द्र ने ही की है।

वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जनावाद

आचार्य शुल्कने क्रोचेके अभिव्यजनावाद को अभिव्यक्ति का विलायती उत्थान कहा था इस विषय मे गुलावराय, डा० नगेन्द्र, लक्ष्मीनारायण सुधाशु, राम नरेश वर्मा प्रभृति विद्वानो ने दोनो सिद्धान्तो का तुलनात्मक अध्ययनकर आचार्य शुल्कके मन्तव्य से असहमति प्रकट की है। डा० नगेन्द्र के अनुसार दोनो वादों मे साम्य की अपेक्षा वैपम्य अधिक है। दोनो वादो का साम्य तो इस वात मे हैं कि दोनो काव्य-कला को आत्मा की अनिर्वचनीय क्रिया मानते हैं, दोनो ही कला की श्रेणिया नही मानते और असफल अभिव्यक्ति को काव्य नही कहते तथा दोनो ही वस्तु की अपेक्षा अभिव्यञ्जना को अधिक महत्त्व देते हैं। इस के प्रतिकूल दोनो वादो मे अन्तर यह है कि अभिव्यञ्जनावाद एक साहित्यवाद मात्र ही नही है अपितु यह एक दार्शनिक दृष्टि है। वक्रोक्तिवाद मे स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति में अन्तर किया गया है किन्तु अभिव्यञ्जनावाद मे ऐसा अन्तर मान्य नही है। वक्रोक्ति के असमान अभिव्यञ्जना वाद मे अलकार की सत्ता स्वीकार नही की जाती। अलकार यदि कभी आ भी जाय तो वह सहज उक्ति के रूप मे ही आता है। कुन्तक द्वारा वस्तु के सहज और आहार्य दो भेद किये जाने से अवगत होता है कि कुन्तक वस्तु की सत्ता उक्ति से पृथक् मानते हैं। किन्तु क्रोचे उक्ति से भिन्न वस्तु की सत्ता स्वीकार ही नही करते। वक्रोक्ति वाद मे काव्य कला को मूर्त आधारो पर आश्रित माना जाता है किन्तु अभिव्यञ्जना वाद मे आध्यात्मिक क्रिया को ही आधार माना जाता है दोनो में एक अन्तर यह है कि वक्रोक्ति कवि कौशल जन्य होने होने से रस विरहित हो सकती है किन्तु अभिव्यञ्जनावाद का कोई विरोध रस से नही है। इन्ही आधारो पर इन विद्वानो ने निष्कर्ष निकाला है कि अभिव्यञ्जनावाद और वक्रोक्ति दोनो एक नही हो सकते। जहाँ तक मेरा विचार है देशकालगत ही नही व्यक्तिगत विभेद तो वना ही रहता है। कोई दो तत्त्व सर्वथा एक नही हो सकते। फिर भी यदि उनका व्यापक प्रधानीभूत तत्त्व एक हो जाता है तो व्योरे और उपाधियो के पृथक् होने पर भी उनको एक कहने मे अधिक अनुपपत्ति नही होनी चाहिये। दोनो सिद्धान्तो के विभेद का जहा तक प्रश्न है वह विभेद व्योरे तथा उपाधि है। दोनो का मूलतत्त्व एक ही है, वह है—उक्तिको सौन्दर्य का अधिष्ठान मानना। इस साम्य के आधार पर दोनो को एक कहा जा सकता है। आचार्य शुल्क ने अभिव्यञ्जना को

अतिरिक्त किसी किसी आचार्य ने स्पष्टरूप से ही औचित्य की महत्ता स्वीकार कर ली है।

इस दिशा में सर्वप्रथम भरतमुनि आते हैं। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य के स्वरूप के सम्बन्ध में ही कहा है कि त्रैलोक्य की अनुकृति ही नाट्य है— 'त्रैलोक्या नुकृति नाट्यम्' इस त्रैलोक्यानुकृति का भरत ने इतने विस्तार से विवेचन किया है कि सारा नाट्यशास्त्र ही इसी वाक्य में समाहृत हुआ सा जान पड़ने लगता है। करण और अंगहार त्रैलोक्यानुकृति से भिन्न और क्या है? अभिनय के प्रसंग में ही इन्होंने 'धीरोदात्त' इत्यादि नायकों की अवस्था के अनुकरण का निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त प्रवृत्तियों के अन्तर्गत इन्होंने विस्तारपूर्वक विभिन्न प्रकार के प्रादेशिक जातीय तथा राष्ट्रीय चरित्रों कार्यकलापों और संस्कृतियों के अध्ययन निरीक्षण और परिपालन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इन सबका परिपालन भरत के अनुसार भाव और रस की दृष्टि से होना चाहिये। भाव के ही अनुसार पाठ्य गुण स्वर आलापक इत्यादि पर भी विचार किया जाना चाहिये जिसमें विभिन्न भावों के अनुसार कुशीलवों को विभिन्न प्रकार के स्वर और उच्चारण का निर्देश किया जाता है। भरत ने सफलता का मापदण्ड लोक को माना है और निर्देश किया है कि लोक में विभिन्न प्रकार के देशाचार और कुलाचार होते हैं जिस देश में जैसा व्यवहार होता है उस देश से सम्बद्ध अभिनय में उसी प्रकार की वेशभूषा उसी प्रकार के आभूषण और उसी प्रकार की भाषण शैली का प्रयोग होना चाहिये। इससे नाट्य में स्वाभाविकता आती है परिशीलक उसे सच्चाई के साथ ग्रहण करता है और तभी उसे आस्वादन की उपलब्धि हो सकती है। इस विषय में भरत के कतिपय निम्न लिखित वचन उद्धृत किये जा सकते हैं—

'लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते॥

[जो बात लोक में सिद्ध है वही बात नाट्य में भी सिद्ध मानी जाती है। नाट्य सर्वदा लोक स्वभाव के अनुकरण से उद्भूत होता है। अतएव नाट्य के प्रयोग में लोक ही प्रमाण रूप में आता है।]

'एतद्विभूषणं नार्या आकेशादानखादपि।
यथाभावरसावस्थं विज्ञायैव प्रयोजयेत्॥

[केश से और नख तक नारी का यह आभूषण है। भाव और रस की अवस्था के अनुसार भली भाँति समझकर इसका प्रयोग किया जाना चाहिये।]

'नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
तस्माल्लोकः प्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः।

[प्रकृतियाँ के शील स्वभाव (देशाचार तथा वंश परम्परा के अनुसार) अनेक प्रकार के होते हैं। शील में नाट्य की प्रतिष्ठा होती है। अतएव नाट्य की योजना करने वालों को सर्वदा लोक को ही प्रमाण मानकर चलना चाहिये।]

: १२ :

औचित्य-सम्प्रदाय

उपक्रम

औचित्य सिद्धान्त को सम्प्रदाय-रूपता आचार्य क्षेमेन्द्र ने प्रदान की। काव्य-शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से यह सम्प्रदाय सर्वाधिक परवर्ती है और ध्वनि वक्रोक्ति, रीति, रस, अलकार इन समस्त सम्प्रदायो के बद्धमूल हो जाने पर सत्ता मे आया था। इस सिद्धान्त का मूल भी ध्वनि सिद्धान्त मे ही सुरक्षित है। किन्तु जो बात अन्य भारतीय चिन्ताधाराओ के विषय मे कही जाती है कि सम्प्रदायरूपता मे आने के बहुत पहले इसके सकेत काव्यशास्त्रमे प्राप्त होने लगते है और सिद्धान्त रूप मे इसको लगभग स्वीकृति मिल ही चुकी होती है। अतएव क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त पर विचार करने के पहले प्राग्वर्ती काव्यशास्त्र मे उसके मूल सूत्रो का अनुसन्धान कर लेना क्षेमेन्द्र की प्रेरणा और उनके योगदान के मूल्याकन मे सहायक होगा।

प्राग्वृत्त

प्राक्तन काव्यशास्त्र मे औचित्य सिद्धान्त के बीज हमे दो रूपो मे प्राप्त होते हैं—जहाँ आचार्य बल देकर बार-बार कहता है कि काव्य के विभिन्न तत्त्व लोकवृत्त-व्यतिरिक्त नही होने चाहिये वहाँ उसका मन्तव्य यही होता है कि काव्य रचना ऐसी होनी चाहिये जिससे सहृदयो को अनौचित्य का प्रतिभास न हो। दूसरे जहाँ आचार्य काव्यदोष पर विचार करते हुये दोषो की नित्यता या अनित्यता स्वीकार करता है वहाँ भी उसका मन्तव्य यही होता है कि कोई भी तत्त्व अनुचित होने पर दोष हो जाता है और वही तत्त्व अनौचित्य के अभाव मे दोष नही रहता यहाँ तक कि कभी-कभी गुण भी हो जाता है। वस्तुत समस्त दोष प्रकरण ही औचित्य सम्प्रदाय के बीज के रूप मे स्वीकृत किया जा सकता है क्योकि अनौचित्य ही दोष है। इसके

अपहार के स्थान पर उसमे वृद्धि ही होती है। भामह ने उदाहरण दिया है कि जैसे एक शब्द का बार-बार प्रयोग पुनरुक्ति दोष कहा जाता है किन्तु यदि भय शोक इत्यादि भावनाओं की पुष्टि करने के लिये और वक्ता की हड़बड़ी दिखलाने के लिये कोई एक शब्द को बार-बार बोलता है तो वह गुण ही हो जाता है। दण्डी के दोष प्रकरण की यह विशेषता है कि उन्होंने दोषो के साथ उसकी दोषरूपता और गुण रूपता दोनो का निदर्श किया है। उदाहरण के लिये व्यर्थ दोष को लीजिये— 'एक वाक्य मे या प्रबन्ध मे यदि पूर्वापर विरोध हो तो दोनो कथनो पर विश्वास नही होता है और वह समस्त वर्णन व्यर्थ हो जाता है। यह काव्य का एक दोष है। उदाहरण के लिये—हे महाबाहु ! अपने शत्रु को मार डालो और समस्त विश्वम्भरा पर विजय प्राप्त कर लो—तुम तो सभी प्राणियो पर कृपा करने वाले हो तुम्हारा कोई शत्रु ही कहाँ है ? यहाँ पर पूर्वापर विरोध दोष है। किन्तु जब चित्त दुःख की किसी विशेष अवस्थासे भरा हुआ हो तो विरुद्ध अर्थ वाली वाणी भी भावना को अभि व्यक्तिक तीव्र करने के लिए अभिमत ही होती है। दण्डी ने विस्तारपूर्वक देशकालादि विरोध का निरूपण कर अन्त मे लिखा है कि यह समस्त विरोध कवि कौशल से दोष गणना को छोड़कर गुण बन जाता है। इसका आशय यही है कि अनौचित्य में दोष होता है किन्तु वही औचित्य मे गुण हो जाता है।

यद्यपि औचित्य का तत्त्व रूप मे उपलब्ध प्रारम्भ से ही होने लगता है किन्तु इस प्रसग मे 'औचित्य' शब्द का प्रयोग पहले-पहल रुद्रट ने ही किया है। इन्होंने विस्तार पूर्वक यमकादि का विवेचन कर उनको रसोचित रखने का आग्रह किया है। इनका विशेष आग्रह है कि कवि को यमक और अनुप्रास के प्रयोग मे सावहित रहना चाहिये। वृत्तियो के उपसंहार मे रुद्रट ने लिखा है —

> एता प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थ संस्थम्।
> मिश्रा कवीन्द्रै रघनाल्पदीर्घा कार्यामुहुश्चैवगृहीतमुक्ता ॥

इन वृत्तियो को प्रयत्न पूर्वक समझ लेना चाहिये और भली भाँति पाठगत और अर्थगत 'औचित्य' पर विचार कर लेना चाहिये। तथा इन वृत्तियो को परस्पर मिश्रित रूप मे काव्य मे निबद्ध करना चाहिये जो कि संहृत न हो बहुत विस्तृत न हो और न बहुत अल्प ही हो। इनका यथास्थान ग्रहण और त्याग भी करना चाहिये।)

इस प्रकार औचित्य की पृष्ठभूमि रुद्रट ने तैयार कर दी थी। नमिसाधु ने विषय विभाग तथा रस दृष्टि के आधार पर यमक श्लेष चित्र इत्यादि की योजना करने का निर्देश दिया है। अन्यथा रस खण्डित हो जाता है। रुद्रट ने औचित्य शब्द का प्रयोग करने के अतिरिक्त ऐसे स्थान गिनाये हैं जहाँ दोष गुण बन जाते हैं। ग्राम्य दोष के अनेक विध व्यक्तियों की भाषण पद्धति पर प्रकाश डाला है। असभ्य कुछ स्थानों पर गुण हो जाता है। अर्थ दोष और रस दोष भी रुद्रट के अनुसार गुण बन जाते हैं। इन्होंने विभिन्न दोषों की परिभाषा मे अनौचित्य शब्द का प्रयोग भी किया है।

आशय यह है कि भरत ने बार-बार इस बात पर बल दिया है कि लोक मे जैसे व्यवहार हो वैसा ही नाट्य मे प्रयुक्त किया जाना चाहिये। शास्त्र के अन्दर इतनी शक्ति नही है कि चर अचर समस्त जगत् का समस्त परिस्थितियो मे निर्णय कर दे। इसलिये नाट्य की योजना करने वालो को लोक को प्रमाण मानकर चलना पडता है। भरत का आशय यही है कि किसी विशेष भाव के अभिव्यजन मे किस प्रकार की वस्तु उचित मानी जाती है किस प्रकार की अनुचित इसका निर्णय लोक से ही किया जा सकता है। कहना न होगा कि भरत यहाँ पर 'औचित्य' पर ही बल दे रहे हैं यद्यपि उन्होंने 'औचित्य' शब्द का प्रयोग नही किया है। उनके मत मे रसानुकूल होना ही नाट्य का गुण है और रस की प्रतिकूलता ही दोष है। उन्होंने अनौचित्य का भी निर्देश किया है—

'अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसिबन्धे तु हास्यायैवोपकल्प्यते ॥'

[जो वेश देशानुकूल नही होता उससे शोभा उत्पन्न नही होती। मेखला को हार के रूप मे पहन लेने पर उससे हास्य की ही सम्भावना की जा सकती है।] क्षेमेन्द्र ने इसी उपमा की छाया में अपने औचित्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा ॥
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्तिके हास्यताम्।
औचित्येन विना रुचि प्रतनुते नालकृतिर्नोगुणा ॥'

[कण्ठ मे मेखला, नितम्बफलक पर विशाल हार, हाथो मे नूपुर बन्धन, चरणो मे केयूरपाश, ये सब हसी के योग्य ही होते हैं, उसी प्रकार विनीत तथा शरणागत के प्रति शौर्य और शत्रु के प्रति करुणा दिखाकर व्यक्ति हसी का पात्र ही बनता है। आशय यह है कि औचित्य के अभाव मे न तो अलकार न ही गुण काव्य-शोभा के सम्पादक हो सकते हैं।] इससे स्पष्ट है कि आगे चलकर क्षेमेन्द्र ने जिस औचित्य-सिद्धान्त को सम्प्रदायरूपता दी थी उसकी भूमिका प्रस्तुत करने का कार्य प्रथम आचार्य भरत से ही प्रारम्भ हो गया था।

नाट्य शास्त्र के समान प्रारम्भिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे भी औचित्य-सिद्धान्त की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है। भामह ने दोष प्रकरण मे लिखा है कि 'सन्निवेश की विशेषता से दोषयुक्त कथन भी शोभाधायक हो जाता है जैसे माला के मध्य मे यदि नीलपलाश बांध दिया जाय तो उससे माला की शोभा ही बढती है। यदि आश्रय सुन्दर हो तो असाधु भी शोभा को धारण करने वाला हो जाता है जैसे कमनीय कामिनी के नेत्रो मे कज्जल उसकी शोभा ही बढाने वाला होता है। भामह का आशय यह है कि जिसे हम काव्यदोष के रूप मे स्वीकार करते हैं वही यदि औचित्य के साथ सन्निविष्ट किया जाय तो गुण बन जाता है। उसमे काव्य शोभा के

कहा है कि विभावादि के औचित्य के अभाव में रसवत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। अभिनव ने उस विचारक वर्ग की ओर भी संकेत किया है कि जो ध्वनि रस इत्यादि सम्प्रदायों की जटिलता से ऊब कर औचित्य में समस्त तत्वों का पर्यवसान देख रहा था। उनका कहना है कि उचित शब्द से रस विषयक औचित्य होता है यह दिखलाते हुये रस ध्वनि ही काव्य का जीवन है यह आचार्य ने दिखला दिया है। उनका कहना है कि—कुछ लोग कहते हैं कि औचित्य पन्ति सुन्दर शब्दार्थ मय काव्य में औचित्य को छोड़कर और जीवन ही क्या हो सकता है? अत ध्वनि की परिकल्पना से क्या लाभ? उन्हें यह समझना चाहिये कि औचित्य का निबन्धन क्या है? रस भाव इत्यादि ही तो? औचित्य पर और किस दृष्टि कोण से विचार किया जा सकता है? अत काव्य का निबन्धन औचित्य है और औचित्य का निबन्धन रस भावादि हैं। इसलिये रस भावादि को छोड़ कर काव्य का और कोई जीवन हो ही नहीं सकता। जो लोग औचित्य का प्रतिपादन करते हैं वे ध्वनि और रस का काव्यात्मा के रूप में अनजाने ही समर्थन कर देते हैं।

उपर्युक्त सामान्य परिचय से यह बात स्पष्ट होगई होगी कि औचित्य के सम्प्रदाय रूपता में आने से पहले उसको सम्प्रदाय रूपता देने की सभी तैयारी हो चुकी थी और विशेष रूप से ध्वनि वादियों ने सम्पूर्ण तत्व पर प्रासंगिक रूप में प्रकाश डाल दिया था। इस विषय में दो चार अन्य आचार्यों का नामोल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है भट्टलोल्लट के नाम पर कुछ कारिकायें प्राप्त हुई हैं जिनमे औचित्य सम्प्रदाय की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है। राजशेखर ने भी काव्य पाक प्रकरण में उचितानुचित शब्द विवेक पर बल दिया है और उसी को व्युत्पत्ति कहा है। रसोचित शब्दार्थ सन्निवेश को ही वे व्युत्पत्ति का आधार मानते हैं और और दोष गुण की गुण दोष रूपता का समर्थन करते हैं। इस दिशा में अभिनव गुप्त के सम सामयिक भोज राज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने औचित्य पर कोई पृथक प्रकरण नहीं लिखा है फिर भी इस सिद्धान्त के मूल तत्व का स्पष्ट प्रतिभास इनके विख्यात ग्रंथ जैसे विद्याप्रकाश काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में हो जाता है। इन्होंने रस भाव तथा तदुपादान शब्द गुण अर्थ गुण (शैली) मत माना है। दोष प्रकरण में भी भाषा के औचित्य इत्यादि पर विचार किया गया है। शृंगार प्रकाश के ११वें अध्याय में जहाँ साहित्य के मूलतत्वों पर प्रकाश डाला गया है वहाँ औचित्य को भी मूलतत्वों में परिगणित किया है। इनके दोष प्रकरण अर्थ कल्पना अलंकार प्रकरण इत्यादि स्थलों पर अनेकत्र औचित्य सिद्धान्त की छाप है। कुन्तक ने भी औचित्य को आवश्यक महत्व प्रदान किया है। इन्होंने कवि प्रस्थान में हेतु भूत तीन मार्गों का विवेचन किया है—सुकुमार विचित्र और मध्यम। इन सभी मार्गों के गुण पृथक-पृथक होते हैं। किन्तु इन सभी मार्गों में दो गुण सर्व साधारण होते हैं—औचित्य और सौभाग्य। ये दोनों उज्ज्वल गुण तीनों मार्गों में पद वाक्य और प्रबन्ध के व्यापक रूप में वर्तमान रहते हैं। औचित्य की परिभाषा करते हुये उन्होंने लिखा है – जिस गुण के द्वारा स्पष्ट रूप से

आनन्द वर्धन काव्य शास्त्र की अनेक अन्य दिशाओं के समान औचित्य के भी निर्देशक रहे हैं। इन्होंने न केवल अनेकश औचित्य शब्द का प्रयोग किया अपितु सभी प्रकार के औचित्यो पर विस्तार पूर्वक विचार भी किया है। ये रस ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं और सभी इतर तत्वो का रस की दृष्टि से ही काव्य मे समावेश करने का निर्देश देते हैं। वस्तु और अलकार को भी रस प्रवण मानकर इन्होने उनके औचित्य के निर्वाह का निर्देश कर दिया है। इसके अतिरिक्त शब्द, अर्थ, गुण, अलकार, रस, प्रबन्ध इत्यादि समस्त काव्यसम्बद्ध तत्वो के विषय मे औचित्य-निर्वाह का सकेत इनके ग्रन्थ से मिल जाता है। आनन्द वर्धन की रसौचित्य परिकल्पना मे सभी प्रकार के औचित्य अन्तर्भूत हो जाते हैं। अलकार नियोजना का भी एक ही लक्ष्य है कि अलकार रस पोषक हो और उनका विनिवेश रसभावादि तात्पर्य को लेकर किया गया हो। अलकार सन्निवेश के नियम भी बनाये गये हैं। इसी प्रकार वृत्त्यनौचित्य शब्द का भी प्रयोग किया गया है और वृत्तियो के औचित्यवती होने की अनिवार्यता बतलाई गई है। प्रबन्ध नियोजना की विशेषताओ तथा उसके नियमो का भी विस्तार पूर्वक उल्लेख है। गुणो के प्रसग मे रसानुकूल शब्दो के प्रयोग पर बल दिया गया है और वर्णों को विभिन्न रसो का व्यजक माना गया है। अगीरस, अगरस, सहचररस, विरोधीरस इत्यादि का विस्तार, अलकार दोषो पर प्रकाश, भरत के सन्धिसन्ध्यगो को रसानुकूल बनाने का निर्देश और केवल शास्त्र विधि मर्यादापालन की इच्छा का निषेध इत्यादि अनेक प्रकरण इस ग्रन्थ मे भरे पडे है जिनमे औचित्य सम्प्रदाय के बीज के दर्शन किये जा सकते है। शब्द और अर्थ की योजना के विषय मे ये कहते हैं —

वाच्याना वाचकाना च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्य महाकवे ॥

(औचित्य के साथ रस इत्यादि के विषय के द्वारा वाच्यो और वाचको की योजना महाकवि का मुख्य कर्म है।) निम्नलिखित कारिका को हम आनन्द वर्धन का औचित्य सम्प्रदाय विषयक उपसहार कह सकते हैं —

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

(अनौचित्य से बढ़कर रस भग का और कोई कारण नही होता। औचित्य का उपनिबन्धन रस की बहुत बडी उपनिषद् है।) आशय यह है कि यद्यपि आनन्दवर्धन ने एक स्थान पर औचित्य शीर्षक से किसी प्रकरण-विशेष की रचना नही की तथापि पूरे प्रबन्ध मे औचित्य सिद्धान्त की छाप पाई जाती है। काव्य के पृथक्-पृथक् अनेक तत्वो के विषय मे उन्होने औचित्य पालन का निर्देश दिया है।

आनन्द वर्धन के प्रतिष्ठित व्याख्याता आचाय अभिनव गुप्त ने और भी अधिक गहराई से औचित्य सिद्धान्त पर विचार किया है। रसौचित्य के विषय मे उन्होने स्पष्ट

कहा है कि विभावादि के औचित्य के अभाव में रसवत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। अभिनव ने उस विचारक वर्ग की ओर भी संकेत किया है कि जो ध्वनि रस इत्यादि सम्प्रदायों की जटिलता से ऊब कर औचित्य मे समस्त तत्वों का पर्यवसान ढूढ रहा था। उनका कहना है कि 'उचित शब्द से रस विषयक औचित्य होता है यह दिखलाते हुये रस ध्वनि ही काव्य का जीवन है यह आचार्य ने दिखला दिया है। उनका कहना है कि—कुछ लोग कहते हैं कि औचित्य घटित सुन्दर शब्दार्थ मय काव्य में औचित्य को छोड़कर और जीवन ही क्या हो सकता है? अतः ध्वनि की परिकल्पना से क्या लाभ? उन्हे यह समझना चाहिये कि औचित्य का निबन्धन क्या है? रस भाव इत्यादि ही तो? औचित्य पर और किस दृष्टि कोण से विचार किया जा सकता है? अतः काव्य का निबन्धन औचित्य है और औचित्य का निबन्धन रस भावादि है। इसलिये रस भावादि को छोड़ कर काव्य का और कोई जीवन हो ही नही सकता। जो लोग औचित्य का प्रतिपादन करते है वे ध्वनि और रस का काव्यात्मा के रूप में अपनाते ही समझ कर देते हैं।

उपर्युक्त सामान्य परिचय से यह बात स्पष्ट होगई होगी कि औचित्य के सम्प्रदाय रूपता मे आने से पहले उसको सम्प्रदाय रूपता देने की सभी तैयारी हो चुकी थी और विशेष रूप से ध्वनि वादियों ने सम्पूर्ण तत्व पर प्रासंगिक रूप मे प्रकाश डाल दिया था। इस विषय मे दो चार अन्य आचार्यो का नामोल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है। भट्टलोल्लट के नाम पर कुछ कारिकायें प्राप्त हुई हैं जिनमे औचित्य सम्प्रदाय की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है। राज शेखर ने भी काव्य पाक प्रकरण मे उचिता नुचित शब्द विवेक पर बल दिया है और उसी को व्युत्पत्ति कहा है। रसोचित शब्दार्थ सन्निवेश को ही वे व्युत्पत्ति का आधार मानते है और और दोष गुण की गुण दोष रूपता का समर्थन करते हैं। इस दिशा मे अभिनव गुप्त के सम सामयिक भोज राज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होने औचित्य पर कोई पृथक प्रकरण नही लिखा है फिर भी इस सिद्धान्त के मूल तत्व का स्पष्ट प्रतिभास इनके विश्व कोष जैसे विशालकाय काव्य शास्त्रीय ग्रन्थो मे हो जाता है। इन्होंने रस भाव तथा तदुपादान शब्द गुण अर्थ गुण (शैली) मत माना है। दोष प्रकरण मे भी भाषा के औचित्य इत्यादि पर विचार किया गया है। शृंगार प्रकाश के ११वे अध्याय मे जहाँ साहित्य के मूलतत्वों पर प्रकाश डाला गया है वहाँ औचित्य को भी मूलतत्वो मे परिगणित किया है। इनके दोष प्रकरण अर्थ कल्पना अलंकार प्रकरण इत्यादि स्थलों पर अनेकत्र औचित्य सिद्धान्त की छाप है। कुन्तक ने भी औचित्य को आवश्यक महत्व प्रदान किया है। इन्होंने कवि प्रस्थान के हेतु भूत तीन मार्गों का विवेचन किया है—सुकुमार विचित्र और मध्यम। इन सभी मार्गो के गुण पृथक-पृथक होते हैं। किन्तु इन सभी मार्गों मे दो गुण सर्व साधारण होते हैं—औचित्य और सौभाग्य। ये दोनों उज्ज्वल गुण तीनों मार्गों मे पद वाक्य और प्रबन्ध के व्यापक रूप मे वर्तमान रहते हैं। औचित्य की परिभाषा करते हुये उन्होने लिखा है—जिस गुण के द्वारा स्पष्ट रूप से

स्वभाव का महत्त्व परिपुष्ट किया जाय उसे औचित्य गुण कहते है जिसका जीवन उचित अभिधान है। यदि औचित्य का पालन करते हुये ही अलकारो का विन्यास किया जाता है तभी काव्य-सौन्दर्य का पोषण होता है।' इसके अतिरिक्त कुन्तक ने विभिन्न प्रकार की वक्रोक्तियो के साथ मे औचित्य शब्द का प्रयोग किया है। जैसे प्रत्ययवक्रमा 'प्रस्तुतौचित्य विच्छित्तिम्' लिग वक्रता मे 'वाच्यौचित्यानुसारत' काल वैचित्र्य वक्रता मे रसौचित्य शब्द का प्रयोग, उपग्रह वक्रता मे 'औचित्यात्' शब्द का प्रयोग इसी धारणा को पुष्ट करते हैं। कुन्तक स्वभावौचित्य व्यवहारौचित्य इत्यादि का प्रतिपादन कर भरत की मान्यता का समर्थन करते जान पडते हैं। महिमभट्ट ने आनन्द वर्धन का खण्डन करने के लिये ही व्यक्ति विवेक की रचना की थी। किन्तु औचित्य के विषय मे इनका आनन्द वर्धन से मतभेद नही है। इनके ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण भाग दोष निरूपण है जिसका आश्रय मम्मट ने काव्य प्रकाश मे लिया है। उनका कहना है कि समस्त दोषो का अन्तर्भाव एक दोष मे हो जाता है और वह है रसानुभूति मे व्यवधान जिसको अनौचित्य के नाम से पुकारा जा सकता है और पाचो प्रकार के दोषो का समावेश इसी एक शब्द मे हो जाता है। यही क्षेमेन्द्र के पहले औचित्य की स्थिति है।

आचार्य क्षेमेन्द्र

आचार्य क्षेमेन्द्र ११ वी शती के मध्य भाग मे काश्मीर के अनन्तराज के सभारत्न थे। कुछ लोग इन्हे अभिनव गुप्त का शिष्य बतलाते हैं। यदि यह बात सत्य न भी हो तो भी इतना तो निश्चित ही है कि काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में इन पर ध्वन्यालोक का सर्वाधिक प्रभाव है। जैसा कि इन्होने 'औचित्य विचार-चर्चा' के उपक्रम मे निर्दिष्ट किया है इन्होंने 'कविकर्णिका' नाम की एक काव्य शास्त्र की और पुस्तक लिखी थी जो अब उपलब्ध नही होती। इसके अतिरिक्त इनके इस दिशा मे दो ग्रन्थ और प्रसिद्ध हैं—'कविकण्ठाभरण' जो कवि शिक्षा के विषय मे है और 'सुवृत्ततिलक' जो कि छन्द शास्त्र के विषय मे है। शुद्ध काव्य शास्त्र की दृष्टि से औचित्य विचार चर्चा ही इनका एक मात्र प्रतिष्ठित ग्रन्थ है जिसमे औचित्य को काव्य जीवन के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय क्षमेन्द्र को नही दिया जा सकता। यह सिद्धान्त तो विभिन्न आचार्यों के विवेचनो मे पहले से ही सन्निहित था। केवल क्षेमेन्द्र ने इस सिद्धान्त को सम्प्रदाय रूपता ही प्रदान की।

औचित्य का स्वरूप

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' की परिभाषा बहुत ही सक्षिप्त दी है—'जिसके जो अनुकूल हो उसे 'उचित' कहते हैं। उचित की ही भाववाचक सज्ञा 'औचित्य' है। यह परिभाषा अत्यन्त सक्षिप्त तथा अस्पष्ट है। किन्तु क्षेमेन्द्र के पूर्वापर ग्रन्थ का परिशीलन करने से क्षेमेन्द्र के स्वरूप निर्देश मे सन्देह का अवसर नहीं रह जाता। उद्देश्य

वाक्य मे इन्होने 'औचित्य' को रस जीवित भूत कहा है तथा उसको चमत्कार कारक बतलाया है। दूसरे स्थान पर इन्होंने काव्य का विशेषण दिया है 'रस सिद्ध' और 'औचित्य' को काव्य का जीवन कहा है। इनकी पूर्वापरसंगति बिठाने से स्पष्ट हो जाता है कि क्षेमेन्द्र का मत बहुत कुछ अभिनव गुप्त से मिलता जुलता है। अभिनव गुप्त ने भी रस विवेचन मे चमत्कार को सन्निविष्ट किया है और औचित्य को रस के लिए अनिवार्य बतलाया है। आशय यह है कि इन आचार्यों के मत मे काव्य का जीवन रस है और रस का जीवन औचित्य है। अभिनव गुप्त के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं:—

'उचित शब्द से रस विषयक औचित्य होता है यह दिखलाते हुए रस ध्वनि का ही जीवित होना सूचित करते हैं। नहीं तो (रस ध्वनि को न मानने पर) इस औचित्य की उद्घोषणा किस आधार पर की जाती है।

आशय यह है कि कवि का मुख्य लक्ष्य रस और भाव होता है। वह भाव में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देता। यदि भाव मे किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न हो तो सहृदयहृदयावर्जन नहीं होता और काव्य का प्रयोजन ही समाप्त हो जाता है। काव्य के शब्द अर्थ अलंकार गुण रीति वृत्ति वक्रोक्ति इत्यादि जितने भी तत्व हैं सभी की योजना इसी दृष्टि से करनी पड़ती है कि रसास्वादन मे व्याघात उत्पन्न न हो। रसास्वादन के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है सहृदयों की आस्था उस पर जम जाय और वे जो कुछ भी रंगमंच पर देख रहे हैं या काव्य में पढ़ रहे हैं उसमे उन्हें असत्यता का प्रतिभास न हो। इसके लिए इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता है कि कवि जिस अर्थ का उपादान करे वह लोक से असम्मत न हो। कवि कल्पना भी कर सकता है किन्तु वह कल्पित अर्थ भी सत्यवत् प्रतिभासित होना चाहिये। इसी प्रकार जिन शब्दों का वह उपादान करे वे शब्द सर्वथा प्रकरणानुकूल तथा विषयानुकूल होने चाहिये। अलंकारादि जितने भी तत्व है सभी की नियोजना इस ढंग से होनी चाहिये कि सभी कुछ स्वाभाविक ही प्रतीत हो। अन्यथा पाठकों की आस्था जम नहीं सकेगी और उनका आस्वाद भी पराहत हो जायेगा। रसानुकूल शब्दादि का प्रयोग ही 'औचित्य' है इसी को रस का जीवन या रस के माध्यम से काव्य का जीवन कहा जा सकता है। यही बात अभिनव गुप्त ने इस प्रकार कही है —

यदि औचित्य युक्त अतिशयोक्ति को जीवन माना जाय तो रस भाव इत्यादि को छोड़कर औचित्य का निबन्धन और कुछ दिखाई नहीं देता अत रसभाव इत्यादि अन्तर्भासित तत्वों को ही काव्य जीवन समझा जाना चाहिये औचित्यवती अतिशयोक्ति को नहीं। इसमे कुछ लोग जो यह कहते थे कि – 'काव्य के औचित्य घटित सुन्दर शब्दार्थमय होने पर सारभूत ध्वनि की कल्पना करने से क्या लाभ ? उनका तो स्वयं ही खण्डन हो जाता है क्योंकि ध्वनि सद्भाव मे उनके वचन ही प्रमाण हैं।

आशय यह है कि व्यंग्यार्थ की दृष्टि से ही औचित्य का निर्धारण किया जाता है। व्यंग्यार्थ के ही चमत्कार पूर्ण होने पर ध्वनि होती है। इस प्रकार ध्वनिवादियों

स्वभाव का महत्त्व परिपुष्ट किया जाय उसे औचित्य गुण कहते है जिसका जीवन उचित अभिधान है। यदि औचित्य का पालन करते हुये ही अलकारो का विन्यास किया जाता है तभी काव्य-सौन्दर्य का पोषण होता है।' इसके अतिरिक्त कुन्तक ने विभिन्न प्रकार की वक्रोक्तियो के साथ मे औचित्य शब्द का प्रयोग किया है। जैसे प्रत्ययवक्रमा 'प्रस्तुतौचित्य विच्छित्तिम्' लिग वक्रता मे 'वाच्यौचित्यानुसारत' काल वैचित्र्य वक्रता मे रसौचित्य शब्द का प्रयोग, उपग्रह वक्रता मे 'औचित्यात्' शब्द का प्रयोग इसी धारणा को पुष्ट करते हैं। कुन्तक स्वभावौचित्य व्यवहारौचित्य इत्यादि का प्रतिपादन कर भरत की मान्यता का समर्थन करते जान पडते हैं। महिमभट्ट ने आनन्द वर्धन का खण्डन करने के लिये ही व्यक्ति विवेक की रचना की थी। किन्तु औचित्य के विषय मे इनका आनन्द वर्धन से मतभेद नही है। इनके ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण भाग दोष निरूपण है जिसका आश्रय मम्मट ने काव्य प्रकाश मे लिया है। उनका कहना है कि समस्त दोषो का अन्तर्भाव एक दोष मे हो जाता है और वह है रसानुभूति मे व्यवधान जिसको अनौचित्य के नाम से पुकारा जा सकता है और पाचो प्रकार के दोषो का समावेश इसी एक शब्द मे हो जाता है। यही क्षेमेन्द्र के पहले औचित्य की स्थिति है।

आचार्य क्षेमेन्द्र

आचार्य क्षेमेन्द्र ११ वी शती के मध्य भाग मे काश्मीर के अनन्तराज के सभारत्न थे। कुछ लोग इन्हे अभिनव गुप्त का शिष्य बतलाते हैं। यदि यह बात सत्य न भी हो तो भी इतना तो निश्चित ही है कि काव्य-शास्त्र के क्षेत्र मे इन पर ध्वन्यालोक का सर्वाधिक प्रभाव है। जैसा कि इन्होने 'औचित्य विचार-चर्चा' के उपक्रम मे निर्दिष्ट किया है इन्होंने 'कविकर्णिका' नाम की एक काव्य शास्त्र की और पुस्तक लिखी थी जो अब उपलब्ध नही होती। इसके अतिरिक्त इनके इस दिशा मे दो ग्रन्थ और प्रसिद्ध हैं—'कविकण्ठाभरण' जो कवि शिक्षा के विषय मे है और 'सुवृत्ततिलक' जो कि छन्द शास्त्र के विषय मे है। शुद्ध काव्य शास्त्र की दृष्टि से औचित्य विचार चर्चा ही इनका एक मात्र प्रतिष्ठित ग्रन्थ है जिसमे औचित्य को काव्य जीवन के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय क्षमेन्द्र को नही दिया जा सकता। यह सिद्धान्त तो विभिन्न आचार्यों के विवेचनो मे पहले से ही सन्निहित था। केवल क्षेमेन्द्र ने इस सिद्धान्त को सम्प्रदाय रूपता ही प्रदान की।

औचित्य का स्वरूप

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' की परिभाषा बहुत ही सक्षिप्त दी है—'जिसके जो अनुकूल हो उसे 'उचित' कहते हैं। उचित की ही भाववाचक सज्ञा 'औचित्य' है। यह परिभाषा अत्यन्त सक्षिप्त तथा अस्पष्ट है। किन्तु क्षेमेन्द्र के पूर्वापर ग्रन्थ का परिशीलन करने से क्षेमेन्द्र के स्वरूप निर्देश मे सन्देह का अवसर नही रह जाता। उद्देश्य

काव्यों में इस तत्त्व के प्रायः दर्शन किये जा सकते हैं। कामायनी की भव्य कल्पना में वैदिक आख्यान के साथ मानव मनोवृत्ति का जो उदात्त चित्रण किया गया है और उससे सारस्वत प्रदेश के लौकिक विकास के साथ जो आनन्द की समोजना की गई है वह वास्तव में प्रबन्धौचित्य का ही उदाहरण है। इसी प्रकार प्रियप्रवास की अभिनव कल्पना और साकेत के कैकेयी चरित्र में इस तत्त्व के दर्शन किये जा सकते हैं।

(आ) व्याकरणगत तत्त्वों का औचित्य काव्यशोभा के लिये अत्यन्त अपेक्षित होता है। यदि सज्जन पुरुष की क्रिया औचित्यपूर्ण हो तभी उसके गुण शोभित होते हैं उसी प्रकार काव्य में क्रिया का औचित्य सर्वथा अपेक्षित होता है। क्रिया के साथ कारक का औचित्य भी प्रयोजनीय होता है। उदाहरण के लिए सीताहरण तात जनि कहहि दसानन आय' में मरब का न कहना और रावण का कहना राम के शौर्य की अभिव्यञ्जना करता है। इसी प्रकार कर्म और करण का औचित्य भी प्रयोजनीय होता है। लिंग वचन उपसर्ग विशेषण निपात काल इत्यादि व्याकरण सम्बन्धी तत्त्वों के विषय में भी यही समझा जाना चाहिये।

(इ) काव्यशास्त्र सम्बन्धी जितने भी तत्त्व हैं सभी में औचित्य सामान्यतया अपेक्षित होता है। ओज प्रसाद माधुर्य इत्यादि चाहे भामह निर्दिष्ट गुण माने जावें चाहे दण्डी और वामन निरूपित दस गुणों की दृष्टि से विचार किया जावे या कुन्तक की नई दिशा का अनुकरण किया जावे सर्वत्र गुणों का औचित्य अपेक्षित होगा। शृंगारादि रस में माधुर्य गुण ही उपयुक्त होता है और वीर इत्यादि कठोर रसों में ओज गुण ही शोभा देता है। उपमादि अलंकारों की योजना वाह्य विलास को एक सर्वथा नूतन स्पर्श दे जाया करती है—नई जवानी में जैसे मोतियों का हार। जिस प्रकार संन्यासियों का आभूषण धारण करना हास्यजनक होता है उसी प्रकार अस्थानस्थ अलंकार-योजना काव्य को दूषित कर देती है। आनन्दवर्धन ने विस्तारपूर्वक अलंकार योजना के औचित्य पर प्रकाश डाला है कि कहाँ कितनी मात्रा में अलंकार का प्रयोग करना चाहिए। कहाँ उसका परित्याग कर देना चाहिए। यह सब अलंकारौचित्य ही है। पद वाक्य प्रबन्ध इत्यादि सभी तत्त्वों की योजना भाव और रस को परिपुष्ट करने के लिए ही होती है। जिस तत्त्व के समावेश से रस-दोष उत्पन्न हो जाय उसको बचाना ही चाहिए। किन्तु कुछ तत्त्व ऐसे होते हैं जो प्रत्यक्ष रस में ही बाधक होते हैं। अतएव क्षेमेन्द्र ने रसौचित्य पर भी विचार किया है। औचित्य से शोभित होनेवाला शृंगारादि रस सभी सहृदयों के हृदयों में व्याप्त होकर उसी प्रकार मन को अंकुरित कर देता है जिस प्रकार *वसन्तकाल अशोक लता को शोभित कर देता है। काव्यशास्त्र* में रसाभास के प्रकरण में शृंगार रसाभास इत्यादि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। जहाँ रसानौचित्य होता है वहाँ रसाभास कहा जाता है और जहाँ औचित्यपूर्ण रस होता है वहाँ रस होता है। रस के समान रस मिश्रण के औचित्य पर भी क्षेमेन्द्र ने प्रकाश डाला है। इसी प्रकार भावौचित्य इत्यादि पर भी विचार किया जा सकता है।

(ई) कवि को शास्त्रीय विधियों में औचित्य के साथ लोकाचार का भी ध्यान रखना पड़ता है। वस्तुतः लोकानुरञ्जन ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। यदि लोक के औचित्य का ध्यान नहीं रक्खा जायेगा तो काव्य सत्य की सीमा से च्युत होकर परिस्थितियों के विराम का ही कारण बनेगा। कवि को ध्यान रखना पड़ता है कि वह जिस देश ग्राम वय इत्यादि का वर्णन कर रहा है उसके औचित्य का सर्वथा निर्वाह

और औचित्य मानने वाले आचार्यों के दृष्टि कोण मे पर्याप्त साम्य है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त भी औचित्य से बहुत दूर नही है। उसमे भी कवि की प्रतिभा और कल्पना का स्वाभाविक कथन के साथ पर्याप्त सामजस्य है और वह काव्य का व्यापक गुण माना गया है।

औचित्य के भेद

क्षेमेद्र ने औचित्य के भेदोपभेद का विश्लेषण उसी परम्परा के आधार पर किया है जिस पर ध्वनि वक्रोक्ति इत्यादि इतर काव्य सिद्धातो का पूर्ववर्ती आचार्यों ने वर्गीकरण किया था। उस वर्गीकरण मे आचार्य ने समस्त काव्य जगत् और तत्सम्बद्ध समस्त तत्वो को आवेष्टित करने की चेष्टा की है। इन्होने जिन स्थानो पर औचित्य की सत्ता स्वीकार की है उनको हम कई भागो मे विभाजित कर सकते है—(अ) मीमासा दर्शन के क्षेत्र मे आने वाले तत्त्व—जैसे पद विचार, वाक्य विचार और प्रबन्धार्थ विचार। (आ) व्याकरण सम्बद्ध तत्त्व—क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात और काल (इ) काव्यशास्त्र सम्बन्धी—गुण, अलकार, रस (ई) लोकशास्त्र सम्बन्धी-देश, कुल व्रत (उ) अन्तर्दृष्टि कोण सम्बन्धी—तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, सार-सग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वाद। इनके अतिरिक्त काव्योपयोगी दूसरे अगो मे भी औचित्य के दर्शन किये जा सकते है। यहाँ पर क्षेमेन्द्र का कहना है कि जिस प्रकार जीवन समस्त शरीर मे व्यापक होता है किन्तु प्राणो की विशेष स्थिति मर्मस्थलो मे होती है। उसी प्रकार वैसे तो औचित्य समस्त काव्य मे व्यापक होता है किन्तु पद इत्यादि मे किसी एक स्थान पर उसका प्रतिभास विशेष रूप मे होने लगता है। जिस प्रकार मर्मस्थल पर थोडा भी प्रतिघात होने पर प्राणान्त हो जाता है उसी प्रकार यदि कवि किसी विशिष्ट स्थल पर असावधान रहे तो काव्यत्व को बहुत बडी हानि पहुँचती है। इन्ही तत्वो पर सक्षिप्त प्रकाश डालने से औचित्य सिद्धात का अतस्तत्व सरलता पूर्वक हृदयगम किया जा सकता है।

(अ) मीमासा दर्शन मे पद वाक्य और प्रबन्ध योजना पर विचार किया जाता है। पद का प्रयोग सर्वथा विषयानुकूल ही किया जाना चाहिये। समस्त काव्य मे एक ही पद कभी-कभी ऐसा चमचमा उठता है कि उससे प्राय समस्त काव्य जगमगा जाता है। स्त्री वाचक अनेक शब्द होते हैं। कवि को ध्यान रखना पडता है कि कहाँ पर किस शब्द का प्रयोग किया जाय। बाला, तन्वी, अगना, ललना, प्रमदा इत्यादि शब्द लगभग एक ही अर्थ के वाचक है। किन्तु इनमे प्रत्येक मे एक विशेष व्यजना निकलती है जो प्रकरणानुकूल प्रयुक्त किये जानेपर पूरी रचना मे नया चमत्कार उत्पन्न कर देती है कविवर सुमित्रानन्दन ने तो इस प्रकार की चारुता के लिए प्रचलित परम्परा का भी प्रत्याख्यान किया है। जब अनेक शब्द मिलकर एक साथ औचित्य का पोषण करते हैं तथा प्रत्येक शब्द के साथ वाक्य रचना मे भी चमत्कार की विश्रान्ति देखी जाती है तो वहाँ पर वाक्यौचित्य होता है। बिहारी की रचना मे कसावट की विशेषता सर्वत्र प्रशसनीय है और कही-कही उनका वाक्यान्तर्गत प्राय प्रत्येक शब्द व्यजक रूप मे प्रयुक्त किया गया है। अत उनमें वाक्य औचित्य के दर्शन किये जा सकते हैं। जबकवि अम्लान प्रतिभा के बल पर नई कल्पना के द्वारा मानो समस्त प्रबन्ध को आप्लुत करने वाली अमृत वर्षा से भर देता है तब वहाँ प्रबन्धौचित्य कहा जाता है। महाकवियो के

कथन को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया जायेगा तो अलंकार रूप में अन्य शास्त्र भी काव्य सीमा में आ जायेंगे और भामह ने जिसे वार्ता कहा है वह भी काव्य कहा जाने लगेगा। काव्य के प्रसंग में काव्यौचित्य का प्रत्याख्यान किया ही कैसे जा सकता है? काव्यौचित्य के क्षेत्र में रमणीयता स्वतः सन्निविष्ट हो जाती है और वार्ता इत्यादि का निराकरण कर देती है। इसीलिए आचार्य ने अलंकार गुण इत्यादि के औचित्य का भी विचार किया है।

औचित्य सिद्धान्त इतना व्यापक है कि उसका प्रतिषेध किंचित् असम्भव हो जाता है यह सार्वजनीन सिद्धान्त है और केवल भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में ही नहीं पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भी इसका महत्व स्वीकार किया है। अमेरिकन आलोचक स्पिगर्न ने भी यह स्वीकार किया है कि कोई भी शब्द या अर्थ स्वतः अच्छा या बुरा नहीं होता। उसकी योजना ही अच्छी या बुरी हो सकती है। यदि उच्चकोटि की शब्द योजना किसी अशिक्षित के सम्भाषण में सन्निविष्ट करदी जाती है तो वह दोष हो जाती है। रावर्ट ब्रिजेज ने 'संवाद' (keeping) को ही कला की प्राह्यता का मूलाधार माना है। अरस्तू के काव्यशास्त्र में भी घटनौचित्य रूपकौचित्य विशेषणौचित्य और विषयौचित्य पर विचार किया गया है। लांजाइनस के उदात्ततत्त्व होरेस की काव्यकला इत्यादि में भी इस सिद्धान्त के दर्शन किये जा सकते हैं।

रस के क्षेत्र में अनौचित्य प्रवृत्ति को रसाभास के रूप में स्मरण किया गया है। भरत के अनुसार रसाभास हास्यरस का क्षेत्र है। उदाहरण के लिए सीता के प्रति रावण की प्रेम विषयक चेष्टायें पाठकों के अन्दर हास्य का ही संचार करने वाली होंगी। यदि करुण रस का परिपाक अनुचित स्थान पर किया जायगा तो वह हास्यजनक ही होगा। इस प्रकार हास्यरस में उपयोगी होने के कारण रसाभास का भी अपना महत्त्व है। इस प्रकार अन्य रसों की अनौचित्य प्रवृत्ति हास्य रस होती है किन्तु हास्यरस की अनौचित्य प्रवृत्ति हास्यरसाभास होती है। आशय यह है कि औचित्य अनौचित्य का विचार काव्य के क्षेत्र में अत्यन्त उपादेय है और समस्त इतर तत्वों में व्यापक रूप में स्वीकृत किया जा सकता है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या औचित्य को काव्य का जीवन माना जा सकता है? यहाँ पर ध्यान रखने की बात यह है कि तर्कशास्त्र में कारणता उसी की मानी जाती है जो अन्यथासिद्ध न हो। जो तत्व प्रत्येक कार्य का कारण हो सकता है उसे किसी एक कार्य का कारण नहीं माना जाता। उदाहरण के लिए ईश्वर समस्त जगत् का कारण है उसके साथ घड़े का भी कारण है। अतः यह कोई नहीं कहता कि घड़ा ईश्वर का बनाया हुआ है। इसी प्रकार 'औचित्य' शास्त्र लोक काव्य इत्यादि सभी व्यवहारों में प्रयोजनीय होता है। अतः उसे हम किसी एक विशिष्ट क्षेत्र (काव्य) का तत्व नहीं मान सकते। काव्य का वही तत्व उसका जीवन हो सकता है जो इतर व्यावृत्त काव्यमात्र संबद्ध हो। स्पष्ट है कि ऐसा तत्व औचित्य नहीं है। अतः औचित्य को काव्यात्म तत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर यह समस्त इतर विशेषताओं का पोषक है और काव्य के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है इसमें सन्देह नहीं।

किया जावे। क्षेमेन्द्र का कहना है कि इस प्रकार के औचित्य के निर्वाह से काव्य जन-मानस से मेल खाता हुआ सा जान पडता है और उसी प्रकार सज्जनो के मानस को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है जैसे सज्जनो का परिचित व्यवहार अनुराग उत्पन्न करता है।

(उ) पदादि के औचित्य के साथ उसके मूलस्रोत कवि-मानस की अन्तर्भूमियो को भी महत्त्व प्राप्त है क्योकि उन्ही से काव्य-वस्तु का स्फुरण होता है। कुछ तत्त्व जैसे ससार की असारता नैतिक-तत्त्व इत्यादि सार्वजनीन हो जाते हैं। उनका समझ बूझकर काव्य मे सन्निवेश उसकी शोभा वढाने वाला होता है। कवि को ध्यान रखना पडता है कि जिस शास्त्र की वात वह कर रहा है उसके विरुद्ध कोई वात न कही जाय। इसी प्रकार जिस पात्र का उपादान किया गया है उसकी महा महिमा का भी विचार रखना पडता है और अभिव्यग्य अभिप्राय का औचित्य भी कवि की दृष्टि मे सर्वदा सन्निहित रहता है। अन्यथा काव्य दोष आ जाता है। स्वभाव का औचित्य भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिस प्रकार सुन्दरियो का अनलकृत रूपसौन्दर्य और लावण्य ही उपादेय होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण विस्तृत समूह से कवि को सार भाग के चुनने मे भी सावधान रहना पडता है और उसे यह भी ध्यान रखना पडता है कि उसकी प्रतिभा उसके विचार, पात्रो की अवस्था, उसके शब्द प्रयोग इत्यादि क्षेत्रो मे औचित्य का निर्वाह किया गया है या नही। जव चारो ओर से औचित्य का निर्वाह किया जाता है तभी काव्य सुचारु वन सकता है अन्यथा नही।

परवर्ती आचार्य

परवर्ती आचार्यो ने क्षेमेन्द्र द्वारा प्रदर्शित औचित्य का स्वरूप नही अपनाया। किन्तु उसकी सत्ता और उपयोगिता से किसी को भी मतभेद नही। मम्मट दोषो के मूल मे अनौचित्य को स्वीकार करते हैं और औचित्य के होने पर दोषो को भी गुण-रूपतापत्ति का समर्थन करते हैं। हेमचन्द्र विश्वनाथ पण्डितराज इत्यादि ने भी प्रासगिक रूप मे ही औचित्य का उल्लेख किया है तथा उसकी सम्प्रदायरूपता नही अपनाई है। जिस प्रकार आधुनिक युग मे आकर वक्रोक्ति इत्यादि कई ऐसे तत्व प्रकाश मे आये जो विस्मृति के गर्त मे तिरोहित हो चुके थे उसी प्रकार किसी सीभा तक आधुनिक काल मे ही औचित्य सम्प्रदाय का भी उद्धार हुआ है। डे, काणे, वलदेवप्रसाद उपाध्याय, डॉ० राघवन कुप्पूस्वामी डॉ० नगेन्द्र प्रभृति आधुनिक चिन्तको ने इस तत्त्व पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त औचित्य के दो रूप और प्राप्त होते हैं— अग्नि पुराण मे उभयालकार का एक भेद औचित्य माना गया है और प्रकाशवर्ष ने इसे शब्दालकार के रूप मे स्वीकार किया है।

मूल्यांकन

अब हमारे सामने मूल्याकन का प्रश्न आता है। इसमे तो सन्देह है ही नही कि औचित्य एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और उसके अभाव मे सभी काव्य सिद्धान्त मर्यादातीत होकर अपनी सुन्दरता खो देते हैं। अलकारवादियो, रीतिवादियो, रसवादियो, ध्वनिवादियो और वक्रोक्तिवादियो को सीमा मे रखने का कार्य औचित्य का ही है। किन्तु यह समझना ठीक नही है कि औचित्य स्वाभाविक कथन का पर्याय है। क्षेमेन्द्र ने इस तत्त्व को कवि की अन्तर्दृष्टि तक विस्तारित कर और प्रतिभौचित्य का भी निरूपण कर इस शका का स्वत समाधान कर दिया है कि यदि स्वाभाविक

द्वितीय वर्ग

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र

: १३ :

अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त

१ प्लैटो के पूर्ववर्ती विचारकों का कला सम्बन्धी मत
२. प्लैटो के 'अनुकरण' सम्बन्धी विचार
३ अरस्तू के 'अनुकरण' सम्बन्धी विचार
   (क) कला और प्रकृति
   (ख) अनुकरण की वस्तुयें
   (ग) कविता और इतिहास का परस्पर सम्बन्ध
   (घ) कार्य से अभिप्राय
   (ङ) आनन्द सम्बन्धी मत
४ निष्कर्ष
५ अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त की शक्ति और सीमाए
६. आधुनिक काल में उसका महत्व

प्राचीन यूनान मे कला का विवेचन नैतिक दृष्टि से होता था। उनका सबसे बड़ा उपदेशक ही सर्वश्रेष्ठ कवि था। उनकी धारणा थी कि अपने काव्य मे जीवन के सत्य का स्वच्छ प्रतिरूप प्रस्तुत करने के कारण ही होमर आदर्श कवि था। वे मानते थे कि कला सच्चे रूप मे अनुकरणात्मक होती है। सॉक्रेटीज और उनके बाद के विचारको ने इस बात की पुष्टि यह कह कर की कि कविता की ध्वनिया जीवन की ध्वनियो की नकल हैं और कविता की गतियां जीवन की गतियो की नकल। प्लैटो के पूर्ववर्ती यह मानते थे कि कलाकार वास्तविक जगत् के पदार्थों का निर्माण या उत्पादन नही करता, वह केवल उनका छायाभास (appearance) ही निर्माण कर पाता है। इस प्रकार वे कला को अनुकृति मानते थे न कि स्वतन्त्र रचना। प्लैटो पर इन विचारों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, अत उसने भी कला को अनुकृति माना है।

प्लैटो गणितज्ञ था, अत वह विचार से वस्तु की ओर अग्रसर होता था। उसके सम्मुख रेखा का 'आदर्श' पहले उपस्थित होता है, रेखा बाद मे जन्म लेती है। वह मानता था कि अथक परिश्रम और प्रयत्न करने पर भी आदर्श रेखा नही बन पाती, अनुकरण अधूरा ही रहता है।

प्लैटो के अनुसार ईश्वरकृत मूलादर्श (Idea) ही वास्तविक सत्ता है और इन मूलादर्शों का एक सूक्ष्म जगत् है। स्थूल ससार उसी सूक्ष्म जगत् का अपूर्ण अनुकरण

है। ईश्वर बढ़ई है अतः उसने मूलादर्श को सांसारिक वस्तुओं में प्रविष्ट कर दिया है। उसका विश्वास है कि यह दृश्यमान जगत् वैचारिक आदर्श जगत् की प्रतिकृति है। 'यदि परमात्मा है तो ब्रह्माण्ड उसकी अनुकृति है यदि पदार्थ हैं तो उनकी प्रति छायाएं अनुकृतियाँ हैं।

प्लैटो ने दैवी कलाओं (Divine Arts) को दो वर्गों में बाँटा है—प्राकृतिक पदार्थ जो परमात्मा के द्वारा उद्भूत हुए हैं तथा उनकी प्रतिकृति जो हमें स्वप्न में अथवा जल में प्रतिबिम्बित होते दिखाई देते हैं। इसी प्रकार मानवी कलाओं के भी उसने दो भेद किए हैं—उत्पादक (उपयोगी) कलाएं जैसे बढ़ईगीरी तथा अनुकरणात्मक कलाएं जो उत्पाद्य वस्तुओं (मेज आदि) का बिम्ब प्रस्तुत करती हैं, जैसे चित्रकला। बढ़ई यदि उत्पादक कलाकार है तो चित्रकार अनुकरणात्मक कलाकार है। अनुकरणात्मक कला के भी दो भेद हैं—(i) Copy-making या Photographic art तथा (ii) Fantastic art। प्रथम में चित्रकार उतनी ही लम्बी-चौड़ी-ऊँची मेज का चित्र अंकित करता है जितनी उसके सम्मुख है दूसरी में वह सामने रखी मेज को उस अनुपात में चित्रित करता है जिससे वह सुन्दर लगे। वह पहले चित्र को Copy तथा दूसरे को appearance या phantasm कहता था। इस प्रकार उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु के तीन रूप होते हैं—आदर्श वास्तविक तथा अनुकरणात्मक। उसके पलंग के उदाहरण को लें तो उसके तीन रूप होंगे—आदर्श रूप बढ़ई द्वारा निर्मित तथा चित्रकार द्वारा चित्रित। इनमें प्रथम को वह सर्वोत्कृष्ट मानता है क्योंकि अन्य दो—copy और phantasm को समझने के लिए प्रथम का जानना आवश्यक है—जब तक हमने चन्द्रमा को नहीं देखा है, तब तक जल में पड़े उसके प्रतिबिम्ब को देख हमें उसे पहचान लेने से उत्पन्न आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है। सारांश यह है कि प्लैटो की दृष्टि में मूलादर्श ही महत्त्वपूर्ण है और चूंकि कलाकार की कृति उससे दुगनी दूरी पर होती है (Twice removed from the Truth) अतः वह त्याज्य है। भरसक प्रयत्न करने पर भी बढ़ई वैसा पलंग नहीं बना पाता जैसा वह बनाना चाहता है—अर्थात् मूलादर्श के अनुरूप और जब चित्रकार या कवि उस बढ़ई द्वारा पलंग का चित्रण और वर्णन करते हैं तो वह पहली नकल की नकल मात्र होती है, अतः अनुकरणात्मक कला सत्य से दुगनी दूरी पर होती है।

फिर कलाकार का सम्बन्ध उन वस्तुओं से होता है जो प्रतिक्षण बदलती रहती हैं—जो कभी बड़ी तो कभी छोटी कभी गर्म तो कभी ठंडी कभी मधुर तो कभी कटु लगती हैं जबकि मूलादर्श एक और अपरिवर्तनशील होता है। इस दृष्टि से भी मूलादर्श की अपेक्षा phantasm तुच्छ है। कला कृति में सारभूत या विशुद्ध सत्य का अंश मात्र होता है उसकी बाह्य छाया-मात्र होती है, जिससे पाठक या दर्शक भ्रान्ति में पड़ सकता है, अतः इस दृष्टि से भी वह अधिक महत्त्व की नहीं रहती प्लैटो कला को जिसका आधार अनुकरण है मनोरंजन का एक प्रकार मानता है न कि गंभीर

कार्य। इसलिए भी वह अनुकरणात्मक कला को महत्त्व नहीं देता।

कला तथा कविता का अध्ययन सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से न कर नीति-शास्त्री की दृष्टि से करने के फलस्वरूप प्लैटो की दृष्टि मे कला की उत्कृष्टता के दो आधार हैं —(i) सत्य की अनुकूलता अर्थात् मूल वस्तु का अनुकरण किस सीमा तक हो पाया है। (ii) वह वस्तु जिसका अनुकरण किया गया है, स्वय अपने आप मे शुभ है अथवा अशुभ। यदि अनुकरण सत्य के निकट है और अनुकरण का विषय जनमंगलकारी है, तो वह अनुकरण को बुरा नही मानता। अत उसे अनुकरण का पूर्ण विरोधी नही कहा जा सकता। उसकी दृष्टि मे कविता इसलिए त्याज्य नही कि वह अनुकरण है अपितु इसलिए कि वह अनुकरण अधूरा होता है, उसमे सत्य का अभाव होता है, कविता का विषय झूठा और कवि के साधन झूठे होते , , वह पाठक के भावो को उद्वेलित करती और आत्मा के निकृष्टतम अश को उत्तेजित, पुष्ट तथा सबल बनाती है।

साराश यह है कि प्लैटो कला और अनुकरण का घनिष्ट सम्बन्ध मानते हैं, मूलादर्श की विशुद्ध अनुकृति न होने के कारण कला को हेय मानते है, अनुकरण को गभीर कार्य नहीं स्वीकार करते और उसमे निहित खतरे—अज्ञान, भ्रान्ति, असावधानी—आदि के कारण उसे त्याज्य बताते है। वह अनुकरण का समर्थन उसी सीमा तक करते हैं जबकि प्रथम तो वह वस्तु जिसका अनुकरण किया जा रहा हो, शुभ हो और दूसरे वह अनुकरण सत्य के समीप हो।

अरस्तू ने काव्य-कला को राजनीति तथा नीतिशास्त्र की दृष्टि से न देखकर सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से देखा और इस प्रकार स्काट जेम्स के शब्दो मे, "उसने काव्य को दार्शनिक, राजनीतिज्ञ तथा नीतिशास्त्री के अत्याचार से मुक्त किया।" उसने प्रत्येक कला-कृति को सौन्दर्य की वस्तु माना। यही कारण है कि 'अनुकरण' के सम्बन्ध में अरस्तू का मत प्लैटो के मत से भिन्न है।

अरस्तू ने प्लैटो द्वारा प्रयुक्त 'mimesis' शब्द तो स्वीकार किया पर उसे एक नवीन अर्थ प्रदान किया। प्लैटो ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग हू-ब-हू नकल करने के अर्थ मे किया था, पर अरस्तू ने उसका एक सीमित तथा निश्चित अर्थ ग्रहण किया। बूचर के शब्दो मे "अरस्तू ने अपने युग में प्रचलित 'कला अनुकरण है' इस सूत्र को तो स्वीकार किया, किन्तु उसकी नवीन व्याख्या की।"

अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति मानता है। "कविता सामान्यत मानवीय प्रकृति की दो सहज प्रवृत्तियो से उद्‌भूत हुई जान पड़ती है। इनमे से एक है अनुकरण की प्रवृत्ति। कला प्रकृति का अनुकरण करती है।" यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रकृति मे अरस्तू का क्या अभिप्राय है। क्या वह जगत् के बाह्य, स्थूल और गोचर रूप को—पर्वत, नदी, पशु आदि को प्रकृति के अन्तर्गत मानता है? स्पष्ट उत्तर

है कि नहीं। उसके अनुसार प्रथम तो मानवेतर प्रकृति का अनुकरण करना अनुकरणात्मक कला का काम नहीं। दूसरे कवि या कलाकार प्रकृति की गोचर वस्तुओं का नहीं वरन् प्रकृति की सर्जन प्रक्रिया का अनुकरण करता है।[1] उसके अनुसार अनुकरण का विषय गोचर वस्तुएं न होकर, उनमें निहित प्रकृति-नियम हैं। उसने अपने ग्रन्थ पॉलिटिक्स में लिखा है प्रत्येक वस्तु पूर्ण विकसित होने पर जो होती है उसे ही हम उसकी प्रकृति कहते हैं। प्रकृति इसी आदर्श रूप की उपलब्धि की ओर निरन्तर कार्यरत रहती है, किन्तु कई कारणों से वह अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो पाती। कवि या कलाकार उन अवरोधक कारणों को हटाकर प्रकृति की सर्जन क्रिया का अनुकरण करता हुआ प्रकृति के अधूरे काम को पूरा करता है। Generally art partly completes what nature cannot bring to a finish and partly imitates her" वह प्रस्तुत वस्तु को ऐसा रूप प्रदान करता है कि उससे उस वस्तु के विश्वव्यापक (universal) और आदर्श (Ideal) रूप का बोध हो जाय। इस प्रकार अनुकरण एक सर्जन-क्रिया है। इस सम्बन्ध में एबरक्रोम्बे का मत उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा है कि अरस्तू का तर्क था कि यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती तो वह हमें उससे कुछ अधिक नहीं दे सकती थी जो प्रकृति देती है पर तथ्य यह है कि हम कविता का आस्वादन इसलिए करते हैं कि वह हमें वह प्रदान करती है जो प्रकृति नहीं दे सकती। एबरक्रोम्बे के अनुसार 'अरस्तू ने कविता में अनुकरण का वही अर्थ ग्रहण किया जो अर्थ आजकल हम तन्त्र शिल्प (technique) का मानते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तु-जगत् के द्वारा कवि की कल्पना में जो वस्तु-रूप प्रस्तुत होता है कवि उसी को भाषा में प्रस्तुत करता है। यह पुनर्प्रस्तुतीकरण ही अनुकरण है। अनुकरण वह तत्त्व है जिसके द्वारा कवि अपनी कल्पनात्मक अनुभूति की प्रक्षेपणीय अभिव्यक्ति को अन्तिम रूप प्रदान करता है। साराश यह है कि अनुकरण का अर्थ हू-ब-हू नकल (mimicry) नहीं बल्कि संवेदना अनुभूति कल्पना आदर्श आदि के प्रयास द्वारा अपूर्ण को पूर्ण बनाना है।

अरस्तू के अनुसार कलाकार तीन प्रकार की वस्तुओं में से किसी एक का अनुकरण कर सकता है—जैसी वे थीं या हैं जैसी वे कही या समझी जाती हैं और जैसी वे होनी चाहिए। स्पष्ट है कि वे काव्य का विषय प्रकृति के प्रतीयमान सम्भाव्य व आदर्श रूप को मानते हैं। कवि को स्वतन्त्रता है कि वह प्रकृति को उस रूप में चित्रित करे जैसी वह उसकी इन्द्रियों को प्रतीत होती है अथवा जैसी वह भविष्य में प्रतीत हो सकती है अथवा जैसी वह होनी चाहिए। इस विवरण में निश्चय ही कवि की भावना और कल्पना का योगदान होगा—वह नकल मात्र नहीं होगा।

---

1 His Nature is not the visible physical universe but the creative principle operating in it.

कार्य । इसलिए भी वह अनुकरणात्मक कला को महत्त्व नहीं देता ।

कला तथा कविता का अध्ययन सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से न कर नीति-शास्त्री की दृष्टि से करने के फलस्वरूप प्लैटो की दृष्टि मे कला की उत्कृष्टता के दो आधार हैं—(i) सत्य की अनुकूलता अर्थात् मूल वस्तु का अनुकरण किस सीमा तक हो पाया है । (ii) वह वस्तु जिसका अनुकरण किया गया है, स्वय अपने आप मे शुभ है अथवा अशुभ । यदि अनुकरण सत्य के निकट है और अनुकरण का विषय जनमगलकारी है, तो वह अनुकरण को बुरा नही मानता । अत उसे अनुकरण का पूर्ण विरोधी नही कहा जा सकता । उसकी दृष्टि मे कविता इसलिए त्याज्य नही कि वह अनुकरण है अपितु इसलिए कि वह अनुकरण अधूरा होता है, उसमे सत्य का अभाव होता है, कविता का विषय झूठा और कवि के साधन झूठे होते हैं, वह पाठक के भावों को उद्वेलित करती और आत्मा के निकृष्टतम अश को उत्तेजित, पुष्ट तथा सबल बनाती है ।

साराश यह है कि प्लैटो कला और अनुकरण का घनिष्ट सम्बन्ध मानते हैं, मूलादर्श की विशुद्ध अनुकृति न होने के कारण कला को हेय मानते हैं, अनुकरण को गभीर कार्य नही स्वीकार करते और उसमे निहित खतरे—अज्ञान, भ्रान्ति, असावधानी—आदि के कारण उसे त्याज्य बताते हैं। वह अनुकरण का समर्थन उसी सीमा तक करते हैं जबकि प्रथम तो वह वस्तु जिसका अनुकरण किया जारहा हो, शुभ हो और दूसरे वह अनुकरण सत्य के समीप हो ।

अरस्तू ने काव्य-कला को राजनीति तथा नीतिशास्त्र की दृष्टि से न देखकर सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से देखा और इस प्रकार स्काट जेम्स के शब्दो मे, "उसने काव्य को दार्शनिक, राजनीतिज्ञ तथा नीतिशास्त्री के अत्याचार से मुक्त किया ।" उसने प्रत्येक कला-कृति को सौन्दर्य की वस्तु माना । यही कारण है कि 'अनुकरण' के सम्बन्ध मे अरस्तू का मत प्लैटो के मत से भिन्न है ।

अरस्तू ने प्लैटो द्वारा प्रयुक्त 'mimesis' शब्द तो स्वीकार किया पर उसे एक नवीन अर्थ प्रदान किया । प्लैटो ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग हू-ब-हू नकल करने के अर्थ मे किया था, पर अरस्तू ने उसका एक सीमित तथा निश्चित अर्थ ग्रहण किया । बूचर के शब्दो मे "अरस्तू ने अपने युग मे प्रचलित 'कला अनुकरण है' इस सूत्र को तो स्वीकार किया, किन्तु उसकी नवीन व्याख्या की ।"

अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति मानता है । "कविता सामान्यत मानवीय प्रकृति की दो सहज प्रवृत्तियों से उद्भूत हुई जान पडती है । इनमे से एक है अनुकरण की प्रवृत्ति । कला प्रकृति का अनुकरण करती है ।" यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रकृति मे अरस्तू का क्या अभिप्राय है । क्या वह जगत् के बाह्य, स्थूल और गोचर रूप को—पर्वत, नदी, पशु आदि को प्रकृति के अन्तर्गत मानता है? स्पष्ट उत्तर

जाता है कि उससे केवल आनन्द की उपलब्धि होती है। भय और दुःख का निराकरण हो जाता है। यह अनुकरण निश्चय ही यथार्थ वस्तुपरक अंकन न होकर भावनात्मक और कल्पनात्मक होगा।

अरस्तू का कथन है कि अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द कम सार्वभौम नहीं होता। यद्यपि इस कथन में अरस्तू का संकेत सहृदय के ही आनन्द से है पर सहृदय को भी आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है जब कवि के हृदय में आनन्द भाव की अनुभूति हो। इसका अर्थ यह हुआ कि अनुकरण में आत्म-तत्त्व का प्रकाशन अनिवार्य है, आत्माभिव्यंजन आवश्यक है यह केवल वस्तु का यथार्थ अंकन नहीं है।

इस प्रकार अरस्तू के विविध कथनों की व्याख्या करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय भावनापूर्ण अनुकरण से था यथार्थ प्रत्यंकन से नहीं। यह अनुकरण सुन्दर होगा आनन्द प्रदान करेगा पाठक के मन को उसकी वास्तविकता के प्रति आश्वस्त करेगा। उसमें आदर्श-तत्त्व भी होगा और व्यक्ति से सम्बद्ध होते हुए भी वह सार्वभौम और समष्टिगत सत्य का प्रतिपादन करेगा। इसी बात को विविध विद्वानों ने अपने-अपने शब्दों में कहा है। बूचर कहता है 'अरस्तू के अनुकरण' शब्द का अर्थ है सादृश्य-विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन सांकेतिक उल्लेखन नहीं। कला या कविता को मानव जीवन के सर्व व्यापक तत्त्व की अभिव्यक्ति मानता हुआ वह अनुकरण को रचनात्मक प्रक्रिया (creative action) मानता है।[1] प्रो गिलबर्ट मरे ने यूनानी शब्द 'पोएटेस' (कर्ता—रचयिता) को आधार मानकर अनुकरण शब्द की यही व्याख्या की है और अनुकरण में सर्जना का अभाव नहीं माना है।[2] आधुनिक टीकाकार पॉट्स के अनुसार अनुकरण का अर्थ है—जीवन का पुनःसृजन और एटकिन्स के अनुसार "प्राय पुनः सृजन का ही दूसरा नाम अनुकरण है। स्कॉट जेम्स इसे जीवन के कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पर्याय मानता है—

Imitation, for the Poetics is the objective representation of life in literature—what in our language we might call the imaginative reconstruction of life."[3]

यह सत्य है कि अनुकरण को नया अर्थ प्रदान कर अरस्तू ने कला का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया सुन्दर को शिव से अधिक विस्तृत माना कला पर प्लैटो द्वारा लगाये पाखिण्डपूर्णता के आरोप को वृथा बताया और कविता को दार्शनिक *तथा नैतिक के बन्धन से छुटकारा दिलाया तथापि उनका अनुकरण सिद्धान्त पूरी* तरह निर्दोष नहीं है।

वह आत्म-तत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वस्तु-तत्त्व को प्रधानता देता है। वह वस्तु को उद्दीपक निमित्त-मात्र नहीं मानता अपितु आधार

१ Butcher Aristotle s theory of Poetry and Fine Art p, 118
२ Murray Gilbert Aristotle on the theory of Poetry p 9
३ Scott James The Making of Literature p 53

प्रतीयमान एव सभाव्य रूप मे यदि वह भावना और कल्पना का आश्रय लेगा, तो आदर्श रूप मे वह अपनी रुचि, इच्छा तथा आदर्शों के अनुरुप चित्र प्रस्तुत करेगा। इस प्रकार अरस्तू का अनुकरण-सिद्धान्त भावनामय तथा कल्पनामय अनुकरण को मानकर चलता है, शुद्ध प्रतिकृति को नही।

अरस्तू का मत है कि कविता इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक एव उच्चतर वस्तु है। "कवि और इतिहासकार मे वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। काव्य सामान्य की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की।" उनके इस कथन मे इतिहास के सत्य को मूर्त एव अव्यापक बताया गया है और काव्य के सत्य को अमूर्त एव व्यापक कहा गया है। मूर्त वस्तुपरक होता है जबकि अमूर्त का चित्रण कल्पना, अनुभूति तथा विचार पर आश्रित होता है। अत उनके काव्य और इतिहास सम्बन्धी विवेचन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते है कि अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय भावपरक अनुकरण से था न कि यथार्थ वस्तुपरक प्रत्यकन से। उनका निम्न वक्तव्य—"A likely impossibility is always prefer able to an unconvincing possibility" भी इसी तथ्य की ओर सकेत करता है।

त्रासदी के विवेचन मे अरस्तू ने लिखा है कि वह मनुष्यो का नही वरन् कार्य का (Men in action) और जीवन का अनुसरण करती है। 'कार्य' शब्द का प्रयोग उन्होने मानव जीवन के चित्र (image of human life) के अर्थ मे किया है। जो कुछ भी मानव जीवन के आन्तरिक-पक्ष को व्यक्त कर सके, बुद्धि-सम्मत व्यक्तित्व का उद्घाटन करे, वह सभी कुछ 'कार्य' शब्द के अन्तर्गत आएगा। अत कार्य का अर्थ केवल मनुष्य के कर्म ही नही, उसके विचार, भाव, चरित्र आदि भी है जो कर्म के लिए उत्तरदायी होते हैं। अत यहाँ भी अनुकरण का अर्थ नकल न होकर, पुनर्प्रस्तुतीकरण है। इसी सन्दर्भ मे उन्होंने लिखा है कि काव्य मे जिस मानव का चित्रण होता हैं, वह सामान्य मानव से अच्छा भी हो सकता है, उससे बुरा भी हो सकता है और वैसे का वैसा भी। पर उन्होंने तीसरे वर्ग की चर्चा न कर केवल सामान्य से अच्छे और बुरे की चर्चा की है। इस चर्चा से भी स्पष्ट है कि वह काव्य मे प्रकृति के अन्धानुकरण के विरुद्ध थे, क्योकि सामान्य से अच्छा या बुरा मानव चित्रित करने के लिए तो कल्पना-तत्त्व आवश्यक है। अत अनुकरण से उनका अभिप्राय कल्पनात्मक पुन सर्जन था जिसमे कुछ चीजें बढाई जा सकती हैं, तो कुछ अनावश्यक बातें छोडी भी जा सकती हैं।

अरस्तू ने एक स्थान पर लिखा है, "जिन वस्तुओ का प्रत्यक्ष दर्शन हमे दु ख देता है, उनका अनुकरण द्वारा प्रस्तुत रूप हमे आनन्द प्रदान करता है। डरावने जानवर को देखने में हमे भय एव दु ख होता है, किन्तु उसका अनुकृत रूप हमे आनन्द प्रदान करता है।" इसका आशय यह हुआ कि 'अनुकरण' द्वारा वास्तविक जीवन मे भय और दु ख की अनुभूति प्रदान करने वाली 'वस्तु' को इस प्रकार प्रस्तुत किया

१४

अरस्तु का विरेचन सिद्धान्त

१ काव्य के सम्बन्ध में प्लेटो का मत
२ अरस्तू द्वारा विरेचन सिद्धांत का उल्लेख
३ विरेचन का अर्थ
४ अरस्तू—परवर्ती विद्वानों द्वारा विरेचन की व्याख्या
५ इन व्याख्याओं की समीक्षा
६ 'विरेचन' सिद्धान्त पर आक्षेप—उनका निराकरण
७ विरेचन और आनन्द
८ विरेचन और करुण-रस
९ उपसंहार

प्लेटो का काव्य सम्बन्धी मत

कविता के सम्बन्ध में प्लेटो का मत था कि वह 'Imitation of an imitation twice removed from the truth' अर्थात् वह अनुकरण का अनुकरण है सत्य से दुगुनी दूरी पर है, अत त्याज्य है। अपनी पुस्तक गणराज्य में कविता पर आक्षेप करते हुए उसने लिखा है poetry appealing not to the reason but to the emotions excites feeds and strengthens the most worthless part of the soul अर्थात् कविता हमारी वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती है, क्योंकि वह तर्क या बुद्धि को प्रभावित करने की बजाय हृदय या भावनाओं को प्रभावित करती है। प्लेटो की इस धारणा का कारण कदाचित् यह था कि वह कला के अध्ययन को नीति-शास्त्र से सम्बद्ध मानता था। इसके विपरीत अरस्तू का कला सम्बन्धी मत सौन्दर्य-शास्त्र पर आधारित था। अत उन्होंने प्लेटो के सिद्धांत का विरोध करते हुए 'भावों के विरेचन' की बात कही। अपने समय में प्रचलित चिकित्सा पद्धति के शब्द 'Katharsis' से संकेत ग्रहण कर उन्होंने उस शब्द के लाक्षणिक प्रयोग द्वारा प्लेटो के आक्षेप का उत्तर दिया।

विरेचन सिद्धान्त का उल्लेख

अरस्तू ने न तो 'विरेचन सिद्धान्त' की कोई परिभाषा ही अपने किसी ग्रन्थ में दी है और न कहीं उसकी व्याख्या ही की है। उन्होंने केवल दो स्थानों पर इस शब्द

रूप मानता है। वह व्यक्तिपरक भाव-तत्त्व मे अधिक महत्त्व वस्तुपरक भाव-तत्त्व को देता है जो निश्चय ही अनुचित है।

दूसरे, उसकी परिधि बडी सकुचित है। उसमे कवि की अतश्चेतना को उतना महत्व नही दिया गया जितना दिया जाना चाहिये था। कवि जीवन मे विभिन्न अनुभवो के बीच से गुजरता है, नाना प्रभाव ग्रहण करता है और इन सबसे उसकी अतश्चेतना का निर्माण होता है। परन्तु इस सिद्धान्त मे उसको महत्त्व नही दिया गया है क्योकि यह सिद्धान्त वस्तुपरक भाव-तत्त्व पर ही अधिक बल देता है।

विश्व का गीति-काव्य, जो मात्रा मे अब सबसे अधिक हो गया है, इसकी परिधि के भीतर नही समा सकता। गीति-काव्य की आत्मा है भाव (emotion), जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीति मे फूट निकलता है। उसमे हार्दिकता (spontaniety) तथा वैयक्तिक अनुभूतियो का प्राधान्य होता है जो अनुकरण की परिधि मे नही आ सकता। इसका कारण कदाचित् यह है कि अरस्तू ने गीति काव्य का गम्भीरतापूर्वक मनन और विवेचन नही किया था।

अनुकरण-सिद्धान्त का क्रोचे के सहजानुभूति-सिद्धान्त से भी विरोध है, क्योकि क्रोचे के अनुसार कला का मूलरूप कलाकार के मानस मे घटित होता है और रग-रेखा, शब्द-लय मे उसका अनुकरण प्रधान अथवा आवश्यक घटना न होकर आनुषगिक घटना है। अत क्रोचे के अनुसार अनुकरण कला-सृजन मे कोई महत्त्वपूर्ण चीज नही जबकि अरस्तू अनुकरण को ही कला कहता है।

अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त पर यह भी आक्षेप लगाया गया है कि अरस्तू ने जो शब्द 'memisis' या 'Imitation' चुना है, वह उपयुक्त नही है। उस शब्द की अर्थ-परिधि मे 'कल्पनात्मक पुर्ननिर्माण', 'पुन सृजन', 'सर्जना के आनन्द की अवस्थिति' आदि अर्थों का अन्तर्भाव नही हो सकता।

इस प्रकार प्लैटो के अनुसार यदि 'अनुकरण' का अर्थ मूलादर्श का अनुकरण था, तो अरस्तू के अनुसार कल्पनात्मक पुर्ननिर्माण। उनके बाद के अलकार-शास्त्रियो (Rhetoricians)—सिसरो, डायोनिसस, क्विन्टीलियन आदि ने उसका अर्थ लगाया - दूसरे कलाकारो का अनुकरण। क्विन्टीलियन का कहना था कि पहले यह सोचना चाहिए कि किस कलाकार का अनुकरण करें और फिर यह कि उसकी किस चीज का अनुकरण किया जाय। लोजाइनस ने उदात्त तत्त्व की चर्चा मे प्राचीन महान् कवियों के अनुकरण को वाछनीय माना "Emulation will bring these great characters before our eyes and like pillars of fire they will lead our thoughts to the ideal standards of perfection" हौरेस, स्केलीगर, पोप आदि ने भी पाचीन ग्रीक कवियो के अनुकरण पर बल दिया।

आज कविता के विश्लेपण मे अनुकरण सिद्धान्त का महत्त्व काफी कम हो गया है और अनुकरण के स्थान पर कल्पना या नवोन्मेष को अधिक महत्त्व दिया जाता है। फिर भी अनुकरण का आग्रह आलोचना-जगत् से बिल्कुल हट गया हो, यह बात नहीं। वह कविता और नाटक मे प्रगतिवाद के रूप मे और कथा-साहित्य मे यथार्थवाद, अतियथार्थवाद और प्रकृतिवाद के रूप मे विद्यमान है।

विरेचन का अर्थ

अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द Katharsis है। हिन्दी में इसका अनुवाद 'रेचन' 'विरेचन' तथा 'परिष्करण' शब्दों द्वारा किया गया है पर 'विरेचन' शब्द सर्वाधिक प्रचलित है। जिस प्रकार Katharsis शब्द यूनानी चिकित्सा-पद्धति से सम्बद्ध माना जाता है, उसी प्रकार विरेचन शब्द भारतीय आयुर्वेदिक-शास्त्र से सम्बन्धित है। चिकित्सा-शास्त्र में इसका अर्थ है—रेचक औषधियों द्वारा शरीर के मल या अनावश्यक एवं अस्वास्थ्यकर पदार्थ (foreign matter) का निकालना। वैद्य के पुत्र होने के कारण अरस्तू ने यह शब्द वैद्यक-शास्त्र से ग्रहण किया और काव्यशास्त्र में उसका लाक्षणिक प्रयोग किया। जैसे होम्योपैथी में किसी रोग की चिकित्सा 'समान' रोग के द्वारा की जाती है 'सवसम' के द्वारा नहीं अम्ल के लिये अम्लता का और लवण द्रव्य को दूर करने के लिये लवण का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार अरस्तू का मत है कि त्रासदी करुणा तथा त्रास के कृत्रिम उद्रेक द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करुणा और त्रास भावनाओं का निष्कासन करती है।

विरेचन की व्याख्या

अरस्तू के परवर्ती व्याख्याकारों ने अवधारणा के आधार पर विरेचन के तीन अर्थ किये हैं—१ धर्म-परक २ नीति-परक ३ कला-परक।

धर्म-परक अर्थ—यूनान में भी भारत की तरह नाटक का आरम्भ धार्मिक उत्सवों से ही हुआ। प्रो० मरे का मत है कि वर्षारंभ पर दियोन्युसस नामक यूनानी देवता से सम्बद्ध उत्सव मनाया जाता था। इस उत्सव में देवता से विनती की जाती थी कि वह उपासकों को विगत वर्ष के पापों, कुकर्मों तथा कामुक्यों से मुक्त कर दें तथा आगामी वर्ष में उन्हें इतना विवेकपूर्ण तथा शुद्ध-हृदय बना दें कि वे पाप कलुष मृत्यु आदि से बचे रहें। इस प्रकार यह उत्सव एक प्रकार से शुद्धि का प्रतीक था। अपने ग्रन्थ राजनीति में अरस्तू ने लिखा है कि 'हाम' की स्थिति से उत्पन्न आवेग के शमन के लिये भी यूनान में उद्दाम संगीत का उपयोग किया जाता था। अतः स्पष्ट है कि यूनान की धार्मिक संस्थाओं में बाह्य विकारों के द्वारा आन्तरिक विकारों की शान्ति और उनके शमन का यह उपाय अरस्तू को ज्ञात था और सम्भव है वहीं से भी उन्हें 'विरेचन' सिद्धान्त की प्रेरणा मिली हो। सारांश यह है कि विरेचन का धर्म-परक-अर्थ स्वीकार करने वाले विद्वानों का मत है कि अरस्तू ने विरेचन का लाक्षणिक प्रयोग धार्मिक आधार पर किया और उसका अर्थ था—बाह्य उत्तेजना और अन्त में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शान्ति।

नीति-परक अर्थ —विरेचन सिद्धान्त के नीति-परक अर्थ की व्याख्या एक जर्मन विद्वान् बारनेज ने की। उनके अनुसार मानव मन में अनेक मनोविकार वासना रूप में स्थित रहते हैं। इनमें करुणा और त्रास नामक मनोवेग मूलतः दुःखद होते हैं। त्रासदी रंगमंच पर ऐसे दृश्य प्रस्तुत करती है जिनमें ये मनोवेग अतिरंजित रूप में

का प्रयोग किया है—प्रथम तो अपने ग्रन्थ 'पोइटिक्स' मे जहाँ उन्होने त्रासदी की परिभाषा तथा उसका स्वरूप निश्चित करते हुए कहा है, Tragedy, then, is an imitation of action that is serious, complete, and of a certain magnitude, in language embellished with each kind of artistic ornament the several kinds being found in separate parts of the play, in the form of action, not of narrative, through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions"[1] अर्थात् "त्रासदी किसी गम्भीर, स्वत पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणो से अलकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप न होकर कार्य-व्यापार रूप मे होती है और जिसमे करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारो का उचित विरेचन किया जाता है।"[2] इस उद्धरण से प्रकट होता है कि यहाँ अरस्तू ने प्लेटो के आक्षेप का उत्तर देने के साथ-साथ यह भी स्पष्ट किया है कि त्रासदी के मूलभाव त्रास और करुणा होते हैं और इन भावो को उद्बुद्ध कर विरेचन की पद्धति से मानव मन का परिष्कार त्रासदी का मुख्य उद्देश्य होता है।

दूसरा स्थल, जहाँ 'विरेचन' शब्द का उल्लेख अरस्तू ने किया है, उनके 'राजनीति शास्त्र' नामक ग्रन्थ मे है। वहाँ वह लिखते हैं, 'किन्तु इससे आगे हमारा यह मत है कि सगीत का अध्ययन एक नही, वरन् अनेक उद्देश्यो की सिद्धि के लिए होना चाहिए—(१) शिक्षा के लिए, (२) विरेचन (शुद्धि) के लिए, (३) सगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है। धार्मिक रागो के प्रभाव से—ऐसे रागो के प्रभाव से, जो रहस्यात्मक आवेश को उद्बुद्ध करते हैं—वे शान्त हो जाते हैं, मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो। करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति—प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का अनुभव करता है, और दूसरे भी अपनी-अपनी सवेदन-शक्ति के अनुसार प्राय सभी—इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।"[3] यहाँ भी विरेचन से अरस्तू का तात्पर्य शुद्धि से है। वह मानते हैं कि यद्यपि शिक्षा मे नैतिक रागो को प्रधानता देनी चाहिये, परन्तु आवेग को अभिव्यक्त करने वाले रागो का भी आनन्द लिया जासकता है क्योंकि करुणा त्रास अथवा आवेश का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा मे सभी व्यक्तियो पर होता है। ऐसे सगीत के प्रभाव से विरेचन द्वारा उनका आवेश शान्त हो जाता है। इस विधि से वे अपनी-अपनी सवेदन-शक्ति के अनुसार एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं जिससे उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है।

---

१ प्रोफेसर बूचर का अंग्रेजी रूपान्तर

२ डा० नगेन्द्र का अनुवाद

३ डा० नगेन्द्र का अनुवाद

करने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए प्रो० मरे ने यूनान की प्राचीन प्रथा के साथ 'विरेचन सिद्धान्त' का सीधा सम्बन्ध स्थापित किया है। यद्यपि यह सत्य है कि अरस्तू अपने युग की परिस्थितियों से अवश्य प्रभावित हुए होंगे और विरेचन सिद्धान्त की उनकी परिकल्पना पर भी युगीन धार्मिक प्रथा का प्रभाव पड़ा हो पर यह प्रभाव अप्रत्यक्ष ही रहा होगा। विरेचन के धर्म-परक अर्थ का तात्पर्य है कि धार्मिक संगीत श्रोता के भावों को उत्तेजित कर फिर शान्त करता है। परन्तु काव्य भावात्मक होता है नकारात्मक नहीं। काव्य का उद्देश्य केवल अस्वास्थ्यकर भावनाओं या अन्य मनोवृत्तियों का निवारण नहीं है स्वास्थ्यकर भावनाओं का अभिवर्धन करना भी होता है। अस्वास्थ्य की अनुपस्थिति स्वास्थ्य की उपस्थिति नहीं हो सकती मस्तक की शूल-पीड़ा का अभाव चित्त के आह्लाद का प्रमाण नहीं। कविता भावनाओं का केवल शिक्षण ही नहीं प्रशिक्षण भी करती है। अतः विरेचन का अर्थ भावों का शमन न मानकर उनका प्रशिक्षण भी स्वीकार करना अधिक संगत होगा।

जहाँ तक विरेचन के नीतिपरक अर्थ का सम्बन्ध है, आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र भी उसकी पुष्टि करता है। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता फ्रायड एडलर, युग आदि यह स्वीकार करते हैं कि हमारी वासनाएं जब परितृप्त नहीं हो पाती तो हमारे मनोवेग कुण्ठित हो जाते हैं और वासनाएँ अवचेतन मन में जाकर पड़ जाती हैं। यदि उनकी उचित परितुष्टि न हो तो वे मानसिक रुग्णता का रूप ग्रहण कर लेती हैं। अभुक्त मनोवेग या कुण्ठा मनोग्रन्थि (Complex) में परिणत हो जाती है। ऐसा कुण्ठा-ग्रस्त व्यक्ति तभी मानसिक स्वास्थ्य-लाभ कर पाता है, जब उसका वह मनोवेग या अतृप्त कामना उचित रीति से परितृप्त हो जाय। इसी के लिए मनोविज्ञान चिकित्सकों ने मुक्त-आसंग (Free Association) शब्द सहस्मृति-परीक्षण (Word Association test) बाधकता-विश्लेषण (Analysis of resistance) आदि उपायों का सुझाव दिया है। अतः हम कह सकते हैं कि यद्यपि अरस्तू मनोविश्लेषण-शास्त्र की आधुनिक प्रणालियों से अपरिचित थे तथापि वह मनोविज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त से अभिज्ञ थे। जिस प्रकार आधुनिक मनोविश्लेषक मानसिक रोगों का उपचार मनोवेगों की उचित अभिव्यक्ति द्वारा मानता है उसी प्रकार अरस्तू का मत था कि विरेचन प्रक्रिया द्वारा प्रेक्षक के मन की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं घुमड़न दूर हो जाती है। विरेचन से अरस्तू का तात्पर्य भावों का दमन या निष्कासन नहीं वरन् उनका सन्तुलन या a pleasurable vent for overcharged feelings" मानसिक स्वास्थ्य के लिए भावातिरेक निश्चय ही अनिष्टकर है। इसके कारण मनुष्य अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठता है। अरस्तू का अभिप्राय यही था कि त्रासदी करुणा तथा त्रास के अवांछित अंश को उभारकर निकाल देती है फलतः मनोभावों में सामञ्जस्य स्थापित होता है जो मानसिक स्वास्थ्य के लिए हितकर है। उदाहरण के लिये,यद्यपि ताप शरीर का आवश्यक गुण है तथापि जब वह साधारण तापमान से बढ़ जाता है, तो रोग की और कम होने पर दुर्बलता को जन्म देता है इसी प्रकार मात्रा

प्रस्तुत किए जाते हैं, उसमे ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित की जाती हैं जो त्रास और करुणा से भरी होती हैं। प्रेक्षक जब उन दृश्यों को देखता है या उन परिस्थितियो के बीच मानसिक रूप से गुजरता है, तो उसके मन मे भी त्रास और करुणा के भाव अपार वेग से उद्वेलित होते है और तत्पश्चात् उपशमित हो जाते है। प्रेक्षक त्रासदी को देखकर मानसिक शान्ति का सुखद अनुभव करता है क्योकि उसके मन मे वासना रूपमे स्थित करुणा तथा त्रास आदि मनोवेगों का दंश समाप्त हो जाता है। अत विरेचन का नीति-परक अर्थ हुआ—मनोविकारो के उत्तेजन के बाद उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक शान्ति और विशदता।

कला-परक अर्थ अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त के कला-परक अर्थ का सकेत तो गेटे तथा अग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि-आलोचको ने भी दिया था, परन्तु उसका सर्वाधिक आग्रह के साथ प्रतिपादन करने वाले है प्रो० बूचर। उनका कथन है कि अरस्तू का विरेचन शब्द केवल मनोविज्ञान अथवा चिकित्सा-शास्त्र से ही सम्बन्धित नही है, कला सिद्धान्त का भी अभिव्यजक है। "यह (विरेचन) केवल मनोविज्ञान अथवा निदान-शास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर, एक कला सिद्धान्त का अभिव्यजक है त्रासदी का कर्त्तव्यकर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नही है, किन्तु इन्हे एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है, इनको कला के माध्यम मे ढालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है।"[1] प्रो० बूचर विरेचन के चिकित्सा-शास्त्रीय अर्थ को ही अरस्तू का एकमात्र आशय नही मानते। उनके अनुसार विरेचन का कला-परक अर्थ है—पहले मानसिक सतुलन और बाद मे कलात्मक परिष्कार।

व्याख्याओ की समीक्षा

व्याख्याकारो द्वारा प्रस्तुत 'विरेचन' के सभी अर्थ अरस्तू को अभिप्रेत थे अथवा नही, यह कहना अत्यन्त कठिन है, क्योकि इस विषय पर उनकी अपनी व्याख्या अपर्याप्त है। अत इस विषय मे हम केवल अनुमान या तर्क से काम से ले सकते हैं। धार्मिक सगीत की ओर तो स्वय अरस्तू ने सकेत किया ही था, मानसिक शुद्धि की चर्चा भी उनके 'राजनीति' मे उपलब्ध होती है। अत वे इसका नैतिक अर्थ भी करते होगे। प्रश्न है क्या वे उसका कला-परक अर्थ भी ग्रहण करते थे ? हमारा मत है कि धर्म-परक, नीति-परक तथा कला-परक तीनो अर्थों मे निश्चय ही सत्य का अश वर्तमान है। यद्यपि बूचर ने जिस कलात्मक परितोष की बात कही है, उसका अरस्तू ने कोई सकेत नही दिया है, तथापि कला-परक अर्थ भी अरस्तू को थोडा-बहुत अवश्य अभीष्ट था। अत विविध व्याख्याकारो द्वारा प्रस्तुत 'विरेचन' की व्याख्या पर थोडा और अधिक विचार करें।

कुछ व्याख्याकारो ने अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त मे अभिप्रेत से अधिक अर्थ

[1] बूचर 'अरिस्टोटिल्स थिअरी आफ पोइट्री एण्ड फाइन आर्ट' पृ० २३६

चमत्कार मूलतः रागात्मक है यह विरेचन प्रक्रिया द्वारा भावों को उद्बुद्ध करती है उनका समंजन करती है और इस प्रकार आनन्द की भूमिका प्रस्तुत करती है। यही विरेचन सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण देन है। यदि ऐसा न होता त्रासदी केवल भावों को विक्षुब्ध कर छोड़ देती तो प्रेक्षक समय और धन खर्च त्रासदी देखने क्यों जाते ?

दूसरा आक्षेप यह लगाया गया है कि त्रासदी में प्रदर्शित भाव अवास्तविक होते हैं अतः वे हमारे भावों को उत्तेजित नहीं कर पाते विरेचन की तो बात ही नहीं। नाटक मे हम केवल कला का (अभिनय रंग-सज्जा संगीत आदि) ही आस्वादन करते है। अनुभव यह बताया है कि यह आक्षेप भी बड़ा दुर्बल है। क्या शेक्सपियर का 'हैमलेट' देखकर हमें केवल कला का आस्वाद प्राप्त होता है ? कला की दृष्टि से आज का सिनेमा रंगमंच की अपेक्षा प्रेक्षक को अपनी कलात्मक सज्जा उपकरणों आदि की सहायता से उत्पन्न कलात्मक प्रभाव से अधिक मुग्ध कर सकता है पर इंग्लैंड की नाट्य मण्डलियाँ जब 'हैमलेट' या लेडी मैकबैथ का रंगमंच पर अभिनय प्रस्तुत करती हैं और उसमें सिनेमा की आधुनिक कला की अपेक्षा पुरातन कला का प्रयोग होता है तो भी हमें आनन्दोपलब्धि होती है और कदाचित् सिनेमा से अधिक। यदि यह मान भी लिया जाय कि कला उसमें भी होती है और वह प्रेक्षक को आस्वाद प्रदान करती है तो भी अनुभव यह बताता है कि हम 'हैमलेट' या भारतेन्दु कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के दुःखद प्रसंगों को देखकर रो पड़ते हैं। यह आक्षेप का निश्चय ही कला चमत्कार का प्रतिफल नहीं है रागात्मक प्रभाव की परिणति है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं विरेचन सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक आधार भी अत्यन्त पुष्ट है। अतः ये आक्षेप निराधार हैं।

विरेचन और आनन्द—दुःख से सुख यह विरोधाभास है। त्रास और करुणा दोनों ही कटु भाव हैं। अरस्तू की अपनी परिभाषा के अनुसार भी दोनों ही दुःखद अनुभूति के भेद हैं। त्रास मे किसी आसन्न घातक अनिष्ट से उत्पन्न कटु अनुभूति होती है तो करुणा उस समय उत्पन्न होती है जब हम किसी निर्दोष व्यक्ति को अनिष्ट मे पड़ा देखते हैं जैसे सत्य हरिश्चन्द्र में राजा हरिश्चन्द्र को अथवा उनकी पत्नी शैव्या को। अरस्तू का मत है कि मानसिक विरेचन के द्वारा यह कटुता अथवा दंश नष्ट हो जाता है उत्तेजना समाप्त हो जाती है मन सर्वथा विशद हो जाता है और यह मन स्थिति निश्चय ही सुखद होती है। प्रो बूचर ने दुःख से सुख के प्रतीयमान विरोध की शांति के लिए दो कारण और भी दिये हैं—१ 'स्व' की क्षुद्रता से मुक्ति और २ कलात्मक प्रक्रिया। उनका कथन है कि प्रत्यक्ष जीवन मे त्रास और करुणा दु:खद अनुभूतियाँ हैं पर त्रासदी में वे वैयक्तिक दंश से मुक्त हो साधारणीकृत रूप मे उपस्थित की जाती हैं। संकुचित 'स्व' क्षुद्र और कटु है; विस्तृत स्व विशाल और सुखद होता है। हैमलेट का दुःख हमारा अपना संकुचित दुःख नहीं है उसके दुःख के लिए हमारा हृदय विलीन हो उठता है। हम अपने दुःख दर्द भी न हान सकते है। हम विश्वास होने लगता है कि भय या त्रास के भी

तिरेक के कारण यदि मानव अपना मानसिक सन्तुलन खो देता है,तो भावो के नितान्त अभाव मे वह मानव ही नही रह जाता। दोनो स्थितियाँ अति (extreme) की द्योतक हैं, उनसे बचना ही कल्याणकर है। काव्य का यही तो मगल पक्ष है कि वह दानो स्थितियो मे सन्तुलन स्थापित करता है। काव्य एक ओर दमित भावनाओ को उत्तेजित करता है तथा दूसरी ओर अमर्यादित भावो को मर्यादित करता है। अत विरेचन का अर्थ हुआ भावगत सन्तुलन।

अब प्रो० बूचर द्वारा प्रस्तुत विरेचन की व्याख्या पर विचार करें। उनके अनुसार विरेचन के दो पक्ष हैं—एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक। उसका अभावात्मक पक्ष तो यह है कि वह पहले मनोवेगो को उत्तेजित करे और तदुपरान्त उनका शमन कर मन शान्ति प्रदान करे। उसका भावात्मक पक्ष है कलात्मक परितोष। डा० नगेन्द्र के अनुसार प्रो० बूचर द्वारा प्रस्तुत विरेचन का भावात्मक पक्ष अरस्तू के शब्दो की परिधि से बाहर है। उनके मतानुसार अरस्तू का अभीप्ट केवल मन का सामजस्य, तज्जन्य विशदता और भावनाओ की शुद्धि था। कला-जन्य आस्वाद अरस्तू के विरेचन की परिधि से बाहर की बात है। "विरेचन कलास्वाद का साधक तो अवश्य है परन्तु विरेचन मे कलास्वाद का सहज अन्तर्भाव नही है, अतएव विरेचन-सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित् न्याय्य नही है।"[1]

इस प्रकार अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त अपने ढग से त्रासदी के आस्वाद की समस्या का समाधान करता है। उनके अनुमार त्रास और करुणा दोनो ही कटु भाव है। त्रासदी मे मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा यह कटुता नप्ट हो जाती है और प्रेक्षक मन शान्ति का उपभोग करता है। मन की यह स्थिति सुखद होती है। अरस्तू को विरेचन से इतना ही अभिप्रेत था। प्रो० बूचर ने त्रास और करुणा के साधारणीकृत रूप मे उपस्थित होने तथा अव्यवस्था मे व्यवस्था की स्थापना द्वारा कलात्मक प्रक्रिया की बात कही है। डा० नगेन्द्र इसे अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त मे अन्तर्भूत नही मानते और विरेचन सिद्धान्त की यह सीमा बताते हैं कि उस प्रक्रिया द्वारा प्रेक्षक मन शान्ति का अनुभव करता है पर आनन्द का उपभोग नही कर पाता। भारतीय दर्शन के अनुसार यह स्थिति आनन्द की भूमिका मात्र है, आनन्द नही।

विरेचन पर दो आक्षेप

अनेक आलोचको ने विरेचन-सिद्धान्त पर आक्षेप किये। उन्हे विरेचन-प्रक्रिया के अस्तित्व मे विश्वास ही नही है, उनका मत है कि वास्तविक अनुभव मे विरेचन होता ही नही। त्रासदी को देखकर करुणा, भय आदि मनोवेग तो जाग्रत हो जाते हैं, परन्तु उनके रेचन से मन शान्ति सदा नही होती। उनका तो यहाँ तक कहना है कि बहुत मे नाटक तो केवल प्रेक्षक के भावो को क्षुब्ध करके रह जाते हैं। डा० नगेन्द्र इस आक्षेप को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि सफल त्रासदी का

[1] डा० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्य-शास्त्र पृ० ८०

भी (क्योंकि भय प्रनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर उसका संवर्धन करता है) भिन्न भिन्न रस माने गये हैं। त्रासदी का प्रभाव भिन्न भाव होता है, तो शोक प्रभिन्न भाव है। करुण रस में शोक के जो कारण गिनाये गये हैं उनमें से अनेक ऐसे भी हैं जो त्रास उत्पन्न नहीं करते। करुणा के लिए वध अनिवार्य नहीं है, केवल मृत्यु अनिवार्य है जो बिना त्रास के भी घटित हो सकती है। उदाहरण के लिए भवभूति के 'उत्तर रामचरित मे सीता के महाप्रस्थान के प्रसंग मे शोक है त्रास नहीं। विरेचन सिद्धान्त तथा करुण रस के आस्वाद का सिद्धान्त प्रतिगम उत्तेजना द्वारा मनोवेगों के शमन तथा तज्जन्य मनःशान्ति तक तो समानान्तर है पर विरेचन सिद्धान्त की सीमा तो यहीं तक है जबकि भारतीय करुण रस उद्वेग का शमन मात्र न होकर उसका भोग भी है। भारतीय दर्शन के अनुसार आनन्द 'दुःख का प्रभाव' मात्र नहीं है वह शुद्ध-बुद्ध आत्मा का चरम भोग' है। डॉ नगेन्द्र ने इसी अन्तर को बताते हुए कहा है अरस्तू प्रतिपादित विरेचन जन्य प्रभाव तथा भट्ट नायक—अभिनवगुप्त के रस मे यही अन्तर है और यह अन्तर साधारण नहीं है—क्षतिपूर्ति और लाभ का अन्तर है।

साराश यह है कि विरेचन सिद्धान्त' अपनी समस्त शक्ति तथा सीमाओं सहित पाश्चात्य काव्य-शास्त्र मे अरस्तू की एक महत्वपूर्ण देन है। अपने प्रर्थों में 'विरेचन' शब्द का प्रयोग कर अरस्तू ने प्लेटो के आक्षेप का उत्तर दिया काव्य की महत्ता स्थापित की त्रासदी के प्रभाव को गौरवपूर्ण बनाया तथा फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिको के लिए आधारभूत सिद्धान्त स्थापित किया। इस प्रकार अरस्तू द्वारा अनेक परवर्ती एव आधुनिक पाश्चात्य एव पौवार्त्य आलोचकों—आई ए रिचर्ड्स तथा आचार्य शुक्ल का मार्ग प्रशस्त हुआ है क्योंकि अरस्तू के 'विरेचन' रिचर्ड्स के 'प्रवृत्तियों के सामजस्य और शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित हृदय की मुक्तावस्था' मे कोई भेद नहीं है। अत विरेचन सिद्धान्त अरस्तू की और उसके साथ ही पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की स्थायी उपलब्धि कहा जा सकता है।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि त्रासदी पाठक या प्रेक्षक को प्रभावित क्यों करती है? उससे उसे आनन्द क्यों आता है? त्रासदी का अनुशीलन करते हुए हमे जो अनुभूति होती है वह निश्चय ही शोकपूर्ण होती है पर वह केवल दुःख की दृश्यावली प्रस्तुत नहीं करती वह हमारे मन पर केवल दुःख का आघात नहीं करती। जैसा कि स्कॉट जेम्स ने कहा है "Tragedy is not just the spectacle of pain it is not horror on horror a head. It will not be tragedy' it just shocks us." त्रासदी मे जिन पात्रो पर आपत्तिजन्य दुःख पड़ता है वे न दुष्ट होते हैं और न क्षुद्र। इसके विपरीत वे धीरोदात्त होते हैं। नितान्त दुष्ट

---

१ स्काट जेम्स दि मेकिंग आफ लिट्रेचर' पृ ७०

१५
होरेस का औचित्य सिद्धान्त

१ भूमिका
२ सत्काव्य के तत्त्व
३ औचित्य-सिद्धान्त
४ विषय-औचित्य
५ चरित्र-औचित्य
६ अभिनय-औचित्य
७ भाषा-औचित्य
८ रचना-ऐक्य
९ शब्द-प्रयोग
१० छन्द-औचित्य
११ उपसंहार

भूमिका

होरेस का युग राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। राजनीति ने जन-जीवन और साहित्य-क्षेत्र दोनों मे प्रवेश कर काव्य आदर्शों को बदल दिया था। स्वयं होरेस के अनुसार उसके युग मे काव्य-कला का पर्याप्त ह्रास हो चुका था। कवि-गण कला नियमो से अनभिज्ञ थे और निम्नकोटि के आदर्शों का अनुकरण कर रहे थे। कला के क्षेत्र मे गम्भीरता का स्थान छिछलेपन ने ले लिया था। अत होरेस ने सम-सामयिक साहित्य को सुधारने और उसका मार्ग-दर्शन करने का बीड़ा उठाया। होरेस का पिता उसकी शिक्षा के प्रति अत्यन्त सजग और जागरूक था अत उसे प्रारम्भिक शिक्षा के बाद एथेन्स जो उस समय विश्व का सर्वोच्च विद्यापीठ और संस्कृति-केन्द्र समझा जाता था भेज दिया गया। यही कारण है कि होरेस के विचारों रुचि तथा मन पर यूनानी काव्य दर्शन और संस्कृति का बहुत अधिक प्रभाव पाया जाता है। वह अरस्तू से पर्याप्त प्रभावित तो था पर सामयिक साहित्य का मार्ग दर्शन करने का लक्ष्य अपनाने के कारण उसने कविता की प्रकृति और उसके मूल्यों की विशद विवेचना न कर केवल व्यावहारिक मतो और नियमो तक अपना ध्यान सीमित रखा। अपने सीमित लक्ष्य के कारण ही उसके ग्रन्थ Ars Poetica का सैद्धान्तिक महत्त्व न होकर केवल ऐतिहासिक महत्त्व है और उसे साधारण मेधा की कृति माना गया है।

आदमी के पतन की कथा से त्रासदी का निर्माण नही हो सकता क्योकि हम खल पात्र से न सहानुभूति कर सकते हैं और न उसको मिले दण्ड से त्रास का ही अनुभव करते हैं। त्रासदी का नायक नितान्त निर्दोष और पवित्र भी नही होता। त्रासदी का नायक न तो बहुत अधिक न्यायपूर्ण और सज्जन होता है और न पूर्णत निर्दोष। वह हमारी ही तरह गुण-दोषो का पुज होता है, पर उसमे हमसे अधिक कतिपय विशेषताएँ होती हैं। उसके सामान्य गुण-दोष के कारण हमारा उससे साधारणीकरण होता है, तो उसकी असाधारणता हमे उसकी ओर आकृष्ट करती है, उसके प्रति हमारी सहानुभूति तथा आदर-भाव पैदा करती है। इसीलिए स्कॉट जेम्स ने कहा है, "There is no tragedy in the petty mistakes of a petty person" अर्थात् क्षुद्र व्यक्ति की छोटी गलतियो से त्रासदी का निर्माण नही हो सकता। साराश यह कि त्रासदी के मुख्य पात्र की गरिमा, धीरोदात्त नायक जैसे गुण, उसकी भावना आदि पाठक को प्रभावित करते हैं।

त्रासदी देखकर प्रेक्षक को यह प्रतीति होने लगती है कि दुख अटल हैं, उसे जीवन की उस अन्तर्व्यवस्था (नियति) का ध्यान भी होने लगता है जिसके आगे मानव विवश है। यह भावना कि दुख अपरिहार्य है, वह अतर्क्य एव अगम्य अन्तर्व्यवस्था से उत्पन्न हुआ है, हमारे दुख की तीव्रता को कुछ कम कर देती है। सच्ची दुखान्त रचना हमे अन्तर्मुखी भी बनाती है, केवल रचना के पात्रो के सम्बन्ध मे ही नही अपितु मानव मात्र तथा जीवन के सम्बन्ध मे भी सोचने को विवश करती है। यह भी उसकी प्रभावशीलता का एक अन्य कारण है।

त्रासदी के मुख्य पात्र को दुर्धर्ष परिस्थितियो के साथ साहसपूर्वक सघर्ष करते हुए देखकर भी पाठक उत्साह, सहिष्णुता, साहस, गरिमा आदि भावो से अनुप्रेरित होता है, मानव की महानता और मानवता की विजय मे उसका विश्वास दृढ होता है। यह भी त्रासदी की महत्वपूर्ण देन है।

सच्ची त्रासदी श्रेष्ठ जीवन-मूल्यो से भी पाठक को परिचित कराती है, उसके मन मे असहायता का भाव उत्पन्न नही होने देती, बल्कि उसे सबल बनाती है। वह उसमे जीवन से पलायन करने की प्रवृत्ति को जन्म नही देती, दारुण दुखो का सामना करने का सन्देश देती है, हमारा मनोविकास करती है, अरिस्टोटिल के शब्दो मे, 'कैथारसिस' उत्पन्न करती है।

'Suppose a painter wished to couple a horse's neck with a man's head and to lay feathers of every hue on limbs gathered here and there so that a woman lovely above foully ended in an ugly fish below would you restrain your laughter

जिस प्रकार स्त्री के सिर पक्षी के शरीर और मछली की पूँछ वाला प्राणी अतिमानव (monster) होने के कारण हमारी उपेक्षा और उपहास का विषय होगा इसी प्रकार वह रचना जिसमें विविध काव्य-रूपों का मिश्रण होगा तिरस्करणीय होगी। अतः होरेस की मान्यता है कि महाकाव्य अन्त तक महाकाव्य बना रहे और त्रासदी त्रासदी। अद्भुत के निर्माण के मोह में विषय को अनेकविधता प्रदान करना उचित नहीं। ऐसा करना होरेस की दृष्टि में "जलपरी को वन में तथा वन्यवराह को जलतरंगों पर चित्रित करना है।

विषय औचित्य

नाटक की कथावस्तु का विवेचन करते हुए होरेस ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं और कहा है कि नाटककार को परम्परा से प्राप्त कथाओं का ही प्रयोग करना चाहिए। वह इन परम्पराप्राप्त कथाओं में नवीन उद्भावना करने के लिए स्वतन्त्र है जैसे कालिदास ने 'शकुन्तला नाटक में की है। दूसरे उसे ऐसा विषय चुनना चाहिए जो उसकी सामर्थ्य के भीतर हो—

You act more wisely by dramatizing Iliad than by introducing a subject unknown and hitherto unsung

नवीन कथानक की कल्पना करते समय उसे सगति और व्यवस्था का ध्यान रखना चाहिए, जो भी ब्यौरे (details) वह लाए, वे विषय-संगत होने चाहिएँ। साथ ही प्राचीन कथानक के वे अंश उसे छोड़ देने चाहिए जिन्हें वह अपने कलात्मक स्पर्श से दीप्त न कर सके।

चरित्र-औचित्य

अरस्तू के समान होरेस ने भी चरित्र-चित्रण के लिए यह स्वीकार किया है कि विभिन्न पात्रों के गुण उनकी अवस्था से मेल खाते हों और इसके लिए लेखक को जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान होना चाहिए। पात्र के कार्य उसकी रुचि और उसके गुणावगुण उसकी वय के अनुरूप होने चाहिएँ—बालक को अपने सम वयस्कों के साथ खेलता क्षण में रुष्ट और क्षण में तुष्ट होता युवक को उत्साही हठी भावप्रवण, अस्थिर धन के प्रति लापरवाह तथा बुराइयों के प्रति झुकता हुआ प्रौढ़ को मित्रता धन और पद की खोज में सतर्क और समझदार; तथा वृद्ध को कलह-प्रिय चिड़चिड़ा कृपण शंकालु, वहमी और अनुत्साही चित्रित किया जाए। वस्तुतः चरित्र-चित्रण विषयक यह औचित्य सिद्धान्त यथार्थ मनोवैज्ञानिक चित्रण का समर्थन करता है किन्तु आगे चलकर लोगों ने इसके इस मत का दुरुपयोग किया जिसके परिणामस्वरूप पात्र रूढ़ और स्थिर बनने लगे और चरित्र चित्रण जड़ हो गया।

सत्काव्य के लक्षण

होरेस को मध्य श्रेणी की कविता असह्य थी। वह पद्य को कविता से भिन्न मानता था। उसका मत था कि कविता या तो उदात्त होती है अथवा दूषित। कवि को दोषो से भरसक बचना चाहिए और यह तभी सम्भव है जब काव्य-सर्जन के समय वह सावधानी और परिश्रम के साथ कार्य करे। उत्कृष्ट काव्य के लिए वह सजग विवेक-शक्ति और सही चिन्तन को आवश्यक मानता था—

"The secret of all good writing is sound judgement"

वह बार-बार इस बात पर बल देता है कि कवि या लेखक के पास उचित विचार (Right Thinking) होने चाहिए। वह उसके विस्तृत ज्ञान पर भी बल देता है क्योंकि उसके बिना वह स्वस्थ (sound) और उचित (appropriate) विषय-वस्तु का चुनाव नही कर सकता।

होरेस के अनुसार सत्काव्य का लक्ष्य राष्ट्र की संस्कृति को अक्षुण्ण रखना और समाज को बर्बरता से मुक्त करना है। उसे सभ्य समाज की नीव डालना है, वीर हृदयो मे शौर्य का सचार करना और परिश्रान्त व्यक्तियो को आह्लाद प्रदान करना है और इन सब कर्त्तव्यो की पूर्ति के लिए 'लोक' का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है।

"I should instruct the creative writer to look long at the pattern of life and customs and thence to draw living expressions,"

वह सत्काव्य मे सत्य, शिव, सुन्दर तीनो की प्रतिष्ठा देखना चाहता है।

'It is not enough for poems to be fine, they must charm and draw the mind of the listener at will"

औचित्य सिद्धान्त

होरेस की 'Ars Poetica' के काव्य-विवेचन मे औचित्य सिद्धान्त आरम्भ से अन्त तक क्रियाशील रहा है। उसके सभी मतो का आधार यही सिद्धान्त रहा है। 'रचना-ऐक्य' (structural unity) विषयक उसका सिद्धान्त इसी औचित्य पर निर्भर है। वह मानते हैं कि रचना के विभिन्न अवयवो का पारस्परिक तथा पूरी कृति के साथ ऐक्य होना आवश्यक है। इसी प्रकार काव्य-रूप और काव्य-वस्तु भी आपस मे औचित्य सम्बन्ध मे बधे रहने चाहिए। वह एक काव्य-विषय के लिए एक काव्य-विधा स्वीकार करते है। उनका कहना है कि यदि कोई विषय महाकाव्य के अनुकूल है, तो उसे महाकाव्य द्वारा ही प्रस्तुत होना चाहिए, त्रासदी या व्यग्य-लेख (satire) द्वारा प्रस्तुत किए जाने पर वह विकृत, विरूप और प्रभावहीन हो जायगा। 'Ars Poetica' का आरम्भ ही एक ऐसे दृष्टान्त से होता है जिसमे काव्य-रूपो के मिश्रण का उपहास किया गया है और साकेतिक ढग से बताया गया है कि साहित्य के प्रत्येक रूप की अपनी स्वतत्र इकाई होती है और उसकी स्वरूप-रक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

Suppose a painter wished to couple a horse s neck with a man s head and to lay feathers of every hue on limbs gathered here and there so that a woman lovely above foully ended in an ugly fish below would you restrain your laughter

जिस प्रकार स्त्री के सिर पक्षी के शरीर और मछली की पूंछ वाला प्राणी अतिमानव (monster) होने के कारण हमारी उपेक्षा और उपहास का विषय होगा इसी प्रकार वह रचना जिसमें विविध काव्य-रूपों का मिश्रण होगा तिरस्करणीय होगी। अत होरेस की मान्यता है कि महाकाव्य अन्त तक महाकाव्य बना रहे और त्रासदी त्रासदी। अद्भुत के निर्माण में मोह में विषय को अनेकविधता प्रदान करना उचित नहीं। ऐसा करना होरेस की दृष्टि म 'जलपरी को वन में तथा वन्यवराह को जलतरंगों पर चित्रित करना है।

विषय-औचित्य

नाटक की कथावस्तु का विवेचन करते हुए होरेस ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं और कहा है कि नाटककार को परम्परा से प्राप्त कथाओं का ही प्रयोग करना चाहिए। वह इन परम्पराप्राप्त कथाओं में नवीन उद्भावना करने के लिए स्वतन्त्र है जैसे कालिदास ने 'शकुन्तला' नाटक में की है। दूसरे उसे ऐसा विषय चुनना चाहिए जो उसकी सामर्थ्य के भीतर हो—

You act more wisely by dramatizing Iliad than by introducing a subject unknown and hitherto unsung

नवीन कथानक की कल्पना करते समय उसे संगति और व्यवस्था का ध्यान रखना चाहिए, जो भी ब्यौरे (details) वह लाए, वे विषय-संगत होने चाहिएँ। साथ ही प्राचीन कथानक के वे अंश उसे छोड़ देने चाहिए जिन्हें वह अपने कलात्मक स्पर्श से दीप्त न कर सके।

चरित्र-औचित्य

अरस्तू के समान होरेस ने भी चरित्र चित्रण के लिए यह स्वीकार किया है कि विभिन्न पात्रों के गुण उनकी अवस्था से मेल खाते हों और इसके लिए लेखक को जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान होना चाहिए। पात्र के कार्य उसकी रुचि और उसके गुणावगुण उसकी वय के अनुरूप होने चाहिएँ—बालक को अपने समवयस्कों के साथ खेलता क्षण में रुष्ट और क्षण में तुष्ट होता युवक को उत्साही हठी आवेशयुक्त, अस्थिर धन के प्रति लापरवाह तथा बुराइयों के प्रति झुकता हुआ प्रौढ़ को मित्रता धन और यश की खोज में संलग्न और समझदार तथा वृद्ध को कलह प्रिय चिड़चिड़ा कृपण शंकालु, वहमी और अनुत्साही चित्रित किया जाय। वस्तुत चरित्र-चित्रण विषयक यह औचित्य सिद्धान्त यथार्थ मनोवैज्ञानिक चित्रण का समर्थन करता है किन्तु आगे चलकर लोगों ने उसके इस मत का दुरुपयोग किया जिसके परिणामस्वरूप पात्र रूढ़ और स्थिर बनने लगे और चरित्र चित्रण रूढ़ हो उठा।

होरेस का इस सम्बन्ध मे एक अन्य उल्लेखनीय मत यह है कि यदि पात्र परम्परा प्राप्त कथानको मे लिए गए है, तो नाटककार को उनके परम्परागत स्वरूप की रक्षा करनी चाहिए—

"Characters drawn from tradition should preserve their traditional features"

इसका कारण यह है कि उनकी प्राचीनता के कारण जन-भावना रूढ हो जाती है और उससे भिन्न स्वरूप जनता को स्वीकार नही होता, वह उसे अयथार्थ लगता है। इसीलिए होरेस कहता है कि यदि कोई नाटककार अपनी कृति मे सुप्रसिद्ध शूरवीर अखिल्लेस (Achilles) का चित्रण करे, तो उसे चाहिए कि वह उसे नियमो का उल्लघन करने वाला, शौर्य, आवेश, उत्साह, साहस से युक्त दिखाए, इसी प्रकार यदि वह अपनी रचना मे मेदेग्रा को अवतरित करे, तो उसे हठी एव दुर्दमनीय नारी के रूप मे चित्रित करे। होरेस नए चरित्रो के निर्माण के विरुद्ध नही है, पर वह चाहता है कि नूतन उद्भावनाए करते समय लेखक को चाहिए कि वह चरित्र को बुद्धिगम्य और कलात्मक ढग मे प्रस्तुत करे। कथानक और पात्र मे सगति होनी चाहिए—

"If you bring on to the stage a subject unattempted yet and are bold enough to create a fresh character, let him remain to the end such as he was when he first appeared—consistent throughout"

इस प्रकार होरेस के अनुसार पात्र का चित्रण उसकी प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए। भारतीय काव्य-शास्त्र मे इसी को 'प्रकृत्यौचित्य' कहा गया है।

अभिनय-औचित्य

नाटक के सवाद पात्रो के लिंग, वय, जाति सामाजिक स्तर और मानसिक स्थिति (mood) के अनुसार होने चाहिए क्योकि होरेस स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि यदि सवाद इस प्रकार के न होंगे, तो उनके द्वारा तर्कसम्मत और कलात्मक प्रभाव उत्पन्न नही होगा —

"For a style not in accord with such condition was not likely to have any convincing artistic result"

वह चाहता है कि शोकार्त व्यक्ति के मुख से दुःखपूर्ण, क्रुद्ध व्यक्ति के मुख से रोषपूर्ण और प्रफुल्ल-मन व्यक्ति के मुख से परिहासपूर्ण शब्द तथा गम्भीरमना व्यक्ति के मुख से गम्भीर शब्दो का प्रयोग कराया जाय—

"Sad words suit a gloomy contenance, menacing words an angry, sportive words a merry look, stern words a grim one"

अभिनय-औचित्य के सम्बन्ध मे दूसरी बात उसने यह कही है कि अभिनय मे ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि प्रेक्षक पर वाछित प्रभाव पड सके—न तो वह नाटक से ऊब उठे और न उसकी खिल्ली उडाये। नाटककार जैसा प्रभाव दर्शको पर डालना चाहता है, अभिनेता उसी के अनुरूप अभिनय करें—यदि उसे दर्शक-मडली -को

हँसाना अभीष्ट है तो अभिनेता का मुख हास्य-स्मित हो और यदि वह दर्शक को दुःख विह्वल करना चाहता है तो अभिनेता का मुख भी ऐसा करुण कातर हो कि उसे देखते ही दर्शक करुणा विह्वल हो उठे। तात्पर्य यह है कि नाटक के संवाद और अभिनय दोनों जीवन की वास्तविकता से दूर न हों। होरेस का यह मत अरस्तू के मत पर भी आधारित है उसने भी तो यही कहा था कि त्रासदी के पात्रों के चरित्र भाषा-संवाद आदि में जीवन की वास्तविकता (verisimilitude) होनी चाहिए।

घटना-औचित्य

किसी घटना को मंच पर अभिनीत भी किया जा सकता है और वर्णित भी। परन्तु सुनने की अपेक्षा आँखों द्वारा देखने से बात का प्रभाव अधिक गहरा पड़ता है। मंच पर अभिनय देखकर हमारे सामने पात्र घटना प्रसंग सजीव और साकार हो उठते हैं। इसी कारण नाटक की प्रभाव-क्षमता काव्य से अधिक होती है। पर होरेस का मत है कि कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जिनका रंगमंच पर अभिनय न तो श्लाघ्य है और न वांछनीय ही। उनको अभिनीत होते देख प्रेक्षक के मन में जुगुप्सा भय अविश्वास आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं। नाटककार को यह अधिकार नहीं कि वह अपने प्रेक्षकों को ऐसी मन स्थिति में डाले। अतः होरेस ऐसी घटनाओं के मंच पर अभिनय के विरुद्ध है। उसने ऐसी वर्जित घटनाओं में मेडेया का अपनी सन्तान की हत्या करना अत्रेउस का नर-मांस पकाना प्रोक्ने का पक्षी अथवा कादमस का सर्प बन जाना आदि घटनाएं गिनाई हैं। उसका कथन है कि इन घटनाओं का मंच पर अभिनय नहीं होना चाहिए केवल उनकी सूचना मात्र दे दी जानी चाहिए। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी नाट्य-वर्जनाओं के अन्तर्गत ऐसी ही घटनाओं का उल्लेख है।

होरेस कामदी और त्रासदी के विषयो हास्य और करुणा के परस्पर मिश्रण के भी विरुद्ध है और उसे औचित्य के विरुद्ध मानता है। त्रासदी के विषय को कामदी की शैली मे और कामदी के विषय को त्रासद-शैली में प्रस्तुत करना अनुचित है। यान्त्रिक अवतारणा (Deu Ex machino) का भी वह विरोधी है। वृन्दगान के सम्बन्ध में उसका मत है कि वह नाटक का अभिन्न अंग हो और उससे कथानक को गति मिलनी चाहिए—

> The chorus should discharge the part and duty of an actor with vigour and chant nothing between the acts that does not forward the action and fit into the plot naturally

रचना-ऐक्य

प्लेटो और अरस्तू के समान होरेस ने भी काव्य के लिए सेन्द्रिय ऐक्य (Organic unity) का महत्त्व स्वीकार किया है। होरेस के युग मे इस सिद्धान्त को लोग भूल चुके थे अतः वर्णनात्मक काव्यों मे आकस्मिक घटनाओं (episodes) का समावेश अधिक होने लगा था और इस कारण रचना-अन्विति की उपेक्षा होने लगी

होरेस का इस सम्बन्ध मे एक अन्य उल्लेखनीय मत यह है कि यदि पात्र रम्परा प्राप्त कथानको मे लिए गए है, तो नाटककार को उनके परम्परागत स्वरूप ी रक्षा करनी चाहिए—

"Characters drawn from tradition should preserve their traditional features"

इसका कारण यह है कि उनकी प्राचीनता के कारण जन-भावना रूढ हो जाती है और उससे भिन्न स्वरूप जनता को स्वीकार नही होता, वह उसे अयथार्थ लगता है। इसीलिए होरेस कहता है कि यदि कोई नाटककार अपनी कृति मे सुप्रसिद्ध शूरवीर अखिल्लेस (Achilles) का चित्रण करे, तो उसे चाहिए कि वह उसे नियमो का उल्लघन करने वाला, शौर्य, आवेश, उत्साह, साहस से युक्त दिखाए, इसी प्रकार यदि वह अपनी रचना मे मेदेआ को अवतरित करे, तो उसे हठी एव दुर्दमनीय नारी के रूप मे चित्रित करे। होरेस नए चरित्रो के निर्माण के विरुद्ध नही है, पर वह चाहता है कि नूतन उद्भावनाए करते समय लेखक को चाहिए कि वह चरित्र को बुद्धिगम्य और कलात्मक ढग से प्रस्तुत करे। कथानक और पात्र मे सगति होनी चाहिए—

"If you bring on to the stage a subject unattempted yet and are bold enough to create a fresh character, let him remain to the end such as he was when he first appeared—consistent throughout"

इस प्रकार होरेस के अनुसार पात्र का चित्रण उसकी प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए। भारतीय काव्य-शास्त्र मे इसी को 'प्रकृत्यौचित्य' कहा गया है।

अभिनय-औचित्य

नाटक के सवाद पात्रो के लिंग, वय, जाति सामाजिक स्तर और मानसिक स्थिति (mood) के अनुसार होने चाहिए क्योकि होरेस स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि यदि सवाद इस प्रकार के न होगे, तो उनके द्वारा तर्कसम्मत और कलात्मक प्रभाव उत्पन्न नही होगा—

"For a style not in accord with such condition was not likely to have any convincing artistic result"

वह चाहता है कि शाकार्त व्यक्ति के मुख से दुःखपूर्ण, क्रुद्ध व्यक्ति के मुख से रोषपूर्ण और प्रफुल्ल-मन व्यक्ति के मुख से परिहासपूर्ण शब्द तथा गम्भीरमना व्यक्ति के मुख से गम्भीर शब्दो का प्रयोग कराया जाय—

"Sad words suit a gloomy contenance, menacing words an angry, sportive words a merry look, stern words a grim one"

अभिनय-औचित्य के सम्बन्ध मे दूसरी बात उसने यह कही है कि अभिनय मे ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि प्रेक्षक पर वाछित प्रभाव पड सके—न तो वह नाटक से ऊब उठे और न उसकी खिल्ली उडाये। नाटककार जैसा प्रभाव दर्शको पर डालना चाहता है, अभिनेता उसी के अनुरूप अभिनय करें—यदि उसे दर्शक-मडली-को

चाहिये। सारांश यह है कि होरेस ने काव्य भाषा को किसी रूढ़िग्रस्त सिद्धांत में नहीं बांधा।

शब्दों के चुनाव के समान ही उनके विधान का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। अभिव्यक्ति को सबल तथा प्रभावपूर्ण बनाने के लिए शब्दों की योजना भी कुशल होनी चाहिये। कुशल शब्द-योजना से साधारण शब्द भी प्रभावपूर्ण और आकर्षक हो उठते है। इसके विपरीत अच्छे और उपयुक्त शब्दों का चुनाव करने पर भी यदि उनकी स्थापना उपयुक्त ढंग से न की गई, तो काव्य का वांछित प्रभाव नहीं पड़ता। इस सम्बन्ध म उसका यह कथन स्मरणीय है।

In style it is order and connection that are all important.

जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है होरेस मानता है कि वह विषय के अनुरूप हो और उसमे प्रसम तथा विषम के अनुरूप प्रसाद ओज तथा माधुर्य गुण हो। उसका मत है कि अलंकरण विषयानुकूल हो। संक्षेप होने मे अस्पष्ट न हो जाओ स्पष्टता के प्रयास में बलहीन मत बन जाओ उड़ान के पीछे बृहच्छब्दस्फीत न हो जाओ सादगी का गौरव प्राप्त करने में नीरस न हो जाओ और विभिन्नता के उद्देश्य की प्राप्ति में अमर्यादित न हो जाओ—सदा अपनी अभिव्यक्ति में सच्चे और ईमानदार बने रहो।

वृत्तविधान

होरेस का आग्रह है कि विभिन्न काव्य-प्रकारो के लिए विभिन्न छन्दों का प्रयोग होना चाहिए क्योंकि वह विषय-वस्तु और छन्द मे अविच्छेद्य सम्बन्ध मानता है। उसका मत है—

Each particular gener should keep the place alloted to it.

अपने इसी मत के आधार पर उसने विभिन्न प्रकार की काव्य वस्तुओं के लिये भिन्न-भिन्न छन्द निश्चित किये। युद्ध-विषयक कहानियों के लिए 'हेक्सामीटर' नामक छन्द ट्रेजेडी और कामेडी के लिए 'आयाम्बिक' देवो की प्रार्थनाओं तथा प्रेम काव्य के लिए प्रगीत छन्दो दुखपूर्ण विषय के लिए शोकगीत (elegy) विजयरत मन के लिए सम्बोधनगीति (ode) को उचित माना।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव मे 'काव्य-वस्तु' और छन्द' का अनिवार्य सम्बन्ध है? इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या कविता के लिए छंद अनिवार्य है? यदि काव्य के लिए छन्द अनिवार्य नहीं तो फिर दूसरा प्रश्न उठता ही नहीं। वस्तुतः छन्द का मूलाधार लय है। वे कवि भी जो परम्परागत छन्दो का बन्धन तोड़कर मुक्त कविता लिखते है वे भी छन्द की आत्मा लय का तिरस्कार नहीं कर सकते अत काव्य का छन्द से अनिवार्य सम्बन्ध किसी न किसी रूप मे मानना ही पड़ेगा।

जहा तक काव्य-वस्तु और छन्द के अनिवार्य सम्बन्ध का प्रश्न है चूंकि विषय वस्तु का तात्पर्य है कविता मे व्यक्त भाव विचार और बिंब अतः उसके बदलने पर अभिव्यक्ति का बदलना भी स्वाभाविक है। चूंकि भाव विचार और बिंब कई प्रकार

थी। होरेस ने इस त्रुटि को दूर करने के लिए सेन्द्रिय ऐक्य के सिद्धान्त का समर्थन किया। प्राकृतिक जीवों की तरह काव्य-शरीर के विभिन्न अवयवों में परस्पर और सम्पूर्ण रचना के साथ अनिवार्य रूप से संगतिपूर्ण सम्बन्ध होना चाहिए। वह असम्बद्ध तत्त्वों के, भले ही वे अत्यधिक प्रभावपूर्ण और शानदार अंश क्यों न हों, समावेश का विरोध करता है और कहता है कि, "रचना-विधान की रमणीयता और उत्तमता इस बात में है कि कवि प्रत्येक अवसर पर वही कहे, जो उस समय कहा जाना चाहिए।"

वह प्रबन्ध काव्य के आडम्बर शैली युक्त आरम्भ के विरुद्ध है क्योंकि यदि प्रारम्भ में जिस उदात्तता के दर्शन होते हैं, यदि उसका अन्त तक निर्वाह न हो सका, तो पाठक को निराशा होगी। अत लेखक का कर्त्तव्य है कि वह अपने पाठक को धीरे-धीरे उठाए। आग जलाकर धुएं में अन्त करने से धुएं के बाद आग जलाना अधिक चित्ताकर्षक होता है। कवि को चरम बिन्दु (Climax) की ओर वेग से जाना चाहिए ताकि श्रोता या दर्शक सीधा कथा के मध्य पहुंच जाय। जो कुछ एकदम कहा जाना हो, वह उसी क्षण कह दिया जाय और उन बातों को छोड़ देना चाहिए जो अभी न कहनी चाहिए। काव्य का आदि, मध्य और अन्त ऐसा होना चाहिये कि सभी में एक ही स्वर निकले।

भाषा-शैली (Diction)

काव्य का शरीर शब्दों से निर्मित होता है। ये शब्द ही कवि के अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। अत होरेस का कहना है कि कवि को शब्दों के उपयुक्त चुनाव और रचना में उनके उचित विधान (Arrangment) पर पूरा ध्यान रखना चाहिये। मात्र प्रदर्शन के लिए आडम्बरपूर्ण शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं क्योंकि ऐसे शब्द गठन-ऐक्य में बाधक होते हैं। जो शब्द रूक्ष और कठोर हो, उन्हें मसृण बनाना चाहिए, जो ओज और शक्तिहीन हों, उन्हें त्याग देना चाहिए। उसकी दृष्टि में नि शक्त शब्द वे हैं जो कवि के अभिप्राय को प्रकट करने में असमर्थ हैं। उसने शब्दों के चुनाव की कसौटी उनमें गुण और वर्ण माने हैं। इन्हीं के आधार पर वह शब्दों के चुनाव का परामर्श देता है।

होरेस के युग में एक ओर कविगण शब्द-प्रयोग की पूर्ण स्वतन्त्रता की माग कर रहे थे, तो दूसरी ओर कुछ लोग केवल लैटिन के ही शब्दों के प्रयोग का समर्थन करते थे। होरेस ने इन दोनों मतों में से किसी का समर्थन न किया। उसने खिचड़ी भाषा के प्रति अपनी अरुचि प्रकट की, शब्द-भण्डार की वृद्धि के लिए प्रचलन में आये यूनानी शब्दों को थोड़ा परिवर्तित कर स्वीकार करने की बात मानी, लैटिन धातुओं से नये शब्द निर्माण की बात कही। उसका भाषा सम्बन्धी मत अत्यन्त विवेकपूर्ण व प्रगतिशील था। वह मानता था कि भाषा का कार्य भावों को अभिव्यक्त करना है और मानव के भाव तथा अनुभव बदलते रहते हैं। अनुभवों में वृद्धि तथा विकास होता रहता है, अत भाषा में भी निरन्तर विकास होता रहना चाहिये। कवि को केवल पुरानी शब्दावली पर निर्भर न रहकर नये शब्दों का निर्माण और कुशल प्रयोग करना

१६

लोंजाइनस और उनका उदात्त तत्त्व

१ लोंजाइनस का परिचय

उनका निबन्ध 'पेरि हुप्सुस' का प्रतिपाद्य

३ लोंजाइनस के पूर्व काव्य-सिद्धान्त

४ लोंजाइनस के क्रान्तिकारी विचार

५ उदात्त का स्वरूप

६ उदात्त का अन्तरंग तत्त्व

७ उदात्त का बहिरंग तत्त्व

८ उदात्त के विरोधी तत्त्व

९ आधुनिक पाश्चात्य आलोचक और लोंजाइनस के विचार

१० संस्कृत काव्य-शास्त्र और उदात्त तत्त्व

११ उपसंहार

लोंजाइनस का परिचय

यूनानी-काव्य-शास्त्र में अरस्तू की प्रसिद्ध रचना 'पेरि पोइतिकेस' के उपरांत पेरि हुप्सुस का दूसरा स्थान है। 'पेरि हुप्सुस' का अर्थ है—औदात्य, ऊँचाई। इस निबन्ध का अंग्रेजी में On the sublime नाम से अनुवाद हुआ है। जिस प्रकार 'कुन्तक का वक्रोक्तिजीवितम्' कई सौ वर्ष तक अज्ञात पड़ा रहा, उसी प्रकार पेरि हुप्सुस भी शताब्दियों तक विस्मृति के गर्भ में पड़ा रहा। १५५४ ई० में पहली बार उसको प्रकाशित किया गया। उस पर लेखक का नाम दिया गया था—दियोनुसियस लोंगिनुस जिसे अंग्रेजी में डायोनीसियस लोंजाइनस उच्चरित किया जाता है। १९वीं शताब्दी तक उसे ही 'पेरि हुप्सुस' का रचयिता माना जाता रहा, पर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस सम्बन्ध में शंकाएँ व्यक्त की जाने लगीं। कुछ पाश्चात्य विद्वान् पेरि हुप्सुस का लेखक ज़ेनोबिया के मन्त्री लोंजाइनस को मानते थे जो अपनी वीरता और विद्वत्ता के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है और उसका रचना-काल तीसरी शताब्दी मानते थे। इसके विपरीत दूसरों का मत था कि इसका लेखक कोई अज्ञात यूनानी या रोमी था और उसकी रचना पहली शताब्दी में हुई थी। स्कॉट जेम्स ने अत्यन्त उल्लसित भाषा में 'पेरि हुप्सुस' का लेखक उसी लोंजाइनस को माना है जिसने बड़ी निष्ठा के साथ महारानी ज़ेनोबिया की सेवा की, जिसने रेगिस्तान में 'पाम्यूरा'

के होते हैं, अत उनमे परिवर्तन के साथ छद परिवर्तन होना भी ठीक ही है। सस्कृत साहित्य मे भी वस्तु के अनुसार छद विधान की योजना रही है। करुण, रति, उत्साह आदि भावो के विभिन्न रूपो के अनुकूल छद चुनना कवि के लिए उपादेय माना गया था। इस चुनाव मे कवि के उद्देश्य का भी पूरा ध्यान रखा जाता था। यदि उसका उद्देश्य वस्तु का वर्णन मात्र होता था तो एक प्रकार का छद, और यदि उसका प्रयोजन भावो का स्पर्श करना भी होता था, तो दूसरे प्रकार का छद चुना जाता था। वर्णनात्मक और भावात्मक कविताओ के छद अलग-अलग होते थे।

अस्तु, होरेस का वृत्तौचित्य सम्बन्धी सिद्धात पर्याप्त रूप मे मान्य होना चाहिए उनकी त्रुटि यही है कि उन्होने वृत्तो का औचित्य निर्धारित करते हुये केवल प्राचीन ग्रीक काव्य और परम्परा का ध्यान रखा।

औचित्य सिद्धान्त की समीक्षा

यह कहा जाता है कि होरेस का औचित्य सिद्धात अपने युग के अभिजात्य वर्ग की धारणाओ से प्रभावित तथा निर्दिष्ट था, उन्होने प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त नही की थी। उनका ध्यान या तो ग्रीक साहित्य पर रहा या अपने युग के दर्शक और श्रोता वर्ग। पर यह आक्षेप पूर्णत उचित नही। यह सच है कि वे ग्रीक काव्य, दर्शन और सस्कृति से प्रभावित थे यह भी सच है कि अपनी स्थापनायें प्रस्तुत करते समय उनके मस्तिष्क मे रोम की जनता रहती थी, तथापि ऐसे कई स्थल हैं जहाँ उनका ध्यान नाटक की सफलता या असफलता पर ही केन्द्रित था, जहाँ उन्होने सहृदय मात्र की निर्भ्रान्त विवेक दृष्टि को ही काव्य का मूल्याकन करने की कसौटी बताई और उसे औचित्य का आधार माना।

दूसरा आक्षेप उनके औचित्य सिद्धान्त पर यह लगाया जाता है कि बहिरग आलोचना का ही अग है, काव्य का सुव्यवस्थित, मौलिक तथा पूर्ण तात्विक विवेचन नही। यह आक्षेप उचित ही है क्योकि होरेस की दृष्टि अत्यन्त वस्तु-परक थी और रीति परम्पराओ के अनुकरण को काव्य की सफलता के लिए आवश्यक मानता था। परन्तु उसका यह अर्थ भी नही कि वह काव्य के आत्मपक्ष की ओर से पूर्ण उदासीन था। बीकने ने ठीक ही कहा है—

"What Horace chiefly valued is perfection of technique . though he knew well enough that man perfection of form is no substitute for poetic genius He would see art and natural genius wedded n fruitful union"

यह ठीक है कि कुल मिलाकर होरेस ने काव्य के मूलभूत सिद्धान्तो का अतरग विवेचन कम किया है, काव्य की आत्मा के उद्घाटन की बजाय उसके बाह्य रूप-भेदो और अग विन्यास का निरूपण अधिक किया है, तथापि उसके कतिपय सिद्धान्त शाश्वत मूल्य और स्थायी महत्त्व के हैं।

होता है। ऐसा अनुभव करते समय कदाचित् उसके मन मे Ion की निम्न पंक्तियों की प्रतिछाया रही हो

The Muse first of all inspires men for all good poets compose their beautiful poems not by art, but because they are inspired and possessed when he has not attained to this state he is powerless and is unable to utter his oracles

लोंजाइनस के विचार

मत लोंजाइनस काव्य लिए भावोत्कर्ष को मूल तत्व अति आवश्यक तत्व मानता था। उसने इस बात का पता लगाने की चिन्ता नहीं की कि इस भावोत्कर्ष अथवा अनुभूति या चरमोल्लास का स्रोत क्या है पर उसने निर्णायक रूप मे यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि काव्य या साहित्य का चरम उद्देश्य चरमोल्लास प्रदान करना है तर्क द्वारा बाध्य करना नहीं पाठक या श्रोता को वेद्यान्तर शून्य बनाता है।

"The sublime consists in a certain loftiness and consummateness of language and it is by this and this only that the greatest poets and prose-writers have won pre-eminence and lasting fame for a work of genius does not *aim* at *persuasion*, but *ecstasy*—or lifting the reader out of himself"

इसी बात को बाद मे चलकर बोवार्ट ने इन शब्दों मे कहा 'Nothing is poetry unless it transports और डि क्विनसी ने इसी के आधार पर साहित्य के दो भेद – ज्ञान का साहित्य और शक्ति का साहित्य—किये और कहा कि पहले का कार्य शिक्षा देना तथा दूसरे का कार्य आनन्द प्रदान करना है। यद्यपि लोंजाइनस ने 'कल्पना' शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि उसका स्पष्ट मत था कि साहित्य का सम्बन्ध तर्क से नहीं है कल्पना से है। वह तर्क द्वारा नहीं कल्पना द्वारा पाठक को अभिभूत करता है। यदि उसने 'इलियड' को ओडेसी से डिमोस्थनीज को सिसरो से श्रेष्ठ माना तो इसका कारण यही था कि 'इलियड' मे जीवन्त आवेग प्रचुरता अथवा अनुभूति अति शक्ति और वेग तथा यथार्थ बिम्ब विधान 'ओडेसी' से कहीं अधिक थे। इसी प्रकार सिसरो की शैली शिथिल और सामान्य से भाराक्रान्त थी तो डिमोस्थनीज की शैली मे जीवन आवेग गति तत्परता प्रचुरता आदि गुण थे जिसके कारण पाठक की चेतना पूर्णत अभिभूत हो जाती थी।

यद्यपि लोंजाइनस का मत था कि 'कला प्रकृति के समान प्रतीत होने पर ही सम्पूर्ण होती है तथापि वह कवि के अध्ययन या जिसे भारतीय काव्य-शास्त्र मे अभ्यास कहा गया है उस पर भी कम बल नहीं देता था। उसका विश्वास था कि प्रतिभा या सौन्दर्य शक्ति आकाश से यू ही नहीं टपक पड़ती। वह कुशल चमत्कार

१ De Sublimitate 8 4

का महान नगर बसाया और गिबन के शब्दो मे जिसने चुपचाप अपनी स्वामिनी के लिए प्राण दे दिए।

"Without uttering a complaint he calmly followed the executioner, pitying his unhappy mistress, and bestowing comfort on his afflicted friends"

हम भी उसे तृतीय शताब्दी वाला लोजाइनस ही मानते है। यद्यपि वह प्लेटो से अत्यधिक प्रभावित था, विशेषत उसकी प्रभविष्णु शैली तथा साहित्य के प्रति भावुक दृष्टिकोण मे, परन्तु उसने काव्य के मोहक गुणो तथा उसकी वेद्यान्तर विगलित करने की शक्ति की, जिनकी प्लेटो ने निन्दा की थी, प्रशसा की। जिस भावोत्कर्ष आह्लाद तथा दिव्य आनन्दानुभूति को प्लेटो काव्य-जगत् मे बहिष्कृत करना चाहता था, उन्हे उसने काव्य के लिए आवश्यक समझा। वह अलकार-शास्त्री (Rhetorician) था अत उसका व्याकरण-शास्त्र, निबन्ध-रचना-शास्त्र, विश्लेषणात्मक आलोचना-शास्त्र का अध्ययन पर्याप्त व्यापक था और वह कला के नियमो शब्दो के शुद्ध प्रयोग और उनके उपयुक्त चयन, छन्द और अलकारो के सम्यक् प्रयोग पर भी बहुत बल देता था।

पेरि हुप्सुस का प्रतिपाद्य

लोजाइनस की 'परि हुप्सुस' कृति का केवल ⅔ भाग उपलब्ध है। इसका अनुशीलन करने से पता लगता है कि उसका प्रतिपाद्य काव्यगत उदात्त-भावना नही है जैसा कि उसके अंग्रेजी शीर्षक 'On the sublime' मे भ्रम होता है। जैसा डॉ० नगेन्द्र ने कहा है, "इसमे उदात्त कला की प्रेरक भावनाओ और धारणाओ का विश्लेषण नही, वरन् उदात्त शैली के आधार-तत्वो का विवेचन प्रधान है।"[1] यद्यपि उसमे उदात्त के आध्यात्मिक पक्ष को भी महत्त्व दिया गया है, पर बल उसमे उदात्त शैली के आधार-तत्त्वो पर ही दिया गया है।

लोजाइनस के पूर्व काव्य सम्बधी धारणा

लोजाइनस से पूर्व कवि का मुख्य कर्म पाठक-श्रोता को आनन्द तथा शिक्षा प्रदान करना और गद्य-लेखक या वक्ता का मुख्य कर्म अपनी बात मनवाना समझा जाता था। यदि होमर वक्ता का कर्तव्य और उसकी सफलता श्रोताओ को मुग्ध करने में मानता था, तो एरिस्टोफेन्स कवि का कर्तव्य पाठको को सुधारना मानता थे। इसी प्रकार वक्ता या Rhetorician का गुण समझा जाता था—सतुलित भाषा, सुव्यवस्थित तर्क द्वारा श्रोता के मस्तिष्क पर इस तरह छा जाना कि वह वक्ता की बात मान ले। साराश यह है कि लोजाइनस मे पूर्व साहित्यकार का कर्तव्य-कर्म समझा जाता था—'To instruct, to delight, to persuade' अर्थात शिक्षा देना, आह्लाद प्रदान करना और बात मनवाना। लोजाइनस को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उसने अनुभव किया कि इस सूत्र मे कुछ कमी है क्योंकि काव्य मे इन तीनो बातो मे भी कुछ अधिक

1 डा० नगेन्द्र काव्य में उदात्त तत्व, पृ० ८

समुचित अलंकार-योजना उत्कृष्ट भाषा तथा गरिमामय रचना विधान। इनमें से प्रथम दो जन्मजात हैं अतः अन्तरंग पक्ष के अन्तर्गत आते हैं तो शेष तीन कलागत हैं और बहिरंग के अन्तर्गत आते हैं। उन्होंने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उन तत्वों का भी उल्लेख किया है जो औदात्य के विरोधी हैं। इस प्रकार उनके उदात्त के स्वरूप विवेचन के तीन पक्ष हो जाते हैं—(१) अन्तरंग तत्व (२) बहिरंग तत्व और (३) विरोधी तत्व।

अन्तरंग तत्व

१ उदात्त विचार या विषय की गरिमा—लांजाइनस के अनुसार उस कवि की कृति महान् नहीं हो सकती जिसमे महान् धारणाओं की क्षमता नहीं है। कवि को महान् बनने के लिए अपनी आत्मा में उदात्त विचारों का पोषण करना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट लिखा है यह सम्भव नहीं है कि जीवन भर क्षुद्र उद्देश्यों और विचारों में ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके। महान् शब्द उन्हीं के मुख से निःसृत होते हैं जिनके विचार गम्भीर और गहन हों।[1] अरस्तू ने विषय को स्वतः साध्य माना था लांजाइनस उसे साधन मानते हैं। उनका मत है कि विषय के महत्त्व तथा अनुक्रम की श्रेष्ठता से काव्य में आनन्दातिरेक का तत्व आता है जिसका तत्काल ही स्थायी प्रभाव पड़ता है। उनके मतानुसार यद्यपि यह कार्य प्रतिभा द्वारा ही सिद्ध होता है तथापि महान् कवियों के ग्रन्थों का अनुशीलन भी उसमें सहायक हो सकता है। महान् कवियों की कृतियों के पारायण से जो संस्कार प्राप्त होते हैं, वे निश्चय ही श्रेष्ठ रचना के प्रणयन में सहायक होते हैं। वह श्रेष्ठ रचना के लिए विषय का विस्तारपूर्ण होना आवश्यक समझते हैं। जब वह छोटी नदियों की अपेक्षा नील नदी डेन्यूब और इनसे भी अधिक सागर को काव्य के विषय के लिए अधिक उपयुक्त मानते हैं तो इसी तत्व की ओर संकेत करते हैं। उनका मत है कि विषय में ज्वालामुखी के समान असाधारण शक्ति और वेग होना चाहिए तथा ईश्वर का सा ऐश्वर्य और वैभव भी। विषय ऐसा होना चाहिए जिसका पाठक-श्रोता पर उत्कट तथा स्थायी प्रभाव पड़े। जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नहीं लगभग असम्भव हो जाए और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाए न मिटे। साराश यह है कि उदात्त के सम्बन्ध मे लोंजाइनस का मत यह है कि जहाँ तक विषय वस्तु का सम्बन्ध है वह अनन्त विस्तार वाला हो तथा उसमे असाधारण शक्ति वेग अलौकिक ऐश्वर्य तथा उत्कट प्रभाव-क्षमता हो और इसके लिए उन्होंने प्रतिभा तथा महान् कवियो के ग्रन्थो का अनुशीलन आवश्यक माना है।

आवेग—लोंजाइनस उद्दाम और प्रेरणा प्रसूत भव्य आवेग को उदात्त का दूसरा तत्व मानते हैं। मैं यह बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जो—

---

१ डा नगेन्द्र काव्य मे उदात्त तत्व पृ ५५

२ डा नगेन्द्र काव्य में उदात्त तत्व पृ ५

शास्त्री (Rhetrorician) था, अत उसने 'उदात्त' के स्रोतो की चर्चा करते समय उसके कलात्मक या वहिरग पक्ष की भी चर्चा की—अलकारो के प्रयोग के सम्बन्ध मे अपना मत दिया तथा तुच्छता या 'बालेयता' का विरोध किया। वस्तुत लोजाइनस मे स्वछन्दतावाद (romanticism) और अभिव्यजनावाद (classicism) दोनो के तत्त्व विद्यमान हैं। वह एक अत्यन्त सन्तुलित विचारधारा समन्वयवादी विचारक तथा आलोचक था, अत उसने काव्य के अन्तरग और वहिरग दोनो मे औदात्य का समर्थन किया। इसीलिए स्कॉट जेम्स ने उसे प्रथम स्वछन्दवादी समीक्षक मानते हुए कहा है

"Though he was the first to expound doctrines upon which romanticism rests, he turned and tempered them with what is sanest in classicism [१]

यही कारण है कि उसने विचार तत्त्व और पद-विन्यास को एक-दूसरे से सम्वद्ध माना "विचार और पद-विन्यास अधिकतर एक-दूसरे के आश्रय में विकसित होते हैं।"[२] तथा कहा "सुन्दर शब्द ही वास्तव मे विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं।"[3] साराश यह है कि लाजीनस की दृष्टि मे भव्य कविता वही है जो आनन्दातिरेक (Transport) के कारण हमे इतना निमग्न और तन्मय कर दे कि हम अपना मान भूल जाए और ऐसी उच्च भाव-भूमि पर पहुच जाए जहाँ निरी बौद्धिकता पगु हो जाती है और वर्ण्य-विषय विद्युत्प्रकाश की भाँति आलोकित हो उठता है। 'काव्यप्रकाश' के लेखक मम्मट ने भी काव्य के इसी सर्वातिशायी प्रभाव का जयजयकार किया है। कवि-कृति को उन्होंने भी 'ह्लादैकमयी' कहा है। काव्य के विविध प्रयोजनो का उल्लेख करते हुए "सद्य परनिवृत्ति" को उन्होंने 'सकल प्रयोजन-मौलिभूति' के रूप मे स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि मे भी काव्य के रसास्वादन से इस प्रकार का आनन्द प्रादुर्भूत होता है जहाँ 'वेद्यान्तर' विगलित हो जाता है। इस प्रकार लोजाइनस के आनन्दातिरेक मे तथा मम्मट के 'विगलित वेद्यान्तर' में बहुत कुछ साम्य हैं।

उदात्त का स्वरूप

अब हम लोजाइनस के 'उदात्त तत्त्व' पर विचार करें। उसने उदात्त की परिभाषा नही दी है—उसे एक स्वत. स्पष्ट तथ्य मानकर छोड दिया है। उसकी दृष्टि व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनो प्रकार की थी, अत उसने जहाँ एक ओर उदात्त के वहिरग तत्त्वो की चर्चा की वहाँ उसके अन्तरग तत्त्वो की ओर भी सकेत किया। उदात्त के इस विवेचन मे उन्होने ५ वातो को आवश्यक ठहराया—महान् धारणाओ की क्षमता या विषय की गरिमा, भावावेश की तीव्रता,

१ स्कॉट जेम्स 'दि मेकिग आफ लिट्रेचर', पृष्ठ ८७

२ De Sublimitate, 30, 1

३. वही

अलंकार सम्बन्धी विवेचन अत्यन्त मार्मिक है। वह अलंकारों को भी एक प्रकार से काव्य की आत्मा के रूप में ग्रहण करते हैं। उनका मत है कि प्राकृतिक अभिव्यंजना में अलंकारों का स्थान है अत उन्हें कृत्रिम मानना उचित नहीं पर उनका प्रयोग प्रासंगिक होना चाहिए अनावश्यक तथा अप्रासंगिक नहीं परिस्थिति और उद्देश्य के अनुरूप होना चाहिए। भव्य से भव्य अलंकार भी यदि स्थान परिस्थिति आदि के अनुरूप नहीं है, तो कविता-कामिनी का शृंगार न कर उसका बोझ बन जायगा। वह साधन मात्र है अत उसे प्रसंग का सहज अंग बन कर आना चाहिए वह औचित्य को यहाँ भी प्रधानता देते हैं "इस बात पर किसी का ध्यान न जाए कि यह अलंकार है।[1] इस वाक्य से स्पष्ट है कि जिसे आज के आलोचक 'आत्मगोपन' कह कर उसे बड़ा महत्व देते हैं उससे भी लोंजाइनस परिचित थे। वह अलंकार को निश्चय ही साध्य नहीं मानते थे और यह उस युग के लिए जिसमें लोंजाइनस पैदा हुए, निश्चय ही क्रान्तिकारी विचार था।

जहाँ तक उदात्त के पोषक अलंकारों के निर्देश का प्रश्न है, उन्होंने विस्तारणा शपथोक्ति प्रश्नालंकार विपर्यय व्यतिक्रम पुनरावृत्ति छिन्न वाक्य प्रत्यक्षीकरण संचयन सार, रूप-परिवर्तन पर्यायोक्ति आदि का विवेचन किया है।

१ विस्तारणा—इसके तत्व विवरण और प्राचुर्य हैं। विषय को अपने समस्त अंगों और अंगभूत प्रसंगों के साथ प्रस्तुत किया जाता है। विषय के विस्तार से युक्ति में बल आता है। युक्तियों को जब प्रबलता से प्रस्तुत किया जाता है तो उदात्त शैली का निर्माण होता है।

२ शपथोक्ति—इसका नाम सम्बोधन भी है। शपथ का प्रयोग कर ओज और विश्वास की सृष्टि की जाती है जैसे 'सोहराब और रुस्तम' नामक ग्रंथ की काव्य में जब पिता-पुत्र शपथ दिलाते हैं तो वहाँ ओज की सृष्टि होती है।

३ प्रश्नालंकार—यहाँ वक्ता स्वयं ही प्रश्न कर उसका समाधान प्रस्तुत करता है। इस प्रकार का वक्तव्य अधिक उदात्त बन जाता है। प्रश्न उठाकर स्वयं उत्तर देने से भावावेग का स्फोट स्वाभाविक जान पड़ता है जैसे मिल्टन के ओड *On His Blindness* में मिल्टन स्वयं प्रश्न करता है *Doth God exact day-labour light denied?* और फिर स्वयं उत्तर देता है—

God doth not need
Either man s work or his own gifts

They also serve who only stand and wait.

४ विपर्यय और ५. व्यतिक्रम—इनमें शब्दों तथा विचारों के सहज क्रम में उलट-फेर कर दिया जाता है जिससे बात अधिक प्रभावशाली हो जाती है

---

१ डा नगेन्द्र काव्य में उदात्त तत्त्व पृ ५७

आवेग उन्मद उत्साह के उद्दाम वेग से फूट पडता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दो को विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर मे जैसा औदात्य आता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।"[1] भव्य आवेग से उनका अभिप्राय ऐसे आवेग से है जिसके परिणामस्वरूप हमारी आत्मा अपने-आप ऊपर उठकर मानो गर्व से उच्चाकाश मे विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से भर जाती है। उन्होने आवेग के दो भेद किये हैं—भव्य और निम्न। निम्न के अन्तर्गत वे उन आवेगो को लेते हैं जिनका सम्बन्ध दया, शोक, भय आदि से है। प्रथम से आत्मा का उत्कर्ष होता है तो दूसरे से अपकर्ष। उदात्त के लिए प्रथम अर्थात् भव्य आवेग को आवश्यक माना गया है। यद्यपि भावावेश की तीव्रता (vehement passion) पर लोंजाइनस स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखना चाहते हुए भी न लिख सके, तथापि भावना के उत्कर्ष और प्रावल्य पर जो उनके विचार उपलब्ध हैं उनमे तथा आगे के स्वच्छन्दतावादी समीक्षको के विचारो मे पर्याप्त साम्य है। वह भी हर्ष-उल्लास, सभ्रम अर्थात् आदर और विस्मय को उदात्त के लिए परम आवश्यक मानते हैं तथा उसी को उदात्त कहते है जो अपनी ऊर्जा, उल्लास और सभ्रम आदि के सम्मिलित प्रभाव-रूप ऐसी अनुभूति को जन्म दे जो अन्तत पाठक की सम्पूर्ण चेतना को अभिभूत कर सके।

बहिरंग पक्ष

लोंजाइनस प्रतिभा को प्राकृतिक वस्तु मानते हैं और कहते हैं कि उसके लिये सदैव कोई नियम नही वनाये जा सकते, फिर भी प्रकृति के अनुशीलन से प्रकट होता है कि उसकी अभिव्यक्ति मे एक व्यवस्था है और वह भी नियमानुसार कार्य करती है। अत लोंजाइनस नियमो का महत्व स्वीकार करते हैं बल्कि निवन्ध का जो भाग उपलब्ध है उसमे उन्होने मूलत उन्ही तत्वो पर, अधिक बल दिया है जिनके द्वारा काव्य का वहिरग—भाषा, शैली, रचना-विधान आदि पुष्ट होते है। उन्हे वह 'कला की उपज'[2] मानते हैं। उन्होने कलागत उदात्त के तीन तत्व माने हैं—१ समुचित अलकार-योजना, २ उत्कृष्ट भाषा, ३ गरिमामय रचना-विधान।

समुचित अलंकार योजना

अलकारो का प्रयोग तो लोंजाइनस के युग मे निर्वाध होता था, पर उसका मनोवैज्ञानिक आधार न था। लोंजाइनस ने उनका सम्बन्ध मनोविज्ञान से जोडा और मनोवैज्ञानिक प्रभावो को व्यक्त करने के निमित्त ही अलकारो को उपयोगी ठहराया। केवल चमत्कार प्रदर्शन के लिए अलकारो का प्रयोग उन्हे मान्य न था। वह अलकार तो तभी उपयोगी मानते थे जव वह जहाँ प्रयुक्त हुआ है, वहाँ अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करे, पाठक को आनन्द प्रदान करे, केवल चमत्कृत न करे। अत उनका

---

१ वही पृ० ५४

२ डा० नगेन्द्र 'काव्य में उदात्त तत्व' पृ० ५३

ध्वनि-पक्ष और अर्थ-पक्ष। लौंजाइनस ने दोनों पक्षों पर समुचित ध्यान दिया है। उनका विचार है कि अनुकूल ध्वनि के शब्दों का चयन काव्य में मोहकता की सृष्टि करता है। उनके इस विचार में हम भाषा-सम्बन्धी आधुनिक विचारों की स्पष्ट झलक पाते हैं। जिस प्रकार भारतीय रीति-सम्प्रदाय में भाषा में ओज माधुर्य प्रसाद आदि गुण माने गये हैं उसी प्रकार लौंजाइनस भी मानता है साथ ही जिस प्रकार काव्य दोषों का विवेचन करते हुए भारतीय आचार्यों ने भाषा सम्बन्धी दोषों का उल्लेख किया है उसी प्रकार लौंजाइनस ने भी किया है। लाक्षणिक या रूपकमयी शब्द-योजना के सम्बन्ध में अरस्तू का नियम था कि एक वाक्य में दो से अधिक मुहावरे नहीं आने चाहिए। लौंजाइनस की मर्म-ग्राहिका दृष्टि इस सिद्धान्त का समर्थन न कर सकी। उसने कहा कि अनुभूति की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग किया जाए, यही एक मात्र नियम है अन्य सब नियम अधूरे तथा अपूर्ण हैं। यहां उसने एक चेतावनी भी दी है कि हर जगह गरिमामयी भाषा का प्रयोग उचित नहीं। उसका प्रयोग प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए, 'छोटी-मोटी बातों को बड़ी-बड़ी और भारी-भरकम संज्ञा देना किसी छोटे-से बालक के मुँह पर पूरे आकारवाला नाटक-अभिनय का मुखौटा लगा देने के समान है। उनका कथन है कि शब्द-योजना संगीतात्मक प्रभाव के अनुरूप होनी चाहिये। उनका यह सिद्धान्त भारतीय शब्दशास्त्रकारों के समकक्ष होते हुए भी इसलिए भिन्न है कि उन्होंने शब्द का सम्बन्ध भाव से भी जोड़ दिया है। इस तरह लौंजाइनस यद्यपि रीतिवादी सिद्धान्त के अनुयायी से लगते हैं। परन्तु उसका मनोवैज्ञानिक रूप मानने के कारण वह उससे भिन्न है।

रचना-विधान—उनके अनुसार रचना विधान गरिमामय एवं अर्जित होना चाहिए। रचना विधान के अन्तर्गत शब्दों विचारों कार्यों सुन्दरता तथा राग के अनेक रूपों का सगुम्फन होता है। उनकी दृष्टि में रचना का प्राण-तत्त्व है सामंजस्य जो उदात्त शैली के लिये अनिवार्य है। उन्होंने शैलीगत रचना विधान की तुलना शरीर रचना से करते हुए दोनों को समान माना है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयवों का अलग अलग रहने पर कोई महत्त्व नहीं सब मिलकर ही व एक समग्र और सम्पूर्ण शरीर की रचना करते हैं इसी प्रकार उदात्त शैली में सभी तत्त्व जब एकान्वित कर दिए जाते हैं तभी उनके कारण कृति गरिमामय बन पाती है।

कल्पना-तत्त्व – लौंजाइनस ने प्रत्यक्ष रूप से कल्पना तत्त्व की बात नहीं की है केवल उदात्त बिम्बों का वर्णन किया है वहाँ उनकी निर्मात्री शक्ति के रूप में इसकी चर्चा की है। उनका बिम्ब से अभिप्राय कल्पना-चित्र से ही है और उनकी सर्जना शक्ति वह कल्पना को मानते हैं। कदाचित् इसीलिए लौंजाइनस के ग्रंथ के अनुवादक रॉबर्ट्स ने इस स्थल पर इमेज की जगह इमेजिनेशन शब्द का प्रयोग किया है।

१ डा० नगेन्द्र काव्य में उदात्त ४२।

६ पुनरावृत्ति और ७. छिन्नवाक्य—इनका भी उद्देश्य आत्मा के आवेग और सक्षोभ को प्रभावशाली ढग से व्यक्त करना होता है। भावावेग मे भावो या विचारो का अनुक्रम भग हो जाना, सयोजक पदावली की कडियाँ टूट जाना स्वाभाविक है, अत भावाभिव्यक्ति को सबल और सहज बनाने मे इनकी उपादेयता असदिग्ध है।

८ प्रत्यक्षीकरण—इसके द्वारा सम्पूर्ण वर्ण्य-विषय को ऐसे प्रस्तुत किया जाता है कि ऐसा लगता है जैसे वह घटना हमारे सम्मुख ही घट रही है। इससे वर्ण्य जीवन्त हो उठता है। निराला की "राम की शक्ति पूजा" मे समुद्र गर्जन, विराट् पर्वत, सघन अन्धकार की विशाल सैटिंग मे राम की उपासना का दृश्य इसी प्रकार का है।

९ सचयन—इसमे अनेक तथ्यो का ढेर सा लगा दिया जाता है जिससे आवेग की अभिव्यक्ति सफल बन जाती है।

१० सार—इसमे वर्ण्य-वस्तु की उत्तरोत्तर वृद्धि की अभिव्यजना रहती है, जैसे 'राम की शक्ति पूजा' मे राम के द्वारा चक्रो को पार करने का वर्णन या हनुमान का महाकाश मे चढना।

११ रूप-परिवर्तन—इसके द्वारा वचन, कारक, पुरुष, लिंग आदि के परिवर्तन द्वारा विषय के प्रतिपादन मे विविधता और सजीवता उत्पन्न की जाती है। एकवचन के लिए बहुवचन, बहुवचन के लिए एकवचन, भूत और भविष्यत् के लिए वर्तमान या पुल्लिग के स्थान पर स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग के लिए पुल्लिग का प्रयोग कर यह प्रभाव अकित किया जाता है। विद्यापति की राधा जब माधव-माधव रटते-रटते स्वय कृष्ण बन जाती है, तो कवि की निम्न उक्ति कितनी प्रभावशाली बन जाती है इसे पाठक सहज ही अनुभव करता है "अनुदिन माधव माधव रटियत राधा भेल कन्हाई।"

भारतीय काव्य-शास्त्र मे भी इस प्रकार के रूप-परिवर्तनो की मार्मिक व्याख्या और विवेचन कुन्तक द्वारा 'पद-परार्ध-वक्रता' के अन्तर्गत किया गया है।

१२ पर्यायोक्ति—इसमे बात को प्रकारान्तर से चमत्कारपूर्ण ढग से कहा जाता है जैसे 'मृत्यु' के लिए 'नियत मार्ग' कहना। रूपक और अतिशयोक्ति का भी उदात्त के लिए महत्व स्वीकार किया गया है, पर इन दोनो के प्रयोग में भी उन्होने सतर्कता, सयम और विवेक से काम लेने की बात कही है।

उत्कृष्ट भाषा—उत्कृष्ट भाषा के अन्तर्गत लोजाइनस ने शब्द-चयन, रूपकादि का प्रयोग और भाषा की सज्जा को लिया है। उन्होने विचार और पद-विन्यास को एक-दूसरे के आश्रित माना है, अत सहज ही यह निष्कर्ष निकल आया है कि उदात्त विचार क्षुद्र या साधारण शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त न होकर गरिमामयी भाषा मे ही अभिव्यक्त हो सकते है। भाषा की गरिमा का मूल आधार है शब्द-सौन्दर्य अर्थात् उपयुक्त और प्रभावशाली शब्दो का प्रयोग। "सुन्दर शब्द ही वास्तव मे विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं।"[1] शब्द-विन्यास के दो पक्ष होते हैं—

१. डा० नगेन्द्र 'काव्य में उदात्त तत्त्व' पृ० ६१

'In all speech words and sense are as the body and soul' द्वारा कही और डि क्विन्सी ने भाषा को आत्मा 'Incarnation' कहकर व्यक्त की वह लोंजाइनस तीसरी शताब्दी में ही कह चुके थे। कॉलरिज ने बाद में जो बात 'As light to the eye even such is beauty to the mind' द्वारा व्यक्त की वह लोंजाइनस पहले ही 'For beautiful words are the true and peculiar light of the mind' द्वारा कह चुके थे। प्रकृति के सम्बन्ध में भी कॉलरिज तथा लोंजाइनस के विचार समान हैं।

भारतीय काव्य-शास्त्र में उदात्त की परिकल्पना का अभाव तो नहीं है पर उसका विवेचन समग्र रूप से एक स्थान पर नहीं किया गया है। उदात्त के सन्दर्भ अवश्य ही उपलब्ध होते हैं—जैसे धीरोदात्त नायक वीर रस अद्भुत रस ओज गुण गौड़ी रीति आदि के प्रसंगों में। अत: यह मानना पड़ेगा कि उदात्त का जितना पूर्ण और समग्र विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र में उतना नहीं जितना लोंजाइनस के 'पेरि हुप्सुस' में पाया जाता है।

उनके अनुसार कल्पना वह शक्ति है जो पहले कवि को मानसिक रूप मे वर्ण्य विषय का साक्षात्कार करा देती है और फिर जिसकी सहायता से कवि भाषा मे चित्रात्मकता लावण्य को ऐसे प्रस्तुत करता है कि वह श्रोता पाठक के सम्मुख जीवन्त और प्रत्यक्ष हो उठती है। लोजाइनस की कल्पना सम्बन्धी यह धारणा आज की कल्पना विषयक धारणा से भिन्न नही है ।

विरोधी-तत्व—जैसा कि पहले कहा जा चुका है विषय को निर्भ्रान्त बनाने के लिये लोजाइनस ने उन तत्त्वो का भी स्पष्ट निर्देश किया है जो उदात्त के विरोधी हैं। सर्वप्रथम उन्होंने बालेयता को औदात्य का विरोधी माना है। चचल पद-गुम्फन, असयत वाग्विस्तार, हीन और क्षुद्र अर्थवाले शब्दो का प्रयोग—ये सब उदात्त शैली के अपकारक हैं, अत त्याज्य है। भावाडम्बर और शब्दाडम्बर को भी वह विरोधी तत्त्व मानते हैं। गृद्ध को 'जीवित समाधि' कहना उनकी दृष्टि मे वाक्स्फीति ही हैं। भावाडम्बर से उनका अभिप्राय है उन स्थानो पर खोखला और अनुपयुक्त भावावेग दिखाना जहाँ आवेग की तनिक भी आवश्यकता नही है। उनका शब्दाडम्बर से वही अभिप्राय है जिसे हम 'ऊहा' कहते हैं। वे उन चमत्कार-प्रयोगो को भी उदात्त का विरोधी समझते हैं जो साध्य हैं, साधन नही तथा जो विवेकपूर्वक प्रयुक्त नही किये गए हैं, जिनसे भावाभिव्यजना मे कोई गरिमा नही आती । अभिव्यक्ति की क्षुद्रता, अत्यन्त सक्षिप्तता अनावश्यक साज-सज्जा, सगीत और लय के आधिक्य को भी वह विरोधी तत्त्व मानते हैं क्योकि उनसे शैली उदात्त होने की बजाय निकृष्ट बन जाती है। कुत्सित, क्षुद्र अर्थ वाले शब्द यदि भाषा के कलक है, तो विचारो को ठूसने से सक्षिप्तता तो आ जाती है पर विषय की गरिमा नष्ट हो जाती है। उनका मत है कि लय और सगीत का आधिक्य भी उक्ति को आवश्यकता से अधिक सुकुमार, कृत्रिम और एकरस बनाकर श्रोता का ध्यान विषय से हटा देता है । अत वह भी त्याज्य है।

उपसहार

लोजाइनस के उदात्त तत्त्व की व्याख्या का महत्त्व और भी अधिक बढ जाता है जब हम आधुनिक आलोचको ब्रैडले, कान्ट आदि की विचारधारा तथा लोजाइनस की धारणाओ मे समानता पाते हैं। वेग, अलौकिक ऐश्वर्य और उत्कट प्रभाव-क्षमता आदि जिन गुणो का उल्लेख लोजाइनस ने किया है, बैडले ने भी 'असीम शक्ति' के अन्तर्गत उन्हें स्वीकार किया है। पश्चिम के रीतिकारो ने काव्यगत 'भाव' के जिन चार भेदो—उदात्त, सुन्दर, करुण और हास्य का उल्लेख किया है, उनका लोजाइनस ने पृथक-पृथक रूप मे कथन तो नही किया है पर उनका सकेत अवश्य मिलता है। उदात्त भावना और उदात्त विषय के लिए उदात्त शैली की प्रकल्पना और विवेचन भी आजकल के आलोचको ने लोजाइनस की तरह ही किया है। जो बात विचार और भाषा के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे बाद मे बेन जॉन्सन ने

'In all speech words and sense are as the body and soul द्वारा कही और ड्रि क्विन्सी ने भाषा को आत्मा Incarnation कहकर व्यक्त की वह लोंजाइनस तीसरी शताब्दी में ही कह चुके थे। कॉलरिज ने बाद में जो बात As light to the eye even such is beauty to the mind' द्वारा व्यक्त की वह लोंजाइनस पहले ही For beautiful words are the true and peculiar light of the mind' द्वारा कह चुके थे। प्रकृति के सम्बन्ध में भी कॉलरिज तथा लोंजाइनस के विचार समान हैं।

भारतीय काव्य-शास्त्र में उदात्त की परिकल्पना का अभाव तो नहीं है पर उसका विवेचन समग्र रूप से एक स्थान पर नहीं किया गया है। उदात्त के लक्षण अवश्य ही उपलब्ध होते हैं—जैसे धीरोदात्त नायक वीर रस अद्भुत रस ओज गुण गौड़ी रीति आदि के प्रसंगों में। अतः यह मानना पड़ेगा कि उदात्त का विश्लेषण और समग्र विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र में उतना नहीं जितना लोंजाइनस के 'पेरि हुप्सुस' में पाया जाता है।

: १७ :

कॉलरिज के काव्य सिद्धांत

१ भूमिका
२ कालरिज के अनुसार सद्-कवि के गुण
३ सद-काव्य सम्बन्धी विचार
४ कविता और छन्द
५ कल्पना सम्बन्धी विचार—
(क) आद्य कल्पना
(ख) गौण कल्पना
(ग) आद्य और गौण कल्पना में भेद
(घ) ललित-कल्पना
(ङ) कल्पना का कार्य

अंग्रेजी काव्य के रोमांटिक युग का महान कवि और सुप्रसिद्ध आलोचक कॉल रिज बडा सूक्ष्मदर्शी तत्ववेत्ता था। यद्यपि कुछ विद्वानो के अनुसार उसने अपने अधिकाश विचार जर्मन विद्वानो—काण्ट और शैलिग से उधार लिये थे, तथापि आज भी अंग्रेजी आलोचको मे उसका स्थान अद्वितीय माना जाता है। सेन्ट्सवरी की दृष्टि मे जिन तीन आलोचको का स्थान अमर है, उनमे एक कॉलरिज है।

"So, then, there abide three—Aristotle, Longinus and Coleridge"

अच्छे कवि के गुण—कॉलरिज का मत है कि कवि मे कुछ ऐसी शक्ति होती है, जिसका सस्कार और परिवर्धन तो हो सकता है, पर उसे किसी अन्य से सीखा या उपलब्ध नही किया जा सकता। यह शक्ति, जिसे हम प्रतिभा कह सकते हैं, जन्मजात होती है। प्रतिभा और काव्यत्व अभिन्न गुण हैं। इस काव्य-प्रतिभा के अन्तर्गत कॉलरिज चार गुण मानता है—पूर्ण पद्य माधुरी, विषय का चुनाव, मूर्ति विधान और विचार की गहराई। वह काव्य मे सगीत के आनन्द की अनुभूति को आवश्यक बताता है। उसका मत है कि कवि को अपने वैयक्तिक जीवन की सीमा से बाहर निकलकर विषयवस्तु का चुनाव करना चाहिये, अपनी अनुभूतियो का नितात तटस्थ रूप से चित्रण और विश्लेपण करना चाहिये और इस प्रकार व्यक्तिगत परिस्थितियो से ऊपर उठकर मानव कल्पना के क्षितिज का विस्तार करना चाहिये। जब तक कवि 'स्व' में

रमा रहेगा तब तक उसकी सृष्टि उत्कृष्ट नही हो सकती अत उसे 'स्व' को 'पर' मे बदल देना चाहिये उसकी काव्यगत अनुभूति व्यापक होनी चाहिये।

मूर्ति विधान क सम्बन्ध मे कॉलरिज का मत है कि उस काव्य के प्रमुख भाव (Prominent pas ion) द्वारा निश्चित रूप प्राप्त करना चाहिये उसमे अनेकता को एकता मे बदलने की शक्ति होनी चाहिये। वही कवि उच्चकोटि का होगा जो अपनी कल्पना मे जाग्रत भावचेतना का मूर्ति विधान द्वारा व्यक्त कर सक। इतना ही नही कवि की सम्पूर्ण कृति का विधान ऐसा हो कि उसमे अनेकता को एकता मे बदलने की शक्ति आ जाय और उसके द्वारा मानवीय एव बौद्धिक जीवन व्यक्त हो उठे। तात्पर्य यह है कि कवि मानव जीवन के किसी एक परन्तु पूर्ण अश पर अपनी कल्पना का ऐसा प्रकाश डाल दे कि उसके सभी अवयव उचित अनुपात मे उस प्रकाश क अन्तर्गत स्पष्ट दिखाई दे। जीवन के जिस अंश को वह देखे पूर्ण रूप मे देख और उसे कल्पना का रग प्रदान करे।

अनुभूति के साथ-साथ कवि मे चितन शक्ति का होना भी आवश्यक है। आज तक कोई ऐसा महान कवि नही हुआ जो कि महान दार्शनिक न रहा हो क्योंकि कविता सभी मानवीय ज्ञान विचारों भावो भावावेगो और भाषाओं का पुष्प और सुगन्धि है। धार्मिक प्रवृत्ति को भी कॉलरिज कवि का आवश्यक गुण मानता है।

An undevout poet is mad is an impossibility

इतिहास ज्ञान और प्रकृति ज्ञान को वह कवि के वाछनीय गुण मानता है। उसकी सफलता इस पर निर्भर करती है कि वह पाठक के मन म अपनी रचना से तीव्र भावात्मक उत्पन्न कर पाता है अथवा नही।

काव्य सम्बन्धी विचार—कॉलरिज ने कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है—

It is the excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of poetry

अर्थात् कविता सौन्दर्य के माध्यम से तात्कालिक (immediate) आनन्दबोध क के लिए भावो को उद्वेलित करती है। कॉलरिज काव्य को एक विशिष्ट रचना मानता है और उसे विज्ञान से भिन्न मानता है। वह कहता है कि लक्ष्य दो प्रकार का होता है तात्कालिक लक्ष्य (immediate purpose) और अन्तिम लक्ष्य (ultimate end)। विज्ञान इतिहास और दर्शन का तत्काल लक्ष्य सत्य को व्यक्त करना है सत्य का बोध कराकर वह आनन्द भी प्रदान कर सकता है किन्तु आनन्द प्रदान कराना उसका तात्कालिक लक्ष्य नही। इसके विपरीत काव्य का तात्कालिक लक्ष्य आनन्द देना है हालांकि उसका अन्तिम लक्ष्य सत्य का बोध कराना भी हो सकता है। वह कविता के आनन्द को विशुद्ध आनन्द मानता है जो किसी अन्य भाव या रुचि को सतुष्ट करने मे नही उसी से उद्भूत होता है।

सार्वजनीनता को वह कविता के लिए अनिवार्य मानता है अत वैयक्तिक

: १७ :

कॉलरिज के काव्य सिद्धांत

१ भूमिका

२ कालरिज क अनुसार सद्-कवि के गुण

३ सद्-काव्य सम्बन्धी विचार

४ कविता और छन्द

५ कल्पना सम्बन्धी विचार—

(क) आद्य कल्पना

(ख) गौण कल्पना

(ग) आद्य और गौण कल्पना में भेद

(घ) ललित-कल्पना

(ङ) कल्पना का कार्य

अंग्रेजी काव्य के रोमाटिक युग का महान कवि और सुप्रसिद्ध आलोचक कॉलरिज बडा सूक्ष्मदर्शी तत्ववेत्ता था। यद्यपि कुछ विद्वानो के अनुसार उसने अपने अधिकाश विचार जर्मन विद्वानो—काण्ट और शैलिंग से उधार लिये थे, तथापि आज भी अंग्रेजी आलोचको मे उसका स्थान अद्वितीय माना जाता है। सेन्ट्सबरी की दृष्टि मे जिन तीन आलोचको का स्थान अमर है, उनमे एक कॉलरिज है।

"So, then, there abide three—Aristotle, Longinus and Coleridge"

अच्छे कवि के गुण—कॉलरिज का मत है कि कवि में कुछ ऐसी शक्ति होती है, जिसका सस्कार और परिवर्धन तो हो सकता है, पर उसे किसी अन्य से सीखा या उपलब्ध नही किया जा सकता। यह शक्ति, जिसे हम प्रतिभा कह सकते हैं, जन्मजात होती है। प्रतिभा और काव्यत्व अभिन्न गुण हैं। इस काव्य-प्रतिभा के अन्तर्गत कॉलरिज चार गुण मानता है—पूर्ण पद्य माधुरी, विषय का चुनाव, मूर्ति विधान और विचार की गहराई। वह काव्य मे सगीत के आनन्द की अनुभूति को आवश्यक बताता है। उसका मत है कि कवि को अपने वैयक्तिक जीवन की सीमा से बाहर निकलकर विषयवस्तु का चुनाव करना चाहिये, अपनी अनुभूतियो का नितात तटस्थ रूप से चित्रण और विश्लेषण करना चाहिये और इस प्रकार व्यक्तिगत परिस्थितियो से ऊपर उठकर मानव कल्पना के क्षितिज का विस्तार करना चाहिये। जब तक कवि 'स्व' में

सुरम्य हो कि पाठक पग-पग पर रुककर उसका रसास्वादन करे। कविता की गति घोड़े की तरह सरपट न होकर सर्प की गति के समान होनी चाहिए। जिस प्रकार सर्प हर कदम पर रुककर अपना पीछा भाग को चलकर उस प्रतिवर्ती गति से पुनः आगे चलने की शक्ति संचित करता है उसी प्रकार पाठक प्रत्येक छंद पर रुककर उसका रसास्वाद ग्रहण करे और आगे पढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करे। इस प्रकार कॉलरिज कलाकृति को सम्पूर्ण इकाई मानता है जिसके विविध भागों में परस्पर सामंजस्य हो। वह चाहता है कि कोई एक प्रधान विचार या भाव सम्पूर्ण कृति में अनुस्यूत रहे उसमें स्वर और भावना की एकता बनी रहे। काव्य में आनंदानुभूति का ऐक्य होना चाहिए, प्रत्येक अवयव द्वारा जो अनुभूति उत्पन्न हो वह अनिवार्य रूप से इसी आनंदानुभूति ऐक्य मे योग दें।

सारांश यह है कि महान कविता म कॉलरिज निम्न गुण अनिवार्य मानता है—(१) पद योजना का पूर्ण माधुर्य (२) कवि की निर्वैयक्तिकता (३) विचार गाम्भीर्य (४) प्रबल भाव की अन्तर्धारा जिसका भाषा और बिम्बों पर पूरा अधिकार हो और जो विचारों को क्रम तथा ऐक्य प्रदान करे अर्थात् भाव एवं बुद्धि का सम्मिलन (५) सार्वजनीनता (६) आंगिक अन्विति (organic unity) (७) विशुद्ध आनंदाद क की क्षमता।

कविता और छंद—वह स्वयं गद्य और कविता की भाषा में मौलिक अन्तर स्वीकार नहीं करता था। वह कविता के लिये छन्द को अनिवार्य नहीं मानता था पर इतना स्वीकार करता था कि साधारण जीवन की शुष्कता से कविता को पृथक करने के लिये विवेकपूर्वक छंद को ऊपर से जोड़ा जा सकता है।

कॉलरिज जैसा कि ऊपर कह चुके हैं कविता को इकाई मानता था और उस के सब घटकों मे अन्विति चाहता था। उसकी दृष्टि मे कोई भी कृति तब तक चिर कालीन आनंद नहीं प्रदान कर सकती जब तक उसके वैसा होने और अन्यथा न होने का कारण स्वयं उसके भीतर न निहित हो।

Nothing can permanently please which does not contain in itself why it is so, and not otherwise.

जहां वह स्वयं छन्द को ऊपर से जोड़ा गया मानता है वहीं कॉलरिज का मत है कि यदि छन्द कविता का अनिवार्य अंग न होगा वह थोपी हुई वस्तु होगी जिसके बिना भी कविता लिखी जा सकती थी तो उस कविता से शाश्वत आनंद उप लब्ध नहीं होगा। अर्थात् या तो छन्दमयी अभिव्यक्ति अनिवार्य होगी अन्यथा वह चिरकालीन आनंद नहीं दे सकती। इसलिये या तो कविता के लिये छन्द बिल्कुल ही स्वीकार न करो और यदि किसी भी कारण से स्वीकार करते हो तो उसे ऊपर से थोपा मत मानो उसे कविता का प्राकृतिक अनिवार्य अंग होना चाहिए। वह मानता है कि छन्द का उद्गम स्वतःस्फूर्त प्रयास द्वारा मन मे होता है। कविता मे छन्द स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं क्योंकि छन्दों की उत्पत्ति उस मानसिक सन्तुलन से

आत्मनिवेदन से अधिक वह भावो के निर्वैयक्तीकरण पर बल देता है और कविता की महानता उसके पाठक के मन पर प्रभाव डालने की सामर्थ्य मे समझता है।

वह कविता मे बुद्धि और हृदय का सम्मिलन (union of heart and head चाहता है। जो हृदय को बुद्धि की वेदी पर अथवा हृदय-तत्व और बुद्धि तत्व दोनो को कविता के वाह्य-शृगार और अलकरण की वेदी पर वलिदान कर देते हैं, वे सच्चे कवि नही है। कविता मे भाव की अन्तर्धारा का निरन्तर प्रवाह होना चाहिये अच्छी कविता की कसौटी ही यह है कि पाठक उसे बार बार पढे और जितनी बार पढे उतनी ही वार उसमे अभिनव आनद प्राप्त करे। वर्ड्स्वर्थ की कविता पढते समय प्राप्त अपने अनुभव को वताते हुये वह अच्छी कविता के गुणो की ओर सकेत करता है।

"There was no mark of strained thought or forced diction, no-crowd or turbulence of imagery it was the union of deep feeling with profound thought"

कॉलरिज नही चाहता था कि काव्य रचना के नियमो को कवि पर ऊपर से थोपा जाय क्योंकि ऐसा करने से कवि की कल्पना-शक्ति कुठित हो जायगी, वह कुछ नया और मौलिक नही दे पायेगा अत कवि को काव्य नियमो के पाश से मुक्त होना चाहिए।

हम ऊपर कह चुके हैं कि कॉलरिज के अनुसार काव्य का आनद सौन्दर्य के माध्यम मे उद्भूत होता है। अब प्रश्न यह है कि कॉलरिज की दृष्टि मे सौन्दर्य क्या है। अरस्तू की तरह वह भी मानता है कि सुन्दर कला-कृत्ति मे एकता तथा सजीव आगिकता (organism) की सम्पूर्णता होनी चाहिये।

"The beautiful, is that in which the many, still seen as many, become one The frost on a window-pane has by accident crystallized into a striking resemblance of a tree or a sea-weed With what pleasure we trace the parts, and their relation to each other, and to the whole"

उसका मत है कि काव्य के विभिन्न अग स्वय सुन्दर होने के साथ साथ सम्पूर्ण काव्य को भी सुन्दर बनाये। काव्य का वास्तविक सौन्दर्य उसके विभिन्न अगो के पारस्परिक सम्बन्ध की सुन्दरता के अतिरिक्त उनके सम्पूर्ण काव्य के साथ सवध मे भी है।

"The sense of beauty subsists in simul taneous intution of the relation of parts, each to each, and of all to a whole"

वह चाहता है कि प्रत्येक पक्ति का छन्द सम्पूर्ण कविता का सामजस्य का ही अग हो न कि स्वत पूर्ण कृति। दूसरी ओर वह ऐसी कविता को भी उत्तम नही मानता जिसके घटक अवयवो में आकर्षण नही। वह चाहता है कि कविता का पथ इतना

will yet still as identical with the primary in the kind of its agency and differing only in degree and in the mode of its operation

इस कथन से स्पष्ट है कि वह प्राथमिक कल्पना को सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान का मूल हेतु मानता है क्योंकि उसी के द्वारा हमें वस्तुओं का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त होता है। यदि यह शक्ति मनुष्य में न रहती तो उसे व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त न होता। हम पहले अपनी विभिन्न इन्द्रियों द्वारा वस्तुओं का बोध प्राप्त करते हैं—आँख से उसके आकार का स्पर्श से उसकी कठोरता कोमलता का घ्राणेन्द्रिय से उसकी गन्ध का श्रवणेन्द्रिय से उसके स्वर का रसना से उसके स्वाद का बोध प्राप्त करते हैं। तदुपरान्त प्राथमिक कल्पना ही इन सब बोधों को व्यवस्थित कर हम उस वस्तु का ज्ञान प्रदान करती है। अतः प्राथमिक कल्पना एक प्रकार की व्यवस्थापिका शक्ति है जो विविध अव्यवस्थित इन्द्रिय-बोधों को व्यवस्थित करती है। यह कल्पना प्रत्येक मनुष्य में होती है और वह हमारी इच्छा की सजगता के बिना ही कार्य करती है। यह एक स्वतन्त्र और सहज मानसिक क्रिया है जिसके पीछे हमारा कोई प्रयत्न या प्रयास नहीं होता। यह सभी बिंबों को समन्वित कर हमारे अव्यवस्थित बोध को ज्ञान मे बदल देती है। यह एक समन्वयकारी शक्ति है और किसी विषय के विभिन्न पक्षों को एक सश्लिष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करती है। जिससे वे पक्ष घुलमिल कर एक हो जाते हैं।

गौण या विशिष्ट कल्पना इस प्राथमिक कल्पना शक्ति का सजग मानवीय प्रयोग है। जब हम अपनी इच्छा से प्राथमिक कल्पना का प्रयोग करते हैं तो उस अवसर पर उसका जो रूप होता है वही विशिष्ट कल्पना कहा जाता है। प्राथमिक कल्पना अव्यवस्थित इन्द्रिय बोधों को व्यवस्थित तो करती है पर उसके पीछे हमारी इच्छा सजगता या प्रयास नहीं होता वह सहज रूप से ऐसा करती है। परन्तु जब हम इस व्यवस्थापिका शक्ति का प्रयोग अपनी इच्छा से करते हैं उस समय उसका मूल तो बना रहता है किन्तु उसकी कार्य पद्धति मे भेद हो जाने के कारण उसकी कोटि बदल जाती है। कार्यपद्धति मे भेद होने का कारण यह है कि एक सहज रूप मे काम करती है और दूसरी सजग रूप से अर्थात् हमारी इच्छा के अनुसार। यह विशिष्ट कल्पना कलाकारों मे पाई जाती है जिसका प्रयोग कवि दार्शनिक चित्रकार सभी करते हैं। यह कलाकार को बाह्य संसार का प्रस्तुतीकरण तथा पुनःसर्जन करने मे सहायता देती है। इसी की सहायता से कलाकार इस बाह्य जगत् को अधिक पूर्ण रूप मे प्रस्तुत करता है। यह अनेक विषयो मे एक सूचना लाती है भिन्न भिन्न बिम्बो को संयुक्त कर उन्हे संश्लिष्ट रूप मे प्रस्तुत करती है।

प्रश्न उठता है कि जब चित्रकार, दार्शनिक इतिहासकार और कवि सभी इस विशिष्ट कल्पना का प्रयोग करते है तो फिर उनकी कृतियो मे अन्तर क्यो होता है और वह किस प्रकार का होता है। उत्तर स्पष्ट है कि इस भेद का कारण कलाकार का दृष्टि और वस्तु भेद होता है।

A difference of object and contents supplies an additional ground of distinction.

होती है जो भावो के वेग को नियन्त्रित करने की सहज आतरिक क्रिया द्वारा स्थापित होता है। आनद की उपलब्धि के लिये हमारी इच्छा हमारे भावो के आवेग का नियन्त्रण करती है, इसी नियन्त्रण से छन्द की उत्पत्ति होती है। यदि हममे भावाधिक्य ही रहे, उसे उपयुक्त नियन्त्रण मे न रखा जाय, तो कॉलरिज का मत है कि कविता की बजाय टूटे-फूटे स्वर ही निकले और चू कि छन्द भावावेग को नियत्रण मे रखता है अत वह कविता के लिए अनिवार्य हुआ। साथ ही छन्द प्रयोग से उक्ति मे एक व्यवस्था भी रहती है।

कॉलरिज छन्द-प्रयोग के पक्ष मे इसलिये भी है कि छन्द काव्यगत सामान्य अनुभूतियो को और अधिक सप्राण तथा ग्राह्य बना देता है। वह पाठक की अनुभूति को भी अधिक सप्राण बना देता है। तात्पर्य यह है कि एक ओर छन्द के प्रयोग से काव्य मे वर्णित अनुभूति अधिक रमणीय बन जाती है और दूसरी ओर पाठक का ध्यान कविता में बराबर लगा रहता है।

परन्तु यह छन्द वस्तु के उपयुक्त होना चाहिये। अपनी बात समझाने के लिये उसने छद की तुलना खमीर से की है जो स्वय मे तो व्यर्थ और अरुचिकर है, पर यदि उसे उपयुक्त अनुमान मे मादक द्रव्य के साथ मिला दिया जाय, तो उसके स्वाद और प्रभाव को बढा देता है।

"Metra resembles yeast, worthless or disagreeable by itself, but giving vivacity and spirit to the liquor with which it is proportionately combined"

कॉलरिज गद्य को पद्य से भिन्न मानता है क्योकि कविता के भाव गद्य के भावो से भिन्न होते हैं। उसका मत है कि इस भाव विभिन्नता के कारण उनकी अभिव्यजना पद्धति भी भिन्न होनी चाहिये—अर्थात् कविता में छन्द स्वत निर्मित होने चाहिये, ऊपर से जोडे गये नही। निष्कर्ष यह है कि छन्द काव्य-वस्तु के साथ अभिन्न होते हैं। वे कविता-कृति के सेन्द्रिय ऐक्य (organic unity) की उपलब्धि मे अनिवार्य हैं।

कल्पना सम्बधी विचार—कॉलरिज के अनुसार मनस्तत्त्व को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—कल्पना (imagination) तथा ललित कल्पना (fancy) पुन कल्पना के भी दो भेद किये गयेहैं—आद्य या प्राथमिक कल्पना (primary imagination) तथा गौण या विशिष्ट कल्पना (secondary imagination)। कल्पना के सम्बन्ध मे उसका निम्न वक्तव्य देखिये—

"Imagination, then, I consider either as primary or secondary The primary imagination I hold to be the living power and prime agent of all human perceptions The secondary imagination I consider as an echo of the former, co existing with the conscious

कलाकार की महत्ता सृजन में है और यह कार्य कल्पना ही कर सकती है यही जीवन का सजीव रूपान्तर प्रस्तुत करती है। कल्पना की ही सहायता से कलाकार प्रकृति के बाह्य रूपों को अपने आदर्श के अनुरूप गढ़ लेता है। कॉलरिज का स्पष्ट मत है कि यदि कोई कलाकार प्रकृति के विभिन्न खण्डों को अलग-अलग प्रस्तुत करता है तो वह प्रकृति के अंग भंग का दोषी होगा अतः उसे चाहिये कि वह उन विभिन्न खण्डों को कल्पना की सहायता से एक पूर्ण इकाई के रूप में प्रस्तुत करे जिससे प्रकृति की आत्मा का उसके विशिष्ट व्यक्तित्व का उसके सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण हो सके। इसी कल्पना शक्ति के द्वारा मृत वस्तुओं तक में प्राणों का संचार हो सकता है क्योंकि उसका कार्य अनुकरण न होकर पुनर्निर्माण है।

"Its function is to diffuse, dissolve and recreate, to make the external internal fashioning new images in its own semblance in its own effort to become divine

कॉलरिज का मत है कि कल्पना के लिये बाह्य नियमों की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह निरपेक्ष होती है। 'काव्य में बाहर से नियोजित कोई भी नियम उसे अपने काव्यत्व से बहिष्कृत कर देगा और वह स्वयं यांत्रिक कला मात्र रह जायगी' कल्पना के नियम अपने आप में वृद्धि और उत्पादन के गुण हैं। वह मानता है कि कल्पना का विकास नियमों की कारा में बाँधकर नहीं हो सकता स्वतन्त्रता और उन्मुक्तता उसका जन्म सिद्ध अधिकार है।

कॉलरिज की यह भी मान्यता है कि कल्पना का प्रयोग कवि अपने उत्कर्ष के क्षणों में ही कर पाता है।

the imagination is a power which the artist can only use when he is at his best—when he is in the fullest possession of himself—when he is not writing from caprice, or for argument's sake or in accordance with convention.

कल्पना के दोनो भेदो के विपरीत ललित-कल्पना (fancy) की प्रक्रिया का सम्बन्ध अचलता और निर्दिष्टता से है। स्मृति की एक विधा के रूप मे वह यान्त्रिक रूप से दृश्य से प्रभावो का चयन करती हुई उनका सग्रह करती रहती है और आवश्यता पडने पर कल्पना को उन्हे सामग्री रूप मे देती रहती है। इस प्रकार फँसी केवल यान्त्रिक दृष्टि से जड रूप मे सग्रह की प्रवृत्ति मात्र है। ललित कल्पना वाला कवि अपनी स्मृति तथा विचारो को सम्मिश्रित करने की यान्त्रिक शक्ति द्वारा समुच्चय (aggregates) प्रस्तुत करता है, वह सजीव बिंब प्रस्तुत करने मे, असमर्थ होता है। कॉलरिज इस प्रकार ललित-कल्पना को एक प्रकार से स्मरण की रीति मानता है। जिस प्रकार वह प्रतिभा (genius) को प्रज्ञा (talent) से ऊ चा मानता है, उसी प्रकार कल्पना को ललित कल्पना से। जिस प्रकार प्रतिभा को प्रज्ञा की आयश्यकता होती है, उसी प्रकार कल्पना को फँसी की, तथापि वे एक दूसरे से भिन्न शक्तियाँ हैं। कल्पना का कार्य एकीकरण और समजन (unifying and reconciling) है, तो फँसी का कार्य केवल सयोजन (combining) है। कल्पना का सम्बन्ध आत्मा और मन से है, तो फँसी का सबध मस्तिष्क से। प्रथम आत्मिक होती है दूसरी यान्त्रिक। फँसी वस्तुओ का ढेर लगा देती है, वह बिखरी हुई वस्तुओ को एक स्थान पर एकत्र भर कर देती है—

'The materials lie ready formed for the mind and the fancy acts only by a sort of juxtaposition"

ललित-कल्पना प्रकृति की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति है। कल्पना सर्जनात्मक, कल्पना मे विविधता सिमटती प्रतीत होती है जैसे सूर्य की सात रग वाली रश्मिया मिलकर श्वेत बन जाती है, ललित-कल्पना मे यह अन्तर ज्यो का त्यो बना रहता है—सातो रग की किरणें अपना अलग-अलग अस्तित्त्व बनाये रखती हैं। एक की तुलना यदि भवन की अलग-अलग इंटो से की जा सकती है तो दूसरी की बने हुये भवन के रचना-सौष्ठव से। वस्तुत कल्पना एकाकार की प्रक्रिया है जो फैन्सी द्वारा गृहीत सामग्री को काट-छाँटकर उसको एकत्व रूप देकर अभेद स्थिति मे आनद प्रदान करती है। वह फँसी द्वारा सगृहीत सामग्री से अपने लिये उपयोगी तत्त्व लेकर उनको अपने अनुसार नया रूप देकर नई सृष्टि करती है। अत फँसी कल्पना का आधेय है।

कल्पना का कार्य—कल्पना परस्पर विरोधी एव विसवादी गुणो—बुद्धि और हृदय, पदार्थ और चेतना का समजन करती है, वह अन्तर्वेग और व्यवस्था, अवधारणा और भाव का सख्यकरण करती है। कॉलरिज के अनुसार कल्पना ही प्रतिबोधन (perception) और अवबोधक (understanding) के बीच की खाई को पाटती है, प्रकृति के सुन्दर और शाश्वत रूपो को प्रकट करती है। इसीलिये उसने उसे unifying force तथा Beauty making power कहा है।

"It is the unifying faculty of imagination that these opposite forces are reconciled The infinite spirit presents to itself finite objects."

काम इससे महत्तर और गम्भीरतर और कोई भी समस्या नहीं है। और सत्काव्य वही है, जो इस कर्तव्य को निभाता है।

सारांश यह है कि आर्नल्ड कविता को महान् कार्य का गंभीर प्रतिपादन मानता था और उसका उद्देश्य उच्चतम आनन्द प्रदान करना समझता था। उसका मत था कि कविता का लक्ष्य न तो मनोरंजन करना है न नीत्युपदेश देना है उसका लक्ष्य तो पाठक को स्फूर्ति और आनन्द प्रदान करना है आह्लाद प्रदान करना है और यह जीवन की समीक्षा द्वारा होता है।

यद्यपि उत्तेजनात्मक साहित्य भी मानव के स्थायी भावों—रति हास क्रोध आदि को स्पर्श करता है पर आर्नल्ड इस प्रकार के साहित्य को उत्कृष्ट नहीं मानता क्योंकि वह हमारे जीवन का निर्माण करने पोषण करने और आनन्द देने की क्षमता नहीं रखता।

आर्नल्ड का आग्रह है कि जिस कविता मे नीति के विरुद्ध विद्रोह है, उसमें जीवन के विरुद्ध विद्रोह है और जो कविता नीति से उदासीन है वह जीवन से उदासीन है। आर्नल्ड ने इसिभाड के इस मत का भी समर्थन किया कि 'कला की अधिष्ठातृ देवियाँ इसलिए उत्पन्न की गयी कि उनके द्वारा बुराइयों को भुला जा सके और चिन्ताओ से छुटकारा मिले। उसके इन कथनों के आधार पर और जैसे बायरन तथा कॉलरिज की निन्दा करने के कारण कुछ लोग यह मानते हैं कि आर्नल्ड नीतिमत्ता या उपदेश को काव्य के लिए आवश्यक मानता था पर वस्तुतः यह बात नहीं है। उसके 'नैतिक' शब्द को अधिक व्यापक अर्थ म ग्रहण करना होगा। वाल्टेयर के मत की व्याख्या म जो कुछ उसने कहा है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है "कविता मे नैतिक सिद्धान्तो (moral ideas) को प्रस्तुत करने से वाल्टेयर का यह अभिप्राय नहीं है कि कवि नैतिक और उपदेशात्मक कृतियो का निर्माण करता है वैसा करना कवि-कर्म नहीं है। वास्तव में वाल्टेयर के इस कथन का वही अर्थ है जो मैंने कहा था कि जीवन के लिए विचारों का उदात्त और व्यापक प्रस्तुतीकरण करना कवि की महत्ता का सर्वोत्कृष्ट अंश है। 'कैसे रहना चाहिए' यह प्रश्न स्वय नैतिक विचार है और जो काव्य हम इस प्रश्न का उत्तर देता है वह नैतिक काव्य है। जीवन के लिए विचारों का सशक्त और सुन्दर प्रस्तुतीकरण करना ही कवि की महानता है। इसी दृष्टिकोण के कारण उसने कविता को धर्म और दर्शन के समकक्ष ही नहीं उनसे बढ़कर माना 'अधिकाधिक मनुष्य जाति को पता लगेगा कि जीवन का पुनराख्यान करने के लिए, मानव जाति को आश्वस्त करने के लिए उसकी रक्षा के लिए हमे कविता का आश्रय लेना पड़ेगा। बिना कविता के हमारा विज्ञान अपूर्ण प्रतीत होगा आज हम जिसे धर्म और दर्शन कहते हैं उसका स्थान निकट भविष्य म कविता ही लेगी। अत स्पष्ट है कि आर्नल्ड कविता का प्रयोजन नीति या उपदेश देना नहीं मानते नीति से उसका अर्थ है—जीवन के उदात्त व्यापक

: १८ :

मैथ्यू आर्नल्ड के काव्य-सिद्धान्त

१ भूमिका
२. काव्य-प्रयोजन
३. काव्य-हेतु
४. काव्य-विषय
५ शैली सम्बन्धी विचार
६ आलोचना सम्बन्धी विचार

आर्नल्ड का मत था कि साहित्य और उसकी समस्याएँ जीवन की समस्याओ से अविच्छिन्न हैं, अत साहित्य का मूल्याकन जीवन के सन्दर्भ मे होना चाहिए। उन्होंने साहित्य को 'जीवन की आलोचना' (criticism of life) कहा है और जीवन की समीक्षा से उनका अभिप्राय है—जीवन मे जो कुछ उदात्त और स्थायी है, उसे अनुदात्त और अस्थायी प्रवृत्तियो से अलग कर जीवन की पूर्णता का बोध प्राप्त करना।

काव्य-प्रयोजन—आर्नल्ड की दृष्टि मे काव्य का प्रयोजन मानव जीवन की पूर्णता का ज्ञान कराना है, मानव का आत्म-विकास और समाज का उत्थान करना है। इस विषय मे उन्होने लिखा है, "इतना ही आवश्यक नहीं है कि कवि मनुष्यो के ज्ञान मे वृद्धि करे, वरन् यह भी आवश्यक है कि वह उनके आनन्द की वृद्धि करे।" जिस प्रकार शिलर मानता था कि, "वास्तविक कला वही है जो उत्कृष्ट आनन्द का निर्माण करे" उसी प्रकार आर्नल्ड का मत है, "किसी काव्य-कृति के लिए इतना ही आवश्यक नही है कि वह जीवन का सही प्रस्तुतीकरण हो, वरन् यह भी आवश्यक है कि मनुष्यो को उससे आनन्द मिले।"

परन्तु प्रश्न उठता है कि यह आनन्द क्या है और किसी कला-कृति द्वारा इसकी सृष्टि कैसे होती है। निश्चय ही आनन्द मनोरजन से भिन्न है और वह मानव की मूल अनुभूतियों को स्पर्श कर उत्पन्न किया जाता है, "मानव जाति मे स्थायी और काल-निरपेक्ष रूप से रहने वाली मूल अनुभूतियो को स्पर्श करना ही मनुष्य को आनन्द प्रदान करना है।" हमारे यहा जिन्हें स्थायी-भाव कहा है, उन्ही को आर्नल्ड मूल अनुभूतिया कहता है। दूसरे,-आर्नल्ड मानते हैं कि, 'मानव को कैसे सुखी बनाया

केवल आत्म निवेदन करता है और इस प्रकार वह उपदेश देने जैसे काव्य-दोष से सहज ही बच जाता है। अध्ययन को भी वह काव्य रचना के हेतुओं में से स्वीकार करता है यद्यपि वह उसे प्रधान काव्य-हेतु न मानकर गौण ही मानता है क्योंकि उसका स्पष्ट मत है कि पुस्तकों के अध्ययन से सहायता मात्र ली जानी चाहिए उन पर पूर्णत आधारित नही होना चाहिए। पुस्तकीय ज्ञान से अधिक महत्त्व विस्त जीवन के दर्शन से प्राप्त ज्ञान का है।

उत्कृष्ट आदर्शों के अनुकरण को भी आर्नल्ड काव्य-हेतु मानता है। उसका मत है कि कवि प्राचीन महान् कवियों की चुनी हुई कृतियो को अपना आदर्श स्वीकार करे और उनके गहन अध्ययन से लाभान्वित हो।

ग्रे की समीक्षा करते हुए भी आर्नल्ड ने कवि की कतिपय विशेषताओ की ओर सकेत किया है 'ज्ञान गहरी पैठवाली बुद्धि गभीरता अनुभूति और विनोदशीलता आदि कवि-कर्म के लिए सभी गुण ग्रे मे थे। स्पष्ट है कि वह इन गुणों को कवि के लिए आवश्यक मानता था। इसी प्रकार बाइरन के सम्बन्ध में लिखते समय उसने 'साहस' को कवि का आवश्यक गुण माना था।

काव्य विषय—अरस्तू की तरह आर्नल्ड भी कार्य (action) और कथानक (plot) को सर्वोपरि महत्त्व देता है। 'सब कुछ विषय पर निर्भर है उपयुक्त कार्य का चयन कर लो उसकी स्थितियो के मूल मे निहित भावना से तादात्म्य स्थापित कर लो—यदि यह हो गया तो फिर सब अपने आप हो जाएगा। वह काव्य के लिए स्थायी और शाश्वत विषयो को अधिक उपयोगी मानता है और उसका मत है कि प्राचीन काव्य-विषयो को ही बार-बार अपनाना चाहिए। यद्यपि उसने यह भी कहा है—

"Moderness or antiquity of an action has nothing to do with its fitness for poetical representation.

तथापि वह समसामयिक जीवन और उसकी समस्याओ को प्राय महान् काव्य के लिए अनुपयोगी मानता है। 'सहस्र वर्षों पूर्व का कोई एक महान् मानवीय कार्य आधुनिक युग के लघुतर मानवीय कार्य की अपेक्षा हमारे स्थायी भावो के लिए अधिक आह्लादवायक है। उसके इस मत का कारण यह है कि वह काव्य का प्रयोजन मानव की मूल अनुभूतियो को स्पर्श कर उसे आह्लाद प्रदान करना मानता है और उसे समसामयिक जीवन मे भले ही वह विज्ञान की दृष्टि से कितना ही उन्नत क्यो न रहा हो काव्य के लिए उपयुक्त विषय नही मिले। इसीलिए उसने काव्य को युग और युग की समस्याओ से बाधना ठीक नही समझा। उसका मत था कि उसका युग नैतिक ह्रास का युग था अत वहा पे महान् कार्य नही मिल सकता नैतिक औदात्य से वचित इस युग मे काव्य के लिए महान् कार्य कठिनाई से मिल सकता है और यदि मिले भी तो उसके द्वारा इस आध्यात्मिक अशान्ति के युग के मनुष्यो को सशक्त और आह्लादात्मक ढग से प्रभावित करना कठिन होगा।" यह

अंश को प्रस्तुत करना। मस्तीवाद या कलावाद दोनों को वह अस्वास्थ्यकर मानता है। काव्य द्वारा प्रदान की गई इन्द्रिय-तुष्टि या कलात्मक साज-सज्जा की तुलना वह मार्ग-स्थित सराय मे करता है और काव्य के लक्ष्य की तुलना घर मे। "हमारी मजिल है हमारा घर, हमे वहाँ पहुचकर अपने परिवार, मित्रो एवं देशवासियो के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाना है, हमे घर पहुँचकर आन्तरिक स्वतन्त्रता, विश्रान्ति, आनन्द और सन्तुष्टि उपलब्ध करना है।"

साराश यह है कि न तो आर्नल्ड उत्तेजनात्मक साहित्य को या 'कला कला के लिए' सिद्धान्त पर निर्मित साहित्य को उत्कृष्ट मानता है और न शुष्क नीत्युपदेश वाले काव्य को। उसके मतानुसार तो काव्य का प्रयोजन उत्कृष्ट कोटि का आन्तरिक आनन्द प्रदान करना, पाठक को विश्रान्ति देना और जीवन कैसे जिया जाय इसका उत्तर देना है।

काव्य-हेतु—आर्नल्ड ने उत्कृष्ट साहित्य की रचना के लिए दो शक्तियो का साथ-साथ होना आवश्यक माना है—कारयित्री शक्ति और युग की शक्ति—

"For the creation of a master work of literature two powers must concur, the power of the man and the power of moment"

कारयित्री शक्ति से उसका अभिप्राय सर्जन-कौशल से है और युग की शक्ति का अर्थ है दर्शन-शक्ति या समीक्षा-शक्ति—जीवन और जगत् को विशद रूप मे जानना। वह कवि के लिए आवश्यक मानता है कि वह इस बात का पता लगाए कि उसके युग का जीवन किस प्रकार की व्यवस्था का अधिकारी है और इस ज्ञान को काव्य के माध्यम से प्रदान करे।

आर्नल्ड वस्तु-सत्य (Truth of matter), वर्णना सत्य (Truth of manner) तथा कवि की ईमानदारी से उत्पन्न उच्चकोटि की गम्भीरता (seriousness) तीनो को उत्कृष्ट साहित्य के निर्माण हेतु आवश्यक मानता है। कवि को महान् साहित्य की रचना के लिए वासना से मुक्त होना भी आवश्यक है—

'We believe that a merely sensnous man cannot be a very great poet"

क्योकि जीवन का अत्यधिक व्यापक और उदात्त अश वासनाग्रस्त मनुष्य की पकड के बाहर होता है।

आर्नल्ड का मत था कि महान् कविता रची नही जाती, वह स्वय फूट पडती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि काव्य-शक्ति ईश्वर प्रदत्त होती है, वह उपार्जित नही की जा सकती। वह वास्तविक कविता को आत्मा मे उद्भूत और निर्मित मानता है—

"Genuine poetry is conceived and composed in the soul."

इसका भी यही अभिप्राय है कि काव्य प्रतिभाजन्य होता है, प्रयास साध्य नही।

उत्कृष्ट कवि के लिए आर्नल्ड नम्रता का होना भी आवश्यक मानता है। उसके नम्र होने से एक लाभ यह होता है कि उसका स्वर मन्द्र हो जाता है, यह

"We have poems which seem to exist merely for the sake of single lines and passages not for the sake of producing any total impression. We have critics who seem to direct their attention merely to detached expressions, to the language about the action, not to the action itself.

इस प्रकार आर्नल्ड ने उत्तम काव्य के लिए महान कार्य के साथ-साथ उत्कृष्ट शैली को आवश्यक माना है।

मैथ्यू आर्नल्ड गद्य और पद्य की शैलियों और उक्तियों में अन्तर मानता है। उसके अनुसार जहाँ कविता का निर्माण आत्मा में होता है वहाँ गद्य का जन्म मस्तिष्क में होता है। इसलिए गद्य और पद्य की शैलियों में अन्तर होता है। पद्य की शैली के लिये वह उक्ति के कसाव (conciseness of expression) मृदुता स्पष्टता और संगीतात्मकता को आवश्यक मानता है तथा गद्य की शैली मे नियमितता एकरूपता सटीकता (precision) और सन्तुलन इन चार गुणों को आवश्यक बताता है। सटीक शब्दों और वाक्यों का प्रयोग न केवल स्पष्टता के लिए अपितु लावण्य के लिए भी आवश्यक है। इसी प्रकार सन्तुलन न केवल विचारो और भावों में ही होना चाहिए अपितु वाक्य रचना म भी होना चाहिए ताकि वाक्य सुन्दर और प्रभावोत्पादक बन सके।

आलोचना सम्बन्धी विचार—आर्नल्ड ने आलोचक तथा समाज और आलोचक एवं रचना के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय मे अत्यन्त मूल्यवान विचार प्रस्तुत किए हैं। उसने बताया है कि आलोचक का समाज के प्रति क्या कर्तव्य है आलोचक में कौन-कौन से गुण होने चाहिए और उसे किन सिद्धान्तों के आधार पर श्रेष्ठतम कविताएँ चुनकर उनका प्रचार करना चाहिए। उसके अनुसार आलोचक का कर्तव्य है कि वह ससार के सर्वोच्च ज्ञान और सर्वोच्च विचारो से परिचित हो उन पर मनन करे और उनका प्रसार करे। वह आलोचक में तीन गुणों की अपेक्षा करता है— (१) आलोचक पढ़े समझे और वस्तुओं को यथार्थ रूप मे देखे (see things as they are) (२) जो कुछ उसने सीखा है उसे वह दूसरो को हस्तान्तरित करे जिससे उत्तम भावनाओं का प्रसार हो और संसार बदल सके। (३) वह रचनात्मक शक्ति की क्रियाशीलता के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करे ताकि अवसर मिलते ही साहित्यकार उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण कर सके। आलोचक का कर्तव्य है कि वह सत्य की प्रतिष्ठा करे और पूर्णता के लक्ष्य तक पहुचाने वाले विचारों का प्रचार और प्रसार करे। जीवन म जो कुछ उदात्त और स्थायी है, उसे अनुदात्त और अस्थायी से अलग कर जीवन की पूर्णता का बोध कराए।

आर्नल्ड ने आलोचक के लिए निष्पक्ष (disinterested) होना आवश्यक माना है पर उन्होंने इस शब्द का प्रयोग परम्परागत या प्रचलित अर्थ मे नहीं किया है। निष्पक्षता स उसका अभिप्राय है कि वह उन बातो से मुक्त ही जो बौद्धिक तथा

नहीं कि वह युग-जीवन और युगीन समस्याओ पर लिखे गए साहित्य को काव्य से बहिष्कृत करना चाहता था, उसने आधुनिक साहित्य की प्रशसा भी की है, "हमारे साहित्य मे आधुनिक जीवन को विस्तार मे प्रस्तुत करने वाले कतिपय पारिवारिक उपन्यास लिखे जा रहे हैं इस प्रकार की कृतिया प्रस्तुत करने वाले साहित्यकार अपने युग और देश के महान् कलाकार हैं, फिर भी उनकी कृतियो का वह प्रभाव नही पडता है जो प्राचीन महान् कार्य पर आधारित कृतियो का पडता है। कारण यही है कि ये प्राचीन कार्य अधिक भावात्मक हैं।" अत स्पष्ट है कि वह समसामयिक विषयो पर लिखे गए साहित्य का बहिष्कार न करते हुए भी देश-काल-निरपेक्ष साहित्य को उत्कृष्ट मानता है क्योकि ऐसा साहित्य ही हमारे सनातन मनोवेगो को स्पर्श कर सकता है। आर्नल्ड का यह मत पूर्णत स्वीकार नही किया जा सकता। समसामयिक जीवन के विषय भी हमारी मूल अनुभूतियो को स्पर्श कर सकते हैं, अतः उन पर भी काव्य-रचना होनी चाहिए। वस्तुत जैसा कि स्कॉट जेम्स का कथन है आर्नल्ड पर पुरातन आदर्श काव्य का इतना आतक था कि वह नवीन विषयो की शक्ति और क्षमता को पहचान ही नही पाया—

"His faith in the guidance of pre-eminent models tended to hide from him the potential excellence of the new and untried"

जो हो, आर्नल्ड का काव्य-विषय के सम्बन्ध मे मत यही था कि काव्य के शाश्वत विषय मानवीय कार्य हैं। ये कार्य स्वय मे रमणीय होने चाहिए और कवि-कला के द्वारा रमणीय रूप मे प्रस्तुत होने चाहिए ताकि वह पाठक को आह्लाद, चित्त की प्रफुल्लता या भावात्मक विश्रान्ति (emotional relief) प्रदान कर सके।

काव्य-वस्तु के विषय मे आर्नल्ड ने एक बात और कही कि वह जीवन की वास्तविकता के सादृश्य मे होनी चाहिए। इतना ही नही, अरस्तू की तरह वह भी मानता है कि काव्यगत सत्य वास्तविक यथार्थ से अधिक महान् होता है। वह चाहता है कि महान् कवि अपनी वस्तु को इस कौशल से प्रस्तुत करे कि वस्तु और रूप दोनो एक हो जाएँ। सफल कवि समन्वित कृति का निर्माण करता है और समन्वित प्रभाव डालने का प्रयास करता है।

उत्तम काव्य के लिए वह महान कार्य के साथ-साथ उत्कृष्ट शैली को भी आवश्यक मानता है। 'लास्ट वर्ड्स' मे उत्कृष्ट शैली की परिभाषा देते हुए वह कहता है, "यह शैली काव्य में तब आती है जब काव्यात्मक मनोवृत्ति वाला उच्चादर्श व्यक्ति किसी गभीर विषय का सरलता और सिद्धि (serenity) के साथ निरूपण करता है। वह काव्याशो में शैली की उत्कृष्टता नही चाहता, सम्पूर्ण काव्य विधान मे उत्कृष्ट शैली का प्रयोग चाहता है। उसकी कुछ कवियो से यही शिकायत है कि वे अपने काव्य के अशो को तो बिम्ब-विधान के वैभव तथा अन्य उपकरणो से समृद्ध बनाते हैं, पर सम्पूर्ण कविता को समृद्ध बनाने का प्रयास नही करते।

स्टडी श्राफ पोयट्री' में उसने लिखा है—

'Critics give themselves great labour to draw out what in the abstract constitutes the characterestics of a high quality of poetry It is much better simply to have recourse to concret examples—to take specimens of poetry of the high the very highest quality and to say The characters of a high quality of poetry are what is expressed there

अर्थात् आलोचकों को व्यर्थ ही महान कविता के लक्षण बताने में परिश्रम नहीं करना चाहिए इससे तो अच्छा यह है कि वे महान कविता के उदाहरण पढ़ें और उनमें पाये जाने वाले गुणों को ही महान कविता की कसौटी बताएँ। इस प्रकार महान काव्य पढ़कर आलोचक महान और साधारण कविता के बीच का अन्तर समझ जाएगा और किसी नई कविता का मूल्यांकन कर सकेगा। बहुत दिनों के अध्ययन के पश्चात् आलोचक ऐसे स्थलों को चुन ले जिनमें अत्युदात्त कविता का पूरा चमत्कार है। इन्हीं स्थलों को वह कविता के दूसरे उदाहरणों की जाँच की कसौटी मान ले। यदि वे कसौटियाँ काम न दें तो वह फिर कृति में यह देखे कि उसमें कहाँ तक विषयवस्तु का और शैली का काव्यात्मक सत्य है और कहाँ तक वह उच्च गाम्भीर्य है जो ऐकान्तिक निष्कपटता से आता है। इस प्रकार वह महान कविता के लिए विषयवस्तु में सत्य और गाम्भीर्य तथा शैली में सौन्दर्य शक्ति और उदात्तता (high accent of beauty worth and power) को आवश्यक मानता है। ऐसी कविता के लक्षण यह हैं कि वह सदा आह्लादवायिनी होती है पाठक या श्रोता का ध्यान तुरन्त आकृष्ट कर लेती है तथा उसको इतना मुग्ध कर लेती है कि वह विस्मृत नहीं होती।

आर्नल्ड के आलोचना सिद्धान्तों तथा आलोचना-पद्धति में यदि कोई बात खटकती है तो वह उसका नैतिक मूल्यों पर अमर्यादित बल। इसी के कारण कभी-कभी उसने ऐसी काव्य-पंक्तियों को भी आदर्श मान लिया है जो कला की दृष्टि से सामान्य है, जैसे मिल्टन की निम्न पंक्तियाँ —

And courage never to submit or yield
And what is else not to be overcome.

इसी पूर्वाग्रह के कारण कभी-कभी उसकी आलोचना विकृत और पक्षपातपूर्ण हो जाती है। आर्नल्ड ने काव्य के मूल्यांकन की एक पद्धति यह बताई है कि काव्यांशों की परस्पर तुलना की जाए पर यह पद्धति इसलिए अपूर्ण है कि इसमें सम्पूर्ण कृति का मूल्यांकन नहीं किया जाता केवल कतिपय अंशों की सुन्दरता के आधार पर ही निर्णय दे दिया जाता है। तुलनात्मक पद्धति निश्चय ही उपयोगी होती है पर यह केवल अंशों पर लागू न होकर सम्पूर्ण कृति पर लागू होनी चाहिए तथा किसी कृति के सम्बन्ध में निर्णय देते समय उसके सामूहिक प्रभाव पर ध्यान देना चाहिए न कि अंशों की सुन्दरता तथा उदात्तता पर।

तिक पूर्णता के मार्ग मे बाधक होती हैं। उसका निर्णय असभ्य तथा अभिजात्य दोनो के पूर्वाग्रहो से मुक्त हो क्योकि गम्भीर विचार तथा ज्ञान का आलोक उनकी पहुच के बाहर होता है। सन्तोषी मध्यवर्ग के झूठे विचारो से भी उसे बचना चाहिए क्योकि इस वर्ग के लोग रूढिवादिता, धर्मान्धता, व्यापार, धनार्जन तथा विलास मे लिप्त रहने के अतिरिक्त कुछ नही करते। निष्पक्ष रहने का अर्थ है—असत्य तथा अर्धसत्य से दूर रहना, उन चीजो से दूर रहना जो नगरो के यान्त्रिक जीवन से सम्बद्ध रहती हैं और आध्यात्मिक मूल्यो की अवहेलना करती हैं।

आर्नल्ड ने तीन प्रकार की समीक्षा-पद्धतियो का उल्लेख किया है—ऐतिहासिक मूल्याकन, वैयक्तिक मूल्याकन और वास्तविक मूल्याकन। इनमे से प्रथम दो पद्धतियो को उसने गलत माना है। उसने ऐतिहासिक मूल्याकन को कम महत्त्व निम्न तर्कों के आधार पर दिया है (१) किसी काव्य का ऐतिहासिक मूल्य होते हुए भी उसमे काव्यगत दोष हो सकते हैं। (२) कोई कृति साहित्य के विकास मे योग दे सकती है, वह युग-जीवन की व्याख्या कर सकती है और इसके लिए उसकी प्रशसा होनी चाहिए, पर इतना ही पर्याप्त नही। हमे यह भी देखना चाहिए कि काव्य की वास्तविक कसौटी पर वह कहाँ तक खरी उतरती है। ऐसा न हो कि उसके ऐतिहासिक महत्त्व की स्थापना की धुन मे हम यह देखना ही भूल जाए कि उसका काव्य-मूल्य क्या है।

वैयक्तिक समीक्षा को भी उन्होने गलत बताया है क्योकि व्यक्तिगत रुचि और अरुचि के आधार पर कृति की वास्तविक समीक्षा नही हो सकती। हम वैयक्तिक रुचि के कारण किसी कृति को अनावश्यक महत्त्व दे सकते हैं, तो किसी अन्य की अनावश्यक निन्दा। यदि किसी समीक्षक को कुछ सिद्धान्त मान्य है और उन्ही सिद्धान्तो के आधार पर वह किसी कृति की परख करके निर्णय देता है, तो यह जरूरी नही कि उसका निर्णय ठीक ही हो। पर हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आलोचना मे आलोचक की व्यक्तिगत रुचि को एकदम हटाया भी नही जा सकता। अत वैयक्तिक मूल्याकन को भी आलोचना में उचित महत्व मिलना चाहिए।

आर्नल्ड का मत है कि आलोचक को इस बात का स्पष्ट और गहरा बोध होना चाहिए कि काव्य मे उत्कृष्टता क्या होती है तथा उसके द्वारा प्राप्त शक्ति और आनन्द की प्रकृति क्या होती है और इसके लिए उसे प्राचीन महान कवियो की कृतियो का अनुशीलन करना चाहिए। उसका मत है कि इन कृतियो को पढते समय हममे स्वय ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि हमे काव्य की वास्तविक उत्कृष्टता, शक्ति और आनन्द का बोध सुलभ हो जाता है। अत समीक्षा करते समय हमे महान कवियो की उत्कृष्टताओ का स्मरण बना रहे और हम रह-रह कर यह देखते चलें कि उस कोटि की उत्कृष्टता, शक्ति या आनन्द इस कृति मे उपलब्ध है या नही।

इसके लिए वह सुन्दर कविताओ और विचारों का दीर्घ अनुभव आवश्यक मानता है तथा सद्रुचि और युक्ति (tact) को अनिवार्य पथप्रदर्शक समझता है।

१६

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

१ अभिव्यंजनावाद का स्रोत
२ क्रोचे के दार्शनिक विचार
   (क) सहज ज्ञान
   (ख) तर्क ज्ञान
३ सहजानुभूति
४ कला सम्बन्धी विचार
५ कला का आनन्द
६ अभिव्यंजनावाद पर आक्षेप

अभिव्यंजनावाद का मूल स्रोत वस्तुतः स्वच्छन्दतावाद की उस प्रवृत्ति में है जो परम्परा रूढ़ि नियम आदि का विरोध करती है। आरम्भ में यह एक अत्यंत शक्तिशाली और स्वस्थ आन्दोलन था जिसने परम्परावादिता का विरोध कर व्यक्तिवाद पर बल दिया। इसी आन्दोलन के फलस्वरूप कला कला के लिए सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ जिसके मानने वालों ने व्यक्तिवाद पर अगाध आस्था के कारण कहा—

each of them held a little candle locked up the chamber of his soul and by the light of it saw within himself the only reality that mattered

अर्थात् प्रत्येक कलाकार अपनी आत्मा के आलोक की सहायता से वास्तविक सत्य को देख लेता है। वही सत्य उसे कला के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहिए। उनका कथन है कि कलाकार को केवल अपनी व्यक्तिगत दृष्टि (vision) अभिव्यक्त करनी चाहिए अर्थात् सत्य को ज्यों का त्यों प्रस्तुत न कर उसकी व्याख्या अपनी आत्मा के आलोक और दृष्टि (vision) के आधार पर करनी चाहिए। वे लोग कहते थे यह हमारा संसार है—चाहे तो ग्रहण करो चाहे त्याग दो। क्योंकि उनका मत था कि मनुष्य ही सब चीजों की कसौटी है—

"Man is the measure of all things"

उनके अनुसार काव्य में प्रत्येक वस्तु ग्राह्य है, प्रत्येक अनुभूति या विचार काव्य में प्रस्तुत किया जा सकता है। कवि के मन में जीवन एवं जगत् का जो भी रूप उभर आता है, उसे व्यक्त कर देने में कोई दोष नहीं है।

आलोचक के विषय में आर्नल्ड की यह अपेक्षा कि वह केवल महान काव्य की ही प्रशसा करे और द्वितीय श्रेणी के साहित्य की ओर से उदासीन रहे कुछ उचित प्रतीत नहीं होती। स्काट जेम्स का यह कहना कि सभी पर्वत-श्रेणियाँ आल्प्स नही हो सकती, ठीक ही है और हमे द्वितीय कोटि के साहित्य को भी उचित मान देना चाहिए। यदि हम सदा मध्यम कोटि की रचनाओ का यह कह कर तिरस्कार करते रहेंगे कि वे महान साहित्य की कसौटी पर खरी नही उतरती, तो हम बहुत कुछ खो बैठेंगे अत सामान्य मेधा वाले नवोदित रचनाकारो को प्रोत्साहन देने के लिए आलोचक का यह कर्त्तव्य है कि वह न तो उनकी उपेक्षा करे, न उनकी ओर से उदासीन रहे अपितु उनको प्रेरणा और प्रोत्साहन द्वारा महान लक्ष्य की ओर अनुप्रेरित करता रहे तथा साहित्य-जगत् मे उनको उचित स्थान दिलाए।

आर्नल्ड की अग्रेजी आलोचना को सबसे बडी देन यह है कि उसने कविता मे मिथ्यात्व, आडम्वरप्रियता और छद्म (charlatanism) के विरुद्ध आवाज उठाई और उनके स्थान पर सत्य, उदात्त विचार, गरिमा आदि सद्गुणो की प्रतिष्ठा की। उसी ने हमे सिखाया कि हम अतिवादिता, आडम्वर तथा अर्धसत्य का तिरस्कार करें और केवल सत्य को अपनाएँ। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं अरस्तू के समान उसका प्रभाव उसके मरने के वाद भी कई वर्षों तक आलोचना-जगत् मे छाया रहा और अमेरिका के इमर्सन तथा हैनरी जेम्स जैसे विद्वान् भी उससे प्रभावित हुए।

उसका पूर्ण प्रत्यक्षीकरण कर लेगा अर्थात् जब वह अपने मन में उसे पूरी तरह अभिव्यक्त कर लेगा। इस प्रकार वह सहजानुभूति (Intution) को अन्तर्मन की क्रिया आन्तरिक अभिव्यंजना मानता है जो सौन्दर्य तत्त्व को जन्म देती है। वह उसे आत्मा का अभिव्यंजनात्मक कर्म (expressive activity) मानता है। इसी कर्म के द्वारा कलाकार भावनाओं तथा संवेगों के वेग को नियंत्रण में रखता है और प्रभावों (Impressions) को बिम्बों में अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार क्रोचे सहजानुभूति को अभिव्यंजना मानता है—

It is impossible to distinguish intution from expression in this cognitive process The one appears with the other at the same instant, because they are not two but one.

यह अभिव्यंजना मूक आन्तरिक होती है न कि बाह्य और शाब्दिक। यह मन के भीतर होती है बाहर पत्थर, चित्रफलक या कागज पर नहीं होती।

क्रोचे इसी आन्तरिक अभिव्यक्ति को कला बताता है। स्काट जेम्स ने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है।

"In Croce's philosophy art is nothing but intution or the expression (within the mind) of Impressions. Th mind is always forming or half form ng ntutions

क्रोचे की दृष्टि में कला एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। वह मानता है कि यदि कलाकार के मन-पटल पर कोई बिम्ब मूर्त हो उठता है, तो फिर यह आवश्यक नहीं कि वह उसे किसी माध्यम—चित्रफलक पत्थर या संगीत-स्वरों के द्वारा व्यक्त करे। वह कल्पना को अन्तर्मन की दृष्टि मानता है। जिस प्रकार की वह दृष्टि होगी उसी प्रकार का रूप वह बाह्य वस्तु को प्रदान करेगी। प्रत्येक व्यक्ति की इस दृष्टि में निजी विशिष्टता होती है। यही दृष्टि सब कुछ है। जिस कलाकार का जितना अधिक विशद प्रत्यक्षीकरण होगा उतनी ही विशद और सफल उसकी अभिव्यक्ति होगी और चूंकि अभिव्यक्ति ही कला है अत उतनी ही सफल उसकी कला होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उत्कृष्टता विषय-वस्तु में न होकर दृष्टि (vision) में होती है। अत यदि बीभत्स और कुरूप भी कलाकार के मन पर प्रभाव डालते हैं तो वे भी कला का विषय बन सकते हैं। उसका स्पष्ट मत है कि काव्य-विषय का चुनाव नहीं किया जा सकता। यह कहना गलत है कि अमुक वस्तु काव्य या कला के लिए अनुचित है। कवि अपने चारों ओर की वस्तुओं से जो संवेदनाएं ग्रहण करता है, वे चाहे कुरूप और क्षुद्र ही क्यों न हों उन्हें वह अभिव्यंजना प्रदान करता है। चुनाव तो इच्छा का कार्य है आत्मा की व्यावहारिक क्रिया का कार्य है जब कि अभिव्यंजना आत्मा की प्रातिभ क्रिया का कार्य है। अतः अभिव्यंजना (अर्थात् कला) का चुनाव नहीं हो सकता।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है क्रोचे की दृष्टि में काव्य या कला आन्तरिक

जिस समय क्रोचे का जन्म हुआ (१८६६-१९५२ ई०), उस स्वच्छन्दतावादी कला के युग में कहा जाता था कि बच्चों को चित्रकार बनाने के लिए चित्रकला की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से बालक के कोमल मन पर दूसरों के विचार अड्डा जमा लेते हैं और वह स्वतन्त्र अभिव्यंजना नहीं कर पाता ।

क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक थे । इन्होंने कला का विवेचन दर्शन की छाया में किया है । वह आत्मा की मूलतः दो क्रियाएँ मानते हैं—(१) सैद्धान्तिक (२) व्यवहारात्मक । प्रथम के द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और दूसरी के द्वारा जीवन में व्यवहार करता है । वह ज्ञान के भी दो प्रकार मानता है—(१) स्वयंप्रकाश या प्रातिभ ज्ञान—(Intutive knowledge) (२) तर्क ज्ञान (Concept knowledge) स्वयं प्रकाश ज्ञान व्यष्टि का ज्ञान होता है, तर्क-ज्ञान सामान्य का ज्ञान होता है । प्रथम कल्पना से उत्पन्न होता है, दूसरा बुद्धि से प्राप्त होता है । प्रथम द्वारा वस्तुओं के बिम्बों या भावनाओं का निर्माण होता है और दूसरे का सम्बन्ध निश्चयात्मक बुद्धि से होता है और उससे सामान्य विचारों (concepts) का बोध होता है । पहला कला का उत्पादक होता है, तो दूसरा दर्शन और विज्ञान को जन्म देता है । स्वयं-प्रकाश ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतन्त्र होता है । वह एक प्रकार की अलौकिक शक्ति है जो क्षण भर में किसी दृश्य या भावना को आत्मसात् कर उसे साकार, पूर्ण और सुन्दर रूप दे देती है । स्वयं-प्रकाश ज्ञान बिम्बों की रचना करता है, तो प्रज्ञात्मक ज्ञान-बोध (concepts) की । बुद्धि की सहायता से हम निर्णय करते हैं कि मनुष्य विचारशील प्राणी है, स्वयं प्रकाश ज्ञान (कल्पना) हमारे मन में एक ऐसे प्राणी का बिम्ब अंकित कर देता है जिसमें विचार करने की क्षमता है ।

क्रोचे सहज ज्ञान को प्रभाव (impression) तथा संवेदना (sensation) से भिन्न मानता है । उसका मत है कि जब हम किसी वस्तु की प्रत्यक्ष अनुभूति या संवेदन प्राप्त करते हैं, तब हमारा अन्तर्मन निष्क्रिय रहता है । बाह्य वस्तु की प्रतीति के निर्माण में अन्तर्मन का सहयोग नहीं होता, वह अन्तर्मन की उत्पत्ति नहीं होती ।" संवेदन अपने निरपेक्ष रूप में यान्त्रिकता-निष्क्रियता है, इसे मानवीय अन्तर्मन ग्रहण करता है, उत्पन्न नहीं करता ।" जब अन्तर्मन संवेदनों को रूपाकार प्रदान कर देता है, तब ये प्रकृतिजन्य अनुभव न रहकर आत्मानुभूति हो जाते हैं; वे यान्त्रिकता की भूमि से हटकर कल्पना की सृष्टि हो जाते हैं । अतः सहज ज्ञान यान्त्रिक और निष्क्रिय न होकर ऐसा ज्ञान है जो सहज रूप से उभर आता है । यह प्रभावों की सक्रिय अभिव्यंजना है—

"Every true intuition or representation is also expression. That which does not objectify itself in expression is not intuition or representation, but sensation and naturality. The spirit does not obtain intuitions otherwise than by making, forming, expressing."

जब चित्रकार किसी वस्तु को आंख मात्र देखता है, तब हम यह नहीं कह सकते कि उसे सहज ज्ञान हुआ है; इस सहज-ज्ञान की उपलब्धि तब मानेंगे जब वह

पहुचाने की बात को भी स्वीकार करता है। वह वर्णना की उपेक्षा नहीं करता केवल उसे प्रमुख नही मानता। यदि वह वर्णना की उपेक्षा करता तो फिर कविता का जो विवेचन और बनाव किया है, वह क्यों करता? प्रमुखता वह आन्तरिक अभिव्यंजना को देता है क्योकि वह मानता है (और यह ठीक भी है) कि जिसे आन्तरिक अभिव्यजना की उपलब्धि हो जायगी यदि वह उसे व्यक्त करना चाहेगा तो कर ही देगा। कबीर जिनकी भाषा और ऊबड़-खाबड़ शैली के होते हुए भी अपनी बात कहने मे पूर्ण समर्थ रहे हैं। इसके विपरीत जिनके मानस मे कृति का मूल रूप नही उभर पाता या जिन्हे अनुभूति की आभ्यन्तर अभिव्यक्ति नही हो पाती वे बाह्य अभिव्यंजना मे भी असफल रहते है।

क्रोचे के अनुसार कला का आनन्द सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्म-मुक्ति का आनन्द है। सफल अभिव्यक्ति के क्षण मे कलाकार को ऐसा लगता है जैसे वह मुक्त हो गया हो। उसकी दृष्टि में यदि अभिव्यक्ति सफल नहीं है तो वह अभिव्यक्ति ही नही।

"Beauty successful expression, or better expression and nothing more, because expression when it is not successful, is not expression

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि क्रोचे की दृष्टि में सहजानुभूति अभिव्यंजना और कला पर्यायवाची है। वह अभिव्यंजना को बाह्य नही मानसिक या आन्तरिक मानता है तथा उसे मुक्त प्रेरणा कहता है। बाह्य कलाकृतियाँ aids to memory मात्र है। असफल अभिव्यजना नामक कोई वस्तु नही है तथा कला-सृजन की प्रक्रिया के चार सोपान हैं—भाव संवेदन कल्पना द्वारा उसकी आन्तरिक अन्विति भौतिक अभिव्यजना उसका शब्द रग रेखा आदि मे मूर्तीकरण। इनमें से अन्तिम को क्रोचे अनिवार्य नही मानते। वह किसी भी कला-वस्तु को अनुपयुक्त एवं गर्हित नही मानता एव चुनाव को अनावश्यक बताता है। उसके इन्ही सिद्धान्तो को 'अभिव्यजनावाद' का नाम दिया गया है।

क्रोचे के मत पर सर्वप्रथम आपत्ति यह होती है कि वह बाह्य अभिव्यजना को अनावश्यक मानकर कलाकार को ऐसी स्वच्छन्दता दे देता है जो अराजकता और अव्यवस्था में परिणत हो सकती है। उसका कथन है कि प्रत्येक वस्तु कलाकार के मस्तिष्क म घटित होती है सौन्दर्य की अभिव्यजना आन्तरिक होती है जिन प्रभावों या पदार्थों को वह मूर्तिमान करता है वे केवल उसी के लिए मूर्तिमान होते हैं बाह्य आकार धारण नही करत। अब प्रश्न यह होता है कि यदि वे बाह्य रूपाकार धारण नहीं करेंगे तो आलोचक उनका मूल्यांकन कैसे करेगा? वह अभिव्यजना के सुन्दर असुन्दर होने का भी निर्णय कैसे कर पायेगा? कलाकार पर किसी तरह का अकुश न रहने से वह मनमानी करेगा और बाह्य कलाकृति के अभाव मे हम्भी लोग भी सच्चा कलाकार होने का दावा करेंगे यह कह कर कि उन्होने अपने मन म सहजानुभूति उपलब्ध की है।

कृति है, जो कुछ वाह्य है, वह काव्य नही—

"The work of art is always internal and what is called external is no longer a work of art"

सवेदनो को अभिव्यजनात्मक रूप प्रदान करते ही कला-कार्य समाप्त हो जाता है। जब कलाकार ने अपने मानस मे शब्द प्राप्त कर लिया, किसी आकृति या मूर्ति की निश्चित एव स्पष्ट भावना ग्रहण कर ली अथवा जब उसने किसी सगीत के अभिप्राय का बोध प्राप्त कर लिया, तो यह माना जायगा कि 'अभिव्यजना' उत्पन्न होगई और वह पूर्ण हो चकी।

"The aesthetic fact is altogether completed in the expressive elaboration of the impressions"

वह सहजानुभूति को शब्दो या रगो मे व्यक्त करना अतिरिक्त क्रिया, अनावश्यक कार्य मानता है। उसके अनुसार मानस-काव्य ही काव्य है और कवि द्रष्टा। कभी-कभी यह स्थति उत्पन्न हो सकती है कि कलाकार बाह्य अभिव्यजना करे, पर इस बाह्य या शाब्दिक अभिव्यजना का कला के विशुद्ध क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नही। कलाकार की कलाकार के रूप मे स्थिति केवल उन क्षणो मे रहती है जब वह अपने को प्रेरणा के क्षणो मे पाता है और ऐसा अनुभव करता है कि वह विषय के साथ तदाकार हो गया है। यदि ऐसे क्षणो के बाद वह कला-कृति की रचना करता है, तो उन क्षणो मे वह सच्चा कलाकार नही होता। क्रोचे का यह मत यदि उसकी सम्पूर्ण काव्य-विवेचना के समन्वित प्रकाश मे देखा जाय, तो उसमे पर्याप्त सत्य मिलेगा। महाकवि शैले ने भी कहा था—

"When composition begins, inspiration is already on the decline"

बात है भी ठीक। विश्व मे जो भी महान कृतियाँ निर्मित हुई हैं, वे कलाकार की मूल भावना की धूमि । छायाए ही तो हैं।

अब प्रश्न उठता है कि यदि बाह्य अभिव्यक्ति—चित्र, मूर्ति, कविता आदि कला नही, तो वे क्या हैं? क्रोचे की दृष्टि मे वे स्मृति की सहायक चीजें (aids to memory) हैं। उनकी सहायता से कलाकार अपनी सहजानुभूति को पुन प्रस्तुत (reproduce) कर लेता है, इनके कारण कलाकार की सहजानुभूतिया, बिम्ब आदि नष्ट नही होते। वह बाह्य अभिव्यक्ति को व्यावहारिक उपयोगिता के लिए स्वीकार करता है क्योकि कवि उसी के द्वारा अपनी अनुभूति को दूसरो के लिए चिरकाल तक सुरक्षित रख सकता है।। 'कभी-कभी हमारे मानस मे ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं, जो प्रातिभ ज्ञान के रूप मे तो होते हैं, किन्तु उनकी इतनी सक्षिप्त या विचित्र-सी अभिव्यजना होती है कि वे हमारे लिए तो पर्याप्त होते हैं, परन्तु अन्य व्यक्ति या व्यक्तियो तक सुगमतापूर्वक समर्पण किये जाने के लिए वे पर्याप्त नही होते हैं।" इस उद्धरण मे स्पष्ट है कि क्रोचे समर्पण, अर्थात् अपनी प्रातिभ अनुभूति को दूसरो तक

अभिव्यक्त किया है। पर वस्तुतः क्रोचे का यह मत कदापि नहीं था। जब कभी उसने बाह्य भौतिक कलाकृति की चर्चा की है उसने आलोचक को पूरा अधिकार दिया है कि उसकी निन्दा करे या उसे स्वीकार करे। वह बाह्य कलाकृति के निर्माण के सम्बन्ध में कलाकार को पूरी छूट भी नहीं देता क्योंकि उसका मत है कि ज्यों ही कलाकार मानसिक जगत से हटकर, सहजानुभूति की आन्तरिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र से हटकर उसे भौतिक रूप देने की ओर प्रवृत्त होता है वह कलाकार के अधिकारों और स्वतन्त्रता से वंचित हो जाता है और उसे जीवन तथा जगत के नीति-बन्धनों का पालन करना पड़ता है और यह निर्णय करना पड़ता है कि किन सहजों को प्रकट करे। वह कहता है—

"We do not externalize all our impressions. We select from the crowd of intuitions.

कलाकार को यह चुनाव इसलिए करना पड़ता है क्योंकि बाह्य कला कृति की रचना करते समय वह कला के विशुद्ध जगत को छोड़ वास्तविक संसार में प्रवेश करता है जहाँ अर्थ नीति प्रचार आदि का महत्व होता है तथा जहाँ जीवन अर्थ तथा नीति सम्बन्धी परिस्थितियो से प्रभावित होता है। सारांश यह है कि वह बाह्य कलाकृति के निर्माण को विशुद्ध कला प्रक्रिया नहीं मानता उसे विशुद्ध कला से भिन्न तथा हीन भी कहता है क्योंकि कला अपने शुद्ध रूप में उपयोगिता या नैतिकता या व्यावहारिक मूल्यो से स्वतंत्र होती है पर जब कोई कलाकार बाह्य कला-कृति का निर्माण करे तो उसका आदेश है कि वह नीति तथा सदाचार के नियमों का पालन करे। वह काव्य को कवि के पूर्ण व्यक्तित्व की सृष्टि मानता है जिसमे नैतिकता और सामाजिकता की उपेक्षा नहीं हो सकती। क्रोचे की इसी बात को स्कॉट जेम्स ने बड़े सुन्दर और सरस शब्दों मे इस प्रकार कहा है —

the artist may see what he likes but he must not say what he likes. He is as free as the wind when his art is not what we mean by art, but when he begins to create as we understand creation his liberty is gone.[१]

क्रोचे ने इस पर बल नहीं दिया कि कलाकार का काम दूसरो तक अपने भावों को पहुँचाना (Communication) है और कलाकृति दूसरो को प्रभावित करने—उनको आनन्द प्रदान करने शिक्षा देने या उनका भावोत्कर्ष करने के लिए निर्मित होती है और संसार उसका मूल्यांकन उसकी इसी सफलता के अनुपात में करता है। क्रोचे के मत से निवेदन या सम्प्रेषण (Communication) एक व्यावहारिक तथ्य है वह क्रियात्मक मनोवृत्ति का व्यापार है वह किसी अनुभव को सुरक्षित रखने अथवा उसे फैलाने की इच्छा से निष्पन्न होता है और इसीलिए वह कला से बाह्य है। पर वस्तुतः निवेदन कला का तात्त्विक धर्म है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य ने सामाजिक मन विकसित किया है। जो कुछ वह कहता है चेतन रूप से या अचेतन रूप से सब दूसरो से निवेदित करता है। यही ऐस्थेटिक

१ Scott James 'The making of Literature. p 229

क्रोचे एक ओर तो यह कहता है कि कला सहजानुभूति है, सहजानुभूति वैयक्तिक होती है और वैयक्तिक अनुभूति का कभी पुनर्भाव (repetition) नही होता तथा दूसरी ओर वह कहता है कि सुन्दर वाह्य कलाकृति की सहायता से भाविक भी वही सहजानुभूति अनुभव करता है, जो कलाकार की सहजानुभूति होती है। जब सहजानुभूति वैयक्तिक होती है और उसका पुनर्भाव नही हो सकता तो फिर भाविक कैसे उसका भावन करेगा ? क्रोचे इस आपत्ति का उत्तर नही दे पाता। अत उसके सिद्धान्त-निरूपण मे यह एक छिद्र है। यद्यपि वह कहता है कि कल्पना की सार्वभौमता के कारण समान विम्ब विभिन्न व्यक्तियो के मन मे समान सहजानुभूतियो को जन्म देते हैं, परन्तु उसका यह मत उसकी वैयक्तिक सहजानुभूति के मत से मेल नही खाता। जब कलाकार की सहजानुभूति वैयक्तिक और अभूतपूर्व (unique) होती है, तो फिर आलोचक उसकी कलाकृति को देखकर वैसी ही सहजानुभूति कैसे प्राप्त कर सकेगा ? वह स्वय कलाकार की मानसिक स्थिति को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? क्रोचे स्वय इस कठिनाई से अवगत था, तभी तो उसने आलोचक के लिए यह आवश्यक माना कि उसमे ज्ञान हो, कल्पना हो और ऐसी सुरुचि हो जिससे वह कलाकार के दृष्टिकोण को आत्मसात कर सके।

उसका कथन है कि कला सवेदन मात्र नही होती। सवेदन और अनुभव तो वाह्य जीवन के अग हैं और वे तब तक कला का रूप धारण नही करते जब तक कलाकार उनसे निर्लिप्त हो कल्पना की सहायता से उनका पुनर्निर्माण नही कर लेता। वस्तुत सवेदनाओ के इसी अवलोकन, पुन रचना तथा अभिव्यजना की प्रक्रिया मे कलाकार को आनन्द की उपलब्धि होती है। यहाँ तक तो क्रोचे की बात ठीक है। पर कठिनाई तब होती है जब वह कला शब्द का प्रयोग उस अर्थ मे नही करता जो सर्वग्रहीत तथा सर्वमान्य है। उसके लिये कला का अस्तित्व केवल उस क्षण तक रहता है जब तक कि कलाकार कलम या कूँची या छैनी नही पकडता, केवल मानस-प्रक्रिया मे रत रहता है। ज्यो ही वह मानस-क्षेत्र से निकलकर इन उपकरणो की सहायता से वाह्य अभिव्यजना मे प्रवृत्त होगा, कला पीछे छूट जाएगी। सामान्य जन, जिनके लिए कला भौतिक कलाकृति मे वास करती है, उसकी कला सम्बन्धी इस धारणा को नही समझ पाते और उलझन मे पड जाते हैं। जिसे अन्य लोग कलाकृति या सौन्दर्य की वस्तु कहते हैं, वह उसके लिये कलाकृति और सौन्दर्य की वस्तु नही है, यही सारी उलझन का कारण है।

अभिव्यञ्जना पर अधिक वल देने के कारण कुछ लोगो ने यह समझ लिया कि क्रोचे विषय-वस्तु के चुनाव को आवश्यक नही मानता था और उसकी दृष्टि मे कोई भी विषय, चाहे वह कितना ही निकृष्ट या हीन क्यो न हो, कला का विषय बन सकता है वशर्ते कि उसकी अभिव्यजना सफल और स्पष्ट हो। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि कला मे ऊल-जलूल बातें आने का अवसर प्रस्तुत हो गया। क्रोचे की इस धारणा को यदि मान भी लिया जाय, तो इसके घोर दुष्परिणाम होगे क्योकि फिर तो कोई भी सनक, विकृति, कुरूपता, विक्षिप्तता कला का विषय वन जाएगी, यह कहकर कि उसकी सहजानुभूति कलाकार को हो गई थी और कलाकार ने उसे ईमानदारी से

२०

आई० ए० रिचर्ड्स के काव्य सिद्धान्त

वर्तमान यूरोपीय काव्य-शास्त्र के आचार्य रिचर्ड्स मनोविज्ञान के क्षेत्र से साहित्य मे आए अतः उन पर मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रभाव होना स्वाभाविक था। उन्होने मानसिक प्रक्रियाओं और साहित्य के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण कर साहित्य की मनोवैज्ञानिक विवेचना द्वारा पाश्चात्य समीक्षा को सर्वथा नूतन आलोक प्रदान किया।

साहित्य और विज्ञान का भेद—विज्ञान और ललित कलाओं के पारस्परिक सम्बन्ध और भेद पर काव्य-शास्त्र के प्रारम्भिक काल से आज तक अनेक विद्वानों और आलोचकों ने प्रकाश डाला है। रिचर्ड्स ने भी अपनी पुस्तकों Principles of literary criticism तथा Science and Poetry में इस प्रश्न पर विचार किया है। उनका मत है कि प्रत्येक वक्तव्य मे वस्तु का निर्देश किया जाता है। जब वस्तुएं सच्ची होती हैं और उनके बीच निर्दिष्ट सम्बन्ध भी सच्चे होते हैं तो उस वक्तव्य को वैज्ञानिक कथन कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम किसी कथन में यह निर्देश करते हैं कि ताप से वायु हल्की होकर ऊपर की ओर उठती है तो हम यहाँ दो सच्ची वस्तुओं और उनके परस्पर सच्चे सम्बन्ध की ओर इंगित करते हैं। अतः यह कथन वैज्ञानिक माना जायगा। इसके विपरीत यदि किसी कथन में निर्दिष्ट वस्तुओं का सच्चा और झूठा होना महत्त्वपूर्ण न हो और न उन निर्दिष्ट वस्तुओं के बीच निर्दिष्ट सम्बन्ध ही महत्त्वपूर्ण हो अपितु वह कथन हमारे भावों (feelings) और मनोवेगों (emotions) को जाग्रत करे तो ऐसे कथन को साहित्यिक कहा जायगा।

अनुभव ठीक माना जाता है, जो निवेदन मे सफल होता है। कलाकार जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव धारण नही कर सकता, वह दुनिया से कटकर नही रह सकता, पर क्रोचे ने कलाकार को ऐसा ही करने के लिए आदेश दिया है। निश्चय ही दार्शनिक क्रोचे ने कलाकार को वाह्य अभिव्यजना की स्वतन्त्रता न देकर या उसे हीन कार्य कहकर उसके प्रति अन्याय किया है। जिस प्रकार के आदर्श कलाकार की कल्पना क्रोचे ने की है, वास्तविक जगत् मे ऐसा कलाकार कदाचित् ही मिले क्योकि उसका आदर्श कलाकार तो वह है जो केवल सहजानुभूति मे मग्न रहता है और उसकी वाह्य अभिव्यक्ति नही करता। वस्तुत कला के लिए भाषा का माध्यम अनिवार्य है—यह दूसरी बात है कि वह भाषा शब्दो की हो, रगो की हो और चाहे पत्थर या सगीत-स्वरो की हो। यही भाषा कलाकार और भाविक को मिलाने वाली कडी है, इसी के द्वारा भाविक कलाकृति को समझता तथा उससे सुखानुभूति प्राप्त करता है। जिस कला की भाषा जितनी अधिक प्रभावशाली, रमणीक और कलापूर्ण होती है वह उतनी ही उत्कृष्ट मानी जाती है।

क्रोचे ने अपने सिद्धान्त मे जीवन के प्रति उपेक्षा प्रकट की है, उसने कलाकार के मस्तिष्क में विचरण करने वाले अरूप, अस्पष्ट, अर्थहीन प्रभावो (impressions) की आन्तरिक अभिव्यक्ति को कला कहा है, पर ये प्रभाव अन्वित होने से पूर्व, जीवन से सम्बद्ध होने से पूर्व कैसे होते हैं, कोई नही वता सकता। वस्तुत कला और जीवन का अटूट सम्बन्ध है, कलाकार को जीवन की वास्तविकता पर ही कला का निर्माण करना पडता है। जीवन और मानव-स्वभाव के मूलभूत तत्त्वो, सवेगो और अनुभवो को ही कलाकृति मे स्थान देकर कलाकार अपनी रचना को निवेदनीय वना सकता है। यह ठीक है कि वह फोटोग्राफर की तरह जीवन के किसी विशिष्ट क्षणमात्र को अकित नहीं करता, अपितु चित्रकार की तरह जीवन को उसके नैरन्तर्य मे, मा व को उसकी सार्वभौमता मे चित्रित करता है। पर उसका विषय जीवन ही होता है। यह सच है कि कलाकार की पद्धति सहजज्ञान की पद्धति है, वौद्धिक तर्क की नही, फिर भी उसका सहज-ज्ञान जीवन और उसकी प्रक्रिया से परिचित होता है। अत कलाकार जीवन की उपेक्षा नही कर सकता। इसी प्रकार चूँकि निवेदनीयता कलाकार के लिए आवश्यक है, उसे अपनी अभिव्यजना निवेदनीय वनानी पडेगी। अपने जीवनानुभवो को दूसरो के लिए सवेद्य वनाने के लिए, न केवल यह आवश्यक है कि वे जीवना-नुभव सारी मानव-जाति के जीवनानुभव हो, अपितु यह भी आवश्यक है कि उनके निवेदन की भाषा सहज वोधगम्य हो। अत कला अभिव्यजना अवश्य है पर प्रथम तो वह जीवन की अभिव्यजना है, जीवन के उस रूप की अभिव्यजना है जिसे कलाकार ने स्वय देखा और अनुभव किया है और दूसरे वह ऐसी अभिव्यजना है जिसे अन्य समझ सकें।

सारांश यह है कि क्रोचे का सिद्धान्त दर्शन के क्षेत्र मे तो सही हो सकता है,पर काव्य-शास्त्र या कला-विवेचन के सन्दर्भ मे उसमे कई त्रुटिया दिखाई देती हैं।

महान् अन्तर, अनुभव के विस्तार उसकी कोमलता और उसके विभिन्न तत्त्वों में सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता में निहित रहता है। तात्पर्य यह है कि कलाकार का अनुभव साधारण व्यक्ति के अनुभव की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं कोमल होता है और उस अनुभव के विभिन्न तत्त्वों में सम्बन्ध स्थापित करने में वह अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता का उपयोग करता है। रिचर्ड्स के अनुसार भूतकाल के किसी अनुभव की उपलब्धि कलाकार के लिए आवश्यक है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह अतीत को उसके सम्पूर्ण विवरण के साथ याद करे, आवश्यक यह है कि वह अपने मानस में अतीत को स्वतन्त्र रूप से पुनर्प्रस्तुत करे। इसके लिए केवल मन की उस अपूर्व दशा (peculiar state of mind) की उपलब्धि होना पर्याप्त है।

मन की इस अपूर्व दशा की पुनरुपलब्धि अनुभव के क्षणों में उत्पन्न होने वाले आवेगों (impulses) पर निर्भर रहती है। जब तक वैसे ही आवेग उत्पन्न न हों तब तक अतीतकालीन उस मनोदशा की प्राप्ति नहीं हो सकती। हम यह जानते हैं कि जिस मनोदशा में अपेक्षाकृत अधिक आवेगों का योग रहता है, उसके पुनर्प्रस्तुत होने की अधिक सम्भावना रहती है अर्थात् अनुभव जितना अधिक व्यापक होगा उसे उसकी पुनर्प्राप्ति उतनी ही सुगमता से हो सकेगी। ये आवेग जितने अधिक संगठित रहते हैं मनोदशा के पुनर्प्रस्तुत होने की उतनी ही अधिक सम्भावना रहेगी। अतः कलाकार में अपने आवेगों की व्यवस्थित संघटना करने की क्षमता होनी चाहिए। रिचर्ड्स का परामर्श है कि कवि को चाहिए कि वह किसी 'स्थिति' के विभिन्न अवयवों का उचित अंश में बोध करता हुआ उस स्थिति को अखण्ड रूप से ग्रहण करे क्योंकि वस्तु' का ठीक बोध तब प्राप्त होता है जब हम उसके विभिन्न तत्त्वों का उचित अंश में बोध करते हुए पूर्ण वस्तु को पूर्ण रूप में ग्रहण करने में समर्थ हों।

वस्तु या स्थिति के पूर्ण बोध के लिए कलाकार में उस जागरूक निरीक्षण शक्ति (vigilance) की आवश्यकता है जिसे भारतीय काव्य-शास्त्र में समाधि (concentration) कहा गया है। इन गुणों के अतिरिक्त कलाकार में 'साधारणता' होनी चाहिए क्योंकि जब तक उसके अनुभव अन्य व्यक्तियों के अनुभव के मेल में नहीं होते तब तक 'सम्प्रेषण' का कार्य पूरा नहीं हो सकता। सफल सम्प्रेषण के लिए यह आवश्यक है कि अधिकांश भाव और उनके विभाव (stimuli) कलाकार और पाठक में समान हों तथा जहाँ कहीं थोड़ा अन्तर हो वहाँ कलाकार उसे कल्पना की सहायता से सम्प्रेषणीय बना ले।

अतः सम्प्रेषण के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—कलाकृति की प्रतिक्रियायें एकरूप हों, व पर्याप्त रूप से विभिन्न प्रकार की हों और अपने उत्तेजक कारणों द्वारा उत्पन्न किए जाने योग्य हों—

What communication requires is responses which are uniform sufficiently varied and capable of being set off by stimuli which are physically manageable

रिचर्ड्स के अनुसार मानव के मानसिक अनुभवो के दो स्रोत हैं—बाह्य जगत् और शारीरिक अवस्था। विज्ञान का सम्बन्ध बाह्य जगत् से है, साहित्य का शारीरिक अवस्था से। विज्ञान मे निर्देशो का वास्तविक आधार होता है। साहित्य के लिए प्रथम तो यह आवश्यक नही कि उसके निर्देशो का आधार वास्तविक हो, यदि उनका आधार वास्तविक भी हो, तो भी उनका मूल्य वास्तविकता से नही, भावो और अन्तर्वेगो को जाग्रत करने की क्षमता से आका जाएगा। कला के निर्देश बहुधा अवास्तविक होते हैं, पर चाहे वे वास्तविक हो या अवास्तविक, उनका आन्तरिक सम्बन्ध अन्तर्वेगीय होता है। कलाकार का तर्क भी अन्तर्वेगीय होता है। अन्तर्वेग मन की एक भावनात्मक वृत्ति है। भाव कल्पना को जाग्रत करता है। अत जैसे किसी वैज्ञानिक कृति को समझने के लिए न्यायात्मक बुद्धि आवश्यक होती है, उसी प्रकार साहित्यिक कृति को समझने के लिए कल्पनात्मक बुद्धि की आवश्यकता पडती है। जिस भाव से आन्दोलित हो कवि ने किसी विशिष्ट स्थिति का चित्र अकित किया है, उसे समझने के लिए हमे कल्पना का आश्रय लेना पडता है।

काव्य और समर्पण (communication)—रिचर्ड्स के अनुसार कविता का मूल्य उसके मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर है—

"Arts are the supreme form of the communicative activity"

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह सहस्रो वर्षों से समर्पण (communication) करने मे अभ्यस्त है। अपने अनुभवो एव अनुभूतियो को अन्यो तक पहुचाने मे उसे प्रकृतित रुचि है। यह सच है कि समर्पण-क्रिया के पूर्व ही हमारे मानस मे भाव या अनुभव उत्पन्न होते हैं, किन्तु उनका रूप बहुत-कुछ इस तथ्य पर निर्भर रहता है कि हमे उन्हें अन्यो तक पहुचाना है। मानवता ने अपनी प्रगति के साथ-साथ समर्पण के जो कतिपय साधन प्राप्त किए हैं, उनमे कलाएँ सर्वाधिक उत्कृष्ट हैं। अतएव कला की सफलता उसके साधनत्व की सफलता पर निर्भर है। रिचर्ड्स कहते हैं, यद्यपि कलाकार को समर्पक (communicator) मानना सर्वाधिक कल्याणकर है, परन्तु यह मानना सत्य नही है कि कलाकार भी सामान्यत अपने को ऐसा मानता है। जिस समय वह रचना करने लगता है, उस समय वह 'समर्पण' के सजग और सायास प्रयत्न मे प्रवृत्त नही होता। अन्य लोग उसकी कृति को पढ़ेंगे और उससे अनुभूति प्राप्त करेंगे, यह तथ्य उसे गौण प्रतीत हो सकता है। पर कलाकार चाहे जो कहे, इससे कृति का समर्पण-पक्ष कम महत्त्व का नही हो जाता क्योंकि स्वय कलाकार के मन मे भी यह पक्ष निरन्तर बना रहता है। वह जानता है कि जो कविता पाठक या श्रोता के मन को जितना अधिक प्रभावित कर पाएगी, उसके मस्तिष्क मे वही अनुभवात्मक स्थिति उत्पन्न कर सकेगी, जो स्वय उसके मस्तिष्क मे उत्पन्न हुई थी, अर्थात् जिसमे समर्पण या निवेदन पक्ष जितना अधिक होगा, वह उतनी ही उत्कृष्ट कहलाएगी।

प्रश्न उठता है कि वे कौन से गुण हैं जो कलाकार को सफल समर्पण मे योग प्रदान करते हैं। रिचर्ड्स का कथन है, "साधारण व्यक्ति और कलाकार का सर्वाधिक

विशिष्ट स्वभाव दो तरीकों से स्थिर किया गया है—एक के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार का मानसिक तत्व अर्थात् सौन्दर्यगतभाव (aesthetic emotion) हमारे सौन्दर्यानुभव (aesthetic experience) को विशिष्ट करता है और दूसरे के अनुसार सौन्दर्यानुभव का विशेष लक्षण आत्मप्रेषण (empathy) है। पर मनोविज्ञान न तो सौन्दर्यगत भाव को मानता है और न आत्मप्रेषण को। उसका कहना है कि आत्मप्रेषण तो दूसरे मानसिक अनुभवों की भी विशेषता है। चूँकि रिचर्ड्स स्वयं मनोवैज्ञानिक थे अतः उन्होंने कहा कि सौन्दर्यानुभव साधारण औपपत्तिक अनुभव जैसा ही है बस उसका रूप एक विशेष प्रकार का होता है।

कुछ लोगों ने ऐस्थैटिक अनुभव के गुण माने हैं—उदासीनता (disinterestedness) वियोग (detatchment) फासला (distance) अवैयक्तिकता और आत्मिक व्यापकता (subjective universality)। परन्तु रिचर्ड्स का मत है ये ऐस्थटिक अनुभव के गुण न होकर निवेदन की दशा या उसके असर की विशेषताएँ हैं। उसके अनुसार ऐस्थटिक अनुभव में विरुद्ध प्रेरणाओं का संतुलन हो जाता है ऐसी प्रेरणाओं की साथ-साथ तुष्टि होती है जिनका साथ-साथ होना सामान्य जन के लिए लोभकारी होता है। य अनुभव साधारण अनुभव से बड़े बड़े और जटिल होते हैं। जितने अधिक सौन्दर्य का अनुभव होगा उसमें उतनी ही अधिक जटिलता होगी अर्थात् उसमें एक साथ तुष्टि पाने वाली प्रेरणाओं की विभिन्नता होगी और वे संख्या में भी बहुत अधिक होंगी।

कल्पना सम्बन्धी विचार—कालरिज ने कल्पना के छः अर्थ दिए हैं। प्रथम अर्थ में कल्पना वास्तुगत सुस्पष्ट प्रतिमाओं की उत्पादक मानी जाती है अर्थात् हम उसके द्वारा उन वस्तुओं की प्रतिमा निर्माण करते हैं जो हमें नेत्रों से स्पष्ट दिखाई देती हैं। दूसरे अर्थ में वह आलंकार भाषा के प्रयोग से सम्बद्ध है। अलंकार उपमा आदि अलंकारों के प्रयोग में कल्पना की ही सहायता लेता है। तीसरे अर्थ में कल्पना का सम्बन्ध दूसरे मनुष्यों की चित्तावस्था मनोवेगों को सहानुभूतिपूर्वक प्रस्तुत करने से है। चौथे अर्थ में कल्पना युक्ति कौशल की द्योतक है जिसकी सहायता से कलाकार विरोधी तत्वों को मिला देता है। पाँचवें अर्थ में कल्पना वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा वैज्ञानिक सामान्यतः असदृश वस्तुओं में संगत सम्बन्ध दिखाता है। छठे अर्थ में वह विपरीत और विषम गुणों को सन्तुलित कर देती है। रिचर्ड्स कॉलरिज के अनुगामी हैं अतः वह भी कल्पना का सर्वश्रेष्ठ गुण और कार्य यही मानते हैं कि वह विभिन्न और विपरीत मनोवेगों तथा अनुभवों में एकत्व तथा सन्तुलन उत्पन्न करती है। वह त्रासदी को इसीलिए सर्वश्रेष्ठ काव्य-रूप मानता है क्योंकि उसमें दो विरोधी भावों—भय और करुणा का एक साथ उपस्थित कर उनका समन्वय किया जाता है। इस प्रकार रिचर्ड्स कल्पना का मौलिक कार्य बिम्ब-निर्माण करना नहीं मानते विरोध—परिहार स्वीकार करते हैं। कल्पना द्वारा कवि उन आवेगों को भी व्यवस्थित करता है जो

रिचर्ड्स समर्पण को कला से बाहर न मानकर उसे कला का तात्विक धर्म कहता है कि मानता है और कहता है कि ऐस्थैटिक अनुभव भी निवेदित होना चाहिए, वह केवल मन की आन्तरिक क्रिया मात्र न रहे।

कला का प्रयोजन—भाव उत्पन्न कर देना ही साहित्य का मूल्य नही है। किसी भी अनुभव के द्वारा जो प्रवृत्तिया (attitudes) उत्पन्न की जाती हैं, उन्ही का महत्त्व है। रिचर्ड्स सुख की अनुभूति मात्र को कला का प्रयोजन नही मानता। उसके मतानुसार कला सुख के हेतु नही, केवल अभिव्यक्ति या समर्पण (communication) के हेतु है। कलाकार को यदि सुख की अनुभूति होती भी है, तो इस प्रतीति से कि उसने अपने अनुभव को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त कर दिया। अत सुखानुभूति तो आनुषगिक प्रतिक्रिया मात्र है। साहित्य का महत्त्व इसी मे है कि वह मानवीय अनुभूतियो के क्षेत्र को व्यापक बनाए। साहित्य का कर्त्तव्य है कि वह एकान्तिकता के पर्दे (films of familiarity and selfish solitude) को उठा दे।

रिचर्ड्स का कथन है कि मन के विभिन्न आवेगो के कारण उसका समतोलन भग हो जाता है। इस समतोलन को लाने के लिए आवश्यक है कि वे आवेग व्यवस्थित होकर एकस्वर हो जायें। मानव जीवन मे असमतोलन और समतोलन बराबर होते ही रहते हैं। कविता का प्रयोजन है कि वह आवेगो मे सगति और संतुलन स्थापित कर एकस्वर अवस्था उत्पन्न करे, आवेगो को ऐसा क्रम प्रदान करे कि वे मन अथवा स्नायु-पद्धति को आराम पहुचायें। उत्कृष्ट कविता का प्रभाव आत्म-सम्पादन (self completion) होता है। रिचर्ड्स के अनुसार यह सन्तुलितावस्था एक ओर मन की शून्यावस्था से भिन्न है, तो दूसरी ओर उत्तेजनापूर्ण अवस्था से। अत साहित्य का प्रयोजन न तो पाठक के मन मे शून्य की स्थिति उत्पन्न करना है और न उत्तेजना प्रदान करके उसे बाह्य क्रिया मे निरत कर देना, उसका प्रयोजन तो ऐसी मन स्थिति उत्पन्न कर देना है जिसमे सन्तुलन हो, व्यक्ति मे बाह्य क्रिया के लिए तत्परता उत्पन्न हो जाय। वस्तुत जिसे हम भारतीय काव्यानन्द के आस्वादन की दशा या रस-दशा कहते हैं, रिचर्ड्स ने उसी की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है।

ऐस्थैटिक अनुभव और कला—साहित्य मे सत्य, शिव, सुन्दर पर बहुत पहले से विचार होता आया है। जर्मन दार्शनिक काण्ट ने सत्य का सम्बन्ध औपपत्तिक बुद्धि (thought) से, सुन्दर का भावात्मक मनोवृत्ति से और शिव का सम्बन्ध क्रियात्मक मनोवृत्ति से जोडा था। रिचर्ड्स ने सत्य का सम्बन्ध बुद्धि तथा शिव का सम्बन्ध इच्छा (will) से तो माना, पर सुन्दर का सम्बन्ध भाव से नही माना। आज के तत्त्ववेत्ता मानसिक क्रियाशीलता की उस वृत्ति को जो सुन्दर के अनुभव को स्पष्ट करती है ऐस्थैटिक वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति न तो वस्तुओ के स्वभाव की खोज करती है कि वस्तु का सत्य क्या है, न उसको इच्छापूर्ति का साधन मानती है कि वह वस्तु किस प्रकार हमारे लिए उपयोगी सिद्ध होगी। इस सौन्दर्यवृत्ति (aesthetic sense) को विशिष्ट स्वभाववाला और असम्बन्धित माना गया है। उसका यह

करने से काव्य-मूल्य का ह्रास होता है। यह बात प्रायः सत्य है क्योंकि सब कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि वे परोक्ष साम्य क्या हैं और कविता किस प्रकार की है। कुछ काव्य प्रकारों मे परोक्ष मूल्यों के लुप्त माने से काव्य का मूल्य कम हो जायगा पर कुछ में काव्य का मूल्य परोक्ष साम्यों पर निर्भर करेगा।

ब्रडले ने लिखा है काव्य की प्रकृति यह नहीं कि वह वस्तुजगत् का अंग अथवा प्रतिरूप हो उसकी निजता तो इस बात में है कि वह एक स्वतंत्र स्वतःपूर्ण निरपेक्ष एवं स्वायत्त जगत् हो। उनके अनुसार कविता की प्रकृति को आत्मसात् करने के लिए हमें उसी जगत् मे प्रवेश करना होगा उसी के नियम मानने होंगे और इस भौतिक जगत् को कुछ समय के लिए भूल जाना होगा इस प्रकार ब्रैडले कविता और जीवन मे विरोध मानता है। पर वस्तुतः ब्रैडले का यह मत ठीक नहीं। काव्य-जगत् की शेष जगत् से पृथक सत्ता हो ही नहीं सकती। उसका आनन्द लोकोत्तर कहलाते हुए भी लोक से असम्बद्ध नहीं होता। काव्यानुभूति जगत् के माध्यम से ही उपलब्ध होती है और वह जगत् की अनुभूतियों से एकदम कटी हुई नहीं होती। अन्तर केवल इतना है कि काव्य के अनुभव सीमित अनुभव-खण्ड होते हैं तथा साधारण अनुभवों की अपेक्षा वे अधिक भव्य और सुकुमार होते हैं। वे प्रेषणीय भी होते हैं क्योंकि थोड़े-बहुत भेद के रहते भी वे अनेक मानसों के अनुभव हो सकते हैं। अतः कवि का कर्तव्य है कि वह अपने अनुभवों को दूषित न होने दे उन्हें साधारणीकृत कर अन्यों के आस्वाद का विषय बनाये। इस प्रकार उन्होंने समीक्षा क्षेत्र मे चले आते—कई धार्मिक नैतिक मतों के विरोध में कुछ मनोवैज्ञानिक मत प्रस्तुत किया। उनका मनोवैज्ञानिक आदर्शवादी मानववादी दृष्टिकोण ही उनकी सबसे बड़ी देन है।

व्याख्यात्मक समीक्षा का कार्य—रिचर्ड्स के अनुसार व्याख्याता का कार्य है कि वह कलाकृति सम्बन्धी मूर्त सृष्टि का पुनरुत्पादन करे और फिर उस पुनरुत्पादन को तार्किक बुद्धि से शब्दों मे व्यक्त करे। कृति को अच्छी तरह समझने के लिए वह उसे वास्तविक रूप मे देखे (he should know to read poetry) और ऐसी मानसिक दशा उत्पन्न करे जो कृति के अनुकूल हो। रिचर्ड्स का मत है कि किसी लेख अथवा वक्तव्य के सम्पूर्ण अर्थ मे होती तो कई धाराएँ हैं पर उनमें चार महत्त्वपूर्ण हैं—आशय भाव ध्वनि और उद्देश्य। आशय वह है जो कृति में शब्दों द्वारा कहा जाता है। हम कुछ बातें इसलिए कहते हैं कि पाठक उन पर मनन करे और उसके सम्बन्ध में उसके विचार उत्तेजित हों। यही आशय कहलाता है। विज्ञान सम्बन्धी लेखों में आशय अधिक महत्त्व का होता है और कविता मे उसका महत्त्व गौण होता है। भावमय कविता जैसे लोरी नर्सरी-गीत या प्रगीत काव्य में तो वह अपत्यस्त होता है।

जिस वस्तुस्थिति का हम बोध कराना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध मे हमारे कुछ भाव होते हैं कोई सुझाव या अनुराग की प्रबलता होती है। कविता मे भाव का

एक दिशा मे समानान्तर रूप से प्रवाहित होते हैं और उनको भी जो भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी होते हैं।

कला और नीति—रिचर्ड्स नैतिकता की समस्या को मन की मागो की सघटन की समस्या मानते हैं। इस प्रकार उन्होने नैतिकता को मनोवैज्ञानिक मानववादी दृष्टि से निर्धारित किया है। उनके अनुसार अच्छा वही है जो मूल्यवान हो और मूल्यवान वह है जो मन में सगीतपूर्ण सन्तुलन स्थापित करे। उनका कहना है कि कला मूल्यवान अनुभव प्रदान करती है और मूल्यवान अनुभव वह है जिसमे विभिन्न अगभूत मागो की इस प्रकार तुष्टि होती है कि यह तुष्टि किन्ही अधिक महत्त्वपूर्ण मागो की तुष्टि मे बाधक नही होती। शुभ अनुभूति से उनका तात्पर्य उस अनुभूति से है जिसमे उसके मूलवर्ती आवेग सफल और तुष्ट हो जाय। वह नैतिक प्रश्नो को आचार के बोझ तथा अन्धविश्वासपूर्ण तत्त्वो से मुक्त करना परम आवश्यक मानते हैं। अत कला की उपयोगिता और सिद्धि इस बात मे है कि वह आवेगो का सगठन करे, ऐसी परिस्थितियो का अकन करे जिनमे न्यूनतम रोध, द्वन्द्व, बुभुक्षा और नियत्रण का समावेश हो तथा जो क्षय और कुण्ठा का परिहार करने की ओर उन्मुख हो। साराश यह है कि रिचर्ड्स यद्यपि रूढ नैतिकता के विरुद्ध है, तथापि वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नैतिकता को कलाकार के लिए स्वाभाविक मानते हैं।

'कविता कविता के लिए' सिद्धान्त के समर्थक ब्रैडले की युक्तियो का खण्डन करते हुए भी रिचर्ड्स ने कला और नीति का परस्पर सम्बन्ध स्वीकार किया है। सत्कला की मूलभूत शर्तें पूरा करने के उपरान्त कला को मानवसुख की अभिवृद्धि मे निरत होना चाहिए, पीडितो का उद्धार करना चाहिए, पारस्परिक सहानुभूति के विस्तार मे सलग्न होना चाहिए।

ब्रैडले के अनुसार सौन्दर्यानुभूति विशिष्ट, स्वत पूर्ण होती है, अपने आप मे साध्य होती है, अत उसके मूल्याकन के लिए अन्य परोक्ष मूल्यो को वह अनावश्यक और घातक मानता है। वह सस्कृति, धर्म, शिक्षा, भावो का मार्दव, यश, द्रव्योपार्जन आदि को परोक्ष मूल्य मानता है और काव्य के मूल्याकन मे उन्हे अस्वीकार कर देता है। रिचर्ड्स का इस सम्बन्ध मे उत्तर यह है कि कवि के लिए यश, द्रव्य, उपार्जन आदि तो ठीक नही, पर सस्कृति, धर्म, भावो का मार्दव आदि का कला से सीधा सम्बन्ध है, अन्यथा काव्य अर्थहीन शब्दमात्र रह जाएगा।

ब्रैडले का मत है कि कल्पनापरक अनुभूति की परख उसके भीतर से ही हो सकती है। रिचर्ड्स इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि उसकी परख भीतर से नही होती, उसे परखने के लिए स्मृति का आधार लेना पडता है, हमे यह ध्यान रखना पडता है कि मानव जीवन की महान सघटना मे उसका क्या स्थान है। उसी स्थान के आधार पर हम उसका मूल्य आकेंगे।

ब्रैडले की तीसरी स्थापना यह थी कि सृजन-प्रक्रिया मे कवि को तथा अनुभव-प्रक्रिया मे पाठक को परोक्ष साध्यो को महत्त्व नही देना चाहिए क्योकि ऐसा

करने से काव्य-मूल्य का क्षय होता है। यह बात अंशतः सत्य है क्योंकि सब कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि वे परोक्ष साध्य क्या हैं और कविता किस प्रकार की है। कुछ काव्य प्रकारों मे परोक्ष मूल्यों के घुस आने से काव्य का मूल्य कम हो जायगा पर कुछ में काव्य का मूल्य परोक्ष साध्यों पर निर्भर करेगा।

ब्रैडले ने लिखा है काव्य की प्रकृति यह नहीं कि वह वस्तुजगत् का अंग अथवा प्रतिरूप हो उसकी विशेषता तो इस बात में है कि वह एक स्वतन्त्र स्वतःपूर्ण निरपेक्ष एवं स्वायत्त जगत् हो। उनके अनुसार कविता की प्रकृति को आत्मसात् करने के लिए हमे उसी जगत् में प्रवेश करना होगा उसी के नियम मानने होंगे और इस भौतिक जगत् को कुछ समय के लिए भूल जाना होगा इस प्रकार ब्रैडले कविता और जीवन मे विरोध मानता है। पर वस्तुतः ब्रैडले का यह मत ठीक नहीं। काव्य-जगत् भी शेष जगत् से पृथक् सत्ता हो ही नहीं सकती। उसका आनन्द लोकोत्तर कहलाते हुए भी लोक से असम्बद्ध नहीं होता। काव्यानुभूति जगत् के माध्यम से ही उपलब्ध होती है और वह जगत् की अनुभूतियों से एकदम कटी हुई नहीं होती। अन्तर केवल इतना है कि काव्य के अनुभव सीमित अनुभव-क्षण होते हैं तथा साधारण अनुभवो की अपेक्षा वे अधिक भव्य और सुकुमार होते है। वे प्रेषणीय भी होते है क्योंकि थोड़े-बहुत भेद के रहते भी वे अनेक मानसों के अनुभव हो सकते है। अतः कवि का कर्त्तव्य है कि वह अपने अनुभवों को दूषित न होने दे उन्हें साधारणीकृत कर अन्यों के आस्वाद का विषय बनाये। इस प्रकार उन्होने समीक्षा क्षेत्र मे चले आते—वह धार्मिक नैतिक मतों के विरोध में शुद्ध मनोवैज्ञानिक मत प्रस्तुत किया। उनका मनोवैज्ञानिक आदर्शवादी मानववादी दृष्टिकोण ही उनकी सबसे बड़ी देन है।

व्याख्यात्मक समीक्षा का कार्य—रिचर्ड्स के अनुसार व्याख्याता का कार्य है कि वह कलाकृति सम्बन्धी मूर्त सृष्टि का पुनरुत्पादन करे और फिर उस पुनरुत्पादन को तार्किक बुद्धि से शब्दो मे व्यक्त करे। कृति को अच्छी तरह समझने के लिए वह उसे वास्तविक रूप मे देखे (he should know to read poetry) और ऐसी मानसिक दशा उत्पन्न करे जो कृति के अनुकूल हो। रिचर्ड्स का मत है कि किसी लेख अथवा वक्तव्य के सम्पूर्ण अर्थ मे होती तो कई धाराएँ हैं पर उनमें चार महत्वपूर्ण हैं—आशय भाव ध्वनि और उद्देश्य। आशय वह है जो कृति मे शब्दों द्वारा कहा जाता है। हम कुछ बातें इसलिए कहते है कि पाठक उन पर मनन करे और उसके सम्बन्ध मे उसके विचार उत्तेजित हो। यही आशय कहलाता है। विज्ञान सम्बन्धी लेख म आशय अधिक महत्व का होता है और कविता मे उसका महत्व गौण होता है। भावमय कविता जैसे लोरी नर्सरी-गीत या प्रगीत काव्य में तो वह अत्यल्प होता है।

जिस वस्तुस्थिति का हम बोध कराना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध में हमारे कुछ भाव होते हैं कोई झुकाव या अनुराग की प्रबलता होती है। कविता मे भाव का

प्रथम महत्त्व होता है, और विज्ञान मे गौण। गणित मे तो भाव होता ही नही।

भाव की अभिव्यजना के लिए लेखक उपयुक्त शब्दो का चयन करता है, उसकी भाषा अलकारपूर्ण होती है। यही ध्वनि कहलाती है।

उद्देश्य से अभिप्राय वह चेतन अथवा अचेतन लक्ष्य है जो प्रत्येक कृति के पीछे रहता है, वह प्रभाव है जो शब्दो द्वारा लेखक अपने पाठको या श्रोताओ पर डालना चाहता है। उद्देश्य भाषण-कला (rhetorics) मे प्रधान होता है, साहित्य मे गौण।

व्याख्याता के लिए आवश्यक है कि वह व्याख्या करते समय कृतिकार की प्रतिभा मे पूर्णत लीन हो जाय, कृतिकार के उस अनुभव को ज्यो का त्यो पुनरुत्पादन करे जिससे कलाकृति की रचना हुई थी। इस पुनरुत्पादन की अवस्था मे व्याख्याता के मन की प्रवृत्ति सवेदनशील होनी चाहिए। इस प्रवृत्ति के लिए कई घातक चीजें हैं जिनका रिचर्ड्स ने विस्तृत वर्णन किया है जैसे असगत स्मृतिया, सन्नद्ध प्रतिक्रियाएँ, अतिभावुकता, निरोध, धर्म विशेष मे आस्था आदि।

कृति को पढते समय यदि किसी मिलती-जुलती पहले पढी हुई कृति की सहसा स्मृति जागृत हो जाएगी, तो अर्थ भग होना स्वाभाविक है। अर्थग्रहण मे बाधा डालने वाली दूसरी विघातक शक्ति है सन्नद्ध प्रतिक्रियाएँ। ये अर्थग्रहण मे तब बाधक होती हैं जब कृति मे ऐसे अतर्वेगो और विचारो का समावेश होता है जो पाठक के मन मे पहले से ही पूरी तरह होते हैं। मौलिकता को समझने के लिए रूढि से मुक्त होना आवश्यक है। अतिभावुकता से भी अर्थग्रहण मे बाधा पडती है। इसके अन्तर्गत अनुचित भावोद्रेक, भावो का तीव्र सचार, भाव की अपरिपक्वता अथवा असस्कृतता आते हैं। अतिभावुकता के कारण ही हम अनेक कृतियो का ठीक-ठीक अर्थ ग्रहण नही कर पाते। निरोध के कारण हम बहुत से ऐसे अनुभवो को ग्रहण करने मे असमर्थ होते हैं जिनसे हमें किसी दु खमय घटना अथवा वीभत्स दृश्य की याद आ जाती है। यदि हम किसी पुस्तक को पढते समय बहुत से विचारो को केवल इसलिए मन मे जगह नही देते कि वे अप्रिय हैं, तो इससे अर्थग्रहण में निश्चय ही व्याघात पहुचता है। धर्म या सम्प्रदाय विशेष मे आस्था भी अर्थग्रहण मे बाधक होती है। कृष्णभक्त पाठक को कृष्णकाव्य हीन होते हुए भी प्रिय लगेगा और वह उसका सही मूल्याकन नही कर पाएगा। रचनाकौशल सम्बन्धी पूर्व कल्पना भी अर्थग्रहण मे बाधा डालती है। जब किसी रचना को किसी विशेष काव्य-रूप मे प्रस्तुत किए जाने पर हम उसे सफल या असफल देखते हैं, तो हमारा विश्वास जम जाता है कि अमुक काव्य-रूप का बार-बार प्रयोग होना चाहिए। जब हम उससे भिन्न काव्य-रूप का प्रयोग देखते हैं, तो नाक-भौं सिकोडते हैं। इसी तरह जब किसी काव्य-रूप को विफल होते देखते हैं, तो चाहते हैं कि वह पुन प्रयुक्त न हो और यदि कोई लेखक उसका सफल प्रयोग भी करता है, तो पूर्वाग्रह के कारण उसे मान्यता नही देते, उसकी प्रशसा नही करते।

इसी के कारण किसी ने तुक किसी ने छन्द किसी ने अन्य काव्य शिल्प को अनुचित महत्व दे डाला या अनुचित निन्दा कर डाली।

हमारी आलोचनात्मक पूर्वधारणाएं भी—कविता मे गांभीर्य होना चाहिए, कविता संदेश दे कविता विचारोत्तेजक हो जीवन को पुनर्व्यवस्थित करने वाली हो आदि—मर्मग्रहण में बाधक हैं। रिचर्ड स व्याख्याता को परामर्श देते हैं कि वह इन बाधाओं से दूर रहे। वह चाहते हैं कि उसका व्यक्तित्व भी पूर्ण हो अर्थात् वह निष्कपट ईमानदार (sincere) और आत्मसम्पूर्ण (self-complete) हो। वह परिश्रमशील तथा विद्वान् भी होना चाहिए। उसे साहित्य-मूल्यों का जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, बोध होना चाहिए और उन्ही के आधार पर कृति की समीक्षा करनी चाहिए।

व्याख्या और आलोचना का अन्तर बताते हुए रिचर्ड स कहता है कि व्याख्या आलोचना से पहले की चीज है। आलोचक पहले कृति को पढ़ता है फिर उस पर मनन करता है और तब उसके गुण-दोषों पर अपना निर्णय देता है, जबकि व्याख्याता केवल कृति का बोध ग्रहण करता है उसमे प्रवेश कर जाता है। व्याख्याकार कलाकार की चित्तसृष्टि का पुनर्निर्माण करता है उस पर निर्णय नही देता आलोचक निर्णय भी देता है। व्याख्या में प्राय तुलना नही होती आलोचना में होती है। व्याख्या ग्रहणशील होती है आलोचना क्रियाशील क्योकि वह मूल्यांकन भी करती है। इस प्रकार व्याख्या कृति को समझने में सहायक होती है पर इसे बहुत दूर तक नही खीचना चाहिए क्योकि ऐसा करने से रसास्वादन मे बाधा पड़ती है। व्याख्यात्मक अध्ययन का सीमा के भीतर ही महान उपयोग है। इलियट ने भी इसके अतिरेक को हानिकर माना है।

प्रथम महत्त्व होता है, और विज्ञान मे गौण। गणित मे तो भाव होता ही नही।

भाव की अभिव्यजना के लिए लेखक उपयुक्त शब्दो का चयन करता है, उसकी भाषा अलकारपूर्ण होती है। यही ध्वनि कहलाती है।

उद्देश्य से अभिप्राय वह चेतन अथवा अचेतन लक्ष्य है जो प्रत्येक कृति के पीछे रहता है, वह प्रभाव है जो शब्दो द्वारा लेखक अपने पाठको या श्रोताओ पर डालना चाहता है। उद्देश्य भाषण-कला (rhetorics) मे प्रधान होता है, साहित्य मे गौण।

व्याख्याता के लिए आवश्यक है कि वह व्याख्या करते समय कृतिकार की प्रतिभा मे पूर्णत लीन हो जाय, कृतिकार के उस अनुभव को ज्यो का त्यो पुनरुत्पादन करे जिससे कलाकृति की रचना हुई थी। इस पुनरुत्पादन की अवस्था मे व्याख्याता के मन की प्रवृत्ति सवेदनशील होनी चाहिए। इस प्रवृत्ति के लिए कई घातक चीजें हैं जिनका रिचर्ड्स ने विस्तृत वर्णन किया है जैसे असगत स्मृतिया, सन्नद्ध प्रतिक्रियाएँ, अतिभावुकता, निरोध, धर्म विशेष मे आस्था आदि।

कृति को पढते समय यदि किसी मिलती-जुलती पहले पढी हुई कृति की सहसा स्मृति जागृत हो जाएगी, तो अर्थ भग होना स्वाभाविक है। अर्थग्रहण मे बाधा डालने वाली दूसरी विघातक शक्ति है सन्नद्ध प्रतिक्रियाएँ। ये अर्थग्रहण मे तब बाधक होती हैं जब कृति मे ऐसे अतर्वेगो और विचारो का समावेश होता है जो पाठक के मन मे पहले से ही पूरी तरह होते हैं। मौलिकता को समझने के लिए रूढि से मुक्त होना आवश्यक है। अतिभावुकता से भी अर्थग्रहण मे बाधा पडती है। इसके अन्तर्गत अनुचित भावोद्रेक, भावों का तीव्र सचार, भाव की अपरिपक्वता अथवा असस्कृतता आते हैं। अतिभावुकता के कारण ही हम अनेक कृतियो का ठीक-ठीक अर्थ ग्रहण नही कर पाते। निरोध के कारण हम बहुत से ऐसे अनुभवो को ग्रहण करने मे असमर्थ होते हैं जिनसे हमे किसी दु खमय घटना अथवा वीभत्स दृश्य की याद आ जाती है। यदि हम किसी पुस्तक को पढते समय बहुत से विचारो को केवल इसलिए मन मे जगह नही देते कि वे अप्रिय हैं, तो इससे अर्थग्रहण मे निश्चय ही व्याघात पहुचता है। धर्म या सम्प्रदाय विशेष मे आस्था भी अर्थग्रहण मे बाधक होती है। कृष्णभक्त पाठक को कृष्णकाव्य हीन होते हुए भी प्रिय लगेगा और वह उसका सही मूल्याकन नही कर पाएगा। रचनाकौशल सम्बन्धी पूर्व कल्पना भी अर्थग्रहण मे बाधा डालती है। जब किसी रचना को किसी विशेष काव्य-रूप मे प्रस्तुत किए जाने पर हम उसे सफल या असफल देखते हैं, तो हमारा विश्वास जम जाता है कि अमुक काव्य-रूप का बार-बार प्रयोग होना चाहिए। जब हम उससे भिन्न काव्य-रूप का प्रयोग देखते हैं, तो नाक-भौं सिकोडते हैं। इसी तरह जब किसी काव्य-रूप को विफल होते देखते हैं, तो चाहते हैं कि वह पुन प्रयुक्त न हो और यदि कोई लेखक उसका सफल प्रयोग भी करता है, तो पूर्वाग्रह के कारण उसे मान्यता नही देते, उसकी प्रशसा नही करते।

तक विकसित न हुई हो। भाषा का पराकाष्ठागत विकास तो क्लासिक कवि द्वारा ही उस समय होता है। जब मनुष्य मे अतीत का बोध वर्तमान का विश्वास और भविष्य की कोई सबल शंका न हो।

महान कवि क्लासिक हो ही इलियट के अनुसार यह आवश्यक नही। उनके अनुसार दोनो म अन्तर है। अब भी मे महान कवि कई हो चुके है किन्तु इलियट उन्हें क्लासिक नही मानता। महान कवि केवल एक विधा (form) मे पराकाष्ठा तक पहुच कर सदा के लिए उसकी संभावना को समाप्त कर देता है जबकि क्लासिक कवि एक विधा (form) को ही नही अपने समय की भाषा को ही पराकाष्ठा पर पहुचाकर उसकी संभावना को समाप्त कर देता है। इलियट ने इस सम्बन्ध मे यह भी लिखा है पूर्ण क्लासिक कृति वह है जिसमें किसी मानव-समाज की सम्पूर्ण शक्ति निहित हो। अत उसके अनुसार क्लासिक के लिए व्यापक एव विश्वजनीन होना भी आवश्यक है। सारांश यह है कि इलियट के अनुसार मस्तिष्क की प्रौढता शील प्रौढता भाषा प्रौढता शैली की पूर्णता और विश्वजनीनता (universality) क्लासिक के अनिवार्य गुण हैं, उसके लिए किसी भी प्रकार की संकीर्णता और सीमित धार्मिक चेतना अग्राह्य है। क्लासिक के सम्बन्ध म दिए गए इलियट के अभिमत मत तो हमे मान्य हैं परन्तु दो एक वक्तव्य ज्यों के त्यों स्वीकार नही किये जा सकते। उदाहरण के लिए एक स्थल पर वह लिखते है 'यदि क्लासिक वास्तविक आदर्श है, तो उसे ईसाई धर्म की उन्मादकता (catholicity) की अभिव्यक्ति करनी होगी। यदि यहाँ उनका अभिप्राय catholicity से ईसाई धम विषयक कैथोलिक मान्यता से है तो हमे उनका मत अग्राह्य होगा क्योंकि विश्व म अन्य महान् धर्म भी है। परन्तु यदि उससे उनका अभिप्राय उच्चाशय उदार, धास्तिक धार्मिक दृष्टिकोण से है जो चरित्र-औदात्य और अखिल मानवता के लिए कल्याणकर है तो उसे स्वीकार करने मे कोई अड़चन नहीं।

भाषा की प्रौढता के सम्बन्ध में भी उनका मत आपत्तिपूर्ण है। यदि इलियट का अभिप्राय ऐसी प्रौढ भाषा से होता जिसमें शक्ति का पूर्ण निखार झलकता हो तो वह ग्राह्य हो सकता था पर इलियट का अभिप्राय इतने से नही है। वह तो स्पष्ट कहते हैं कि महान क्लासिक कवि भाषा विकास की सम्भावनाओं को निश्शेष कर देता है उसके बाद उसके विकास की संभावना ही नही रहती। पर भाषा तो प्रकृति से ही विकासशील होती है उसके विकास की पराकाष्ठा का अर्थ होगा उसकी गतिहीनता और भाषा तभी गतिहीन होगी जब उसके बोलने वालों का जीवन गतिहीन या मृतप्राय हो जाय। वस्तुत भाषा सतत विकासशील है अत उसकी प्रगति कभी रुक नही सकती। अत इलियट की क्लासिक के सम्बन्ध मे रखी यह शर्त कि उसकी भाषा प्रौढ हो उस अर्थ मे स्वीकार्य नही हो सकती जिस अर्थ मे उन्होंने उसे रखा है क्योंकि उस मत के अनुसार तो फिर क्लासिक की तब तक रचना हो ही नही सकेगी जब तक कोई भाषा मृत न हो जाय।

: २१ :

टी० एस० इलियट के काव्य-सिद्धान्त

१ भूमिका
२ क्लासिकवाद से इलियट का तात्पर्य
३. कला की निर्वैयक्तिकता
४ कविता के तीन स्वर
५. वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धान्त
६ काव्य भाषा
७ समीक्षा और समीक्षक
८. साहित्य का मूल्य

साहित्य और दर्शन के गहन अध्येता, कवि और सुप्रसिद्ध समीक्षक इलियट का जन्म २६ सितम्बर १८८८ ई० मे सेंट लुई, मिसौरी मे हुआ। वह बीसवी शताब्दी के सर्वाधिक प्रभावशाली समीक्षक माने जाते हैं जिनके कवि, कविता, साहित्य, समीक्षा सम्बन्धी मत महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ अत्यन्त विवादास्पद भी हैं और इन्होंने समीक्षा क्षेत्र मे एक अद्‌भुत क्रान्ति उपस्थित की है।

क्लासिकवाद—इलियट ने अपने को क्लासिकवादी कहा है, अत यह जानना आवश्यक है कि क्लासिकवाद से उनका क्या तात्पर्य है। उनके अनुसार 'क्लासिक' का अर्थ है परिपक्वता या प्रौढता (maturity) और क्लासिक साहित्य की सृष्टि तभी हो सकती है जब सभ्यता, भाषा और साहित्य प्रौढ हो और स्वय कृतिकार का मस्तिष्क भी प्रौढ हो। इन तीन गुणो को उन्होने maturity of mind, maturity of manners तथा maturity of language कहा है।

मस्तिष्क की प्रौढता के लिए वह इतिहास और ऐतिहासिक चेतना को आवश्यक मानते हैं। इसके लिए उसे अपने देश और जाति के अध्ययन के अतिरिक्त दूसरी सभ्य जातियों का इतिहास पढ़ना चाहिए, उस सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिसने हमारी सभ्यता को प्रभावित किया है। साराश यह है कि कवि को अतीत की पूरी जानकारी होनी चाहिए वर्जिल इसीलिए क्लासिक कवि का आदर्श है क्योकि उसने यूनानी सभ्यता के लैटिन पर पडे प्रभाव को ठीक से हृदयगम कर लिया था और उसके आलोक में अपने साहित्य का नवीन विकास किया था। शील की प्रौढता से उनका अभिप्राय था आदर्श चरित्र का निर्माण। भाषा की पूर्ण प्रौढता के लिए यह आवश्यक है कि पूव युग मे महान कवि तो हो चुके हो, किन्तु उनकी कृतियो मे भाषा पराकाष्ठा

की विशिष्टता का सामान्यीकरण। कवि अपनी तीव्र संवेदना और ग्रहण-क्षमता से अन्य लोगों की अनुभूतियों को आयत्त कर लेता है पर वे आयत्त अनुभूतियाँ उसकी निजी अनुभूतियाँ हो जाती हैं। जब वह अपने इन स्वयुक्त अथवा चिन्तन द्वारा आयत्त अनुभवों को काव्य में व्यक्त करता है तो वे उसके निजी अनुभव होते हुए भी सबके अनुभव बन जाते हैं। और यह मत सभी को ग्राह्य होना चाहिए। भारतीय काव्य शास्त्र में साधारणीकरण' सिद्धान्त भी तो यही बात कहता है वह भी कवि के निजी व्यक्तित्व को सामान्यीकृत रूप में काव्य के लिए ग्राह्य स्वीकार करता है।

इलियट कवि और कलाकृति दोनों को परस्पर प्रभावित होना स्वीकार करते हैं मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश प्रदान करता है किन्तु मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वह अपने निर्मित पात्रों द्वारा स्वयं प्रभावित होता है। इस परस्पर प्रभाव डालने का फल यह होता है कि सम्पूर्ण काव्य कृति कवि के व्यक्तित्व से निर्मित हो उठती है। कवि ही अपने काव्य-जग में व्याप्त हो जाता है। डकिंस के प्रसंग में भी उन्होंने कहा 'जब मैं डकिंस का संसार कहता हूँ तो मेरा आशय उस संसार से होता है जिसे उसने स्वयं निर्मित किया। वह कवि को अपने संसार का निर्मायक मानता है। अतः यह कहना गलत होगा कि इलियट कविता में कवि के व्यक्तित्व को अस्वीकार करता है।

'कविता के तीन स्वर' नामक अपने भाषण में इलियट ने काव्य के तीन स्वर माने हैं—प्रथम स्वर वह है जिसमें कवि अन्य किसी से नहीं बरन् स्वयं से बात करता है द्वितीय स्वर वह है जिसमें वह अन्यों से (श्रोताओं) बात करता है' और तृतीय स्वर में कवि स्वयं बक्ता न होकर पात्रों के माध्यम से बोलता है। प्रथम प्रकार के स्वर में कवि का लक्ष्य सम्प्रेषण अर्थात् दूसरों तक अपने भाव पहुँचाना नहीं होता। वह तो एक प्रकार के भार से व्यथित रहता है और अपनी बात कह उससे छुटकारा पाता है। इस प्रकार की कविता में आन्तरिक वस्तु अपना रूप स्वयं निर्मित करने में प्रवृत्त होती है। वस्तु और रूप का साथ-साथ विकास होता चलता है। इसी प्रकार की कविता के विषय में इलियट ने कहा था कि कविता स्वयं अवतरित हो जाती है लिखी नहीं जाती। ऐसी दशा में कवि केवल माध्यम होता है। हिन्दी की 'नई कविता' इसी प्रकार की है। दूसरे स्वर में कविता किसी सजग सामाजिक उद्देश्य के लिए लिखी जाती है। मनोरंजन या उपदेश के लिए लिखा गया साहित्य व्यंग्य-काव्य इसी कोटि में आता है। महाकाव्य में भी यही स्वर प्रधान होता है। ऐसी कविताओं में कुछ अंश तक 'रूप पूर्वनिर्धारित होता है। तीसरे स्वर के अन्तर्गत नाटक आते हैं। स्पष्ट है कि दूसरे और तीसरे स्वरों की कृतियों को इलियट कवि की अचेतावस्था से उद्भूत नहीं मानते। इनमें वह पूर्ण सजग होकर अपने व्यक्तित्व से कृति का निर्माण करता है वह व्यक्तित्व से पलायन नहीं करता बरन् व्यक्तित्व से निर्माण करता है।

वस्तुतः किसी भी कविता में केवल एक स्वर मिलना कठिन है। यदि कवि ने निज से कभी कुछ नहीं कहा तो उसकी कृति कविता नहीं होगी शानदार वाग्जाल

कला की निर्वैयक्तिकता—एजरा पाउण्ड, जिसके विचारो से इलियट प्रभावित हुए थे, मानता था कि कवि वैज्ञानिक के समान ही निर्वैयक्तिक (impersonal) और वस्तुनिष्ठ होता है। उसका कार्य आत्म-निरपेक्ष होता है। इलियट अनेकता को एकता मे बाधने के लिए परम्परा को आवश्यक मानते थे, जो वैयक्तिकता की विरोधी है। वह साहित्य के जीवन्त विकास के लिए परम्परा का योग स्वीकार करते थे जिसके कारण साहित्य मे आत्म-निष्ठ (Subjective) तत्त्व नियत्रित हो जाता है और वस्तु-निष्ठ (objective) प्रमुख हो जाता है।

इस 'परम्परा सिद्धान्त' के द्वारा उन्होने आत्मनिष्ठ साहित्य के स्थान पर वस्तु-निष्ठ साहित्य को महत्त्व प्रदान किया, कला को निर्वैयक्तिक घोषित किया और कवि को काव्य की स्वतन्त्र अवतारणा के लिए माध्यम मात्र स्वीकार किया।' कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नही करता है, वरन् वह विशिष्ट माध्यम मात्र है। व्यक्तिगत भावो की अभिव्यक्ति कला नही है, वरन् उनसे पलायन कला है। कलाकार की प्रगति निरन्तर आत्म त्याग, व्यक्तित्व का निरन्तर बहिष्कार है। उनके प्रारभिक वक्तव्यो से स्पष्ट है कि कवि कविता लिखता नही, कविता स्वय कवि के माध्यम से कागज पर शब्द-विधान के रूप मे उतर आती है, अर्थात् कविता उत्पन्न हो जाती है, उत्पन्न की नही जाती। पर क्या उनके ये आरम्भिक विचार अन्त तक बने रहे। यीट्स के काव्य के सम्बन्ध में जो विचार उन्होंने प्रकट किए हैं और जो शिकायत की है कि उसके आरभिक काव्य मे कवि का अपूर्व व्यक्तित्व नही मिलता, उससे लगता है कि बाद मे चलकर इलियट के विचार या तो बदल गए थे या जैसा कि स्वय उन्होने कहा," मैं उस समय अपनी बात ठीक से व्यक्त न कर सका था।' बाद मे निर्वैयक्तिकता के सम्बन्ध मे उन्होंने निम्न वक्तव्य दिया जो उनकी बात को समझने मे अधिक सहायता देता है।

"निर्वैयक्तिक के दो रूप होते हैं। एक वह जो 'कुशल शिल्पी मात्र' के लिए प्राकृतिक होती है। दूसरी वह है जो प्रौढ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है। दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ कवि की होती है जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवो के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने मे समर्थ होता है।" उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भले ही उनके प्रारभिक मत की शब्दावली से लोगो को यह भ्रम हो गया हो कि वह कविता को कुशल शिल्प-विधान मानते थे, परन्तु बाद मे चलकर कला की निर्वैयक्तिकता से इलियट का अभिप्राय मात्र कुशल शिल्पी की निर्वैयक्तिकता से नही है। अब तो वह कला की निर्वैयक्तिकता को प्रौढ कवि के निजी अनुभवों की सामान्य अभिव्यक्ति मानते है। भारतीय आचार्यों की तरह वह भी यह मानते हैं कि कवि अपने निजी भावो की अभिव्यक्ति कविता में करता है, पर उसे इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वे भाव उसके अपने ही नही, सर्व-सामान्य के भाव बन जाते हैं। अतएव इलियट की निर्वैयक्तिकता का अर्थ है—कवि के व्यक्तिगत भावो

होगा इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए इलियट के अनुसार कवि को कविता लिखने का अभ्यास करते रहना चाहिए निरन्तर शिल्प प्रयोग करते रहना चाहिए। वह परामर्श देता है कि कवि के शब्दों में न तो अस्पष्टता हो और न अतिशयता।

कविता की भाषा के सम्बन्ध में इलियट का एक मत यह भी है 'कवि की भाषा को युग की भाषा के इतने निकट सम्बन्ध में होना चाहिए कि श्रोता या पाठक उसे सुनकर या पढ़कर कह उठे कि 'यदि मैं कविता में बात करता जानता तो इसी प्रकार बात करता। वह मानता है कि आधुनिक युग में कविता गाने के लिए नहीं बोलने के लिए लिखी जाती है अत उसका सम्बन्ध बोलचाल की भाषा से होना चाहिए। पर इतने से ही काम नहीं चलेगा कवि का कर्त्तव्य है कि वह भाषा को द्रुत परिवर्तनों से भी बचाए। कविता मे भाषा प्रयोग यदि युग की बोल चाल वाली भाषा के समान ही बनाये जाएंगे तो कविता अपने महत्वपूर्ण उद्देश्य से विरत रह जायेगी।

समीक्षा और समीक्षक—इलियट के अनुसार निष्पक्ष समीक्षा दार्शनिक विवेचक या निष्पक्ष समीक्षक ही कर सकता है कवि नहीं। कवि तो केवल अपनी कविता के सम्बन्ध मे कुछ विचार व्यक्त कर सकता है जिसका केवल सीमित मूल्य होता है। समीक्षक में विवेक होना आवश्यक है जिसकी उपलब्धि के लिए उसे जानना होगा कि 'हम क्या हैं' और 'हमे क्या होना चाहिए, 'हम क्या चाहते हैं' और हमें क्या चाहना चाहिए। समीक्षक का कार्य बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण है अत उसमें इलियट ने सूक्ष्म और प्रचुर संवेदन-शक्ति की आवश्यकता स्वीकार की है। वह चाहते हैं कि वह मर्मज्ञ हो साहित्य-मूल्यो से अवगत हो उसका अध्ययन व्यापक और विवेक पूर्ण हो वह स्वतन्त्र चेता हो उसमे कोई आग्रह न हो। समीक्षक में साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयो मे भी रुचि होनी चाहिए, उसे पूरा मानव होना चाहिए।

इलियट के अनुसार समीक्षा का मूलभूत कार्य है साहित्य का बोध कराना और उसका आनन्द बढ़ाना। साथ ही उसका कार्य यह भी बताना है कि आनन्द लेने योग्य क्या नहीं है। वह आनन्द लेने और बोध प्राप्त करने को अलग-अलग क्रियाएं नहीं मानते। वह प्रथम को भावात्मक तथा दूसरी को बौद्धिक क्रिया नहीं मानते क्योंकि बोध से उनका तात्पर्य केवल व्याख्या नहीं है। वह कविता के बोध प्राप्त करने को उसका आनन्द लेना ही मानते हैं—

'To understand a poem comes to the same thing as to enjoy it for the right reason

अब प्रश्न उठता है कि समीक्षक पाठक को काव्य का बोध प्राप्त करने और उसका सही आनन्द लेने में कैसे सहायता कर सकता है। बोध-पक्ष पर बल देने से वह केवल व्याख्या मे प्रवृत्त हो जायगा।

भले ही हो। किन्तु यदि कवि ने नितान्त अपने लिए कविता लिखी है, तो वह एक व्यक्तिगत और अपरिचित भाषा मे होगी, जो कविता केवल कवि के लिए होगी, वह कविता नही हो सकती।"

वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धान्त—इलियट का कथन है, "कला मे भाव प्रदर्शन का एक ही मार्ग है, और वह यह है कि उसके लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण (objective correlative) को प्रस्तुत किया जाय। दूसरे शब्दो मे, ऐसी वस्तु-सघटना, स्थिति, घटना-शृंखला प्रस्तुत की जाय जो उस नाटकीय भाव का सूत्र हो, ताकि ये बाह्य वस्तुए, जिनका पर्यवसान मूर्त मानस-अनुभव मे हो जब प्रस्तुत की जाय तो तुरन्त भावोद्रेक हो जाय।" नाटककार जो कुछ कहना चाहता है, उसे वह वस्तुओ की किसी सघटना, किसी स्थिति, किसी घटना-शृंखला के द्वारा ही कहता है। चाहे तो हम इलियट के इस वस्तुनिष्ठ समीकरण को विभाव विधान कह सकते हैं। यह विभाव-विधान ऐसा होना चाहिए कि सामाजिको मे नाटककार के मानस-भाव जाग्रत कर सके।

काव्य-भाषा सम्बन्धी विचार—कविता भाव-प्रधान होती है। प्रत्येक जाति और राष्ट्र की अनुभूति-शक्ति की निजी विशिष्टता होती है और उसी की भाषा मे वह सम्पूर्णत व्यक्त की जा सकती है। इलियट भी यही कहता है कि कविता अनूदित नही हो सकती, 'Poetry is constant reminder of all the things that can be sent only in one language and are understandable" टी० ई० ह्यूम ने कहा था कि युग के साथ साथ कवि की अनुभूति मे भी परिवर्तन होता रहता है, वस्तु को देखने के उ के दृष्टिकोण मे अन्तर आता रहता है। अत परम्परावद्ध भाषा कवि की अनुभूति और उसके दृष्टिकोण को व्यक्त करने मे सक्षम नही हो पाती है कवि को परम्परागत भाषा का त्याग कर नई भाषा अपनानी पडती है। इलियट ने भी लगभग यही मत व्यक्त किया है। कविता समाज को नूतन अनुभूतिया प्रदान करती है, परिचित अनुभूतियो का नवीन बोध कराती है, और जिन अनुभूतियो को हम जानते हैं, किन्तु जिनकी अभिव्यक्ति के लिये हमे शब्द नही ज्ञात है, उन्हे अभि-व्यजना प्रदान करती है। इसके परिणाम स्वरूप हमारी चेतना का विस्तार और सवेदन-शक्ति का परिष्कार होता है। इलियट मानता है कि कवि-कर्म भाषा के माध्यम से होता है। इसी माध्यम से वह समाज को नवीन सवेदन-शक्ति और भावानुभूतिया प्रदान करता है। इन नवीन अनुभूतियो कोव्यक्त करने के लिए वह परम्परागत भाषा से सघर्ष करता है, उसे अपनी अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाता है, उसे शक्ति प्रदान करता है। उत्तरदायित्वपूर्ण कवि का यह कर्त्तव्य है कि वह अभिव्यजना का नवीन साधन स्वय गढे और ऐसा वह न केवल अपने युग के लिए वरन् अपने मे होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के लिए भी करे। जो बोधगम्य नही है, उसे बोधगम्य बनाने के लिए कवि को भाषा की शक्तियो का विकास करना होगा, शब्दो को अर्थ-समृद्ध बनाना

मानता है जो साहित्य को केवल साहित्य मानकर पढ़ते और आनन्द लेना चाहते हैं। वह यह स्वयं अनुभव करते थे कि डी एच लारेन्स के साहित्य का उन पर बुरा प्रभाव पड़ा था अतः वह साहित्य के नैतिक मूल्यों की ओर से उदासीन न थे।

धर्म और साहित्य के सम्बन्ध की विवेचना में इलियट ने कहा है कि यह सम्बन्ध कितने ही प्रकार का हो सकता है। धार्मिक साहित्य में वह धार्मिक ग्रन्थों की राशि को मानते हैं। इसमें काव्यत्व हो सकता है और होता भी है पर उसे काव्यत्व के लिए नहीं पढ़ा जाता। दूसरा भक्तिमूलक साहित्य हो सकता है पर इलियट इसे भी अधिक महत्त्व नहीं देते क्योंकि इसमें जीवन के अधिकांश रूपों को छोड़ दिया जाता है। तीसरे वर्ग में वे कृतियाँ आएँगी जो धर्म को काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करती है। उनकी दृष्टि में वह काव्य प्रचार-काव्य होगा अतः वह उच्च कोटि का साहित्य नहीं हो सकता। पर यदि ऐसी धार्मिक प्रबुद्धता (religious awareness) बिना प्रयास के किसी कृति में व्याप्त हो तो वह उच्च कोटि का होगा। इसमें धर्म और साहित्य का वाञ्छित सम्बन्ध होगा। अतः यह आवश्यक नहीं कि कवि अपनी कृति में नीति या धर्म का उपदेश दे वैसा करना तो असाहित्यिक होगा। आवश्यक यह है कि उसकी धार्मिक प्रबुद्धता उसकी कृति में स्वतः स्फुरित रहे। जो साहित्य हमें जीने की कला सिखाए, वह महान होगा पर यह ज्ञान सजग प्रयत्न द्वारा न होकर अप्रत्यक्ष रीति से दिया जाना चाहिए और आनन्द उसका लक्ष्य होना चाहिए।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इलियट बीसवीं शताब्दी के समर्थ समीक्षक थे। उनके अधिकांश मत भारतीय काव्य-शास्त्रीय मतों विशेषतः रस सिद्धान्त से मेल खाते हैं। आरम्भ में उनके द्वारा व्यक्त मतों में भ्रान्ति हो सकती है पर बाद में ज्यों-ज्यों उनका चिन्तन बढ़ता गया इन्होंने अपने पूर्व-मतों को सुधारा और स्वस्थ नवीन मतों की स्थापना की।

काव्य के वोध-पक्ष से सम्बन्धित पहली प्रवृत्ति वह है जो कवि की जीवनी, उसके युग की विभिन्न प्रवृत्तियो, उसकी विभिन्न प्रेरणाग्रो की खोज करती है। यह एक प्रकार से काव्य का मनोवैज्ञानिक, जीवन-चरितात्मक, समाज-शास्त्रीय, या वैज्ञानिक अध्ययन है। इलियट इस प्रकार की समीक्षा-प्रवृत्ति की उपयोगिता तो स्वीकार करते हैं, पर साथ ही कहते हैं कि जहा उनकी आवश्यकता न हो, जहा आवश्यकता से अधिक इस प्रकार के तथ्य एकत्र किये जायँ, वहा हानि होगी।

वोध-पक्ष से सम्बन्धित दूसरी प्रवृत्ति मे काव्य-कृति को कवि या उसकी अन्य काव्य कृतियो के सन्दर्भ के विना समझने का प्रयत्न किया जाता है और ऐसा करते समय कविता के प्रत्येक अवयव, प्रत्येक पंक्ति का विश्लेपण करते हुए उसके अर्थ को निचोडने का प्रयत्न किया जाता है। यह पद्धति काव्य-रस की प्राप्ति मे वाधक है क्योंकि इस निचोडने में कविता का सारा रस निकल जाता है।

ये दोनो पद्धतियाँ काव्य की वस्तुनिष्ठ समीक्षा के दो प्रकार हैं—एक में काव्योद्भव के मूलभूत कारणो की छान-वीन करने को प्राथमिकता दी जाती है, अर्थात् वह कविता को, कवि के सम्बन्ध मे जानकारी जुटाकर, समझने का प्रयत्न करती है। दूसरी में कृति का अध्ययन किया जाता है। इलियट इन दोनो को सीमा के भीतर उपयोगी मानते हैं और चाहते हैं कि साहित्यिक समीक्षक इन दोनो का उपयोग करे, किन्तु साहित्यिक समीक्षक इसलिए है कि वह अन्यो को साहित्य का वोध कराने और साहित्य के आनन्द की उपलब्धि कराने को अपना प्रमुख लक्ष्य मानता है। उसे चाहिये कि वह पाठक के सम्मुख कृति के अनुद्घाटित रूप को उद्घाटित कर दे, पाठक को वह सब कुछ वता दे जिसके सहारे वह कृति की आत्मा के सम्मुख खड़ा हो जाय। काव्य-रस का आस्वादन करने काकार्य उसे पाठक पर ही छोड देना चाहिए। उसका कार्य तो कृति मे व्यक्त देश-काल व्यक्ति-निरपेक्ष, सामान्य मानवीय अनुभूति को पाठक की सवेदना-शक्ति के सम्मुख प्रस्तुत कर देना है। इस प्रकार इलियट ने वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों प्रकार के काव्य-अध्ययनो को काव्यास्वादन के लिए अनिवार्य माना है।

साहित्य का मूल्य—आरम्भ मे इलियट कविता के स्वतन्त्र अस्तित्व और उसकी वस्तुनिष्ठ प्रकृति के प्रवल आग्रही थे, और वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति या आत्मनिष्ठ कविता के विरोधी थे। आरम्भ मे साहित्य के नैतिक मूल्यो के निरूपण की ओर उनका ध्यान प्राय नही था, किन्तु धीरे-धीरे इधर भी उनका ध्यान गया। यद्यपि वह साहित्यिक कृति में साहित्यिक मूल्य को अनिवार्य मानते हैं पर जव यह निश्चित हो जाय कि अमुक कृति साहित्यिक है, यह निश्चित करना भी आवश्यक है कि उसका नैतिक मूल्य क्या है। इसी नैतिक कसौटी पर साहित्य की महानता निर्धारित होगी क्योकि भले ही कवि जान वूझ कर पाठक को प्रभावित न करना चाहे, पर उसकी कृति पाठको पर प्रभाव डाले विना नही रह सकती। इलियट उन लोगो को गलत

तृतीय वर्ग

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन

: २२ :

काव्य-लक्षण

१. लक्षण परिचय
२. काव्य लक्षण की अनिश्चितता
३ सस्कृत काव्यशास्त्रियों के काव्य लक्षण
४ पाश्चात्य काव्य शास्त्र में काव्य लक्षण
५ हिन्दी काव्य शास्त्र में काव्य लक्षण
६ विश्लेषण तथा उपसहार

लक्षण परिचय

'लक्षण' शब्द 'लक्ष' धातु से करण मे 'घञ्' प्रत्यय होकर बना है जिसका अर्थ है—'ऐसा तत्त्व जिसके द्वारा लक्षणीय वस्तु को लक्षित किया जा सके या उसका परिचय प्राप्त किया जा सके ।' व्यवहार निर्वाह के लिये किसी वस्तु का परिचय प्राप्त करना नितान्त अपेक्षणीय ही नही अनिवार्य भी होता है । जब तक हम किसी वस्तु का परिचय प्राप्त न कर लें तब तक हम उसे व्यवहार मे ला ही नही सकते । इस परिचय प्राप्त करने के अनेक साधन हैं—जिस वस्तु को हम पहले जान चुके होते है उसका परिचय हमे उसके नामोल्लेख से भी हो जाता है, इसी प्रकार कोई व्यक्ति अनेक पशुओं से पृथक् कर जब गाय को दिखला देता है तब भी हम उसे लक्षित कर लेते हैं। अत नामोल्लेख और पृथक्करण को भी लक्षण कहा जा सकता है ।

किन्तु शास्त्र मे जिस लक्षण शब्द का प्रयोग होता है वह उक्त लक्षण से कुछ भिन्न है । शास्त्र मे लक्षण का प्रयोजन व्यवहार साधन नही है । शास्त्रीय लक्षण तो बुद्धिमानो की बुद्धि परीक्षा का एक निकषोपल रहा है । लक्षण-निर्माण मे किसी वस्तु की किसी ऐसी विशेषता का उल्लेख करना पडता है जो एक ओर तो लक्ष्य-भूत तत्त्व के क्षेत्र मे आने वाले प्रत्येक द्रव्य मे घटित हो सके दूसरी ओर लक्ष्य व्यतिरिक्त किसी पदार्थ में विद्यमान न हो । स्पष्ट ही है कि इस प्रकार का लक्ष्य बनाना मनीषियो की सूक्ष्मेक्षिका तथा विश्लेषणात्मिका समीक्षा शक्ति से ही सम्भव है । आचार्यों ने लक्षण के दोष बतलाये हैं—अव्याप्ति अर्थात् लक्षण का लक्ष्यभूत किसी तत्त्व मे घटित न होना—जैसे जो 'कपिला हो उसे गाय कहते हैं' यह लक्षण जो कपिला नही है ऐसी गायो में घटित नही होता । दूसरा दोष है अतिव्याप्ति—अर्थात् लक्षण का ऐसे पदार्थ

में भी घटित हो जाना जो सम्भव नहीं है। जैसे 'जिसके खुर फटे हुए हों उसे गाय कहते हैं। यह लक्षण गाय से भिन्न भैंस इत्यादि में घटित हो जाता है। इस प्रकार तर्क संग्रह की दीपिका टीका में लक्षण की परिभाषा यह की हुई है कि 'लक्षण सत्य युत पदार्थ की किसी ऐसी विशेषता को कहते हैं जिसमें अव्याप्ति इत्यादि दोष न हों तथा जो नामोल्लेख इत्यादि व्यवहार-साधक उपायों से भिन्न हो। जैसे 'जिसके सास्ना (गरदन के नीचे लटकती खाल) हो उसे गाय कहते हैं। इसी प्रकार की किसी व्याव र्तक विशेषता का सूक्ष्मेक्षिका के बल पर कथन करना ही लक्षण कहलाता है।

काव्य लक्षण की अनिश्चितता

उक्त प्रकार की लक्षण निर्माण परम्परा तर्क शास्त्र व्याकरण इत्यादि शास्त्रीय क्षेत्रों में तो व्यापक रूप से विद्यमान रही। काव्य शास्त्र के क्षेत्र में भी अलंकार इत्यादि विभिन्न तत्त्वों के लक्षण बनाये जाते रहे किन्तु स्वयं काव्य लक्षण बनाने की प्रवृत्ति कुछ देर से आई। काव्य-लक्षण के अभाव में विवेचक लोग कहीं काव्य प्रशस्ति को ही काव्य-लक्षण समझ बैठते हैं कहीं काव्य के अभिज्ञान या उसके शरीर विवेचन को ही काव्य लक्षण कहने लग जाते हैं। इसीलिए उन लक्षणों में अधिकांश रूप से दोष दिखाई देते हैं।

काव्य के विभिन्न लक्षणों पर विचार करने के पहले एक और बात पर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है। किसी स्थूल द्रव्य अथवा किसी भौतिक तत्व का लक्षण बनाना तो सरल है किन्तु मानसिक धरातल तक ही सीमित तत्वों का निर्दुष्ट लक्षण स्वभावतः कुछ कठिन हो जाता है। यही कारण है कि बहुत समय से काव्य-लक्षण बनाने की चेष्टा की जाती रही और सैकड़ों लक्षण बनाये भी गये किन्तु काव्य का सर्वसम्मत तथा निर्दुष्ट लक्षण आज तक न बन सका। इसका एक दूसरा कारण और भी है—परिस्थितियों और नवीन सम्पर्कों के प्रभाव से काव्य का क्षेत्र और फलतः काव्य का स्वरूप भी बदलता रहता है। इसलिये काव्य के विषय में स्था पित किये हुए पुराने मानदण्ड भी बदलते रहते हैं। यह भी एक कारण है जिससे काव्य का निर्दुष्ट परिष्कृत लक्षण बनाना कुछ कठिन हो जाता है। फिर भी काव्य में एक चिरन्तन सत्य सन्निहित अवश्य रहता है। इसलिये काव्य के स्वरूप को ठीक रूप से हृदयगम करने के लिये प्राचीन मान्यताओं पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों के काव्य लक्षण

भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है जिसे नाट्य और काव्य को एक मानते हुए काव्य शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें काव्य के ३६ लक्षण दिये हुए हैं। किन्तु इस विस्तृत सूची को काव्य की परिभाषा कहलाने का श्रेय प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि परिभाषा तो एक केन्द्र-बिन्दु में समाहित होती है जिसको पकड़कर समस्त लक्ष्य को हृदयगम किया जा सकता है। इस प्रकार के एक

केन्द्र बिन्दु का इसमे अभाव है। दूसरी बात यह है कि इन ३६ लक्षणो को परवर्ती काव्य शास्त्र मे मान्यता भी प्राप्त नही हो सकी। भरतमुनि की निम्नलिखित कारिका काव्य लक्षण परक बतलाई जाती है —

मृदुललित पदाढ्य गूढ शब्दार्थ-हीन।
जनपदसुखबोध्य युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धान युक्त।
स भवति शुभकाव्य नाटकप्रेक्षकाणाम्॥

अर्थात् 'नाटक का अवलोकन करने वालो के लिये शुभ काव्य वह होता है जिसकी रचना कोमल और ललित पदो से की गई हो, जिसमे शब्द और अर्थ गूढ न हो, जिसको जन साधारण सरलता से समझ सके, जो तर्क सगत हो, जिसमे नृत्य की योजना की जा सके, जिसमे भिन्न-भिन्न प्रकार के रस स्वीकार किये गये हो और जिसमे कथानक सन्धियो का पूरा निर्वाह किया गया हो।' यह परिभाषा निस्सन्देह व्यापक है और इसमे लालित्य, प्रसाद, रस और कथानक योजना इत्यादि अनेक तत्वो को काव्य मे स्वीकार किया गया है। किन्तु एक तो यह पद्य परिभाषा के रूप मे नही लिखा गया है, काव्य का प्राशस्त्य मात्र है, दूसरे इसका लक्ष्य नाट्य विशेष है सामान्य काव्य नही, तीसरी बात यह है कि इसमे किसी एक तत्व को प्रधानता देकर इतर तत्वो को उसी परिवेष में देखने की चेष्टा नही की गई है। अत यह काव्य का सफल लक्षण नहीं कहा जा सकता।

काव्य शास्त्र के दूसरे आचार्य हैं भामह। इन्होने भी काव्य के परिष्कृत लक्षण देने की चेष्टा नही की है। इनका एक वाक्य—'शब्दार्थौ सहितौकाव्यम्' काव्य लक्षण के रूप मे अधिकतर उद्धृत किया जाता है। किन्तु शब्द और अर्थ को काव्य कहना स्वय अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। शब्द और अर्थ का साहित्य तो शास्त्र मे तथा लोक व्यवहार मे भी होता है। दूसरी बात यह है कि प्रकरण को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भामह काव्य-लक्षण पर विचार नही कर रहे थे, वे काव्य के अधिष्ठान का निर्णय कर रहे थे। इस दिशा मे अपने से पूर्ववर्ती विचारको की विचारधारा को उन्होने दो भागो मे विभाजित किया—एक ओर वे लोग हैं जो रूपक इत्यादि अर्थालकारो को काव्य का व्यावर्तक धर्म मानते हैं, दूसरी ओर वे विचारक हैं जो रूपक इत्यादि को बाह्यधर्म मानकर शब्द व्युत्पत्ति को ही काव्य मे मुख्य तत्व के रूप मे स्वीकार करते हैं। भामह का निष्कर्ष है कि शब्दालकार और अर्थालकार दोनो ही काव्य मे अभीष्ट माने जाते हैं। अतएव शब्द और अर्थ दोनो मे काव्यत्व रहता है यही भामह का प्रकरण है। इसमे काव्य-लक्षण की बात ही नही उठती। हा यदि हम चाहें तो भामह के काव्य-लक्षरण का अनुसन्धान कर सकते हैं। एक निष्कर्ष तो यह निकाला जा सकता है कि ये अलकार को ही काव्य की आत्मा मानते हैं और उसके दो भेद करते हैं—शब्दालकार तथा अर्थालकार और दोनो को समान महत्व देने के पक्षपाती हैं। दूसरी बात यह है कि अलकारो की आत्मा ये वक्रोक्ति को मानते है।

अनेकधा' इन्होंने अलंकारों की सत्ता का निर्णय वक्रोक्ति के आधार पर किया है। एक स्थान पर इन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि अर्थ की वक्रता और शब्द की वक्रता ही काव्य में अलंकार मानी जाती है। भामह ने काव्य में रीति भेद स्वीकार नहीं किया है। इनका कहना है कि जिसमें अर्थ का पोषण न हो सका हो जिसमें वक्रोक्ति न हो जो सीधे रूप से कोमलता के साथ कह दिया गया हो वह तो काव्य नहीं हो सकता वह काव्य से भिन्न कोई अन्य वस्तु संगीत ही कहा जा सकता है। यदि गौड़ी रीति में अलंकार हों ग्राम्यता दोष न हो अर्थ महत्वपूर्ण तथा न्याय्य हो तथा उसमें आकुलता न हो तो गौडी रीति भी अच्छी मानी जा सकती है इसके प्रतिकूल यदि वैदर्भी रीति में भी ये तत्व न हों तो वह भी अच्छी नहीं मानी जा सकती। इन सब कथनों की संगति के आधार पर भामह के मत से काव्य-लक्षण इस प्रकार बनाया जा सकता है— 'काव्य ऐसे शब्द और अर्थ के साहित्य को कहते हैं जिसमें वक्रोक्ति-जन्य अलंकार विद्यमान हों अर्थ का पोषण हो गया हो न उसमें ग्राम्यता दोष हो और न आकुलता हो।

भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' को अनेक परवर्ती आचार्यों ने काव्य लक्षण के रूप में ग्रहण किया और 'शब्दार्थ' को अथवा 'शब्दार्थ साहित्य' को काव्य सत्ता प्रदान की किन्तु अधिकांशतः ने उसके साथ अपने दृष्टिकोण को भी समन्वित करते गये। रुद्रट ने सामान्य रूप से 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' कह कर शब्द और अर्थ की काव्यानुकूल प्रभावक विशेषताओं की व्याख्या की है तथा चारुतापूर्ण शब्द और अर्थ के उपादान पर ही बल दिया है। आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त ने रुद्रट के स्वर में स्वर मिलाकर 'शब्दार्थौ काव्यम्' यह परिभाषा तो स्वीकार की किन्तु अपनी ओर से इतना और जोड़ दिया कि शब्द और अर्थ काव्य शरीर होते हैं। उनमें कोई आत्मा अवश्य होनी चाहिये और वह आत्मा है ध्वनि।

भामह के दृष्टिकोण को विशेष रूप से पल्लवित करने वाले आचार्य हैं कुन्तक। इन्होंने वक्रोक्ति जीवित लिखकर भामह के मत का ही पल्लवन किया है। भामह ने काव्य में सर्वाधिक महत्व वक्रोक्ति को प्रदान किया था। उसी आधार पर कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन बतलाया। अपने दृष्टिकोण के अनुसार भामह के लक्षण का उन्होंने शोधन किया और लक्षण में शब्द और अर्थ की विशेषताओं को भी सन्निविष्ट करने की चेष्टा की। कुन्तक की निर्दुष्ट काव्य लक्षण प्रस्तुत करने की चेष्टा स्पष्ट परिलक्षित होती है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।"

कुन्तक के अनुसार 'शब्दार्थ साहित्य' को काव्य कहते हैं जो कि रचना में मिलना चाहिये। किन्तु यह साहित्य एक ऐसा सामान्य तथा अनिवार्य तत्व है कि कहीं भी शब्द के बिना अर्थ और अर्थ के बिना शब्द था ही नहीं सकते। अतएव कुन्तक का

केन्द्र विन्दु का इसमे अभाव है। दूसरी वात यह है कि इन ३६ लक्षणो को परवर्ती काव्य शास्त्र मे मान्यता भी प्राप्त नही हो सकी। भरतमुनि की निम्नलिखित कारिका काव्य लक्षण परक वतलाई जाती है —

मृदुललित पदाढ्य गूढ़ शव्दार्थ-हीनं।
जनपदसुखवोध्य युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
वहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धान युक्त।
स भवति शुभकाव्य नाटकप्रेक्षकाणाम्॥

अर्थात् 'नाटक का अवलोकन करने वालो के लिये शुभ काव्य वह होता है जिसकी रचना कोमल और ललित पदो से की गई हो, जिसमे शव्द और अर्थ गूढ न हो, जिसको जन साधारण सरलता से समझ सके, जो तर्क सगत हो, जिसमे नृत्य की योजना की जा सके, जिसमे भिन्न-भिन्न प्रकार के रस स्वीकार किये गये हो और जिसमे कथानक सन्धियो का पूरा निर्वाह किया गया हो।' यह परिभाषा निस्सन्देह व्यापक है और इसमे लालित्य, प्रसाद, रस और कथानक योजना इत्यादि अनेक तत्वो को काव्य मे स्वीकार किया गया है। किन्तु एक तो यह पद्य परिभाषा के रूप मे नही लिखा गया है, काव्य का प्राशस्त्य मात्र है, दूसरे इसका लक्ष्य नाट्य विशेष है सामान्य काव्य नही, तीसरी वात यह है कि इसमें किसी एक तत्व को प्रधानता देकर इतर तत्वो को उसी परिवेष मे देखने की चेष्टा नही की गई है। अत यह काव्य का सफल लक्षण नहीं कहा जा सकता।

काव्य शास्त्र के दूसरे आचार्य हैं भामह। इन्होने भी काव्य के परिष्कृत लक्षण देने की चेष्टा नही की है। इनका एक वाक्य—'शव्दार्थौ सहितौकाव्यम्' काव्य लक्षण के रूप मे अधिकतर उद्धृत किया जाता है। किन्तु शव्द और अर्थ को काव्य कहना स्वय अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। शव्द और अर्थ का साहित्य तो शास्त्र मे तथा लोक व्यवहार मे भी होता है। दूसरी वात यह है कि प्रकरण को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भामह काव्य-लक्षण पर विचार नही कर रहे थे, वे काव्य के अधिष्ठान का निर्णय कर रहे थे। इस दिशा मे अपने से पूर्ववर्ती विचारको की विचारधारा को उन्होंने दो भागो मे विभाजित किया—एक ओर वे लोग हैं जो रूपक इत्यादि अर्था-लकारो को काव्य का व्यावर्तक धर्म मानते हैं, दूसरी ओर वे विचारक हैं जो रूपक इत्यादि को वाह्यधर्म मानकर शव्द व्युत्पत्ति को ही काव्य मे मुख्य तत्व के रूप मे स्वीकार करते हैं। भामह का निष्कर्ष है कि शव्दालकार और अर्थालकार दोनो ही काव्य मे अभीष्ट माने जाते हैं। अतएव शव्द और अर्थ दोनो मे काव्यत्व रहता है यही भामह का प्रकरण है। इसमे काव्य-लक्षण की वात ही नही उठती। हा यदि हम चाहें तो भामह के काव्य-लक्षण का अनुसन्धान कर सकते हैं। एक निष्कर्ष तो यह निकाला जा सकता है कि ये अलकार को ही काव्य की आत्मा मानते हैं और उसके दो भेद करते हैं—शव्दालकार तथा अर्थालकार और दोनो को समान महत्व देने के पक्षपाती हैं। दूसरी वात यह है कि अलकारो की आत्मा ये वक्रोक्ति को मानते हैं।

अनेकधा' इन्होंने अलंकारों की सत्ता का निर्णय वक्रोक्ति के आधार पर किया है। एक स्थान पर इन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि अर्थ की वक्रता और शब्द की वक्रता ही काव्य में अलंकार मानी जाती है। भामह ने काव्य में रीति भेद स्वीकार नहीं किया है। इनका कहना है कि जिसमें अर्थ का पोषण न हो सका हो जिसमें वक्रोक्ति न हो जो सीधे रूप में कोमलता के साथ कह दिया गया हो वह तो काव्य नहीं हो सकता वह काव्य से भिन्न कोई अन्य वस्तु संगीत ही कहा जा सकता है। यदि गौड़ी रीति में अलंकार हो ग्राम्यता दोष न हो अर्थ महत्वपूर्ण तथा न्याय्य हो तथा उसमें आकुलता न हो तो गौडी रीति भी अच्छी मानी जा सकती है' इसके प्रतिकूल यदि वैदर्भी रीति में भी ये तत्व न हों तो वह भी अच्छी नहीं मानी जा सकती। इन सब कथनों की समष्टि के आधार पर भामह के मत में काव्य-लक्षण इस प्रकार बताया जा सकता है— 'काव्य ऐसे शब्द और अर्थ के साहित्य को कहते हैं जिसमें वक्रोक्ति-जन्य अलंकार विद्यमान हो' अर्थ का पोषण हो गया हो न उसमें ग्राम्यता दोष हो और न आकुलता हो।

भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' को अनेक परवर्ती आचार्यों ने काव्य लक्षण के रूप में ग्रहण किया और 'शब्दार्थ' को अथवा 'शब्दार्थ साहित्य' को काव्य संज्ञा प्रदान की किन्तु अधिकांशतः ने उसके साथ अपने दृष्टिकोण को भी समन्वित करते गये। रुद्रट ने सामान्य रूप से 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' कह कर शब्द और अर्थ की काव्यानुकूल अनेक विशेषताओं की व्याख्या की है तथा चारुत्वपूर्ण शब्द और अर्थ के उपादान पर ही बल दिया है। आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त ने रुद्रट के स्वर में स्वर मिलाकर 'शब्दार्थौ काव्यम्' यह परिभाषा तो स्वीकार की किन्तु अपनी ओर से इतना और जोड़ दिया कि शब्द और अर्थ काव्य शरीर होते हैं। उसमें कोई आत्मा अवश्य होनी चाहिये और वह आत्मा है ध्वनि।

भामह के दृष्टिकोण को विशेष रूप से पल्लवित करने वाले आचार्य हैं कुन्तक। इन्होंने वक्रोक्ति जीवित लिखकर भामह के मत का ही पल्लवन किया है। भामह ने काव्य में सर्वाधिक महत्व वक्रोक्ति को प्रदान किया था। उसी आधार पर कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन बतलाया। अपने दृष्टिकोण के अनुसार भामह के लक्षण का इन्होंने शोधन किया और लक्षण में शब्द और अर्थ की विशेषताओं को भी सन्निविष्ट करने की चेष्टा की। कुन्तक की निर्दुष्ट काव्य लक्षण प्रस्तुत करने की चेष्टा स्पष्ट परिलक्षित होती है। उनका लक्षण इस प्रकार है —

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि।

कुन्तक के अनुसार 'शब्दार्थ साहित्य' को काव्य कहते हैं; जोकि रचना में मिलना चाहिये। किन्तु यह साहित्य एक ऐसा सामान्य तथा अनिवार्य तत्व है कि कहीं भी शब्द के बिना अर्थ और अर्थ के बिना शब्द आ ही नहीं सकते। अतएव कुन्तक का

कहना है कि काव्य लक्षण मे विशिष्ट प्रकार का साहित्य अपेक्षित होता है । काव्यवन्ध अथवा रचना लावण्य इत्यादि गुणो और अलकारो से शोभित होनी चाहिये और उसमे वर्तमान शव्द और अर्थ एक दूसरे से स्पर्धा कर होने चाहिए । अर्थात् एक शव्द दूसरे शव्द की अपेक्षा और एक अर्थ दूसरे अर्थ की अपेक्षा अधिक अच्छा होने का दावा कर रहा हो । साथ ही शव्दार्थ सन्निवेश ऐसा होना चाहिये जो लोक और शास्त्र मे प्रसिद्ध शव्दार्थसन्निवेश से विलक्षण तथा व्यतिरिक्त हो इस विलक्षणता तथा व्यतिरिक्तता को ही कुन्तक ने वक्रता की सज्ञा प्रदान की है और उसको ६ प्रकारो मे विभाजित किया है। कुन्तक के मत मे काव्यवन्ध की दूसरी विशेषता यह होनी चाहिये कि उससे सहृदयो को आह्लाद प्राप्त हो सके । कुन्तक के अनुसार काव्य लक्षण का सार यह है कि यद्यपि एक अर्थ के वाचक अनेक शव्द होते हैं किन्तु कवि को उनमे से छाँटकर ऐसा ही शव्द रखना पडता है जो कवि के विवक्षित अर्थ को कहने मे सर्वाधिक सक्षम हो और अर्थ भी ऐसा ही होना चाहिये जो स्वभाव से ही सहृदयो को आह्लाद देने मे समर्थ हो । आशय यह है कि किसी विशिष्ट परिस्थिति मे अनेक विकल्प विद्यमान रहते हैं, कवि को उनमे ऐसा ही विकल्प चुनना पडता है कि स्वभावत इतना रमणीय हो कि सहृदय स्वय ही आनन्दित हो उठें । इस प्रकार के शव्द और अर्थ को वक्रता के साथ ऐसे सन्निवेश मे आवद्ध करना चाहिये जिससे स्वय मर्मज्ञो को आह्लाद देने की शक्ति हो तथा जो सामान्यत लोक और शास्त्र मे न देखे जाते हो । शव्द और अर्थ के इस प्रकार के गुम्फन को ही कुन्तक के मत मे काव्य कहा जाता है ।

मम्मट ने भी शव्द और अर्थ दोनो को काव्य सज्ञा प्रदान की है । उनका मत है कि—दोष रहित और गुण सहित शव्द और अर्थ को काव्य कहा जाता है जिसमे कहीं अलकार न भी हो तो भी काव्यत्व की हानि नही होती ।' मम्मट के मत मे गुण तो काव्य के नित्य धर्म हैं और अलकार अनित्य । गुण काव्य शोभा का सम्पादन करने वाले होते हैं और अलकार उसकी अतिशयता को वढाने वाले होते हैं । इसीलिए मम्मट के मत मे गुणो का होना अनिवार्य है अलकारो का नही । मम्मट का ही मत अनेक अन्य आचार्यो ने भी माना है । हेमचन्द्र का लक्षण—'अदोषौ, सगुणौ सालकारौ च शव्दार्थौ काव्यम्'मे मम्मट से केवल यही भेद है कि मम्मट अलकारो को काव्य का अनिवार्य धर्म नही मानते जवकि हेमचन्द्र ने लक्षण में अलकारो को अनिवार्य वना दिया है । विद्यानाथ ने भी 'गुणालकार सहित और दोषवर्जित शव्दार्थ को काव्य कहा है । इसी प्रकार वृद्ध वाग्भट ने भी लिखा है —

साधुशब्दर्थसन्दर्भंगुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोयेत काव्य कुर्वीत कीर्तये ॥

अर्थात् काव्य सुन्दर शव्द और अर्थ का ऐसा सन्दर्भ है जो गुण और अलकार से आभूषित होता है और जिसमें रीति और रस स्फुट रूप मे विद्यमान होते हैं । ऐसे काव्य की रचना कवि को कीर्ति प्राप्त करने के लिए करनी चाहिये । द्वितीय वाग्भट

ने भी काव्यानुशासन में लिखा है—'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्राय: सालंकारौ काव्यम्'। यह लक्षण मम्मट के लक्षण का प्रतिरूप है।

ऊपर जिन आचार्यों के काव्य लक्षण दिये गये हैं वे शब्द और अर्थ को काव्य में समान महत्व देने के पक्षपाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य आचार्य ऐसे भी हैं जो शब्द को अधिक महत्व देते हैं और केवल शब्द को ही काव्य कहकर अर्थ का उसमें सहयोग मात्र मानते हैं। दण्डी ने काव्य का यह लक्षण दिया है—'शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' अर्थात् काव्य शरीर एसी पदावली है जो कवि के अभीष्ट अर्थ-प्रत्यायन में समर्थ हो। दण्डी ने मार्गों का भी वर्णन किया है और अलंकारों का विवेचन किया है तथा निष्कर्ष रूप में कहा है कि काव्य सम्बन्धी जितने भी तत्त्व हैं उन सबको हम अलंकार ही कहते हैं। इसका आशय यह है कि दण्डी पदावली को काव्य का शरीर मानते हैं और अलंकार को उसका विशेष धर्म। अग्नि पुराण में दण्डी की इसी पदावली को उसके धर्मों के साथ काव्य रूप में स्वीकार किया गया है—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।

काव्यं स्फुटदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्॥

अर्थात् संक्षेप में कहा जा सकता है कि इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न पदावली को काव्य कहते हैं। ऐसा वाक्य ही काव्य होता है जिसमें अलंकार स्फुटित हो रहा हो जिसमें काव्य गुण विद्यमान हो और जिसमें दोषों की सत्ता न हो। चन्द्रालोककार जयदेव ने भी काव्य में वाणी (शब्द) को प्रधानता दी है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीति गुणभूषणा।

सालंकार रसानेक वृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥

अर्थात् ऐसी वाणी को काव्य का नाम दिया जाता है जिसमें दोष न हो लक्षण (भरत मुनि के बतलाये हुए ३६ लक्षण) विद्यमान हों जिसमें रीतियाँ हों और जो गुणों से विभूषित हो तथा जिसमें अलंकार रस तथा अनेक वृत्तियाँ सन्निहित हो।

काव्य लक्षण पर विश्वनाथ ने विशेष विस्तार के साथ विचार किया है। उन के मत में काव्य लक्षण में दोष साहित्य का उपादान ठीक नहीं क्योंकि दोष तो काव्य की उपादेयता का ही तारतम्य कर सकते हैं। काव्यत्व सम्पादन का काम वे नहीं कर सकते। यहाँ तक कि उत्तम काव्य में भी दोष दिखलाये जा सकते हैं तो क्या इसी आधार पर उनको उत्तम काव्यत्व से ही नहीं काव्यत्व से भी च्युत कर दिया जावेगा? गुण और अलंकार का भी काव्य लक्षण में समावेश ठीक नहीं। क्योंकि ये दोनों तत्त्व रसो-न्मुख होकर ही सत्ता धारण करते हैं। अतएव रस को ही काव्य लक्षण में स्थान मिलना चाहिए गुण और अलंकार को नहीं। इसी प्रसंग में विश्वनाथ ने वामन आनंद-वर्धन और कुन्तक की काव्यात्मक विषयक मान्यता से भी असहमति प्रकट की है। उनका कहना है कि रीति तो काव्य-शरीर का अंग संगठन मात्र है। अंग संगठन को कोई भी आत्मा नहीं मान सकता। यदि ध्वनिमात्र को काव्य की आत्मा न कहकर

केवल रसध्वनि को ही काव्य की ग्रात्मा कहा जाता है तो विश्वनाथ को उससे असहमति नही है। वक्रोक्ति तो ग्रलकार मात्र है उसे ग्रात्मा के रूप मे स्वीकार कौन कर सकता है ? ग्रत विश्वनाथ के मत मे काव्य की ग्रात्मा रस ही है ग्रौर रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा जाता है। काव्य लक्षण मे गौण रूप से नही मुख्य रूप से रस का उल्लेख कर विश्वनाथ ने ग्रपने लक्षण को ग्रधिकाधिक पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो ध्वनिकार ने भी रस को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। भामह दण्डी रुद्रट उद्भट जैसे ग्रलकारवादियो की दृष्टि मे भी रस का कम महत्व नही है। यह दूसरी बात है कि एक मात्र रस को ही स्वीकार कर काव्य के सभी तत्व गतार्थ नही हो जाते फिर भी विश्वनाथ का लक्षण एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की स्वीकृति है इसमे सन्देह नही।

सस्कृत काव्य शास्त्र के प्रौढ व्याख्याता तथा विवेचक पडितराज जगन्नाथ का काव्य लक्षण 'रमणीयार्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा जाता है। ग्रत्यन्त महत्व पूर्ण है। इसमे काव्य को शब्दनिष्ठ माना गया है तथा लोक व्यवहार की साक्षी देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई कि काव्यत्व केवल शब्द मे रहता है। ग्रर्थ तथा तद्गत रमणीयता तो प्रतिपाद्य है। वह शब्द के द्वारा प्रतिपादित होती है। ग्रत काव्य मे शब्द ही मुख्य है। ग्रर्थ उसकी एक विशेषता है। काव्य लक्षण मे रमणीयता का समावेश कर पण्डितराज ने उसे पर्याप्त व्यापक बना दिया है। इस रमणीयता के ग्रदर ग्रानन्दवर्धन का लोकोत्तर ग्राह्लाद, वामन का सौन्दर्य, दण्डी का इष्टार्थ, कुन्तक का वक्रताजन्य ग्राह्लाद ग्रादि सभी कुछ ग्रा जाता है। इस लक्षण से शब्द ग्रौर ग्रर्थ के सम्बन्ध पर भी यथेष्ट प्रकाश पड जाता है।

ऊपर सस्कृतके ग्राचार्यों के जो मत दिये गये हैं उनमे या तो काव्य को शब्दार्थगत माना गया है या शब्द मात्र गत। इसके ग्रतिरिक्त कुछ ग्राचार्य ऐसे भी हैं जो काव्य लक्षण मे शब्द या ग्रर्थ किसी का भी उल्लेख नही करते। उनके लक्षणो मे केवल काव्य तत्त्वो का उल्लेख कर दिया गया है। वामन का लक्षण इसी प्रकार का है 'काव्य ग्राह्यमलकारात्, सौन्दर्य ग्रलकार, सदोषगुणालकार हानादानाभ्याम्' ग्रर्थात् ग्रलकार से काव्यग्राह्य होता है, सौन्दर्य को ग्रलकार कहा जाता है, वह सौन्दर्य दोषो के परित्याग ग्रौर गुण तथा ग्रलकारो ग्रादान के द्वारा सम्पादित किया जाता है। किंतु इन सूत्रो की वृत्ति मे वामन ने स्पष्ट कर दिया है कि वे काव्य को शब्दार्थोभयगत मानने के पक्षपाती हैं, उनका कहना है कि 'काव्य शब्द गुण तथा ग्रलकार से सस्कृत शब्द ग्रौर ग्रर्थ के लिए प्रयुक्त होता है—लक्षणा से केवल शब्द ग्रौर ग्रर्थ को भी काव्य कह दिया जाता है। इसके ग्रतिरिक्त वामन ने गुण ग्रौर ग्रलकार के महत्व का तारतम्य भी प्रतिपादित किया है ग्रौर कहा है कि गुण नित्य धर्म होते हैं तथा ग्रलकार ग्रनित्यधर्म। साथ ही इन्होने रीति को काव्य की ग्रात्मा कहकर काव्य मे ग्रात्मतत्त्व के ग्रनुसधान का सफल सूत्रपात किया। लक्षण मे शब्द या ग्रर्थ दोनो मे किसी का उल्लेख न करने वाले दूसरे ग्राचार्य हैं—धनञ्जय। इन्होने कवि तथा सहृदय की

भावना को महत्व दिया है और कहा है कि कवि जिस वस्तु का उपादान करता है वह चाहे रमणीय हो चाहे घृणास्पद चाहे उदार हो चाहे नीच चाहे उग्र हो चाहे प्रसाद करने वाली चाहे गहन हो चाहे विकृत चाहे सत्ता वाली वस्तु हो चाहे सत्ताहीन संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें कवि भावना और सहृदय की भावना के स्पर्श से रमणीयता नहीं आ जाती :—

रम्यं जुगुप्सित उदार यथापि नीचम्
उग्र प्रसादि गहन विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैतिलोके।

इसी प्रकार भोजराज ने भी काव्य लक्षण में शब्द और अर्थ किसी का भी उल्लेख न कर सामान्यतया काव्य की ही विशेषतायें बतला दी हैं—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् प्रीतिं कीर्तिं च विन्दति।

अर्थात् दोष रहित गुण सहित अलंकारों से अलंकृत और रसान्वित काव्य की रचना करते हुये कवि कीर्ति और प्रीति को प्राप्त होता है। संस्कृत काव्य शास्त्रियों के काव्य लक्षण का यही संक्षिप्त परिचय है।

पाश्चात्य काव्य शास्त्र में काव्य लक्षण

भरत मुनि ने त्रैलोक्यानुकृति को नाट्य कहकर अनुकरण की नाटक में अनिवार्यता उद्घोषित की थी। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी कतिपय आलोचकों द्वारा अनुकरण को काव्य लक्षण में सन्निविष्ट किया गया है। अरस्तू ने काव्य लक्षण में अनुकरण सिद्धान्त को महत्व दिया है। अरस्तू के अनुसार काव्य एक कला है जिसका मौलिक तत्व है अनुकरण। यह अनुकरण भाषा के माध्यम से हुआ करता है। फिलिप सिडनी ने भी काव्य को अनुकरण बतलाया है। 'यदि रूपक के रूप में काव्य के स्वरूप को अभिव्यक्त किया जाय तो कहा जायेगा कि कविता एक बोलता हुआ चित्र है।' डैनिस ने कविता को प्रकृति का अनुकरण बतलाया है। इस अनुकरण में संवेदनात्मक तथा संगीतात्मक भाषा ही माध्यम का काम देती है।

Poetry is an imitation of nature by a pathetic and numerous speech

डैनिस के समान ही अन्य आलोचकों ने भी कविता में छन्दोबद्धता को महत्व दिया है। कार्लाइल ने संगीतात्मक विचारों को कविता में महत्वपूर्ण माना है। उनका कहना है कि—

For my own part I find considerable meaning in the old vulgar distinction of poetry being metrical having sound in it being a song A musical thought is one spoke by a mind that has

penetrated into the inmost heart of the thing, detected the inmost mystary of it"

अर्थात् जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मुझे कविता के पुराने लोक साहित्य मे जो छन्दोबद्ध रचना होती है, जिसमे स्वर साधना होती है जो एक सगीत होता है अत्यधिक तत्त्व दिखलाई देता है सगीतात्मक चिंतन एक तत्व है जो ऐसे मस्तिष्क द्वारा व्यक्त किया जाता है जो किसी वस्तुके अन्तस्तम मे प्रविष्ट हो जाता है और उस के आतरिक रहस्य को उद्घाटित कर सकता है। कार्लाइल का आशय यही है कि कवि किसी वस्तु की अन्तरात्मा मे क्षिप्रता से प्रवेश कर जाता है और उसके अन्तरतम रहस्य को एकदम हृदयगम कर लेता है। तब उसकी विचारधारा सगीत के रूप मे फूट पडती है। वह सगीत ही काव्य है। जानसन ने भी छन्दोबद्ध रचना (metrical (composition) को कविता कहा है। इन्होने अन्यत्र कहा है कि कविता सत्य और आह्लाद का मेल है जिसमे बौद्धिकता को कल्पना का सहारा लेना पडता है।

कालरिज ने गद्य तथा कविता मे यह अन्तर बतलाया है। गद्य मे शब्दो का क्रम ठीक होता है और कविता मे सर्वोत्तम शब्दो का क्रम सर्व सुन्दर होता है। निश्चय ही यहाँ पर कालरिज का ध्यान छन्दोबद्धता की ओर है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने कविता को सर्वाधिक आनन्द साधन तथा उच्चारण का पूर्ण रूप बतलाया है।

"Poetry is simply the most delightful and perfect form of utterance that human words can reach"

विलियन हैजीलिट ने भी कविता को भावना और कल्पना की सर्वोच्च भाषा कहा है।

ईगर एलन पो ने कविता, सगीत और गद्य का अन्तर स्पष्ट करते हुये लिखा है कि जब सगीत के साथ आनन्दप्रवण अर्थ तत्त्व का योग हो जाता है तब वह कविता बन जाती है, अर्थ तत्त्व से हीन सगीत केवल सगीत है और सगीतहीन अर्थ तत्त्व गद्य मात्र है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना कहा है। यह आलोचना उन उपबन्धो का अनुसरण करती है जो कि इस प्रकार की आलोचना के लिये काव्य सत्य और काव्य सौन्दर्य के नियमो द्वारा निर्धारित की जाती है।

वाटस डण्टन ने भावनात्मक तथा सगीतात्मक भाषा मे मानव मस्तिष्क की सघन तथा कलात्मक अभिव्यक्ति कहा है—

"[Poetry is] the concrete and artistic expression of the human mind in emotional and rhythmical language"

क्रोचे ने कला को एक अन्तर्ज्ञान कहा है—

"Intution, vision, contemplation imagination, fancy, figurations, representations and so on are the words continually recurring like synonyms, when discoursing upon art"

टाल्स्टाय ने लिखा है कि कला एक मानव व्यापार है जिसमे मानव अपनी उन भावनाओ को वाह्य सकेतो द्वारा समझ-बूझकर दूसरो को प्रदान करता है जिनमे

वह निरन्तर जीवित रहा है तथा दूसरे व्यक्ति भी उन भावनाओं से भर जाते हैं और वैसा ही अनुभव करने लगते हैं। इस प्रकार की भावनाओं को दूसरों में जागृत करने का क्रम यह है कि मानव ने एक बार जिन भावनाओं का अनुभव किया है उनको सर्वप्रथम अपने अन्दर उज्जीवित करे और फिर चेष्टाओं रेखाओं रंगों स्वरों अथवा शब्दों द्वारा अभिव्यक्त स्वरूपों द्वारा इस प्रकार दूसरों में वही भावना सञ्चारित कर दे जिससे दूसरे लोग भी उसी प्रकार उस भावना का अनुभव करने लगें। टाल्स्टाय सौन्दर्य या परमात्मा सम्बन्धी किसी रहस्यमय विचार के अभिव्यञ्जन को कला कहने के पक्षपाती नहीं हैं जैसा कि कतिपय अध्यात्मवादी समझते हैं और न ही यह कवि के मन के अतिरिक्त ओज का निष्कासन है जैसा कि कुछ मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य शास्त्री समझते हैं। बाह्य संकेतों द्वारा मानव भावों का यह अभिव्यंजन भी नहीं है यह आनन्ददायक वस्तु को सर्वथा भी नहीं है और सबसे बड़ी बात यह है कि यह आनन्द मात्र भी नहीं है। किन्तु मानव मानव के मिलाने का एक ही भावना में एक साथ मानवमात्र को सम्मिलित करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। व्यक्ति तथा मानवता के जीवन विकास के लिये यह एक अनिवार्य तत्त्व है। वर्ड्स्वर्थ ने शान्ति के क्षणों में स्मृतभाव तथा प्रबल मनोवेगों के सहज उच्छलन को कविता कहा है। शैले ने कल्पना-प्रसूत तत्त्व की अभिव्यक्ति को कविता कहा है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों की दृष्टि से काव्य-स्वरूप का यही संक्षिप्त परिचय है।

हिन्दी काव्य-शास्त्र में काव्य-लक्षण

हिन्दी के लक्षणों में अधिकतर मौलिकता नहीं है। रीतिकाल के लक्षण संस्कृत काव्यशास्त्र से प्रभावित हैं और आधुनिक काल के लक्षण या तो संस्कृत से या अंग्रेज़ी से प्रभावित हैं। रीतिकाल में काव्यप्रकाश के लक्षण का अधिक प्रभाव दिखाई देता है। चिन्तामणि ने काव्य का यह लक्षण दिया है—

सगुन अलंकारन सहित दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारी कवित विबुध कहत सब कोइ॥

मम्मट के लक्षण से इसमें अन्तर यही है कि इसमें अलंकार को अनिवार्य मान लिया गया है। कुलपति मिश्र ने एक ओर तो काव्यप्रकाश का लक्षण दिया है—

दोष रहित अरु गुन सहित कछुक अल्प अलंकार।
सबद अरथ सो कवित है ताको करौ विचार॥

दूसरी ओर साहित्यदर्पण के लक्षण का भी समन्वय कर एक नया लक्षण दिया है जिसमें लोकोत्तरता चमत्कारनिष्ठता और रसात्मकता को सम्मिविष्ट कर समन्वयात्मक लक्षण देने की चेष्टा की गई है

जगते अद्भुत सुखसदन सब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियौ समुझि ग्रन्थ बहु चित्त॥

देव की प्रवृत्ति प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल मत देने की थी। इसीलिये ध्वनि

penetrated into the inmost heart of the thing, detected the inmost mystary of it"

अर्थात् जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मुझे कविता के पुराने लोक साहित्य मे जो छन्दोवद्ध रचना होती है, जिसमे स्वर साधना होती है जो एक सगीत होता है अत्यधिक तत्त्व दिखलाई देता है सगीतात्मक चिंतन एक तत्व है जो ऐसे मस्तिष्क द्वारा व्यक्त किया जाता है जो किसी वस्तुके अन्तस्तम मे प्रविष्ट हो जाता है और उस के आतरिक रहस्य को उद्घाटित कर सकता है। कार्लाइल का आशय यही है कि कवि किसी वस्तु की अन्तरात्मा मे क्षिप्रता से प्रवेश कर जाता है और उसके अन्तरतम रहस्य को एकदम हृदयगम कर लेता है। तव उसकी विचारधारा सगीत के रूप मे फूट पडती है। वह सगीत ही काव्य है। जानसन ने भी छन्दोब्रद्ध रचना (metrical (composition) को कविता कहा है। इन्होने अन्यत्र कहा है कि कविता सत्य और आह्लाद का मेल है जिसमे बौद्धिकता को कल्पना का सहारा लेना पडता है।

कालरिज ने गद्य तथा कविता मे यह अन्तर वतलाया है। गद्य मे शब्दो का क्रम ठीक होता है और कविता मे सर्वोत्तम शब्दो का क्रम सर्व सुन्दर होता है। निश्चय ही यहां पर कालरिज का ध्यान छन्दोवद्धता की ओर है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने कविता को सर्वाधिक आनन्द साधन तथा उच्चारण का पूर्ण रूप बतलाया है।

"Poetry is simply the most delightful and perfect form of utterance that human words can reach"

विलियन हैजीलिट ने भी कविता को भावना और कल्पना की सर्वोच्च भाषा कहा है।

ईगर एलन पो ने कविता, सगीत और गद्य का अन्तर स्पष्ट करते हुये लिखा है कि जब सगीत के साथ आनन्दप्रवण अर्थ तत्त्व का योग हो जाता है तव वह कविता बन जाती है, अर्थ तत्त्व से हीन सगीत केवल सगीत है और सगीतहीन अर्थ तत्त्व गद्य मात्र है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना कहा है। यह आलोचना उन उपबन्धो का अनुसरण करती है जो कि इस प्रकार की आलोचना के लिये काव्य सत्य और काव्य सौन्दर्य के नियमो द्वारा निर्धारित की जाती है।

वाटस डण्टन ने भावनात्मक तथा सगीतात्मक भाषा मे मानव मस्तिष्क की सघन तथा कलात्मक अभिव्यक्ति कहा है—

"[Poetry is] the concrete and artistic expression of the human mind in emotional and rhythmical language"

क्रोचे ने कला को एक अन्तर्ज्ञान कहा है—

"Intution, vision, contemplation imagination, fancy, figurations, representations and so on are the words continually recurring like synonyms, when discoursing upon art"

टाल्स्टाय ने लिखा है कि कला एक मानव व्यापार है जिसमे मानव अपनी उन भावनाओ को बाह्य सकेतो द्वारा समझ-बूझकर दूसरो को प्रदान करता है जिनमे

यों आचार्य शुक्ल के मत में भी 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह विश्वनाथ का सूत्र वाक्य ही काव्य लक्षण के रूप में परिणत होता है। अन्यत्र भी उन्होंने विश्वनाथ की मान्यता का ही प्रतिवेश किया है कि सत्त्वोद्रेक या हृदय की मुक्तावस्था के लिये किया हुआ शब्द विधान ही काव्य है। सत्त्वोद्रेक का सिद्धान्त भी विश्वनाथ के ही अनुकरण पर अपनाया गया प्रतीत होता है। यद्यपि शुक्ल जी ने कहीं-कहीं पर ध्वनि सिद्धान्त से वैमत्य भी प्रकट किया है तथापि ध्वनि सिद्धान्त के वे विरोधी नहीं वे प्रत्युत उसका पोषण अपेक्षाकृत अधिक किया गया प्रतीत होता है। इनके कविता को जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति बतलाने का भी यही आशय है।

प्रसाद जी ने आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' को काव्य कहा है "जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचना है।" यह परिभाषा कुछ अस्पष्ट सी है। इसका आशय यही प्रतीत होता है कि विज्ञान में किसी तत्त्व के वैकल्पिक पक्षों को उठाकर उसका विश्लेषण किया जाता है किन्तु काव्य में श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण' कर लेने वाली मननशक्ति ही उपयोगिनी होती है। आशय यह है कि जीवन और सत्य का काव्य द्वारा प्रस्फुटित रूप अपने समग्र सौन्दर्य में ही प्रतिभासित होता है। सुमित्रानन्दन पन्त ने काव्य को परिपूर्ण क्षणों की वाणी कहा है और महादेवी वर्मा ने कविता को 'कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण' कहा है जो 'इतना ठीक है कि उससे वैसी भावनायें किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जाती हैं। हिन्दी काव्यशास्त्रियों के काव्य लक्षण का यही संक्षिप्त परिचय है।

विश्लेषण तथा उपसंहार

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है हिन्दी काव्यशास्त्रियों के काव्य लक्षण अधिकांशत या तो अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित हैं या संस्कृत साहित्यशास्त्र के उत्तराधिकारी हैं। इनमें अपनी मौलिकता बहुत कम है। केवल कथन भंगिमा ही कहीं-कहीं अपनी हो गई है अन्यथा वस्तु तत्त्व पूर्णतः अनुकृत है। अंग्रेजी काव्य शास्त्र की जो परिभाषायें ऊपर दी गई हैं यदि उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि उनमें इन तत्त्वों का उपादान किया गया है—(१) अनुकरण (२) छन्दोबद्ध रचना (३) आनन्द और सत्य के संयोजन की कला (४) आनन्द दायक विचारों का संगीत से संयोजन (५) सुन्दरतम शब्दों का सुन्दरतम क्रम (६) जीवन की आलोचना (७) मानव मानस का मूर्त तथा कलात्मक अभिव्यञ्जन (८) अन्तर्दर्शन (९) अनुभूत भावों की पुनः सृष्टि और उनका दूसरों में संचारण। किन्तु ध्यान देने से अवगत होगा कि ये कोई भी तत्त्व काव्य के वास्तविक स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं करते और अधिकांश अव्याप्ति या अतिव्याप्ति से दूषित हैं। अनुकरण काव्य का एकमात्र व्यावर्तक धर्म नहीं है और न सभी काव्य अनुकरण प्रधान होते ही हैं। यह सत्य है कि कवि वस्तु का उपादान जगत् से ही करता है किन्तु उसे अनुकरण के साथ सर्जना भी करनी पड़ती है। अतः यह लक्षण एक ओर अतिव्याप्त है दूसरी ओर अव्याप्त। छन्दोबद्धता पद्य की विशेषता है काव्य की नहीं। आनन्द और सत्य का संयोजन इतर कलाओं में भी पाया जाता है। अतः इसे हम लक्षण

को उत्तम काव्य कहने के स्थान पर अभिधा को उत्तम काव्य कहा था। इसी प्रवृत्ति के अनुसार विश्वनाथ के प्रसिद्ध काव्यपुरुष रूपक को इन्होने उलटकर नवीन रूप मे कहा है—

सब्द जीव तिहि अरथ मन रसमय सुजस सरीर।
चलत वहै जुग छन्द गति अलकार गम्भीर॥

यहाँ शब्द को जीवात्मा या प्राण अर्थ को मन और रस को उसका सुयशपूर्ण शरीर माना गया है। छन्द उसकी गति हैं और अलकार उस गति का सौन्दर्य। वस्तुत यह विलक्षण कल्पना है जिससे काव्य के स्वरूप पर कोई प्रकाश नही पडता। सूरति मिश्र ने परिभाषा इस प्रकार दी है—

वरनन मनरजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि कौ जु तिहि काव्य कहत सव कोइ॥

आधुनिक काल मे भी काव्य-शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। उन्हे स्पष्ट रूप मे दो प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है—एक तो वे ग्रन्थ हैं जिनमे प्राक्तन काव्य परम्परा का ही परिचय दिया गया है और दूसरे प्रकार के वे ग्रन्थ हैं जिनमे मौलिक चिन्तन की ओर प्रवृत्ति अधिक रही है। प्रथम प्रकार की रचनाओ मे यदि कही काव्य लक्षण किया गया है तो काव्यप्रकाश या फिर साहित्यदर्पण की शैली अपनाई गई है। उन लक्षणो मे कोई नवीन विशेषता नही है। दूसरे प्रकार की रचनाओ मे मौलिकता के व्याज से पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की मान्यताओं का प्रतिफलन ही दृष्टिगत होता है अथवा यदि कही अपनी भी वात है तो कथन शैली वही है।

नवीन शैली पर मौलिक चिन्तन करने वालो की परम्परा महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय से चलती है। द्विवेदी जी ने काव्य का लक्षण वनाने के लिये कोई स्वतन्त्र प्रकरण तो नही रक्खा किन्तु कविता पर अनेकश अपने विचार प्रकट किये हैं। उनमे कही-कही काव्य-लक्षण की छाया भी आ गई है। द्विवेदी जी के ये सकेत भारतीय विचारधारा मे रस की ओर अधिक झुके हुए हैं। कही इन्होने 'पाठक या श्रोता के मन पर आनन्ददायी प्रभाव डालने वाली रचना' को काव्य कहा है कही 'अन्त करण की वृत्तियो के चित्र' को कविता माना है और कही मनोभावो के शब्द चित्र को कविता कहा है। ये सव परिभाषायें इसी तथ्य की ओर इङ्गित करती हैं कि द्विवेदी जी रसवादी थे। श्यामसुन्दरदास ने आचार्य मम्मट के लक्षण मे ही पूर्णता तथा व्यावहारिकता के दर्शन किये और काव्य लक्षण की दिशा मे उसी का अतिदेश कर दिया।

आचार्य शुक्ल ने कविता के स्वरूप पर विस्तार के साथ विचार किया है। उनका कहना है कि "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे हम कविता हैं।" हृदय की मुक्तावस्था उसका स्व-पर सम्वन्ध से ऊपर उठ जाना है जो कि रसास्वादन के लिये एक अनिवार्य शर्त है। शब्द-विधान का अर्थ यदि वाक्य रचना से लिया जाय

तो आचार्य शुक्ल के मत में भी 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह विश्वनाथ का सूत्र वाक्य ही काव्य लक्षण के रूप में परिणत होता है। अन्यत्र भी उन्होंने विश्वनाथ की मान्यता का ही प्रतिदेश किया है कि सत्वोद्रेक या हृदय की मुक्तावस्था के लिये किया हुआ शब्द विधान ही काव्य है। सत्वोद्रेक का सिद्धान्त भी विश्वनाथ के ही अनुकरण पर अपनाया गया प्रतीत होता है। यद्यपि शुक्ल जी ने कहीं-कहीं पर ध्वनि सिद्धान्त से वैमत्य भी प्रकट किया है तथापि ध्वनि सिद्धान्त के वे विरोधी नहीं थे प्रत्युत उसका पोषण अपेक्षाकृत अधिक किया गया प्रतीत होता है। इनके कविता को जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति बतलाने का भी यही आशय है।

प्रसाद जी ने 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' को काव्य कहा है "जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचना है। यह परिभाषा कुछ अस्पष्ट सी है। इसका आशय यही प्रतीत होता है कि विज्ञान में किसी तत्त्व के वैकल्पिक पक्षों को उठाकर उसका विश्लेषण किया जाता है किन्तु काव्य में श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण' कर लेने वाली मननशक्ति ही उपयोगिनी होती है। आशय यह है कि जीवन और सत्य का काव्य द्वारा प्रस्फुटित रूप अपने समग्र सौन्दर्य में ही प्रतिभासित होता है। सुमित्रानन्दन पन्त ने काव्य को परिपूर्ण क्षणों की वाणी कहा है और महादेवी वर्मा ने कविता को 'कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण' कहा है जो 'इतना ठीक है कि उससे वैसी भावनायें किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जाती हैं। हिन्दी काव्यशास्त्रियों के काव्य लक्षण का यही संक्षिप्त परिचय है।

विश्लेषण तथा उपसंहार

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है हिन्दी काव्यशास्त्रियों के काव्य लक्षण अधिकांशत या तो अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित हैं या संस्कृत साहित्यशास्त्र के उत्तराधिकारी हैं। उनमें अपनी मौलिकता बहुत कम है। केवल कथन भंगिमा ही कहीं-कहीं अपनी हो गई है अन्यथा वस्तु तत्त्व पूर्णत अनुकृत है। अंग्रेजी काव्य शास्त्र की जो परिभाषायें ऊपर दी गई हैं यदि उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि उनमें इन तत्त्वों का उपादान किया गया है—(१) अनुकरण (२) छन्दोबद्ध रचना (३) आनन्द और सत्य के संयोजन की कला (४) आनन्द दायक विचारों का संगीत से संयोजन (५) सुन्दरतम शब्दों का सुन्दरतम क्रम (६) जीवन की आलोचना (७) मानव मानस का मूर्त तथा कलात्मक अभिव्यञ्जन (८) अन्तर्दर्शन (९) अनुभूत भावों की पुन सृष्टि और उनका दूसरों में संचारण। किन्तु ध्यान देने से प्रकट होगा कि ये कोई भी तत्त्व काव्य के वास्तविक स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं करते और अधिकांश अव्याप्ति या अतिव्याप्ति से दूषित हैं। अनुकरण काव्य का एकमात्र व्यावर्तक धर्म नहीं है और न सभी काव्य अनुकरण प्रधान होते ही हैं। यह सत्य है कि कवि वस्तु का उपादान जगत् से ही करता है किन्तु उसे अनुकरण के साथ सर्जना भी करनी पड़ती है। अत यह लक्षण एक ओर अतिव्याप्त है दूसरी ओर अव्याप्त। छन्दोबद्धता पद्य की विशेषता है काव्य की नहीं। आनन्द और सत्य का संयोजन इतर कलाओं में भी पाया जाता है। अत इसे हम एकमात्र

काव्य का धर्म नही कह सकते। सुन्दरतम शब्दो का सुन्दरतम क्रम प्रत्येक लेखक का वाञ्छनीय तत्त्व है केवल काव्य का ही नही। दूसरी बात यह है कि इसमे काव्य के बाह्य रूप पर ही ध्यान दिया गया है, अन्तस्तत्त्व की इसमे उपेक्षा की गई है। जीवन की आलोचना, मानव मानस का मूर्त तथा कलात्मक अभिव्यञ्जन और अन्तर्दर्शन ये तत्त्व काव्य के एक देश को ही आवेष्टित करते हैं सम्पूर्ण क्षेत्र को आत्मसात् नही कर पाते। अनुभूत भावो की पुन सृष्टि और दूसरो मे उनका सञ्चारण भारतीय रस सिद्धान्त की मान्यता के बहुत निकट आ जाता है। किन्तु उससे भी समस्त काव्य की व्याख्या नही होती। अनेकविध सूक्ति काव्य ऐसा है जिसकी रसात्मकता के द्वारा व्याख्या नही की जा सकती। इस प्रकार इन लक्षणो को पूर्ण नही कहा जा सकता।

यदि भारतीय काव्य लक्षणो का विश्लेषण किया जाय तो ये तत्त्व सामने आते हैं—(१) शब्द और अर्थ, (२) शब्दमात्र, (३) रीति, (४) ध्वनि, (५) वक्रोक्ति, (६) रस, (७) दोष रहित तथा गुणालकारयुक्त शब्द और अर्थ, (८) रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द। इनमे शब्द और अर्थ तो बाह्य तत्त्व हैं जिनका उपादान प्रत्येक व्यवहर्ता को करना पडता है। अत उन्हे काव्य का व्यावर्तक धर्म नही माना जा सकता और न ये लक्षण अव्याप्ति अतिव्याप्ति रहित हैं। रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और रस पारिभाषिक तथा व्याख्या सापेक्ष शब्द हैं। इनसे काव्य के किसी भी प्रकार के स्वरूप का अधिगम नही हो सकता। दूसरी बात यह है कि ये सिद्धान्त व्यापक भी नही है रीति काव्य का बाह्य कलेवर मात्र है उसको काव्यात्मा के रूप मे स्वीकार करना बौद्धो के समान शरीर को ही आत्मा कहना है, अलकारो को जब शरीर का स्थान भी प्राप्त नही हो सकता तब उन्हे आत्मरूपता प्रदान करना तो और भी असगत है। रस केवल अन्तस्तत्त्व है उससे समस्त काव्य का बोध नही हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि पारिभाषिक रूप में रस शृगारादि को ही कहते हैं। उनसे भिन्न काव्य बहुत अधिक है जिसको काव्य न कहना किसी प्रकार भी उचित नहीं कहा जा सकता। वक्रोक्ति केवल कलागत सौन्दर्य मे ही समाहित रहती है। कला सौन्दर्य मात्र को काव्य-स्वरूप बतलाना उचित नही कहा जा सकता। विशेषत इसे आत्मतत्त्व बतलाना तो और भी ठीक नही है। यद्यपि ध्वनि-सम्प्रदाय-वादियो ने काव्य के समस्त क्षेत्र को आत्मसात् करने की चेष्टा की है तथापि उसको इतने व्यापक अर्थ मे ग्रहण करना कुछ क्लिष्ट अवश्य है। इस प्रकार इन पारिभाषिक शब्दो से भी काव्यस्वरूप का ठीक बोध नही होता।

शब्द और अर्थ के दोष रहित तथा गुण सहित विशेषण भी आप्त काम नहीं होते। इनसे उपादेयता का तारतम्य तो हो सकता है किन्तु स्वरूपतापत्ति उचित नही है। दोषो के होने से कोई अपनी सत्ता से वचित हो जाय और गुणो के कारण सत्ता मे आ जाय ऐसा अनुभव सिद्ध नही है। रमणीयार्थक प्रतिपादक शब्द को काव्य कहना अपेक्षाकृत अधिक उचित है क्योकि इसमे रमणीयता के साथ शब्दार्थ सम्बन्ध और शब्द प्राधान्य सभी पर उचित सकेत कर दिया गया है।

२३

काव्य प्रयोजन

१. उपक्रम
२. संस्कृत-साहित्य शास्त्र में काव्य प्रयोजन
३. संस्कृत काव्य शास्त्र की दृष्टि से प्रयोजनों पर एक दृष्टि
४. पाश्चात्य काव्य शास्त्र में प्रयोजन
५. कतिपय वैकल्पिक पक्ष
६. कतिपय मतों पर विचार
७. उपसंहार

उपक्रम

संस्कृत ग्रन्थकारों और विशेषत शास्त्रीय ग्रन्थकारों की एक सामान्य परम्परा बन गई थी कि ग्रन्थारम्भ में चार बातों का निर्देश अवश्य कर दिया जाता है—ग्रन्थ का विषय ग्रन्थ रचना का प्रयोजन ग्रन्थ का वस्तु से सम्बन्धतत्व और ग्रन्थाध्ययन के अधिकारी। इसको अनुबन्ध चतुष्टय की संज्ञा दी जाती थी। किन्तु काव्यशास्त्र की रचना करने वालों को अपनी विशिष्ट कृति के प्रयोजनों के साथ काव्य के प्रयोजनो पर भी प्रकाश डालना पड़ता था। यह प्रवृत्ति हमें काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल से ही दृष्टिगत होती है। फलत अन्य विषयो के समान इस विषय में भी अनेक मत व्यक्त किये गये हैं और विवेचको के सामने एक बहुत बड़ी विचारराशि आ जाती है जिसमें औचित्य अनौचित्य का निर्णय अपरिहार्य हो जाता है। इसी प्रकार पाश्चात्य तथा हिन्दी साहित्य में काव्य प्रयोजनो पर विस्तार से विचार किया गया है। अत विभिन्न साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थो में अभिव्यक्त अभिमत का परिचय देकर यहाँ उनके औचित्य पर विचार किया जायेगा।

संस्कृत साहित्य शास्त्र में काव्य प्रयोजन

सर्वप्रथम हमारे सामने भरतमुनि का नाट्यशास्त्र आता है। यह नाट्य को विषय बनाकर प्रवृत्त हुआ है। अत इसमें नाट्य प्रयोजनो की ही चर्चा है। किन्तु क्योंकि आगे चलकर नाट्य और काव्य दोनो शास्त्रो को एक कर दिया गया नाट्य के प्रमुख प्रतिपाद्य तत्व किसी न किसी रूप में काव्य में भी स्वीकृत कर लिये गये और नाट्य शास्त्र में भी काव्य प्रवृत्तियो इत्यादि का उल्लेख पाया जाता है अत:

नाट्य प्रयोजनो को ही हम काव्य प्रयोजन भी कह सकते हैं। नाट्य शास्त्र मे काव्य के निम्नलिखित प्रयोजन लिखे हैं —

धर्म्यं यशस्यमायुष्य हित बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजनन नाट्यमेयाद्भविष्यति ।।

भरतमुनि ने इन प्रयोजनो मे भौतिक प्रयोजनो का व्यापक रूप मे उल्लेख किया है किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि नाट्य और काव्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन आनन्द साधना का इसमे उल्लेख नही है। साथ ही परमपुरुषार्थ मोक्ष-साधना का भी उल्लेख नही किया गया है। इससे भक्तिरस के परवर्ती आचार्यों के इस कथन मे आशिक सत्य का प्रतिभास प्राप्त होता है कि मुनि ने केवल भौतिक रसो का ही उल्लेख किया है। उनका दृष्टिकोण मोक्ष-साधना को विषय बनाना नही था। किन्तु यहा पर यह ध्यान रखना चाहिए मोक्ष-साधना को नाट्य-प्रयोजनो मे भरतमुनि ने भले ही स्वीकार न किया हो आनन्द साधना ही नाट्य का प्रमुख प्रयोजन है यह बात नाट्यशास्त्र से ही सिद्ध होती है। पहली बात तो यह है कि रसास्वाद का भरतमुनि ने विस्तारपूर्वक परिचय दिया है और हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' कहकर आनन्द साधना का सिद्धान्त स्वीकार किया है, साथ ही उन्होने 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य दृश्य च यद्भवेत्' कहकर 'क्रीडनीयक' को ही नाट्य का लक्ष्य बतलाया है जोकि आनन्दसाधना का ही एक सोपान अथवा उसका ही एक रूप है। उन्होने दु खार्त श्रमार्त इत्यादि के लिए नाट्य को विश्रामदायक बतलाया है।

भरतमुनि के बाद भामह ने काव्यप्रयोजनो को अधिक परिष्कृत रूप मे प्रस्तुत किया। उनका कहना है कि अच्छे काव्य का भलीभाति परिशीलन—'धर्म, अर्थ काम और मोक्ष मे तथा कलाओ मे निपुणता, कीर्ति और प्रीति को प्रदान करता है।' भामह ने चतुर्वर्ग का स्पष्ट उल्लेख किया है और कलाओ मे निपुणता और प्रीति को प्रयोजनो मे अन्तर्निविष्ट कर उन्हे अधिक व्यापक बना दिया है। इन प्रयोजनो मे ऐहलौकिकता और पारलौकिता दोनो पर दृष्टि रक्खी गई है और कर्ता तथा भोक्ता दोनो के लिए ये सामान्य रूप से लागू हो जाते हैं। मोक्ष को काव्य प्रयोजनो मे गिनाकर दु ख से आत्यन्तिक उपरम तथा तज्जन्य परमाल्हादरूपता का समावेश हो जाता है। अर्थ से ऐहलौकिक सुख समृद्धि और काम से रागात्मक समृद्धि को काव्य का प्रयोजन सिद्ध किया गया है। इस प्रकार भामह के प्रयोजन पूर्ण भी है और व्यापक भी। दण्डी ने काव्य प्रयोजनो का तो उल्लेख नही किया है किन्तु वाणी के प्रयोजन अवश्य लिखे हैं जिन्हे हम अप्रत्यक्ष रूप मे काव्य प्रयोजनो मे भी सन्निविष्ट कर सकते हैं। इन्होने शब्द ज्योति को सर्वव्यवहार प्रवर्तक तथा समस्त वस्तु प्रकाशक कहकर वाङ्मय की महिमा बतलाते हुए लिखा है कि—सामान्य दर्पण का स्वभाव यह होता है कि जब तक बिम्ब उसके समक्ष रहता है तभी तक दर्पण मे प्रतिबिम्ब रूप में उसका प्रतिफलन होता है किन्तु यह वाङ्मयरूप दर्पण इतना विलक्षण है कि प्राचीन राजा लोगो के बिम्ब के समाप्त हो जाने पर भी काव्य दर्पण मे उनका प्रतिबिम्ब

प्रतिफलित होता रहता है। दण्डी के टीकाकारों ने इसमें काव्य प्रयोजन की झलक देखी है तथा यशो रक्षा को उपलक्षण मानकर इतर काव्यप्रयोजनों की भी व्याख्या की है।

वामन ने काव्य प्रयोजनों पर कर्ता की दृष्टि से विचार किया है। उनका कहना है कि काव्य के दो प्रयोजन हैं— एक तो उसका प्रयोजन है प्रीति अथवा आनन्द साधना और लोकि दृष्ट प्रयोजन कहा जा सकता है और दूसरा प्रयाजन है कीर्ति जो अदृष्ट प्रयोजन है। वामन का आशय यही है कि कवि जब तक जीवित रहता है अपने काव्य से आनन्द का उपभोग करता है जोकि उसके लिए प्रत्यक्ष प्रयोजन है। मरने के बाद उसकी अमरकीर्ति लोक में विद्यमान रहती है जोकि उसके लिए एक अदृष्ट प्रयोजन है। वामन का सूत्र इस प्रकार है—'काव्य सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीति कीर्ति हेतुत्वात्' (काव्यालंकार सूत्र (१।१।५) किन्तु प्रीति रूप प्रयोजन सहृदय की दृष्टि से भी बनाया जा सकता है और सहृदय की दृष्टि से ही उसका उपादान अधिक संगत है। कवि भी सहृदय के रूप मे ही उसका उपभोग करता है।

वामन के बाद रुद्रट ने काव्य प्रयोजनों पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डाला है। सारांश रूप में कहा जा सकता है कि रुद्रट की प्रधान दृष्टि से कवि पर ही है। कवि सरस काव्य रचना करके महापुरुषों के यश को कल्पान्त स्थायी बना देता है जो कि एक बहुत बड़ा उपकार है और उसका पुण्य फल निस्सन्देह कवि को प्राप्त होता है। इतना ही नहीं स्वयं भी उसका यश कल्पान्त स्थायी हो जाता है तथा उसे आमुष्मिक फल धनर्थोपशम धन प्राप्ति इत्यादि के रूप मे भी प्राप्त होता है। वस्तुतः जिस प्रकार समुद्र की मणियाँ गिन सकना असम्भव है उसी प्रकार रुद्रट के मत मे काव्य प्रयोजनों का परिगणन भी असम्भव ही है। निस्सन्देह अन्य शास्त्रों का प्रयोजन वाणी का संस्कार करना है और वाणी के संस्कार का प्रयोजन काव्य रचना है। आनन्द वर्धन ने ध्वनि निरूपण का प्रयोजन माना है सहृदय मन प्रीति जो कि काव्य का प्रयोजन भी हो सकता है। आनन्दवर्धन ने विगलित वेद्यान्तर आनन्द को सकल प्रयोजन मौलिभूत कहा है। इस प्रकार ये रसास्वाद को सर्वमूर्धन्य प्रयोजन मानते हैं। अभिनव गुप्त ने कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से प्रीति को ही प्रधान माना है। कवि को दो फल प्राप्त होते हैं—कीर्ति और प्रीति। कीर्ति से भी प्रीति का ही सम्पादन होता है। सहृदय को व्युत्पत्ति और प्रीति दो की प्राप्ति होती है। उनमें भी व्युत्पत्ति की अपेक्षा प्रीति ही प्रधान है। इसलिये जाया सम्मित उपदेश को अधिक महत्त्व दिया गया है। आनन्द वर्धन की दृष्टि परिशीलक पर है कर्ता पर नहीं। किन्तु राजशेखर ने काव्य मीमांसा मे दोनों पर दृष्टि रक्खी है। उनका कहना है कि कवि की बुद्धि प्रयत्न होती है वह उसी के प्रभाव से रसिकों को आनन्द सरोवर में गोते लगवाता है जिससे उसकी कीर्ति अलग हो जाती है। आशय यह है कि राजशेखर के अनुसार

नाट्य प्रयोजनो को ही हम काव्य प्रयोजन भी कह सकते हैं। नाट्य शास्त्र मे काव्य के निम्नलिखित प्रयोजन लिखे हैं —

धर्म्यं यशस्यमायुष्य हित बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजनन नाट्यमेयाद्भविष्यति ।।

भरतमुनि ने इन प्रयोजनो मे भौतिक प्रयोजनो का व्यापक रूप मे उल्लेख किया है किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि नाट्य और काव्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन आनन्द साधना का इसमे उल्लेख नही है। साथ ही परमपुरुषार्थ मोक्ष-साधना का भी उल्लेख नही किया गया है। इससे भक्तिरस के परवर्ती आचार्यो के इस कथन मे आशिक सत्य का प्रतिभास प्राप्त होता है कि मुनि ने केवल भौतिक रसो का ही उल्लेख किया है। उनका दृष्टिकोण मोक्ष-साधना को विषय बनाना नही था। किन्तु यहा पर यह ध्यान रखना चाहिए मोक्ष-साधना को नाट्य-प्रयोजनो मे भरतमुनि ने भले ही स्वीकार न किया हो आनन्द साधना ही नाट्य का प्रमुख प्रयोजन है यह बात नाट्यशास्त्र से ही सिद्ध होती है। पहली बात तो यह है कि रसास्वाद का भरतमुनि ने विस्तारपूर्वक परिचय दिया है और हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति' कहकर आनन्द साधना का सिद्धान्त स्वीकार किया है, साथ ही उन्होने 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य दृश्य च यद्भवेत्' कहकर 'क्रीडनीयक' को ही नाट्य का लक्ष्य बतलाया है जोकि आनन्दसाधना का ही एक सोपान अथवा उसका ही एक रूप है। उन्होने दुखार्त श्रमार्त इत्यादि के लिए नाट्य को विश्रामदायक बतलाया है।

भरतमुनि के बाद भामह ने काव्यप्रयोजनो को अधिक परिष्कृत रूप मे प्रस्तुत किया। उनका कहना है कि अच्छे काव्य का भलीभाति परिशीलन—'धर्म, अर्थ काम और मोक्ष मे तथा कलाओ मे निपुणता, कीर्ति और प्रीति को प्रदान करता है।' भामह ने चतुर्वर्ग का स्पष्ट उल्लेख किया है और कलाओ मे निपुणता और प्रीति को प्रयोजनो मे अन्तर्निविष्ट कर उन्हे अधिक व्यापक बना दिया है। इन प्रयोजनो मे ऐहलौकिकता और पारलौकिता दोनो पर दृष्टि रक्खी गई है और कर्ता तथा भोक्ता दोनो के लिए ये सामान्य रूप से लागू हो जाते हैं। मोक्ष को काव्य प्रयोजनो मे गिनाकर दुख से आत्यन्तिक उपरम तथा तज्जन्य परमाल्हादरूपता का समावेश हो जाता है। अर्थ से ऐहलौकिक सुख समृद्धि और काम से रागात्मक समृद्धि को काव्य का प्रयोजन सिद्ध किया गया है। इस प्रकार भामह के प्रयोजन पूर्ण भी है और व्यापक भी। दण्डी ने काव्य प्रयोजनो का तो उल्लेख नही किया है किन्तु वाणी के प्रयोजन अवश्य लिखे हैं जिन्हे हम अप्रत्यक्ष रूप मे काव्य प्रयोजनो मे भी सन्निविष्ट कर सकते हैं। इन्होंने शब्द ज्योति को सर्वव्यवहार प्रवर्तक तथा समस्त वस्तु प्रकाशक कहकर वाड्मय की महिमा बतलाते हुए लिखा है कि—सामान्य दर्पण का स्वभाव यह होता है कि जब तक बिम्ब उसके समक्ष रहता है तभी तक दर्पण मे प्रतिबिम्ब रूप मे उसका प्रतिफलन होता है किन्तु यह वाङ्मयरूप दर्पण इतना विलक्षण है कि प्राचीन राजा लोगो के बिम्ब के समाप्त हो जाने पर भी काव्य दर्पण में उनका प्रतिबिम्ब

कुन्तक ने दूसरा प्रयोजन बतलाया है व्यवहार परिज्ञान। यह प्रयोजन सम्भवतः कुन्तक ने इस शंका का समाधान करने के लिये कल्पित किया है कि यदि राजकुमारादिकों को ही काव्य के माध्यम से शिक्षा कहा जायेगा तो काव्य का क्षेत्र बहुत ही सीमित रह जायेगा। इस पर कुन्तक का कहना है कि जब राजा इत्यादि महापुरुषों के चरित्र का विवेचन किया जाता है तब उनका पूरा वर्ग जिसमें छोटे से बड़े तक सभी राजोपजीवी सम्मिलित हैं आ जाता है। कवि सबके अपने-अपने कर्तव्य कर्मों का निर्माण कर उनके औचित्य अनौचित्य की अभिव्यञ्जना करता है जिससे सभी उपजीवी व्यक्ति अपने-अपने कर्मों के औचित्य का परिज्ञान कर लेते हैं और उसी के अनुसार व्यवहार करते हुये राजा के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। इस प्रकार राज कर्मचारियों को भी उनके कर्तव्यों की शिक्षा मिल जाती है तो लोक मर्यादा सुरक्षित रहती है। यहाँ पर कुन्तक ने औचित्य का विशेषण दिया है 'नूतन'। इसका आशय यह है कि औचित्य सर्वदा एक ही नहीं रहता यह एक स्थिर सत्य नहीं है। इसमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। कवि सामयिक परिस्थितियों को देख कर और नवीन परिवेष का निर्माण कर उस विशिष्ट परिस्थिति में औचित्य के नवीन रूप का निर्माण करता है। परिशीलक अनेक परिस्थितियों में जब विभिन्न प्रकार के औचित्यों का परिशीलन कर लेता है तब उसे विभिन्न स्थितियों में विभिन्न प्रकार के औचित्यों का स्वयं निर्णय करने की पटुता प्राप्त हो जाती है और इस प्रकार लोक मर्यादा सुरक्षित बनी रहती है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कुन्तक की दृष्टि व्यापक है और वे लोक व्यवहार के क्षेत्र में अनेक वर्गों को सम्मिलित कर लेना चाहते हैं। उनका यह भी स्पष्ट मन्तव्य प्रतीत होता है कि यद्यपि काव्य में उपादान राजकीय चरित्र का ही किया जाता है जो अपने व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र में सर्वसाधारण के लिये उपयोगी नहीं है तथापि सर्वसाधारण व्यक्ति राजकीय चरित्र से भी अपने ही क्षेत्र का उपदेश ग्रहण करता है।

किन्तु चतुर्वर्ग फल प्राप्ति और व्यवहार ज्ञान का सिद्धान्त मानने पर एक बहुत बड़ी आपत्ति यह सामने आती है कि यदि काव्य का प्रयोजन यही है तो इसका आनन्द तो परिशीलकों को समयान्तर में आयेगा। उनकी तो वही दशा होगी जो एक कृपण व्यक्ति की होती है जिसका उद्देश्य भविष्य के सुख के लिए पैसे इकट्ठे करना होता है और यह सर्वथा सन्दिग्ध रहता है कि उसे कभी भविष्य में सुख मिल भी सकेगा या नहीं। आज काव्य से चतुर्वर्ग में व्युत्पत्ति प्राप्त की जाती है और व्यवहार का ज्ञान प्राप्त किया जाता है जिससे भविष्य में वैसा अवसर आने पर उचित व्यवहार करके सफलता प्राप्त की जाय और उस सफलता का आनन्द लिया जाय किन्तु भविष्य की आशा पर विश्वास वर्तमान में आनन्द नहीं दे सकता इसीलिये कुन्तक ने एक तीसरा प्रयोजन और बतलाया है 'जो लोग काव्य तत्त्व से परिचित हैं उनके हृदय में काव्यामृत रस से एक ऐसा चमत्कार उत्पन्न किया जाता है जिसकी तुलना में चतुर्वर्ग फल प्राप्ति जन्य आनन्द भी बड़ा नहीं हो सकता। आशय यह है कि चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति

सहृदय की दृष्टि से काव्य का प्रयोजन है आनन्द की प्राप्ति और कवि की दृष्टि से उसका प्रयोजन है अक्षय कीर्ति।

कुन्तक काव्य शास्त्र के प्रमुख व्याख्याताओ और मौलिक चिन्तको मे एक हैं। उन्होने काव्य के तीन प्रयोजन बतलाये हैं—(१) चतुर्वर्ग फल प्राप्ति, (२) व्यवहार ज्ञान और (३) लोकोत्तर आनन्द की उपलब्धि। उनका कहना है कि यद्यपि चतुर्वर्ग फल प्राप्ति अन्य शास्त्रो से भी हो सकती है, किन्तु काव्य मे एक अन्तर यह है कि जिन अभिजात वशीय राजकुमारादिको की बुद्धि अत्यन्त कोमल होती है वे शास्त्र के कठिन विधानो से उतने लाभान्वित नही हो सकते। अत उनके लिये किसी सुकुमार साधन की अपेक्षा होती है, वह सिद्धि काव्य से ही हो सकती है यही बात कुन्तक के पहले रुद्रट ने भी कही थी—'इसमे सन्देह नही कि चतुर्वर्ग अवबोध शीघ्रता तथा सरलता से काव्य के द्वारा ही सम्भव है। यद्यपि धर्मादि शास्त्रो से भी चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु वे शास्त्र नीरस होते हैं। अतएव उनसे त्रास ही उत्पन्न होता है। उनसे व्युत्पत्ति उतनी सरल नही है।'

चतुर्वर्ग के अवगम के विषय म कुन्तक के विवेचन मे जो दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि कुन्तक ने सर्वसाधारण की नही राजकुमारो इत्यादि की चतुर्वर्ग फल प्राप्ति का प्रतिपादन किया है। इसके लिये कारिका मे अभिजात' शब्द का प्रयोग किया गया है। अभिजात वे होते हैं जिनकी शिक्षा दीक्षा उदारता पूर्वक सम्पन्न हुई होती है। ये ऐसे वातावरण मे रहते हैं कि इनको परिश्रम से भय लगता है और आमोद प्रमोद मे ही जीवन निर्वाह करना इनको प्रिय होता है। अतएव इनके लिये धर्म शास्त्रादि की व्यवस्था अधिक उपयोगिनी सिद्ध नही हो सकती। इनके लिये किसी सरल उपाय की अपेक्षा होती है। वह सरल उपाय काव्य के अतिरिक्त और कोई नही हो सकता। वस्तुत इन राजकुमारादिको को धर्मादि शास्त्रो मे विष्णात बनाना अत्यन्त उपयोगी होता है। क्योंकि ये राजकुमार सत्ताधारी होते हैं और प्रजा का नियमन तथा व्यवस्थापन इनके ही हाथ मे होता है। यदि इनको उदार शिक्षा देकर धर्मादि पुरुषार्थों में निष्णात न बनाया जाय तो ये जगत् की सारी व्यवस्था को ही उच्छिन्न कर डालें। जब ये प्रशिक्षित होकर जगत् के व्यवहार मे प्रवृत्त होते हैं जो केवल व्यक्तिगत रूप से ही उपयोगी नही होता समस्त प्रजा भी इनके माध्यम से चतुर्वर्ग का परिज्ञान प्राप्त कर लेती है। कुन्तक का राजकुमारो के विषय मे यह विवेचन आज भले ही हमे विचित्र जान पडे, किन्तु इसमे सन्देह नही कि राजतन्त्र के दिनो मे जब कि राज सत्ता परम्परागत रूप मे आती थी राजकुमार ही उत्तराधिकारी बन कर प्रजा का नियमन करते थे। आज इस प्रयोजन मे केवल इतना सशोधन किया जा सकता है कि केवल राजकुमार ही विनेय नही होते, सर्वसाधारण को विनय के उपदेश देना आवश्यक हो गया है। ऐसी दशा मे काव्य का महत्त्व भी बढ गया है और उपयोगिता का क्षेत्र भी उस समय की अपेक्षा अब अधिक हो गया है। यहाँ साराश यही है कि चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति काव्य से सरलता तथा शीघ्रता पूर्वक होती है।

रीतिकाल में अधिकांश ऐसे ही कवि हुये हैं। (३) व्यवहार ज्ञान काव्य का तीसरा प्रयोजन है। महाकाव्यों के अनुशीलन से सहृदयों को राजा इत्यादि के ही नहीं अपितु गुरु इत्यादि के भी और सामान्यतया पिता पुत्र इत्यादि पारिवारिक सम्बन्धियों के भी उचित व्यवहार का ज्ञान हो जाता है। काव्य से मालूम पड़ जाता है कि राम के समान व्यवहार करना चाहिये रावण के समान नहीं। (४) अकल्याण का नाश काव्य का चौथा प्रयोजन है। काव्य को पढ़ने से अनेक अकल्याणों का नाश हो जाता है। आज अनेक व्यक्ति रामचरितमानस दुर्गापाठ गुरु ग्रन्थ साहब इत्यादि का पाठ अपने अकल्याण का नाश करने के लिए किया करते हैं। कहा जाता है कि मयूर शतक नामक सूर्य स्तोत्र से मयूर कवि का कुष्ठ निवारण हो गया था और भक्तामरस्तोत्र से मानतुंग का बन्धन छूट गया था। ताराशतक स्तोत्र से काश्मीर नरेश के बन्दियों को मुक्ति मिली थी। (५) काव्य के सभी प्रयोजनों में सिरमौर प्रयोजन है 'सद्य पर निर्वृत्ति' अर्थात् काव्य को पढ़ते ही एक दम परा शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसी को हम आनन्द की सिद्धि अथवा रसास्वादन जन्य आत्मानन्दोपलब्धि कह सकते हैं। इस आनन्द में और विषयोपभोग जन्य आनन्द में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि विषयोपभोग से प्राप्त होने वाले आनन्द में विषयी का विभेद बना रहता है जबकि काव्य से प्राप्त होने वाले आनन्द मे विश्व के समस्त जानने योग्य और अनुभव करने योग्य पदार्थ दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। अन्य प्रकार के ज्ञानों और अनुभवों मे विषय और विषयी दोनों दृष्टि के सामने रहते हैं किन्तु काव्य का आनन्द एक ऐसा आनन्द है जिसमे सारे संसार का आभास समाप्त हो जाता है। कविता जब अपना पूर्ण प्रभाव प्रकट करती है उस समय भिन्न भिन्न रसों के अनुकूल ऐसे व्यापार या क्रिया की अभिवृद्धि होती है जिसमे शब्द और अर्थ दोनों गौण हो जाते हैं और आनंद मात्र ही शेष रह जाता है। (६) कान्तासम्मित उपदेश काव्य का अन्यतम प्रयोजन है। उपदेश तीन प्रकार के होते हैं। (अ) प्रभुसम्मित उपदेश—यह उपदेश राजाओं के आदेश के समान होता है। इसमें शब्द की प्रधानता होती है। इस उपदेश की श्रेणी में वेदादि शास्त्रों के उपदेश आते हैं। जिस प्रकार राजाओं का आदेश मानना अनिवार्य होता है और उसके न मानने पर राजदण्ड सहन करना पड़ता है उसी प्रकार वेदादि धर्म शास्त्रों की आज्ञा भी अनिवार्य होती है और उनके न मानने पर भी प्राय श्चित्त रूप दण्ड सहन करना पड़ता है। (आ) सुहृत्सम्मित उपदेश—यह उपदेश मित्रों के परामर्श के समान होता है। इसमे अर्थ की प्रधानता होती है। इस उपदेश की श्रेणी मे पुराण इतिहास दर्शन इत्यादि के उपदेश आते हैं। जिस प्रकार मित्र अपनी बात मनाने के लिए तर्क उपस्थित करता है और यह बतलाता है कि ऐसा करने से ऐसा होता है। अतएव ऐसा करना चाहिये। उसी प्रकार पुराण इतिहास इत्यादि के उपदेश भी सकारण होते हैं। (इ) कान्ता सम्मित उपदेश—इस उपदेश मे रस की प्रधानता होती है। काव्य का उपदेश इसी श्रेणी में आता है। जिस प्रकार कान्ता हृदय पर जो प्रभाव जमाती है वह अनुल्लंघ्य होता है, राजाज्ञा के प्रतिकूल आन्दोलन

से कालांतर मे उसके उपयोग से जो आह्लाद प्राप्त होता है वह काव्य की एक मात्र विशेषता नही है। यह दूसरी वात है कि काव्य से वह व्युत्पत्ति कुछ सरलता से हो जाती है किन्पु धर्मादि शास्त्रो से भी व्युत्पत्ति तो होती ही है। किन्तु इन सवसे बडा काव्य प्रयोजन यह है कि अन्य शास्त्रो का अध्ययन अनेक दोषो और कठिनाइयो से भरा रहता है जिसमे एक नीरसता होती है किन्तु काव्य मे उसके परिशीलन काल मे ही परिशीलक के अन्त करण मे एक अभूतपूर्व आह्लाद का सञ्चार होता है जिसकी तुलना मे लौकिक सफलता इत्यादि से प्राप्त आनन्द भी फीके पड जाते हैं। कुन्तक का कहना है कि 'शास्त्र कटु औषधि के समान अविद्या रूपी व्याधि को नष्ट करने वाला होता है जबकि काव्य आह्लाददायक अमृत के समान अज्ञान रूपी रोग को दूर कर देता है। इस प्रकार कुन्तक का निष्कर्ष यह है कि 'काव्य व्युत्पत्ति के प्रयोग के अवसर पर सफलता मिल जाने पर तथा आस्वादन के अवसर पर तत्काल आनन्द देने वाला होता है।'

कुन्तक ने उक्त तीन प्रयोजन माने हैं, किन्तु धनञ्जय ने कतिपय ऐसे आलोचको की ओर सकेत किया है जो आनन्द साधना को काव्य का प्रयोजन न मानकर केवल व्युत्पत्ति को ही काव्य का प्रयोजन मानते हैं। ऐसे आलोचको को सहन करने के लिये धनञ्जय तैयार नही हैं—

आनन्दनिष्यन्दिषु, रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्र फलमल्पबुद्धि. ।
योऽपीति हासादिवदाह साधुस्तस्मै नम स्वादुपराङ्मुखाय ।।

अर्थात् 'रूपक (विशेष रूप से नाट्य और सामान्य रूप से काव्य) तो आनन्द का प्रवाह बहाने वाले होते हैं, किन्तु कतिपय मूर्ख लोग उसका फल इतिहास इत्यादि के समान केवल व्युत्पत्ति को ही मानते हैं। वे लोग आस्वादन की प्रक्रिया से पराङ्मुख हैं। वे उसको समझते ही नही। ऐसे लोगो को हम दूर से ही नमस्कार करते हैं।

मम्मट का काव्यशास्त्र मे अन्यतम स्थान है। उन्होने काव्य प्रयोजनो का व्यापक रूप में उल्लेख किया है—

'काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदेशिवेतरक्षतये ।
सद्य परनिर्वृतये कान्तासमिततयोपदेशयुजे ।।

मम्मट का यह प्रयोजन-परिगणन प्राचीन काव्य शास्त्रियो की मान्यताओ का निष्कृष्टार्थ है। इसके अनुसार काव्य प्रयोजन ये हैं—(१) काव्य से यश की प्राप्ति होती है। कहा ही जाता है कि स्वर्ग जाने पर भी कवियो का कमनीय काव्य-कलेवर जरा मरण रहित होकर निरन्तर विश्व मे विराजमान रहता है। कालिदास तुलसीदास प्रभृति महा कवि गण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। (२) धनकी प्राप्ति काव्य का दूसरा प्रयोजन है। कहा जाता है कि धावक नामक किसी कवि ने महाराज हर्ष के नाम से रत्नावली नाटिका की रचना कर हर्ष से वहुत अधिक धन प्राप्त किया था। इसी प्रकार राजदरवारो मे रहकर अनेक कवियो ने असख्य धन प्राप्त किया। हिन्दी के

रीतिकाल में अधिकांश ऐसे ही कवि हुये हैं। (३) व्यवहार ज्ञान काव्य का तीसरा प्रयोजन है। महाकाव्यों के अनुशीलन से सहृदयों को राजा इत्यादि के ही नहीं मन्त्री गुरु इत्यादि के भी और सामान्यतया पिता पुत्र इत्यादि पारिवारिक सम्बन्धियों के भी उचित व्यवहार का ज्ञान हो जाता है। काव्य से मालूम पड़ जाता है कि राम के समान व्यवहार करना चाहिये रावण के समान नहीं। (४) अकल्याण का नाश काव्य का चौथा प्रयोजन है। काव्य को पढ़ने से अनेक अकल्याणों का नाश हो जाता है। आज अनेक व्यक्ति रामचरितमानस दुर्गापाठ गुरु ग्रन्थ साहब इत्यादि का पाठ अपने अकल्याण का नाश करने के लिए किया करते हैं। कहा जाता है कि मयूर शतक नामक सूर्य स्तोत्र से मयूर कवि का कुष्ठ निवारण हो गया था और भक्तामरस्तोत्र से मानतु ग का बन्धन छूट गया था। ताराद्वेर्ण स्तोत्रसे काश्मीर नरेश के बन्दियों को मुक्ति मिली थी। (५) काव्य के सभी प्रयोजनों में सरमौर प्रयोजन है 'सद्य पर निर्वृत्ति' अर्थात् काव्य को पढ़ते ही एक दम परा शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसी को हम आनन्द की सिद्धि अथवा रसास्वादन जन्य आत्मानन्दोपलब्धि कह सकते हैं। इस आनन्द मे और विषयोपभोग जन्य आनन्द में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि विषयोपभोग से प्राप्त होने वाले आनन्द में विषयों का विशेष बना रहता है जबकि काव्य से प्राप्त होने वाले आनन्द मे विश्व के समस्त जानने योग्य और अनुभव करने योग्य पदार्थ दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। अन्य प्रकार के ज्ञानों और अनुभवों में विषय और विषयी दोनों दृष्टि के सामने रहते हैं किन्तु काव्य का आनन्द एक ऐसा आनन्द है जिसमे सारे ससार का आभास समाप्त हो जाता है। कविता जब अपना पूर्ण प्रभाव प्रकट करती है उस समय भिन्न-भिन्न रसो के अनुकूल ऐसे व्यापार या क्रिया की अभिवृद्धि होती है जिसमे शब्द और अर्थ दोनों गौण हो जाते हैं और आनंद मात्र ही शेष रह जाता है। (६) कान्तासम्मित उपदेश काव्य का अन्यतम प्रयोजन है। उपदेश तीन प्रकार के होते हैं। (अ) प्रभुसम्मित उपदेश—यह उपदेश राजाओं के आदेश के समान होता है। इसमें शब्द की प्रधानता होती है। इस उपदेश की श्रेणी मे वेदादि शास्त्रो के उपदेश आते हैं। जिस प्रकार राजाओं का आदेश मानना अनिवार्य होता है और उसके न मानने पर राजदण्ड सहन करना पड़ता है उसी प्रकार वेदादि धर्म शास्त्रो की आज्ञा भी अनिवार्य होती है और उनके न मानने पर भी ग्राम विपत्ति रूप दण्ड सहन करना पड़ता है। (आ) सुहृत्सम्मित उपदेश—यह उपदेश मित्रों के परामर्श के समान होता है। इसमे अर्थ की प्रधानता होती है। इस उपदेश की श्रेणी में पुराण इतिहास दर्शन इत्यादि के उपदेश आते हैं। जिस प्रकार मित्र अपनी बात मनाने के लिए तर्क उपस्थित करता है और यह बतलाता है कि ऐसा करने से ऐसा होता है। अतएव ऐसा करना चाहिये। उसी प्रकार पुराण इतिहास इत्यादि के उपदेश भी सकारण होते हैं। (इ) कान्ता सम्मित उपदेश—इस उपदेश में रस की प्रधानता होती है। काव्य का उपदेश इसी श्रेणी में आता है। जिस प्रकार कान्ता हृदय पर जो प्रभाव जमाती है वह अनुल्लंघ्य होता है, राजाज्ञा के प्रतिकूल आन्दोलन

किया जा सकता है, मित्र की सम्मति टाली जा सकती है किन्तु प्रेयसी के प्रणय क अवमानना सर्वथा अशक्य है उसी प्रकार वेदादि शास्त्रो के उपदेश के प्रनि विमुख हुआ जा सकता है किन्तु काव्य परिशीलन से जो प्रभाव आत्मा पर अकित हो जाता है वह सर्वथा अटल होता है, उसके प्रतिकूल जाना मनुष्य की शक्ति के वाहर है। शब्द और अर्थ गौण होते हैं और रस प्रधान होता है। रस प्रवण कविता की रचना ही कवि का कर्म है जो समस्त वस्तुओ का इस रूप मे चित्रण करता है जो साधारण व्यक्ति की पहुच के वाहर होता है। यह कवियो और सहृदयो दोनो को योग्यतानुसार कान्ता के उपदेश के समान हृदयो मे कोमल भावनाओ को जाग्रत करते हुये प्रभावित करता है। यही कारण है कि कविता का अध्ययन और उन्नयन करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। इन प्रयोजनो मे यश और अर्थ कवि के लिये प्रयोजनीय है, व्यवहार ज्ञान सद्य पर निर्वृ ति और कान्ता सम्मित उपदेश सहृदय के लिये हैं तथा अकल्याण का नाश दोनो की दृष्टि से रक्खे गये हैं।

हेमचन्द्र ने मम्मट के प्रयोजनो को ही सक्षेप मे इस प्रकार रख दिया है। उनके अनुसार—'काव्यमानन्दाय, यशसे, कान्तातुल्यतयोपदेशायच' अर्थात् काव्य आनन्द के लिये, यश के लिये और कान्तातुल्य उपदेश के लिये होता है। यहाँ पर आनन्द सर्वप्रयोजन मौलिभूत है और कवि, तथा सहृदय दोनो के लिये प्रयोज्य है। यश केवल कवियो का प्रयोजन है और कान्तातुल्य उपदेश केवल सहृदयो के लिये है। विश्वनाथ ने भामह की प्रयोजन-कारिका को सक्षिप्त करके कह दिया है कि 'मन्द वुद्धि वालो को भी चतुर्वर्ग फल प्राप्ति काव्य से ही सुखपूर्वक हो सकती है।' सस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से काव्य प्रयोजनो का यही सक्षिप्त परिचय है।

सस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्रयोजनो पर एक समीक्षा दृष्टि

इस विषय मे सस्कृत के सम्भवत सभी आचार्य एकमत हैं कि आनन्दानुभूति काव्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन है। यह प्रयोजन प्रमुख रूप से सहृदय सम्वद्ध है इस विषय मे भी दो मत नहीं हैं। किन्तु इसको कवि से सम्वद्ध किया जा सकता है या नही यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस विषय मे मम्मट ने तो कुछ कहा ही नही है। हेमचन्द्र ने कवि की रसानुभूति मानी है। वस्तुत कवि रसास्वादन के अवसर पर सामाजिक के समान ही होता है। चाहे वह काव्य रचना कर रहा हो अथवा कालान्तर मे अपनी ही रचना को पढ़ रहा हो दोनो अवस्थाओ मे उसे रसानुभूति सहज सम्भव है। जिस समय कवि परम्परागत वृत्त को लेकर कविता करता है उस समय यदि उसके हृदय का रागात्मक सम्वन्ध उस वृत्त से नही है तो कविता उच्च-कोटि की हो ही नही सकती। दोनो प्रकार की कविता के समझने के लिये तुलसी और केशव को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। एक का कथापुरुष राम से रागात्मक सम्वन्ध है दूसरे का नही और इसीलिये दोनो की रचनाओ मे पर्याप्त वैषम्य है। जहाँ कल्पित वृत्त को काव्य का विषय वनाया जाता है वहाँ भी कोई कठिनाई नही है। कवि जव तक अनुभूति की तीव्रता से आप्यायित होकर

प्रतीकों की कल्पना नहीं करेगा वहाँ वे प्रतीक निर्जीव से हो जायेंगे। अब ऐसे स्थल शेष रह जाते हैं जहाँ कविवर बाल्मीकि के समान प्रयत्न पूर्व काव्य प्रकट होता है। वहाँ कवि लौकिक भावना से प्रवाहित होता है जो अब तक काव्य में नहीं आई होती है। वहाँ भी किसी न किसी रूप में कवि का तादात्म्य अपेक्षित ही होता है। मान लीजिये किसी को पुत्र शोक का तीव्र रूप से अनुभव हो रहा है तो उसका उस समय काव्य बनाने लगना सर्वथा असम्भव है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने कहा है कि शोकार्त कभी श्लोक नहीं बनाने लगता। जब वह प्रयत्न भाव उदात्तता धारण कर सहानुभूति के रूप में परिणत हो जायेगा तभी काव्य प्रवृत्ति होगी। यह दूसरी बात है कि कवि का प्रत्यक्ष अनुभव उसमें तीव्रता ला दे। आशय यह है कि कवि की दृष्टि से भी आनन्द साधना एक प्रयोजन हो सकती है। दूसरे प्रयोजनों में कान्तासम्मित उपदेश ही मुख्य रूप से सामने आता है और इसमें सन्देह भी नहीं है कि काव्य में राष्ट्र निर्माण की शक्ति सर्वाधिक रूप में विद्यमान है। अन्य प्रयोजन गौण हैं और शास्त्रों में उनका उल्लेख अधिक महत्त्व नहीं रखता है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य प्रयोजन

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्लैटो का नाम सबसे पहले लिया जाता है। इन्होंने अपने 'रिपब्लिक' में कवियों के निष्कासन की बात कही है और कवियों पर आरोप लगाया है कि वे ईश्वर की असफल कृति जगत् का असफल अनुकरण किया करते हैं। इस प्रकार इनकी कृति सत्य से दूनी दूर होती है। दूसरा आरोप यह है कि कविता मन को अत्यधिक मोह लेती है इसमें जादू का सा प्रभाव होता है। स्कॉट जेम्स के अनुसार यदि इन आरोपों की संगति व्याजस्तुति में लगाई जाय तो सिद्ध होगा कि प्लैटो काव्य का प्रयोजन मानता है मूल तथा वास्तविक रूप का अनुसन्धान करना। आशय यह है कि सृष्टि रचना के पहले स्रष्टा एक आदर्श रूप की कल्पना कर लेता है और उसे अपनी कृति सृष्टि में स्वरूप प्रदान करता है। किन्तु कोई भी कृति पूर्ण सफल नहीं होती। हम सब में जिस अंश में कुछ न कुछ कमियाँ अवश्य हैं उसी अंश में परमात्मा असफल हुआ है। कवि इसी असफल कृति का अनुकरण करता है और कुछ न कुछ और असफल होकर सत्य को दूनी दूर बना देता है। इसका आशय यह है कि प्लैटो के मत में सफल काव्य वही हो सकता है जिसमें कवि कल्पना द्वारा उस मूल का प्रत्यक्ष कर उसे पाठकों के सामने रख देता है। इसी प्रकार जब वह काव्य पर जादू के समान मोहित कर देने का आरोप लगाता है तब यह उसकी काव्य सत्य की स्वकारोक्ति ही समझी जानी चाहिये। सारांश यह है कि प्लैटो के मत में काव्य का प्रयोजन है आदर्श सृष्टि की रचना का अनुसन्धान करना और काव्य को इतना मनोमोहक तथा प्रभावशाली बना देना जिससे पाठक आत्म विस्मृति के आवरण में उसके अनुसार ही आचरण करने के लिये बाध्य हो सके। कहना न होगा कि यदि प्लेटो के मत की इस रूप में व्याख्या की जावे तो वह भारतीय मनीषियों के विचार से अधिक व्यवहित सिद्ध नहीं होगा।

किया जा सकता है, मित्र की सम्मति टाली जा सकती है किन्तु प्रेयसी के प्रणय का अवमानना सर्वथा अशक्य है उसी प्रकार वेदादि शास्त्रों के उपदेश के प्रति विमुख हुआ जा सकता है किन्तु काव्य परिशीलन से जो प्रभाव आत्मा पर अंकित हो जाता है वह सर्वथा अटल होता है, उसके प्रतिकूल जाना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। शब्द और अर्थ गौण होते हैं और रस प्रधान होता है। रस स्रवण कविता की रचना ही कवि का कर्म है जो समस्त वस्तुओं का उस रूप में चित्रण करता है जो साधारण व्यक्ति की पहुंच के बाहर होता है। यह कवियों और सहृदयों दोनों को योग्यतानुसार कान्ता के उपदेश के समान हृदयों में कोमल भावनाओं को जाग्रत करते हुये प्रभावित करता है। यही कारण है कि कविता का अध्ययन और उन्नयन करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। इन प्रयोजनों में यश और अर्थ कवि के लिये प्रयोजनीय है, व्यवहार ज्ञान सद्य पर निर्वृति और कान्ता सम्मित उपदेश सहृदय के लिये हैं तथा अकल्याण का नाश दोनों की दृष्टि से रक्खे गये हैं।

हेमचन्द्र ने मम्मट के प्रयोजनों को ही संक्षेप में इस प्रकार रख दिया है। उनके अनुसार—'काव्यमानन्दाय, यशसे, कान्तातुल्यतयोपदेशायच' अर्थात् काव्य आनन्द के लिये, यश के लिये और कान्तातुल्य उपदेश के लिये होता है। यहाँ पर आनन्द सर्वप्रयोजन मौलिभूत है और कवि, तथा सहृदय दोनों के लिये प्रयोज्य है। यश केवल कवियों का प्रयोजन है और कान्तातुल्य उपदेश केवल सहृदयों के लिये है। विश्वनाथ ने भामह की प्रयोजन-कारिका को संक्षिप्त करके कह दिया है कि 'मन्द बुद्धि वालों को भी चतुर्वर्ग फल प्राप्ति काव्य से ही सुखपूर्वक हो सकती है।' संस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से काव्य प्रयोजनों का यही संक्षिप्त परिचय है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्रयोजनों पर एक समीक्षा दृष्टि

इस विषय में संस्कृत के सम्भवत सभी आचार्य एकमत हैं कि आनन्दानुभूति काव्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन है। यह प्रयोजन प्रमुख रूप से सहृदय सम्बद्ध है इस विषय में भी दो मत नहीं हैं। किन्तु इसको कवि से सम्बद्ध किया जा सकता है या नहीं यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस विषय में मम्मट ने तो कुछ कहा ही नहीं है। हेमचन्द्र ने कवि की रसानुभूति मानी है। वस्तुत कवि रसास्वादन के अवसर पर सामाजिक के समान ही होता है। चाहे वह काव्य रचना कर रहा हो अथवा कालान्तर में अपनी ही रचना को पढ रहा हो दोनों अवस्थाओं में उसे रसानुभूति सहज सम्भव है। जिस समय कवि परम्परागत वृत्त को लेकर कविता करता है उस समय यदि उसके हृदय का रागात्मक सम्बन्ध उस वृत्त से नहीं है तो कविता उच्च-कोटि की हो ही नहीं सकती। दोनों प्रकार की कविता के समझने के लिये तुलसी और केशव को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। एक का कथापुरुष राम से रागात्मक सम्बन्ध है दूसरे का नहीं और इसीलिये दोनों की रचनाओं में पर्याप्त वैषम्य है। जहाँ कल्पित वृत्त को काव्य का विषय बनाया जाता है वहाँ भी कोई कठिनाई नहीं है। कवि जब तक अनुभूति की तीव्रता से आप्यायित होकर

जान ड्राइडेन का कहना है कि 'कविता का यदि एक मात्र नहीं तो कम से कम प्रधान उद्देश्य आनन्द देना है। शिक्षा को स्वीकार किया जा सकता है किन्तु उसका स्थान बाद में ही आता है क्योंकि कविता आनन्द देकर ही शिक्षा दे सकती है। यह सत्य है कि कवि का काम है अनुकरण करना किन्तु आत्मा को प्रभावित करना भावना को जगाना और सर्वाधिक रूप में प्रशंसा प्राप्त करना केवल सामान्य अनुकरण का ही काम नहीं हो सकता। कालेरिज का भी विचार है कि कविता रचना की वह विधा है जिसका उद्देश्य विज्ञान के प्रतिकूल सत्य का उद्घाटन करना नहीं अपितु आनन्द देना है। ले हन्ट का कहना है कविता का उद्देश्य आनन्द तथा आत्मोत्कर्ष है। जानसन का कहना है कि कविता एक वह तत्व है जो आनन्द और सत्य को एक में जोड़ता है।

जी एस सीविस ने कहा है कि कविता का उद्देश्य नैतिक शिक्षा देना नहीं है किन्तु नैतिक उत्कर्ष प्रदान करना है। इसका लक्ष्य सिद्धांत शिक्षा नहीं अपितु सिद्धान्तों के प्रति प्रेरणा प्रदान करना है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कविता का प्रमुख उद्देश्य माना है व्यक्तित्व का अभिव्यंजन। भगवान दास का कहना है कि कला अथवा कलात्मक क्रिया शीलता वह क्रिया शीलता है जो जान बूझ कर रस को उद्दीप्त करने की चेष्टा करती है या उसे उद्दीप्त करती है। रस का अर्थ है दर्शक के मस्तिष्क में सहानुभूति पूर्ण आनन्द का संचार करना। आचार्य शुक्ल का कहना है कि कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। लार्ड मेकाले का कहना है कि 'कविता से हमारा अभिप्राय शब्दों की ऐसे रूप में योजना करना है जो कल्पना के अन्तगत दृश्य जाल की सृष्टि करते हैं। यह शब्दों के माध्यम से उत्पाद ऐसी ही कला है जैसी चित्रकार रंगों के माध्यम से किया करता है। रस्किन कविता को कल्पना के माध्यम से एक अभिव्यक्ति मानते हैं जो अभिजात मनोवृत्तियों के लिये अभिजात भूमिका प्रस्तुत किया करती है।

टाल्स्टाय आलोचकों में मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित आलोचकों में एक हैं। इन्होंने आनन्द भावना के मुख्य लक्ष्य का प्रतिषेध स्पष्ट शब्दों में किया है। इनका कहना है कि कला कोई आनन्द दायक वस्तुओं की उद्भावना नहीं है और उसके अधिक यह कोई आनन्द नहीं है। किन्तु इसका उद्देश्य मानव को मानव से मिलाना है। उनको एक ही भावना में संयुक्त करना है। इस प्रकार यह व्यक्ति और मानवता दोनों के कल्याण तथा उन्नति के लिये एक अनिवार्य तत्व है। गान्धी जी ने भी टालस्टाय के स्वर में स्वर मिला कर कहा है कि यह समझना ठीक नहीं है कि कला का सम्बन्ध कीर्ति उपयोगिता और हितकारिता से नहीं केवल सौन्दर्य से है। गोस्वामी तुलसी दास ने भी कीर्ति भणिति और सम्पत्ति की भलाई इसी में मानी है कि गंगा की धारा के समान सबका कल्याण करे वैसे स्वान्तः सुखाय रचना करने वाले गोस्वामी तुलसीदास को आनन्द का विरोधी कौन कह सकता है। बिहारी ने कविता रस के

अरस्तू ने काव्य प्रयोजनो मे आनन्द को प्रमुख स्थान दिया है। उनका कहना है कि अनुकृत वस्तु से आनन्द की उपलब्धि प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है। भीषण से भीषण और क्रूर से क्रूर वन्य पशु का अनुकरण हमे आनन्द ही प्रदान करता है। दूसरा काव्य प्रयोजन है ज्ञानार्जन जो अन्तत आनन्द मे ही कारण होता है। इस प्रकार अरस्तू के मत मे दोनो प्रयोजनो की एकता स्थापित की जा सकती है। अरस्तू की काव्यजन्य आनन्द साधना वस्तुत भारतीय रस सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है। फिर भी दोनो मे कुछ भेद है। डॉ० नगेन्द्र ने इस साम्य और वैषम्य पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। उनके कथन का सार यह है कि अरस्तू के काव्यानन्द और भारतीय रस-सिद्धान्त दोनो मे आनन्द साधना लोकोत्तर मानी गई है। दोनो ही काव्यानन्द को आध्यात्मिक, बौद्धिक और प्राकृत तीनो प्रकार के आनन्दो से पृथक् मानते हैं। यह तो दोनो मे साम्य है। वैषम्य यह है कि अरस्तू का काव्यानन्द भारतीय रस-शास्त्र के अनुसार मनोराग की चल उद्दीप्ति नही है। इसमे कल्पनातत्त्व और ज्ञानतत्त्व का प्राधान्य है। अरस्तू के अनुसार काव्यानन्द भौतिक प्रत्यभिज्ञान का आनन्द है। किन्तु लौकिक प्रत्यभिज्ञान से यह इस अर्थ मे भिन्न है कि लौकिक क्षेत्र मे जिन वस्तुओ का हम पहले परिशीलन कर चुके होते हैं उन्ही का प्रत्यभिज्ञान हमे आनन्द देता है, अन्यथा वह प्रत्यभिज्ञान ही नही होता। किन्तु काव्य मे जो परिस्थितियाँ हमारे सामने लाई जाती हैं वे सर्वथा अपरिचित होती हैं। किन्तु कुछ-कुछ जानी पहिचानी सी मालूम पडती हैं। वहाँ पाठक अपनी कल्पना से उस मूलतत्त्व का परिज्ञान प्राप्त कर लेता है जिसका अनुकरण कवि किया करता है। इस प्रकार कल्पनातत्त्व और ज्ञान-तत्त्व आनन्द के प्रवर्तन मे कारण होते हैं। उन्होने इतिहास और काव्य मे यह अन्तर बतलाया है कि काव्य का स्वरूप इतिहास से भव्यतर है क्योकि उसमे सामान्य की अभिव्यक्ति होती है और इतिहास मे विशेष की। यह सामान्य की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त भारतीय साधारणीकरण के सिद्धान्त के बहुत निकट पडता है। इसके अति-रिक्त अरस्तू द्वारा प्लैटो के भावोत्तेजन सम्बन्धी आक्षेप के उत्तर मे उन्होने कहा है कि त्रासदी विचारो और भावो को उत्तेजित ही नही करती वरन् उनका विरेचन कर मानव मस्तिष्क को स्वास्थ्य प्रदान करती है। आशय यह है कि अरस्तू ने काव्यानन्द को ही, चाहे वह कल्पना प्रसूत हो, चाहे ज्ञानार्जनजन्य और विरेचन प्रसूत मानसिक स्वास्थ्य जन्य हो, एकमात्र काव्य का प्रयोजन माना है।

उक्त दोनो आचार्य आदि युग से सम्बद्ध हैं। परवर्ती काव्यशास्त्र मे भी काव्य-प्रयोजनो पर विभिन्न दृष्टिकोण व्यक्त किये गये हैं। इनका तत्त्वानुक्रम से सक्षिप्त परिचय देकर विभिन्न मतभेदो पर सरसरी दृष्टि से विचार करना उपयुक्त होगा। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अनेक विचारको ने काव्यानन्द तथा काव्य-शिक्षा का सिद्धान्त स्वीकार किया है। फिलिप सिडनी ने काव्य का प्रयोजन माना है शिक्षा और आनन्द—

"with this end to teach and delight"

(४) कला का उद्देश्य आनन्द साधना है—इस विषय में किसी को मतभेद नहीं। काव्य का आनन्द साकातीत होता है। इसीलिये भारतीय मनीषियों ने इसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है। इसमें अन्तर्वृत्तियों में पूर्ण तन्मयता रहती है और वृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर आनन्दमय जगत् का सृजन करती है।

(५) आत्मसाक्षात्कार के लिये—यह सिद्धान्त भी भारतीय विचारधारा से मेल खाता है। विश्व में व्याप्त आत्म सत्ता का परिज्ञान प्राय माया के आवरण में हमें नहीं हो पाता। कला का प्रयोजन है रजोगुण और तमोगुण से बुने हुये परदे को विलीन कर सत्व का उद्रेक कर दे जिससे विश्व म व्याप्त आत्म सत्ता और तज्जन्य आनन्द का अनुभव किया जा सके।

(६) सेवा क लिये—यह भी उद्देश्य माना जा सकता है। कला के द्वारा सेवा सम्पन्न तो होती ही रहती है। किन्तु सेवा को ही उद्देश्य बनाना वस्तुत बहुत ही निकृष्ट है और इससे कला का स्तर गिर जाता है। यह इसका आनुषंगिक फल हो सकता है प्रमुख नहीं।

(७) मानव को मानव से मिलाने के लिये यह सिद्धान्त भी भारतीय विचार धारा से दूर नहीं और साधारणीकरण की सीमा का स्पर्श करता है। समस्त मानव जाति एक और अविभाज्य है तथा उनकी भावनायें भी एक ही होती हैं। ऐसी भावनाओ मे सभी मानव जाति को एक सूत्र मे बाँधना कला का उद्देश्य कहा जा सकता है।

उपसहार

उक्त प्रयोजनो मे अन्धो के द्वारा हाथी के देखने वाली कथा का ही अनुसरण किया जाना चाहिये। काव्य के ये सभी प्रयोजन सम्भव हैं। किन्तु आनन्द मे ही सभी की समाहिति हो सकती है। वही उसका प्रमुख प्रयोजन है जोकि कवि और परिशीलक दोनो के विषय में लागू होता है। उसी के कलेवर मे इतर प्रयोजनो को देखा जाना उचित है।

सब अगो से डूब जाना ही निस्तार बतलाया है जोकि काव्य प्रयोजन कहा जा सकता है।

कतिपय वैकल्पिक पक्ष

भारतीय तथा पाश्चात्य विचार पद्धति मे एक बहुत बडा मौलिक अन्तर यह है कि भारतीय चिन्तक समन्वयात्मक दृष्टि को अपनाते हुये चलते हैं जबकि पाश्चात्य विद्वानो मे ऐसे अवसर पर अनेक प्रवाद उठ खडे होते हैं और विभिन्न पक्ष बन जाया करते हैं। काव्य प्रयोजनो के विषय मे भी इसी प्रकार के प्रवाद उठ खडे हुये है जिनमे कतिपय ये हैं (१) कला का उद्देश्य कला ही है और कुछ नही।(२) कला का उद्देश्य जीवन के लिये है। (३) कला का उद्देश्य जीवन से पलायन है। (४)कला आनन्द के लिये है। (५) कला का उद्देश्य आत्मानुभूति है। (६) कला जीवन मे प्रवेश के लिये है।(७) कला विनोद के लिये है। (८) कला मानव को मानव से मिलाने का साधन है।

कतिपय प्रवाद पर विचारो

(१) पहला प्रवाद है कला कला के लिये है। इस वाद का प्रमुख रूप मे प्रचार आस्कर वाइल्ड और उनके सहयोगी ब्रेडले ने किया। उनका मत यह है कि कवि को प्रचारक या धर्मोपदेशक के रूप मे नही आना चाहिये। कला स्वय अपना उद्देश्य है। उसकी रचना से कवि को जो मनस्तोष होता है वही उसका सबसे बडा फल है। इस सिद्धान्त से कला के क्षेत्र मे क्षति ही अधिक हुई है। इससे कुरुचिपूर्ण साहित्य का प्रवर्तन बढा है और कविता एक खेलवाड की वस्तु रह गई है। यह ठीक है कि आत्माभिनिवेश से जो कविता लिखी जाती है उसमे रमणीयता अधिक आ जाती है। किन्तु कवि की दृष्टि से भले ही इस सिद्धात को स्वीकार किया जा सके पाठक या श्रोता की दृष्टि से जब तक प्रयोजन स्तर का लक्ष्य नही होगा कभी भी कला उन्चकोटि के निर्माण का रूप नही ले सकती।

(२) कला जीवन के लिये—एक दूसरा सिद्धान्त है। काव्य और कला को जीवन से निष्काषित नही किया जा सकता। जीवन को प्रेरणा प्रदान करना, प्रोत्साहन देना और आनन्द के साथ उचितानुचित विवेक की शक्ति जागृत करना कविता का एक बहुत बडा उद्देश्य होना चाहिये। भारतीय साहित्य की प्रवृत्ति अधिकाशत इसी लक्ष्य को लेकर हुई है इसीलिये भारतीय कलाकार उदात्त काव्य कृतियाँ प्रदान कर सके है। इसमे सन्देह नही।

(३) कला का उद्देश्य जीवन से पलायन है यह भी एक प्रवाद है। इसका भी आशय यही है कि जब सासारिक व्यक्ति व्यथित भ्रान्त और क्षुब्ध हो जाता है तब वह कोई ऐसा साधन तलाश करता है जो उसे आत्म विस्मृत कर उसके दुख दैन्य से उसकी रक्षा कर सके। यह कार्य कला के द्वारा सम्पादित किया जाता है। कला मानव को कल्पना लोक मे पहुचा देती है जहा वह अपने दुख दैन्य पराहृत जीवन मे एक शान्ति का अनुभव करता है।

और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को काव्य क्रिया के लिये उपादेय बतलाया है—

गुरूपदेशादध्येतु शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातुकस्यचित्प्रतिभावतः ॥

अर्थात् जड़ बुद्धि के लोग भी गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन करने में समर्थ हो सकते हैं किन्तु काव्य तो कभी ही किसी ही किसी प्रतिभाशाली द्वारा रचा जा सकता है। आशय यह है कि भामह के मत में प्रतिभा काव्य का अनिवार्य कारण है। किन्तु कवि को काव्य रचना करने में केवल प्रतिभा तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये अपितु शास्त्राध्ययन तथा काव्याध्ययन के द्वारा व्युत्पत्ति का विस्तार भी करना चाहिये। भामह का कहना है—

शब्दाभिधेयेविज्ञाय कृत्वातद्विदुपासनाम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥

अर्थात् शब्द शास्त्र इत्यादि को जानने वालों की सेवा और उपासना करके (उनके निकट रहकर) शब्द का तथा शब्दार्थ का ज्ञान करके साथ ही अन्य कवियों के निबन्धों का अध्ययन कर काव्य रचना में उत्साह दिखलाना चाहिए। आशय यह है कि प्रतिभा तो काव्य रचना के लिये अनिवार्य आवश्यकता है ही। शब्द शास्त्र तथा पदपदार्थ का ज्ञान भी काव्य क्रिया में विशेषता का आधान करने वाला होता है। इसी प्रकार दूसरे कवियों के काव्यों का अध्ययन करना भी रचना में विशेषता उत्पन्न कर सकता है। शब्द शास्त्र की उपलक्षण के रूप में व्याख्या की जा सकती है जिसका आशय है कि गुरु के सन्निकट रह कर अनेक शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार भामह प्रतिभा को काव्य का मूलहेतु और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को विशेषता वायक हेतु मानते हैं।

भामह के बाद दण्डी का नाम आता है। दण्डी ने भामह के असमान काव्य क्रिया में प्रतिभा को न तो एक मात्र हेतु माना है और न अनिवार्य हेतु ही माना है। उनका कहना है कि काव्य में प्रतिभा शास्त्र ज्ञान और अभ्यास तीनों मिलकर काव्य क्रिया में हेतु होते हैं—

नैसर्गिकीच प्रतिभा श्रुतंच बहु निर्मलम् ।
अमन्द श्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥

अर्थात् जन्मजात प्रतिभा अत्यन्त निर्मल शास्त्र और बड़ा बड़ा अभ्यास काव्य सम्पत्ति में कारण होते हैं। इस प्रकार ये तीनों तत्त्वों को मिलाकर काव्य हेतु के रूप में स्वीकार करते हैं। इसीलिये इन्होंने 'कारणम्' में एक वचन का प्रयोग किया है। प्रतिभा मनुष्य के प्रयत्न से सम्पादित नहीं की जा सकती। वह तो जन्मान्तर के संस्कारों के बल पर स्वतः आविर्भूत होती है। किन्तु जिन लोगों में इस प्रकार की प्रतिभा का अभाव है दण्डी उन्हें भी निराश नहीं करना चाहते। उनका कहना है कि प्रतिभा के अभाव में भी निम्न कोटि का सही काव्य बन अवश्य जाता है —

: २४ :

काव्य-हेतु

उपक्रम

'काव्य' शब्द का अर्थ है कवि का कर्म। यहा पर कर्म अर्थ मे तद्धित प्रत्यय हुआ है। इस प्रकार काव्य एक कृति है जो सर्वदा कारण सापेक्षिणी होती है। कारण को ही हेतु शब्द से अभिहित किया जाता है। तर्क शास्त्र मे कारण को कई भागो मे विभाजित किया गया है। कुछ तो उपादान कारण होते हैं जिनको समवायि कारण भी कहा जाता है। इनका कार्य मे समवाय अथवा नित्य सम्बन्ध हुआ करता है। कुछ निमित्त कारण होते हैं जिनका कार्य से सयोग-सम्बन्ध होता है। उपादान कारण अनिवार्य होते हैं और जब तक कार्य बना रहता है वे निरन्तर कार्य के अन्दर विद्यमान रहते हैं तथा उपादान कारण के नष्ट हो जाने से कार्य का ही विनाश हो जाता है। इसके प्रतिकूल निमित्त कारण कार्य मे सर्वदा सन्निहित नही रहते और निमित्त कारण के विनाश से कार्य का नाश नही होता। उदाहरण के लिये 'कपडा' एक कार्य है। इसमे सूत उपादान कारण है और जुलाहा, ताना बाना इत्यादि निमित्त कारण। ताना बाना के नष्ट हो जाने से कपडा नष्ट नही होता और न कपडे मे जुलाहा और ताना बाना निरन्तर बना ही रहता है इसके प्रतिकूल सूत कपडे मे सर्वदा बना रहता है और सूत के नष्ट हो जाने से कपडा भी नष्ट हो जाता है। काव्य के कौन-कौन हेतु हो सकते हैं इस विषय मे विद्वानो ने पर्याप्त विचार किया है। अत सर्वप्रथम प्राक्तन विद्वानो की मान्यताओ पर प्रकाश डालना अधिक समीचीन होगा।

सस्कृत काव्य शास्त्रियों द्वारा काव्य हेतु निरूपण

काव्य शास्त्र के सर्वप्राचीन आचार्य भामह माने जाते हैं। इन्होने काव्य-हेतु पर विचार व्यक्त किया हैं। इस विषय मे इन्होंने प्रतिभा को अधिक महत्त्व दिया है

और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को काव्य क्रिया के लिये उपादेय बतलाया है—

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ॥

अर्थात् जड़ बुद्धि के लोग भी गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन करने में समर्थ हो सकते हैं, किन्तु काव्य तो कभी ही किसी ही किसी प्रतिभाशाली द्वारा रचा जा सकता है। आशय यह है कि भामह के मत मे प्रतिभा काव्य का अनिवार्य कारण है। किन्तु कवि को काव्य रचना करने में केवल प्रतिभा तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये अपितु शास्त्राध्ययन तथा काव्याध्ययन के द्वारा व्युत्पत्ति का विस्तार भी करना चाहिये। भामह का कहना है—

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥

अर्थात् शब्द शास्त्र इत्यादि को जानने वालों की सेवा और उपासना करके (उनके निकट रहकर) शब्द का तथा शब्दार्थ का ज्ञान करके साथ ही अन्य कवियों के निबन्धों का अध्ययन कर काव्य रचना में उत्साह दिखलाना चाहिए। आशय यह है कि प्रतिभा तो काव्य रचना के लिये अनिवार्य आवश्यकता है ही। शब्द शास्त्र तथा पदपदार्थ का ज्ञान भी काव्य क्रिया में विशेषता का आधान करने वाला होता है। इसी प्रकार दूसरे कवियों के काव्यों का अध्ययन करना भी रचना मे विशेषता उत्पन्न कर सकता है। शब्द शास्त्र की उपलक्षण के रूप में व्याख्या की जा सकती है जिसका आशय है कि गुरु के सन्निकट रह कर अनेक शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार भामह प्रतिभा को काव्य का मूलहेतु और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को विशेषता दायक हेतु मानते हैं।

भामह के बाद दण्डी का नाम आता है। दण्डी ने भामह के असमान काव्य क्रिया में प्रतिभा को न तो एक मात्र हेतु माना है और न अनिवार्य हेतु ही माना है। उनका कहना है कि काव्य मे प्रतिभा शास्त्र ज्ञान और अभ्यास तीनों मिलकर काव्य क्रिया मे हेतु होते हैं—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥

अर्थात् जन्मजात प्रतिभा अत्यन्त निर्मल शास्त्र और बड़ा भारी अभ्यास काव्य सम्पत्ति मे कारण होते हैं। इस प्रकार ये तीनों तत्त्वों को मिलाकर काव्य हेतु के रूप म स्वीकार करते हैं। इसीलिये इन्होंने 'कारणम्' में एक वचन का प्रयोग किया है। प्रतिभा मनुष्य के प्रयत्न से सम्पादित नहीं की जा सकती। वह तो जन्मान्तर के संस्कारों के बल पर स्वतः आविर्भूत होती है। किन्तु जिन लोगों में इस प्रकार की प्रतिभा का अभाव है दण्डी उन्हें भी निराश नहीं करना चाहते। उनका कहना है कि प्रतिभा के अभाव मे भी निम्न कोटि का सही काव्य बन अवश्य जाता है —

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्न च वागुपासिता ध्रुव करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥

'यद्यपि प्राक्तन सस्कारो के गुणो के आधार पर उत्पन्न होने वाली अद्भुत प्रतिभा नही है तथापि यदि सरस्वती की उपासना शास्त्र और प्रयत्न से की जाती है तो वह कुछ न कुछ कृपा कर ही देती है।' अतएव दण्डी की सम्मति मे कवि-यश के इच्छुक लोगो को चाहिये कि आलस्य छोडकर निरन्तर ही श्रमपूर्वक सरस्वती की उपासना करें, क्योकि यदि कवित्व शक्ति कृश भी होती है तो भी परिश्रमशील व्यक्ति कवि समाज मे तथा विद्वानो के मध्य मे आनन्द लेने के अधिकारी हो जाते हैं। इस प्रकार दण्डी ने दो विरुद्ध मतो का प्रतिपादन किया है। एक ओर वे प्रतिभा, शास्त्र और अभ्यास तीनो को मिलाकर कविता मे हेतु मानते हैं और दूसरी ओर प्रतिभा के अभाव मे भी कवित्व की सम्भावना का सवल शब्दो मे प्रतिपादन करते हैं। वस्तुत प्रतिभा के अभाव मे काव्य रचना का पक्ष गौण प्रतीत होता है। मुख्य पक्ष तो तीनो की सम्मिलित कारणता को ही माना जा सकता है। पक्षान्तर की स्थापना दण्डी ने शास्त्र और अभ्यास को प्रोत्साहन देने के निमित्त की है। यह ध्यान देने की वात है कि दण्डी ने शास्त्र और अभ्यास के अभाव मे कवित्त्व की सम्भावना स्वीकार नही की है। आशय यह है कि प्रतिभा तो जन्म-जात होती है। उस पर हमारा क्या वश ? शास्त्र और अभ्यास अपने हाथ की चीजें हैं, उनके विषय मे सावधान रहना चाहिये फिर चाहे प्रतिभा हो या न हो कविता तो बन ही जाती है, और कवियों तथा विद्वानो के मण्डल मे उसके निर्माता को प्रतिष्ठा मिल जाती है, यह दूसरी वात है कि कविता इतनी अच्छी नही होगी जितनी प्रतिभा मे होगी।

वामन ने काव्य हेतुओ का नये रूप मे निर्देश किया है। काव्य हेतु को उन्होने काव्याग कहा है और उनकी सख्या तो तीन ही रक्खी है किन्तु ये तीन तत्त्व प्रचलित तत्त्वो से सर्वथा भिन्न हैं। उनके मत मे तीन काव्याग हैं—लोक, विद्या और प्रकीर्ण। लोक का अर्थ है लोक वृत्त जिसके अन्दर सम्भवत सामयिक धार्मिक राजनैतिक आर्थिक इत्यादि परिस्थितियाँ सामान्य सदाचार और लोक व्यवहार इत्यादि सभी कुछ आ जाता है। इनका काव्य के लिये उपादान किया जाता है। विद्या मे शब्द शास्त्र, स्मृति ग्रन्थ कोषग्रन्थ, कला, कामशास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्र सन्निविष्ट हो जाते हैं। इन सबका ज्ञान और यथावसर इनका उपादान काव्य रचना मे उपकारक होता है। तीसरा काव्याग है प्रकीर्ण। इसको वामन ने ६ प्रकारो मे विभाजित किया है - (१) लक्ष्यज्ञत्व अर्थात् अन्य कवियो के काव्यो का अध्ययन और मनन करना जिससे अपने लक्ष्य का ज्ञान हो जाय, (२) अभियोग—काव्य रचना के लिये प्रयत्न। इसे हम ,अन्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अभ्यास के अन्तर्गत ले सकते हैं। (३) वृद्ध-सेवा अर्थात् काव्य कला मर्मज्ञो के निकट वैठना और उनकी सेवा शुश्रूषा करना। इससे काव्य रचना प्रवृत्ति का कवि मे सरलता से सक्रमण हो जाता है और काव्य विधा तथा काव्य शास्त्रीय सिद्धान्त का भी उसे अनायास ही ज्ञान हो जाता हैं (४) अवेक्षण अर्थात् अपनी रचनाकी आलोचना और समीक्षा स्वय करना तथा सदोष पदो को हटाकर निर्दोष पदो

के रचने की प्रवृत्ति । भाशय यह है कि अपनी रचना का स्वयं संशोधन करना काव्य कला में हेतु होता है । (५) कवित्व का बीज प्रतिभा जो कि जन्मान्तर के संस्कार से शक्ति रूप में कवि में स्वतः विद्यमान रहती है और (६) अवधान अर्थात् चित्त की एकाग्रता । इसका आशय यह है कि कवि बाह्य तत्वों से अपने चित्त को हटाकर जब एक तान हो जाता है तभी कवि बुद्धि काव्यार्थों का अवलोकन कर सकती है ।

वामन के काव्यांग अन्य आचार्यों के काव्य हेतुओं से भिन्न अवश्य हैं और उन की संख्या भी अधिक बढ़ा दी गई किन्तु विश्लेषण करने पर उनका समाहार उक्त तीन हेतुओं में ही किया जा सकता । जहाँ तक लोक-वृत्त और शास्त्रीय ज्ञान का प्रश्न है दोनों ही व्युत्पत्ति के अन्दर सन्निविष्ट हो जाते हैं । अन्य ग्रन्थों का परिशीलन भी व्युत्पत्ति से पृथग्भूत नहीं है । अभियोग वृद्ध सेवा अवेक्षण और अवधान ये रचना भ्यास के ही विभिन्न रूप हैं । प्रतिभान स्पष्ट ही प्रतिभा है । इस प्रकार वामन के सभी हेतु उक्त तीन हेतुओं से यतार्थ हो जाते हैं । एक नवीन बात अवश्य दृष्टिगत होती है कि व्युत्पत्ति को आचार्य ने लोक और विद्या के रूप में विभाजित कर मुख्य हेतुओं में रक्खा है और प्रतिभा को प्रकीर्ण में डाल दिया है जिसमें तीनों हेतुओं के कुछ न कुछ प्रकार पाये जाते हैं । किन्तु विवेचन में इस दृष्टि से भी वामन अन्य आचार्यों के निकट आ गये हैं । प्रतिभा को प्रकीर्ण में गौण स्थान पर रखकर भी उन्होंने उसकी स्थिति के विषय में भामह और दण्डी दोनों का समन्वय प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । उनका कहना है कि प्रतिभा के अभाव में काव्य बन ही नहीं सकता और यदि बनेगा तो वह उपहसनीय होगा । काव्य का प्रतिभा के अभाव में न बन सकना भामह का प्रतिपाद्य है और दण्डी के अनुसार प्रतिभा के बिना भी काव्य रचना की सम्भावना तो स्वीकृत की गई है; किन्तु उस प्रकार के काव्य को उपहसनीय कहा गया है । दण्डी ने भी श्रम' तथा 'कमपि' विशेषण देकर प्रतिभाहीन काव्य को निम्नस्तर का अवश्य स्वीकार किया है ।

काव्यशास्त्र की परम्परा में वामन के बाद रुद्रट का नाम आता है । इन्होंने प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों का व्यापार स्वीकार किया है । प्रतिभा के बल पर कवि शब्दों और अर्थों के अवलोकन की क्षमता प्राप्त करता है व्युत्पत्ति से इसे दोषों के निराकरण और अलंकारादि काव्य तत्वों को उपादान की शक्ति प्राप्त हो जाती है और अभ्यास से रचना में निखार आता है । प्रतिभा को ही शक्ति के नाम से भी अभिहित किया जाता है । इसके द्वारा समाहित मन में निरन्तर अभिधेय या काव्यार्थ का अनेक रूपों में विस्फुरण होता है और उस काव्यार्थ को अभिव्यक्त करने के अनुकूल शब्द भी एकदम उठते चले आते हैं जिनसे तत्काल अर्थ बोध हो सके । रुद्रट ने प्रतिभा के दो भेद किये हैं—सहजा और उत्पाद्या । सहजा प्रतिभा जन्मजात होती है । अतः यही अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है । यह सहजा प्रतिभा अन्य हेतुओं की अपेक्षा अपने जन्म के लिए नहीं करती अपितु शास्त्रादि ज्ञान से इसका संस्कार होता

है और इसमे विशेषता का सञ्चार होता है। इसके प्रतिकूल उत्पाद्या प्रतिभा का जन्म ही बढी चढी व्युत्पत्ति से होता है। व्युत्पत्ति के अन्दर सभी प्रकार की विद्यायें और कलायें आ जाती हैं। यदि कोई कवि प्रतिभाशाली है और उसे अनेक शास्त्रो का ज्ञान भी भली भाति हो चुका है तो भी कुछ ऐसा शेष अवश्य रह जाता है जिसका अधिगम सज्जनो के साहचर्य से ही होता है। अत ऐसे कलाकारो के निकट बैठकर काव्य रचना का अभ्यास करना चाहिये जो सज्जनता के कारण अपनी प्रत्येक बात बतला दें उनसे ऐसे रहस्यो का पता चल जाता है जो सामान्यतया पुस्तको मे प्राप्त नही होते। इस प्रकार रुद्रट के मत मे प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनो व्यापारो की उपादेयता काव्य रचना के क्षेत्र मे स्वीकार की जानी चाहिये।

आनन्दवर्धन ने मुख्य रूप से काव्य हेतुओ का विवेचन नही किया है। किन्तु एक स्थान पर प्रसगवश उसमे काव्य हेतुओ की छाया आ गई है। उसको देखने से अवगत होता है कि ये काव्यशक्ति या प्रतिभा को अधिक महत्त्व देते हैं। इनका कहना है कि व्युत्पत्ति की कमी को शक्ति ढक लेती है और यदि कवि शक्त है तो उसकी कविता से उसकी व्युत्पत्ति-हीनता लक्षित ही नही की जा सकती, किन्तु यदि उसमे व्युत्पत्ति है और शक्ति नही है तो यह दोष ठीक रूप मे खुलकर तत्काल सामने आ जाता है। आशय यह है कि आनन्दवर्धन के मत मे शक्ति और व्युत्पत्ति काव्यकला के लिए दोनो प्रयोजनीय होती हैं, किन्तु शक्ति का व्युत्पत्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व है।

काव्य हेतुओ पर सर्वाधिक विस्तार से विचार राजशेखर ने किया है। इनकी नई उद्भावना यह है कि शक्ति और प्रतिभा दोनो मे अन्तर होता है। शक्ति का क्षेत्र व्यापक है और प्रतिभा का व्याप्य। किन्तु कभी-कभी शक्ति के लिए प्रतिभा शब्द का प्रयोग औपचारिक (लाक्षणिक) रूप मे कर दिया जाता है। राजशेखर के विवेचन का सार यह है —बुद्धि तीन प्रकार की होती है—अतीत वस्तु का स्मरण करने वाली स्मृति कहलाती है, वर्तमान वस्तु की मन्त्रणा करने वाली मति होती है और भविष्य अर्थ को प्रकृष्ट रूप मे ज्ञात करने वाली प्रज्ञा होती है। तीनो प्रकार की बुद्धि कवियो का उपकार करती है और दो प्रकार से उनमे स्थित रहती है एक तो जन्मजात होती है और दूसरी आहार्य। इस प्रकार कवि भी दो प्रकार के होते हैं—बुद्धिमान और आहार्य बुद्धि। तीसरे प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं जिन्हे उक्त दोनो प्रकार की बुद्धि प्राप्त नहीं होती वे काव्यक्रिया मे असाध्य होते हैं। बुद्धिमात्र को सकेतमान से ही अर्थ का प्रतिभास हो जाता है। किन्तु उसे भी एक बार उपदेश के लिये ही सही गुरुकुल की उपासना करनी पडती है। आहार्य बुद्धि मे दोनो दोष होते है—एक तो उसकी समझ मे ही कठिनाई से आता है और यदि समझ मे आता भी है तो भी उसे सन्देह बना ही रहता है। अत उसे दोनो उद्देश्यो से गुरुकुल मे रहना पडता है—अप्रतिपन्न अर्थ को प्राप्त करने के लिये भी और सन्देह को दूर करने के लिये भी।

राजशेखर के मत में काव्य में केवल शक्ति ही हेतु है। वह प्रतिभा और व्युत्पत्ति से भिन्न है और उन दोनों के द्वारा उसकी वृद्धि होती है। शक्ति तो कर्ता है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति कर्म है, अर्थात् प्रतिभा और व्युत्पत्ति का जन्म शक्ति से ही होता है। प्रतिभा का आशय है अर्थ का प्रतिभान या प्रतिभासित होना। अर्थ उन्हीं को प्रतिभासित होता है जिनमें शक्ति होती है। जिनके अन्दर प्रतिभा होती है वे न देखते हुए भी अर्थों को प्रत्यक्ष जैसा देख लेते हैं कई जन्मान्ध कवि हुए हैं किन्तु उन्होंने रूप रंग का ऐसा अच्छा चित्रण किया है कि आंखवालों के दर्शन भी उसके सामने नीचे पड़ जाते हैं। हिन्दी मे सूरदास इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। आत्मा अनेक योनियों मे भटकती हुई मानवयोनि में आती है। उसमें जन्मान्तर के संस्कार बने होते हैं, उनको वे सब अर्थ संकेतमात्र से ही प्रतिभात हो जाते हैं। यही प्रतिभा का प्रसाद है। यह प्रतिभा दो प्रकार की होती है कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की होती है और भावयित्री सहृदय की कारयित्री प्रतिभा की दृष्टि से कवि तीन प्रकार के होते हैं – सारस्वत आभ्यासिक और औपदेशिक। जन्मान्तर के संस्कार से जिनकी प्रतिभा बिना प्रयत्न के ही स्फुरित होने लगती है व सारस्वत कवि होते हैं। जिनमें बीजमात्र प्रतिभा जन्म से ही विद्यमान होती है किन्तु उसके स्फुरण के लिये अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है वे आहार्य बुद्धि के कवि आभ्यासिक कहलाते हैं। जिनकी वाणी का वैभव उपदेश के द्वारा प्रकट होता है वे दुर् बुद्धि कवि औपदेशिक कहलाते हैं। राजशेखर के मत म उत्तम कविता वही होती है जिसमें अनेक गुणों का सहयोग होता है और प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों मिलकर काव्य कला को पुष्ट करते हैं। दूसरे प्रकार की प्रतिभा भावयित्री होती है जिसकी आवश्यकता परिशीलक को पड़ती है। इस प्रतिभा के बल पर सहृदय व्यक्ति कवि के श्रम और अभिप्राय का भावन कर उसे सफल बनाता है। यदि भावयित्री प्रतिभा द्वारा कवि के अभिप्राय का भावन न किया जाय तो कवि का श्रम ही व्यर्थ हो जायेगा। इस भावयित्री प्रतिभा की आवश्यकता कवि को भी पड़ती है। जब तक कवि अपनी रचना का भावन नहीं करता तब तक वह अच्छा कवि हो ही नहीं सकता। कुछ लोग भावना को कवि का गुण नहीं मानते। उनका विचार है कि कविता की रचना तो कवि करता है और उसका भावन सहृदय करता है। स्वर्ण की उत्पत्ति अन्यत्र होती है और उसकी परीक्षा समता की कसौटी और होती है।

भावयित्री प्रतिभा दो प्रकार की होती है—अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। अरोचक नाम का एक रोग होता है जिससे भोजन स्वादिष्ट नहीं मालूम पड़ता। यह स्वास्थ्य की दृष्टि से दोष होता है किन्तु काव्य में गुण माना जाता है। काव्य में अपनी ही कृति को असन्तोष की दृष्टि से देखना और निरन्तर उसका संशोधन करने का प्रयत्न करना एक गुण है। सतृणाभ्यवहारी का अर्थ है तिनको को न बचाते हुए सभी कुछ खा जाना। प्रतिभा का यह प्रकार निकृष्ट कोटि का होता है। इसमें गुण दोष

विवेचन की शक्ति नही होती। राजशेखर का मत है कि यदि स्वाभाविक अरोचिकता हो तो वह कवि मे सर्वदा सन्निहित रहकर उसको उपकृत किया करती है।

राजशेखर के आशय का साराश यह है कि शक्ति की अपेक्षा सर्वत्र होती है। शक्ति होने पर ही प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनो का ही अधिगम हो सकता है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति से ही शक्ति का विकास होता है। कभी-कमी अभेदारोप से शक्ति को प्रतिभा शब्द से अभिहित कर दिया जाता है। यह प्रतिभा दो प्रकार की होती है— कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा रचना मे प्रयुक्त होती है और भावयित्री काव्यार्थ के भावन मे। कवि मे दोनो प्रकार की प्रतिभा अपेक्षित होती है। जब तक कवि अपनी ही कविता का भावन नही करता तब तक वह कभी भी उच्चकोटि का कवि हो ही नही सकता। कारयित्री प्रतिभा की दृष्टि से भी कवि कई प्रकार के हो सकते हैं—कुछ तो जन्मजात प्रतिभाशाली होते हैं कुछ अभ्यास से बीज रूप मे स्थित जन्मजात प्रतिभा का विकास कर काव्यकला मे प्रवृत्त होने की क्षमता प्राप्त करते हैं और कुछ गुरु के उपदेश से काव्य कला के क्षेत्र मे आते हैं। इनमे सर्वोत्तम कवि वे ही हो सकते हैं जिनमे जन्मजात प्रतिभा इस मात्रा मे विद्यमान हो कि वे बिना ही अभ्यास के काव्यकला मे प्रवृत्त हो सकें और काव्यार्थ स्वत उनके सामने नाचता चला आवे, फिर भी वे व्युत्पत्ति के लिये सचेष्ट रहे और ज्ञानवृद्धि करते जावे साथ ही उनमे अपनी रचना की आलोचना की भी प्रवृत्ति हो और दूसरो की झूठी प्रशसा से उनमे अवलेप न हो तथा निरन्तर स्वय आलोचना करते हुए अपने काव्य का सशोधन करते रहें।

राजशेखर ने इस प्रसङ्ग मे दो अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया है—श्यामदेव और मङ्गल। श्यामदेव ने मन की समाधि (समाहित अवस्था) को अधिक महत्त्व दिया है क्योकि मन की एकाग्रता से ही कवि नये नये अर्थों का अवलोकन करने मे समर्थ होता है। आचार्य मङ्गल ने अभ्यास को महत्त्व दिया है। राजशेखर ने निर्णय दिया है कि समाधि और अभ्यास दोनो ही शक्ति की उद्भावना मे सहायक होते है। समाधि तो मन की आन्तरिक अवस्था का नाम है और अभ्यास बाह्य परिशीलन का। इसके अतिरिक्त श्यामदेव का एक मत और उद्धत किया गया है कि वे सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक कवियो मे पहले को अधिक महत्त्व देते हैं, दूसरे को कम और तीसरे को उससे कम। किन्तु राजशेखर ने अपनी असहमति यह कह कर प्रकट की है कि सभी गुणो का समवाय ही काव्योत्कर्ष का कारण होता है। इसी प्रकार राजशेखर ने मगल का उल्लेख इस प्रसङ्ग में भी किया है कि वे भावयित्री प्रतिभा के दोनों भेद अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी केवल परिशीलक मे ही मानते हैं। इसके प्रतिकूल वामनीय उसे कविगत भी मानते हैं और उन्ही के मत का राजशेखर ने समर्थन किया है।

राजशेखर के बाद प्रतिष्ठित काव्य शास्त्री आचार्य मम्मट का नाम आता है। उन्होने काव्य हेतु के विषय मे लिखा है :—

राजशेखर के मत में काव्य में केवल शक्ति ही हेतु है। वह प्रतिभा और व्युत्पत्ति से भिन्न है और उन दोनों के द्वारा उसकी वृद्धि होती है। शक्ति तो कर्ता है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति कर्म हैं अर्थात् प्रतिभा और व्युत्पत्ति का जन्म शक्ति से ही होता है। प्रतिभा का आशय है अर्थ का प्रतिभान या प्रतिभासित होना। अर्थ उन्हीं को प्रतिभासित होता है जिनमें शक्ति होती है। जिनके अन्दर प्रतिभा होती है वे न देखते हुए भी अर्थों को प्रत्यक्ष जैसा देख लेते हैं कई जन्मान्ध कवि हुए हैं किन्तु उन्होंने रूप रंग का ऐसा अच्छा चित्रण किया है कि आँखवालों के वर्णन भी उसके सामने नीचे पड़ जाते हैं। हिन्दी में सूरदास इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। आत्मा अनेक योनियों में भटकती हुई मानवयोनि में आती है। उसमें जन्मान्तर के संस्कार बने होते हैं; उनको वे सब अर्थ संकेतमात्र से ही प्रतिभात हो जाते हैं। यही प्रतिभा का प्रसाद है। यह प्रतिभा दो प्रकार की होती है कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की होती है और भावयित्री सहृदय की कारयित्री प्रतिभा की दृष्टि से कवि तीन प्रकार के होते हैं—सारस्वत आभ्यासिक और औपदेशिक। जन्मान्तर के संस्कार से जिनकी प्रतिभा बिना प्रयत्न के ही स्फुरित होने लगती है वे सारस्वत कवि होते हैं। जिनमें बीजमात्र प्रतिभा जन्म से ही विद्यमान होती है किन्तु उसके स्फुरण के लिये अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है वे आहार्य बुद्धि के कवि आभ्यासिक कहलाते हैं। जिनकी वाणी का वैभव उपदेश के द्वारा प्रकट होता है वे दुर्बुद्धि कवि औपदेशिक कहलाते हैं। राजशेखर के मत में उत्तम कविता वही होती है जिसमें अनेक गुणों का सहयोग होता है और प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों मिलकर काव्य कला को पुष्ट करते हैं। दूसरे प्रकार की प्रतिभा भावयित्री होती है जिसकी आवश्यकता परिशीलक को पड़ती है। इस प्रतिभा के बल पर सहृदय व्यक्ति कवि के श्रम और अभिप्राय का भावन कर उसे सफल बनाता है। यदि भावयित्री प्रतिभा द्वारा कवि के अभिप्राय का भावन न किया जाय तो कवि का उद्यम ही व्यर्थ हो जायेगा। इस भावयित्री प्रतिभा की आवश्यकता कवि को भी पड़ती है। जब तक कवि अपनी रचना का भावन नहीं करता तब तक वह अच्छा कवि हो ही नहीं सकता। कुछ लोग भावना को कवि का गुण नहीं मानते। उनका विचार है कि कविता की रचना तो कवि करता है और उसका भावन सहृदय करता है। स्वर्ण की उत्पत्ति अन्यत्र होती है और उसकी परीक्षा अन्यत्र की कसौटी और होती है।

भावयित्री प्रतिभा दो प्रकार की होती है—अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। अरोचक नाम का एक रोग होता है जिससे भोजन स्वादिष्ट नहीं मालूम पड़ता। यह स्वास्थ्य की दृष्टि से दोष होता है किन्तु काव्य में गुण माना जाता है। काव्य में अपनी ही कृति को असन्तोष की दृष्टि से देखना और निरन्तर उसका संशोधन करने का प्रयत्न करना एक गुण है। सतृणाभ्यवहारी का अर्थ है तिनकों को न बचाते हुए सभी कुछ खा जाना। प्रतिभा का यह प्रकार निकृष्ट कोटि का होता है। इसमें गुण दोष

विवेचन की शक्ति नही होती । राजशेखर का मत है कि यदि स्वाभाविक अरोचिकता हो तो वह कवि मे सर्वदा सन्निहित रहकर उसको उपकृत किया करती है ।

राजशेखर के आशय का साराश यह है कि शक्ति की अपेक्षा सर्वत्र होती है । शक्ति होने पर ही प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनो का ही अधिगम हो सकता है । प्रतिभा और व्युत्पत्ति से ही शक्ति का विकास होता है । कभी-कभी अभेदारोप से शक्ति को प्रतिभा शब्द से अभिहित कर दिया जाता है । यह प्रतिभा दो प्रकार की होती है—कारयित्री और भावयित्री । कारयित्री प्रतिभा रचना मे प्रयुक्त होती है और भावयित्री काव्यार्थ के भावन मे । कवि मे दोनो प्रकार की प्रतिभा अपेक्षित होती है । जब तक कवि अपनी ही कविता का भावन नही करता तव तक वह कभी भी उच्चकोटि का कवि हो ही नही सकता । कारयित्री प्रतिभा की दृष्टि से भी कवि कई प्रकार के हो सकते हैं—कुछ तो जन्मजात प्रतिभाशाली होते है कुछ अभ्यास से वीज रूप मे स्थित जन्मजात प्रतिभा का विकास कर काव्यकला मे प्रवृत्त होने की क्षमता प्राप्त करते है और कुछ गुरु के उपदेश से काव्य कला के क्षेत्र मे आते हैं । इनमे सर्वोत्तम कवि वे ही हो सकते हैं जिनमे जन्मजात प्रतिभा इस मात्रा मे विद्यमान हो कि वे विना ही अभ्यास के काव्यकला मे प्रवृत्त हो सकें और काव्यार्थ स्वत उनके सामने नाचता चला आवे, फिर भी वे व्युत्पत्ति के लिये सचेष्ट रहे और ज्ञानवृद्धि करते जावें साथ ही उनमें अपनी रचना की आलोचना की भी प्रवृत्ति हो और दूसरो की झूठी प्रशसा से उनमे अवलेप न हो तथा निरन्तर स्वय आलोचना करते हुए अपने काव्य का सशोधन करते रहें ।

राजशेखर ने इस प्रसङ्ग मे दो अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया है—श्यामदेव और मङ्गल । श्यामदेव ने मन की समाधि (समाहित अवस्था) को अधिक महत्त्व दिया है क्योकि मन की एकाग्रता से ही कवि नये नये अर्थों का अवलोकन करने मे समर्थ होता है । आचार्य मङ्गल ने अभ्यास को महत्त्व दिया है । राजशेखर ने निर्णय दिया है कि समाधि और अभ्यास दोनो ही शक्ति की उद्भावना मे सहायक होते है । समाधि तो मन की आन्तरिक अवस्था का नाम है और अभ्यास वाह्य परिशीलन का । इसके अतिरिक्त श्यामदेव का एक मत और उद्धत किया गया है कि वे सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक कवियो मे पहले को अधिक महत्त्व देते हैं, दूसरे को कम और तीसरे को उससे कम । किन्तु राजशेखर ने अपनी असहमति यह कह कर प्रकट की है कि सभी गुणो का समवाय ही काव्योत्कर्ष का कारण होता है । इसी प्रकार राजशेखर ने मगल का उल्लेख इस प्रसङ्ग मे भी किया है कि वे भावयित्री प्रतिभा के दोनो भेद अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी केवल परिशीलक मे ही मानते हैं । इसके प्रतिकूल वामनीय उसे कविगत भी मानते हैं और उन्ही के मत का राजशेखर ने समर्थन किया है ।

राजशेखर के वाद प्रतिष्ठित काव्य शास्त्री आचार्य मम्मट का नाम आता है । उन्होने काव्य हेतु के विषय मे लिखा है :—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

शक्ति एक विशेष प्रकार का संस्कार होता है जिसे कवित्व बीज रूप कहा जा सकता है जिसके बिना काव्य का तो या प्रसार ही नहीं होता और यदि होता भी है तो भी उपहास योग्य बन जाता है। यह तो हुई शक्ति। स्थावर जङ्गमात्मक लोक वृत्त व्याकरण अभिधान कोष कला चतुर्वर्ग प्रस्वशास्त्रादि शास्त्र ग्रन्थ महा कवियों के काव्य और इतिहास पुराण इत्यादि के परिशीलन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे व्युत्पत्ति कहते हैं। जो लोग काव्य रचना करना अथवा उन पर विचार करना जानते हैं उनके उपदेश से काव्य करण में और काव्य योजना में जो बार बार प्रवृत्ति होती है उसे अभ्यास कहते हैं। ये तीनों मिलकर काव्य के हेतु होते हैं। उनमें पृथक रूप में कोई एक काव्य का हेतु नहीं हो सकता। यह है मम्मट के मत का सार है।

केशव मिश्र ने प्रतिभा को ही काव्य का एक मात्र कारण माना है। व्युत्पत्ति कविता का विभूषण होती है और अभ्यास उस प्रतिभा के संस्कार में कारण। वाग्भट ने भी केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास को उसका संस्कारकारक। जयदेव ने प्रतिभा को ही एकमात्र काव्य रचना के कारण माना है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को उसका सहायक।

आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रतिभा को ही काव्य हेतु के रूप म स्वीकार किया है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रतिभा का संस्कारक माना है। अतएव व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के साक्षात्कारण नहीं होते अपितु प्रतिभा के उपकारक होते हैं। इसी लिये जिसमे प्रतिभा नहीं होती उसके व्युत्पत्ति और अभ्यास व्यर्थ हो जाते हैं। उन्होंने प्रतिभा के दो भेद भी किये हैं सहजा और औपाधिकी। सहजा प्रतिभा जन्मजात होती है और औपाधिकी मन्त्रादि उपाधियों से सम्पादित की जाती है।

पण्डितराज भी केवल प्रतिभा को ही काव्य हेतु मानने वाले वर्ग में आते हैं। प्रतिभा में भी इन्होंने केवल कारयित्री प्रतिभा को स्वीकार किया है क्योंकि भावयित्री प्रतिभा का काव्य रचना में कोई विशेष उपयोग नहीं है। कवि जब अपनी ही रचना की आलोचना करता है तब वह कवि नहीं आलोचक ही होता है। पण्डितराज ने प्रतिभा के कारणों को दो भागों में विभाजित किया है—अदृष्ट और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास। कभी कभी व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव में भी प्रतिभा का स्फुरण देखा जाता है। वहां कारणता अदृष्ट को प्राप्त होती है। अदृष्ट शब्द मीमांसा दर्शन का है। वहां अदृष्ट की कल्पना इसलिए की गई है कि यज्ञादि से कालान्तर में होने वाले स्वर्गादि की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? कारण तो कार्य से तत्काल पूर्व होना चाहिये किन्तु यहाँ होता यह है कि यज्ञ जब किया जाता है उसके बीसों वर्ष बाद स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिये मीमांसकों ने अदृष्ट की कल्पना की है। यज्ञ से अदृष्ट की उत्पत्ति होती है और अदृष्ट से कालान्तर में स्वर्ग की

उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अदृष्ट एक प्रकार का सस्कार होता है जोकि कर्म से उत्पन्न हुआ करता है। पूर्वजन्मो के सस्कार से प्रतिभा की प्राप्ति होती है जोकि काव्य का कारण है। कभी कभी देवता महा पुरुप इत्यादि के प्रसाद से भी अदृष्ट की उत्पत्ति होती है। प्रतिभा का दूसरा कारण है व्युत्पत्ति एव अभ्यास। पण्डित राज का कहना है कि प्राय देखा जाता है कि कतिपय कवि कुछ समय तक कविता नही कर पाते किन्तु कुछ समय वाद व्युत्पत्ति और अभ्यास की साधना से उनके अन्दर प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है। किन्तु यहाँ पर ध्यान रखना चाहिए कि अदृष्ट जन्य प्रतिभा की अपेक्षा व्युत्पत्ति और अभ्यास से प्रादुर्भूत होने वाली प्रतिभा मे एक विलक्षणता होती है, एक नवीनता होती है। उस प्रकार की प्रतिभा से जो काव्य वनता है वह भी विलक्षण प्रकार का ही काव्य होता है। यहाँ पर एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि कभी कभी व्युत्पत्ति और अभ्यास के होने पर भी प्रतिभा की उत्पत्ति नही देखी जाती। अत इस नियम मे व्यभिचार आ जाता है कि प्रतिभा की उत्पत्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास से भी हो सकती है। इस प्रश्न का उत्तर पण्डितराज ने दो रूपो मे दिया है—एक तो वात यह है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास मे जितने और जिस प्रकार के वैलक्षण्य की आवश्यकता प्रतिभा की उत्पत्ति के लिये होती है उसमे कमी रह जाने पर स्वभावत प्रतिभा की उत्पत्ति नही होगी। आशय यह है कि जहा व्युत्पत्ति और अभ्यास के होने पर भी प्रतिभा की उत्पत्ति न हो वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि प्रतिभा की उत्पत्ति के लिये जितनी व्युत्पत्ति और जितना अभ्यास चाहिये उसमे कमी रह गई है। या फिर यह समझना चाहिये कि जन्मान्तर का कोई ऐसा विशिष्ट पाप विद्यमान है जिसने प्रतिवन्धक वन कर प्रतिभा का जन्म नही होने दिया। यह है सस्कृत काव्य शास्त्र मे प्रतिपादित काव्य हेतुओ का सक्षिप्त परिचय।

संस्कृत काव्य शास्त्र गत काव्य हेतुओ का निष्कर्ष

ऊपर काव्य हेतुओ का जो सक्षिप्त परिचय दिया गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत काव्य शास्त्र का प्राय प्रत्येक आचार्य ने तीन हेतुओ को किसी न किसी रूप मे स्वीकार करता है—प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास। जिन लोगो ने कुछ अन्य कल्पनायें की हैं उनका भी अन्तर्भाव इन्ही तीन हेतुओ मे हो जाता है। तीन हेतुओ की मान्यताओ मे मतभेद नही है। मतभेद है तो इनकी स्थिति तथा इनके प्रभाव के तारतम्य या इनके परस्पर सम्बन्ध के विषय मे। इस दृष्टि से इस दिशा मे कई पक्ष वनाये जा सकते हैं—(१) प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनो ही पृथक्-पृथक् कारण हैं। (२) तीनो मिलकर काव्य के हेतु होते हैं अर्थात् किसी एक की भी कमी मे काव्य रचना नही हो सकती। (३) प्रतिभा अनिवार्य कारण है। उसके विना काव्य रचना नही हो सकती। शेष दो कवितायें विशेषता का आ७ान करने वाले हैं। उनके अभाव मे भी कविता वन सकती है पर अच्छी नही वनेगी। (४) प्रतिभा ही एक मात्र कविता का कारण है, शेष दो प्रतिभा के कारण हैं। (५) प्रतिभा के अभाव मे

भी काव्य की रचना सम्भव है। यह दूसरी बात है कि वह उतनी अच्छी नहीं बनेगी। (६) कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभा कवि में अपेक्षित होती है। (७) कवि में केवल कारयित्री प्रतिभा ही अपेक्षित है भावयित्री प्रतिभा नहीं। (८) प्रतिभा की कमी का दोष छिपाये नहीं छिपता किन्तु व्युत्पत्ति के अभाव का दोष प्रतिभा से छिप जाता है। (९) अवधान तथा लोक वृत्त ही प्रधानतया काव्य रचना में कारण होते हैं। ये कतिपय पक्ष हैं जो विभिन्न आचार्यों के मत से काव्य हेतु के रूप में स्थापित किये जा सकते हैं। इनमें आधिक सत्य सर्वत्र विद्यमान है। हम संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रतिभा काव्य का उपादान कारण है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास निमित्त कारण।

काव्य हेतुओं का स्वरूप

काव्य हेतुओं में सबप्रधान है प्रतिभा' उसके स्वरूप पर विचार कर लेना चाहिये। ऊपर कारण विवेचन के प्रसंग में यथास्थान प्रतिभा का स्वरूप भी स्पष्ट होता गया है। प्रतिभा की विभिन्न आचार्यों द्वारा की हुई परिभाषायें इस प्रकार हैं— भट्टतौत ने कहा है कि 'नवनवोन्मेष शालिनी प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहते हैं' जब कवि उस प्रतिभा से अनुप्राणित हो जाता है तब उसके वर्णन में जीवन आ जाता है। हम राजशेखर के प्रसग में देख चुके हैं कि प्रज्ञा एक प्रकार की बुद्धि होती है जो भविष्य अर्थ को देख लेती है और अतीत को देखने वाली स्मृति तथा वर्तमान को देखने वाली स्मृति तथा वर्तमान को देखने वाली मति की यह सयुक्त मिली होती है। एक दूसरे विवेचक ने प्रज्ञा को त्रकालिकी बतलाया है जो भूत भविष्य और वर्तमान तीनों को देख सकती है। इसी प्रज्ञा में जब ऐसी शक्ति आ जाती है कि तुलसी के शब्दों में नये-नये अर्थ उसी प्रकार दिखलाई देने लगते हैं जैसे किसी जादू के अंजन को लगा लेने से गड़े हुये खजाने दृष्टिगत हो जाते हैं तब उसे प्रतिभा कहते हैं। अभिनव गुप्त ने भी अपने साहित्य गुरु भट्टतौत का अनुसरण कर प्रतिभा की यही परिभाषा स्वीकार की है। उनका कहना है कि अपूर्व वस्तु निर्माणक्षम प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं। एक दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा है कि वर्णनीय वस्तु को नये-नये रूप में प्रस्तुत करने की शक्ति को प्रतिभा कहते हैं। मम्मट ने प्रतिभा को एक विशेष प्रकार का संस्कार माना है जो कि कवित्व बीजरूप होती है। राजशेखर की दृष्टि से प्रतिभा का परिचय पहले ही दिया जा चुका है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि शब्द ग्राम अर्थ समुदाय अलंकार तन्त्र उक्ति मार्ग या और भी ऐसी ही काव्य सम्बन्धी विशेषताओं को हृदय में जो प्रतिभासित करती है उसे प्रतिभा कहा जाता है। सारांश यह है कि प्रतिभा एक ऐसा तत्त्व है जो हृदय में नई-नई कल्पनायें जाग्रत करती रहती है। नई-नई वस्तुओं के दर्शन कराती रहती है। कवि की निर्मल प्रतिभा में विश्व उसी प्रकार प्रतिफलित होता रहता है जिस प्रकार दर्पण के सामने आने वाली वस्तु प्रतिफलित हो जाती है। वह अपनी कल्पना के द्वारा नये विश्व की रचना करने में समर्थ हो जाता है जो अभिनव गुप्त और मम्मट के

उत्पत्ति होती है । इस प्रकार अदृष्ट एक प्रकार का सस्कार होता है जोकि कर्म से उत्पन्न हुआ करता है । पूर्वजन्मो के सस्कार से प्रतिभा की प्राप्ति होती है जोकि काव्य का कारण है । कभी कभी देवता महा पुरुष इत्यादि के प्रसाद से भी अदृष्ट की उत्पत्ति होती है । प्रतिभा का दूसरा कारण है व्युत्पत्ति एव अभ्यास । पण्डित राज का कहना है कि प्राय देखा जाता है कि कतिपय कवि कुछ समय तक कविता नही कर पाते किन्तु कुछ समय वाद व्युत्पत्ति और अभ्यास की साधना से उनके अन्दर प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है । किन्तु यहाँ पर ध्यान रखना चाहिए कि अदृष्ट जन्य प्रतिभा की अपेक्षा व्युत्पत्ति और अभ्यास से प्रादुर्भूत होने वाली प्रतिभा मे एक विलक्षणता होती है, एक नवीनता होती है । उस प्रकार की प्रतिभा से जो काव्य वनता है वह भी विलक्षण प्रकार का ही काव्य होता है । यहाँ पर एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि कभी कभी व्युत्पत्ति और अभ्यास के होने पर भी प्रतिभा की उत्पत्ति नही देखी जाती । अत इस नियम मे व्यभिचार आ जाता है कि प्रतिभा की उत्पत्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास से भी हो सकती है । इस प्रश्न का उत्तर पण्डितराज ने दो रूपो मे दिया है—एक तो वात यह है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास मे जितने और जिस प्रकार के वैलक्षण्य की आवश्यकता प्रतिभा की उत्पत्ति के लिये होती है उसमे कमी रह जाने पर स्वभावत प्रतिभा की उत्पत्ति नही होगी । आशय यह है कि जहा व्युत्पत्ति और अभ्यास के होने पर भी प्रतिभा की उत्पत्ति न हो वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि प्रतिभा की उत्पत्ति के लिये जितनी व्युत्पत्ति और जितना अभ्यास चाहिये उसमे कमी रह गई है । या फिर यह समझना चाहिये कि जन्मान्तर का कोई ऐसा विशिष्ट पाप विद्यमान है जिसने प्रतिवन्धक वन कर प्रतिभा का जन्म नही होने दिया । यह है सस्कृत काव्य शास्त्र में प्रतिपादित काव्य हेतुओ का सक्षिप्त परिचय ।

सस्कृत काव्य शास्त्र गत काव्य हेतुओ का निष्कर्ष

ऊपर काव्य हेतुओ का जो सक्षिप्त परिचय दिया गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत काव्य शास्त्र का प्राय प्रत्येक आचार्य ने तीन हेतुओ को किसी न किसी रूप मे स्वीकार करता है—प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास । जिन लोगो ने कुछ अन्य कल्पनायें की हैं उनका भी अन्तर्भाव इन्ही तीन हेतुओ में हो जाता है । तीन हेतुओ की मान्यताओ मे मतभेद नही है । मतभेद है तो इनकी स्थिति तथा इनके प्रभाव के तारतम्य या इनके परस्पर सम्वन्ध के विषय मे । इस दृष्टि से इस दिशा मे कई पक्ष वनाये जा सकते हैं—(१) प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनो ही पृथक्-पृथक् कारण हैं । (२) तीनो मिलकर काव्य के हेतु होते हैं अर्थात् किसी एक की भी कमी मे काव्य रचना नहीं हो सकती । (३) प्रतिभा अनिवार्य कारण है । उसके विना काव्य रचना नही हो सकती । शेष दो कवितायें विशेषता का आधान करने वाले हैं । उनके अभाव मे भी कविता वन सकती है पर अच्छी नही वनेगी । (४) प्रतिभा ही एक मात्र कविता का कारण है, शेष दो प्रतिभा के कारण हैं । (५) प्रतिभा के अभाव मे

के अनुकूल प्रतिभा का प्रादुर्भाव हुआ। आगे चलकर अरस्तू ने दैवी प्रेरणा को अस्वीकार कर दिया और कहा कि कविता की प्रवृत्ति मानव स्वभाव की ही प्रवृत्ति है। मानव का स्वभाव है अनुकरण द्वारा ज्ञान लाभ करना और साथ ही वह सामञ्जस्य का भी प्रेमी है। यह अनुकरण और सामञ्जस्य की प्रवृत्ति ही मानव को काव्यरचना में प्रवृत्त करती है। इसका आशय यह नहीं है कि अरस्तू कविता के हेतु प्रतिभा से अपरिचित था या उसकी दृष्टि में प्रतिभा कविता का कारण नहीं हो सकती। उसने अनेकधा इस बात का प्रतिपादन किया है कि कविता अन्तःस्फूर्त तत्त्व है। यह अन्तःस्फूर्ति का तत्त्व प्रतिभा के हेतुओं में अधिकाधिक अपना स्थान बनाता गया और मध्ययुग पुनर्जागरण काल और १६ सदी के मध्य भाग तक इस धारणा का प्राबल्य रहा। कवि की प्रज्ञा पदार्थ का स्पर्श कर अधिक सरसता से उद्बुद्ध हो जाती है। आगे चलकर प्रतिभा का सम्बन्ध चेतना के अन्तर्द्वन्द्व और वंश प्रभाव आदि से जोड़ दिया गया।

कविता के दूसरे हेतु निपुणता को भी अरस्तू ने महत्त्व प्रदान किया है किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि इन दोनों में सापेक्षिक महत्त्व किसका अधिक है। परवर्ती विवेचकों ने तो प्रतिभा को ही अधिक महत्त्व दिया है। इस विषय में डॉ॰ नगेन्द्र के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं— होरेस और उनके अनुयायी नव्य शास्त्रवादियों को छोड़कर अन्य सभी काव्यचिन्तकों ने प्रतिभा को ही प्राथमिकता प्रदान की है। वास्तव में होरेस पोप इत्यादि का भी यह साहस नहीं हुआ कि प्रतिभा को गौण स्थान दें परन्तु उनके विवेचन की मूल व्यञ्जना निपुणता और अभ्यास के ही पक्ष में थी।

ली हण्ट ने कल्पना और चिन्तन को काव्यहेतु के रूप में स्वीकार किया है। विलियम हैजलिट ने कल्पना और भावना की भाषा को कविता कहकर इन दोनों तत्त्वों को मानो काव्य हेतु के रूप में स्वीकार कर लिया है। रस्किन ने भी कल्पना तत्त्व को कला का साधन बतलाया है। वस्तुतः जीवन के विविध पक्षों और दृश्यों का प्रत्यक्षीकरण अमूर्त का मूर्तकरण इत्यादि तत्त्व कल्पना प्रसूत ही होते हैं। अतः कल्पनातत्त्व का काव्य हेतुओं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कल्पना के माध्यम से प्रसूत चित्र भाव को प्रेरित करते हैं और उनसे विचारों को उत्तेजना मिलती है।

क्रोचे ने अन्तर्दृष्टि अन्तःप्रवृत्ति चिन्तन कल्पना विचार अलंकरण की प्रवृत्ति और प्रतिनिधित्व की आकांक्षा को काव्य प्रेरणा में अत्यधिक महत्त्व दिया है। ली हण्ट ने प्रत्युत्पन्न मति को भी काव्य का प्रेरक बतलाया है।

उपसंहार

काव्य हेतुओं पर विचार भारतीय काव्य शास्त्र का जैसा प्रमुख विषय रहा है वैसा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में नहीं रहा। वहाँ प्रधान रूप से काव्य के प्रेरक तत्त्वों पर ही विचार किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य हेतु के रूप में प्रतिभा को ही अधिकांश रूप में स्वीकार किया है। यही विचार अधिकांश भारतीय मनीषियों का

शब्दो मे दृश्यमान जगत की अपेक्षा कही अधिक उत्कृष्ट होता है। नवीन अर्थ की परिकल्पना अ. व्यक्ति के अनुकूल नवीन शब्द योजना सौन्दर्याधान के लिये अलकार तथा गुण योजना यह सब प्रतिभा का ही विलास है।

हेमचन्द्र ने प्रतिभा के विकास के विषय मे एक नई बात कही है। उनका कहना है प्रतिभा सूर्य के समान प्रकाशमान होती है। जिस प्रकार अभ्रपटल सूर्य को आवृत कर लेता है और उसका प्रकाश दृष्टि से ओझल हो जाता है उसी प्रकार कुसस्कार प्रकाश स्वरूप आत्मा पर आवरण डाल देते है जिससे वह प्रकाश कुण्ठित हो जाता है। फिर जब कारण विशेष से वह आवरण भग हो जाता है तब प्रतिभा क्रियाशील हो जाती है और नवीन शब्दो और अर्थों को प्रकाशित करने लगती है। जो आवरण या विघ्न प्रतिभा के प्रकाश को रोकते हैं उनके स्वाभाविक रूप का उपशम हो जाता है और भविष्य मे इन आवरणो के पुन प्रादुर्भाव की सम्भावना समाप्त हो जाती है, तब जो प्रतिभा प्रादुर्भूत होती है वह सहजा प्रतिभा कही जाती है। इसके प्रतिकूल मन्त्र इत्यादि के बल से जब प्रतिभा जागृत की जाती है वह उत्पाद्या होती है। क्षेमेन्द्र ने कवि कण्ठाभरण मे कई मन्त्रो और तान्त्रिक विधियो का उल्लेख किया है जिनसे प्रतिभा का उद्भव हो जाता है।

काव्य का दूसरा हेतु है व्युत्पत्ति। वस्तुत लोक हृदय का ज्ञान प्राप्त करने के लिये व्युत्पत्ति परम आवश्यक होती है। इस व्युत्पत्ति के अन्तर्गत सभी प्रकार का शास्त्रीय और लौकिक ज्ञान आ जाता है और साथ ही लक्षण ग्रन्थो और लक्ष्य ग्रन्थो का ज्ञान भी इसी व्युत्पत्ति के अन्तर्गत आ जाता है। कवि कण्ठाभरण मे कवियो के सौ कर्तव्य कर्म बतलाये गये हैं जिनमे अधिकाश का व्युत्पत्ति से ही सम्बन्ध है। उसमे उन्होने दिखलाया है कि किस प्रकार लोक का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप मे हो सकता है। तीसरा हेतु है अभ्यास। इसके अभाव मे अनेक प्रतिभायें कुण्ठित होकर व्यर्थ हो जाती हैं। कवियो तथा सम्भ्रान्त व्यक्तियो के पास बैठकर काव्य रचना का अभ्यास प्रतिभा को उकसाता है और काव्य-कला मे प्रवीणता उत्पन्न करता है। अभ्यास से कविता मज जाती है और उसमे नवीन चमक-दमक तथा नवीन शक्ति आ जाती है। क्षेमेन्द्र ने अभ्यास के प्रकार भी लिखे हैं जैसे अर्थहीन शब्द जोडने से छन्द का अभ्यास हो जाता है। इसी प्रकार प्रसिद्ध पद्यो से कुछ शब्द हटाकर अपने शब्द रखना और फिर सौन्दर्य का तारतम्य देखना, पुराने पद्यो के अर्थ मे नई रचना करना इत्यादि कतिपय प्रकार हैं जिनसे कोई भी व्यक्ति काव्य-कला मे निष्णात हो जाता है।

पाश्चात्य काव्य शास्त्र में काव्य हेतु के कतिपय तत्व

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में चिर अतीत मे कविता के हेतु के रूप दैवीशक्ति को स्वीकार किया जाता था। इन विचारकों का मत था कि दैवी प्रेरणा से ही काव्याभिनिवेश और काव्यकरण शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। अनेकश इस प्रकार के उल्लेख पाये जाते हैं जिनमें बतलाया गया है कि वाग्देवता के आवेश से ही कविता

२५

काव्य की आत्मा

१ आत्मा शब्द और साहित्य में उसका प्रयोग
२ भारतीय काव्यशास्त्र में आत्म तत्त्व का विवेचन
३ अलंकार सम्प्रदाय
४ रीति सम्प्रदाय
५ ध्वनि सम्प्रदाय
६. वक्रोक्ति सम्प्रदाय
७. रस सिद्धान्त
८. औचित्य सम्प्रदाय
९ पाश्चात्य काव्य शास्त्र में काव्य जीवन पर विचार
१० समीक्षात्मक उपसंहार

आत्मा-शब्द और साहित्य में उसका प्रयोग

आत्म शब्द दर्शन से लोक व्यवहार में और वहाँ से काव्य-शास्त्र में आया है। दर्शन में आत्मा की अनेक रूपों में व्याख्या की गई किसी ने उसे चेतना का पर्याय माना किसी ने ज्ञानाधिकरण कहा। उसकी सत्ता और स्वरूप तथा उसके व्यापार इत्यादि के विषय में अनेक प्रकार के वाद-विवाद उठते रहे और उस आधार पर अनेक पक्षों तथा वादों का प्रवर्तन हुआ। किन्तु दर्शन के उस पचड़े में पड़कर यहाँ यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि लोक व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग आत्मा की व्यापकता के साधर्म्य को लेकर व्यापक अर्थ से होने लगा है। आत्मा जीवन का भी प्रतीक है और सार भाग को भी औपचारिक रूप से आत्मा ही कहा जाता है। जब हम काव्य की आत्मा शब्द का प्रयोग करते हैं तब उससे इन्हीं अर्थों की प्रतीति होती है। आत्मा विषयक विचिकित्सा का आशय यही है कि काव्य का कौन-सा तत्त्व काव्य की समस्त वस्तु सत्ता और प्रक्रिया में व्याप्त है? किस तत्त्व के अन्दर सभी तत्त्वों का समावेश सफलता पूर्वक किया जा सकता है? किसके उच्चारण से काव्य की सभी विशेषताओं का परिचय मिल जाता है? काव्य का सार क्या है? किस तत्त्व के अभाव में काव्य मृतवत् प्रतीत होने लगता है? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देना ही काव्य की आत्मा सम्बन्धी जिज्ञासा का आशय है सारांश यह है कि काव्य के प्रधान तत्त्व का परिशीलन ही काव्य के आत्म निरूपण के क्षेत्र में आता है।

भी है। कतिपय अपवादो को छोडकर न भारत मे ही और न पश्चिम मे ही निपुणता को प्रतिभा से वढकर या उसके समकक्ष स्थान दिया जाता है। वस्तुत प्रतिभा कविता के लिये अनिवार्य हेतु है इसमे सन्देह नही हो सकता। किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास की भी उपेक्षा नही की जा सकती। व्युत्पत्ति के अभाव मे कितने ही प्रतिभाशाली व्यक्ति अज्ञात रूप मे ही इस विश्व से चले जाते है। जैसा कि ग्रे ने न जाने कितने कालिदास तुलसीदास शेक्सपियर इत्यादि अशिक्षित चरवाहो और मजदूरो मे नष्ट हो जाते हैं। व्युत्पत्ति के अभाव मे उनमे काव्यस्फूर्ति होती ही नही। इसी प्रकार कितने ही व्युत्पन्न व्यक्ति कवि नही वन पाते क्योकि उनको कविता का अभ्यास करने का अवसर नही मिलता। रस गगाधरकार के इस कथन मे नितान्त सत्य है कि सहजा प्रतिभा तो होती ही है और वही काव्य का प्रधान कारण है। किन्तु अनेकश देखा जाता है कि जो लोग पहले कवि नही होते, परन्तु वाद मे व्युत्पत्ति और अभ्यास के वल पर काव्य क्रिया मे सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। अत कविता मे जहाँ प्रतिभा कारण है वहाँ व्युत्पत्ति और अभ्यास भी अनुपेक्षणीय है। चाहे हम उन्हें प्रतिभा के समान स्थान दें चाहे प्रतिभा से निम्नस्तर पर रक्खें और चाहे प्रतिभा का ही जनक कारण कहे अवश्य ही उनका उपयोग काव्य क्रिया मे है। दण्डी के इस मत मे भी सार है कि प्रतिभा के अभाव में भी निम्नकोटि की ही सही व्युत्पत्ति और अभ्यास से कविता सम्भव है और ऐसी कविता से विदग्ध गोष्ठियो मे भी आदर प्राप्त हो जाता है।

कि जब आत्म तत्वानुसन्धान की बात चलने लगी और प्रमुख रूप से नये नये सिद्धांत निकलने लगे तब अलंकार अपना महत्व खोता गया और ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तन के बाद तो सम्भवतः एक भी आचार्य ऐसा नहीं हुआ जिसने काव्य में अलंकारों को प्रधानता प्रदान करने का साहस किया हो। यहाँ तक कि अग्नि की उष्णता के समान काव्य में अलंकारों को अनिवार्य प्रतिपादित करने वाले जयदेव ने भी रसादि को अलंकारों के शासन में रखना उचित नहीं समझा और उनका अलंकारों के क्षेत्र से भिन्न मुक्त स्वतंत्र विवेचन ही प्रस्तुत किया है। किन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों ने अलंकारों के शासन में ही समस्त काव्य तत्व को रक्खा है। यदि उनके समय में आत्म तत्व चिन्तन की परम्परा चल पड़ी होती तो वे मधुष्ठ भाव से अलंकारों को काव्य की आत्मा कह देते। उनका प्रतिपादन ऐसा ही है और उनके मत में अलंकारों को काव्य की आत्मा माना जा सकता है। इस प्रकार यदि ऐतिहासिक कालक्रम से काव्यात्मा के विभिन्न मतों पर विचार किया जाय तो उनका क्रम होगा—अलंकार रीति ध्वनि वक्रोक्ति, रस और औचित्य। यही ६ सम्प्रदाय काव्यशास्त्र में प्रचलित हैं। अग्रिम पृष्ठों पर इसी क्रम से इन पर विचार किया जायेगा।

अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं—भामह, दंडी और उद्भट। रुद्रट को भी हम इसी सम्प्रदाय में रख सकते थे उन्होंने भी अलंकारों का सर्वाधिक विस्तार से विवेचन किया है—किन्तु उन्होंने रस को अलंकारों के शासन से मुक्त कर उसकी सीमा को सकुचित अवश्य कर दिया है। इसी प्रकार यदि वामन ने रीति को स्पष्ट ही काव्य की आत्मा न कह दिया होता और अलंकारों की प्राधान्यता-सम्पादक भाव न कहा होता तो वामन भी अलंकार सम्प्रदाय में आ जाते। क्योंकि उनका अलंकार का लक्षण सौंदर्यमलंकार इतना व्यापक है कि वह अलंकार को सुविधापूर्वक आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित कर देता है। आशय यह है कि ध्वनिकार से पूर्ववर्ती प्रायः सभी आचार्यों की दृष्टि में अलंकार एक व्यापक तत्व है और अलंकार की महत्ता अक्षुण्ण है। कुछ भी हो कम से कम तीन प्रतिष्ठित आचार्य भामह दंडी और उद्भट तो असंदिग्ध रूप में अलंकार-सम्प्रदायवादी ही कहे जा सकते हैं। अतः इन लोगों के मत में काव्य की आत्मा अलंकार को कहा जा सकता है।

भामह ने काव्य लक्षण में एकमात्र अलंकार पर ही विचार किया है। उनका कहना है कुछ लोग केवल अर्थालंकारों को ही काव्य कहते हैं। क्योंकि —

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।

अर्थात् रूपवान भी वनिता-मुख बिना आभूषण के शोभित नहीं होता। दूसरे लोग अर्थालंकार को बाह्य बतलाते हैं और शब्द व्युत्पत्ति को वाणी का अलंकार (शब्दालंकार) मानते हैं। किन्तु हमारे मत में तो शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों अभीष्ट हैं और शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों मिलकर काव्यत्व का सम्पादन

भारतीय तथा पाश्चात्य मनीषियो ने किसी एक तत्व को प्रमुख मानकर इतर तत्वो को उसी म अन्तर्युक्त करने की चेष्टा की है। इस विषय मे भारत तथा पाश्चात्य देशो मे अनेक सम्प्रदाय अथवा सिद्धान्तो का प्रचार हुआ है। यहाँ प्रमुख तत्वो की काव्यात्म विषयक विवेचना का सक्षिप्त परिचय देकर इस बात की परीक्षा की जायेगी कि कौन-सा सिद्धात किस सीमा तक काव्य की आत्मा बनने का अधिकारी है और कौन तत्त्व निर्दुष्ट रूप मे इस पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

भारतीय काव्य शास्त्र मे आत्म तत्व का विवेचन

भारतीय काव्य शास्त्र मे काव्यात्म तत्त्व का सर्वप्रथम विवेचन वामन के काव्यालकार सूत्र मे अधिगत होता है। उसके पहले दडी काव्य शरीर का उल्लेख कर चुके थे। दडी ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर बतलाया था और वामन ने रीति को आत्मा कहा। इस प्रकार आगे चल कर जो पूरा रूपक बाधा गया उसका सूत्रपात वही से समझा जाना चाहिए। ध्वनिकार को काव्य शरीर विषयक दडी की मान्यता पर तो आपत्ति नही हुई किन्तु वामन द्वारा प्रतिपादित काव्यात्मा का उन्होने प्रतिषेध किया तथा कहा कि रीति को आत्मा कहना आत्मानुसधान के क्षेत्र मे बीच मे ही भटक जाना है। काव्य की आत्मा तो वस्तुत ध्वनि ही हो सकती है। कुन्तक को ध्वनि सिद्धात मे एक नया प्रवर्तन दिखलाई दिया। अत यद्यपि ध्वनि सिद्धात का उन्होंने विस्तृत खडन तो नही किया—यह कार्य उन्होंने महिम के लिये छोड दिया—किंतु काव्य जीवन के रूप मे पुराने काव्यशास्त्र मे प्रचलित वक्रोक्ति शब्द को ढूँढ निकाला। तथा खडन मडन के पचडे मे न पडते हुये सबल और प्रौढ रूप में उसी को काव्य की आत्मा सिद्ध कर दिया। यह सारी परिस्थिति राजशेखर के सामने थी। अत अब रूपक के पूरे करने का अवसर आ चुका था। राजशेखर ने काव्य पुरुष के रूपक की ही कल्पना नहीं की किंतु उसके जन्म पर भी प्रकाश डाला। काव्य-पुरुष के रूपक के विषय मे उन्होने शब्द और अर्थ को शरीर बतलाया। सस्कृतादि भाषा मे मुखादि विभिन्न अगो का निर्देश किया, रस को आत्मा बतलाया और अनुप्रास उपमा इत्यादि को आभूषणो के रूप मे स्वीकार किया। रस को महत्त्व तो प्राय सभी आचार्य देते चले आये थे—ध्वनिकार ने भी रस ध्वनि को ही काव्य की आत्मा कहकर रस की आत्म रूपता को यथा कथंकिचत स्वीकार ही कर लिया था किन्तु कठरव से रस को आत्मा प्रथम बार राजशेखर ही ने कहा। आगे चलकर विश्वनाथ भी इसी मत के हो गये और उन्होंने रस को ही काव्य की आत्मा माना। क्षेमेन्द्र ने मानो सबका समझौता कराने के लिए एक नये तत्त्व औचित्य को काव्य की आत्मा माना जिससे किसी के प्रति न तो पक्षपात ही प्रकट होता था और न कोई भी विवेचक इस मान्यता के प्रति अरुचि ही प्रकट कर सकता था।

काव्य का केवल एक तत्त्व शेष रह गया जिसको आचार्यों ने सम्मान तो बहुत दिया किन्तु आत्मा किसी ने नही कहा। वह तत्त्व था अलकार। बात यह है

कि जब आत्म तत्वानुसन्धान की बात चलने लगी और प्रमुख रूप से नये नये सिद्धांत निकलने लगे तब अलंकार अपना महत्त्व खोता गया और ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तन के बाद तो सम्भवतः एक भी आचार्य ऐसा नहीं हुआ जिसने काव्य में अलंकारों को प्रधान रूपता प्रदान करने का साहस किया हो। यहाँ तक कि ध्वनि की उच्चता के समान काव्य में अलंकारों को अनिवार्य प्रतिपादित करने वाले जयदेव ने भी रसादि को अलंकारों के शासन में रखना उचित नहीं समझा और उनका अलंकारों के क्षेत्र से विनिर्मुक्त स्वतन्त्र विवेचन ही प्रस्तुत किया है। किन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों ने अलंकारों के शासन में ही समस्त काव्य तत्त्व को रक्खा है। यदि उनके समय में आत्म तत्त्व चिन्तन की परम्परा चल पड़ी होती तो वे प्रकृष्ट भाव से अलंकारों को काव्य की आत्मा कह देते। उनका प्रतिपादन ऐसा ही है और उनके मत में अलंकारों को काव्य की आत्मा माना जा सकता है। इस प्रकार यदि ऐतिहासिक कालक्रम से काव्यात्मा के विभिन्न मतों पर विचार किया जाय तो उनका क्रम होगा—अलंकार रीति ध्वनि वक्रोक्ति, रस और औचित्य। यही ६ सम्प्रदाय काव्यशास्त्र में प्रचलित हैं। अग्रिम पृष्ठों पर इसी क्रम से इन पर विचार किया जायेगा।

अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं—भामह दंडी और उद्भट। रुद्रट को भी हम इसी सम्प्रदाय में रख सकते थे उन्होंने भी अलंकारों का सर्वाधिक विस्तार से विवेचन किया है— किन्तु उन्होंने रस को अलंकारों के शासन से मुक्त कर उसकी सीमा को संकुचित अवश्य कर दिया है। इसी प्रकार यदि वामन ने रीति को स्पष्ट ही काव्य की आत्मा न कह दिया होता और अलंकारों को ग्राह्यता-सम्पादक भाव न कहा होता तो वामन भी अलंकार सम्प्रदाय में आ जाते। क्योंकि उनका अलंकार का लक्षण सौन्दर्यमलंकार इतना व्यापक है कि वह अलंकार को सुविधापूर्वक आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित कर देता है। आशय यह है कि ध्वनिकार से पूर्ववर्ती प्रायः सभी आचार्यों की दृष्टि में अलंकार एक व्यापक तत्त्व है और अलंकार की महत्ता अक्षुण्ण है। कुछ भी हो कम से कम तीन प्रतिष्ठित आचार्य भामह दंडी और उद्भट तो असंदिग्ध रूप में अलंकार-सम्प्रदायवादी ही कहे जा सकते हैं। अतः इन लोगों के मत में काव्य की आत्मा अलंकार को कहा जा सकता है।

भामह ने काव्य लक्षण में एकमात्र अलंकार पर ही विचार किया है। उनका कहना है कुछ लोग केवल अर्थालंकारों को ही काव्य कहते हैं। क्योंकि —

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।

अर्थात् रूपवान भी वनिता-मुख बिना आभूषण के शोभित नहीं होता। दूसरे लोग अर्थालंकार को बाह्य बतलाते हैं और शब्द व्युत्पत्ति को वाणी का अलंकार (शब्दालंकार) मानते हैं। किन्तु हमारे मत में तो शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों अभीष्ट हैं और शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों मिलकर काव्यत्व का सम्पादन

करते हैं। भामह के समय तक रसतत्त्व काव्य क्षेत्र मे मान्य हो चुका था। भामह ने उसको अलकारो मे ही अन्तर्भुक्त करने की चेष्टा की। उसके वाद क्षेत्र मे आने वाले प्रमुख काव्य-सम्प्रदाय रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति हैं। रीति की मान्यता का तो भामह ने सर्वथा प्रत्याख्यान ही किया है। वक्रोक्ति को अलकार का साधक धर्म मात्र माना। इस प्रकार रीति और वक्रोक्ति ये दोनो सिद्धान्त भी रस के समान अलकार के ही शासन मे आ गये हैं। ध्वनि का उस समय तक परिज्ञान नही था। अत उसके विषय मे आचार्य ने कुछ नही कहा। किन्तु ध्वनि का अभिप्रेत व्यग्यार्थ की प्रधानता का सिद्धान्त किसी न किसी रूप मे भामह के काव्यालकार मे भी प्रतिफलित हुआ है। भामह ने पर्यायोक्त इत्यादि कतिपय ऐसे अलकार रक्खे हैं जिनमे ध्वनि का अन्तर्भाव किया जा सकता है। इस प्रकार भामह के मत मे अलकार समस्त काव्य तत्त्वो मे व्यापक है। अलकार से ही समस्त काव्य तत्त्वो का अनुगम हो जाता है। यह काव्य मे प्राण प्रतिष्ठा करने वाला है। वार्ता को काव्य नही कह सकते क्योकि उसमे अलकार नही होता। आशय यह है कि भामह के मत मे काव्य की आत्मा अलकार है।

भामह का काव्यात्म विषयक दृष्टिकोण अनुमानगम्य ही है किन्तु दण्डी ने स्पष्ट रूप मे अलकार को काव्य का मूलतत्त्व कहा है। इन्होने अलकार के विषय मे कहा है —

काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥

अर्थात् काव्य शोभाकारक धर्मों को अलकार कहते हैं, वे आज भी विविध कल्पनाओ के द्वारा नये नये रूप में उद्भावित किये जाते हैं, अत किसी मे इतनी शक्ति ही नही कि उनका पूर्णरूप से निरूपण कर दें। इसका आशय यह है कि जिस किसी तत्त्व से काव्य शोभा का सम्पादन हो दण्डी के मत मे वह सब अलकार कहे जाने का ही अधिकारी है। इनके मत मे अलकारो का इतना विस्तार है कि पूर्णरूप से उनका विवचन कर सकना अशक्य है। दण्डी शब्द और अर्थ को काव्य शरीर मानते हैं और उनसे भिन्न जितने भी तत्त्व हैं उनको वे अलकार ही कहते हैं —

'तै शरीर च काव्यानामलकाराश्चदर्शिता'

आशय यह है कि दण्डी के मत मे काव्य के दो तत्त्व हैं -काव्य-शरीर और अलकार। शरीर से भिन्न जितने भी तत्त्व हैं वे सब अलकार कहे जाते हैं। इतना ही नही अपितु भामह के समान दण्डी ने भी रस इत्यादि को रसवत् इत्यादि सज्ञायें देकर रस को अलकार के ही अनुशासन मे रक्खा। इन्होने रीति को अत्यधिक महत्त्व दिया है यद्यपि उसे रीति न कहकर मार्ग शब्द से अभिहित किया है। इनके मत मे दो मार्ग हैं एक उत्तम मार्ग जिसे वैदर्भ मार्ग कहते हैं और दूसरा निकृष्ट मार्ग जिसे गौड मार्ग कहते हैं। काव्यगत समस्त गुण, दोषो का विचार इन्ही दो मार्गों के अनुसार

किया जाता है। इन दोनों मार्गों और इनकी विशेषताओं को दण्डी ने अलंकार ही कहा है —

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ता प्रागलंक्रिया ।

अर्थात् मार्गों के विभाग के लिये हम कतिपय अलंकारों को पहले ही बतला चुके हैं। दण्डी ने प्रबन्ध परिकल्पना को भी 'भाविक' अलंकार के अन्तर्गत किया है और काव्य सम्बद्ध सभी तत्वों को अलंकार की संज्ञा प्रदान की है —

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदंसर्वमलंकारतयैव नः ॥

अर्थात् जितनी काव्य सन्धियाँ सन्धियों के अंग वृत्तियों के अंग और लक्षण इत्यादि दूसरे शास्त्रों में बतलाये गये हैं वे हमें अलंकार के रूप में ही मान्य हैं। इतने स्पष्ट रूप में अलंकारों की व्यापकता का कण्ठरव से प्रतिपादन किसी दूसरे आचार्य ने नहीं किया। आशय यह है कि रीति गुण रस ध्वनि प्रबन्ध परिकल्पना प्रबन्ध के अंग नाट्यशास्त्र में वर्णित काव्य के लक्षण इत्यादि जितने भी तत्त्व हैं उन सबका समावेश ये आचार्य अलंकार में ही अन्तर्गत करते हैं।

यदि इन आचार्यों की सम्मति का संक्षेप में परिचय दिया जाय तो कहा जा सकता है कि काव्य का निर्माण शब्द और अर्थ से होता है। किन्तु शब्द और अर्थ लोक तथा शास्त्र में भी प्रयुक्त होते हैं। काव्य के शब्द अर्थ में जितना आकर्षण जितनी आह्लादकता और जितनी उपादेयता होती है उतनी लोक तथा शास्त्र में नहीं होती। लोक तथा शास्त्र में शब्द और अर्थ का लक्ष्य बोधमात्र होता है उनमें रमणीयता की प्रतीति तथा चमत्कार और आह्लाद की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। किन्तु काव्य में शब्द और अर्थ में भिन्न एक रमणीयता आह्लादकता और चमत्कारिकता भी सन्निहित रहती है जो उन्हें ग्राह्य बनाती है। अतएव काव्य के शब्द और अर्थ में लोक के शब्द और अर्थ की अपेक्षा कुछ ऐसी विशेषता अवश्य मानी जानी चाहिये जो काव्यगत शब्द और अर्थ को लोक और शास्त्र के शब्द और अर्थ से पृथक् कर सके। यह विशेषता ही इन आचार्यों के मत में अलंकार शब्द से अभिहित की जा सकती है। इस प्रकार ये आचार्य अलंकार को काव्य का प्राण प्रतिष्ठापक तथा व्यापक धर्म मानते हैं। अतएव इनके मत में अलंकार ही काव्य की आत्मा है।

रीति सम्प्रदाय

दण्डी ने दो काव्य मार्गों का विस्तार के साथ विवेचन किया था किन्तु उन्हें अलंकारों में ही अन्तर्भुक्त कर अलंकारों की महत्ता प्रतिष्ठापित की थी। दण्डी ने मार्ग को रीति नहीं कहा था किन्तु उनका मार्ग तथा गुणों का विवेचन लगभग वैसा ही है जैसा आगे चलकर वामन ने रीतियों का विवेचन किया है। अतः हम दण्डी के मार्ग विभाग को पूर्वाभ्युदय काव्य रीति कह सकते हैं।

रीति सम्प्रदाय के एकमात्र आचार्य वामन ही हैं। इन्होंने स्पष्ट रूप मे रीति को काव्य की आत्मा बतलाया और रीति की परिभाषा की—'विशिष्टा पद रचना रीति' अर्थात् विशिष्ट प्रकार की पद रचना को रीति कहते हैं। विशेष का अर्थ वामन के मत मे है 'गुणात्मक होना।' इसी प्रसग मे वामन ने १० शब्द गुणो और १० अर्थ गुणो का विवेचन किया। इन्होने रीति तीन प्रकार की बतलाई—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। वैदर्भी रीति मे सभी गुण होते हैं। गौडी रीति मे दो गुण होते हैं—ओज और कान्ति तथा पाञ्चाली मे भी दो गुण होते हैं माधुर्य और सौकुमार्य। समग्र गुण सम्पन्न होने के कारण वैदर्भी रीति ही ग्राह्य है, दोनो इतर रीतिया नही। वामन ने काव्य के १० गुणो को तो पुरानी परम्परा के आधार पर ही माना किन्तु उनको शब्दगत और अर्थगत इन भागो मे विभाजित कर उनका क्षेत्र बहुत बढा दिया। कहा जा सकता है कि गुणो के इतने विस्तार के अन्तर्गत वामन ने काव्य के समस्त प्रमुख तत्त्वो को गुणो मे ही समाहित करने का प्रयास किया।

वामन के दृष्टिकोण को समझने के लिये एक बात ध्यान मे अवश्य रखनी चाहिये कि इन आचार्यों की दृष्टि रमणीयता या काव्य सौन्दर्य पर पूर्ण रूप से टिकी हुई थी। वही एक काव्य का व्यावर्तक तत्त्व माना जाता था और आचार्यों ने काव्य-सम्बन्धी सभी तत्त्वो का विवेचन सौन्दर्य को ही केन्द्र-विन्दु बनाकर किया है। अत. यदि किसी तत्त्व को काव्य की आत्मा कहा जा सकता है तो वह वही तत्त्व हो सकता है जो सौन्दर्य मे कारण हो अर्थात् जो सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाला हो। इस समय तक दो ही काव्य-तत्त्व सामने आये थे—गुण और अलकार। आचार्यों ने इन दो तत्त्वो का विषय विभाजन इस प्रकार किया था कि जो सौन्दर्य के उत्पादक तत्त्व हैं उन्हे गुण कहते है और उत्पन्न सौन्दर्य को जो बढाते हैं उन्हे अलकार कहते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अलकार के आधीन काव्य-सौन्दर्य की स्थिति नही है। अलकार के अभाव मे भी काव्य-सौन्दर्य हो सकता है। यह दूसरी बात है कि अलकारो के आ जाने से उस सौन्दर्य की अभिवृद्धि हो जाती है। काव्य-सौन्दर्य का उत्पादन तो गुणो के ही आधीन है। अत गुणो को ही काव्य की आत्मा का पद प्राप्त हो सकता है। एक गुण को नही गुणो के समवाय को। ये गुण समवेत रूप मे जिसमे मिलते हैं उसे रीति कहते हैं। अतएव रीति ही इन आचार्यों की दृष्टि मे काव्य की आत्मा हो सकती है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि शब्द और अर्थ का उपादान तो लोक से ही होता है। शब्द और अर्थ की विशेषताये या उनके धर्म जिन्हे हम गुण कह सकते हैं काव्य को लोक-व्यवहार से व्यतिरिक्त बनाते है। इसलिये ये व्यतिरेचक तत्त्व ही काव्यत्व का सम्पादन कर उसकी आत्मा बनने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं।

वामन ने शब्द और अर्थ के गुणो मे प्राय सभी काव्य तत्त्व समेट लिये हैं। शब्द गुणो मे योजना और रचना-सम्बन्धी सभी विशेषतायें आ जाती है। इसी प्रकार अर्थ गुणो मे प्रौढ़ता, अर्थवैमल्य, उक्ति वैचित्र्य, अग्राम्यता, सौकुमार्य इत्यादि सभी

विशेषतायें आ जाती हैं और रस को भी कान्ति गुण में अन्तर्भुक्त कर लिया गया है। अलंकारों को स्पष्ट ही सहायक का पद दे दिया गया है। इस प्रकार गुणों का का बहुत अधिक बढ़ाकर तथा रीति को गुणों पर प्रतिष्ठित मानकर वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है।

ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन ने कुछ अधिक गहराई से काव्य की आत्मा पर विचार किया। इनके समय तक रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया जा चुका था और रस तथा अलंकार को काव्य तत्वों का प्रमुख पद दिया जा चुका था। ये किसी एक ऐसे तत्व की खोज में थे जिसके द्वारा एक ओर तो इन सभी काव्य सिद्धान्तों को आत्मसात् किया जा सके दूसरी ओर लोक की अपेक्षा कोई ऐसा व्यतिरेक तत्व कहा जा सके जो काव्य का व्यावर्तक धर्म भी बन सके। सौभाग्य से इन्हें इस प्रकार का एक तत्व मिल गया और वह था ध्वनि। इन्होंने देखा कि काव्य सौन्दर्य को रमणी सौन्दर्य से उपमित किया जाता है और उसी रूप में उसके अलंकारादि की कल्पना की जाती है। किन्तु रमणी सौन्दर्य कोई एक अंग तो है नहीं वह तो सभी अंगों में फूट पड़ने वाला एक लावण्य है जो यौवन के प्रभाव से आविर्भूत होता है। अतएव काव्य का लावण्य भी शब्द और अर्थ रूप उसके कलेवर कोई अंग न होकर उन सबमें फूट पड़ने वाला एक लावण्य होना चाहिये जिसका अस्वादन कवि की प्रौढ़ता से होता है। फलतः इन्होंने इस सिद्धान्त की स्थापना कर दी कि जब शब्द और अर्थ गौण होकर किसी नवीन अर्थ को—जिसे उन्होंने व्यंग्यार्थ कहा—अभिव्यक्त करते हैं और इस अर्थ की ही प्रधानता होती है तो उसे ध्वनि कहा जाता है और वही काव्य की आत्मा है।

इस ध्वनि रूप आत्मा को उन्होंने सर्वत्र देखा। रस के मूलाधार हैं मनोवृत्ति और मनोविकार। जिन्हें स्थायी और संचारीभाव कहा जाता है। न तो इन स्थायी और संचारी भावों का और न स्वयं रस का नामोल्लेख काव्य में रसनीयता उत्पन्न कर सकता है। रसनीयता तो तभी आती है जब उन्हें शब्द द्वारा न कह कर अभिव्यक्त कर दिया जाय। इस प्रकार रस का मूलाधार है ध्वनि। अब अलंकार को लीजिये—अलंकार-शास्त्र के ग्रन्थों में अलंकारों के लक्षण दिये हुये हैं। किन्तु ये लक्षण तो नित्यप्रति की व्यावहारिक भाषा में प्रयुक्त होते हुए देखे जाते हैं। उन्हें कोई अलंकार नहीं कहता। ये अलंकार तो तभी कहलाते हैं जब उनमें अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति की व्यंजना होती है। इसी प्रकार कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जिनमें दूसरे अलंकारों की व्यंजना होती है। जैसे रूपक दीपक अपह्नुति इत्यादि अलंकारों में उपमा की व्यंजना होती है। पर्यायोक्त इत्यादि कुछ अलंकार तो स्वरूपतः व्यंजना के मुखापेक्षी हैं। इस प्रकार अलंकारों का भी व्यापक धर्म व्यंजना ही है। इसके अतिरिक्त अलंकार भी व्यंग्य होते हैं और तब वे वाच्यालंकारों की अपेक्षा कहीं

रीति सम्प्रदाय के एकमात्र आचार्य वामन ही हैं। इन्होंने स्पष्ट रूप मे रीति को काव्य की आत्मा बतलाया और रीति की परिभाषा की—'विशिष्टा पद रचना रीति' अर्थात् विशिष्ट प्रकार की पद रचना को रीति कहते हैं। विशेष का अर्थ वामन के मत मे है 'गुणात्मक होना।' इसी प्रसग मे वामन ने १० शब्द गुणो और १० अर्थ गुणो का विवेचन किया। इन्होने रीति तीन प्रकार की बतलाई—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। वैदर्भी रीति मे सभी गुण होते हैं। गौडी रीति मे दो गुण होते हैं—ओज और कान्ति तथा पाञ्चाली मे भी दो गुण होते हैं माधुर्य और सौकुमार्य। समग्र गुण सम्पन्न होने के कारण वैदर्भी रीति ही ग्राह्य है, दोनो इतर रीतिया नही। वामन ने काव्य के १० गुणो को तो पुरानी परम्परा के आधार पर ही माना किन्तु उनको शब्दगत और अर्थगत इन भागो मे विभाजित कर उनका क्षेत्र बहुत बढा दिया। कहा जा सकता है कि गुणो के इतने विस्तार के अन्तर्गत वामन ने काव्य के समस्त प्रमुख तत्त्वो को गुणो मे ही समाहित करने का प्रयास किया।

वामन के दृष्टिकोण को समझने के लिये एक बात ध्यान मे अवश्य रखनी चाहिये कि इन आचार्यो की दृष्टि रमणीयता या काव्य सौन्दर्य पर पूर्ण रूप से टिकी हुई थी। वही एक काव्य का व्यावर्तक तत्त्व माना जाता था और आचार्यों ने काव्य-सम्बन्धी सभी तत्त्वो का विवेचन सौन्दर्य को ही केन्द्र-बिन्दु बनाकर किया है। अत यदि किसी तत्त्व को काव्य की आत्मा कहा जा सकता है तो वह वही तत्त्व हो सकता है जो सौन्दर्य मे कारण हो अर्थात् जो सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाला हो। इस समय तक दो ही काव्य-तत्त्व सामने आये थे—गुण और अलकार। आचार्यों ने इन दो तत्त्वों का विषय विभाजन इस प्रकार किया था कि जो सौन्दर्य के उत्पादक तत्त्व हैं उन्हे गुण कहते हैं और उत्पन्न सौन्दर्य को जो बढाते हैं उन्हे अलकार कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अलकार के आधीन काव्य-सौन्दर्य की स्थिति नही है। अलकार के अभाव में भी काव्य-सौन्दर्य हो सकता है। यह दूसरी बात है कि अलकारो के आ जाने से उस सौन्दर्य की अभिवृद्धि हो जाती है। काव्य-सौन्दर्य का उत्पादन तो गुणो के ही आधीन है। अत गुणो को ही काव्य की आत्मा का पद प्राप्त हो सकता है। एक गुण को नही गुणो के समवाय को। ये गुण समवेत रूप मे जिसमे मिलते हैं उसे रीति कहते हैं। अतएव रीति ही इन आचार्यों की दृष्टि मे काव्य की आत्मा हो सकती है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि शब्द और अर्थ का उपादान तो लोक से ही होता है। शब्द और अर्थ की विशेषतायें या उनके धर्म जिन्हे हम गुण कह सकते हैं काव्य को लोक-व्यवहार से व्यतिरिक्त बनाते हैं। इसलिये ये व्यतिरेचक तत्त्व ही काव्यत्व का सम्पादन कर उसकी आत्मा बनने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं।

वामन ने शब्द और अर्थ के गुणो मे प्राय सभी काव्य तत्त्व समेट लिये हैं। शब्द गुणो में योजना और रचना-सम्बन्धी सभी विशेपतायें आ जाती है। इसी प्रकार अर्थ गुणो मे प्रौढ़ता, अर्थवैमल्य, उक्ति वैचित्र्य, अग्राम्यता, सौकुमार्य इत्यादि सभी

विशेषतायें आ जाती हैं और रस को भी कान्ति गुण में अन्तर्भुक्त कर लिया गया है। अलंकारों को स्पष्ट ही सहायक का पद दे दिया गया है। इस प्रकार गुणों का क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ाकर तथा रीति को गुणों पर प्रतिष्ठित मानकर वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा है।

ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन ने कुछ अधिक गहराई से काव्य की आत्मा पर विचार किया। इनके समय तक रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया जा चुका था और रस तथा अलंकार को काव्य तत्त्वों का प्रमुख पद दिया जा चुका था। ये किसी एक ऐसे तत्त्व की खोज में थे जिसके द्वारा एक ओर तो इन सभी काव्य सिद्धान्तों को आत्मसात् किया जा सके दूसरी ओर लोक की अपेक्षा कोई ऐसा व्यतिरेक तत्त्व कहा जा सके जो काव्य का व्यावर्तक धर्म भी बन सके। सौभाग्य से इन्हें इस प्रकार का एक तत्त्व मिल गया और वह था ध्वनि। इन्होंने देखा कि काव्य सौन्दर्य को रमणी सौन्दर्य से उपमित किया जाता है और उसी रूप में उसके अलंकारादि की कल्पना की जाती है। किन्तु रमणी सौन्दर्य कोई एक अंग तो है नहीं यह तो सभी अंगों में फूट पड़ने वाला एक लावण्य है जो यौवन के प्रभाव से आविर्भूत होता है। अतएव काव्य का लावण्य भी शब्द और अर्थ रूप उसके कलेवर कोई अंग न होकर उस सबसे फूट पड़ने वाला एक लावण्य होना चाहिये जिसका सम्पादन कवि की प्रौढ़ता से होता है। फलतः इन्होंने इस सिद्धान्त की स्थापना कर दी कि जब शब्द और अर्थ गौण होकर किसी नवीन अर्थ को—जिसे उन्होंने व्यंग्यार्थ कहा—अभिव्यक्त करते हैं और उस अर्थ की ही प्रधानता होती है तो उसे ध्वनि कहा जाता है और वही काव्य की आत्मा है।

उस ध्वनि रूप आत्मा को उन्होंने सर्वत्र देखा। रस के मूलाधार हैं मनोवृत्ति और मनोविकार। जिन्हें स्थायी और संचारीभाव कहा जाता है। न तो इन स्थायी और संचारी भावों का और न स्वयं रसों का नामोल्लेख काव्य में रसनीयता उत्पन्न कर सकता है। रसनीयता तो तभी आती है जब उन्हें शब्द द्वारा न कह कर अभिव्यक्त कर दिया जाय। इस प्रकार रस का मूलाधार है ध्वनि। अब अलंकार को लीजिये—अलंकार-शास्त्र के ग्रन्थों ने अलंकारों के लक्षण दिये हुये हैं। किन्तु वे लक्षण तो नित्यप्रति की व्यावहारिक भाषा में प्रयुक्त होते हुए देखे जाते हैं। उन्हें कोई अलंकार नहीं कहता। वे अलंकार तो तभी कहलाते हैं जब उनमें अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति की व्यंजना होती है। इसी प्रकार कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जिनमें दूसरे अलंकारों की व्यंजना होती है। जैसे रूपक दीपक अपह्नुति इत्यादि अलंकारों में उपमा की व्यंजना होती है। पर्यायोक्त इत्यादि कुछ अलंकार तो स्वरूपतः व्यंजना के मुखापेक्षी हैं। इस प्रकार अलंकारों का भी व्यापक धर्म व्यंजना ही है। इसके अतिरिक्त अलंकार भी व्यंग्य होते हैं और तब वे वाच्यालंकारों की अपेक्षा कहीं

ग्रधिक सुन्दर मालूम पडते हैं। ग्रव रह गया रीति-सिद्धान्त। इसको काव्य की ग्रात्मा तो वतलाया गया। किन्तु यह निर्णय नही किया गया कि रीति की ग्रात्मा कौन सा तत्त्व है ? रीति का निर्णय किस दृष्टि से किया जाता है। रीति तो पदसघटना ही है। उसकी वही काव्य मे स्थिति है जो विशेष प्रकार की ग्रग सघटना की हुग्रा करती है। वह गुणो के ग्राश्रित रहती है ग्रौर माधुर्य इत्यादि को ग्रभिव्यक्त करती है। इस प्रकार मुख्य काव्य तत्त्व मे रीति सिद्धान्त का कितना ग्रधिक व्यवच्छेद हो जाता है ? रीति का ग्राधार है गुण, गुणो का काम है रस की व्यजना, ये गुण रस के ही ग्राधीन रहते हैं ग्रौर रस स्वय सौन्दर्य के लिए व्यजनाजन्य ध्वनिरूपता की ग्रपेक्षा करते हैं। इतना ग्रधिक व्यवहित होने के कारण रीति को तो कोई भी काव्य की ग्रात्मा कह ही नही सकता। फिर रीति को समास पर ग्राधारित माना जाता है। समास स्वत वाह्य वस्तु भाषा पर ग्राधारित हैं। दूसरी वात यह है कि रीति का उपयोग केवल रस-ध्वनि मे ही होता है। रसध्वनि स्वय ध्वनि-सिद्धान्त के ग्रनेक प्रकारो मे केवल एक है। ग्रतएव ग्रधिकाश काव्य रीति की सीमा से वाह्य हो जाता है। इस प्रकार रस, ग्रलकार ग्रौर रीति ये सभी तत्त्व ध्वनि के मुखापेक्षी हैं ग्रौर ध्वनि मे ही सवका ग्रन्तर्भाव हो जाता है। ग्रतएव एकमात्र ध्वनि ही काव्य की ग्रात्मा वनने की ग्रधिकारिणी है।

ध्वनि सिद्धान्त काव्य का व्यावर्तक धर्म भी है। लोक ग्रौर शास्त्र मे कोई वात कही जाती है। किन्तु काव्य मे कुछ कहा नही जाता। उसमे व्यजना ही की जाती है। इस प्रकार यही एक तत्त्व ऐसा है जो काव्य भाषा को लोक भाषा से पृथक् करता है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय के मत मे ध्वनि ही एक मात्र तत्त्व है जिसे काव्यात्मा कहा जा सकता है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त

ग्राचार्य कुन्तक को ध्वनि सिद्धान्त के प्रति ग्राकर्षण तो था किन्तु उन्हे यह वात रुचिकर प्रतीत नही हुई कि प्राचीन काव्य शास्त्रियो का ग्रतिक्रमण कर नये सिद्धान्त का प्रवर्तन किया जाय। वैसे कुन्तक नवीनता के विरोधी नही थे, उनके विवेचन मे ग्रनेक नव प्रवर्तनो के दर्शन होते हैं। किन्तु काव्य के मूल तत्त्व के विषय में सम्भवत वे नया प्रवर्तन स्वीकृत नही कर सकते थे। उन्होने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन वतलाया जिसकी महिमा भामह द्वारा भी गाई गई थी ग्रौर जिसकी महत्ता ध्वनिकार, ग्रानन्द वर्धन ग्रौर ग्रभिनव गुप्त ने भी स्वीकार की थी। वक्रोक्ति के सिद्धान्तो को, भेदोपभेद परिकल्पना को ग्रौर यहाँ तक कि कही-कही उदाहरणो को भी ध्वनि सिद्धान्त के विवेचन से इतना मिला दिया गया है कि ध्वनि सिद्धान्त का ग्राभार वक्रोक्ति पर स्वीकार न करना समीचीन प्रतीत नही होता।

वक्रोक्ति का ग्रर्थ है वैदग्ध्यभङ्गीभिणिति या कवि कर्म से उत्पन्न वैचित्र्य पूर्ण कथन। यह वैचित्र्य लोकोत्तर चमत्कार का उत्पादक होता है। भामह के विवेचन से

स्पष्ट है कि वे अलंकार को काव्य का जीवन और वक्रोक्ति को अलंकार का जीवन मानते थे। कुन्तक वक्रोक्ति अलंकार से इस सम्बन्ध को एकदम तोड़ नहीं सके और अपने उद्देश्य वाक्य मे उन्हें कहना ही पड़ा कि:—

अलङ्कृतिरलं कार्यमपोद्धृत्यविवेच्यते।
तदुपायतयातत्वं सालङ्कारस्य काव्यता॥

अर्थात् अलंकार्य से अलंकार का अपोद्धार करके उसका विवेचन किया जा रहा है; क्योंकि यही उसका उपाय है। अन्यथा दोनों का पृथक करण असम्भव है। सालंकार की ही काव्यता मानी जाती है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति के ६ भेद किये हैं और उनके उपभेदों द्वारा वक्रोक्ति का क्षेत्र इतना बढ़ा दिया है कि समस्त काव्य तत्त्व वक्रोक्ति द्वारा ही गतार्थ हो जाते हैं। उनकी वर्ण-विन्यासवक्रता में शब्दालंकार आ जाते हैं, वाक्य वक्रता में अर्थालंकार सन्निविष्ट हो जाते हैं। उपचार वक्रता मे गौणी लक्षणा का समावेश हो जाता है। ध्वनि के अनेक व्यञ्जक तत्त्व जैसे प्रत्यय काल कारक वचन उपसर्ग निपात इत्यादि भेद पदवक्रता के अन्तर्गत आ जाते हैं। कुन्तक ने प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता पर भी विचार किया है। इस प्रकार प्रबन्ध परिकल्पना की सभी विशेषताएं वक्रोक्ति सिद्धान्त से गतार्थ हो जाती है।

प्रचलित सिद्धान्तो मे रीति सिद्धान्त से तो कुन्तक ने वैमत्य प्रकट किया है। उन्हें मातुलेयभगिनी विवाहवत् देश भेद पर आधारित रीतियाँ अच्छी नहीं लगी। इसके लिये उन्होंने नये गुणो की भी परिकल्पना की और नये काव्य मार्गों का भी प्रवर्तन किया। किन्तु अन्य सिद्धान्तों का उन्होंने कहीं खण्डन नहीं किया। चेष्टा केवल यह की है कि अन्य काव्य सिद्धान्तो का अन्तर्भाव किसी न किसी प्रकार उनके वक्रोक्ति सिद्धान्त मे हो जावे। इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप मे स्वीकार किया है।

रस सिद्धान्त

काव्य सिद्धान्तो मे रस सिद्धान्त सर्वाधिक व्यापक भी है और महत्त्वपूर्ण भी। रस को काव्य की आत्मा किसी एक आचार्य ने नहीं अनेक आचार्यों ने माना है। राजशेखर ने सबसे पहले रस को काव्य की आत्मा कहा इसके बाद अग्निपुराणकार ने लिखा कि 'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रसएवात्र जीवितम्' अर्थात् काव्य मे वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता मान भी ली जाय तो भी काव्य जीवन तो रस को ही मानना पड़ेगा। महिम भट्ट ने भी कहा है कि इस विषय मे किसी को भी वैमत्य नहीं हो सकता कि काव्य की आत्मा रस है। विश्वनाथ ने तो काव्य लक्षण म ही रस का समावेश किया 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और उसके प्रतिपादन द्वारा रस को काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित किया। उन्होंने राज शेखर के काव्य पुरुष के रूपक को अधिक परिमार्जित रूप मे प्रस्तुत किया—'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम् रसादि श्चात्मा गुणा शौर्यादिवत्,

अधिक सुन्दर मालूम पडते हैं। अब रह गया रीति-सिद्धान्त। इसको काव्य की आत्मा तो बतलाया गया। किन्तु यह निर्णय नही किया गया कि रीति की आत्मा कौन सा तत्त्व है? रीति का निर्णय किस दृष्टि से किया जाता है। रीति तो पदसघटना ही है। उसकी वही काव्य मे स्थिति है जो विशेष प्रकार की अग सघटना की हुआ करती है। वह गुणो के आश्रित रहती है और माधुर्य इत्यादि को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार मुख्य काव्य तत्त्व मे रीति सिद्धान्त का कितना अधिक व्यवच्छेद हो जाता है? रीति का आधार है गुण, गुणो का काम है रस की व्यजना, ये गुण रस के ही आधीन रहते हैं और रस स्वय सौन्दर्य के लिए व्यजनाजन्य ध्वनिरूपता की अपेक्षा करते हैं। इतना अधिक व्यवहित होने के कारण रीति को तो कोई भी काव्य की आत्मा कह ही नही सकता। फिर रीति को समास पर आधारित माना जाता है। समास स्वत बाह्य वस्तु भाषा पर आधारित हैं। दूसरी बात यह है कि रीति का उपयोग केवल रस-ध्वनि मे ही होता है। रस-ध्वनि स्वय ध्वनि-सिद्धान्त के अनेक प्रकारो मे केवल एक है। अतएव अधिकाश काव्य रीति की सीमा से बाह्य हो जाता है। इस प्रकार रस, अलकार और रीति ये सभी तत्त्व ध्वनि के मुखापेक्षी हैं और ध्वनि मे ही सबका अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव एकमात्र ध्वनि ही काव्य की आत्मा बनने की अधिकारिणी है।

ध्वनि सिद्धान्त काव्य का व्यावर्तक धर्म भी है। लोक और शास्त्र मे कोई बात कही जाती है। किन्तु काव्य मे कुछ कहा नही जाता। उसमे व्यजना ही की जाती है। इस प्रकार यही एक तत्त्व ऐसा है जो काव्य भाषा को लोक भाषा से पृथक् करता है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय के मत मे ध्वनि ही एक मात्र तत्त्व है जिसे काव्यात्मा कहा जा सकता है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त

आचार्य कुन्तक को ध्वनि सिद्धान्त के प्रति आकर्षण तो था किन्तु उन्हे यह बात रुचिकर प्रतीत नही हुई कि प्राचीन काव्य शास्त्रियो का अतिक्रमण कर नये सिद्धान्त का प्रवर्तन किया जाय। वैसे कुन्तक नवीनता के विरोधी नही थे, उनके विवेचन मे अनेक नव प्रवर्तनो के दर्शन होते हैं। किन्तु काव्य के मूल तत्त्व के विषय मे सम्भवत वे नया प्रवर्तन स्वीकृत नही कर सकते थे। उन्होने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन बतलाया जिसकी महिमा भामह द्वारा भी गाई गई थी और जिसकी महत्ता ध्वनिकार, आनन्द वर्धन और अभिनव गुप्त ने भी स्वीकार की थी। वक्रोक्ति के सिद्धान्तो को, भेदोपभेद परिकल्पना को और यहाँ तक कि कही-कही उदाहरणो को भी ध्वनि सिद्धान्त के विवेचन से इतना मिला दिया गया है कि ध्वनि सिद्धान्त का आभार वक्रोक्ति पर स्वीकार न करना समीचीन प्रतीत नही होता।

वक्रोक्ति का अर्थ है वैदग्ध्यभङ्गीभिणिति या कवि कर्म से उत्पन्न वैचित्र्य पूर्ण कथन। यह वैचित्र्य लोकोत्तर चमत्कार का उत्पादक होता है। भामह के विवेचन से

हैं या रस का पोषण करते हैं। आशय यह है कि रस को काव्य की आत्मा मानने वालों की संख्या भी पर्याप्त है और इतर सम्प्रदाय वालों ने भी उसको अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

औचित्य सम्प्रदाय

भारतीय काव्य शास्त्र में औचित्य सम्प्रदाय सबसे अन्तिम है। क्षेमेन्द्र ने इसको सम्प्रदाय रूपता दी है और इसे ही काव्य का जीवन माना है। उनका आशय यह है सारम्य और सामञ्जस्य का होना ही काव्य को उपादेय बनाता है। हमें वही वस्तु अच्छी लगती है जो हमारे मन से मेल खा जाती है। यही औचित्य का आशय है। एक वस्तु का दूसरे के अनुकूल या सदृश होना ही उचित है और उसका भाव ही औचित्य है। काव्य के सभी सिद्धान्त अपने अपने स्थान पर स्थित रहते हैं, परन्तु यदि उनमें औचित्य नहीं होता तो वे काव्य रसास्वादन को व्याहृत कर वाचरूपता को धारण कर लेते हैं और काव्य में उपादेय नहीं होते। अलंकार तो अलंकार ही हैं और गुण गुण ही हैं किन्तु रस सिद्ध काव्य का जीवन तो औचित्य ही है। ध्वनिकार ने भी कहा है कि रसभंग का अनौचित्य से बढ़ कर कोई अन्य हेतु नहीं होता। औचित्य का उपनिबन्धन रस का बहुत बड़ा तत्त्व है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य की व्यापकता का परिचय उसकी भेदोपभेद कल्पना के प्रसङ्ग में दिया है। जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि के भेदोपभेदों की कल्पना का विस्तार किया है उसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने उन्हीं का आदर्श अपना कर पदौचित्य वाक्यौचित्य की परिकल्पना की है। आशय यह है कि क्षेमेन्द्र औचित्य को ही काव्य का जीवन मानते हैं और उसी को समस्त काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों म यथार्थ करने की चेष्टा करते हैं। यद्यपि जीवन के रूप में इसे किसी अन्य आचार्य ने स्वीकार नहीं किया किन्तु यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिससे न किसी को वैमत्य हो सकता है और सिद्धान्त की दृष्टि से इस पर कोई प्रश्न सूचक चिन्ह भी नहीं लगाया जा सकता जीवन के रूप में स्वीकार करने में भले ही किसी को अनुपपत्ति हो।

पाश्चात्य काव्य शास्त्र में काव्य जीवन पर विचार

पाश्चात्य काव्य शास्त्र में उस प्रकार के सम्प्रदाय नहीं चले जिस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में उनकी सत्ता पाई जाती है और न आत्मा के रूप में अधिकांश आचार्यों ने विचार किया है। किन्तु काव्य के व्यावर्तक तत्त्व पर तो विचार किया ही गया है और मूलतत्त्व का प्रतिपादन अधिगत होता ही है। उसे हम काव्य का जीवन कह सकते हैं। यहाँ संक्षेप रूप में उन तत्त्वों का निर्देश तथा नामोल्लेख मात्र किया जायगा जिनको पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों की दृष्टि से काव्य जीवन के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। सर्वप्रथम अरस्तू हमारे सामने आते हैं। इन्होंने अनुकृति को काव्य का जीवन माना है। उनके मत में सभी काव्य विधायें अनुकरण के ही विभिन्न प्रकार हैं। अनुकृति का अर्थ है भावात्मक तथा कल्पनात्मक पुनःसृजन। होरेस ने

दोषा-काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसस्थानविशेषवत्' अलकारा कटककुण्डलादिवत्' अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस इत्यादि आत्मा है, गुण शौर्य इत्यादि के समान होते हैं, दोष काव्यत्व इत्यादि के समान होते हैं, और रीतियाँ अवयव सस्थान के समान होती हैं और अलकार कटक कुण्डल इत्यादि के समान होते हैं।'

जिन आचार्यो ने इतर तत्त्वो की काव्य-रूपता स्वीकार की है उन्होने भी रस को यथेष्ट महत्त्व दिया है। भरत को यदि काव्य शास्त्रीय आचार्य माना जाय तो उन्हे भी रस सम्प्रदायवादी ही कहना पडेगा। भामह ने काव्यरस शब्द का प्रयोग किया है और महाकाव्य मे रस की अनिवार्यता स्वीकार की है। दण्डी ने माधुर्य गुण को रस पर्यवसायी बतलाया है और ग्राम्यता दोष के परिहार मे रस की सत्ता मानी है। उनके मत मे सभी अलकारो का मन्तव्य काव्य मे रस का निषिञ्चन करना है किन्तु अग्राम्यता पर इसका सबसे बडा भार है। रुद्रट ने इन पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा रस को अधिक महत्त्व दिया है। इन्होने पहली बार रस को अलकारो की दासता से मुक्त किया। साथ ही रीतियो और वृत्तियो के प्रयोग मे रसानुकूलता पर बल दिया और कवि को रस के लिये प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया। आनन्दवर्धन ने सर्वाधिक महत्त्व रस को ही दिया है। इन्होने दबी जबान से मानो यह स्वीकार ही कर लिया है कि रस ही काव्य की आत्मा है। ध्वनि के तीनो भेदो वस्तु अलकार और रस मे रसध्वनि को प्रमुखता प्रदान कर और वस्तु तथा अलकार ध्वनियो को रसपर्यवसायी मानकर इन्होने रस को यथेष्ट महत्त्व प्रदान किया है। इसके साथ ही इन्होने रीति वृत्ति इत्यादि सभी काव्य-तत्त्वो का महत्त्व रस को ही केन्द्र बिन्दु मान कर प्रतिपादित किया है। उनका कहना हे कि 'पुराने अर्थ भी काव्य मे रस परिग्रह से उसी प्रकार नवीन मालूम पडने लगते हैं जैसे वसन्त मे वृक्ष। 'कवि का मुख्य कर्म यही है कि वाच्यो और वाचको की औचित्य के साथ रस को विषय बनाकर ही योजना करे।' 'यद्यपि अनेक प्रकार के व्यङ्गचव्य व्यजक भाव सम्भव है परन्तु कवि को एकमात्र रसादिमयता के प्रति ही जागरूक रहना चाहिये।' कुन्तक का मुख्य विषय वक्रोक्ति का प्रतिपादन था किन्तु उन्होने भी रस को उचित महत्त्व प्रदान किया है। एक तो काव्य लक्षण मे ही 'आल्हाद' का निर्देश किया है जोकि रस का ही पर्याय है दूसरे काव्य प्रयोजनो मे काव्यामृत रसास्वाद के द्वारा अन्तश्चमत्कार विधान का प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त कई अवान्तर प्रकरणो मे भी रस की महत्ता स्वीकार की है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य का प्रतिपादन भी रस की दृष्टि से ही किया है। आशय यह है कि रस का महत्त्व इतर सम्प्रदायवादियो मे पूर्णत अक्षुण्ण है।

रस काव्य सम्बन्धी सभी तत्त्वो को आत्मसात् कर लेता है। रस अङ्गी है और गुण उसके उत्कर्षाधायक हैं। अलकारो की योजना भी तभी सफल मानी जाती है जबकि उनसे रस परिपोष हो। आशय यह है कि आचार्यों के मत मे रस ही एक मात्र उद्देश्य है, अन्य सभी सिद्धान्त तभी सत्ता मे आते हैं जब वे रस पर्यवसायी होते

क्षमता होती है वे ही बिम्ब काव्य का रूप धारण करते हैं। अतः रस को ही आत्मा मानना चाहिये बिम्बों को नहीं।

जहाँ तक भारतीय काव्य सिद्धान्तों का प्रश्न है औचित्य इतना सामान्य तत्त्व है कि वह काव्यात्मा कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। औचित्य तो सर्वत्र और सभी शास्त्रों में स्पृहणीय होता है वह काव्य का एक मात्र व्यावर्तक धर्म कैसे हो सकता है? अलंकार और रीति काव्य के बाह्य तत्त्व हैं उन्हें आत्मा के रूप में स्वीकार किया ही नहीं जा सकता। अलंकारों या आभूषणों को तो शरीर रूपता भी प्राप्त नहीं हो सकती फिर आत्म रूपता तो और भी दूर की बात रही। वक्रोक्ति भी अलंकार की ही एक विशेषता होने के कारण आत्मा की पदवी पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि वक्रोक्ति का एक अलंकार—विशेष के रूप में प्रयोग होने लगा है। अतः वक्रोक्ति शब्द से उस ओर ध्यान चला जाना स्वाभाविक ही है। अतएव इसे भी काव्यात्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। रस सर्वाधिक प्रतिष्ठित भी है और काव्य का एकमात्र फल भी है। किन्तु इसको आत्मा मानने में एक बड़ा दोष यह है कि सूक्ति इत्यादि बहुत सा काव्य ऐसा लिखा गया है जो रस के क्षेत्र में नहीं आता। इसी प्रकार जहां चित्रण किया जाता है वह काव्य भी रस बाह्य ही है। दूसरी बात यह है कि रस काव्य का फल है उसे आत्मा कहना भी ठीक नहीं। अतएव निष्कर्ष यह निकलता है कि ध्वनि ही काव्य की आत्मा है क्योंकि उसी में सारा काव्य चरितार्थ होता है और वही एक मात्र व्यापक तत्त्व है।

औचित्य को काव्य का जीवन कहा है। उनका कहना है कि कवि द्वारा चित्रित वस्तुओ के विभिन्न अगो मे परस्पर उचित अन्वय और प्रतिपादन मे सगति होनी चाहिये। अन्यथा कोई रचना हास्यास्पद बन जाती है। ग्रीक और रोमन अनेक आचार्य ऐसे हैं जो विषय वस्तु की अपेक्षा शैली को अधिक महत्त्व देते हैं और इस प्रकार अलकार को काव्य की आत्मा मानते हैं। इनके अनुसार विषय मे दीप्ति लाना शब्दालकारो और अर्थालङ्कारो का काम है। काव्य मे जितनी कुशलता से अलकारो का चयन होगा उतनी ही सशक्त अभिव्यक्ति उनमे होगी और उतनी ही उनमे ग्राह्यता आयेगी। लान्जाइनस ने उदात्तता को काव्य जीवन के रूप मे प्रतिष्ठित किया है। उनके अनुसार काव्य के इतर तत्त्व विचार, भाव अलकार, शैली इत्यादि इसी उदात्तता के पोषक होते हैं। काव्यमें आनन्द की उपलब्धि उदात्तता के कारण ही होती है। लोजाइनस के इस उदात्त सिद्धान्त का अनेक आचार्यो ने प्रतिपादन और समर्थन किया है। कालरिज महोदय ने काव्य की आत्मा के रूप मे कल्पना शक्ति की प्रतिष्ठा की है। उनका कहना है कि विवेक शक्ति काव्यात्मक प्रतिभा का शरीर है, अनुमान शक्ति उसका वस्त्र, आवेग उसका जीवन है और कल्पना शक्ति ही वह आत्मा है जो कि प्रत्येक काव्य मे सर्वत्र होती है।' इस कल्पना शक्ति की अभिव्यक्ति काव्य बिम्बो मे होती है। अतएव कल्पना शक्ति प्रसूत काव्य बिम्ब ही काव्य की आत्मा माने जाने के अधिकारी हैं। अनेक पाश्चात्य आचार्य ललित कला मे काव्य को सन्निविष्ट करते हैं और ललित कला का मूलतत्त्व या व्यापक तत्व सौन्दर्य को मानते हैं। इसी आधार पर पाश्चात्य काव्य शास्त्र का नाम सौन्दर्य शास्त्र चल पडा है। इनके मत मे सौन्दर्य को ही काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

समीक्षात्मक उपसंहार

पाश्चात्य काव्य शास्त्र के तीन नये सिद्धान्त हमारे सामने आते हैं जिनका प्रतिरूप भारतीय साहित्य मे नही देखा जाता। एक है अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त दूसरा है लाजइनस का उदात्तता का सिद्धान्त और तीसरा है कल्पनाजन्य बिम्ब विधान का सिद्धान्त। यद्यपि भरतमुनि ने अवस्थानुकृति को नाट्य कहा है और अनुकरण का उपयोग भी बतलाया है किन्तु उसे मूलतत्त्व के रूप मे स्वीकार नही किया है। हम अनुकरण को काव्य का मूल तत्व स्वीकार भी नही कर सकते क्योंकि इससे काव्य में याथा तथ्य का ही अधिक प्रसार होगा जबकि लोकोत्तर वस्तु है। इस सिद्धान्त के मानने पर कवि कल्पना के लिये स्थान नही रह जाता और इसमे आल्हादकता भी गौण हो जाती है। उदात्तता का सिद्धान्त भी हम नही मान सकते क्योकि उदात्तता का अर्थ है उन्नत करना जोकि केवल काव्य का ही व्यावर्तक गुण नही है। सभी लेखको के लिये यह विशेषता स्पृहणीय होती है। निश्चय ही उदात्त विचार मात्र ही काव्य में प्रयोजनीय नही होते अपितु प्रेम सौन्दर्य करुणा इत्यादि भावनाओ से ओत प्रोत काव्य ही काव्य की सीमा मे आते हैं। जहा तक कल्पना प्रसूत काव्य बिम्बो का प्रश्न है वे काव्य के प्रमुख तत्त्व बन सकते हैं किन्तु जिन बिम्बो मे रसस्वादन कराने की

क्षमता होती है वे ही बिम्ब काव्य का रूप धारण करते हैं। अतः रस को ही आत्मा मानना चाहिये बिम्बों को नहीं।

जहाँ तक भारतीय काव्य सिद्धान्तों का प्रश्न है औचित्य इतना सामान्य तत्त्व है कि वह काव्यात्मा कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। औचित्य तो सर्वत्र और सभी शास्त्रों में स्पृहणीय होता है वह काव्य का एक मात्र व्यावर्तक धर्म कैसे हो सकता है? अलंकार और रीति काव्य के बाह्य तत्त्व हैं उन्हें आत्मा के रूप में स्वीकार किया ही नहीं जा सकता। अलंकारों या आभूषणों को तो शरीर रूपता भी प्राप्त नहीं हो सकती फिर आत्म रूपता तो और भी दूर की बात रही। वक्रोक्ति भी अलंकार की ही एक विशेषता होने के कारण आत्मा की पदवी पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि वक्रोक्ति का एक अलंकार—विशेष के रूप में प्रयोग होने लगा है। अतः वक्रोक्ति शब्द से उस ओर ध्यान चला जाना स्वाभाविक ही है। अतएव इसे भी काव्यात्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। रस सर्वाधिक प्रतिष्ठित भी है और काव्य का एकमात्र फल भी है। किन्तु इसको आत्मा मानने में एक बड़ा दोष यह है कि सूक्ति इत्यादि बहुत सा काव्य ऐसा लिखा गया है जो रस के क्षेत्र में नहीं आता। इसी प्रकार वस्तु चित्रण किया जाता है वह काव्य भी रस बाह्य ही है। दूसरी बात यह है कि रस काव्य का फल है उसे आत्मा कहना भी ठीक नहीं। अतएव निष्कर्ष यह निकलता है कि ध्वनि ही काव्य की आत्मा है क्योंकि उसी में सारा काव्य गतार्थ होता है और वही एक मात्र व्यापक तत्त्व है।

: २६ :

काव्य की भाषा

१. भूमिका
२ कविता की भाषा के विषय में पाश्चात्य चिन्तकों के विचार
३ कविता की भाषा के विषय में भारतीय चिन्तकों के विचार
४. निष्कर्ष

भूमिका

आज कविता भले ही बौद्धिक हो गई हो, किन्तु आज तक जो कविता लिखी गई है, उसका सम्बन्ध मानव की रागात्मक वृत्तियो से अधिक रहा है। मैथ्यू आर्नल्ड ने उसे भले ही जीवन की समीक्षा माना हो, किन्तु वह कभी जीवन की समीक्षा के रूप मे आ नही सकी है। नाटक, उपन्यास, कहानी आदि साहित्य की विधाएँ तो जीवन की समीक्षा के रूप मे आ सकती हैं, किन्तु कविता नही। वस्तुत कविता तो मानव की वृत्तियो को उदार बनाने का सबसे सुन्दर साधन है। इस प्रकार वह जीवन का परिष्कार करती है, उसकी समीक्षा नही। यही कारण है कि कविता की भाषा के विषय मे १८वीं शताब्दी तक कोई विशेष विवाद नही रहा, क्योकि सभी प्राय यह समझते थे कि कविता की भाषा असदिग्ध रूप से गद्य की भाषा अथवा जनभाषा से श्रेष्ठतर होनी चाहिये, किन्तु अठारहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे आकर कविता की भाषा के विषय मे वर्ड्सवर्थ ने एक विवाद खडा कर दिया और तब से आज तक विभिन्न विचारक कविता की भाषा के विषय मे आज तक अपने-अपने विचार प्रस्तुत करते चले आ रहे हैं। कविता की भाषा पर विचार करने वाले इन विचारको के दो वर्ग रहे हैं—एक तो वे जो कविता की भाषा को गद्य की भाषा से भिन्न नही समझते और उसे जनभाषा के निकट लाने पर बल देते हैं। दूसरे वर्ग मे वे विचारक आते हैं जो इस बात का घोर विरोध करते हैं कि गद्य और पद्य की भाषा कभी एक हो ही नही सकती और न ही कविता के लिए जनभाषा को अपनाया जा सकता है। यहा पर हमें इन विचारको की मान्यताओ को उद्धृत करते हुये निष्कर्षात्मक ढग से देखना यह है कि वस्तुत गद्य और पद्य की भाषा मे कोई अन्तर है अथवा नही और क्या कविता के लिए सामान्य बोल-चाल की भाषा अपनाई जा सकती है।

that language of prose may yet be well adopted to poetry ... and that a large portion of the language of every good poem can in no respect differ from that of good prose. It may be safely affirmed that there neither is, nor can be any essential difference between the language of prose and metrical composition.

वर्ड् सवर्थ के ही समसामयिक तथा उनके सहयामी कॉलरिज ने वर्डसवर्थ को उनके भाषाविषयक इस सिद्धान्त के लिए आड़े हाथों लिया। उन्होंने कविता और गद्य में अन्तर स्थापित करते हुए कहा—

Prose is words in their best order poetry is the best words in their best order

उनके इस प्रस्तुत कथन से यही प्रतीत होता है कि कविता गद्य से श्रेष्ठ होती है और चुने हुए शब्द केवल कविता में ही प्रयुक्त होते हैं। वर्ड् सवर्थ का कथन था कि कविता की भाषा ग्रामीण होनी चाहिए, किन्तु कॉलरिज ने कविता की भाषा के लिए शास्त्रों के शब्दों को प्रमाण माना। शास्त्रों का कहना था कि ग्रामीण भाषा का तो कविता में कदापि प्रयोग नहीं होना चाहिए। जहाँ तक नागरिक शब्दों का प्रश्न है उनमें से भी केवल सुन्दरतम शब्दों का ही चयन करना चाहिए—

Avoid rustic (silvan") language altogether and even of 'urban' words let only the noblest remain in your sieve."

वर्ड् सवर्थ का यह भी कहना था कि कविता की भाषा और सामान्य जन भाषा में कोई तात्विक अन्तर नहीं होता। कॉलरिज ने उनके इस कथन का विरोध करते हुए कहा कि कविता का साधारण जीवन की भाषा में होना ठीक नहीं क्योंकि सामान्य जनभाषा असंस्कृत होती है उसमें गूढ़ और सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने की क्षमता नहीं होती जो कविता का कार्य है।

कॉलरिज कविता का जन्म तीव्र भावोद्रेक (Passion) से मानते थे इसीलिए उनका यह मन्तव्य था कि तीव्र भावावेग आलंकारिक भाषा तथा छन्द-रचना में सहायक होता है। अतः कविता का सम्बन्ध स्वतः ही आलंकारिक भाषा से हो जाता है। जहाँ भावावेग होगा वहाँ आलंकारिक भाषा स्वयं स्फूर्त होगी सामान्य भाषा नहीं। अतः कविता में भाषा के स्थान पर भावावेग के कारण आलंकारिक भाषा ही होगी—

Strong passion has a language more measured than is employed in common speaking "

कॉलरिज का मत था कि कविता की विशेषता यह है कि उसके प्रत्येक भाग में भी उतना ही सुख मिलता हो जितना कि पूर्ण में। कविता की इसी विशेषता के कारण उसका प्रत्येक भाग आनन्दप्रद होता है और ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शब्दराशि ध्यानपूर्वक चुनी हुई हो और शब्दों का व्यवस्थापन कौशलपूर्ण हो।

: २६ :

काव्य की भाषा

१. भूमिका
२. कविता की भाषा के विषय में पाश्चात्य चिन्तकों के विचार
३. कविता की भाषा के विषय में भारतीय चिन्तकों के विचार
४. निष्कर्ष

भूमिका

आज कविता भले ही बौद्धिक हो गई हो, किन्तु आज तक जो कविता लिखी गई है, उसका सम्बन्ध मानव की रागात्मक वृत्तियो से अधिक रहा है। मैथ्यू आर्नल्ड ने उसे भले ही जीवन की समीक्षा माना हो, किन्तु वह कभी जीवन की समीक्षा के रूप मे आ नही सकी है। नाटक, उपन्यास, कहानी आदि साहित्य की विधाएँ तो जीवन की समीक्षा के रूप मे आ सकती हैं, किन्तु कविता नही। वस्तुत कविता तो मानव की वृत्तियो को उदार बनाने का सबसे सुन्दर साधन है। इस प्रकार वह जीवन का परिष्कार करती है, उसकी समीक्षा नही। यही कारण है कि कविता की भाषा के विषय मे १८वी शताब्दी तक कोई विशेष विवाद नही रहा, क्योकि सभी प्राय यह समझते थे कि कविता की भाषा असदिग्ध रूप से गद्य की भाषा अथवा जनभाषा से श्रेष्ठतर होनी चाहिये, किन्तु अठारहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे आकर कविता की भाषा के विषय मे वर्ड्सवर्थ ने एक विवाद खडा कर दिया और तब से आज तक विभिन्न विचारक कविता की भाषा के विषय मे आज तक अपने-अपने विचार प्रस्तुत करते चले आ रहे हैं। कविता की भाषा पर विचार करने वाले इन विचारको के दो वर्ग रहे हैं—एक तो वे जो कविता की भाषा को गद्य की भाषा से भिन्न नही समझते और उसे जनभाषा के निकट लाने पर बल देते हैं। दूसरे वर्ग मे वे विचारक आते हैं जो इस बात का घोर विरोध करते हैं कि गद्य और पद्य की भाषा कभी एक हो ही नही सकती और न ही कविता के लिए जनभाषा को अपनाया जा सकता है। यहा पर हमे इन विचारको की मान्यताओ को उद्धृत करते हुये निष्कर्षात्मक ढग से देखना यह है कि वस्तुत गद्य और पद्य की भाषा मे कोई अन्तर है अथवा नही और क्या कविता के लिए सामान्य बोल-चाल की भाषा अपनाई जा सकती है।

कविता की भाषा के विषय में पाश्चात्य चिन्तकों के विचार

आंग्ल साहित्य का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि अठारहवीं शताब्दी तक लोगों की यही धारणा थी कि काव्य में उदात्त भाषा का प्रयोग होना चाहिये। यही कारण है कि इस शताब्दी में बौद्धिक चरण (The age of reason) में भाषा अलंकारों के प्रचुर प्रयोग के कारण अपनी कृत्रिमता के चरम बिन्दु पर पहुंच चुकी थी। तत्कालीन अधिकांश लेखक अपनी साहित्यिक कृतियों में नितान्त परिष्कृत भाषा का प्रयोग कर रहे थे तथा सर्वजन सुलभ भाषा को साहित्य के लिए हेय तथा त्याज्य समझते थे। एडीसन ड्राइडन पोप डॉ॰ जानसन ग्रे आदि सभी काव्य में सामान्य भाषा के विरोधी थे। ड्राइडन ने केवल शाही भाषा (language of the King) को ही कविता के उपयुक्त माना। पोप ने ग्रीक भाषा के वैभव पर बल देते हुए लिखा—

"It must also be allowed that there is a majesty and harmony in the Greek language which greatly contribute to elevate and support the narration.

ग्रे ने भी बड़े ही प्रबल शब्दों में कहा कि जन भाषा कविता की भाषा कभी हो नहीं सकती —

'The language of the age is never the language of poetry except among the French, whose verse, where the thought and image does not support it, differs in nothing from prose. Our poetry on the contrary has a language peculiar to itself to which almost everyone that has written has added something by enriching it with foreign idioms and derivations nay sometimes words of their own composition or invention. Shakespeare and Milton have been great creators this way and no one more licentious than Pope or Dryden, who perpetually borrow expressions from the former'

इस प्रकार की कृत्रिम भाषा के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही थी। रोमानी कवि एवं आलोचक वर्ड्सवर्थ ने काव्य में अलंकृत भाषा का घोर विरोध किया। वे विशिष्ट काव्यगत युक्तियों (devices) वक्रोक्ति (periphrasis) आदि के विरुद्ध थे काव्य रचना में विपर्यय (inversions) तथा वैषम्य (antithesis) भी उन्हें रुचिकर न थे। इसीलिये उन्होंने काव्य में कृत्रिमता का खुलकर विरोध किया। आर ए स्काट जेम्स ने ठीक ही लिखा है—

Disgusted by the gaudiness and inane phraseology of many modern writers h castigates poets who separate themselves from the sympathies of men and indulge in arbitrary and capricious habits of expression

वर्ड्सवर्थ ने कृत्रिम भाषा के विरुद्ध अपनी तीव्र प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप ग्रामीण भाषा को अपनाने की बात कही है। उन्होंने कहा कि ग्रामीण जनता

कॉलरिज का यह भी विचार था कविता मे बहुत से तत्त्वो का समस्वरत्व होता है, वे एक दूसरे के सहायक होते हैं। अत जब कविता मे विचार उत्कृष्ट होगे, छन्द उत्कृष्ट होगे, व्यक्तित्व उत्कृष्ट होगा, तो भाषा अपने आप उत्कृष्ट होगी। कवियो का अभ्यास भी इसी बात का द्योतक है कि कविता मे उत्कृष्ट वाक्सरणि होती है।

कॉलरिज ने खुले शब्दो मे वर्ड्सवर्थ का विरोध करते हुए कहा कि गद्य तथा पद्य की भाषा मे तात्त्विक अन्तर हो सकता है, है और होना चाहिए—

" there may be, is and ought to be an essential difference between the language of prose and metrical composition "

वर्ड्सवर्थ तथा कॉलरिज के बाद कुछ समय तक कविता की भाषा से सम्बद्ध यह विवाद पाश्चात्य जगत मे बन्द रहा, और कविता के लिये सस्कृत भाषा ही उपयुक्त समझी जाती रही, किन्तु वहाँ नयी कविता (New Poetry) के जन्म के साथ ही एक बार फिर सामान्य बोलचाल की भाषा पर बल दिया जाने लगा। एजरा पाउण्ड, टी० एस० इलियट प्रभृति कवियो तथा विचारको ने कविता की भाषा को जनभाषा के समीप लाने पर फिर बल दिया। टी० एस० इलियट का कथन है—

"The poetry of a people takes its life from the people's speech and in turn gives life to it , and represents its highest point of consciousness, its greatest power and its most delicate sensibility "

इलियट ने बडे ही स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि कविता सामान्य बोलचाल की भाषा से दूर नही जानी चाहिए—

" poetry must not stray too far from the ordinary everyday language which we use and hear Whether poetry is accentual or syllabic, rhymed or rhymeless, formal or free, it cannot afford to lose its contact with the changing language of comman intercourse "

इलियट ने कविता की भाषा से सम्बद्ध अपने मत की पुष्टि मे उन आन्दोलनो को उचित ठहराया जो उनसे पूर्व काव्य-भाषा को जनभाषा के समीप लाने के लिए हो चुके थे—

"Every revolution in poetry is apt to be, and sometimes to announce itself to be a return to common speech That is the revolution which Wordsworth a announced in his prefaces, and he was right but the same revolution had been carried out a century before by Oldham, Waller, Denhamand Dryden , and the same revolution was due again something over a century later. The follo-

that language of prose may yet be well adopted to poetry .and that a large portion of the language of every good poem can in no respect differ from that of good prose. It may be safely affirmed that there neither is, nor can be, any essential difference between the language of prose and metrical composition.

वर्ड्सवर्थ के ही समसामयिक तथा उनके सहयोगी कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ को उनके भाषाविषयक इस सिद्धान्त के लिए आड़े हाथों लिया। उन्होंने कविता और गद्य में अन्तर स्थापित करते हुए कहा—

Prose is words in their best order poetry is the best words in their best order

उनके इस प्रस्तुत कथन से यही प्रतीत होता है कि कविता गद्य से श्रेष्ठ होती है और चुने हुए शब्द केवल कविता में ही प्रयुक्त होते हैं। वर्ड्सवर्थ का कथन था कि कविता की भाषा ग्रामीण होनी चाहिए; किन्तु कॉलरिज ने कविता की भाषा के लिए दान्ते के शब्दों को प्रमाण माना। दान्ते का कहना था कि ग्रामीण भाषा का तो कविता में कतई प्रयोग नहीं होना चाहिए। जहाँ तक नागरिक शब्दों का प्रश्न है उनमें से भी केवल सुन्दरतम शब्दों का ही चयन करना चाहिए—

Avoid rustic (silvan) language altogether and even of urban words let only the noblest remain in your sieve.

वर्ड्सवर्थ का यह भी कहना था कि कविता की भाषा और सामान्य जन-भाषा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं होता। कॉलरिज ने उनके इस कथन का विरोध करते हुए कहा कि कविता का साधारण जीवन की भाषा में होना ठीक नहीं क्योंकि सामान्य जनभाषा असंस्कृत होती है उसमें गूढ़ और सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने की क्षमता नहीं होती जो कविता का कार्य है।

कॉलरिज कविता का जन्म तीव्र भावोद्रेक (Passion) से मानते थे इसीलिए उनका यह मन्तव्य था कि तीव्र भावावेश आलंकारिक भाषा तथा छन्द रचना में सहायक होता है। अतः कविता का सम्बन्ध स्वतः ही आलंकारिक भाषा से हो जाता है। जहाँ भावावेश होगा वहाँ आलंकारिक भाषा स्वयं-स्फूर्त होगी सामान्य भाषा नहीं। अतः कविता में भाषा के स्थान पर भावावेग के कारण आलंकारिक भाषा ही होगी—

"Strong passion has a language more measured than is employed in common speaking"

कॉलरिज का मत था कि कविता की विशेषता यह है कि उसके प्रत्येक भाग में भी उतना ही गुण मिलता हो जितना कि पूर्ण में। कविता की इसी विशेषता के कारण काव्यपाठ प्रत्येक भाग आनन्दप्रद होता है और ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि वाक्यरचना ध्यानपूर्वक चुनी हुई हो और शब्दों का व्यवस्थापन कौशलपूर्ण हो।

ऐसे श्रेष्ठतम पदार्थों के निकट सम्पर्क मे रहती है, जिनसे भाषा के श्रेष्ठतम अश का निर्माण होता है। वे यह मानते थे कि गाँव के रहने वाले बाह्याडम्बर से सर्वथा दूर रहते हैं अत वे अपनी भावनाओ को बडे ही सादे ढग से यथावत् रूप मे अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। उन्होने इन लोगो की अपेक्षाकृत अधिक स्थायी और अधिक दर्शनमय माना। उनके अपने शब्द हैं—

" because such men hourly communicate with the best objects from which the best part of language is originally derived, and because, from their rank in society and the sameness and narrow circle of their intercourse, being less under the influence of social vanity, they convey their feelings and nations in simple unelaborated expressions Accordingly, such language, arising out of repeated experience and regular feelings, is a more permanent, and a far more philosophical language, than that which is frequently substituted for it by poets "

वस्तुत वर्ड्सवर्थ का मुख्य उद्देश्य काव्य-सामग्री का चयन जन-जीवन की घटनाओ से करना था। इसलिये भी उन्होने काव्य मे जन प्रचलित भाषा का व्यवहार करने को कहा। उनकी यह दृढ धारणा थी कि जन जीवन की घटनाओ के चित्रण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त वही भाषा है जिसे लोग दिन-रात बोलते हैं।

सामान्य बोल-चाल की भाषा मे काव्य-रचना सम्भव है, इस बात को सिद्ध करने के लिये वर्ड्सवर्थ ने कुछ कविताओ की भी रचना की। इन कविताओ से कुछ पक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत है—

Few months of life has he in store
As he to you will tell,
For still, the more he works, the more
His poor old ancles swell
My gentle reader, I perceive
How patiently you've waited,
And I'm afraid that you expect
Same tale will be related
I heard a thousand blended notes,
While in a grave I sate reclined,
In that sweet mood when pleasant thoughts
Bring sad thoughts to the mind

कविता की भाषा के विषय मे ही वर्ड्सवर्थ ने एक बात और कही, और वह यह कि गद्य तथा पद्य की भाषा मे न ही कोई तात्विक अन्तर है और न हो ही सकता है—

wers of a revolution develop the new poetic idiom in one direction or another they polish or perfect it meanwhile the spoken language goes on changing and the poetic idiom goes out of date

डॉ० वी० राघवन् ने इलियट द्वारा कविता की भाषा के क्षेत्र में उठायी गयी इस क्रांति को उचित ठहराते हुए कहा है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सामान्य बोलचाल की भाषा पर बल दिया जाना कविता के लिये स्वास्थ्यकर ही था क्योंकि इससे पूर्व कविता की शैली की कृत्रिमता अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी—

After the excesses of poetic diction in the late nineteenth century and the early years of the twentieth it was certainly necessary for the good health of poetry to advocate a return to common speech

हैरियट मॉनरो (Harriet Monroe) ने दैनिक क्रिया-कलाप में प्रयुक्त होने वाली भाषा को ही काव्य-निर्माण के उपयुक्त समझा—

the language which is good enough for labor and love and marriage, for birth and death and the friendly breaking of bread is good enough for the making of poetry"

२ कविता की भाषा के विषय में भारतीय चिन्तकों के विचार

भारतीय वाङ्मय में कविता की भाषा की समस्या समस्या का रूप लेकर आज से पूर्व कभी खड़ी ही नहीं हुई। प्रायः सभी विद्वान् यह स्वीकार करते रहे कि कविता की भाषा के लिए जनसामान्य भाषा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। हिन्दी के आलोचकों ने न ही गद्य और पद्य की भाषा को एक माना। बाबू श्याम सुन्दरदास ने गद्य और पद्य की भाषा में स्पष्ट ही अन्तर माना—

"यद्यपि गद्य के ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जो अलंकार और कल्पना के चमत्कार में उत्कृष्ट पद्य से कम नहीं हैं और पद्य के भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनकी सरल निरलंकार स्वाभाविकता गद्यवत् भासित होती है तथापि पद्य में संगीत कला की छाया अधिक स्पष्ट और प्रभावशालिनी देख पड़ती है कल्पना का अधिक अनिवार्य रूप देख पड़ता है और उसकी रसमयता भी अधिक बलवती समझ पड़ती है। पद्य का स्वर अधिकांश में तालबद्ध होता है शब्दों के पद तो संगीत के साँचे में ही ढले हुए हैं। गद्य में मनुष्य की बुद्धिक्रिया अधिक प्रबल रूप में प्रतिफलित होती है पद्य में उसकी भावना की गति अधिक तीव्र होती है। गद्य में चरण पद्य की भाँति गुम्फ नहीं करते उसमें यति आदि का नियम नहीं माना जाता।

वस्तुतः हिन्दी में भाषा की समस्या नये कवियों के सामने मुख्य रूप से आयी है। अज्ञेय जी के शब्द हैं— कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है—भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की

कॉलरिज का यह भी विचार था कविता मे बहुत से तत्त्वो का समस्वरत्व होता है, वे एक दूसरे के सहायक होते हैं। अत जब कविता मे विचार उत्कृष्ट होगे, छन्द उत्कृष्ट होगे, व्यक्तित्व उत्कृष्ट होगा, तो भाषा अपने आप उत्कृष्ट होगी। कवियो का अभ्यास भी इसी बात का द्योतक है कि कविता मे उत्कृष्ट वाक्सरणि होती है।

कॉलरिज ने खुले शब्दो मे वर्ड्सवर्थ का विरोध करते हुए कहा कि गद्य तथा पद्य की भाषा मे तात्त्विक अन्तर हो सकता है, है और होना चाहिए—

" there may be, is and ought to be an essential difference between the language of prose and metrical composition "

वर्ड्सवर्थ तथा कॉलरिज के बाद कुछ समय तक कविता की भाषा से सम्बद्ध यह विवाद पाश्चात्य जगत मे बन्द रहा, और कविता के लिये सस्कृत भाषा ही उपयुक्त समझी जाती रही, किन्तु वहाँ नयी कविता (New Poetry) के जन्म के साथ ही एक बार फिर सामान्य बोलचाल की भाषा पर बल दिया जाने लगा। एजरा पाउण्ड, टी० एस० इलियट प्रभृति कवियो तथा विचारको ने कविता की भाषा को जनभाषा के समीप लाने पर फिर बल दिया। टी० एस० इलियट का कथन है—

"The poetry of a people takes its life from the people's speech and in turn gives life to it , and represents its highest point of consciousness, its greatest power and its most delicate sensibility "

इलियट ने बडे ही स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि कविता सामान्य बोलचाल की भाषा से दूर नही जानी चाहिए—

" poetry must not stray too far from the ordinary everyday language which we use and hear Whether poetry is accentual or syllabic, rhymed or rhymeless, formal or free, it cannot afford to lose its contact with the changing language of comman intercourse "

इलियट ने कविता की भाषा से सम्बद्ध अपने मत की पुष्टि में उन आन्दोलनो को उचित ठहराया जो उनसे पूर्व काव्य-भाषा को जनभाषा के समीप लाने के लिए हो चुके थे—

"Every revolution in poetry is apt to be, and sometimes to announce itself to be a return to common speech That is the revolution which Wordsworth a announced in his prefaces, and he was right but the same revolution had been carried out a century before by Oldham, Waller, Denhamand Dryden , and the same revolution was due again something over a century later. The follo-

इसी प्रकार कहने को 'अज्ञेय' जी भी कविता के लिए सर्वजन-सुलभ भाषा के पक्ष में हैं; किन्तु उनकी अपनी ही कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिनमें आवश्यकता से भी अधिक परिष्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है—

रात की अँधेरी दीर्घ घड़ियों में
यामिनी के गोपन रहस्यों को टेरते—
उनकी पुरुषता ग्रबल्य रहःशीलता के सहशीर्मेव की निश्चलता
तीव्र अंतरानुभूति से पुकार करते
यती क्रौंच ने हठात्
बीच ही में अटपटी अपनी उड़ान के
प्रात:रश्मि के प्रथम स्पर्श से हो मर्माहत
सिमट सुरासकर
ब्रम-समाधि ले ली।"

कहने का तात्पर्य यह कि काव्य भाषा कभी जनभाषा का रूप नहीं ले सकती और न ही कविता गद्य की भाषा में लिखी जा सकती है। कविता में छन्दों के बन्धन को तो शिथिल किया जा सकता है; किन्तु उसकी आन्तरिक लय को नहीं भुलाया जा सकता। आन्तरिक लय के न रहने पर कविता कविता नहीं रह जायेगी। निष्कर्ष यह कि कविता की भाषा न ही जनभाषा है और न ही गद्य की भाषा उसके लिए परिष्कृति और लय अपरिहार्य हैं।

केंचुल फाडकर उसमे नया, अधिक व्यापक अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।" अपने इस प्रयास मे सफलता पाने के लिए नया कवि उसे एकदम जनसाधारण की भाषा से जोड देना चाहता है। हरिनारायण व्यास का कहना है—"भाषा जीवन और समाज का एक प्रबल शस्त्र है, किन्तु उसे जीवन से अलग होकर नही जीवन मे ही रहना है।" 'अज्ञेय' जी चाहते है कि काव्य-रचना जनभाषा मे हो। इसीलिए वे कहते हैं—

'मुखर वाणी हुई बोलने हम लगे
हम को बोध था वे शब्द सुन्दर हैं—
सत्य भी हैं, सारमय हैं।
पर हमारे शब्द
जनता के नही थे"

भवानीप्रसाद मिश्र का भी कवि के प्रति आग्रह है—

"जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख,"

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का नया कवि भी कविता की भाषा तथा जनभाषा को एकमेव कर देना चाहता है।

४ निष्कर्ष

विभिन्न विद्वानो के कविता की भाषा के विषय मे मत प्रस्तुत कर देने के उपरान्त अब देखना यह है कि क्या जनभाषा काव्य-भाषा बन सकती है और क्या गद्य और पद्य की भाषा एक हो सकती है ? उत्तर स्पष्ट ही नकारात्मक आयेगा। क्योकि कविता की रचना हृदय के अभिस्फुरण से हुआ करती है और हृदय के अभिस्फुरित होने पर वाणी मे वक्रता न आये यह सम्भव नही। जिन-जिन कवियो ने कविता मे सामान्य बोलचाल की भाषा अपनाने की बात कही है, वे स्वय अपनी कविताओ मे इस सिद्धान्त का पालन नही कर पाये हैं। स्वय वर्ड्स्वर्थ अपने सिद्धान्त को अपनी कविता मे अवतरित नही कर सके। उनकी इम्मॉर्टेलिटी ओड ('Ode on Intimations of Immortality') जो कि उनकी कविता का कीर्ति-स्तम्भ मानी जाती है, नितान्त सस्कृत भाषा मे रचित है। जहाँ पर उन्होने अपने भाषाविषयक सिद्धान्त को सामने रखकर काव्य-रचना की है, वही उनका काव्य वास्तविक काव्य के स्तर से च्युत हो गया है। यह तथ्य प्रो० सेंट्सबरी की दृष्टि से भी नही बचा है—

" he (Wordsworth) never, from Tintern Abbey' onwards, achieves his highest poetry, and very rarely achieves high poetry at all, without putting that principle in his pocket"

इलियट भले ही काव्य मे जनभाषा के हिमायती रहे हो, किन्तु उनकी सभी उत्कृष्ट कविताओ मे अत्यन्त परिष्कृत भाषा का प्रयोग किया गया है। 'फोर क्वार्टेट्स' ('Four Quarterts') की नितान्त परिनिष्ठित भाषा इस बात की साक्षी है।

वैज्ञानिक के लिए एक और एक दो होते हैं तो साहित्यकार के लिए एक और एक ग्यारह होते हैं। वैज्ञानिक के लिए किसी अंक के आगे शून्य लगाने से उसका मूल्य दस गुना बढ़ जाता है तो बिहारी के लिये तिय ललाट पर बेंदी अगनित उद्योत का कारण बन जाती है और अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ को तुच्छ पुष्प भी अभिनव सौन्दर्य का भण्डार प्रतीत होता है।

'To me the meanest flower that blows can give thought that lie too deep for tears"

सारांश यह है कि दार्शनिक और वैज्ञानिक का सत्य स्थूल बुद्धिग्राह्य बाह्य और अपूर्ण है कवि उसे अपनी संवेदना अनुभूति एवं कल्पना द्वारा सूक्ष्म तरल रम्य आन्तरिक और पूर्ण बनाता है। सत्य और सौन्दय की इसी अभिन्नता को देखकर आंग्ल कवि कीट्स ने कहा था।

"Beauty is truth truth beauty
That is all ye know and all
ye need to know"

प्लेटो के अनुसार काव्य सत्य—प्लैटो के अनुसार सत्य वह है जिससे समाज और व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को बल मिले। इसके विपरीत जो कुछ भी हो उसे वह असत्य मानता है। काव्य को भी वह इसी कसौटी पर परखता है। वस्तुतः प्लैटो एक ऐसा दार्शनिक था जो जीवन और सृष्टि के रहस्यों को जानने के साथ-साथ समाज का कल्याण चाहता था। दार्शनिक के रूप में उसने सत्य की व्याख्या करते हुए लिखा 'जब कभी कई प्राणियों या वस्तुओं की एक सामान्य संज्ञा होती है तो हम कल्पना कर लेते हैं कि उनका एक सामान्य आदर्श (Idea) या रूप (form) होगा। ईश्वर ऐसे ही सामान्य आदर्श का कर्ता है, न कि विशेष आदर्श (Individual Idea) का यही सामान्य आदर्श सत्य' है। इस प्रकार प्लैटो सामान्य (universal) सत्य को ही वास्तविक सत्य मानता है, और विशिष्ट सत्य को उसकी छाया (appearance) मात्र मानता है। पलंग का उदाहरण देते हुए उसने कहा कि आदर्श पलंग केवल एक होता है जो ईश्वर अपनी इच्छा या आवश्यकता से बनाता है। शेष जितने पलंग हैं वे सब उस आदर्श पलंग की नकल मात्र हैं सत्य केवल आदर्श पलंग में निवास करता है, शेष सब पलंग असत्य हैं।

जहाँ तक काव्य-सत्य का सम्बन्ध है प्लैटो ने अपने युग की काव्य-कृतियों से प्रभावित हो निर्णय दिया कि काव्य का सत्य वास्तविक सत्य नहीं होता क्योंकि उसमें अनुदात्त और अवाञ्छनीय तत्त्व अधिक हैं। वह कविता को अज्ञान से उत्पन्न मानता था। उसका मत है कि कवि जिस वस्तु का अनुकरण करता है उसकी मूल प्रकृति से परिचित नहीं होता। उदाहरण के लिए बांसरी-सेवक न तो अपने अनुकार्य की प्रकृति से परिचित होता है और न उसका स्वरूप ही अंकित कर पाता है। वह समझता था

: २७ :

काव्य-सत्य

१ दार्शनिक वैज्ञानिक एव कवि के सत्य का भेद
२. प्लैटो के अनुसार काव्य-सत्य
३ इतिहास और काव्य-सत्य
४. समान्य सत्य
५ कलागत आवश्यकता और सत्य
६ आदर्श और काव्य-सत्य
७ काव्य-सत्य और सार्वजनीनता
८ काव्य-सत्य और यथार्थवाद
९. मानव जीवन में काव्य सत्य का महत्त्व
१० उपसंहार

सृष्टि के आरम्भ से आज तक मानव निरन्तर सत्य की खोज मे सलग्न है। दार्शनिक, वैज्ञानिक, साहित्यकार सभी इस कार्य मे सलग्न रहे हैं और आज भी उनका कार्य समाप्त नहीं हुआ है। अपने-अपने क्षेत्र मे सत्य का अन्वेषण करते हुए उन्होंने कतिपय तथ्य प्राप्त भी किए हैं, पर प्रथम तो क्षेत्र-भेद के कारण तथा दूसरे युग और देश मे बदलती परिस्थितियो के कारण वे सर्वग्राह्य नही हो पाए। दार्शनिक जगत का सत्य बुद्धि और आत्मा से सम्बन्ध रखता है, वैज्ञानिक का भौतिक पदार्थों से, तो साहित्य का सत्य हमारे भाव और कल्पना जगत् को आन्दोलित और परि[illegible]त करता है। दर्शन का सत्य बहुत से लोगो की पहुच के बाहर होता है, पर काव्य का सत्य अपनी मधुर मजुलता के कारण सर्वग्राह्य होता है। दार्शनिक और वैज्ञानिक वास्तविक सत्य से तथ्य मात्र ग्रहण करते हैं, परन्तु कवि उतने से ही सन्तुष्ट न रह उन तथ्यो के पीछे छिपे सौन्दर्य और रमणीयता के तत्त्वो को अपनी सवेदनशीलता और कल्पना से ग्रहण कर उसे व्यापकता प्रदान करता है। प्रात कालीन दूर्वा पर मोती की तरह चमकते ओसकण वैज्ञानिकके लिए हाइड्रोजन और आक्सीजन गैसो के विशेष अनुपात मे मिश्रण का फल है, दार्शनिक के लिए वे विश्व की क्षणभंगुरता के निदर्शन हैं, परन्तु कवि उनमे मोती की आभा, पुष्पो का शृगार, पारे की सरलता और गगाजल की पवित्रता देखता है। कभी वह उनमे करुणा के आसू देखता है, तो कभी नक्षत्रो का सौन्दर्य।

है। चूंकि सार्वभौम सत्य वस्तु-सत्य से अधिक महान होता है, अतः काव्य-सत्य भी वस्तु सत्य से अधिक महान है। काव्य-सत्य को वस्तु-सत्य की कसौटी पर नहीं कसना चाहिये। लक्ष्मण-शक्ति के अवसर पर राम की उक्ति 'निज जननी के एक कुमार' वस्तु-सत्य के आधार पर गलत सिद्ध होगी पर भावना के सत्य के आलोक में वह अमूल्य स्वीकार की जायेगी क्योंकि वह भाई के अकृत्रिम और निश्छल स्नेह की ओर संकेत करती है,मानव-स्वभाव के अत्यन्त अनुकूल है, मानव-हृदय का जीवन्त और रम णीय चित्र अंकित करती है। कवि वस्तुतः मानव-हृदय का चितेरा है तथ्यों का लेखा जोखा रखने वाला नहीं। इतिहास गड़े मुर्दे उखाड़ता है तो साहित्य इतिहास के अस्थि पञ्जर को जीवन प्राण प्रदान कर उसे सजाता है।

इतिहास सुन्दर-असुन्दर सबकी रूपरेखा नग्न रूप में यथातथ्य उपस्थित करता है। साहित्य असुन्दर को भी कला की रसायन द्वारा सुन्दर बना देता है। इसी सौम्य-प्रभाव के कारण साहित्य अधिक प्रभावशाली होता है 'काव्य मनुष्य की उदार वृत्तियाँ जाग्रत कर उसे देवत्व की ओर उठाता है, उसे असाधारण रूप से सहृदय और महान बनाता है। कवि गृहीत सत्य में संवेदनशीलता और प्रेषणीयता अधिक होती है।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि कवि इतिहास की परम्परा में परिवर्तन कर सकता है। स्वतंत्र होते हुए भी वह ऐतिहासिक नामों घटनाओं तिथियों में उलट-फेर नहीं कर सकता—हुमायूं को अकबर का बेटा नहीं बता सकता पानीपत की लड़ाई को १८५७ ई० की क्रान्ति के बाद घोषित नहीं कर सकता। राम को कोट-पैंट नहीं पहना सकता। वह निरंकुश है पर उच्छृंखल नहीं। हाँ उसे इतनी स्वतन्त्रता है कि वह किसी भी पात्र को संभावना की सीमा के भीतर चित्रित कर सकता है। वह यह तो नहीं कह सकता कि राम के बनवास में कैकेयी का हाथ न था पर वह कैकेयी को घृणा और सहानुभूति दोनों दृष्टियों से देख सकता है—उसके कुकृत्य का कारण 'गई गिरा मति फेरि' को भी बता सकता है और उसके लिए उसके मातृत्व एवं वात्सल्य भाव को भी उत्तरदायी बना सकता है। काव्य वस्तुतः जीवन के सीमित सत्य की बजाय चिरन्तन सत्य को प्रस्तुत करता है इसीलिए अग्र जी कवि टैनीसन ने कहा है 'कविता यथार्थ से अधिक सत्य होती है।

सम्भाव्य सत्य—काव्य-सत्य के अन्तर्गत अरस्तू ने संभव-असंभव के प्रश्न पर भी प्रकाश डाला था। उसका मत है कि वस्तु-जीवन में जो असंभव है वह काव्य के लिए सर्वथा त्याज्य नहीं है बल्कि कभी-कभी तो अधिक ग्राह्य हो जाता है।

"That never has happened, and never will happen, may be more true, poetically speaking—more profoundly true than those daily occurrences which we can with confidence predict."

कि कवि यश और कीर्ति के लिये पाठको की वासनाओ को उत्तेजित कर लोकप्रिय बनना चाहता है, वह आवेगपूर्ण और उन्मादग्रस्त (passionate and fitful) प्रकृति का चित्रण करता है क्योंकि प्रथम तो ऐसी प्रकृति का अनुकरण सुगम है और दूसरे ऐसे अनुकरण को पाठक भी पसन्द करते हैं। ट्रैजेडी का कवि हमारे विवेक को नष्ट कर हमारी वासनाओ को जाग्रत करता है, उनका पोषण करता है।' काव्य के इसी हानिकर प्रभाव के कारण वह काव्य-सत्य को वास्तविक सत्य नही मानता। उस के लिये बुद्धिग्राह्य आनन्द ही एक मात्र ग्राह्य आनन्द है और वह काव्य मे प्राय नहीं होता।

परन्तु इसका अर्थ यह नही कि प्लेटो काव्य को सदा तिरस्करणीय मानता है, वह सत्काव्य की आवश्यकता मानता है। 'व्यावहारिक असत्य कथन पौराणिक कथाओ मे उपादेय होता है कवि उस व्यावहारिक असत्य-कथन को यथाशक्ति 'सत्य' के समान प्रस्तुत कर उसे महत्त्वपूर्ण बना देता है।' उसके इस कथन से स्पष्ट है कि कवि अपने कौशल द्वारा काल्पनिक को वास्तविक सत्य का रूप दे सकता है, उसे महत्त्व पूर्ण बना देता है। साराश यह है कि दार्शनिक होने के नाते तथा अपने युग के काव्य की हीनता को देख प्लेटो काव्य-सत्य को अवास्तविक मानता है, परन्तु वह इतना तो स्वीकार करता है कि काव्य का सत्य यदि उपादेय हो, सामान्य सत्य हो, तो वह ग्राह्य है।

इतिहास और काव्य सत्य—अरस्तू का कथन है कि काव्य मानव स्वभाव तथा जीवन के शाश्वत एव सार्वभौम तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है। काव्य सत्य के सबध में उसके विचार उस स्थल पर स्पष्ट हो जाते हैं जहा वह इतिहासकार तथा कवि मे भेद बताते हुये लिखता है। 'कवि का कर्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है उसका वर्णन करना नही है, वरन् जो हो सकता है, जो सभावना या आवश्यकता के नियम के अधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है कवि और इतिहासकार मे वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो जाता है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है।' स्पष्ट है कि काव्य का सत्य इतिहास के सत्य से भिन्न होता है, काव्य सार्वभौम का वर्णन करता है, जबकि इतिहास सीमित का चित्रण करता है। कवि इतिहासकार की तरह किसी विशिष्ट व्यक्ति के कृत्यो या अनुभवो का वर्णन न कर मानव-स्वभाव की शाश्वत सभावनाओ को अपना विषय बनाता है। इतिहास तथ्यो पर आधारित होता है जबकि कवि उन तथ्यो को अपनी कल्पना, सवेदना, अनुभूति तथा कला द्वारा सत्य मे बदल देता है। यदि इतिहासकार शिवाजी के जीवन और स्वभाव का वस्तुनिष्ठ वर्णन करता है, तो कवि उसके माध्यम से मानव-स्वभाव तथा मानव-चरित्र की शाश्वत प्रवृत्तियो और सभावनाओ पर प्रकाश डालता है। इतिहास के तथ्य काव्य मे नया अर्थ और मूल्य ग्रहण कर लेते हैं। इसी लिये कहा गया है, 'इतिहास मे तिथियो और सवतो को छोडकर अन्य कुछ भी यथार्थ नही होता, जबकि साहित्य मे तिथि और सवतो के सिवा शेष सब कुछ यथार्थ होता

द्वारा ही साहित्य साहित्य बना रहता है उसका विज्ञान और इतिहास से भेद हो जाता है।

अरस्तू ने एक स्थान पर लिखा है कि कवि अपनी कृति में उन वस्तुओं को भी ग्रहण कर सकता है कि जो यथार्थ न होकर आदर्श हैं।

"Not real but a higher reality what ought to be, not what is."

स्पष्ट है कि कवि का कार्य समाज को उदात्त मार्ग पर चलाना है उसका कल्याण करना है अतः वह अपनी रचना में आदर्शों की प्रतिष्ठा कर सकता है ऐसे व्यक्तियों की अवतारणा कर सकता है जो वास्तविक जीवन में न पाए जाने पर भी मानव-समाज के लिए आदर्श हो सकते हैं। तुलसी के राम इसी प्रकार के आदर्श हैं— मानव की उच्चतम चारित्रिक विशेषताओं का आदर्श-समुच्चय हैं और कोई उन्हें या उनके सृष्टा तुलसी को काव्य-सत्य की परिधि से बहिष्कृत नहीं कर सकता।

काव्य का सत्य अभिधात्मक न होकर ध्वनित या व्यंजित होता है। कहे हुए वाक्य का ध्वनित अर्थ ही काव्य का सत्य है। उसमें शाब्दिक सत्यता भले ही न हो परन्तु ध्वनित सत्यता अवश्य होती है। बिहारी का निम्न दोहा केवल कली और अली की ही बात नहीं कहता कुछ और भी ध्वनित करता है और यह ध्वनित अर्थ ही इस दोहे का सर्वस्व है।

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल
अली कली ही सों बिन्ध्यो आगे कौन हवाल।"

अरस्तू ने भौतिक असत्यों (meterial impossibilities) को काव्य-सत्य के अन्तर्गत कुछ उपबन्धों के साथ स्वीकार किया है परन्तु वह कला में मानवगत असत्य (moral improbabilities) को किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं करता। मानवगत असत्य से उसका अभिप्राय उन कृत्यों या आचरणों से है जिनके पीछे कोई उद्देश्य (motive) नहीं है अथवा जो ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित हैं जो समझ में न आएं। वह उस असत्य का निषेध करता है जो मानव-स्वभाव की मूल प्रवृत्तियों के विरुद्ध है। उदाहरण के लिए लक्ष्मण-शक्ति का संवाद सुनकर अयोध्या की जनता का चुप बैठे रहना अस्वाभाविक लगता है। साकेतकार ने इसी त्रुटि को सुधारकर मानसत्य की प्रतिष्ठा की है। आकस्मिक घटना या संयोग को भी काव्य-सत्य के प्रतिकूल माना जाता है, क्योंकि वह प्रकृति की कार्यप्रणाली के प्रतिकूल होता है। वस्तुतः आकस्मिक घटना को अरस्तू भी असमाव्य संभावना (improbable possibility) के अन्तर्गत मानता है।

युग की परिस्थितियों के साथ अन्य सत्य बदलते रहते हैं पर काव्यगत सत्य कभी नहीं बदलते वे चिरन्तन तथा सार्वभौम हैं। उनका मूल रूप शाश्वत और अपरिवर्तनशील होता है। दार्शनिक और वैज्ञानिक सत्य आगामी युगों में बदल सकते

सभाव्यता से उसका अभिप्राय यह नही कि कवि केवल उन चीजो का वर्णन करे जो उसके दैनिक अनुभव के अन्तर्गत आए। सभाव्यता कवि को कल्पना की ऊची उडान भरने से नही रोकती। वह अपनी कृति मे सामान्य का ही वर्णन नही करता। यदि ऐसा करता तो "हैमलेट" या "अभिज्ञान शाकुन्तल" जैसे नाटक नही लिखे जा सकते थे। उनमे चित्रित घटनाएँ और पात्र सामान्य न होकर विशिष्ट गरिमा से मडित हैं। हाँ, वे सभावना की सीमा का अतिक्रमण नही करते। वस्तुत काव्य का सत्य वस्तुगत सत्य से ऊँचा पर सभावना की सीमा के भीतर होता है—वह भावना और आदर्श का सत्य होता है।

अरस्तू ने असम्भव को ग्रहण करने के लिए तीन शर्तें रखी हैं—कलागत आवश्यकता, भव्यतर सत्य की प्रतिष्ठा और परम्परागत धारणा या विश्वास। वह चाहता है कि कवि को स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपनी कृति के आरम्भ मे ही कुछ पूर्वधारणाए (assumptions) बना ले और फिर यदि आवश्यकता पडे, तो उन्ही के आधार पर वह कलात्मक आवश्यकता के नियमो के अनुसार कल्पना की सहायता से कथानक एव पात्रो का विकास करे। उसका विश्वास है कि कलात्मक प्रयोग से अविश्वसनीय भी विश्वसनीय, असभव भी सभव एव प्राकृतिक प्रतीत होने लगता है। उदाहरण के लिए 'इलियड' का वह दृश्य जिसमे एशिलीज ट्रॉय की दीवारो के चारो ओर हैक्टर का पीछा करता है और ग्रीक सैनिक चुपचाप खडे रह जाते हैं, असत्य और अविश्वसनीय लगता है, परन्तु काव्य पढते समय अपने प्रभाव और प्रसादन के कारण वह भी ग्राह्य हो जाता है।

कलागत आवश्यकता के अन्तर्गत हम कल्पना प्रसूत विभिन्न अलकार-प्रयोगो, कथानक-रूढियो आदि को ले सकते हैं। कवि जब उपमा अलकार का प्रयोग करता है, तो उसकी उपमाओ से केवल एक गुण विशेष या आकार विशेष का ही अर्थ ग्रहण किया जाता है, शेष सब से उसका कोई प्रयोजन नही होता। इसी प्रकार अतिशयोक्ति अलकार का प्रयोग वस्तु सत्य की दृष्टि से तो अनुपयुक्त है, परन्तु चू कि कवि अपने पाठको के हृदय पर प्रभाव डालना चाहता है उन्हे वही अनुभूति कराना चाहता है जिसे वह स्वय अनुभव कर चुका है, अत वह अपनी बात को जोरदार शब्दो मे कहने के लिए अतिशयोक्ति अलकार का प्रयोग करता है। जब 'राम की शक्तिपूजा' मे कवि हनुमान के आकाश-गमन का चित्र अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दावली मे करता है, उनके शरीर को 'वज्राग तेजघन' कहता है, तो उसका कारण यही है कि वह पाठक के हृदय-पटल पर हनुमान के विक्षुब्ध, तेजपूर्ण एव उत्साहपूर्ण मन का चित्र अकित करना चाहता है। अत यह वर्णन वस्तुगत सत्य पर आधारित न होते हुए भी सच्चा कहा जाएगा। कथानक-रूढियो, दत-कथाओ आदि को भी काव्य मे इसीलिए स्वीकार किया जाता है क्योकि वे पाठक पर वाछित प्रभाव डालती हैं, भले ही वे असत्य, तर्कविरुद्ध या असगत हो। आचार्य शुक्ल के अनुसार कविता का कार्य अर्थग्रहण नहीं, बिम्ब ग्रहण कराना है और इसके लिए वह कल्पना का आश्रय लेती है। कल्पना के

द्वारा ही साहित्य साहित्य बना रहता है उसका विज्ञान और इतिहास से भेद हो जाता है।

अरस्तू ने एक स्थान पर लिखा है कि कवि अपनी कृति में उन वस्तुओं को भी ग्रहण कर सकता है कि जो यथार्थ न होकर आदर्श हैं।

"Not real but a higher reality what ought to be not what is."

स्पष्ट है कि कवि का कार्य समाज को सदात्त मार्ग पर चलाना है उसका कल्याण करना है अतः वह अपनी रचना में आदर्शों की प्रतिष्ठा कर सकता है ऐसे व्यक्तियों की अवतारणा कर सकता है जो वास्तविक जीवन में न पाए जाने पर भी मानव-समाज के लिए आदर्श हो सकते हैं। तुलसी के राम इसी प्रकार के आदर्श हैं— मानव की उच्चतम चारित्रिक विशेषताओं का आदर्श समुच्चय हैं और कोई उन्हें या उनके सृष्टा तुलसी को काव्य-सत्य की परिधि से बहिष्कृत नहीं कर सकता।

काव्य का सत्य अभिधात्मक न होकर ध्वनित या व्यंजित होता है। कहे हुए वाक्य का ध्वनित अर्थ ही काव्य का सत्य है। उसमें शाब्दिक सत्यता भले ही न हो परन्तु ध्वनित सत्यता अवश्य होती है। बिहारी का निम्न दोहा केवल कली और अली की ही बात नहीं कहता कुछ और भी ध्वनित करता है और वह ध्वनित अर्थ ही इस दोहे का सर्वस्व है।

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल
अली कली ही सौं बिन्ध्यो आगे कौन हवाल।

अरस्तू ने भौतिक असत्यों (meterial impossibilities) को काव्य-सत्य के अन्तर्गत कुछ उपबन्धों के साथ स्वीकार किया है परन्तु वह कला में भावगत असत्य (moral improbabilities) को किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं करता। भावगत असत्य से उसका अभिप्राय उन कृत्यों या आचरणों से है जिनके पीछे कोई उद्देश्य (motive) नहीं है अथवा जो ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित हैं जो समझ में न आएं। वह उस असत्य का निषेध करता है जो मानव-स्वभाव की मूल प्रवृत्तियों के विरुद्ध है। उदाहरण के लिए लक्ष्मण-शक्ति का संवाद सुनकर अयोध्या की जनता का चुप बैठे रहना अस्वाभाविक लगता है। साकेतकार ने इसी त्रुटि को सुधारकर भावसत्य की प्रतिष्ठा की है। आकस्मिक घटना या संयोग को भी काव्य-सत्य के प्रतिकूल माना जाता है, क्योंकि वह प्रकृति की कार्यप्रणाली के प्रतिकूल होता है। वस्तुतः आकस्मिक घटना को अरस्तू भी असमाम्य सम्भावना (improbable possibility) के अन्तर्गत मानता है।

युग की परिस्थितियों के साथ अन्य सत्य बदलते रहते हैं पर काव्यगत सत्य वे चिरन्तन तथा सार्वभौम हैं। उनका मूल रूप शाश्वत और शील होता है। दार्शनिक और वैज्ञानिक सत्य आगामी युगों में बदल सकते

हैं क्योकि वे नवीन अनुसन्धानो के आलोक मे असत्य भी सिद्ध हो जाते हैं और उनका मूल्य समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिये बहुत से ऐतिहासिक तथ्य अब असत्य सिद्ध हो चुके हैं, "सूर्य पृथ्वी के चारो ओर घूमता है" इस मान्यता का अब कोई मूल्य नही रह गया है। पर कालिदास की शकुन्तला, शेक्सपियर की मिराडा तथा तुलसी के राम सदा सहृदयो के लिए सत्य बने रहेंगे। कवि का सत्य कल्पित होते हुए भी त्रिकाल सत्य होता है। जहा दर्शन विशिष्ट मे सार्वभौम की खोज करता है, वहा काव्य विशिष्ट के माध्यम से सार्वभौम को व्यक्त करता है, सार्वभौम सत्य को स्थूल एव सजीव रूप प्रदान करता है। काव्य का सार्वभौम सत्य अपूर्ण विचार (abstract idea) नही है, वह सवेदना के द्वारा मूर्तिमान किया जाता है, उसमे ऐन्द्रिय बिम्ब होते हैं।

आज जिस यथार्थ मानव विवरण (human document), जीवन के खण्ड-चित्रों और 'कला-कला के लिए' सिद्धान्त की बात जोरो से कही जाती है वह काव्य-सत्य के अन्तर्गत नही आ सकते क्योकि यथार्थवाद सामयिक और सीमित सत्य पर बल देता है, शाश्वत या चिरन्तन सत्य पर नही, जबकि काव्य-सत्य का सम्बन्ध सार्वभौमता से है। दूसरे, 'कला कला के लिये' सिद्धान्त काव्य के बहिरग पर बल देता है, वाग्वैदग्ध्य की चिन्ता करता है, उसी मे उलझ कर जीवन के सत्य से विमुख हो जाता है जिसके लिये अथक साधना की आवश्यकता है।

काव्यगत सत्य का महत्त्व मानव-जीवन मे काव्य के महत्त्व से स्पष्ट है। कवि मानव-हृदय मे उठने वाली भाव-तरगो को भाषा के माध्यम से व्यक्त करता है। काव्य की यह भावाभिव्यजना इतनी प्रभावशाली और रजक होती है कि वह सहृदय पाठको के मन में उन्ही भावो को उद्दीप्त कर देती है जो कवि के हृदय मे थे। इतना ही नही, हम काव्य पढते समय अपने व्यक्तिगत धरातल से ऊपर उठकर उस स्थिति तक पहुच जाते हैं जहाँ मानव मात्र की भावनाओ को हम अपना अनुभव करने लगते हैं। मानवमात्र के प्रति सहानुभूति जागृत करना काव्य के लिए ही सभव है। वही हमारी उदात्त वृत्तियो को जागृत कर हमें देवत्व के पथ पर आरूढ करता है, हमे सहृदय और उदार बनाता है। हमारे जीवन-लक्ष्य के निकट हमे पहुँचाता है।

साराश यह है कि घटना तथा भाव का गहन सम्बन्ध है, काव्य जीवन की व्याख्या है और यह व्याख्या घटनामूलक न होकर भावमूलक है। काव्य-सत्य का कल्पना आदर्श, अनुभूति एव सार्वभौम से सम्बन्ध है। वह हमारे हृदय और उसमे [illegible] होने वाली भावनाओ का सत्य है। वह असत्य का विपरीतार्थक नही, [illegible] का पर्याय है।

२८

कला और काव्य

१ कला और सौन्दर्य
२ कला की प्रेरणा
३ कलाओं का वर्गीकरण
  (क) पौर्वात्य दृष्टि से
  (ख) पाश्चात्य दृष्टि से
४ वास्तुकला
५ मूर्तिकला
६ चित्रकला
७ संगीत कला
८ काव्य कला
९ हीगेल के वर्गीकरण की समीक्षा
१० क्रोचे का मत
११ भारतीय आलोचकों का मत
१२ उपसंहार

कला अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति है। वह मानव हृदय के गूढ रहस्यों का उद्घाटन है। मानव के चेतनशील हृदय पर बाह्य प्रकृति का जो-जो प्रभाव पड़ता है, कला मे उसी का प्रस्फुटन होता है। अत मनोभावो को व्यक्त करने की लालसा एवं उत्कट भावना ही कला की जननी है। परन्तु कोई भी अभिव्यक्ति तब तक कला की संज्ञा नही पाती—जब तक उसमे सौन्दर्य का योग न हो। कला और सौन्दर्य एक दूसरे से अभिन्न रूप मे सम्बद्ध हैं। हीगेल ने प्राकृतिक सौन्दर्य को ईश्वरीय सौन्दर्य का आभास माना है और कहा है कि कला इसी आभास की पुनरावृत्ति है। कवीन्द्र रवीन्द्र भी कला का मूल सौन्दर्य मे मानते हैं, यद्यपि उनकी दृष्टि मे सौन्दर्य केवल रूप या अभिव्यंजना मात्र नही है वह आत्मा मे निवास करता है, 'सौन्दर्य का बोध हमे विश्व की विभूतियो मे आनन्द की प्रतीति देकर हमारी कला को अधिक सुन्दर और सम्पन्न बनाता है। कला को सुन्दर और सम्पन्न बनाने के लिए आत्म सौन्दर्य और विश्व-सौन्दर्य की अनुभूति की व्यंजना आवश्यक है। प्रसाद ने भी मात्र

है क्योकि वे नवीन अनुसन्धानो के आलोक मे असत्य भी सिद्ध हो जाते हैं और उनका मूल्य समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिये बहुत से ऐतिहासिक तथ्य अब असत्य सिद्ध हो चुके हैं, "सूर्य पृथ्वी के चारो ओर घूमता है" इस मान्यता का अब कोई मूल्य नही रह गया है। पर कालिदास की शकुन्तला, शेक्सपियर की मिराण्डा तथा तुलसी के राम सदा सहृदयो के लिए सत्य बने रहेगे। कवि का सत्य कल्पित होते हुए भी त्रिकाल सत्य होता है। जहा दर्शन विशिष्ट मे सार्वभौम की खोज करता है, वहा काव्य विशिष्ट के माध्यम से सार्वभौम को व्यक्त करता है, सार्वभौम सत्य को स्थूल एव सजीव रूप प्रदान करता है। काव्य का सार्वभौम सत्य अपूर्ण विचार (abstract idea) नही है, वह सवेदना के द्वारा मूर्तिमान किया जाता है, उसमे ऐन्द्रिय बिम्ब होते हैं।

आज जिस यथार्थ मानव विवरण (human document), जीवन के खण्ड-चित्रो और 'कला कला के लिए' सिद्धान्त की बात जोरो से कही जाती है वह काव्य-सत्य के अन्तर्गत नही आ सकते क्योकि यथार्थवाद सामयिक और सीमित सत्य पर बल देता है, शाश्वत या चिरन्तन सत्य पर नही, जबकि काव्य-सत्य का सम्बन्ध सार्वभौमता से है। दूसरे, 'कला कला के लिये' सिद्धान्त काव्य के बहिरग पर बल देता है, वाग्वैदग्ध्य की चिन्ता करता है, उसी मे उलझ कर जीवन के सत्य से विमुख हो जाता है जिसके लिये अथक साधना की आवश्यकता है।

काव्यगत सत्य का महत्त्व मानव-जीवन मे काव्य के महत्त्व से स्पष्ट है। कवि मानव-हृदय मे उठने वाली भाव-तरगो को भाषा के माध्यम से व्यक्त करता है। काव्य की यह भावाभिव्यजना इतनी प्रभावशाली और रजक होती है कि वह सहृदय पाठको के मन मे उन्ही भावो को उद्दीप्त कर देती है जो कवि के हृदय मे थे। इतना ही नही, हम काव्य पढते समय अपने व्यक्तिगत धरातल से ऊपर उठकर उस स्थिति तक पहुच जाते हैं जहाँ मानव मात्र की भावनाओ को हम अपना अनुभव करने लगते हैं। मानवमात्र के प्रति सहानुभूति जागृत करना काव्य के लिए ही सभव है। वही हमारी उदात्त वृत्तियो को जागृत कर हमे देवत्व के पथ पर आरूढ करता है, हमे सहृदय और उदार बनाता है। हमारे जीवन-लक्ष्य के निकट हमे पहुँचाता है।

साराश यह है कि घटना तथा भाव का गहन सम्बन्ध है, काव्य जीवन की व्याख्या है और यह व्याख्या घटनामूलक न होकर भावमूलक है। काव्य-सत्य का कल्पना आदर्श, अनुभूति एव सार्वभौम से सम्बन्ध है। वह हमारे हृदय और उसमे तरगित होने वाली भावनाओ का सत्य है। वह असत्य का विपरीतार्थक नही, मानव-सत्य का पर्याय है।

२८
कला और काव्य

१ कला और सौन्दर्य
२ कला की प्रेरणा
३ कलाओं का वर्गीकरण
(क) पौर्वात्य दृष्टि से
(ख) पाश्चात्य दृष्टि से
४ वास्तुकला
५ मूर्तिकला
६ चित्रकला
७ संगीत कला
८ काव्य कला
९ हीगेल के वर्गीकरण की समीक्षा
१० क्रोचे का मत
११ भारतीय आलोचकों का मत
१२ उपसंहार

कला अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति है। यह मानव हृदय के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन है। मानव के चेतनशील हृदय पर बाह्य प्रकृति का जो-जो प्रभाव पड़ता है कला मे उसी का प्रस्फुटन होता है। अत: मनोभावों को व्यक्त करने की शाश्वत एवं उत्कट भावना ही कला की जननी है। परन्तु कोई भी अभिव्यक्ति तब तक कला की संज्ञा नही पाती—जब तक उसमे सौन्दर्य का योग न हो। कला और सौन्दर्य एक दूसरे से अभिन्न रूप मे सम्बद्ध है। हीगेल ने प्राकृतिक सौन्दर्य को ईश्वरीय सौन्दर्य का आभास माना है और कहा है कि कला इसी आभास की पुनरावृत्ति है। कवीन्द्र रवीन्द्र भी कला का मूल सौन्दर्य मे मानते है यद्यपि उनकी दृष्टि मे सौन्दर्य केवल रूप या अभिव्यंजना मात्र नही है वह आत्मा मे निवास करता है "सौन्दर्य का बोध हमें विश्व की विभूतियो मे आनन्द की प्रतीति देकर हमारी कला को अधिक सुन्दर और सम्पन्न बनाता है। कला को सुन्दर और सम्पन्न बनाने के लिए आत्म-सौन्दर्य और विश्व-सौन्दर्य की अनुभूति की व्यंजना आवश्यक है। प्रसाद ने भी मात्र बाह्य सौन्दर्य को महत्त्व न देकर आन्तरिक सौन्दर्य को महत्त्वपूर्ण बताया है और कला

को कर्त्तव्य की व्यजक शक्ति माना है। इसी विश्वास के कारण उन्होने काव्य की निम्न परिभाषा दी, "काव्य आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नही है। वह श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है।" अस्तु, कला का मूल सौन्दर्य है और यह सौन्दर्य बाह्य मात्र न होकर आन्तरिक भी है।

कला की प्रेरणाओ के सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद रहा है। अरस्तू और दान्ते कला का मूल मानव की अनुकरण करने की प्रवृत्ति मे मानते हैं। कलाकार प्रकृति का अनुकरण करता है। टाल्स्टाय कला की प्रेरणा भावना-सप्रेषण की इच्छा मे स्वीकार करता है। अपनी अनुभूतियो को दूसरो तक सप्रेषित करने की इच्छा मानव-मन की मूल प्रवृत्ति है। इसी के लिए वह कलाओ को माध्यम बनाता है और आत्माभिव्यक्ति द्वारा सतोष प्राप्त करता है। मार्क्स की दृष्टि भौतिकवादी थी। वह व्यक्ति की चेतना को सामाजिक परिवेश से प्रभावित मानता हुआ उसे सामाजिक जीवन की देन समझता था। सामाजिक जीवन मे वह अर्थ और वर्ग-सघर्ष को प्रधान तत्त्व समझता था और कला को आर्थिक स्थिति एव वर्ग-सघर्ष से प्रभावित मानता था। वह कला मे रमणीयता, अन्त सौन्दर्य और भावनात्मक विच्छित्ति को अस्वीकार कर अर्थ और वर्ग-सघर्ष मे कला के मूल बीज देखता है और कला-निर्माण को वर्ग-स्वार्थ से प्रेरित सामाजिक कर्त्तव्य मानता है। फ्रायड मानव-चेतना का प्राणधार काम (Libido) मानता है और कहता है कि मनुष्य जब सामाजिक मर्यादा और प्रशासनिक बन्धनो के कारण अपनी कामनाओ को व्यक्त नही कर पाता, तो वे दमित वासनाए और कुण्ठाए या तो स्वप्नो मे अथवा कलाओ मे अपनी अभिव्यक्ति पाती हैं। अत फ्रायड की दृष्टि मे कला द्वारा मानव अपनी दमित वासनाओ का उन्नयन करता है। इस प्रकार फ्रायड कला की मूल प्रेरणा दमित कामनाओ की अभिव्यक्ति मे मानता है। कुछ लोग जीवन से पलायन की भावना को कला के मूल मे बताते हैं, तो कुछ कला को भावो का उन्मोचक और व्यक्तित्व से मोक्ष मानते हैं। इन विभिन्न मतो के बावजूद हम कह सकते हैं कि मनुष्य इस अपार विश्व मे सौन्दर्य के दर्शन करता है, उसके साक्षात्कार से जो चिरन्तन आनन्द की अनुभूति उसे प्राप्त होती है, उसी को व्यक्त करने के लिए कला का जन्म होता है।

कलाओ का वर्गीकरण

क्रोचे का कथन है, "कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है, इसलिए उसका विभाजन असम्भव है। कला जब मूर्त रूप मे उपस्थित होती है, तब उसके विभिन्न रूपो के दर्शन होते हैं। इन रूपो की भिन्नता मे तात्विक भिन्नता न होकर केवल बाह्य भिन्नता होती है। उसकी मूल अभिव्यक्ति एक ही रहती है। इसीलिए तात्विक दृष्टि से कला का विभाजन सम्भव नही। अभी तक कला का विभाजन तात्त्विक न होकर व्यावहारिक दृष्टि अर्थात कला की [illegible] गया है।

शैवों ने कला के दो भेद माने हैं—शुद्ध कला और अशुद्ध कला। शुद्ध कला में चैतन्य का प्राधान्य रहता है और अशुद्ध कला में जड़ता का। शैव दर्शन में सम्पूर्ण सृष्टि के लिए छत्तीस तत्त्व माने गए हैं जिनमें कला को भी एक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। संस्कृत आचार्यों ने ज्ञान का विभाजन दो रूपों में किया है—विद्या तथा उपविद्या। काव्य की गणना उन्होंने विद्या में की है और कला को उप-विद्या माना गया है। भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र में इसी भेद को स्वीकार करते हुए लिखा है—'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला' परन्तु भारतीय ग्रन्थों में कला के अन्तर्गत कई कौशलपूर्ण कार्यों की गणना मिलती है। विद्या में रस प्रगट होता है और उपविद्या में कौशल होता है। कामसूत्र में 'इत्यम कला चतुष्षष्ठी कह कर चौसठ कला मानी गई हैं। ललित विस्तर में ४६ कलाएं मानी गई हैं तथा प्रबन्ध कोष' में ७२ कलाओं की गणना की गई है।

कुछ आलोचकों ने ऐतिहासिक दृष्टि एवं रुचि भेद के आधार पर भी कलाओं का वर्गीकरण किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके दो विभाग माने गए हैं—प्राचीन कला और आधुनिक कला। रुचि भेद के आधार पर भी इसके दो भेद किए गए हैं—धार्मिक कला और लौकिक कला। धार्मिक भावना से कभी-कभी लोग कलाओं को श्रद्धा के रूप में देखने लगते हैं। देवताओं की प्राचीन एवं अर्वाचीन कलात्मक सुन्दर मूर्तियों के प्रति भाव मग्न श्रद्धा और पुण्य-बुद्धि की भावना का ही प्राधान्य है। हम उनके कलात्मक सौंदर्य का मूल्यांकन नहीं कर पाते वे धार्मिक कला कृतियां होने के कारण केवल हमारी श्रद्धा की वस्तु ही रह जाती हैं। प्राचीन रामायण तथा महाभारत आदि ग्रन्थों का कलात्मक सौंदर्य उतना नहीं देख पाते जितना कि शुद्ध धार्मिक स्वरूप देखते हैं। महादेवी वर्मा लिखती हैं 'हमारी संस्कृति ने धर्म और कला का ऐसा ग्रन्थि बन्धन किया था जो जीवन से अधिक मृत्यु में दृढ़ होता गया। क्या काव्य क्या मूर्ति क्या चित्र सब की यथार्थ रेखाओं और स्थूल रूपों से अध्यात्म ने सूक्ष्म आदर्श की प्रतिष्ठा की।

कला का एक अन्य विभाजन उसके व्यावहारिक या भौतिक आधारों तथा उसकी अनुभूति को लेकर किया गया है। इस आधार पर कला के दो पक्ष हैं—भाव पक्ष और कला-पक्ष। भावपक्ष के अन्तर्गत कलाकार को अनुप्राणित करने वाले भाव आते हैं जिनके द्वारा वह पाठक या दृष्टा को अभिभूत करना चाहता है। कला-पक्ष के द्वारा कलाकार अपनी अनुभूति को यथाशक्ति प्रभावात्मक रूप में अभिव्यक्त करता है। दूसरे विद्वान इस विभाजन के लिए—कला की सफल अभिव्यंजना और कला की असफल अभिव्यंजना नाम देते हैं। प्रथम के अन्तर्गत कलाकार की स्व अनुभूति पाठक या दृष्टा के हृदय को प्रभावित करती है। उसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति का संतुलन होता है। कुछ कलाकृतियां पाठक या दृष्टा के हृदय पर अभीष्ट प्रभाव डालने में असमर्थ होती हैं। उसका कारण अनुभूति की अभिव्यक्ति की हीनता है। ऐसी कृतियां असफल अभिव्यंजना के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

को कर्त्तव्य, की व्यंजक शक्ति माना है। इसी विश्वास के कारण उन्होंने काव्य की निम्न परिभाषा दी, "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है।" अस्तु, कला का मूल सौन्दर्य है और यह सौन्दर्य बाह्य मात्र न होकर आन्तरिक भी है।

कला की प्रेरणाओ के सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद रहा है। अरस्तू और दान्ते कला का मूल मानव की अनुकरण करने की प्रवृत्ति मे मानते हैं। कलाकार प्रकृति का अनुकरण करता है। टालस्टाय कला की प्रेरणा भावना-सप्रेषण की इच्छा मे स्वीकार करता है। अपनी अनुभूतियो को दूसरो तक सप्रेषित करने की इच्छा मानव-मन की मूल प्रवृत्ति है। इसी के लिए वह कलाओ को माध्यम बनाता है और आत्माभिव्यक्ति द्वारा सतोष प्राप्त करता है। मार्क्स की दृष्टि भौतिकवादी थी। वह व्यक्ति की चेतना को सामाजिक परिवेश से प्रभावित मानता हुआ उसे सामाजिक जीवन की देन समझता था। सामाजिक जीवन मे वह अर्थ और वर्ग-सघर्ष को प्रधान तत्त्व समझता था और कला को आर्थिक स्थिति एव वर्ग-सघर्ष से प्रभावित मानता था। वह कला में रमणीयता, अन्त सौन्दर्य और भावनात्मक विच्छित्ति को अस्वीकार कर अर्थ और वर्ग-सघर्ष मे कला के मूल बीज देखता है और कला-निर्माण को वर्ग-स्वार्थ से प्रेरित सामाजिक कर्त्तव्य मानता है। फ्रायड मानव-चेतना का प्राणधार काम (Libido) मानता है और कहता है कि मनुष्य जब सामाजिक मर्यादा और प्रशासनिक बन्धनों के कारण अपनी कामनाओ को व्यक्त नही कर पाता, तो वे दमित वासनाए और कुण्ठाए या तो स्वप्नो मे अथवा कलाओ मे अपनी अभिव्यक्ति पाती हैं। अत फ्रायड की दृष्टि मे कला द्वारा मानव अपनी दमित वासनाओ का उन्नयन करता है। इस प्रकार फ्रायड कला की मूल प्रेरणा दमित कामनाओं की अभिव्यक्ति मे मानता है। कुछ लोग जीवन से पलायन की भावना को कला के मूल मे बताते हैं, तो कुछ कला को भावों का उन्मोचक और व्यक्तित्व से मोक्ष मानते हैं। इन विभिन्न मतो के बावजूद हम कह सकते हैं कि मनुष्य इस अपार विश्व मे सौन्दर्य के दर्शन करता है, उसके साक्षात्कार से जो चिरन्तन आनन्द की अनुभूति उसे प्राप्त होती है, उसी को व्यक्त करने के लिए कला का जन्म होता है।

कलाओ का वर्गीकरण

क्रोचे का कथन है, "कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है, इसलिए उसका विभाजन असम्भव है। कला जब मूर्त रूप मे उपस्थित होती है, तब उसके विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। इन रूपो की भिन्नता मे तात्विक भिन्नता न होकर केवल बाह्य भिन्नता होती है। उसकी मूल अभिव्यक्ति एक ही रहती है। इसीलिए तात्विक दृष्टि से कला का विभाजन सम्भव नहीं। अभी तक कला का विभाजन तात्त्विक न होकर व्यावहारिक दृष्टि अर्थात् कला की अभिव्यजना के विभिन्न आधारो पर किया गया है।

को विवेक के अनुसार सुडौल आकृति देने का प्रयत्न कर प्रकृति की उग्रता से मानव को बचाने का साधन प्रस्तुत करती है।

मूर्तिकला— यह शास्त्रीय कला का प्रमुख उदाहरण है। यहां स्थूल वस्तु को चेतन मन के अनुरूप मानव आकृति में ढाला जाता है। इस प्रकार भाव और ऐन्द्रिक आकृति में सामंजस्य हो जाता है। चित्रकला संगीत और काव्यकला को हीगेल ने रोमानी कला के अन्तर्गत माना है। यहाँ कला— कृति का आधार स्थूल-पदार्थ न होकर भाव होता है जो अपनी गतिशील अवस्था में रहता है। इस मूर्ति में अभिव्यक्त भाव की एकता अनेक व्यक्तियों के अन्तर्जीवन में विभक्त हो जाती है जो कि रंग संगीत और शब्दों के माध्यम द्वारा चित्रकला संगीत-कला और काव्य में व्यक्त होती है।

चित्रकला—इस कला को हीगेल तीसरा स्थान देता है। इसमें रंगों द्वारा जगत के दृश्यमान चित्रों का अंकन किया जाता है। मूर्ति-कला से इसका आधार अधिक सूक्ष्म है। चित्रकला में मानव मन में उठने वाले सभी भाव और विचार व्यक्त होते हैं।

संगीत कला—रोमानी कला में संगीत कला भी आती है। संगीत का आधार ध्वनि है।

काव्य कला—रोमानी कला में सबसे उच्च स्थान हीगेल के अनुसार काव्य कला का है।

निष्कर्ष रूप में हीगेल अपनी कला के वर्गीकरण में स्थापत्य को बाह्य कला मूर्ति को वस्तुपरक कला तथा चित्र संगीत काव्य को अन्तर्मुखी कलाओं के अन्तर्गत मानता है। काव्य अन्तर्मुखी कला की चरम परिणति है क्योंकि इसका आधार कलात्मक कल्पना है जो अपने को पदार्थ से पूर्णतया मुक्त कर लेता है।

मूर्त और अमूर्त आधार का अनुपात भी कला को उत्तम और मध्यम मानने का निकष है। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा वह उतनी ही उच्च कोटि की मानी जायेगी। इसी धारणा के अनुसार काव्य कला को श्रेष्ठ माना गया है। वास्तु कला में मूर्त आधार सबसे अधिक होता है इसीलिए उसे निम्न कोटि का माना गया है।

हीगेल का यह विभाजन पाश्चात्य दृष्टि से अत्यन्त वैज्ञानिक और उपयुक्त माना जाता है परन्तु भारतीय दृष्टि से किसी भी कला को उच्च या निम्न कहना उचित नहीं क्योंकि सभी कलाएं रसानुभूति में सहायक होती हैं।

महादेवी वर्मा लिखती हैं "एक कृति को ललित कला कह कर चाहे हम जीवन के दृष्टि से ओझल शिखर पर प्रतिष्ठित कर आवें और दूसरी को उपयोगी का नाम देकर चाहे जीवन के धूल भरे अलग चरणों पर रख दें परन्तु उन दोनों की स्थिति जीवन से बाहर सम्भव नहीं। उनकी दूरी हमारे विकास क्रम से बनी है कुछ उनकी

पाश्चात्य विद्वानो ने कला का वर्गीकरण विभिन्न रूपो मे किया है। ग्रीक दार्शनिक कान्ट ने कला को पूर्ण अभिव्यक्ति कहा और वाणी की अभिव्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ ठहराया क्योकि वाणी द्वारा विचार, प्रत्यक्षता तथा भाव तीनो की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है और वाणी मे शब्द, चेष्टा तथा स्वर-सघात रहते हैं। कान्ट ने वाक् कला, रूप कला सवेदन-क्रीडा प्रधान कला, वक्तृत्व कला, उद्यान कला आदि भेद-प्रभेद किए हैं। काट भाषण और उद्यान कला को भी कला की कोटि मे डाल कर अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न कर देता है, भाषण या वक्तता, तथा बाग बगीचो की सज्जा का सम्बन्ध कौशल से है न कि कला से। अत कांट कला के धुधले रूप से ही परिचित जान पडता है।

हीगेल कला का विभाजन 'भाव' के विकास के आधार पर 'मन' की अवस्था के अनुसार तीन वर्गों मे करता है—१ प्रतीकवादी कला २ शास्त्रीय कला और ३ रोमानी कला-प्रतीकात्मक कला का माध्यम अचेतन प्रकृति है। इसमे ज्यामिति के बाहरी नियमो का अनुकरण किया जाता है, अत इसमे वस्तुओ का बाह्य रूप अर्थात् आकार की अभिव्यक्ति हुई है। इस अवस्था मे भाव और आकार की विषमता रहती है। धार्मिक देवी-देवताओ की मूर्ति इसका प्रमाण हैं। शास्त्रीय कला मे विचार, भाव, कुछ अधिक स्पष्ट रूप मे व्यक्त हुए हैं। यूनानी देवताओ की मूर्तियाँ शास्त्रीय कला की सुन्दर उदाहरण है, परन्तु मन किसी भी शारीरिक आकृति मे अपनी मुक्त अभिव्यक्ति नही पा सकता। इसीलिए रोमान्टिक कला मे विचार, भाव और रूप का पूर्ण सामजस्य हो जाता है। इस अवस्था मे भाव का आधार कोई भौतिक वस्तु न होकर स्वय चेतन-भाव-प्रधान बुद्धि हो जाती है।

प्लेटो—अरस्तू द्वारा प्रस्तुत किए गए एक अन्य वर्गीकरण को भी हीगेल मानता है। यह वर्गीकरण बहुत प्रचलित है जिसमे इसने कलाओ के दो भेद—उपयोगी और ललित कला किये हैं। इस विभाजन का आधार बाह्य उपकरण हैं जिनके आधार से कलाकार अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है। उपयोगी कला के अन्तर्गत बढई, लोहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि की बनाई हुई दैनिक उपयोग मे आने वाली कृतिया होती हैं। ललित कला के अन्तर्गत पाच कलाए – वास्तु कला, मूर्तिकला, चित्र कला, सगीत कला और काव्य कला आती हैं।

इन कलाओ मे पहली तीन का सम्बन्ध देश से है और पिछली दो का सम्बन्ध काल से है। इसलिए पहली तीन कलाओ को पार्श्व-स्थापन की कला कहते हैं और पिछली दो को पूर्वापरक्रम की कला। पहिली तीन का सम्बन्ध नेत्र से है और शेष दोनो का सम्बन्व प्रधानतया कर्णेन्द्रिय से है, अत वर्गीकरण का एक आधार इन्द्रिया भी हो सकती हैं।

वास्तु कला—इसका निर्माण स्थूल पदार्थ से होता है जिसमे भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नही हो पाती। इससे केवल इतना ही लाभ होता है कि यह स्थूल वस्तु

काव्य का संगीत से तो विशेष सम्बन्ध है ही। इस प्रकार काव्य में सभी कलाओं के मूल तत्व आ जाते हैं।

महादेवी वर्मा का भी मत कुछ इसी प्रकार का है। उनका कथन है सत्य पर जीवन का सुन्दर ताना-बाना बुनने के लिए कला-सृष्टि ने स्थूल-सूक्ष्म सभी विषयों को अपना उपकरण बनाया। वह पाषाण की कठोर स्थूलता से रंग रेखाओं की निश्चित सीमा उससे ध्वनि की क्षणिक स्थिति और तब शब्द की सूक्ष्म व्यापकता तक पहुंची अथवा किसी और क्रम से यह जान लेना बहुत सहज नहीं। परन्तु शब्द के विस्तार में कला सृजन को पाषाण की मूर्तिमत्ता रंग रेखा की सजीवता स्वर का माधुर्य सब कुछ एकत्र करने लेने की सुविधा प्राप्त हो गई। काव्य मे कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुंच गया जहां से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका क्योंकि सत्य उसका साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है।

उक्त मतों की समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य की अपनी विलक्षणता चमत्कार एवं अस्पष्टता-विलास के कारण कलाओं में हुई अन्यथा काव्य और कला को हमारे देश में पृथक-पृथक ही समझा जाता था। तथ्य तो यह है कि काव्य कला-पक्ष से समन्वित रहते हुए भी कला के स्तर से ऊपर है। कला उपविद्या है किन्तु काव्य विद्या है उससे भी महान् है। आचार्य भामह कहते हैं—

न तच्छब्दो न तद्वाच्यं न सा विद्या न सा कला
जायते यन्न काव्यांग महोभार: महान् कवे:।

अर्थात् काव्य अंगी है कला उसका एक अंग है। भला अंग अंगी कैसे हो सकता है!

तात्विक भिन्नता से नही। नीचे की पहली सीढी से चढकर जब हम ऊपर की अन्तिम सीढी पर खडे हो जाते हैं तब उन दोनो की दूरी हमारे आरोह-क्रम की सापेक्ष है—स्वय एक-एक तो न वे नीची हैं न ऊँची।" हीगेल के इस विभाजन मे यह दोष भी है कि यह भाव के मूर्तिकरण तथा कला के माध्यम पर तो जोर देता है परन्तु कला की विशेषताओ पर ध्यान नही देता। माध्यम की दृष्टि से यदि विचार करें,तो वास्तु-कला मे आकार की पूर्णता सबसे अधिक मिलती है और मूर्तिकला द्वारा जितना प्रबल और स्पष्ट व्यक्तित्व का अकन हो सकता है, उतना अन्य किसी कला द्वारा नही। सभी कलाओ मे कलाकार की अभिव्यक्ति विद्यमान रहती है। सरस्वती के मदिर मे सरस्वती की मूर्ति, सरस्वती का चित्र तथा सरस्वती-पूजा के समय के सगीत और उसके काव्य वर्णन मे से उपासक किसे हीन और किसे श्रेष्ठ माने और किस आधार पर जब कि सभी से कला की अधिष्ठात्रि देवी की आनन्दमय अनुभूति हो रही है। आजकल विद्वान—विशेषकर क्रोचे से प्रभावित लोग कलाओ के वर्गीकरण के पक्ष मे नही है। कला आत्मा की ही अभिव्यक्ति है और आत्मा एक है। क्रोचे के मत से कला का जन्म कलाकार के अन्त करण मे होता है, वहा पर विभाजन का कोई प्रश्न नही उठता। ललित कला और उपयोगी कला सापेक्ष्य वस्तु हैं, अत उनका सम्मिश्रण अनिवार्य है।

प्रसाद ने अपने "काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध" मे काव्य को ललित कला मानने का विरोध किया है। उन्होंने प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण का समर्थन और हीगेल के विभाजन का खडन किया है। उन्होंने काव्य और अन्य कलाओ के दो स्पष्ट भेद करते हुए काव्य के विषय मे लिखा है—"कव्य आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प और विज्ञान से नही है। यह एक श्रेय-मयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।"

आचार्य शुक्ल भी काव्य को कला के अन्तर्गत नही मानते हैं। उनका कथन है कि वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' मे वर्णित चौसठ कलाओ मे काव्य की गणना नही की गई। उनका मत है कि काव्य का कला और सौन्दर्यशास्त्र से कोई भी सम्बन्ध नही हो सकता। वे कहते हैं— 'सौंदर्य शास्त्र मे जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पो पर विचार होने लगा इस प्रकार काव्य का भी, सबसे बेढगी बात तो यही हुई।"

बाबू गुलाबराय का मत आचार्य शुक्ल और प्रसाद के मत से भिन्न है, क्योंकि उनका कथन है कि काव्य की विवेचना चित्र, सगीत आदि ललित कलाओ से अलग रख कर नही की जा सकती क्योकि ये सब कलाए केवल एक दूसरे से सम्बन्धित ही नही वरन् एक दूसरे पर प्रभाव डालने वाली है। "काव्य में वास्तु-कला की एकता पूर्णता, सन्तुलन, अनुपात, आदि गुण वर्तमान रहते हैं। मूर्तिकला और चित्रकाल के से उसमे चित्र रहते हैं, अन्तर केवल इतना है कि उसमे चित्र शब्दमय होते हैं।

वित करती है कामदी में यह शक्ति नहीं। शेक्सपियर के 'हैमलेट' और 'प्रथेलो' के अनुवाद जितना भव भी से अपरिचित यूरोपियनों को प्रभावित करते हैं उतने ही भारत वासियों को भी। परन्तु क्या कॉग्रीव्ह वाइल्ड या कालर्ड की कामदियां सभी प्रेक्षक-पाठकों को समान रूप से सुख प्रदान कर सकती हैं ? कॉग्रीव्ह की कामदी केवल इंग्लैंड के वरिष्ठ मध्यवर्ग को वस्तुतः उसी के समय के अर्थात् १७वीं शताब्दी के अन्त तथा १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ के इंग्लैंड के वरिष्ठ मध्यवर्ग को प्रभावित कर सकती है। इसी प्रकार हिन्दी के हास्य-कथाकार हिन्दी भाषी को तथा कन्नड़ के हास्य कथा-लेखक केवल कन्नड़ भाषा भाषियों को ही अपनी हास्य-कथाओं द्वारा आमोद प्रदान कर सकते हैं।

इसके विपरीत 'हैमलेट' या भारतेन्दु के हरिश्चन्द्र नाटक को देखकर प्रत्येक दर्शकों का हृदय भी विक्षुब्ध हो उठता है। त्रासदी का सम्बन्ध मानव-हृदय की मूलतम भावनाओं से छूने के कारण उसका थोड़ा-बहुत आस्वाद सभी स्त्री-पुरुष ले सकते हैं उसके लिये शिक्षा अथवा पूर्व-संस्कारों की आवश्यकता नहीं। विशिष्ट परिस्थिति में मानव-मन किस प्रकार का आचरण करता है, कैसे उबरता डूबता है इसकी कल्पना स्वानुभव से थोड़ी बहुत सभी को होती है। अतः त्रासदी की भावनाओं को समझने की पात्रता हम सब में जन्मसिद्ध ही होती है।

यह नहीं कि कामदी हमारे हृदय को स्पर्श नहीं कर सकती या हमारी भावनाओं को आन्दोलित नहीं कर पाती पर उसका सम्बन्ध हमारी बुद्धि से विशेषतः विभिन्न जीवन-व्यवहार सम्बन्धी हमारे औचित्य विचार से होता है। अतः कामदी सार्वजनीन वस्तु न होकर बहुधा विशिष्ट वर्ग को ही आनन्द प्रदान कर सकती है।

विदेशी भाषाओं से रूपांतरित नाटकों पर दृष्टि डालने से भी पता चलता है कि उनमें से अधिकांश गम्भीर विषय से सम्बन्धित ही हैं श्रेष्ठ त्रासदियों का ही भाषान्तर करने की प्रवृत्ति रही है। इसका कारण स्पष्ट है। त्रासदी द्वारा व्यक्त जीवनानुभव मानव की मूल भावनाओं से सम्बद्ध होता है। अतः उसका भाषान्तर सहज सम्भव होता है जबकि कामदी में गुम्फित जीवनानुभव का स्वरूप इतना सार्वजनीन नहीं होता। अतः उसका अनुवाद भी कठिन होता है। मौलिक रचना का माधुर्य तो भाषान्तर में नष्ट ही हो जाता है क्योंकि वह उसकी भाषा अथवा भाषा में व्यक्त होने वाले विशिष्ट वैचारिक संकेतों व लोकाचारों में निहित होता है। जो भाषा व उन वैचारिक संकेत व लोकाचारों से जो चिर परिचित हैं वे ही उससे आनन्द प्राप्त कर सकते हैं अन्य नहीं।

सभी मानवों में अपना निजी व्यक्तित्व होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने इसी विशिष्ट व्यक्तित्व की रक्षा एवं उसका विकास अपनी शक्ति के अनुसार करता है। परन्तु ऐसा करने के लिये उसे अनेक संघर्षों से जूझना पड़ता है कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसके लिये कभी उसे अपने से भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तियों से जूझना पड़ता है और पराभव झेलना पड़ता है, कभी परिस्थितियों के सामने झुकना पड़ता है। सहस्रों

: २९ :

कामदी और त्रासदी

सुखान्त और दुखान्त शब्दों का वर्तमान प्रयोग

सुखान्त तथा दु खान्त शब्दो का प्रयोग प्राय नाटक के सन्दर्भ मे किया जाता है। पर क्या यह समीचीन है ? चित्र, नृत्य सगीत, भी तो सुखान्त या दुखान्त हो सकते हैं। साहित्य-विधाओ को ही यदि लें, तो कहानी, उपन्यास, काव्य ये सब भी सुखात या दु खात हो सकते हैं। हार्डी का जगद्विख्यात उपन्यास 'टैस' उच्च कोटि की शोकातिका कही जा सकती है। इसी प्रकार हास्य कथाए भी सुखात कहलाने की कम अधिकारी नही है। अत इन दो शब्दो का प्रयोग केवल नाटक के लिये करना उनके अर्थ को सकुचित करना है। यदि अब तक उनका प्रयोग इसी सीमित अर्थ में होता रहा है, तो केवल सुविधा अथवा रूढि के कारण।

कामदी तथा त्रासदी का साक्षेप महत्व

यदि पूछा जाय कि सुखान्त व दुखान्त मे अधिक लोकप्रिय कौन है, तो कदाचित् उत्तर सुखात के ही पक्ष मे मिलेगा। अधिकाश व्यक्ति कामदी ही देखना और पढना चाहते हैं। परन्तु साथ ही एक विचित्र बात यह है कि मनोरजन के लिए कामदी चाहते हुये भी कामदी की अपेक्षा त्रासदी ही मानव-हृदय को अधिक स्पर्श करती है। देश, काल, परिस्थिति और सस्कारो से भिन्न व्यक्तियो को वह समान रूप से प्रभा-

हास्य की उत्पत्ति होती है वह निर्मल होता है उससे हमारी मानवता की अभिव्यक्ति होती है वह न तो मानव को श्रेष्ठ सिद्ध करती है और न लघु उसमें किसी प्रकार की कटुता नहीं होती। उससे जो निष्कर्ष निकलते हैं वे हैं—जीवन जीने के लिये है मनुष्य न तो अमानुष है और न अतिमानुष वह निर्दोष भी नहीं है स्वभाव से वह दुर्बल है पर इसी में जीवन का आनन्द है यही उसकी विशिष्टता है। 'आइफ विष फादर' इसी प्रकार की कामदी है। विशुद्ध विनोदपूर्ण कामदी के स्त्री पुरुष थोड़े-बहुत विक्षिप्त से प्रतीत होते हैं परन्तु हम उस विक्षिप्तता को सहानुभूति से देखते हैं, क्रोध से नहीं। यदि किसी पात्र के स्वभाव की विकृति उसे हमसे भिन्न बनाती है तो भी हमारे मन में न तो उसके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है और न कोई पूर्वाग्रह। हम उसे एक आकस्मिक विकार मात्र मानते हैं उसका दुर्भाग्य समझते हैं उसके ऊपर क्रोध नहीं करते उसकी हंसी भले ही करें। ऐसे व्यक्ति विक्षिप्त होते हुए भी हमारे जैसे ही लगते हैं। उनमें विक्षिप्त भाव में से भी मानवता पग-पग पर झाँकती प्रतीत होती है। जिस प्रकार हमें उन पर क्रोध नहीं होता उसी प्रकार करुणा भी पैदा नहीं होती। वे हमें जाने-पहचाने से लगते हैं। अतः हमें उन पर हँसी आती है।

परन्तु सदा ऐसा नहीं होता। कामदी में चित्रित जीवन के प्रति हमारा भाव सदा ही सुखमय नहीं होता। कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि विसंगतियों ने जीवन के विशुद्ध रूप को बिगाड़ दिया है उसे विरूप बना दिया है कलुषित कर दिया है। यह विसंगति बहुधा उन लोकाचारों में अथवा लोगों के विश्वासों व धार णाओं में दृष्टिगत होती है, जो रूढ़ एवं परम्परागत हो गए होते हैं जिन्हें पुरातन होने के कारण शिष्ट समझा जाने लगा है परन्तु वस्तुतः जो मनुष्य की सहज प्रवृत्ति उसकी अन्तःप्रेरणा स्वाभाविक आशा-आकांक्षा उसकी शक्ति व दुर्बलता उसके भय इत्यादि से विसंगत होती हैं। इन लोकाचारों व धारणाओं की विसंगति को स्पष्ट समझने के लिए समाज-जीवन का उचित स्वरूप ज्ञात होना चाहिए। कुछ लोग इन विसंगतियों को तुरन्त जनता के सम्मुख प्रकट कर देना चाहते हैं उन पर टूट पड़ते हैं उनकी कटु आलोचना करने लगते हैं। मराठी में आगरकर तथा हिन्दी में स्वामी दयानन्द इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उन विसंगतियों के प्रति रोष भाव उनकी लेखनी से प्रकट होता है जिससे उनके लेखों में एक प्रकार की कटुता आ जाती है। परन्तु कुछ लोग उन विसंगतियों में अनिष्ट के साथ-साथ हास्यास्पदता के भी दर्शन करते हैं। वह समाज की इस मूर्खता पर हँसते हैं कि जो वस्तुतः रोग है उसे समाज छाती से चिपटाए हुए है। अपनी इस अनुभूति को वे अपने लेखों से प्रकट करते हैं ऐसे लेखों में वक्रोक्ति भाषा स्वाभाविक ही है। उनमें गम्भीरता के स्थान पर उपहास की प्रवृत्ति होती है। श्री गाडकरी कोल्हटकर के 'मुख्याच्या पोळ्ं अथवा भारतेन्दु युगीन निबन्धकारों की कृतियों में (यथा भारतेन्दु की 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति') हमें इसी प्रकार की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। इनमें हमें उग्र उपहास के दर्शन होते हैं जिसका मूल है लोकाचार या लोक विश्वासों से सम्बन्ध विसंगति ऐसी कृतियों में विडम्बना

कारणो से हमारा व्यक्तित्त्व दिन-प्रतिदिन सकुचित होता रहता है। सुखपूर्ण जीवन विताने के लिये वार-वार परिस्थितियो से समझौता करना पडता है। वस्तुत ऐसा प्रत्येक समझौता हमारे व्यक्तित्त्व की एक छोटी त्रासदी ही है और मानव-जीवन ऐसी त्रासदियो की एक शृखला है। पर सर्वसाधारण को यह सब इतनी बार करना पडता है कि जीवन मे पग-पग पर आने वाली ये त्रासदियाँ उसे विशेष नही खटकती। परन्तु हैं वे त्रासदी ही और कभी-कभी कोई लेखक उनके सच्चे स्वरूप को बडे कलात्मक रूप मे व्यक्त भी करता है, जैसे एल्मर राइस ने 'स्ट्रीट सीन' मे या मराठी के विजय तेंडुलकर ने अपने नाटको मे इसी का सुन्दर प्रयत्न किया है। परन्तु कुछ व्यक्ति असामान्य व्यक्तित्त्व वाले भी होते हैं। वे टूट जायेंगे, पर झुकेंगे नही। ससार की सर्वश्रेष्ठ त्रासदियो मे हमे ऐसे असामान्य व्यक्तियो के दुखात जीवन का दर्शन होता है। वे परिस्थिति, अनाकलनीय शक्ति अथवा अन्य प्रभावशाली व्यक्तियो की शरण मे नही जाते। वे तो सघर्ष के लिये सदैव तत्पर रहते हैं, समझौता उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। जूलियस सीजर, किंगलियर, आथेलो, हैम्लेट या इब्सन के उत्तरकालीन नाटको के नायक-नायिका इसी प्रकार के हैं। वे टूटते हैं तो प्रलय के समय टूटने वाले प्रचण्ड वृक्षो के समान गहराकर।

मनुष्य जिस प्रकार अपने विशिष्ट व्यक्तित्त्व को बनाये रखने के लिये प्रयत्न-शील रहता है, उसी प्रकार वह अपने को समाज का एक अग समझकर उसमे सुव्यव-स्थित जीवन बिताने की भी चेष्टा करता है। समाज मे सामूहिक जीवन बिताते समय उसका व्यक्ति-मन सुषुप्त होता है,अपने विशिष्ट व्यक्तित्त्व का उसे कुछ समय के लिये विस्मरण हो जाता है। उस समय उसका केवल सामाजिक मन ही जाग्रत होता है और यह सामाजिक मन अपने चारो ओर के विविध व्यक्तियो का, घटनाओ का समाज से विच्छिन्न करके आकलन नही करता, अपितु उन्हें समाज का ही अग मानकर उनका विश्लेषण और मूल्याकन करता है। यदि उनमे वह सामाजिक अनौचित्य अथवा विसगति देखता है, तो उसे थोडा-सा आघात पहुचता है। निराले व्यक्तित्त्व वाले व्यक्ति के आचार-विचार मे हमे एक प्रकार का लोक-विलक्षण विक्षिप्त भाव दिखाई देने लगता है, विसगति दिखाई देती है। इसी विसगति से हास्य का जन्म होता है। यह विसगति विविध रूपो मे अभिव्यक्त की जा सकती है। इसलिए,कामदी के विविध प्रकार हो सकते हैं।

जव यह विसगति इस प्रकार की हो कि उसके प्रकाश मे मनुष्य-स्वभाव की कुछ चिरन्तन विसगतिया व्यक्त हो, उसका मूलभूत दौर्बल्य प्रकट होने पर हमे यह अनुभूति होने लगे कि मानव का अहभाव कितना खोखला है और फिर वह स्वय अपने ऊपर हसने लगे, असामान्यता के प्रति जो आदरयुक्त भीति-भाव होता उसके स्थान पर हमारे मन में मानव स्वभाव के प्रति प्रेम व श्रद्धा का भाव जाग्रत हो, तभी ऐसी कामदी का जन्म होती है जिसकी मूल आत्मा विशुद्ध विनोद होती है। उससे जिस

सामान्य ही होना चाहिए। उसका लक्ष्य विशिष्ट न होकर सर्वसामान्य ही होना चाहिए, ताकि वह सभी का मनोरंजन कर सके तभी वह साहित्यिक दृष्टि से भी महान् हो सकेगा।

कामदी के अंतर्गत ही प्रहसन आता है। प्रहसन का हास्य उपहास के हास्य से भिन्न होता है। जिस विसंगति का निरूपण प्रहसन से होता है वह नितांत स्थूल एवं इन्द्रियग्राह्य होती है। उसे हम नेत्रों से देख और कानों से सुन सकते हैं। एक स्थूलकाय व पतले-दुबले व्यक्ति के पास-पास बैठने से जो विसंगति दिखाई देती है वह इसी प्रकार की होती है। मॉरिस तथा हार्डी इसीलिए प्रहसन के लिए उपयुक्त पात्र समझे जाते हैं। प्रहसन मे लेखक पग-पग पर योगायोग की सहायता लेता है उसके बिना वह एक कदम भी विकास को प्राप्त नहीं हो सकता। प्रहसन का पाठक और दर्शक इस बात को समझकर ही उसे पढ़ना या देखना शुरू करता है। वह तर्क और जिज्ञासा के चक्कर मे नही पड़ता। कोई घटना पहली घटना के बाद क्यों घटी कैसे घटी उसका घटना अपरिहार्य था या नही इन प्रश्नों के झंझट में वह नही पड़ता। संयोग को प्रधानता देने के कारण ही प्रहसन चरित्रचित्रण के प्रति उदासीन होता है उसे बहुत कम महत्व देता है। वह मूलत घटना-प्रधान होता है पात्र घटनाओं का आधार बनकर आते हैं। उसका सम्पूर्ण लक्ष्य तो घटनावैचित्र्य द्वारा पाठक के मन को चमत्कृत करना होता है। अत वहां चरित्रचित्रण के लिए अवकाश ही नही होता। यही कारण है कि प्रहसन से उत्पन्न हास्य के पीछे कोई उद्देश्य नही होता। उसके द्वारा मानव-हृदय अथवा मानव-जीवन पर प्रकाश पड़ने का प्रश्न ही नही उठता क्योंकि वह उसका लक्ष्य ही नही है, उसका एकमात्र ध्येय तो मनोरंजन करना है। अत यदि उसके द्वारा मानव-जीवन पर प्रकाश पड़ता भी है तो वह अत्यल्प तथा दुरान्वित ही होता है।

कामदी के समान ही त्रासदी के भी विविध रूप हो सकते हैं। जिस प्रकार विशुद्ध विनोदपूर्ण कामदी मानव-स्वभाव उसकी दुर्बलता तथा उनसे उत्पन्न सुखद वातावरण का चित्रण करने का प्रयत्न करती है उसी प्रकार उसकी इच्छा-आकांक्षा राग-द्वेष व उनसे उत्पन्न दुःख का वर्णन 'किंग लियर' 'हैमलेट' आदि त्रासदियों में हुआ है। इस दृष्टि से दोनों का विषय-क्षेत्र समान ही है—अर्थात् मानव-स्वभाव। इसी प्रकार उपहास प्रधान कामदियो व इब्सन प्रणीत समस्या-नाटकों मे भी पर्याप्त सादृश्य है। उपहासप्रधान कामदियो मे जिन जीवनानुभवों को नाट्यरूप दिया जाता है वे स्थान काल व समाज सापेक्ष होते हैं उनका विशिष्ट देशकाल परिस्थिति से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इब्सन के दुःखान्त समस्या-नाटकों में भी विशिष्ट अर्थव्यवस्था या समाज-व्यवस्था के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं का जटिल परिस्थितियों का उनसे उत्पन्न कुण्ठाओं और हीनता का नाट्य चित्र प्रस्तुत किया जाता है। दोनों मे मानव चरित्र का चित्रण भी होता है क्योंकि उसके बिना तो जीवनदर्शन हो ही नही

को भी पर्याप्त स्थान मिलता है। विडम्बना बहुधा व्यंगचित्रो की सहायता लेती है। ये व्यग व्यक्ति पर भी हो सकते हैं और किसी प्रवृत्ति पर भी। जब तक यह उपहास व्यक्ति का न होकर प्रवृत्ति का रहा आता है, तब तक उससे उत्पन्न हास्य उतना ही मुक्त व निर्मल होता है जितना विशुद्ध विभेद से उत्पन्न होने वाला हास्य, परन्तु जब वह व्यक्ति को केन्द्र बना लेता है, तब वह सकुचित हो जाता है, उसमे वैयक्तिक भावना का समावेश हो जाने के कारण मानव-प्रेम के स्थान पर आत्म प्रेम ही अधिक व्यक्त होने की सम्भावना रहती है।

वाङ्मयीन महत्व की दृष्टि से वही उपहास प्रधान कामदियाँ महान् कही जाएगी, जिनमे उन लोकाचारो तथा लोक-धारणाओ को उपहास का विषय बनाया गया है जिनका जीवन मे महत्व अपेक्षाकृत स्थायी है। यदि ये लोकाचार क्षुद्र महत्व के हैं, उनसे मनुष्य के स्वभाव व नवजीवन पर अत्यत अल्प प्रकाश पडता है, तो उनको चित्रित करने वाली उपहास प्रधान कामदी का साहित्यिक महत्त्व भी कम ही होगा। उदाहरण के लिए हमारी पोशाक भी उपहास का विषय हो सकती है तथा हमारे विवाह सम्बन्धी आचार-विचार, धार्मिक विश्वास व आस्था, शिक्षा, राजनीति, सामाजिक कुप्रथाएँ इत्यादि भी। परन्तु पोशाक के व्यग-चित्र मनुष्य स्वभाव व मानव-जीवन पर उतना प्रकाश नही डाल सकेंगे जितना सामाजिक कुप्रथाओं के व्यगचित्र। यद्यपि ये व्यगचित्र भी स्थायी महत्व के या चिरजीवी नही हो सकते, तथापि अन्य (पोशाक इत्यादि के चित्रो) से उनका स्थायित्व अधिक है, यह स्वीकार करना ही पडेगा। स्पष्ट है कि स्थायी व्यगचित्र वाली कृतियाँ क्षणजीवी चित्रो वाली कृतियो से अधिक साहित्यिक महत्व रखेंगी।

इस सम्बन्ध मे एक बात और भी स्मरण रखने योग्य है। जिस प्रकार अनिष्टकारी एव अर्थ शून्य आचार-विचारो का उपहास किया जाता है, उसी प्रकार उन नवीन, अपरिचित अनाकलनीय तथा आरम्भ मे अनिष्टकारी प्रतीत होने वाले परन्तु बाद मे इष्ट व लाभदायक सिद्ध होने वाले आचार-विचारो का भी। उपहास-प्रधान कामदियो मे ऐसे दृष्टान्त पर्याप्त ढूँढे जा सकते हैं। इस प्रकार की उपहास प्रधान कृतियो से स्पष्ट है कि स्थायी साहित्यिक महत्व प्राप्त नही हो सकता, क्योकि उनमे वस्तुत सत्य को असत्य मानकर उसका उपहास किया जाता है। साराश यह कि उपहास प्रधान कृतियाँ स्वभावत अल्प-जीवी होती हैं। परन्तु उनमे भी जो अपेक्षाकृत अधिक जीवित रहती हैं, जिनका माधुर्य एव आकर्षण अधिक दिन तक पाठको को मुग्ध किए रहता है, वे वही होती हैं जिनमे स्थायी प्रवृत्तियो का उपहास किया जाता है और वह भी इस प्रकार कि उससे मनुष्य स्वभाव पर, उसकी मूलभूत प्रवृत्तियो पर प्रकाश पडता है। यही कारण है कि अग्रेजी वाड्मय मे अन्य हास्य-लेखको की अपेक्षा स्विफ्ट, सैमुअल, बटलर तथा जार्ज ऑरवेक को अधिक महत्व प्राप्त है। उपहास का विषय व्यक्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति तथा विशिष्ट की अपेक्षा सर्व-

होना चाहिए कि उसकी घटनायें जिन व्यक्तियों के हाथ से घटती हैं वे नितान्त अप रिहार्य और स्वाभाविक प्रतीत हों। त्रासदी के कथानक में कार्यकारण सम्बन्ध का बहुत महत्त्व होता है। उसे पढ़ते या देखते समय हम उसकी प्रत्येक घटना का निरन्तर परीक्षण करते हैं। उसकी सफलता के लिये यह अनिवार्य है कि प्रत्येक घटना की सकारणता व अपरिहार्यता पर हमारा विश्वास हो। यदि ऐसा नहीं होता तो उसकी घटनाओं से निर्मित कथानक एवं जीवन के स्वरूप की हमें प्रतीति नहीं हो पाती। सफल त्रासदी का कार्य प्रेक्षक की मति को कुंठित करना है और उसकी सम्पूर्ण घट नाओं का शोकपूर्ण पर्यवसान हमारी मति को कुंठित करता है। इसके लिये उसके कथानक का तानाबाना पुष्ट होना चाहिये उसकी घटनाओं के सूत्र सुसम्बद्ध एवं व्यव स्थित रूप से गुम्फित होने चाहिए।

कामदी के लिए यह सब आवश्यक नहीं उसके कथानक का स्वरूप भिन्न होता है। उसकी घटनाओं का स्वरूप ऐसा है कि उनकी सकारणता का हम कुछ सीमा तक ही परीक्षण करते हैं। उनमें कार्यकारण सम्बन्ध का इतना महत्त्व नहीं जितना त्रासदी में होता है। पाठक या प्रेक्षक कार्यकारण सम्बन्ध की ओर उतना ध्यान भी नहीं देता क्योंकि इस प्रयास से उसके आस्वाद में व्याघात पहुँचता है। जीवन का जो स्वरूप कामदी प्रस्तुत करती है उसमें गहन-गम्भीर विचारों को स्थान ही नहीं होता बल्कि उनके तो स्पर्श-मात्र से वह जीवनानुभव जो कामदी का अभीष्ट है नष्ट हो जायगा। जिन व्यक्तियों के सदर्भ में यह अनुभव प्रकट किया जाता है उनमें से एक भी अपनी चतुर्दिक घटनाओं का हैमलैट या ओथेलो की तरह गम्भीरतापूर्वक विचार करता हुआ दृष्टिगत नहीं होता। उन घटनाओं के मूल में जाने तथा उनके कारण अपने ऊपर पड़ने वाले गम्भीर परिणामों का वह विवेचन नहीं करता। कामदी के पात्र प्रत्येक घटना का केवल ऊपरी-ऊपरी विचार करते हैं। इन पात्रों की शक्ति और कृति जिस प्रकार गम्भीर विचार-विमर्श की परिणाम नहीं होती उसी प्रकार वे गम्भीर विचारोत्तेजन में भी असमर्थ होती हैं। परिणामस्वरूप प्रेक्षक या पाठक की आलोचक दृष्टि भी सीमित ही रहती है। यद्यपि यह बात प्रहसन विशुद्ध कामदी और उपहास प्रधान कामदी सभी के विषय में सत्य है तथापि हमारा शंकालु जिज्ञासु मन जितना प्रहसन देखते समय सुषुप्त रहता है उतना विशुद्ध या उपहास प्रधान कामदी देखते समय नहीं। प्रहसन चरित्र-चित्रण का महत्त्व अधिक न होने से केवल घटनाओं की विसंगति पर ही अधिक ध्यान होने के कारण उसकी उक्ति और कृतियों की परीक्षा भी हम स्थूल विसंगति के आधार पर ही करते हैं। हम केवल घटनाओं पर विचार करते हैं उस व्यक्ति के चरित्र पर नहीं जिसके सदर्भ में वे घटनाएँ घटती हैं। परन्तु यदि किसी कामदी में चरित्र चित्रण पर अधिक ध्यान दिया गया है तो हम उसमें चित्रित व्यक्तियों और कृतियों पर ही अधिक विचार करते हैं जिस प्रकार श्रेष्ठ त्रासदी का उद्देश्य यह चित्रण करना है कि परिस्थिति तथा भाग्य से अधिक मनुष्य के अपने काम उसके दुःख के कारण होते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ

सकता। अन्तर केवल यही है कि इनमे जिस जीवनानुभव का चित्र प्रस्तुत किया जाता है, वह मूल मानव-स्वभाव की अपेक्षा विशिष्ट देशकाल-परिस्थिति सापेक्ष ही अधिक होता है। सारांश यह कि उपाहास प्रधान कामदी उपहास का अवलम्ब ग्रहण करती है, तो इब्सन के समस्या-नाटक जीवन की ओर गम्भीर दृष्टि से देखते हैं।

फार्स और मेलोड्रामा मे भी कुछ सादृश्य है। दोनो सयोग की सहायता लेते हैं, पहिला हास्य निर्माण के लिए, तो दूसरा शोक निर्माण के लिए। प्रथम द्वारा निर्मित्त हास्य जितना अर्थशून्य होता है, दूसरे द्वारा उत्पन्न शोक भी उतना ही उथला, दोनो मे ही घटनाओ का कार्य-कारण भाव नही मिलेगा। दोनो की ही दृष्टि सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल पर अधिक होती है। जिस प्रकार फार्स द्वारा उत्पन्न हास्य तीव्र होता है, उसी प्रकार मेलोड्रामा द्वारा निर्मित शोक भी। दोनो मे एक समान मूर्खता का चित्रण होता है। दोनो मे ही सयोग पर आधारित जीवन की विसगति का स्वरूप स्थूल होता है। ये दोनो नाट्य-प्रकार केवल उन्ही व्यक्तियो का परितोष कर सकते हैं जो अपनी जिज्ञासा को उभरने नही देते, और बच्चो की सी वृत्ति से नाटक देखते हैं।

कामदी के जिन प्रकारो का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनका विशुद्ध स्वरूप कदाचित् ही देखने को मिले। वस्तुत उनका सम्मिश्रित रूप ही बहुधा देखने मे आता है। कभी हम विशुद्ध विनोद के साथ उपहास का मिश्रण देखते हैं, तो कभी प्रहसन का। ये मिश्रित रूप हमे खटकते भी नही क्योकि यद्यपि हास्य का एक प्रकार दूसरे की अपेक्षा भिन्न होता है पर वे सब एक दूसरे के पोषक होते हैं। अत उनके मिश्रण से रसभग की आशका नही होती। उदाहरणार्थ सार्त्रे का 'नेक्रसॉव्य' नामक फार्स आदि से अन्त तक प्रहसन का स्वरूप अक्षुण्ण रखते हुये भी उपहास प्रधान है। वस्तुत रस-भग तो तब होता है जब या तो हास्य-प्रधान रचना का अनपेक्षित रूप से पर्यवसान गांभीर्य मे किया जाय अथवा गम्भीर रचना मे बीच-बीच मे हास्य लाने की चेष्टा की जाय। कामदी मे थोडे बहुत गांभीर्य को स्थान मिल सकता है, पर वह मूलत गम्भीर नही हो सकती। इसी प्रकार त्रासदी मे विशुद्ध विनोद या उपहास को यत्किंचित् स्थान मिलना सम्भव है, यही नही कभी-कभी उसे उत्कर्ष भी प्रदान कर सकता है, उसके प्रभाव को बढाने मे सहायक होता है, तथापि प्रहसन तो उसकी प्रकृति के बिल्कुल विरुद्ध है। शेक्सपियर अपने पाठको के चित्त के तनाव को दूर करने के लिए अपनी श्रेष्ठ त्रासदियो के बीच-बीच मे सुखात्मक वातावरण का निर्माण करता है, पर उसके लिए वह विनोद या उपहास की ही सहायता लेता है, प्रहसन की नही। जो लेखक त्रासदी मे प्रहसन का उपयोग करते हैं उनकी कृतियो मे रसभग हुए बिना नही रहता।

E M Forster के अनुसार कथानक के अन्तर्गत केवल घटनाओ का काल-क्रम से वर्णन नही होता, अपितु उनका कार्यकारण भी बताया जाता है। कथानक ऐसा

होना चाहिए कि उसकी घटनायें जिन व्यक्तियों के हाथ से घटती हैं वे नितान्त अप रिहार्य और स्वाभाविक प्रतीत हों। त्रासदी के कथानक में कार्यकारण सम्बन्ध का बहुत महत्त्व होता है। उसे पढ़ते या देखते समय हम उसकी प्रत्येक घटना का निरन्तर परीक्षण करते हैं। उसकी सफलता के लिये यह अनिवार्य है कि प्रत्येक घटना की सकारणता व अपरिहार्यता पर हमारा विश्वास हो। यदि ऐसा नहीं होता तो उसकी घटनाओं से निर्मित कथानक एवं जीवन के स्वरूप की हमें प्रतीति नहीं हो पाती। सफल त्रासदी का कार्य प्रेक्षक की मति को कुंठित करना है और उसकी सम्पूर्ण घट नाओं का शोकपूर्ण पर्यवसान हमारी मति को कुंठित करता है। इसके लिये उसके कथानक का ताना‌बाना सुदृढ़ होना चाहिये उसकी घटनाओं के सूत्र सुसम्बद्ध एवं व्यव स्थित रूप से गुम्फित होने चाहिए।

कामदी के लिए यह सब आवश्यक नहीं उसके कथानक का स्वरूप भिन्न होता है। उसकी घटनाओं का स्वरूप ऐसा है कि उनकी सकारणता का हम कुछ सीमा तक ही परीक्षण करते है। उनमे कार्यकारण सम्बन्ध का इतना महत्त्व नहीं जितना त्रासदी मे होता है। पाठक या प्रेक्षक कार्यकारण सम्बन्ध की ओर उतना ध्यान भी नहीं देता क्योंकि इस प्रयास से उसके आस्वाद मे व्याघात पहुंचता है। जीवन का जो स्वरूप कामदी प्रस्तुत करती है उस मे गहन-गम्भीर विचारों को स्थान ही नहीं होता बल्कि उनके तो स्पर्श-मात्र से वह जीवनानुभव जो कामदी का अभीष्ट है नष्ट हो जायगा। जिन व्यक्तियों के सदर्भ मे यह अनुभव प्रकट किया जाता है उनमे से एक भी अपनी चतुर्दिक घटनाओं का हैमलैट या ऑथेलो की तरह गम्भीरतापूर्वक विचार करता हुआ दृष्टिगत नहीं होता। इन घटनाओ के मूल में जाने तथा उनके कारण अपने ऊपर पड़ने वाले गम्भीर परिणामो का वह विवेचन नहीं करता। कामदी के पात्र प्रत्येक घटना का केवल ऊपरी-ऊपरी विचार करते हैं। इन पात्रों की शक्ति और कृति जिस प्रकार गम्भीर विचार विमर्श का परिणाम नहीं होती उसी प्रकार वे गम्भीर विचारोत्तेजन मे भी असमर्थ होती हैं। परिणामस्वरूप प्रेक्षक या पाठक की आलोचक दृष्टि भी सीमित ही रहती है। यद्यपि यह बात *प्रहसन विशुद्ध कामदी और उपहास प्रधान कामदी सभी के विषय मे सत्य है तथापि* हमारा तर्कातु जिज्ञासु मन जितना प्रहसन देखते समय सुषुप्त रहता है उतना विशुद्ध या उपहास प्रधान कामदी देखते समय नहीं। प्रहसन चरित्र-चित्रण का महत्त्व अधिक न होने से केवल घटनाओ की विसंगति पर ही अधिक ध्यान होने के कारण उसकी उक्ति और कृतियों की परीक्षा भी हम स्थूल विसंगति के आधार पर ही करते हैं। हम केवल घटनाओ पर विचार करते हैं उस व्यक्ति के चरित्र पर नहीं जिसके सदर्भ मे वे घटनाएं घटती हैं। परन्तु यदि किसी कामदी में चरित्र चित्रण पर अधिक ध्यान दिया गया है तो हम उसमें चित्रित व्यक्तियों और कृतियों पर ही अधिक विचार करते हैं जिस प्रकार श्रेष्ठ त्रासदी का उद्देश्य यह चित्रण करना है कि परिस्थिति तथा भाग्य से अधिक मनुष्य के अपने स्वयं उसके दुःख के कारण होते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ

कामदी यह प्रतीति कराती है कि जीवन का सच्चा आनन्द, सच्ची प्रसन्नता, सच्चा सुख भाग्य या परिस्थितियो द्वारा नही आते, अपितु मनुष्य स्वय उन्हे अपने जीवन मे आविभूत करता है। फलस्वरूप त्रासदी के समान कामदी मे चरित्र-चित्रण का महत्त्व तो होता है पर एक सीमा तक। चरित्र-चित्रण के लिए कार्य-कारण सम्बन्ध अनिवार्य है। अत हम पात्र की कृतियो और उक्तियो मे भी कार्य-कारण सम्बन्ध ढूढने लगते हैं।

त्रासदी के कथानक मे कार्य-कारण सम्बन्ध के महत्त्व के साथ-साथ घटनाओ के कालानुक्रम तथा पर्यवसान का भी पर्याप्त महत्त्व होता है। उसमे पाठक की दृष्टि निरन्तर उसके पर्यवसान की ओर लगी रहती है, निरन्तर उसके मन मे जिज्ञासा बनी रहती है कि देखें अब क्या होता है। कामदी मे ऐसा नही होता। जिस प्रकार वहाँ कार्य-कारण सम्बन्ध को केवल सीमित महत्त्व प्राप्त होता है, उसी प्रकार कालानुक्रम और पर्यवसान को भी। उसमे तो प्रत्येक क्षण समान महत्त्व का होता है, अत कालानुक्रम और पर्यवसान का विशिष्ट महत्त्व नही होता।

त्रासदी मे मुख्य पात्र अपने एकाकीपन के भार से दबा रहता है, उसके शोक मे कोई हिस्सा बाँटने वाला नही होता। हैम्लैट,ऑफेलिया,ऑथेलो,डेस्डिमोना सभी एकाकी है। ये एकाकी पात्र ही त्रासदी के केन्द्र और सर्वस्व होते हैं। 'हैम्लैट' हैम्लैट की ही त्रासदी है। इसी प्रकार 'डॉल्स हाउस' नोरा की ही त्रासदी है। कामदी के विषय मे यह सत्य नही। उसमे महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण पात्र के भी सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता कि वह उस पात्र की कामदी है। त्रासदी की तरह वह एक व्यक्ति की नही हो सकती। 'टैम्पैस्ट' केवल मिराण्डा की कहानी नही है। वह तो अनेक पात्रो के एकत्र होने से निर्मित हो पाती है। अन्य पात्रो पर ध्यान दिये बिना हम उसकी कल्पना या विचार भी नही कर सकते। इसके विपरीत हैम्लैट या ऑथेलो का विचार करते समय हमारे मन मे केवल हैम्लैट या ऑथेलो का ही ध्यान आता है। यद्यपि इन दोनो त्रासदियो मे भी अनेक व्यक्ति दैववश या प्रसगवश एक दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं, पर उनमे घटनाओ का सूत्रधार कोई असाधारण व्यक्तित्व वाला एक पात्र ही होता है और उस नाटक पर विचार करते समय वही हमारे नेत्रो के सम्मुख खडा रहता है। इसीलिए हमे लगता है कि वह त्रासदी उसी व्यक्ति की त्रासदी है। परन्तु कामदी के सम्बन्ध मे ठीक यही नही कहा जा सकता। उसका विचार करते ही अनेक पात्र आँखो के सामने आ खडे होते हैं। 'टैम्पेस्ट' पर विचार करते समय मिराण्डा, फर्डिनैंड, प्रौसपेरो आदि अनेक पात्र एक के उपरान्त एक हमारे सम्मुख आने लगते हैं। कामदी मे जो सुखानुभूति पाठक-प्रेक्षक को होती है, उसका श्रेय किसी एक पात्र को न होकर अनेक पात्रो को होता है क्योकि उसमे अनन्यसाधारण की अपेक्षा सर्वसाधारण को व मानवी दौर्बल्य को अधिक महत्त्व प्राप्त होता है। अत उसमे बिना अनेक पात्र को महत्त्व दिये काम चलता ही नही। ये अनेक पात्र

विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न न होकर बहुधा प्रतिनिधि पात्र होते हैं। यदि वे विशिष्ट भी लगते हैं, तो वह उनके अनन्यसाधारण व्यक्तित्व का द्योतक न होकर इस बात का परिचायक है कि लेखक उनमें सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक मानवी दुर्बलताओं को प्रदर्शित करना चाहता है। परन्तु अन्ततः वह विशिष्टावस्था है सर्वसाधारण की ही। कामदी तभी कामदी बन पाती है जबकि उसका प्रधान पात्र ही नहीं अन्य पात्र भी अपने कृतित्व या प्रकृतित्व से उसे वैसा रूप प्रदान करते हैं।

त्रासदी जितनी काव्यात्मक हो सकती है उतनी कामदी नहीं। त्रासदी तथा काव्य का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है; वह सहज ही काव्य को जन्म देती है। वस्तुतः काव्यात्मकता उच्चकोटि की त्रासदी का सहज गुण है। उसमें व्यक्त होने वाले जीवनानुभव का स्वरूप ही ऐसा होता है कि उसकी अभिव्यक्ति में सहज ही काव्यगुण अवतरित हो जाते हैं। शेक्सपियर की सर्वोत्तम त्रासदियाँ इसका उदाहरण हैं। उनके पात्रों की मानो प्रकृति ही है कि वे सदा गम्भीर मनन करें अन्तर्मुखी होकर अपने जीवनानुभवों पर चिंतन करें, उनका परीक्षण करें। उन अनुभवों का उनके हिताहित से निकट का सम्बन्ध होता है। अतः इस सम्बन्ध में उनका चिंतन सदा ही बड़ा गम्भीर व भावगर्भ होता है। पात्र जितने अन्तर्मुखी होंगे उतना ही उनके विचारों में तत्वचिंतन अधिक होगा और उस तत्वचिंतन में कल्पना का संयोग होते ही काव्यात्मकता अवतरित हो जाती है। हैम्लेट ऑथेलो डेस्डिमोना लियर के स्वगत-कथन काव्यात्मक गुणों से भरे पड़े हैं और वह काव्यात्मकता ऊपर से चिपकाई हुई नहीं है, वह उसका अभिन्न अंग है, उसकी अभिव्यक्ति के लिये अत्यावश्यक है। यही नहीं यदि उनमें काव्यात्मकता न हो तो ऐसा आभास होने लगता है कि कहीं कोई महान् त्रुटि रह गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि त्रासदी का समग्र वातावरण काव्यात्मकता के लिये बहुत अनुकूल होता है। उसमें काव्य केवल नाट्य-वस्तु की सहायता ही नहीं करता अपितु उसे अभिनव सौन्दर्य भी प्रदान करता है।

इसके विपरीत त्रासदी में काव्यात्मकता बाधक होती है। उसके पात्र अन्तर्मुखी नहीं होते वे प्रायः बहिर्मुखी होते हैं। जीवनानुभव पर चिंतन करना उसके स्वरूप पर मनन करना मानो उनका स्वभाव ही नहीं है। कामदी का ध्येय विविध प्रकार की विसंगति चाहे वे मानव स्वभाव सम्बन्धी हों चाहे मानवी आचार-विचार सम्बन्धी अथवा स्थूल घटनाओं से सम्बन्धित हों दिखाना तथा उसके द्वारा हास्य सृष्टि करना है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में सच्ची काव्यात्मकता नहीं अवतरित की जा सकती। काव्य की प्रकृति गम्भीर है। अतः उसका और हास्य का मेल नहीं खाता। केवल कल्पनारम्य वातावरण में हास्य काव्यात्मकता का पोषण कर सकता है परन्तु वहाँ भी सच्ची काव्यात्मकता कदाचित् नहीं होती। प्रेमी-प्रेमिका के वार्तालाप में हमें काव्यात्मकता दिखाई दे सकती है पर वस्तुतः वह कदाचित् काव्याभास होती है, काव्य नहीं। वह रस अथवा काव्यरस न होकर कल्पना-विलास से उत्पन्न चमत्कृत

मात्र होता है। केवल मनोरजक कल्पना-विलास को हम काव्य नही कह सकते और न इस कल्पना-विलास से उत्पन्न सुखद चमत्कृति को काव्यानुभूति। यह अनुभूति अधिक से अधिक सच्ची काव्यानुभूति की सीमा को स्पर्श करने वाली अनुभूति हो सकती है पर सच्ची काव्यानुभूति नही।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता है। क्या शेक्ससियर के 'मिड समर नाइट्स ड्रीम', 'ऐज यू लाइक इट', 'टैम्पेरट', आदि नाटक भी कामदी की उसी कोटि मे आयेंगे जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है। हमारा मत है कि नही। उनमे जो कल्पना-सृष्टि की गई है, वह स्वप्निल है, उनका वातावरण नितान्त भिन्न है, उनमे भ्रमण करने वाले पात्र, प्रयुक्त स्थल, काल व व्यवहार साधारण से भिन्न हैं। उनमे कल्पना-विलास अधिक है जो एक प्रकार की स्वच्छन्दता व आह्लादकारी वातावरण निर्मित करता है। उनमे मन की उत्फुल्लता, स्थान-स्थान पर दिखाई देती है। यह उत्फुल्लता यदि एक ओर गाभीर्य की विरोधी है, तो दूसरी ओर प्रहसन मे प्रयुक्त मूर्खता की भी विरोधी है। उसमे बालसदृश भोलापन, अकालुष्य, पवित्रता होती है, उनमें जगह-जगह एक प्रकार की काव्यात्मकता व्यक्त होती है जरूर, पर वह कुछ न कुछ कल्पना-विलासात्मक होती है। चमत्कृति का उसमे महत्वपूर्ण स्थान होता है। अत यह काव्यात्मकता न कहला कर काव्यात्मकता का आभास ही कहा जाना चाहिए क्योकि अन्तर्मुखता से व्यक्त होने वाला सच्चा काव्य यहाँ भी असम्भव है।

त्रासदी तथा कामदी दोनो के सवाद (स्वगत-कथन भी) पाठक-प्रेक्षक को स्वाभाविक, अपरिहार्य व अर्थपूर्ण लगने चाहियें, उसे आत्मविभोर करने मे समर्थ होने चाहिए। उनमे न एक शब्द अधिक हो और न कम। अनावश्यक शब्दावली चाहे वह कितनी ही श्रुति-मधुर, अलकृत और काव्यात्मक क्यो न हो, अवाछनीय है। उसका तो एकमात्र उद्देश्य नाट्य-उद्देश्य की सिद्धि होना चाहिये। यह समानता होते हुए भी प्रकृति-भेद के कारण उनके सवादो का स्वरूप भिन्न होता है। त्रासदी के सवाद अधिक सुगठित होने चाहियें, उनकी अपरिहार्यता और अर्थपूर्णता भी हमे अधिक लक्षित होनी चाहिए। परन्तु कामदी मे न तो यह सुगठितता होती है और न प्रत्येक उक्ति की अपरिहार्यता व अर्थपूर्णता ही अनिवार्य होती है। कुछ सीमा तक विस्तार भी वहा क्षम्य होता है। चूंकि कामदी मे पात्र की कृति उसके जीवन को अधिक प्रभावित नही करती, अत उसकी कृति को सूचित करने वाले अथवा कृति मे परिणत होने वाले सवाद उतने अर्थपूर्ण (significant) नही होते जितने त्रासदी के। कामदी के कथानक मे घटनाओ के कालक्रम का अधिक महत्त्व नही होता। उसमे तो समान रूप से विक्षिप्त, विलक्षण स्वभाव वाले व्यक्तियो के एक साथ एकत्र होने तथा कुछ समय तक साथ-साथ रहने से जो प्रतिक्षण मनोरजक विसगति निरन्तर निर्मित होती रहती है, उसी का महत्व होता है और यह सब कामदी मे सवादो के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसीलिये उसके वे सवाद जो ऊपर से विस्तारपूर्ण दिखाई देते हैं,

वस्तुतः मर्मपूर्ण होते हैं। संवाद ही वस्तुतः कामदी की आत्मा हैं। हमने ऊपर कहा कि कामदी के पात्र विशिष्टता (स्वभाव-वैलक्षण्य) में एक दूसरे से होड़ सी करते प्रतीत होते हैं।

उनकी यह स्वभाव विलक्षणता उनके संवादों से ही तो प्रकट होती है अतः कामदी में संवादों का विशेष महत्व होता है। कामदी में कौतूहल-तत्त्व का उतना महत्त्व नहीं आगे क्या होगा इसकी जिज्ञासा जाग्रत नहीं की जाती कास मानों वहीं स्थिर हो जाता है पाठक की दृष्टि भविष्य की ओर न लगकर वर्तमान पर ही जमी रहती है। ऐसी स्थिति में संवादों का कार्य अत्यन्त कठिन हो जाता है और यह कार्य उन्हें व्यवस्थित एवं सुचारु रूप से करना होता है। ऐसे संवाद स्थूल दृष्टि से देखने पर मर्मशून्य से प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। मर्मशून्य होते हुए भी वे मर्मपूर्ण होते हैं क्योंकि उद्देश्य की पूर्ति में वे सहायक होते हैं—वक्ता की सप्राणता को व्यक्त करते हैं उनकी चारित्रिक विलक्षणताओं—विशिष्टता विलक्षणता सनक आदि को प्रकट करते हैं। यद्यपि उन पात्रों के वार्तालाप के समय कुछ घटित नहीं होता तथापि यह कुछ-न-कुछ घटना ही कामदी के लिये आवश्यक होता है। स्वभावतः कामदी के संवादों में श्लेष को पर्याप्त स्थान मिलता है, विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं को वहाँ महत्व प्राप्त होता है उदात्त व क्षुद्र कल्पना के संयोग से मर्म-चमत्कृति उत्पन्न की जाती है समाज व व्यक्ति की विसंगतियों पर प्रकाश डाला जाता है। उनमें भी एक मर्मशून्यता दूसरी के साथ मिलकर सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करती है। श्लेष प्रतिश्लेष की धूम मचती है, एक उपहास दूसरे को जन्म देता है। कामदी पाठक को कितने ही प्रकार से हँसाती है। एक ओर पाठक व्यर्थ आचार विचार की हास्यास्पदता जानकर हँसता है दूसरी ओर जिस कल्पना-विन्यास से वह हास्यास्पदता लक्ष्य में आती है, उससे उत्पन्न अनपेक्षित कल्पना-चमत्कृति पाठक का मनोरंजन करती है तथा दूसरी ओर संवाद की श्रुति-मधुरता उसको आह्लाद प्रदान करती है। कामदी की शब्द योजना अधिक सोद्देश्य व सप्रयास होती है क्योंकि बहुत कुछ मनोरंजन की सामग्री हमें उसी से प्राप्त होती है। कामदी में हमारा ध्यान भाषा से अधिक उससे व्यक्त होने वाले आशय की ओर होता है। काव्यात्मक होते हुए भी उसका उद्देश्य आशय को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करना होता है। परन्तु कामदी में भाषा ही अधिक महत्त्व पूर्ण होती है।

दुःखान्त कृति का अनुशीलन करते हुए हमें जो अनुभूति होती है वह निश्चय ही क्षोभपूर्ण होती है। उसका स्थायी भाव दुःख होता है। पर यह अपरिहार्य दुःख जिन पर पड़ता है क्या वे दुष्ट और क्षुद्र होते हैं? क्या उनकी दुष्टता अथवा क्षुद्रता उनके दुःख के लिये उत्तरदायी होती है? निश्चय ही नहीं। इसके विपरीत वे धीरोदात्त होते हैं उनके प्रति हमारी सहानुभूति कभी-कभी आदरभाव तक होता है उनकी प्रतापशालिता तथा मानवता हमें उनकी ओर आकृष्ट करती है। परन्तु नियति

उन्हे दुर्धर्ष परिस्थितियो के मध्य ला पटकती है। इन परिस्थितियो की भीषणता का आभास हमको रचना के आरम्भ से ही होने लगता है और जैसे-जैसे हम आगे बढते जाते हैं, हमे यह भी लगने लगता है कि उन परिस्थितियो के लिये अशत पात्र स्वय भी उत्तरदायी है। पर इसी समय उस व्यक्ति की असहायता, निरपराधी वृत्ति और मानवता की भी हमे प्रतीति होने लगती है। हम समझने लगते हैं कि जो आपत्तियाँ उस व्यक्ति पर आ पडी हैं, वे अनिवार्य थी, अपरिहार्य थी। उन आपत्तियो का पर्यवसान किसी भयानक दु ख मे होगा, यह भी पाठक अनुमान करने लगता है। वह दु ख किसी प्रकार टल जाय, इसकी भी वह मन ही मन कामना करता है पर साथ ही यह भी जानता है कि वह कदाचित ही टले।

वह दु ख अटल है यह प्रतीति होते ही हमारे ध्यान मे जीवन की वह अन्त-र्व्यवस्था (नियति) आने लगती है जिसके आगे मानव विवश है। दु ख की अनुभूति के समय यह भावना कि वह अपरिहार्य है, वह किसी अगम्य, अतर्क्य, अन्तर्व्यवस्था से उत्पन्न हुआ है, हमारे दु ख की तीव्रता को कुछ कम कर देती है, एक प्रकार का विवेक प्रदान करती है, सच्ची दु खान्त रचना हमे अन्तर्मुखी बनाती है, शोक के समय भी हमे चिंतनमनन के लिए प्रेरणा देती है—केवल रचना के पात्रो के सम्बन्ध मे ही नही, अपितु मानवमात्र के सम्बन्ध मे, जीवन के सम्बन्ध मे भी। क्या जीवन ऐसा ही है ? इस चिन्तन का परिणाम होता है कि पाठक जीवन के एक गम्भीर और अर्थ-पूर्ण स्वरूप से परिचित हो जाता है।

दु खान्त रचना जिस जीवनानुभूति का दर्शन कराती हैं, उसका स्वरूप दुहरा होता है। वह एक ओर पाठक को जीवन मे भरे पडे दारुण दु ख से परिचित कराती है और दूसरी ओर जीवन की उस अन्तर्व्यवस्था से जो उसके लिये उत्तरदायी है। श्रेष्ठ दु खान्त रचना मे इन दो जीवनानुभूतियो का सतत सघर्ष होता रहता है। जो कुछ घटता है, वह एक अनाकलनीय अन्तर्व्यवस्था के अनुसार घटित होता है, उसको हमे समझना चाहिये। जो क्रूरता और दारुण दु ख हमारे सामने अवतरित हो रहा है और अपरिहार्य प्रतीत होता है, उससे भी अतत मानवता की ही विजय सूचित होती है, जीवन के सर्वश्रेष्ठ मूल्यो पर आधारित एक गूढ, अगम्य, अतर्क्य अन्त-र्व्यवस्था ही सूचित होती है। इन जीवनानुभूतियो का सघर्ष दु खान्त रचना मे अन्तिम क्षण तक चलता है, जिस दारुण घटना के साथ उस रचना का अन्त होता है, उसके साथ भी यह सघर्ष समाप्त नही होता। इसी को लक्ष्य कर यूना एलिस फरमार नामक लेखिका ने उसके लिये 'the equilibrium of tragedy' शब्द का प्रयोग किया था। एक अनुभूति के कारण मन का सतुलन नष्ट होता है, तो दूसरी के कारण उसकी पुन प्रतिष्ठा होती है।

हैम्लेट, ऑथेलो, दि वाइल्ड डक, रायडर्स आफ दि सी—जैसी श्रेष्ठ दु खान्त रचनाएँ मानवी दु खो के निराकरण का उपाय नही बताती। वह उनका कार्य ही

नही है उनकी प्रकृति के अनुरूप ही नही है। उनके परिशीलन से तो नही लगता है कि जिन दुःखो पर उनसे प्रकाश पड़ा है उनकी जड़ें मानव मनोभूमि में ही कहीं बहुत गहराई पर सन्निविष्ट हैं उनका पता लगाना अत्यन्त कठिन है वे दुःख कैसे टाले जा सकते है इसके उपाय वह नही बता सकती उसका प्रयत्न तक नही करती। वस्तुतः जो त्रासदी इसका उपाय सूचित करती है वह पाठक को वह गूढ़ अनुभूति नही प्रदान कर सकती जिससे मन विह्वल हो उठे। इब्सन के शोकान्त नाटकों में यही दोष है। उसमे प्रदर्शित मानव दुःख अपरिहार्य प्रतीत नही होते। उन्हें पढ़ कर ऐसा लगता है कि यदि अमुक-अमुक घटना घट जाती अमुक परिवर्तन हो जाता स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में अमुक सुधार हो जाते तो वे दुःख टल सकते थे। इन त्रासदियो से सत् और असत् के बीच जो निरन्तर संघर्ष हुआ करता है उसकी प्रतीति नहीं होती जीवन का मूढ स्वरूप प्रकट नही होता। जीवन में कुछ प्रश्न ऐसा काला तीत होते हैं उनका मूल मानव स्वभाव में है—इस बात का साक्षात्कार जो सच्ची त्रासदी कराती है, वह भी इन नाटकों से नही होता।

सच्ची त्रासदी अपरिहार्य दारुण दुःखों का चित्र उपस्थित करने के साथ-साथ ऐसे श्रेष्ठ जीवन मूल्यों को भी सूचित करती है। अतः वह कभी भी पाठक के मन में असहायता का भाव उत्पन्न नहीं करती बल्कि पाठक को सबल बनाती है उसे शक्ति प्रदान करती है। वह जीवन से पलायन की प्रवृत्ति को जन्म नही देती दारुण दुःखों से भागने की प्रेरणा नही देती (यह तो मैलोड्रामा की प्रवृत्ति होती है) उसकी प्रवृत्ति तो दुःख के भीषण स्वरूप को आँख भर कर देखने की होती है अतः वह इच्छा पूर्ति स्वप्नरजन दिवास्वप्न को प्रोत्साहन नही देती। वह सच्चे अर्थों में हमारा मनोविकास करती है अरिस्टाटिल के शब्दों मे 'कैथार्सिस' उत्पन्न करती है अर्थात् भय और करुणा के भाव निर्माण करते हुए भी उनसे तथा उनके सदृश अन्य स्वार्थमूलक भावों से (उनसे उत्पन्न वेदना) मुक्त करती है। हमें अपने दुःख क्षुद्र प्रतीत होने लगते हैं हमे विश्वास होने लगता है कि भीति से भी अधिक श्रेष्ठ जीवन-मूल्य हैं। धीरे २ हम अपने स्व को भूलने लगते हैं स्व का पाश टूट जाता है और आत्मविकास होने लगता है।

इसी संदर्भ मे करुण रस के आस्वाद के प्रश्न पर विचार करें। करुण रस का स्थायी भाव शोक है। जब तक यह शोक आस्वाद्य न हो जायगा तब तक करुण रस की प्रतीति नही हो सकती। त्रासदी के देखते या पढ़ते समय रसिकों के मन मे निर्मित होने वाली शोक की यह भावना आस्वाद्य हो जाती है। अतः यहा करुण-रस निष्पन्न होता है। वास्तविक जीवन में नाना प्रकार के दुःख प्रसंग आते हैं और उस समय हमारे मन मे नाना प्रकार के भाव कम-अधिक उत्कट स्वरूप मे उत्पन्न होते हैं पर ऐसे प्रसंग के समय हम उन भावों का आस्वादन नहीं कर सकते। उस समय तो हम जीवन-जगत में फँसे रहते हैं वे भाव भी हमारे जीवन

उन्हें दुर्धर्ष परिस्थितियो के मध्य ला पटकती है। इन परिस्थितियो की भीषणता का आभास हमको रचना के आरम्भ से ही होने लगता है और जैसे-जैसे हम आगे बढते जाते हैं, हमे यह भी लगने लगता है कि उन परिस्थितियो के लिये अशत पात्र स्वय भी उत्तरदायी है। पर इसी समय उस व्यक्ति की असहायता, निरपराधी वृत्ति और मानवता की भी हमे प्रतीति होने लगती है। हम समझने लगते हैं कि जो आपत्तियाँ उस व्यक्ति पर आ पडी है, वे अनिवार्य थी, अपरिहार्य थी। उन आपत्तियो का पर्यवसान किसी भयानक दु ख मे होगा, यह भी पाठक अनुमान करने लगता है। वह दु ख किसी प्रकार टल जाय, इसकी भी वह मन ही मन कामना करता है पर साथ ही यह भी जानता है कि वह कदाचित ही टले।

वह दु ख अटल है यह प्रतीति होते ही हमारे ध्यान मे जीवन की वह अन्तर्व्यवस्था (नियति) आने लगती है जिसके आगे मानव विवश है। दु ख की अनुभूति के समय यह भावना कि वह अपरिहार्य है, वह किसी अगम्य, अतर्क्य, अन्तर्व्यवस्था से उत्पन्न हुआ है, हमारे दु ख की तीव्रता को कुछ कम कर देती है, एक प्रकार का विवेक प्रदान करती है, सच्ची दु खान्त रचना हमे अन्तर्मुखी बनाती है, शोक के समय भी हमे चितनमनन के लिए प्रेरणा देती है—केवल रचना के पात्रो के सम्बन्ध मे ही नही, अपितु मानवमात्र के सम्बन्ध में, जीवन के सम्बन्ध मे भी। क्या जीवन ऐसा ही है ? इस चिन्तन का परिणाम होता है कि पाठक जीवन के एक गम्भीर और अर्थपूर्ण स्वरूप से परिचित हो जाता है।

दु खान्त रचना जिस जीवनानुभूति का दर्शन कराती हैं, उसका स्वरूप दुहरा होता है। वह एक ओर पाठक को जीवन मे भरे पडे दारुण दु ख से परिचित कराती है और दूसरी ओर जीवन की उस अन्तर्व्यवस्था से जो उसके लिये उत्तरदायी है। श्रेष्ठ दु खान्त रचना मे इन दो जीवनानुभूतियों का सतत सघर्ष होता रहता है। जो कुछ घटता है, वह एक अनाकलनीय अन्तर्व्यवस्था के अनुसार घटित होता है, उसको हमे समझना चाहिये। जो क्रूरता और दारुण दु ख हमारे सामने अवतरित हो रहा है और अपरिहार्य प्रतीत होता है, उससे भी अतत मानवता की ही विजय सूचित होती है, जीवन के सर्वश्रेष्ठ मूल्यो पर आधारित एक गूढ, अगम्य, अतर्क्य अन्तर्व्यवस्था ही सूचित होती है। इन जीवनानुभूतियो का सघर्ष दु खान्त रचना मे अन्तिम क्षण तक चलता है, जिस दारुण घटना के साथ उस रचना का अन्त होता है, उसके साथ भी यह सघर्ष समाप्त नही होता। इसी को लक्ष्य कर यूना एलिस फरमार नामक लेखिका ने उसके लिये 'the equilibrium of tragedy' शब्द का प्रयोग किया था। एक अनुभूति के कारण मन का सतुलन नष्ट होता है, तो दूसरी के कारण उसकी पुन प्रतिष्ठा होती है।

हैम्लेट, ऑथेलो, दि वाइल्ड डक, रायडर्स आफ दि सी—जैसी श्रेष्ठ दु खान्त रचनाएँ मानवी दु खो के निराकरण का उपाय नही बताती। वह उनका कार्य ही

३०

वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद

१ कुन्तक द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षण में वस्तु-तत्त्व तथा अभिव्यक्ति का सापेक्ष महत्त्व
२ क्रोचे के कला सम्बन्धी विचार
३ कुन्तक और क्रोचे के मतों में साम्य
  (क) कल्पना-तत्त्व का महत्त्व
  (ख) सफल अभिव्यंजना में भेद नहीं मानते
  (ग) अभिव्यंजना को प्राण तत्त्व मानते हैं
४ दोनों के मतों में वैषम्य
  (क) अभिव्यंजना सम्बन्धी भेद
  (ख) उक्ति की सप्रयत्नता सम्बन्धी भेद
  (ग) काव्य की महत्ता सम्बन्धी भेद
  (घ) काव्यानन्द सम्बन्धी भेद
  (ङ) वस्तु-तत्त्व पर बल
५ उपसंहार

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

> शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी ।
> बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥

अर्थात् काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द देने वाली सुन्दर कवि-व्यापार युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि वह काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की रमणीयता काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार न तो केवल शब्द-सौन्दर्य और न केवल अर्थ चमत्कार ही काव्य हो सकता है। दोनों का समान महत्त्व है क्योंकि यदि कवि को अपने भाव को व्यक्त करने के लिए समर्थ शब्द नहीं मिलेंगे तो वह निर्जीव भाषा में व्यक्त होने पर अस्फुट ही रह जायगा। इसके विपरीत शब्द काव्योपयोगी अर्थ के न होने पर केवल बोझा हो उठेगा। आधुनिक शब्दावली में कुन्तक की मान्यता को हम यों प्रकट कर सकते हैं कि वह काव्य में वस्तु-तत्त्व या अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य स्वीकार करते हैं। साथ ही काव्य के लिए आवश्यक है

के ही एक अग होते हैं। आस्वादन के लिए उन भावो तथा आस्वादन-कर्ता के बीच अन्तर होना आवश्यक है उन भावो के प्रति अलिप्त दृष्टि से देखना आवश्यक है। यह विशिष्ट अलिप्त दृष्टि केवल कला के सान्निध्य से प्राप्त हो सकती है। कला जीवन से अलग वस्तु है, उसे जीवन की अनुकृति कह सकते हैं। अत कला के परिशीलन से उत्पन्न भाव साधारण जीवन जीते समय उत्पन्न होने वाले भावो से भिन्न होते हैं। अत हम उन्हे अलिप्त दृष्टि से देख सकते हैं, उनका आस्वाद भी ग्रहण कर सकते हैं। त्रासदी के पात्रो पर दारुण विपत्ति पडते देख हमारे मन मे शोक भाव जाग्रत होता है, परन्तु हम अतर्मन मे जानते हैं कि इस समय हम केवल कला-कृति देख रहे हैं, जीवन नहीं बिता रहे हैं। अत आँसू बहाते हुए भी हम 'शोक' का आस्वाद ग्रहण करते होते हैं। उस शोक भावना का अनुभव करते हुए हम जानते हैं कि शोक और दुख कैसे होते हैं— उनकी गहराई, क्षेत्र-विस्तार, जीवन से उनका सम्बन्ध, उनका सम्यक् रूप ध्यान मे आने लगते हैं। दुख होता है पर उसका दश नष्ट हो जाता है, यह तभी हो सकता है जब हम स्व के बन्धनो को तोड दें, स्व का विरेचन कर लें और त्रासदी यह करती है।

परन्तु त्रासदी अन्तत एक कला-कृति होती है। अत उसमे जिस नाट्य-चित्र के द्वारा जीवन का एक अत्यन्त अर्थगर्भ परिचय हमे मिलता है, उस नाट्य-चित्र का अन्तर्बाह्य कलात्मक दृष्टि से भी सुसगत होना चाहिए। जिस प्रसग-माला से यह नाट्य-चित्र प्रकट होता है, उसका सगुम्फन तर्कसम्मत होना चाहिए। उसका वस्तु-शिल्प सौन्दर्ययुक्त होने के साथ-साथ भव्य-उदात्त होना चाहिए बल्कि सौन्दर्य से भी अधिक उसकी भव्योदात्तता पर अधिक बल होना चाहिए।

नहीं है पर जब वह उसका अन्तर्मन में पूर्ण प्रत्यक्षीकरण कर लेगा मन में पूरी तरह अभिव्यक्त कर लेगा तब उसे सहज-ज्ञान कहेंगे। यह आन्तरिक अभिव्यंजना ही सहजानुभूति और कला है। यह अभिव्यंजना मूक और आन्तरिक होती है न कि बाह्य और शब्दमय। वह मन के भीतर होती है बाहर पत्थर लकड़ी चित्र-फलक या कागज पर नहीं होती। क्रोचे की दृष्टि में कला एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। यदि कलाकार के मन-पटल पर कोई बिम्ब मूर्त हो गया तो फिर उसे पत्थर आदि पर अंकित करना आवश्यक नहीं। वह कल्पना को अन्तर्मन की सृष्टि मानता है और कहता है कि जैसी यह सृष्टि होगी वैसा ही रूप वह वस्तु को प्रदान करेगा। अतः वह महत्त्व विषय-वस्तु को न देकर इस सृष्टि को देता है। इसीलिए वह काव्य विषय के चुनाव के विरुद्ध है और उसे यह स्वीकार नहीं कि अमुक वस्तु काव्य विषय के लिए उपयुक्त है और अमुक अनुपयुक्त। जिन वस्तुओं से (चाहे वे सुन्दर हो या कुरूप) वह संवेदना ग्रहण करता है उन्हें वह अभिव्यंजना प्रदान करता है और यही आन्तरिक अभिव्यंजना कला है। मानस-काव्य ही काव्य है कागज पर लिखा काव्य तो अतिरिक्त क्रिया है। कलाकार की कलाकार के रूप में स्थिति उसी क्षण तक है जब वह प्रेरणा के क्षणों में आत्माभिव्यंजना करता है—अपने को विषय के साथ तदाकार अनुभव करता है। बाह्य अभिव्यक्ति (कला-कृतियाँ) तो स्मृति की सहायक (aids to memory) अथवा अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाने और उन्हें चिरकाल तक बनाए रखने की साधन मात्र हैं।

And what are these combinations of words which are called poetry but physical stimulants of reproductions.

उनकी उपयोगिता व्यावहारिक है। प्रमुखता वह आन्तरिक अभिव्यक्ति को ही देता है।

क्रोचे के अनुसार कला का आनन्द सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्म-मुक्ति का आनन्द है। सफल अभिव्यक्ति के क्षण में कलाकार को ऐसा लगता है जैसे वह मुक्त हो गया हो।

ऊपर हमने कुन्तक और क्रोचे के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया ताकि हम इन दोनो आचार्यों के सिद्धान्तों और मान्यताओं के साम्य और वैषम्य को हृदयंगम कर सकें। वैसे तो कुन्तक पूर्व के और क्रोचे पश्चिम के आचार्य हैं, दोनो के बीच समय का अन्तराल भी अत्यन्त व्यापक है। दोनों के दृष्टिकोण एवं मनोरचना में भी पर्याप्त भेद है—कुन्तक अलंकारवादी आचार्य थे और क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक। अतः दोनो की तुलना करना कुछ बहुत अधिक संगत और उचित प्रतीत नहीं होता परन्तु जब से शुक्ल जी ने अपने इन्दौर वाले भाषण में यह कहा कि क्रोचे अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान है तब से यह तुलनात्मक अध्ययन हिन्दी काव्य शास्त्र का एक रोचक विषय बन गया है और इस

कि वह सहृदय पाठको को आह्लाद प्रदान करने मे समर्थ हो। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कवि साधारण तथ्यो का वर्णन नही करता, क्योकि वे तो अति प्रचलित होने के कारण प्रभावहीन हो गए होते हैं, उनके स्थान पर वह विशिष्ट वस्तु-तत्त्व, अनुभवो का प्रयोग करता है। इसी प्रकार अपनी रचना को आह्लादकारिणी बनाने के लिए वह विशिष्ट, कवि-कौशल युक्त, कलात्मक अभिव्यजना-शैली का उपयोग करता है, सामान्य शब्दावली का नही। उसकी दृष्टि मे कोई विशिष्ट अनुभव विशिष्ट शब्दावली मे ही अभिव्यक्त हो सकता है। साराश यह है कि काव्य का काव्यत्व कवि—कौशल पर निर्भर करता है। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य की आत्मा वक्रोक्ति है जिसका अर्थ है विचित्र अभिधा अर्थात् ऐसी उक्ति जो सामान्य-लोक या शास्त्र में प्रचलित कथन-शैली से भिन्न है, जो कवि-प्रतिभा-जन्य चारुता से युक्त है तथा जो सहृदय के लिए आह्लादकारिणी भी है अर्थात् जो शब्द-क्रीडा मात्र नही है।

वक्रोक्तिवाद से अभिव्यजनावाद की तुलना करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अभिव्यजनावाद के मूल सिद्धान्तो को भी समझ लें। क्रोचे मूलत आत्मवादी दार्शनिक थे। उन्होने कला का विवेचन दर्शन की छाया मे किया है। वह आत्मा की दो क्रियाए मानते हैं—(१) सैद्धान्तिक या विचारात्मक (२) व्यवहारात्मक। प्रथम के द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है, दूसरी के द्वारा जीवन मे व्यवहार करता है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है—(१) स्वय-प्रकाश या प्रातिभ ज्ञान (२) तर्क-ज्ञान। स्वय प्रकाश ज्ञान व्यष्टि का ज्ञान होता है, तर्क-ज्ञान सामान्य का, पहला कल्पना से उत्पन्न होता है, दूसरा बुद्धि से, प्रथम द्वारा वस्तुओ के बिम्बो या भावनाओ का निर्माण होता है, दूसरे का सम्बन्ध निश्चयात्मक बुद्धि से है और उससे सामान्य विचारो (concepts) का बोध होता है। पहला कला का उत्पादक होता है, दूसरा दर्शन और विज्ञान का। स्वय-प्रकाश ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतत्र होता है। वह एक प्रकार की अलौकिक शक्ति है जो क्षण भर मे किसी दृश्य या भावना को अपनाकर उसे साकार, मूर्त और रम्य रूप प्रदान करती है। स्वयप्रकाश ज्ञान यदि बिम्बो का निर्माण करता है, तो तर्क-ज्ञान पदार्थ-बोध (concepts) का। उदाहरण के लिए, बुद्धि या तर्क की सहायता से हम निर्णय करते हैं कि मनुष्य विचारशील प्राणी है, तो स्वय-प्रकाश ज्ञान (कल्पना) हमारे मन पटल पर एक ऐसे प्राणी का बिम्ब अकित कर देता है जिसमे विचार करने की क्षमता है।

क्रोचे सहज-ज्ञान (Intution) को प्रभाव (impression) तथा सवेदन (sensation) से भिन्न मानता है। सवेदन को वह यान्त्रिक एव निरपेक्ष मानता है क्योकि बाह्य वस्तु की प्रतीति के निर्माण मे अन्तर्मन का योग नही रहता। इसके विपरीत-सहज ज्ञान मे अन्तर्मन सक्रिय होकर सवेदनो को अपने मे खपा कर एकाकर लेता है। सहज-ज्ञान सहज ही घट मे उतर जाता है। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। जब चित्रकार किसी वस्तु की बाह्य झलक मात्र पाता है, तो वह सहज ज्ञान

अभिव्यञ्जना सफल होती है वह कम सफल या अधिक सफल नहीं होती। क्रोचे तो सफल शब्द को भी अभिव्यञ्जना के साथ नहीं जोड़ते। उनकी दृष्टि में अभिव्यञ्जना यदि सफल नहीं है तो वह अभिव्यञ्जना ही नहीं है। उनके अनुसार एक सफल अभिव्यञ्जना और दूसरी सफल अभिव्यञ्जना में सौन्दर्य की मात्रा का अथवा अ मी का भेद हो ही नहीं सकता क्योंकि दोनों अपने आप मे पूर्ण है कुन्तक ने भी काव्य मार्गों के विवेचन में नहीं कहा है कि उनम मूलत प्रकार का भेद है सौन्दर्य की मात्रा या अ मी का नहीं 'न च रीतीनाम् उत्तमाधम मध्यमभेदेन त्रैविध्यम् व्यवस्थापयितुम् न्याय्यम् ।

डा नगेन्द्र ने एक अन्य साम्य की ओर संकेत करते हुए कहा है कि "दोनों के सिद्धान्तों मे एक मौलिक साम्य तो यही है कि दोनों अभिव्यञ्जना को ही काव्य का प्राणतत्त्व मानते हैं। जिस प्रकार कुन्तक की उक्ति अथवा भणिति से आशय वाक्य मात्र का न होकर समस्त कवि-व्यापार या काव्य-कौशल का है इसी प्रकार क्रोचे की अभिव्यंजना की परधि मे सभी प्रकार का रूप-विधान आ जाता है। इस दृष्टि से दोनों कलावादी आचार्य हैं। यह ठीक है कि दोनों ने अभिव्यञ्जना को काव्य का प्राण तत्त्व माना है पर क्रोचे द्वारा प्रयुक्त अभिव्यञ्जना का अर्थ वह नहीं है जो कुन्तक को अभिप्रेत था। अलंकारवादी आचार्य होने के नाते कुन्तक ने अलंकारमयी उक्ति वैदग्ध्यपूर्ण शैली कलात्मक अभिव्यक्ति पर पर्याप्त बल दिया और इसी आधार पर वार्ता तथा वक्रोक्ति मे स्पष्ट भेद किया—चमत्कारपूर्ण उक्ति को ही काव्य माना। यह ठीक है कि वह उस स्वभावोक्ति को भी काव्य के अन्तर्गत रखते है जो सहृदय को आह्लाद प्रदान करे परन्तु उनका बल बाह्य चमत्कार या कला-पक्ष पर ही अधिक है। इस चमत्कार को लाने के लिए कवि को प्रयास करना पड़ता है तभी तो कुन्तक काव्य हेतुओं मे प्रतिभा के साथ अभ्यास को भी गिनते हैं। इसके विपरीत क्रोचे दार्शनिक होने के कारण सहजानुभूति को ही अभिव्यञ्जना मानते हैं। उसके लिए अनुभूत वस्तु से अलग शैली का कोई अस्तित्व ही नहीं बाह्य अभिव्यञ्जना तो अतिरिक्त कार्य है। सच्चा काव्य तो मानस-काव्य है शब्द-बद्ध काव्य नहीं। अत जहाँ कुन्तक के लिए अभिव्यञ्जना बाह्य क्रिया है वहा क्रोचे के लिये वह आतरिक क्रिया है। जहाँ कुन्तक के लिए चम त्कारपूर्ण और चमत्कारहीन उक्ति वार्ता और वक्रोक्ति का भेद है वहाँ क्रोचे के लिए चमत्कारपूर्ण और चमत्कारहीन, वक्र और ऋजु उक्ति का कोई भेद नहीं। यदि कवि आंतरिक अभिव्यञ्जना के बाद सुन्दर बाह्य अभिव्यञ्जना करता है तो उसका श्रेय उस आत्मिक सौन्दर्य को है जो सहजानुभूति के क्षण उसे प्राप्त था न कि उस बाह्य प्रयास या अभ्यास को जिसे कुन्तक महत्त्व देते हैं वस्तुत क्रोचे के लिए कला सहजानुभूति और अभिव्यञ्जना पर्यायवाची है अत उसकी दृष्टि म काव्य या कला के बाह्य और आंतरिक भेद नहीं किये जा सकते—विषय और शैली को अलग अलग नहीं किया जा सकता—उक्ति की वक्र और ऋजु भेदो म नहीं बांटा जा सकता। क्रोचे उक्ति को काव्य मानते हैं तो कुन्तक वक्रोक्ति को। अत इन दोनों के अभिव्यञ्जना सम्बन्धी दृष्टिकोणों में आकाश-पाताल

नगेन्द्र, श्री सुधाशु आदि ने इस तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र मे अच्छा कार्य किया है। क्रोचे ने, दार्शनिक होने के नाते, यह अवश्य कहा था कि "कला मे विषय वस्तु की कोई सत्ता नही है, अभिव्यञ्जना ही कला है, पर अभिव्यञ्जना से उसका तात्पर्य, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, केवल भाषा-शैली या बाह्य अभिव्यक्ति से नही था। इसी प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति का अर्थ केवल शब्द-सौन्दर्य का चमत्कार ही नही है, उसमे अर्थ-चमत्कार भी जुडा है। अत शुक्ल जी ने अपने इस भाषण मे कुन्तक और क्रोचे दोनो के साथ अन्याय किया है और उनकी यह धारणा कि क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है, भ्रान्त है। डा० नगेन्द्र ने अपनी प्रतिभा के बल पर इन दोनो वादो मे कुछ साम्य खोज निकालने की चेष्टा की है, पर यह साम्य इतना ऊपरी-ऊपरी और शाब्दिक है कि अन्तत हमे यही कहना पडता है कि वक्रोक्तिवाद अभिव्यञ्जनावाद से उतना ही दूर है जितना पूर्व पश्चिम से। यदि कुछ बातो मे समानता मिलती भी है, तो इसका कारण यह है कि काव्य-रचना के कुछ सिद्धान्त शाश्वत, चिरन्तन और सार्वभौम होते हैं—उनमे मतभेद हो ही नही सकता। पहले हम उन समानताओ को लेंगे जो काव्य मे चिरन्तन और सार्वभौम सत्य के कारण दोनो मे पाई जाती है तदुपरान्त उन समानताओ की चर्चा करेंगे जो केवल शाब्दिक या ऊपरी-ऊपरी हैं और फिर दोनो के वैषम्य का विवेचन करेंगे।

काव्य मे कल्पना-तत्त्व की स्थिति अनिवार्य है। यह ठीक है कि पश्चिम के आचार्यों ने इस पर अधिक बल दिया है (जिसके कारण शुक्ल जी ने उनकी भर्त्सना की है) जब कि पूर्व के आचार्यों ने रस पर, तथापि इसे सब स्वीकार करते हैं कि कल्पना-शक्ति के अभाव मे उक्ति वार्ता मात्र रह जाएगी, वह काव्य-कृति नही बन सकती। जहाँ तक क्रोचे का सम्बन्ध है, उसने तो स्पष्ट ही कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। उसकी सहजानुभूति कल्पनात्मक क्रिया के अतिरिक्त कुछ नही है। जब वह कहता है कि स्वय प्रकाश ज्ञान एक प्रकार की अलौकिक शक्ति है जो क्षण भर मे किसी दृश्य या भावना को अपनाकर उसे साकार, मूर्त और सुन्दर रूप प्रदान करती है और वह बिम्बो की रचना करती है तो स्पष्ट है कि वह कल्पना की ओर सकेत कर रहा है। कुन्तक ने 'कल्पना' शब्द का प्रयोग नही किया है, परन्तु जब वह कवि-व्यापार, उत्पाद्य-लावण्य, वक्रोक्ति वैदग्ध्य आदि की चर्चा करता है, तो वह अप्रत्यक्ष रूप से उस शक्ति की ओर सकेत करता है जिसके द्वारा शब्द और अर्थ मे चमत्कार आ जाता है और यह शक्ति 'कल्पना' के अतिरिक्त कुछ नही हो सकती। अत डा० डे का यह मत कि कुन्तक की वक्रोक्ति का आधार कल्पना ही है ठीक है। अत कुन्तक और क्रोचे के मतो मे एक साम्य तो यह है कि दोनो काव्य मे कल्पना-तत्त्व को प्रमुखता देते हैं।

दूसरी समानता इन दोनों आचार्यों के मतो मे यह है कि दोनो सफल अभि-व्यञ्जना या सौन्दर्याभिव्यञ्जना में श्रेणियाँ नही मानते। दोनो के अनुसार काव्य मे

आनन्द को सौन्दर्य की सिद्धि मानते हैं। उनके लिए सौन्दर्य उसी वस्तु में है जो आह्लाद प्रदान कर सके। उनकी दृष्टि में अर्थ की रमणीयता इस बात पर निर्भर करती है कि वह सहृदय को कितना आस्वाद प्रदान करती है। अर्थ सहृदयास्ह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दर. वह काव्य का प्रयोजन लक्ष्य आनन्द प्रदान करना मानते हैं जबकि क्रोचे के अनुसार उसका लक्ष्य आत्मा का विशदीकरण है।

दोनों में एक अन्य भेद यह है कि जहाँ क्रोचे 'स्वान्त:सुखाय' को महत्त्व देते हैं —कवि की आत्मतुष्टि को ही काव्य का परम लक्ष्य मानते हैं, वहाँ कुन्तक सहृदय के मन को प्रसन्नता प्रदान करने में काव्य की सफलता स्वीकार करते हैं। उनके सद् काव्य की कसौटी सहृदय का आह्लाद ही है।

जहाँ तक वस्तु-तत्त्व का सम्बन्ध है कुन्तक काव्य में क्रोचे की अपेक्षा वस्तु तत्त्व को अधिक स्वीकृति प्रदान करते हैं। क्रोचे तो वस्तु को प्रकप संवेदन-मात्र मात्र मानते हैं जिसका अभिव्यञ्जना के बिना कोई अस्तित्व नहीं। वह यह तो मानते हैं कि चूंकि चुनाव इच्छा का कार्य है और वह आत्मा की व्यावहारिक क्रिया है और कला प्रातिभ क्रिया अत: कला में वस्तु का चुनाव हो ही नहीं सकता। पर साथ ही वह वस्तु का नितांत तिरस्कार नहीं करते।

Without matter however our spiritual activity would not leave its abstraction to become concrete and real

पर उनके लिए विषय और शैली में कोई अन्तर नहीं। जैसे फिल्टर में से पानी छनने पर किंचित् परिवर्तन के साथ वही पुन: प्रकट हो जाता है वैसे ही अभिव्यक्त विषय (विषय + शैली) अनुभूत विषय का व्यक्त रूप है। इसके विपरीत कुन्तक यद्यपि विषय की अपेक्षा रचना-कौशल पर अधिक बल देते हैं पर साथ ही वह विषय के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। उनके प्रबन्धवक्रता और वस्तु-वक्रता के प्रकरण में वस्तु का महत्त्व स्पष्ट स्वीकार किया गया है। वक्रोक्तिकार उस कृति को काव्य की संज्ञा देने में भी संकोच करेगा जिसमें अभिव्यञ्जना ही सब कुछ है, अभि व्यञ्ज्य कुछ नहीं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक और क्रोचे की मान्यताओं में पर्याप्त भेद है। वस्तुत: विशुद्ध कलावादी या अभिव्यञ्जनावादी तो दोनों नहीं हैं क्योंकि दोनों ही अकेली बाह्य अभिव्यञ्जना पर बल नहीं देते अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य का नहीं पकड़ते। परन्तु जहाँ कुन्तक रचना-कौशल पर भी बल देते हैं वहाँ क्रोचे अभिव्यञ्जना या रचना-कौशल के प्रति उदासीन हैं। उनकी दृष्टि में तो आतरिक अभिव्यञ्जना स्वत: (यदि कलाकार चाहे तो) बाह्य अभिव्यञ्जना को सुन्दर बना देती है अलंकार अभिव्यञ्जना के सहज धर्म हैं वह कौशल से और चमत्कार पूर्ण वाक्यों को निरर्थक मानते हैं।

(ख)
का अन्तर है। यह कहा गया है कि क्रोचे और कुन्तक दोनो अभिव्यञ्जना अथवा उक्ति को मूलत अखण्ड और अविभाज्य मानते हैं। इस प्रसग मे दोनो की शब्दावली तक समान है। कुन्तक अलकार और अलकार्य का भेद नही मानते, क्रोचे वस्तु और शैली का भेद अस्वीकार करते हैं। पर यह साम्य शब्दावली का अधिक है, मर्म का कम। दार्शनिक होने के नाते तथा कला के आन्तरिक रूप की चर्चा करने के फलस्वरूप क्रोचे तो वस्तुत उक्ति या अभिव्यञ्जना को अखण्ड मानते है, परन्तु कुन्तक ऐसा नही मानते हैं। वस्तु और शैली का भेद ही नही, वक्रोक्ति के भेदोपभेदो वर्ण विन्यासवक्रता पद-परार्ध वक्रता, प्रबन्ध वक्रता आदि—का विवेचन भी उनकी बहिर्मुखी या वस्तुमुखी दृष्टि की ओर सकेत करता है जो वस्तु को खड-खड रूप मे देखती है। अत उक्ति की अखण्डता के सम्बन्ध मे भी दोनो का दृष्टिकोण परस्पर विरुद्ध है और इसका कारण यही है कि जहाँ क्रोचे ने आत्मवादी दर्शन के आलोक मे कला का विवेचन किया है, वहाँ कुन्तक ने अलकारवादी काव्य-शास्त्री की दृष्टि से अपना मत प्रस्तुत किया है।

क्रोचे की मान्यता थी कि कला का सम्बन्ध स्वय-प्रकाश ज्ञान से है जबकि कुन्तक शास्त्रीय ज्ञान को भी कला से सम्बद्ध मानते हैं।

ग (ग) क्रोचे के अनुसार काव्य की आत्मा सहजानुभूति है और कुन्तक की दृष्टि मे कवि-व्यापार जिसके अन्तर्गत एक ओर रचना प्रक्रिया और दूसरी ओर भावन-व्यापार दोनों आते हैं। क्रोचे केवल सहजानुभूति अर्थात् भावन व्यापार मे ही काव्य की आत्मा के दर्शन करते हैं, वह रचना प्रक्रिया को तनिक भी महत्त्व नही देते। इस प्रकार कुन्तक के मत की परिधि क्रोचे के मत से अधिक व्यापक है कुन्तक वक्रता को प्रतिभा द्वारा अत स्फुरित तो मानते हैं, अर्थात् वह यह तो स्वीकार करते हैं कि प्रतिभा के प्रथम विलास या अत प्रेरणा के क्षणो मे स्वत शब्द और अर्थ मे वक्रता आ जाती है। तथापि वह रचना-कौशल के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि मे सौंदर्य प्रातिभ अत स्फुरण एव रचना-कौशल दोनो पर आश्रित है, यद्यपि अधिक महत्त्व अत-स्फुरण का ही है। इसके विपरीत क्रोचे आंतरिक अभिव्यञ्जना को ही कला मानता है, कला के वाह्य स्वरूप—कविता, चित्र, सगीत आदि तो उसके लिये आनुषगिक, अतिरिक्त व्यापार है, स्मृति के सहायक मात्र है, काव्य या कला का अनिवार्य अंग नही है। अत इस बात मे भी क्रोचे और कुन्तक मे दृष्टि-भेद स्पष्ट है। इस दृष्टि-भेद का कारण यही है कि जहाँ क्रोचे दार्शनिक की तत्त्व-दृष्टि से समस्या पर विचार कर रहे हैं, वहाँ कुन्तक शास्त्रकार की व्यवहार-दृष्टि से उस पर विचार कर रहे थे।

(घ) क्रोचे काव्य को कवि का आत्म-मोक्ष मानते हैं। उनकी दृष्टि मे कला का आनन्द सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्म-मुक्ति का आनन्द है। सफल अभिव्यक्ति के क्षण मे कलाकार को ऐसा लगता है मानो वह मुक्त हो गया हो, पर यह आनन्द कला का उद्देश्य नही, उसका सहचारी भाव है, आनुषगिक क्रिया है, कवि इस आनन्द की प्राप्ति के लिए काव्य-रचना नहीं करता, यह तो उसे मिल जाता है। इसके विपरीत कुन्तक

३१

सत्यं शिवं सुन्दरम्

१ सूत्र का उद्गम एवं प्रयोग ।

२ साहित्य का सत्य ।

३ साहित्य में शिवम् ।

४ साहित्य में सुन्दरम् ।

५ सत्यं शिवं सुन्दरम् का अभेद एवं समन्वय ।

सूत्र का उद्गम और प्रयोग—भारतवर्ष में तीन की संख्या को शुभ माना जाता रहा है—धर्म, कला, अध्यात्म सभी में हमें तीन की संख्या का प्रयोग देखने को मिलता है। हमारे यहाँ तीन बड़े देवता हैं—ब्रह्मा विष्णु महेश; तीन गुण हैं—सत्, रज और तमस्, दर्शन में सत् चित् आनन्द की प्रतिष्ठा चिरकाल से होती आ रही है। भारतीय कला के क्षेत्र में भी सत्यं शिवं सुन्दरं का सूत्र अपनाया गया है। बृहदारण्योपनिषद् में आत्मा का आध्यात्मिक निरूपण करते हुए कहा गया है 'अयं आत्मा वाङ्मय मनोमय प्राणमय'। इस उक्ति में वाङ्मय को शिव मनोमय को सौन्दर्य तथा प्राणमय को सत्य की आधारभूमि माना जा सकता है। शैवों ने ज्ञान इच्छा और क्रिया ये तीन शक्तियाँ मानी हैं और इनके समन्वय में ही आनन्द की उपलब्धि स्वीकार की है। इसी को प्रसाद जी ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

> "इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे
>
> दिव्य अनाहत पर निनाद में
>
> श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

वस्तुतः क्रिया शिवं इच्छा सुन्दरम् और ज्ञान सत्यं के ही प्रतिरूप हैं। जर्मन दार्शनिक कान्ट ने भी आत्मा की तीन मूल वृत्तियाँ—Faculty of knowledge faculty of desire तथा feeling of pleasure or displeasure मानी हैं। सत्यं शिवं सुन्दरम् इन्हीं वृत्तियों के प्रतीक रूप हैं।

वर्तमान युग में सत्यं शिवं सुन्दरम् सूत्र कला और साहित्य जगत् का आदर्श वाक्य बना हुआ है। उसका प्रयोग साहित्य के उद्देश्य के सूत्र-रूप में हो रहा है और दिन-प्रतिदिन उसकी व्यापकता बढ़ती जाती है। इस सूत्र के मूलोद्गम के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। श्री गुलाबराय के अनुसार यह

'He who has nothing definite to express may try to hide his internal emptiness with a flood of words although at bottom they convey nothing"

कुन्तक ने कला की समस्या को बाहर से छेडा है, तो क्रोचे ने भीतर से। इसीलिए वक्रोक्ति एक प्रकार का कवि-कौशल है, तो अभिव्यन्जना आध्यात्मिक आवश्यकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक के वक्रोक्तिवाद और क्रोचे के अभिव्यन्जनावाद मे पर्याप्त अन्तर है। डा० गुलाब राय, डा० नगेन्द्र एव सुधांशु ने इस वैषम्य की ओर स्पष्ट सकेत किया है। यदि सुधांशु इस भेद की ओर सकेत करते हुए लिखते हैं 'दोनो मूलत एक नही माने जा सकते और एक दूसरे से प्रभावित हुआ है, न यही कहा जा सकता है। दोनो की प्रकृति मे यूरोप और भारतवर्ष की प्रकृति की तरह असमानता है, तो डा० नगेन्द्र लिखते हैं, शुक्ल जी की उक्ति को भी (अभिव्यन्जनावाद वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान है) हम साधारण अर्थवाद के रूप मे ही ग्रहण कर सकते हैं, इससे आगे नही, क्योंकि दोनो में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना अर्थात क्रोचे को किसी भी प्रकार कुन्तक का ऋणी मानना हास्यास्पद होगा।'

गंगाजल की पवित्रता देखता है। जिस सत्य को तार्किक खंड-विखंड कर कुरूप बना देता है उसे कवि सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है। अतः काव्य का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है। वह प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान स्थूल की जगह सूक्ष्म सीमित के स्थान पर व्यापक सामयिक की अपेक्षा सार्वकालिक सत्य की प्रतिष्ठा करता है। कवि रवि की पहुँच से बाहर मानव के अन्तस् में प्रवेश कर आन्तरिक सत्य का उद्घाटन करता है। 'तुमने जिसे पानी समझा वह बालू की चमक मात्र है' कहकर हम दूसरे में उसके इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रति अविश्वास पैदा कर सकते हैं परन्तु हमारे सर्वस्व बार यह कहने पर भी कि 'तुम्हें जो काँटा चुभने की पीड़ा हुई है वह भ्रान्ति है' कोई अपनी पीड़ा के अस्तित्व में सन्देह नहीं करेगा। अतः अनुभूति पर आधारित-सत्य-वास्तविक सत्य है, कवि उसी का आधार ग्रहण करता है। हमारी व्यक्तिगत अनुभूति दूसरे के जितने निकट और तीव्र होगी दूसरे का अनुभूत सत्य हमारे समीप उतना ही असन्दिग्ध होकर आएगा।

अरस्तू का कथन है कि काव्य मानव-स्वभाव तथा जीवन के शाश्वत एवं सार्वभौम तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है। वह कहता है 'कवि का कर्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है उसका वर्णन करना ही नहीं है, वरन् जो हो सकता है जो संभावना या आवश्यकता के नियम के अधीन सम्भव है उसका वर्णन करना है' 'कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका जो घटित हो सकता है।' स्पष्ट है कि काव्य का सत्य सार्वभौम होता है जबकि इतिहास का सत्य सीमित। कवि मानव-स्वभाव की शाश्वत संभावनाओं को अपना विषय बनाता है। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर तुलसी 'राम' से जो वाक्य कहलाते हैं 'मिल जननी के एक कुमारा मिलहिं न जगत् सहोदर भ्राता' आदि वे भले ही इतिहास के निकष पर सत्य न उतरें पर काव्य में इनका अपार महत्त्व है क्योंकि वे भावना के सत्य पर आधारित हैं। इतिहास गड़े मुर्दे उखाड़ता है, तो काव्य इतिहास के अस्थिपंजर को जीवन प्राण प्रदान कर उसे सजाता है। इतिहास सुन्दर-असुन्दर सबका चित्रण करता है जबकि काव्य असुन्दर को भी कल्पना और अनुभूति के द्वारा सुन्दर बना देता है।

बहुत से विद्वानों का मत है कि काव्य का आधार कल्पना है अतः कल्पना पर आधारित काव्य में सत्य का क्या स्थान हो सकता है? परन्तु वास्तविकता यह है कि कवि की कल्पना लौकिक या वैज्ञानिक सत्य के मापदण्ड से दूर रहते हुए भी चिरन्तन सत्य पर आधारित होती है। महादेवी जी ने ठीक ही कहा है "कविता अपनी संवेदनीयता में ही चिरन्तन है चाहे युग विशेष के स्पर्श से उसकी बाह्य रूप रेखा में कितना ही अन्तर क्यों न आ जाय।

साहित्यकार के वर्णित विषय के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह वास्तविक संसार में घटित हुआ हो। होरी नामक किसान भारत के किसी गाँव विशेष में रहा

सूत्र-वाक्य एक यूनानी उक्ति 'The True, the good and the beautiful' अनुवाद है, परन्तु यह अब हमारे यहा इतने रम्य रूप मे खप गया है कि अनुवाद प्रतीत नही होता। उनका कहना है कि भारत मे सर्वप्रथम इस सूत्र का प्रयोग बगला मे रवीन्द्रनाथ टैगोर के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने किया, पर कुछ विद्वानो के अनुसार उसका प्रयोग ब्रह्म-समाज के सस्थापक राजा राममोहन राय ने किया था। जो भी हो, हिन्दी मे यह बंगला से आया और भारतीय भावना के अनुकूल होने के कारण शीघ्र ही घुल-मिल गया। इस प्रकार श्री गुलाबराय के अनुसार हिन्दी ने यह सूत्र बगला के माध्यम से विदेश से अपनाया।

यह तो सत्य है कि इन तीन शब्दो का सकलित रूप मे प्रयोग हिन्दी मे आधुनिक काल मे हुआ है, परन्तु इन तीन शब्दो का प्रयोग भारत मे अलग-अलग बहुत पहले भी होता रहा था। वैदिक साहित्य मे परमात्मा के लिए सत्, चित् और आनन्द विशेषणो का प्रयोग होता था। स्पष्टत सत्य, शिव, सुन्दरम् इन तीनो गुणो के ही प्रतीक अथवा पर्याय हैं। शिव और सुन्दर का प्रयोग भारवि के 'किरातार्जुनीय' मे भी मिलता है 'हित मनोहारि च दुर्लभ वच'। भगवान कृष्ण ने भी गीता के सत्रहवें अध्याय मे वाणी के तप की व्याख्या करते हुए जो कुछ कहा है, "अनुद्वेगकर वाक्यम् सत्य प्रियहित च यत्" अर्थात् हमारी वाणी सत्य, प्रिय, हितकर तथा अनुद्वेगकर हो, वह भी सत्य, सुन्दर और शिव की ओर सकेत करता है, क्योकि प्रिय मे सुन्दरम् का, हितकर मे शिव का भाव आ जाता है। स्वय साहित्य शब्द मे भी इन तीनो गुणो का रूप समाहित है। हित तो प्रत्यक्ष है ही, सत्य और सुन्दर प्रच्छन्न हैं। काव्य का रस या आनन्द सुन्दरम् का रूपान्तर है और सौन्दर्य कभी सत्य से रहित नही हो सकता। सुमित्रानन्दन पन्त ने इसी तथ्य की ओर सकेत करते हुए लिखा है, "मुझे लगता है कि सत्य शिव मे स्वय निहित है। जिस प्रकार फूल मे रूप-रग हैं, फल मे जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल मे सत्य के नियमो द्वारा ही होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिव मे सत्य द्वारा ही हो सकती है।" साराश यह है कि इस सूत्र-वाक्य का आशिक रूप मे प्रयोग तो प्राचीन काल मे भी होता था, पर आज जिस रूप मे उसका प्रयोग हो रहा है, वह भारत के लिए सर्वथा नवीन है।

साहित्य का सत्य—दार्शनिक जगत् का सत्य बुद्धि और आत्मा से सम्बन्ध रखता है, वैज्ञानिक का भौतिक पदार्थों से, तो साहित्य का सत्य हमारे भाव और कल्पना जगत् को आन्दोलित और परिष्कृत करता है। दार्शनिक और वैज्ञानिक तथ्य मात्र ग्रहण करते हैं, पर कवि उन तथ्यो के पीछे छिपे सौन्दर्य को अपनी सवेदनशीलता और कल्पना से ग्रहण कर उसे व्यापकता प्रदान करता है। प्रातकालीन दूर्वा पर चमकते ओसकण वैज्ञानिक के लिए हाइड्रोजन और ऑक्सीजन गैसो के विशेष अनुपात मे मिश्रण के फल हैं, परन्तु कवि उनमे मोती की आभा, पुष्पो का शृगार और

यह तो पुलिस की मग्न रिपोर्ट भर है। इसी लिए हमारे यहाँ जो शिव की परिकल्पना की गई है उससे साहित्य के शिवं का सम्यक प्रत्यक्षीकरण हो जाता है और कवि को अपनी कृति में उसी शिव की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। शिव के पौराणिक रूप में यदि कुरूपता नर मुण्डमाल आदि के द्वारा प्रकट की गई है तो अमंगल सर्प और विष द्वारा। किन्तु इन सबके ऊपर उनके मस्तक पर चन्द्रमा और जटाओं में सुरसरि की शीतल धारा भी तो दिखाई जाती है जो ऐसी शीतलता प्रदान करते हैं हमारे कलुष को भी धो डालते हैं। वस्तुतः साहित्य का शिव भी यही है कि वह यथार्थ की बीभत्सता नग्न कुरूपता और अमंगल का चित्र उपस्थित करते हुए भी पाठकों को वस्तुस्थिति से अवगत कराते हुए भी हमें मंगल और रसमय का संदेश दे अमंगल से हमारी रक्षा करे। संस्कृत आचार्य ने काव्य को 'रसात्मक वाक्य' कहा है और रस का अर्थ है आनन्द। यह आनन्द लोकहित में ही निहित है। इसी शिव पक्ष पर बल देते हुए तुलसी ने लिखा था

> कीरति भनिति भूति भलि सोई
> सुरसरि सम सबकर हित होई'

हमारी अनु—अनुभूतियों के पीछे हमारे अन्तर्जगत् में एक ऐसा व्यापक अखण्ड और समवेदनाशील धरातल भी है जिस पर सारी विविधताएं ठहर सकती हैं। काव्य इसी धरातल को स्पर्श कर समवेदनीयता प्राप्त करता है और इसी सामान्य भूमि पर पहुंच कर उसमें शिवत्व की प्रतिष्ठा होती है। उस स्थिति में मनुष्य को उसकी अपनी अश्रुधारा में जगत् की अश्रु धारा का हास विलास में जगत् के आनन्द नृत्य का गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है। यही उसका कर्तव्य है। कर्तव्य पथ में आकर ही सत्य शिव बन जाता है। अंत में ने भी प्रजा के सत्य स्वरूप को ही लोक सेवा में आ जाने पर अविकार शिव कहा है।

राम धनुष-बाण लेकर पीड़क और अत्याचारी रावण पर आक्रमण कर उसका संहार करते हैं और शिवमय कहलाते हैं क्योंकि वे विश्व का कलुष पाप-ताप अत्याचार अनाचार नष्ट करते हैं। पर-जन हितकारी भावना से अनुप्रेरित हो कर्तव्य मार्ग पर कष्ट सहते हैं। यही कार्य कृष्ण ने भी किया। शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में सौ-सौ विरह क्रन्दन सहकर भी द्वारिकाधीश ने विश्व जीवन के समुद्र-तट पर लोक-धर्म का जयनाद किया। हृदय के भीतर बहते हुए अपने ही अश्रुओं के प्रति कठोर हो उस कोमल ललित वृन्दावन-बिहारी ने प्रभाव के फाग की विश्व-वेदना की होली में अबरा कर महा शान्ति प्रदान की। इसी प्रकार काव्य का उद्देश्य व्यष्टि-कल्याण न होकर समष्टि कल्याण है। काव्य का प्रयोजन 'शिवेतरक्षतये' कहकर संस्कृत आचार्य ने इसी ओर संकेत किया है। कलाकार संसार की विभीषिकाओं का अनुभव करता है पर अपने हृदय से वह कुरूपता का सौन्दर्य तथा अमंगल को मंगल में बदल देता है। जो साहित्य हमको इस आदर्श की ओर अग्रसर करता है वह शिव का विधायक है। इसी

हो या नही, किन्तु जो कुछ उसने किया वह साधारणतया उसकी जाति के लोग करते हैं। इसी को ध्यान मे रख अरस्तू ने सभाव्य सत्य को महत्त्व प्रदान किया और कहा कि कभी-कभी यह सभाव्य सत्य वास्तविक दैनिक सत्य से भी अधिक ग्राह्य होता है—

" that never has happened, and never will happen, may be more true"

इस प्रकार काव्य का सत्य वस्तु-सत्य से ऊँचा पर सभावना की सीमा के भीतर होता है—वह भावना, आदर्श और अनुभूति का सत्य होता है, वह शाश्वत और चिरन्तन होता हैं, कवि स्वानुभूत सत्य को ही प्रकट करने का प्रयत्न करता है। सत्य के प्रति उसकी यही ललक कवि का सबसे बडा सम्बल है।

सच्चे कलाकार की अनुभूति प्रत्यक्ष सत्य को ही नही अप्रत्यक्ष सत्य का भी स्पर्श करती है, उसका स्वप्न वर्तमान को ही नही अनागत को भी रूपरेखा मे बाधता है और उसकी भावना यथार्थ को ही नही सभाव्य यथार्थ को भी मूर्तिमान करती है। अरस्तू ने आदर्श को ग्रहण करने की भी बात कही है—

"Not real, but a higher reality, what ought to be, not what is"

समाज के सम्मुख इसी आदर्श की स्थापना कर, उसे देवत्व के पथ पर अग्रसर कर कवि अपना कर्त्तव्य पूरा करता है।

पाठक इस कवि-सत्य को आत्मा की आँखो से देखता है, प्राणो के कानो से सुनता है। उसे देखने के लिये रत्नाकर के शब्दो मे मोर के पखो पर अकित असत्य आँखें नहीं, हृदय की आँखें चाहिए। कविता चिर सत्य का प्रकाश है, विश्व के प्रत्येक क्षण और कण मे उस अनन्त सत्य की आभा की दीप्ति विकसित होती रहती है। इसीलिए रवीन्द्र ने लिखा है, "मेरे गीतो के लोग मनमाना अर्थ लगाते हैं किन्तु उनका अतिम अर्थ तुम्ही पर जाता है।"

साहित्य मे शिवम् काव्य में शिव-तत्त्व के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। कुछ लोगो का कहना है कि साहित्य का सम्बन्ध जीवन से तो है, परन्तु कलाकार को अपनी कृति मे सदाचार या नीति की प्रतिष्ठा कर उपदेशक या सुधारक नही बनना है। साहित्य मे केवल वास्तविक जीवन का अकन होना चाहिए। 'कला कला के लिए' मानने वाले, यथार्थवादी, अतियथार्थवादी, प्रकृतवादी इसी मत के मानने वाले हैं और वे चाहते हैं कि चूकि जीवन मे निराशा, क्लेश, कुण्ठा, पाप और जुगुप्सा का ही प्राधान्य है, अत साहित्य मे भी इन्ही का चित्रण होना चाहिए। परन्तु जीवन मे जहा निराशा है, वहा आशा भी है, सुख के साथ दुःख और पाप के साथ पुण्य की स्थिति को कोई अस्वीकार नही कर सकता यह ठीक है कि साहित्य को प्रचार या रूक्ष उपदेश से बचना चाहिए, काव्य का हित केवल आर्थिक या भौतिक हित नही होता, वह उससे उदात्त होता है, परन्तु कोरा यथार्थ भी ग्राह्य नही हो सकता।

अपने विचारों आदर्शों आदि का मूर्तीकरण मानते हैं। शुक्ल जी भी अन्तःसत्ता की तदाकार परिणति को ही सौन्दर्य की अनुभूति कहते हैं।

सौ दर्य की परिभाषा नहीं की जा सकती क्योंकि सौन्दर्य एक है अखण्ड है, अभिन्न है। यद्यपि सौन्दर्य के अनुभव करने वाले अनेक हैं और रुचि भेद के कारण वह किसी को अधिक सुन्दर तथा किसी को कम सुन्दर लग सकता है परन्तु उसकी महिमा किसी एक के कारण कम नहीं हो सकती।

"सीतलता अरु सुगंधि की महिमा घटै न सूर
पीनसवारो ज्यों तजै सोरा जानि कपूर"

रवि बाबू ने रमणी सौन्दर्य को आधा सत्य और आधा स्वप्न कहा है। सौंदर्य में आकर्षण होता है और उस आकर्षण के लिये दर्पण की आवश्यकता होती है।

'कत रिझवत हार यह, वे नयना रिझवार'। अत: की कवि कालरिज ने भी कहा है 'रमणी हम तुझ में वही पाते हैं जो तुझे देते हैं।

महादेवी वर्मा कितने सुन्दर शब्दों में लिखती हैं सत्य की प्राप्ति के लिये काव्य और कलाएं जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित हैं केवल बाह्य रूपरेखा पर नहीं।

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिये अपेक्षित है उसे पाने के उपरांत छोटा बड़ा लघु गुरु विरूप आकर्षक भयानक कुछ भी कला जगत् से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। उजले कमलों की चादर जैसी चांदनी में मुस्कराती हुई विभावरी अभिराम है पर अंधेरे के स्तर पर स्तर ओढ़कर विराट् बनी हुई काली रजनी भी कम सुन्दर नहीं। फूलों के बोझ से झुक २ पड़ने वाली लता कोमल है पर शून्य नीलिमा की ओर विस्मित बालक सा ताकने वाला ठूंठ भी कम सुकुमार नहीं। अविरल जल दान से पृथ्वी को कंपा देने वाला बादल ऊंचा है पर एक बूंद आंसू के भार से नत और कंपित तृण भी कम उन्नत नहीं। गुलाब के रंग और नवनीत की कोमलता में कंकाल छिपाये हुये रूपसी कमनीय है पर झुर्रियों में जीवन का विज्ञान लिखे हुये वृद्ध भी कम आकर्षक नहीं। बाह्य जीवन की कठोरता संघर्ष बल-पराक्रम सब मूल्यवान हैं पर अन्तर्जगत् की कल्पना स्वप्न भावना आदि भी कम अनमोल नहीं। यदि ताजमहल सुन्दर है तो अनगढ़ पत्थरों वाले विराटकाय पर्वत-दुर्ग की भी अपनी विशिष्ट भव्यता है, यदि पुष्पोद्यान मनोहर है तो ठूंठ और कटीली झाड़ियों वाले बीहड़वन की भी अपनी अद्भुत मोहकता और शक्ति है। 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना श्मशान में भी सौंदर्य का अनुभव करती है।

वास्तविक सौंदर्य वह है जो एक-सा रहते हुए भी दर्शकों को नित्य नवीनता की अनुभूति दे।

'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:

के अन्तर्गत कवि 'उदार चरितानां वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का प्रसार करता है और कलाकार का हृदय विश्व-हृदय बन जाता है।

वस्तुत एकान्त यथार्थवाद उतना ही दुर्बल है, जितना कोरा आदर्शवाद प्रभाव हीन होता है। प्रथम हमे निराशावादी बनाता है, तो दूसरा आकाश-कुसुमो का आकांक्षी। अत साहित्य मे यथार्थवाद के साथ २ आदर्श के प्रति भी कलात्मक सकेत अवश्य होना चाहिए। हिन्दी साहित्य मे शिव का तत्त्व सदा वर्तमान रहा है, हा उसके रूप बदलते रहे है—आदिकाल एव रीतिकाल मे वह उपदेशात्मक सूक्तियो के रूप मे रहा, भक्तिकाल मे वह पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ, प्रसाद के काव्य मे आनन्द-तत्त्व ही शिव तत्त्व है, तो आधुनिक काव्य मे शिव की प्रतिष्ठा वैयक्तिक आदर्शों की अभिव्यंजना द्वारा की गई है। आज कवि की कामना अपने लिए ही सचित नहीं है, वह सम्पूर्ण मानवता का स्पर्श करती है

कामना-कली ले विश्व-प्यार।
करती रहती सौरभ प्रसार॥

साहित्य मे सुन्दरम् —कला का मूल आधार सौन्दर्य-बोध है और मनुष्य स्वभाव से सौन्दर्य का प्रेमी है। इसीलिए कला-कृतिया सदा से मनुष्य को लुभाती रही हैं। अब प्रश्न उठता है कि सौन्दर्य क्या है। आस्कार वाइल्ड के अनुसार जिस वस्तु के साथ हमारा कोई प्रयोजनगत सम्बन्ध न हो, वही सुन्दर है। पर सौन्दर्य की कोई सुनिश्चित परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है, साथ ही प्रत्येक देश और प्रत्येक युग सौन्दर्य की व्याख्या अपने-अपने ढग से करता रहा है। यदि भारत मे श्यामल केश-राशि को सौन्दर्य का चिह्न समझा जाता है, तो पश्चिम मे स्वर्णिम केशपाश सुन्दर समझा जाता है। हम यदि अजन रेखा युक्त कजरारी काली आँखो पर मुग्ध होते है, तो यूरोप के लोग समुद्र की गहराई और नीलिमा लिए नेत्रो को मोहक मानते हैं और उनमे डूबते हैं। कालिदास के युग मे सौन्दर्य का जो मापदण्ड रहा, वह आज के काव्य मे बदल गया है क्योंकि कलाकार की सौन्दर्य-सम्बन्धी मान्यताए परिवर्तित होती रहती है। कुछ लोग सौन्दर्य को वस्तुवादी मानते है, उनकी दृष्टि मे बाह्य रेखाओं और रगो का सामजस्य ही सौन्दर्य की सृष्टि करता है। यही कारण है कि रुचि-वैभिन्नय के फलस्वरूप सौंदर्य का रूप बदलता रहता है। सुकरात, अरस्तू, ह्यूम, हर्बर्ट स्पैन्सर आदि वस्तुवादी थे। ये सौन्दर्य को ऐसी गठन या रचना मानते है जो हमारे परम्परागत स्वभाव, रीति रिवाज, मनोभाव के द्वारा हमारी आत्मा को आनन्द एव सन्तोष प्रदान करती है। वे वस्तु के सुन्दर होने के लिए उसमे अनुपात, सुडौलता, सामजस्य आदि गुण आवश्यक मानते हैं।

इसके विपरीत कुछ लोग सौन्दर्य का अधिवास वस्तु मे न मानकर दर्शक की दृष्टि मे मानते हैं। ये लोग सौन्दर्य को विषयीगत कहते हैं। प्लेटो, प्लोटीनस, हीगेल, क्रौचे आदि व्यक्तिवादी हैं, ये सान्त मे अनन्त के दर्शन करते हैं और सौन्दर्य को

कारण सत्य का प्रतीक है 'वीणा सुन्दरम्' का प्रतिनिधित्व करती है और पुस्तक सत्य और हित दोनों की सामिका है। अतः सरस्वती की यह परिकल्पना भी सत्यं शिवं सुन्दरम् के अभेद और समन्वय की ओर संकेत करती है।

साहित्यकार सत्य और शिव की युगल मूर्ति को सौन्दर्य का स्वर्णावरण पहना कर ही उसकी उपासना करता है। महादेवी वर्मा ने लिखा है 'काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिंदु तक पहुंच गया जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका क्योंकि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। वस्तुतः सत्य कर्तव्य पथ में आकर शिवं बन जाता है और भावना से समन्वित होकर सुन्दरम् के रूप में दर्शन देता है। अंग्रेजी कवि कीट्स ने भी सत्य और सुन्दर को एक माना है—

Beauty is truth Truth beauty
That is all ye know on earth
And all ye need to know

इस प्रकार सत्य शिव और सुन्दर भिन्न भिन्न क्षेत्रों में एक दूसरे के अथवा अनेकता में एकता के रूप हैं। सत्य ज्ञान की अनेकता में एकता है। शिव कर्म-क्षेत्र की अनेकता में एकता का रूप है। सौन्दर्य भाव-क्षेत्र का सामंजस्य है। रसानुभूति के लिए जिस सतोगुण की अपेक्षा रहती है उसमें न तो तमोगुण की निष्क्रियता रहती है और न रजोगुण की सी उत्तेजना। इसी प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि करना कवि का कर्म है। सौन्दर्य द्वारा ही सत्य ग्राह्य बनता है। अतः इन तीनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। इसी समन्वय को कविवर पंत ने बड़े कलात्मक ढंग से निम्न शब्दों में कहा है—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक सेवा में शिव अविकार

और रवीन्द्र की निम्न उक्ति उसका समर्थन करती है 'सुकुमार कला सत्य शिव और सुन्दर की झाँकी का प्रत्यक्ष दर्शन और इस साक्षात्कार से प्राप्त हुई आनंद मय स्थिति का सुन्दर प्रतिपादन द्वारा सहज एवं सुचारु उद्गार है।

बिहारी की नायिका का भी सौंदर्य कुछ इसी प्रकार का है —

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे क्रूर॥

सच्चा सौंदर्य पाप वृत्ति की ओर नही जाता है और दूसरे को भी उस ओर जाने से रोकता है। कालिदास ने लिखा है—

'यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच'

कुछ आचार्यों ने सौंदर्य की व्याख्या मे उपयोगिता को महत्त्व दिया है। परन्तु महादेवी वर्मा कहती हैं 'उपयोग की कला और सौंदर्य की कला को लेकर बहुत से विवाद सम्भव होते रहे परन्तु यह भेद मूलत एक दूसरे से बहुत दूरी पर नही ठहरते • उनकी दूरी हमारे विकास-क्रम से बनी है, कुछ उनकी तात्त्विक भिन्नता से नही।'

सच्चा प्रेमी प्रेमास्पद को पाना नही चाहता है वरन् अपने को उसमे खो देना चाहता है। रवीन्द्र बाबू ने कहा है कि जल मे उछलने वाली मछली का सौंदर्य निरपेक्ष दृष्टा ही देख सकता है, उसको पकड़ने की कामना करने वाला मछुआ नही। परन्तु निरपेक्ष दृष्टि बडी साधना से ही आ सकती है। सुन्दर वस्तु मे रमणीयता प्रत्येक अवस्था मे रहती है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान व भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिये सुन्दर कही जायेगी।

काव्य मे वैयक्तिक और आतरिक सौन्दर्य दोनो आवश्यक हैं क्योकि 'रूप रेख गुन जाति जुगुत बिन निरालम्ब मन चकृत धावै।' वैयक्तिक सौंदर्य का आश्रय लेकर सम्पूर्ण मानवीय सौन्दर्य से भी परे उस परम सौंदर्य की ओर अग्रसर होना चाहिये। जहा से ससृति के तट पर बिखरा सम्पूर्ण सौदर्य जन्म एव विकास पाता है, वही दिव्य एवं चिरतन सौन्दर्य की प्रकाश रेखा उद्भूत होगी और कला की शाश्वत ज्योति के दर्शन होगे। सौन्दर्य की यही प्रकाश-रेखा सम्पूर्ण कला की जननी है।

जो सौन्दर्य ससार की प्रत्येक वस्तु मे अन्तर्लीन है, सूक्ष्म रूप से व्याप्त है, उसका प्रकाशन अपनी व्यक्तिगत अनुभूति से करना तथा ससीम के भीतर से उस महान् असीम की ओर अग्रसर होने का आत्मिक सत्य खोजना ही काव्य है।

सत्य सुन्दर शिव का समन्वय—वस्तुत सत्य सुन्दर और शिव मे अभेद है। आनद की प्राप्ति के लिए सौन्दर्य, ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिए शिव की आवश्यकता है। इनमे से एक के भी अभाव मे साहित्य अर्थहीन हो जाता है। सत्य और शिव का समन्वय करते हुए रवीन्द्र ने आचार्य क्षितिमोहन सेन द्वारा लिखित दादू' नामक बगाली ग्रन्थ की भूमिका मे लिखा है, 'सत्य की पूजा सौन्दर्य मे है, विष्णु की पूजा नारद की वीणा मे है।' विष्णु सत्य के साथ शिव भी है, अत तीनो का समन्वय हो जाता है।

हमारे यहाँ साहित्य और कला की अधिष्ठात्री देवी हसवाहिनी सरस्वती का ध्यान वीणा-पुस्तक-धारिणी के रूप मे किया जाता है। हस नीर-क्षीर विवेकी होने के

शब्दों के प्रयोग का सुझाव दिया और हौरेस ने कहा 'विषय को अनेकविधता प्रदान करना जलपरी को वन में तथा वन्यवराह को जल-तरंगों पर चित्रित करना है।

अन्य पारिभाषिक शब्दों के समान 'शैली' शब्द भी विवाद एवं अनेकार्थता का विषय रहा है। साधारणत शैली का अर्थ लिया जाता है—अभिव्यक्ति का प्रकार या शिल्प (technique of expression) उसे काव्य का बाह्य पक्ष मानते हुए संस्कृत साहित्याचार्यों ने उसके अनेक उपकरण माने हैं—शब्द वाक्य गुण वृत्तियां रीतियां अलंकार पद-विन्यास छंद शब्द-शक्ति आदि और उन सब का विस्तृत विवेचन किया है। संस्कृत आचार्यों की दृष्टि काव्य का विवेचन करते समय प्राय काव्य के बहिरंग पर रहती थी काव्य-सृजन करते समय कवि की मानसिक प्रक्रिया का विवेचन उन्होंने प्राय कम किया है। यही कारण है कि उनके विवेचन में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का अभाव है। शैली सम्बन्धी विवेचन के सम्बन्ध मे भी यह बात सत्य है। उनका मत है कि शैली के विभिन्न उपकरणों—शब्द-चयन रीति अलंकारों आदि का कुशल प्रयोग करके कोई भी रचनाकार अपनी रचना को उत्कृष्ट बना सकता है जिस कवि की अभिव्यक्ति जितनी संक्षिप्त और सम्यक (precise) होगी वह उतना ही बड़ा शैलीकार होगा और उसकी रचना का प्रभाव 'सतसैया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर' की तरह पाठक-मन पर अधिक गहरा और व्यापक होगा। इसी बाह्य दृष्टि के कारण उन्होने शैली का विभाजन गुणों के आधार पर किया—शब्द और अर्थ के दस-दस गुण माने उनका आधार शब्दों की बनावट या वर्ण रचना माना। वर्ण विन्यास को उन्होंने वृत्ति कहा और उनको गुणों के साथ जोड़ा। गुणों के आधार पर ही वाक्य-रचना की तीन रीतियां—वैदर्भी पांचाली और गौड़ी मानी। अलंकारों को उन्होने शैली के उपकारक धर्म माना और कहा कि इनकी भरमार नहीं होनी चाहिए, यद्यपि भामह जैसे ऐसे अलंकारवादी भी थे जो काव्य की आत्मा अलंकार ही मानते थे। सारांश यह है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र मे शैली का विवेचन प्राय बहिरंग दृष्टि से ही हुआ। (रीति और ध्वनि के विवेचन में कहीं-कहीं उसके अन्तरंग का भी विवेचन हुआ है।)

पश्चिम मे भी शैली के बाह्य पक्ष का विवेचन न हुआ हो ऐसा नहीं। फ्रांस मे उस पर अधिक बल दिया गया और कहा गया कि वही रचना उत्तम है जिसमें विचार क्रम की प्रसादमयी शैली मे व्याख्या की जाय (lucid exposition of a sequence of ideas)। यूरोप के अलंकारवादियों (rhetoricians) ने भी शैली के अलंकृत होने पर बल देकर उसके बाह्य पक्ष पर ही ध्यान दिया। मिडिल्टन मरे का यह वक्तव्य देखिए—

"The notion that style is applied ornament had its origin, no doubt in the tradition of the schools of rhetoric in Europe."

हौरेस ने कुशल शब्द-योजना पर सर्वाधिक बल दिया और कवियों को परामर्श देते हुआ कहा 'संक्षेप होने मे अस्पष्ट न हो जाओ स्पष्टता के प्रयास मे बलहीन न

: ३२ :

शैली और व्यक्तित्व

१. कला-कृति और आंगिक अन्विति
२ शैली शब्द के विभिन्न अथ
३. शैली का बहिरग विवेचन
४ शैली विचारों का परिधान
५. शैली ही व्यक्ति है
६ शैली और लेखक की दृष्टि
७. शैली और विषयपरक साहित्य
८ शैली का लक्ष्य और उसके उपकरण
६ नई कविता के सदर्भ में शैली की वैयक्तिकता का प्रश्न
१० उपसहार

कला और काव्य स्वत पूर्ण वस्तुए हैं, उनका विश्लेषण करना उनके सौन्दर्य को नष्ट करना है। अरस्तू, हौरेस आदि पाश्चात्य काव्याचार्यों ने इसीलिए आंगिक अन्विति (organic unity) के सिद्धान्त पर वल दिया, और सस्कृत आचार्यों राजशेखर आदि ने काव्य-पुरुष रूपक की परिकल्पना की और रस को अखण्ड माना। तथापि शास्त्रीय विवेचन और विश्लेषण के लिए शास्त्राचार्यों ने काव्य के बाह्य और आन्तरिक, भाव-पक्ष और कला-पक्ष माने तथा उसके विभिन्न तत्त्वो की परिगणना करते हुए बुद्धि, कल्पना, भाव, शैली आदि नाम गिनाए। ऐसा करते हुए कहा गया कि काव्य के लिए दो वस्तुए आवश्यक हैं – वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार या ढग। वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रकार और ढग को ही 'शैली' कहा गया। शैली और वस्तु का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए कुछ लोगो ने शैली को विचारो का परिधान कहा तो कुछ ने विचार और शैली का सम्बन्ध इतना घनिष्ट माना जितना शरीर और चमडी का, परिधान तो उतारा भी जा सकता है, पर चमडी को शरीर से अलग नहीं किया जा सकता। हम इस सम्बन्ध को किन्ही शब्दो मे व्यक्त करें, इतना सत्य है कि ये दोनों अभिन्न हैं, वस्तु का प्रकार, विषय और स्वभाव ही शैली को जन्म देता है। इसीलिए अरस्तू ने विभिन्न विषयो के लिए विविध काव्य-रूपो एव

स्वस्थ ही मिलता Nature in tooth and claw' के दर्शन नहीं होते' प्रसाद प्रकृति से सौम्य और शान्त थे उनका व्यक्तित्व सागर की गहराई और हिमालय की विराटता लिए था अतः उनके साहित्य में भी हम उनके हृदय की विशालता और उदारता जीवन के प्रति स्वस्थ भोगवादी दृष्टि और सौम्य शान्त गांभीर्य के दर्शन होते हैं। निराला का व्यक्तित्व दुर्धर्ष पौरुषयुक्त एवं चट्टान की तरह प्रडिग और विद्रोहपूर्ण था अतः उनके काव्य में हमें सदा एक प्रकार की परुषता दुधर्षता और विद्रोह भावना मिलेगी। महादेवी का व्यक्तित्व वेदना और व्यथा के तारों-बानोंसे बुना व्यक्तित्व है अतः उनका काव्य आँसुओं से भीगा काव्य है। शैली ही व्यक्ति है' इस कथन में शैली का अर्थ हुआ वे तत्व जो लेखक की कृति को पहचानने में हमारी सहायता करते हैं,

Whatever goes to make a man s writing recognizible is included in his style.

यह उक्ति मात्र प्रशंसा के लिए प्रयुक्त होती है और यह समझा जाता है कि यदि कोई लेखक अपनी कृति द्वारा सबदा और सर्वत्र पहचान लिया जाता है तो यह उसका बड़ा भारी गुण है। पर क्या यह सदा समव है ? और यदि संभव नहीं है तो क्या इस गुण का प्रभाव किसी भी प्रकार लेखक के लिए घातक या उसकी निन्दा का कारण है।

प्रथम तो यह संभव नहीं कि हम लेखक को सदा उसकी शैली के कारण सर्वत्र पहचान ही लें। यह काव्य-गुण जिसके लिए एक कवि विख्यात है दूसरे में भी हो सकता है और इस कारण हम अपने निष्कर्षों में गलत हो सकते हैं। रसलीन का निम्न दोहा—

अमिय हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इकबार ॥

बहुत दिनों तक बिहारी का दोहा समझा जाता रहा। इसी आधार पर प्राय आलोचक प्राचीन ग्रंथों में क्षेपक या प्रक्षिप्त अंश जोड़ने की चेष्टा करते हैं पर वस्तुतः इसे सच्ची निर्भ्रान्त कसौटी मानना उचित नहीं।

वस्तुत शैली का सम्बन्ध लेखक के व्यक्तित्व के साथ-साथ अन्य बहुत सी बातों से भी है। उदाहरण के लिए विषय और शैली का परस्पर अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि विषय गंभीर हुआ तो शैली का गंभीर होना भी स्वाभाविक है। परन्तु सबसे अधिक महत्व वस्तु या विषय के प्रति लेखक की दृष्टि का ही है। मिडिल्टन मरे ने तो इसी आधार पर शैली की व्याख्या की है

'Style is the writer s own way of thinking or seeing."

वह शैली का स्रोत मूल भाव (original emnotion) में मानते हैं जो तीव्र एवं निर्णयात्मक होता है। जब कवि की अनुभूति एवं दृष्टि विशिष्ट होगी तो उसकी

हो जाओ। उडान के पीछे वृहच्छब्दस्फीत न हो जाओ, सादगी का गौरव प्राप्त करने मे नीरस न वन जाओ।" आज भी यदि कुछ लोग शैली का अर्थ वागाडम्वर और कृत्रिम अलकरण मानते हैं, तो यह अलकारवादियो का ही प्रभाव है—

'Style is fine writing, a miserable procession of knock-kneed, broken winded metaphors with a cruel cartload of ponderous, unmeaning polosyllables dragging behind them"

उनकी दृष्टि मे उत्तम रचना की विशिष्टता है रूपको का प्रयोग। यह ठीक है कि रचनागत कुछ विषयो का परिपालन आवश्यक है हमे अपने वक्तव्य मे अस्पष्ट नही होना चाहिए, व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध लिखना चाहिए और व्याकरण दोषो (solecisms) का वहिष्कार करना चाहिए, पर वस्तुत शैली का जितना सम्वन्ध लेखक के अन्तस् से है, उतना भाषा अलकार या छन्द से नही।

लार्ड चेस्टरटन ने शैली को विचारो का परिधान कहा है। उनके इस कथन का यही अभिप्राय है कि जैसे लेखक के विचार होगे, वैसी ही उसकी शैली होगी और चूँकि व्यक्ति के विचारो का सम्वन्ध उसके व्यक्तित्व से है, अत व्यक्ति और शैली का भी परस्पर घनिष्ट सम्वन्ध हुआ। कदाचित् इसी बात को दृष्टि मे रखकर यूरोपीय विद्वान् वफन ने कहा था, "Style is the man" यहाँ शैली का अर्थ है अभिव्यजना की वह व्यक्तिगत विशिष्टता जिसे देख हम तुरन्त कह उठते हैं कि ये पक्तिया अमुक लेखक की हैं। अभिव्यक्ति के प्रकार को ही देखकर हम लेखक के व्यक्तित्व का अनुमान लगा लेते हैं। प्राय यह समझा जाता है कि शान्त, सात्त्विक एव गम्भीर विचारो वाले लेखक की शैली मे भी सयम और गभीरता होगी तथा जिस व्यक्ति का स्वभाव विलासी और चचल है, उसकी शैली भी वागाडम्बरयुक्त एव अश्लीलतापूर्ण होगी। इस मान्यता के समर्थन मे अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं—सूर का व्यक्तित्व तुलसी से भिन्न था, अत उनके काव्य मे भी भेद पाया जाता है। तुलसी भक्त थे, समाज के प्रति जागरूक लोकनायक थे, अत उनके काव्य मे सत, भक्त, सुधारक और लोकनायक की दृष्टि मिलती है। वह अध्ययनशील विद्वान् थे, अत उनके काव्य मे विविध काव्य-रूपो, काव्य शैलियो और विविध प्रकार के छन्दो का प्रयोग मिलता है, जबकि सूर प्रधानत भक्त थे, कीर्तनकार थे, अत उनके काव्य मे केवल निश्छल भक्ति, कृष्ण की लीलाओ का मधुर गान और राग-रागनियो मे निबद्ध काव्य उपलब्ध होता है। इसी प्रकार कहा जाता है कि शुक्ल जी का व्यक्तित्व उनके निबन्धो और समीक्षात्मक लेखो मे स्पष्ट झाकता है। वह स्वभाव से गभीर थे, उनका व्यक्तित्त्व प्रभावशाली था, अत उनके निबन्धो मे भी चटपटापन, हल्कापन नही और उनकी उक्तिया इस आत्मविश्वास के साथ कही गई हैं कि साधारण पाठक को उनके सम्मुख नतमस्तक होना पडता है। इसी सिद्धान्त को आधुनिक कवियो पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी के काव्य पर भी लागू किया जाता है—पन्त कोमल-हृदय, मसृण कल्पनाओ के कवि हैं अत उनके काव्य में प्रकृति का कोमल

ठीक नहीं। विषय-परक साहित्य मे भी शैली की वैयक्तिकता हो सकती है बल्कि मिडिल्टन मरे के अनुसार तो वह प्रच्छन्न होने के कारण और भी प्रबल होती है

"By concealing himself the objective writer is a giant"

उनका तर्क यह है जो ठीक भी है कि वस्तु-परक लेखक की रचना का प्रत्येक अंग—कथानक पात्र घटनाएं आदि उसी के हृदय की तो उपज होती हैं उन सबकी योजना और अभिव्यंजना में उसकी वैयक्तिकता अवश्य झलकेगी। अतः साहित्यकार के लिए चाहे वह विषय-परक हो चाहे आत्म परक अपने व्यक्तित्व को छिपाना असंभव है

'It is impossible to be an impersonal artist in literature if you are an artist at all

निर्वैयक्तिकता तो केवल कार्यालय की दस्तावेजों या समाचार-पत्रों में ही पाई जा सकती है।

शैली का लक्ष्य और उसके उपकरण—शैली की मुख्य समस्या यह है कि लेखक अपने भावों को किस प्रकार पाठक तक इस तरह संप्रेषित करे कि पाठक उस भाव को उसी की तरह अनुभव करने लगे भाषा को इस तरह ढाले कि उसकी अनुभूति ईमानदारी से प्रकट हो जाय ? कुछ लोग उपयुक्त शब्द-चयन को इसका आधार मानते हैं। परन्तु जब तक शब्दों का संबंध भाव की आत्मा से न होगा जब तक शब्द भावोद्रेक के क्षणों में स्वतः उद्भूत न होंगे तब तक केवल भाषा के बाह्य संस्कार से काम न चलेगा। यदि शैली को प्रभविष्णु बनाना है तो केवल ऊपरी चमक-दमक सप्रयास पालिश या शब्दों को खराद पर चढ़ाने से काम न चलेगा। इसी प्रकार यदि अलंकारों का प्रयोग केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए है तो वे कविता-कामिनी के लिए भार हो जायेंगे। वे यदि मानसिक उल्लास या भावावेग के क्षणों में कवि की आत्मा से स्वतः उद्भूत होते हैं तभी काव्य के लिये सौन्दर्य वर्धक होते हैं क्योंकि तब वे काव्य के अभिन्न अंग होते हैं ऊपर से जोड़े हुए नहीं उनका आधार मनोवैज्ञानिक होता है।

It is no more ornamental than a man's Christian name Try to be precise and you are bound to be metaphorical."

इसके विपरीत यदि वे अभिव्यक्ति के अभिन्न और स्वाभाविक अंग नहीं होते तो बाधक होंगे। अतः शब्द-चयन अलंकार पद रचना गुण रीति आदि शैली के अभिन्न अंग नहीं हैं शैली उन पर निर्भर नहीं होती यह ठीक है कि इनसे वह पूर्णता को प्राप्त होती है।

कुछ लोग संगीतमयता और चित्रमयता को शैली के आवश्यक उपकरण मानते हैं परन्तु यदि ये गुण स्वाभाविक रूप न तथा बिना मूल भाव को व्याघात पहुंचाये आते हैं तब तो अभिनन्दनीय है पर यदि केवल संगीतमयता या चित्रात्मकता लाने के लिए ममीनपूर्ण और चित्रात्मक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है तो वह कला के

१ Middleton Murry 'The problem of style p. 75

शैली भी विशिष्ट होगी। वस्तुत दृष्टि की वयक्तिकता ही शैली मे वैयक्तिकता लाएगी। शैली मे सच्ची वैयक्तिकता की कसौटी ही यह है कि पाठक यह अनुभव करे कि जिस भाव को लेखक प्रेषित करना चाहता था, वह उस शैली के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार उतनी प्रभविष्णुता के साथ व्यक्त ही नही किया जा सकता था। अत शैली के वैयक्तिक होने का कारण ही यह है कि वह वैयक्तिक भावना और अनुभूति की अभिव्यजना होती है,

"A style must be individual, because it is the expression of an individual mode of feeling"

यदि किसी लेखक की शैली अन्य शैलियो से भिन्न एव विशिष्ट है, तो उसका कारण यही है कि उसकी अनुभूति सामान्य अनुभूति से विचित्र अथवा उसके भाव सामान्य मानव-अनुभवो के क्षेत्र से बाहर के भाव हैं। कभी कभी लेखक जान बूझकर भी अपनी शैली मे विचित्रता, चमत्कार, असाधारणता लाता है और इसका कारण यह नही कि उसकी अनुभूति असामान्य है, बल्कि वह मौलिकता और पाडित्य प्रदर्शन, मिथ्याहकार द्वारा पाठको को चमत्कृत करने आदि के उद्देश्य से अपनी भाषा-शैली मे वैचित्र्य लाता है, भावावेश की कमी को शैली-वैचित्र्य द्वारा पूरी करता है। जब कभी अनुभूति एव भाषा का परस्पर स्वस्थ सम्बन्ध टूट जाता है, तब भी लेखक शैली मे कृत्रिम शक्ति लाने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो विचित्र और असामान्य होती है। पुरानी आदत और अभ्यास उसे इस कार्य मे सहायता देते हैं। फल यह होता है कि भावावेग के अभाव एव सच्ची तीव्र अनुभूति की कमी होते हुए भी कवि की शैली उदात्त एव वैयक्तिक प्रतीत होती है, पर शीघ्र ही उसकी शक्तिहीनता का पता चल जाता है। उसके द्वारा प्रयुक्त पद-योजना का खोखलापन एव स्फीति शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं क्योकि शिल्प ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है, कवि आत्मा की ओर से उदासीन हो जाता है, उसकी रचना मे जीवन्त आवेग और तज्जन्य रस समाप्त हो जाता है।

" far from being the work of inspiration it appears flabby and lifeless" it has a sort of vitality, but it is the vitality of a weed or a mushroom, a vitality that we cannot call precisely spurious, but which we certainly cannot call real"[1]

इस प्रकार की वैयक्तिकता झूठी है अत त्याज्य है सच्ची शैलीगत वैयक्तिकता तो वह है जिसकी अनिवार्यता हम स्वीकार करे, यह अनुभव करें कि उसके बिना बात को प्रभावशाली ढग से व्यक्त ही नही किया जा सकता था।

कतिपय लागो का मत है कि शैली की वैयक्तिकता केवल गीति-काव्य मे ही देखी जा सकती है क्योकि उसमे आत्म-निवेदन सीधा और प्रत्यक्ष होता है, परन्तु यह

---

१ Middleton Murry—The problem of style p 20,

निन्दनीय है, पर आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह तथ्य का पूर्वाग्रह विहीन होकर पता लगाए और सत्य से अवगत होकर ही किसी की कुत्सा करे। भाषा की शक्ति प्रयोग के साथ कम होती जाती है उसकी सफलता और पाठक के मन को प्रभावित करने की शक्ति क्रमशः लुप्त होती जाती है अतः कवि और लेखक सदा भाषा के साथ प्रयोग करते हैं नए प्रयोगों द्वारा उसकी शक्ति का विकास करते हैं और यह पूर्णतः न्याय्य है। अतः नए प्रयोगों से भड़कना न तो वांछनीय ही है और न न्यायपूर्ण ही। परन्तु ये प्रयोग और सीमीमत वैयक्तिकता केवल वाग्वैचित्र्य न हो जाय। कवि सामाजिक प्राणी है, समाज में रहता है और भले ही वह यह कहे कि स्वान्तः सुखाय लिखता है कविता समाज के बाहर नहीं जी सकती अतः उसकी अभिव्यंजना वैयक्तिक होते हुए भी ऐसी होनी चाहिए कि वह सबको अपनी अनुभूति का साक्षी बना सके।

छोटे से छोटा लेखक भी अपनी वैयक्तिकता को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहता है। रत्नाकर की गोपियों की तरह 'तू बता चितेहै तू न विवस बिचारी की' लेखक भी नहीं चाहता कि उसकी वैयक्तिकता नष्ट हो पर यह वैयक्तिकता तभी रह सकती है जब उसकी भावना अनुभूति और इन दोनों को व्यक्त करने वाली अभिव्यंजना पद्धति ऐन्वी हो।

that he thinks what he thinks he thinks, that his words mean what he thinks they mean."

लिए घातक है और ऐसे कलाकार की तुलना उस कुत्ते से की जा सकती है जो छाया के टुकडे के लिए असली रोटी को खो देता है। अत शैली मे सक्षिप्तता हो और उसे देख पाठक को ऐसा लगे जैसे कि रचना लेखक के मस्तिष्क से सीधी उद्भूत हुई है। यदि वह वर्ण्य विषय का साकार विम्ब अकित कर दे और पाठक के मन मे वही भाव उत्पन्न कर दे जो लेखक के मन मे काव्य-रचना के समय था, तो यही उसकी सफलता है। साराश यह है कि प्रत्यक्षीकरण की शक्ति (power of visualisation) ही शैली का सबसे बडा गुण है। इसके लिये यह आवश्यक नही कि वह ब्यौरेवार वर्णन करे, प्रभावपूर्ण सकेत शैली से भी वह यह कार्य कर सकता है।

" to record some salient feature of what he has seen, which will recreate in the mind of his reader something akin to his own vivid emotional impression "

नई कविता के समर्थक अनुभूति की वैयक्तिकता के नाम पर वैयक्तिक अभिव्यञ्जना का नारा बुलन्द करते रहते हैं और कहते हैं कि साधारणीकरण आज की कविता का न तो लक्ष्य है और न उसकी सफलता की कसौटी। उनका मत है कि आज के बौद्धिक, कुण्ठाग्रस्त युग मे कवि की अनुभूति अपनी निजी होती है, अत उस की अभिव्यञ्जना भी वह निजी ढग से करता है, अत वह यदि दूसरो की समझ मे न आय तो इसमे कवि का दोष नही। कवि दूसरों को अपनी बात समझाने के लिए नही लिखता, वह तो अभिव्यक्ति की अदम्य अकांक्षा के वशीभूत होकर लिखता है— अत लेखक को पाठक के स्तर तक नीचे उतरना नहीं है, पाठक को ही लेखक के स्तर तक ऊंचा उठना चाहिए। उनका दूसरा तर्क यह है कि आज के आस्थाहीन जीवन मे व्यक्ति का व्यक्तित्त्व खण्डित है अत वह खण्डित अनुभूतियो को अभिव्यक्त करता है। परिणामत उसकी अभिव्यजना भी खडित बिम्बो, अधूरे वाक्यो और शब्दो से युक्त होती है और चूंकि शैली का सम्बन्ध मूल भाव या अनुभूति से होता है, अतः यह सब ठीक ही है।

यह सत्य है कि प्राय साहित्य की नई धारा को समझने मे समय लगता है और प्राचीनतावादी प्रत्येक नए आन्दोलन को पहले उपेक्षा और तदुपरान्त विद्रोह भाव से देखते हैं, उसकी कुत्सा करते हैं। हमे अधिक धैर्य और सहानुभूति से काम लेना चाहिए, प्रत्येक नवीनता को प्रलाप, भटकन, वैचित्र्य लाने का झूठा प्रयास या झूठी मौलिकता लाने का प्रयत्न न मानकर उसे समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

"To dismiss a style simply because it is unfamiliar is unpardonable "

यदि नई शैली के पीछे भाव का अन्तर्वेग नही है, उसके द्वारा विवश होकर नही केवल वैचित्र्य लाने के लिए नयापन लाने की चेष्टा की गई है, तब तो वह

कजामियां ने भी उसे शैली मात्र न मानकर एक विचार धारा कहा—
"Realism in art is not a method but a tendency"

सारांश यह है कि यथार्थवादी साहित्यकार उसे कहा गया जो मानव-जीवन एवं समाज का सम्पूर्ण वास्तविक चित्र तटस्थ दृष्टि से उपस्थित करता है अपना विषय काल्पनिक संसार से न लेकर वास्तविक जगत् से लेता है और अपने चित्रण में भावुकता को बाधक नहीं होने देता। इमर्सन ने यथार्थ को दृष्टि में रखते हुए ही कथावस्तु के सम्बन्ध में कहा 'मुझे महान् दूरस्थ और काल्पनिक नहीं चाहिए, मैं साधारण का आलिंगन करता हूं मैं सुपरिचित और निम्न के चरणों में बैठता हूं। इस प्रकार यथार्थवादी रचना धरातल पर धरातल के लिए होती है यह न तो वायवी होती है और न उसमें आकाश-कुसुम खिलाये जाते हैं। स्वर्णिम स्वप्न उसके लिए विदेशीय तत्त्व हैं। वह संसार की कलुष-कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालता। वह *स्वप्न-द्रष्टा नहीं होता वह तो वर्तमान की वास्तविकता का चित्रकार होता है।*

प्रकृतिवाद—प्रकृतिवाद यथार्थवाद की ही एक शाखा मानी गई है जिसमें साहित्यकार की दृष्टि अधिक संकुचित और संकीर्ण हो जाती है जहां पहुंचकर वह केवल समाज के घिनौने और अभव्य स्वरूप को ही देखता है, उस समाज का चित्र प्रस्तुत करता है जहां केवल गन्दगी तथा जहर है जिसमें पलने वाला मनुष्य वासनाओं का पुंज है बर्बर आदिम वृत्तियों से अनुशासित है व्यभिचार, हत्या बलात्कार आदि नाटकीय कृत्यों में लीन रहता है। प्रकृतिवादी कृतियां युग तथा समाज के उस सीमित परिवेश का चित्रण करती हैं जिसने मनुष्य को इतना अनैतिक पतित और उच्छृंखल बना दिया है। वह केवल सतही वास्तविकता का चित्रण करता है। इसकी दृष्टि में केवल शोषण अनाचार,पतन और पराजय की कालिमा ही मुखर है उसकी कला कैमरे की कला है जिसमें चुनाव नहीं होता बल्कि वह तो ढूंढ ढूंढ कर गन्दी और घिनौनी चीजों का विशेष रूप से रुचि से लेकर ब्यौरेवार वर्णन करता है रीति रिवाजों और सम सामयिक घटनाओं नगण्य व्यक्तियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख करता है अपने चित्रों को अधिक वस्तुनिष्ठ बनाने के लिए तरह-तरह के शिल्प प्रयोग करता है— स्थानीय बोली गन्दी गालियां पारिभाषिक शब्दावली डायरी पत्र समाचार-पत्रों के कटिंग आदि का प्रयोग करता है। ऐसा साहित्य बाजारू साहित्य बन जाता है क्योंकि उसका रचयिता पूर्ण सत्य का नहीं देखता। फ्लाबेयर और जोला आदि इन्हीं सीमाओं में बन्दी रहे। उनके पास ऐसे नहीं था परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए, उनसे प्रभावित होते हुए स्वतः भी परिस्थितियों को प्रभावित कर नव युग का निर्माण कर पाते प्रतिगामी तत्त्वों को नष्ट कर प्रगतिशील तथा नूतन सृजन में सहायक तत्त्वों की प्रतिष्ठा कर पाते। इन्होंने समाज के पीछे चलने वाला अधिक गहरे संघर्ष का साक्षात्कार नहीं किया। वे केवल शोषण अनाचार और पतन का ही वर्णन कर सके इस समर्पेरत और आगे आने के लिए आतुर शक्तियों का स्वरूप नहीं पहचान पाये जो

: ३३ :

यथार्थवाद और आदर्शवाद

१ भूमिका

२ यथार्थवाद

३. प्रकृतिवाद

४ अन्तश्चेतनावादी यथार्थवाद

५. समाजवादी यथार्थवाद

६ आदर्शवाद

७. यथार्थ और रोमाम

८. सच्चा यथार्थवाद

९ उपसहार

कलाकार जीवन को दो प्रकार से चित्रित करता है—एक मे वह ससार को जैसा देखता है, वैसा ही चित्रित करता है, दूसरे मे वह अपने चतुर्दिक जगत् को मनोनुकूल बनाने के लिए अपनी कल्पना, अपने आदर्शों और अपनी धारणाओ का प्रयोग करते हुए उसे उनके आधार पर अकित करता है। प्रथम प्रकार को यथार्थवाद तथा दूसरे को आदर्शवाद कहते हैं।

यथार्थवाद—यथार्थवादी आन्दोलन की परम्परा यूरोप मे उन्नीसवी शताब्दी मे आरम्भ हुई जब कि चार्ल्स डिकिन्स, बालज़क, फलाबेयर, ज़ोला आदि ने अपने समय के समाज, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था अर्थात् समूचे परिवेश को बडी ईमानदारी तथा सफाई के साथ मूर्त किया। उनकी कृतिया उनके युग की समाज-व्यवस्था पर कठोर प्रश्न-चिह्न बन गई। बालज़क ने शोषण तथा अनैतिकता को प्रश्रय देने वाली पू जीवादी समाज-व्यवस्था मे घुट-घुट कर जीने वालो को हमारे समक्ष मूर्तिमान कर दिया जिससे उसकी कृतियों में उसके युग का सच्चा और साफ चित्र झलकने लगा, युग-सत्य अपने विराट और व्यापक रूप मे सम्पूर्ण सजीवता के साथ मूर्तिमान हो उठा—फ्रास के गावो मे चलने वाला वर्ग-सघर्ष अपनी सारी भयानकता और कटुता को लिए उसके उपन्यासो मे मूर्त हो उठा। बालज़क आदि कलाकारो की इस वस्तु-मुखी दृष्टि की इस अद्भुत तटस्थता को देखकर ही यथार्थवाद का मूल लक्षण यह वस्तुमुखी तटस्थता माना जाने लगा। जार्ज ल्यूकस ने कहा—

"It is a condition sin qua non of great realism that the author must honestly record without fear or favour everything he sees around him"

फ्रायड ने लिखा था 'मानव चिन्तन की तमाम प्रक्रियाओं या मानव मन के तमाम परिवर्तनों की कुंजी मातृ रति ग्रन्थि या मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के शस्त्रागार में ग्रन्थियों की दुर्जेय सेना में से किसी ग्रन्थ में खोजी जा सकती है इस तरह के निरे आत्मगत कारणों से इन प्रक्रियाओं और परिवर्तनों की व्याख्या नहीं की जा सकती।" उनकी मान्यता है जो उचित भी है कि ये अन्तश्चेतनावादी व्यक्ति को उसकी समग्रता में एक सामाजिक प्राणी के रूप में नहीं देख पाये।

समाजवादी यथार्थवाद—समाजवादी—यथार्थवाद बीसवीं शताब्दी की वस्तु है। बाल्जक फ्लाबेयर और जोला द्वारा चलाये गए यथार्थवादी आन्दोलन के विकास-क्रम में ही इसका अभ्युदय हुआ। यह बाल्जक की तरह युग की आलोचना ही नहीं करता आलोचना के साथ-साथ नये और क्रान्तिकारी सृजन की महत्त्वपूर्ण 'भूमिका' भी प्रस्तुत करता है। सोवियत लेखकों की १९३४ ई. में हुई पहली कांग्रेस में गोर्की ने सर्वप्रथम समाजवादी—यथार्थवाद का नाम लिया और उसका उद्देश्य बताते हुए कहा—

"*Socialist realism proclaims that life is action, creativity* whose aim is the unfettered development of man's most valuable individual abilities for his victory over the forces of nature, for his health and longevity for the great happiness of living on earth

समाजवादी यथार्थवाद का विश्वास है कि शोषण तथा अनाचार पर आधारित समाज-व्यवस्था टिकने वाली नहीं है नई और प्रगतिशील शक्तियाँ उसे समाप्त करके छोड़ेंगी। इसीलिये उसका स्वर पराजय और निराशा का न होकर बहुल-आशावाद का स्वर है वह वस्तु-यथार्थ को मूर्त नहीं करता अपितु क्रान्तिकारी विकास की भूमिका में बदलते हुए यथार्थ को इस प्रकार मूर्त करता है कि प्रगतिशील शक्ति अपनी सारी क्षमताओं के साथ हमारे सामने आ जाय। समाजवादी यथार्थ का लेखक समाज में होने वाले शोषण पतन ह्रास आदि का ही चित्रण नहीं करता वह समाज में उभरने वाले नये आर्थिक—सामाजिक रूप को नई वर्ग-शक्तियों को देखता और चित्रित करता है।

उसके चरित्र जीवित विरोधी शक्तियों के साथ जूझने वाले और पराजय में भी अदम्य उत्साह दिखाने वाले चरित्र होते हैं जो दुनिया को बदलने के लिए संघर्ष करते हैं। पर उदात्त आदर्श भूमिकाएं निबाहते हुए भी वे कोरी कल्पना की उपज नहीं होते उस जीवित जनसमुदाय के बीच निवास करने वाले ही होते हैं जिसका लेखक स्वयं एक अंग है। वे positive characters होते हैं। सारांश यह है कि समाजवादी-यथार्थवाद जीवन के 'पाजिटिव' पक्ष पर अधिक बल देता है समाज में व्याप्त वर्ग-संघर्ष तथा वर्गीय चलनशीलता का गहरा और सूक्ष्म विश्लेषण तथा उद्घाटन प्रस्तुत

१ चन्द्रबलभ 'फ्रायड और लोकतीय' पृ ।

समस्त जर्जर प्राचीन तथा प्रतिगामी शक्तियो को मिटा कर नये सृजन की भूमिका तैयार करती हैं। यही कारण है कि ये लेखक अपनी वस्तुमुखी दृष्टि, ईमानदारी, तटस्थता, आदि के लिए प्रशसा के पात्र हैं। पर उनकी दृष्टि एकागी रही, इन्होने यथार्थ को अपूर्ण रूप मे ग्रहण किया, अत इनकी उपलब्धिया भी अपर्याप्त कही जायेगी।

अन्तश्चेतनावादी या मनोविश्लेषणवादी यथार्थवाद—दो महायुद्धो के बीच का यूरोपीय समाज युद्ध-जर्जर, ह्रासशील, कु ठित तथा मानसिक रूप से अस्वस्थ समाज था। ऐसे ही निराशापूर्ण, आस्थाविहीन, कु ठाग्रस्त यूरोपीय समाज को देख अन्तश्चेतनवादियो ने मानव मात्र को इन अस्वास्थ्यकर प्रवृत्तियो का पु ज मान लिया। उनके अनुसार वाह्य जगत् अन्तर्जगत् की प्रतिछाया मात्र है। वे वाह्य जगत् तथा चेतन मन् के सत्य को यथार्थ नही मानते। इसीलिए उन्होने बाह्य जगत् का यथार्थ चित्रण करने वाले साहित्य को यथार्थवादी न मानकर अयथार्थवादी कहा। उनकी दृष्टि में सच्चा यथार्थ तो वह है जो अचेतन की भूमि पर अपनी यथातथ्य अभिव्यक्ति पाता है। उनके लिए अचेतन का यथार्थ ही यथार्थ है, शेष सब अयथार्थ है। इसीलिए उन्होंने अपने युग के यूरोप को देख अपने साहित्य मे अचेतन की कु ठाओ और भाति-भाति की वर्जनाओ का चित्रण किया, न्यूरैटिक पात्र प्रदान किये, और एक अस्वस्थ समाज का चित्रण किया। यही सब देखकर अग्रेजी आलोचक ने कहा—

"They promised to give us a new world, instead they gave us a hospital"

और हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक नन्द दुलारे वाजपेयी ने उनकी इस ह्रासशील भूमिका को प्रत्यक्ष करते हुए लिखा, "यह पराजय का स्वर है, जिसमे हमारे आसू मनुष्य के लिये नही मागे जाते, अपितु उसके किसी कुत्सित और विकृत टुकडे के लिये मागे जाते हैं।" वस्तुत इन कलाकारो ने जिसको यथार्थ कहा, वह मानव-व्यक्तित्व का घोर अपमान था, उसकी सम्पूर्ण सक्रिय क्षमताओ की निर्मम अवमानना थी, उसमे अनास्था को व्यक्त करना था। इसीलिये अधिकाश स्वस्थ एव तटस्थ-दृष्टि आलोचको ने उसकी निन्दा की। व्यक्ति के जिस रूप को इन्होने यथार्थ मानकर चित्रित किया, हो सकता है वह युद्ध-जर्जर यूरोप के कुछ भागो और व्यक्तियो मे उस समय रहा हो, पर यह कहना कि समस्त यूरोप मे ऐसी अनास्था, असतोष, विकृति और कुण्ठाए थी, गलत होगा। वह व्यक्तिमात्र का तो यथार्थ हो ही नही सकता। क्या आज के मानव को देखकर, जो आस्था एव विश्वास की भूमि पर, लक्ष-लक्ष वलिदान करता हुआ अपने उदात्त लक्ष्य की ओर अभियान कर रहा है, हम यह कह सकते हैं कि वह केवल विकृतियो का शिकार है, कु ठाओ और अतृप्तियो का पु ज है? स्पष्ट है कि उत्तर नकारात्मक होगा। मनोवैज्ञानिक तथ्यो के विचित्र-विचित्र सकलनो से हम समस्त मानवीय क्रिया-कलाप या मानवीय विचारो को नही समझ सकते। इसीलिए राल्फ

होती है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतीन्द्रिय जगत् के स्वप्न न होकर व्यवहार जगत् के नैतिक समाधान होते हैं। ऐसे आदर्शों से हमें प्रेरणा मिलती है हम ऊँचा उठना चाहते हैं। पर शर्त यही है कि यह आदर्शवाद यथार्थ की नींव पर खड़ा हो आदर्शों को उपदेश के रूप में हम पर थोपा न जाय।

यथार्थ और रोमांस—यथार्थवादी की दृष्टि वस्तुवादी होती है वह वस्तु-जगत् का तटस्थ वर्णन करता है जबकि रोमानी लेखक वस्तु पर अपने भावों और कल्पना का आरोप करता है उसको अपने स्वप्निल रंगों से रंगता है रोमानी और आदर्शवादी में भी अन्तर है। यद्यपि दोनों वस्तु पर भाव का आरोप करते हैं पर जहाँ रोमानी की दृष्टि में कल्पना विलास और स्वप्नमयता का प्राधान्य होता है वहाँ आदर्शवादी में विवेक संयम और व्यावहारिकता का। रोमानी कल्पना विलासी और स्वप्नद्रष्टा होता है जबकि यथार्थवादी वस्तुवादी दृष्टि अपनाता है।

प्रायः रोमान्सवादी कल्पना और भावों के रंगों को अधिक महत्व देकर जीवन की वास्तविकताओं के प्रति उदासीन हो जाता है। तब उसके साहित्य की जड़ें पृथ्वी में न होकर आकाश-बेल के समान अधर में होती हैं और उसकी शक्ति का क्षय होता है। पर ऐसे रोमान्सवादी लेखक भी हुए हैं जिनकी दृष्टि रोमान्सवादी होते हुए भी यथार्थ को नहीं त्यागती। टैगोर रोमान्सवादी थे किन्तु उनकी कला जीवन के विराट व्यापक सत्य को अपने प्राणों में समोकर ऊँची उड़ान भरती है। शेक्सपियर भी रोमान्सवादी थे क्योंकि उन्होंने सत्य के आधार पर कल्पना के महान प्रासाद निर्मित किए, उनके काव्य ने मनुष्य के अनेकरूपी जीवन को उसके रंग बिरंगे ताने-बानों को अद्भुत रूप और आकार दिया। उनकी कल्पना ने वामन डगों से जीवन के समस्त विराट और व्यापक रूप को नाप लिया। उन्होंने जीवन की पीड़ा को और उसके हास विलास को गहरी मर्मवेदना के साथ चित्रित किया। ऐसी रोमान्सवादी दृष्टि कभी भी त्याज्य नहीं।

सच्चा यथार्थवाद—राल्फ फाक्स का आग्रह इस बात पर है कि यथार्थ का चित्रण व्यक्ति के उस दुहरे संघर्ष की भूमि पर किया जाना चाहिए जो एक साथ ही उसकी अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी दोनों भूमिकाओं को अपने में समेट ले। सच्चा यथार्थवादी बाह्य जगत् का यथार्थ चित्र अंकित करने के साथ-साथ मानव के अन्तर्जगत् का भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन करता है क्योंकि उसके लिए दोनों ही सत्य हैं। बालज़ाक आदि ने तत्कालीन पतनोन्मुख वर्तमान का ही तटस्थ एवं निर्मम चित्रण किया था परन्तु उसको भी यथार्थ लक्षणी ही कहा जायगा उसे भी सच्चा यथार्थ नहीं कहा जा सकता। सच्चे यथार्थ में तो किसी युग के वर्तमान में अतीत की ह्रासमूलक शक्तियों के साथ भविष्य की नई रचना के बीज भी होते हैं दुर्दम्य जिजीविषा के बीच वह उन संघर्ष करने वाले वास्तविक चरित्रों का निर्माण करता है। वह अपने चित्रण पर गर्व करता है उसे अपने आदर्शों पर भी अभिमान है क्योंकि वे आदर्श उसके वास्तविक अनुभवों से ही उठे हैं जिनकी प्राप्ति के संघर्ष में वह भाँति भाँति के [illegible]

करता है, भविष्य के लिये एक क्रान्तिकारी, रचनात्मक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न तर्कसम्मत विज़न (Vision) का मूर्तिकरण करता है। वह केवल सतह पर उतराती वास्तविकता का अंकन नहीं करता, समाज की गन्दगी, भ्रष्टाचार, शोषण और अराजकता का चित्र समुपस्थित नही करता, इस वास्तविकता से सघर्ष करती हुई नई प्रगतिशील शक्ति को भी उतनी ही तीव्रता से मूर्त करता है। उसका सम्बन्ध आस्था, विश्वास तथा सृजन की नई भूमिकाओ से होता है।

यद्यपि बहुत सा समाजवादी-यथार्थवाद का साहित्य 'पार्टी लिटरेचर' के रूप मे मिलता है, उसमे राजनीतिक प्रचारवाद है पर वह सच्चा समाजवादी-यथार्थवाद नही कहा जा सकता। सतही प्रचारात्मकता अथवा निरी सोद्देश्यता का खण्डन तो एन्जेल्स से लेकर इलिया एहरन बुर्ग तक सभी ने किया है। 'लेखक के विचार जितना ही अधिक प्रच्छन्न रहे, कलाकृति के लिये यह उतना ही अच्छा है। यह न मालूम हो कि दृष्टिकोण का प्रचार किया जा रहा है। परिस्थितियो और खुद पात्रो के द्वारा वह प्रकृत रूप मे व्यक्त हो, यही सच्ची उद्देश्य-परकता है।' अत सच्चा समाजवादी यथार्थवाद सिद्धान्त-कथन और कोरे प्रचार के विरुद्ध है।

स्तालिन के युग मे रूस मे अनेक ऐसी रचनाए लिखी गई जिनके पात्र जीवित मनुष्य नही, सिद्धान्तो के पुतले हैं, मानव-सुलभ दुर्बलताओ से रहित है, 'महामानव' के अत्यन्त निकट हैं, पर वे कृतिया सच्चे अर्थ मे समाजवादी-यथार्थवाद का प्रतिनिधित्व नही करती, वे तो लेखको की अधकचरी, अतिवादी दृष्टि का ही परिणाम कही जाएगी। समाजवादी यथार्थ दृष्टि का vision समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की काल्पनिक इच्छा-पूर्ति नही है, उसके बीज वस्तुगत यथार्थ के भीतर गहराई से जमे हैं। यही उसकी महानता है।

आदर्शवाद—आदर्शवादी प्राय स्वप्नदृष्टा होता है। वह ससार मे ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है। यदि वर्तमान दु खमय भी हो, तो भी वह उज्जवल भविष्य की सुन्दर झाकी प्रस्तुत करता है। वह आशावादी होता है और उसे मनुष्य की सदाशयता पर अगाध आस्था होती है। वह 'हृदय परिवर्तन' (change of heart) के सिद्धान्त पर विश्वास रखता हुआ मानव का चित्र उरेहता है। डाक्टर नगेन्द्र ने आदर्शवाद के दो भेद किये हैं—(१) कल्पना-विलासी आदर्शवाद और (२) व्यावहारिक आदर्शवाद। प्रथम में लेखक मन-मोदकों से भूख बुझाना चाहता है, कल्पना की रम्य क्रीडाओ मे रत रहता है 'El Dorada' या आदर्श राज्य के चित्र खीचता रहता है। ऐसे ही लेखको के विषय मे व्यग्य करते हुए कहा गया था।

"They are riding on horse-back in vacuum"

दूसरे प्रकार का आदर्शवादी व्यावहारिक होता है, वह वस्तु पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर उसे अपने आदर्श के अनुरूप गढता तो है, पर उसमे कल्पनामयता, स्वप्नो की रगीनी की बजाय विवेक, सयम और व्यावहारिकता अधिक

साहित्य गड़बड़ाकर टूट जायगा। अतः कल्पना का प्रयोग वस्तुगत यथार्थ को और भी सटीक तथा व्यापक बनाने के लिए होना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य वही उत्कृष्ट होगा जो यथार्थ और आदर्श दोनों को अपना कर चले। उसका भवन यथार्थ की नींव पर खड़ा हो तो उस भवन के शिखर आदर्श आकाश की विस्तृत नीलिमा विस्तार और उन्मुक्तता में सिर उठाये रहें। उसमें ऐसा आदर्श हो जो प्रगति की प्रेरणा दे मानव की सहायता में आस्था जगाये। कोरे स्वप्न देखने वाला आदर्शवाद हमें भ्रम में डाल सकता है हमारी शक्ति को क्षीण कर हमें दीर्घसूत्री और मनमोदकों से भूख मिटाने वाला बना सकता है। अतः वह सर्वथा अग्राह्य है। सारांश यह है कि साहित्य में या तो आदर्श और यथार्थ का (पुराने अर्थों में) समन्वय हो अथवा इनकी परिभाषाएं बदल कर (समाजवादी यथार्थवाद के समान) उन्हें नया अर्थ दिया जाय। जीवन में वह यथार्थ जिसके पास आदर्श का स्पंदन नहीं केवल शव है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं प्रेतमात्र है कला में इन दोनों की समन्वयात्मक समता रहती है। तुर्गनेव चेखव आदि रूसी कलाकारों ने फ्रांसीसी प्रकृतिवादियों के दृष्टिकोण को अमान्य समझा और यथार्थ के साथ उच्चतर उद्देश्यों के सम्मिश्रण पर बल दिया। चेखव ने लिखा है कि यथार्थवाद केवल बाह्य जगत् का अनुकरण नहीं करता वरन् वह उच्चतर उद्देश्यों से प्रेरित होता है, यद्यपि कलाकार आदर्श के प्रति अपने आकर्षण को खुलकर प्रकट नहीं होने देता। चेखव के नाटकों वर्तमान शताब्दी के आयरलैंड के नाटककारों सिंग ग्रासोकासी आदि की कृतियों में यथार्थ और कल्पना का अत्यंत उत्कृष्ट मिश्रण हुआ है।

उठाता है। उसके लिए आज का आदर्श ही कला का यथार्थ होता है, तथा कल के आदर्श ही भावी प्रगति का निरूपण करते हैं। उसके इन सारे कार्यों के मूल मे एक वैज्ञानिक दृष्टि अन्तर्निहित होती है अत उनका सम्बन्ध न तो कोरी भावुकता से जोडा जा सकता है, न मात्र कल्पना अथवा स्वप्न से। यह Vision ही उसमे उस ऐतिहासिक आशावाद को जगाता है जो कठिन परिस्थितियो मे भी उसे आत्मसमर्पण नही करने देता। स्पष्ट है कि यह यथार्थवाद उस आदर्शवाद के अत्यन्त निकट है जो केवल कल्पना या मनमोदको पर आधारित नही है। अत सच्चा यथार्थवाद फोटोग्राफिक चित्रण मात्र नही। कलाकार अनुकरणकर्ता मात्र नही होता, वह निर्माता होता है, और निर्माण मे निर्माता का मौलिक कृतित्व, उसकी रचना-शक्ति, व्यक्तिगत रुचि आदि भी काम करती हैं। अत यथार्थवाद जगत् या जीवन की हू-ब-हू नकल नही, जीवन का नूतन चित्र है। इसलिए कहा गया है कि साहित्य का यथार्थवाद न तो इतिहास है न कैमरा, न तो अजायबघर है कि ससार की सारी चीजो को कागज के पन्नो पर एकत्र कर दे और न उसने मानव की जुगुप्सित तथा विलासी प्रवृतियो को सतुष्ट करने का ही बीज उठाया है। सच्चे यथार्थवाद का एकमात्र लक्ष्य तो वस्तुजगत् की स्थितियो को समक्ष रखते हुए सुन्दर से सुन्दरतर स्थितियो की ओर समाज को उन्मुख करना है। वह, जैसा कि प्रेमचद ने कहा है, हमे निराशावादी नही बनाता, हममे आस्था एव उज्ज्वल भविष्य के स्वर जगाता है। जोला तक ने जिसकी रचनाओ मे यथार्थवाद अपनी चरम सीमा पर पहुच गया था कहा है, "कला जीवन का एक कोण है जो मानस प्रवृतियो के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

साहित्य वस्तुगत यथार्थ (objective reality) की यथातथ्य अभिव्यक्ति अथवा सफल अनुकृति न होकर एक विशिष्ट सृजनात्मक प्रक्रिया (creative process) का प्रतिफल होता है। इस प्रक्रिया मे कलाकार रूपी कुम्हार साहित्य के स्थूल उपादान (raw material) रूपी मिट्टी को कल्पना की चाक पर चढाकर अपनी विचार रूपी अगुलियों द्वारा कुछ इस प्रकार की सवेगात्मक एव अनुभूतिजन्य छाप छोडता है कि स्थूल उपादान असुन्दर से सुन्दर तथा क्षर से अक्षर बन जाता है। रूप के साथ-साथ उसमे नानाविध गुणात्मक परिवर्तन भी हो जाते हैं। इसके लिए वह जिस कल्पना का प्रयोग करता है, वह वस्तुत वस्तुगत यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता मे देखने के लिए प्रयुक्त होती है। वह वास्तविकता को एक ओर गहरायी से देखने की अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है और दूसरी ओर उसको आकाश का विस्तार देती है। प्रत्येक कल्पना का आधार यथार्थ की धरती होता है, और जब तक उसके चरण वस्तुगत यथार्थ की धरती पर टिके रहते हैं, वह मर्यादित, स्पष्ट और सतुलित होती है। जैसे पतग आकाश मे उडते हुए भी पृथ्वी से सम्बद्ध रहती है, उससे सम्बन्ध टूटते ही वह हवा मे चक्कर खाने लगती है और अन्त मे छिन्न-भिन्न हो धरती पर गिर पडती है, उसी प्रकार साहित्य की कल्पना यदि यथार्थ की पृथ्वी मे अपना सम्बन्ध तोड लेगी, तो वह

चतुर्थ वर्ग

भाषा-विज्ञान एवं हिन्दी भाषा

इस प्रकार हम भाषा विज्ञान के इतिहास को प्राचीन मध्य तथा आधुनिक तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं।

भारतवर्ष में भाषा विज्ञान का वैसा कार्य तो पहिले नहीं मिलता जैसा कि १८वीं शताब्दी के उपरांत यूरोप में हुआ किंतु भाषा विज्ञान संबंधी बहुत सी समस्याएं भारतवर्ष में प्राचीन काल में भी उठाई गई थी और उनके उचित समाधान भी प्रस्तुत किए गए थे। भारत के उस प्राचीन कार्य को देखकर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि हमारे यहां के प्राचीन ग्रन्थों में भाषा विज्ञान के समस्त अंगों के मूल रूप विद्यमान हैं। भाषा विज्ञान सम्बन्धी भारतीय खोज को दो भागो म विभक्त किया गया है—१ प्राचीन युग २ अर्वाचीन युग।

१ प्राचीन युग—भारतवर्ष के प्राचीन युग में भाषा विज्ञान संबंधी सर्वप्रथम कार्य शाकल्य मुनि द्वारा प्रचलित की हुई पदपाठ की पद्धति में मिलता है। शाकल्य मुनि ने पदपाठ शैली द्वारा वेदमंत्रों की ध्वनियों अथवा उनके स्वरोंका विश्लेषण करके उनके समझने की एक सुबोध प्रणाली बनाई थी। उसके द्वारा शब्दों की संधियाँ समास तथा उदात्त-अनुदात्त आदि स्वरो का ज्ञान ठीक प्रकार से हो जाता था।

इस पद-पाठ शैली के साथ २ प्राचीन काल में प्रातिशाख्य लिखे गए जो वैदिक व्याकरण थे और जिनम शब्दों की व्युत्पत्ति करते हुए उनके अर्थ को भी सम झाया गया था। वैदिक सस्कृत को समझने के लिए ये ग्रन्थ अधिक उपादेय थे और इन्हीं के आधार पर आगामी व्याकरणों की रचना हुई। इन ग्रन्थों मे सर्वप्रथम रूप और अर्थ के साथ-साथ वैदिक ध्वनियों पर भी सर्वांगपूर्ण कार्य हुआ था।

प्रातिशाख्यों के उपरात यास्क मुनि ने निरुक्त नामक ग्रन्थ लिखा। यास्क का समय ८ -७ ई पू माना जाता है। यास्क के समय तक कुछ शब्द-कोष बन चुके थे जो निघटु कहलाते थ और जिनका उपयोग यास्क ने अपने निरुक्त में सबसे अधिक किया है। निरुक्तकार न निघटु के शब्दों को लेकर वैदिक संहिताओं से उद्धरण देते हुए शब्दो क अर्थ स्थापित करने का प्रयत्न किया। अतः अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से निरुक्त ससार के सर्वप्रथम प्रयास है।

यास्क के उपरात लौकिक सस्कृत के व्याकरणों का समय आता है। यहाँ व्याकरण के कई सम्प्रदाय प्रचलित थ। ऐन्द्र-सम्प्रदाय पाणिनि से भी पहिले का माना जाता है और कश्यप गार्ग्य आदि कई वैय्याकरणों का उल्लेख मिलता है किंतु इन सभी वैय्याकरणोंमे से पाणिनि अधिक प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने अष्टाध्यायी नामक व्याकरण ग्र थ की रचना की और जिसमे उन्होंने आठ अध्यायों के अतर्गत लौकिक और वैदिक संस्कृत को समझाने के लिए सूत्र लिखे। पाणिनि ने माहेश्वर सूत्रों में ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार वर्गीकरण किया है जो ध्वनि विज्ञान की दृष्टि से अत्यंत म त्व है। इतना ही नहीं पाणिनि ने प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति किसी न किसी धातु से सिद्ध की है। यूरोप मे १९वीं शताब्दी के अतर्गत शब्दों की धातु खोजने का प्रयत्न हुआ जब

: ३४ :

भाषा-विज्ञान का इतिहास

१ प्राचीन भारत में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य
  (क) पद-पाठ, प्रातिशाख्य, निरुक्त, निघण्टु, अष्टाध्यायी, वार्तिक, महाभाष्य, टीका-ग्रंथ व्याकरण-ग्रंथ
२ प्राचीन यूनान में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य
  (क) भाषा की उत्पत्ति, शब्दों की व्युत्पत्ति एव शब्दों के वर्गीकरण से सम्बद्ध कार्य
  (ख) प्लेटो, थ्रैक्स आदि का कार्य
३ रोम में हुआ भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य
४ अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में हुआ कार्य
५ उन्नीसवीं सदी में हुआ भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य
६ बीसवीं शताब्दी में हुआ कार्य

भारतवर्ष विद्या तथा सभ्यता का प्राचीन केन्द्र रहा है। भाषा विज्ञान की नीव भी यही पडी। प्राचीन काल मे विद्याध्ययन धार्मिक कारणो से होता था। वेदो मे बहुत प्राचीन काल में ही बहुत कुछ पवित्र साहित्य एकत्र हो चुका था। समय बीतने पर जब वैदिक ऋचाओ की भाषा को लोग विस्मरण करने लगे तो धर्म के कट्टर पक्ष-पातियो ने इस प्रवृत्ति को रोकने का प्रयत्न किया और वैदिक भाषा को बोधगम्य बनाने तथा शुद्ध रखने के लिए कुछ व्याकरण सम्बन्धी नियम बनाये, जिनसे भाषा विज्ञान की नीव पडी और आगे चलकर व्याकरण का पूर्ण विकास हुआ।

उधर यूनान भी प्राचीन सभ्यता का केन्द्र रहा है। वहा प्लेटो, अरस्तू आदि अनेक विद्वानो ने भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन किया। इनकी देखा-देखी रोम वालो ने भी लैटिन भाषा का विश्लेषण किया। इसी समय यूरोप में ईसाई धर्म का प्रचार होने से इस अध्ययन की तरग इतनी बढी कि अनेक योरोपीय विद्वान केवल पाश्चात्य भाषाओ के अध्ययन से ही सतुष्ट न रह सके, उन्होने प्राच्य भाषाओ की ओर भी ध्यान दिया। इस प्रकार सस्कृत का अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया जिससे आगे चलकर भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की नीव पडी।

उधर कुछ वर्षो से भारत की देशी भाषाओ का भी अध्ययन होने लगा और पाश्चात्य विद्वानो के अतिरिक्त प्राच्य विद्वानो ने भी केवल अग्रेजी भाषा मे ही नही अपितु हिन्दी मे भी अनेक उच्चकोटि के भाषा वैज्ञानिक ग्रन्थो की रचना की।

ध्वनि विज्ञान रूप विज्ञान और अर्थ विज्ञान का सुन्दर विवेचन किया है। यद्यपि आज उसका यह विवेचन वैज्ञानिक नहीं दिखाई देता किन्तु भारत के इसी प्राचीन अध्ययन को बाद में चलकर मूल आधार बनाया गया।

मध्यकाल (४५ ई० पू से १७७५ ई प० तक)

यूनान में कार्य—भारत की भांति यूनान भी प्राचीन सभ्यता का केन्द्र रहा है। स्वर्ण युग मे यहां भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन भी होने लगा था। हीराक्लीत से डिमोक्रीटस पिथागोरस इत्यादि अनेक विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति शब्दों की व्युत्पत्ति और वर्णों तथा शब्दों के विभागों की ओर ध्यान दिया परन्तु वे सब ग्रिक के अतिरिक्त अन्य सब भाषाओं को घृणा की दृष्टि से देखते थे अत ग्रिक के अतिरिक्त अन्य भाषाओं का अध्ययन न हो सका।

बाद मे प्लेटो ने भाषा की व्याख्या की वर्णों को नाद और श्वास दो भागों में विभक्त किया। शब्दो का श्रेणी विभाग किया और उद्देश्य विधेय तथा कर्तृवाच्य कर्मवाच्य की कल्पना की। इस श्रेणी विभाग को अरस्तू ने पूराकर शब्दों को आठ श्रेणियों में विभाजित किया। अंग्रेजी के आठ श्रेणी विभाग इसी के लैटिन नाम हैं।

तत्पश्चात् और भी विद्वान हुए जिनमे एरिस्टकिस विशेष उल्लेखनीय है। इसके शिष्य थ्रैक्स ने अपने रोमन शिष्यो के लिए प्रथम व्याकरण अपनी भाषा में लिखा जिसमे अरस्तू के पथ का अनुसरण किया गया है।

ग्रीस से फिर सभ्यता का केन्द्र रोम में पहुंच गया और लैटिन और ग्रीक दोनों भाषाओं का अध्ययन होने लगा। इतना ही नहीं ईसाई धर्म के विस्तार के साथ २ यहूदी भाषा (हिब्रू) का भी अध्ययन हुआ किन्तु १८वी शताब्दी तक सारे यूरोप मे लैटिन का एकछत्र राज्य स्थापित हो गया। उस समय कुछ व्याकरण भी तैयार हुए किन्तु भाषा विज्ञान की नीव डालने वालो में रूसो का नाम सबसे पहिले लिया जाता है जिसका मत था कि आदिम मनुष्यो ने भाषा एक स्थान पर बैठ कर समझौते से बनाई थी। इसके अनन्तर कौम डी लक ने यह विचार रखा कि आदिम मनुष्यो तथा स्त्रियो के परस्पर रहने तथा भावातिरेक म निकली हुई ध्वनियो के आधार पर भाषा स्वाभाविक रूप से बन गई थी किन्तु इस विषय की सबसे पहिली खोज हरडर ने की और इसने बताया कि मनुष्य ने भाषा जान बूझ कर नहीं बनाई, वह उसकी प्रकृति से स्वत निकली थी। इसी के समकालीन वेमिस ने लैटिन ग्रीक तथा कई यूरोपीय भाषाओ की तुलनात्मक परीक्षा की। इस प्रकार यूरोप म भाषा विज्ञान की नीव स्थापित करने वालो मे हरडर और वेमिस का नाम आदर के साथ लिया जाता है। पी एस पल्लस ने रूस की महारानी की आज्ञा पर एक कोष बनाया था किन्तु यूरोप म सबसे अधिक भाषा विज्ञान की हलचल १८ वी शताब्दी के अन्त मे प्रारम्भ हुई जबकि सर विलियम जोन्स ने भारत मे रह कर संस्कृत का अध्ययन किया और यह

कि भारतवर्ष मे ईसा से पूर्व पाणिनि यह कार्य कर चुके थे। इस तरह पाणिनि ने ध्वनि-विज्ञान अर्थ-विज्ञान और तुलनात्मक व्याकरण के कार्य को बहुत आगे बढाया था।

पाणिनि के उपरात और कई वैय्याकरण हुए किन्तु उन सबमे कात्यायन का नाम अधिक प्रसिद्ध है। इन्होने पाणिनि के कुछ सूत्रो की आलोचना करते हुए वार्तिक लिखे हैं। पाणिनी के १५ सौ सूत्रो मे दोष दिखाकर कात्यायन ने कुछ नियम निर्धारित किए हैं। विद्वानो का मत है कि पाणिनी के उपरात कात्यायन के समय तक भाषाओ मे जो परिवर्तन हुए थे उनका ही उल्लेख कात्यायन ने किया है।

कात्यायन के बाद व्याकरण के क्षेत्र मे महाभाष्यकार पतजलि का नाम प्रसिद्ध है। इन्होने अपने महाभाष्य मे कात्यायन के द्वारा की हुई पाणिनी की आलोचना का खडन किया है और इन्होने कात्यायन मे दोष दिखलाए है। यदि देखा जाय तो महा-भाष्य का महत्त्व सस्कृत भाषा के नियम निर्धारण मे इतना नही है जितना भाषा के दार्शनिक विवेचन मे ध्वनि क्या हैं? वाक्य के कौन २ से भाग होते हैं? ध्वनि-समूह (शब्द) और अर्थ मे क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयो पर पतजली ने अपनी सरल भाषा मे बडी ही सुन्दर और सजीव विवेचना की है। सस्कृत साहित्य मे इनकी शैली अद्वितीय मानी जाती है और ध्वनि विज्ञान, रूप विज्ञान तथा अर्थ विज्ञान की दृष्टि से इनका कार्य महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इन मुनित्रय के अतिरिक्त और भी वैय्याकरण हुए हैं जिनमे से भर्तृहरि, पारभाषेन्दु, शेखर आदि का नाम प्रसिद्ध है इसके बाद टीकाकारो का युग आता है। इन टीकाकारो मे से वामन, जयादित्य, जिनेन्द्र, बुद्धि, हरदत्त आदि प्रसिद्ध हैं किन्तु पाणिनी की अष्टाध्यायी की टीकाओ मे से भट्टोजि दीक्षित की 'सिद्धात कौमुदी' अधिक प्रसिद्ध है। इन टीकाओ के द्वारा व्याकरण ग्रन्थो के समझने मे अधिक सहायता मिली है।

सस्कृत व्याकरण के बाद भारत मे प्राकृत व्याकरण बने। कहा जाता है कि वररुचि ने सबसे पहिले 'प्राकृत प्रकाश' नाम का व्याकरण ग्रन्थ लिखा। ये वररुचि कात्यायन भी कहलाते हैं। इनके ग्रन्थ मे महाराष्ट्रीय, शौरसेनी, पैशाची, मागधी आदि प्राकृत भाषाओ का तुलनात्मक विवेचन हुआ। वररुचि के अतिरिक्त हेमचद्र और मार्कण्डेय के ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। हेमचद्र ने शब्दानुशासन लिखा था जिसमे प्राकृत भाषाओ के साथ २ अपभ्र श भाषाओ का भी उल्लेख किया गया है और मार्कण्डेय ने प्राकृत सर्वस्व नामक ग्रन्थ लिखा था जिसमे तीन वर्ग स्थापित किए थे। १ भाषा २ विभाषा ३ अपभ्र श। पहले वर्ग मे महाराष्ट्रीय शौरसैनी प्राच्या अवन्ति और मागधी का विवेचन किया गया है, दूसरे वर्ग मे शाकारी, चाडाली, शाबरी, आभीलिका और धक्की का। तीसरे वर्ग मे नागर, व्राचड और उपनागर भाषाओ का उल्लेख किया गया है। अत में पैशाची भाषा का भी उल्लेख मिलता है। कात्यायन का लिखा हुआ एक पाली भाषा का व्याकरण भी मिला है। इन सभी ग्रन्थो मे भारतीय विद्वानो ने

(४) हम्बोल्ट (१७६७-१८३५)—(a) सामान्य भाषा विज्ञान पर सर्व प्रथम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। भाषा-विज्ञान की आलोचना में ऐतिहासिक प्रणाली पर जोर दिया।

(b) भाषा की कविभाषा पर इन्होंने काम किया। शब्दों के धातुमूलक तत्व को स्वीकार किया।

(c) भाषा की विवेचना के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े सारगर्भित हैं।

(d) इस बात पर बल दिया कि भाषा प्रवाह स्वरूप है। (e) भाषाओं के श्लिष्ट तथा 'अश्लिष्ट वर्ग किए।

ग्रिम के समकालीन रैप ने भाषा के शरीर (ध्वनि) पर कई ग्रन्थ प्रकाशित किए। उसने ध्वनि तथा लेख का परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया। ब्रस्फोर्ड ने भाषा की परिवर्तनशीलता पर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया।

श्लाइकर (१८२१ ६८)—(a) लिथुएनी स्वी आदि कुछ भाषाओं का महत्त्वपूर्ण विवेचन कर भाषा-विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को निर्धारित किया।

(b) भाषाओं का वर्गीकरण अयोगात्मक प्रश्लिष्ट योगात्मक और श्लिष्ट योगात्मक निर्धारित किया।

(c) आदिम आर्यभाषा का पुनर्निमाण किया।

इसी काल में भिन्न २ भाषाओं पर अलग २ ग्रन्थ निकले। इस समय तक भाषाविज्ञानी भिन्न २ भाषाओं की छानबीन कर मूलतत्त्वों का निर्धारण ही कर रहे थे। जनता के सामने इन तत्त्वों को को उपस्थित करने का श्रम मैक्समूलर को है। इन्होंने १८६१ में भाषाविज्ञान पर व्याख्यान दिए और वे छपे भी।

मैक्समूलर (१८२३ ११)—(a) भाषा विज्ञान को विज्ञान सिद्ध किया।

(b) तुलनात्मक व्याकरण से भाषा-विज्ञान का भेद दिखाया।

(c) भाषा के उद्गम वर्गीकरण विकास आदि विषयों पर किए गए काम को संग्रहीत किया।

ह्विटने (whitney) —ये संस्कृत भाषा के विद्वान थे और प्रधान रूप से वैय्याकरण थे। मैक्समूलर की तरह ह्विटने भी कई वर्ष भारत में रहे। ये मैक्समूलर के कटु आलोचक थे। इन्होंने दो ग्रन्थ लिखे हैं—१ भाषा और भाषा का अध्ययन २ भाषा का जीवन और विकास। इन दोनों ग्रन्थों मे मैक्समूलर के कई भ्रामक सिद्धान्तों का इन्होंने खंडन किया है। ह्विटने का संस्कृत व्याकरण अपने ढंग का एक निराला ग्रन्थ है।

नवीन युग—भाषा विज्ञान के नवीन युग के प्रारम्भकर्ता स्टाइनथोल माने जाते हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ मे व्याकरण तर्क-शास्त्र और मनोविज्ञान के परस्पर प्रभाव का सुन्दर विवेचन किया है। इन्होंने सुदूर पूर्व की चीनी आदि भाषाएं तथा नीग्रो आदि भाषाओं पर अच्छा कार्य किया है।

बतलाया कि संस्कृत भाषा लैटिन और ग्रीक दोनो के अधिक निकट है। उस काल के संस्कृत का अध्ययन करने वाले विद्वानो मे फ्रेंच पादरी कोर्डो तथा कोलब्रूक के नाम प्रसिद्ध हैं।

उन्नीसवी सदी को भाषाविज्ञान की सदी कह सकते हैं। नई २ भाषाओ का अध्ययन शुरू हुआ। प्राचीन भाषाओ जैसे ग्रीक लैटिन आदि की भी विवेचना अधिक गहराई से होने लगी। तुलनात्मक अध्ययन को भी प्रश्रय मिला। भाषा प्रवाहस्वरूप समझी गई और ध्वनियो तथा रूपो का ऐतिहासिक सम्बन्ध ढूढा जाने लगा। संस्कृत का अध्ययन पाश्चात्य विद्वानो द्वारा होने के कारण भाषाविज्ञान मे उन्नति हुई।

१६ वी शताब्दी

(१) जर्मन विद्वान श्लेगल (१७७२-१८२६)—(a) इन्होने तुलनात्मक व्याकरण का सर्वप्रथम नाम लिया।

(b) कुछ ध्वनि-नियमो की ओर संकेत किया।

(c) भाषा को दो वर्गों मे विभाजित किया (i) संस्कृत तथा सगोत्र भाषाए (ii) अन्य।

(d) भाषाओ के दो वर्ग किए (a) संयोगात्मक (b) वियोगात्मक।

(२) रैस्क (१७८७-१८३२)—(a) आइसलैंड की भाषा का शास्त्रीय ढग से अध्ययन किया।

(b) नार्स भाषा की उत्पत्ति पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा।

(c) भाषा के अध्ययन के लिए शब्दावली से अधिक व्याकरण पर ध्यान देने की बात पर जोर दिया।

(d) फीनी उग्री भाषाओ का बडा अच्छा वर्गीकरण किया।

(e) जेन्द अवेस्ती को आर्य-परिवार मे उचित स्थान और महत्त्व दिलाया।

(३) ग्रिम (१७८५-१८६३)—(a) इन्होने प्रतिपादित किया कि छोटी से छोटी भाषा भी विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

(b) जर्मनी भाषा का व्याकरण लिखा जिसमे 'ग्रिम नियम' का भी उल्लेख है।

(c) स्वर-क्रम आदि के लिए पारिभाषिक शब्द गढे।

(४) बाप (१७६१-१८६७)—(a) धातुप्रक्रिया पर पुस्तक लिखी जिससे तुलनात्मक अध्ययन की नींव दृढ हुई।

(b) अनेक भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण लिखा।

(c) आर्य धातुओ की सामी धातुओ से विभिन्नता प्रदर्शित की।

(d) भाषाओ के तीन वर्ग किए (i) धातु आदि व्याकरण नियम रहित जैसे चीनी (ii) एकाक्षर धातु वाली (iii) द्वयक्षर धातु वाली जैसे सामी।

भोजपुरी बोली का विस्तृत विवेचन करते हुए हार्नली ने प्रत्येक अध्याय में आधुनिक आर्य भाषाओं से सम्बन्धित प्रचुर ऐतिहासिक और तुलनात्मक सामग्री दी है जो बहुत कुछ नवीन भी है। यह ग्रन्थ भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन के लिए बड़ा उपयोगी है।

इसके अनन्तर जार्ज ग्रियर्सन ने सन् १८८३ से १८८७ ई० तक बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण लिखे और 'भारतीय भाषाओं की सर्वे' नामक एक बृहद् ग्रन्थ लिखा जो १८९४ से प्रारम्भ होकर १९२७ ई० में समाप्त हुआ। यह ग्रन्थ ११ भागों में है। इस ग्रन्थ में उत्तरी भारत की समस्त आधुनिक भाषाओं उपभाषाओं तथा बोलियों के उदाहरण संग्रहीत हैं और इन उदाहरणों के आधार पर ही समस्त मुख्य मुख्य बोलियों के व्याकरण भी दिए गए हैं। इस ग्रन्थ की भूमिका भी भारतीय आर्यभाषा के इतिहास को प्रस्तुत करती है। ग्रियर्सन का यह कार्य आधुनिक भाषाओं का अध्ययन करने के लिए अत्यन्त उपादेय है।

सन् १९१९ ई० में फ्रांसीसी विद्वान् ब्लूमफील्ड ने मराठी भाषा पर एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर शास्त्रीय ढंग से लिखी गई प्रथम पुस्तक मानी जाती है और इसमें हिन्दी भाषा के प्राचीन इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली पर्याप्त सामग्री बिखरी पड़ी है।

सन् १९२६ ई० में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'बंगाली भाषा की उत्पत्ति और विकास' नामक बृहद् ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में बंगाली से सम्बन्ध रखने वाली सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं का विवेचन मिलता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने वालों के लिए ब्लोक तथा चटर्जी दोनों के ग्रन्थ आवश्यक स्वरूप हैं।

सन् १९२१ ई० में ग्रियर्सन ने हीरालाल काव्योपाध्याय की एक पुस्तक का अनुवाद करके छपवाया था जिसमें छत्तीसगढ़ी बोली का विस्तृत विवेचन किया गया था। विस्तार तथा वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से यह ग्रन्थ आदर्श रूप नहीं है फिर भी एक बोली का समुचित विवेचन किया गया है।

सन् १९३१ में प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अवधी के विकास पर एक ग्रन्थ लिखा जो डी० लिट् की डिग्री के लिए स्वीकृत हुआ था। इस ग्रन्थ में हिन्दी ध्वनियों का प्रयोगात्मक ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से विश्लेषण तथा वर्णन किया गया है और अवधी की ध्वनियों तथा व्याकरण के रूपों का इतिहास दिया गया है। इस ग्रन्थ में हिन्दी की एक मुख्य बोली का प्रथम वैज्ञानिक तथा विस्तृत वर्णन मिलता है।

सन् १९३१ ई० में टर्नर ने नेपाली भाषा का कोष लिखा जिसमें लगभग सभी भारतीय आर्य भाषाओं का उल्लेख मिल जाता है। ग्रन्थ में प्रत्येक भाषा की

इस युग के दूसरे विद्वान् आसकोली थे जिन्होने भारोपीय परिवार की भाषाओ को कैन्टुम और शतम दो वर्गों मे विभाजित किया है। इनके अतिरिक्त ब्रुकमैन, डेलब्रुक, पॉल , स्वीट आदि इस युग के प्रसिद्ध भाषा विज्ञान-वेत्ता हैं। इस नवीन युग मे भाषा विज्ञान सम्बन्धी कार्य अधिक वैज्ञानिक ढग से हो रहा है और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे आधुनिक विद्वानो ने ग्रीक, लैटिन, सस्कृत आदि प्रमुख भाषाओ के ९० प्रतिशत शब्दो की व्युत्पत्ति निश्चित कर दी है। सन् १८८० मे तालव्य ध्वनि मे नियम (palatal law) भी ढूढ लिया गया जिसके आधार पर आदिम तीन मूल स्वर अ, ऐ, ओ निश्चित किए गए। ध्वनियो का बहिरग और अतरग आधार निश्चित करके अध्ययन किया गया है तथा शरीर-विज्ञान एव मनोविज्ञान से सहारा लेकर उनका वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस युग मे व्रील ने अर्थ-विज्ञान (semantics) पर अच्छा कार्य किया।

जहा तक भारतवर्ष मे हुए आधुनिक भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य का प्रश्न है, पहले यूरोपीय विद्वानो तथा बाद मे उनकी प्रेरणा से भारतीय विद्वानो ने इस क्षेत्र मे अच्छा कार्य किया है। सन् १८७२ ई० मे सबसे पहले जान बीम्स ने एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी भारतीय आर्य-भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण'। इसमे भारतीय आर्य-भाषाओ का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ मे हिन्दी, पजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, उडिया तथा बगला भाषाओ के व्याकरणो पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है और व्याकरण के प्रत्येक अग के सम्बन्ध मे बहुत-सी उपयोगी सामग्री एकत्र की गई है। इस ग्रन्थ मे बीम्स ने ध्वनि के विषय मे भी सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है जो प्रारभिक होते हुए भी रोचक और उपयोगी है।

सन् १८७६ ई० मे अमरीका के ईसाई मिशनरी केलॉग ने हिन्दी भाषा का व्याकरण लिखा। इस व्याकरण की विशेषता यह है कि इसमे साहित्यिक खडी बोली हिन्दी के व्याकरण के साथ-साथ तुलना के लिए ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, बिहारी, मध्यपहाडी आदि भाषाओं की सामग्री भी जगह-जगह पर दी गई है। इसके साथ ही प्रत्येक अध्याय के अन्त मे व्याकरण के मुख्य-मुख्य रूपो का इतिहास भी सक्षेप मे दिया गया है।

सन् १८७७ ई० मे रामकृष्ण गोपाल भडारकर ने भारतीय आर्यभाषाओ पर सात व्याख्यान दिये जो विल्सन फिलोलॉजिकल लेक्चर्स कहलाते हैं और जो १९१४ई० मे पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। अपने इन सात व्याख्यानो मे भडारकर जी ने प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं का विवेचन करते हुए इन भाषाओ से सम्बन्ध रखने वाली अनेक समस्याओ का निराकरण किया है।

सन् १८८० ई० मे हार्नली ने पूर्वी हिन्दी व्याकरण लिखा। पूर्वी हिन्दी से हार्नली का तात्पर्य अवधी तथा आधुनिक बिहारी से है। इस व्याकरण मे

दूसरा विज्ञान जो आधुनिक युग की देन है Phonemics है। फोनीम किसी भाषा-ध्वनि की वह न्यूनतम इकाई है जो उस भाषा में शब्द के अर्थ में परिवर्तन लाने की शक्ति रखने के कारण सार्थक होती है। Phonemics द्वारा किसी भी भाषा के phoneme और allophone ज्ञात किये जाते हैं। इसकी सहायता से ध्वनि-इकाइयों की संख्या में पर्याप्त कमी हो जाती है और नई भाषा सीखने वाले को सुविधा होती है।

जिस प्रकार ध्वनि की दृष्टि से न्यूनतम इकाई phoneme है उसी प्रकार रूप रचना की दृष्टि से न्यूनतम इकाई morpheme है। किसी भाषा में morphemes का पता लगाना मॉरफोलोजी के अन्तर्गत आता है। इस विज्ञान पर भी अधिक कार्य हो रहा है। वाक्य विज्ञान पर अभी कम काम हुआ है पर जो भी कार्य हुआ है उसमें शब्द क्रम—अनुरूपता एक शब्द का दूसरे से शासित होना आदि पर ध्यान दिया जाता है। शब्द-समूह के अध्ययन के लिए किसी भाषा या बोली में प्रयुक्त शब्दों को संग्रहीत किया जाता है। भारत में विभिन्न भाषाओं की देहाती शब्दावली, कृषक शब्दावली आदि संग्रहीत की जा रही है। लिपि विज्ञान बोली-विज्ञान कोष-विज्ञान भाषाकाल क्रम-विज्ञान तथा व्यक्ति भाषा विज्ञान आदि अनेक नयी दिशाओं में कार्य हो रहा है। कलकत्ता बड़ौदा पूना, आगरा बम्बई आदि नगर भाषा विज्ञान संबंधी अध्ययन के केन्द्र बन चुके हैं और इन स्थानों पर भाषा-वैज्ञानिक कार्य में पर्याप्त प्रगति हो रही है।

दृष्टि से शब्द सूचिया दी हुई हैं। यह भारतीय भाषाओ का प्रथम वैज्ञानिक नैरुक्तिक कोष है।

सन् १९३४ ई० मे जूल ब्लॉक ने एक और पुस्तक लिखी थी जिसका नाम 'ला एन्दो एरियन' (भारतीय आर्यभाषा) था जिसमे भारतीय आर्यभाषाओ का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है और आर्यभाषाओ की खोज सम्बन्धी सम्पूर्ण सामग्री का सार एक स्थान पर ही दिया गया है।

सन् १९३५ ई० मे डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने व्रजभाषा पर एक ग्रन्थ लिखा। प्राचीन तथा आधुनिक व्रजभाषा का प्रथम वैज्ञानिक अध्ययन होने के अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे दी हुई तुलनात्मक सामग्री आधुनिक भाषाओ मे व्रजभाषा के स्थान पर भी प्रकाश डालती है।

इन सभी कार्यों के अतिरिक्त हमारे यहा कुछ विद्वानो ने हिन्दी भाषा तथा अन्य भाषाओ पर कुछ लेख लिखे थे जिनमे से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालमुकुन्द गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बद्रीनाथ भट्ट के नाम प्रसिद्ध हैं। ग्रियर्सन का आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ मे बलात्मक स्वराघात नामक लेख और टर्नर का गुजराती ध्वनि समूह नामक लेख अधिक प्रसिद्ध है। गौरी शकर हीराचन्द्र ओझा ने प्राचीन भारतीय लिपिमाला नामक ग्रन्थ लिखा था जिसमे देवनागरी लिपि और अको का इतिहास दिया गया है। कामताप्रसाद का व्याकरण भी सराहनीय है।

इस युग मे कुछ भाषा-विज्ञान की पुस्तकें भी लिखी गयी हैं जिनमे से दुनीदचन्द्र का पजाबी और हिन्दी भाषा-विज्ञान, श्यामसुन्दर दास का भाषा-विज्ञान तथा श्यामसुन्दरदास और पद्मनारायण आचार्य का 'भाषा-रहस्य', बाबूराम सक्सेना का सामान्य भाषा-विज्ञान, नलिनीमोहन सान्याल का भाषा-विज्ञान, मगलदेव शास्त्री का तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, भोलानाथ तिवारी का भाषा-विज्ञान आदि प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वान् भिन्न-भिन्न भाषाओ पर भी कार्य कर चुके हैं—जैसे दर्दी भाषाओ के लिए डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, कोकणी भाषा के लिए श्री कात्रे, पजाबी भाषा के लिए बनारसीदास जैन, द्रविड परिवार की भाषाओ के लिए रामा स्वामी ऐय्यर, अपभ्रश भाषाओ के लिए हीरालाल जैन, आन्ध्र भाषा के लिए डॉ० चिलूपुरी नारायण और मराठी भाषा के लिए श्रीकृष्ण जी पाडुरग तथा प्रो० कुलकर्णी प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक काल के आरम्भ मे यह अनुभव किया गया कि वर्तमान युग मे वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे काम नही हो रहा है। अत १९२८ ई० की हेग-काग्रेस के बाद से वर्णनात्मक भाषा विज्ञान पर अधिक कार्य हो रहा है। आधुनिक यत्रो—सोनोग्राफ, ओसिलोग्राफ, पिच-मीटर, इकराइटर, साउड स्पैक्ट्रोग्राफ तथा स्पैक्ट्रोग्राम आदि की सहायता से ध्वनियो का अध्ययन बडे सूक्ष्म एव वैज्ञानिक ढग से किया जा रहा है।

सीधे भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार करते हैं अतः विद्वानों ने इन्हें प्रत्यक्ष मार्ग के अन्तर्गत रखा है। इसके विपरीत जिस मार्ग में भाषा के वर्तमान रूप से भूतकालीन रूप तक पहुंचा जाता है और इसके लिए भाषाओं का अध्ययन तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक आधार पर किया जाता है उसे परोक्ष मार्ग कहते हैं। इससे भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तो निर्णय नहीं हो पाता परन्तु उसके प्रारंभिक रूप को समझने में कुछ सहायता अवश्य मिल सकती है।

दैवी उत्पत्ति (Divine origin)

प्राचीन लोग तर्क प्रिय की अपेक्षा श्रद्धालु अधिक थे ईश्वर पर उनका अगाध विश्वास था। वह उसे ही सम्पूर्ण सृष्टि का रचयिता मानते थे। अतः भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी उनका यही विश्वास था कि वह ईश्वर की देन है। श्रद्धालु होने के साथ-साथ वे धर्मान्ध एवं अन्ध विश्वासी भी थे जिसके परिणामस्वरूप उनका आराध्य ईश्वर ही एक मात्र ईश्वर और उनके धर्म-ग्रन्थों की भाषा ही एक मात्र आदि भाषा थी। इसी कारण हम देखते है कि प्रत्येक धर्मावलंबी अपनी भाषा को ही आदि भाषा मानता है—ईसाई old Testament की भाषा हिब्रू को मुसलमान कुरान की भाषा अरबी को बौद्ध लोग जातकों की भाषा पालि को जैन लोग अर्ध मागधी को तथा हिन्दू लोग वेदों की भाषा संस्कृत को आदि भाषा मानते है। स्पष्ट है कि यह मत निराधार है। पाणिनी के १४ सूत्रों की उत्पत्ति ईश्वर के एक रूप शिव के डमरू से मानी जाती है।

यदि भाषा ईश्वर की देन होती तो प्रथम तो संसार के समस्त देशों की भाषा एक ही होती जैसी कि उनकी अन्य कृतियाँ-मानव पहाड़ नदी समुद्र आदि हैं और दूसरे वह प्रारम्भ में ही पूर्ण विकसित रूप में होती। परन्तु हम देखते हैं कि न तो सर्वत्र एक ही भाषा बोली जाती है और न भाषा प्रारम्भ में पूर्ण विकसित रूप में ही थी। उसका विकास तो आज भी हो रहा है। कुछ राजाओं ने (अकबर जेम्स चतुर्थ सैमेटिक्स आदि) यह सोचकर कि यदि भाषा ईश्वर की देन है तो वह समाज से अलग रहकर भी सीखी जा सकती है कुछ बच्चों को जन्म से ही एकान्त में रखा और जब यह देखा कि बच्चे गूँगे-बहरे हो गए हैं तो उन्हें स्पष्ट ज्ञात हो गया कि भाषा ईश्वरीय देन न होकर समाज में रह कर ही सीखी जा सकती है। इन बातों से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि भाषा ईश्वरीय देन नहीं है यदि है तो केवल इस सीमित अर्थ में कि ईश्वर ने हमारे गले को अन्य जीवों के गलों से अधिक लोच वाला बनाया है जिससे हमारी वाग्शक्ति अधिक है और हम बहुत अधिक प्रकार की ध्वनियाँ अपने कण्ठ से निकाल सकते हैं। अतः आज इस मत को कोई नहीं मानता।

सांकेतिक उत्पत्ति

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में मनुष्यों ने जब यह देखा कि हाथ के संकेतों से काम नहीं चलता तो उन्होंने एक स्थान पर एकत्रित होकर सभी वस्तुओं

: ३५ :

भाषा की उत्पत्ति

१ भूमिका
२ दैवी-उत्पत्ति सिद्धान्त
३ साकेतिक उत्पत्ति सिद्धान्त
४. धातु-सिद्धान्त
५ अनुकरणमूलकतावाद
६ मनोभावाभिव्यक्तिवाद
७ अनुरणनमूलकतावाद
८. यो—हे—हो वाद
९ इगित सिद्धान्त
१० सगीत सिद्धान्त
११. सम्पर्क सिद्धान्त
१२ समन्वितवाद
१३ उपसहार

मनुष्य ने कब, क्यो और कैसे बोलना आरम्भ किया होगा, इस विषय पर अत्यन्त प्राचीन कालसे ही विचार होता आया है अर्थात् भाषा की उत्पत्तिके सम्बन्ध मे अनेक विद्वानो ने अनुमान और अध्ययन के आधार पर अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं। यद्यपि कुछ विद्वानो ने इस प्रश्न को अनुमानाश्रित मानने के कारण उसे भाषा-विज्ञान के क्षेत्र से बहिष्कृत करने का भी सुझाव दिया और १८६६ ई० मे पेरिस मे होने वाली भाषा-विज्ञान परिषद् ने स्पष्ट शब्दो मे भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार आदि करने पर प्रतिबन्ध भी लगा दिया, तथापि पिछले सौ वर्षों मे यह प्रश्न बार-बार उठाया गया है, कुछ नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किये गए हैं और पुराने सिद्धान्तो की नयी व्याख्याए प्रस्तुत की गई हैं। अत यह प्रश्न यद्यपि आज उतना महत्त्वपूर्ण नही रह गया है जितना पहले था, तथापि वह आज भी उठाया जाता है क्योकि भाषा सम्बन्धी विचार-विमर्श मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई और उसका आरम्भिक रूप क्या था ?

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अत्यन्त प्राचीन काल से विचार होता आया है और इस सम्बन्ध मे अनेक वाद या सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। च कि ये सिद्धान्त

अनुकरण मूलकतावाद

इस वाद के अनुसार मनुष्य ने प्रारम्भ में पशु-पक्षियों के कण्ठ से निर्गत ध्वनियों के अनुकरण पर उन पक्षियों का तथा उनकी बोलियों का नाम रखा। बिल्ली के लिये म्याऊं कुत्ते के लिये भौं भौं इसी प्रकार के शब्द हैं। कुकु कोकिल कुक्कुट आदि भी ऐसे ही शब्द हैं। इसके प्रमाण में प्राय यह किंवदन्ती प्रचलित है कि एक बार एक अंगरेज चीन गया और वहां जब खाने के समय उसके सामने मांस रखा गया तो यह जानने के लिये कि वह किस पक्षी का मांस है उसने पूछा crow crow (मुर्गे की बोली)? इसके उत्तर में चीनी व्यक्ति ने बत्तख की आवाज द्वारा यह संकेत कर दिया कि नहीं वह मुर्गे का मांस न होकर बत्तख का है।

सर्वप्रथम तो यही बात बड़ी हास्यास्पद लगती है कि मनुष्य जो सर्वश्रेष्ठ प्राणी है स्वयं कुछ न बोल सका और उसे पशुपक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण करना पड़ा। दूसरे, संसार की बोलियों में जीवों की बोलियों से मिलते जुलते शब्द गिने-चुने हैं अत यह नहीं माना जा सकता कि जीवों की बोलियां सुन-सुन कर ही लोगों ने बोलियां बनाई होंगी फिर पेड़-पौधे नदी नाले पहाड़ ये तो बोलते नहीं फिर उनके लिये शब्द कैसे बने होंगे। सारांश यह कि बोली के कुछ शब्दों का निर्माण चाहे भले ही इस सिद्धान्त के आधार पर हुआ हो पूरी बोली कभी इस पर आधारित नहीं हो सकती थी। अतः इस सिद्धान्त को आंशिक रूप से सत्य माना जा सकता है।

मनोभावाभिव्यक्तिवाद

इस मत के अनुसार तीव्र मनोरागों—क्रोध प्रसन्नता घृणा आदि के उत्पन्न होने पर स्वतः मनुष्य के मुख से कुछ ध्वनियां निसृत होने लगती हैं जैसे घृणा के समय छिः छिः प्रसन्नता के समय 'वाह वाह' दुख के समय आह हाय' इत्यादि। इस मत के समर्थकों का मत है कि इन्हीं कतिपय ध्वनियों से भाषा का विकास हुआ होगा। परन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं जान पड़ता। सर्वप्रथम तो ऐसे शब्द भाषा के प्रधान अंग नहीं होते उनसे भाषा का विकास नहीं हो सकता और न केवल इन शब्दों के बोलने से कुछ भाव ही समझाया जा सकता है। दूसरे ये शब्द किसी भी भाषा में ४ ५ से अधिक नहीं होते। तीसरे भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न शब्द ऐसे मनोरागों को व्यक्त करने के लिये पाए जाते हैं। यदि अंगरेजी में घृणा के समय Fie Pooh Pooh' कहा जाता है तो हिन्दी में 'छि छि। इसी प्रकार शोक के समय हिन्दी में 'आह'तो अंगरेजी म oh ध्वनियां उच्चरित होती हैं। यदि स्वत ये ध्वनियां प्रारम्भ में निसृत हुई होती और सभी भाषाओं की मूल आधार होतीं तो अलग अलग भाषाओं में भिन्न २ न होकर एक सी ही होतीं। संसार भर के कुत्ते क्रुद्ध होने पर एक प्रकार की तथा दुखी होने पर दूसरे प्रकार की ध्वनि निर्गत करते हैं। अत स्पष्ट है कि भाषा के प्रासाद की नींव इन शब्दों पर कभी आधारित नहीं हो सकती थी अत केवल थो) से शब्दों की उत्पत्ति की समस्या पर ही इस सिद्धान्त से प्रकाश पड़ता है।

का प्रतीकात्मक या साकेतिक नाम या शब्द निश्चित करके उन्हे स्वीकार किया होगा और तभी भाषा का जन्म हुआ होगा। ध्यान देने से यह मत नितान्त हास्यास्पद लगता है। यदि भाषा थी ही नही, तो विचार-विनिमय हुआ कैसे होगा। न तो वे एकत्र ही हो सकते थे और न नाम ही रख सकते थे। इसके विपरीत यदि वे विचार-विनिमय कर ही सकते थे, तो फिर किसी अन्य भाषा की आवश्यकता ही क्या थी ?

यदि यह मानते हैं कि सकेत करते समय 'ओ' 'ए' ध्वनिया निकली होगी और उनसे ही भाषा का विकास हुआ होगा, तो यह भी गलत है। प्रथम तो सकेत बोली से पहले की वस्तु हैं अर्थात् बोल सकने के समय उनकी आवश्यकता नही पडती और दूसरे दो-चार ऐसी ध्वनियो से भाषा का विकास नही हो सकता। आज भी गूगो द्वारा उच्चरित ध्वनियो को देखकर हम कह सकते है कि उनसे भाषा का विकास नही हो सकता। साराश यह कि यह मत पहले मत के समान नितान्त निराधार है।

धातु सिद्धान्त

इस मत को जन्म देने वाले थे प्रो० हेज, जिनके विचारो के आधार पर ही Maxmuller ने पहले इस सिद्धान्त को स्वीकार कर आगे बढाया। इस सिद्धान्त के अनुसार ससार की हर चीज की अपनी अलग ध्वनि होती है। मनुष्य भी जिस किसी वस्तु के सम्पर्क मे आता है,उसके लिये उसके मुख से एक विशिष्ट ध्वनि निकलती है। विभिन्न वस्तुओ के लिए प्रयुक्त ये ध्वनिया 'धातु' थी। इसके अनुसार सृष्टि के आदि में मानव मे 'विभाविका शक्ति' नामक एक शक्ति थी जिसकी सहायता उसने से ४००-५०० ध्वनियो को जन्म दिया और वे ही ध्वनिया बनकर धातु भाषा का प्रासाद खडा कर सकने मे समर्थ हुई। बाद मे वह शक्ति नष्ट हो गई और उन्ही धातुओ मे प्रत्यय आदि जोडकर अन्य शब्दो का निर्माण हुआ।

यह मत भी निराधार है क्योकि प्रथम तो ससार मे अनेको ऐसी भाषाए हैं जिनमे धातु नाम की कोई वस्तु है ही नही। एकाक्षर कुल की चीनी आदि भाषाए ऐसी ही हैं। सस्कृत आदि भाषाओ मे ही धातु हैं और उन्ही मे प्रत्यय आदि जोडकर अन्य शब्द बनाये गए हैं। दूसरे, सस्कृत आदि भाषाओ में भी 'धातु' भाषा का स्वाभाविक अश नही है। उसे तो बाद के वैय्याकरणो ने बाद मे खोज निकाला है और इस प्रकार वह आदि की वस्तु न होकर अत की है। तीसरे, मैक्समूलर का यह कथन कि प्रारम्भ मे विभाविका शक्ति थी परन्तु बाद मे वह नष्ट हो गई नितान्त भ्रमपूर्ण और अशुद्ध है। यह समझ मे नही आता कि विकास को प्राप्त होने के स्थान पर उसका ह्रास क्यो हो गया। फिर यह भी समझ मे नही आता कि बिना कुछ और जाने हुए धातु से भिन्न-भिन्न शब्द कैसे बने और उनका भिन्न अर्थो मे प्रयोग कसे आरम्भ हुआ, साराश यह कि यह मत भी दैवी-उत्पत्ति वाद जैसा ही निराधार है और स्वय मैक्समूलर ने बाद मे इसे निरर्थक जानकर छोड दिया।

पर यह कहना कि जीभ से हाथ आदि अंगों के अनुकरण के आधार पर ध्वनि या शब्दों की उत्पत्ति हुई ठीक नहीं। इसी प्रकार ध्वनि और अर्थ का जो तर्क-सम्मत सिद्धान्त उन्होंने स्थापित करने का प्रयास किया है वह भी असन्तोषजनक है। उदाहरण के लिये अनेक भाषाओं में ऐसी गत्यात्मक धातुओं की कमी नहीं जो र से आरम्भ नहीं होती। इस सिद्धान्त के अनुसार तो धातु का प्रथम अक्षर ही महत्त्वपूर्ण होगा पर यह बात नहीं फिर बाद के वर्ण किस आधार पर रखे गये इसका भी सन्तोषजनक उत्तर यह सिद्धान्त नहीं देता। यदि यह सिद्धान्त सच होता तो संसार की सभी प्राचीन भाषाओं में प्रारम्भिक भावों को व्यक्त करने वाले समानार्थी शब्दों में पर्याप्त सामान्य होना चाहिए था पर ऐसा नहीं है। अतः इस सिद्धान्त का केवल आरम्भिक अंश ही सत्य है।

संगीत सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उत्पत्ति आदिम मानव के संगीत से मानी जाती है। इसके अनुसार गाने से प्रारम्भिक अर्थविहीन अक्षर बने और फिर विशेष स्थिति में उनका प्रयोग होने से उन अक्षरों का अर्थ से सम्बन्ध हो गया। पर यह बात समझ में नहीं आती कि गुनगुनाने के अक्षरों से भाषा कैसे निकली होगी।

सम्पर्क सिद्धान्त

इस मत के प्रतिपादक रेवेज महोदय का कहना है कि परस्पर सम्पर्क रखना मानव की सहज प्रवृत्ति है। प्रारम्भिक काल में सम्पर्क के लिये स्पर्श आदि का सहारा तो लिया ही जाता रहा होगा मुखोच्चारित ध्वनियां भी सहायक रही होगी। भाषा उन्हीं का विकसित रूप है। जैसे-जैसे सम्पर्क की आवश्यकता बढ़ी ध्वनियों का भी विकास हुआ। आरम्भ की ध्वनियां अपेक्षाकृत स्वाभाविक थी धीरे धीरे मानव ने उन्हें कृत्रिमता के आधार पर विकसित किया। आरम्भ में सम्पर्क भावों के स्तर पर था पर जब वह विचारों के स्तर पर हुआ तो भाषा का और भी अधिक विकास हुआ। यद्यपि रेवेज भावविद्यात्मक ध्वन्याभिव्यक्ति को विनिमय की अभिव्यक्ति नहीं मानते किन्तु सम्पर्क-ध्वनि का इससे सम्बन्ध अवश्य है। सम्पर्क ध्वनि का विकास संसूचक ध्वनि में होता है जिसमें चिल्लाना पुकारना आदि आते हैं। इसी अवस्था में भाषा के आदिम शब्दों का विकास हुआ होगा। उनका कहना है कि उस समय सम्बन्धियों एवं वस्तुओं के लिये शब्द रहे होंगे किन्तु उनका सम्बन्ध संज्ञा से न होकर क्रिया से रहा होगा। इस प्रकार क्रिया पहले आई, संज्ञा बाद में। शब्द शब्द न होकर वाक्य रहे होंगे। फिर और विकास होने पर कई प्रकार के शब्दों को मिलाकर छोटे छोटे वाक्य बने होंगे। धीरे धीरे विचार के स्तर पर सम्पर्क बढ़ने पर भाषा विकसित हुई होगी।

श्री रेवेज का यह सिद्धान्त बाल-मनोविज्ञान पशु-मनोविज्ञान तथा आदिम अविकसित मानव-मनोविज्ञान पर आधारित है, अतः वह पूर्ण तर्कसम्मत है। परन्तु वह भाषा की उत्पत्ति और विकास के मनोवैज्ञानिक सामान्य सिद्धान्त का ही विवेचन करता है, ठोस रूप का नहीं बताता।

अनुरणनमूलकतावाद

इस वाद के अनुसार निर्जीव पदार्थ कुछ ध्वनिया निर्गत करते हैं, जैसे पानी के वहने से कलकल छलछल, पानी में कूदने से छपछप, पत्ते के पृथ्वी पर गिरने से 'पत' आदि ध्वनियाँ होती हैं। उन ध्वनियो को सुनकर ही उनके अनुकरण पर उन ध्वनियो के द्योतक शब्द बनाये गए होगे। अगरेजी मे भी Buzz, Hiss, Thunder Dazzle आदि इसी प्रकार के शब्द हैं।

यह वाद भी आशिक रूप से ही सत्य है क्योकि जहाँ तक इन शब्दो की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, वे अवश्य ही इस आधार पर बने होगे, परन्तु इनकी सख्या अत्यन्त अल्प है। अत उनसे भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कोई महत्त्वपूर्ण सहायता नही मिलती।

यो-हे हो सिद्धान्त

इसे श्रमपरिहरणमूलकतावाद भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय न्वायर (Noire) नामक विद्वान को है। उनका मत है कि परिश्रम का कार्य करते समय मनुष्य तेजी से सास लेता-निकालता है और उसके मुख से कुछ अस्फुट ध्वनिया जैसे 'छियो' 'हियो' 'हे-हो' आदि निकलती हैं जिनसे परिश्रमकर्ता को कुछ राहत मिलती है। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि किसी क्रिया के साथ स्वभावत होने वाली ध्वनि ही उस क्रिया का बोध करती है। परन्तु चू कि न तो इस प्रकार की ध्वनियों का भापा में काई महत्त्वपूर्ण स्थान होता है और न उनसे किसी प्रकार का विशिष्ट अर्थ ही निकलता है, अत यह सिद्धान्त भी अमान्य है।

इगित सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का यद्यपि सर्वप्रथम सकेत हमे पालेनिशियन भाषा के विद्वान डा० राये की कृति मे मिलता है, तथापि इसका विस्तृत विवेचन आइसलैंडिक भाषा के विद्वान अलेक्जेंडर जोहानसन की तीन पुस्तको मे मिलता है। वे भाषा के विकास के चार सोपान मानते हैं—(१) मनुष्य ने भय, क्रोध, दुख, प्रसन्नता, भूख, प्यास आदि की स्थिति में भाव-व्याजक ध्वनियो को जन्म दिया होगा। (२) इस अवस्था में पशु-पक्षियो तथा निर्जीव पदार्थों की ध्वनियो का अनुकरण हुआ। (३) इस स्थिति में अनुकरण वाहरी चीनो का न होकर अपने अगो प्रमुखत हाथ या अग—सकेतो का होगा। इसे भाव-सकेत की स्थिति कह सकते हैं। (४) चू कि तीसरी स्थिति मे केवल स्थूल के लिए शब्द बने, अत इस स्थिति मे सूक्ष्म भावो के लिए शब्दो का निर्माण हुआ। जोहानसन ने ध्वनि और अर्थ का सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा कि जिन ध्वनियो के उच्चारण मे जीभ दौडती है जैसे र् उनसे प्रारम्भ होने वाली धातुओ का अर्थ गति होगा और जिन ध्वनियो के उच्चारण में ओठ वन्द होते हैं जैसे 'म' उनसे आरम्भ होने वाली धातुओ का अर्थ वन्द करना, चुप होना आदि होगा।

इस मत से भापा के विकास की आरम्भिक स्थिति पर तो प्रकाश पडता है,

पर यह कहना कि श्रीम से हाय आदि सर्गों के अनुकरण के आधार पर ध्वनि या शब्दों की उत्पत्ति हुई ठीक नहीं। इसी प्रकार ध्वनि और अर्थ का जो तर्क-सम्मत सिद्धान्त उन्होंने स्थापित करने का प्रयास किया है वह भी असन्तोषजनक है। उदाहरण के लिये अनेक भाषाओं में ऐसी गत्यात्मक धातुओं की कमी नहीं जो र से प्रारम्भ नहीं होती। इस सिद्धान्त के अनुसार तो धातु का प्रथम अक्षर ही महत्वपूर्ण होगा पर यह बात नहीं फिर बाद के वर्ण किस आधार पर रखे गये इसका भी सन्तोषजनक उत्तर यह सिद्धान्त नहीं देता। यदि यह सिद्धान्त सच होता तो संसार की सभी प्राचीन भाषाओं में प्रारम्भिक भावों को व्यक्त करने वाले समानार्थी शब्दों में पर्याप्त सामान्य होना चाहिए था पर ऐसा नहीं है। अतः इस सिद्धान्त का केवल प्रारम्भिक अंश ही सत्य है।

संगीत सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उत्पत्ति आदिम मानव के संगीत से मानी जाती है। इसके अनुसार गाने से प्रारम्भिक अर्थविहीन अक्षर बने और फिर विशेष स्थिति में उनका प्रयोग होने से उन अक्षरों का अर्थ से सम्बन्ध हो गया। पर यह बात समझ में नहीं आती कि गुनगुनाने के अक्षरों से भाषा कैसे निकली होगी।

सम्पर्क सिद्धान्त

इस मत के प्रतिपादक रेवेज महोदय का कहना है कि परस्पर सम्पर्क रखना मानव की सहज प्रवृत्ति है। प्रारम्भिक काल में सम्पर्क के लिये स्पर्श आदि का सहारा तो लिया ही जाता रहा होगा मुखोच्चरित ध्वनियां भी सहायक रही होंगी। भाषा उन्हीं का विकसित रूप है। जैसे-जैसे सम्पर्क की आवश्यकता बढ़ी ध्वनियों का भी विकास हुआ। प्रारम्भ की ध्वनियाँ अपेक्षाकृत स्वाभाविक थी धीरे धीरे मानव ने उन्हें कृत्रिमता के आधार पर विकसित किया। प्रारम्भ में सम्पर्क भावों के स्तर पर था पर जब वह विचारों के स्तर पर हुआ तो भाषा का और भी अधिक विकास हुआ। यद्यपि रेवेज सापेक्षात्मक ध्वन्यात्मिक्यक्ति को विनिमय की अभिव्यक्ति नहीं मानते किन्तु सम्पर्क-ध्वनि का इससे सम्बन्ध अवश्य है। सम्पर्क ध्वनि का विकास संबोधक ध्वनि में होता है जिसमें चिल्लाना पुकारना आदि आते हैं। इसी अवस्था में भाषा के आदिम शब्दों का विकास हुआ होगा। उनका कहना है कि उस समय सम्बन्धियों एवं वस्तुओं के लिये शब्द रहे होंगे किन्तु उनका सम्बन्ध संज्ञा से न होकर क्रिया से रहा होगा। इस प्रकार क्रिया पहले आई संज्ञा बाद में। शब्द, शब्द न होकर वाक्य रहे होंगे। फिर और विकास होने पर कई प्रकार के शब्दों को मिलाकर छोटे छोटे वाक्य बने होंगे। धीरे धीरे विचार के स्तर पर सम्पर्क बढ़ने पर भाषा विकसित हुई होगी।

प्रो रेवेज का यह सिद्धान्त बाल-मनोविज्ञान पशु-मनोविज्ञान तथा आदिम अविकसित मानव-मनोविज्ञान पर आधारित है अतः यह पूर्ण तर्कसम्मत है। परन्तु यह भाषा की उत्पत्ति और विकास के मनोवैज्ञानिक सामान्य सिद्धान्त का ही विवेचन करता है, ठोस रूप को नहीं बताता।

समन्वित वाद

पिछली शताब्दी मे प्रसिद्ध भाषा-विज्ञान-विद् स्वीट ने ऊपर बताए गए कतिपय सिद्धान्तो का समन्वय करते हुए भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये और कहा कि भाषा के प्रारभिक रूप के निर्माण मे भाव-सकेत, ध्वनि-समवाय (sound group) आदि ने पर्याप्त सहायता दी । उनके अनुसार आरभ मे भाषा में तीन प्रकार के शब्द थे—(१) अनुकरणात्मक जैसे काक, घुग्घू आदि (२) मनोभावाभिव्यजक जैसे ओह,आह, धिक्, हुश आदि (३) प्रतीकात्मक शब्द । प्रतीकात्मक शब्द उसे कहते हैं जिसका सयोग से या किसी अत्यन्त सामान्य और थोडे सम्बन्ध से किसी अर्थ से सम्बन्ध जुड जाता है और वह उसका प्रतीक बन जाता है । उदाहरण के लिए बच्चे तो यो ही अनजान मे, मामा, पापा, बाबा आदि शब्द उच्चरित करते हैं, पर घर के लोग उनका प्रयोग अपने लिए समझने लगते हैं और उनका प्रयोग उन्ही अर्थों में करने लगते है । भाषा-विज्ञान मे जिन्हे नर्सरी-शब्द कहा गया है, वे इसी प्रकार बनते हैं । बहुत से सर्वनामो का निर्माण इसी प्रकार होता है । 'तू' 'यह', 'वह' आदि सर्वनामो का उच्चारण करते समय व्यक्ति या पदार्थ विशेष के प्रति सकेत किया गया होगा, और फिर जिस के प्रति सकेत किया गया होगा, उसी का वाचक वह शब्द बन गया होगा । बहुत से क्रिया-शब्दो या धातुओ का निर्माण भी इसी प्रकार हुआ । उदाहरण के लिए 'पीते' समय सास अन्दर लेकर इगित किया जाता रहा होगा । उसी आधार पर सस्कृत मे 'पिबामि' या लैटिन मे 'bibere' जैसी क्रियाए बनी । इस प्रकार प्रारम्भ मे बहुत से शब्द बने होंगे, पर योग्यतमावशेष (survival of the fittest) के नियम के अनुसार उनमे से कुछ ही भाषा मे स्थान प्राप्त कर सके ।

स्वीट का यह मत स्थूल पदार्थों का द्योतन करने वाले शब्दो पर ठीक से लागू होता है, जहाँ तक सूक्ष्म विचार या भावो को व्यक्त करने वाले शब्दो या नवीन आविष्कृत पदार्थों को व्यक्त करने वाले शब्दो का सम्बन्ध है, स्वीट् का कहना है कि इसके लिए मनुष्य ने 'सादृश्य' को आधार बनाया होगा, परिचित से अपरिचित का नामकरण करने का मार्ग अपनाया होगा । उदाहरण के लिए आस्ट्रेलिया के आदिवासियो ने स्नायु और पुस्तक मे सादृश्य देखकर पुस्तक के लिए स्नायु-वाचक शब्द मुयूम का प्रयोग किया क्योकि उन्होने अनुभव किया कि पुस्तक भी स्नायु की तरह खुलती-बद होती है ।

इस प्रकार स्वीट के अनुसार भावाभिव्यजक, अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दो से भाषा शुरू हुई । फिर उपचार (ज्ञात से अज्ञात का परिचय) के कारण बहुत से शब्दो का अर्थ विकसित होता गया या नये शब्द बनते गये ।

निष्कर्ष यह है कि आज तक जितनी खोजें हुई हैं, उन पर विचार करने के बाद हम यही कह सकते हैं कि भाषा की उत्पत्ति भावाभिव्यजक, अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दो से हुई, और इसमें इगित सगीत एव सम्पर्क सिद्धान्त से सहायता मिली ।

३६

भाषा का आधार एवं प्रकृति

१ भाषा का आधार
२ भाषा पैतृक सम्पत्ति है अथवा अर्जित सम्पत्ति
३ भाषा सामाजिक वस्तु है
४ भाषा परम्परागत वस्तु है
५ भाषा परिवर्तनशील है
६ भाषा कठिनता से सरलता की ओर प्रवाह करती है
७ भाषा स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाती है
८ भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था को प्राप्त होती है
९ भाषा का विकास और उसके कारण
(क) आभ्यन्तर कारण
(ख) बाह्य कारण
१ भाषा के विकास में व्याघात और उसके कारण

भाषा का आधार

भाषा के दो आधार हैं—मानसिक (psychical) तथा भौतिक (physical)। यदि प्रथम को भाषा की आत्मा और दूसरे को उसका शरीर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। मानसिक आधार के अन्तर्गत मानव के वे भाव विचार आकांक्षाएं आदि आएंगे जिन्हें वह दूसरों पर व्यक्त करना चाहता है और भौतिक आधार के अन्तर्गत वे ध्वनियाँ आएंगी जिनके सहारे वह अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त करता है और श्रोता जिनके सहारे वक्ता की बात को समझता है। 'रोटी' शब्द का अर्थ उसकी आत्मा है और र्+ओ+ट+ई ये ध्वनियाँ उसका शरीर हैं।

भाषा की प्रकृति

भाषा पैतृक सम्पत्ति न होकर अर्जित सम्पत्ति है। कुछ समय पूर्व तक लोग समझते थे कि भाषा पैतृक सम्पत्ति है अर्थात् बच्चा अपने माता-पिता से भाषा सहज ही प्राप्त कर लेता है पर अब विभिन्न प्रयोगों द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि भाषा पैतृक सम्पत्ति नहीं है बच्चा उसे अनायास ही माता-पिता से प्राप्त नहीं करता यह आवश्यक नहीं कि बच्चा अपने मा-बाप की ही भाषा बोले। यदि भारतीय बच्चा

जन्म के बाद दो-चार वर्ष तक किसी विदेशी वातावरण में रहता है, विदेशी भाषा-भाषियो के बीच उसका पालन-पोषण होता है, तो निश्चय ही वह अपनी मातृ भाषा न सीखकर वह विशिष्ट विदेशी भाषा सीखेगा जिसके बीच वह रहा है जो उसने सुनी है और जिसका उसने अनुकरण किया है। यदि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति होती, तो भारतीय बच्चा किसी भी वातावरण मे रहकर अपने माता-पिता की भाषा ही बोलता, पर ऐसा नही होता, अत स्पष्ट है कि मानव भाषा को सहज ही प्राप्त नही करता, उसका अर्जन करता है। वह उसे अपने चारो ओर के समाज एव वातावरण से अनुकरण द्वारा सीखता है—भाषा अर्जित सम्पत्ति है।

भाषा सामाजिक वस्तु है

जैसा कि हम ऊपर कह चुके है मानव भाषा सीखता है, वह अपने चतुर्दिक समाज से उसे सीखता है। यदि एकान्त गुहा अथवा जगल मे रहने वाला व्यक्ति गूगा रहता है, तो इसका कारण यही है कि उसे समाज का सम्पर्क प्राप्त नही होता। यदि भेडिये द्वारा पालित बच्चे ने भेडिये जैसी ध्वनि ही सीखी, तो इसका भी यही कारण है कि वह मानव-समाज के बीच न रह भेडियो के समाज मे रहा। अत स्पष्ट है कि भाषा आदि से अत तक समाज से सम्बन्धित है। उसका जन्म समाज मे होता है और उसके विकास के लिए भी समाज ही उत्तरदायी है। अत हम कह सकते हैं कि भाषा एक सामाजिक सस्था है।

भाषा परम्परागत वस्तु है

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार भाषा का निर्माण करना चाहे, तो इससे समाज मे अव्यवस्था और अराजकता ही फैले, अत व्यक्ति भाषा-प्रयोग में नवीनता की बजाय परम्परा का ही आश्रय लेता है। वह उसका अर्जन परम्परा से ही करता है—जो भाषा उसके परिवार वाले बोलते हैं, वह भी उसी का प्रयोग करता है, नए सिरे से भाषा का निर्माण नही करता, यह दूसरी बात है कि वह उसमे थोडा बहुत परिवर्तन जाने या अनजाने करे। साराश यह है कि भाषा व्यक्ति द्वारा उत्पन्न नही की जाती, वह परम्परा और समाज से उसका अर्जन करता है और यह अर्जन अनुकरण द्वारा होता है।

भाषा परिवर्तनशील है

चूकि भाषा अनुकरण द्वारा सीखी जाती है और अनुकरण सदा पूर्ण नही हो सकता, अत भाषा मे परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त प्रयोग से, घिसने और बाह्य प्रभावो के परिणामस्वरूप भी भाषा मे परिवर्तन होते रहते हैं। मृत भाषा की बात छोड दें, तो स्पष्ट है कि जीवित भाषा कभी स्थिर नही रह सकती। राजनीतिक-सामाजिक कारणो अथवा नई आवश्यकताओ और अपेक्षाओ की पूर्ति के लिए भाषा मे परिवर्तन होते ही रहते हैं।

भाषा कठिन से सरल होती चलती है

मनुष्य का जन्मजात स्वभाव है कि वह परिश्रम से बचना चाहता है कम से कम श्रम कर अधिकाधिक लाभ पाना चाहता है। भाषा के क्षेत्र में भी यह बात लागू होती है। मनुष्य कम से कम प्रयास करना चाहता है अतः शब्दों के संक्षिप्त रूप प्रयोग में लाता है व्याकरण के रूप कम करता चलता है, सरलता और स्पष्टता की ओर अग्रसर होता है। अतः जन-साधारण की भाषा के सम्बन्ध में यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि वह कठिनता से सरलता की ओर अग्रसर होती है। साहित्यिक या लिखित भाषा की बात दूसरी है, उसे अधिकाधिक अलंकृत सौष्ठवपूर्ण और कलात्मक बनाने के प्रयत्न मे साहित्यकार उसे जटिल और क्लिष्ट बना देते हैं पर जहाँ तक जन भाषा का सम्बन्ध है वह कठिन से सरल होती चलती है।

भाषा स्थूल से सूक्ष्म होती चलती है

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं भाषा की आत्मा है विचार और भाव। सभ्यता के आरम्भ में मनुष्य की दृष्टि स्थूल पदार्थों पर अधिक होती है सूक्ष्म विचारों एवं भावों पर कम। अतः उसकी भाषा मे भी स्थूल पदार्थों को व्यक्त करने वाले शब्द अधिक होते हैं पर जैसे-जैसे सभ्यता और संस्कृति का विकास होता चलता है मनुष्य के मानसिक जगत् उसके चिंतन और मनन का क्षितिज विस्तीर्ण होता चलता है त्यो-त्यो उसकी भाषा भी अधिक सशक्त और प्रौढ़ होती चलती है उसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव वीचियों को पकड़ने और प्रकट करने की क्षमता आ जाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साधारणतः भाषा अप्रौढ़ से प्रौढ़ होती जाती है। यह दूसरी बात है कि किसी भौगोलिक दुर्घटना (भूकंप बाढ़ आदि) या राजनीतिक उथल-पुथल के कारण प्रदेश-विशेष की भाषा ह्रासोन्मुख हो जाय।

भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है

पहले कुछ लोगों का विचार था भाषा वियोगावस्था से संयोगावस्था को प्राप्त होती है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि कोई भाषा न तो सदा वियोगावस्था मे ही रहती है और न संयोगावस्था मे ही। वह संयोग से वियोग और वियोग से संयोग की ओर उन्मुख होती रहती है। पर नवीन मत यह है कि भाषा संयोग से वियोग की ओर जाती है जैसे संस्कृत से हिन्दी। संस्कृत म संश्लेषण की अधिकता है हिन्दी मे विश्लेषण की। संस्कृत म 'गच्छामि' से काम चल जाता है हिन्दी में 'मैं जाता हूँ' का प्रयोग करना पड़ता है।

भाषा का विकास और उसके कारण

भाषा के विकास का यह अर्थ नहीं है कि भाषा पहले से अधिक प्रौढ़, और सम्पन्न या ऊँची होती जाती है विकास का अर्थ तो यह है कि उसमे परिवर्तन होते चलते हैं। ये परिवर्तन भाषा को अभिव्यंजना की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ भी बना सकते हैं और उसे ह्रासोन्मुख भी कर सकते हैं। भाषा मे यह विकास जिन कारणों से होता

जन्म के बाद दो-चार वर्ष तक किसी विदेशी वातावरण में रहता है, विदेशी भाषा-भाषियों के बीच उसका पालन-पोषण होता है, तो निश्चय ही वह अपनी मातृ भाषा न सीखकर वह विशिष्ट विदेशी भाषा सीखेगा जिसके बीच वह रहा है जो उसने सुनी है और जिसका उसने अनुकरण किया है। यदि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति होती, तो भारतीय बच्चा किसी भी वातावरण में रहकर अपने माता-पिता की भाषा ही बोलता, पर ऐसा नहीं होता, अतः स्पष्ट है कि मानव भाषा को सहज ही प्राप्त नहीं करता, उसका अर्जन करता है। वह उसे अपने चारों ओर के समाज एवं वातावरण से अनुकरण द्वारा सीखता है—भाषा अर्जित सम्पत्ति है।

भाषा सामाजिक वस्तु है

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं मानव भाषा सीखता है, वह अपने चतुर्दिक समाज से उसे सीखता है। यदि एकान्त गुहा अथवा जंगल में रहने वाला व्यक्ति गूंगा रहता है, तो इसका कारण यही है कि उसे समाज का सम्पर्क प्राप्त नहीं होता। यदि भेड़िये द्वारा पालित बच्चे ने भेड़िये जैसी ध्वनि ही सीखी, तो इसका भी यही कारण है कि वह मानव-समाज के बीच न रह भेड़ियों के समाज में रहा। अतः स्पष्ट है कि भाषा आदि से अंत तक समाज से सम्बन्धित है। उसका जन्म समाज में होता है और उसके विकास के लिए भी समाज ही उत्तरदायी है। अतः हम कह सकते हैं कि भाषा एक सामाजिक संस्था है।

भाषा परम्परागत वस्तु है

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार भाषा का निर्माण करना चाहे, तो इससे समाज में अव्यवस्था और अराजकता ही फैले, अतः व्यक्ति भाषा-प्रयोग में नवीनता की बजाय परम्परा का ही आश्रय लेता है। वह उसका अर्जन परम्परा से ही करता है—जो भाषा उसके परिवार वाले बोलते हैं, वह भी उसी का प्रयोग करता है, नए सिरे से भाषा का निर्माण नहीं करता, यह दूसरी बात है कि वह उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन जाने या अनजाने करे। सारांश यह है कि भाषा व्यक्ति द्वारा उत्पन्न नहीं की जाती, वह परम्परा और समाज से उसका अर्जन करता है और यह अर्जुन अनुकरण द्वारा होता है।

भाषा परिवर्तनशील है

चूंकि भाषा अनुकरण द्वारा सीखी जाती है और अनुकरण सदा पूर्ण नहीं हो सकता, अतः भाषा में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त प्रयोग से, घिसने और बाह्य प्रभावों के परिणामस्वरूप भी भाषा में परिवर्तन होते रहते हैं। मृत भाषा की बात छोड़ दें, तो स्पष्ट है कि जीवित भाषा कभी स्थिर नहीं रह सकती। राजनीतिक-सामाजिक कारणों अथवा नई आवश्यकताओं और अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए भाषा में परिवर्तन होते ही रहते हैं।

(घ) प्रयोग से घिस जाना—अधिक प्रयोग से भी भाषा में परिवर्तन होता है ध्वनियाँ घिसते-घिसते लुप्त हो जाती है।

(ङ) मानसिक स्तर—बोलने वालों का मानसिक स्तर भी भाषा में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होता है। जैसे-जैसे किसी समाज का मानसिक स्तर ऊँचा होता जाता है उसकी विचारधारा भी अधिक प्रौढ़ एवं सूक्ष्म होती चलती है और फिर उन विचारों को व्यक्त करने वाली भाषा में भी अधिक सूक्ष्मता और प्रौढ़ता आ जाती है। इस प्रकार मानसिक विकास विचारों को और विचार भाषा को प्रौढ़ बनाते हैं। शब्दों के अर्थ में सूक्ष्मता आ जाती है भाषा के लाक्षणिक प्रयोग उसे अधिक सशक्त बनाते हैं। सारांश यह है कि मानसिक स्तर के ऊँचा होने से भी भाषा में परिवर्तन आता है।

(च) जानबूझकर परिवर्तन—सामाजिक और राजनीतिक नेता प्रसिद्ध लेखक और विद्वान जिनका समाज में सम्मान है और जिनकी बात को अन्य लोग सहज ही नही ठुकरा सकते कभी-कभी जानबूझ कर भाषा मे नए प्रयोग करते हैं—शब्दों के रूप और उच्चारण मे वाक्य रचना में परिवर्तन कर डालते हैं और साधारण जनता उनसे प्रभावित हो उनका अनुकरण करती हुई उनके द्वारा किये गए प्रयोगो को स्वीकार कर लेती है। ये प्रयोग और परिवर्तन भाषा के विकास में सहायक होते हैं। यह परिवर्तन स्वाभाविक न होकर कृत्रिम होता है क्योंकि प्रायः ऐसे प्रयोग अभिव्यक्ति मे चमत्कार या नवीनता लाने के लिए किए जाते हैं।

बाह्य कारण

(क) भौतिक वातावरण—जलवायु, भौगोलिक स्थिति भूमि की उर्वरता आदि का प्रदेश विशेष की भाषा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। जलवायु का प्रदेश के रहने वालो के रहन-सहन स्वभाव आजीविका आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है और इन सबका भाषा से घनिष्ट सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए, मैदानों मे रहने वाले लोग एक-दूसरे के निकट सम्पर्क मे रह सकते हैं उनके बीच दूर-दूर तक सम्बन्ध बने रहते है अतः उनकी भाषा मे एकरूपता बनी रहती है उनकी बोली हर चार कोस पर नही बदलती। इसके विपरीत पहाड़ी प्रदेश मे आवागमन के साधन दुर्लभ होने के कारण लोगो का परस्पर सम्पर्क कम रहता है और वहाँ थोड़ी-थोड़ी दूर पर भाषा बदल जाती है इसी प्रकार यदि भूमि उर्वर है लोगो को जीवन की आवश्यकताएँ सहज ही उपलब्ध हो जाती हैं और उन्हें चिन्तन मनन के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है तो वे लोग निश्चय ही गूढ़ विषयो पर सोचेंगे अपने विचारो को प्रकट करेंगे और फलतः उनकी भाषा भी अधिक प्रौढ़ सशक्त और सक्षम होगी। इसके विपरीत जहाँ के लोगो का अधिकांश समय आजीविकोपार्जन मे ही बीतेगा वे लोग न तो गूढ़ विचार मन्थन मे प्रवृत्त होंगे और न उनकी भाषा ही सूक्ष्म और गम्भीर हो पाएगी।

(ख) सांस्कृतिक प्रभाव—किसी सांस्कृतिक आन्दोलन या दो विभिन्न संस्कृतियों के परस्पर सम्मिलन से भी भाषा मे परिवर्तन हो जाता है। उत्तर प्रदेश और

है, उन्हे हम प्रधानत दो वर्गों मे बाट सकते हैं—आभ्यन्तर वर्ग और बाह्य वर्ग। आभ्यन्तर वर्ग के अन्तर वे कारण आते हैं जो बोलने वाले की शारीरिक या मानसिक योग्यता से सम्बद्ध होते है, जबकि बाह्य वर्ग मे वे कारण आते हैं जो भाषा को बाहर से प्रभावित करते हैं।

आभ्यन्तर कारण

(क) प्रयत्न लाघव—भाषा मे परिवर्तन का प्रमुख कारण यही है और भाषा मे जितने भी परिवर्तन होते हैं, उनमे से ९० प्रतिशत का कारण यही होता है। इसे मुख सुख भी कहते हैं। उच्चारण की सुविधा के कारण ही मनुष्य में शब्दो को सरल या सक्षिप्त करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। गोपेन्द्र का गोविन् और उपाध्याय का झा इसी कारण बने। कभी-कभी मुख को सुख शब्द के छोटे करने मे नही अपितु उसे बडा रूप देने मे मिलता है जिसके परिणामस्वरूप शब्द अपने मूल रूप से बडा हो जाता है जैसे प्रसाद का परसाद, स्कूल का इस्कूल। वस्तुत ध्वनि विकार के जितने रूप हैं—आगम, लोप, विपर्यय, समीकरण, विषमीकरण आदि उन सब के पीछे मुख-सुख या प्रयत्न लाघव ही कार्य करता है।

(ख) अनुकरण की अपूर्णता—हम पहले ही कह चुके हैं कि भाषा अर्जित सम्पत्ति है और मनुष्य उसे अनुकरण द्वारा सीखता है। परन्तु अनुकरण कभी पूर्ण नहीं हो पाता, वह सदा अपूर्ण ही रहता है। यही कारण है कि हम भले ही कितना ही ध्यान देकर दूसरे व्यक्ति की ध्वनियो का अनुकरण करें, पूरी तरह वैसी की वैसी ध्वनि उच्चरित नही कर पाते। अनुकरण करते समय हम कुछ बातें छोड देते हैं, तो कुछ अपनी ओर से जोड देते है। यही प्रवृत्ति भाषा मे परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम आज सस्कृत की 'ऋ' ध्वनि को शुद्ध रूप से नही बोल पाते और उसका 'रि' उच्चारण करते हैं, तो इसका कारण अनुकरण की अपूर्णता ही है। इसका फल यह होगा कि कुछ समय बाद 'ऋ' ध्वनि और उसका सकेत-चिह्न दोनो हिन्दी से लुप्त हो जाएगे।

अनुकरण की अपूर्णता के लिए भी कई कारण उत्तरदायी है जैसे शारीरिक विभिन्नता, विशेषत उच्चारण अवयवो की विभिन्नता, ध्यान की कमी, असावधानी, अशिक्षा आदि। उदाहरण के लिए, अशिक्षा के कारण ही कम पढ़े-लिखे लोग विदेशी भाषाओ के शब्दो का गलत उच्चारण करते हैं—डाक्टर का डगडर और लाइब्रेरी का रायबरेली कर देते हैं।

(ग) बल—जिस ध्वनि पर अधिक बल दिया जाता है, वह अन्य आस-पास की ध्वनियो को या तो कमजोर बना देती है या उन्हें बिल्कुल ही समाप्त कर देती है, जिसके फलस्वरूप शब्द का उच्चारण बदल जाता है। उदाहरण के लिए अग्रेजी शब्दो मे जो आज silent letters हैं और जिनका उच्चारण आज नही होता, उसके पीछे बलाघात ही कारण है। यही बात अर्थ के सम्बन्ध मे भी लागू होती है। आरम्भ मे यदि एक शब्द के एक से अधिक अर्थ होते है, तो उनमे से जिस अर्थ पर बल दिया जाता है, वह तो बना रहता है और दूसरा लुप्त हो जाता है।

३७

भाषा के विविध रूप

१ भाषा की परिभाषाएँ
२ भाषा के विविध भेद
३ मूल भाषा
४ व्यक्ति भाषा
५ उपबोली
६ बोली
७ आदर्श भाषा
८ राष्ट्र भाषा
९ कृत्रिम भाषा

भाषा के द्योतक हमारे यहाँ दो पुराने शब्द मिलते हैं वाक और वाणी। इन दोनों का सम्बन्ध बोलने से है। वाक का अर्थ जिह्वा भी होता है और जिह्वा बोलने में प्रमुख भाग लेती है। अन्य भाषाओं में भी जिह्वा और भाषा के लिए समान शब्द प्रयुक्त होते हैं जैसे फारसी में 'जबान' अंग्रेजी मे 'Tongue फ्रेंच मे Lang लैटिन में Lingua और ग्रीक मे Lay chain। इससे इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है कि भाषा का सम्बन्ध बोलने से है और चूँकि बोलने में ध्वनियों का प्रयोग होता है अतः ध्वनि-समूह का सम्बन्ध भाषा से है।

A. A. cardiner की भाषा की परिभाषा से भी यही सिद्ध होता है कि विचार की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनियों के व्यवहार को भाषा कहते हैं।

The common definition of speech as the use of articulate sound symbols for expression of thought.

भाषा की परिभाषा करते हुए विद्वानों ने अपने-अपने मत इस प्रकार व्यक्त किए हैं १ महाभाष्यकार पतंजली ने लिखा है 'व्यक्त वाचक वर्णा येषा त इमे' अर्थात् जिन वर्णों से हम अपनी वाणी को प्रकट करते हैं वे व्यक्त वर्ण-समूह ही भाषा कहलाते हैं। २ डा पी डी गुणे ने अपनी पुस्तक भाषा विज्ञान में लिखा है—

Language in its widest sense mean the sum total of such signs of our thoughts and feelings as are capable of external perception and as could be produced and repeated at will

पजाब मे आर्य-समाज आन्दोलन के कारण यदि सस्कृत शब्दो का प्रचुर प्रयोग होने लगा, तो आर्य-सस्कृति से द्राविड, यवन, तुर्की तथा यूरोपीय सस्कृतियो के सम्मिश्रण के परिणाम स्वरूप हिन्दी मे अनेक विदेशी शब्दो और ध्वनियो का आगमन हुआ और भाषा परिवर्तित हुई। इसी प्रकार हिन्दी की वाक्य-रचना, मुहावरो, लोकोक्तियो आदि पर भी विदेशी भाषाओ का प्रभाव पडा और हिन्दी भाषा विकसित हुई।

(ग) **समाज-व्यवस्था**—सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव समाज के जनजीवन पर पडना स्वाभाविक है। समाज-व्यवस्था शान्ति और युद्ध को जन्म देती है और इन दोनो का भाषा के विकास पर पर्याप्त प्रभाव पडता है। युद्ध और क्रान्ति के समय भाषा तीव्र वेग से बदलती है जबकि शान्ति के क्षणो मे वह अधिक स्थिर रहती है।

(घ) **बोलने वालो की उन्नति**—मानसिक स्तरकी बात हम ऊपर कह चुके है कि बोलने वालो का मानसिक स्तर ऊचा होने पर उनकी भाषा भी उन्नत हो जाती है। इसी प्रकार भौतिक उन्नति, विज्ञानके नए आविष्कारो आदि के फलस्वरूप नई वस्तुओ का आविर्भाव होता है, उनका नामकरण होता है और इस प्रकार भाषा मे नए शब्द आते हैं, पुराने शब्दो को नई अर्थवत्ता प्राप्त होती है।

भाषा के विकास में व्याघात और उसके कारण

यह सच है कि भाषाएँ निरन्तर परिवर्तन और विकास के मार्ग पर अग्रसर होती रहती है, परन्तु यह परिवर्तन शनै शनै होता है। यदि ऐसा न हो और भाषा मे परिवर्तन तीव्र वेग से हो, तो समाज मे अराजकता और अव्यवस्था फैल जाए, लोग एक दूसरे को न समझ पाएँ। अत भाषा मे परिवर्तन होता तो है, पर त्वरित वेग से नही। इसके निम्न कारण हैं—

(क) **भौगोलिक परिस्थिति**—पहाडी, दलदली, रेगिस्तानी, प्रदेशो मे जहाँ आवागमन के साधन कम हैं और बाह्य सम्पर्क एव प्रभाव के अवसर अत्यन्त अल्प है, भाषा बहुत धीरे-धीरे विकसित होती है इसी प्रकार जहाँ आजीविकाके साधन विरल हैं, लोगो को अधिकाश समय और शक्ति खाद्यान्न जुटाने मे ही लगानी पडती है और कलाओ के विकास के लिए अवसर नही मिल पाता, भाषा का विकास मद गति से होता है।

(ख) मनुष्य की प्रकृति है कि वह कठिनाई से दूर भागता है। यदि वह भाषा का परम्परागत तथा प्रचलित रूप प्रयोग मे लाएगा, तो अपनी बात को सहज ही समझा सकेगा। नए नए प्रयोग करने से तो कठिनाई आएगी। अत अस्पष्टता, विरोध, समाज की हसी आदि से बचने के लिए वह भाषा का परम्परागत और प्रचलित प्रयोग ही करता है जिससे भाषा मे परिवर्तन कम होते हैं।

(ग) **व्याकरण**—व्याकरण के नियम भी भाषा के विकास मे बाधक होते हैं। व्याकरण के नियमो का ध्यान रखने के कारण ही हम रूढ, नियम बद्ध, परम्परित भाषा का प्रयोग करते हैं और नवीन प्रयोगो से बचने का प्रयत्न करते हैं शिक्षा, समाचार-पत्र और रेडियो में प्रयुक्त परिनिष्ठित भाषा (standard language) भी भाषा के विकास मे बाधक होती है क्योंकि अधिकतर लोग उसी का प्रयोग करने का प्रयत्न करते हैं।

साराश यह है कि भाषा स्वभावत परिवर्तनशील है, पर कतिपय समाजगत कारणो से उसका विकास मन्द गति से होता है।

वाय या जाति बिरादरी की बोलियाँ सकेत से प्रगट होने वाली साकेतिक ध्वनियाँ या व्यक्ति विशेष की बोलियाँ अथवा विभाषा भाषा के नाम से पुकारी जाती हैं। कुछ लोग कृत्रिम बोलियों को भी भाषा ही कहा करते हैं।

भाषा को अनेक रूपों मे वर्गीकृत करने के कई आधार हैं—इतिहास भूगोल प्रयोग लघुता प्रचलन और निर्माता। इन आधारों पर भाषा के सैकड़ों भेद उपभेद किये जा सकते है पर हम यहाँ कुछ प्रमुख भेदों का ही विवरण प्रस्तुत करते हैं।

(१) मूल भाषा—किसी एक स्थान की वह भाषा जो आरम्भ मे वहाँ के रहने वालो द्वारा व्यवहृत हुई होगी और जिससे आगे चलकर ऐतिहासिक एव भौगोलिक कारणो से अनेक भाषा विभाषा और उपबोलियाँ बनी होंगी मूल भाषा कही जाती है। भाषाओ के पारिवारिक वर्गीकरण का यही आधार होती है। उदाहरण के लिए भारोपीय परिवार की Indo European भाषा मूल भाषा कहलाती है। उसी से आगे चलकर भौगोलिक कारणो या जनसख्या आदि के फलस्वरूप अन्यान्य भाषाएँ (सस्कृत अवेस्ता ग्रीक लैटिन आदि) बनी।

(२) व्यक्ति भाषा—(Idiolect)—एक व्यक्ति की भाषा को व्यक्तिभाषा कहते है। यह भाषा का लघुतम रूप होता है वैसे तो व्यक्ति की भी भाषा प्रतिक्षण बदलती है फिर भी वह भाषा जो कोई व्यक्ति जन्म से मृत्यु पर्यन्त बोलता है व्यक्ति भाषा कहलाती है।

(३) उपबोली या स्थानीय बोली—बहुत सी व्यक्ति भाषाओ का सामूहिक रूप उपबोली कहलाता है। इसका क्षेत्र बहुत छोटा होता है। एक बोली मे कई उप बोलियाँ होती हैं जिनमे परस्पर बहुत कम अन्तर होता है उदाहरण के लिए, अवधी या भोजपुरी की कई-कई उपबोलियाँ हैं। अंग्रेजी मे इसे sub-dialect कहते हैं और कुछ लोग इसके लिए फ्रेंच शब्द Patois 'पैटवा' का भी प्रयोग करते हैं। डा श्याम सुन्दरदास ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु पैटवा मे कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो उसे उपबोली से भिन्न बना देती है यूरोप के विद्वानो के अनुसार पैटवा मे चार विशेषताएँ होती हैं—(१) यह बोली से अपेक्षाकृत छोटा स्थानीय रूप है। (२) यह असाहित्यिक होती है। (३) यह असाधु होती है (४) यह अशिक्षित और निम्न स्तर के लोगो द्वारा प्रयुक्त होती है। बोली मे ये सब बातें हो भी सकती है और नहीं भी। उदाहरण के लिए राजस्थानी मे ऐसी कई उपबोलियाँ है जिनमे साहित्यिक रच नायें हुई हैं, अत वह उपबोली तो है परन्तु पैटवा नही।

(४) बोली विभाषा या उपभाषा (Dialect)—बहुत सी मिलती-जुलती उपबोलियो का सामूहिक रूप बोली है। एक भाषा-क्षेत्र मे कई बोलियाँ हो सकती हैं जैसे हिन्दी क्षेत्र मे खड़ी बोली ब्रज अवधी आदि बोलियाँ हैं और एक बोली में कई उपबोलियाँ हो सकती हैं जैसे बुन्देली बोली के अन्तर्गत लोधाटी राठौरी तथा पवरी आदि उपबोलियाँ आती हैं। डा भोलानाथ तिवारी ने बोली की व्याख्या निम्न शब्दो मे की है, 'बोली किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते हैं जो ध्वनि रूप गठन अर्थ शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से उस भाषा के परि

अर्थात् अपने विचारो और भावनाओ को प्रकट करने वाले उन ध्वनि-चिन्हो को भाषा कहते हैं जो अपनी इच्छानुसार दूसरो को बोध कराने के लिए प्रकट किए जाते हैं।

३ नलिनी मोहन सान्याल ने लिखा है'अपने स्वर को विविध प्रकार से सयुक्त तथा विन्यस्त करने से उसके जो-जो आकार होते हैं, उनको सकेतो के सदृश्य व्यवहार कर अपनी चिन्ताओ को तथा मनोभावो को जिस साधन से हम प्रकाशित करते हैं उस साधन को भापा कहते हैं। भापा हमारी चिन्ता का वाहरी प्रकाश है।'

४ डा० मगलदेव शास्त्री ने लिखा है 'भापा मनुष्यो की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवो से उच्चारण किए गए वर्णनात्मक या व्यक्त शब्दो के द्वारा अपने विचारो को प्रकट करते हैं।' डा० शास्त्री की इस परिभाषा पर महाभाष्य का पूरा २ प्रभाव है।

५ डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है 'मनुष्य और मनुष्य के वीच वस्तुओ के विषय मे अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि सकेतो का जो व्यवहार होता है उसे भापा कहते हैं।'

६ डा० वावूराम सक्सेना ने लिखा है 'जिन ध्वनि-चिन्हो द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है उनके समष्टि रूप को भापा कहते है।' भाषा के इस लक्षण मे विचार के अन्तर्गत भाव और इच्छा भी है।

७ डा० भोलानाथ तिवारी ने लिखा है 'भाषा के लिए भाव या विचार आवश्यक हैं, मनुष्य पहले भावो का अनुभव करता है जिसे वह किसी के प्रति प्रकट करना चाहता है। विचार के स्पष्टीकरण का साधन इगित तथा मुख से निकले हुए वर्णनात्मक शब्द है। व्यक्त ध्वनि सकेतो से तात्पर्य मुख से निकले हुए स्पष्ट शब्द हैं। मुख से निकले हुए सार्थक और सप्रयोजन ध्वनिया ही भापा के अन्तर्गत ली जाती हैं। भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप मनुष्य के मुख से नि सृत वह सार्थक ध्वनि-समष्टि है जिसका विश्लेषण और अध्ययन हो सके।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओ का अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषा ध्वनि सकेतो को कहते हैं किन्तु ये ध्वनि सकेत तभी भापा का रूप धारण करते हैं जब इनके द्वारा मनुष्य अपनी इच्छा या मति अथवा अपनी चिन्ता या मनोभाव आदि को प्रगट करते हैं। इसके अतिरिक्त इन ध्वनि सकेतो को सार्थक भी होना चाहिए क्योकि निरर्थक ध्वनिया भापा की सहज सम्पत्ति नही वनती।

वोली, विभाषा आदि सभी को भापा नाम से पुकारा जाता है, उसका कारण यह है कि भापा के जो अग होते हैं वे वोली और विभापा मे भी पाये जाते हैं। विद्वानो ने भाषा के ६ अग स्वीकार किए हैं—(१) सकेत (२) मुख विकृति (३) स्वर-विकार (लहजा) (४) स्वर (५) वल प्रयोग (६) प्रवाह। ये सभी अग वोली और विभाषाओ मे भी रहते हैं। इसी कारण स्थानीय या प्रान्तीय वोलिया,भिन्न धर्म सम्प्र-

के रूप में थी किन्तु विदेशियों के आगमन तथा बौद्ध धर्म के उत्थान के कारण संस्कृत का एकछत्र राज्य छिन्न भिन्न हो गया और उसके स्थान पर शौरसेनी मागधी आदि विभाषाओं ने सिर उठाया। कालान्तर में शासकों का आश्रय प्राप्त होने के कारण मागधी विभाषा ही राष्ट्रभाषा बन गई। इतना ही नहीं आभीर राजाओं का उत्थान होने के कारण शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसैनी अपभ्रंश भाषाएं भी कुछ दिनों तक राष्ट्र भाषाएं बनी रहीं। तदनन्तर मुसलमानों के प्रभाव से फारसी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हुआ और अंग्रेजों के प्रभुत्व के कारण यहां अंग्रेजी भी कुछ दिनों तक राष्ट्रभाषा बनी रही किन्तु आज ब्रज अवधी आदि कितनी ही पुरानी विभाषाओं के जीवित रहने पर भी मेरठ और दिल्ली के आसपास की एक बोली क्रमश: विभाषा का रूप धारण करती हुई राष्ट्रभाषा बनी है। यह बोली ही आज हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी के नाम से राष्ट्र पर राज्य कर रही है और ब्रज तथा अवधी जैसी साहित्यिक विभाषाएं केवल उसकी विभाषाएं ही कहलाती हैं। आज इस राष्ट्रभाषा के अन्तर्गत खड़ी बोली ब्रज राजस्थानी अवधी बिहारी आदि अनेक भाषाएं और उपभाषाएं आ जाती हैं क्योंकि इन सबके क्षेत्रों में यह बसती हुई टकसाली हिन्दी व्यवहार में आती है। अत: उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि एक साधारण बोली ही क्रमश: विकास को प्राप्त होती हुई विभाषा का रूप धारण करती है और जब वह एक विशिष्ट जनसमुदाय की बोलचाल और साहित्य की भाषा बन जाती है तब उसके विकास का क्षेत्र बढ़ने लगता है। कुछ राजनीतिक धार्मिक आदि कारणों से वही बोली विभाषा के क्षेत्र को पार करती हुई राष्ट्रभाषा के पद तक पहुंच जाती है। आज हिन्दी को जो राष्ट्रभाषा पद मिला है उसके लिए राजनीतिक और ऐतिहासिक कारण सहायक हैं। यह हिन्दी बोली रूप में एक सीमित क्षेत्र की भाषा थी विभाषा बनकर अपने जन्म स्थान के प्रांत में रही और आज राष्ट्रभाषा बनकर सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त है।

(७) विशिष्ट भाषा—व्यवसाय या कार्य विशेष या विषय विशेष आदि के लिए लोग भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। ये भाषाएं आदर्श भाषा के ही विभिन्न रूप होते हैं पर इनमें शब्द-समूह मुहावरों तथा शब्द प्रयोगों सम्बन्धी भिन्नता होती है। कभी-कभी उच्चारण में भी भेद होता है। व्यापारी-वर्ग छात्रों कोरियों कहारों धार्मिक वर्गों राजनीतिक संस्थाओं की भाषा इसी प्रकार की होती है।

(८) कृत्रिम भाषा—जो भाषा स्वत: सहज रूप में विकसित न होकर किसी विशिष्ट कार्य के लिए प्रयत्नपूर्वक निर्मित की जाए उसे कृत्रिम भाषा कहते हैं। इसके दो रूप होते हैं—(१) गुप्त भाषा (२) सामान्य भाषा। गुप्त भाषा का प्रयोग चोर डाकू क्रान्तिकारी आदि करते हैं और वे शब्दों की तोड़-मरोड़ कर अथवा कुछ सामान्य शब्दों को नये अर्थों में प्रयोग कर अपनी गुप्त भाषा बनाते हैं ताकि दूसरे उसे न समझ सकें। कृत्रिम भाषा का सामान्य रूप प्रचलित भाषा से मिलता-जुलता होता है और वह ऐसे बनाई जाती है कि दूसरे लोग उसे समझ सकें। डॉ जमेनहाफ की बनाई एसपिरेंटो भाषा इसी प्रकार की कृत्रिम भाषा है।

निष्ठत तथा अन्य क्षेत्रीय रूपो से भिन्न होता है, किन्तु इतना भिन्न नहीं कि अन्य रूपो के बोलनेवाले उसे समझ न सकें, साथ ही जिसके अपने क्षेत्र मे कही भी बोलनेवालो के उच्चारण, रूप-रचना, वाक्य गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरो आदि मे कोई बहुत स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण भिन्नता नही होती।

बोली तभी तक बोली कही जाती है, जब तक उसे साहित्य, धर्म, व्यापार या राजनीति के कारण महत्त्व प्राप्त नही हो जाता। यह महत्त्व प्राप्त होने पर वह भाषा कहलाने लगती है। यदि वह पडोसी बोलियो से इतनी विकसित एव भिन हो जाय कि पडौसी बोली बोलने वाले उसे न समझ सकें, तो भी वह बोली नही कहलाती। ऐसी स्थिति मे वह 'भाषा' कहलाने लगती है। आरभ मे सस्कृत, हिन्दी आदि बोलिया ही थी, पर या तो किसी प्रकार का महत्त्व पाने अथवा विकास के कारण वे भाषाए बन गई। कभी-कभी या तो अपनी अन्य बहनो से अलग हो जाने के कारण अथवा उनके मर जाने के कारण कोई बोली महत्त्व को प्राप्त होकर 'भाषा' बन जाती है। ब्राहुई इसी कारण भाषा कहलायी। धार्मिक श्रेष्ठता भी बोली को भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कर देती है। अवधी मे राम-साहित्य और ब्रज मे कृष्ण-साहित्य लिखे जाने के फलस्वरूप ही ये बोलियाँ भाषा बन गई। बोलने वालो के महत्त्व तथा राजनीतिक कारणो मे भी बोली भाषा बन जाती है। अग्रेजो के राजनीतिक प्रभुत्व एव उनकी व्यापारिक उन्नति के कारण ही उनकी बोली अग्रेजी भाषा ही नही, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बन बैठी। इसी प्रकार दिल्ली के राजधानी होने के कारण वहा की बोली भाषा और अब राष्ट्रभाषा बन गई है।

(५)**आदर्श, परिनिष्ठित या टकसाली भाषा** जब एक भाषा-क्षेत्र की किसी एक बोली को आदर्श मान लिया जाय और पूरे क्षेत्र से सम्बन्धित कार्यों मे उसका उपयोग होने लगे तो उसे आदर्श या परिनिष्ठित भाषा कहा जाता है। यह भाषा शिक्षित वर्ग, पत्र-व्यवहार और समाचार-पत्रो की भाषा होती है और साहित्य मे भी इसका प्रयोग होता है। आदर्श भाषा न केवल आसपास की बोलियो को ही प्रभावित करती है, अपितु उन्हे कभी-कभी समाप्त भी कर देती है। उदाहरण के लिए, रोम की लैटिन ने आदर्श भाषा बनने पर आसपास की बोलियो को शीघ्र ही समाप्त कर दिया। इसे अग्रेजी मे standard language या koine भी कहते हैं। आदर्श भाषा लिखित होने के कारण कुछ दिनो मे स्थिर हो जाती है और उसका रूप प्राचीन पड जाता है।

(६)**राष्ट्रभाषा**—जब कोई भाषा किसी राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक अथवा धार्मिक आन्दोलनो के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र के दैनिक व्यवहार में आने लगती है अथवा सारा राष्ट्र उसे अपने राज्य-कार्य के लिए उपयुक्त समझ लेता है, तब वह राष्ट्रभाषा बन जाती है। आधुनिक भारतीय भाषाओ मे से हिन्दी भाषा इसीलिए राष्ट्रभाषा बनी है कि वह अन्तर्प्रान्तीय कार्यों मे व्यवहृत होने के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र ने स्वीकार की है।

भारत मे प्राय राष्ट्रभाषा मध्यदेश की भाषा ही बनती रही है क्योकि मध्यदेश राजनीतिक एव सास्कृतिक केन्द्र रहा है। सबसे पहले यहाँ सस्कृत राष्ट्रभाषा

के रूप में थी किन्तु विदेशियों के आगमन तथा बौद्ध धर्म के उत्थान के कारण संस्कृत का एकछत्र राज्य छिन्न भिन्न हो गया और उसके स्थान पर शौरसेनी मागधी आदि विभाषाओं ने सिर उठाया। कालान्तर में शासकों का आश्रय प्राप्त होने के कारण मागधी विभाषा ही राष्ट्रभाषा बन गई। इतना ही नहीं आभीर राजाओं का उत्थान होने के कारण शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश भाषाएं भी कुछ दिनों तक राष्ट्र भाषाएं बनी रहीं। *तदनन्तर मुसलमानों के प्रभाव से फारसी को राष्ट्रभाषा का* पद प्राप्त हुआ और अंग्रेजों के प्रभुत्व के कारण यहां अंग्रेजी कुछ दिनों तक राष्ट्रभाषा बनी रही किन्तु आज ब्रज अवधी आदि कितनी ही पुरानी विभाषाओं के जीवित रहने पर भी मेरठ और दिल्ली के आसपास की एक बोली क्रमशः विभाषा का रूप धारण करती हुई राष्ट्रभाषा बनी है। वह बोली ही आज हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी के नाम से राष्ट्र पर राज्य कर रही है और ब्रज तथा अवधी जैसी साहित्यिक विभाषाएं केवल उसकी विभाषाएं ही कहलाती हैं। आज इस राष्ट्रभाषा के अन्तर्गत खड़ी बोली ब्रज राजस्थानी अवधी बिहारी आदि अनेक भाषाएं और उपभाषाएं आ जाती हैं क्योंकि इन सबके क्षेत्रों में यह चलती हुई टकसाली हिन्दी व्यवहार में आती है। अतः उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि एक साधारण बोली ही क्रमशः विकास को प्राप्त होती हुई विभाषा का रूप धारण करती है और जब वह एक विशिष्ट जनसमुदाय की बोलचाल और साहित्य की भाषा बन जाती है तब उसके विकास का क्षेत्र बढ़ने लगता है। कुछ राजनीतिक धार्मिक आदि *कारणों से वही बोली विभाषा के क्षेत्र को पार करती हुई राष्ट्रभाषा के पद तक पहुंच* जाती है। आज हिन्दी को जो राष्ट्रभाषा पद मिला है उसके लिए राजनीतिक और ऐतिहासिक कारण सहायक हैं। यह हिन्दी बोली रूप में एक सीमित क्षेत्र की भाषा थी विभाषा बनकर अपने जन्म स्थान के प्रांत में रही और आज राष्ट्रभाषा बनकर सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त है।

(७) विशिष्ट भाषा—व्यवसाय या कार्य विशेष या विषय-विशेष आदि के लिए लोग भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। ये भाषाएं आदर्श भाषा के ही विभिन्न रूप होते हैं पर इनमें शब्द-समूह, मुहावरों तथा शब्द प्रयोगों सम्बन्धी भिन्नता होती है। कभी-कभी उच्चारण में भी भेद होता है। व्यापारी-वर्ग कारों धोबियों कहारों धार्मिक सर्वों राजनीतिक संस्थाओं की भाषा इसी प्रकार की होती है।

(८) कृत्रिम भाषा—जो भाषा स्वतः सहज रूप में विकसित न होकर किसी विशिष्ट कार्य के लिए प्रयत्नपूर्वक निर्मित की जाय उसे कृत्रिम भाषा कहते हैं। इसके दो रूप होते हैं—(१) गुप्त भाषा (२) सामान्य भाषा। गुप्त भाषा का प्रयोग चोर डाकू क्रान्तिकारी आदि करते हैं और वे शब्दों की तोड़-मरोड़ कर अथवा कुछ सामान्य शब्दों को नये अर्थों में प्रयोग कर अपनी गुप्त भाषा बनाते हैं ताकि दूसरे उसे न समझ सकें। कृत्रिम भाषा का सामान्य रूप प्रचलित भाषा से मिलता-जुलता होता है और वह ऐसे बनाई जाती है कि दूसरे लोग उसे समझ सकें। डॉ जमेनहाफ की बनाई एसपिरेंटो भाषा इसी प्रकार की कृत्रिम भाषा है।

हिन्दी की सभी स्वर ध्वनियां सानुनासिक रूप में भी व्यवहृत होती हैं।

व्यञ्जन ध्वनियां—क् ख् ग् घ् ङ्।
च् छ् ज् झ् ञ्।
ट् ठ् ड् ढ् ण्।
त् थ् द् ध् न् न्ह्।
प् फ् ब् भ् म् म्ह्।
य् र् ल् व् ल्ह् र्ह्।
स् श् ह्।

इन ध्वनियों को विद्वानों ने कितने ही ढंग से वर्गीकृत किया है—कभी स्थान के आधार पर कभी प्रयत्न के आधार पर, कभी श्रवणीयता के आधार पर तो कभी कंठ पिटक में स्थित स्वर-तंत्रियों की स्थिति के आधार पर।

श्रवणीयता के आधार पर वर्गीकरण—इस आधार पर ध्वनियों के दो वर्ग किए गए हैं—स्वर और व्यंजन।

जो ध्वनियां बिना किसी अवरोध के अनायास बाहर निकलती हैं और इसलिए दूर तक सुनाई देती हैं अर्थात् जिनमें श्रवणीयता सबसे अधिक होती है वे स्वर कहलाती हैं।

इसके विपरीत जो ध्वनियां श्वास या प्रयत्न के उपरान्त बाहर निकलती हैं जिनके उच्चारण में थोड़ा-बहुत अवरोध होता है जो बिना स्वर की सहायता के नहीं बोली जा सकती और जिनकी श्रवणीयता भी सीमित होती है, वे व्यंजन कहलाती हैं।

कण्ठ-पिटक में स्थित स्वर-तन्त्रियों की स्थिति के आधार पर

इस आधार पर ध्वनियों के तीन भेद किये गये हैं—१ नाद या घोष २ श्वास या अघोष ३ जपित।

नाद या घोष ध्वनियां—जब स्वर-तन्त्रियां परस्पर इतनी मिली रहती हैं कि हवा अन्दर से धक्का देकर उनके बीच में से बाहर निकलती है और इस प्रकार ध्वनि उत्पन्न होती है तो ये ध्वनियां नाद या घोष कहलाती हैं। हिन्दी के सब स्वर, प्रत्येक वर्ग के तीसरे चौथे और पांचवें वर्ण तथा य र ल व और ह घोष या नाद ध्वनियों के अन्तर्गत आते हैं।

अघोष या श्वास ध्वनियां—जब स्वर-तन्त्रियां एक दूसरे से दूर रहती हैं और हवा सुगमतापूर्वक उनमें से निकल जाती है तब जो ध्वनियां उत्पन्न होती हैं वे श्वास या अघोष कहलाती हैं। हिन्दी के प्रत्येक वर्ग के प्रथम और द्वितीय वर्ण तथा श स अघोष ध्वनियों के अन्तर्गत आते हैं।

जपित ध्वनियां—जब हम अपने समीप बैठे हुए किसी व्यक्ति के कान में फुसफुसाकर बात करते हैं तो उस समय जो ध्वनियां करते हैं, वे जपित या उपांशु

ध्वनियाँ कहलाती हैं। इन जपित ध्वनियो का व्यवहार अधिक नही होता।

स्वरो का वर्गीकरण

स्वरो का वर्गीकरण तीन दृष्टियो से किया गया है—(१) जिह्वा की स्थिति के आधार पर (२) ओठो की स्थिति के विचार से (३) मासपेशियो की शिथिलता एव दृढता की दृष्टि से।

(१) जिह्वा की स्थिति के आधार पर—जिह्वा के तीन भाग हैं—अग्र, मध्य और पश्च। स्वरो का उच्चारण करते समय जिह्वा का जो भाग सक्रिय होता है, उसी के आधार पर स्वरो को अग्र स्वर, पश्च स्वर और मध्य स्वर कहा जाता है।

अग्र स्वर—जिस स्वर का उच्चारण करते समय जीभ का अग्र स्वर कार्य करता है और वह स्वर-त्रिकोण के वाईं ओर गिरती है, उसे अग्र स्वर कहते है, जैसे ई, इ, ए, ऍ, ऐ ।

पश्च स्वर—जिस स्वर का उच्चारण करते समय जीभ का पश्च भाग कार्य करता है और वह स्वर-त्रिकोण के दाहिने ओर वढती है, उसे पश्च स्वर कहते हैं, जैसे—ऊ, उ, ओ, औ, आ।

मध्य स्वर—जिस स्वर का उच्चारण करते समय जीभ का मध्य भाग कार्य करे और वह स्वर-त्रिकोण के मध्य मे गिरती है, उसे मध्य स्वर कहते हैं, जैसे अ।

(२) ओठो की स्थिति के आधार पर—ध्वनियों का उच्चारण करते समय कभी तो व्यक्ति के ओठ स्वाभाविक स्थिति मे रहते हैं, कभी सकुचित हो जाते हैं और कभी गोलाकार हो जाते हैं। इन सभी अवस्थाओ का विचार करने के उपरान्त स्वरो को दो भागो मे बाटा गया है—(१) वृत्ताकार स्वर (२) अवृत्ताकार स्वर।

वृत्ताकार स्वर—वृत्ताकार स्वर वे है जिनके उच्चारण करने मे हमारे ओठो की आकृति गोल हो जाती है जैसे उ, ऊ।

अवृत्ताकार स्वर—हिन्दी के शेष सभी स्वर अवृत्ताकार है क्योकि उनके उच्चारण मे ओठ सामान्य स्थिति मे रहते हैं।

(३) मास-पेशियो की शिथिलता और दृढता के विचार से स्वरो के दो वर्ग किये गये हैं—(क) दृढ स्वर, (ख) शिथिल स्वर।

दृढ़ स्वर—जिन स्वरो के उच्चारण मे मुख की मास-पेशियाँ अथवा कण्ठ पिटक और चिवुक के बीच का भाग दृढ हो जाता है, वे दृढ़ स्वर कहलाते हैं जैसे ई, ऊ।

शिथिल स्वर—जिन स्वरो के उच्चारण मे मुख की मास-पेशियाँ शिथिल रहती हैं, उन्हे शिथिल स्वर कहते हैं जैसे इ, उ।

कुछ अन्य दृष्टियो से भी स्वरो को वर्गीकृत किया गया है, जैसे अनुनासिक स्वर, मेघ स्वर, सयुक्त स्वर आदि।

अनुनासिक स्वर—जिन स्वरों के उच्चारण मे काकल इस प्रकार आ जाता है कि श्वास का कुछ भाग मुख से और कुछ नासिका-मार्ग से निकले तो वे स्वर अनुनासिक कहे जाते हैं। जैसे अँ आँ ईं आदि।

मेद स्वर—जो स्वर झटके के साथ बोले जायें वे मेद स्वर कहलाते हैं।

संयुक्त स्वर—जब दो भिन्न स्वर संयुक्त हो जायें तो वे संयुक्त स्वर कहलाते हैं। संस्कृत में ऐ और औ संयुक्त स्वर थे पर हिन्दी में ये मूल स्वर में परिवत हो गए हैं। हिन्दी में दो या कहीं-कहीं तीन स्वरों के अव्यवहित रूप मे सम्पर्कित होने के उदाहरण मिलते हैं। यथा अई, अए अउ आओ आई आदि।

व्यंजनों का वर्गीकरण

विद्वानों ने हिन्दी की व्यंजन ध्वनियों का वर्गीकरण भी अनेक दृष्टियों से किया है, जैसे उच्चारण-स्थान प्रयत्न स्वरतंत्रियों की स्थिति तथा प्राणत्व के आधार पर। इनमें से स्वर-तंत्रियों की स्थिति के आधार पर व्यंजनों के दो वर्ग होते हैं—घोष और अघोष और हम इनका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। शेष तीन का विवरण नीचे दे रहे हैं। किसी भी ध्वनि का उच्चारण करते समय हमारी जिह्वा अन्दर से आती हुई श्वास को विकृत करती है। यह श्वास जिस स्थान पर विकृत हो ध्वनि उत्पन्न करती है, उसे ध्वनि का उच्चारण-स्थान कहते हैं। इसके आधार पर भी ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है।

उच्चारण-स्थान के आधार पर

(क) कण्ठ्य ध्वनियाँ—जब जिह्वा का पिछला भाग कोमल तालु का स्पर्श करता है उस समय ये ध्वनियाँ कण्ठ से उत्पन्न होती हैं। हिन्दी की क ख ग घ ङ ध्वनियाँ कण्ठ्य हैं।

(ख) तालव्य ध्वनियाँ—इनके उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग दन्तपंक्ति के पीछे के भाग कठोर तालु को देर तक स्पर्श करता है। हिन्दी की च छ ज झ, ञ श और य ध्वनियाँ तालव्य ध्वनियाँ हैं।

(ग) मूर्धन्य ध्वनियाँ—इनके उच्चारण मे जिह्वा का अग्र भाग किंचित मुड़कर कठोर तालु के पिछले भाग या मूर्धा को स्पर्श करता है। हिन्दी की ट, ठ ड ढ ण ड़ ढ़ ध्वनियाँ मूर्धन्य हैं।

(घ) दन्त्य ध्वनियाँ—इनके उच्चारण में जीभ ऊपरी मसूढ़े को स्पर्श करती है और ऐसा जान पड़ता है कि वह बहुत धीरे से दाँतों को स्पर्श कर रही है। हिन्दी की त थ द ध ध्वनियाँ दन्त्य हैं।

(ङ) ओष्ठ्य ध्वनियाँ—इनके उच्चारण में दोनों ओठ मिल जाते हैं जिससे निर्गत श्वास का पूर्ण रूप से अवरोध हो जाता है और तत्पश्चात् सहसा उसका स्फोट होता है। हिन्दी की प फ ब भ म म्ह और व ध्वनियाँ ओष्ठ्य हैं।

ध्वनियाँ कहलाती हैं। इन जपित ध्वनियो का व्यवहार अधिक नही होता।

स्वरो का वर्गीकरण

स्वरो का वर्गीकरण तीन दृष्टियो से किया गया है—(१) जिह्वा की स्थिति के आधार पर (२) ओठो की स्थिति के विचार से (३) मासपेशियो की शिथिलता एव दृढता की दृष्टि से।

(१) **जिह्वा की स्थिति के आधार पर**—जिह्वा के तीन भाग है—अग्र, मध्य और पश्च। स्वरो का उच्चारण करते समय जिह्वा का जो भाग सक्रिय होता है, उसी के आधार पर स्वरो को अग्र स्वर, पश्च स्वर और मध्य स्वर कहा जाता है।

अग्र स्वर—जिस स्वर का उच्चारण करते समय जीभ का अग्र स्वर कार्य करता है और वह स्वर-त्रिकोण के बाई ओर गिरती है, उसे अग्र स्वर कहते हैं, जैसे ई, इ, ए, एँ, ऐ॰।

पश्च स्वर—जिस स्वर का उच्चारण करते समय जीभ का पश्च भाग कार्य करता है और वह स्वर-त्रिकोण के दाहिने ओर बढती है, उसे पश्च स्वर कहते हैं, जैसे—ऊ, उ, ओ, औ॰, आ।

मध्य स्वर—जिस स्वर का उच्चारण करते समय जीभ का मध्य भाग कार्य करे और वह स्वर-त्रिकोण के मध्य मे गिरती है, उसे मध्य स्वर कहते हैं, जैसे अ।

(२) **ओठो की स्थिति के आधार पर**—ध्वनियो का उच्चारण करते समय कभी तो व्यक्ति के ओठ स्वाभाविक स्थिति मे रहते हैं, कभी सकुचित हो जाते हैं और कभी गोलाकार हो जाते हैं। इन सभी अवस्थाओ का विचार करने के उपरान्त स्वरो को दो भागो मे बाटा गया है—(१) वृत्ताकार स्वर (२) अवृत्ताकार स्वर।

वृत्ताकार स्वर—वृत्ताकार स्वर वे है जिनके उच्चारण करने मे हमारे ओठो की आकृति गोल हो जाती है जैसे उ, ऊ।

अवृत्ताकार स्वर—हिन्दी के शेष सभी स्वर अवृत्ताकार हैं क्योकि उनके उच्चारण मे ओठ सामान्य स्थिति मे रहते हैं।

(३) मास-पेशियो की शिथिलता और दृढता के विचार से स्वरो के दो वर्ग किये गये हैं—(क) दृढ स्वर, (ख) शिथिल स्वर।

दृढ़ स्वर—जिन स्वरो के उच्चारण मे मुख की मास-पेशियाँ अथवा कण्ठ पिटक और चिबुक के बीच का भाग दृढ़ हो जाता है, वे दृढ स्वर कहलाते हैं जैसे ई, ऊ।

शिथिल स्वर—जिन स्वरो के उच्चारण मे मुख की मास-पेशियाँ शिथिल रहती हैं, उन्हे शिथिल स्वर कहते हैं जैसे इ, उ।

कुछ अन्य दृष्टियो से भी स्वरो को वर्गीकृत किया गया है, जैसे अनुनासिक स्वर, मेघ स्वर, सयुक्त स्वर आदि।

होता है। अतः हवा कुछ मुख-द्वार से और कुछ नासिका विवर से होकर निकलती है। हिन्दी के निम्न व्यंजन अनुनासिक हैं—

ङ् ञ् ण्, न्, न्ह् म् म्ह।

(५) पार्श्विक व्यंजन—इन ध्वनियों के उच्चारण में जीभ की नोक ऊपर के मसूड़ों को अच्छी तरह छूती है। इनके उच्चारण के समय जीभ के दाएं-बाएं जगह छूट जाती है जिसके कारण वायु पार्श्व से निकल जाती है और कंठपिटक में भी कंपन होता है। हिन्दी की पार्श्विक ध्वनियां हैं—

ल् ल्ह्।

(६) लुंठित व्यंजन—इनके उच्चारण में जीभ की नोक वर्त्स या ऊपर के मसूड़े को शीघ्रता से कई बार स्पर्श करती है। हिन्दी की लुंठित ध्वनियां हैं—

र् र्ह्।

(७) उत्क्षिप्त या ताड़नजात व्यंजन—इनका उच्चारण जीभ की नोक को उलटकर नीचे के भाग से कठोर तालु को झटके के साथ कुछ दूर तक छूकर किया जाता है। हिन्दी की उत्क्षिप्त ध्वनियां हैं—

ड़ ढ़।

मिश्रित व्यंजन या अर्ध स्वर या अन्तस्थ ध्वनियां—इस वर्ग में दो ध्वनियां आती हैं—य् और व्। य् का उच्चारण जीभ के अगले भाग को कठोर तालु की ओर ले जाकर किया जाता है किन्तु जीभ न तो तालु को अच्छी तरह छूती है और न दूर ही रहती है।

व् के उच्चारण में दोनों ओठ एक दूसरे को दोनों छोरों पर स्पर्श करते हैं तथा बहिर्गत वायु के लिए मध्य में मार्ग छोड़ देते हैं। इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग कोमल तालु की ओर और अधिक ऊपर उठता है पर कोमल तालु का स्पर्श नहीं कर पाता।

हिन्दी व्यंजनों का वर्गीकरण प्राणत्व के आधार पर भी किया गया है प्राणत्व के आधार पर हिन्दी ध्वनियों के दो वर्ग हैं—अल्पप्राण और महाप्राण।

अल्पप्राण ध्वनियां—क ग् च् ज् ट् ड् प् ब्
महाप्राण ध्वनियां—ख् घ् छ् झ् थ् ध् फ् भ्

(च) वर्त्स्य ध्वनियाँ—इसके उच्चारण मे जीभ का अग्र भाग ऊपरी मसूडे को स्पर्श करता है। हिन्दी की न्, न्ह, ल्, ल्ह, र्, र्ह, और स् ध्वनियाँ वर्त्स्य है।

(छ) जिह्वामूलीय ध्वनियाँ—जिन ध्वनियो का उच्चारण जिह्वा के मूल या अन्तिम भाग से किया जाता है, वे जिह्वामूलीय कहलाती है। हिन्दी की अपनी कोई ध्वनि जिह्वामूलीय नही है, परन्तु मुसलमानी प्रभाव के कारण हिन्दी मे अपनाई गई ध्वनियाँ—क़्, ख़्, ग़् जिह्वामूलीय हैं।

(ज) काकल्य ध्वनिया—ये वे ध्वनि हैं जो काकल के स्थान से उत्पन्न की जाती है जैसे हिन्दी की ह ध्वनि।

प्रयत्नानुसार व्यजनो का वर्गीकरण

भीतर से आती हुई श्वास को विकृत कर उसे ध्वनि मे परिवर्तित करने मे मुख के किसी अवयव को जो कार्य करना पडता है, उसे प्रयत्न कहते हैं। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है—वाह्य प्रयत्न एव आभ्यन्तर प्रयत्न। जो प्रयत्न मुख-विवर से बाहर होता है, उसे वाह्य प्रयत्न कहते हैं और जो प्रयन्न मुख-विवर के भीतर होता है, उसे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। बाह्य प्रयत्न के आधार पर ध्वनियो के दो भेद होते हैं, घोष एव अघोष और हम इनकी चर्चा ऊपर कर आए हैं।

आभ्यन्तर प्रयत्न के अनुसार हिन्दी व्यजन—ध्वनियो के आठ भेद हैं—

(१) स्पर्श या स्फोट व्यजन—इनके उच्चारण मे जिह्वा का कोई भाग तालु मूर्घा, मसूडे आदि को स्पर्श करता है अथवा ओठ मिल जाते हैं,वायु द्वार कुछ समय के लिए वद हो जाता है और तदुपरान्त वायु स्फोट या झोके के साथ निकलती है। हिन्दी की स्पर्श ध्वनियाँ हैं—

क्, ख्, ग्, घ्,
ट्, ठ्, ड्, ढ्,
त्, थ्, द्, ध्,
प्, फ्, ब्, भ्,

(२) घर्ष या सघर्षी व्यजन—इनके उच्चारण मे वायु-मार्ग किसी एक स्थान पर इतना सकीर्ण हो जाता है कि हवा घर्षण करती हुई निकलती है। हिन्दी की सघर्षी ध्वनिया हैं—

स्, श्, ह्।

(३) स्पर्श-सघर्षी व्यजन—इन ध्वनियो के उच्चारण मे जिह्वा का स्पर्श अपेक्षाकृत अधिक होता है, साथ ही स्पर्श के वाद हवा रगड खाकर निकलती है। हिन्दी की निम्न ध्वनिया स्पर्श-सघर्षी हैं—

च्, छ्, ज्, झ्,।

(४) अनुनासिक व्यजन—इन ध्वनियो के उच्चारण मे मुख-द्वार किसी एक स्थान पर बन्द हो जाता है और कोमल तालु के ऊपर उठ जाने से नासिका विवर के द्वार का उतना अवरोध नही होता जैसा कि निरनुनासिक व्यजनो के उच्चारण मे

हो जाता है, उदाहरण के लिए 'करना' का भूतकालिक रूप 'करा' होना चाहिए था पर 'दिया' 'लिया' के सादृश्य पर 'किया' हो गया।

(२) एक भाषा के शब्दों का दूसरी भाषा में प्रवेश। बहुधा विदेशी भाषा से उधार लिये गए शब्दों पर वे ध्वनि नियम लागू नहीं होते जो उस भाषा पर लागू होते हैं जो विदेशी शब्दों को उधार लेती है।

(३) अपवाद मिलने का तीसरा कारण यह भी होता है कि कभी-कभी हम अपनी ही भाषा के उस काल से शब्द उधार ले लेते हैं जब वह नियम विशेष लागू नहीं था।

(४) कभी-कभी अन्य भाषा का मिलता-जुलता शब्द आकर अधिकार जमा लेता है और वह पुराने शब्द का ही परिवर्तित रूप ज्ञात होता है, अतः उसे अपवाद मानना पड़ता है। उदाहरण के लिए, ध्वनि नियम के अनुसार 'कोट्पाल' को 'कोटाल' होना चाहिए था पर फारसी शब्द कोतवाल ने मुसलमानी प्रभाव के कारण अधिकार जमा लिया और हमारे मन में भ्रान्ति पैदा कर दी कि यह ध्वनि नियम का अपवाद है।

सारांश यह है कि ध्वनि नियम से हमारा तात्पर्य ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी उन नियमों से है जो किसी विशिष्ट काल विशिष्ट दशाओं में किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों पर लागू होते हैं। एक भाषा के ध्वनि नियम दूसरी भाषा पर लागू नहीं होते एक भाषा की भी केवल कुछ ध्वनियों पर ही लागू होते हैं और वे किसी एक युग विशेष में कार्य करते हैं।

ग्रिम नियम

यद्यपि इस ध्वनि-नियम की ओर ग्रिम से पूर्व दो विद्वान—बहरे और रैस्क ने भी संकेत किया था और अपने विचार सन् १८१८ में प्रकाशित भी कराए थे तथापि उसका पूरा विवेचन और अपने विचारों को नियम का रूप देने का श्रेय ग्रिम महोदय को ही है इसलिए इस ध्वनि-नियम का नाम ग्रिम नियम पड़ा। ग्रिम महोदय जर्मन विद्वान थे और उन्होंने १८२२ ई० में अपने विचारों को नियम का रूप दिया था। इस नियम का सम्बन्ध मूल भारोपीय भाषा की स्पर्श ध्वनियों से है जो जर्मन भाषाओं में परिवर्तित हो गई। अतः इसे जर्मन भाषा का वर्ण-परिवर्तन भी कहते हैं। जर्मन भाषा का यह वर्ण-परिवर्तन दो बार हुआ—प्रथम वर्ण परिवर्तन ईसा से कई शताब्दी पूर्व और दूसरा वर्ण-परिवर्तन लगभग सातवीं शताब्दी में जब जर्मन लोग ऐंग्लो-सैक्सन लोगों से पृथक हुए।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन

इस वर्ण-परिवर्तन में मूल भारोपीय भाषा की कुछ स्पर्श ध्वनियाँ जर्मन भाषाओं में बदल गई। ये परिवर्तन निम्न प्रकार से व्यक्त किए जा सकते हैं—

: ३९ :

ध्वनि नियम

१. परिभाषा
२. प्राकृतिक नियमों से भेद
३. ध्वनि-नियम में अपवाद के कारण
४ ग्रिम नियम
५. ग्रिम नियम के अपवाद
६. ग्रासमान का नियम
७. वर्नर का नियम
८. तालव्य-भाव का नियम

ध्वनि सम्बन्धी कुछ परिवर्तन तो ऐसे होते है जिनके पीछे कोई नियम नही होता, पर कुछ ध्वनि-परिवर्तन ऐसे भी होते हैं जो अशत या पूर्णत नियमो पर आधारित होते हैं, अर्थात् उनके घटित होने मे परिस्थितियो की एकरूपता रहती है। प्राय सभी नियम विश्लेषण की पद्धति पर बनाए जाते हैं क्योकि बहुत सी वस्तुओ को देख कर, उनका विश्लेषण कर फिर किसी एक सामान्य सिद्धात पर पहुचा जाता है। यही बात ध्वनि-नियम पर लागू होती है। परन्तु ध्वनि नियम तथा प्राकृतिक नियमो मे भेद भी हैं—(१) प्राकृतिक नियम सार्वकालिक होते हैं, वे किसी विशिष्ट युग मे ही घटित नही होते—चार और छ का जोड सदा और सर्वत्र दस ही होगा, इसके विपरीत ध्वनि नियम विशिष्ट भाषा और विशिष्ट काल मे ही कार्य करते देखे जाते हैं। ग्रिम का ध्वनि-नियम सभी भाषाओ की सभी ध्वनियो पर लागू नहीं होता, केवल भारोपीय मूल भाषा की कुछ स्पर्श ध्वनियो पर ही लागू होता है जो जर्मनिक मे बदल गई। (२) काल की भाँति प्राकृतिक नियम स्थान की अपेक्षा नही रखते, वे सर्वत्र लागू होते हैं, पर ध्वनि-नियम स्थान सापेक्ष होते हैं। (३) प्राकृतिक नियम अपवाद विहीन होते हैं, जबकि ध्वनि-नियमो मे अपवाद भी होते हैं। उदाहरण के लिए सस्कृत 'नृत्य' का हिन्दी मे 'नाच' हो गया, पर 'भृत्य' का भाच' नही हुआ।

ध्वनि-नियमो मे अपवाद के प्राय वाह्य कारण होते हैं, आन्तरिक नही क्योकि नियमो का सम्बन्ध प्राय आन्तरिक होता है। इन अपवादो के प्राय चार कारण होते हैं—(१) सादृश्य के कारण नियमानुसार दूसरा रूप धारण करने वाला शब्द कुछ और

ही जाता है उदाहरण के लिए 'करना' का भूतकालिक रूप करा' होना चाहिए था पर 'दिया' 'लिया' के सादृश्य पर किया' हो गया।

(२) एक भाषा के शब्दों का दूसरी भाषा में प्रवेश। बहुधा विदेशी भाषा से उधार लिये गए शब्दों पर वे ध्वनि नियम लागू नहीं होते जो उस भाषा पर लागू होते हैं जो विदेशी शब्दों को उधार लेती है।

(३) अपवाद मिलने का तीसरा कारण यह भी होता है कि कभी-कभी हम अपनी ही भाषा के उस काल से शब्द उधार ले लेते हैं जब वह नियम विशेष लागू नहीं था।

(४) कभी-कभी अन्य भाषा का मिलता-जुलता शब्द आकर अधिकार जमा लेता है और वह पुराने शब्द का ही परिवर्तित रूप ज्ञात होता है अतः उसे अपवाद मानना पड़ता है। उदाहरण के लिए, ध्वनि नियम के अनुसार 'कोट्पाल' को कोटाल' होना चाहिए था पर फारसी शब्द 'कोतवाल' ने मुसलमानी प्रभाव के कारण अधिकार जमा लिया और हमारे मन में भ्रान्ति पैदा कर दी कि यह ध्वनि नियम का अपवाद है।

सारांश यह है कि ध्वनि नियम से हमारा तात्पर्य ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी उन नियमों से है जो किसी विशिष्ट काल विशिष्ट दशाओं में किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों पर लागू होते हैं। एक भाषा के ध्वनि नियम दूसरी भाषा पर लागू नहीं होते एक भाषा की भी केवल कुछ ध्वनियों पर ही लागू होते हैं और वे किसी एक युग विशेष में कार्य करते हैं।

ग्रिम नियम

यद्यपि इस ध्वनि-नियम की ओर ग्रिम से पूर्व दो विद्वान—डहरे और रैस्क ने भी संकेत किया था और अपने विचार सन १८१८में प्रकाशित भी कराए थे तथापि उसका पूरा विवेचन और अपने विचारों को नियम का रूप देने का श्रेय ग्रिम महोदय को ही है इसलिए इस *ध्वनि-नियम का नाम ग्रिम नियम* पड़ा। ग्रिम महोदय जर्मन विद्वान थे और उन्होने १८२२ ई में अपने विचारों को नियम का रूप दिया था। इस नियम का सम्बन्ध मूल भारोपीय भाषा की स्पर्श ध्वनियों से है जो जर्मन भाषाओं में परिवर्तित हो गईं। अतः इसे जर्मन भाषा का वर्ण-परिवर्तन भी कहते हैं। जर्मन भाषा का यह वर्ण-परिवर्तन दो बार हुआ—प्रथम वर्ण परिवर्तन ईसा से कई शताब्दी पूर्व और दूसरा वर्ण-परिवर्तन लगभग सातवीं शताब्दी में जब जर्मन लोग ऐंग्लो-सैक्सन लोगों से अलग हुए।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन

इस वर्ण-परिवर्तन में मूल भारोपीय भाषा की कुछ स्पर्श ध्वनियाँ जर्मन भाषाओं में बदल गईं। ये परिवर्तन निम्न प्रकार से व्यक्त किए जा सकते हैं—

भारोपीय मूल भाषा	जर्मन भाषाए
(i) क्, त्, प्।	ख् (ह्), थ्, फ्।
(ii) ग्, द्, ब्।	क्, त्, प्।
(iii) घ्, ध्, भ्।	ग्, द्, ब्।

मूल भारोपीय भाषा के ये व्यञ्जन सस्कृत, ग्रीक आदि मे सुरक्षित हैं और परिर्वातित ध्वनियाँ जर्मेनिक वर्ग की अग्रेजी, गाथिक आदि भाषाओं मे। अत हम इन्ही से उदाहरण लेते हैं—

	ध्वनि परिवर्तन शब्द	सस्कृत, ग्रीक शब्द	जर्मेनिक भाषा के शब्द
(i)	क् से ख् (ह्)	क	हू (Who)
	त से थ्	दत, त्रि	टूथ, थ्री
	प् से फ्	पिता या पेटर	फादर
(ii)	ग् से क्	गो	काऊ (Cow)
	द् से त्	द्वौ	टू (Two)
	ब् से प्	स्लेउब्	स्लिप (Slip)
		लेबियम्	लिप (Lip)
	घ् (ह्) से ग्	हस, दीर्घ	गूज़, (Talgus) गाथिक
	ध् से द्	विधवा	विडो
	भ् से ब्	भ्रातृ	ब्रदर

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

प्रथम वर्ण परिवर्तन मे मूल भाषा से जर्मेनिक भाषा भिन्न हुई थी, पर द्वितीय वर्ण-परिवर्तन मे जर्मन भाषा के ही दो रूप उच्च-जर्मन और निम्न-जर्मन मे परिवर्तन हुआ यह परिवर्तन निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

निम्न जर्मन (अग्रेजी)	हाई जर्मन (जर्मन)
ख् (ह), थ्, फ्	ग, द्, ब्
ग, द्, ब्	क्, त्, प्
क्, त्, प्	ख् (ह्), थ् (ज्) फ्

उदाहरण

ध्वनि परिवर्तन	निम्न-जर्मन शब्द	हाई-जर्मन शब्द
क् से ख्	योक (Yoke)	याख (Joch)
त् से थ् (ज्)	टू (Two)	ज्वि (Zwei)
प् से फ	डीप (Deep)	टीफ (Tief)
ग् से क्	गार्डन	कार्टो

द से त्	डीयर	टायर
ब् से प्	बोल्ड	पाल्ड
प् से फ	पी	फू ह
फ् से ब्	लीफ फादर	लौब वेटर

इस प्रकार ग्रिम नियम का समन्वित रूप निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

मूल भारोपीय ध्वनियाँ	निम्न जर्मन	उच्च जर्मन
क त प	ख् (ह्) थ् फ्	ग् द् ब्
ग् द् ब्	क त प्	ख् (ह) थ् फ्
घ् ध् भ्	ग् द् ब्	क त प्

ग्रिम-नियम मे तीन दोष थे—

(१) पहिले तो इस नियम मे दो भिन्न-भिन्न कालो के ध्वनि-विकारो को एक साथ रखा गया है क्योकि जर्मन भाषाओ मे दो प्रकार के वर्ण-परिवर्तन मिलते हैं। पहिला परिवर्तन ईसा के जन्म से बहुत पहिले हो चुका था इस बात की पुष्टि प्राचीन रोमन ग्रन्थो से हो जाती है और दूसरा वर्ण-परिवर्तन ईसा से ७ वर्ष बाद हुआ।

(२) जिन दो वर्ण परिवर्तनों का सम्बन्ध इस नियम मे स्थिर किया गया है उनमें से दूसरे का क्षेत्र इतना विस्तृत नही जितना कि ग्रिम महोदय समझते थे। यह परिवर्तन केवल उच्च जर्मन या ट्यूटानिक के भाषाओं में ही हुआ था। इसका संबंध प्राचीन भारोपीय भाषाओं से नही है।

(३) जिस उच्च जर्मन भाषा मे यह द्वितीय वर्ण-परिवर्तन हुआ है वह उस भाषा मे भी पूर्ण रूप से नही मिलता।

इन सब बातो का विचार करके मैक्समूलर आदि विद्वानो ने केवल प्रथम वर्ण परिवर्तन को भारोपीय भाषाओं से सम्बन्धित ठहराया और द्वितीय वर्ण परिवर्तन को केवल जर्मन भाषाओ की विशेषता मानकर उसका अलग वर्णन किया गया। आज ग्रिम नियम का निर्दोष अश केवल प्रथम वर्ण-परिवर्तन ही माना जाता है।

ग्रिम नियम के कतिपय अपवाद—अपने ध्वनि नियम मे स्वयं ग्रिम को ही कुछ अपवाद दिखाई दिये और उन्होने उनका उल्लेख किया।

प्रथम अपवाद—भारोपीय मूल भाषा के स्क स्त् स्प् मे जो क त् प् आते है उनका अघ भी गॉथिक आदि निम्न-जर्मन (Low German) भाषाओं मे कोई परिवर्तन नही होता जैसे

संस्कृत—अस्ति

लैटिन—Est

गॉथिक—Ist

उच्च जर्मन—Ist

भारोपीय मूल भाषा	जर्मन भाषाएं
(i) क्, त्, प्।	ख् (ह्), थ्, फ्।
(ii) ग्, द्, ब्।	क्, त्, प्।
(iii) घ्, ध्, भ्।	ग्, द्, ब्।

मूल भारोपीय भाषा के ये व्यञ्जन संस्कृत, ग्रीक आदि मे सुरक्षित हैं और परिवर्तित ध्वनियाँ जर्मेनिक वर्ग की अंग्रेजी, गाथिक आदि भाषाओ मे। अत हम इन से उदाहरण लेते हैं—

	ध्वनि परिवर्तन शब्द	संस्कृत, ग्रीक शब्द	जर्मनिक भाषा के शब्द
(i)	क् से ख् (ह्)	क	हू (Who)
	त से थ्	दत, त्रि	टूथ, थ्री
	प् से फ्	पिता या पेटर	फादर
(ii)	ग् से क्	गो	काऊ (Cow)
	द् से त्	द्वौ	टू (Two)
	ब् से प्	स्लेउब्	स्लिप (Slip)
		लेबियम्	लिप (Lip)
	घ् (ह्) से ग्	हस, दीर्घ	गूज,(Talgus) गाथि
	ध् से द्	विधवा	विडो
	भ् से ब्	भ्रातृ	ब्रदर

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन

प्रथम वर्ण परिवर्तन मे मूल भाषा से जर्मेनिक भाषा भिन्न हुई थी, पर द्विती वर्ण-परिवर्तन मे जर्मन भाषा के ही दो रूप उच्च-जर्मन और निम्न-जर्मन मे परिवर्त हुआ यह परिवर्तन निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

निम्न जर्मन (अंग्रेजी)	हाई जर्मन (जर्मन)
ख् (ह), थ्, फ्	ग, द्, व्
ग, द्, ब्	क्, त्, प्
क्, त्, प्	ख् (ह्), थ् (ज्) फ्

उदाहरण

ध्वनि परिवर्तन	निम्न-जर्मन शब्द	हाई-जर्मन शब्द
क् से ख्	योक (Yoke)	याख (Joch)
त् से थ् (ज्)	टू (Two)	ज्वि (Zwei)
प् से फ	डीप (Deep)	टीफ (Tief)
ग् से क्	गार्डन	कार्टो

वर्नर का नियम

ग्रासमान के द्वारा अपवादों का निराकरण कर दिए जाने पर भी विद्वानों को कुछ और अपवाद मिले जैसे संस्कृत लेटिन ग्रीक आदि भाषाओं मे जहां क् त् प् होते हैं उनके स्थान पर ग्रिम नियम के अनुसार गौथिक आदि भाषाओं में क्रमशः ह् थ् फ् होने चाहिए; किन्तु वहां क्रमशः ग् द् ब् मिलते है जो नियम विरुद्ध है जैसे—

संस्कृत लैटिन आदि	गौथिक अंग्रेजी आदि
क—युवस Juvencus	Juggs, young (ह न होकर ग्)
त्—शतम् Centum	Hunda Hundred (थ् न होकर द्)
प्—सप्तम् Septem	Sibun, seven (फ न होकर ब्)

इस नियम-विरुद्धता का समाधान कार्ल वर्नर ने किया। उसने पता लगाया कि भारोपीय मूल भाषा के शब्दों मे आने वाले क् त् प् के स्थान पर अंग्रेजी गौथिक आदि मे ग्रिम नियमानुसार ह् थ् फ् उसी समय होता है जब उस मूल भाषा में शब्द के अन्दर अव्यवहित पूर्व मे कोई उदात्त स्वर रहता है। यदि पूर्व में उदात्त स्वर नहीं रहता तो क के स्थान पर ग् त् के स्थान पर द् और प् के स्थान पर ब् हो जायगा। जैसे संस्कृत 'भ्राता' मे त् से पहले उदात्त स्वर है अतः अंग्रेजी मे वयान्तर Brother हो गया है। इसके विपरीत जो उदाहरण हमने ऊपर दिये हैं उनमे क् त् प् से पूर्व उदात्त स्वर नहीं है अतः उनके स्थान पर ग् द् ब् ध्वनियां हो गई है।

वर्नर के नियम का अपवाद— यद्यपि वर्नर के उपयुक्त नियम से कुछ-कुछ समस्या हल हो गई और कतिपय असंगतियों का परिहार भी हो गया फिर भी कुछ शब्द ऐसे बचे रहे जिनका समाधान वर्नर के नियम से भी नहीं होता। जैसे—

संस्कृत	अंग्रेजी
पितृ	Father

यहाँ त से पूर्व उदात्त स्वर नहीं है फिर भी त् का थ् हो गया है, द् (d) नहीं हुआ है।

इस अपवाद का कारण यह है कि Father शब्द Brother शब्द के मिथ्या सादृश्य पर बन गया है प्राचीन अंग्रेजी मे तो इसका रूप Fader और Foeder मिलता है।

अन्त मे ग्रिम नियम और उसके अपवादो का विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ध्वनि-नियम के अपवाद तो अवश्य होते हैं पर वे सकारण होते हैं। इसलिए यदि मिथ्या-सादृश्य स्वर आदि अन्य कारणों को देखकर ध्वनि नियम की सीमाएं निश्चित की जाएं तो वह निरपवाद माना जा सकता है।

तालव्य-भाव का नियम

आज यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस तालव्य भाव के नियम की खोज सर्वप्रथम किसने की थी किन्तु सन् १८७५ ई० मे विल्हेम थाम्सन ने अपने

जबकि ग्रिम नियम के अनुसार क् , त् , प् क्रमश ख् (ह), थ् फ् मे बदल जाने चाहिए थे ।

द्वितीय अपवाद—भारोपीय मूल भाषा के क्त (Kt) प्त (pt) आदि में जो त् आता है, उसके स्थान पर भी ग्रिम-नियम के अनुसार गॉथिक आदि निम्न-जर्मन भाषाओं मे वर्ण परिवर्तन नही होता, अर्थात त् का थ् नही होता ।

जैसे—

सस्कृत—अष्टन्
लैटिन—okton
गॉथिक—Aktan
जर्मन—Acht

ग्रासमान का ध्वनि-नियम—ग्रिम नियम के अनुसार सस्कृत, लैटिन आदि भारोपीय भाषाओ की ध्वनिया—द् तथा ब् गॉथिक, अग्रेजी आदि निम्न-जर्मन भाषाओ मे क्रमश त्, और प् हो जानी चाहिए । परन्तु कुछ स्थानो पर गॉथिक, अग्रेजी आदि भाषाओ मे यह वर्ण-परिवर्तन नही होता और द् तथा ब् ध्वनिया ज्यो की त्यो रही आती हैं, जो ग्रिम नियम के विरुद्ध है । जैसे—

सस्कृत	गॉथिक
बोधति	Biudan
दभ्	Daubs

इस असगति या विरोध का परिहार हेरमन ग्रासमान (Hermann Grassman) नामक विद्वान ने किया है । उन्होने पता लगाया कि संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि प्राचीन भारोपीय भाषाओ में यह नियम मिलता है कि जब कभी अव्यवहित रूप से दो महाप्राण ध्वनियाँ किसी एक स्थान पर आ जाती हैं, तो उनमे से पहली ध्वनि उच्चारण की सुविधा के कारण अल्पप्राण हो जाती है, और दूसरी ध्वनि महाप्राण बनी रहती है । क्योकि दो महाप्राण ध्वनियो का एक साथ उच्चारण करना कठिन होता है, जैसे सस्कृत मे 'धा' धातु का रूप 'दधामि' बनता है, 'धधामि' नही । और 'भू' धातु का 'बभार'रूप बनता है 'भभार' नही। इसलिए ग्रासमान ने यह नियम बनाया कि भारोपीय मूल भाषा की अवस्था मे सस्कृत "बुध्" और "दभ्" धातुओ मे प्रारम्भ के वर्ण ब् और द् न होकर भ् और ध् रहे होगे, और उनका ही रूपान्तर गॉथिक मे ब् और द् (B, d) के रूप मे मिलता है जो नियमानुकूल है । इसलिए जिन ध्वनियो का रूप गॉथिक आदि भाषाओ मे आज सस्कृत, लैटिन आदि भाषाओ के समान दिखाई देता है, वे ध्वनिया अर्थात ब् और द् ध्वनिया पहिले सस्कृत और लैटिन आदि मे महाप्राण भ् और ध् रही होगी । इसलिए आज जो अपवाद गॉथिक, आदि मे दिखाई देते हैं, वे अपवाद नही अपितु ग्रिम नियम के अनुसार ही उचित रूप परिवर्तन हैं ।

ध्वनि परिवर्तन

१ भूमिका—भाषा की परिवर्तनशीलता
२ ध्वनि-विकार के कारण
   (क) बाह्य कारण
   (ख) आन्तरिक कारण
३ ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएं
   (क) मात्रा-भेद (ख) लोप (ग) आगम (घ) विपर्यय (ङ) संधि (च) सावर्ण्य
   (छ) असावर्ण्य (ज) ऊष्मीकरण (झ) अनुनासिकता (ञ) घोषीकरण (ट) अघोषीकरण
   (ठ) महाप्राणीकरण (ड) अल्पप्राणीकरण

भाषा परिवर्तनशील है और उसका यह परिवर्तन इस बात का द्योतक है कि भाषा की ध्वनियों में समय-समय पर विकार या परिवर्तन होते रहते हैं। भाषा का अविरल प्रवाह अनन्त काल से चला आ रहा है और समय-समय पर अनगिनत कारणों से उसके प्रवाह की प्रगति में अथवा उसके प्रवाह के मार्ग में विभिन्न परिवर्तन हुए हैं यह प्रवाह मानव-जीवन के साथ बराबर चलता रहा है और चलता रहेगा। भाषा की ध्वनियों के ये परिवर्तन उसके विकास के द्योतक हैं। भले ही इन परिवर्तनों से कुछ अक्षरों या शब्दों या वर्णों का ह्रास हुआ हो फिर भी यह ह्रास भाषा का विकास ही माना जाता है। इसलिये ध्वनि परिवर्तन ध्वनि विकास एवं ध्वनि विकार से हमारा अभिप्राय ध्वनि के उन परिवर्तनों से है जो लोप आगम आदि के कारण समय-समय पर होते हैं और जिनके कारण भाषा प्रवाहमयी बनी रहती है।

ध्वनि विकार के कारण

ध्वनियां भिन्न-भिन्न रूप में परिवर्तित होती रहती हैं और बोलने की सुविधा अथवा व्यक्ति विशेष की अपनी असावधानी भावुकता आदि के कारण उनमें अनेक परिवर्तन होते हैं। साधारणतया ध्वनियों के परिवर्तनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। (१) बाह्य परिवर्तन (२) आन्तरिक परिवर्तन। इन्हीं परिवर्तनों के आधार पर ध्वनियों के परिवर्तन सम्बन्धी दो प्रमुख कारण हो सकते हैं कुछ बाह्य कुछ आन्तरिक।

व्याख्यान मे इस नियम की ओर सकेत किया था। किन्तु वे इस नियम से सम्बन्धित लेख तैयार नही कर सके थे। जब तक जौन्स स्मिट ने अपना लेख तैयार कर लिया और उसे १६२० मे पुस्तकाकार छपवा दिया। इन दो विद्वानो के अतिरिक्त तैन्गर ने भी एक छोटी सी पुस्तिका इस नियम के ऊपर प्रकाशित की। उस पुस्तक मे उसने अपने पूर्ववर्ती कालित्ज और सास्यूर नामक दो विद्वानो का उल्लेख किया जिन्होने इस नियम की खोज की थी। वैसे भी कुछ विद्वान इसे कालित्ज का तालव्य-भाव का नियम कहते हैं। इस नियम के जानने से पहिले लोगो का ऐसा विश्वास था कि सस्कृत अपनी अन्य सगोत्रीय भाषाओ की अपेक्षा मूल भारोपीय भाषा के अधिक निकट है किन्तु इस नियम के उपरान्त विद्वानो की धारणा मे पर्याप्त परिवर्तन हो गया।

इस नियम की खोज से पहिले विद्वानो ने भारोपीय परिवार की भाषाओ मे प्राय यह देखा था कि कही तो क् और ग् क्रमश च् और ज् मे बदल जाते हैं जैसे 'वाक्' का 'वाच्', 'मार्ग्य' का 'मार्ज्य' और कही क् और ग् मे कोई परिवर्तन नही होता। इस नियम की खोज से लोगो ने उक्त परिवर्तन का कारण पता लगा लिया।

इस नियम की खोज से यह पता चला कि सस्कृत भाषा के जिन शब्दो मे 'अ' ध्वनि ग्रीक या लैटिन 'e' की भाति उच्चरित होती थी वहा तो क् और ग् कठ्य ध्वनियो के स्थान पर तालव्य च् और ज् हो गई और जिन शब्दो मे व्यजन के साथ उच्चरित अ' ध्वनि ग्रीक 'o' की भाँति बोली जाती थी, वहा व्यजनो मे कोई परिवर्तन नही हुआ, मूल भारोपीय भाषा की 'पच्' धातु से बना हुआ सस्कृत शब्द 'पचति' का लैटिन मे पेकस् (pecus) रूप मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पेकस् शब्द मे 'क' के 'अ' का उच्चारण 'e' के समान रहा होगा। इसी तरह ग्रीक शब्द 'Hokto' का लैटिन रूप 'octo' मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'क्' के 'अ' का उच्चारण 'o' की भाति रहा होगा। जिससे दोनो मे कोई परिवर्तन नही हुआ।

साराश यह है कि किसी समय मूल भारोपीय भाषा मे सस्कृत भाषा की 'अ' ध्वनि के स्थान पर 'e' और 'o' स्वर बोले जाते थे। ये ही दो मूल स्वर थे। इन मे से जहा 'e' के स्थान पर 'अ' आया तो उससे पूर्व के क्, ग् क्रमश च् और ज् मे बदल गए और जहा 'ओ' के स्थान पर 'अ' आया, वहा कोई परिवर्तन नही हुआ। इस प्रकार सक्षेप मे यह कह सकते हैं कि भारोपीय भाषा की कठ्य-स्पर्श ध्वनि सस्कृत मे कही तो कठ्य-स्पर्श ही बनी रही और कही तालव्य-घर्ष-स्पर्श हो गयी।

तालव्य-भाव के ध्वनि-नियम से दो बातें स्पष्ट हो गईं—

(१) यह प्राचीन धारणा कि मूल भाषा मे केवल अ, इ, उ, तीन ही स्वर थे मान्य नही रह गई। अब ए, ओ भी मूल स्वर माने जाते है।

(२) यह धारणा भी कि सस्कृत भाषा मूल भारोपीय भाषा के अधिक निकट है बदल गई। अब यह माना जाने लगा है कि ग्रीक, लैटिन आदि ही मूल भाषा के अधिक निकट हैं।

परिवार की भाषाओं के सम्पर्क मे आने पर ही आर्य-परिवार की भाषाओं में 'टवर्ग' ध्वनियों का प्रवेश हुआ। कुछ ध्वनि-परिवर्तनों के मूल में राजनीतिक कारण भी कार्य करते हैं। जैसे मुगलों की सत्ता स्थापित होने पर भारतीय भाषाओं के बोलने वालों को अरबी-फारसी ध्वनियाँ अपनानी पडी। इसी प्रकार अंग्रेजों की सत्ता के कारण ही कितनी ही अंग्रेजी ध्वनियाँ उनके शब्दो के साथ हमारे यहाँ आ गई और हमारे शब्दों के उच्चारण मे परिवर्तन हो गया। वाराणसी का बनारस' लखनऊ का लकनौऊ' मथुरा का 'मटरा' दिल्ली का 'डेल्ही' इसी कारण हुआ।

४ विदेशी ध्वनियों का प्रभाव—विदेशी भाषाओं की कुछ ध्वनियाँ ज्यो की त्यों हमारी भाषा मे नही मिलती अत हमे या तो विदेशी ध्वनियों को अपनाना पड़ता है अथवा उनसे मिलती-जुलती अपनी ध्वनियों को प्रयुक्त करना पड़ता है और इसका परिणाम होता है ध्वनि-परिवर्तन। भारतीय भाषाओं मे समय समय पर यूनानी जापानी चीनी तुर्की अरबी-फारसी पुर्तगाली अगरेजी आदि भाषाओं के बहुत से शब्द लिये गए है और इन सब मे ध्वनि-परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के लिए जो शब्द अंग्रेजी से हिन्दी मे आए है उनमे ध्वनि परिवर्तन हुआ है।

अंग्रेजी	हिन्दी
रिपोर्ट	रपट
बैरक	बेरख
ऑगस्ट	अगस्त
लैन्टर्न	लालटैन आदि

५ लिखित भाषा का प्रभाव—उर्दू लिपि सदोष है अत उसमें मन्दिर का मंदर रामचन्द्र का रामचन्दर लिखा जाता है। गुरुमुखी लिपि में संयुक्ताक्षर नही होते अत वहाँ स्टेशन का सटेशन और प्रमाण का परमाण तथा प्राप्त का प्रापत लिखा जाता है। इसी प्रकार अंग्रेजी मे राम का रामा बुद्ध का बुद्धा गुप्त का गुप्ता लिखा जाता है। लिखित रूपों के कारण इन शब्दो का उच्चारण भी बदल गया है और अब अंग्रेजी मे ही नही हिन्दी मे भी हम 'गुप्ता' मिश्रा' मिश्रा' आदि लिखने लगे हैं।

आन्तरिक कारण—इनका सम्बन्ध उन परिवर्तनों से है जो श्रवण और उच्चारण की भूलों से हो जाते हैं।

१ श्रुति—बहुत से आगमों का कारण श्रु ति होती है। यह श्रु ति कहीं शब्द के पहिले आ जाती है और कही बाद मे। इस तरह पूर्व-श्रु ति और पर-श्रु ति दोनो से परिवर्तन होते रहते हैं—जैसे स्त्री से इस्तरी और दर्शन का दरसन।

२ अपमान या भ्रम-सादृश्य—बहुत से ध्वनि विकार इसलिये होते हैं कि हम एक शब्द के आधार पर कोई दूसरा शब्द बिना सोचे समझे बना डालते हैं या उच्चारण करने लगते हैं। आयस सम्बन्धी अनेक ध्वनि विकार इसी मिथ्या सादृश्य या अप मान के कारण होते हैं जैसे दुःख—दुक्ख के अनुकरण पर सुक्ख। पैतिस मे सादृश्य

ध्वनि-परिवर्तन के कारण

१ वैयक्तिक कारण—इसके अन्तर्गत कई कारण आते हैं, जैसे वाक्-यन्त्र की विभिन्नता एव श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता। किन्ही दो व्यक्तियो का वाक्-यन्त्र ठीक एक प्रकार का नही होता, इसीलिये किसी भी ध्वनि का उच्चारण दो व्यक्ति एक प्रकार से नही कर सकते। उनके उच्चारण मे भेद हो ही जाता है और कालान्तर मे यह भेद बढ जाता है और स्पष्ट हो जाता है। भाषा हम अनुकरण द्वारा सीखते हैं। वाक् यन्त्र की तरह हमारी श्रवणेन्द्रिय भी भिन्न भिन्न तरह की होती है। उसके कारण भी ध्वनि मे धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहता है। यह कारण भी पहले की तरह इतना सूक्ष्म है कि सहज ही इस पर विश्वास नही होता, पर है यह सत्य ही। वस्तुत ये दोनो कारण साथ-साथ काम करते हैं। कहने और सुनने के अन्तर के फलस्वरूप ही ध्वनि मे कालान्तर मे इतना परिवर्तन हो जाता है कि वह स्पष्ट और प्रत्यक्ष दिखने लगता है।

२ भौगोलिक कारण

जिस वाग्यन्त्र मे ध्वनि सगति होती है,उस वाग्यन्त्र की रचना पर देश की जलवायु का बडा प्रभाव पडता है जिसके परिणामस्वरूप कुछ ध्वनिया किन्ही देशो मे सुगमता से बोली जाती हैं, और दूसरे स्थानो पर वे या तो बोली ही नही जाती अथवा विकृत रूप से बोली जाती हैं। गर्म देशो मे अधिक ध्वनियो का उच्चारण होता है, जब कि शीत देशो मे उनमे से बहुत सी ध्वनिया नही बोली जा सकती। इतना ही नही जिन ध्वनियो को गर्म देशो के लोग बोलते हैं, उनमे से बहुत सी ध्वनिया शीतप्रधान देशो मे सीत्कार या घर्षण के साथ बोली जाती हैं, जैसे दन्त्य स का उच्चारण बगला, आसामी मे 'श' हो जाता है। ध्वनि-यन्त्र की भिन्नता के कारण ही अग्रेज त् को ट् बोलता है, 'तुम' को 'टुम' उच्चारित करता है। भारतीय अरबी-फारसी ध्वनियो क' 'ख', 'ग' ज' आदि का ठीक उच्चारण नही कर पाता और उन्हे क्रमश क, ख, ग, ज बोलता है।

यदि कोई जाति ठण्डे देश से गर्म देश मे जा बसती है, तो उसमे विवृत्त ध्वनियो का विकास होने लगता है और यदि कोई जनसमूह गर्म देश से ठडे देश मे बस जाती है, तो वहाँ विवृत्त ध्वनियो का विकास नही हो पाता और जो पहले विवृत्त थी, वे भी सवृत्त होने लगती हैं क्योकि ठण्डे देशो मे मुख पूरी तरह खुल नही पाता। इस सम्बन्ध मे निश्चय रूप से तो कुछ नही कहा जा सकता, पर अनुमान यही है कि भौगोलिक प्रभाव ध्वनि पर अवश्य पडता होगा।

३ सामाजिक-राजनीतिक-सास्कृतिक कारण—बहुत से ध्वनि-परिवर्तन सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक कारणों से होते हैं। जब दो भिन्न जातियो या सस्कृतियो के लोग मिलते है, उनमें सम्मिश्रण होता है, तो उनकी भाषाओ मे भी आदान-प्रदान होता है और उसका प्रभाव ध्वनियो पर भी पड़ता है। कहा जाता है कि द्राविड़

होकर अथवा अधिक स्नेह प्रगट करते हुए शब्दों को तोड़ मरोड़ कर बोलते हैं जैसे—कृष्ण का कन्हैया पैर का पईया।

ध्वनि विकार के प्रकार या दिशायें

ध्वनि-परिवर्तन मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) स्वयंभू (spontaneous) जो भाषा के प्रवाह में स्वतः घटित हो जाते हैं।

(२) परोद्भूत (conditional) वे ध्वनि-विकार जो किसी न किसी ऊपर गिनाए गए कारणों में से किसी एक के फलस्वरूप होते हैं।

मात्रा-भेद—यह दो प्रकार का होता है—कहीं तो स्वर ह्रस्व से दीर्घ हो जाता है और कहीं दीर्घ से ह्रस्व।

(क) दीर्घ से ह्रस्व—नारंगी—नरंगी दीपावली—दिवाली प्रालाप—प्रलाप रामेश्वर—रमेसुर आषाढ़—असाढ़ पाताल—पताल बानर बन्दर आफिसर—अफसर बादाम—बदाम आवश्य—अवश्य।

(ख) ह्रस्व से दीर्घ—भक्त—भात काक—कागा हरिण—हिरना पुत्र—पूत कंटक—कांटा लज्जा—लाज स्कंध—कंधा कल—काल्ह।

(२) लोप—मुख-सुख या शीघ्रता से बोलने के कारण कभी-कभी कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है। यह लोप तीन प्रकार का होता है— (१) स्वर-लोप (२) व्यंजन लोप (३) अक्षर-लोप।

(क) स्वर-लोप—यह भी पुनः तीन प्रकार का होता है—(i) आदि स्वर-लोप (ii) मध्य स्वर-लोप (iii) अन्त्य स्वर-लोप।

(अ) आदि स्वर लोप—इसमें शब्द का आदि स्वर लुप्त होता है—

अनाज—नाज अहाता—हाता अमीर—मीर esquire—squire amuck muck असवार—सवार अपूप—पूप।

(आ) मध्य स्वर-लोप—गरदन-गर्दन do not-don t, तरबूज—तर्बूज।

(इ) अन्त्य स्वर-लोप—इसमें शब्द का अन्तिम स्वर लुप्त हो जाता है। जैसे

ग्राम-ग्राम् निद्रा—नींद

लैटिन या फ्रेंच शब्द जब अंग्रेजी में आए तो उनमें अन्त्य स्वर का लोप हो गया है—

affaire—affair bombe—bomb

(ख) व्यंजन लोप—यह भी तीन प्रकार का होता है (i) आदि व्यंजन लोप (ii) मध्य व्यंजन—लोप (iii) अन्त्य व्यंजन—लोप।

(अ) आदि व्यंजन-लोप—इसमें शब्द के आदि व्यंजन का लोप होता है—

स्थान—थान स्कंध-कंध knife—nife write—rite gnaw-naw

(आ) मध्य व्यंजन-लोप—इसमें शब्द के मध्य-व्यंजन का लोप होता है—

पर ही 'सैंतिस' मे अनुनासिकता आ गई है। संस्कृत मे द्वादश के सादृश्य पर ही एकदश एकादश हो गया है और आज स्वर्ग के सादृश्य पर नरक 'नर्क' हो गया है।

(३) छन्द—छन्द मे मात्रा या तुक लाने के लिए कवि लोग शब्दो मे मनमाना ध्वनि-परिवर्तन ला देते है—दीर्घ की जगह लघु या लघु की जगह दीर्घ मात्रा का प्रयोग करते है जैसे, लाभ का लाभू, रघुराज का रघुराजू या रघुराई। वेद का वेदा कमलु, डरयतु आदि भी इसी प्रकार के शब्द हैं।

(४) **प्रयत्न लाघव या मुख सुख**—ध्वनि परिवर्तन का सबसे प्रधान कारण यही है। हम कम से कम प्रयास द्वारा अपने भाव व्यक्त करना चाहते हैं अत मुख को सुख देने के प्रयत्न मे हम कुछ ध्वनियो को बोलते ही नही, कुछ को बढा देते हैं अंग्रेजी मे Silent letters का कारण यही मुख सुख है। 'Tallk 'Walk' 'Knife knight आदि मे 'l' तथा 'k' ध्वनियाँ नही बोली जाती। यदि हमे कोई ध्वनि जोड कर सुख मिलता है, तो हम वैसा ही करते हैं, जैसे इस्टेशन या सटेशन। कभी-कभी हमे ध्वनि के स्थान परिवर्तन द्वारा सुविधा मिलती है और हम उच्चारण मे वैसा कर डालते हैं जैसे ब्राह्मण को ब्राम्हण या चिह्न को चिन्ह बोलते हैं। सारांश यह है कि मुख सुख या उच्चारण की सुविधा के लिए कभी ध्वनि का लोप करते हैं, कभी आगम, कभी विपर्यय, कहीं समान ध्वनि का तो कही असमान ध्वनि का प्रयोग करते हैं।

(५) **बनकर बोलना** - बनकर बोलने से भी ध्वनि पर प्रभाव पडता है, पर यह प्रभाव अस्थायी ही होता है। बैठो की जगह बैटो', 'बहिनो' की जगह 'बेनो' आदि शब्द अधिक दिन तक नही चल पाते। उन्हें पुन शुद्ध रूप मे बोला जाने लगता है।

(६) **बोलचाल में शीघ्रता** इसके कारण भी ध्वनि परिवर्तन होता है, जैसे मास्टर साहब का माट साब जिन्होने कम जिन्ने। अंग्रेजी के Do not के स्थान पर don't किन्नै, उन्नै, जभी, कभी, तभी आदि इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

(७) **अज्ञान**—जितने भ्रामक व्युत्पत्ति वाले ध्वनि-विकार हैं, उन सब का मूल कारण अज्ञान है क्योकि समझ न होने के कारण ही अनपढ व्यक्ति लाइब्रेरी को रायबरेली, मैकेंजी को मक्खन जी कहने लगता है। अडवास, हुकुम सदर, पावरोटी, आठ, कालिज आदि भी ऐसे हैं।

(८) **स्वराघात तथा बलाघात**—कुछ ध्वनियो का लोप हो कर जो विकार उत्पन्न होते हैं, उनका मूलकारण स्वराघात या बलाघात है, क्योकि जिस वर्ण पर हम अधिक बल देते हैं वह तो जीवित बना रहता है, किन्तु उसके निकटवर्ती जिस वर्ण पर बल नही दिया जाता वह कुछ दिन तो थोडा बहुत उच्चरित होता रहता है, किंतु आगे चलकर वह ध्वनि बिल्कुल लुप्त हो जाती है जैसे अंग्रेजी की knight मे n पर जोर देने से k की ध्वनि लुप्त हो गई, इसी प्रकार psychology मे p का लोप हो गया

(९) **भावातिरेक**—बहुत से ध्वनि विकार इस कारण होते हैं कि हम भाव-विभोर

(ग) अन्त्य व्यञ्जनागम—भौं–भौंह भीत–भीत्त उमरा–उमराव रंग–रंगत परवा–परवाह।

(ङ) अक्षरागम—इसके भी तीन भेद हैं—

(i) आदि अक्षरागम—गु आ–घुघुची।

(ii) मध्य अक्षरागम—रस–सरस खास–खासकर।

(iii) अन्त्य अक्षरागम—झोंक–झोंकना सदेस–सदेसड़ा बच–बभूटी बना बनाय।

४ विपर्यय

इसमें किसी शब्द के स्वर व्यंजन या अक्षर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। इसके निम्न भेद हैं—

(१) स्वर विपर्यय—अंगुली—उंगली कद्दु—कुद्द बिन्दु—बूंद उल्का—लूका।

(२) व्यञ्जन विपर्यय—चिह्न–चिन्ह सिगनल–सिगल ब्रह्म–बम्ह वाराणसी–बनारस अमरूद—अरमूद।

(३) अक्षर विपर्यय—मतलब–मतबल नखलऊ–लखनऊ।

इसके दो अन्य भेद हैं—(i) एकांगी विपर्यय—जिसमे कोई स्वर व्यञ्जन या अक्षर अपना स्थान छोड़कर चला जाता है पर उसके स्थान पर कोई दूसरा नहीं आता। (ii) आद्य सम्बंध विपर्यय—जिसमे दो शब्दों के प्रारम्भ के वर्णों मे विपर्यय हो जाता है—घोड़ा-गाड़ी—गोड़ा-घाड़ी

५ सन्धि या एकीभाव—कभी-कभी स्वरों के बीच में जो विवृति रहती है वह सन्धि द्वारा अथवा दो ध्वनियों के मिलन द्वारा विकार उत्पन्न किया करती है। इसी को सन्धि या एकीभाव का विकार कहते हैं। जैसे स्थविर<थविर<थेर। राजपुत्र<राउवत<रावत। चर्मकार<चम्मकार<चमार।

६ सावर्ण्य या सारूप्य—इसे समीकरण भी कहा जाता है। यह सावर्ण्य दो प्रकार का होता है। पूर्व सावर्ण्य—जहाँ पूर्व वर्ण के कारण परवर्ती वर्ण भी उसी के समान हो जाता है उसे पूर्व सावर्ण्य कहते हैं जैसे चक्र का चक्क अग्नि का अग्गि। पर सावर्ण्य—जहाँ पर परवर्ती वर्ण अपने से पूर्व वर्ण को अपना जैसा बना ले वहाँ पर सावर्ण्य होता है जैसे धर्म का धम्म कर्म का कम्म।

असावर्ण्य या विषमीकरण—जहाँ पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती वर्णों में से पहिले अथवा पीछे आने वाले वर्णों मे परिवर्तन होता है वहाँ असावर्ण्य नामक विकार होता है। यह असावर्ण्य भी दो प्रकार का होता है। पूर्व असावर्ण्य—जहाँ पूर्ववर्ती वर्ण से भिन्न परवर्ती वर्ण म परिवर्तन हो वहाँ पूर्व असावर्ण्य होता है, जैसे कंकण–कंगन। पर असावर्ण्य—जहाँ परवर्ती वर्ण से भिन्न पूर्ववर्ती वर्ण में परिवर्तन हो वहाँ पर असावर्ण्य होता है जैसे मीमांसा का मीमांस।

कोकिल—कोइल , सागर—साअर ;

कायस्थ—कायथ ; उपवास—उपास , कार्तिक—कातिक , walk—वॉक , talk—टॉक ।

(इ) अन्त्य व्यजन-लोप—इसमे अन्तिम व्यजन लुप्त हो जाता है। जैसे

water—वाटअ , फादर—फादअ, उष्ट्र—ऊट ।

(ग) अक्षर-लोप—इसके चार भेद होते हैं—

(i) आदि अक्षर-लोप (ii) मध्य अक्षर-लोप (iii) अन्त्य अक्षर-लोप (iv) समाक्षर-लोप ।

(अ) आदि अक्षर-लोप—neck-tie tie , university—Varsity , उपाध्याय—झा ।

(आ) मध्य अक्षर-लोप—शादबाश—शाबाश , भडागार—भडार , फलाहार—फलार ।

(इ) अन्त्य अक्षर—लोप—माता—मा , मौक्तिक—मोती, निम्बुक—नीबू, कु चिका—कु जी ।

(ई) समाक्षर-लोप—जब कभी एक ही ध्वनि, अक्षर या अक्षर-समूह दो बार आवे, तो एक का लोप हो जाता है। इस एक अक्षर को छोडना ही समाक्षर—लोप कहलाता है। जैसे,

नाककटा—नकटा , खरीददार—खरीदार, part-time—partime

(२) आगम—लोप का उल्टा आगम है। जहा लोप मे ध्वनि लुप्त होती है, वहाँ आगम मे उच्चारण की सुविधा के लिए कोई नई ध्वनि आ जाती है। लोप की भाँति इसके भी तीन भेद हैं—स्वरागम व्यजनागम, अक्षरागम ।

(अ) स्वरागम

(क) **आदि स्वरागम**—इसमे शब्द के आदि मे स्वर आता है। जैसे,

स्कूल—इस्कूल , स्पोर्ट—इस्पोर्ट , स्नान—अस्नान ।

(ख) **मध्य स्वरागम**—अज्ञान, आलस्य या मुख-सुख के कारण कभी-कभी बीच मे स्वर आ जाता है। जैसे, पूर्व—पूरब , जन्म—जनम , इन्द्र—इन्दर

(ग) **अन्त्य स्वरागम**—यह बहुत कम मिलता है। जैसे दवा—दवाई, गुप्त गुप्ता, मिश्र—मिश्रा ।

(आ) **व्यञ्जनागम**—इसके भी तीन भेद हैं—

(क) आदि व्यञ्जनागम—इसके कम उदाहरण मिलते हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

ओष्ठ—होठ, अस्थि—हड्डी, उल्लास—हुलास ।

(ख) मध्य व्यञ्जनागम—शाप–श्राप, वानर–वन्दर, समन–सम्मन, पण–प्रण समुद्र–समुन्दर ।

(ग) अन्त्य व्यञ्जनागम—भौं-भौंह, बीस-बीस्ह, उमरा-उमराव, रंग-रंगत, परवा-परवाह।

(ङ) अक्षरागम—इसके भी तीन भेद हैं—

(i) आदि अक्षरागम—गुंचा-घुंघुची।

(ii) मध्य अक्षरागम—खस-खरस, आलस-आलकस।

(iii) अन्त्य अक्षरागम—झोंक-झोंकड़ा, सदेस-सदेसड़ा, बभ-बभूटी, बचा-बचाय।

४ विपर्यय

इसमे किसी शब्द के स्वर, व्यंजन या अक्षर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। इसके निम्न भेद हैं—

(१) स्वर विपर्यय—अगुली—उगली, कष्टु—कुष्ट, बिन्दु—बूंद, उल्का—लूका।

(२) व्यञ्जन विपर्यय—चिह्न-चिन्ह, सिग्नल-सिगनल, ब्रह्म-ब्रम्ह, वाराणसी-बनारस, अमरूद—अरमूद।

(३) अक्षर-विपर्यय—मतलब-मतबल, लखनऊ-नखलऊ।

इसके दो अन्य भेद हैं—(i) एकांगी विपर्यय—जिसमें कोई स्वर व्यञ्जन या अक्षर अपना स्थान छोड़कर चला जाता है, पर उसके स्थान पर कोई दूसरा नहीं आता। (ii) पारस्परिक विपर्यय—जिसमें दो शब्दों के प्रारम्भ के अंशों में विपर्यय हो जाता है—घोड़ा-गाड़ी—गोड़ा-घाड़ी

५ सन्धि या एकीभाव—कभी-कभी स्वरों के बीच में जो विवृत्ति रहती है वह सन्धि द्वारा अथवा दो ध्वनियों के मिलन द्वारा विकार उत्पन्न किया करती है। इसी को सन्धि या एकीभाव का विकार कहते हैं। जैसे स्थविर<थविर<थेर। राजपुत्र<राजउत<रावत। चर्मकार<चम्मआर<चमार।

६ सावर्ण्य या सारूप्य—इसे समीकरण भी कहा जाता है। यह सावर्ण्य दो प्रकार का होता है। पूर्व सावर्ण्य—जहाँ पूर्व वर्ण के कारण परवर्ती वर्ण भी उसी के समान हो जाता है उसे पूर्व सावर्ण्य कहते हैं जैसे चक्र का चक्क, अग्नि का अग्गि। पर सावर्ण्य—जहाँ पर परवर्ती वर्ण अपने से पूर्व वर्ण को अपना जैसा बना ले वहाँ पर सावर्ण्य होता है जैसे धर्म का धम्म, कर्म का कम्म।

असावर्ण्य या विषमीकरण—जहाँ पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती वर्णों में से पहिले अथवा पीछे आने वाले वर्णों में परिवर्तन होता है वहाँ असावर्ण्य नामक विकार होता है। यह असावर्ण्य भी दो प्रकार का होता है। पूर्व असावर्ण्य—जहाँ पूर्ववर्ती वर्ण से भिन्न परवर्ती वर्ण में परिवर्तन हो वहाँ पूर्व असावर्ण्य होता है जैसे कंकन-कंगन। पर असावर्ण्य—जहाँ परवर्ती वर्ण से भिन्न पूर्ववर्ती वर्ण में परिवर्तन हो वहाँ पर असावर्ण्य होता है जैसे लीलाम का नीलाम।

(८) ऊष्मीकरण—जब कोई ध्वनि ऊष्म ध्वनि मे परिवर्तित हो जाती है। जैसे–केन्टुम वर्ग की 'क' ध्वनि 'स' ध्वनि मे बदल गई है।

(९) अनुनासिकता (Nazalization)—अनुनासिक व्यञ्जनो के कारण निकटवर्ती स्वर अनुनासिक हो जाते हैं और अनुनासिक व्यजन का लोप हो जाता है। कम्पन–काँपना। अन्य उदाहरण हैं—सर्प–साँप, उष्ट्र–ऊँट, श्वास–साँस। कभी-कभी बोलने में तो अनुनासिकताआ जाती है, पर लिखने मे स्वीकार नही की जाती जैसे—आँम, राँम, हँनुमान।

(१०) घोषीकरण—कुछ अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं जैसे, सकल=सगल, प्रकट - परगट, मकर—मगर, शाक—साग, ककण—कगन, शती=सदी।

(११) अघोषीकरण—इसमे घोष ध्वनियाँ अघोष हो जाती हैं—मदद—मदत, परिषद्—परिषत्, नगर–नकर।

(१२) महा प्राणीकरण—इसमे अल्पप्राण ध्वनियाँ महाप्राण हो जाती हैं—गृह–घर, ग्रहण—घिरना, पृष्ट–पीठ, शुष्क–सूखा, वाष्प–बाफ।

(१३) अल्प प्राणीकरण—इसमे महाप्राण ध्वनियाँ अल्प प्राण हो जाती हैं—सिन्धु–हिन्दु।

४१

अर्थ-परिवर्तन

१ भूमिका
२ अर्थ-परिवर्तन की दिशाएं
३ अर्थ-परिवर्तन के कारण

प्रत्येक सार्थक शब्द का अपना अर्थ भाव या विचार होता है। उस शब्द का सार यही अर्थ होता है और उसका महत्त्व भी इसी अर्थ-तत्त्व पर निर्भर करता है। अनेक कारणों से यह अर्थ-तत्त्व बदलता रहता है। अर्थ विज्ञान (Semantics) के अन्तर्गत इसी अर्थ-परिवर्तन के कारण तथा दिशाओं का अध्ययन किया जाता है। यद्यपि अर्थ-तत्त्व के अध्ययन की ओर भारत में अत्यन्त प्राचीन काल में ही मनीषियों का ध्यान गया था और यास्क के 'निरुक्त' में इस विषय का अध्ययन किया गया है तथापि इसका वैज्ञानिक अध्ययन १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से ही आरम्भ हुआ है। इसी कारण अर्थ-विज्ञान को अभी शैशवावस्था में कहा गया है। तारापुरवाला का मत है—

The science of meaning or semantics is a comparatively recent development of linguistics. It is only recently that this branch of linguistics has been treated systematically and scientifically

अर्थ-परिवर्तन या विकास की दिशा एक नहीं होती। कभी शब्द का अर्थ पहले से संकुचित हो उठता है कभी उसके अर्थ का विस्तार हो जाता है कभी वह बिल्कुल ही बदल जाता है इसी प्रकार कभी शब्द का अर्थ गिर जाता है तो कभी ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन की अनेक दिशाएँ होती हैं। अर्थ-विज्ञान पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य फ्रेंच विद्वान ब्रील का है। उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Essai de Semantique में जिसे अर्थ विज्ञान सम्बन्धी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा गया है अर्थ-विकास की तीन दिशाएँ मानी हैं—

१ अर्थ विस्तार (Expansion of meaning)
२ अर्थ-संकोच (Contraction of meaning)
३ अर्थादेश (Transference of meaning)

(८) ऊष्मीकरण—जब कोई ध्वनि ऊष्म ध्वनि मे परिवर्तित हो जाती है। जैसे—केन्टुम वर्ग की 'क' ध्वनि 'स' ध्वनि मे बदल गई है।

(९) अनुनासिकता (Nazalization)—अनुनासिक व्यञ्जनो के कारण निकटवर्ती स्वर अनुनासिक हो जाते हैं और अनुनासिक व्यजन का लोप हो जाता है। कम्पन—काँपना। अन्य उदाहरण हैं—सर्प—साँप, उष्ट्र—ऊँट, श्वास—साँस। कभी-कभी बोलने मे तो अनुनासिकताआ जाती है, पर लिखने मे स्वीकार नही की जाती जैसे—आँम, राँम, हँनुँमान।

(१०) घोषीकरण—कुछ अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं जैसे, सकल=सगल, प्रकट - परगट, मकर—मगर, शाक—साग, ककण—कगन, शती=सदी।

(११) अघोषीकरण—इसमे घोष ध्वनियाँ अघोष हो जाती हैं—मदद—मदत, परिषद्—परिषत्, नगर—नकर।

(१२) महा प्राणीकरण—इसमे अल्पप्राण ध्वनियाँ महाप्राण हो जाती हैं—गृह—घर, ग्रहण—घिरना, पृष्ट—पीठ, शुष्क—सूखा, वाष्प—बाफ।

(१३) अल्प प्राणीकरण—इसमे महाप्राण ध्वनियाँ अल्प प्राण हो जाती हैं—सिन्धु—हिन्दु।

इन शब्दों के मूल अर्थ अब भी अन्य शब्दों में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए 'मृग' का मूल अर्थ पशु अब तक 'मृगेन्द्र' शब्द में पाया जाता है। इसी प्रकार अंग्रेजी meat शब्द का मूल अर्थ भोज्य-पदार्थ Sweet meat में पाया जाता है।

अर्थादेश—भाव-साहचर्य के कारण कभी-कभी शब्द के प्रधान अर्थ के साथ एक गौण अर्थ भी चलने लगता है। कुछ दिन बाद प्रधान अर्थ तो धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है और गौण अर्थ ही प्रचलित और प्रधान हो उठता है। इस प्रकार एक अर्थ के लोप होने तथा नवीन अर्थ के आ जाने को अर्थादेश कहते हैं। गंवार शब्द पहले गाँव के रहने वाले के अर्थ में प्रयुक्त होता था पर कदाचित् नागरिकों की तुलना में कम शिक्षित तथा सुसंस्कृत समझे जाने के कारण अब उसका अर्थ मूर्ख असभ्य और असंस्कृत हो गया है। असुर शब्द का अर्थ पहले देवता था जैसा कि 'असुरे मजवा' से प्रकट होता है पर अब उसका अर्थ हो गया है राक्षस। दुहिता शब्द पहले उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था जो परिवार में दूध दोहता था परन्तु चूंकि यह कार्य अधिकतर लड़की करती थी अतः बाद में उसका प्रयोग पुत्री के लिए होने लगा। 'देवानां प्रिय' पहले सम्राट अशोक के लिए सम्मानार्थ प्रयुक्त हुआ पर बाद में बौद्धों के प्रति घृणा व्यक्त करने के लिए उसका प्रयोग मूर्ख के अर्थ में किया जाने लगा। महाराज का रसोइये के अर्थ में महाजन का सूदखोर के अर्थ में हरिजन का तथाकथित अस्पृश्य जातियों के अर्थ में प्रयोग इसी अर्थ विकार के उदाहरण हैं। व्यक्तिवाचक शब्दों में भी यह परिवर्तन पाया जाता है—सूरदास रैदास जिनका अर्थ आज अन्धा और भक्त हो गया है इसके उदाहरण हैं। भाववाचक संज्ञायें भी इस अर्थ-परिवर्तन के कारण अपना अर्थ बदल लेती हैं। उदाहरण के लिए 'मौन' शब्द पहले मुनियों के विशुद्ध आचरण के लिए प्रयुक्त होता था पर अब वह चुप्पी के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अर्थापकर्ष—वे शब्द जो पहले अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होते थे कालान्तर में किसी कारणवश बुरे अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं और आगे चलकर उनका यही अर्थ मुख्यार्थ हो जाता है। महाजन महाराज का उदाहरण हम ऊपर दे ही चुके हैं। इन शब्दों का अर्थ-संकोच ही नहीं हुआ अर्थापकर्ष भी हुआ है। कुछ लोग अपवित्र अशुद्ध अप्रिय अमंगलकारी और अश्लील बातों का दुरागम दूर करने के लिए सुन्दर शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं, जिससे उन शब्दों के अर्थ में अपकर्ष आ जाता है। उदाहरण के लिए, शौच शब्द का मूल अर्थ था पवित्रता और सफाई पर अब उसका अर्थ हो गया है पाखाना जाना। इसी तरह मृत्यु के लिए प्रयुक्त शब्दों एवं पदों—स्वर्गवास गंगालाभ बैकुण्ठवास आदि का भी अर्थ गिर गया है।

अर्थापकर्ष का भाषा के शब्द-समूह पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अश्लीलता के कारण जिन शब्दों का अर्थापकर्ष अधिक हो जाता है, वे धीरे-धीरे अश्लील होने के कारण सभ्य समाज से बहिष्कृत कर दिये जाते हैं और उनका स्थान दूसरे शब्द ले लेते हैं।

१ अर्थविस्तार—इससे तात्पर्य यह है कि बहुत से शब्दो का अर्थ, जो पर्ि सकुचित था, वह किसी कारणवश विस्तृत हो जाता है और वह शब्द कई अर्थो द्योतक बन जाता है, जैसे तैल शब्द पहिले तिल के सार के लिए आता था, किन्तु उसी का बिगडा हुआ तेल शब्द सरसो, गोला, अलसी, मू गफली आदि के सार के ि भी आने लगा है। इतना ही नही आज मिट्टी के सार को भी मिट्टी का तेल कहत और यदि कोई व्यक्ति किसी आदमी से अधिक मेहनत कराता है, तब भी हम कहा करते हैं कि उसका तेल निकाल लिया। ऐसा ही 'कुशल' शब्द है। पहिले ि अपने हाथो का चोट पहुचाये जो कुशा तोड लाता था उसे ही कुशल कहते थे। आजकल कुशल शब्द चतुरमात्र का द्योतक बन गया है। स्याही शब्द पहिले के काली स्याही के लिए आता था, अब स्याही का प्रयोग लिखने के लिए काम मे ः वाली सभी रगो की स्याही के लिए हो गया है जैसे—लाल, काली, नीली स्याही

व्यक्तिवाचक सज्ञाओ तक मे अर्थ-विस्तार पाया जाता है। जयचन्द, विभ पहले व्यक्ति मात्र थे, पर आज क्रमश देशद्रोही और घर के भेदी के लिए प्रयुक्त हैं। गगा एक विशिष्ट नदी का नाम है, पर मराठी मे वह नदी का पर्याय हो गया बिस्मार्क जर्मन कूटनीतिज्ञ था, पर आज किसी भी ऐसे व्यक्ति को जो चालाक बिस्मार्क कहा जाता है।

भाषा में अर्थ-विस्तार के उदाहरण अधिक नही मिलते क्योकि जैसे-जैसे भ मे विकास होता है, उसके शब्द सूक्ष्मातिसूक्ष्म और सीमित से सीमित अर्थ व्यक्त क की ओर प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए अर्थ-सकोच अधिक होता है।

"A general word is used in a special sense more often t a special word in a general sense Hence examples of contractio meaning are far more numerous than those of expansion of r ning."

अर्थसकोच—अर्थ-सकोच से हमारा तात्पर्य अर्थ-परिवर्तन की उस दिशा जिसमे पहले तो शब्द कई पदार्थों का बोधक होता था, किन्तु कालान्तर मे उस से केवल किसी विशेष पदार्थ का बोध होने लगा, जैसे 'नेत्र' शब्द का अर्थ च वाला, प्रकाश करने वाला, आगे चलने वाला या ले जाने वाला था, लेकिन आ वह आँख के अर्थ मे सीमित हो गया है। 'वर' शब्द भी ऐसा ही है। पहिले इ अर्थ था चुना हुआ, मागा हुआ या कोई श्रेष्ठ वस्तु, किन्तु अब दूल्हा या देवत वरदान का वाचक बन गया है। मृग शब्द भी पहिले जगल के सभी घूमने-फिरने प्राणियो के लिए आता था, किन्तु अब हरिण का वाचक हो गया है। फारसी मुर्ग शब्द पहिले सभी पक्षियो का वाचक था, किन्तु अब उससे ताम्रचूर्ण या कु का बोध होता है। भार्या शब्द पहले उन समस्त प्राणियो के लिए आता था जि भरण-पोषण किया जाय, किन्तु आजकल वह पत्नि का वाचक हो गया है।

weighty argument hazy notion, बात को तौलना आपत्ति का सिर आना आदि।

स्थूल वस्तुओं या उनके अवयवों का चित्र स्पष्ट करने के लिए भी हम आलंकारिक प्रयोग करते हैं जैसे सुराही की गर्दन नारियल की आंख लोटे का मुंह, कुर्सी के पैर, eye of the needle teeth of a saw।

मानव का स्वभाव बताने के लिए भी हम इसी प्रकार अलंकारों का प्रयोग करते हैं जैसे पाषाण-हृदय वृकोदर गधा उल्लू गाय (सज्जन) बनिया (कंजूस) आदि। आलंकारिक प्रयोगों में ये शब्द अपना यथार्थ अर्थ न देकर अपने गुण का अर्थ देते हैं।

(२) वातावरण-परिवर्तन—वातावरण कई प्रकार का हो सकता है जैसे भौगोलिक सामाजिक भौतिक आदि। इनमें परिवर्तन के कारण शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। जब लोग एक स्थान से हटकर दूसरे स्थान पर जा बसते हैं तो नई जगह के पेड़ पशु, पक्षी आदि को अपने पुराने स्थान में पाये जाने वाले पशु आदि के नाम से पुकारने लगते हैं यद्यपि वे वही नहीं होते। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में कार्न (corn) का अर्थ था गल्ला पर अमरीका में प्रधान अन्न था मक्का अतः अब वहां corn का अर्थ मक्का हो गया है। प्राचीन वैदिक ऋचाओं में उष्ट्र का अर्थ बैल था पर बाद में उसका अर्थ ऊंट हो गया। इसका कारण यही था कि आर्य लोग ऐसे प्रदेश में आ गए जहां ऊंट पाया जाता था।

विभिन्न व्यवसायों में एक ही शब्द अलग-अलग अर्थ का द्योतक होता है। Mother और Sister शब्दों तक में वातावरण भेद से भिन्नता आ गई है। गिरजाघर तथा अस्पताल में इन शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया जाता है। इसी प्रकार भाई का अर्थ सहोदर भाई ही न होकर साधारण सम्बोधन या एक ही गांव के रहने वाले के अर्थ में भी होता है। रीति रिवाज बदलने से भी शब्द का अर्थ बदल जाता है जैसे वैदिक काल में यजमान का अर्थ होता था यज्ञ कराने वाला पर अब दक्षिणा देने वाले को यजमान कहते हैं। पहले 'वर' का अर्थ था चुना जाने वाला दूल्हा पर अब स्वयंवर की प्रथा समाप्त हो जाने के कारण यह शब्द दूल्हा मात्र के लिए होता है।

भौतिक सभ्यता के विकास एवं नई वस्तुओं के आविष्कार से भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन होता है। कभी हम वस्तु का नाम उस धातु पर रखते हैं जिससे वह बनी है जैसे ग्लास पैन पेपर आदि। पहले दण्ड (डण्डा) से सज़ा दी जाती थी अब दण्ड का अर्थ ही सज़ा हो गया है भले ही वह सज़ा जुर्माने की हो अथवा जेल की।

(३) नम्रता-प्रदर्शन—नम्रता का व्यवहार सज्जनता एवं सभ्यता का चिह्न है और जब हम ऐसा करने के लिए शब्दों का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ भी बदल जाता है। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं 'आपका दौलतखाना कहां है' और दूसरा व्यक्ति कहता है 'मेरा गरीबखाना यहां है' तो इन दोनों शब्दों—दौलतखाना

अर्थोत्कर्ष—जिस तरह किसी शब्द का अर्थ गिर जाता है, उसी तरह भाषाओ मे कुछ ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जिनके अर्थ पहले की अपेक्षा उत्कर्ष के सूचक बन जाते हैं। जैसे साहस पहिले सस्कृत मे हत्या, चोरी, व्यभिचार, कठोरता आदि का वाचक था, किन्तु अब हिन्दी, बगला आदि भाषाओ मे उसका अर्थ उच्चकोटि का सराहनीय कार्य हो गया है। कपडा शब्द भी ऐसा ही है। पहले इसका पिता 'कर्पट' या 'कप्पट' जीर्णवस्त्र या चिथडे का द्योतक था, किन्तु अब कपडा शब्द ऊँचे अर्थ का द्योतक हो गया है।

मूर्तीकरण और अमूर्तीकरण—प्राय यह देखा जाता है कि कभी तो शब्द का अर्थ अमूर्त से मूर्त हो जाता है अर्थात् वह शब्द क्रिया, गुण अथवा भाव का वाचक न होकर किसी द्रव्य का वाचक हो जाता है और कभी इसके ठीक विपरीत मूर्त अर्थ अमूर्त्त बन जाता है अर्थात् कोई शब्द द्रव्य का बोधक न रहकर किसी क्रिया, गुण या भाव का वाचक बन जाता है। देवता और जनता पहले भाव वाचक शब्द थे किन्तु पीछे चलकर दोनो मूर्त अर्थ के वाचक बन गये। इसी तरह जाति और सतति पहले क्रमश जन्म और लगातार बढते जाओ के वाचक थे, किन्तु अब इनमे मूर्तता आ गई है। मिठाई और खटाई भाव-वाचक शब्द थे, किन्तु अब द्रव्य-वाचक हो गये हैं। दूसरी ओर कुछ शब्द मूर्त से अमूर्त हो गये हैं, जैसे कपाल और हृदय। पहले ये दोनो शब्द मूर्त अगों के वाचक थे किन्तु अब इनका लाक्षणिक प्रयोग भाग्य और भावुकता के लिए होता है।

अर्थ-परिवर्तन का मूल आधार मानव-मन है और चूकि मन की क्रिया कभी सुनिश्चित और सुनिर्धारित नही होती, अत अर्थ-परिवर्तन की दिशाओ और कारणो के सम्बन्ध मे सुनिश्चित और अतिम रूप से नही कहा जा सकता। परिवर्तन होने के बाद ही हम बता सकते हैं कि वह क्यो और किस दिशा मे हुआ।

इस सम्बन्ध मे दूसरी बात यह स्मरण रखनी चाहिए कि एक शब्द के अर्थ-परिवर्तन मे केवल एक कारण ही काम नही करता, कभी-कभी एक साथ कई कारण भी काम करते होते हैं, हम नीचे अर्थ-परिवर्तन के कारणो पर विस्तार से विचार कर रहे है।

अर्थ-परिवर्तन के कारण

(१) **बात को स्पष्ट तथा प्रभावशाली बनाने के लिये अलकार-प्रयोग**—प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि उसकी बात स्पष्ट हो तथा उसका सुनने वाले पर वाछित प्रभाव पडे, इसके लिए वह उपमा, रूपक आदि अलकारो का प्रयोग करता है। आरम्भ मे तो यह प्रयोग अलकारिक होता है, पर कुछ समय बाद उस शब्द का नया अर्थ ही स्थिर हो जाता है। पहले 'तुम गदहे हो' मे गदहा शब्द का आलकारिक प्रयोग किया गया होगा, पर अब गदहा का अर्थ मूर्ख ही हो गया है। अलकार का प्रयोग प्राय सूक्ष्म भावो या व्यापारों के प्रगटीकरण के समय होता है, जैसे सरस वार्ता, रूखी हसी,

उस शब्द का अर्थ विस्तार हो जाता है। उदाहरण के लिए अब 'स्याही' शब्द का अर्थ केवल काली स्याही न रहकर सभी रंगों की स्याही हो गया है, यद्यपि स्याही शब्द 'स्याह' से बना है जिसका अर्थ काला है। इसी प्रकार सब्जी का मूल अर्थ था हरी तरकारी पर अब आलू टमाटर आदि के लिए भी सब्जी शब्द का प्रयोग होता है, यद्यपि इनके रंग हरे नहीं हैं। कुछ जानवरों के दोनों लिंगों के लिए हम एक ही लिंग का नाम प्रयोग करते हैं जैसे कुत्ता और कुतिया दोनों के लिए कुत्ता का प्रयोग होता है। इसी प्रकार के शब्द हैं लोमड़ी तोता मैना भेड़ आदि।

(८) अज्ञान या भ्रान्ति के कारण शब्द-प्रयोग में शिथिलता—कभी-कभी तो इस प्रकार के शिथिल प्रयोग अस्थायी होते हैं पर जब वे स्थायी रूप से प्रयुक्त होने लगते हैं तो शब्द में नया अर्थ आ जाता है। उदाहरण के लिए 'पाखण्ड' मूलतः साधुओं के एक सम्प्रदाय-विशेष का नाम था जिसे अशोक बहुत सम्मान प्रदान करता था पर बाद मे उसका अर्थ हो गया नास्तिक। दूसरी भाषाओं से लिये जाने पर शब्दों के अर्थ नये संदर्भ मे प्रायः बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए, 'स्थावर जंगम' का अर्थ गुजराती मे सम्पत्ति हो गया है और धन्यवाद जिसका मूल अर्थ था प्रशंसापूर्ण शब्द' अब कृतिज्ञा के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। आरंभ मे असुर शब्द देवतावाची था पर बाद में 'अ' को निषेधात्मक उपसर्ग मानने के कारण उसका अर्थ हो गया राक्षस और वही अर्थ प्रचलित भी हो गया।

(६) शब्दों में अर्थ का अनिश्चय—प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनका निश्चित अर्थ नहीं होता। टकर ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

" a word is a coin or token of language a speaker may intend his token to represent six pence, while to the listener its current value may be either only four pence or it may be nine pence.

हिंसा महिमा सत्य कर्त्तव्य सज्जन आदि ऐसे ही शब्द हैं जिनका अर्थ बिल्कुल सुनिश्चित नहीं कहा जा सकता। अहिंसा का अर्थ जान से न मारना भी है और किसी को दुःखी न करना भी हो सकता है। सेठ शब्द का अर्थ पहले मान्य व्यक्ति था पर अब साधारण दुकानदार को भी सेठ कहते हैं।

(१) व्यक्तिगत योग्यता—व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार भी शब्द के अर्थ मे परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति शब्द को एक ही अर्थ मे ग्रहण नहीं करता। धर्म पाप पुण्य ब्रह्म आदि शब्दो का अर्थ दार्शनिक के लिए एक होता है साधारण व्यक्ति के लिए कुछ और।

(११) किसी शब्द वस्तु या वस्तु मे एक विशेषता का प्राधान्य—किसी विशिष्टता की प्रधानता के कारण वह वस्तु उसी के नाम से पुकारी जाने लगती है। इसके कारण कभी अर्थ-संकोच होता है तो कभी अर्थ-विस्तार। कम्यूनिस्टों की प्रधान

और गरीबखाना का अर्थ बदल कर घर हो जाता है। 'गरीबपरवर' 'जहांपनाह' 'अन्नदाता' इसी प्रकार के अन्य उदाहरण हैं।

भोजन के लिए 'भोग', देखने के लिए 'दर्शन', साधु के पैरो की धूलि के लिए 'चरण रज' आदि भी इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं।

(४) अशुभ के लिए शोभन भाषा का प्रयोग—अशुभ कार्यों, वातो या घटनाओ को हम सीधी तरह कहने मे सकोच करते हैं, और उन्हें घुमा-फिरा कर या अच्छा बनाकर कहते हैं। जैसे मृत्यु के लिए 'गगा लाभ', 'स्वर्गवास', 'वैकुठगमन', लाश को मिट्टी, सर्प को कीडा कहते हैं जिसके फलस्वरूप इन शब्दो के अर्थ मे परिवर्तन हो गया है ?

कभी-कभी अश्लीलता को छुपाने के लिये भी अच्छे शब्दो का प्रयोग होता है जिससे उन शब्दो के अर्थ मे अपकर्ष आ जाता है। जैसे पाखाना जाने के लिए 'शौच जाना' 'दिशा-मैदान जाना' 'विलायत जाना' कहा जाता है। 'गर्भिणी होना' न कहकर 'पाव भारी होना' कहना भी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। कटु और भयकर वातो को छुपाने के लिए भी अच्छे शब्दो का प्रयोग किया जाता है जिससे उनका अर्थ गिर जाता है जैसे, चेचक निकलने के लिए माता या महारानी की कृपा होना' कहा जाता है, सर्प को कीडा और भगी को मेहतर या जमादार कहा जाता है। कभी-कभी अधविश्वास के कारण भी चेचक के लिये माता शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'दूकान वन्द करने' के लिए दूकान वढाना या 'चूडिया फूटने' के लिए 'चूडिया मोलना' कहना भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। कई वच्चो के मरने पर जव नये वच्चे को गूदड, गोवर, तीनकौडी आदि नाम दिया जाता है, तव भी यही प्रवृत्ति काम करती है और शब्द के अर्थ मे परिवर्तन आ जाता है।

(५) व्यग्य– व्यग्य के कारण शब्दो मे अधिकतर अर्थादेश हो जाता है और फिर वे नये अर्थ मे ही प्रयुक्त होने लगते हैं। अनेक शब्द जिनका मूल अर्थ वुद्धिमान है व्यग्य के कारण मूर्ख के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगे हैं जैसे, पूरे पडित, अक्ल के खजाने, अक्ल की पुडिया, अन्य उदाहरण हैं—कमाऊ पूत, नवाव, उस्ताद, युधिष्ठिर के अवतार, आदि।

(६) भावावेश या अतिशयोक्ति—मानव मे वात को वढा-चढाकर कहने तथा भावावेश मे आकर कहने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है, जिसके कारण शब्द का अर्थ वदल जाता है। भावावेश मे जव पिता पुत्र को कहता है 'तू वडा पाजी हो गया है' तो यहा पाजी का अर्थ वुरा न होकर केवल प्यार का द्योतक होता है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण हैं—शैतान, नालायक, वेहूदा, गदहा, आदि।

अतिशयोक्ति के कारण ही अग्रेजी के awfully, horribly, dreadfully, terribly का अर्थ गिर गया है।

(७) वर्ग की एक वस्तु का नाम वर्ग को देना—वर्ग की किसी एक वस्तु से अधिक परिचित होने पर हम उसी नाम से पूरे वर्ग को पुकारने लगते हैं जिससे

जाते हैं। जैसे जड़ (पेड़ की जड़ रोम की जड़ झगड़े की जड़) मांस (मनुष्य की मांस सुई की मांस) बालु, योम कुची आदि।

(ख) एकमूलीय भिन्नार्थक शब्द —एक ही मूल से निकले या एक ही शब्द के ध्वनि की दृष्टि से दो भिन्न रूपों का अर्थ भिन्न हो जाता है। मूल शब्द तो अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है जैसे गर्भिणी ब्राह्मण भोग स्थान पर उनके विकसित रूप गाभिन बाम्हन भोजन बाग बुरे अर्थ में।

(ग) समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द—कुछ शब्द ध्वनि की दृष्टि से तो बिल्कुल एक से रहते हैं, पर उनका मूल भिन्न होता है अतः अर्थ में भी अन्तर रहता है। जब तक उनका प्रयोग वाक्य में न हो अर्थ का पता नहीं चलता। हिन्दी में निम्न लिखित कुछ शब्द ऐसे ही हैं—

आम—फल साधारण
सहन—बर्दाश्त आंगन
कुल—परिवार समस्त

पहला अर्थ संस्कृत मूल अर्थ के कारण है और दूसरा अरबी मूल के कारण।

निशानी 'लाल झण्डा' या 'लाल टोपी' है, अत वे 'Reds' कहलाते हैं। पारसी पादरी लोग सफेद पगडी पहनने के कारण ही सफेद पाघडी कहलाते हैं। गाधी टोपी पहनने के कारण ही उससे काग्रेसी अर्थ लिया जाता है। ये सब अर्थ-विस्तार के उदाहरण हुए। कभी-कभी इससे अर्थ-सकोच भी होता है, जैसे कुछ फूल यद्यपि दुर्गन्धिपूर्ण एव कुरूप भी होते हैं, पर अब फूल से सुन्दरता, कोमलता और सुगन्धि का अर्थ ही लिया जाता है।

(१२) **अनजाने साहचर्य के कारण नवीन अर्थ का प्रवेश**—इससे प्राय अर्थादेश होता है। सिन्धु का अर्थ बडी नदी या समुद्र था। आर्यों ने भारत मे आने पर सिन्धु नदी को सिन्धु कहा। कुछ दिन बाद आसपास की भूमि भी सिन्धु कही जाने लगी। बाद मे सिन्ध निवासियो को भी सिधु कहा गया जिसका फारसी रूप हिन्दु हो गया।

(१३) **बल का अपसरण** (shift of emphasis)—किसी शब्द के अर्थ के प्रधान पक्ष से हटकर बल यदि उसके दूसरे अर्थ पर आ जाता है, तो धीरे-धीरे वही अर्थ प्रधान हो जाता है और प्रधान अर्थ लुप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए 'गोस्वामी' का मूल अर्थ था बहुत सी गायो का स्वामी, चूकि ऐसा व्यक्ति धनवान, एव माननीय होता था, अत इसका अर्थ सम्मान्य हुआ और चूकि वह धर्मपरक भी समझा जाता था, अत उसका कालान्तर मे अर्थ हो गया 'माननीय धार्मिक व्यक्ति'। इस प्रकार के कुछ अन्य शब्द हैं—जुगुप्सा, अरबी भाषा का शब्द गुलाम (मूल अर्थ था लडका), अग्रेजी का शब्द dress (प्राचीन अर्थ का सीधा या straight)।

(१४) **पीढ़ी परिवर्तन**—नई पीढी प्रत्येक शब्द को उतनी गहराई से नही समझ पाती जितनी गहराई से पुरानी पीढी उसे समझती थी, अत शब्द का नया अर्थ विकसित होता है। पत्र का आरभिक अर्थ था पत्ता, पर क्योकि उसी पर लिखा जाता था, बाद की पीढियो ने समझा कि कोई भी वस्तु जिस पर लिखा जाय पत्र है, अत उन्होने भूर्ज की छाल को भी भूर्जपत्र कहना शुरू कर दिया और आज किसी भी चपटी-पतली चीज को पत्र कहते हैं जैसे, स्वर्ण-पत्र।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं जैसे, विभाषा से शब्दो का उधार लेना, एक भाषा-भाषी लोगो का तितर-बितर हो जाना, अधिक शब्दो के स्थान पर एक शब्द का प्रयोग होना, पुनरावृत्ति, किसी जाति या सम्यदाय के प्रति मनोभाव। हिन्दू का अर्थ काफिर, गुलाम, नापाक आदि इसीलिए हुआ कि मुसलमानो का हिन्दुओ के प्रति हीन भाव था।

अर्थ-परिवर्तन सम्बधी कतिपय विशेषताए

(१) **अनेकार्थता**—कभी-कभी शब्द अपने नवीन अर्थ को ग्रहण करने के साथ-साथ पुराने अर्थ को भी नही छोडता जिसके फलस्वरूप एक शब्द के तीन-चार अर्थ हो

निरवयव वर्ग में रखा और शेष तीन प्रकार की वाक्य रचना वाली भाषाओं को सावयव वर्ग में। निरवयव वर्ग की भाषाओं में शब्द सदैव एक से रहते हैं, उनमें कोई विकार पैदा नहीं होता। इसके विपरीत सावयव या योगात्मक भाषाओं के वाक्यों के शब्दों में अनेक विकार उत्पन्न होते रहते हैं।

पहले हम इस वर्गीकरण को चार्ट द्वारा प्रस्तुत करेंगे और फिर उनका विशद विवेचन।
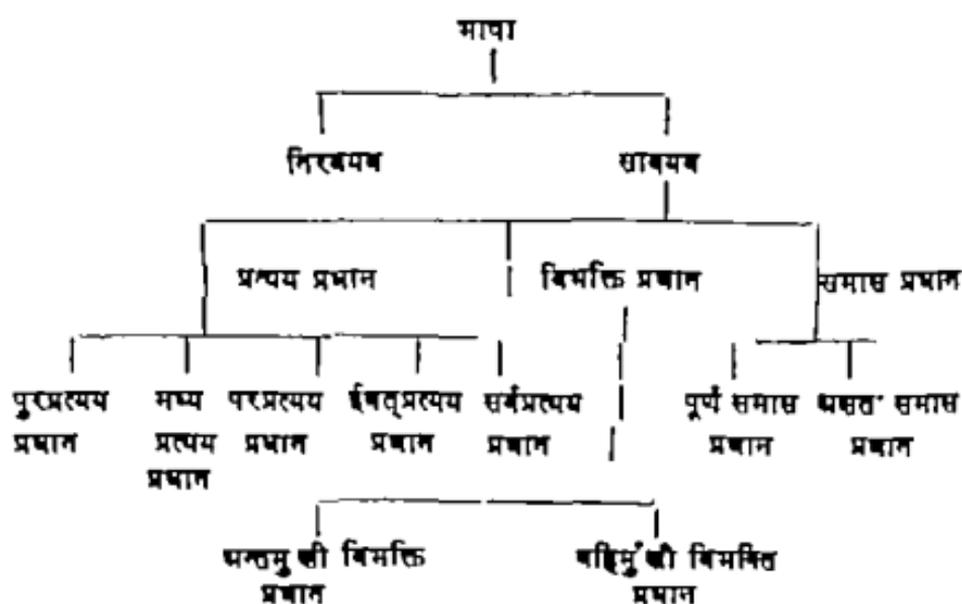
निरवयव या अयोगात्मक या व्यास प्रधान भाषाएँ—इस वर्ग में आने वाली भाषा के वाक्य का प्रत्येक शब्द अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है इसके रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। सम्बन्ध-तत्व या अर्थ-तत्व को व्यक्त करने की प्रत्येक शब्द की अलग-अलग शक्ति होती है और शब्दों का परस्पर व्याकरणिक सम्बन्ध प्रायः वाक्य में उनके स्थान पर निर्भर करता है। सुर या निपात का भी इसमें बहुत महत्व होता है क्योंकि उसके कारण शब्द का अर्थ बदल जाता है। शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय जोड़कर उन्हें वाक्य में प्रयुक्त होने योग्य नहीं बनाया जाता।

इस वर्ग में अफ्रीका की सूडानी तथा पूर्वी एशिया की चीनी तिब्बती बर्मी स्यामी मलय और हिमालय के अन्तर्वर्ती प्रदेशों की भाषाएं आती हैं। किसी भी व्यासप्रधान भाषा को समझने के लिए अर्थात् इसके व्याकरणिक सम्बन्ध को जानने के लिए वाक्य में शब्दों के क्रम सुर अथवा निपात का ध्यान रखना पड़ता है। उदाहरण के लिए चीनी भाषा मे वाक्य मे स्थित शब्दों के स्थान से ही उनका व्याकरणिक सम्बन्ध पता चलता है। जैसे—न्गो ता नी तथा नी ता न्गो दो चीनी वाक्य हैं। इनमें पहले का अर्थ है—मैं तुम्हें मारता हूँ और दूसरे का अर्थ है तुम मुझे मारते हो। इन दोनों वाक्यों मे शब्दों के रूपों में

: ४२ :

भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण

१ वर्गीकरण के आधार
२. आकृतिमूलक वर्गीकरण
(क) व्यास प्रधान भ षायें
(ख) प्रत्यय प्रधान भाषायें
(ग विभक्ति प्रधान भाषायें
(घ) समास प्रधान भाषायें
३ आकृतिमूलक वर्गीकरण के दोष

भाषा वैज्ञानिको ने ससार की भाषाओं, जिनकी सख्या लगभग दो सह. और जिनमे से अधिकाश का केवल नाममात्र का अध्ययन हुआ है, की विभिन्नता एकता खोजने की चेष्टा की है। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप उन्होंने विश्व की भाषाओं के वर्गीकरण किये हैं। इनमे दो वर्गीकरण प्रसिद्ध हैं—(१) आकृतिमूलक वर्गीकरण (morphological classification) (२) पारिवारिक या वशात्मक वर्गीकरण (Geneological classification)। प्रथम वर्गीकरण भाषा की वाक्य-रचना एव पद-रचना के आधार पर किया गया है, अत उसे रूपात्मक वर्गीकरण भी कहते हैं। इस वर्गीकरण का मूल आधार है शब्दो की रूप-रचना और वाक्य मे उनका पारस्परिक व्याकरणिक सम्बन्ध। उदाहरण के लिए, निम्न वाक्य मे "उसने गाय बेची" प्रथम तो यह देखना होगा कि इस वाक्य के तीन अर्थ-तत्त्वो—'उस' 'गाय' 'बेचना' मे परस्पर का सम्बन्ध किस प्रकार प्रकट किया गया है। दूसरे, ये तीनो शब्द किस प्रकार बने हैं, अर्थात् किस प्रकार वे धातु मे प्रत्यय या उपसर्ग लगाकर बनाये गये हैं।

विद्वानो का विचार है कि ससार की भाषाओ मे चार प्रकार के वाक्य मिलते हैं—समास प्रधान, व्यास प्रधान, विभक्ति प्रधान और प्रत्यय प्रधान। इसी आधार पर भाषाए भी चार प्रकार की होगी।

भाषाओ का आकृतिमूलक वर्गीकरण करने वाले विद्वानो में सबसे प्रमुख जर्मन भाषावैज्ञानिक श्लेगल रहे हैं। उनके अनुसार विश्व की भाषाओ को रूप-रचना की दृष्टि से दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) योगात्मक या सावयव। (२) अयोगात्मक या निरवयव। व्यास प्रधान वाक्य-रचना वाली भाषाओ को उन्होंने

(सम्बन्ध तत्व) कम्युक (अर्थ-तत्व)+सम् (सम्बन्ध तत्व) तथा वा (अर्थ तत्व)+ति (सम्बन्ध तत्व) इस प्रकार मिले हैं कि घुल मिल से गए हैं। इसी योग के कारण ये भाषाएं योगात्मक कहलाती हैं। प्रयोगात्मक भाषा की तरह इन भाषाओं के वाक्य में प्रत्येक शब्द की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती उनमें विकार होता रहता है। सावयव भाषाओं के पुनः तीन भेद किये गए हैं—(क) प्रत्यय प्रधान (ख) विभक्ति प्रधान (ग) समास प्रधान।

(क) प्रत्यय प्रधान अथवा अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ—इन भाषाओं में वाक्य रचना तो व्यवहित होती है पर शब्द सावयव होते हैं अर्थात प्रकृति और प्रत्यय के मेल से बनते हैं। इनमें व्याकरणिक सम्बन्ध प्रत्ययों के संयोग से जाने जाते हैं। यद्यपि ये प्रत्यय सर्वांगपूर्ण नहीं होते तथापि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है अर्थात् ये प्रकृति के साथ पूर्णतः घुल मिल नहीं जाते। इनका प्रकृति के साथ संयोग इतना नियमित और व्यावहारिक होता है कि रचना बड़ी मनोहर और पारदर्शी दिखाई देती है। एक प्रकृति में भिन्न भिन्न प्रत्यय जोड़कर अनेक शब्द बनाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, तुर्की भाषा के 'सेव' से जिसका अर्थ 'प्रेम करना' होता है, मेक मे-मेक इश-मेक आदि प्रत्यय जोड़कर विभिन्न शब्द बनाये जाते हैं—सेव-मेक सेव-मे-मेक सेव-इश-मेक आदि। इन प्रत्यय प्रधान भाषाओं में विभक्ति प्रधान भाषाओं की तरह प्रकृति और प्रत्यय इतने नहीं घुल-मिल जाते हैं कि वे अलग न पहचाने जा सकें उनकी सत्ता स्पष्ट झलकती रहती है। इन भाषाओं का व्याकरण सीधा और सरल होता है। मैक्समूलर ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था—

It is a real pleasure to read a Turkish grammar The dingemous manner in which the numerous grammatical forms are brought out, the regularity which pervades the system of declension and conjugation, the transparency and intelligibility of the whole structure, must strike all who have a sense for that wonderful power of the human mind which is displayed in language

प्रत्यय प्रधान भाषाओं के पुनः पांच भेद हैं—

(१) पुरः-प्रत्यय प्रधान भाषाएं—इन भाषाओं में उपसर्ग प्रकृति के पूर्व लगते हैं और शब्द अलग अलग रहते हैं। अफ्रीका की बान्टु परिवार की भाषाएं इस वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। इस परिवार की जूलू भाषा में प्रकृति है न्तु (आदमी) इस के पूर्व उमु प्रत्यय लगाकर एक वचन के रूप तथा अब प्रत्यय लगाकर बहुवचन के रूप निष्पन्न किये जाते हैं। जैसे—उमुन्तु (एक आदमी) अबन्तु (बहुत से आदमी) इसी प्रकार काफिर भाषा में—

कु—सम्प्रदान कारक का चिह्न

कोई परिवर्तन नही हुआ है। केवल स्थान-भेद के कारण उनका व्याकरणिक रूप तथा अर्थ वदल गया है—ङो यदि पहले आता है, तो उमका अर्थ है—'मैं' और यदि अन्त मे, तो उमका अर्थ है—'मुझे'। इस प्रकार अयोगात्मक भाषा मे शब्द अविकारी होते हैं, उनके रूप नही वदलते। वाक्य मे एक ही शब्द स्थान और प्रयोग के अनुसार सज्ञा, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण आदि हो सकता है। विभिन्न काल के क्रिया-रूपो को वनाने मे भी शब्दो मे परिवर्तन नही होता। उदाहरण के लिए हिन्दी मे पढना का भूतकाल रूप पढा वनेगा, पर पुरानी चीनी भाषा मे भूतकाल वनाने के लिए क्रिया के वाद लिग्रोन (lion) शब्द जोड दिया जाता है जिसका अर्थ होता है 'समाप्त । जैसे—

त्सेन लिग्रोन=चला।

इस प्रकार वहा मूल क्रिया मे कोई परिवर्तन नही होता।

एक अन्य विशेषता इन भाषाओ की यह है कि एक ही शब्द कही अर्थ तत्त्व होता है, तो कही सम्वन्ध-तत्त्व। जैसे, लिग्रोन जव अर्थ-तत्त्व होता है तो उसका मतलव होता है समाप्त करना, पर जव वह सम्वन्ध-तत्त्व के रूप में प्रयुक्त होता है, तो वह भूतकाल का भाव व्यक्त करता है। इन भाषाओ मे एक शब्द के ही दो अर्थ होते हैं—सम्वन्ध तत्त्व मे एक तथा अर्थ तत्त्व मे दूसरा। जैसे, 'य' का अर्थ-तत्त्व के रूप मे मतलव है 'प्रयोग' पर सम्वन्ध-तत्त्व के रूप मे मतलव है 'से'।

साराश यह है कि अयोगात्मक भाषाओ मे सम्वन्ध-तत्त्व का वोध शब्दो मे कुछ जोडकर या कुछ भीतरी परिवर्तन लाकर नही कराया जाता, अपितु वह स्थान-मात्र से होता है।

कुछ भाषाओ मे सुर (tone) अथवा निपात (particle) का महत्त्व होता है और सुर-भेद के कारण शब्द का अर्थ वदल जाता है। उदाहरण के लिए, मणिपुरी भाषा मे 'फौ' शब्द यदि धीरे से वोला जायगा, तो उसका अर्थ होगा 'धान' और यदि लम्वे सुर मे वोला जायगा तो उसका अर्थ होगा—धूप मे सुखाना। इसी प्रकार 'मा' का यदि ह्रस्व उच्चारण हो, तो उसका अर्थ होगा 'माता' और यदि प्लुत उच्चारण हो तो उसका अर्थ होता है 'खटमल'।

प्राय सभी व्यास प्रधान भाषाओ के वाक्यो मे स्वतत्र और शुद्ध प्रकृति (मूल शब्द) का व्यवहार होता है और इन शब्दो की रचना एक अक्षर वाली होती है। इन भाषाओ मे वाक्य-विचार तो होता है, पर शब्द-विचार अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय विचार का कोई स्थान नही, क्योकि सभी शब्द स्वतन्त्र होते हैं।

श्लेगल के अनुसार भाषाओ का दूसरा वर्ग सावयव या योगात्मक है। इन योगात्मक भाषाओ मे सम्वन्ध-तत्व और अर्थ-तत्त्व का योग रहता है। उदाहरण के लिए, सस्कृत का एक वाक्य लीजिए—

'वालक कन्दुक ददाति'—वालक गेंद देता है। इसमे वालक (अर्थ-तत्त्व) + अ

(२) बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाएं—इन भाषाओं में विभक्ति प्रकृति के उपरान्त लगती है और नए बने शब्द मे प्रकृति प्रत्यय का भेद नहीं रहता। जैसे राम+एन=रामेण। यहाँ एन प्रकृति म इतना घुल मिल गया है कि अलग स नही पहचाना जाता। भारोपीय परिवार की लगभग सभी भाषाएं बहिर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाएं हैं।

(ग) समास प्रधान भाषाएं अथवा प्रश्लिष्ठ योगात्मक भाषाएं—व्यास प्रधान भाषाओं में वाक्य के सभी शब्द पृथक-पृथक रहते हैं। समास प्रधान भाषा की वाक्य रचना ठीक इसके विपरीत होती है। इसमे शब्द एक-दूसरे से इतने संश्लिष्ट हो जाते हैं कि वाक्य और शब्द में भेद करना कठिन हो जाता है। इन भाषाओं के दो वर्ग हैं—(१) पूर्ण समास प्रधान भाषाएं (२) अंशत समास प्रधान भाषाएं।

(१) पूर्णत समास प्रधान भाषाएं—इन भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व तथा अर्थ-तत्त्व का पूर्ण योग रहता है और पूरे का पूरा वाक्य एक समास द्वारा निर्मित होता है जसे अमरीका की चेरोकी भाषा में एक वाक्य है—नाधोलिनिन जिसका अर्थ है हमारे लिए नाव लाओ। यह वाक्य आधे आधे शब्दो के संयोग से बना है अत इसे पूर्णत समास प्रधान वाक्य कहेंगे। इसी प्रकार ग्रीनलैंड की भाषा मे तीन शब्द हैं।

अउलिसर —मछली मारना

पेअर्तोर —किसी काम मे लगना

पिन्लेसुअर्पोक—वह शीघ्रता करता है।

इन तीनों से मिलकर एक शब्द वाला वाक्य बनता है—अउलिसरिअर्तोरसु अर्पोक—वह मछली मारने के लिए जल्दी जाता है।

(२) अंशत समास प्रधान भाषाएं—इनमे वाक्य की रचना दो या दो से अधिक समास प्रधान शब्दो द्वारा होती है। क्रिया का योग इस प्रकार होता है कि क्रिया अस्तित्वहीन होकर सर्वनाम की पूरक हो जाती है। उदाहरण के लिए बास्क भाषा से निम्न उदाहरण लीजिए—

दकारकिओत—मैं उसे उसके पास ले जाता हू।

नकारसु—तू मुझे ले जाता है।

हकारत—मैं तुझे ले जाता हूं।

इन वाक्यो मे केवल सर्वनाम और क्रियाएं हैं। इसी विशेषता को देखकर कहा गया है 'The Basque verb is a complex thing to conjugate in all its varied forms' कुछ भाषाओं में प्रश्लिष्ट पद मिलते हैं जैसे गुजराती में 'मे कहयु' के का मकु'छे (मैंने यह कहा) या जमना मे ताहा ना हूम ना तानसे (वह ऐसा नहीं)।

आकृतिमूलक वर्गीकरण के दोष—इस प्रकार संसार की भाषाओं को इन रचना के आधार पर चार वर्गों मे बाटा गया है। यद्यपि इस वर्गीकरण से भिन्न भिन्न

ति = हम
नि = उन
इनके योग से बनते हैं—कुति (हमको), कुनि (उनको)।

(२) **पर-प्रत्यय-प्रधान भाषाए**—इन भाषाओ मे सम्बन्ध-तत्त्व प्रकृति के बाद लगता है। यूराल-अल्टाइक एव द्राविड परिवार की भाषाए इस वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। यूराल-अल्टाइक वर्ग की तुर्की भाषा लीजिए, इसमें 'सेव' प्रकृति है जिसका अर्थ है प्रेम करना, इसमें 'मेक' प्रत्यय जोड कर रूप बनाया जाता है 'सेव मेक' जिसका अर्थ है—प्रेम करने के लिए। और 'मे-मेक' प्रत्यय जोड कर रूप बनता है—सेव-मे-मेक जिसका अर्थ है प्रेम न करने के लिए। इसी प्रकार एव = घर, एवलेर = कई घर।

(३) **सर्व-प्रत्यय-प्रधान भाषाए**—इन भाषाओ की प्रकृति के आदि, मध्य और अन्त सभी मे प्रत्यय लग सकता है। इस वर्ग की प्रधान भाषाए हैं—मलय और मलेनेशिया परिवार की भाषाए। इनमे प्रकृति के आदि तथा अन्त के अतिरिक्त मध्य मे भी प्रत्यय लगता है।

(४) **मध्य प्रत्यय प्रधान भाषाए**—इनमे शब्द प्राय दो अक्षरो के होते है और प्रत्यय उनके बीच जोडा जाता है, जैसे, मभि (मुखिया) से मपभि (मुखिया लोग) अथवा सुलत् (लिखना) से सुगमुलत (लिखा)।

(५) **ईषत् प्रत्यय प्रधान भाषाए**—इनमे प्रत्यय-प्रधानता के साथ-साथ व्यास, समास, और विभक्ति प्रधान भाषाओ की भी विशेषताए रहती हैं, यद्यपि मुख्यत रूप-रचना प्रत्ययो की सहायता से ही होती है। उदाहरण के लिए जापानी भाषा, प्रत्यय प्रधानता के साथ-साथ विभक्ति की ओर झुकी हुई है।

(ख) **विभक्ति प्रधान भाषाए अथवा श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ**—यदि प्रत्यय-प्रधान भाषाओ मे व्याकरणिक सम्बन्ध प्रत्ययो द्वारा ज्ञात होते हैं, तो विभक्ति-प्रधान भाषाओ मे वे विभक्तियो द्वारा ज्ञात होते हैं। प्रत्यय प्रकृति से भिन्न रहे आते है, उन्हें सहज ही पहचाना जा सकता है, जबकि विभक्तियाँ प्रकृति मे इतनी घुल-मिल जाती हैं कि वे अलग नही की जा सकती। अत हम कह सकते है कि विभक्ति-प्रधान भाषाओ का मुख्य लक्षण है प्रकृति और विभक्ति का अभेद। अपवाद और व्यत्यय की प्रधानता के कारण इन भाषाओ का व्याकरण वडा विशद एव जटिल होता है। इस वर्ग की भाषाओ को दो उपशाखाओ मे विभाजित किया जाता है—(१) अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाए (२) वहिर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाए।

(१) **अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान भाषाए**—इन भाषाओ मे प्रकृति के आदि, मध्य और अन्त सभी में विभक्ति जुड कर उसको व्याकरणिक रूप प्रदान करती है। व्याकरणिक सम्बन्ध शब्द के भीतर होने वाले परिवर्तन से ही प्रकट होता है। जैसे, अरवी भापा मे प्रकृति है कत्ल। इस मे विभक्ति जोड कर अनेक रूप निष्पन्न होते हैं जैसे, कतल, कुतिल, यक्तुल, कातिल, किल्ल आदि। सैमैटिक तथा हैमेटिक परिवार की भापाए अन्तर्मुखी विभक्ति प्रधान भापाओ के अन्तर्गत आती हैं।

४३

भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण

१ भूमिका
२ वर्गीकरण का आधार
३ सेमेटिक परिवार
४ हेमेटिक परिवार
५ बांटू कुल
६ मध्य अफ्रीका कुल
७ अमरीकी परिवार
८ प्रशान्त महासागरीय परिवार
९ यूराल-अल्टाइक परिवार
१० एकाक्षर या चीनी परिवार
११ द्राविड परिवार
१२ आस्ट्रिक परिवार
१३ परिचमी वर्ग
१४ काकेशीय परिवार
१५ भारोपीय परिवार
(क) शतम् वर्ग
(ख) केन्टुम वर्ग

प्रत्येक भाषा परिवार की विभिन्न भाषाओं का समय की गति के साथ-साथ विकास हुआ है जब हम उनके विकासक्रम का अध्ययन करते हुए प्राचीन युग की ओर बढ़ते हैं तो हमें एक ऐसी मूलभाषा मिलती है जिससे इस परिवार की सभी भाषाएं उद्भूत हुई हैं। इसी आधार पर विभिन्न भाषा-परिवारों की सृष्टि हुई है। ऐतिहासिक आधार पर वंशक्रमानुसार जो वर्गीकरण किया जाता है उसे ऐतिहासिक अथवा पारिवारिक या वंशानुक्रमानुसार वर्गीकरण कहते हैं। अंग्रेजी में इसे Geneological classification कहते हैं। इस वर्गीकरण के मूल आधारों का विवेचन करते हुए डॉ॰ श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि जिन भाषाओं में निकट सम्बन्धी व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त शब्द जैसे माता पिता भाई आदि के लिए प्रयोग में आने वाले शब्द अथवा सर्वनाम-शब्द अथवा संख्यावाचक शब्द या नित्य व्यवहार में आने

भाषाओ की रूप-रचना का ज्ञान तो हो जाता है, तथापि इस वर्गीकरण मे अनेक दोष भी हैं। प्रथम तो इस वर्गीकरण मे बहुत सी ऐसी भाषाए एक ही वर्ग मे आ गई हैं जिनकी प्रवृत्ति, भौगोलिक सीमाएँ आदि परस्पर नितान्त भिन्न हैं।

इस वर्गीकरण मे प्राय किसी एक लक्षण की प्रधानता को देखकर उस भाषा-विशेष को एक विशेष वर्ग मे रखा गया है, जबकि उस भाषा में अन्यान्य लक्षण भी मिलते हैं। जैसे हिन्दी और अग्रेजी दोनो को एक ही वर्ग—विभक्ति प्रधान भाषाओ मे रखा गया है जबकि उनमे व्यास-प्रधान भाषाओ के गुण भी हैं। इसी तरह तुर्की, काफिर, कन्नड आदि भाषाए प्रत्यय प्रधान भाषाओ मे रखी गई है, किन्तु उनमे समास प्रधान भाषाओ के गुण भी हैं। इनके अतिरिक्त सस्कृत भाषा मे तो विभक्ति, प्रत्यय, समास तीनो मिलते हैं, अत उसे किस वर्ग मे रखा जाय ?

तीसरे, इस वर्गीकरण मे प्राय किसी एक लक्षण की समानता के कारण दो भिन्न भाषाओ को एक वर्ग मे रख दिया गया है जबकि उनमे परस्पर इतनी असमानता है कि उन्हें एक वर्ग मे नही रखा जाना चाहिए।

भाषाओ का इतिहास बताता है कि भाषाए योगात्मक से अयोगात्मक और अयोगात्मक से योगात्मक होती रहती हैं अर्थात् भाषाओ की रूप-रचना मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। ऐसी स्थिति मे किसी एक भाषा को सदा के लिए किसी एक वर्ग मे रख देना न्याय-सगत नही है।

साराश यह है कि भाषाओ का यह आकृतिमूलक वर्गीकरण भाषाओ के ठीक-ठीक स्वरूप का बोध नही कराता, केवल कुछ भाषाओ की रूप-रचना का ही ज्ञान कराता है। अत यह वर्गीकरण न तो वैज्ञानिक ही है और न लाभप्रद ही। इसकी तात्त्विक या व्यावहारिक कोई भी उपयोगिता नही है। इसीलिए अब भाषा के अध्ययन मे इस पर ध्यान नही दिया जाता। वस्तुत हर भाषा की आकृति-सम्बन्धी अपनी-अपनी विशेषताए होती हैं, अत ससार भर की भाषाओ को तीन-चार वर्गों में बाटने से काम नही चल सकता।

(२) धातु के इन व्यंजनों में स्वर जोड़कर पद बनते हैं जैसे कातिब किताब।

(३) कभी धातु में उपसर्ग या प्रत्यय जोड़कर भी पद बनाये जाते हैं जैसे, 'हिफ्तिल' में हि उपसर्ग है।

(४) समास केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में मिलता है।

(५) 'त स्त्रीलिंग का चिह्न है।

(६) कुछ धातुयें द्विव्यंजनात्मक हैं।

२ हैमेटिक कुल—इस परिवार की भाषायें उत्तरी अफ्रीका में बोली जाती हैं जिनमें से *प्राचीन मिस्र की भाषा काप्टिक (coptic) प्रसिद्ध है।* इस भाषा के नमूने चित्रलिपि में खुदे हुए मिले हैं। उत्तरी अफ्रीका के समुद्र तट की और सहारा मरुभूमि की भाषायें भी इसी परिवार की हैं। अरब के मुसलमानों के प्रभाव के कारण इजिप्ट देश के मुसलमानों की वर्तमान भाषा अरबी हो गई है किन्तु इसकी मूलभाषा काप्टिक थी जिसके प्रचार का पुनः प्रयत्न हो रहा है। इस परिवार की प्रमुख विशेषतायें हैं—

(१) भाषायें श्लिष्ट योगात्मक हैं।

(२) पद बनाने के लिए प्रत्यय और उपसर्ग दोनों लगाए जाते हैं।

(३) स्वर-परिवर्तन मात्र से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है।

(४) बल देने के लिए पुनरुक्ति का प्रयोग होता है।

(५) लिंग भेद नर और मादा पर आधारित न हो बड़ेपन और छोटेपन पर निर्भर है।

(६) बहुवचन बनाने के कई तरीके हैं।

(७) संज्ञा वचन में परिवर्तित होने पर लिंग में भी परिवर्तित समझी जाती है। एकवचन पुंलिंग संज्ञा का बहुवचन करने पर वह स्त्रीलिंग बन जाती है।

३ बांटू कुल इस कुल का नाम बांटू इसलिए पड़ा क्योंकि इसकी सभी भाषाओं में आदमी के लिए प्राय बांटू शब्द प्रचलित है। इस कुल की भाषायें मध्य और दक्षिणी अफ्रीका तथा जंजीबार द्वीप में बोली जाती हैं। इनकी संख्या १५ के लगभग मानी गई है। स्वाहिली को छोड़कर अन्य भाषाओं में साहित्य प्रायः नहीं है। [...] भाषायें मधुर हैं क्योंकि इनमें संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग कम होता है और सभी [...]न्त होते हैं। इस परिवार की विशेषतायें हैं—

(१) ये प्रश्लिष्ट पूर्व योगात्मक हैं।

(२) लिंग विचार नहीं के बराबर है।

(३) स्वरों के अन्तर से अर्थ में कभी-कभी भेद आ जाता है।

(४) कोमलता और मधुरता इसका प्रधान गुण है।

(५) इस परिवार की दक्षिणी-पूर्वी भाषाओं में विलक्षण ध्वनियां मिलती हैं।

[...]ध्य-अफ्रीका कुल—उत्तर के हैमेटिक तथा दक्षिण के बांटू परिवारों के

वाली वस्तुओं के नाम मिलते-जुलते हों, वे भाषाएं एक परिवार की मानी जाती हैं, किन्तु डॉ० बाबूराम सक्सेना ने उक्त शब्दों की समानता के अतिरिक्त तीन बातें और आवश्यक बतलाई हैं अर्थात् व्याकरण की समानता, ध्वनि-साम्य और स्थान सामीप्य। ये तीन बातें और जिन भाषाओं में एक-सी होती हैं, वे एक परिवार की भाषाएं कहलाती हैं। इनमें व्याकरण की समानता सबसे महत्त्वपूर्ण है और इसके अन्तर्गत हम तीन बातों पर विचार करते हैं—(क) धातु से शब्द बनाने की समानता (ख) मूल शब्द से प्रत्यय-उपसर्ग जोडकर अन्य शब्द बनाने की समानता (ग) वाक्य-रचना की समानता। इन्हीं आधारों पर विद्वानों ने संसार भर की भाषाओं का वर्गीकरण किया है और उन्हें भिन्न-भिन्न परिवारों में रखा है। डॉ० श्यामसुन्दर दास तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना ने पहिले सारी भाषाओं के चार खंड या चार चक्र माने हैं, जो क्रमश इस प्रकार हैं।

१ अमरीका खंड २ प्रशान्त महासागर खंड ३ अफ्रीका खंड ४ यूरेशिया खंड। १ इनमें से अमरीका खंड में उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के दो परिवार आते हैं। २ प्रशान्त महासागर खंड में पांच परिवार आते हैं—मेलेनेशियन, पालीनेशियन, पापुअन, आस्ट्रेलियन और मलयन। ३ अफ्रीका खंड में पांच परिवार आते हैं बुशमान, बांतु, सूडान हैमेटिक और सैमेटिक। ४ यूरेशिया खंड में ८ परिवार आते हैं यूराल-अल्ताई, चीनी, द्राविड, काकेशस, सैमेटिक, भारोपीय, आग्नेय और विविध परिवार जिसमें बास्क आदि जापानी भाषायें रहती हैं। इस तरह इन दोनों विद्वानों ने संसार की भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण करते हुए उन्हें चार खंडों या चक्रों में तथा बीस परिवारों में विभक्त किया है। फ्रेडरिक मूलर आदि विद्वानों का विचार है कि समस्त विश्व की भाषाओं को १०० भाषा-परिवारों में बांटा जा सकता है। कुछ विद्वानों के अनुसार इनकी संख्या २५० होनी चाहिए। किन्तु डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने संसार की समस्त भाषाओं को केवल बारह परिवारों में बांटा है। यह वर्गीकरण सरलता और सुविधा की दृष्टि से उपयुक्त जान पडता है। अब हम मुख्य भाषा-परिवारों की चर्चा करते हैं—

१ सेमेटिक परिवार—प्राचीन काल की सभ्यता के कतिपय केन्द्रों की कुछ भाषायें जैसे फोनेशियन, आर्मीनियन, असीरियन आदि इसी परिवार की भाषायें थीं। Old Testament की प्राचीन हिब्रू भाषा भी इसी परिवार की थी और प्राचीन अरबी भी इसी परिवार की भाषा है जो बहुत सम्पन्न है। धर्म, ज्योतिष, गणित, दर्शन, साहित्य और रसायन आदि सभी में उसका हाथ है। अरबी साहित्य ने भारत की अनेक भाषाओं को भी प्रभावित किया है। अंग्रेजी तथा फ्रेंच तक में अरबी के शब्द पाए जाते हैं। आजकल इस परिवार की उत्तराधिकारिणी भाषायें अरबी और हब्शी हैं। इस परिवार की प्रमुख विशेषतायें हैं—

(१) धातु प्राय तीन व्यंजनों की होती है जैसे क्तब् (लिखना), द्ब्र् (बोलना)।

(क) भाषा प्रश्लिष्ट अंत योगात्मक है। धातु में प्रत्यय जोड़कर पद बनाये जाते हैं।

(ख) धातु अव्यय के समान अविकारी है।

(ग) स्वर-अनुरूपता (Vowel Harmony) पाई जाती है।

८ एकाक्षर या चीनी परिवार—यह परिवार चीन स्याम तिब्बत और बर्मा में फैला हुआ है। इस परिवार के प्रमुख लक्षण केवल चीनी में पाये जाते हैं क्योंकि अन्य भाषायें प्रायः परिवारों से प्रभावित होने के कारण वर्ण-संकर हो गई है। इस परिवार की विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) ये भाषायें स्थान-प्रधान या अयोगात्मक हैं।

(२) प्रत्येक शब्द एक अक्षर का होता है।

(३) इनमे सुर का प्रयोग होता है निपात का भी।

(४) इनमे हिस्व का भी प्रयोग होता है।

(५) व्याकरण नही के बराबर है।

(६) दो प्रकार के शब्द मिलते हैं—जीवित तथा मृत।

(७) अनुनासिक ध्वनियों के प्रयोग का बाहुल्य है।

६ द्राविड़ परिवार—इस परिवार की भाषायें दक्षिण भारत मे नर्मदा और गोदावरी से लेकर कुमारी अन्तरीप तक बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरी लंका बिलोचिस्तान मध्य भारत तथा बिहार उड़ीसा के कुछ भागों मे भी इसका प्रयोग होता है। इसकी प्रधान विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) भाषायें अश्लिष्ट अन्तयोगात्मक है। मूल शब्द या धातु में प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

(२) प्रयोग पारदर्शक होता है।

(३) समास भी बना लिया जाता है।

(४) स्वर-अनुरूपता मिलती है।

(५) शब्दारम्भ मे घोष व्यञ्जन नही होते।

(६) मूर्धन्य ध्वनियों का प्राधान्य है।

(७) दो वचन होते हैं। बहुवचन प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते हैं।

(८) तीन लिंग होते हैं।

१ आस्ट्रिक वर्ग—इसका एक अन्य नाम निषाद वंश भी है। इस वंश की दो शाखायें है—(१) आस्ट्रो-एशियाटिक (२) आस्ट्रोनेशियन। प्रथम शाखा की दो उपशाखायें है—(क) मानख्मेर (ख) कोल या मुण्डा। मानख्मेर उपशाखा की भाषायें बर्मा स्याम तथा निकोबार द्वीपसमूह मे पायी जाती हैं। कोल या मुण्डा उपशाखा की भाषायें भारत के अनेक भागों—पश्चिमी बंगाल छोटा नागपुर, मध्य प्रदेश तथा म [illegible] के पूर्वोत्तर भाग म बोली जाती हैं। खासी भाषा इसी के अन्तर्गत आती है। आसाम प्रान्त की खासी बोली भी इसी के अन्तर्गत आती है।

बीच की जितनी भाषायें हैं, वे सब इस परिवार मे रखी जाती हैं। ब्रिटिश सूडान की भाषा इनमे सर्वाधिक प्रमुख है। इस परिवार की भाषाओं की विशेषतायें हैं—

(१) ये अयोगात्मक हैं। विभक्तिया बिल्कुल नही है, धातुयें एकाक्षर है।
(२) व्याकरण नही के बराबर है।
(३) बहुवचन एव लिंग स्पष्ट नही हैं।
(४) वाक्य छोटे-छोटे होते हैं।
(५) ध्वन्यात्मक शब्द अधिक होते हैं।
(६) सुर से शब्दार्थ मे परिवर्तन हो जाता है।

५ **अमरीकी परिवार**—उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के मूल निवासियो की लगभग ४०० भाषायें इस परिवार मे आती हैं, जिनका सम्यक् अध्ययन अभी तक नही हो पाया है। यद्यपि विद्वानो ने उत्तरी अमरीका और दक्षिणी अमरीका की भाषाओं को दो परिवारो मे रखा है और वहाँ के मूल निवासियो की बोली को एक भिन्न परिवार की बोली माना है, फिर भी अधिकाश भाषायें परस्पर इतनी मिलती-जुलती हैं कि उनमे परस्पर भेद बहुत कम है। मध्य अफ्रीका की भाति अमरीका मे भी बोलियो की सख्या अधिक है, थोडी-थोडी दूर पर वहा बोली मे अन्तर मिलता है, फिर भी भाषाओं की प्रवृत्ति और उनकी समीपता के विचार से उन्हे एक ही परिवार मे गिना गया है। इस परिवार की विशेषतायें हैं—

(१) भाषायें प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं। वाक्य ही यहा शब्द हैं।
(२) मय भाषा मे साहित्य और लिपि है, अन्य मे नही।
(३) कुछ स्थानो पर पुरुष एक भाषा बोलते हैं, स्त्रिया दूसरी।

६ **प्रशान्त महासागरीय परिवार**—आस्ट्रेलिया महाद्वीप तथा हिन्द महासागर एव प्रशान्त महासागर के छोटे-छोटे द्वीपो मे रहने वाले मूल निवासियो की भाषाये इस परिवार के अन्तर्गत आती हैं। इन सब मे पर्याप्त साम्य है। इस परिवार की असख्य बोलियो को पाच उप-परिवारो मे बाटा गया है—(क) मलायन (ख) मलेनेशियन (ग) पालिनेशियन (घ) पापुआ तथा (ङ) आस्ट्रेलियन परिवार। इसे आस्ट्रोनेशियन परिवार भी कहते हैं। इसके प्रमुख लक्षण हैं—

(१) सभी भाषायें अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
(२) धातु प्राय दो अक्षर की होती हैं।
(३) स्वराघात बलात्मक है।
(४) आदि या मध्य या अन्त मे शब्द जोडकर पद बनाये जाते हैं।
(५) सभी भाषायें धीरे-धीरे वियोगात्मक होती जा रही हैं।

७ **यूराल-अल्टाइक वर्ग**—इस परिवार की भाषायें यूराल और अल्टाइक पर्वत के बीच मे टर्की, हंगरी और फिनलैंड से लेकर पूरब मे ओखोत्सक सागर तक और भूमध्य सागर से लेकर उत्तर मे उत्तरीय सागर तक फैली हुई हैं। इस परिवार की विशेषतायें हैं—

(क) भाषा अश्लिष्ट अंत योगात्मक है। धातु में प्रत्यय जोड़कर पद बनाये जाते हैं।

(ख) धातु अव्यय के समान अविकारी है।

(ग) स्वर-अनुरूपता (Vowel Harmony) पाई जाती है।

८ एकाक्षर या चीनी परिवार—यह परिवार चीन स्याम तिब्बत और बर्मा में फैला हुआ है। इस परिवार के प्रमुख लक्षण केवल चीनी मे पाये जाते हैं क्योंकि अन्य भाषायें अन्य परिवारों से प्रभावित होने के कारण वर्ण-संकर हो गई हैं। इस परिवार की विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) ये भाषायें स्थान-प्रधान या अयोगात्मक हैं।

(२) प्रत्येक शब्द एक अक्षर का होता है।

(३) इनमें सुर का प्रयोग होता है निपात का भी।

(४) इनमें द्वित्व का भी प्रयोग होता है।

(५) व्याकरण नहीं के बराबर है।

(६) दो प्रकार के शब्द मिलते हैं—जीवित तथा मृत।

(७) अनुनासिक ध्वनियों के प्रयोग का बाहुल्य है।

९. द्राविड़ परिवार—इस परिवार की भाषायें दक्षिण भारत में नर्मदा और गोदावरी से लेकर कुमारी अन्तरीप तक बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरी लंका बिलोचिस्तान मध्य भारत तथा बिहार उड़ीसा के कुछ भागों में भी इनका प्रयोग होता है। इसकी प्रधान विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(१) भाषायें अश्लिष्ट अन्तयोगात्मक हैं। मूल शब्द या धातु में प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

(२) प्रयोग पारदर्शक होता है।

(३) समास भी बना लिया जाता है।

(४) स्वर-अनुरूपता मिलती है।

(५) उच्चारण में घोष व्यंजन नहीं होते।

(६) मूर्धन्य ध्वनियों का प्राधान्य है।

(७) दो वचन होते हैं। बहुवचन प्रत्यय जोड़कर बनाये जाते हैं।

(८) तीन लिंग होते हैं।

१ आस्ट्रिक वर्ग—इसका एक अन्य नाम निषाद वंश भी है। इस वर्ग की दो शाखायें हैं—(१) आस्ट्रो-एशियाटिक (२) आस्ट्रोनेशियन। प्रथम शाखा की दो उपशाखायें हैं—(क) मानख्मेर (ग) कोल या मुण्डा। मानख्मेर उपशाखा की भाषायें बर्मा स्याम तथा निकोबार द्वीपसमूह मे बोली जाती हैं। कोल या मुण्डा उपशाखा की भाषायें भारत के अनेक भागों—पश्चिमी बंगाल छोटा नागपुर, मध्य प्रदेश तथा असम के पूर्वोत्तर भाग में बोली जाती हैं। संथाली भाषा इसी के अन्तर्गत आती है। असम प्रान्त की खासी बोली भी इसी के अन्तर्गत आती है।

११ एस्किमो वर्ग—इस वर्ग की भाषाये उत्तर सीमान्त देशो से ग्रीनलैंड होते हुए एलूशियन द्वीपसमूह तक के भूभाग मे वोली जाती हैं।

१२. काकेशीय वर्ग— इसका क्षेत्र कृष्ण सागर (Black sea) से कैस्पियन सागर के वीच काकेशस पर्वत-माला है। पर्वतीय प्रदेश होने के कारण यहा की विभाषाओ मे विविधता वहुत है। वाह्य आक्रमणो के कारण इन भाषाओ की पद-रचना मे वाह्य प्रभावो के कारण क्लिष्टता एव जटिलता भी आ गई है। इस वर्ग की उल्लेखनीय भाषा जार्जीय है। इसकी विशेषताए हैं—(क) ये भाषाये अश्लिष्ट योगात्मक हैं। (ख) पद-रचना जटिल है। (ग) कुछ भाषाओ मे सर्वनाम और क्रिया का योग रहता है। (घ) क्रिया-रूप अत्यन्त जटिल है।

१३ भारोपीय वर्ग—जिस मूल भाषा से भारोपीय परिवार की विविध भाषाओ का जन्म हुआ है, उसके नमूने आज नही मिलते, तथापि अब यह निश्चय हो गया है कि २७००-२६०० ई० पूर्व उस मूल भाषा से इस परिवार की प्राचीन भाषाओ की उत्पत्ति हुई होगी और समय की गति के साथ-साथ ये भाषाये यूरोप तथा एशिया मे फैली होगी और विकास को प्राप्त हुई होगी।

सर्वप्रथम अस्कोली नामक विद्वान ने १८७० ई० मे विद्वानो के सामने यह विचार रखा कि भारोपीय मूल भाषा की कठस्थानीय ध्वनियाँ (क ख ग आदि) कुछ शाखाओ मे ज्यो की त्यो रही और कुछ मे ऊष्म हो गई। इसी आधार पर वान ब्रेडके ने इस परिवार के दो वर्ग वनाये। १ शतम २ कैन्टुम अर्थात जिन भाषाओ मे कठ-देशीय मूल वर्ण ऊष्म हो गए, वे भाषाए शतम परिवार की मानी गई और जिनमे कठ देशीय मूल वर्ण कठ देशीय ही रहे वे कैन्टुम परिवार मे आती हैं। इस वर्गीकरण का मूल आधार सौ के लिये प्रयोग मे आने वाला शब्द है जैसे, सस्कृत का 'शतम्' हिन्दी 'सौ' अवेस्ता 'सतम', फारसी 'सद', रूसी 'स्तो', वल्गेरियन 'सुतो' आदि शब्द लेटिन कैन्टुम', इटलोटीन,'कैन्टो' फ्रेंच 'केन्त', अग्रेजी कैन्ट',ग्रीक 'हैक्टोन', आदि। इसी आधार पर भारोपीय परिवार शतम और कैन्टुम दो वर्गों मे बाटा जाता है। शतम परिवार की भाषाए निम्नलिखित हैं। १ आर्य या भारत ईरानी। २ आर्मेनियन ३ वाल्टो-स्लेवोनिक। ४ अल्वेनियन। कैन्टुम परिवार के ये चार वर्ग हैं—१ ग्रीक २ इटैलिक ३ केल्टिक ४ ट्यूटानिक।

शतम् परिवार की भाषाए

१ आर्य या भारत ईरानी—इस वर्ग के अन्तर्गत दो शाखाए आती हैं। पहली शाखा मे भारतीय आर्य भाषाए हैं और दूसरी मे ईरानी भाषाए। एक तीसरी शाखा दरद या पैशाची भाषाओ की भी इसी वर्ग मे मानी जाती है। भारोपीय परिवार मे यही ऐसा परिवार है जिसमे सबसे अधिक प्राचीन साहित्य मिलता है वैदिक सस्कृत, अवेस्ता, फारसी आदि इसी वर्ग की प्राचीन भाषाए हैं।

२ आर्मेनियन—भारोपीय परिवार का यह दूसरा वर्ग है। आर्मेनियन शाखा मे प्राचीन साहित्य होने के चिन्ह मिले हैं पर [illegible]

के बाद ईसाई साहित्य ही उपलब्ध होता है वैसे इस भाषा मे प्रामाणिक लेख ११वीं सदी से प्राप्त होते हैं। इसका शब्द भण्डार ईरानी शब्दों से भरा हुआ है। कारण यह कि ४थी शताब्दी तक ईरान का युवराज ही आर्मीनिया का बादशाह होता था। परन्तु इसकी योगात्मकता तथा ध्वनि निश्चय ही ईरानी से पृथक हैं।

३ बाल्टो स्लेवोनिक—इस वर्ग की भाषाएं काले सागर के उत्तर में प्रायः सम्पूर्ण रूस में फैली हुई हैं। आदि भाषाओं की तरह ये भाषाएं भी कई शाखाओं में बंटी हुई हैं जिनमें से दो प्रमुख शाखाएं हैं। १ बाल्टिक शाखा जिसमें लिथुआनियन लेटिश और प्राचीन प्रशियन बोलियाँ आती हैं दूसरी स्लेवोनिक शाखा है जिसमें बल्गेरिया रूस पोलैंड आदि देशों की भाषाएं आती हैं। स्लेवोनिक भाषाएं संज्ञा के रूपों और शब्दावली में बाल्टिक भाषाओं से बड़ा साम्य रखती हैं। यही कारण है कि दोनों को एक ही बाल्टो-स्लेवोनिक वर्ग में रखा जाता है।

४ अल्बेनियन—यह भाषा शतम समूह की अन्तिम भाषा है। आर्मीनियन भाषा की तरह इस पर भी निकटवर्ती भाषाओं का अधिक प्रभाव है। इस वर्ग को पहिले इलीरियन कहते थे और इलीरियन भाषा बड़ी प्राचीन थी किन्तु आज वह भाषा पूर्णतया लुप्त हो चुकी है और केवल अल्बेनियन भाषा ही जीवित है। इसमें प्राचीन साहित्य तनिक भी नहीं मिलता। अल्बेनियन बोलने वाले अल्बेनिया तथा ग्रीस मे निवास करते हैं।

केन्टुम वर्ग

१ ग्रीक—यह वर्ग केन्टुम समूह का सबसे पुराना वर्ग है। इस वर्ग की ग्रीक भाषा बड़ी महत्वपूर्ण है और सबसे प्राचीन है। इसी में प्रसिद्ध कवि होमर के ईलियड और ओडेसी नामक महाकाव्य सुकरात और अरस्तू के प्रसिद्ध ग्रन्थ मिलते हैं। सभ्यता साहित्य और कला की दृष्टि से यह वर्ग अधिक विख्यात है। इसे हेलेनिक भी कहते हैं। रोमन साम्राज्य के समय ग्रीक भाषा भूमध्य सागर के चारों ओर आधी दुनिया पर राज्य करती थी। उस समय राजनीति और वाणिज्य की भाषा ग्रीक ही थी।

२ इटैलिक—केन्टुम समूह की इस इटैलिक भाषा को लैटिन नाम भी दिया गया। देखा जाय तो इस वर्ग की लैटिन भाषा ही प्रमुख है जिसका प्रभाव यूरोप की सम्पूर्ण भाषाओं पर है। यूरोपीय भाषाओं में जितने वैज्ञानिक शब्द प्रचलित हैं उन सबका निर्माण लैटिन अथवा ग्रीक से ही हुआ है। इटली फ्रांस स्पेन पुर्तगाल और रूमानियाँ की वर्तमान भाषाएं लेटिन की ही पुत्रियाँ हैं। महाकवि दान्ते मेट आदि के अमरकाव्य इसी भाषा में लिखे गए। ग्रीक के बाद इसी भाषा का यूरोप में महत्व है। रोमन साम्राज्य के समृद्धिकाल मे वहाँ की देशज भाषाओं को समाप्त कर यह साम्राज्ञी बन बैठी। लैटिन का इतिहास अधिक महत्वपूर्ण है। इसको तीन कालों मे विभक्त किया जा सकता है साहित्यिक लैटिन बराबर साहित्य और धार्मिक कृत्यों में

व्यवहृत होती रही और इस समय भी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा है।

३ केल्टिक—इस वर्ग की भाषाएं दो रूपों में मिलती हैं। इसका वर्तमान रूप आयरलैंड में मिलता है और इसका दूसरा रूप ग्रेट-ब्रिटेन के स्काटलैंड, वेल्स तथा कोर्नवॉल प्रदेशों में पाया जाता है। इस वर्ग की पुरानी भाषा गॉलिक अब जीवित नहीं है।

४ ट्यूटानिक—इस वर्ग को जर्मनिक भाषाओं का वर्ग भी कहते हैं। भारोपीय परिवार की यह महत्त्वपूर्ण शाखा है। इसका प्राचीन रूप गाथिक और नॉर्स भाषाओं में मिलता है। प्राचीन नॉर्स भाषा से ही स्वीडन, नार्वे, डेन्मार्क और आइसलैंड की भाषाएं निकली हैं और इन्हीं ट्यूटानिक तथा उच्च और निम्न जर्मन भाषाओं से आधुनिक जर्मन, डच तथा अंग्रेजी भाषा निकली है। इस परिवार की अंग्रेजी भाषा विश्वविख्यात भाषा है। इसका इतिहास भी बड़ा मनोरंजक और शिक्षाप्रद है। यह शाखा अपने ध्वनि परिवर्तन के लिए बहुत प्रसिद्ध है।

आधुनिक युग में दो नई भाषाओं की खोज और हुई है जो हिट्टाइट तथा तोखारी कहलाती हैं। हिट्टाइट का पता एशिया माइनर में बोगाज़ कोई नामक स्थान पर चला है। दूसरी तोखारी भाषा तुर्फ़ान प्रदेश की भाषा है। यद्यपि इन दोनों भाषाओं का सम्बन्ध कुछ-कुछ वैदिक संस्कृत से दिखाई देता है जैसे संस्कृत क हिट्टाइट में कुइस। संस्कृत पितृ तोखारी में पाचर, मातृ का माचर किन्तु अधिकांश विद्वान इन दोनों भाषाओं को कैन्टुम वर्ग की भाषाएं मानते हैं। इस तरह समस्त भारोपीय परिवार शतम और कैन्टुम दो समूह में बांटा जाता है यद्यपि दोनों समूहों में बहुत सी ध्वनियां परस्पर मिल जाती हैं और उनमें बहुत कम अन्तर रहता है किन्तु यह विभाजन केवल सौ शब्द के आधार पर हुआ है वैसे दोनों समूह की भाषाएं एक परिवार की ही हैं।

इस वर्गीकरण को देखकर लोगों ने समझा था कि शतम वर्ग पूर्वी देशों की भाषाओं तथा कैन्टुम वर्ग पश्चिम में पाई जाने वाली भाषाओं के लिये व्यवहृत होता है। परन्तु अब यह भ्रामक धारणा शनै शनै बिलकुल साफ हो गई है—क्योंकि पूरब में हिट्टाइट और तोखारी (क्रमश एशिया माइनर और मध्य एशिया) भाषाएं ऐसी मिली हैं जिनमें 'स' के स्थान पर 'क' है। पद रचना की दृष्टि से हिट्टाइट भाषा निश्चय ही आर्य परिवार की है। इसका काल ईसा से कोई चौदह-पन्द्रह शताब्दी पूर्व माना जाता है। प्रो० साइस इसे सैमेटिक परिवार की तथा प्रो० ह्राजनी उसे भारोपीय परिवार की मानते हैं, जो ठीक है।

आधुनिक आर्य-भाषाओं का वर्गीकरण

१ भूमिका
२. ग्रियर्सन का वर्गीकरण
३ ग्रियर्सन के तर्क
४ चटर्जी द्वारा उनका खंडन
५ चटर्जी का वर्गीकरण

सन् १८८० ई० में हार्नले नामक यूरोपीय विद्वान ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि आर्य लोग भारत में दो दलों में आये थे। पहला दल पंजाब में आकर बस गया। जब दूसरा दल आया तो उसने पूर्वागत आर्यों को तीन दिशाओं—पूरब,दक्षिण तथा पश्चिम में फैलने के लिए बाध्य किया। दूसरे दल को भीतरी आर्य और पहले दल को बाहरी आर्य कहा गया क्योंकि दूसरा दल मध्यदेश अथवा केन्द्र में रहता था और पहला दल मध्यदेश के बाहर चारों ओर फैला हुआ था।

यद्यपि डा० ग्रियर्सन आर्यों के आक्रमण आदि के सम्बन्ध में हार्नले के मत से सहमत न थे तथापि उन्होंने भी बाहरी दल के आर्यों की भाषा को बहिरंग तथा केन्द्रीय दल की भाषा को अन्तरंग भाषा नाम दिया। उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'लिंग्विस्टिक सर्वे' भाग १ खण्ड १ में आधुनिक आर्य भाषाओं का ध्वनितत्व रूप तत्त्व आदि के आधार पर निम्नलिखित वर्गीकरण दिया—

(क) बाहरी उपशाखा

(१) उत्तरी-पश्चिमी वर्ग—(i) लहँदा
(ii) सिन्धी

(२) दक्षिणी वर्ग—मराठी

(३) पूर्वी वर्ग—(i) उड़िया
(ii) बिहारी
(iii) बंगला
(iv) असमिया

(ख) मध्य उपशाखा

मध्यवर्ती वर्ग—पूर्वी हिन्दी

व्यवहृत होती रही और इस समय भी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा है।

३ केल्टिक—इस वर्ग की भाषाए दो रूपो मे मिलती हैं। इसका वर्तमान रूप आयरलैंड मे मिलता है और इसका दूसरा रूप ग्रेट-ब्रिटेन के स्काटलैंड, वेल्स तथा कोर्नवॉल प्रदेशो मे पाया जाता है। इस वर्ग की पुरानी भाषा गॉलिक अब जीवित नही है।

४ ट्यूटानिक—इस वर्ग को जर्मनिक भाषाओ का वर्ग भी कहते हैं। भारोपीय परिवार की यह महत्त्वपूर्ण शाखा है। इसका प्राचीन रूप गाथिक और नॉर्स भाषाओ मे मिलता है। प्राचीन नॉर्स भाषा से ही स्वीडन, नार्वे, डेन्मार्क और आइसलैंड की भाषाए निकली हैं और इन्ही प्यूटानिक तथा उच्च और निम्न जर्मन भाषाओ से आधुनिक जर्मन, डच तथा अग्रेजी भाषा निकली है। इस परिवार की अग्रेजी भाषा विश्वविख्यात भाषा है। इसका इतिहास भी बडा मनोरजक और शिक्षाप्रद है। यह शाखा अपने ध्वनि परिवर्तन के लिए बहुत प्रसिद्ध है।

आधुनिक युग मे दो नई भाषाओ की खोज और हुई है जो हिट्टाइट तथा तोखारी कहलाती हैं। हिट्टाइट का पता एशिया माइनर मे बोगाज़ कोई नामक स्थान पर चला है। दूसरी तोखारी भाषा तुर्फान प्रदेश की भाषा है। यद्यपि इन दोनो भाषाओ का सम्बन्ध कुछ-कुछ वैदिक सस्कृत से दिखाई देता है जैसे सस्कृत क हिट्टाइट मे कुइस। सस्कृत पितृ तोखारी मे पाचर, मातृ का माचर किन्तु अधिकाँश विद्वान इन दोनो भाषाओ को कैन्टुम वर्ग की भाषाए मानते हैं। इस तरह समस्त भारोपीय परिवार शतम और कैन्टुम दो समूह मे बाँटा जाता है यद्यपि दोनो समूहो मे बहुत सी ध्वनिया परस्पर मिल जाती हैं और उनमे बहुत कम अन्तर रहता है किन्तु यह विभाजन केवल सौ शब्द के आधार पर हुआ है वैसे दोनो समूह की भाषाए एक परिवार की ही हैं।

इस वर्गीकरण को देखकर लोगो ने समझा था कि शतम वर्ग पूर्वी देशो की भाषाओ तथा कैन्टुम वर्ग पश्चिम मे पाई जाने वाली भाषाओ के लिये व्यवहृत होता है। परन्तु अब यह भ्रामक धारणा शनै शनै बिलकुल साफ हो गई है—क्योकि पूरब म हिट्टाइट और तोखारी (क्रमश एशिया माइनर और मध्य एशिया) भाषाए ऐसी मिली हैं जिनमे 'स' के स्थान पर 'क' है। पद रचना की दृष्टि से हिट्टाइट भाषा निश्चय ही आर्य परिवार की है। इसका काल ईसा से कोई चौदह-पन्द्रह शताब्दी पूर्व माना जाता है। प्रो० साइम इसे सैमेटिक परिवार की तथा प्रो० ह्राजनी उसे भारोपीय परिवार की मानते हैं, जो ठीक है।

४४

आधुनिक आर्य भाषाओं का वर्गीकरण

१ भूमिका
२. ग्रियर्सन का वर्गीकरण
३ ग्रियर्सन के तर्क
४ चटर्जी द्वारा उनका खंडन
५ चटर्जी का वर्गीकरण

सन् १८८० ई० मे हार्नले नामक यूरोपीय विद्वान ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि आर्य लोग भारत में दो दलों मे आये थे। पहला दल पंजाब में आकर बस गया। जब दूसरा दल आया तो उसने पूर्वागत आर्यों को तीन दिशाओं—पूरब,दक्षिण तथा पश्चिम मे फैलने के लिए बाध्य किया। दूसरे दल को भीतरी आर्य और पहले दल को बाहरी आर्य कहा गया क्योंकि दूसरा दल मध्यदेश अथवा केन्द्र में रहता था और पहला दल मध्यदेश के बाहर चारो ओर फैला हुआ था।

यद्यपि डा० ग्रियर्सन आर्यों के आक्रमण आदि के सम्बन्ध मे हार्नले के मत से सहमत न थे तथापि उन्होंने भी बाहरी दल के आर्यों की भाषा को बहिरंग तथा केन्द्रीय दल की भाषा को अन्तरंग भाषा नाम दिया। उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "लिंग्विस्टिक सर्वे भाग १ खण्ड १ में आधुनिक आर्य भाषाओं का ध्वनितत्व रूप तत्व आदि के आधार पर निम्नलिखित वर्गीकरण दिया—

(क) बाहरी उपशाखा

(१) उत्तरी-पश्चिमी वर्ग—(i) लहंदा
(ii) सिन्धी

(२) दक्षिणी वर्ग—मराठी

(३) पूर्वी वर्ग—(i) उड़िया
(ii) बिहारी
(iii) बंगला
(iv) असमिया

(ख) मध्य उपशाखा

मध्यवर्ती वर्ग—पूर्वी हिन्दी

(ग) भीतरी उपशाखा

केन्द्रवर्ती वर्ग—(i) पश्चिमी हिन्दी
(ii) पजाबी
(iii) गुजराती
(iv) भीली
(v) खानदेशी
(vi) राजस्थानी

पहाडी वर्ग—(i) पूर्वी पहाडी अथवा नेपाली
(ii) मध्य या केन्द्रीय पहाडी
(iii) पश्चिमी पहाडी

इस प्रकार डा० ग्रियर्सन ने भारत की १७ आर्य भाषाओ को छ वर्गो और तीन उपशाखाओ मे बाटा। अपने इस वर्गीकरण के लिए तर्क देते हुए उन्होने कहा कि आर्य लोग दो दलो मे भारत मे आए। पहले दल के आर्य मध्य देश मे फैल गए पर जब दूसरा दल आया तो उसने पहले दल को मध्य देश से खदेड दिया और स्वय वहा रहने लगा। पहले दल के आर्यो के चारो ओर फैलने से उत्तर भारत के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण की सुदूरवर्ती भाषाओ मे साम्य बना रहा, जबकि मध्य-देश की भाषाएँ उनसे भिन्न हो गई।

उन्होंने इस वर्गीकरण का आधार यह माना कि इन दोनो उपशाखाओं की भाषाओ मे व्याकरण की भिन्नता है।

उनका कथन है कि ध्वनि तत्त्व की दृष्टि से दोनो उपशाखाओ मे बहुत अतर है। उदाहरण के लिए ऊष्म वर्ण—श, स, ष—भीतरी उपशाखा मे दन्त्य 'स' के रूप मे उच्चरित होते हैं और बगला आदि मे 'श' रूप मे तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त मे 'ह' रूप मे।

डा० ग्रियसन के अनुसार इन दोनों उपशाखाओ मे सज्ञा के शब्द रूपो मे भी स्पष्ट अन्तर पाया जाता है। उदाहरण के लिए भीतरी उपशाखा की भाषाओ मे प्राचीन कारको के रूप लुप्त हो चुके हैं और वे परसर्गों की सहायता से सम्पन्न होते हैं। भीतरी शाखा मे सज्ञापदो के रूप 'का' 'की' 'के' 'से' आदि परसर्गों 'की सहायता से बनाए जाते हैं जैसे राम का, राम की आदि। इसके विपरीत बहिरग भाषाओ में विभक्ति अभी तक जीवित हैं जो सज्ञा मे सश्लिष्ट हो जाती है, जैसे बगला मे अला-हाबादेर अमरूद'।

इन दोनो शाखाओ के क्रिया-रूपो मे भी भिन्नता है। भीतरी उपशाखा की भाषाओ मे प्रत्येक पुरुष तथा वचन मे क्रिया के एक ही रूप का व्यवहार होता है। जैसे, मैंने मारा, हमने मारा, तूने मारा आदि। किन्तु बाहरी उपशाखा की भाषाओ मे सर्वनाम कृदन्तीय रूपो मे अन्तर्मुक्त हो जाते हैं अत. वहाँ विभिन्न पुरुषो के क्रिया

पदों के रूप भी बदल जाते हैं जैसे गेलो गेला आदि।

डा ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत इन तर्कों को अस्वीकार करते हुए डा सुनीति कुमार चटर्जी ने अपने ग्रन्थ origin and Development of Bangali Language में ग्रियर्सन के तर्कों का खंडन किया और पुष्ट प्रमाण देते हुए उनके निष्कर्षों को गलत बताया। हम नीचे दोनों विद्वानों के विचार दे रहे हैं—

ध्वनि तत्व सम्बन्धी तर्क

(१) ग्रियर्सन के अनुसार बहिरंग उपशाखा की बोलियों म अन्तिम स्वर—इ उ ए वर्तमान है भीतरी उपशाखा की बोली पश्चिमी हिन्दी मे ये स्वर लुप्त हो गए हैं। जैसे कश्मीरी आंखि सिंधी अरबी बिहारी आंखि परन्तु हिन्दी आँख। इसके विपरीत चटर्जी का कथन है कि हिन्दी की कई उपभाषाओं में ये अन्तिम स्वर न केवल १७वीं शताब्दी तक वरन् आज भी विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए ब्रजभाषा के बांदू, साधु धूरि, देखि फिरि आदि।

(२) ग्रियर्सन के अनुसार अपिनिहित (Epentheses) बाहरी उपशाखा की विशेषता है। चटर्जी का कहना है कि प्रथम तो बाहरी उपशाखा की सभी बोलियों में यह नहीं मिलती जैसे मराठी और सिन्धी मे इसका अभाव है दूसरे भीतरी उपशाखा में भी यह मिलती है जैसे गुजराती में। तीसरे अपिनिहिति का विकास बहिरंग शाखा में भी बहुत बाद मे हुआ है। अत अपिनिहिति के आधार पर आधुनिक आर्यभाषाओं का बाहरी तथा भीतरी उपशाखा मे विभाजन उचित नहीं।

(३) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी उपशाखा की एक विशेषता है—इ>ए तथा उ>ओ हो जाना। चटर्जी का कथन है कि यह विशेषता भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी मे भी पाई जाती है। यथा—ब्रजभाषा मोहि–मुहि तोहि–तुहि और पश्चिमी हिन्दी बोलना—बुलना देखना–दिखाना।

(४) ग्रियर्सन का मत है कि बाहरी उपशाखा विशेषत पूर्वी भाषाओं मे उ>इ हो जाता है। चटर्जी कहते हैं कि उ का इ में परिवर्तन अन्य आधुनिक भाषाओं में भी पाया जाता है। जैसे पश्चिमी हिन्दी में—बिलना–बुलना फिसलाना–फुसलाना बिनना–बुनना।

(५) ग्रियर्सन के अनुसार ऐ>ए और औ>ओ बाहरी उपशाखा की पूर्वी भाषाओं की विशेषता है। चटर्जी इसे अस्वीकार करते हुये कहते हैं कि यह विशेषता अन्य भाषाओं राजस्थानी गुजराती सिन्धी लहंदा तथा अन्य पश्चिमी भाषाओं मे भी पाई जाती है। जैसे पश्चिमी हिन्दी में—हैट मेनेजर डोटर।

(६) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी उपशाखा में ल् के स्थान पर र् तथा ड् के स्थान पर ड़ हो जाता है पर चटर्जी का मत है कि ल् की जगह र् और ड की जगह ड़ पश्चिमी हिन्दी में भी उसी प्रकार मिलता है जिसे प्रकार सिन्धी तथा बिहारी में। जैसे ब्रजभाषा में—बर (बल) बीरा (बीड़ा) बिजुरी (बिजली)।

(७) ग्रियर्सन के अनुसार पूर्व तथा पश्चिम की भाषाओं में द् तथा ड् परस्पर परिवर्तित हुये हैं किन्तु मध्यदेश की भाषा में इस प्रक्रिया का अभाव है। इसके विपरीत चटर्जी ने व्रजभाषा में अनेक उदाहरण देकर ग्रियर्सन के इस तर्क का खडन किया है। यथा—डीठि–दृष्टि, डड–(दड), डसना–(दश)।

(८) ग्रियर्सन के मत में बाहरी उपशाखाओं की भाषाओं में म्ब्>म् तथा भीतरी उपशाखा की भाषाओं में म्ब्>ब् में बदल जाता है। चटर्जी ने पश्चिमी हिंदी तथा बगला से उदाहरण देकर इसको गलत सिद्ध किया है। यथा—पश्चिमी हिन्दी जामुन–(जम्बु) नीम–(निम्ब) और बगला में तावा–(ताम्र)

(९) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी उपशाखा में दो स्वरों के बीच का 'र' लोप हो गया है किन्तु भीतरी उपशाखा में वह वर्तमान है। चटर्जी ने पश्चिमी हिन्दी से उदाहरण देकर इस मत का भी खडन किया है। यथा—अपर, और। साथ ही उनका कहना है कि बगला में जो बाहरी उपशाखा की भाषा है, र का कभी लोप नहीं होता।

(१०) ग्रियर्सन का कथन है कि बाहरी उपशाखा में स्वरमध्यग स>ह हो जाता है। चटर्जी के अनुसार यह विशेषता पश्चिमी हिन्दी में भी मिलती है। यथा—तस्य>तस्स>तास>ताह, एकादश–ग्यारह।

(११) ग्रियर्सन कहता है कि बाहरी उपशाखा में महाप्राण वर्ण अल्पप्राण में बदल जाते हैं पर भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी में यह नहीं होता चटर्जी का तर्क है कि महाप्राणका अल्पप्राण या अल्पप्राणका महाप्राण अन्य भाषाओं तथा बोलियों में भी हुआ है। उदाहरणार्थ—पश्चिमी हिन्दी में—बहिन<भगिनी। बेश–भेश।

(१२) ग्रियर्सन के अनुसार म् का श् या ह् हो जाना बाहरी उपशाखा की विशेषता है, पर चटर्जी कहते हैं कि परिवर्तन पश्चिमी हिन्दी में भी पाया जाता है। यथा केसरी का केहरी।

रूप तत्व सम्बन्धी तर्क

(१) ग्रियर्सन के अनुसार स्त्री प्रत्यय के रूप में 'ई' का प्रयोग बाहरी उपशाखा की विशेषता है, पर चटर्जी का कथन है कि यह बात सभी आधुनिक आर्य भाषाओं में मिलती है। पश्चिमी हिन्दी में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं—नद–नदी घोडा–घोडी।

(२) ग्रियर्सन के अनुसार ली प्रत्यय द्वारा विशेषण बनाने की प्रक्रिया बाहरी उपशाखा में ही पाई जाती है, पर चटर्जी का मत है कि वह पश्चिमी हिन्दी में भी पाई जाती है। यथा—लजीली, कटीली, हठीली।

(३) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी उपशाखा की भाषाएँ पुन सश्लेषावस्था में प्रविष्ट हो रही है जबकि भीतरी उपशाखा की भाषायें विश्लेषावस्था में हैं। पर डा० चटर्जी का कहना है कि इस आधार पर बाहरी और भीतरी उपशाखा का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता।

पदों के रूप भी बदल जाते हैं, जैसे मेलो गेला आदि ।

डा. ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत इन तर्कों को अस्वीकार करते हुए डा. सुनीति कुमार चटर्जी ने अपने ग्रन्थ origin and Development of Bengali Language में ग्रियर्सन के तर्कों का खंडन किया और पुष्ट प्रमाण देते हुए उनके निष्कर्षों को गलत बताया । हम नीचे दोनों विद्वानों के विचार दे रहे हैं—

ध्वनि तत्व सम्बन्धी तर्क

(१) ग्रियर्सन के अनुसार बहिरंग उपशाखा की बोलियों में अन्तिम स्वर— इ, उ, ए, वर्तमान है भीतरी उपशाखा की बोली पश्चिमी हिन्दी में ये स्वर लुप्त हो गए हैं। जैसे कश्मीरी अछि सिंधी अरबी बिहारी आँखि परन्तु हिन्दी आँख । इसके विपरीत चटर्जी का कथन है कि हिन्दी की कई उपभाषाओं में ये अन्तिम स्वर न केवल १७वीं शताब्दी तक वरन् आज भी विद्यमान हैं । उदाहरण के लिए ब्रजभाषा के बाँदु, सबु पूरि देखि फिरि आदि ।

(२) ग्रियर्सन के अनुसार अपिनिहित (Epentheses) बाहरी उपशाखा की विशेषता है । चटर्जी का कहना है कि प्रथम तो बाहरी उपशाखा की सभी बोलियों मे यह नहीं मिलती जैसे मराठी और सिन्धी म इसका अभाव है दूसरे भीतरी उपशाखा में भी यह मिलती है जैसे गुजराती मे । तीसरे अपिनिहिति का विकास बहिरंग शाखा मे भी बहुत बाद मे हुआ है । अत अपिनिहिति के आधार पर आधुनिक आर्यभाषाओं का बाहरी तथा भीतरी उपशाखा में विभाजन उचित नहीं ।

(३) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी उपशाखा की एक विशेषता है—इ>ए तथा उ>ओ हो जाना । चटर्जी का कथन है कि यह विशेषता भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी मे भी पाई जाती है । यथा—ब्रजभाषा मोहि–मुहि तोहि–तुहि और पश्चिमी हिन्दी बोलना—बुलना देखना–दिखाना ।

(४) ग्रियर्सन का मत है कि बाहरी उपशाखा विशेषत पूर्वी भाषाओं में ण>इ हो जाता है । चटर्जी कहते हैं कि उ का इ में परिवर्तन अन्य आधुनिक भाषाओं में भी पाया जाता है । जैसे पश्चिमी हिन्दी में—झिमना-झुमना फिसलाना-फुसलाना विनना-बुनना ।

(५) ग्रियर्सन के अनुसार ऐ>ए और औ>ओ बाहरी उपशाखा की पूर्वी भाषाओं की विशेषता है । चटर्जी इसे अस्वीकार करते हुये कहते हैं कि यह विशेषता अन्य भाषाओं राजस्थानी गुजराती सिन्धी लहंदा तथा अन्य पश्चिमी भाषाओं में भी पाई जाती है । जैसे पश्चिमी हिन्दी में—हेट मेनेजर डोटर ।

(६) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी उपशाखा में ल् के स्थान पर ड् तथा ड के स्थान पर ड़ हो जाता है पर चटर्जी का मत है कि ल् की जगह ड् और ड की जगह ड़ पश्चिमी हिन्दी में भी उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार सिन्धी तथा बिहारी म । जैसे ब्रजभाषा में—वर (बल) बीरा (बीड़ा) बिजुरी (बिजली) ।

(७) ग्रियर्सन के अनुसार पूर्व तथा पश्चिम की भाषाओ मे द् तथा ड् परस्पर परिवर्तित हुये हैं किन्तु मध्यदेश की भाषा मे इस प्रक्रिया का अभाव है। इसके विपरीत चटर्जी ने ब्रजभाषा मे अनेक उदाहरण देकर ग्रियर्सन के इस तर्क का खडन किया है। यथा—डीठि–दृष्टि, डड–(दड), डमना–(दश)।

(८) ग्रियर्सन के मत मे बाहरी उपशाखाओ की भाषाओ मे म्ब् > म् तथा भीतरी उपशाखा की भाषाओ मे म्ब् > ब् मे बदल जाता है। चटर्जी ने पश्चिमी हिंदी तथा बगला से उदाहरण देकर इसको गलत सिद्ध किया है। यथा—पश्चिमी हिन्दी जामुन–(जम्बु) नीम–(निम्ब) और बगला मे तावा–(ताम्र)

(९) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी उपशाखा मे दो स्वरो के बीच का 'र' लोप हो गया है किन्तु भीतरी उपशाखा मे वह वर्तमान है। चटर्जी ने पश्चिमी हिन्दी से उदाहरण देकर इस मत का भी खडन किया है। यथा—अपर, और। साथ ही उनका कहना है कि बगला मे जो बाहरी उपशाखा की भाषा है, र का कभी लोप नही होता।

(१०) ग्रियर्सन का कथन है कि बाहरी उपशाखा मे स्वरमध्यग स > ह हो जाता है। चटर्जी के अनुसार यह विशेषता पश्चिमी हिन्दी मे भी मिलती है। यथा—तस्य > तस्स > तास > ताह, एकादश—ग्यारह।

(११) ग्रियर्सन कहता है कि बाहरी उपशाखा मे महाप्राण वर्ण अल्पप्राण मे बदल जाते हैं पर भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी मे यह नही होता चटर्जी का तर्क है कि महाप्राणका अल्पप्राण या अल्पप्राणका महाप्राण अन्य भाषाओ तथा बोलियो मे भी हुआ है। उदाहरणार्थ—पश्चिमी हिन्दी मे—बहिन < भगिनी। वेश–भेश।

(१२) ग्रियर्सन के अनुसार म् का श् या ह् हो जाना बाहरी उपशाखा की विशेषता है, पर चटर्जी कहते हैं कि परिवर्तन पश्चिमी हिन्दी मे भी पाया जाता है। यथा केसरी का केहरी।

रूप तत्व सम्बन्धी तर्क

(१) ग्रियर्सन के अनुसार स्त्री प्रत्यय के रूप मे 'ई' का प्रयोग बाहरी उपशाखा की विशेषता है, पर चटर्जी का कथन है कि यह बात सभी आधुनिक आर्य भाषाओ मे मिलती है। पश्चिमी हिन्दी मे इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं—नद–नदी घोडा–घोडी।

(२) ग्रियर्सन के अनुसार ली प्रत्यय द्वारा विशेषण बनाने की प्रक्रिया बाहरी उपशाखा मे ही पाई जानी है, पर चटर्जी का मत है कि वह पश्चिमी हिन्दी मे भी पाई जाती है। यथा—लजीली, कटीली, हठीली।

(३) ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी उपशाखा की भाषाएँ पुन सश्लेषावस्था मे प्रविष्ट हो रही है जबकि भीतरी उपशाखा की भाषायें विश्लेषावस्था में हैं। पर डा० चटर्जी का कहना है कि इस आधार पर बाहरी और भीतरी उपशाखा का वर्गीकरण नही किया जा सकता।

(४) ग्रियर्सन ने प्राचुनिक क्रिया-कर्मों एवं प्रयोगों का आधार लेक आधुनिक आर्य भाषाओं का बाहरी एव भीतरी उपशाखा में वर्गीकरण किया है डा चटर्जी का कहना है कि इस आधार पर यदि वर्गीकरण करना है,तो यह मा कि प्राच्य भाषाऐं कर्त्तरि प्रधान और पश्चिमी भाषायें कर्मणि प्रधान मानी जा जैसे—पश्चिमी भाषा-समूह [कर्मणि प्रयोग]

पश्चिमी हिन्दी—मैंने पोथी पढ़ी।
गुजराती—मैं पोथी वांची।
मराठी—मी पोथी वाचिली।

प्राच्य भाषा-समूह [कर्तरि प्रयोग]

पूर्वी हिन्दी—मैं पोथी पढ़ेऊ ।
भोजपुरी—हम पोथी पढली।
बंगला—आमि पुथि पड़िलाम।

स्पष्ट है कि पश्चिमी वर्ग मे क्रिया कर्म के अनुसार है और पूर्वी वर्ग में के अनुसार।

(५) ग्रियर्सन का मत है कि बाहरी उपशाखा की कई भाषाओं में भारं से प्राप्त विशेषणीय प्रत्यय ल' वर्तमान है किन्तु भीतरी उपशाखा में इसका म है। चटर्जी कहते हैं कि ल प्रत्यय भीतरी उपशाखा की भाषाओं म भी वर्तमा जबकि लहदा तथा पजाबी म इसका अभाव है। इस प्रकार बाहरी उपशाखा भाषाओं मे भी इस सम्बन्ध से एकरूपता नही है।

उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त यदि शब्दों एवं धातुओं की समानता की से भी देखा जाय तो पूर्वी और पश्चिमी भव तो ठीक लगता है बाहरी और भी नहीं। उदाहरण के लिए पूर्वी वर्ग की भाषाओं बंगला उड़िया बिहारी असमिय तो समानता मिलती है पर मराठी से जो बाहरी उपशाखा की ही एक भाषा है,। मत कोई समानता नही मिलती। इसीलिए डा चटर्जी ने कहा कि सुदूर पश्चि और पूर्व की भाषाऐं एक साथ नही रखी जा सकती। और उन्होंने भाषाओं विकास परम्परा को ध्यान मे रखते हुये तथा पश्चिमी हिन्दी को केन्द्रवर्ती भाषा कर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का निम्न वर्गीकरण किया—

(१) उदीच्य (उत्तरी)
  (क) सिन्धी
  (ख) लहंदा
  (ग) पूर्वी पंजाबी
(२) प्रतीच्य (पश्चिमी)
  (क) गुजराती
  (ख) राजस्थानी
(३) मध्यदेशीय

(७) ग्रियर्सन के अनुसार पूर्व तथा पश्चिम की भापाओ मे द् तथा ड् परस्पर परिवर्तित हुये हैं किन्तु मध्यदेश की भापा मे इस प्रक्रिया का अभाव है। इसके विपरीत चटर्जी ने व्रजभापा मे अनेक उदाहरण देकर ग्रियर्सन के इस तर्क का खडन किया है। यथा—डीठि–दृष्टि, डड–(दड), डसना–(दश)।

(८) ग्रियर्सन के मत मे वाहरी उपशाखाओ की भापाओ मे म्व् > म् तथा भीतरी उपशाखा की भाषाओ मे म्व् > व् मे वदल जाता है। चटर्जी ने पश्चिमी हिंदी तथा वगला से उदाहरण देकर इसको गलत सिद्ध किया है। यथा—पश्चिमी हिन्दी जामुन–(जम्बु) नीम–(निम्व) और वगला मे तावा–(ताम्र)

(९) ग्रियर्सन के अनुसार वाहरी उपशाखा मे दो स्वरो के वीच का 'र' लोप हो गया है किन्तु भीतरी उपशाखा में वह वर्तमान है। चटर्जी ने पश्चिमी हिन्दी मे उदाहरण देकर इस मत का भी खडन किया है। यथा—अपर, और। साथ ही उनका कहना है कि वगला मे जो वाहरी उपशाखा की भापा है, र का कभी लोप नही होता।

(१०) ग्रियर्सन का कथन है कि वाहरी उपशाखा मे स्वरमध्यग स > ह हो जाता है। चटर्जी के अनुसार यह विशेपता पश्चिमी हिन्दी मे भी मिलती है। यथा—तस्य > तस्स > तास > ताह, एकादश–ग्यारह।

(११) ग्रियर्सन कहता है कि वाहरी उपशाखा मे महाप्राण वर्ण अल्पप्राण मे वदल जाते हैं पर भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी मे यह नहीं होता चटर्जी का तर्क है कि महाप्राणका अल्पप्राण या अल्पप्राणका महाप्राण अन्य भापाओ तथा वोलियो में भी हुआ है। उदाहरणार्थ—पश्चिमी हिन्दी मे—वहिन < भगिनी। वेश–भेश।

(१२) ग्रियर्सन के अनुसार म् का श् या ह् हो जाना वाहरी उपशाखा की विशेषता है, पर चटर्जी कहते हैं कि परिवर्तन पश्चिमी हिन्दी मे भी पाया जाता है। यथा केसरी का केहरी।

रूप तत्व सम्बन्धी तर्क

(१) ग्रियर्सन के अनुसार स्त्री प्रत्यय के रूप में 'ई' का प्रयोग वाहरी उपशाखा की विशेपता है, पर चटर्जी का कथन है कि यह वात सभी आधुनिक आर्य भाषाओं मे मिलती है। पश्चिमी हिन्दी मे इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं—नद–नदी घोडा–घोडी।

(२) ग्रियर्सन के अनुसार ली प्रत्यय द्वारा विशेषण वनाने की प्रक्रिया वाहरी उपशाखा मे ही पाई जानी है, पर चटर्जी का मत है कि वह पश्चिमी हिन्दी मे भी पाई जाती है। यथा—लजीली, कटीली, हठीली।

(३) ग्रियर्सन के अनुसार वाहरी उपशाखा की भापाएँ पुन सश्लेपावस्था मे प्रविष्ट हो रही है जवकि भीतरी उपशाखा की भापायें विश्लेपावस्था मे हैं। पर डा० चटर्जी का कहना है कि इस आधार पर वाहरी और भीतरी उपशाखा का वर्गीकरण नही किया जा सकता।

हिन्दी भाषा का उद्भव और उसकी विभिन्न शैलियां

(१) वैदिककालीन भाषा
(२) प्राकृत भाषाएं
(३) अपभ्रंश भाषाएं
(४) हिन्दी शब्द के विविध अर्थ
(५) हिन्दी की विविध शैलियां
(क) हिन्दी
(ख) हिन्दवी
(ग) दक्खिनी
(घ) हिन्दुस्तानी
(ङ) रेख्ता
(च) उर्दू

भारत मे आर्यों का आगमन कब हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु यह अनुमानित किया जाता है कि वे उत्तर भारत मे १५ ई पू के लगभग बस गए थे और इतनी शान्ति के साथ जीवन व्यतीत कर रहे थे कि साहित्य रचना कर सकें। यद्यपि ऋग्वेद की ऋचाएं विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रदेशों एवं कालो मे रची गई पर लगता है उनका सम्पादन किसी एक व्यक्ति के द्वारा ही हुआ। इसीलिए उसमें भाषा का भेद अधिक नहीं पाया जाता। ऋग्वेद का सम्पादन पश्चिम मध्यदेश अर्थात् पूर्वी पंजाब और गंगा के उत्तरी भाग मे १ ई पू से भी पहले हुआ था अतः उसकी भाषा को वहां के आर्यों की प्राचीन भाषा माना जा सकता है। यह भाषा साहित्यिक है और बोलचाल की भाषा से अवश्य भिन्न रही होगी परन्तु उससे आर्यों की बोलचाल की भाषा का कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। सारांश यह है कि भारतीय आर्यों की प्राचीनतम आर्य भाषा की कुछ सामग्री हमें ऋग्वेद मे प्राप्त होती है।

आर्यों की ठेठ बोलचाल की भाषा तथा साहित्यिक भाषा दोनों में परिवर्तन होता रहा। सूत्र-काल के साहित्यिक रूप को वैयाकरणों ने बांधना प्रारम्भ किया। पाणिनि ने (५ ई पू) उसे व्याकरण के नियमों में ऐसा जकड़ा कि उसमें परिवर्तन होना बिल्कुल रुक गया। आर्यों की भाषा का यह साहित्यिक रूप संस्कृत के नाम से प्रसिद्ध हुआ और संपूर्ण भारत के विद्वान उसका प्रयोग धर्म और साहित्य के क्षेत्र मे करने लगे। जहां तक बोलचाल की भाषा (ऋग्वेद की ऋचाओं से मिलती जुलती आर्यों की मूल बोली) का सम्बन्ध है उसमे भी परिवर्तन होता रहा।

(क) पश्चिमी हिन्दी
(४) प्राच्य (पूर्वी)
(क) पूर्वी हिन्दी
(ख) बिहारी
(ग) उड़िया
(घ) बगला
(ङ) असमिया
(५) दाक्षिणात्य
(क) मराठी

इस प्रकार डा० चटर्जी ने बारह भाषाओ के पाच वर्ग माने हैं। वह कश्मीरी भाषा की उत्पत्ति दरद भाषा से मानते हैं और पहाड़ी भाषाओ की उत्पत्ति खस अथवा दरद भाषाओं से। उनका मत है कि बाद मे चलकर मध्यकाल मे ये पहाड़ी भाषाए राजस्थानी से प्रभावित हुई। अत उनका एक स्वतन्त्र वर्ग मानना उचित नहीं। उन के इस मत से सभी विद्वान सहमत नही हैं डा०श्यामसुन्दरदास का मत है कि यदि इन पहाड़ी भाषाओ का एक अलग वर्ग मान लिया जाय, तो डा० चटर्जी का मत और भी वैज्ञानिक हो जायेगा। कुल मिलाकर ग्रियर्सन की अपेक्षा डा० चटर्जी का मत और उनका वर्गीकरण अधिक मान्य हैं क्योकि प्रथम तो अत्यन्त प्राचीन काल से आजतक मध्यदेश की भाषा ही राष्ट्र भाषा रही है। अत उसे ही केन्द्र मे रखकर आधुनिक आर्य भाषाओ का वर्गीकरण होना चाहिए, अर्थात् पश्चिमी हिन्दी को ही केन्द्रवर्ती मानकर वर्गीकरण होना चाहिए न कि पूर्वी हिन्दी को। डा० ग्रियर्सन ने भी बाद मे इस बात को पहचाना और अपने दूसरे वर्गीकरण मे पश्चिमी हिन्दी को ही केन्द्रीय भाषा माना। चटर्जी का वर्गीकरण सुविधाजनक भी है क्योकि उसमे पश्चिमी हिन्दी को केन्द्रवर्ती मानकर उसके चारों ओर की भाषाओ को चार वर्गों मे विभक्त किया गया है। हमारी दृष्टि मे यदि पहाड़ी भाषाओ के वर्ग को चटर्जी के वर्गीकरण मे जोड़ दिया जाय, तो वह आदर्श वर्गीकरण हो सकता है।

१ ० ई तक आते-आते ये अपभ्रंश भाषाएं भी साहित्यिक भाषाएं बन गई और नियमबद्धता के कारण इन अपभ्रंश भाषाओं से अन्य स्थानीय बोलचाल की भाषाओं का जन्म हुआ। उदाहरण के लिए शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी राजस्थानी पंजाबी गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का महाराष्ट्री अपभ्रंश से वर्तमान मराठी का मागधी अपभ्रंश से बिहारी बगला आसामी और उड़िया का अर्ध-मागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी का तथा व्राचड़ अपभ्रंश से आधुनिक सिन्धी का जन्म हुआ। लहंदा के लिए कैकय अपभ्रंश की कल्पना की गई है।

आज जिसे हम हिन्दी कहते हैं वह शौरसेनी अपभ्रंश का ही विकसित रूप है और इसका जन्म १ ० ई माना जा सकता है क्योंकि अपभ्रंशों का व्यवहार चौदहवी शताब्दी तक साहित्य म होता रहा और वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं का साहित्य में प्रयोग तेरहवी शताब्दी के आदि स आरम्भ हो गया था। किसी भाषा को साहित्यिक बनने म कुछ समय तो लगता ही है अतः यदि हम कहे कि हिन्दी का जन्म जो शौरसेनी अपभ्रंश के अतिम रूप से आविर्भूत हुई दसवी शताब्दी में हुआ तो अनुचित न होगा।

हिन्दी शब्द किस प्रकार भाषावाची बन गया इसका लम्बा इतिहास है। संस्कृत की 'स' ध्वनि फारसी में 'ह' में परिवर्तित हो जाती है अतः फारस स आने वाले मुसलमान सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेश को हिन्द और वहां के रहने वालों को हिन्दु कहते थ। परन्तु जब अरब के मुसलमान भारत आए तो उन्होंने सिन्ध प्रदेश के रहने वाले मुसलमानों को हिन्दी कहा जो मुसलमान नहीं थे उनको वे हिन्दु कहते थे। अमीर खुसरो ने हिन्दु तथा हिन्दी का अन्तर बताते हुए स्पष्ट लिखा है—

'बादशाह ने हिन्दुओं का तो हाथी से कुचलवा डाला किन्तु मुसलमान जो हिन्दी थे सुरक्षित रहे।

आगे चलकर इन मुसलमानो की भाषा का नाम भी हिन्दी पड़ा। वस्तुतः प्रारम्भ मे यह वही भाषा थी जिसका हिन्दु तथा भारतीय मुसलमान समान रूप से व्यवहार करते थे। पर जब धीरे-धीरे उर्दू भाषा अस्तित्व मे आई तो पढ़े-लिखे मुसलमानो की मुख्य भाषा उर्दू हो गई और सुशिक्षित हिन्दुओं की भाषा के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग होने लगा।

भाषा के अर्थ म हिन्दी के अतिरिक्त हिन्दवी दक्खिनी हिन्दुस्तानी रेख्ता उर्दू आदि का भी प्रयोग होता है। यह आवश्यक है कि हम इन्हें स्पष्ट रूप से समझ लें।

हिन्दी—हिमालय और विन्ध्याचल के बीच की भूमि मे कालक्रम से शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार (ई —१ ० ई) हुआ था। यह बोलचाल की शौरसेनी अपभ्रंश ही कालान्तर मे हिन्दी म परिणत हुई। इस पर पंजाबी का भी प्रभाव है और जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं यह हिन्दु और मुसलमानों का समान रूप से रिक्थ है।

हिन्दवी—कुछ विद्वानों के अनुसार यह हिन्दी के आगमन के हिन्दुओं द्वारा व्यवहृत बोली थी जिसमें अरबी फारसी के शब्दों का अभाव था। परन्तु अब चन्द्रबली पाण्डे ने सिद्ध कर दिया है कि वस्तुतः यह भी हिन्दी की तरह हिन्दी के लिए [illegible] मुसलमानों की भाषा थी जिसमें इतनी [illegible] की भाषा के समान न तो अरबी-फारसी शब्द हैं न [illegible] बोली का पुट है और न संस्कृत की तत्सम शब्दावली।

जिस समय सस्कृत 'मध्य देश' मे साहित्यिक भाषा का स्थान ले रही थी, उस समय वहाँ के जन-समुदाय की बोली का रूप हमें उपलब्ध नही, परन्तु उस समय की मगध अथवा कोसल की बोली का तत्कालीन परिवर्तित रूप हमे बुद्ध भगवान के उपदेशो मे मिलता है जिसका माध्यम पाली थी। यह पाली लोगो की बोलचाल की भाषा एव साहित्यिक भाषा का मिश्रित रूप थी। इसके उदाहरण पहले-पहल अशोक की धर्म-लिपियो में (२५० ई० पू०) पाए जाते हैं। इस काल मे भाषा को अधिकाधिक सरल बनाने का प्रयत्न होता रहा। उदाहरण के लिए अब द्विवचन रूपो और क्रिया-रूपो मे आत्मनेपद का लोप हो गया, चौथी और छठी विभक्ति के रूप एक हो गए, क्रिया के अनेक जटिल रूप लुप्त हो गए तथा सस्कृत ध्वनियो मे से कुछ का जैसे ऐ, औ, ऋ, लृ आदि का लोप हो गया।

लोगो की बोली मे निरन्तर परिवर्तन होता रहा और अशोक की धर्मलिपियो की भाषाए बाद को 'प्राकृत' नाम मे प्रसिद्ध हुई। १ई० से ५००ई० तक के काल को प्राकृत भाषाओं का काल कहा जा सकता है। सस्कृत के साथ-साथ इन प्राकृतो का भी साहित्य मे व्यवहार होने लगा, उदाहरणार्थ सस्कृत नाटको मे इन्हे स्वतन्त्रतापूर्वक स्थान मिलने लगा। इतना ही नही, इन प्राकृतो के व्याकरण भी लिखे गए। आज हमे इनका केवल साहित्यिक रूप उपलब्ध है बोलचाल की भाषा से हम परिचित नही हैं, फिर भी इतना पता चलता है कि उस समय प्राकृतों के कई भेद थे। पश्चिमी भाषा का मुख्य रूप शौरसेनी प्राकृत था और पूर्वी का मागधी प्राकृत। इन दोनो के बीच की भाषा अर्ध-मागधी प्राकृत कहलाती थी। आज जिस भूखण्ड को महाराष्ट्र कहते हैं, वहाँ महाराष्ट्री प्राकृत बोली जाती थी,इसके अतिरिक्त भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश मे पैशाची प्राकृत बोली जाती थी। इनके नामो से ही पता चलता है कि ये विभिन्न प्रदेशो की लोक-भाषाए थी जो बाद में साहित्यिक भाषा के पद पर भी प्रतिष्ठित होती रहीं। इनमें सबसे पुरानी सामग्री शौरसेनी मे उपलब्ध होती है, तो सबसे विकसित एव समृद्ध रूप महाराष्ट्री प्राकृत का था।

साहित्य मे प्रयुक्त होने पर ये प्राकृतें व्याकरण के कठिन और अस्वाभाविक नियमो मे बाध दी गयी और उनका विकास रुक गया, पर बोलचाल की भाषाए निरन्तर विकास-मार्ग पर बढती गई। वैयाकरणो ने साहित्यिक प्राकृतो की तुलना मे इन बोलचाल की भाषाओ को अपभ्रश अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा कहा। अपभ्रश भाषाओ का काल ५०० ई० से १००० ई० माना जाता है। इस काल मे व्याकरण के नियमो तथा ध्वनियो मे अनेक परिवर्तन हुए—सज्ञा और क्रिया के रूपो की जटिलता और भी कम हो गई। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूपो मे निकटता आ गई। क्रिया के रूप कम हो गए—वर्तमान, सामान्य भूत, भविष्य और आज्ञा के रूप ही मुख्यत पाए जाते हैं। इन अपभ्रशो का विकास विभिन्न प्रदेशो मे बोली जाने वाली प्राकृतो से हुआ—महाराष्ट्री प्राकृत से महाराष्ट्री अपभ्रश का, शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रश का, मागधी प्राकृत से मागधी अपभ्रश का, अर्ध मागधी प्राकृत से अर्ध-मागधी अपभ्रश का। इनके अतिरिक्त व्राचड अपभ्रश सिन्ध मे बोली जाती थी। साराश यह है कि जब साहित्यिक प्राकृतें मृत भाषाए हो गई, तो इन अपभ्रशो का भी भाग्य जागा और इन्हे भी साहित्य मे स्थान मिलने लगा।

१००० ई० तक आते-आते ये अपभ्रंश भाषाएं भी साहित्यिक भाषाएं बन गईं और निम्नवद्धता के कारण इन अपभ्रंश भाषाओं से अन्य स्थानीय बोलचाल की भाषाओं का जन्म हुआ। उदाहरण के लिए शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी राजस्थानी पंजाबी गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का महाराष्ट्री अपभ्रंश से वर्तमान मराठी का मागधी अपभ्रंश से बिहारी बंगला आसामी और उड़िया का अर्ध-मागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी का तथा वाचड़ अपभ्रंश से आधुनिक सिन्धी का जन्म हुआ। लहंदा के लिए कैकय अपभ्रंश की कल्पना की गई है।

आज जिसे हम हिन्दी कहते हैं वह शौरसेनी अपभ्रंश का ही विकसित रूप है और इसका जन्म १ ० ई माना जा सकता है क्योंकि अपभ्रंशों का व्यवहार चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य में होता रहा और वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं का साहित्य में प्रयोग तेरहवीं शताब्दी के आदि से आरम्भ हो गया था। किसी भाषा को साहित्यिक बनने में कुछ समय तो लगता ही है अतः यदि हम कहें कि हिन्दी का जन्म जो शौरसेनी अपभ्रंश के अंतिम रूप से आविर्भूत हुई दसवीं शताब्दी में हुआ तो अनुचित न होगा।

हिन्दी शब्द किस प्रकार भाषावाची बन गया इसका लम्बा इतिहास है। संस्कृत की 'स' ध्वनि फारसी में 'ह' में परिवर्तित हो जाती है अतः फारस से आने वाले मुसलमान सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेश को हिन्द और वहां के रहने वालों को हिन्दू कहते थे। परन्तु जब अरब के मुसलमान भारत आए तो उन्होंने सिन्ध प्रदेश के रहने वाले मुसलमानों को हिन्दी कहा जो मुसलमान नहीं थे उनको वे हिन्दू कहते थे। अमीर खुसरो ने हिन्दू तथा हिन्दी का अन्तर बताते हुए स्पष्ट लिखा है—

'बादशाह ने हिन्दुओं को तो हाथी से कुचलवा डाला किन्तु मुसलमान जो हिन्दी थे सुरक्षित रहे।

आगे चलकर इन मुसलमानों की भाषा का नाम भी हिन्दी पड़ा। वस्तुतः आरम्भ में यह वही भाषा थी जिसका हिन्दू तथा भारतीय मुसलमान समान रूप से व्यवहार करते थे। पर जब धीरे-धीरे उर्दू भाषा अस्तित्व में आई तो पढ़े-लिखे मुसलमानों की मुख्य भाषा उर्दू हो गई और सुशिक्षित हिन्दुओं की भाषा के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग होने लगा।

भाषा के अर्थ में हिन्दी के अतिरिक्त हिन्दवी दक्खिनी हिन्दुस्तानी रेख्ता उर्दू आदि का भी प्रयोग होता है। यह आवश्यक है कि हम इन्हें स्पष्ट रूप से समझ लें।

हिन्दी—हिमालय और विन्ध्याचल के बीच की भूमि में कालक्रम से शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार (५ ई —१ ई) हुआ था। यह बोलचाल की शौरसेनी अपभ्रंश ही कालान्तर में हिन्दी में परिणत हुई। इस पर पंजाबी का भी प्रभाव है और जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं यह हिन्दू और मुसलमानों का समान रूप से रिक्थ है।

हिन्दवी—कुछ विद्वानों के अनुसार यह दिल्ली के आसपास के हिन्दुओं द्वारा व्यवहृत बोली थी जिसमें अरबी फारसी के शब्दों का अभाव था। परन्तु अब चन्द्रबली पाण्डे ने सिद्ध कर दिया है कि वस्तुतः यह भी हिन्दी की तरह दिल्ली के शिष्ट एवं शिक्षित हिन्दू मुसलमानों की भाषा थी जिसमें इंशा की रानी केतकी की कहानी की भाषा के समान न तो अरबी-फारसी शब्द हैं, न गंवारू बोली का पुट है, और न संस्कृत की तत्सम शब्दावली।

दक्खिनी—दक्खिनी हिन्दी की ही एक शैली है जो दक्षिण के मुसलमान बोलते थे और जिसमे अरबी-फारसी शब्दो की मात्रा बहुत कम रहती थी। सन् १८८६ मे प्रकाशित हाब्सन-जाब्सन कोष के अनुसार 'देकनी' हिन्दुस्तान की एक विचित्र बोली है जिसे दक्षिण के मुसलमान बोलते हैं।

हिन्दुस्तानी—समय तथा व्यक्तियो के अनुसार 'हिन्दुस्तानी' की परिभाषा बदलती रही है। हिन्दी की भाति इस नाम का सूत्रपात भी तुर्क विजेताओ ने किया और इसको सर्वाधिक प्रचलित करने का श्रेय यूरोप के लोगो को है। बाबर के आत्म-चरित तथा हाब्सन जाब्सन के सन् १६१६ ई० के उद्धरणो मे हिन्दुस्तानी से स्पष्ट तात्पर्य हिन्दी से है क्योकि बाबर के युग मे तो उर्दू नाम की उत्पत्ति भी नही हुई थी। परन्तु १६वी शताब्दी मे 'हिन्दुस्तानी' शब्द उर्दू का वाचक बन गया। "आगरा तथा दिल्ली के आसपास की हिन्दी, फारसी तथा अन्य विदेशी शब्दो के सम्मिश्रण से यह विकसित हुई है। इसका दूसरा नाम उर्दू भी है। मुसलमानी राज्य मे यह अन्त-प्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी।"[1]

आगे चलकर हिन्दुस्तानी की आड मे उर्दू को इतना बढावा दिया गया और हिन्दी-उर्दू विवाद इतना बढ गया कि एक ही भाषा की इन दो शैलियो मे समन्वय की सभावना ही न रह गई। वस्तुत इस सब के पीछे अग्रेजो की भेदनीति थी जिसके कारण ग्रियर्सन जैसे भाषाशास्त्री भी भ्रम मे पड गये और उन्होने ग्राउस की बात मानकर हिन्दुस्तानी को गगा के ऊपरी दुआबे की मुख्य भाषा स्वीकार किया और उर्दू तथा हिन्दी को इसकी दो शैलिया । उनके अनुसार "उर्दू हिन्दुस्तानी की वह शैली है जिसमे फारसी शब्द अधिक मात्रा मे प्रयुक्त होते हैं और जो केवल फारसी लिपि मे लिखी जा सकती है। इसी प्रकार हिन्दी हिन्दुस्तानी की वह शैली है जिसमे सस्कृत शब्दो का प्राचुर्य रहता है तथा जो केवल देवनागरी लिपि मे लिखी जा सकती है।"[2]

पर वस्तुस्थिति यह है कि उत्तरी भारत मे हिन्दुस्तानी के रूप मे कभी कोई ऐसी सर्वमान्य भाषा न थी जिसका हिन्दू-मुसलमान समान रूप से व्यवहार करते थे और जो नागरी अथवा फारसी लिपि मे लिखी जाती थी। कैलाग नामक विद्वान का यह मत बिल्कुल ठीक है कि उर्दू का प्रसार तो केवल सरकारी दफतरो और नागरिक मुसलमानो तक सीमित था, शेष हिन्दू और मुसलमान हिन्दी भाषा ही बोलते थे। अत हिन्दी को हिन्दुस्तानी की एक शैली मानना गलत होगा। वस्तुस्थिति ठीक उलटी है अर्थात् हिन्दुस्तानी ही हिन्दी की एक शैली है।

बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे राष्ट्रीयता की लहर उठने पर भारतीय युवको का ध्यान राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर गया और उन्होने हिन्दी को इस पद पर आसीन किया। पर मुसलमानो को प्रसन्न करने के लिए गाधी जी और काग्रेस ने पहले हिन्दी-हिन्दुस्तानी और बाद मे केवल हिन्दुस्तानी नाम राष्ट्रभाषा के लिए प्रयुक्त किया। काग्रेस की यह 'हिन्दुस्तानी' हिन्दू-उर्दू दोनो मे भिन्न इन दोनो के बीच की सरल शैली थी।

रेख्ता—रेख्ता हिन्दी की वह शैली है जिसमे फारसी शब्दो का सम्मिश्रण हो।

---

१ हाब्सन जाब्सन—पृ० ३१७

२. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, वोल्यूम ६, पार्ट १, पृ० ४७

प्राय लोग रेख्ता तथा उर्दू को एक समझते हैं पर यह उनका भ्रम है। उर्दू की अपेक्षा रेख्ता अधिक व्यापक है। उर्दू तो रेख्ता की एक विशिष्ट शैली मात्र है जबकि रेख्ता को उर्दू कहना अयुक्त होगा।

उर्दू—प्रसिद्ध कोष हाब्सन—जाब्सन के पृ ४८८ पर उर्दू के सम्बन्ध में लिखा गया है 'दरबार तथा शिविर में एक मिश्रित भाषा का आविर्भाव हुआ जो 'जबाने उर्दू' कहलाई। इसी का संक्षिप्त रूप आगे चलकर उर्दू हुआ।' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि उर्दू वास्तव में दरबारी भाषा थी और जनसाधारण से उसका कोई सम्बन्ध न था। इसकी पुष्टि पं चन्द्रबली पाण्डे ने अपने कई लेखों द्वारा की है। उन्होंने अपनी गवेषणा के आधार पर उर्दू के जन्म के सम्बन्ध में लिखा 'शाहजहाना बाद (दिल्ली) में मुसलमान लोगों ने एक मत होकर अन्य अनेक भाषाओं से दिल पसन्द शब्दों को जुदा किया और कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेर-फेर करके दूसरी भाषाओं से भिन्न एक अलग नई भाषा ईजाद की और उसका नाम उर्दू रख दिया।" अत पांडे जी के अनुसार उर्दू लाल किले के बादशाही शाहजादों तथा उनके आस-पास के अन्य लोगों की जबान थी।

उर्दू की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। मुहम्मद हुसैन आजाद उसे ब्रजभाषा से निकला मानते हैं। मीर अम्मन देहलवी के अनुसार यह बाजारी और लश्करी भाषा है। ग्राहमवेली के मतानुसार उर्दू की उत्पत्ति दिल्ली के आसपास नही लाहौर मे हुई जहाँ की पुरानी खड़ी बोली को विदेशियों ने अपने व्यवहार की भाषा बनाया और इस प्रकार वहाँ की फौजी भाषा उर्दू बनी। ग्रियसन बोलचाल की ठेठ हिन्दुस्तानी से साहित्यिक उर्दू की उत्पत्ति मानते हैं पर जैसा हम ऊपर कह चुके हैं यह बोलचाल की हिन्दुस्तानी हिन्दी ही थी। कतिपय भाषाशास्त्रियो के अनुसार खड़ी बोली मे फारसी शब्द मिलाकर ही उर्दू बनी। इन मतो में ग्रियर्सन का मत ही मान्य है केवल हमें हिन्दुस्तानी की जगह हिन्दी या खड़ी बोली शब्द रखना होगा। साराश यह है कि उर्दू की उत्पत्ति हिन्दी से ही हुई है वह हिन्दी की एक शैली ही है। वह एक वर्ग विशेष की भाषा है जो नितान्त कृत्रिम ढंग से ठेठ हिन्दी या खड़ी बोली मे अरबी फारसी शब्दों तथा मुहावरो के मिश्रण से बनाई गई और यह कार्य दिल्ली मे ही किया मुअल्ला मे सम्पन्न हुआ। यही कारण है कि इसका नाम 'जबाने-उर्दू-ए-मुअल्ला' रखा गया। जहाँ तक यह प्रश्न है कि उर्दू का प्रयोग भाषा के अर्थ मे कब से हुआ डाक्टर बेली के अनुसार इस अर्थ मे इसका प्राचीनतम प्रयोग मसहफी की निम्न शेर मे हुआ जिसका रचना काल १८ ई कूता गया है।

खुदा रक्खे जबां हमने सुनी है मीर ओ मिरजा की
कहे किस मुंह से हम ऐ 'मसहफी' उर्दू हमारी है।

उर्दू हिन्दी का विवाद बहुत पुराना है। विदेशियों ने इसको बढ़ावा दिया और फारसी लिपि भी इसके लिए उत्तरदायी रही है। अब विदेशियो के चले जाने के बाद और देश भर की एक लिपि होने का आग्रह देख हम इस विवाद के समाप्त होने की आशा कर सकते हैं। उर्दू को समन्वय की दृष्टि अपनाकर हिन्दी की ओर अग्रसर होना चाहिए और वह यह कार्य नागरी लिपि तथा राष्ट्रीय भावना द्वारा कर सकती है।

: ४६ :

हिन्दी की बोलियां

१ हिन्दी का क्षेत्र
२ ग्रियर्सन का वर्गीकरण
३ पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी का भेद
४. पश्चिमी हिन्दी की बोलियां
  (क) खड़ी बोली
  (ख) बांगरू
  (ग) व्रजभाषा
  (घ) कन्नौजी
  (ङ) बुन्देली
५. पूर्वी हिन्दी की बोलियां
  (क) अवधी
  (ख) बघेली
  (ग) छत्तीसगढ़ी
६. भोजपुरी के सम्बन्ध में मत-भेद

भौगोलिक दृष्टि से हिन्दी का क्षेत्र उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण मे नर्मदा तक है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस प्रदेश में बोली जाने वाली सभी बोलियाँ हिन्दी की बोलियां कहलाएगी। डॉ० ग्रियर्सन ने इस समस्त भूभाग को पश्चिमी तथा पूर्वी हिन्दी क्षेत्रो मे विभाजित किया है और अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'Linguistic Survey of India' मे पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत—(१) हिन्दुस्तानी (२) वागरू (३) व्रजभाषा (४) कन्नौजी तथा (५) बुन्देली को और पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत—(१) अवधी (२) बघेली तथा (३) छत्तीसगढी को समाविष्ट किया है। न केवल भौगोलिक दृष्टि से ही अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी पूर्वी हिन्दी तथा पश्चिमी हिन्दी में पर्याप्त भेद है। पश्चिमी हिन्दी का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश से है और पूर्वी हिन्दी का अर्धमागधी अपभ्रंश से। यही कारण है कि पश्चिमी तथा पूर्वी हिन्दी में मौलिक अथवा तात्विक भेद है।

पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी मे भेद—दोनो मे उच्चारण सम्बन्धी अन्तर स्पष्ट दृष्टिगत होता है। (१) पश्चिमी हिन्दी मे 'अ' का उच्चारण पूर्वी हिन्दी की अपेक्षा अधिक विवृत्त है। (२) पश्चिमी हिन्दी की 'ड' और 'ढ ध्वनियाँ पूर्वी हिन्दी मे 'र' तथा 'र्ह' में परिणत हो जाती हैं जैसे, पश्चिमी हिन्दी 'तोडे', पूर्वी हिन्दी 'तोरे' (३)

पश्चिमी हिन्दी का 'ल' पूर्वी हिन्दी में 'र' हो जाता है जैसे प० हि० 'फल'—पू० हि० फर'। (४) पश्चिमी हिन्दी में शब्द के मध्यग 'ह' का प्राय लोप हो जाता है किन्तु पूर्वी हिन्दी में यह सम्पूर्ण रूप में आता है। यथा—प हि० दिया, पू हि देहेसि। (५) पश्चिमी हिन्दी में शब्द के आदि में 'य तथा 'व' आता है, किन्तु पूर्वी हिन्दी में यह 'ए' तथा ओ' में परिणत हो जाता है यथा—प० हि यामें वामें पू हि० एमें ओमें। (६) पश्चिमी हिन्दी मे दो स्वर प्राय एक साथ नहीं आते किन्तु पूर्वी हिन्दी में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं। यथा पू हि अउर, प० हि और। (७) पश्चिमी हिन्दी के आकारान्त शब्द पूर्वी हिन्दी में अकारान्त अथवा ओकारान्त हो जाते हैं, यथा—प हि बड़ा पू हि० बड़।

सर्वनाम सम्बन्धी अन्तर—(१) पश्चिमी हिन्दी के सम्बन्धवाचक सर्वनामों के रूप जो सो पूर्वी हिन्दी में जे से हो जाते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी हिन्दी का प्रश्नवाचक सर्वनाम कौन पूर्वी हिन्दी में कवन हो जाता है। (२) पश्चिमी हिन्दी का अधिकारवाचक सर्वनाम मेरा पूर्वी हिन्दी में मोर हो जाता है। (३) पश्चिमी हिन्दी का सर्वनाम हम पूर्वी हिन्दी में एकवचन में प्रयुक्त होता है इसके बहुवचन का रूप वहाँ होता है—हम लोग।

अनुसर्ग या परसर्ग सम्बन्धी भेद—(१) पश्चिमी हिन्दी की सबसे बड़ी विशेषता है 'ने' परसर्ग का प्रयोग। इसका पूर्वी हिन्दी मे सर्वथा अभाव है। यथा—प हि उसने किया—पू हि उ किहिसि।

(२) पश्चिमी हिन्दी मे कर्म-कारक तथा सम्प्रदान कारक का परसर्ग 'को' पूर्वी हिन्दी में 'का' एवं 'कॉ' हो जाता है।

(३) पश्चिमी हिन्दी में अधिकरण कारक का परसर्ग है मे पूर्वी हिन्दी में इसके स्थान पर 'मा' एवं 'माँ' प्रयुक्त होते हैं।

क्रियारूप सम्बन्धी भेद—क्रियारूपों की दृष्टि से तो पूर्वी हिन्दी पश्चिमी हिन्दी से और भी दूर है।

(१) 'मैं हूँ' के लिये पूर्वी हिन्दी में 'अहेउँ' तथा 'आहेऊँ' आते हैं।

(२) अतीतकाल के रूपो मे भी बहुत अन्तर है। यथा—पश्चिमी हिन्दी का 'मैंने मारा' पूर्वी हिन्दी मे 'मारे-उ' हो जाता है।

(३) भविष्यकाल की क्रिया पश्चिमी हिन्दी मे 'मारूँगा' तो पूर्वी हिन्दी मे उसका स्थान लेती है मारिहौं'। इस प्रकार उच्चारण शब्द-रूप तथा परसर्ग सभी दृष्टियो से पूर्वी हिन्दी तथा पश्चिमी हिन्दी मे पर्याप्त भेद है।

पश्चिमी हिन्दी की ग्रामीण बोलियाँ—हम ऊपर बता चुके हैं कि पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत पाँच बोलियाँ आती हैं—(१) हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली (२) बांगरू (३) ब्रजभाषा (४) कन्नौजी तथा (५) बुन्देली। अब हम इनका विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं।

खड़ी बोली—यह पश्चिमी रुहेलखण्ड गंगा के उत्तरी दोआब तथा अम्बाला जिले की बोली है। यह रामपुर रियासत मुरादाबाद बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर,

सहारनपुर तथा देहरादून के मैदानी भागो एव पटियाला रियासत मे बोली जाती है। इसकी भौगोलिक स्थिति से स्पष्ट पता चलता है कि यह उस स्थान की भाषा है जहाँ व्रजभाषा शनै शनै पजाबी मे अन्तर्भुक्त हो जाती है।

खडीबोली के तद्भव कृदन्तीय रूप, विशेषण तथा सज्ञापद आकारान्त होते हैं। इसमे मूर्धन्य व्यजन वर्णो का अधिक व्यवहार होता है। मध्य तथा अन्त्य दन्त्य 'न' एव 'ल' क्रमश 'ण' तथा 'ळ' मे परिवर्तित हो जाते है जबकि साहित्यिक हिन्दी मे 'ळ' का अभाव है। बोलचाल की नागरी के 'ड' तथा 'ढ' साहित्यिक हिन्दी मे 'ड' और 'ढ' हो जाते हैं। बोलचाल की खडी बोली मे कर्ता का अनुसर्ग 'ने' या 'नें' है और कर्मकारक तथा सम्प्रदान कारक के अनुसर्ग हैं 'के' 'कू' 'नू'।

मुसलमानी प्रभाव के कारण इसमे अरबी और फारसी के शब्दो का प्रयोग अन्य बोलियो की अपेक्षा अधिक होता है। किन्तु ये प्राय अर्धतत्सम अथवा तद्भव रूपो मे ही प्रयुक्त होते हैं। इस बोली के सुसस्कृत रूप मे ही आज का हिन्दी साहित्य लिखा जाता है। बोलचाल की खडी बोली मे तो केवल लोक-साहित्य — नौटकी, रसिये आदि—ही लिखा जाता है।

बागरू—बागर का अर्थ है उच्च एव शुष्क भूमि। पर आज इसका अर्थ है वह प्रदेश जिसमें करनाल, रोहतक तथा दिल्ली आते हैं। इसीलिए बागरू वह बोली है जो इन प्रदेशो मे बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त यह दक्षिणी-पूर्वी पटियाला, पूर्वी हिसार, नाभा और भिंद मे भी बोली जाती है। एक प्रकार से यह पजाबी और राजस्थानी मिश्रित खडी बोली है। इसके कई स्थानीय नाम भी हैं जैसे जाटू, हरियानी आदि।

बागरू मे स्वरो का उच्चारण बहुत निश्चित नही है यथा—बहुत > बोहत, जवाब>जुवाब। खडी बोली की ही भाति इसमे न तथा ल क्रमश ण तथा ळ में परिवर्तित हो जाते हैं, यथा—अपना<अपणा, काल>काळ। ड के बदले इसमे ड़ का ही अधिक व्यवहार होता है, यथा — बडा>बड़ा।

इसमे अनुसर्गों का प्रयोग भी अनिश्चित है क्योकि एक ही अनुसर्ग कई कारको मे प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए, ने-नै अनुसर्ग का प्रयोग केवल कर्तृ मे ही नही होता, कर्म तथा सम्प्रदान मे भी होता है। इसमे सर्वनाम के भी कई विचित्र रूप मिलते हैं जैसे मन्नै (मैं ने), तन्नै (तू ने) आदि। हिन्दी कौन के स्थान पर इसमे कौण, क्या के स्थान पर के या कै तथा अब के स्थान पर इब का प्रयोग पाया जाता है। सहायक क्रिया के वर्तमान काल के रूप हैं—सू, सौं आदि, यथा मैं मारूँ सूँ (मैं मारता हू)।

व्रजभाषा—यह व्रजमण्डल की बोली है। मध्यकाल मे साहित्य की प्रमुख भाषा होने के कारण इसका नाम व्रजभाषा हो गया। विशुद्ध रूप मे यह बोली आज भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़ और धौलपुर मे बोली जाती है। गुडगाव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग मे इसमे राजस्थानी और बुदेली की झलक आने लगती है, तो बुलन्दशहर, बदायू और नैनीताल कीतराई मे खडी बोली की

झलक आने लगती है। एटा मैनपुरी और बरेली जिलों में इसमें कुछ-कुछ कन्नौजीपन आने लगता है। इस प्रकार विभिन्न स्थानों की ब्रजभाषा में यत्किंचित् अन्तर पाया जाता है।

उत्तर भारत की अधिकांश बोलियों मे अपु छक चिह्न लुप्त हो गया है परन्तु ब्रजभाषा म यह अब भी मिलता है जो इसकी प्राचीनता का द्योतक है। हिन्दी का आ प्रत्यय ब्रजभाषा में औ हो जाता है जैसे घोड़ा—घोड़ौ भला—भलौ।

हिन्दी के सर्वनामों से ब्रजभाषा के सर्वनाम पर्याप्त भिन्न हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी का 'मैं ब्रजभाषा में 'हौं' मेरा मेरौ मुझे मोहि उसे—वाहि आदि।

सहायक क्रिया के वर्तमान काल के रूप तो प्रायः हिन्दी के ही समान हैं पर भूतकाल के रूपों में पर्याप्त भेद है क्योंकि ब्रज मे हिन्दी के 'था' के स्थान पर 'हुतौ' तथा 'हो का प्रयोग होता है। वर्तमान-कृदन्तीय के कर्तृ वाच्य के रूप 'तु' अथवा 'त' प्रत्ययान्त होते हैं, यथा—मारतु या मारत और भूतकाल के कृदन्त का रूप 'यौ प्रत्ययान्त होता है जैसे 'मार्यौ'।

ब्रजभाषा मे भविष्यत्काल के रूप साधारण वर्तमान के रूपों में 'गो जोड़ने से बनते हैं जैसे—मारौंगो (मारूँगा)।

ब्रजभाषा में अनुसर्ग निम्नलिखित हैं—

कर्तृ—ने नै।

कर्म-सम्प्रदान—कु कू कौं कैं के।

करण-अपादान—सौं सु तें ते।

सम्बन्ध—कौ।

अधिकरण—मे पै लौं।

कन्नौजी—इस बोली का क्षेत्र ब्रज और अवधी के बीच मे है। यह पुराने कन्नौज राज्य की बोली है। वास्तव मे यह ब्रजभाषा का ही एक उपरूप है। इसका केन्द्र फर्रुखाबाद है। यह उत्तर में हरदोई शाहजहाँपुर तथा पीलीभीत तक और दक्षिण मे इटावा तथा कानपुर के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। इस का क्षेत्र बहुत विस्तृत नही है और सीमाओं पर यह पड़ोस की बोलियो से प्रभावित है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसमे तथा ब्रजभाषा मे बहुत साम्य है। इसमें ब्रजभाषा का औ' प्रत्यय 'ओ' हो जाता है। कन्नौजी में दो स्वरों के बीच का 'ह लुप्त हो जाता है; यथा—कहिहौं > कैहौं। हिन्दी के आकारान्त पुल्लिंग तद्भव विशेषण पद कन्नौजी में ओकारान्त हो जाते हैं यथा-छोटा > छोटो और हलन्त व्यंजनान्त तद्भव शब्द कभी-कभी उकारान्त हो जाते हैं जैसे—घर > घरु। हिन्दी के इंगित अथवा उल्लेख-वाचक-सर्वनाम वह' तथा 'यह' कन्नौजी मे 'वो' तथा 'जु' हो जाते हैं।

कन्नौजी मे देना लेना जाना के भूतकालिक रूप होते हैं—दओ लओ गओ। सहायक क्रिया के अतीत के रूप रहो हतो अथवा तो होते हैं।

कन्नौजी मे साहित्य का अभाव है और इस क्षेत्र के कवियों ने साहित्य रचना के लिए ब्रज को ही अपनाया है। यद्यपि इसके क्षेत्र में कई प्रसिद्ध कवि हुए हैं पर उन्होंने अपनी कविता ब्रजभाषा मे ही लिखी है। स्वयं कन्नौजी में लोकगीत ही पाए

सहारनपुर तथा देहरादून के मैदानी भागो एव पटियाला रियासत मे बोली जाती है। इसकी भौगोलिक स्थिति से स्पष्ट पता चलता है कि यह उस स्थान की भाषा है जहाँ ब्रजभाषा शनै शनै पजाबी मे अन्तर्भुक्त हो जाती है।

खडीबोली के तद्भव कृदन्तीय रूप, विशेषण तथा सज्ञापद आकारान्त होते हैं। इसमे मूर्धन्य व्यजन वर्णों का अधिक व्यवहार होता है। मध्य तथा अन्त्य दन्त्य 'न' एव 'ल' क्रमश 'ण' तथा 'ळ' मे परिवर्तित हो जाते है जबकि साहित्यिक हिन्दी मे 'ळ' का अभाव है। बोलचाल की नागरी के 'ड' तथा 'ढ' साहित्यिक हिन्दी मे 'ड' और 'ढ' हो जाते हैं। बोलचाल की खडी बोली मे कर्ता का अनुसर्ग 'ने' या 'नें' है और कर्मकारक तथा सम्प्रदान कारक के अनुसर्ग हैं 'के' 'कू' 'नू'।

मुसलमानी प्रभाव के कारण इसमे अरबी और फारसी के शब्दो का प्रयोग अन्य बोलियो की अपेक्षा अधिक होता है। किन्तु ये प्राय अर्धतत्सम अथवा तद्भव रूपो मे ही प्रयुक्त होते हैं। इस बोली के सुसस्कृत रूप मे ही आज का हिन्दी साहित्य लिखा जाता है। बोलचाल की खडी बोली मे तो केवल लोक-साहित्य—नौटकी, रसिये आदि—ही लिखा जाता है।

बागरू—बागर का अर्थ है उच्च एव शुष्क भूमि। पर आज इसका अर्थ है वह प्रदेश जिसमे करनाल, रोहतक तथा दिल्ली आते हैं। इसीलिए बागरू वह बोली है जो इन प्रदेशो मे बोली जाती है। इसके अतिरिक्त यह दक्षिणी-पूर्वी पटियाला, पूर्वी हिसार, नाभा और झिंद मे भी बोली जाती है। एक प्रकार से यह पजाबी और राजस्थानी मिश्रित खडी बोली है। इसके कई स्थानीय नाम भी हैं जैसे जाटू, हरियानी आदि।

बागरू मे स्वरो का उच्चारण बहुत निश्चित नही है यथा—बहुत > बोहत, जवाब>जुवाब। खडी बोली की ही भाति इसमे न तथा ल क्रमश ण तथा ळ मे परिवर्तित हो जाते हैं, यथा—अपना<अपणा, काल>काळ। ड के बदले इसमे ड का ही अधिक व्यवहार होता है, यथा—बडा>बडा।

इसमे अनुसर्गों का प्रयोग भी अनिश्चित है क्योकि एक ही अनुसर्ग कई कारको मे प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए, ने-नै अनुसर्ग का प्रयोग केवल कर्तृ मे ही नही होता, कर्म तथा सम्प्रदान मे भी होता है। इसमे सर्वनाम के भी कई विचित्र रूप मिलते हैं जैसे मन्नै (मैं ने), तन्नै (तू ने) आदि। हिन्दी कौन के स्थान पर इसमे कौण, क्या के स्थान पर के या कै तथा अब के स्थान पर इब का प्रयोग पाया जाता है। सहायक क्रिया के वर्तमान काल के रूप हैं—सू, सौं आदि, यथा मैं मारूँ सूँ (मैं मारता हू)।

ब्रजभाषा—यह ब्रजमण्डल की बोली है। मध्यकाल मे साहित्य की प्रमुख भाषा होने के कारण इसका नाम ब्रजभाषा हो गया। विशुद्ध रूप मे यह बोली आज भी मथुरा, आगरा, अलीगढ और धौलपुर मे बोली जाती है। गुडगाव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग मे इसमे राजस्थानी और बुदेली की झलक आने लगती है, तो बुलन्दशहर, बदायू और नैनीताल कीतराई मे खडी बोली की

है जैसे—मय मनु मनु आदि।

(४) अवधी में कर्ता कारक के 'ने' अनुसर्ग का अभाव है। कर्म-सम्प्रदान का अनुसर्ग अवधी में 'का' 'कै' है। अधिकरण कारक का अनुसर्ग यहाँ 'मा' है।

(५) सर्वनामों के सम्बन्ध में अवधी में और भी भिन्नता है। अवधी में सम्बन्ध कारक के सर्वनाम 'तोर' 'मोर' हैं।

(६) वर्तमान काल की सहायक क्रिया के रूप पश्चिमी हिन्दी में 'है' और अवधी में 'अहै' 'बाटै' हो जाते हैं।

(७) अवधी के वर्तमानकालीन के वर्तमान के रूप (imperfect participle) में कोई प्रत्यय नहीं लगता।

(८) पश्चिमी हिन्दी के भूतकाल में कोई प्रत्यय नहीं लगता पर अवधी में 'इसि' या 'इस्' प्रत्यय लगते हैं यथा—कहिसि कहिस्।

अवधी में प्रचुर साहित्य रचना हुई है। प्रेममार्गी सूफी कवियों तुलसीदास आदि ने तो इसे अपनी रचनाओं से अलंकृत किया ही था वर्तमान काल में भी पुनः इसमें साहित्यिक रचना हुई है। आजकल रमई काका का नाम अवधी कवियों में बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

बघेली —बघेली बघेलखंड की बोली है। इसका नामकरण बघेले राजपूतों के नाम पर हुआ है। इसका एक नाम रीवाई भी है क्योंकि रीवा बघेलखंड का मुख्य स्थान है। इस का क्षेत्र अवधी के दक्षिण में है और इसका केन्द्र रीवाँ राज्य है। साथ ही यह दमोह, जबलपुर, मंडला और बालाघाट के जिलों में भी बोली जाती है। लोग यह समझते रहे हैं कि बुन्देली और बघेली में कोई अन्तर नहीं है पर वस्तुतः बुन्देली तथा बघेली सर्वथा पृथक बोलियाँ हैं। बघेली की कुछ मिश्रित बोलियाँ भी हैं जो पश्चिम तथा दक्षिण में बोली जाती हैं। पश्चिम में इसमें बुन्देली का मिश्रण हुआ है तो दक्षिण में मराठी और बुन्देली का।

इसकी व्याकरणगत विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(१) संज्ञा—पश्चिमी हिन्दी—बघेली
घोड़ा —घ्वाड़

(२) अनुसर्ग—कर्म-सम्प्रदान कारक—का कहा।
करण—अपादान—से ते लार।
सम्बन्ध—कर।
अधिकरण—में।

इसमें कर्ता के अनुसर्ग 'ने' का अभाव है।

(३) विशेषण के रूप स्त्रीलिंग तथा पुलिंग में एक रहते हैं।

(४) सर्वनाम—

	पश्चिमी हिन्दी	बघेली
	मैं	मय्
	तू	तय्
	मेरा	म्वार्

जाते हैं।

बुन्देली—यह बुन्देलखण्ड की बोली है और शुद्ध रूप मे झासी, जालोन, हमीरपुर, ग्वालियर, भोपाल, सागर तथा हुशगाबाद मे बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप हैं जो दतिया, पन्ना, छिंदवाडा, आदि स्थानो पर बोले जाते है। मध्य-काल मे बुन्देलखड साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है, किन्तु यहा के कवियो ने ब्रजभापा को ही अपनाया यद्यपि उस पर बुन्देली का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। बुन्देली और ब्रजभापा मे बहुत साम्य है। वस्तुत ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली तीनो एक ही बोली के तीन प्रादेशिक रूप हैं।

बुन्देली मे अनेक ऐसे शब्द प्रचलित हैं जिनका हिन्दी में व्यवहार नही होता, जैसे—दाई (पितामही), दादू (चाचा), गोटानी (पत्नी), पाहुन (दामाद), गरै (लोटा) आदि।

अ के स्थान पर बुन्देली मे कभी-कभी इ का व्यवहार होता है जैसे बरोबर> बिरोबर। व्यजनो मे 'ड' का उच्चारण 'र' मे परिणत हो जाता है यथा—पडो> परो। आदि स्थित 'य' 'ज' में तथा 'व' 'ब' मे परिणत हो जाते हैं, यथा—यह> जो, वह> वो।

पुलिग शब्दो के अन्त मे 'वा' तथा स्त्रीलिंग के अन्त मे 'आ' का प्रयोग भी बुन्देली की विशेषता है जैसे—घुरवा, बिलइवा आदि। हिन्दी के पुलिंग आकारान्त शब्द बुन्देली मे ओकारान्त हो जाते हैं। यथा—घोडा> घोरो। हिन्दी मे जहा स्त्री प्रत्यय के रूप मे 'इन्' प्रत्यय का प्रयोग होता है, वहाँ बुन्देली मे 'नी' हो जाता है, जैसे—तेलिन> तेलनी।

अपना की जगह अपनो, मेरा की जगह मेरो, क्या की जगह का, कोई की जगह कोऊ, कुछ की जगह कछू, कितने की जगह कितेक् का प्रयोग भी बुन्देली की विशेषता है।

पूर्वी हिन्दी और उसकी बोलियाँ—पश्चिमी हिन्दी और बिहारी के बीच का क्षेत्र पूर्वी हिन्दी का क्षेत्र है। इसकी उत्पत्ति अर्ध मागधी अपभ्र श से हुई है। इसके अन्तर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढी बोलियाँ आती हैं। इन तीनो बोलियो मे पूर्ण समता है। बघेली और अवधी मे तो बहुत ही कम अन्तर है। यहाँ हम इन तीनो बोलियो का विवरण दे रहे हैं।

अवधी—पूर्वी हिन्दी की सबमे महत्त्वपूर्ण बोली अवधी है। हरदोई जिले को छोड कर शेष अवध मे तो यह बोली ही जाती है अवध के बाहर भी फतेहपुर, इलाहाबाद तथा मिर्जापुर के कुछ हिस्सो मे भी बोली जाती है। बिहार के मुसलमान भी अवधी बोलते हैं।

अवधी की भाषागत विशेषताए निम्नलिखित हैं—(१) खडी बोली के आकारान्त दीर्घ रूप जैसे, घोडा अवधी मे घोड अथवा घोडवा हो जाते हैं।

(२) सज्ञा तथा विशेषण के लिङ्ग के सम्बन्ध मे पश्चिमी हिन्दी मे कडे नियम हैं, अवधी के नियम ढीले हैं।

(३) व्यजनान्त सज्ञा पदो के कर्ता एकवचन के रूपो मे अवधी मे 'उ' लगता

४७

हिन्दी भाषा पर अन्य भाषाओं का प्रभाव

१ भूमिका
२. शब्द-समूह पर प्रभाव
३ शब्द-रचना पर प्रभाव
४ ध्वनि सम्बन्धी प्रभाव
५ वाक्य-रचना सम्बन्धी प्रभाव
६ उपसंहार

भाषा के मुख्यत तीन अंग होते हैं—ध्वनि-समूह शब्द-समूह और वाक्य। भाषा एकान्त में विकसित होने वाली वस्तु नहीं है उसका निर्माण ही विचार विनिमय के लिए होता है। फिर जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है आवागमन के साधनों के विकास के साथ सम्पर्क और संसर्ग के अवसर बढ़ते जाते हैं भाषा में भी विकास होता जाता है उसका वेश विन्यास रूप-आकार बदलता चलता है। यह परिवर्तन या विकास भाषा के सभी अंगों—ध्वनि शब्द-समूह एवं वाक्य-रचना पर दृष्टिगत होता है।

हिन्दी भाषा का इतिहास अनेक राजनीतिक और सामाजिक क्रान्तियों एव उथल-पुथल के बीच से गुजरने वाला इतिहास है। उसका जन्म ही उस समय हुआ जब देश संक्रान्ति-काल से गुजर रहा था जिस भूभाग में यह बोली जाती है यह भी देश का हृदय प्रदेश रहा है वहाँ सर्वाधिक राजनीतिक सामाजिक एव सांस्कृतिक उथल-पुथल हुई है अत उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक था। विदेशी आक्रान्ताओं की लोलुप दृष्टि इस उर्वर भूमि के वैभव पर सदा रही उन्होंने इस पर आक्रमण किया और इसकी संस्कृति धर्म भाषा आदि को भी प्रभावित किया।

हिन्दी की परम्परा भी अत्यन्त प्राचीन है यह भारत की प्राचीनतम आर्य भाषा संस्कृत की पौत्री है। साथ ही हिन्दी भाषा आरम्भ से ही सम्पूर्ण देश के विविध भागों के बीच विनिमय की भाषा रही है। साधु-संतों ने भी उसी को अपनाया और जहाँ भी वे लोग बातें करते थे इसी भाषा को अपनाते थ। ऐसी स्थिति में हिन्दी का देश की अन्य भाषाओं—द्राविड़ परिवार, आग्नेय परिवार तथा आर्य परिवार

तेरा	त्वार्
क्या	काह्
कोई	कउनी, कोऊ

छत्तीसगढ़ी—इस के लिए दो अन्य नाम भी प्रचलित हैं—लरिया और खल्टाही। यह वस्तुत छत्तीसगढ़ की भाषा है और इसका क्षेत्र है रायपुर एव विलासपुर के जिले तथा कांकेर एव रायगढ़ की रियासतें। इस बोली मे उच्चकोटि का साहित्य नही मिलता, केवल कुछ बाजारू किताबें मिलती है। इसकी कतिपय व्याकरणगत विशेषताए निम्नलिखित हैं—

(१) सज्ञा के बहुवचन रूप 'मन' जोड़कर सम्पन्न होते है, यथा—मनुख मन (मनुष्यो)।

(२) बहुवचन रूप बनाने के लिए कही-कही अन् प्रत्यय भी जोडा जाता है जैसे—बइला (बैल) का बइलन (बैलो)।

(३) सज्ञा के साथ निम्न अनुसर्गों का प्रयोग होता है—

कर्म—सम्प्रदान—का, ला, बर।

करण—अपादान—ले, से।

सम्बन्ध—के।

अधिकरण—माँ।

(४) आकारान्त विशेषण के रूप स्त्रीलिंग मे इकारान्त हो जाते हैं, यथा—छोट-का बाबू, छोट-की नोनी। अन्य विशेषण पदो मे लिंग के अनुसार परिवर्तन नही होता।

ग्रियर्सन ने भोजपुरी को विहारी भाषा की बोली माना था जिसका सम्बन्ध मागधी अपभ्रंश से है, परन्तु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भोजपुरी को हिन्दी की अन्य बोलियो से पृथक् नही माना और उसे हिन्दी की नवी बोली स्वीकार किया। इधर डा० उदयनारायण तिवारी ने पुन यह प्रमाणित किया है कि भोजपुरी विहारी की ही एक बोली है, न कि हिन्दी की। जहाँ डा० वर्मा विहारी को हिन्दी की ही एक उपभाषा मानते हैं, वहा डा० तिवारी उसे मागधी से नि सृत मानकर उसकी बगला से अधिक समीपता दिखाते हैं। चूकि डा० ग्रियर्सन और डा० तिवारी का मत ही अधिक तर्कसम्मत है, अत हम भोजपुरी को, भले ही वह उत्तरप्रदेश मे कई स्थानो पर बोली जाती हो, भाषा शास्त्र की दृष्टि से हिन्दी की बोली नही मानते और न उसका हिन्दी की अन्य ग्रामीण बोलियों के साथ विवेचन करना ही उचित समझते हैं। हम भी डा० ग्रियर्सन और डा० तिवारी के साथ हिन्दी की आठ ग्रामीण बोलियाँ स्वीकार करते हैं।

शब्दों की संख्या बढ़ती जायेगी। फिर भी हिन्दी ने निम्न शब्द इन भाषाओं से ग्रहण किये हैं—

(i) गुजराती से—हड़ताल गरबा।

(ii) बंगला से—उपन्यास गल्प कविराज।

(iii) मराठी से—पटेल चालू आदि।

(iv) पंजाबी से—सिक्ख आदि।

(ग) अनार्य भारतीय भाषाओं से गृहीत शब्द—हिन्दी शब्द-समूह का तीसरा वर्ग उन शब्दों का है जो हिन्दी में अनार्य भारतीय भाषाओं—द्राविड़ परिवार और आग्नेय परिवार की मुण्डा कोल आदि भाषाओं से लिये गये हैं।

(i) द्राविड़ परिवार से लिये शब्द—नीर पट्टम पल्ली अटवी पिल्ला मीन आदि। मूर्धन्य वर्णों से युक्त कुछ शब्द यदि सीधे द्राविड़ भाषाओं से नहीं आये तो भी उन पर इन भाषाओं का प्रभाव अवश्य है क्योंकि मूर्धन्य वर्ण द्राविड़ भाषाओं की ही विशेषता है।

(ii) कोल मुण्डा आदि भाषाओं से लिये गये शब्द हैं—कौड़ी कोयल कम्बल आदि।

(घ) विदेशी भाषाओं के शब्द—शताब्दियों से भारत विशेषतः हिन्दी भाषी प्रदेश विदेशी शासन में रहा है अतः विदेशी भाषाओं का इस पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। इन शब्दों को हम दो मुख्य वर्गों में रख सकते हैं—(१) विदेशी संस्थाओं धर्म आदि से सम्बद्ध शब्द (२) विदेशी सभ्यता और संस्कृति के प्रचार और वहाँ आई नई-नई वस्तुओं के नाम।

राजनीतिक परिस्थितियों ने हिन्दी भाषा को पर्याप्त प्रभावित किया। विदेशी आक्रान्ताओं ने साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ अपनी भाषा के प्रचार और प्रसार का भी प्रयत्न किया। जिन विदेशी भाषाओं का सर्वाधिक प्रभाव हिन्दी शब्द-समूह पर पड़ा वे हैं एक ओर मुसलमानी भाषायें—फारसी अरबी तुर्की और पश्तो तथा दूसरी ओर यूरोपीय भाषा—अंग्रेजी फ्रांसीसी पुर्तगाली और डच। फारसी से हमने अफसोस गिरफ्तार, दरबार जैसे शब्द लिये तो अरबी से अमीर दुनिया दौलत आदि। तुर्की ने हमारी भाषा को कुली बावर्ची मलीदा चाकू कैंची चाकू जैसे शब्द दिये तो पश्तो से हमें पठान रोहिल्ला आदि शब्द मिले।

यूरोपीय भाषाओं में अंग्रेजी का प्रभाव सर्वाधिक रहा है। इसीलिये हिन्दी में अनेक अंग्रेजी शब्द तो ज्यों के त्यों अथवा कुछ उच्चारण की सुविधा के कारण रूप बदल कर आ गये हैं। बटन रपट टिकट ऐसे ही शब्द हैं। अंग्रेजों के बाद दूसरी साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शक्ति जिसने भारत पर शासन किया फ्रांसीसी थी। अतः फ्रांसीसी भाषा के शब्द कारतूस कूपन आदि हिन्दी ने ग्रहण किए। पुर्तगालियों के उपनिवेश भी दक्षिण भारत में थोड़े समय पूर्व तक विद्यमान थे। उन्होंने अपनी संस्कृति के साथ-साथ अपनी भाषा का भी प्रचार किया जिसके फल स्वरूप हिन्दी में आज अनेक पुर्तगाली शब्द जैसे नीलाम अलमारी कमीज तौलिया

की भाषाओ से प्रभावित होना स्वाभाविक था। विदेशी शासको और उनकी भाषाओ—मुसलमानी तथा यूरोपीय ने भी उसे प्रभावित किया है।

सुविधा के लिए हम हिन्दी पर पडे हुए अन्य भाषाओ के प्रभावो को चार अगो मे बाट सकते हैं—शब्द-समूह, शब्द-रचना, ध्वनि-समूह एव वाक्य-रचना।

शब्द-समूह सम्बन्धी प्रभाव—हिन्दी शब्द-समूह पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उसमे चार प्रकार के शब्द पाये जाते हैं—(१) प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा सस्कृत के शब्द, (२) आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ के शब्द, (३) भारत के ही द्राविड, आग्नेय परिवार की भाषाओ के शब्द, (४) विदेशी भाषाओ के शब्द।

(क) प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा सस्कृत के शब्द हिन्दी मे कुछ शब्द सस्कृत से ज्यो के त्यो ग्रहण कर लिये गये है। इन्हे हम तत्सम शब्द कहते हैं।

(१) तत्सम—साहित्यिक हिन्दी मे तत्सम शब्दो की सख्या सदा से अधिक रही है। आधुनिक साहित्यिक भाषा मे तो यह और भी बढ गई है। इसका कारण कुछ तो यह है कि हमे नये-नये शब्दो की आवश्यकता पडती है, तो हम सीधे सस्कृत मे उधार ले लेते हैं (कभी ज्यो के त्यो, तो कभी कुछ परिवर्तन कर) और कुछ विद्वत्ता प्रकट करने के लिए भी सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग करते हैं। तत्सम शब्दो के कतिपय उदाहरण हैं—ऋषि, आज्ञा, पुत्र, देव, सुर, असुर, पात्र, वृक्ष।

(२) तद्भव शब्द—हिन्दी शब्द-समूह मे सबसे अधिक सख्या उन शब्दो की है जो प्राचीन आर्यभाषाओ से मध्यकालीन भाषाओ मे होते हुए चले आ रहे हैं। इन्हें तद्भव शब्द कहा जाता है। इनमे से अधिकाश का सम्बन्ध सस्कृत से जोडा जा सकता है। कुछ शब्द ऐसे भी है जिनका सम्बन्ध सस्कृत से नही जुडता, कदाचित् उनका उद्गम प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ऐसे शब्दो से हुआ है जिनका प्रयोग साहित्यिक सस्कृत मे न होता था। ये शब्द प्राय मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओ मे होकर हिन्दी में आए हैं। जन-बोलियो मे ये शब्द अधिक पाये जाते हैं, साहित्यिक हिन्दी मे कम। पर वस्तुत ये ही असली हिन्दी शब्द हैं। कुछ उदाहरण हैं—आग, बच्चा, कन्हैया।

(३) अर्ध-तत्सम शब्द—जो सस्कृत शब्द आधुनिक काल मे विकृत हुए हैं, उन्हें अर्धतत्सम शब्द कहते हैं। ये शब्द सस्कृत शब्दों से बिगाड कर अभी बनाए गए हैं—जैसे किशन, किरपा, अगिन, बच्छ आदि।

(४) तत्समाभास—वे शब्द जो लगते तत्सम जैसे हैं, पर वस्तुत तत्सम होते नही, तत्समाभास शब्द कहलाते हैं। जैसे, शाप, प्रण, अभिलाषा आदि।

(५) तद्भवाभास—वे शब्द जो लगते तद्भव जैसे, हैं पर वस्तुत जो तद्भव नही होते, तद्भावाभास शब्द कहलाते हैं जैसे मौसा।

(ख) आधुनिक भारतीय भाषाओं से ग्रहीत शब्द - आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं—पजाबी, बगला, गुजराती, मराठी आदि से आये हुए हिन्दी शब्दो की सख्या बहुत कम है, पर जैसे-जैसे हिन्दी का सम्पर्क इन भाषाओ से बढ रहा है और राष्ट्र-भाषा होने के नाते आदान-प्रदान की प्रवृत्ति पर बल दिया जा रहा है वैसे

अंग्रेजी भाषा के अनेक शब्द तब तक उच्चरित नहीं हो सकते थे जब तक कि हम अपनी ध्वनियों में कुछ परिवर्तन न करते विशेष रूप से स्वर ध्वनियों में। इसीलिए अंग्रेजी शब्दों का शुद्ध उच्चारण करने के प्रयत्न में हमने अनेक अंग्रेजी ध्वनियाँ अपना ली हैं जो *निम्नलिखित लिपि-चिह्नों द्वारा व्यक्त की जाती हैं—*

अं ऑ ऐं ऑ ऐ ऑ ।

सारांश यह है कि हिन्दी ध्वनि-समूह पर यूरोपीय और मुसलमानी दोनों भाषाओं के सम्पर्क के कारण प्रभाव पड़ा है।

यद्यपि भाषा को शुद्ध रखने के प्रयत्न में हिन्दी वालों ने आरम्भ से ही इस बात की चेष्टा की है कि रूप रचना और वाक्य-विन्यास हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप हो उसकी मूल प्रकृति के विरुद्ध न हो तथापि यवन और अंग्रेजी प्रभाव से हम पूर्णत अछूते नहीं रह सके हैं। उदाहरण के लिए भारतेन्दु युग के गद्य में हमें उर्दू फारसी की वाक्य रचना का प्रभाव दृष्टिगत होता है जैसे 'रानी केतकी की कहानी' के उद्धरण में—

सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनाने वाले के सामने। इसी प्रकार क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग तथा तुकमय वाक्यों का प्रयोग भी उर्दू के प्रभाव का द्योतक है। इधर हम हाथ जोड़ेंगे उधर वह हाथ छोड़ेंगे।

आधुनिक काल में भी भाषण को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उर्दू या अंग्रेजी की वाक्य रचना का सहारा लिया जाता है और क्रिया कर्ता के बाद तथा कर्म के पूर्व रखी जाती है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय चिन्तक और लेखक अंग्रेजी से इतने अधिक प्रभावित थे कि वे सोचते अंग्रेजी में थे भले ही लिखते अपनी भाषा में हों। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी वाक्य रचना पर प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि जवाहरलाल नेहरू के भाषणों में ही नहीं उनके लेखों में भी वाक्य रचना अंग्रेजी ढंग की है। गर्भ-वाक्यों (Parantheeib) का प्रयोग अंग्रेजी के प्रभाव से ही हिन्दी में हुआ है।

कोई भी भाषा विशुद्ध नहीं होती। उसमें सम्पर्क के कारण अन्य भाषाओं के शब्द ध्वनि शब्द-रूप और वाक्य विन्यास का प्रभाव आना स्वाभाविक ही है क्योंकि बिना इस सबके भाषा का विकास हो ही नहीं सकता। हमें ध्यान केवल यह रखना है कि विदेशी प्रभाव हमारी भाषा की मूल प्रकृति पर आघात न कर दे और हमारी भाषा को दूषित न कर दे। इसलिये विद्वान विदेशी प्रभावों के अपनी भाषा में विलीनीकरण पर अधिक बल देते हैं। हर्ष का विषय है कि हिन्दी ने इस विलीनीकरण पर पर्याप्त ध्यान दिया है और हर क्षेत्र में वह अनावश्यक प्रभाव या विदेशीपन के प्रति टेक से मुक्त रह सकी है। उदाहरण के लिए,हम विदेशी शब्दों का बहु वचन अपने नियमोंके अनुसार बनाते हैं—*लिफ्ट का लिफ्टों या टिकटें* करते हैं—टिकिट्स नहीं बनाते।

कप्तान, गोभी आदि दृष्टिगत होते हैं। डच भाषा ने हिन्दी को अधिक प्रभावित नहं किया तथापि दो-एक शब्द हिन्दी मे डच भाषा से भी आ गये हैं जैसे—तुरुप, ब (गाडी का)।

शब्द-रचना सम्बन्धी प्रभाव—हिन्दी ने अन्य भाषाओ से शब्द ही ज्यो त्यो या कुछ उच्चारण बदलकर नही लिए, उसकी शब्द-रचना पर भी विदेशी प्रभा देखा जा सकता है। हमने विदेशी प्रत्ययो और उपसर्गों की सहायता से शब्द गढ़े हैं जिन विदेशी प्रत्ययो का प्रयोग हिन्दी वालो ने किया है, उनमे से प्रमुख हैं—

१ आना—सालाना। २ खाना—छापाखाना, दवाखाना, डाकखाना ३ खोर—घूसखोर, चुगुलखोर। ४ गर—कारीगर, जादूगर, सौदागर। ५ गिरी—बाबूगिरी, कुलीगिरी। ६ चा—बगीचा, गलीचा। ७ ची—तबलची, मसालची ८ दान—कलमदान, पीकदान, धूपदान। ९ दार—ईमानदार, इज्जतदार, जमीदार १० नवीस—अर्जीनवीस। ११ बन्द—कमरबन्द, बिस्तरबन्द। १२ बाज—घोड़े बाज, कबूतरबाज। १३ वान—कोचवान, गाडीवान। १४ डम—गुरुडम।

इसी प्रकार विदेशी उपसर्गों की सहायता से भी हिन्दी मे नए शब्द बना गये हैं—

१ कम—कमउम्र। २ खुस—खुस्बू खुसदिल। ३ गैर—गैरहाजिर ४ दर—दर असल। ५ ना—नापसन्द। ६ ला—लापता, लावारिस। ७ फी—फी-आदमी, फी-मकान। ८ बद्—बदनाम, बदजात, बदचलन। ९ बे—बे बुनियाद बेधडक। १० हर—हर-रोज, हरबार। ११ हेड—हेड-पण्डित, हेड-मास्टर १२ हाफ—हाफ-कमीज, हाफ-पेंट १३ सब—सब-डिप्टी, सब-रजिस्ट्रार।

विदेशी उपसर्ग और प्रत्ययो से बने शब्दो का व्यवहार बोलचाल की भाषा ही अधिक पाया जाता है, लिखित साहित्यिक हिन्दी मे नही।

ध्वनि सम्बन्धी प्रभाव—विदेशी शब्द-समूह तथा शब्द-रचना के अतिरिक्त विदेशी ध्वनियो ने भी हिन्दी मे स्थान पा लिया है हिन्दी और सस्कृत दोनो की लि देवनागरी है, अत प्राय जो स्वर तथा व्यञ्जन सस्कृत मे थे, वे ही हिन्दी मे पा जाते हैं। तथापि समय की गति और उच्चारण सम्बन्धी अकुशलता या त्रुटि के कार आज सस्कृत के कतिपय स्वर और व्यञ्जन हिन्दी मे नही बोले जाते (लिखित रूप यद्यपि वे आज भी पाये जाते हैं।) उदाहरण के लिए, सस्कृत की निम्न ध्वनिया—ऋ, ॠ, ऌ, ॡ समाप्त हो गई हैं या उनका उच्चारण बदल गया है। ऋ को अधिक तर लोग 'रि' की तरह बोलते हैं। 'ष' का उच्चारण भी मूर्धन्य नही रह गया है उसे हम 'श' की तरह ही बोलते है। ऐ और औ का उच्चारण भी आज बदल गय है। ये ध्वनियाँ लिखित रूप मे ही पाई जाती हैं।

जिस प्रकार अरबी, फारसी आदि मुसलमानी भाषाओ ने हिन्दी शब्द-समू को प्रभावित किया, उसी प्रकार ध्वनि-समूह को भी। मुसलमानी सम्पर्क के कार ही हिन्दी मे 'क' 'ख' 'ग' 'ज' 'फ' आदि [illegible]

अर्थ-गाँठ शब्द भी इसी परम्परा की ओर संकेत करता है। इस मूल लिपि के उदाहरण अफ्रीका के टैंगानिका प्रदेश में तथा चीन और तिब्बत में मिले हैं।

(३) प्रतीकात्मक लिपि का प्रचार भी प्राचीन दिखाई देता है। तिब्बती-चीनी सीमा पर मुर्गी के बच्चे का कलेजा उसकी चर्बी के तीन टकड़े तथा एक मिर्च लाल कागज में लपेटकर भेजने का अर्थ है युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। गार्ड का लाल या हरी झंडी दिखलाना युद्ध में सफेद झंडा फहराना स्काउटों का झंडी की सहायता से बातचीत करना आदि इसी लिपि की ओर संकेत करते हैं। विवाह या उत्सव के अवसर पर हल्दी-सुपारी या गुड़ भेजना इसी लिपि का सूचक है।

(४) चित्रलिपि में तो चित्र केवल वस्तुओं को व्यक्त करते थे किन्तु आगे चलकर भाव-लिपि में चित्रों द्वारा मानव स्थूल वस्तुओं के साथ-साथ भावों को भी व्यक्त करने लगा। अमरीका में इस भाव-लिपि द्वारा लिखा एक पत्र मिला है जो एक Red Indian सरदार ने संयुक्त राष्ट्र अमरीका के प्रेसीडेंट के पास भेजा था। चीन जापान उत्तरी अमरीका पश्चिमी अफ्रीका आदि में भी इस भावमूलक लिपि के उदाहरण मिले हैं। आधुनिक कार्टून या व्यंग चित्र इसी भावमूलक लिपि की ओर संकेत करते हैं। भाव-लिपि में चित्र वस्तुओं के प्रतिनिधि नहीं होते अपितु उन वस्तुओं से सम्बन्धित भावों के द्योतक होते हैं।

(५) इस लिपि के अन्तर्गत कुछ चिह्न विचारात्मक तथा भावमूलक होते हैं और कुछ ध्वनिमूलक। इस तरह दोनों प्रकार की लिपियोंका इसमें यथासंभव उपयोग होता है। आधुनिक चीनी लिपि ऐसी ही भावमूलक ध्वनि-लिपि है। मैसोपोटामिया मिस्र हित्ताइट और सिंधु घाटी की लिपि भावमूलक ध्वनि लिपि मानी जाती है।

(६) चित्रलिपि या भावमूलक लिपि मे तो चिह्न किसी वस्तु या भाव को प्रकट करते हैं उसका उस वस्तु या भाव के नाम से कोई सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु इसके विरुद्ध ध्वनि मूलक लिपि मे चिह्न किसी वस्तु या भाव को प्रगट न करके ध्वनि को प्रगट करते हैं और उन ध्वनियो के आधार पर ही किसी वस्तु या भाव का नाम लिखा जाता है। देवनागरी अरबी रोमन आदि लिपियाँ ध्वनिमूलक हैं। यह ध्वनिमूलक लिपि दो प्रकार की है १ अक्षरात्मक २ वर्णात्मक। नागरी लिपि अक्षरात्मक है इसमें 'क' चिह्न के अन्तर्गत क+अ—दो वर्ण मिले हैं परन्तु इसके विरुद्ध रोमन लिपि वर्णनात्मक है। जैसे K मे केवल क् है अक्षरात्मक लिपि सामान्यतया प्रयोग की दृष्टि से तो ठीक है परन्तु भाषा विज्ञान में जब हम ध्वनिका का विश्लेषण करते हैं तो अक्षरात्मक लिपि की अपेक्षा वर्णात्मक लिपि अधिक सफल दिखाई देती है। जैसे हिन्दी का 'कक्ष' शब्द लें तो नागरी लिपि मे लिखने पर यह ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि उसमे कितने वर्ण हैं। नागरी लिपि मे केवल दो ध्वनियाँ दिखाई देती हैं। लेकिन जब रोमन लिपि मे लिखें Kaksh इसमे साफ दिखाई देता है कि यहाँ पाँच ध्वनियाँ हैं।

वर्णात्मक लिपि विकास की अन्तिम सीढ़ी है और चित्रलिपि प्रथम अथवा यह कह सकते हैं कि लिपि के विकास क्रम मे चित्रलिपि प्रथम अवस्था की द्योतक है और वर्णात्मक ध्वनि मूलक लिपि अन्तिम अवस्था की। संसार की सम्पूर्ण लिपियाँ

: ४८ :

देवनागरी लिपि

१. लिपि का इतिहास और उसके भेद
२ भारत में लिपि का इतिहास
(क) खरोष्ठी लिपि
(ख) ब्राह्मी लिपि
(ग) नागरी लिपि
३ नागरी लिपि में सुधारों का इतिहास

भाषा की उत्पत्ति के समान लिपि की उत्पत्ति के बारे मे भी प्राचीन धार्मिक लोगो मे यही विचार फैला हुआ था कि ईश्वर या किसी देवता ने लिपि का निर्माण किया। इसी आधार पर भारतीय पण्डित लोग ब्राह्मी लिपि को ब्रह्मा की बनाई हुई मानते हैं। मिश्री लोग अपने देवता थाथ (thath) या Jsis को लिपि का बनाने वाला मानते है। बेबीलोनियाँ के लोग Nebo को जुलू मोसेज moses को यूनानी लोग Hermes (हरमॅस) आदि को लिपि निर्माता मानते हैं, किन्तु ये विचार अन्ध-विश्वास पर निर्भर हैं। तथ्य यह है कि मनुष्य ने अपनी आवश्यकता के अनुसार लिपि को जन्म दिया है।

विद्वानो ने लिपि के बारे मे जो अनुसन्धान किया है, उससे पता चलता है कि दस हजार ई पू और चार हजार ई पू के मध्यकाल मे लिपि का प्रारम्भिक विकास हुआ होगा। लिपि के विकास-क्रम मे आने वाली जो विभिन्न लिपिया अभी तक प्राप्त हुई है, उनके निम्न प्रकार है—(१) चित्र लिपि (२) सूत्र लिपि (३) प्रतीकात्मक लिपि (४) भाव मूलक लिपि (५) भाव ध्वनि मूलक लिपि (६) ध्वनि मूलक लिपि।

(१) लिपि का सर्वप्रथम रूप चित्रो के रूप मे मिलता है। उत्तर-पाषाणकाल मे गुहा मानव ने कन्दराओ की दीवालो पर या अन्य वस्तुओ पर जन्तु, वनस्पति, मानव शरीर, ज्यामित की शक्ल आदि के टेढे-मेढे चित्र बनाए थे। ऐसे प्राचीन चित्र दक्षिणी फ्रास स्पेन, यूनान इटली, साइबेरिया, मिश्र, आस्ट्रेलिया आदि अनेक देशो मे मिले है।

(२) जब मानव का कार्य चित्र-लिपि से न चला तो उसने सूत्र-लिपि का प्रयोग किया होगा। यह सूत्र लिपि भी बडी प्राचीन है। प्राचीन काल मे बात को याद रखने के लिए किसी सूत्र, रस्सी या पेडो की छाल आदि मे गाठ लगा दी जाती थी। आज भी लोग किसी बात को याद रखने के लिए रूमाल मे गाठ लगा लेते है।

लिपि नही निकली । स्वयं इसका भी तीसरी शताब्दी के बाद पतन हो गया ।

(५) खरोष्ठी के अक्षरों की बनावट 'आरमेइक' लिपि से मिलती है । अत इसकी उत्पत्ति भारतीय न मानकर सैमेटिक लिपि से मानना ही उचित होगा । अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि सम्भवत भारत म आने के बाद इस लिपि की त्रुटियों को देखकर किसी भारतीय आचार्य ने इसमें सुधार किया हो और उसी के नाम पर उसका नाम खराष्ठी पड गया हो पर निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता ।

ब्राह्मी लिपि के नाम और उसकी उत्पत्ति स्रोत आदि के सम्बन्ध में भी पर्याप्त विवाद रहा है । कुछ लोग उसकी पूर्णता और वैज्ञानिकता के कारण उसका नाम ब्राह्मी समझते है ।

कुछ लोगो का मत है कि ससार की अन्य वस्तुओ के समान ब्रह्मा ने इसका निर्माण किया होगा । अत यह ब्राह्मी कहलाई । इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी अनेक मत रहे है—

(१) फ्रेंच विद्वान कुपेरी इसे चीनी लिपि से उद्भूत मानते है पर इन दोनों लिपियो के चिह्न परस्पर इतने भिन्न हैं कि यह मत उचित प्रतीत नही होता ।

(२) सेनार्ट विल्सन आदि विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी की उत्पत्ति सिकन्दर के आक्रमण के समय यूनानी लिपि से हुई । यह मत अवैज्ञानिक है, क्योंकि सिकन्दर के आक्रमण या मौर्य युग अर्थात ३२५ ईस्वी पूर्व से बहुत पहले इसका प्रचार हो चुका था ।

(३) बूलर, डिरिंगर तथा वैबर (Webber) आदि विद्वानो का अनुमान है कि ब्राह्मी लिपि का निर्माण सैमेटिक लिपि विशेषकर फोनीशियन लिपि से हुआ होगा । बूलर के अनुसार ब्राह्मी के २२ अक्षर उत्तरी सामी से कुछ फोनीशियन से ५ अक्षर मैसोपोटामिया की लिपि से और २ अक्षर अर्माईक लिपि से लिये गये थे । बूलर का मत निम्न कारणो से स्वीकार नही किया जा सकता—

(१) जिस काल मे इस प्रभाव की सम्भावना की गई है उस काल म भार तीयो तथा फोनीशियनो का सम्पर्क नही था ।

(२) फोनीशियनी और ब्राह्मी के केवल एक अक्षर मे समानता मिलती है । ब्राह्मी का 'ज' फोनीशियन के गिमेल' से मिलता है ।

शेष अक्षरो म जो समानता दिखाने का प्रयास किया है वह खींचकी प्रात्र मात्र से अधिक नही है । बूलर का यह कथन कि ब्राह्मी लिपि सैमेटिक लिपियों के समान दाय से बाम लिखी जाती थी गलत है क्योंकि जो कुछ उदाहरण इस प्रकार के मिलते है व या तो प्रयोग मात्र हैं अथवा सिक्को पर ठप्पे की गलती के कारण उपलब्ध होते है । बूलर का यह कथन भी कि भारत में ईसा से पाचवी शताब्दी पूर्व कोई लिपि नही थी गलत सिद्ध हो चुका है । अत ब्राह्मी को सैमेटिक लिपि से उत्पन्न मानना अनुचित होगा ।

पाश्चात्य विद्वान लासन म कनिघम एडवर्ड थामस तथा भारतीय विद्वान हीराचन्द

दो प्रधान वर्गों मे बाँटी गई हैं। १. जिनमे अक्षर या वर्ण नहीं है जैसे चीनी या हिट्टाइट लिपि। २ जिनमे अक्षर या वर्ण हैं जैसे नागरी, रोमन लिपि। भारतीय लिपियो का अध्ययन करने पर पता चलता है कि यहाँ सबसे पहले सिंधु घाटी की द्राविड लिपि का विकास हुआ था। कुछ लोग सिंधु घाटी की लिपि को सुमेरी लिपि से निकला हुआ बतलाते हैं। इस सिंधु घाटी की लिपि के अतिरिक्त भारत के शिलालेख और सिक्कों पर जो प्राचीन लिपियाँ मिली हैं, उन्हे दो नामो से पुकारा गया है—ब्राह्मी और खरोष्ठि। जैन ग्रन्थों मे बम्भी, खरोट्टी, पोलिंदी आदि अट्ठारह लिपियो का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थो मे से, ललित बिस्तर मे ब्राह्मी, खरोष्टि पुष्करसारी अगलिपि, बगालिपि आदि चौसठ लिपियो का उल्लेख मिलता है। किन्तु ओझा जी का मत है कि इनमे से अधिकतर नाम कल्पित हैं। केवल ब्राह्मी और खरोष्ठी इन दो लिपियो का ही अभी तक पता लगा है। जिस तरह बाह्मी लिपि का सम्बन्ध ब्रह्मा से जोडा जाता है, उसी तरह खरोष्ठी के बारे मे प्रजुनलेस्की आदि विद्वानों का मत है कि इस लिपि को गदहे की खाल पर लिखे जाने के कारण कही खरपृष्ठी और ईरानी मे खरपोस्त आदि नाम दिये गये हैं। डा० राजबलि पांडे के मत से इस लिपि के अधिकतर अक्षर गदहे के ओठो की तरह बेढगे होते हैं अतएव यह नाम पडा होगा। डा० चटर्जी ने हिब्रू भाषा के खरोशेथ का सस्कृत रूप खरोष्ठि माना है। हिब्रू मे खरोशेथ का अर्थ लिखावट होता है।

ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम नमूने पाँचवी सदी ई पू के मिलते हैं। ३५० ई० के बाद इस लिपि की दो शैलियाँ प्रचलित हुई। १ उत्तरी शैली २ दक्षिणी शैली। चीनी, विश्वकोप 'यूअन चुलिन' इसे भारतीय आचार्य खरोष्ठ द्वारा आविष्कृत बताता है। इन सब मतो म 'खरोशेथ' से इसकी व्युत्पत्ति अधिक सम्भव जान पडती है।

खरोष्ठी का प्रचार केवल पश्चिमोत्तर भारत में था। यद्यपि १७५ ई० पू० से २०० ई० के बीच के सिक्को पर खरोष्ठी के बहुत से नमूने मिले हैं तथापि जब से शाहबाजगढी के पडोस मे प्रस्तर पर लिखित अशोक के शिलालेख का अनुवाद खरोष्ठी मे उपलब्ध हुआ है, तब से इस लिपि का महत्त्व बढ गया है।

सामी लिपि की भाँति ही खरोष्ठी लिपि भी दोषपूर्ण है। इसमे स्वरो की अव्यवस्था तथा दीर्घ स्वरो का अभाव है। इसमे स्वर व्यञ्जनो पर ही आश्रित रहते हैं तथा ये स्वर भी ह्रस्व ही हैं। कुछ लोग इसका उद्भव भारत मे ही मानते हैं, पर ऐसा मानने मे कई आपत्तियाँ हैं—

(१) भारतीय लिपिया बाई ओर से दाईं ओर को लिखी जाती हैं जब कि यह दाई ओर से बाई ओर लिखी जाती हैं।

(२) इसमे सयुक्ताक्षर नहीं हैं और न मात्राओ के ह्रस्व और दीर्घ भेद ही हैं, जबकि भारतीय लिपियो मे यह दोनो चीजें भी मिलती हैं।

(३) खरोष्ठी का जो कुछ साहित्य उपलब्ध है, उसका भारत के धर्म-ग्रन्थों से कोई सम्बन्ध नही है।

(४) खरोष्ठी से, पश्चिमोत्तर भारत की जहाँ इसका प्रचार था, कोई

नागरी लिपि के भी दो रूप हुए—उत्तरी नागरी और दक्षिणी नागरी। दक्षिणी नागरी नन्द-नागरी भी कहलाती थी। उत्तरी नागरी का इतिहास तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) प्राचीन काल (दसवीं शताब्दी के लगभग का समय)—इस समय इस लिपि के कुछ अक्षरों के सिरे दो भागों में विभक्त थे।

(२) मध्य काल (ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग का समय)—इस काल में अक्षरों के ऊपर की शीर्ष-रेखा के दोनों भाग मिलकर एक हो गये।

(३) वर्तमान काल (बारहवीं शताब्दी से अब तक का समय)—इस काल में देवनागरी लिपि का रूप वही हो गया जो आज प्रचलित है। तब से अब तक परिवर्तन तो हुए हैं परन्तु वे साधारण ही हैं और उनके पीछे मुद्रण या टंकण की सुविधा अथवा भ्रान्ति को दूर करने का प्रयास ही कारण रहे हैं। सारांश यह है कि आज की देवनागरी लिपि ब्राह्मी लिपि का ही विकसित रूप है।

गांधी जी तथा अन्य हिन्दी प्रेमी नेता यह चाहते थे कि भारत की लिपि एक हो जिससे भावात्मक एकता स्थापित हो सके। अतः स्वतन्त्रता से बहुत पूर्व सन् १९३५ ई० में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान में काका कालेलकर के सभापतित्व में एक समिति देवनागरी लिपि के सुधार के लिए बनी। कई वर्षों के निरन्तर प्रयोग के बाद सम्मेलन ने जो सुझाव दिये उनमें प्रमुख निम्नलिखित थे—

(१) लिखने में शिरोरेखा लगाना आवश्यक नहीं।

(२) प्रत्येक वर्ण ध्वनि के उच्चारण क्रम से लिखा जाय।

(३) अ की बारहखड़ी की जाय यथा—अ आ अि अी अु अू, अे अै ओ औ, अं अः।

(४) वर्तमान 'ख' के स्थान पर गुजराती 'ख' रखा जाय।

(५) अ, झ, ण के स्थान पर क्रमश: उनके बम्बइया रूप अ झ ण तथा 'क्ष' के स्थान पर 'क्ष' रूप प्रचलित किये जायें।

(६) मराठी गुजराती कन्नड़ तेलगु आदि भाषाओं में विशिष्ट ध्वनि के लिए जो ळ प्रयुक्त होता है वही रखा जाय।

(७) इ और ई गुजराती की तरह कुण्डी लगाकर लिखे जायें यथा अि अी।

(८) ए, ऐ की मात्राएं वर्ण के ठीक ऊपर न लगाकर दाहिनी ओर जरा हटाकर लगाई जायें।

(९) संयुक्ताक्षर में भी वर्ण उच्चारण क्रम से लिखे जायें यथा—द्वारका (द्वारका नहीं)

इन सुझावों का नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्यों ने कड़ा विरोध किया और वे स्वीकृत नहीं हो पाये। १९४५ ई० में स्वयं नागरी प्रचारिणी सभा ने उपयोगिता और प्रचार की दृष्टि से नागरी लिपि में सुधार और पुनः संस्कार की आवश्यकता समझी और यह सूचना प्रकाशित की कि इस दिशा में कार्य करने वाले सज्जन और संस्थाएं अपने प्रयत्नों की सूचना और सामग्री सभा के पास भेजें। इसके फल

ओझा और श्री जायसवाल ब्राह्मी को भारत की ही उपज मानते हैं। उनके तर्क इस प्रकार हैं—

(१) ब्राह्मी बाँई ओर से लिखी जाती है।

(२) सैमेटिक लिपि मे केवल २२ अक्षर है, जबकि ब्राह्मी मे ६३ या ६४। यह असम्भव है कि ६४ वर्णो वाली लिपि का जन्म २२ वर्णो वाली दरिद्र लिपि से हो।

(३) व्यजनो के साथ स्वरो का मात्रा के रूप मे सहयोग होना केवल ब्राह्मी की ही विशेषता है।

(४) प्रत्येक ध्वनि के लिए एक पृथक चिह्न होना उसे भारतीय प्रमाणित करता है।

(५) १९१७ ई० की हैदराबाद मे होने वाली खुदाई से यह बात और भी स्पष्ट हो गई है। इस खुदाई मे मिले बर्तनो और पत्थरो पर मुद्रित पाँच लिपि चिह्न अशोक-कालीन लिपि से मिलते हैं। इन पत्थरो की भुरभराहट से स्पष्ट है कि वे ईसा से दो हज़ार वर्ष पूर्व के हैं, जबकि सैमेटिक लिपि ईसा से केवल १००० वर्ष पूर्व की मानी जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्राह्मी लिपि भारत की ही लिपि है।

ब्राह्मी का सबसे प्राचीन प्रमाण हमे अशोक के शिलालेखो मे मिलता है जिनकी तिथि लगभग ३०० ई० पूर्व है। इन शिलालेखो से प्रकट है कि मौर्य-काल मे इस लिपि का प्रचार उत्तर भारत मे ही नही, लका, तिब्बत, वर्मा, स्याम आदि मे भी हो चुका था। ३५०ई० पूर्व के उपरान्त इसके दो भेद हो गये—उत्तरी और दक्षिणी। दक्षिणी शाखा से तामिल, तेलगु, मलयालम, कन्नड आदि भाषाओ की लिपियो का निष्क्रमण हुआ। चौथी शताब्दी मे उत्तरी ब्राह्मी लिपि के अक्षरो के सिरो के चिह्न कुछ लम्बे हो गये, और कतिपय अक्षरो की आकृतियां नागरी अक्षरो के समान हो गई। मात्राओ के चिह्नो मे भी कुछ परिवर्तन हुआ और इसका नाम गुप्त वशीय राजाओ के कारण गुप्त लिपि हो गया। छठी शताब्दी मे गुप्त लिपि के अक्षरो की आकृति कुछ कुटिल हो गई। अत इसका नाम कुटिल-लिपि पड गया। यह लिपि छठी शताब्दी से नवी शताब्दी तक उत्तर भारत मे खूब प्रचलित रही। दसवी शताब्दी मे इस कुटिल लिपि से दो लिपियो का जन्म हुआ—शारदा लिपि और नागरी लिपि।

शारदा लिपि से आधुनिक काश्मीरी और गुरुमुखी लिपियो का निर्माण हुआ है।

कुटिल लिपि का दूसरा विकास नागरी या देवनागरी लिपि के रूप मे हुआ। इसके नाम के सम्बन्ध मे अनेक मत हैं। आर० श्यामा शास्त्री के मतानुसार देवताओ की प्रतिमाओ के बनने से पूर्व, उनके सांकेतिक चिह्न जिन्हे देव नागर कहते थे, पूजे जाते थे। कालान्तर मे यही देव-चिह्न लिपि चिह्न बन गये और उन पर आधारित लिपि देवनागरी कही जाने लगी।

दूसरा मत उन विद्वानो का है जिनके अनुसार गुजरात के नागर ब्राह्मणो द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इस लिपि का नाम देव-नागरी हो गया।

४६

हिंदी संज्ञा के रूप

१ प्रातिपदिक
२ लिंग
३ वचन
४ कारक—परसर्ग
५ पर-संबंधी शब्दावली

प्रातिपदिक—मध्य भारतीय आर्य-भाषा काल के अन्त तक व्यंजनान्त प्राति पदिक (वे अर्थवान शब्द जो धातु न हों और जिनकी सिद्धि विभक्ति लगने से न हुई हो) समाप्त हो गये थे और भाषा मे केवल स्वरान्त प्रातिपदिक रह गये थे। पर आधु निक काल में पदान्त ह्रस्व स्वरों का लोप होने लगा जिससे पुन व्यंजनान्त प्राति पदिक दृष्टिगत होने लगे। यही कारण है कि हिन्दी में प्रातिपदिक स्वरान्त भी हैं और व्यंजनान्त भी।

हिन्दी के स्वरान्त प्रातिपदिक—लड़का शक्ति लड़की साधु भालू पाडे आदि। स्पष्ट है कि हिन्दी के प्रातिपदिकों मे निम्न अन्त्य स्वर मिलते हैं—आ इ ई, उ ऊ ए।

हिन्दी के व्यंजनान्त प्रातिपदिको मे निम्नलिखित अन्त्य व्यंजन मिलते हैं—क ख् ग् घ् च् छ् ज् झ् ट् ठ् ड् ढ् ण् त् थ् द् ध् न् प् फ् ब् भ् म् र् ल् व् ष् ह् न्ह्।

इनके उदाहरण इसी क्रम से ये हैं—

नाक राख् रोग् बाघ् नाच् काछ् समाज् बाँझ् भट् पीठ् सौड् अनपढ़ प्रसाद् खेत् हाथ् चाँद् बाध् कान् साँप् सौंफ् गरब् लाभ काम् हार् बैल् गाव् धोस् राह् कान्ह्।

लिंग—संसार मे तीन प्रकार के पदार्थ मिलते हैं—नर मादा और जड अनेक भाषाओ मे प्राकृतिक अवस्था का अनुकरण कर नामवाचक शब्दों (संज्ञाओ) को भी इन्ही तीन वर्गों मे बाटा जाता है और पुरुष जातीय वस्तुवाचक शब्दों को पुल्लिङ्ग स्त्रीजातीय वस्तुवाचक शब्दो को स्त्रीलिंग तथा जड वस्तुवाचक शब्दों को नपुंसकलिंग से अभिहित किया जाता है। इन भाषाओ का लिंग प्राकृतिक लिंग कहलाता है। अंग्रेजी का लिंगभेद प्राकृतिक ही है। यहाँ man पुलिंग woman स्त्रीलिंग और Chain नपुंसकलिंग मे है।

स्वरूप श्री श्रीनिवास तथा डाक्टर गोरख प्रसाद ने कुछ व्यावहारिक सुझाव दिये पर वे भी मान्य न हो सके। ३१ जुलाई १९४७ को उत्तर प्रदेश सरकार ने आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता मे एक लिपि-सुधार समिति बनाई जिसने १९४९ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसके अनुसार निम्न सुधार बताये गए—

(१) अ की बारह खडी न की जाय।

(२) इ की मात्रा भी दाईं ओर हो।

(३) मात्राओ को थोडा हटाकर केवल दाहिनी ओर बगल मे ऊपर और नीचे लगाया जाय।

(४) शुद्ध अनुस्वार के स्थान पर "०" तथा अनुनासिक स्वर के लिये '' विन्दी लगाई जाय। यथा—हसना, हस।

(५) शिरोरेखा लगाई जाय।

(६) व्यजनो के बम्बइया रूप रखे जाय—झ, ण, ध, भ।

(७) क्ष के स्थान पर 'क्ष' तथा त्र की जगह त्र से काम लिया जाय।

(८) विशेष अक्षर ल, श्र लिये जायँ।

इस कमेटी की रिपोर्ट के बाद उत्तर-प्रदेश शासन ने लिपि-सुधार सम्बन्धी एक अन्य समिति बनाई जिसने नरेन्द्र देव समिति के अधिकांश सुझावो को ही मान लिया।

इस प्रकार नागरी लिपि के सुधार के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रयत्न होते रहे हैं, पर अभी तक कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो पाया है।

द्विवचन बहुवचन। मध्यकाल म आकर द्विवचन का लोप हो गया जिसके फलस्वरूप आधुनिक आर्य भाषाओं हिन्दी आदि म भी केवल दो ही वचन पाए जाते हैं—

एकवचन और बहुवचन।

हिन्दी के वचन प्रकट करने से सम्बन्धित द्रष्टव्य बातें निम्नलिखित हैं—

(१) कर्ताकारक एकवचन मे शब्द का प्रातिपदिक रूप (विभक्ति रहित रूप) ही व्यवहृत होता है। यथा लड़का शेर, आदमी। जैसे लड़का जाता है।

(२) पुल्लिंग तद्भव आकारान्त शब्दों के विकारी कारकों के एकवचन मे पदान्त आ का लोप हो जाता है और उसके स्थान पर ए प्रत्यय लगता है यथा—लड़के। लड़के को लड़के से लड़के के लड़के क लिए आदि।

(३) अन्य शब्दों मे विकारी कारकों के एकवचन म प्रातिपदिक रूप ही रहता है यथा—घर को घर से घर के घर के लिए, घर मे।

(४) पुल्लिंग तद्भव आकारान्त शब्दों के कर्ता बहुवचन का रूप भी अन्त्य स्वर 'आ' का लोप कर उसकी जगह ए' प्रत्यय लगा कर बनाया जाता है यथा—लड़का—लड़के। घोड़ा घोड़े।

(५) अन्य पुल्लिंग शब्दो के कर्ता बहुवचन के रूप एकवचन के समान ही होते हैं। जैसे घर—घर भाई—भाई राजा—राजा।

(६) इकारान्त तथा ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दो के कर्ता बहुवचन रूप 'आँ' प्रत्यय लगाकर बनाये जाते हैं और आँ से पूर्व इ और 'य् का सन्निवेश होता है यथा—लड़की—लड़कियाँ तिथि—तिथियाँ।

(७) अन्य स्त्रीलिंग शब्दो के कर्ता बहुवचन बनाने के लिए 'एं' प्रत्यय लगाया जाता है यथा—वस्तु—वस्तुएं बात—बातें।

(८) सभी शब्दों के विकारी कारकों के बहुवचन बनाने के लिए ओं' प्रत्यय लगाया जाता है। इससे पूर्व अन्त्य आ' का लोप हो जाता है यथा—घोड़ा—घोड़ो (घोड़ो को घोड़ो के लिए, घोड़ों से)

(९) यदि अन्त्य स्वर ई या इ है तो ओं से पूर्व य् का सन्निवेश होता है। यथा—लड़की—लड़कियो तिथि—तिथियो।

डा चटर्जी ए' की व्युत्पत्ति संस्कृत के करण-कारक बहुवचन प्रत्यय एभि' से मानते हैं—

एभिः > अहि > अइ > ए।

आँ एँ की व्युत्पत्ति संस्कृत नपुंसकलिंग बहुवचन प्रत्यय आनि से मानी जाती है—

आनि > आइ > एँ आनि > आँ > आँ।

ओं की व्युत्पत्ति संस्कृत आनाम् से मानी जाती है—

आनाम् > आंन > आवं + हु > अऊँ > ओं।

आजकल हिन्दी मे बहुवचन रूप बनाने के लिए कुछ शब्दों की भी सहायता ली जाती है। ये शब्द प्राय समूह का बोध कराते हैं। ऐसे कुछ शब्द हैं—लोग वृन्द वृन्द आदि। यथा कवि वृन्द, बालकमण्डल बालक लोग आदि।

परन्तु कुछ भाषाओ मे लिंग प्राकृतिक न होकर व्याकरणिक होता है,अर्थात् उनमे लिंग का आधार वस्तु की प्राकृतिक स्थिति नही होती,शब्दो का लिंग विशेषप्रत्ययो या विभक्तियो द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा संस्कृत मे लिंग व्याकरणिक ही था। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओ प्राकृत आदि मे भी वह व्याकरणिक ही रहा आया। अपभ्रंश मे नपुसकलिंग लुप्तप्राय हो गया। नपुसकलिंग शब्दो के रूप पुल्लिग शब्दो के समान बनने लगे। यही कारण है कि हिन्दी मे भी नपुसकलिंग सर्वथा लुप्त हो गया। आज हिन्दी मे दो ही लिंग शेष रह गए हैं— पुल्लिग और स्त्रीलिंग और यह लिंग-भेद भी प्राकृतिक न होकर व्याकरणिक ही है।

यदि हिन्दी में नपुसकलिंग का कोई सकेत मिलता है, तो वह यह कि प्राणि-वाचक शब्दो मे कर्मकारक का परसर्ग 'को' प्रयुक्त होता है, जैसे 'धोबी को बुलाओ', पर अप्राणिवाचक शब्दो मे को का प्रयोग नही होता। 'पेड को काटो' न कहकर हम कहते हैं 'पेड काटो'।

पुल्लिग एव स्त्रीलिंग तदभव शब्दो का लिंग हिन्दी मे साधारणत वही है जो सस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश मे था। परन्तु प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के प्रत्यय हिन्दी तक आते-आते इतने घिस गये हैं कि उनके मूल रूप को पहचानना अब आसान नही है। यही कारण है कि अहिन्दी भाषा—भाषियो के लिए हिन्दी शब्दो का लिंग-निर्णय करना अत्यन्त कठिन है और प्राय लोगो की यह धारणा बन गई है कि हिन्दी का लिंग—विधान सर्वथा अनियमित है। इस कठिनाई के अन्य कारण भी हैं —

(१) सस्कृत आदि के नपुसकलिंग शब्द पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग मे अन्तर्भूत हो गए हैं, अत उनके निर्णय मे कठिनाई होती है।

(२) हिन्दी के अनेक शब्दो का लिंग सस्कृत के लिंग से भिन्न हो गया है, यथा—सस्कृत मे अग्नि शब्द पुल्लिग था,हिन्दी मे वह स्त्रीलिंग हो गया है जैसे, अग्नि जल रही है। इसी प्रकार सस्कृत मे देवता शब्द स्त्रीलिंगी है,पर हिन्दी मे वह पुल्लिगी है, जैसे देवता प्रसन्न हो रहे हैं।

शब्दो को स्त्रीलिंगी बनाने के लिए हिन्दी मे निम्नलिखित प्रत्ययो का व्यवहार होता है।

(१) ई—पोथा से पोथी।
(२) इया चिडा से चिडिया।
(३) इन्—धोबी से धोबिन्।
(४) नी—शेर से शेरनी।
(५) आनी—पडित से पडितानी।

इन प्रत्ययो मे सर्वाधिक प्रयोग ई और इया का होता है।
ई की व्युत्पत्ति सं० इका < इआ, इअ से है।
इन्, नी की व्युत्पत्ति म० नी, इनी से है।
आनी की व्युत्पत्ति सस्कृत आनी से है।

वचन— प्राचीन भारतीय आर्य भाषा सस्कृत मे तीन वचन थे—एकवचन,

संस्कृत की करण-कारक एकवचन की विभक्ति 'एन' से जोड़ते हैं। पर यह निम्न कारणों से उचित प्रतीत नहीं होता—(क) ने विभक्ति प्रत्यय नहीं है परसर्ग है। अतः इसकी व्युत्पत्ति किसी स्वतंत्र शब्द से ढूंढनी होगी न कि विभक्ति-प्रत्यय 'एन' से।

(ख) ने का प्रयोग अधिक प्राचीन भी नहीं है। यदि उसकी व्युत्पत्ति 'एन' से होती तो पुरानी हिन्दी अथवा अपभ्रंश में इसका उदाहरण मिलता। ऐसे उदाहरण का न मिलना इस बात का द्योतक है कि वह नवीन है।

अन्य विद्वानों ने 'ने' का सम्बन्ध संस्कृत लग्न से जोड़ा है—लग्न>लग्गिओ >लगि >लइ >ले >ने।

डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डॉ. सुकुमार सेन ने की व्युत्पत्ति संस्कृत 'कर्ण' शब्द से मानते हैं। उनका विचार है कि 'ने' का प्राचीन रूप कने था जो आज भी कन्नौजी भाषा में समीप के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

कर्ण >कण्ण >कण्णहि >नइ >ने।

कर्म और सम्प्रदान कारक में 'को' परसर्ग का प्रयोग होता है।

कर्म कारक—उसने राजा को देखा।

सम्प्रदान कारक—यह पुस्तक उसको दे देना।

'को' की व्युत्पत्ति हार्नले तथा बीम्स ने संस्कृत 'कक्षे' से मानी है।

कक्षे >काख >कास >काहं >कहँ >कौ >को।

सम्प्रदान कारक में 'को' के अतिरिक्त 'के लिए' का भी प्रयोग होता है।

यथा—मैंने उसके लिए आम भेजे।

'के' की व्युत्पत्ति कृते से मानी गई है—कृते >कये >के।

'लिए' की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। संभवतः इसका सम्बन्ध संस्कृत लग्ने से हो—लग्ने >लग्गे >लिए।

करण तथा अपादान कारक में 'से' परसर्ग का प्रयोग होता है। यथा करण कारक—बेंत से आम तोड़ा।

अपादान कारक—पेड़ से आम गिरा।

'से' की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वान एकमत नहीं हैं। बीम्स के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति सम से हुई है—सम >से। हार्नले के अनुसार 'से' का सम्बन्ध प्राकृत सन्तो सुन्तो तथा संस्कृत अस् धातु से है। केलाग ने इसकी उत्पत्ति संस्कृत संगे से मानी है। कुछ लोग इसका मूलरूप सम-एन मानते हैं—

सम-एन >सएं सइं >से।

सम्बन्ध-कारक पुल्लिंग एकवचन में 'का' बहुवचन में 'के' तथा स्त्रीलिंग एकवचन और बहुवचन में 'की' परसर्गों का व्यवहार होता है। यथा राम का बेटा राम के बेटे सीता की लड़की। इन परसर्गों का सम्बन्ध संस्कृत 'कृ' धातु से है। 'का' की व्युत्पत्ति है—कृत कय>का।

कारक

भारोपीय भाषाओ मे सज्ञाओ का सम्बन्ध उपसर्गो (prepositions) द्वारा प्रकट किया जाता था। परन्तु इन्ही भाषाओ मे उपसर्ग क्रियाओ के साथ जुडने लगे और इनका सज्ञाओ के कारक-सम्बन्ध नियमित करने का कार्य समाप्त हो चला। शब्दो के प्रातिपदिक रूप मे विभक्ति-प्रत्यय लगाकर कारक रूप निष्पन्न किये जाने लगे। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा सस्कृत मे आठ कारक थे और प्रत्येक कारक का एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन का रूप अलग-अलग विभक्ति-प्रत्ययो के योग से बनता था। परिणामत प्रत्येक शब्द के चौबीस रूप होते थे। मध्य काल मे एक ही विभक्तियुक्त शब्द-रूप से दो-दो तीन-तीन कारको का काम लिया जाने लगा और चौबीस रूपो के स्थान पर केवल पाच-छ रूप शेष रह गए। अपभ्रंश-काल मे तो कारको के केवल तीन ही वर्ग बच रहे। अपभ्रंश काल मे ही कारक प्रकट करने के लिए सहायक शब्दो का प्रयोग होने लगा—पहले सम्बन्ध कारक के लिए और फिर अन्य कारको के लिए, उदाहरण के लिए सम्बन्ध कारक प्रकट करने के लिए 'केर' जैसे सहायक शब्द का प्रयोग होने लगा।

आधुनिक आर्य भाषाओ मे विभक्ति-प्रत्ययो मे और भी कमी हो गई। हिन्दी मे करण कारक बहु वचन तथा सम्बन्ध कारक बहुवचन के रूपो से कर्ता बहुवचन का काम लिया गया, यथा—घोडे। अधिकरण एकवचन के रूप से विकारी कारको के एकवचन के रूप निष्पन्न हुए जैसे घोडे को, घोडे के लिए। व्यजनान्त प्रातिपदिको मे तो सविभक्तिक रूप और भी कम रह गए।

साराश यह कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ में सविभक्तिक रूपो की अल्पता एव अस्पष्टता अपभ्रंश काल से भी अधिक हो गई और नतीजा यह हुआ कि सहायक शब्दो द्वारा कारक प्रकट करने की प्रवृत्ति बढ गई। ये सहायक शब्द भी ध्वनि-परिवर्तन के परिणाम स्वरूप घिस गए। इन सहायक शब्दो के घिसे-घिसाए रूप को परसर्ग कहा जाता है।

आज शब्दो का सम्बन्ध दो प्रकार से प्रकट किया जाता है—(१) सस्कृत के अवशिष्ट विभक्ति-प्रत्ययो के योग से जो अब केवल तीन चार ही बचे रह गए हैं। (२) शब्दो के सविभक्तिक अथवा अविभक्तिक रूपो के साथ परसर्गों की सहायता से।

हिन्दी के परसर्ग

हिन्दी मे आठ कारक हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन,। कर्ता के कर्तरि प्रयोग एव सम्बोधन मे कोई परसर्ग नही लगता। राम खाना खाता है। (हे) राम! तुम वहा जाओ।

कर्ता के कर्मणि एव भावे प्रयोग मे 'ने' परसर्ग लगता है। जैसे कर्मणि प्रयोग—मैंने एक गाय देखी। भावे प्रयोग—मैंने एक गाय को देखा। 'ने' परसर्ग केवल पश्चिमी हिन्दी खडी बोली मे प्रयुक्त होता है, पूर्वी हिन्दी मे नही। 'ने' परसर्ग की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानो मे मतभेद है। ट्रम्प आदि विद्वान इसका सम्बन्ध

५०

हिन्दी सर्वनाम

संस्कृत में सर्वनामों के रूप बहुत कुछ स्थिर हो गए थे उन्हीं से हिन्दी सर्वनामों की उत्पत्ति हुई, यद्यपि उनमें पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। संस्कृत में उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष के सर्वनामों में लिङ्ग भेद न था केवल अन्यपुरुष सर्वनामों में लिङ्ग भेद था (स सा)। आधुनिक आर्य भाषाओं में इसका भी प्राय लोप हो गया है। आधुनिक आर्य भाषाओं के सम्बन्ध कारक के रूप (मेरा तेरा उसका आदि) वस्तुत विशेषण हैं क्योंकि उनके लिङ्ग तथा वचन विशेष्य के अनुसार होते हैं। यथा—मेरा घोड़ा मेरी घोड़ी।

हिन्दी सर्वनामों के निम्न भेद हैं—

(१) पुरुषवाचक सर्वनाम (Personal pronouns)

(२) उल्लेख-सूचक सर्वनाम (Demonstrative pronouns) इसके दो भेद हैं।

(क) प्रत्यक्ष उल्लेख-सूचक (ख) परोक्ष उल्लेख-सूचक।

(३) साकल्यवाचक सर्वनाम (Inclusive pronoun)

(४) सम्बन्ध वाचक सर्वनाम (Relative pronoun)

(५) पारस्परिक सम्बन्ध वाचक सर्वनाम (Co-relative pronoun)

(६) प्रश्नसूचक सर्वनाम (Interrogative pronoun)

(७) अनिश्चयवाचक सर्वनाम (Indefinite pronoun)

'के' 'का' का ही विकारी रूप है और 'की' स्त्रीलिंग प्रत्यय 'ई' जोड़कर बनाया गया है।

अधिकरण कारक में 'में, पर' परसर्गों का प्रयोग होता है। यथा, मेज पर किताब, कमरे में बन्दूक। 'में' की उत्पत्ति संस्कृत 'मध्य' से मानी गई है—मध्ये मज्झे >माहि >में।

'पर' की व्युत्पत्ति संस्कृत पपु तथा अपभ्रंश परि से मानी गई है।

परसर्गीय शब्दावली—परसर्ग मूलतः स्वतन्त्र शब्द थे, पर ध्वनि-परिवर्तन के प्रभाव-स्वरूप घिस-घिसाकर अपनी सत्ता खो बैठे और परसर्गों में बदल गये। पर आधुनिक आर्य भाषाओं में अनेक क्रियावाचक विशेषण-पद (participles) आज भी परसर्गों के समान कारक सम्बन्ध व्यक्त करते हुए भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए हुए हैं। इन्हें परसर्गीय शब्द कहते हैं। हिन्दी में ऐसे निम्नलिखित शब्द हैं इनमें से अधिकतर अधिकरण कारक के परसर्ग हैं जो सम्बन्ध कारक के परसर्गों के साथ प्रयुक्त होते हैं।

(१) ऊपर, पर—रेलगाडी के ऊपर, मेज पर। व्युत्पत्ति 'उपरि' से।
(२) आगे—घोडे के आगे। व्युत्पत्ति 'अग्रे' से।
(३) ओर—शहर की ओर।
(४) कारण—लडके के कारण।
(५) नीचे—मेज के नीचे। व्युत्पत्ति 'नीचैः' से।
(६) पीछे – मकान के पीछे।
(७) पास—मोहन के पास। व्युत्पत्ति 'पार्श्वे' से।
(८) बाहर—नगर के बाहर।
(९) बिना—पुत्र के बिना।
(१०) बीच—लडकों के बीच।
(११) भीतर—कमरे के भीतर। व्युत्पत्ति 'अभ्यन्तर' से।
(१२) मारे—शत्रु के मारे।
(१३) संग, साथ—बच्चों के संग, बच्चों के साथ।

तुम्हारा की उत्पत्ति युष्म-केर से हुई है।

तेरी तथा तुम्हारी मे 'ई' स्त्रीलिंग प्रत्यय है।

प्रत्यक्ष उल्लेख सूचक सर्वनाम —इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	यह	ये
विकारी	इस	इन्ह

व्युत्पत्ति —'यह' की उत्पत्ति संस्कृत एष' से हुई।

एष >एस>एसो>एहो> यह।

'ये' की उत्पत्ति संस्कृत एते से हुई है—

एते> एए> एइ> ये।

'इस' की उत्पत्ति एतस्य से हुई है—

एतस्य> एतस्स> एअस्स> इस।

इन्ह' की उत्पत्ति संस्कृत एतेषाम् से है—

एतेषाम् > एतानाम् > एआण एण्ह> एन्ह> इन्ह।

परोक्ष उल्लेख सूचक सर्वनाम —इसके निम्नलिखित रूप है—

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	वह	वे
विकारी	उस	उन्ह

व्युत्पत्ति —वह की व्युत्पत्ति संस्कृत अदस् के रूप असौ से है—

असौ असो > अहो> ओह वह।

'वे' का पूर्व रूप अपभ्रंश म ओइ' मिलता है वह मे 'एमि >अहि> अइ> हिन्दी ए जोडकर 'वे' रूप निष्पन्न हुआ प्रतीत होता है।

'उस' की उत्पत्ति संस्कृत अमुष्य से हुई है —

अमुष्य > अमुस्स> अउस्स उस।

'उन्ह' की व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई है—

अमुष्याम् > अमूनाम > अउण्ण > उण्ह> उन्ह।

डा चटर्जी न इन रूपो की उत्पत्ति संस्कृत सर्वनाम अव' से मानी है पर टर्नर ने इसे स्वीकार नहीं किया है।

साकल्य वाचक सर्वनाम —हिन्दी में निम्न शब्द साकल्य वाचक सर्वनाम के रूप मे प्रयुक्त होते हैं—ये उभय सकल तथा सब। इनमें सर्वाधिक प्रचलित शब्द सब' है 'सकल' का प्रयोग पुराने पदो में मिलता है—

"सकल पदारथ हैं जग माहीं।
करमहीन नर पावत नाहीं।।"

सब की व्युत्पत्ति संस्कृत सर्व से हुई है—

सर्व सव्वो सव्व सब।

सम्बन्ध वाचक सर्वनाम —इसके निम्न रूप है—

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	जो	जो
विकारी	जिस्	जिन् जिन्ह्।

(८) आत्मवाचक सर्वनाम (Reflexive pronoun)
(६) पारस्परिक सर्वनाम (Reciprocal pronoun)

पुरुषवाचक सर्वनाम—इसके तीन भेद है—उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष । पर अन्य पुरुष मे परोक्ष उल्लेख-सूचक सर्वनाम के रूप ही प्रयुक्त होते हैं।

उत्तम पुरुष सर्वनाम—इसके निम्नलिखित रूप है—

	एक वचन	बहुवचन
अविकारी	मैं	हम
कर्म कारक	मुझे	हमे (हम को)
विकारी	मुझ	हम
सम्बन्ध कारक (पुल्लिग)	मेरा	हमारा
,, (स्त्री लिंग)	मेरी	हमारी

व्युत्पत्ति —'मैं' की व्युत्पत्ति सस्कृत मया+एन से हुई है। मया> मए> मइ या मैं। अपभ्र श तथा हिन्दी के अनुनासिक का कारण वस्तुत 'एन' है।

'हम' की व्युत्पत्ति सस्कृत अस्मे से हुई है—अस्म> अम्ह>हम्म>हम।

मुझ की उत्पत्ति मह्यम् से हुई है।

मह्यम् >मज्झ >मुझ।

'मुझ' मे म का उकार तुझ के सादृश्य पर हुआ।

'हमे' मे 'ए' का आगमन सस्कृत 'एन' से हुआ है।

'मेरा' की उत्पत्ति मम-केर से हुई है।

मम-केर>ममेर >मेर-आ >मेरा।

'हमारा' की उत्पत्ति अस्म-कर से हुई है।

अस्मकर> हमारा।

मेरी तथा हमारी मे ई स्त्रीलिंग प्रत्यय है।

मध्यम पुरुष सर्वनाम —इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	तू	तुम्
कर्म कारक	तुझे	तुम्हे
विकारी	तुझ	तुम्
सम्बन्ध कारक (पु० लिंग)	तेरा	तुम्हारा
,, (स्त्री लिंग)	तेरी	तुम्हारी

व्युत्पत्ति —'तू' की उत्पत्ति त्वम् से हुई है।

त्वम्> तू।

तुम की व्युत्पत्ति युष्मे से हुई है।

युष्मे> तुम्हे> तुम्ह> । तुम्

तुझ की व्युत्पत्ति तुभ्यम् से हुई है।

तुभ्यम्> तुज्झ> तुझ।

तेरा की उत्पत्ति तव-केर से हुई है।

केषामपि△ कानामपि>काणंपि काणंवि>काणह>किन्ही। इस पर करण कारक की विभक्ति भि>हि का भी प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी में निर्जीव पदार्थ के लिए अनिश्चयवाचक सर्वनाम 'कुछ' का व्यवहार होता है। मैथिल भोजपुरी आदि में यह 'किछु' है। किछु की उत्पत्ति संस्कृत किंचित् से हुई है। किछु मे 'च' ह प्रत्यय के कारण है। किन्हीं के कुछ रूप में 'कु' में उ या तो स्थान परिवर्तन कर गया है अथवा स्वर संगति से कुछु रूप से कुछ हो गया है।

आत्मवाचक सर्वनाम—हिन्दी में आत्मसूचक या निजवाचक सर्वनाम 'आप' है (स्वयं के अर्थ में)। आदर प्रकट करने के लिए भी आपका प्रयोग होता है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'आत्मन्' से हुई है। आत्मन् शब्द के प्राकृत में दो रूप मिलते हैं—अत्त और अप्प। इस अप्प से ही आप की उत्पत्ति हुई है।

पारस्परिक सर्वनाम—पारस्परिक सर्वनाम के रूप में हिन्दी में दो शब्द प्रयुक्त होते हैं—आप तथा स्वयं। स्वयं तत्सम शब्द है।

सर्वनामजात विशेषण

हिन्दी में सर्वनामजात विशेषण मुख्यतः निम्न हैं—

परिमाणवाचक—(१) इतना इत्ता।

इतना तथा इत्ता की व्युत्पत्ति संस्कृत इयत्तक से हुई है—

इयत्तक>एत्तिय>एत्तअ>इत्ता इतना।

(२) उतना उत्ता।

इनकी व्युत्पत्ति भी इतना आदि के समान सर्वनाम अंग 'उ' में त्तक>त्तिय त्तय>ता आदि लगाकर हुई है।

(३) जितना जित्ता।

इन रूपों की व्युत्पत्ति भी इतना आदि के समान प्राकृत 'जेत्तिय' से हुई है।

(४) कितना कित्ता।

इनकी उत्पत्ति इतना आदि के समान संस्कृत 'कियत्तक' प्राकृत केत्तिय से हुई है।

(५) तितना तित्ता।

इसकी भी व्युत्पत्ति 'इतना' आदि की तरह सर्वनाम अंग 'ति' से हुई है।

(ख) गुणवाचक—(१) ऐसा।

इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'एतादृश' से हुई है—

एतादृश>एरिस—एइस>ऐस>ऐसा।

(२) वैसा।

इसकी उत्पत्ति 'ऐसा' आदि के समान 'वोतादृश' से हुई है।

(३) जैसा।

इसकी व्युत्पत्ति ऐसा के समान संस्कृत यादृश से हुई है।

(४) कैसा।

इसकी उत्पत्ति ऐसा के समान कीदृश से हुई है।

(५) तैसा।

इसकी उत्पत्ति भी 'ऐसा' के समान संस्कृत तादृश से हुई है।

व्युत्पत्ति —'जो' की व्युत्पत्ति सस्कृत य से हुई है—
य > यो> यो, ये> जो।
'जिम' की उत्पत्ति सस्कृत यस्य से हुई है—
यस्य> यस्स> जस्स,> जिस।
'जिन' की उत्पत्ति येपा से हुई है—
येपा> जाण> जिन्, जिन्ह्। इस पर करण कारक के पुराने वहुवचन रूप येभि > जेहि का भी प्रभाव है।

पारस्परिक सम्वन्ध वाचक सर्वनाम —इसके निम्न रूप हैं—

	एकवचन	वहुवचन
अविकारी	सो	सो
विकारी	तिस्	तिन् तिन्ह्।

व्युत्पत्ति —टर्नर के अनुमार सो की उत्पत्ति सस्कृत 'सो' से हुई है। पर डा० चटर्जी के अनुमार इसकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से हुई है—
स > सक > सको> सओ> सउ> सो।
तिस् की उत्पत्ति तस्य से हुई है—
तस्य> तस्स> तिस्। इ का आगम जिस के सादृश्य पर हुआ है।
तिन्, तिन्ह की उत्पत्ति 'तेपा' से हुई है—
तेपा> ताना> तिन् तिन्ह्। इस पर करण कारक वहुवचन तेभि > तेहि का भी प्रभाव है।

प्रश्न सूचक सर्वनाम —इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	एकवचन	वहुवचन
अविकारी	कौन्	कौन्
विकारी	किस्	किन्

व्युत्पत्ति—कौन् की उत्पत्ति क +पुन से हुई है—
क +पुन >कपुण>कवुण>कउण>कौण>कौन।
किस् की उत्पत्ति सस्कृत 'कस्य' से हुई है—कस्य>कस्स, किस्स>किस्।
किन् की उत्पत्ति 'केषाम्' काण से हुई है। यह 'काण] वाद में काण हो गया और फिर पाली किस्स>कस्य तथा किण के प्रभाव से यह किण हो गया और इसी से किन रूप वना।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम—इसके निम्नलिखित रूप हैं—

	एकवचन	वहुवचन
अविकारी	कोई	कोई
विकारी	किसी	किन्ही

व्युत्पत्ति—कोई की उत्पत्ति क +अपि, को' पि से हुई है—
क अपि>को' पि>को' वि>कोइ, कोई।
किसी की उत्पत्ति कस्यापि से हुई है—
कस्यापि>कस्सइ>किसी।
किन्ही की उत्पत्ति केषामपि से हुई है—

द्वितीय-खण्ड

पंचम वर्ग

हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत परिशीलन

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' मे भारतीय साहित्य के सांस्कृतिक स्रोत को अविच्छिन्न गति से प्रवाहित होते हुए दिखाकर यह बताने की चेष्टा की है कि परवर्ती हिन्दी साहित्य अपभ्रंश की अनेक विशेषताओं को अपने में धरोहर के रूप में समाविष्ट किये हुये है। अतः हिन्दी भाषा और साहित्य के क्रमिक विकास को खोजने के लिये हमें अपभ्रंश के नाम से अभिहित साहित्य की ओर जाना पड़ेगा।

अपभ्रंश का प्राचीनतम उल्लेख पातञ्जल महाभाष्य मे मिलता है। महामुनि ने शब्द और अपशब्द का विचार करते हुए विकृत शब्दों के लिए अपभ्रंश का प्रयोग किया है—

भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दा इति ।
एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः ॥

अर्थात् अपशब्द बहुत हैं और शब्द थोड़े हैं। एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं।

स्पष्ट है कि पतञ्जलि ने अपभ्रंश का प्रयोग किसी भाषा के लिए नहीं किया है। भाषा वैज्ञानिकों ने भरत के नाट्य-सूत्र के इस अंश पर विचार करते हुये अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों की भाषा से जोड़ा है—

हिमवत्सिन्धु सौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः ।
उकार बहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥

इस प्रकार यद्यपि यह विवाद का विषय रहा है कि अपभ्रंश किसे कहें परंतु आज लगभग यह स्वीकृत हो चुका है कि ग्यारहवीं शती मे यह शिष्ट जन-समूह की भाषा थी उसका साहित्य अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का था और हेमचन्द्र सिद्ध कवियों और जैन कवियों की कृतियाँ अपभ्रंश काव्य के अन्तर्गत आती हैं।

भारत की आधुनिक भाषाओं में से अधिकांश का सम्बन्ध मध्यकालीन अपभ्रंश भाषाओं से है। जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है वह शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंश से विकसित हुई है। अतः हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव होना स्वाभाविक ही है। यदि विकासोन्मुख अपभ्रंश के प्रभाव से हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंग कथा-साहित्य काव्य रूप और काव्य-रूप सभी प्रभावित तथा विकसित हुए तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। डा० हजारी प्रसाद ने 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल' में इसी बात पर बल देते हुए लिखा है परवर्ती हिन्दी साहित्य के काव्य-रूप के अध्ययन में ये पुस्तक बहुत सहायक हैं।

हिन्दी के आदि महाकाव्य पृथ्वीराजरासो पर अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यह चरित-काव्य होने के साथ साथ 'रासक' काव्य भी है अतः उस पर अपभ्रंश के चरित काव्यों एवं रासक काव्यों का प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिये निज रुचि कथाओं का प्रयोग रूपात्मक रूढ़ियाँ संयोग-वियोग के मार्मिक चित्र, ऋतु-वर्णन एवं उसका उद्दीपनकारी प्रभाव सभी बातें हमें अपभ्रंश काव्यों की तरह पृथ्वीराज रासो में भी मिलती हैं। इतना ही नहीं जिस ढंग से संदेशरासक का आरम्भ हुआ है उसी ढंग से रासो का भी। आरम्भ की कई आर्यायें मिलती जुलती हैं—

: ५१ :

अपभ्रंश का हिन्दी पर प्रभाव

१ भूमिका
२. प्रबन्ध काव्यों पर अपभ्रंश का प्रभाव
३. सन्त कवियों पर प्रभाव
४ मध्यकालीन काव्य पर प्रभाव
५ रचना शैली पर प्रभाव

हिन्दी पर अपभ्रंश के प्रभाव को दिखलाने के प्रयत्न मे डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्री राहुल साकृत्यायन, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एव डा० नामवरसिह ने पर्याप्त सफलता पाई है और इस क्षेत्र मे उनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सर्वप्रथम गुलेरी जी ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के भाग २ मे बहुत जोर देकर कहा कि अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी ही कहना चाहिये।' "विक्रम की सातवी से ग्यारहवी शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी मे परिणत हो गई।" बहुत समय तक अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ अप्राप्य रहे और बहुत दिनो तक जर्मन विद्वान पिशेल का यह मत दुहराया जाता रहा कि अपभ्रंश का साहित्य एकदम खो गया है। पर १९१३-१४ ई मे डा० हरमन याकोबी नामक जर्मन पडित को अहमदाबादके जैन भाडारमे'भविसयत्त-कहा'तथा राजकोट मे'नेमिनाथ-चरित मिले। फिर तो जैन ग्रन्थ भाडारो से अनेक अपभ्रंश की पुस्तको—सन्देश रासक,व्रज-स्वामिचरित्र, चच्चरी, भावनासार, परमात्म प्रकाश, भविसयत्त कहा, पउमसिरीचरिउ, हरिवशपुराण, जसहरिचरिउ, णयकुमार चरिउ, करकण्डुचरिउ, पाहुड दोहा आदि—का पता लगा और वे सम्पादित तथा प्रकाशित भी हुई। ये ग्रन्थ अधिकतर जैन ग्रन्थ-भाडारो मे ही प्राप्त हुए है और इनमे से अधिकांश जैन कवियो द्वारा लिखे गए हैं। स्वभावत इनमे जैन धर्म की महिमा गाई गई है, फिर भी इनका साहित्यिक महत्त्व कम नही है। इसी महत्त्व को स्वीकार करते हुए महापडित राहुल साकृत्यायन ने स्वयम्भू तथा पुष्पदत्त की हस्तलिखित पोथियो से सग्रह कर कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओ को अपने ग्रथ 'हिन्दी काव्य-धारा' मे प्रकाशित कराया और गुलेरी जी की तरह कहा कि यह अपभ्रंश पुरानी हिन्दी ही है और स्वयम्भू इस हिन्दी का सर्वोत्तम कवि। राहुल जी की इस दृढकण्ठ घोषणा का ही परिणाम था कि हिन्दी साहित्यकारो और आलोचको का ध्यान अपभ्रंश साहित्य की ओर गया।

में पग पग पर मिलती है उसे हम सहजयानियों वज्रयानियों और नाथपंथियों के काव्य में भी पाते हैं। साथ ही बौद्ध गानों में जिस भक्ति की पद रचना है वह आगे चलकर कबीर आदि सन्तों की रचनाओं में भी मुखरित हुई है।

इसीलिये डा हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है वे ही पद वे ही राग रागनियां वे ही दोहे वे ही चौपाइयां कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने की थी।

कबीर पर डिंगल काव्य का प्रभाव— इतना ही नहीं कबीर आदि पर डिंगल काव्य परम्परा के माध्यम से भी अपभ्रंश का प्रभाव पड़ा। राजस्थानी भाषा में ढोला मारू रा दोहा प्रशस्त ही विकसित एवं समृद्ध काव्य है और इसमें संयोग तथा वियोग के बड़े ही सुन्दर एवं मार्मिक चित्र उपलब्ध होते हैं। कबीर ने अपनी साखियों में जगह-जगह विरह की बड़ी मार्मिक व्यञ्जना की है। विद्वानों का मत है कि ये दोहे डिंगल काव्य के वणन से अत्याधिक प्रभावित हैं, कबीर ने अपनी प्रतिभा से उन्हें साज-संवार दिया है। एक उदाहरण देखिये—

ढोला—राति जु सारस कुरलिया गु जि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी तिणका कवण हवाल॥

कबीर—अम्बर कु जा कुरलियां गरजि भरे सब ताल।
जिनपै गोविन्द बीछुटे तिनके कौन हवाल।

इस बात का समर्थन करते हुये डा नामवर सिंह लिखते हैं 'कबीर के अनेक दोहे जो भाव प्रवण और मार्मिक होते हैं वे ढोला मारू रा दोहा में भी मिलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोक प्रचलित दोहों को कबीर ने भक्ति-परक पानी देकर अपना लिया।

जैन अपभ्रंश साहित्य में स्वयम्भू रचित 'पउम चरिउ' जो राम कथा पर आधारित है एक प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ है। उसके प्रारम्भ में गुरु वन्दना के बाद राम-कथा को नदी की समता प्रदान की गई है और कवि ने अपनी अयोग्यता का विनयपूर्वक निवेदन किया है। तदुपरान्त उसमें सज्जनों की प्रशंसा एवं दुर्जनों की वन्दना की गई है। अपभ्रंश के इस काव्य का प्रभाव तुलसी के 'रामचरितमानस' पर परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में अवश्य पड़ा है क्योंकि तुलसी ने भी प्रारम्भमें गुरु-वन्दना के बाद दुर्जनों और सज्जनों के सम्बन्ध में लिखकर रामकथा की तुलना सरोवर से की है। कथातर रूप में पूर्वकथा की योजना तथा श्रोता वक्ता के कई जोड़े उपस्थित करना भी अप भ्रंश काव्यों की तरह है।

केशव की रामचन्द्रिका' महाकाव्य तो नहीं फिर भी वह एक सुन्दर काव्य है केशव ने स्वयं उसे विविध छन्दों से युक्त काव्य कहा है 'रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हाहौ बहु छन्द' ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस छन्द-परिवर्तन के लिये केशव अपभ्रंश काव्य 'णिसदत्तचरिउ' के ऋणी हैं क्योंकि उसमें भी छन्द परिवर्तन जल्दी-जल्दी होता है।

संदेशरासक

जइ वहुलदुद्ध समीलिया य उल्ललइ तदुला खीरी,
ता कणकुक्कस सहिश्रा रव्वडिया मा दडव्वडउ ।

पृथ्वीराज रासो

पय सक्करी सुभत्तौ, एकत्तौ कनक राव भोयसी,
कर कसी गुञ्जरीय रव्वरिय नैन जीवति ।

अपभ्रंश काव्यो की प्रेम सम्वन्धी लगभग सभी काव्य-रूढियो का योजनापूर्वक समावेश 'रासो' मे मिलता है । 'सदेश रासक' मे कवि ने जिस वाह्य प्रकृति के व्यापारो का वर्णन किया है, वह रासो के समान ही कवि प्रथा के अनुसार है । रासोकार ने भी शशिव्रता-विवाह के प्रसग मे विरहजन्य दुख को तीव्र वनाने के लिये ऋतु-वर्णन का सहारा लिया है । यहाँ भी विरह की अनुभूति उसी प्रकार की चित्रित की गई है, जैसी सदेशरासक मे या 'ढोला मारू रा दोहा मे ।

अपभ्रंश के प्रवन्ध काव्यो का प्रभाव—प्रेमाख्यानक काव्यो पर । अपभ्रंश भाषा मे लिखे जैन साहित्य मे 'रास' नामक अनेक रचनाएँ मिलती हैं जैसे श्वेताम्वर साधु कृत 'गौतम रास', धर्मसूरि लिखित 'जगूस्वामी रास' । इसी प्रकार 'सदेश रासक' नामक अपभ्रंश काव्य भी उत्कृष्ट कोटि का प्रवन्ध काव्य है जिसमे एक युवती अपना प्रणय-सदेश पथिक के द्वारा नायक के पास भिजवाती है । अपभ्रंश के ये प्रवन्ध काव्य हिन्दी काव्यो के लिये रीढ़ के समान रहे हैं । हिन्दी के प्रेमाख्यानक कवियो ने अपने प्रेमाख्यानो को अपभ्रंश के इन्हीं चरित-काव्योके आधार पर लिखा है । इसीलिये इन अपभ्रंश काव्यो और हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो मे पर्याप्त साम्य मिलता है । उदाहरण के लिये अपभ्रंश के 'भविस्सत कहा' 'जसहरि चरिउ''करकड चरिउ' तथा हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यो—पद्मावत, मधुमालती मृगावती आदि मे अनेक समान वातें देखी जा सकती हैं—प्रेम कथा मे गुण-श्रवण या चित्र दर्शन से प्रेम का आरम्भ, विवाह से पूर्व नायक के प्रयत्न, सिंघल-यात्रा, शुक का सदेश ले जाना, आध्यात्मिक सकेत आदि । जिस प्रकार जायसी के 'पद्मावत' मे रत्नसेन पद्मावती का रूप वर्णन सुन वेसुध हो जाता है और सिंहलद्वीप की यात्रा पर चल पडता है और अन्त में पद्मावती से विवाह करने मे समर्थ हो जाता है, उसी प्रकार जैन अपभ्रंश काव्य 'रयण सेहरी कहा' मे रत्नशेखर नामक नायक रत्नावली का रूप वर्णन सुन सिंहलद्वीप की ओर जाता है और अन्त मे रत्नावली को प्राप्त करता है । दोनो मे आध्यात्मिकता के तत्व पाये जाते हैं, जिन्हें जन-जीवन की प्रेम लीला के साथ प्रस्तुत किया गया है । साराश यह है कि हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो पर निजधरी कथाओं के प्रयोग रूढियो तथा विषय वस्तु की दृष्टि से अपभ्रंश काव्यो का पर्याप्त प्रभाव पडा है ।

सिद्धो और नाथपथियो के अपभ्रंश भाषा मे लिखित काव्य का हिन्दी के सन्त कवियो पर स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है । हिन्दी के सन्त कवियो ने लगभग उन्ही रूढियो, मान्यताओ एव छन्दो को अपने काव्यों मे प्रयुक्त किया है, जो सिद्धो और नाथो के काव्य मे पाई जाती हैं। उदाहरण के लिये जिस प्रकार की [illegible] सन्त काव्य

कर कवि एक घत्ता का प्रयोग करता है। कई पज्झटिका अरिल्ल या ऐसे ही किसी छोटे छन्द को लेकर अन्त में घत्ता का प्रयोग—यह कड़वक है। तुलसी के 'मानस' में इसी कड़वक पद्धति को आठ या कुछ कम-ज्यादा चौपाइयों के बाद दोहा का घत्ता देकर स्वीकार किया गया है। तुलसी रामायण के इन कड़वकों को दोहा—घत्तक कड़वक कह सकते हैं क्योंकि उसमें घत्ता के स्थान पर दोहा छन्द का प्रयोग किया गया है। परवर्ती काल में अवधी के प्रबन्ध-काव्यों में दोहा के स्थान पर अन्य छन्दों के रखने की प्रवृत्ति भी मिलती है जैसे नूर मुहम्मद ने अपने 'अनुराग बाँसुरी' में दोहा के स्थान पर बरवै का प्रयोग किया है।

सूर-साहित्य में अपभ्रंश के गेय छन्दों का प्रयोग हुआ है, तो बीसलदास विरचित कृष्णलिया भी अपभ्रंश छन्द की ऋणी है। रासो ग्रन्थों और केशव की रामचन्द्रिका में अपभ्रंश के वर्णवृत्तों का सफल प्रयोग हुआ है। हिन्दी का दोहा छन्द अपभ्रंश के दूहा छन्द का ही परिवर्तित रूप है। सोरठा नामक छन्द भी अपभ्रंश से ही लिया गया है। अपभ्रंश का अरिल्ल छन्द हिन्दी में चौपाई के रूप में उपस्थित हुआ तो 'उल्लाला' हिन्दी में रोला बन कर आया। इस प्रकार हिन्दी के अनेक छन्द अपभ्रंश से लिये गये हैं।

अलंकारों के क्षेत्र में भी हिन्दी अपभ्रंश की ऋणी है। हिन्दी में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का विधान करना रूपक के सहारे अथवा सांकेतिक भाषा में नवीन भावों को प्रस्तुत करना अपभ्रंश की दार्शनिक बुद्धिवादी परम्परा से ही लिया गया। ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग भी हिन्दी में अपभ्रंश से आया। हिन्दी वालों ने अपभ्रंश की अनेक लोकोक्तियाँ मुहावरे, कथानक—रूढ़ियाँ आदि ग्रहण कीं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य भाव पक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से अपभ्रंश काव्य से प्रभावित है। जिस प्रकार संस्कृत से उत्तराधिकार के रूप में अपभ्रंश ने बहुत कुछ पाया उसी प्रकार हिन्दी ने भी परम्परा के रूप में अपभ्रंश से बहुत कुछ ग्रहण किया।

सूरदास के गेय पदो मे 'गाथा सप्तशती' की कुछ झलक तो मिलती ही है (जिस प्रकार 'गाथा सप्त-शती' मे स्थान-स्थान पर गोपियो और राधा की चर्चा आई है, उसी प्रकार सूर मे भी) साथ ही हेमचन्द्रके दोहोसे उनका एकाध दोहाभी मिलता है—

हेमचन्द्र— बाह विछोडवि जाहि तुहुँ, हउ तेवइ को दोषु।
हिअअट्ठिअ जइ नीसरहि, जाणउ मुंज सरोसु॥

सूरदास ने अपने दोहो मे मुञ्ज के स्थान पर भगवान को सम्वोधित किया है—

वाह छुडाए जात हो निवल जानि के मोहि।
हिरदय से जव जाहु तो, सवल वदौंगो तोहि॥

मीरा की वाणी अपभ्रंश लोक-गीत परम्परा के वहुत निकट है। मैथिल कोकिल विद्यापति के काव्य मे प्रयुक्त अलकार ही नही, नायक-नायिका भेद तथा अन्य शैलीगत विशेषतायें भी अपभ्रंश काव्य के प्रभाव की द्योतक है।

उनकी 'कीर्तिलता' मे तो अपभ्रंश के गुणानुवाद प्रधान चरित-काव्यो के अनेक लक्षण मिलते हैं, जैसे उसकी कहानी भृग और भृगा की वातचीत के रूप मे प्रस्तुत की गई है।

साराश यह है कि चन्द्रवरदाई से लेकर मीरा तक वहुत से हिन्दी कवि अपभ्रंश काव्य से प्रभावित हैं। हिन्दी साहित्य के आदि युग मे वीर गीतो की जो परम्परा चल पडी थी, उस पर अपभ्रंश के चरिया गीतो का प्रभाव है। उस समय के प्रवन्ध काव्य, विशेषत उनके शृगारिक अश अपभ्रंश काव्य के ऋणी हैं।

मध्यकालीन हिन्दी कविता भी अपभ्रंश के शृगार-काव्य से अत्यधिक प्रभावित रही। हिन्दी का रीतिकालीन शृगारी काव्य अपभ्रंश शृगार काव्यो से, जिनमे ग्राम वधूटियो की शृगार-चेष्टाए, नायिकाओ के क्रिया-कलाप, उनके हृदयगत भावो की, सुन्दर अभिव्यक्ति है, से प्रभावित है।

विहारी, देव, मतिराम, आदि अनेक रीतिकालीन कवियो की शृगारिक भावनाओ पर तथा तत्कालीन लक्षण-ग्रन्थो पर 'गाथा सप्तशती' का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। 'विहारी सतसई मे' 'गाथा सप्तशती' से अनेक स्थलो पर भाव-साम्य है। उदाहरण के लिए विहारी का सुप्रसिद्ध दोहा—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यह काल
अली कली ही सौं विध्यो आगे कौन हवाल"

'गाथा सप्तशती' के मूल भाव पर ही आधारित है।

हिन्दी काव्य का विषय ही नही, उसकी रचना-शैली और छन्दो पर भी अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। उदाहरण के लिए, जायसी के पद्मावत का वारहमासा अपभ्रंश काव्य शैली की छाया लिए हुए है। स्वयभू की 'जैन रामायण' तथा तुलसी के 'रामचरितमानस' की रचना शैली एक दूसरे से मिलती है। जायसी के पद्मावत और तुलसी के 'मानस' मे अपभ्रंश की कडवक पद्धति का प्रयोग है, अपभ्रंश के काव्य कडवक-वद्ध हैं। पज्झटिका या अरिल्ल छन्द की कई पक्तियाँ लिख-

समय सम्बन्धी उपर्युक्त मतों पर सम्यक मनन करने के उपरान्त जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि हिन्दी की पूर्ण प्रतिष्ठा का समय ग्यारहवें विक्रम संवत् से चौदहवें विक्रम संवत् के मध्य है। जो विद्वान् हिन्दी के आदिकाल को सातवें अथवा आठवें विक्रम संवत् तक खींच कर ले जाते हैं वह उनका भावावेश ही कहा जायेगा क्योंकि इस समय हिन्दी अपने को अपभ्रंश से निकाल न सकी थी।

आदिकाल के लिए विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रस्तावित नाम

समय निर्धारण के उपरान्त विवेच्य काल के नामकरण की समस्या सामने आती है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे वैज्ञानिक काल विभाजन तथा विविध कालो के वैज्ञानिक नामकरण का श्रेय आचार्य शुक्ल को दिया जाता है क्योंकि उन्होंने पहली बार हिन्दी-साहित्य के विविध कालो का नाम तत्तत्काल के साहित्य की प्रवृत्तियो के आधार पर रखा। किन्तु इतना होने पर भी विभिन्न कालो के नामो के विषय म विद्वानो म मत वैभिन्न्य बना हुआ है। आदिकाल के नामकरण के विषय मे भी सभी आचार्य एक मत नही हैं। वस्तुतः नामकरण को लेकर यही काल सर्वाधिक विवाद-ग्रस्त रहा है। यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी न इस काल के विषय में कहा है— शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और व्याघातो का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाए अलंकृत काव्य परम्परा की चरम-सीमा पर पहुँच गई थी और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यन्त सहज-सरल भाषा मे अत्यन्त संक्षिप्त शब्दो मे अपने मार्मिक भाव प्रकट करते थ। एक अन्य स्थान पर उन्होंने प्रस्तुत काल के विषय मे लिखा है—"इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनो से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट ही रह गया है।

किन्तु इन जटिलताओ के रहते हुए भी विभिन्न आचार्यों ने इस काल के लिए अपनी अपनी रुचि एव बुद्धि के अनुरूप विभिन्न नाम सुझाये हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी न इसे बीजवपन-काल की संज्ञा दी है। द्विवेदी जी के इस नाम से ऐसा लगता है जैसे मानो उस समय में हिन्दी साहित्य नितान्त शैशव में वर्तमान था किन्तु इस काल मे सर्जित साहित्य इस बात का साक्षी है कि उसमें शैशव्य नही वरन् पूर्ण प्रौढ़ता है—उसमे परम्परागत समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियो का सुन्दर सन्निवेश है तथा साथ ही कुछ मौलिक उद्भावनाएं भी की गयी हैं। ऐसी स्थिति मे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सुझाया गया नाम समीचीन प्रतीत नही होता।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल मे रची गयी रचनाओ में वीर रस का प्राधान्य देखकर इसका नाम 'वीरगाथा काल' रखा है। यद्यपि विद्वानो द्वारा इस नाम का पर्याप्त विरोध किया गया है तथापि वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यही नाम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। आगे चल कर हम इस विषय पर विस्तार से विचार करेंगे।

: ५२ :

आदिकाल का नामकरण

१. पूर्वापर सीमा-निर्धारण ।
२ आदि काल के लिए विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रस्तावित नाम ।
३ उपयुक्त नामकरण ।
४ इस नामकरण के आधार—(क) तत्कालीन परिस्थितिया, (ख) उपलब्ध साहित्य-सामग्री, (ग) इस साहित्य की प्रमुख विशेषताए ।
५ निष्कर्ष ।

पूर्वापर सीमा-निर्धारण

यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि किस समय परिनिष्ठित अपभ्रंश के महानद से हिन्दी की क्षीण धारा विलग होकर, सस्कृत, पालि, प्राकृतादि के शब्द भाण्डार-रूप स्रोतस्विनियो को अपने मे समाहित करती हुई, स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रतिष्ठा करती है। इतना असन्दिग्ध है कि अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर उसने अपने स्वतन्त्र पथ का निर्माण किया, किन्तु प्रारम्भिक अवस्था मे उसमे उस विशाल नद के जल का ही प्राधान्य है, जिससे उसका उद्गम है। यह धारा उक्त महानद से कब पृथक् हुई और कहाँ पर पहुँच कर वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना करने मे समर्थ हो सकी, यह पर्याप्त समय से अनुसन्धित्सुको की चिन्तना का विषय रहा है। मिश्रबन्धु, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी प्रभति विचारक हिन्दी भाषा का उदय ईसा की सातवी शताब्दी मे स्वीकार करते हैं। इसका मूलाधार पुण्य नामक उस कवि का उल्लेख पाया जाना है जो स० ७७० के लगभग साहित्य-सर्जन में तल्लीन था। महापण्डित राहुल साकृत्यायन तथा डॉ० रामकुमार वर्मा भी उपर्युक्त विद्वानो के मत से सहमत हैं। राहुल जी ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल का पूर्वा पर समय आठवी से तेरहवी शताब्दी के बीच स्वीकार किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा भी हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को स० ७५० से १३०० तक मानकर उसे दो खण्डो मे विभक्त कर देते हैं। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी हिन्दी भाषा का उदय सातवी शताब्दी से ही मान लेते हैं तथापि वे आरम्भिक हिन्दी को अपभ्रंश से बहुत पृथक् नही मानते, इसीलिए वे इस काल की स्पष्ट सीमा-रेखा स० १०५० तथा स० १३७५ के मध्य स्वीकार करते हैं। मोतीलाल मेनारिया ने हिन्दी का आविर्भाव-काल स० १०४५ और उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा का समय स० १४६० दिया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी मेनारिया के मत मे सहमत हैं।

पूर्ण है, साहित्यिक दृष्टि से नहीं। ये रचनाएँ जन प्रवाह में कभी नहीं आ सकीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राहुल जी ने बड़े प्रयास से इन सिद्धों की वाणियों की खोज की है, तथापि नामकरण का निर्णय उच्चस्तरीय रचनाओं के आधार पर ही किया जाता है और इन रचनाओं को उच्चस्तरीय किंवा साहित्यिक नहीं स्वीकार किया जा सकता। राहुल जी का कहना है कि हिन्दी के इस आदिकाल में सिद्धों के अतिरिक्त राजपूत राजाओं के दरबार में रहने वाले चारण कवियों का भी वीररसपूर्ण साहित्य उपलब्ध होता है। इन चारण-कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ओजपूर्ण कविताओं की रचना की है। अतः शूर-सामन्तों के आश्रय में रहने वाले चारण-कवियों के काल को राहुल जी सामन्त-काल कहना उचित समझते हैं। इस प्रकार के नामकरण में दोष यह है कि इसमें 'सामन्त' शब्द से हमारा ध्यान तत्कालीन चारण-कवियों की वीररसात्मक रचनाओं की ओर न जाकर उस काल के राजपूत राजाओं तथा शूरवीरों की ओर आकृष्ट होता है। इसलिए भी यह नाम ठीक प्रतीत नहीं होता। एक अन्य दोष यह कि 'सिद्ध युग' 'जैन युग' 'सामन्त-युग' आदि नामों की उद्भावना असाहित्यिक है। इन समस्त त्रुटियों के अतिरिक्त इस नाम में साम्यवादी विचारधारा की भी झलक मिलती है। स्मरण रहे साहित्य में साम्यवादी विचारधारा का कोई मूल्य नहीं।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल को 'अपभ्रंश काल' नाम से अभिहित किया है इस नाम में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि यह भाषा के प्राधान्य पर आधारित है। उक्त दोनों विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में अपभ्रंश की प्रचुरता देखी और इसी प्रचुरता के आधार पर यह नाम दे दिया किन्तु भाषा के नाम के आधार पर किसी भी साहित्य के इतिहास में काल का नाम नहीं रखा जाता। साहित्य के किसी काल का नामकरण तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों अथवा उस काल के किसी धुरन्धर साहित्यकार के नाम पर किया जाता है 'अपभ्रंश-काल' कहने में ऐसी कोई बात लक्षित नहीं होती। इस नाम में यह भी भ्रान्ति है कि इससे श्रोता या पाठक का ध्यान हिन्दी-साहित्य की ओर न जाकर अपभ्रंश-साहित्य की ओर जाता है। यदि भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो भी अपभ्रंश और हिन्दी दो अलग अलग भाषाएं हैं अतः पुरानी हिन्दी को अपभ्रंश कह देना ठीक नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश से ही विकसित हुआ है किन्तु फिर भी इस साहित्य की भाषा अपभ्रंश से बहुत-कुछ भिन्न है।

डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य के लिए दो नामों की कल्पना की है—(१) *सन्धि-काल* एवं (२) *चारण काल*। डॉ॰ वर्मा जिसे '*सन्धि-काल*' मानते हैं वह अपभ्रंश भाषा के अन्त और हिन्दी भाषा के आरम्भ की स्थिति है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे वीर गाथा-काल कहा है डॉ॰ वर्मा ने उसे 'चारण-काल' की संज्ञा दी है और उनके विचार से इस चारण काल से ठीक पूर्व का काल 'सन्धि-काल' है। सन्धि-काल के अन्तर्गत उन्होंने सिद्धों तथा जैन-कवियों की रचनाओं को रखा है। उनका मन्तव्य है कि सिद्धों ने अपनी रचनाओं में जिस लोकभाषा का प्रयोग किया

मोतीलाल मेनारिया ने इसे 'आरम्भिक काल' और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत काल को 'आदिकाल' नाम दिया है। वस्तुत इन दोनो नामो मे किसी प्रकार का अन्तर नही है—ये दोनो ही नाम एक ही अर्थ के सूचक हैं। जहाँ तक इन नामो की उपयुक्तता का प्रश्न है, इन्हे निश्चित रूप से ही ठीक नही माना जा सकता। 'आरम्भिक काल' या 'आदिकाल' नाम निस्सन्देह एक भ्रान्त धारणा के जनक हैं। जव हम इसे आदिकाल कहते हैं तभी हमारे मस्तिष्क मे आता है कि यह काल स्वतन्त्र रूप से विकसित होने वाले, पूर्ववर्ती परम्पराओ और काव्य-रूढियो से निर्मुक्त एक सर्वथा नवीन साहित्य का काल है, जव कि वस्तु-स्थिति यह है कि हिन्दी का यह प्रारम्भिक काल सर्वथा स्वतन्त्र और नूतन नही है। हिन्दी-साहित्य अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश-साहित्य से प्रभूत मात्रा मे प्रभावित हुआ है अत हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य को एकदम स्वतन्त्र एव नूतन नही माना जा सकता। साथ ही देखना यह भी है कि काल का नाम ऐसा हो जो तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति का सूचक हो, 'आदिकाल' मे इस प्रकार की किसी प्रवृत्ति का द्योतन करने की क्षमता नही है। तीसरा मुख्य दोष जो इस नाम मे है वह यह कि यदि साहित्य के इतिहास मे कालो का नामकरण इसी प्रकार करने लग जायँगे तो फिर किसी भी साहित्य के इतिहास को तीन कालो मे बाँटा जा सकता है—(१) आदि काल या आरम्भिक काल, (२) मध्यकाल और (३) आधुनिक काल। फिर तो साहित्य को समाज का प्रतिविम्व मानकर तत्कालीन प्रवृत्तियो के आधार पर उसका नामकरण ही व्यर्थ है, जवकि विश्व-वाङ्मय के इतिहास मे कालो का नामकरण किया इसी आधार पर जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रारम्भिक काल या 'आदिकाल' निर्दोप नाम नही कहा जा सकता। स्वय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'आदिकाल' नाम की असमर्थता को लक्षित कर कहा है—"वस्तुत हिन्दी का 'आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त मे यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्परा-विनिर्मुक्त काव्यरूढियो से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नही है। यह काल वहुत अधिक परम्परा-प्रेमी, रूढिग्रस्त और सजग और सचेत कवियो का काल है। यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहे तो यह नाम वुरा नही।" प्रस्तुत उद्धरण का अन्तिम वाक्य द्विवेदी जी के असन्तोष की स्वत उद्घोषणा करता है।

महापण्डित राहुल साकृत्यायन की दृष्टि मे इस काल को 'सिद्ध-सामान्त-युग' कहा जाना चाहिए। उनका विचार है कि आठवी से लेकर वारहवी शताब्दी तक के हिन्दी-साहित्य मे दो प्रकार की कविताएँ मिलती हैं—(१) सिद्धो की वाणी और (२) सामन्तो की स्तुतिपरक रचनाए। उन्होने सिद्ध सरहपा को हिन्दी का आदि कवि माना है और इस काल मे सिद्धो की एक लम्बी परम्परा का अस्तित्व स्वीकार किया है। सिद्धो की वाणी के अन्तर्गत बौद्ध तथा नाथ सिद्धो की तथा जैन मुनियो की रूक्ष और उपदेशात्मक रचनाएँ आती हैं। कोई पचास के लगभग जैन साहित्य-कारो के ग्रन्थो का पता चला है, किन्तु इनका साहित्य भाषाशास्त्र की दृष्टि से महत्त्व-

गाथाएँ मिलती हैं। उनमें रणभेरी का निनाद ही सुन पड़ता है। विविध रासोग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं। मुसलमान विजेता ज्यों-ज्यों आगे बढ़े वीरगाथात्मक रचनाएं भी संख्या में बढ़ने लगीं क्योंकि चारण लोग अपने अपने आश्रयदाताओं को प्रोत्साहन देना अथवा उनका यशगान करना अपना कर्तव्य समझते थे। इतना स्वीकार करने पर भी डाक्टर वार्ष्णेय का कहना है कि 'हमें 'वीरगाथाकाल' यह नाम बदलना पड़ेगा। *'वीरगाथाकाल' नाम क्यों बदलना पड़ेगा इसके लिये डाक्टर वार्ष्णेय कोई* सबल तर्क प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। उनके उपर्युक्त कथन आपस में बहुत अधिक विरोधी लगते हैं।

मोतीलाल मेनारिया ने 'वीरगाथा काल' नाम का विरोध करते हुए लिखा है— ये रासो ग्रन्थ जिनको 'वीरगाथा' नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीरगाथा काल की कल्पना की गई है राजस्थान के किसी समय विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को भी सूचित नहीं करते—केवल चारण भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्मजात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के खून में है और ये ग्रन्थ उस भावना की अभिव्यक्ति करते हैं। स्पष्ट है मेनारिया जी एक ही स्थल पर विरोधी बातों को कहते-से जान पड़ते हैं। देखना यह है कि जब चारण भाट आदि अपने रक्तगत भाव की अभिव्यक्ति कर साहित्य का सर्जन कर रहे हैं तो उनके उस भाव पर उस समय के साहित्य का नामकरण क्यों नहीं किया जा सकता।

सारांश यह कि विभिन्न विद्वानों के विरोध करने पर भी हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के लिये 'वीरगाथा काल' नाम ही समीचीन है। इस नाम की समीचीनता पर अब गम्भीरता से विचार किया जायेगा।

इस नामकरण के आधार

(क) तत्कालीन परिस्थितियाँ— जिस समय हिन्दी-साहित्य का जन्म हुआ भारत का इतिहास साक्षी है कि वह समय देश में बड़ी ही उथल-पुथल का था। एक ओर तो भारत पर निरन्तर विदेशी आक्रमण हो रहे थे और दूसरी ओर पारस्परिक कलह देश को खोखला किए जा रही थी। सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु (६४१ ई०) के उपरांत उत्तरी भारत छिन्न भिन्न हो गया कोई एक सत्ता न रही जो इस विशाल भू भाग के शासन को सम्भालती। नवीं शताब्दी में प्रतिहार मिहिर भोज ने पुनः इस विशृंखल शक्ति को संगठित करने का प्रयास किया। दक्षिण भारत को राष्ट्रकूटों ने सम्भाल रखा था। उसी समय अरब के मुसलमानों ने सुदूर पूर्व तक अपने पैर पसारने चाहे। यह ठीक है कि अरब के इन आक्रमणकारियों ने मध्य एशिया को धूल में मिला दिया किन्तु भारत की ओर वे अफगानिस्तान से आगे न बढ़ सके। सन् ७१२ ई० में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में मुसलमानों ने सिन्ध पर आक्रमण किया। *सिन्ध का राजा दाहिर और उसके पुत्र जिस-जिस भूमि के लिए लड़े किन्तु* अन्त में पराजित हो गये। राजा दाहिर की पराजय का मूल कारण यह थे क्योंकि जाट ब्राह्मण राजा दाहिर के व्यवहार से पहले से ही असन्तुष्ट थे। अतः युद्ध के समय उन्होंने केवल उदासीनता ही न दिखायी प्रत्युत मुसलमानों का साथ दिया

है उसका विकास अर्धमागधी अपभ्रंश से और जैन-कवियो की भाषा नागर अपभ्रंश से हुआ है और इन दोनो भाषाओ का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित हिन्दी के प्रारम्भिक रूप से है। इस प्रकार वर्मा जी सिद्ध-साहित्य एव जैन-कवियो की रचनाओ को हिन्दी-साहित्य के पारम्भिक काल के अन्तर्गत ही रखे जाने के पक्ष मे हैं। वस्तुत वर्मा जी ने जिन रचनाओ को 'सन्धि काल' मे रखा है, वे रचनाएँ हिन्दी की अपेक्षा अपभ्रंश के ही निकट है अत उन्हे हिन्दी की परिधि मे नही लिया जाना चाहिए। साथ ही इन रचनाओ का साहित्यिक महत्त्व न होकर केवल धार्मिक महत्त्व है। इसलिए भी इन रचनाओ को हिन्दी-साहित्य मे स्थान नही दिया जाना चाहिये। अब वर्मा जी के दूसरे नाम ('चारणकाल') पर भी विचार कर लिया जाय। यह निस्सन्देह सत्य है कि यह युग अशान्ति का युग था, बाहर से भारत पर मुसलमानी आक्रमण हो रहे थे, पारस्परिक आन्तरिक युद्ध से देशी राजाओ की शक्ति का ह्रास हो रहा था। ऐसी स्थिति मे राजपूत राजाओ के आश्रय मे रहने वाले भाट (चारण) दर्पपूर्ण कविताओं का सर्जन कर अपने आश्रयदाताओ को सुनाते रहते थे, किन्तु इतना सब होते हुए भी किसी जाति-विशेष के नाम पर साहित्य मे उस काल का नामकरण उपयुक्त नही है विश्व के इतिहास मे ऐसा कही नही पाया जाता कि किसी साहित्य के काल को किसी जाति के नाम पर पुकारा गया हो। दूसरा दोष यह कि यह नाम भी साहित्यिकता-विहीन है। तीसरे यह नाम आचार्य शुक्ल द्वारा दिये गये नाम की ओर ही इगित करता है।

उपयुक्त नामकरण

आदिकाल के लिये जो सर्वाधिक उपयुक्त नाम हो सकता है वह आचार्य शुक्ल द्वारा प्रदत्त 'वीरगाथा काल' नाम ही हो सकता है, क्योकि इस काल की परिस्थितिया साहित्य एव इस साहित्य की विशेषताएँ, ये सभी इस नाम की पुष्टि करती हैं। किन्तु इतने पर भी विद्वानों ने 'वीरगाथा काल' नाम का खुलकर विरोध किया है तथा इस नामकरण के खण्डन के लिये उन्होंने अनेको तर्क प्रस्तुत किये हैं, जिनका यथावसर उल्लेख किया जायेगा। शुक्ल जी हिन्दी के आदि काल को 'वीरगाथा काल' नाम देने मे स्वय कुछ हिचकिचाते से प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि विभिन्न आलोचको ने उनके मत का दृढतापूर्वक खण्डन किया है, अन्यथा यदि शुक्ल जी ने दृढ शब्दो मे यह नामकरण किया होता तो कदाचित् किसी को भी उनके मत का खण्डन करने का साहस न होता। विश्व की यह परिपाटी चली आ रही है कि एक विद्वान् दूसरे विद्वान् के भग्नावशेष पर अपने यश प्रासाद का निर्माण करना चाहता है और फिर आचार्य जैसे विराट् प्रतिभा-समन्वित आलोचक के विचार को निराधार सिद्ध करने मे तो विद्वानो को कितने आत्मगौरव का अनुभव हो सकता है, यह विचार कर ही विद्वानो ने शुक्ल जी का सबल विरोध कर अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा करनी चाही है, किन्तु इन विरोधी विद्वानो के तर्क बडे ही लचर हो गये हैं।

डाक्टर लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का कथन है—"इतिहास हमे बताता है कि हिंदी साहित्य का आदियुग अशान्तिपूर्ण था और साहित्यिक खोज भी हमे वीरगाथात्मक ग्रन्थ प्रदान करती है।" आगे वे कहते हैं—"आदिकाल मे अनेक महत्त्वपूर्ण वीर-

प्राय शक्ति अथवा बल के प्रदर्शन के लिए किया जाता था। ऐसी विकट परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि उन युयुत्सु राजाओं के आश्रय में रहने वाले भाट उनकी प्रशस्तियाँ लिखते। फलत इस काल में रासो ग्रन्थो की रचना हुई जिनमे वीर रस का स्रोत प्रबाधगति से प्रवाहित हो रहा है। साथ ही इन ग्रन्थों में उच्चकोटि की साहित्यिकता भी विद्यमान है। अत इस युग को 'वीरगाथा काल' नाम ही दिया जाना चाहिए।

(ख) उपलब्ध साहित्य-सामग्री—यों तो हाल की खोजों से हिन्दी के आदिकाल मे रचे गये अनेक ग्रन्थ मिले हैं किन्तु इन ग्रन्थों मे से या तो अधिकाश अपभ्रं श म है और या फिर यदि वे हिन्दी मे है तो उन्हे साहित्यिक गौरव प्रदान नही किया जा सकता क्योकि य प्राय सभी सिद्धो की अटपटी 'बानियाँ' हैं जिनमे साहित्यिकता का अश भी नही है। जो ग्रन्थ साहित्यिक मूल्य के है वे आचार्य शुक्ल द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थ ही है और उन्ही के आधार पर आदिकाल के नामकरण की समस्या का हल करना है। कुछ विद्वान् इन ग्रन्थो म अधिकाश को या तो नोटिसमात्र मानते हैं अथवा फिर उन्हें अप्रामाणिक या अर्ध प्रामाणिक। अब देखना यह है कि इन ग्रन्थों की स्थिति क्या है—क्या ये ग्रन्थ नोटिसमात्र अथवा अप्रामाणिक ही हैं अथवा इनमे कुछ प्रामाणिकता भी है? यदि प्रामाणिकता है तो निस्सन्देह इन ग्रन्थो के आधार पर ही आदिकाल का नाम होना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने प्रस्तुत काल में रचित जिन बारह ग्रन्थों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार है —

(१) विजयपालरासो (नल्लसिंह-विरचित स १३५५)
(२) हम्मीररासो (शार्ङ्गधर-विरचित सं १३५७)
(३) कीर्तिलता (विद्यापति विरचित सं १४६)
(४) कीर्तिपताका (विद्यापति-विरचित स १४६)
(५) खुमानरासो (दलपति विजय विरचित सं ११८०-१२ ५)
(६) बीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह विरचित सं १२१२)
(७) पृथ्वीराज रासो (चन्दबरदाई-विरचित स १२२५ १२४६)
(८) जयचन्द्र-प्रकाश (भट्ट केदार-विरचित सं १२२५)
(९) जयमयंक-जस-चन्द्रिका (मधुकर कवि-विरचित सं १२४)
(१) परमालरासो (जगनिक-विरचित आल्हा का मूल रूप स १२३)
(११) खुसरो की पहेलियाँ आदि (अमीर खुसरो-विरचित सं १२३)
(१२) विद्यापति (विद्यापति विरचित स १४६)

उल्लिखित पुस्तको मे से अधिकाश मे वीर रस का प्राधान्य है किन्तु विद्वानो ने इनमे से अधिकाश को या तो अप्रामाणिक बताया है अथवा उनका अस्तित्व ही स्वीकार नही किया है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने नल्लसिंह-विरचित विजयपालरासो को स १६ के आसपास की रचना माना है। उनका कथन है कि इसमे नही कि 'ग्यारहवीं शताब्दी म करौली पर विजयपाल नाम के राजा हुए हैं जिनका करौली और उसके आसपास के प्रमवर भरतपुर, धौलपुर आदि राज्यों के

और स्वार्थ-सिद्धि के लिए देश-हित को न्योछावर कर दिया। सिन्ध मे रहने वाले बौद्धो ने भी इस राजा का साथ न दिया। स्पष्ट है कि उस समय राजा आक्रमण के अवसर पर भले ही कटता मरता रहे, किन्तु जनता इस सबसे इतनी उदासीन थी कि उसके कान पर जूँ तक न रेंगती थी। ७३६ ई० मे तत्कालीन अरब सेनापति ने फिर आक्रमण किया और सिन्ध से कच्छ दक्खिनी मारवाड, उज्जैन और उत्तरी गुजरात को ध्वस्त कर लाट (दक्षिण गुजरात) मे प्रवेश किया। यहा पर चालुक्य-सेनापति ने उसका डटकर सामना किया और उसकी सेना का पूर्णतया सहार किया। नवी शताब्दी मे मुसलमान पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण न कर सके, क्योकि उस समय काश्मीर सम्राट् ललितादित्य जैसे बलशाली राजाओ का वहाँ पर राज्य था।

दसवी शताब्दी मे महमूद गजनवी का गजनी सुल्तान हुआ। उसने भारत पर आक्रमण कर पहले तो पजाब और कागडा को लिया और फिर अन्तर्वेद पर चढाई करके मथुरा और कन्नौज लूटे तथा कन्नौज को करद राज्य बनाया। इसी समय उसने ग्वालियर और कालिजर को भी लूटा। फिर सोमनाथ मन्दिर पर आक्रमण कर वहाँ की विपुल धनराशि को हस्तगत किया। जिन दिनो महमूद उत्तरी भारत पर आक्रमण कर लूट-पाट मे लगा हुआ था उन्ही दिनो दक्षिण का चोल राजा राजेन्द्र अपने राज्य विस्तार मे लगा हुआ था। यदि राजेन्द्र ने महमूद का सामना किया होता तो निस्सन्देह महमूद भारत मे प्रवेश न कर पाता।

ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी मे दिल्ली मे तोमर, अजमेर मे चौहान और कन्नौज में गाहडवालो के शक्तिशाली राज्य थे। ११५० मे अजमेर का बीसलदेव चौहान बडा ही प्रतापी राजा हुआ और उसने पजाब मे तुर्कों को मुँह की खिलायी।

गजनी में जब मुहम्मद गौरी ने तुर्कों का अन्त कर दिया तो उसे भारत-विजय की लालसा हुई। उसने भारत पर कई आक्रमण किये, किन्तु दिल्लीश्वर पृथ्वीराज इतना शक्तिशाली था कि उसने गौरी को हर बार हराया। एक बार जब गौरी ने गुजरात पर आक्रमण किया तो पृथ्वीराज की सेना आबू तक जाकर लौट आई और गौरी की सेना से युद्ध न किया। उसी समय पृथ्वीराज ने जुझौती के राजा परमर्दिदेव से युद्ध छेड दिया, जिससे दो देशी राजाओ की शक्ति का अपव्यय हुआ। कन्नौज के राजा जयचन्द के षड्यन्त्र के परिणामस्वरूप पृथ्वीराज गौरी से पराजित हुआ और मारा गया। इसके पश्चात् कन्नौज और कालिजर का पतन हुआ। दिल्ली में तुर्क सल्तनत स्थापित हुई और धीरे-धीरे उसका विस्तार होने लगा।

स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य का जन्म-काल भारत मे पूर्ण अशान्ति का युग था। उस समय देश रणचण्डी की क्रीडास्थली बना हुआ था। सर्वत्र वीणा के तारो की नहीं, तलवार की धारो की झकार सुनाई पडती थी। देश छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त था। राजाओ की पारस्परिक असहिष्णुता चरमसीमा को पहुँच चुकी थी। जत्रय (जर, जमीन, जन) मे से जन (स्त्री) प्राय युद्ध का कारण बनता था। किसी की सुन्दर कन्या का पता लगने पर, कन्या के पिता पर चढाई कर दी जाती थी और इस प्रकार व्यर्थ ही रक्तपात होता था। युद्ध लोकरक्षार्थ न होकर

श्री मेनारिया तथा द्विवेदी जी एक मत होकर दलपत विजय (दौलत विजय) के खुमाणरासो को सं १७१ और १७९ के बीच की रचना स्वीकार करते हैं किन्तु इस प्रकार की स्वीकृति के लिए उनके पास सबल तर्कों का अभाव दिखाई पड़ता है।

नरपति नाल्ह-कृत बीसलदेवरासो का रचना-काल अधिकांश विद्वान् उसी ग्रन्थ मे आये हुए पद 'बारह सैं बहोत्तरां' हां मंझारि' के आधार पर सं० १२१२ मानते हैं किन्तु श्री मेनारिया द्वारा वह उस समय का रचा नही माना जाता जिसके लिए उन्होने निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किये हैं —

(१) बीसलदेवरासो मे बीसलदेव का धार के परमार, राजा भोज की लड़की राजमती से विवाह होना लिखा है जबकि भोज और बीसलदेव के समय में लगभग ११ वर्ष का अन्तर है।

(२) बीसलदेवरासो में कालिदास और माघ को बीसलदेव का समकालीन कहा गया है।

(३) बीसलदेवरासो मे लिखा है कि भोज ने बीसलदेव को नागौसर कुड़ाल मंडोवर, गुजरात सोरठ सांभर, टोंक तोड़ा चित्तौड़ आदि प्रदेश दहेज में दिये थे किन्तु इन प्रदेशों का भोज के अधीन होना इतिहास से प्रकट नही होता।

(४) बीसलदेवरासो मे जैसलमेर और बूंदी के नाम आये हैं परन्तु तब तक ये नगर बसे भी नही थे।

(५) *बीसलदेवरासो मे बीसलदेव के उड़ीसा जीतने की बात कही गयी है* जिनका समर्थन बीसलदेव के शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक सूत्रों से नही होता। *अजमेर मे बीसलदेव नाम के चार राजा हुए हैं, इनमें से किसी ने उड़ीसा नहीं जीता।*

(६) बीसलदेवरासो मे बीसलदेव का अपने भतीजे को अपना उत्तराधिकारी नियत करना लिखा है। बीसलदेव के बाद उसका बेटा अमरगांगेय गद्दी पर बैठा।

प्रथम तर्क के उत्तर मे कहा जा सकता है कि राजा भोज अपने समय के बड़े प्रतापशाली राजा हुए हैं अत अपने आश्रयदाता की प्रशंसा के लिए यदि नरपति ने उनके साथ बीसलदेव का सम्बन्ध स्थापित कर उसे राजा भोज का जामाता बनाकर आश्रयदाता का गौरव बढ़ा दिया तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं और न ही इस आधार पर उक्त ग्रन्थ को बीसलदेव के समय मे रचा जाना न मानना ठीक है।

कालिदास और माघ को बीसलदेव का समकालीन बताकर कवि को अपने आश्रयदाता की विद्वत्ता प्रियता का परिचय देना ही अभीष्ट रहा होगा।

जहाँ तक दहेज की बात है उसमे भी *अतिरञ्जना से कार्य लिया गया है।* वह स्मरणीय है कि काव्य कभी भी विशुद्ध इतिहास नही होता।

जैसलमेर और बूंदी के नाम बाद मे जोड़े गये हो सकते हैं।

उड़ीसा पर बीसलदेव द्वारा विजय प्राप्त करने की बात कहने मे भी कवि को अपने आश्रयदाता की प्रशंसा ही अभीष्ट है।

जहा तक भतीजे को उत्तराधिकारी बनाने का प्रश्न है उसका यही उत्तर हो सकता है कि सम्भव है किसी कारणवश अपने लड़के से रुष्ट होकर बीसलदेव ने

कुछ भागो पर अधिकार था, परन्तु गजनी, ईरान, काबुल, दिल्ली, ढूँढाड, अजमेर आदि पर विजयपाल का एक-छत्र राज्य होने की जो बात नल्लसिह ने अपने इस ग्रन्थ मे लिखी हैं, वह इतिहास-विरुद्ध और अतिरञ्जना है। यहाँ पर विचारणीय यह है कि क्या पुस्तक मे केवल अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलने से उसके विषय मे यह कहा जा सकता है कि यह रचना अमुक काल की नहीं, प्रत्युत अमुक काल की है ? एक तो वैसे ही विजयपाल और नल्लसिह के मध्य लगभग २५० वर्ष का व्यवधान है। इससे बहुत सी अतथ्यात्मक बातो का उसमे समावेश सम्भव है, अत इतिहास की दृष्टि से न सही, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से उसका महत्त्व अवश्य है। केवल अतिरञ्जना के आधार पर यह नही कहा जा सकता कि इसकी रचना स० १६०० के लगभग हुई। ऐसे तो भूषण ने भी, जो स्वय शिवाजी के समकालीन थे, शिवाजी-स्तवन मे अतिरञ्जना से कार्य लिया है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि भूषण सत्रहवी शताब्दी के कवि न होकर उन्नीसवी अथवा बीसवीं शताब्दी के कवि थे। प्राय यह देखा गया है कि जिस समय ये भाट किसी वीर का प्रशस्तिगान करने लग जाते थे, उस समय उस वीर की प्रशसा मे ये पृथ्वी-आकाश को एक कर देते थे, अत अतिरञ्जना के आधार पर इस पुस्तक की रचना स० १६०० मे स्वीकार करना ठीक नही। कुछ लोगों ने इस पुस्तक को अपभ्र श भाषा मे रचित बताकर उसे हिन्दी-साहित्य के दायरे से ही अलग कर दिया है। यह बात इस लेख के आरम्भ में ही कही जा चुकी है कि आदिकाल में रचित हिन्दी-ग्रन्थो मे अपभ्र श का बाहुल्य है, फिर उसे एकदम अपभ्र श पुस्तक समझकर हिन्दी-साहित्य की परिधि मे न लेना भूल ही है।

शार्गंधर द्वारा लोकभाषा मे रचे गये हम्मीररासो के विषय मे श्री मेनारिया का कहना है कि इस ग्रन्थ का पता इस समय नही लगता, परन्तु इसके कुछ अश इधर-उधर बिखरे मिलते है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस पुस्तक को नोटिसमात्र ही बताते हैं, जबकि 'प्राकृत पैंगलम्' से इसका अस्तित्व सिद्ध होता है। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व भास के नाटक भी नोटिसमात्र ही माने जाते थे, किन्तु आज वे उपलब्ध हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जिन ग्रन्थो का किसी ग्रन्थ मे उल्लेख मिलता है, उनकी सत्ता अवश्य होती है। कुछ भी सही, इतना तो निश्चित है कि इस पुस्तक की सत्ता थी और 'प्राकृत पैंगलम्' मे आये हुए उसके छन्दो से उसके प्रतिपाद्य का भी सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। ये छन्द प्रस्तुत ग्रन्थ को वीरगाथात्मक ही सिद्ध करते हैं।

इसमे तो किसी भी विद्वान् को सन्देह नही कि कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका वीरगाथात्मक ग्रन्थ हैं किन्तु उन्हें अपभ्र श भाषा मे रचित बताकर उनका बहिष्कार कर दिया गया। यह ठीक है कि इन ग्रन्थो मे अपभ्र श का पर्याप्त प्रयोग है, किन्तु अपभ्र श के इस प्रयोग के कारण इन ग्रन्थो को हिन्दी-साहित्य से बहिष्कृत नही किया जा सकता। स्मरण रहे इन आदिकालीन ग्रन्थो मे अपभ्र श का समधिक प्रयोग अवश्यम्भावी है। यह बात दूसरी है कि किसी पुस्तक मे अपभ्र श का पुट कम मिलेगा, किसी मे अधिक। तात्पर्य यह कि इन ग्रन्थो को कोरी अपभ्र श की रचनाएँ बताकर उन्हें हिन्दी-साहित्य से अलग कर देना ठीक नही।

राठौड़ों री ख्यात मे उल्लेख होने से इतना तो असंदिग्ध है कि इन ग्रन्थों की सत्ता थी या है। हाँ! इस क्षेत्र में अधिक शोध की आवश्यकता है।

परमालरासो के विषय में द्विवेदी जी कहते हैं—अलखिर के काव्य का पता कहीं पता नहीं है, पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषा भाषी प्रांतों के गाँव गाँव में प्रचलित सुनाई पड़ते हैं। उनका कथन है—'सो यह भी नोटिसमात्र से कुछ अधिक काम का नहीं। जब यह मान लिया जाता है कि प्रस्तुत पुस्तक के आधार पर ही गीत प्रचलित है तो वह पुस्तक अवश्य ही वीरगाथात्मक रही होगी।

सारांश यह है कि उपलब्ध सामग्री के आधार पर भी हिन्दी-साहित्य के आदि काल का नामकरण 'वीरगाथा काल' ही उचित प्रतीत होता है।

(घ) इस साहित्य की प्रमुख विशेषतायें—हिन्दी के आदिकालीन साहित्य की सर्वप्रथम परिस्थितिजन्य विशेषता भाट तथा चारण कवियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा है। दूसरी विशेषता युद्धों के सजीव एवं सुन्दर वर्णनों की है। कर्कश पदावली मे युद्ध के वीर रस-पूर्ण भावस ओत प्रोत हिन्दी के आदि-युग की यह कविता हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है। इसकी वीरवचनावली में शस्त्रों की झनकार स्पष्ट सुन पड़ती है। हिन्दी के परवर्ती साहित्य में भूषण के अतिरिक्त फिर ऐसी कविता के दर्शन नहीं हुये। तीसरी विशेषता वीर एवं शृंगार रसों का सम्मिश्रण है। इस युग में सुन्दर कन्या को पाने के लिये रक्त की नदियाँ बह जाती थी। इस युग के साहित्य की चौथी विशेषता ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पना का प्राधान्य है। दरबारी कवि ओजपूर्ण कविता सुनाने के लिए असम्भव कल्पनाएँ तक कर लिया करते थे।

इस काल की प्रमुख भाषा डिंगल है जो सर्वाधिक वीर रस के ही उपयुक्त है। इसे काल की भाषा में अपभ्रंश की भी प्रचुरता है। इसमे भी वीर रस के वर्णन में पर्याप्त योग दिया है। कहीं-कहीं मैथिली और खड़ी बोली के भी दर्शन हो जाते हैं।

छन्दों मे अधिकांश ऐसे छन्दों को अपनाया गया है जो युद्ध के सजीव वर्णनो को प्रस्तुत कर सकें। दोहा पद्धटिका अरिल्ल पद्धरी तोमर, नाराच और विशेष कर छप्पय का डटकर प्रयोग किया गया है।

रासो मे सर्वत्र वीर रस का ही प्राधान्य है।

५ निष्कर्ष

यदि यह मान लिया जाय कि साहित्य लेखक की कल्पना से परिमार्जित दिख लायी पड़ने वाले समाज का प्रतिबिम्ब है और यह भी मान लिया जाय (जैसा कि सभी विद्वान् मानते हैं) कि हिन्दी आदि काल युद्धो का समय था तो इस युग के नाम को 'वीरगाथा काल' मान लेने मे किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होनी चाहिए, क्योंकि भाटों ने प्रशस्तिगान के रूप मे उपलब्ध रासो ग्रन्थो की रचना की है।

अपने भतीजे को उत्तराधिकारी बनानेकी बात कहदी हो और कवि ने उसे अपने ग्रन्थ मे यथावत् ले लिया हो।

श्री मेनारिया इस ग्रन्थ की भाषा सोलहवी शताब्दी की मानते है, परन्तु वस्तु स्थिति यह है कि लोगो को कण्ठस्थ रहने के कारण इसकी भाषा मे परिवर्तन आ गया।

सोलहवी शताब्दी मे नरपति नाम का एक कवि गुजरात मे हुआ है, जिसने 'नन्दबत्तीसी' और पचदण्ड की रचना की है। श्री मेनारिया ने 'अनुमान' से वीसल-देवरासो के रचयिता और इस कवि को एक मान लिया है। दोनो को एक सिद्ध करने के लिये मैथ्यू आर्नल्ड वाली तुला-शैली को अपनाया है, अर्थात् एक छन्द पचदड से लेकर तुला के एक पलडे मे रखा है और उसी प्रकार का एक पद बीसलदेवरासो से लेकर दूसरे पलडे मे रखा है, और इस प्रकार दोनो पदो का भार बराबर करके कह दिया कि पंचदड के रचयिता और वीसलदेवरासो के रचयिता मे कोई अन्तर नही, वे दोनो एक हैं। यह तुला-पद्धति सर्वथा भ्रामक है।

वीसलदेवरासो की प्राचीनता के विषय मे डा० रामकुमार वर्मा का मत है— "वीसलदेवरासो का व्याकरण अपभ्र श के नियमो का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओं और सज्ञाओ के रूप अपभ्र श भाषा के ही हैं, अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो का अपभ्र श भाषा से सद्य विकसित हिन्दी का ग्रन्थ कहने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही होनी चाहिये।"

कुछ लोग वीसलदेवरासो को शृगारपरक मानते हैं, किन्तु डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने स्पष्ट कहा है—'वीसलदेवरासो मे वीर और शृगार रसो का मिश्रण है।'

श्री मेनारिया पृथ्वीराजरासो की रचना को पृथ्वीराज के समय से स्वीकार नही करते। इसके लिए वे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य (स० १२४६), 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' (स० १३६१) 'हमीर-महाकाव्य' (स० १४६०) 'सुर्जन-चरित्र' (स० १६३५) इत्यादि सस्कृत-ग्रन्थो मे, जिनमे पृथ्वीराज अथवा चौहाणवशी अन्य राजाओ का वर्णन आया है, रासो का नाम ही नही मिलता। स्मरण रहे कि भाषा मे लिखे गये काव्य उस समय हेय दृष्टि से देखे जाते थे। इसी प्रकार की प्रवृत्ति तुलसी के समय तक देखी जाती रही है, अत यदि उपर्युक्त सस्कृत ग्रन्थो मे इसका वर्णन नही आया तो कोई आश्चर्य की बात नही। दूसरे उनका कहना है कि इसकी भाषा अठारहवी शताब्दी की है। यह तर्क कोई अकाट्य तर्क प्रतीत नही होता, क्योकि इस ग्रन्थ के गेयात्मक होने के कारण उसकी भाषा मे परिवर्तन स्वाभाविक है।

पृथ्वीराजरासो की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिये श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया आदि विद्वानो द्वारा स्वीकृत अनन्द सवत् को मेनारिया जी ने निराधार, 'भावुकतापूर्ण' और 'भ्रामक' बताया है, किन्तु जाने अथवा अनजाने स्वय भी उसी सरणि का अनुसरण किया है, क्योकि वे स्वय भी तो 'उदधि' और 'करद' को ७ तथा १ की सख्या का सूचक मान बैठे हैं।

जयचदप्रकाश और जयमयंकजसचन्द्रिका, जिनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत राठौडा री ख्यात मे मिलता है, को भी द्विवेदी जी नोटिसमात्र मानते हैं।

जाता है। गोपाल पूर्व तापनी' उपनिषद् में भक्ति का विवेचन करते हुये कहा गया है —'मन को भगवान् मे पूर्णरूप से केन्द्रित करके किसी फल की इच्छा किये बिना उन का निरन्तर भजन करना ही भक्ति है। वल्लभाचार्य ने भगवान् में माहात्म्यपूर्वक सुदृढ और सतत स्नेह को ही भक्ति बताते हुये इसे मुक्ति का सरलतम उपाय कहा — 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा। भक्तिरसामृतसिन्धुकार की मान्यता है— 'ज्ञान और कर्मके प्रभाव से रहित हो किसी प्रकार की फल की इच्छा किये बिना निरन्तर कृष्ण का प्रेमपूर्वक ध्यान करना ही भक्ति है। 'भक्तिरसायन के रचयिता ने भक्ति को स्पष्ट करते हुये लिखा है— मन की उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जो आध्यात्मिक साधना से द्रवी भूत होकर ईश्वर की ओर प्रभावित होती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने श्रद्धा और प्रेम के योग को भक्ति की संज्ञा दी है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मन्तव्य है— 'भक्ति भगवान् के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है।

उपर्युक्त भक्तिविषयक परिभाषाओं में शब्दों का अन्तर भले ही हो किन्तु अर्थ का अन्तर नही है। कहने का तात्पर्य यह कि भक्ति के विषय मे उपर्युक्त सभी विद्वान एकमत हैं। यदि इन सभी परिभाषाओं के सार को एक वाक्य मे प्रस्तुत किया जाय तो कहा जा सकता है कि भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान रखते हुये श्रद्धा एवं प्रेम के साथ उसके प्रति अपने को समर्पित कर देना ही भक्ति है।

भक्ति के उद्गम के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ तथा उनकी समीक्षा

भारत मे भक्ति का उद्भव कब और किस कारण से हुआ इस विषय मे विद्वानो मे ऐकमत्य नही है। वेबर कीथ ग्रियर्सन विल्सन प्रभृति पाश्चात्य विचारकों ने भारतीय भक्ति को ईसाइयों की देन माना है। महाभारत मे जिस 'श्वेत द्वीप' का वर्णन है उसे वेबर महोदय ने गौरांग जातियों का निवास-स्थान (यूरोप) माना है तथा जयन्तियो को मनाने की प्रथा का सम्बन्ध ईसाइयत से स्थापित किया है और इस प्रकार भारतीय भक्ति-भावना को ईसाई धर्म के प्रभाव से विकसित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ग्रियर्सन का कहना है कि ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी मे कुछ ईसाई मद्रास मे आकर बस गये थे और उन्ही के प्रभाव से भक्ति का विकास हुआ। विल्सन महोदय कुछ और बात ही कहते हैं। वे कहते हैं कि भक्ति अर्वाचीन युग की उपज है। विभिन्न आचार्यों ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया है। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् तो अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे कृष्ण को क्राइस्ट का ही रूपान्तर मान बैठे हैं। अच्छा हुआ कि उनकी कल्पना-शक्ति यहीं तक सीमित रही और गोपियो को किसी का रूपान्तर मानने के लिए आगे न बढ़ सकी। वस्तुतः भारतीय भक्ति-साधना को ईसाइयो की देन कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह साधना पूर्णरूपेण भारतीय है। इस पर किसी बाहरी तत्त्व का प्रभाव नही है। श्री बाल गंगाधर तिलक श्री कृष्ण स्वामी आयंगर, डॉ० एच० राय चौधरी आदि विद्वानो ने अपने प्रबल तर्कों के बल पर पाश्चात्य विपश्चितों की भक्ति के उद्गम से

: ५३ :

भक्ति : उद्गम और विकास

१. भक्ति से तात्पर्य
२ भक्ति के उद्गम के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न धारणायें तथा उनकी समीक्षा
३ भक्ति का क्रमिक विकास—(क) वैदिक साहित्य, (ख) गीता, (ग) नारद भक्ति सूत्र (घ) पौराणिक साहित्य, (ङ) पाञ्चरात्र मत, (च) मध्ययुगीन विभिन्न वैष्णव सम्प्रदाय, (छ) मध्ययुगीन वैष्णवेतर विचारधाराओं का भक्ति को योग (ज) मध्ययुगीन भक्त कवि (झ रीतिकाल में भक्ति।
४ निष्कर्ष

भक्ति से तात्पर्य

भक्ति की व्याख्या से पूर्व इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ जान लेना परमावश्यक है। 'भक्ति' शब्द सेवा के अर्थ मे प्रयुक्त सस्कृत धातु भज् से क्तिन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। यो भक्ति का मूल अर्थ 'सेवा करना है, किन्तु धीरे-धीरे यह शब्द एक विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। यहाँ पर इसके इसी विशिष्ट अर्थ पर प्रकाश डालना ही मुख्य प्रयोजन है।

गीता मे भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा—'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त स मे प्रिय।' अर्थात् जिसने अपने मन एव बुद्धि को मुझे समर्पित कर दिया है, वह भक्त मुझे प्रिय है। नारद भक्ति सूत्र मे भक्ति के विषय मे पाराशर्य का मत उद्धृत करते हुये लिखा गया है—'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य। अर्थात् पाराशर्य का मत है कि पूजादि मे अनुराग ही भक्ति है। शाण्डिल्य के विचार से ईश्वर के प्रति परम अनुराग ही भक्ति है—"सा परानुरक्तिरीश्वरे। नारद ने भक्ति की कुछ अन्य विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हुये कहा—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च। तत्रापि महात्म्यज्ञान-विस्मृत्यपवाद तद्विहीन जाराणामिव। अर्थात् भक्ति ईश्वर के प्रति परमप्रेमरूपा तथा अमृतस्वरूपा है। इस (भक्ति) मे (ईश्वर के) माहात्म्य-ज्ञान का विस्मरण नहीं होना चाहिये। माहात्म्य-ज्ञान से रहित भक्ति व्यभिचारियो के प्रेम के समान है। मध्वाचार्य द्वारा दिया गया है भक्ति का लक्षण नारद के भक्ति-लक्षण से ही मिलता-जुलता है उनका मत—"भगवान् मे माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है। इससे अधिक मुक्ति का कोई दूसरा सरल उपाय नही है। यह परम प्रेम जो पूर्व ज्ञान से उत्पन्न होता है और सर्वदा विद्यमान रहता है, भक्ति कहा

हमारे कुछ भारतीय आचार्यों ने भी मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन को पराजित मनोवृत्ति का परिणाम माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था। बाबू गुलाबराय का भी मत है कि मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार हार की मनोवृत्ति में दो बातें सम्भव हैं या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या भोग विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्तिकाल में लोगों में प्रथम प्रकार की मनोवृत्ति पाई गई। इन आचार्यों के मतों पर दृष्टिपात करने से ऐसा लगता है कि इन्होंने वस्तुस्थिति का भली प्रकार परिशीलन नहीं किया है। यदि हिन्दी का मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य पराजित मनोवृत्ति का परिणाम होता तो उसमें जीवन का वह उल्लास देखने को न मिलता जो उसमें इस समय विद्यमान है और फिर यदि मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप ही जनता भक्ति की ओर प्रवृत्त होती तो उसे सर्वाधिक उत्तरी भारत में प्रवृत्त होना चाहिए था दक्षिणी भारत में नहीं जबकि वास्तविकता यह है कि मुसलमानों के आक्रमण के समय उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिण में ही भक्ति-आन्दोलन जोरों पर था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक कहा है— 'यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार से यदि भक्ति की भाव धारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उसे उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था पर हुई दक्षिण में। डॉ० रांगेय राघव भी आचार्य शुक्ल तथा गुलाबराय जी के मतों से असहमत हैं। उनका कथन है— न भक्ति का उद्भव राजनैतिक अत्याचारों की प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ था और न किसी विदेशी प्रभाव के कारण। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के पहले से यह धारा चली आ रही थी। एक स्थल पर उनके शब्द हैं 'भक्ति आन्दोलन के प्रतिपक्षी और पक्षी इस्लाम और हिन्दू उस समय नहीं थे उस समय थे निम्न जातियाँ और ब्राह्मण तथा उच्च जातियाँ। दक्षिण के अलवार और आलवारों से प्रारम्भ हुआ भक्ति का प्रवाह पाशुपतों में सम्बल पाता रहा फिर भागवत सम्प्रदाय बनकर वैष्णवों में पल्लवित हुआ और उसका शेष समानान्तर लिंगायतों में प्रकट हुआ। पूर्व में सहजयान भक्ति के रूप में बदल गया। समस्त भक्ति-सम्प्रदाय उच्च वर्गों के अधिकारों के विरुद्ध था।

भक्ति का क्रमिक विकास

भारतीय भक्ति-साधना किस युग में प्रारम्भ हुई, इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। डॉ० सत्येन्द्र ने भक्ति के बीज को प्रागैतिहासिक युग में देखा है और इसे दक्षिण के वैष्णव भक्तों की देन न मानकर द्राविड़ों की देन माना है। उनका कथन है— भक्ति द्राविड़ी ऊपजी लाये रामानन्द' इस उक्ति के अनुसार भक्ति का आविर्भाव द्राविड़ में हुआ। उक्तिकर्ता सम्भवतः नहीं जानता था कि वह इन शब्दों के द्वारा कितने गहरे सत्य को प्रकट कर रहा है। उसका द्राविड़ से अभि प्राय सम्भवतः दक्षिण देश से ही था किन्तु जैसा संकेत किया जा चुका है, नई प्रागैतिहासिक खोजों से यह सिद्ध सा होता है कि भक्ति का मूल द्राविड़ों में है और

सम्बद्ध भ्रान्त धारणाओ की धज्जियाँ उडा दी हैं और उन्होने वडे ही शोधपूर्ण ढग से भक्ति का मूल उद्गम प्राचीन भारतीय स्रोतो मे सिद्ध किया है। डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतीय भक्ति-साधना पर ईसाई-प्रभाव को अस्वीकारते हुए लिखा है—"इस प्रकार के अवतारवाद का जो रूप है इस पर महायान सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नही कि प्राचीन हिन्दू चिन्तन के साथ उसका सम्वन्ध एकदम हो ही नही पर सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों मे उसका जो स्वरूप पाया जाता है वह प्राचीन चिन्तनो से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने मे ग्रियर्सन, केनेडी आदि पण्डितो ने उसमे ईसाईपन का आभास पाया था। उनकी समझ मे नही आ सका कि ईसाई धर्म के सिवाय इस प्रकार के भाव और कही से मिल सकते हैं। लेकिन आज की शोध की दुनिया वदल गई है। ईसाई धर्म मे जो भक्तिवाद है वही महायानियो की देन सिद्ध होने को चला है। क्योकि ऐसे वौद्धों का अस्तित्व एशिया की पश्चिमी सीमा मे सिद्ध हो चुका है और कुछ पडित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा करने लगे हैं कि स्वय ईसामसीह भारत के उत्तरी प्रदेशो मे आये और बौद्ध धर्म मे दीक्षित हुए थे।"

आधुनिक कतिपय विद्वानो ने जव पाश्चात्य मनीषियो की भक्ति के विषय मे आपाधापी की प्रवृत्ति देखी तो वे भी भक्ति को मुस्लिम सस्कृति की देन वता वैठे। हुमायूँ कवीर, डॉ० आविद हुसेन आदि मुस्लिम विद्वानो ने समग्र भारतीय भक्ति आन्दोलन को मुस्लिम सस्कृति के सम्पर्क की देन बताया है और शकराचार्य, निम्वार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, आलवार सन्त, शैव और लिंगायत आदि शैव सम्प्रदायो की दार्शनिक मान्यताओ पर मुस्लिम प्रभाव माना है। डॉ० ताराचन्द भी भक्ति के उद्गम के विषय मे इसी प्रकार के भाव व्यक्त करते हैं, किन्तु ये विद्वान् इस प्रकार की धारणाओ को व्यक्त करते समय यह भूल जाते हैं कि यह भक्ति-आन्दोलन आपातत भारतीय है। इसमे जो आशावाद है, वह पूर्णत भारतीय है। उपर्युक्त विद्वानो के मत के खण्डनार्थ एक आधुनिक आलोचक के शब्दो को उद्धृत करते हुए कहा जा सकता है —"हिन्दू सदा आशावादी रहा। उसका सुखान्त साहित्य उसके आनन्दवादी दृष्टिकोण का सूचक है। हिन्दू जाति अपनी जीवट शक्ति के लिए विशेप प्रसिद्ध है। उसमे विपम मे विपम परिस्थितियो मे भी जीवित रहने की शक्ति रही है। शकर, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विप्णु स्वामी, निम्वार्क, रामानन्द, चैतन्य और वल्लभाचार्य प्राय ये सभी आचार्य मुस्लिम युग की उपज हैं पर वे सदा देश की राजनीतिक परिस्थितियो मे निर्लिप्त रहे हैं। कवीर, नानक, सूर, तुलसी नन्ददास तथा जायसी आदि की भी यही दशा है। इनका साहित्य उल्लासमय प्राणो के स्फूर्तिमय स्पन्दन से सवलित है, इसमे निराशा की छाया तक नही। यदि राजनीतिक पराजय ही भक्ति के उदय का एकान्तिक कारण होती तो जायसी, कुतुवन, मझन, उसमान आदि सूफी कवि एव कवीर—इन भक्तिकालीन मुसलमानो द्वारा भक्ति पद्धति को अपनाने के लिए यह तर्क उपस्थित नही किया जा सकता।"

के प्रति श्रद्धा भावना है उसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृध
त्वमस्माकं तव स्मसि। (ऋ ८।९२।३२)

अर्थात् हे ईश्वर ! हम तेरे साथ संयुक्त रहने से ही अपने प्रतिस्पर्धियों का सामना कर सकते हैं। तू हमारा है और हम तेरे हैं।

यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थों में भक्ति का विशद निरूपण नहीं किया गया है तथापि 'यस्मै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् ताम् ध्यायेत्। (ऐतरेय १११८) जैसी उक्तियों में भक्ति के ध्यान-रूपी अवयव का दर्शन हो जाते हैं।

उपनिषद्-साहित्य में प्रभु को रस रूप माना गया है और लिखा है—"रसं हि अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै ७।२) अर्थात् रस-रूप प्रभु को प्राप्त करके साधक आनन्दमय बन जाता है। कठोपनिषद् तथा मुण्डक उपनिषद् का ऋषि तो स्पष्ट स्वर में प्रभु कृपा को ही महत्ता देता है जो भक्ति का प्रमुख अङ्ग है। उपनिषत्काल में ज्ञान के दो रूपों की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है— एक तो हृदय पक्ष को बिल्कुल छोड़कर केवल बुद्धि या विशुद्ध ज्ञान को लेकर चला और दूसरा हृदय पक्ष समन्वित ज्ञान को लेकर। यह हृदय-पक्ष समन्वित ज्ञान भक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं क्योंकि भक्ति में भी सर्वप्रथम भगवान तथा उसके माहात्म्य का ज्ञान अपरिहार्य है। इस ज्ञान के उपरान्त ही भक्त अपने आराध्य का स्वरूप निर्धारित कर उसमें तल्लीन होता है।

(ख) गीता—गीता में आकर भक्ति अत्यन्त विशद रूप धारण कर लेती है। गीता में कर्म तथा ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का महत्त्व विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि गीता में मोक्ष के लिए तपस्या तथा वैराग्य के मार्ग को अप्रमाणक नहीं माना तथापि यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मुक्ति शुष्क नैतिक आचरण में नहीं अपितु भावपूर्ण उपासना या भक्ति में है। समर्पण भक्ति का प्रमुख धर्म है और गीता में समर्पण की भावना पर बहुत अधिक बल दिया गया है। वासुदेव कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनय ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम ॥

अर्थात् हे अर्जुन ? मेरी शरण में आने पर पापी व्यक्ति भी चाहे वे स्त्री हों चाहे वैश्य हों और चाहे शूद्र हों परम गति को प्राप्त करते हैं

महाभारत गीता जिसका अभिन्न अंग है में भी भक्ति का स्वर सुनाई पड़ता है किन्तु उतने जोरों से नहीं जितने जोरों से गीता में। महाभारत के शान्तिपर्व तथा भीष्मपर्व में नारायणीयोपाख्यान का वर्णन है जिसमें भागवत सात्वत नारायण व पंचरात्र धर्म का उल्लेख है। इन चारों धर्मों में नारायण या वासुदेव की जिस उपासना पद्धति का निरूपण किया गया है उसे भक्ति भावना का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। महाभारत में बतलाया गया है कि भागवत धर्म के मूल प्रवर्तक नारायण हैं और इस धर्म के प्रचारक नारद जी। दूसरी ओर छान्दोग्य उपनिषद् में

दक्षिण के द्राविडो मे ही नही उनके महान् पूर्वज मोहनजोदडो और हडप्पा के द्रा
मे। अभी तक ससार को जितने भी साक्ष्य प्रमाण प्राप्त है उनसे यह सिद्ध होत
कि मोहन जोदडो और हडप्पा के द्राविड अथवा व्रात्य एकेश्वरवादी थी। उनके
ईश्वर का नाम शिव था। आर्यों ने भक्ति का भाव दक्षिण से प्राप्त
था।" डॉ० रामरतन भटनागर ने मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन को पौराणिक धर्म
पुनरुत्थान माना है। वे कहते हैं—"मध्य युग के भक्ति आन्दोलन को हम पौरा
धर्म के पुनरुत्थान का आन्दोलन भी कह सकते हैं। वस्तुत गुप्तो के युग मे
और लक्ष्मी को लेकर जिन धार्मिक भावनाओ का विकास हुआ था वे ही इस यु
राधा-कृष्ण और सीता-राम के माध्यम से विकसित हुई।" कतिपय विद्वान् ऐसे
हैं जिन्होने वैदिक साहित्य मे अवतारवाद की खोज निकाला है—'वैदिक स्तुतिय
दूसरा वैष्णव तत्व श्रद्धा का है। वहाँ श्रद्धा व यज्ञ को एक माना गया है।
विश्वास, दीनता, कृतज्ञता आराध्य यश वर्णन, अवलम्बन की खोज मे भक्ति के
वैदिक मन्त्रो मे सुरक्षित है।" डॉ० भण्डारकर अवतारवाद की भावना को
साहित्य मे प्रतिष्ठित मानते है। उन्होने लिखा है—

'If these vedic gods are one, one god may become sev
This led to the conception of incarnation"

आदित्यनाथ झा ने भारतीय भक्ति की धारा को अनादिकाल से प्र
माना है। उनका कहना है—'भारतीय भक्ति की स्रोतस्विनी यहाँ के लोक-मान
अनन्त काल से आविल करती हुई, भक्तो के कण्ठो से आर्द्र वाक्य के रूप मे स
पाली, अपभ्रंश और हिन्दी वाङ्मय सभी मे प्रस्फुटित हुई है।"

वस्तुत भारतीय भक्ति-साधना के बीज वैदिक साहित्य मे ही मिल जा
यह बात दूसरी है कि इस साहित्य मे उनका सम्यक् पल्लवन नही हो सका
भारतीय वाङ्मय मे भक्ति एक ऐसी धारा है जो वैदिक काल से लेकर आज
निरवच्छिन्न गति से प्रवाहित होती चली आ रही है।

(क) वैदिक साहित्य

वैदिक साहित्य वेदत्रयी के नाम से प्रख्यात है, जो ज्ञान, कर्म एवम् उप
इन तीन मार्गों का निर्देश करती है। डॉ० मुंशीराम शर्मा के शब्दो मे भक्ति
तीनो मार्गों की पावन त्रिवेणी का सङ्गम है। उपासना का अर्थ है, प्रभु के
बैठना। प्रभु (ईश्वर) ने ही हमें उत्पन्न किया है, अत उसे जानना हमारा
कर्त्तव्य है। ऋग्वेद उद्घोषपूर्वक कहता है—

"न त विदाथ य इमा जजान ?" (ऋग्वेद १०।८२।७)

अर्थात्, "ऐ मनुष्यो! क्या तुम उस प्रभु को नहीं जानते, जिसने यह
ससार उत्पन्न किया है ?"

आज भक्ति के जो अनेक रूप प्रचलित हैं, उनका स्रोत वेद है। वे
स्वामी और पिता-रूप प्रभु के प्रति श्रद्धा भावना विद्यमान है तथा साथ ही
सख्यभावना भी विद्यमान है। प्रभु हमारा है, हम उसके हैं, यह जो स्वामी-रू

पुराण की रचना हुई। इसमें कृष्ण को एक विलासी के रूप म चित्रित किया गया। श्रीमद्भागवत की गोपियों की आसक्ति परम सीमा को पहुंची हुई है। कृष्ण के साथ उनका सम्बन्ध वासना और कामलिप्सा से प्रेरित है। इन गोपियों ने कृष्ण के प्रति मधुर भाव का साहित्य है।

(क) पाञ्चरात्र मत—पाञ्चरात्र मत म वैष्णव भक्ति का चरम विकास दीख पड़ता है। इस मत के भी उपास्य देव वासुदेव अर्थात् कृष्ण ही हैं। इसका मुख्य यहाँ ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप स्वीकार किए गये हैं। इस मत ने पुरुष उद्देश्य भक्ति के साधन-मार्ग का निरूपण करना ही रहा है। संसार से मुक्ति-लाभ के लिए भक्ति को ही एकमात्र साधन माना गया है। भक्ति के प्राप्ति के लिए भगवान् की शरणागति अथवा प्रपत्ति को ही प्रधान साधन स्वीकार किया गया है जो लोग पाञ्चरात्र मत के अनुयायी हैं वे शरणागति को केवल कर्तव्य भावना ही नहीं मानते वरन् व्यावहारिक जीवन में उसका विधिवत् अनुष्ठान भी अनिवार्य समझते हैं। पाञ्चरात्र मत में साकार भक्ति ने एक लोक धर्म का रूप धारण कर लिया। आगे आने वाले आचार्यों ने इसी शरणागति पर विशेष [illegible] दिया है।

(ख) मध्ययुगीन विभिन्न [illegible] आराध्य का स्वरूप और [illegible] में अनेक [illegible] आती हुई देखकर शंकराचार्य [illegible] वैष्णव सम्प्रदाय—[illegible] कर बैठी है। [illegible] की रक्षा का [illegible] ने अद्वैतवाद का प्रवर्तन किया। अद्वैत [illegible] गया है। [illegible] उपासना करते हुए भक्ति के मूल विचार को [illegible] भक्ति के लिए दो की आवश्यकता है; जब आत्मा [illegible] म कोई भेद ही नहीं तो भक्ति की क्या आवश्यकता है? शंकराचार्य [illegible] पाण्डित्य असाधारण प्रतिभा अद्भुत शास्त्रार्थ-सामर्थ्य और विलक्षण [illegible] प्रभाव से यह सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हो चला। दक्षिण भारत के वैष्णव [illegible] भक्ति के संरक्षण का पूरा प्रयत्न किया।

शंकराचार्य के सिद्धान्त का विरोध करने वाले सर्वप्रथम वैष्णव [illegible] मुनि हुए। ये तमिलनाड में नवीं शताब्दी के [illegible] में हुए थे। उन्होंने [illegible] मत के दार्शनिक तत्वों का प्रतिपादन किया [illegible] इस प्रकार भास्कर [illegible] दार्शनिक पृष्ठभूमि की स्थापना की। [illegible] चलकर यामुनाचार्य ने [illegible] सिद्धान्तों विशेषकर शरणागति का विशद विवेचन प्रस्तुत किया। यामुनाचार्य ने भक्ति की जो पृष्ठभूमि तैयार की उसे सुव्यवस्थित रूप [illegible] का श्रेय श्रीरामानुजाचार्य को है। इन्होंने श्री-सम्प्रदाय अथवा [illegible] की स्थापना की तथा श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन [illegible]

रामानुजाचार्य ने शंकर के बहुत से सिद्धान्तों का खण्डन कि[illegible] [illegible]वर्तक अनुसार जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है वे एक हैं जीव [illegible] मे प्रतिबिम्ब है और ब्रह्म के समान ही शुद्ध एवं स्वयं प्रकाश [illegible] भ्रम मात्र माया है। रामानुजाचार्य ने शंकर के इस मायावाद [illegible] किया और ब्रह्म की एकता [illegible] न मानकर ब्रह्म को चिन्मय [illegible] प्रकृति से विशिष्ट घोषित [illegible] जीव और ब्रह्म की [illegible]

भागवत धर्म के प्रवर्तन का श्रेय देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण को दिया गया है । कृष्ण भी नारायण के अवतार माने जाते हैं अत' महाभारत और छान्दोग्य उपनिषद् के उल्लेखो मे किसी प्रकार का विरोध नही है ।

(ग) नारद-भक्ति सूत्र—भारतीय वाङ्मय मे नारद-भक्ति-सूत्र ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमे भक्ति का प्रथम वार सागोपाग विवेचन किया गया है । यद्यपि 'नारद-भक्ति-सूत्र' से भी पहले 'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र' की रचना हो चुकी थी तथापि उसमे भक्ति का विवेचन इतना स्पष्ट, सूक्ष्म एव गम्भीर नही है जितना नारद-भक्ति-सूत्र मे । इन दोनो ही सूत्र-ग्रन्थो मे ज्ञान और कर्म की अपेक्षा भक्ति को प्रमुखता दी गयी है । नारद ने भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे ईश्वर के प्रति परम प्रेम-रूपा तथा प्रकृत-स्वरूप वताया है । उसे पाकर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है । भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु मे आसक्त होता है और न उसे विषय-भोग की प्राप्ति मे उत्साह रहता है । इसे प्राप्त कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्माराम वन जाता है ।" नारद ने भक्ति का लक्षण देते हुए प्रेम और श्रद्धा दोनो को प्रमुखता दी है, क्योकि श्रद्धा के अभाव मे कोरा प्रेम व्यभिचारियो के प्रेस के तुल्य रह जाता है ।

नारद भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग की अपेक्षा श्रेष्ठतर वताया है—"सातु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ।" उन्होने मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन भक्ति को ही वताया । भक्ति के साधनो मे महर्षि ने विषय-वासनाओ का त्याग, अखण्ड भजन, भगवद्गुण-श्रवण, कीर्तन, महापुरुषो की कृपा और ईश्वर की अनुकम्पा का उल्लेख किया । भक्ति के वाधक तत्त्वो मे उन्होने एक मात्र कुसगति की चर्चा की है । वस्तुत कुसगति है भी सभी बुराइयो का मूल ।

(घ) पौराणिक साहित्य—सूत्र ग्रन्थो मे भक्ति का केवल सैद्धान्तिक पक्ष प्रस्तुत किया । उसके व्यावहारिक पक्ष का विकास पौराणिक साहित्य मे आकर हुआ । पु[illegible] मे अवतारवाद की प्र[illegible] ई विष्णु षट् ऐश्वर्यों से युक्त होने के कारण 'भ[illegible]' कहलाये और उनकी आसक्ति करने वालो को भागवत कहा गया, पुराणो मे भागवत-धर्म की प्रतिष्ठा है । हरिवंश पुराण, वायु पुराण, विष्णु पुराण आदि में [illegible]रो की लीलाओ का चित्रण इस प्रकार किया गया कि वह सौन्दर्य और शक्ति—प्रे[illegible]र श्रद्धा की उत्पत्ति मे सहायक हो सके । इन पुराणो मे वर्णित अवतार पूर्णरूपेण अ[illegible]क शक्तियो मे युक्त हैं । गुप्त-सम्राटो के समय में भागवत या पौरा-णिक धर्म का[illegible]न अधिक विकास हुआ । गुप्तो की राज-पताका मे विष्णु के वाहन गरुड का चित्रित है जो भागवत धर्म का प्रतीक है ।

ज[illegible]नवीं-आठवी शताब्दी मे वौद्ध धर्म मे विकृति उत्पन्न हुई और वज्रयान तथा सहज[illegible]र भोग भावना को ही प्रमुखता दी जाने लगी तो इसमे पौराणिक धर्म का प्रभावि[illegible]ा भी स्वाभाविक था । परिणामस्वरूप भागवत धर्म मे श्रद्धा तो गौण हो गयी, म[illegible]म ही प्रेम का साम्राज्य छा गया । नवीं शताब्दी मे श्रीमद्भागवत

है। ईश्वर का प्रधान अवतार नृसिंह रूप बतलाया जाता है। कुछ लोग विष्णु स्वामी को नृसिंह तथा गोपाल दोनों का उपासक मानते हैं।

वल्लभाचार्य की विचारधारा विष्णु स्वामी की मान्यताओं पर आधारित है। आचार्य वल्लभ के अनुसार ब्रह्म माया से अलिप्त है—वह नितान्त शुद्ध है। माया से अलिप्त ब्रह्म अद्वैत है। ब्रह्म के तीन रूप हैं—परब्रह्म अक्षरब्रह्म और जगत्-ब्रह्म। जीव नित्य है। जीव अणु है जीवात्मा ज्ञाता है। जीव तीन तरह के होते हैं—शुद्ध जीव संसारी जीव और मुक्त जीव। जड़ जगत् का केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। भगवत्प्राप्ति के लिये भक्ति को साधन माना गया है। मर्यादा-मार्ग की कठिनाइयों को देखते हुए पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन कर वल्लभाचार्य ने भक्त को भगवान की कृपा पर छोड़ने का उपदेश दिया है। वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा को श्रीकृष्ण की आत्मशक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया गया। श्रीकृष्ण के बाल-रूप को उपास्य ठहराया गया किन्तु माधुर्य भाव से राधाकृष्ण की भक्ति में अपार प्रेम प्रदर्शित किया गया। वल्लभाचार्य ने दो प्रकार की भक्ति का विधान किया—प्रथम मर्यादा भक्ति और दूसरी पुष्टि भक्ति। जो भक्ति साधन-सापेक्ष होती है और बाह्य साधनों से जिसकी प्राप्ति होती है वह मर्यादा भक्ति है किन्तु साधन-निरपेक्ष भगवान के अनुग्रह-भाव से उत्पन्न भक्ति पुष्टि भक्ति या रागात्मिका भक्ति कहलाती है।

चैतन्य महाप्रभु ने जिस गौड़ीय सम्प्रदाय की स्थापना की उसका शास्त्रीय रूप षड् गोस्वामियों द्वारा वृन्दावन में तयार हुआ। इस सम्प्रदाय में बलदेव विद्या-भूषण के विचार ही सिद्धान्त हैं। श्री बलदेव के मत से पाँच तत्त्व हैं—ईश्वर, जीव प्रकृति काल और कर्म। ज्ञान का विषय अचिन्त्य अनित्य शक्ति सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हैं। जीव अणु चैतन्य है। भक्ति ही परम पुरुषार्थ का एकमात्र साधन है। भक्तिमार्ग की तीन अवस्थाएँ हैं—साधन भाव और प्रेम। प्रेम सर्वोत्कृष्ट अवस्था है।

सखी सम्प्रदाय के समर्थक स्वामी हरिदास के अनुसार नित्य विहारी युगल मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। सखी सम्प्रदाय में रसिक बनकर ही राधा की उपासना सखी रूप में करने का विधान है।

श्री हितहरिवंश के राधावल्लभ सम्प्रदाय में तो दार्शनिकता का एकान्त अभाव है। यहाँ तो केवल रसोपासना है। राधा-कृष्ण के नित्य विहार की स्थिति में जो अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है उसी को इस सम्प्रदाय में रस की संज्ञा दी जाती है और यह रस प्रेम की आस्वाद्य स्थिति का ही रूप है। इस सम्प्रदाय में न तो मुक्ति की कामना है और न ज्ञान या साधनापरक भक्तिमार्ग का ही कोई विधान है। यहाँ तो नित्य विहार-दर्शन ही सहचरी (जीवात्मा) का उपास्यभाव है और उसकी प्राप्ति प्रेम तत्त्व से होती है। यहाँ प्रेम की वही स्थिति श्लाघ्य और स्पृहणीय मानी जाती है जिसमें प्रिया प्रियतम (राधाकृष्ण) एक पल को भी दूसरे से वियुक्त नहीं होते। [illegible] सम्प्रदाय में प्रेमी और प्रेमपात्र (श्री राधा और माधव अपने प्रेम की

बताया कि जीव न ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, और न नित्य मुक्त ही। जीव ब्रह्म से निर्गत होने के कारण उसी का अंश है। जीव और जगत अनित्य न होकर नित्य तथा स्वतंत्र हैं और ईश्वर के आधीन है। ईश्वर जीव का नियामक है। जीव की मुक्ति ईश्वर पर ही अवलम्बित है। शङ्कर के अनुसार अविद्या जीव के बन्धन का एकमात्र कारण है और यह बन्धन ज्ञान द्वारा ही काटा जा सकता है। अज्ञान का नाश होते ही मुक्त आत्मा अपने स्वरूप मे प्रकाशित होता है। परन्तु रामानुजाचार्य उपासना द्वारा ही जीव की मुक्ति को सम्भव मानते हैं। वे ज्ञान को मुक्ति का साधन न मानकर केवल भक्ति को मानते हैं। रामानुजाचार्य ने अपने श्री-सम्प्रदाय मे एकमात्र विष्णु की आराधना का विधान कर मानव-मात्र को भक्ति का अधिकारी घोषित कर दिया। रामनुजाचार्य के इस सम्प्रदाय का उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन पर बडा गहरा प्रभाव पडा।

बारहवी शताब्दी मे मध्वाचार्य ने जन्म लेकर शङ्कर के अद्वैतवाद का तो प्रबल विरोध किया ही, साथ ही रामानुजाचार्य के भी विशिष्टाद्वैत को अस्वीकार कर दिया और अपना एक नया ही मत चलाया जिसे ब्रह्म-सम्प्रदाय की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। इन्होने भगवान् और भक्त के पार्थक्य को पहली शर्त माना। इन्होंने बडे ही प्रबल शब्दो में कहा कि भक्त और भगवान् के बीच स्थायी अन्तर है। रामानुजाचार्य ने तो शङ्कर के मत के साथ एक समझौता-सा कर लिया था, किन्तु वह समझौता मध्वाचार्य को मान्य न हुआ। उन्होने साफ कहा कि श्रीहरि अनन्त गुणो से परिपूर्ण हैं, जगत् सत्य है और जीव श्रीहरि का किंकर है। इन्होने उपासना के दो प्रकार माने है - शास्त्राभ्यास द्वारा तथा ध्यान द्वारा। शास्त्राभ्यास से अज्ञान की निवृत्ति होती है और वस्तुतत्त्व का ज्ञान होता है। इस ज्ञान की प्राप्ति से ही परम भक्ति प्राप्त हो सकती है। इस मत मे भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। भगवद्भक्ति को इस मत के अनुयायी 'अमला' अर्थात् दोषरहित मानते हैं। अमला भक्ति भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है। गौडीय सम्प्रदाय पर इस मत का प्रभाव बताया जाता है।

मध्वाचार्य से भी पूर्व श्री निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतवाद अथवा सनक-सम्प्रदाय की स्थापना की। इन्होने भी शाकराद्वैतवाद का विरोध किया। जीव, जगत् तथा ईश्वर की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए भी इन्होने इस बात पर बल दिया कि जीव और जगत् का अस्तित्व एव व्यापार ईश्वर की इच्छा पर ही अवलम्बित रहता है। "जीवात्मा अवस्था-भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। ईश्वर की कृपा से ही जीव को अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है। ब्रह्म अद्वैत, निर्विकार और अखण्ड है। ब्रह्म के निर्विकार रहते हुए भी माया के कारण उसका स्वाभाविक आनन्द अनन्त रूपो मे प्रकट होता है। ब्रह्म के तीन रूप हैं—'पर अमूर्त्त' अर्थात परम अक्षर तत्त्व, 'अपर अमूर्त्त' अर्थात् सर्वदृश्य और 'अपर मूर्त्त' अर्थात् जीव रूप। इसी कारण इस मत को द्वैताद्वैत कहते हैं।"

विष्णु स्वामी के ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। माया उनके अधीन रहती

सामान्य नायक का रूप ले लेते हैं। वस्तुतः रीतिकाल में राधा और कृष्ण के नाम पर घोर वासनामय विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। रामभक्ति के क्षेत्र में भी रसिकोपासना का प्रचार हुआ और जिस राम ने एक पत्नीव्रत का आदर्श स्थापित किया था वे ही राम भक्तों के हाथों में पड़कर सहस्रावधि सखियों के पति बनने को विवश हुए। भक्ति की इस अधोगति का ही विचार कर नारद ने उसे मर्यादा में आबद्ध रखने को कहा अन्यथा पातित्यसद्भूया।

निष्कर्ष

प्रस्तुत विवेचन के निष्कर्ष स्वरूप यही कहा जा सकता है कि भारत में भक्ति की धारा वैदिक युग से लेकर आज तक अविच्छिन्न बहती चली आ रही है तथा उसका उद्गम विदेश नहीं वरन् भारत है।

परितुष्टि के लिए प्रयत्नशील न होकर दूसरे के परितोष मे ही आत्म समर्पण करते हैं। अनन्यता को प्रेम का प्राण और प्रेमी का जीवन माना गया है।

इन मध्ययुगीन सभी वैष्णव सम्प्रदायो को दृष्टिपथ मे रखते हुए डाक्टर हिरण्मय ने निष्कर्ष निकाला है—"श्री-सम्प्रदाय की साधना-पद्धति पाचरात्र पर अधिक अवलम्बित थी और उसमे शरणागति अथवा प्रपत्ति पर जोर था। निम्वार्काचार्य के सनक-सम्प्रदाय की प्रेमलक्षणा भक्ति का मुख्य आधार राधाकृष्ण की उपासना थी और वह हरिवश पुराण, विष्णु पुराण और महाभारत से प्रभावित थी। मध्वाचार्य की कृष्णोपासना और विष्णुस्वामी की गोपालोपासना मे मनोवेग के विस्तार के लिये कोई गु जाइश नही थी। इसलिए आगे चलकर इसी कृष्णोपासना को अपना कर वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने उत्तरी भारत मे भक्ति आन्दोलन को एक नई दिशा की ओर मोड दिया, जिसका प्रभाव परवर्ती सभी सम्प्रदायो पर पडा। जिस प्रकार आचार्य रामानन्द जी से प्रेरणा और शक्ति पाकर रामोपासना की सगुण और निर्गुण धाराए प्रवाहित हुई, उसी प्रकार आचार्य वल्लभ और चैतन्य महाप्रभु से स्फूर्ति ग्रहण कर राधाकृष्ण की उपासना के विभिन्न रूप प्रकट हुए।

(छ) मध्ययुगीन वैष्णवेतर विचारधाराओ का भक्ति को योग—सहजयानियो को सहज-साधना से भी भक्ति को कुछ वाते मिली। सहजयानी चित्त-शुद्धि पर विशेष वल देकर सहजावस्था की उपलब्धि को ही परम पुरुषार्थ मानते थे। "उनके अनुसार बद्ध चित्त द्वारा वन्धन मिलता है और मुक्त चित्त द्वारा मुक्ति मिलती है। जव चित्त 'खसम' अर्थात् प्रकाश के समान शून्य रूप को धारण करके 'समसुख' अर्थात् संतुलित अवस्था मे प्रवेश करता है तव उसे किसी भी इन्द्रिय के विषयो का अनुभव नही होता। इन सिद्धो ने जीवन मे सदाचार, चित्तशुद्धि तथा निर्मल चरित्र को वहुत अधिक महत्त्व दिया है। कवीर आदि सत-कवियो पर इस 'सहजयान' का प्रभूत प्रभाव है।

सन्तो पर शकराचार्य के अद्वैतवाद का भी पर्याप्त प्रभाव है। इन सन्तो ने शकर की ही भाँति माया की सत्ता तथा जीव और ब्रह्म की एकता मानी है।

सूफी मत के भावात्मक रहस्यवाद का भी भक्ति पर कुछ प्रभाव पडा है। नीरस ब्रह्मवाद पर सूफी प्रेमवाद का प्रभाव पडने से उसमे सरसता आ गई थी।

(ज) मध्ययुगीन भक्त कवि—मध्य युग में चार प्रमुख भक्त कवि हुए हैं—कबीर, जायसी, सूर और तुलसी। इन भक्त कवियो की भक्ति की प्रमुख विशेषता पौराणिकता है, जिसमे ध्रुव, प्रह्लाद, अजामिल, अम्वरीष, गजग्राह आदि की भक्ति परक कथाए आती हैं। प्रभु के नाम, रूप, गुण लीला और धाम की अपनी-अपनी रुचियो के अनुकूल चर्चा है तथा वैष्णवी और नारदी भक्ति का बार बार उल्लेख है। निर्गुण पथी कवीर की रचनाओ मे भी यह विशेषता पाई जाती है। मलिक मुहम्मद जायसी सूफी हैं और यद्यपि भक्त शब्द उनकी रचनाओ मे एकाध बार ही आया है, पर वे भी हिन्दुओ की इस पौराणिकता से प्रभावित हैं।

(झ) रीतिकाल मे भक्ति—रीतिकाल तक आते-आते भक्ति मे आमूल-चूल परिवर्तन हो गया। जहाँ सूर के कृष्ण उनके उपास्य हैं, वहाँ रीतिकाल मे वे एक

सिद्धान्तों में निर्गुण ब्रह्म का आभास ही प्राप्त होता है वस्तुतः ये सभी कवि निर्गुण ब्रह्म से तटस्थ हैं। इन कवियों के दृष्टिकोण को देखते हुए इस साहित्यिक धारा का नाम सन्त-काव्य ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

'संत' शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ

सन्त' शब्द के विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने अनुसार अलग-अलग अर्थ प्रस्तुत किये हैं। श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के अनुसार सन्त शब्द 'शान्त' से विकसित हुआ है और इसका अर्थ निवृत्तिमार्गी या वैरागी है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने सन्त शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा है—सन्त' शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने 'सत्' रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो जो सत्य स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो वही सन्त है। आचार्य विनयमोहन के अनुसार सन्त वह है जो आत्मोन्नति-सहित परमात्मा के मिलन भाव को साध्य मानकर लोक-मंगल की कामना करता है। एक अन्य आधुनिक आलोचक ने सन्त' शब्द को शीमन्त के सादृश्य पर 'सत्' शब्द के बहुवचन सन्तः' का विकृत रूप माना है। जहाँ तक पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत की गयी सन्त शब्द की व्याख्या का प्रश्न है, उसके विषय में यही कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि से विवेच्य काव्य-धारा के कवियों को सन्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने सन्त का एक अत्यन्त उच्च आदर्श रखा है जिस तक इस काव्य धारा का कोई कवि नहीं पहुँच सकता। चतुर्वेदी जी ने सन्त को जिस समाधि-दशा में अवस्थित होने को कहा है उस दशा तक कोई भी सन्त कवि नहीं पहुँचा है। आचार्य विनयमोहन ने 'सन्त' का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ न देते हुए उसकी एक परिभाषा दी है जिसे ठीक ही माना जा सकता है; क्योंकि प्रत्येक सन्त कवि परमात्मा से मिलन और समाज के कल्याण के लिए व्याकुल था। 'शीमन्त' के सादृश्य पर 'सन्त' की जो व्युत्पत्ति मानी गयी है वह भी ठीक प्रतीत नहीं होती क्योंकि संस्कृत में शतृप्रत्ययान्त 'सत्' शब्द अस्तित्व का सूचक है जो 'सन्त' शब्द से किसी प्रकार भी ताल-मेल खाता दिखायी नहीं देता। ऐसी स्थिति में 'सन्त' की श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा प्रस्तुत की गयी व्युत्पत्ति ही उपयुक्त प्रतीत होती है। कारण यह है कि सभी सन्त-कवि संसार में रहते हुए भी उसमें आसक्त नहीं थे प्रायः सभी निवृत्ति-मार्ग के अनुयायी थे।

सन्त-काव्य पर विभिन्न प्रभाव

(क) सिद्धों एवं नाथपंथी योगियों का प्रभाव—सन्तों ने जिस यौगिक साधना पर बल दिया है वह नाथपंथी योगियों की देन है। बौद्ध धर्म के वज्रयान सम्प्रदाय में जब पंच मकारों के रूप में अनेक विकृतियों का समावेश हो गया और निरीश्वरवाद का प्रचार होने लगा तब नाथ पंथी सन्तों ने बाह्याडम्बर, अनाचार और वीभत्स साधना-पद्धतियों का विरोध किया और यौगिक साधना पर बल देते हुए ईश्वरवादी साधना-पद्धति की प्रतिष्ठा की। इसी साधना-पद्धति का प्रतिपादन हमें सन्तों में भी मिलता है।

: ५४ :

सन्त-काव्य-परम्परा

१. नामकरण के विषय में विभिन्न मत ।
२ 'सन्त' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ।
३. सन्त-काव्य पर विभिन्न प्रभाव— (क) सिद्धों एव नाथपथी योगियों का प्रभाव, (ख) वैष्णव-भक्ति आन्दोलन का प्रभाव, (ग) महाराष्ट्रीय सन्त-सम्प्रदाय का प्रभाव, (घ) इस्लाम का प्रभाव ।
४ सन्त-काव्य-परम्परा का प्रवर्त्तक ।
५. सन्त-मत के अन्तर्गत विभिन्न पन्थ ।
६. प्रमुख सन्त-कवि तथा उनका काव्य ।
७. 'सन्त-काव्य की मुख्य प्रवत्तिया—(क) वर्ण्य विषय एव भाव-गत प्रवृत्तिया, (ख) शैली-गत प्रवृत्तियां ।
८ उपसहार ।

नामकरण के विषय में विभिन्न मत

हिन्दी-साहित्य के पूर्व मध्यकाल किंवा भक्ति युग में जो चार प्रमुख काव्य धाराएँ प्रवाहित हुई उनमे से जिस काव्य-धारा ने ज्ञान-तत्त्व को स्वीकार करते हुए भी, ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्त्व दिया, उसे हिन्दी के विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न नामो से अभिहित किया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा' की सज्ञा दी है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे 'निर्गुण भक्ति साहित्य' के नाम से पुकारते हैं । डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे 'सन्त-काव्य' के अभिधान से अलकृत किया है । सम्यक् मनन करने से पता चलता है कि आचार्य शुक्ल द्वारा दिया गया नाम इस काव्य-धारा की प्रवृत्ति का यथावत् द्योतन नही कर पाता, क्योंकि 'ज्ञानाश्रयी' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काव्य-धारा मे ज्ञान की ही प्रधानता थी, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि इस धारा के कवियो में ज्ञान का नहीं वरन् प्रेम का प्राधान्य है । इसी प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जिस 'निर्गुण' शब्द का प्रयोग किया है, वह भी कुछ भ्रान्ति उत्पन्न करता प्रतीत होता है, क्योकि इस धारा के कवियो ने भले-ही अवतारी ब्रह्म का खण्डन किया हो, किन्तु उनके यहाँ प्रमुखता उसी ब्रह्म के गुणो की है जो अवतार धारण करता है और सगुण है । इन कवियो मे हमें प्रेम का आधिक्य मिलता है जो सगुण ब्रह्म की ही विशेषता है । इनके

वीर्य को ही महत्त्व दिया है।

हठयोग-परम्परा के घटक उनके नाम उनकी स्थिति एवं कमलदलों की संख्या नाथसम्प्रदाय और निर्गुण-सम्प्रदाय में समान रूप से गृहीत हुए हैं। हठयोग के अनुसार नाथों तथा सन्तों ने शरीर में इड़ा पिंगला और सुषुम्णा, इन तीन नाड़ियों की स्थिति एक ही प्रकार से स्वीकार की है। योग-साधना से सम्बन्ध रखने वाले सहज शून्य सुरति अनहद नाद आदि शब्द सन्तों को अपने पूर्ववर्ती नाथपंथी योगियों तथा बौद्ध सिद्धों से ही प्राप्त हुए हैं।

सन्तों मे उलटबाँसियों की जो शैली प्रचलित है वह भी सिद्धों एवं नाथो से ही ली गयी है। हिन्दी म कबीर की उलटबाँसियों को तो बहुत ही प्रसिद्धि प्राप्त हुई है—

"बलद बिआएल गविआ बाँझे।
पिआ दुहिअइ ए तिनि साँझे॥
—ढेण्ढणपा

"बैल बियाइ गाय भई बाँझ।
बछरा दूहै तीन्यू साँझ॥'
—कबीर

और भी—

'नाथ बोलै अमृतबाणी।
बरिसैगी कंबली भीजैगा पाणी॥
—गोरखनाथ

'कबीरदास की उलटी बानी।
बरसै कंबल भीजै पानी॥
—कबीर

सन्तो पर सिद्धों एवं नाथो के प्रभाव की चर्चा करते समय इतना अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए कि उपर्युक्त सभी प्रकार से प्रभावित होने पर भी सन्त एक बात म अपनी पृथक सत्ता बनाये हुए हैं और वह बात यह है कि जहाँ सिद्धो तथा नाथो मे ज्ञान का प्राधान्य है, वहाँ सन्तो मे ज्ञान का महत्त्व स्वीकारे जाने पर भी प्रेम-भाव का आधिक्य है।

(ख) वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन का प्रभाव—काल की दृष्टि से हम देखते हैं कि सन्त मत का आविर्भाव वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के बहुत बाद हुआ। अत सन्तों पर वैष्णव भक्ति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। मध्वाचार्य रामानुजाचार्य रामानन्द आदि वैष्णव भक्ति के प्रवर्तक आचार्य कबीर आदि सन्तो से बहुत पहले हो चुके थे। कबीर, रैदास सेना पीपा आदि प्रारम्भिक सन्तगुरु रामानन्द के ही शिष्य बताये जाते हैं। इसमे सन्देह नहीं कि वैष्णवो तथा सन्तों के सिद्धान्तों मे पर्याप्त अन्तर है तथापि इतना असंदिग्ध है कि सन्तों ने अनेक तत्त्वो का ग्रहण वैष्णवो से किया है। सन्तो पर वैष्णव भक्तो का जो पहला प्रभाव है, वह यह कि इन्होंने भगवद्-स्मरण के लिए वैष्णवा द्वारा गृहीत भगवान् के नामो को स्वीकार

जिस प्रकार सिद्धो और योगियो ने धार्मिक साधना के क्षेत्र मे अन्त शुद्धि, इन्द्रिय-निग्रह और सदाचार को प्रमुख स्थान दिया है उसी प्रकार सन्तो ने भी इनकी महत्ता प्रतिपादित की है। जाति-पाँतिगत भेद-भाव, तीर्थाटन, मूर्ति-पूजा आदि का विरोध सिद्धो, नाथो एव सन्तो ने प्राय समान रूप से किया है। यौगिक क्रियाओ एव धर्म-साधना से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पारिभाषिक शब्द सन्तो को सिद्धो तथा योगियो से परम्परा के रूप मे प्राप्त हुए है। सिद्धो तथा नाथपथियो का सबसे बडा प्रभाव सन्तो की काव्य-शैली पर पडा है। इन तीनो सम्प्रदायो के साहित्य मे अप्रस्तुत-योजना, रूपक-परम्परा, प्रतीको के प्रयोग, काव्य-रूप और छन्द-योजना मे अद्भुत साम्य दिखायी देता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि सिद्धो, नाथो एव सन्तो ने एक विशिष्ट काव्य-शैली को अपनाया था।

सिद्धो तथा नाथो ने गुरु को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया है। सन्तो ने गुरु-महत्त्व को वही से ग्रहण किया है। गुरु की महत्ता-विषयक बहुत से विचार सिद्धो, नाथो तथा सन्तो मे समान रूप से पाये जाते हैं। यहाँ पर कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

"जाव ण अप्पा जाणिजइ ताव ण सिस्स करेइ।
अधे अध कढ़ावइ तिम वेण्ण वि कूप पडेइ॥"

—सरहपा

"जाका गुरु भी अन्धला चेला खरा निरन्ध।
अन्धै अन्धा ठेलिया दून्य कूप पड़न्त॥"

—कबीर

"अन्धे अन्धा मिलि चले वादू बाँधि कतार।
कूप पड़े हम देखता अधे अधा लार॥"

—दादूदयाल

स्पष्ट है कि गुरु की अयोग्यता के विषय मे जो बात सिद्ध सरहपा ने कही है, वही कबीर और दादू ने भी कही है। अब गुरु-माहात्म्य को लीजिए, जो बात सरहपा तथा गोरखनाथ कहते हैं, वही कबीर भी कहते हैं—

"गुरु उवएसें अमिअ रसु धावहि ण पीअहु जेहि।
बहु सत्थत्थ मरुत्थलिहिं तिसिए मरिअउ तेहि॥"

—सरहपा

"गुरु कीजे गहिला, निगुरा न रहिला।
गरु बिन ग्यान न पाइला रे भाईला।"

—गोरखनाथ

"गुरु गोविन्द दोऊ खडे काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपनो जिन गोविन्द दियो बताय॥"

—कबीर

जिस प्रकार सिद्ध एव नाथो ने बाह्य तीर्थों का निषेध कर मानव-शरीर को ही तीर्थस्थान स्वीकार किया है, ठीक उसी प्रकार सन्तो ने भी मानव-शरीर मे स्थित

की देन है।

(ग) महाराष्ट्रीय सन्त-सम्प्रदाय का प्रभाव—सन्तमत महाराष्ट्रीय सन्त-सम्प्रदाय से भी कम प्रभावित नहीं हुआ है। महाराष्ट्र में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में जिन महानुभाव तथा वारकरी आदि सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ उनकी विचार धारा साधना-पद्धति तथा अभिव्यञ्जना-शैली का सन्तों पर प्रभूत प्रभाव है। महानुभाव सम्प्रदाय की स्थापना श्री चक्रधर स्वामी (११९४ १२७४ ई) ने की थी। उन्होंने कृष्णभक्ति का उपदेश दिया और जीव देवता तथा परमेश्वर को अनादि बताते हुए अद्वैतवाद के भी कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। चक्रधर ने मोक्ष के लिए प्रेम को आवश्यक बताया। वारकरी-सम्प्रदाय की स्थापना करने वाले सन्त ज्ञानेश्वर (११९० ई) थे। चक्रधर की भाँति इन्होंने भी अद्वैत तथा सगुणोपासना के मध्य समन्वय उपस्थित किया। निवृत्तिनाथ (११९७ ई) मुक्ताबाई (१२ (ई) नामदेव (१२७ ई) एकनाथ (१४७ ई) तुकाराम (१५७२ ई) आदि सन्त सन्त ज्ञानेश्वर की ही परम्परा के हैं। सन्त-कवियों की रचनाएँ विषय भाव एवं शैली की दृष्टि से इन महाराष्ट्रीय सन्तों की वाणी से बहुत अधिक मिलती-जुलती हैं। 'भगवान् के प्रति दृढ़ अनुराग मिलनाकांक्षा प्रणय-निवेदन अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन गुरु का महत्त्व मूर्ति-पूजा व जाति-पाँति भेद का विरोध योग-साधना का वर्णन हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रतिपादन आदि बातें महाराष्ट्रीय और हिन्दी सन्त-कवियों में समान रूप से मिलती हैं।"

(घ) इस्लाम का प्रभाव—कुछ विद्वानों का विचार है कि निर्गुणोपासना वर्ण-व्यवस्था तथा मूर्तिपूजा का विरोध आदि तत्त्व सन्तों ने इस्लाम धर्म से लिये हैं। यहाँ पर देखना हमे यह है कि वस्तुस्थिति यही है अथवा कुछ भिन्न। सम्यक् विचार करने पर यह बात छिपी नहीं रह जाती कि सन्तों ने जिस सरणि का अनुगमन किया था वह भारतीय धर्म-साधना के द्वारा भारत मे इस्लाम के आगमन से पूर्व ही प्रशस्त की जा चुकी थी। पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि सन्तो ने जिन बाह्याचारों वर्णव्यवस्था एवं मूर्ति-पूजा का विरोध किया है वह सिद्धो तथा नाथों के ही सिद्धान्तों के आधार पर; इस्लाम की उसमे कहीं भी गन्ध नहीं है। सन्तों ने जिस हिन्दू मुस्लिम एकता का समर्थन किया है वह परिस्थितिजन्य है। जिस समय मुसलमान भारत मे विजेता के रूप मे आये उन्होंने हिन्दुओं पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये। इससे सन्त-कवियो का हृदय क्षुब्ध हो उठा और उन्होने हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच ऐक्य स्थापित करने का भरसक प्रयास किया। अपने इसी सद्‌यत्न की सिद्धि के लिए उन्होने अल्लाह और राम की अभिन्नता प्रतिपादित की। यदि एक आधुनिक आलोचक के शब्दों का अवलम्बन लेकर हम अपनी बात को स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं—"सन्तो ने हिन्दू धर्म की बाह्य पद्धतियो का खण्डन करते समय इस्लाम के अनुयायियों का सा उत्साह दिखाया किन्तु फिर भी वे इस्लाम से बहुत दूर रहे। एक तो उन्होने नमाज रोजा आदि की व्यर्थता सिद्ध की दूसरे उन्होंने साधना के क्षेत्र मे इस्लाम के तत्त्वो की सर्वथा उपेक्षा की। सन्त-मत के खण्डनात्मक पक्ष मे ही इस्लाम का अस्तित्व है उसका मण्डनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म और हिन्दू दर्शन के ही तत्त्वों से

किया है—राम, गोविन्द, हरि आदि वैष्णव-भक्तो के प्रिय नाम हैं, सन्तो ने भी इन्ही नामो को लिया है। प्रस्तुत प्रसग मे ही एक स्मरणीय बात यह भी है कि सन्त-कवियो ने ईश्वर के अल्लाह, खुदा आदि नामो को स्वीकार करने पर भी उन्हे इतनी अधिक मान्यता नही दी है, जितनी राम, गोविन्द, हरि आदि को। अल्लाह, खुदा आदि शब्दो का प्रयोग उन्होने केवल अपने उपदेशो मे ही किया है, प्रेमानुभूति की तन्मयता की स्थिति मे वे वैष्णव-भक्तो द्वारा स्वीकृत ईश्वर के नाम लेते हैं।

सन्तों पर वैष्णव भक्त कवियो का जो दूसरा प्रभाव मिलता है, वह प्रेम की स्वीकृति है। कहने का भाव यह कि जिस प्रकार वैष्णव-भक्तो के लिए ईश्वर के प्रति प्रेम का बहुत अधिक महत्त्व है, उसी प्रकार सन्तो के लिए भी। कुछ विद्वानो का विचार है कि सन्तो को प्रेम की यह देन सूफी-सम्प्रदाय की है, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है, कारण यह है कि सन्तो द्वारा स्वीकृत प्रेम और सूफियो द्वारा स्वीकृत प्रेम मे पर्याप्त अन्तर है—सूफियो का प्रेम-तत्त्व समानता की भावना पर आधारित है जबकि सन्तो ने भक्त-कवियो की भाँति अपने को परमात्मा की अपेक्षा हीनतर माना है। उदाहरणार्थ—

"जा कारणि मैं ढूँढता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ॥"

सन्तो तथा सूफियो के प्रेम मे एक अन्तर यह भी है कि जहाँ सूफी-कवियो ने परमात्मा को प्रेयसी के रूप मे प्रस्तुत किया है, वहाँ सन्तो ने परमात्मा को पति मानते हुए अपने को उसकी पतिव्रता पत्नी के रूप मे चित्रित किया है। सन्त-कवियो का यह आदर्श विशुद्ध भारतीय है। उन्होंने वैष्णवो के प्रति जो श्रद्धा तथा सूफियों के प्रति जो उपेक्षा व्यक्त की है, उससे भी उनका वैष्णवो से प्रभावित होना जाना जाता है। वैष्णवो के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए कबीर ने कहा है—

"मेरे सगी दोइ जणा, एक वैष्णों एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥"

× × ×

'वैश्नो की छपरी भली, ना साखत का वड गांऊ।"

× × ×

"साखत बाभण मत मिलै, वैसनों मिले चडाल।
अकमाल दे भेंटिये, मानो मिले गोपाल॥"

सूफी दरवेशो के प्रति उपेक्षा-भाव को अभिव्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं—

"है कोई दिल परदेश तेरा
नासूत, मलकूत, जबरूत को छोड़ि कै
जाइ लाहूत पर करै डेरा॥"

× × ×

"सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जिनका दिल स्यापित नहीं, तिनकौं कहाँ खुदाइ॥"

कथन का साराश यह कि सन्तो का प्रेम, सूफियो की नही, वरन वैष्णव-भक्तो

इन सभी पन्थों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं था किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया इन सभी पन्थो मे रूढ़ियों विधि निषेधों पाखण्ड प्रदर्शन एवं मायाजाल की बुराइयाँ बढ़ती गयी।

प्रमुख सन्त कवि तथा उनका काव्य

सन्त-काव्य-परम्परा के प्रारम्भिक कवियों में जिनके नाम आते हैं वे इस प्रकार हैं—नामदेव, त्रिलोचन सदन बेनी धन्ना पीपा सेन और रैदास। नामदेव सन्त-काव्य-परम्परा के प्रवर्तक कवि हैं। इन्होंने अनेकों अभंगों की रचना की है। त्रिलोचन (जन्म सन् १२६७) द्वारा रचित पद 'ग्रन्थ साहब' में पाये जाते हैं। सदन की कविता थोड़ी होती हुई भी भक्ति का महत्त्व रखती है। बेनी के विषय में विशेष विवरण नहीं मिलता। इनकी भाषा पुरानी और अनगढ़ है। धन्ना (जन्म सन् १४१५) भी रामानन्द के शिष्य थे भक्तमाल म इनकी भक्ति की अनेक अलौकिक कथाएं लिखी हैं। पीपा (जन्म सन् १४२५) और सेन (स्थिति-काल विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी) भी रामानन्द के ही शिष्य थे। पीपा के पद और सेन की सूक्तियाँ ग्रन्थ साहब मे मिलती हैं। रैदास भी रामानन्द जी के शिष्य थे। वे कबीर के समकालीन थे। सन्त-काव्य-परम्परा में इनका विशिष्ट स्थान है। ये उच्चकोटि के सन्त थे। प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीरा को इन्हीं का शिष्य माना जाता है। इनके पद ग्रन्थ साहब मे संकलित हैं। ये अत्यन्त सरल प्रकृति के व्यक्ति थे। इनके पदों मे अनुभूति की तरलता और अभिव्यक्ति की सरलता मिलती है। इनके विषय मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है—'अनाडम्बर सहज शैली और निरीह आत्म-समर्पण के क्षेत्र म रैदास के साथ कम सन्तो की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निस्सन्देह रैदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं।

सन्त-कवियों मे कबीर सर्वाधिक प्रबल व्यक्तित्व को लेकर सामने आये। डॉ रामकुमार वर्मा न इनका जन्म स १४५५ मे माना है। यों तो कबीर के नाम से ६१ रचनाएँ उपलब्ध हैं; किन्तु जिन रचनाओं को प्रामाणिकता दी जाती है वे डॉ श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली' डॉ रामकुमार वर्मा द्वारा सम्पादित 'सन्त कबीर' तथा कबीर-पंथियों का साम्प्रदायिक ग्रन्थ 'बीजक' हैं। कबीर क महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'साधना क क्षेत्र मे वे युग गुरु थ और साहित्य के क्षेत्र मे भविष्यस्रष्टा। सच्चे धर्मयोगी होने के कारण वे युग-युग गुरु थ उन्होंने संत-काव्य का प्रवर्तन कर साहित्य क्षेत्र मे नव-निर्माण का कार्य किया था। उनके समकालीन एवं परवर्ती—सभी संत कवियों ने उनकी वाणी का अनुकरण किया। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की जो विचारधारा आज इतनी प्रबल हो उठी है उसके मूल प्रवर्तक कबीर ही थे। इस धारा को मलिकमुहम्मद जायसी आदि सूफीवादी कवियो न अपनाया। यद्यपि आचार्य शुक्ल ने उपदेशों की नीरस बानी उलटबासियों अव्यवस्थित दार्शनिक विचारो तथा भाषा की अनगढ़ता क कारण कबीर की उपेक्षा की है तथापि इतना उन्होंने भी माना है— प्रतिभा उनमे बड़ी प्रखर थी इसमे सन्देह नहीं।

परिपूर्ण है। ईश्वर का गुणगान गाते समय वे राम, गोविन्द, हरि का नाम लेते हैं, अल्लाह या खुदा का नही, ससार की असारता को घोषित करते हुए वे अद्वैतवाद और माया की बात करते हैं, मृत्यु के पश्चात् मिलने वाली बहिश्त और आखिरी कलाम की नही, और विधि-निषेधो की चर्चा मे वे हिन्दू शास्त्रो का आधार ग्रहण करते हैं, कुरान का नही। केवल हिन्दू धर्म की कुछ रूढियो का खडन करने के कारण ही सत-मत को उससे भिन्न नही कहा जा सकता, यदि ऐसा होता तो आर्यसमाज को आज हिन्दू धर्म से भिन्न माना जाता क्योकि उसके अनुयायियो ने भी सन्तो की भाँति रूढियो का खण्डन किया है।"

कहने का भाव यह है कि सन्त-काव्य-धारा किसी विदेशी साहित्य या अभारतीय धर्म-साधना की देन नही, वरन् वह तो उस काव्य-धारा का विशेष रूप है जो सिद्धो तथा नाथो की विचारधारा से सार ग्रहण करती हुई, वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन से प्रभावित होकर, महाराष्ट्र मे होती हुई हिन्दी-क्षेत्र मे प्रविष्ट हुई है।

सन्त-काव्य-परम्परा का प्रवर्त्तक

कुछ विद्वानो का विचार है कि सन्त-काव्य-परम्परा के प्रवर्त्तक नामदेव हैं, जबकि अन्य विद्वान् इस परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय कबीर को देते हैं। विचार करने पर यह बात बडी स्पष्ट हो जाती है कि नामदेव कबीर के बहुत पूर्व हुए हैं। नामदेव का जन्म स० १३२७ (सन् १२७०) मे हुआ था, जबकि डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार कबीर का जन्म-काल स० १४५५ है। नामदेव ने महाराष्ट्र मे जन्म लेकर भी समस्त उत्तरी भारत का भ्रमण और अपने मत का प्रचार किया। उन्होने हिन्दी मे विपुल पदावली की रचना की। ये उच्चकोटि के सन्त थे। कबीर, रैदास, रज्जब, दादू आदि सन्तो ने बडी श्रद्धा के साथ इनका नाम लिया है। ऐसी स्थिति मे सन्त-काव्य-परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय इन्हे ही मिलना चाहिए। जहाँ तक कबीर का प्रश्न है, उन्हे सन्त-परम्परा का प्रवर्त्तक तो नही माना जाना चाहिए, हाँ! उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा, सुदृढ व्यक्तित्व, प्रौढ चिन्तन, कवि-सुलभ सहृदयता एव मार्मिक अभिव्यजना-शैली से नामदेव द्वारा चलाये गये मार्ग को भली प्रकार प्रशस्त अवश्य किया है। नामदेव अपनी प्रकृति की कोमलता के कारण जो कार्य न कर सके, उसे कबीर ने अपने अक्खड व्यक्तित्व से सम्पन्न किया। कबीर ने समाज मे फैली रूढियो का खुलकर विरोध किया और काशी के विद्वानो को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। इस प्रकार मार्ग के प्रशस्तीकरण का टीका कबीर के ही मस्तक पर है, नामदेव उसके चलाने वाले भले ही रहे हो।

सन्त-मत के अन्तर्गत विभिन्न पथ

कबीर के उपरान्त सन्त-मत अनेक पथो मे विभक्त हो गया। कबीर-पथ के अतिरिक्त इन पथो मे रैदासी पथ, सिख पथ, दादू पथ (१७वी शताब्दी), निरजनी सम्प्रदाय (१७वी शताब्दी), बावरी पथ (१७वी शताब्दी), मलूक पथ (१७-१८वी शताब्दी), दरियादासी सम्प्रदाय (१८वी शताब्दी), चरणदासी सम्प्रदाय (१८वी शताब्दी), गरीब-पथ (१८-१९वी शताब्दी), पानप-पथ (१८-१९वी शताब्दी) राम-स्नेही सम्प्रदाय (१८-१९वी शताब्दी) आदि प्रमुख हैं। प्रारम्भिक स्थिति मे

अनेकों ग्रन्थों की रचना की है जिनमें 'दरिया-सागर' और 'ज्ञान दीपक' ये दो ग्रन्थ प्रधान हैं। दरिया साहब (मारवाड़ वाले जन्म सं १७३३) की बानी में विरह का यथेष्ट अंग है। बुल्ला साहब (जन्म सं १७५०) के पदों मे चेतावनी और उपदेश हैं। गुलाल साहब (जन्म स १७५) का केवल एक ही ग्रन्थ प्राप्त है— अमी घूट'। चरनदास (जन्म सं १७६) ने भक्ति ज्ञान वैराग्य सत्य शील आदि सद्गुणों का विशेष वर्णन किया है। जिन ग्रन्थों मे इन सद्गुणों की चर्चा है वे हैं— अमर लोक 'अखण्ड धाम' भक्ति पदारथ' 'ज्ञान सरोदय और 'धब्द'। बालकृष्ण नायक (जन्म सं १७६२) द्वारा रची गई अनेक पुस्तकों मे ध्यान मजरी और 'नेह प्रकाशिका' मुख्य हैं। श्री अक्षर अनन्य (जन्म सं १७६७) भी अत्यन्त प्रसिद्ध सन्त-कवि हैं। इनके ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ हैं—'राजयोग' विज्ञान योग' ध्यान योग' सिद्धान्त बोध' विवेक दीपिका ब्रह्मज्ञान' और अनन्य प्रकाश। भीखा साहब (जन्म स १७७) के प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम राम जहाज' है। गरीबदास (जन्म स १७७४) जगजीवन दास (जन्म स १७७२) रामचरण (जन्म सं १७७५) दूलनदास (जन्म स १७८) स्वामी नारायणसिंह (जन्म स १७८१) दयाबाई (जन्म स १८) सहजोबाई (जन्म सं १८) रामरूप (जन्म स १८ ७) सहजानन्द (जन्म सं १८३७) तुलसी साहब (हाथरस वाले जन्म स १८४५) पलटूदास (जन्म स १८५) मानीदास (जन्म सं १८७७) आदि सन्तकाव्य-परम्परा के अन्य प्रमुख कवि और कवयित्रियाँ हैं। सहजोबाई और दयाबाई, दोनों ही प्रसिद्ध चरनदास की शिष्याएं थीं। सहजोबाई के उद्गार सहज प्रकाश' म तथा दयाबाई की भावपूर्ण उक्तियाँ दयाबोध' और 'विनयमालिका' मे सकलित हैं। इनके काव्य मे नारी-सुलभ कोमलता अनुभूति की तरलता एवम् अभिव्यक्ति की सरलता दृष्टिगत होती है।

सतकाव्य की मुख्य प्रव त्तियां

(क) वर्ण्य विषय एवं भावगत प्रवृत्तियां—सन्त कवियों मे धार्मिक क्षेत्र में ऊ च-नीच छुआ-छूत जाति-पाँति आदि के भेदभाव को मिटाना आवश्यक समझा—

"एक बिन्दु तें विश्व रच्यो है को बाह्मन को सूदा।

—कबीर

वस्तुत अधिकांश सन्त कवि ऐसी निम्न जातियों में उत्पन्न हुए थे जिन्हें उच्च जातियों के लोग बड़ी ही हेय दृष्टि से देखते थे। यही कारण है कि इन सन्तों मे जाति पाँति के प्रति विद्रोह की भावना बड़ी प्रबल थी। इस विषय में डा रांगेय राघव का मत है—"निर्गु ण सन्त समाज के उन क्षेत्रों से आये थे जिन्हें शताब्दियों से कुचला गया था। उन्हें पूर्ण शिक्षा नहीं मिली थी। उन्हें दबकर रहना पड़ता था। वे अपनी सामाजिक व्यवस्था म अपने ही छोटे-छोटे भेदों मे ग्रस्त समुदाय थे जिन पर अन्धविश्वास और अशिक्षा का अधिक प्रभाव था। निम्न जातियों के इस समुदाय में यह आत्मविश्वास सन्तलोकत्व लाया वह शताब्दियों के नकारात्मक स्वर से या कि यो विजेता! तू तुरक नहीं है तू मुझे हरा नहीं सकता मैं अमर हूं और रहूगा।' सन्तों की जाति-पाँति विरोधी इस विशेषता का उद्घाटन करते हुए डा रामविलास

कवीर के उपरान्त मन्त-काव्य-धारा मे धरमदास (जन्म सन् १४७५) का नाम आता है। ये कवीरदास के प्रधान शिष्य थे) 'वीजक' के रूप मे कवीर-वाणी के सग्रह करने का श्रेय इन्हे ही दिया जाता है। इनके स्वय के रचे हुए 'धनी धरमदास की वानी' नाम से प्रकाशित हुए हैं। इनके पदो मे भक्ति का प्राधान्य है। इनके विषय मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है—"इनकी रचना थोडी होने पर भी कवीर की अपेक्षा अधिक सरस भाव लिये हुए है, इसमे कठोरता और कर्कशता नही है। इनकी अन्योक्तियो के व्यजक चित्र अधिक मार्मिक है, क्योकि इन्होने खडन-मडन से विशेष प्रयोजन न रख प्रेम तत्त्व को लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है।"

सिक्ख-धर्म के प्रवर्त्तक गुरु नानक का भी मन्त-कवियो मे वहुत ऊँचा स्थान है। इनकी रचनाए ग्रन्थ साहव मे सकलित हैं तथा उनका वर्ण्य विषय निर्गुण ब्रह्म की उपासना, ससार की क्षणभगुरता, माया की शक्ति, नाम जप की महिमा, आत्म ज्ञान की आवश्यकता, गुरु-कृपा का महत्त्व, सात्त्विक कर्मों की प्रशसा आदि विषयों पर विचार प्रकट किये गये है। जीवहिंसा, मूर्त्तिपूजा, वाह्याचारो आदि का खण्डन इन्होने उतनी ही तत्परता से किया है जितनी तत्परता से कवीर ने।

मलूकदास (जन्म स० १६३१) की कविता अत्यन्त सरस और भावपूर्ण है। इनके रचे दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'ज्ञानवोध' और 'रामावतार लीला'। सुथरादास (जन्म सवत् १६४०) मलूकदास के शिष्य थे और उन्ही के सिद्धान्तो का प्रचार करते थे।

सत-मत मे दादूदयाल (जन्म सवत् १६५८) का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दादू ने एक अलग पथ का भी निर्माण किया है, जिसे 'दादू पथ' कहा जाता है। इन्होंने लगभग पाच हजार पद्यो की रचना की है। धर्म के सभी अगो पर इन्होंने प्रकाश डाला है। मूर्तिपूजा, जाति, आचार, तीर्थव्रत, अवतार आदि पर दादू कवीर के पूर्णत अनुयायी हैं। इनकी भाषा मे राजस्थानी का पुट है।

धरणीदास (जन्म सवत् १६७३) द्वारा रचित दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'प्रेम-प्रकाश' और 'सत्य प्रकाश'। लालादास (जन्म सवत् १७००) के उपदेश इनकी बानी मे सकलित हैं। स्वामी प्राणनाथ (जन्म सवत् १७१०) के ग्रन्थ का नाम 'कुलजम स्वरूप' है। इन्होने स्थान-स्थान मे घूमकर धार्मिक मतभेद और जाति-पाँति का निराकरण किया। रज्जव (जन्म सवत् १७१०) दादू के शिष्य थे। इनके ग्रन्थ का नाम 'छप्पय' है जिसमे दादूपथ के सिद्धान्तो का सरलता से वर्णन किया गया है।

सुन्दरदास (जन्म स० १७१०) भी दादूदयाल के शिष्य थे। इन्होंने दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया था। काव्यशास्त्र के भी यह अच्छे पण्डित थे। इसीलिए इनकी रचनाओ में क्लिष्टता है। 'ज्ञान समुद्र', 'सुन्दर विलास' और 'पद' इनकी विशेष प्रसिद्ध रचनाए हैं। इन्होने साख्य और अद्वैतवाद का निरूपण अत्यन्त विशद रूप में किया है। "अनेक प्रकार का काव्य-कौशल इनकी कविता में रत्नराशि के समान सजा हुआ है। कही रस-निरूपण है तो कही अलकारो की सृष्टि।"

यारी साहव (जन्म स० १७२५) की रचना अत्यन्त सरल और सरस है। सतो मे दरिया साहव (विहार वाले, जन्म स० १७३१) भी पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने

है वहाँ रागात्मक तत्त्व अपनी पूर्ण तन्मयता और हृदयस्पर्शिता के साथ साकार उठा है। उनके विरह के पदों में मीरा की सी तन्मयता सूर की सी सरसता विद्यापति का सा सौन्दर्य है। कबीर जैसा अक्खड़ भी विरह-वेदना से त्रस्त हो सौ-सौ आँसू बहाने लगता है। बनारस के पण्डितों को ललकारने वाला अप उक्तियों से उनके शास्त्र ज्ञान को चकनाचूर कर देने वाला कबीर अपने प्रियतम प्रेम में बेसुध होकर अपने आपको 'राम का कुत्ता' तक कह डालता है। कुछ उ हरण देखिये—

बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुम मिलन कूं मनि नाहीं विश्राम।
"अँखियाँ तो झाईं परी पंथ निहारि निहारि।
जीहड़ियाँ छाला पड़्या नाम पुकारि पुकारि।

—कबी

"कहा करूं कासे मिलहि रे तलफइ मेरा जीव।
दादू आतुर विरहिनी रे कारन आपने पीव।

—दादूदया

संयोगावस्था में भी वे सन्त गद्‌गद् लाज से विभोर और प्यार से विह्वल हो उठते हैं। प्रियतम के महल की ओर अग्रसर होते हुए उनके पैर सौ-सौ मन वाले लगते हैं हृदय में भाँति भाँति की शंकाओं का आन्दोलन उठने लगता है—

मन प्रतीत न प्रेम रस ना इस तन में ढग।
क्या जानै उस पीव स कैसे रहसी रंग।

— कबीर

(ख) शैलीगत प्रवृत्तियाँ—साखी (दोहा) सन्त-कवियों का प्रिय छन्द है। इसके अतिरिक्त चौपाई कवित्त सवैया हंसपद झूलना आदि छन्द भी संत-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं।

संत-काव्य जनसमुदाय के लिये लिखा गया था अतः भाषा का सरल होना स्वाभाविक ही है। भाषा की सरलता का एक कारण यह भी है कि संत कवियों में से अधिकांश कुछ विशेष पढ़े लिखे न थे। ऐसी स्थिति में तत्सम शब्दों का प्रयोग उनके लिये संभव नहीं था। संत-कवि भ्रमणशील व्यक्ति थे अतः उनकी रचनाओं में विभिन्न प्रदेशों के शब्द आ गये हैं। यद्यपि इन्होंने जान-बूझकर अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है तथापि अनुभूति की तीव्रता के कारण यत्र-तत्र अलंकारों का स्वतः समावेश हो ही गया है। संत-कवियों की भाषा सीधी हृदय से निकली है अतः उसमें अनगढ़ता होते हुए भी शक्ति बहुत है। ये संत जिस प्रकार से अपनी बात कहना चाहते हैं उस प्रकार से भाषा से कहला लेते हैं। भाषा इनके सामने लाचार-सी नजर आती है। उनमें इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह इन अक्खड़ साधुओं की कोई बात मानने से इनकार कर दे। अतः उन्होंने जैसा कहलाना चाहा वैसा ही इनकी भाषा ने पूरी शक्ति के साथ कह दिया है। भाषा कैसी ही हो भाव चाहिए जिस वाणी उक्ति

शर्मा ने लिखा है—उन्होने धर्म की रूढियो का उल्लघन किया था। उन्होंने अपने प्रेम के अश्रु जल से देवता के आँगन से रक्तपात की कलक रेखा धो डाली थी। इनके गीत दूर दूर के गाँवो मे एकतारे पर सुनाई देते हैं और वह तार भारतवर्ष की एकता का ही है। भेद-बुद्धि उनके पास नही फटकती। समाज के कर्णधारो की अवज्ञा के बावजूद उनकी अमर वाणी आज भी सर्वत्र गूँज रही है।"

इन सन्त कवियो के उपदेशो मे विधि और निषेध दोनो पक्षो का समन्वय हुआ है। जहाँ एक ओर उन्होने निर्गुण ईश्वर, रामनाम की महिमा, सत्सगति, भक्ति-भाव, परोपकार, दया, क्षमा आदि का समर्थन पूरे उत्साह से किया है, वही दूसरी ओर धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज, हज आदि विधि-विधानो, वाह्याडम्बरो, जाति-पाँति भेद आदि का डटकर विरोध किया है।

यौगिक क्रियाओ के लिए प्रयुक्त परिभाषिक शब्दो तथा प्रतीको का इन्होंने खुल कर प्रयोग किया है।

लगभग सभी सन्त कवियो की भाषा मे गुरु की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

मूर्ति-पूजा से तो इन्हें वहुत ही चिढ थी। कवीर ने इसका वहुत अधिक विरोध किया है—

"दुनिया ऐसी बावरी पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय।"

सन्त-कवियो का ईश्वर घट-घट व्यापी है—

"सो साईं तन मे बसै, भ्रम्यो न जाणै तास"
"कहै कबीर बिचार करि जिन कोई खोजे दूरि।
ध्यान धरौ मन सुद्ध करि राम रह्या भरपूरि।"

—कबीर

"काहे रे बन खोजन जाई।
सर्व निवासी सदा अलेपा तोही सग समाई।"

—नानक

"पीव दूध मे रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ै ते और।"

—दादूदयाल

प्राय सभी सन्तो की रचनाओ मे भावो की तीव्रता कूट-कूट कर भरी है। यह तीव्रता इतनी प्रभावोत्पादक है कि उसे किसी बाह्य सबल की आवश्यकता नही। विश्वकवि रवीन्द्र ने सन्तो की इसी विशेषता को लक्ष्य कर कहा था—"नई हिन्दी कविता से पुरानी सन्त-वानी की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक मे कौशल ज्यादा है, लेकिन दूसरी मे स्वाभाविक दर्द है। कौशल तो वाहरी है लेकिन रस सत्य का ही प्रकाश है। जिस कविता मे सत्य अपने सहज वेग मे प्रकट होता है वही अमर होती है और उस पर काल का दाग नही पडता।" इन कवियो ने जहाँ अपने अज्ञात प्रियतम के प्रति आत्मविभोर होकर विरह और व्यथा का वर्णन किया

५५

सूफी प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा

१ 'सूफी' शब्द से तात्पर्य
२ सूफीमत का उद्भव एवं विकास
३ सूफीमत के सिद्धांत
४ सूफी प्रेमाख्यान-काव्यों का क्रमिक विकास
५ सूफी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियां
६ उपसंहार

सूफी शब्द से तात्पर्य

सूफी शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद है। कुछ विद्वानों का कहना है कि मदीना में मस्जिद के सामने एक 'सुफ्फा' (चबूतरा) पर बैठने वाले फकीर सूफी कहलाये। दूसरे विद्वानों की मान्यता है कि अपने सदाचार और पवित्रता के कारण क्यामत के दिन 'सफ्फ' (अग्रिम पंक्ति) में खड़े होने के सम्मान को पाने के योग्य साधक सूफी नाम से अभिहित किये गये। तीसरे प्रकार के विद्वान् मानते हैं कि 'सफा' अर्थात् पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले साधु 'सूफी' नाम से विख्यात हुए। विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो 'सूफी' शब्द को सोफिस्ट (ज्ञानी) का विकृत रूप मानता है। कुछ लोगों ने इसे 'सूफा' (अरब की एक जाति विशेष) अथवा 'सुफ्फाह' (भक्त विशेष) का रूपान्तर मान लिया है। किन्तु आज अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि 'सूफी' साधनापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले उन अरब तथा ईराक में निवास करने वाले फकीरों का सूचक है जो सूफ (सादा ऊन) के कपड़े धारण करते थे। प० परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "'सूफी' शब्द मूलतः उन अरब और ईराक देशों के कतिपय व्यक्तियों को ही सूचित करता जान पड़ता है जो मोटे ऊनी वस्त्रों का चोगा पहना करते थे, जो विरक्तों व सन्यासियों का-सा पवित्र जीवन यापन करते थे तथा जो अपनी महत्त्वपूर्ण साधनाओं के कारण मुस्लिमों की अगली पंक्ति में खड़े होने के अधिकारी थे। अबू नसरल सर्राज ने भी 'सूफी' शब्द की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह कुछ इसी प्रकार की है। वे लिखते हैं—

"...the word Sufi is derived from suf (wool) for the woollen garment is the habit of the prophets and the badge of the saints and elect as appears in many traditions and narratives."

सत-काव्य पर पूर्णरूपेण लागू होती है।"

उपसहार

प्रस्तुत निवन्ध का उपसहार करते हुए डा० रामकुमार वर्मा के शब्दो मे कहा जा सकता है—"जव धर्म के मानदण्डो मे नवीन परिवर्तन हो रहे थे और उसे अनेक परिस्थितियो से सघर्ष करना पड रहा था उस समय सत सम्प्रदाय ने धर्म का ऐसा स्वाभाविक, व्यावहारिक और विश्वासमय रूप उपस्थित किया कि वह विश्वधर्म वन गया और शताव्दियो के लिये जन-जागरण का सन्देश लेकर चला। उसने अन्ध-विश्वासो को तोड कर समाज का पुन सगठन किया, जिसमे ईर्ष्या-द्वेष के लिए कोई स्थान नही था। समाज के जिस स्तर तक देववाणी नही पहुच सकती थी तथा धार्मिक ग्रन्थो की गहराई की थाह जिनके द्वारा नही ली जा सकती थी, उन्हे धर्मप्रवण वना-कर आशा और जीवन का सन्देश सुनाना सत सम्प्रदाय द्वारा ही सभव हो सका था। पुरातन का सशोधन और नवीन का सचयन करने मे सत सप्रदाय ने विशेष अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया। राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दिशाओ मे इस सम्प्रदाय ने जो कार्य किया है, उसे इतिहास कभी भुला नही सकेगा।"

इश्क हकीकी (अलौकिक प्रेम) का प्रथम सोपान है। सूफियों के इलहाम और हाल का बीज भी शामी जातियों में सुरक्षित है। कुछ शामी ऐसे थे जो रति से वृथा करते थे और इसी कारण से नबी-सन्तान कहलाते थे। कभी-कभी ये सोम देवता के वश में होकर बोलने लग जाते थे। उनके इस बोलने को ही 'इलहाम' और इलहाम की दशा को 'हाल' की संज्ञा गई है। शामियों में एक गुह्य मण्डली थी जिसमें निरन्तर सुरापान होता रहता था। सूफियों का प्रमुख तत्त्व प्रेम इसी शामी गुह्य मंडली से आया हुआ है। शामियों म मूर्ति चुम्बन की प्रथा सूफियों म बोसे और बरस के रूप में आयी।

सूफीमत के विकास मे मानी मत का भी बड़ा योगदान है। मानी मत बुद्ध से प्रभावित था। गुरु-शिष्य परम्परा का विधान मूर्तियों के खण्डन एवं अभ्यान्तर निरूपण के सम्बन्ध में मानी मत ने जिस विचारधारा को जन्म दिया वह सूफीमत का दर्शन बन गया।

सूफीमत प्लेटिनस से भी प्रभावित है। प्लेटिनस ने धरा से लेकर नक्षत्र-मंडल तक परिव्याप्त अलौकिक सत्ता के आलोक का वर्णन बड़े ही अनूठे ढंग से किया है। सूफियों की अध्यात्म भावना पर इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूफीमत का आविर्भाव तथा पूर्ण विकास मुहम्मद साहब के जन्म से पूर्व हो चुका था। मुहम्मद साहब को तो पूर्ण रूप से सूफी माना भी नहीं जा सकता क्योंकि उनम सूफियों के प्रमुख तत्त्व प्रेम की अपेक्षा दास्य भावना कहीं अधिक है।

भारत मे सूफियों का आगमन बारहवीं शताब्दी म हुआ। सूफीमत चार सम्प्रदायों के रूप मे आया जो समय-समय पर देश म प्रचारित हुये। इन सम्प्रदायों के नाम और समय डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने इस प्रकार दिए है—

१ चिश्ती सम्प्रदाय—सन् बारहवी शताब्दी का उत्तरार्ध।
२ सुहरावर्दी सम्प्रदाय—सन् तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध।
३ कादरी सम्प्रदाय—सन् पन्द्रहवी शताब्दी का उत्तरार्ध।
४ नक्शबन्दी सम्प्रदाय—सोलहवी शताब्दी का उत्तरार्ध।

'इन सबम प्रसिद्ध चिश्तिया सम्प्रदाय हुआ। इस सम्प्रदाय की सातवी पीढ़ी में ख्वाजा मुईनुद्दीन हुए जिन्होने भारत में सूफीमत का प्रचार किया। इस सम्प्रदाय में कुतुबुद्दीन काकी फरीदुद्दीन के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यह सम्प्रदाय आगे चलकर अनेक शाखाओ मे विभक्त हो गया। कादरी को सम्राट् अकबर को दीक्षित करने का गौरव प्राप्त हुआ। संगीत इनके प्रचार का प्रमुख साधन था। सुहरावर्दी सम्प्रदाय का प्रचार कार्य भारत मे बहाउद्दीन जकरिया ने किया। यह सम्प्रदाय भी अनेक शाखाओं म विभक्त हो गया। कादरी सम्प्रदाय का प्रवर्तन बारहवी शती में अब्दुल कादिर ने किया। इस सम्प्रदाय के सैयद मुहम्मद गौस को इतनी ख्याति मिली कि सिकन्दर लोदी ने अपनी पुत्री की शादी उनसे कर दी थी। नक्शबन्दी सम्प्रदाय का प्रचार १७ शताब्दी मे अहमद फारूकी ने किया। इस सम्प्रदाय की मान्यता हजरत मुहम्मद के समान थी। इनके सुधारों से सूफियों के संगीत विधान नृत्य एवं आत्मपीड़न आदि कार्य बन्द हो गये।

कतिपय अधिकृत ग्रन्थो मे भी 'सूफी शब्द की व्युत्पत्ति 'सूफ (ऊन) से ही मानी गयी है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका मे सूफीमत के विषय मे कहा गया है—

"Sufism (tasawwuf) is formed from the Arabic word Sufi, which was applied, in the 2nd century of Islam, to men or women who adopted an ascetic or quiestic way of life The word Sufi from suf (wool) refers to garments worn by such persons"

इसाइक्लोपीडिया आव इस्लाम मे भी इसी मत की पुष्टि की गयी है। वहा 'तसव्वुफ, जो सूफीमत का पर्याय है, की व्याख्या देते हुए लिखा गया है—

"Taswwuf i Etymology—masadar of form V, formed from the root suf, meaning 'wool' to denote 'the practice of wearing the woollen robe (lab al-suf) hence the act of devoting oneself to the mystic life on becoming what is called in Islam a sufi"

'इसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स मे 'सूफी शब्द पर विभिन्न विद्वानो की व्याख्याए सकलित की गई है और उन सबका खडन अथवा मडन करते हुए जिस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है, वह इस प्रकार है—

"In the present article of the term 'Sufi' and 'Sufism' are to be understood in their ordinary sense, viz as equivalent to Muhammadan mystic and Mohammadan mysticism Ancient Sufism, however, had strong ascetic tendencies while the mystical element might be insignificant, and there have always been Sufis of anascetic and devotional type whom we should hesitate to describe as mystics in the proper meaning of the word In Persian and Turkish poetry 'Sufi' sometimes bears the sense of 'hypocritical pietist' or 'dissolute free-thinker' and may be used as a term of reproach by poets who are themselves Sufis of a different sort"

सूफीमत का उद्‌भव एवं विकास

सूफीमत के उद्‌भव के सम्बन्ध मे विद्वानो ने विभिन्न मत व्यक्त किए हैं। कुछ लोगो का कथन है कि आदम सबसे पहले सूफी थे और इस प्रकार इन लोगो के अनुसार सूफीमत सृष्टि के आरम्भ से ही चला आ रहा है। मसीही लोगो का कहना है कि प्रथम सूफी मसीह के शिष्य थे। कुछ लोगो का यह भी विश्वास है कि सूफीमत इस्लाम के विरुद्ध आर्य धर्म की प्रतिक्रिया है। अन्य विद्वानों का विचार है—'सूफीमत का आदम में बीजवपन, नूह मे अकुर, इब्राहीम मे कली, मूसा मे विकास, मसीह में परिपाक और मुहम्मद मे मधु का फलागम हुआ।

शोधपूर्ण ढग से देखने पर सूफीमत का आदि स्रोत शामी जातियो की आदिम प्रवृतियो मे मिल जाता है। सूफीमत का मूलाधार रति-भाव था, जिसका शामी जातियो मे आरम्भिक स्थिति मे पर्याप्त विरोध किया जाना रहा। मूसा और मुहम्मद साहब ने सयत भोग का विधान किया। मूसा ने प्रवृत्ति मार्ग पर बल दिया और लौकिक प्रेम का समर्थन किया। सूफियो के अनुसार इश्क मजाजी (लौकिक प्रेम)

नशे में मस्त होकर उसी से लौ लगा देता है। जिस समय वह अपने प्रियतम के विरह की ज्वाला में जल रहा होता है उस समय वह समस्त जीव-जगत् को अपनी विरह व्यथा से व्यथित पाता है। आत्मा या साधक परमात्मा रूप नारी के अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर प्रेम के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ता जाता है।

(iii) साधक की अवस्थाएं—भारतीय सूफियों ने सूफीमार्ग की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया। पहली अवस्था का नाम 'नासूत' है। यह साधक की प्रथम अवस्था है। इस अवस्था में वह शरीयत कुरान में प्रतिपादित विधि निषेधों का पालन करता है। यह साधना की सबसे निचली स्थिति है। जब साधक इस अवस्था को पार कर लेता है तब वह दूसरी अवस्था 'मलकूत' में स्थित होता है। इसमें साधक भौतिक जगत् से ऊपर उठकर पवित्र हो जाता है। यही वह अवस्था है जिसमें वह तरीका अर्थात् पवित्रता को अपनाने मे समर्थ होता है। इस अवस्था से भी निकलकर साधक तीसरी अवस्था में प्रविष्ट होता है जिसे मारिफत की संज्ञा दी गई है। इस अवस्था में उसके अन्दर परमात्मा से मिलने की सामर्थ्य आ जाती है और उसके मार्ग की सारी बाधाएँ दूर हो जाती है। चौथी अवस्था (मंजिल) का नाम हकीकत है। हकीकत का अर्थ परम सत्य है। इसमें साधक 'लाहूत' की अवस्था प्राप्त करता है। यह वह स्थिति है जिसमें साधक परमात्मा के साथ एकता का अनुभव करने लगता है, क्योंकि उसे विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी होती है। यहाँ साधक अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है और वह अनहलक (अहं ब्रह्मास्मि) की अनुभूति करने लग जाता है।

(४) शैतान—शङ्कराचार्य की माया से मिलता-जुलता सूफीमत में शैतान है। यह शैतान आत्मा और परमात्मा के मिलन मे बाधा पहुँचाता है। इसका मुख्य कार्य साधक को साधना-पथ से विचलित करना है। यद्यपि शैतान की कल्पना इस्लाम में भी है किन्तु इस्लाम तथा सूफियों के शैतान में अन्तर यह है कि इस्लाम में शैतान को खुदा का विरोधी माना जाता है जबकि सूफी उसे खुदा का परम भक्त स्वीकार करते हैं। सूफियों के अनुसार खुदा ने शैतान की सृष्टि साधक की परीक्षा के लिए की है। शैतान की परीक्षा से उत्तीर्ण होकर ही साधक परमात्मा से मिल सकता है। शैतान के विघ्नों से बचाने मे गुरु ही समर्थ है और यही कारण है कि सूफियों में गुरु की बहुत अधिक महत्ता है। शैतान से रक्षा करने मे गुरु ही साधक का पथप्रदर्शक बनता है।

(५) सृष्टि की उत्पत्ति—सूफियो के अनुसार ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना उसके अपने गूढ़ रहस्यो की अभिव्यक्ति के निमित्त हुई है। इसके समर्थन मे एक हदीस का हवाला दिया जाता है— कुन्तु कनजन् मखफीयन् फअहबबतो अन ओरिफो फखलकतुल खल्क। अर्थात् मैं एक छिपा हुआ खजाना था फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें। इसलिये मैंने सृष्टि की रचना की। किसी का कथन है कि अल्लाह जगत्कारण अग्नि के रूप मे था। सृष्टि की कामना से उसने अपने स्वरूप स्वत्व पर दृष्टिपात किया और वह द्रवीभूत होकर पानी के रूप मे हो गया। जिससे स्थूल द्रव्य फेन की भाँति ऊपर छा गया। उसी से सप्त पृथ्वी की रचना की गयी। उसके सूक्ष्म तत्वों से सात लोक

सफीमत के सिद्धात

सूफियो मे अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं, अत इन सम्प्रदायो के आध्यात्मिक सिद्धान्तो मे थोडा वहुत अन्तर होना स्वाभाविक है, किन्तु फिर भी सभी सम्प्रदायो के मूलभूत सिद्धात एक ही हैं। मभी सूफी यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर निर्गुण निराकार है। वह सर्वव्यापक हैं किन्तु उसके सर्वव्यापी होने पर भी सच्चा प्रेमी ही उसके दर्शन कर सकता है। प्रेम ही वह तत्व है जो परमात्म-प्राप्ति की कुन्जी है। सूफीमत मे प्रेम को वहुत अधिक महत्त्व प्राप्त है। सूफियो के कतिपय प्रमुख सिद्धातो का सक्षिप्त विवेचन यहा प्रस्तुत किया जा रहा है—

(i) **परमात्मा का स्वरूप**—परमात्मा के सम्बन्ध मे सूफी भी सनातनपथी मुसलमानो के जैसा 'एकेश्वरवाद' मे विश्वास करते हैं लेकिन दोनो अपने-अपने ढग से इसको मानते हैं। सनातन पन्थी इस्लाम के अनुसार परमात्मा अपने जैसा आप है, उसके जैसा और कुछ भी नही। जात (सत्ता), सिफन (गुण) और कर्म मे परमात्मा अद्वितीय है। उसकी तुलना किसी से नही की जा सकती। सृष्टि के सभी पदार्थों से वह भिन्न है। लेकिन सूफियो के लिये 'एकेश्वरवाद' का अर्थ दूसरा है। यह मानते हुये भी कि परमात्मा एक और अद्वितीय तथा निरपेक्ष है, सूफी यह कहते हैं कि इस दृश्यवान् जगत् मे परिव्याप्त एक मात्र वही सत्य है। उसी की एक मात्र सत्ता है जो पहले थी या भविष्य मे रहेगी। अतएव ऐसा मानने का यह मतलव हो जाता है कि अगर परमात्मा को छोडकर और किसी वस्तु की सत्ता नही है तो यह निखिल विश्व परमात्मा के साथ एक है तथा प्रतीयमान जितनी भी सत्ताए हैं वे उसी मे अन्तर्निहित हैं। एक स्थल पर जामी ने परमात्मा के स्वरूप तथा सृष्टि के साथ उसके सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुये लिखा है—"वह अद्वितीय पदार्थ जो निरपेक्ष है, अगोचर है, अपरिमित है और जो नानात्व से परे है वही अल-हक्क (परम सत्य) है। दूसरी तरफ अपने नानात्व और अनेकत्व मे जब वह सभी गोचर वस्तुओ मे अपने आपको प्रकट करता है तब यह सम्पूर्ण रची हुई सृष्टि वही है। अतएव यह सृष्टि उस परम सत्य की दृश्यमान वाह्य अभिव्यक्ति है और वह परम सत्य इस सृष्टि का आभ्यन्तर अदृश्य सत्य है। यह सृष्टि गोचर होने के पहले उसी परम सत्य के सदृश थी और गोचर होने के बाद उस परम सत्य का इस सृष्टि के साथ सादृश्य है।"

वस्तुत ईश्वर को सृष्टि-प्रचार मे सर्वत्र देखने के परिणाम स्वरूप ही सूफी ससार के सभी प्राणियो तथा धर्मों के प्रति सहानुभूतिशील हैं।

(ii) **प्रेम**—सूफीमत मे प्रेम अथवा इश्क को विशेष स्थान प्राप्त है। सूफियो की दृष्टि में प्रेम परमात्म-मिलन का एकमात्र साधन है। वे इश्कमजाजी (लौकिक प्रेम को इश्कहकीकी (अलौकिक प्रेम) का प्रथम सोपान मानते हैं। सूफी साधक निखिल विश्व को प्रेममय देखता है। प्रेम की तीव्रता की वृद्धि के लिये ही सूफियो ने अपने को पुरुष तथा परमात्मा को नारी रूप मे स्वीकार करता है। जिस प्रकार लौकिक नारी के प्रति पुरुष मे प्रेम का अकुर उदित होते ही वह उससे मिलन को उद्विग्न हो जाता है, उसी प्रकार सूफी साधक मे भी जव परमात्म-मिलन के लिये प्रेम का उदय हो जाता है तव वह विरही की भाति उसकी खोज मे तत्पर हो जाता है और प्रेम के

कर परमात्म-मिलन के मार्ग पर प्रवृत्त करता है। सूफी गुरु का ध्यानानुसरण भ्रष्ट कर मानते हैं।

(१०) सूफी मत के कतिपय अन्य तत्व—सूफी लोग कुरान शरीफ के पारायण तथा चुने हुए मजमों के दैनिक पाठ में विश्वास रखते हैं। आत्म-निग्रह चिन्तन तथा मौन जप पर भी इनका बहुत अधिक बल है।

सूफी प्रेमाख्यान-काव्यों का क्रमिक विकास

सूफी प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा कहाँ से प्रारम्भ होती है इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कह पाना कठिन कार्य है। जायसी ने पद्मावत में अपने से पूर्व कुछ प्रेमाख्यान-काव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
मधू पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधि कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह बियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। ऊषा लागि अनिरुध बर बाँधा।

उपर्युक्त उद्धरण में जिन प्रेम-काव्यों का नाम आया है वे हैं—'स्वप्नावती' 'मुग्धावती' 'मृगावती' 'खण्डरावती' 'मधुमालती' और 'प्रेमावती'। प्रस्तुत काव्य ग्रन्थों में 'मृगावती' और मधुमालती तो प्राप्त हैं शेष के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनके अतिरिक्त दामो रचित 'लखमन सेन पद्मावती' का और परिचय मिलता है।

वस्तुतः सूफी प्रेमाख्यानक-काव्य-धारा में जो सबसे प्रथम काव्य है वह मुल्ला दाऊद का 'चन्दायन या चन्दावत' है। जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है जायसी द्वारा उल्लिखित प्रेम-काव्यों में 'मृगावती' और 'मधुमालती' उपलब्ध हैं। 'मृगावती' की रचना कुतुबन (आविर्भाव सं० १५५) ने की थी। इसमें कंचनपुर के राजा की राजकुमारी मृगावती और चन्द्रगिरि के राजकुमार के प्रेम की कथा है। लौकिक प्रेम का वर्णन होने पर भी इस ग्रन्थ में अलौकिक प्रेम का भी प्रकार दिग्दर्शन कराया गया है। मधुमालती के लेखक मंझन (आविर्भाव सं० १५४५) हैं। इसमें कनेसर के राजकुमार मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। विरह-वर्णन को इसमें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। यह रचना मृगावती से कहीं अधिक आकर्षक और भावात्मक है।

इन कवियों के उपरान्त 'पद्मावत' के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी का नाम आता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इनका कविता काल सं० १५६७ माना है। अब तक इनकी तीन रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं 'आखिरी कलाम' 'अखरावट' और 'पद्मावत'। 'आखिरी कलाम' तथा 'अखरावट' साहित्यिक दृष्टि से नहीं वरन् साम्प्रदायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। 'आखिरी कलाम' में मुख्य रूप से मुहम्मद साहब के महत्व का वर्णन है। 'अखरावट' में ईश्वर, जीव, ब्रह्म सृष्टि निर्माण गुरु तथा धर्माचार आदि का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है। जायसी का 'पद्मावत' हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। इसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप के

और फरिश्ते बने। अधिकाश सूफी यह मानते हैं कि ईश्वर ने सर्वप्रथम मुहम्मदीय आलोक की सृष्टि की। वह आलोक बीज मे बदला। उसी से पृथ्वी, जल, वायु, और अग्नि की उत्पत्ति हुई। फिर आकाश और तारे बने। इसके उपरान्त सप्त भुवन, धातु, उद्भिज पदार्थ, जीव-जन्तु एव मानव की रचना हुई।

(६) **मानव-महत्ता**—सूफियो की दृष्टि मे मानव निखिल सृष्टि-प्रसार का श्रेष्ठतम प्राणी है और इसमे ईश्वर के रूप की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। सूफी मानते हैं कि मानव-शरीर मे जड और आध्यात्मिक, दोनो ही प्रकार के अश हैं। नफस, अर्थात् जड आत्मा मनुष्य को पाप की ओर ले जाती है तथा रूह आत्मा की ईश्वरीय शक्ति का दर्शन हृदय के स्वच्छ दर्पण मे कराती है। नफस को मारना ही मानव का परम कर्तव्य है।

(७) **पूर्ण मानव (इन्सानुल-कामिल) की कल्पना**—ऊपर बताया जा चुका है कि सूफियो ने मानव को समस्त जीव धारियो मे उच्चतम स्थान प्रदान किया है, किन्तु मनुष्य का चरम उत्कर्ष 'पूर्ण मानव' है। पूर्ण मानव मे परमात्मा के सभी गुण प्रकाश पाते हैं। उसे मनुष्य तथा परमात्मा के बीच की कडी माना गया है। सूफियो का कहना है कि परमात्मा पूर्ण मानव मे अपने आपको पूर्ण रूप से प्रकाशित करते हैं और इस प्रकार से अपने आपको जानते हैं। रामपूजन तिवारी ने लिखा है—
"पूर्ण-मानव साधना के द्वारा सूफीमार्ग की सभी मजिलो को पार करता हुआ एक स्तर से दूसरे स्तर पर ऊपर की ओर चढता हुआ ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है कि वह परमात्मा के साथ 'एकत्व' का बोध करता है। वह परमात्मा के अनुग्रह से जगत् की समस्त वस्तुओ का ज्ञान तो प्राप्त किये हुए रहता ही है साथ ही वह परमात्मा का साक्षात् दर्शन करने मे भी समर्थ होता है। अतएव एक ही साथ वह प्रकृति और परमात्मा दोनो की शक्तियो को आइने की तरह से प्रत्यक्ष कराता है।"

(८) **साधना-सोपान**—सूफीमत मे सात साधना-सोपान माने गये हैं। उनके नाम हैं—अनुताप, आत्म सयम, वैराग्य, दारिद्रय, धैर्य, विश्वास, सन्तोष और प्रेम। इन सभी सोपानो मे प्रेम की महत्ता सर्वाधिक है। जब साधक सातो सोपानो को पार कर जाता है तो उसमे एक अतीन्द्रिय आनन्द का उदय होता है। सूफी ईश्वर को सत्तर हजार पर्दों के पीछे मानते हैं। साधक इन सोपानो से अन्धकार के सभी पर्दों को फाडता हुआ प्रकाशमय पर्दों की ओर जाता है। इन सोपानो की सिद्धि से साधक मानवीय गुणो का अतिक्रमण कर ईश्वरीय गुणों को प्राप्त कर लेता है।

सूफी मत मे इन सप्त सोपानों के अतिरिक्त चार उच्चतर सोपान भी स्वीकार किये गये हैं। इन्हें 'मुकामात' की सज्ञा दी गयी है। प्रथम मुकाम का नाम 'मारफत' है जहाँ मानव अनुभूति के माध्यम से ईश्वर की उपलब्धि का अनुभव करता है। दूसरा मुकाम वह है जहाँ प्रेम का उदय होता है। यह प्रेम उन्माद का रूप धारण कर लेता है जिसे समाधि कहते हैं। आगे चल कर इसी समाधि की दशा मे वस्ल का अवसर प्राप्त होता है और यही दशा आत्मा-परमात्मा के भेद की सूचक है।

(९) **गुरु (पीर) की महत्ता**—सूफी मत में पीर की बहुत अधिक महत्ता है। यह गुरु ही है जो साधक को शैतान द्वारा प्रस्तुत की गयी विघ्न-बाधाओ से निकाल

कर परमात्म मिलन के मार्ग पर प्रवृत्त करता है। सूफी गुरु का ग्रन्थानुकरण श्रेयस्कर मानते हैं।

(१०) सूफी मत के कतिपय अन्य तत्त्व—सूफी लोग कुरान शरीफ के पारायण तथा चुने हुए भजनों के दैनिक पाठ में विश्वास रखते हैं। आत्म-निग्रह चिन्तन तथा मौन जप पर भी इनका बहुत अधिक बल है।

सूफी प्रेमाख्यान-काव्यों का क्रमिक विकास

सूफी प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा कहाँ से प्रारम्भ होती है इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कह पाना कठिन कार्य है। जायसी ने पद्मावत में अपने से पूर्व कुछ प्रेमाख्यान-काव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
मधू पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधि कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। उषा लागि अनिरुध बर बाँधा।

उपर्युक्त उद्धरण में जिन प्रेम-काव्यों का नाम आया है, वे हैं—स्वप्नावती' मुग्धावती 'मृगावती 'खंडरावती 'मधुमालती और प्रेमावती'। प्रस्तुत काव्य ग्रन्थों में 'मृगावती और मधुमालती तो प्राप्त हैं शेष के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनके अतिरिक्त जायसी-रचित लक्ष्मण सेन पद्मावती का और परिचय मिलता है।

वस्तुतः सूफी प्रेमाख्यानक-काव्य-धारा में जो सबसे प्रथम काव्य है वह मुल्ला दाऊद का 'चन्दायन' या चन्दावत है। जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है जायसी द्वारा उल्लिखित प्रेम-काव्यों में 'मृगावती और 'मधुमालती उपलब्ध हैं। 'मृगावती की रचना कुतुबन (आविर्भाव सं १५५) ने की थी। इसमें कंचनपुर के राजा की राजकुमारी मृगावती और चन्द्रगिरि के राजकुमार के प्रेम की कथा है। लौकिक प्रेम का वर्णन होने पर भी इस ग्रन्थ में अलौकिक प्रेम का सभी प्रकार दिग्दर्शन कराया गया है। मधुमालती के लेखक मंझन (आविर्भाव सं १५४५) हैं। इसमें कनेसर के राजकुमार मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। विरह-वर्णन को इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। यह रचना मृगावती से कहीं अधिक आकर्षक और भावात्मक है।

इन कवियों के उपरान्त पद्मावत' के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी का नाम आता है। डॉ रामकुमार वर्मा ने इनका कविता काल सं १५९७ माना है। अब तक इनकी तीन रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं आखिरी कलाम अखरावट' और पद्मावत। आखिरी कलाम' तथा अखरावट' साहित्यिक दृष्टि से नहीं वरन् साम्प्रदायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। आखिरी कलाम' में मुख्य रूप से मुहम्मद साहब के महत्त्व का कथन है। अखरावट में ईश्वर, जीव तथा सृष्टि निर्माण गुरु तथा धर्माचार आदि का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है। जायसी का पद्मावत' हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। इसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप के

राजा गन्धर्वसेन की पुत्री पद्मावती की प्रेम-कथा वर्णित है। कवि ने इस प्रेम-कथा को इतने सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है कि उसमे पदे-पदे अलौकिक प्रेम का आभास मिलता चलता है। यह वह ग्रन्थ है जिसके द्वारा जायसी हिन्दू-मुस्लिम हृदयो के अजनबीपन को मिटाने मे समर्थ हो सके थे। ग्रन्थ मे यत्र-तन्त्र रहस्यवाद की सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है। बाबू गुलाबराय ने जायसी की गद्-गद् कण्ठ से प्रशसा करते हुए लिखा है—"जायसी महान् कवि है। उसमे कवि के समस्त सहज गुण विद्यमान हैं। उसने सामयिक समस्या के लिए प्रेम की पीर की देन दी। उस पीर को उसने शक्ति-शाली महाकाव्य के द्वारा उपस्थित किया। वह अमर कवि है।" 'पद्मावत' निस्सन्देह हिन्दी का अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है। इसमे रसराज शृगार का सुन्दर परिपाक हुआ है। यद्यपि शृगार के दोनो ही पक्ष-सयोग और वियोग—मिलते हैं, किन्तु प्रधानता वियोग की है। नागमती का वियोग-वर्णन पाठक को हिला देता है। नागमती के वियोग के विषय मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"नागमती के इस विरह-वर्णन मे जायसी ने यद्यपि कही-कही ऊहात्मक पद्धति का सहारा लिया है, फिर भी उसमे गाम्भीर्य बना हुआ है। बिहारी की विरह-व्यञ्जना की भाँति उसमे उछल-कूद और मजाक नही है। जायसी की अत्युक्तिया बात की करामात नही जान पडती, हृदय की अत्यन्त तीव्र वेदना के शब्द सकेत प्रतीत होती हैं। फारसी की काव्य-शैली से प्रभावित होने के कारण जायसी का विरह-वर्णन कही कही बीभत्स भी हो उठता है, परन्तु जहाँ कवि ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है वहाँ कोई अरुचिकारी बीभत्स दृश्य नही आने पाया।" प्रकृति-चित्रण मे जायसी ने परिगणन-शैली, अतिशयोक्तिपूर्ण शैली, उपमान शैली, प्रतीक शैली और रहस्यात्मक शैली को अपनाया है। उनका चरित्र-चित्रण एकदेशीय है। 'पद्मावत' मे हमे चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी वह अनेकरूपता देखने को नही मिलेगी जो तुलसी मे है। जायसी के चरित्र-चित्रण के विषय मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है—"मनोभावो का चित्रण तो वे बडी कुशलता से कर लेते हैं। किन्तु विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न पात्रो की व्यक्तिगत विशिष्टता और विलक्षणता प्रकट करने मे वे सफल नही हो सके हैं। उनका आदर्श चित्रण एकदेशीय है। रत्नसेन प्रेमी का आदर्श है और नागमती पतिव्रता का, किन्तु जीवन की बहुमुखी परिस्थितियो के पडने पर इनका कौन सा रूप निखरेगा, यह स्पष्ट नही हो सका, सर्वत्र एक सामान्यीकरण का प्रयास है।" अलकारो मे उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा जायसी को विशेष प्रिय हैं। 'पद्मावत' के छन्द दोहा चौपाई छन्द हैं। इस ग्रन्थ मे प्रयुक्त भाषा ठेठ पूर्वी अवधी है। यद्यपि भाषा माधुर्य गुण से मण्डित है तथापि वह अनेक स्थलो पर अनगढ है। च्युत सस्कृति-दोष भी कही-कही है, जो खटक जाता है।

प्रेमाख्यानक-काव्य-परम्परा मे जायसी के 'पद्मावत' के बाद उसमान की 'चित्रावली' का नाम आता है। 'चित्रावली' मे नैपाल के राजा धरनीधर पँवार के पुत्र सुजानकुमार अनेक कठिनाइयो के बाद कँवलावती और चित्रावती से विवाह करने मे समर्थ होते हैं। इस प्रेम-काव्य की कथा इतिहास-सम्मत न होकर कल्पना-प्रसूत है। स्वर्गीय जगमोहन वर्मा का कहना है—"कवि ने इस ग्रन्थ मे ठौर-ठौर पर

वेदान्त और अद्वैतवाद की झलक दिखलाने में कमी नहीं की है। कथा ऐतिहासिक घटना से नहीं ली गई जान पड़ती बल्कि कल्पना प्रसूत है। नेपाल के राजसिंहासन पर एक भी पँवार राजा नहीं हुआ है। कथा विचारने से आध्यात्मिक प्रतीत होती है और इसीलिए ग्रन्थ में सुजान को शिव का अवतार लिखा है। आध्यात्मिकता के साथ ही चित्रावली में नीति का भी अच्छा वर्णन है।

यद्यपि प्रमुख प्रेमाख्यानक काव्य ये ही हैं तथापि इनके अतिरिक्त और भी बहुत से प्रेम-काव्य लिखे गये हैं। इनमें माधवानल कामकन्दला की प्रेम-कथा मुख्य रूप से तीन कवियों द्वारा लिखी गयी है। ये कवि हैं—जैसलमेर के वाचक कुशल लाभ (रचना-काल सं० १६१६) आलम (रचना काल सं० १६४) और गणपति (रचना-काल सं० १५८४)। कुतुब सतक (रचना-काल सं० १६११) के रचयिता के नाम का पता नहीं है। रस रतन' के लेखक मोहनदास के पुत्र पुहकर कवि (आविर्भाव सं० १६७५) थे। इस ग्रन्थ में सूरसेन की बड़ी लम्बी कथा है। 'ज्ञान दीप' मे राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की प्रेम-कथा है। इसके रचयिता शेख नबी (सं० १६७६) थे। 'पञ्च सहेली कवि छीहल री कही' (कवि छीहल-कृत) सदैवछ सावलिंग रा दूहा (रचयिता का नाम अज्ञात) 'सोरठ रा दूहा' (रचयिता का नाम अज्ञात) कनक मंजरी' (काशीराम-कृत) नैनासत (साधन-कृत) 'मदन सतक' (दाम कृत) ढोला मारू रा दूहा (कुशललाभ कृत) 'विनोद रस' (सुमति हंस कृत) पुहुपावती' (दु ख हरनदास कायस्थ कृत) भी उल्लेख्य प्रेम काव्य हैं। 'नल दमन' के रचयिता सूरदास हैं जो पुष्टिमार्गी महाकवि सूरदास से भिन्न हैं। इनका रचना-काल सं० १७१ माना गया है। नल दमन' में नल-दमयन्ती की कथा है। हंस जवाहर' के प्रणेता कासिमशाह (स्थिति-काल सं० १७८८) थे। इस ग्रन्थ में राजा हंस और रानी जवाहर की प्रेम-कथा वर्णित है। प्रस्तुत प्रेमाख्यानक-काव्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रेम-काव्यों का भी प्रणयन हुआ है जिनमें चंदन 'मलयागिरि री वात (भद्रसेन-कृत) विरहा विनोद (मुरली-कृत) 'चन्द्रावती (नूर मुहम्मद-कृत कामरूप की कथा (हरसेवक मिश्र कृत) 'चंद कुंवर री बात' (प्रतापसिंह-कृत) 'प्रेम रतन' (फाजिल शाह-कृत) पन्ना वीरमदे री बात (रचयिता का नाम अज्ञात) मुख्य हैं। उपर्युक्त कतिपय प्रेमाख्यानक-काव्य यद्यपि हिन्दू-कवियों द्वारा भी प्रणीत हैं तथापि उनमे प्रवृत्ति नहीं मिलती है जो सूफी प्रेम काव्यों मे है।

सूफी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

(१) हिन्दू-मुस्लिम-एकता—सूफी कवियों ने हिन्दू मुस्लिम-एकता का सराहनीय कार्य सम्पन्न किया। इस ऐक्य रूप जिस कार्य को सन्त कवि अपने स्वभाव की अक्खड़ता के कारण पूरा न कर सके उसे सूफी-कवियों ने अपनी प्रकृति की कोमलता से सम्पन्न किया। इन सूफियों ने हिन्दू-घरों में प्रचलित कहानियों को लिया और उनके द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यञ्जना की। इन्होंने परम ब्रह्म को प्रेम के द्वारा गम्य बताया और यह प्रेम साधना हिन्दू-मुसलमान दोनों को मान्य थी। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल का कथन है— 'प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों

राजा गन्धर्वसेन की पुत्री पद्मावती की प्रेम-कथा वर्णित है। कवि ने इस प्रेम-कथा को इतने सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है कि उसमे पदे-पदे अलौकिक प्रेम का आभास मिलता चलता है। यह वह ग्रन्थ है जिसके द्वारा जायसी हिन्दू-मुस्लिम हृदयो के अजनबीपन को मिटाने मे समर्थ हो सके थे। ग्रन्थ मे यत्र-तन्त्र रहस्यवाद की सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है। बाबू गुलाबराय ने जायसी की गद्-गद् कण्ठ से प्रशसा करते हुए लिखा है—"जायसी महान कवि है। उसमे कवि के समस्त सहज गुण विद्यमान हैं। उसने सामयिक समस्या के लिए प्रेम की पीर की देन दी। उस पीर को उसने शक्ति-शाली महाकाव्य के द्वारा उपस्थित किया। वह अमर कवि है।" 'पद्मावत' निस्सन्देह हिन्दी का अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है। इसमे रसराज शृगार का सुन्दर परिपाक हुआ है। यद्यपि शृ गार के दोनो ही पक्ष-सयोग और वियोग—मिलते हैं, किन्तु प्रधानता वियोग की है। नागमती का वियोग-वर्णन पाठक को हिला देता है। नागमती के वियोग के विषय मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"नागमती के इस विरह-वर्णन मे जायसी ने यद्यपि कही-कही ऊहात्मक पद्धति का सहारा लिया है, फिर भी उसमें गाम्भीर्य बना हुआ है। बिहारी की विरह-व्यञ्जना की भाँति उसमे उछल-कूद और मजाक नही है। जायसी की अत्युक्तिया बात की करामात नही जान पडती, हृदय की अत्यन्त तीव्र वेदना के शब्द सकेत प्रतीत होती हैं। फारसी की काव्य-शैली से प्रभावित होने के कारण जायसी का विरह-वर्णन कही कही बीभत्स भी हो उठता है, परन्तु जहाँ कवि ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है वहाँ कोई अरुचिकारी बीभत्स दृश्य नही आने पाया।" प्रकृति-चित्रण मे जायसी ने परिगणन-शैली, अतिशयोक्तिपूर्ण शैली, उपमान शैली, प्रतीक शैली और रहस्यात्मक शैली को अपनाया है। उनका चरित्र-चित्रण एकदेशीय है। 'पद्मावत' मे हमे चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी वह अनेकरूपता देखने को नही मिलेगी जो तुलसी मे है। जायसी के चरित्र-चित्रण के विषय मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है—"मनोभावों का चित्रण तो वे बड़ी कुशलता से कर लेते हैं। किन्तु विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न पात्रो की व्यक्तिगत विशिष्टता और विलक्षणता प्रकट करने मे वे सफल नही हो सके हैं। उनका आदर्श चित्रण एकदेशीय है। रत्नसेन प्रेमी का आदर्श है और नागमती पतिव्रता का, किन्तु जीवन की बहुमुखी परिस्थितियो के पडने पर इनका कौन सा रूप निखरेगा, यह स्पष्ट नही हो सका, सर्वत्र एक सामान्यीकरण का प्रयास है।" अलकारो मे उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा जायसी को विशेष प्रिय हैं। 'पद्मावत' के छन्द दोहा चौपाई छन्द हैं। इस ग्रन्थ मे प्रयुक्त भाषा ठेठ पूर्वी अवधी है। यद्यपि भाषा माधुर्य गुण से मण्डित है तथापि वह अनेक स्थलो पर अनगढ है। च्युत-सस्कृति-दोष भी कही-कही है, जो खटक जाता है।

प्रेमाख्यानक-काव्य-परम्परा मे जायसी के 'पद्मावत' के बाद उसमान की 'चित्रावली' का नाम आता है। 'चित्रावली' मे नेपाल के राजा धरनीधर पँवार के पुत्र सुजानकुमार अनेक कठिनाइयो के बाद कँवलावती और चित्रावती से विवाह करने मे समर्थ होते हैं। इस प्रेम-काव्य की कथा इतिहास-सम्मत न होकर कल्पना-प्रसूत है। स्वर्गीय जगमोहन वर्मा का कहना है—"कवि ने इस ग्रन्थ मे ठौर-ठौर पर

नायिका दूर देशों के रहने वाले हैं। नायक नायिका की प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग कर आँधी तूफानों का सामना करते हुए घर से निकल पड़ता है। कथा में गति लाने के लिए सूफी-कवियों ने भारतीय काव्यों में व्यवहृत काव्य-रूढ़ियों का प्रयोग किया है जैसे चित्र-दर्शन स्वप्न द्वारा अथवा शुक-सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुनकर उस पर आसक्त होना पशु-पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना मन्दिर चित्रसाला उपवन अथवा किसी अन्य एकान्त स्थान पर प्रेमी युगल का मिलना इत्यादि। कहीं-कहीं पर इन्होंने ईरानी काव्यों में व्यवहृत रूढ़ियों का भी प्रयोग किया है जैसे प्रेम-व्यापार में परियों देवों आदि का प्रयोग।

(vi) प्रेमाख्यानों की मूल प्रेरणा—कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि सूफी कवियों को हिन्दू घरों में प्रचलित प्रेम-कथाओं को लेकर इस्लाम का प्रचार करना अभीष्ट था किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। इस विषय में पं. परशुराम चतुर्वेदी का कथन द्रष्टव्य है—"इन कवियों ने अपनी रचनाओं में इसकी ओर कभी कोई संकेत नहीं किया और न इनके कथानकों से लेकर उनके क्रम विकास अथवा अन्त तक भी कोई ऐसा प्रसंग छेड़ा जिससे उनका कोई साम्प्रदायिक अर्थ लगाया जा सके। यह अवश्य है कि जहाँ तक घटनाओं की क्रम-योजना का प्रश्न है उसे इस प्रकार दिखाया गया है जिससे सूफी प्रेम-साधना का भी मेल बैठ जाय। परन्तु फिर भी ऐसी बातें अधिक से अधिक केवल दृष्टान्तों के ही रूप में पायी जाती हैं जिस कारण उनमें साम्प्रदायिक आग्रह का भी रहना अनिवार्य नहीं है। इसके सिवाय इन प्रेमाख्यानों के नायक-नायिका उनके दैनिक व्यापार, वातावरण तथा उनके सिद्धान्त व संस्कृति में कोई परिवर्तन नहीं लाया जाता और न कहीं यह चेष्टा की जाती है कि कथा प्रवाह के किसी अंश में किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष के महापुरुषों द्वारा कोई मोड़ ला दिया जाय। इनमें प्रसंगतः यदि कोई हिंदू जोगी व तपी आता है तो ख्वाजा खिज्र भी आ जाते हैं और दोनों समभाव एक ढंग से काम करते पाये जाते हैं।

(vii) चरित्र-चित्रण—सूफी-प्रेम-काव्यों में चरित्र-चित्रण का वैविध्य नहीं है। सभी नायिकाएं संस्कृत साहित्य की भाँति एक ही साँचे में ढली चली आती हैं। नायक भी इस नियम के अपवाद नहीं उनका भी स्वरूप पूर्व निर्धारित ही होता है।

(viii) विविध प्रभाव—सूफीमत पर मुख्य रूप से चार प्रभाव पड़े हैं—आर्यों का अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद इस्लाम की गुह्य विद्या नव अफलातूनी मत तथा विचार-स्वातन्त्र्य। सूफी कवियों पर भारतीय प्रभाव तो हावी ही हो गया है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय पंच महाभूतों में आकाश को छोड़कर अन्य चार तत्त्व इन्होंने स्वीकार किये हैं। हठयोग का इन पर प्रभूत प्रभाव है। इन्होंने अनेक स्थलों पर यौगिक क्रियाओं का उल्लेख किया है और योगियों के समान ही इन्होंने सिद्धपीठ को भी माना है।

(ix) काव्य प्रकार यों तो काव्यशास्त्र के अनुसार सभी सूफी कवियों की रचनाएँ महाकाव्य के ही अन्तर्गत आती हैं किन्तु इनमें भारतीय महाकाव्यों जैसी सर्ग बद्धता नहीं वरन् शीर्षकों का प्रयोग किया गया है। कुछ विद्वानों ने सूफी प्रेम-काव्यों

को हटाकर पीछे कर दिया।"

(ii) हिन्दू-सस्कृति के प्रति उदारता—सूफियो ने हिंदू-सस्कृति के प्रति अत्यन्त उदार दृष्टिकोण अपनाया हैं। इन्होने हिंदू-धर्म के सिद्धान्तो, रहन-सहन और आचार विचार का सुन्दर वर्णन किया है, हिंदू-पात्रो मे हिंदू आदर्शो की प्रतिष्ठा की है। इनके द्वारा प्रस्तुत किये गये षड्ऋतुओ और बारहमासे के वर्णन भारतीय पद्धति पर हैं। प्रसगानुसार इन्होने भारतीय ज्योतिष, रसायान-शास्त्र तथा आयुर्वेद आदि के ज्ञान का भी परिचय दिया है।

(iii) लोक-पक्ष—सन्त-कवियो मे जहाँ वैयक्तिकता का प्राधान्य है, वहाँ सूफी-कवियो मे समष्टि-भावना का। यही कारण हैं कि इनके प्रेम-काव्यो मे लोक-जीवन का भी चित्रण है। इन्होंने जनसामान्य के अन्धविश्वासो यन्त्र-तन्त्र-प्रयोगो, जादू-टोनो, डायनो की करतूतो, विभिन्न उत्सवो, लोक व्यवहारो, तीर्थों, व्रतो सास्कृतिक वातावरण आदि का अकन बडी सफलता के साथ किया है।

(iv) नारी-विषयक दृष्टिकोण– सूफी-काव्यो मे प्रेम-तत्त्व का प्राधान्य है और उसका स्थान नारी पात्र हैं। नारी के विषय मे सूफियो का दृष्टिकोण अत्यन्त पूत उदात्त है। प० परशुराम चतुर्वेदी के शब्दो मे, सूफी कवियो ने नारी को अपने यहा अपनी प्रेम-साधना के साध्य रूप मे स्वीकार किया है, जिसके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की निरी भोग्य वस्तु मात्र नही रह जाती। वह उस प्रकार की साधन सामग्री भी नही कहला सकती जिसमे उसे बौद्ध सहजयानियो ने मुद्रा नाम देकर सहज साधना के लिये अपनाया था वह उन साधको की दृष्टि मे स्वय एक सिद्धि बनकर आती है और इसी कारण इन प्रेमाख्यानो मे उसे प्राय. अलौकिक गुणो से युक्त भी बतलाया जाता है।"

(v) प्रबन्ध-विधान—यह ठीक है कि सूफी-कवियो ने जन-जीवन मे प्रचलित प्रेमाख्यानो को लेकर अलौकिक प्रेम की अभिव्यञ्जना की है, किन्तु इनकी कहानियो मे यान्त्रिकता का प्राधान्य है। सभी सूफी कवियो की कहानिया प्राय एक ही साँचे मे ढली हुई मिलेगी। इन्हें जहाँ-जहाँ अन्त कथाओ की सृष्टि करनी पड गयी है, वहाँ वहाँ सभी जगह इन्होंने पक्षियो, देवो तथा अप्सराओ का उपयोग किया है। प्रेमी और प्रेमिका के मार्ग मे बीहड वन, भयकर तूफान, विषैले साँप, सुदीर्घ अजगर, विशालकाय हाथी, बलशाली गरुड पक्षी, मनुष्य-भक्षी राक्षस तथा यन्त्र-मन्त्र और जादू-टोना जानने वाले मानवो के द्वारा बाधायें उपस्थित कर दी जाती हैं।

प्रबन्ध-रूढियों मे सभी सूफी-कवियो ने समान रूप से शरण ली है। इन प्रेमाख्यानो मे प्राय सर्वत्र वे ही समुद्र हैं, वैसा ही तूफान है, वैसे ही वन-वनान्तर हैं और वैसी ही मकान एव फुलवारियाँ हैं। कभी-कभी तो कोरा वस्तु-परिगणन कर दिया गया है जिससे एक तो नीरसता आ गयी है और दूसरे कथा के प्रवाह मे आघात भी उपस्थित हुआ है। नगरो का वर्णन करते हुए वहाँ के सरोवरों, वाटिका, महल चित्रशाला और घाटो का वर्णन बडे विस्तार के साथ कर दिया गया है।

लगभग सभी प्रेम-काव्यो मे कथा के सूत्रपात मे नायक या नायिका के देश, कुल, आचार आदि का उल्लेख रागोत्पत्ति के लिए कर दिया जाता है। नायक और

५६

राम भक्ति काव्य

१ रामचरित का महत्व ।
२ राम के तीन रूप—ऐतिहासिक साम्प्रदायिक और साहित्यिक ।
३ रामभक्ति का विकास
४ राम-काव्य का विकास ।
५ राम-काव्य की प्रवृत्तियां ।
६ उपसंहार ।

भारतीय संस्कृति के समष्टि रूप का दर्शन यदि हमें कहीं होता है तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र में । इस महापुरुष का चरित्र इतना लोकप्रिय रहा है कि भारत की विभिन्न प्रांतीय भाषाओं में ही नहीं पड़ौसी देशों की जन भाषाओं में भी राम कथा को लेकर एक विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है। कालप्रवाह के साथ कवियों की व्यक्तिगत रुचि और सांस्कृतिक भावनाओं के अनुसार रामकथा उत्तरोत्तर नये सांचों में ढलती रही । वह महापुरुष महात्मा और धीरोदात्त नायक से अवतारी पुरुष बन गये । हिन्दुओं ने यदि उन्हें विष्णु के दशावतारों में प्रतिष्ठित स्थान दिया तो बौद्धों ने बोधिसत्व और जैनों ने त्रिषष्टि में महापुरुषों में आठवें बलदेव के रूप में उनकी पूजा की । धर्म ग्रन्थ वह साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों के नायक बन गये और कालान्तर में भक्ति-सम्प्रदायों के उदय होने पर विष्णु के सभी नामों में राम ही सर्वाधिक ग्राह्य हुआ । सगुण एवं निर्गुण दोनों पन्थों के प्रवर्तकों ने उनकी महिमा के गीत गाये । कबीर ने यदि निर्गुण निरंजन राम—वह राम जिनके बारे में उन्होंने कहा था —

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना ।
राम नाम का मरम है आना ।।

के नाम को भक्तों का सर्वस्व माना तो तुलसी के 'मानस' में उनके नाम के साथ उनके रूप लीला धाम की भी आरती उतारी गयी । साकेतकार ने यदि

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है

कहकर उनकी महत्ता स्वीकार की तो हरिऔध ने 'वैदेही वनवास' में उनकी प्रिया जानकी की करुण गाथा गायी और 'साकेत-संत' के कवि ने उनके उदात्त-चरित्र, तपस्वी महावनवासी भाई भरत की गौरव-गाथा प्रणीत की ।

को मसनवी की शैली पर रचित माना है, किंतु वस्तुस्थिति यह है कि इन प्रेम-काव्यो मे विविध काव्य-प्रकार समाहित हो गये हैं प० परशुराम चतुर्वेदी ने इनके काव्य-प्रकार का निर्धारण करते हुए लिखा है—"सूफी प्रेमाख्यान एक ऐसी रचना है जिसमे किसी प्रबन्ध काव्य के सभी तत्त्व विद्यमान हैं, किंतु जिसमे इसके साथ ही, कथा-आख्यायिका, जैन चरित काव्य एव मसनवी की भी विशेषताओ का समन्वय हो गया है और यही इसकी सबसे बडी विशेषता है।"

(x) रस—सूफी प्रेम-काव्यो का प्रधान रस तो शृङ्गार ही है—शृगार के सयोग तथा वियोग, विशेषरूप से वियोग का सुन्दर परिपाक हुआ है, किंतु फिर भी गोरा-बादल-युद्ध आदि प्रसगो मे वीर रस की भी अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। कही-कही करुण, शान्त एव वीभत्स रसो का भी कुछ समावेश है।

(xi) प्रतीक-विधान—सूफी-कवियो का मुख्य लक्ष्य लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम का प्रतिपादन करना था अत उनके काव्यो मे साकेतिक विधान या प्रतीको का प्रयोग स्वाभाविक ही था। नायिक, नायिका तथा वस्तुओ और स्थलो के नाम तक साकेतिक हैं—'चित्रावली' के नायक का नाम सुजान है। नायिका के निवास-स्थान का नाम रूपनगर है। स्थलो एव पहाडो के नाम कवि ने क्रमश भोगपुर, गोरखपुर और नेहनगर दिये हैं। कासिमशाह की रचना 'हस जवाहर' मे नायक का नाम हस है जो जीवात्मा का बोधक है।

(xii) अलकार—सूफियो ने समासोक्ति का प्रयोग बहुत अधिक किया है। उपमा उत्प्रेक्षा और रूपक भी इनके प्रिय अलकार हैं।

(xii) छन्द—सूफी प्रेमाख्यानो मे दोहा और चौपाई छन्द ही अधिक मात्रा मे प्रयुक्त हुए है। इनके साथ ही सोरठा, सवैया, प्लवगम, बरवै और कही-कही फारसी की बहरो का भी प्रयोग हुआ है।

(xiii) भाषा—सूफी प्रेम-काव्यो की भाषा प्राय सर्वत्र अवधी है। उसमान पर भोजपुरी का प्रभाव है। कही-कही ब्रजभाषा का भी प्रभाव देखने को मिल जाता है।

उपसहार

लोक-रजन एव लोक-मगल दोनो ही दृष्टियो से सूफी प्रेमाख्यान-काव्यो का विशेष महत्त्व है। जहा एक ओर इन काव्यो के द्वारा सहृदय पाठक के मन को विश्रान्ति मिली है, वही दूसरी ओर प्रेम-तत्त्व के निरूपण से लोक मगल का भी विधान हुआ है सूफी कवियो ने हिंदू और मुसलमानो के बीच ऐक्य स्थापित करने का जो स्तुत्य प्रयास किया है, उसके लिए उनका युग-युग तक स्मरण किया जायेगा। तुलसी-जैसे विश्व-विश्रुत महाकवि पर भी जायसी के प्रभाव को अस्वीकारा नही जा सकता।

राम-भक्ति का विकास

राम की उपासना का सूत्रपात राम की वीरपूजा अथवा उनके पुरुषोत्तम रूप की पूजा से ही हुआ होगा। जनहृदय के श्रद्धा और पूजा के भाव कालान्तर मे भक्ति रूप मे पल्लवित हुए। यद्यपि राम को अवतार मानने की तिथि में मतभेद है—कोई उसे ५ ई पू तो कोई ११ • ई मानते हैं पर जहां तक रामभक्ति के साम्प्रदायिक रूप का प्रश्न है वह आठवीं शताब्दी के पश्चात् प्रारम्भ हुआ और अब तक अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। इसके एक सहस्र वर्षों से भी अधिक के इतिहास को हम तीन युगो में विभाजित कर सकते हैं—

(१) आलवार युग (८ —११ ई)
(२) आचार्य युग (११ —१४ ई)
(३) रामावत् युग (१४ से वर्तमान काल तक)

प्रथम दो युगों में अर्थात् १४ ई तक रामभक्ति दक्षिण के आलवार सन्तों और वैष्णवाचार्यों की व्यष्टि प्रधान साधना का आधार रही। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उत्तर भारत में भागवतधर्म का ह्रास होने लगा। अत वैष्णव साधना का गढ उत्तर से दक्षिण की ओर चला गया और यहां पहले आलवारो ने रामभक्ति को अक्षुण्ण बनाए रखा। उत्तर भारत मे उसका प्रचार चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रामानन्द द्वारा हुआ।

रामानन्द से पूर्व आठवीं शताब्दी मे शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का निरूपण किया था पर उनका मायावाद भक्ति के सन्निवेश के लिए उपयुक्त न था क्योंकि मायावादी वह दृढ आधार प्रस्तुत नहीं कर सकता जिस पर सगुण भक्ति का प्रासाद टिक सके। वह दृढ आधार स्वामी रामानुजाचार्य ने प्रस्तुत किया। उन्होंने विशिष्टाद्वैत की प्रतिष्ठा की जिसके अनुसार चराचर उसी ब्रह्म का रूप है और भक्ति के द्वारा उस परम ब्रह्म को पाया जा सकता है। रामानुज की इस भक्तिधारा में सारा भारत अवगाहन करने लगा क्योंकि वह परम शान्तिमा देने वाली सिद्ध हुई। उनका सम्प्रदाय श्रीसम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें विष्णु या नारायण की उपासना पर बल दिया जाता था। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी मे इसी सम्प्रदाय म श्री राघवानन्द जी हुए। उन्होंने रामानन्द के रूप में एक अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न शिष्य पाया अत उन्हें दीक्षा देकर मानो वह कर्तव्य मुक्त हो गये। रामानन्द ने देशभर का पर्यटन किया और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए सम्पूर्ण देश की यात्रा की। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—वैष्णव मताब्ज भास्कर तथा रामार्चन पद्धति। इन्होंने उपासना के लिए बैकुण्ठवासी विष्णु को न अपनाकर लोकमे लीला करने वाले अवतारी राम को अपनाया। यद्यपि इनसे पहले भी रामोपासक भक्त हो चुके थे जैसे शठकोपाचार्य आदि।

रामोपासना के इतिहास मे रामानन्द एक युग प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। उसे एक संगठित नया और स्वतन्त्र रूप देने का श्रेय इन्हें ही है। इनके पूर्व श्री सम्प्रदाय मे राम की प्रतिष्ठा होते हुए भी प्रधानता लक्ष्मी-नारायण को ही दी जाती थी। रामानन्द ने राम-सीता को प्रधानता दी। उन्होंने विशिष्टाद्वैत और प्रपत्ति

राम के तीन रूप हमे उपलब्ध होते हैं—ऐतिहासिक, साहित्यिक और साम्प्रदायिक। यहाँ हमारा सम्बन्ध उनके साहित्यिक स्वरूप से ही अधिक है, तथापि उनके अन्य दो रूपो पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है।

ऐतिहासिक रूप—राम का महत्त्व हमे सर्वप्रथम 'वाल्मीकि रामायण' मे मिलता है। रामायण के रूप मे सग्रहित होने से पूर्व रामचरित से सम्बद्ध पात्र, स्थान आदि वैदिक साहित्य मे खोज निकाले गये हैं, पर जिन प्रसगो मे उक्त पात्र राम, सीता, दशरथ या स्थान—अयोध्या आदि आये हैं, उनका सम्बन्ध दाशरथी राम से सीधा स्थापित नहीं होता और विद्वानो ने उनकी व्याख्या भी अलग-अलग की है, जैसे पाश्चात्य विद्वान् लॉसेन और वेबर के मतानुसार रामायण उत्तर भारत के आर्यों द्वारा दक्षिण के अनार्यों की पराजय और दक्षिण मे आर्य-सस्कृति के प्रसार का एक आलकारिक चित्रण मात्र है। पर इन ऊट पटाग और निर्मम आक्षेपो के बाद भी उसकी ऐतिहासिकता अक्षुण्य बनी रही। अस्तु, राम के ऐतिहासिक वृत्त का सर्वप्रथम दर्शन हमे 'वाल्मीकि रामायण' मे मिलता है। वहाँ उनका विष्णु से कोई सम्बन्ध नही है और वह अवतार न होकर केवल मनुष्य हैं, महात्मा हैं, धीरोदात्त नायक हैं।[1] उसके बाद रामचरित का सविस्तार वर्णन महाभारत के 'आरण्य' 'द्रोण' 'शान्ति' पर्वों के अतिरिक्त रामोपाख्यान मे मिलता है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी', कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के अतिरिक्त बौद्ध-ग्रन्थो मे भी कुछ परिवर्तन के साथ राम-कथा दी गयी है। शिलालेखो मे भी राम का उल्लेख मिलता है। पौराणिक-साहित्य-हरिवश-पुराण, विष्णु पुराण, भागवत-पुराण, स्कन्ध-पुराण, पद्म-पुराण मे भी रामकथा विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है और सिद्ध होता है कि पुराण-काल (४०० ई०–१५०० ई०) मे रामचरित की प्रतिष्ठा बढती गयी। सस्कृत महाकवियो और नाटककारो कालिदास, भवभूति, कुमारदास आदि ने राम के अवतार रूप को विशेष महत्त्व नही दिया, क्योकि वे मूलत कवि थे, भक्त नही। उन्होने काव्य की दृष्टि से रामचरित को प्रस्तुत किया, भक्त की दृष्टि से नही।

रामावतार की प्रतिष्ठा

रामत्व के क्रमिक विकास का अनुशीलन करने से पता चलता है कि अपने उदात्त चरित्र के कारण राम राजपुत्र से पुरुषोत्तम, पुरुषोत्तम से विष्णु तथा विष्णु से परम पुरुष के पद पर प्रतिष्ठित होते चले गये। इस विकास मे कितना समय लगा, यह बताना कठिन है। वाल्मीकि रामायण मे वह राजपुत्र के साथ-साथ पुरुषोत्तम भी हैं। भागवत धर्म के प्रचार के साथ-साथ वासुदेव कृष्ण का महत्त्व बढा, अवतार-कल्पना को बल मिला। कृष्ण के साथ-साथ उनके जिन पूर्ववर्ती महापुरुषो को अवतार की कोटि मे रखा जाने लगा, उनमे राम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे। यदि रामायण के उस अश को, जिसमे ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि राम की स्तुति करते हैं, प्रक्षिप्त मान भी लिया जाय, तो भी महाभारत मे उन्हे अवतार रूप मे ही कल्पित तथा चित्रित किया गया है। पुराणो मे भी उन्हें विष्णु का अवतार माना गया है।

---

१ डॉ० रामकुमार वर्मा . हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३३३

अपने धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को कथा के साथ ऐसे समन्वित कर दिया है कि शुष्क सिद्धान्त भी काव्य की वस्तु बन गये हैं। काव्यत्व की दृष्टि से भी उनके ग्रन्थों मे रस की निर्मलधारा प्रवाहित होती है। शृंगार रस का परिपाक तो उन्होंने ऐसी संयमित शैली म किया है कि रामकाव्य बहुत दिनों तक अपने मर्यादावाद के लिए प्रसिद्ध रहा और कुछ ही कवियों को उसकी सीमा तोड़ने का साहस हुआ।

राम भक्ति धारा म एक नवीन मोड़ लाने का श्रेय अग्रदास को है। इन्होंने अपने को जानकी की एक सखी मानकर राम की उपासना की जिससे 'सखी सम्प्रदाय' की स्थापना हुई और राम भक्ति म रसिक भाव का प्रवेश हुआ। अपने ग्रन्थों 'रामाष्टयाम' और 'रामध्यान मंजरी' म राम की ऐश्वर्यपूर्ण रास लीलाओं का इस प्रकार चित्रण किया गया है कि उनका राजसी रूप उभर आता है। इसी प्रकार सीतावल्लभ राम के संयोग वियोग मधुर रति आदि के चित्र इस काव्य को कृष्ण-काव्य के अधिक निकट पहुँचा देते हैं। अग्रदास की यह मधुर उपासना प्रारम्भ में तो तुलसी के मर्यादावाद के सामने दबी रही परन्तु सौ वर्ष बाद जिस वेग से यह धारा प्रवाहित हुई उसमे संपूर्ण राम-काव्य ही सराबोर हो गया और मधुर भाव की उपासना म कई 'सम्प्रदाय' बने जैसे—तत्सखी शाखा रामायत सखी सम्प्रदाय स्वसुखी सम्प्रदाय आदि। इनमे से कुछ ने राम के चरित्र को प्रधानता दी तो कुछ ने सीता के चरित्र को। इस सम्प्रदाय के रामभक्त कवियों मे हृदयराम प्रियादास कृपानिधि महाराज विश्वनाथ और महाराज रघुराजसिंह विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमे से कुछ कवियों की रचनाओं में साम्प्रदायिकता शृंगारिकता तथा बाह्याडम्बर होने के कारण वे पंकिल हो उठी हैं।

तुलसी के पश्चात् रामकाव्य की सरसधारा म अवगाहन कर भी उससे अलिप्त रहने वाले क्लिष्ट काव्य के प्रेत केशव हैं। इन्होंने अपनी 'रामचन्द्रिका' का आधार वाल्मीकि रामायण तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों को बनाया। उसमें कथा विस्तार ही अनियमित नहीं है प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से भी यह अत्यन्त दोषपूर्ण है क्योंकि कवि का ध्यान न तो कथा की सुसम्बद्धता और सुगुम्फता पर ही था और न उन्हें मार्मिक स्थलों की पहचान ही थी। उनका उद्देश्य तो छन्दों की प्रदर्शनी प्रस्तुत करना था—

रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हौं बहु छन्द'

उनका सारा ध्यान अलंकार-कौशल और वाग्विलास पर रहा है न चरित्र चित्रण पर और न भक्ति उपदेश पर। इन सब त्रुटियों के होते हुए भी संवादों राजदरबार की रीति-नीति का चित्रण करने की दृष्टि से उनका महत्त्व है।

कुछ लोगों का मत है कि गोस्वामी जी की लेखनी राम के विषय मे अन्तिम शब्द लिख चुकी थी अत उनके बाद रामकाव्यधारा क्षीण होती चली गई और राम साहित्य का विकास अवरुद्ध हो गया। यह तो सच है कि जो मार्ग जो पद्धति तुलसी द्वारा निर्मित हुई थी उसका विकास न हुआ पर इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि रामकाव्य धारा मे नया मार्ग प्रशस्त किया गई दिशाएं खोजीं नए क्षितिज उसके सम्मुख खुले। रामभक्ति मे रसिक भावना पुष्ट की तथा हरियौध

सिद्धान्त का आधार लिया और कुछ नये विचार भी रखे जो सामयिक परिस्थितियो के अनुकूल तथा लोकोपयोगी थे। उन्होने वैष्णवो के नारायण मन्त्र के स्थान पर राम-तारक अथवा षडक्षर राममन्त्र को दीक्षा का वीज मन्त्र माना, वाह्य सदाचार की अपेक्षा साधन मे आन्तरिक भाव की शुद्धता पर वल दिया, जाति-पाति छूआ-छूत, ऊँच-नीच का भाव मिटाकर वैष्णवमात्र मे क्षमता का समर्थन किया, भक्ति को सर्वजन सुलभ वनाया, नवधा से परा और प्रेमाभक्ति को श्रेयस्कर वताया और सस्कृत की अपेक्षा हिन्दी भाषा को प्रधानता दी। शैव तथा शाक्त पथियो के प्रभाव से समाज मे तत्र, मन्त्र, कील-कवचादि तात्रिक उपासना के अगो के प्रति लोगो का आकर्षण देख रामोपासना मे इसकी भी व्यवस्था की, उदाहरण के लिए रामरक्षा की रचना इसी उद्देश्य से की गई।

राम-काव्य का विकास

इसी रामानन्दीय वैष्णव परम्परा मे तुलसी का आविर्भाव हुआ। यद्यपि तुलसी से पूर्व भी राम भक्त-कवि हुए। उनमे मे अधिकाश का राम-साहित्य प्राय अप्रकाशित और अप्राप्य है। अव तक जो ग्रन्थ प्रकाश मे आये है, उनमे विष्णुदास का वाल्मीकि रामायण का हिन्दी रूपान्तर तथा ईश्वरदास कृत 'भरत मिलाप' तथा 'अगद पैज' उल्लेखनीय हैं। कुछ जैन कवियो ने भी राम-कथा सम्वन्धी रचनाओ का प्रणयन किया जैसे मुनि लावण्य ने 'रावण मन्दोदरी सवाद', जिनराज सूरि ने 'रावण मन्दोदरी सवाद', ब्रह्म जिनदास ने 'रामचरित या राम रास' और 'हनुमन्त रास' तथा सुन्दरदास ने 'हनुमान चरित्' लिखे।

राम-काव्यधारा के सर्वप्रथम प्रधान कवि तुलसी हैं। क्या भक्त, क्या कवि और क्या लोकनेता तथा लोकसुधारक सभी दृष्टि से उनका स्थान हिन्दी मे अप्रतिम और अक्षुण्ण है। उन्होने अपनी रचनाओ द्वारा रामभक्ति को जीवन और साहित्य दोनो का चिरस्थायी अग ही वना दिया। रामानन्द की तरह उन्होंने भी दास्य-भावना का प्रचार किया—

"सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिय उरगारि"

निराश और हताश जनता को आशावान वनाया, राम का लोकमगलकारी, लोकरक्षक तथा लोक-रजक चित्र प्रस्तुत कर तथा उनमे शक्ति, शील और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा कर जनता के भग्न हृदय मे आश्वासन तथा आनन्द की सुरसरि प्रवाहित की। राम के चरित्र का आधार लेकर मानव-जीवन की ऐसी व्यापक तथा सम्पूर्ण समीक्षा की, उसके विभिन्न क्षेत्रो तथा स्थितियो मे कर्त्तव्य-भावना का स्वरूप अकित कर लोक-चेतना का मार्ग दर्शन किया, ऐसे आदर्शों की स्थापना की जो अमर तथा अमिट है तथा जिन्होने उस समय भी मुर्झाये हुए हिन्दु-हृदयो को लहलहा दिया। उनके राम मानव भी हैं और ब्रह्म के प्रतीक भी, जिनका अवतार 'परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्' के लिए होता है। उनका नाम उनसे से वढ़कर वताया गया। राम नाम लेना सरल है, उससे भव-वन्धन नष्ट हो जाते हैं, यह कहकर निराश जनता को उसी सरल मार्ग पर चलने का आदेश दिया। तुलसी का दार्शनिक पक्ष भी कम पुष्ट नहीं है, पर उन्होने जीवन के सागोपाग चित्रण के साथ

भरत ही नहीं उर्मिला और वृद्धा माताएं भी हैं। कवि ने युग संदेश भी दिया है यद्यपि वह राजनीति के दलदल में नहीं फँसा है और न उसने क्रान्ति के सहचरों का ही आह्वान किया है। वह रामराज्य का सच्चा स्वरूप उसे मानता है जिसमें अभ्युदय और निःश्रेयस की भावना निहित हों। संस्कृतियों का समन्वय वर्णव्यवस्था नारी-गौरव और परम्परागत विश्वास और श्रद्धा सभी भारतीय संस्कृति के चिह्न उसमें मिलते हैं। उसका कलापक्ष भी कम प्रौढ़ नहीं है। १४ सर्गों में विभक्त इस काव्य के संवाद तो बहुत ही मार्मिक हैं। वस्तुतः कथा संवादों द्वारा ही अग्रसर होती है। अतः रामकाव्य धारा की काव्य शृंखला में 'साकेत सन्त' अटूट कड़ी की तरह है और सिद्ध करता है कि आगे भी रामकाव्य की धारा अप्रतिहत वेग से प्रवाहित होती रहेगी।

राम काव्य की प्रवृत्तियाँ

राम काव्य के उपयुक्त विकास का अनुशीलन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राम काव्य हिन्दी कवियों ने तीन दृष्टियों से प्रणीत किया—(१) शुद्ध भक्ति भावना से (२) रसिक भावना से (३) राष्ट्रीय तथा बौद्धिक भावना से—अतः उसके तीन रूप हमें मिलते हैं। इन्हीं तीनों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विवेचन हम यहाँ करते हैं—

राम का स्वरूप

राम भक्त कवियों के उपास्य राम विष्णु के अवतार हैं और परम ब्रह्म स्वरूप हैं। वे पापियों का नाश तथा धर्म का उद्धार करने के लिए जन्म लेते हैं। राम की विष्णु रूप में उपासना ही भक्त कवियों का एकमात्र साध्य है। इनके राम में शील शक्ति और सौन्दर्य तीनों का समन्वय है। सौन्दर्य की दृष्टि से यदि वह 'कोटि मनोज लजावनहारे' हैं, तो शक्ति में रावण जैसे दुर्धर्ष दानव का दलन करने वाले और भक्तों का सकट मोचन करने वाले हैं। शील और गुणों के तो वह आगार ही हैं और अपने शील से गृहस्थों का पथ प्रदर्शन करते हैं लोक को आचार की शिक्षा देते हैं। करुण तो वह इतने कि उल्टा नाम जपने वाला भी तर जाता है। वे मर्यादा पुरुषोत्तम और आदर्श के प्रतिष्ठापक हैं।

माधुर्य भावना से उपासना करने वालों का दृष्टिकोण रसिक भावना के कारण भिन्न था। उन्होंने राम की उपासना दास्य भाव से न कर मधुर भाव से की अपने को सीता की सखी मानकर की। अतः उनके राम शील शक्ति और सौन्दर्य में से सौन्दर्य के ही अधिष्ठाता अधिक हैं। उनमें ऐश्वर्य एवं रूप का प्राधान्य है। राम का यह रूप भक्त कवियों की उस मर्यादावाद के भीतर नहीं रह सका जो तुलसी ने प्रतिष्ठित किया था और जिसके कारण ही राम काव्य कृष्ण काव्य की अपेक्षा श्रेष्ठ समझा जाता था।

आधुनिक युग में राम का रूप फिर बदला। अब कवि प्रश्न करने लगा राम तुम ईश्वर हो। मानव नहीं हो क्या ? वह राम के प्रति भक्ति भाव धारण करते हुए भी उन्हें आदर्श मानव के रूप में चित्रित करने के लिए अधिक व्यग्र दिखाई देता है।

द्वारा राम के वृत्त को वौद्धिक तथा अपने युग की आवश्यकताओ के परिप्रेक्ष मे नया आलोक प्रदान करना, राम से सबधित उपेक्षित पात्रो को न्याय-भावना से अनुप्रेरित हो उन्हे सम्यक् स्थान प्रदान करना इसी तथ्य के द्योतक है। यह दूसरी वात है कि तुलसी के वाद हिन्दी रामभक्ति काव्य को उतना प्रतिभासम्पन्न कवि प्राप्त नही हुआ जो तुलसी के समकक्ष होता, पर राम-काव्य धारा का विकास सतत् होता रहा।

द्विवेदी युग मे रामभक्ति के क्षेत्र मे एक नवीनधारा स्वच्छद रूप से प्रवाहित होने लगी। 'साकेत' मे रामकथा को एक नई दिशा मिली। वाल्मीकि के राम की मानवीयता गुप्तजी के विश्वबधुत्व से मिल एक नवीन सृष्टि की ओर उन्मुख हुई।

"भव मे नव वैभव व्याप्त कराने आया
सदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया
इस भूतल पर ही स्वर्ग बसाने आया"

उन्होंने 'काव्येतर उपेक्षिता' उर्मिला का गौरवपूण, त्यागमय जीवन अपनी सम्पूण भावुकता तथा कोमलता के साथ चित्रित किया, कैकेयी को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत कर उसके मानवीय चरित्र को उद्घाटित किया। राम और सीता के चरित्र को वतमान सामाजिक नीति के सिद्धान्तो के आलोक मे अकित किया। भारतीय सस्कृति का उद्गीथ प्रस्तुत करने की दृष्टि से भी वह कम सफल नही है। गार्हस्थ्य जीवन के सुमधुर चित्र प्रस्तुत करने मे तो वह अद्वितीय है ही। 'साकेत' का प्रबन्ध-कौशल कही-कही शिथिल होने पर भी उसमे महाकाव्य के सभी गुण विद्यमान हैं। गीति तत्व का अभिनव समावेश उसकी चारुता का वर्धन करता है, तो मौलिक उद्भावनाए पाठक के चित्त को चमत्कृत और हृदय को उल्लसित करती हैं। यत्र-तत्र बिखरती हुई राष्ट्रीय भावनाए, सत्याग्रह का प्रसग आदि युग की भावनाओ और लोक चेतना को प्रतिबिंबित करती हैं। इसी युग मे हरिऔध ने 'वैदेहीवनवास' मे राम को नरत्व प्रदान कर रामचरित की घटनाओ को नरत्व की दृष्टि से देखने का प्रयास किया। 'प्रियप्रवास' की राधा के समान 'वैदेहीवनवास' की सीता भी प्रजा की कल्याण-कामना के लिए सजग हैं, उसके लिए चिन्तित हैं, फिर भी करुण रस का परिपाक सफलतापूर्वक हुआ है। जिस प्रकार गुप्त जी की दृष्टि 'साकेत', 'यशोधरा' आदि काव्यो मे उपेक्षित पात्रो पर पडी, उसी प्रकार डॉ॰ बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'साकेत-सत मे भरत को काव्य का केन्द्र बनाया, भरत की पुण्य प्रतिमा को काव्य-मन्दिर म प्रतिष्ठित किया।

"धन्य वह सत था कि रामहेतु राम से भी
दूर हट राम के समीप रहा आया है
धन्य वह तार भारती की मजु बीन का था
जिसके स्वरों ने हमे भारत दिखाया है।"

भरत के साथ-साथ माण्डवी को आदर्श आर्य-नारी के रूप मे चित्रित कर कवि ने एक अन्य उपेक्षित चरित्र को न्याय प्रदान किया क्योकि कवि का मत है कि भरत के चरित्र को पूर्णता प्रदान करने का श्रेय माण्डवी को ही है। उसकी चिन्ता का विषय

आकृष्ट करने में पूर्ण समर्थ है तथा जिसका आविर्भाव कर हम अपने जीवन को सर्व सुखी बना सकते हैं। आधुनिक युग के कवियों ने राम के परम ब्रह्म रूप का भले ही आग्रहपूर्वक चित्र उपस्थित नहीं किया हो पर उनका राम का लोक नायक तथा लोक संग्रही रूप कुछ कम आकर्षक नहीं है। सेवा त्याग सहिष्णुता उदारता प्रजा प्रेम परदुःखकातरता शांति स्थापना आदि के कार्यों में वे भी उतने ही निरत हैं जितने तुलसी के राम और पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिये तो वह उनसे भी अधिक व्यग्र और उत्सुक हैं।

भक्ति का स्वरूप

तुलसी आदि भक्त कवि वैष्णव थे अतः उनका अवतारवादी होना स्वाभाविक ही है। उन्होने कहीं कहीं ब्रह्म का निरूपण अद्वैतवादी शैली में किया है। केशव कहि न जाइ का कहिए मे मायावाद का निरूपण है तो वे राम को विधि हरि शम्भु नचावन हारे के रूप में भी मानते थ। पर वे वस्तुतः विशिष्टाद्वैतवादी ही थे। उन्होने राम के शक्ति शील और सौन्दर्य को समन्वित रूप की प्रतिष्ठा कर भक्त को उस पर मुग्ध होने की पर्याप्त सामग्री प्रदान की और भक्त तथा राम के बीच सेवक सेव्य भाव को स्वीकार किया।

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।

तुलसी ने अपनी धार्मिक मर्यादा का आदर्श उपस्थित करते हुये अनेक मतों और पन्थों से भी समझौता किया। तुलसी ने शैव शाक्त और पुष्टिमार्गियो से विरोध न कर उनके प्रति उदार दृष्टि अपनाई और उनके मतों को भी अपने में समाविष्ट कर सहिष्णुता दिखाई। वे स्मार्त वैष्णव थे अतः उन्होंने पञ्च देवताओं की उपासना मे भी विश्वास प्रकट किया। ज्ञान का कम महत्व देते हुये भी उन्होंने भक्ति और ज्ञान का समन्वय किया

ज्ञानहि भगतहि नहि कछु भेदा।
उभय हरहिं भव-संभव खेदा।

भक्ति से ज्ञान की सृष्टि होती है और ज्ञान प्राप्त करने पर भी भक्ति की स्थिति बनी रहती है। दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, दोनों मे विरोध नहीं है यह तुलसी का निष्कर्ष है। पर उन्होंने बल भक्ति पर ही दिया है क्योंकि उनके मतानुसार भक्ति पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता। राम भक्त कवियों की भक्ति पद्धति वैधी कोटि मे आती है। इसमे नवधा भक्ति के प्रायः सभी अंगो का विधान है पर बाह्याडम्बर पर उनकी आस्था नहीं। रसिक सम्प्रदाय की भक्ति माधुर्य भाव की भक्ति रही अत उसमे उतना मर्यादावाद नहीं है जितना तुलसी आदि भक्त कवियो मे। उसमे शृगार का पुट अधिक है। गुप्त जी तात्विक दृष्टि से रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत के अनुयाई हैं किन्तु उपासना पद्धति मे उन्होंने रामानन्द के श्री सम्प्रदाय का अनुसरण किया है जिसमें विष्णु के लोक लीलाधारी राम-रूप अवतार की उपासना होती है। इन्होने भी जीव और ब्रह्म की स्थिति प्रयायी की मानी है और राम को दुष्टों का विनाश करने के लिए अवतरित होता दिखाया है।

"भव मे नववैभव व्याप्त कराने आया ।

× + +

इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।।"

गुप्त जी के राम मे एक ओर मानवोचित हास-परिहास आदि के गुण हैं—

"वह सीताफल जब फलै तुम्हारा चाहा

मेरा विनोद तो सफल—हसी तुम आहा"

तो दूसरी ओर लक्ष्मण की सज्ञा शून्यता पर वे विलाप भी करते हैं।

समन्वयात्मकता

राम काव्य मे प्रारम्भ से ही समन्वय की वृत्ति दृष्टिगत होती है, क्योकि उसका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक रहा है। उसके कवियो मे केवल राम के प्रति ही श्रद्धा के सुमन अर्पित नही किये हैं अपितु अन्य देवताओ—कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश आदि—की भी स्तुति की है। अपने युग मे शिव और विष्णु के अनुयायियो मे पारस्परिक सघर्ष देख तुलसी शैवो और वैष्णवो मे सामजस्य स्थापित करने के लिए सेतुबन्ध के अवसर पर राम द्वारा शिव की पूजा करायी और कहलवाया 'शिव द्रोही मम दास कहावा सो नर सपनेहु मोहि न पावा" और शिव द्वारा राम की प्रशसा करायी। ज्ञान, कर्म और भक्ति, प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच भी समन्वय स्थापित किया। सगुणवाद और निर्गुणवाद की एकरूपता बताकर भी इसी दिशा मे कार्य किया। रसिक सम्प्रदाय मे आकर यह उदार दृष्टिकोण लगभग समाप्त हो गया और साम्प्रदायिक भक्ति भावना का प्राबल्य हो गया पर आधुनिक युग मे आकर पुन राष्ट्रकवि मैथिलीशरण ने भारतीय सस्कृति के आख्याता के रूप मे समन्वय पर, जो भारतीय सस्कृति का मूलाधार है बल दिया। एक ओर कर्म का सदेश तथा दूसरी ओर निष्काम कर्मयोग की बात कहकर उन्होने अपनी समन्वय-वृत्ति का परिचय दिया। नारी की स्वतन्त्रता पर बल देते हुये भी उसकी प्राचीन आदर्शवादिता का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन उनकी समन्वयवादी दृष्टि का द्योतक है।

लोक सग्रह की भावना

तुलसी का आविर्भाव ऐसे युग मे हुआ था जिसमे हिन्दुओ की दशा अत्यन्त दयनीय थी। अत कवि कर्म को समझते हुए तुलसी ने राम के रूप में ऐसे लोकनायक की प्रतिष्ठा की जिसके लोकरजक तथा लोकरक्षक स्वरूप को देख हिन्दुओ के मुरझाये हुए हृदय लहलहा उठे। राम के आदर्श पुत्र, आदश भाई, आदश पति, आदश राजा, आदर्श शिष्य आदि रूपो को प्रस्तुत कर तुलसी ने जीवन की अनेक उच्चातिउच्च भूमियो का अकन किया जिससे हिन्दू गृहस्थ और शासक बहुत समय तक प्रेरणा पाते रहे और आज भी हम आदर्श राज्य की कल्पना राम राज्य के रूप मे ही करते हैं।

साराश यह है कि राम-काव्य का आदर्श पक्ष अत्यत उच्च है। राजा-प्रजा पिता-पुत्र भाई भाई, स्वामी-सेवक, पडोसी-पडोसी के सुन्दर स्वस्थ सबधो का दिग्दर्शन करा गोस्वामी जी ने ऐसे आदर्श समाज का चित्र अकित किया जो आज भी हमे

स्वाभाविक बनाकर अपनी चरित्र चित्रण कला मानव-स्वभाव ज्ञान का भी परिचय दिया।

काव्य-शैली

राम काव्य धारा के कवि भक्त होने के साथ-साथ विद्वान्, काव्य-शास्त्र के ज्ञाता और साहित्य से परिचित व्यक्ति भी थे। अतः न तो उन्होंने अलंकारों की अवहेलना की न छन्द की त्रुटियों को अपने काव्य में स्थान दिया। उनका उस समय की प्रचलित लगभग सभी काव्य-शैलियों पर पूर्ण अधिकार था। अतः राम-काव्य में हमें लगभग सभी प्रचलित काव्य-शैलियां – दोहा चौपाई वाली प्रबन्ध शैली (मानस मे) राम-रागनियों पर आधारित गीत या विनय के पदों की गीति शैली (विनय पत्रिका) और विद्यापति की गीत-पद्धति रामायण महानाटक और हनुमन्नाटक में सवादपद्धति तथा रामचन्द्रिका मे रीति-पद्धति मिलती है। आधुनिक काव्य मे साकेतकार ने प्रबन्ध और गीति-शैली का सम्मिश्रण कर एक नई काव्य-शैली हिन्दी साहित्य को दी है। 'साकेत सन्त' मे सवादों द्वारा कथा को अग्रसर कर एक अभिनव शैली प्रदान की गई है।

छंद

स्वभावभेद और विचारभेद के साथ-साथ राम-काव्य मे छन्द भेद भी पाया जाता है। वीरगाथा का छप्पय सन्त-काव्य का दोहा प्रेममार्गी काव्य का दोहा चौपाई छन्द के साथ-साथ कुण्डली सोरठा सवैया घनाक्षरी तोमर त्रिभगी आदि छन्द भी प्रयुक्त हुए है। केशव की 'रामचन्द्रिका' तो छन्दो की प्रदर्शनी है ही। आधुनिक युग मे साकेतकार ने यदि मात्रिक छन्दो का प्रयोग किया तो हरिऔध ने 'वैदेही वनवास' मे संस्कृत के वृत्त—छन्दो का प्रयोग किया। इस प्रकार छन्द-वैविध्य की दृष्टि से राम काव्य कृष्णकाव्य की तरह परिमित नही है। 'राम की शक्ति पूजा' का छन्द तो अपनी ध्वन्यात्मकता तथा लय के कारण इतना प्रसिद्ध हुआ है कि उसका नाम ही शक्ति पूजा पड़ गया है।

रस

राम का वृत्त इतना व्यापक है कि उसमे जीवन की विविधताओं का सहज ही सन्निवेश हो जाता है और इसीलिए उसमे सभी रसो का समावेश हो जाना स्वाभाविक है। यदि राम भक्ति काव्य में सेव्य-सेवक भाव की भक्ति होने के कारण निर्वेद जन्य शान्त की प्रधानता है तो माधुर्य भाव की भक्ति से युक्त राम-काव्य मे शृगार या माधुर्य रस की अवतारणा हुई है। शुद्ध भक्ति काव्य मे शृगार रस के सयोग और वियोग पक्ष की जो कमी थी वह रसिक संप्रदाय के कवियों के काव्य मे पूरी हो गई। उसमे नखशिख अभ्यास विभाव-सयोग आदि के वर्णन द्वारा शृगार का पूरा परिपाक हुआ। अत हम कह सकते है कि राम के वृत्त की व्यापकता के कारण तथा रसिक सम्प्रदाय की मधुर भावना के कारण राम-काव्य मे सभी रसो का पूर्ण परिपाक हुआ। आधुनिक राम-काव्य भी इसका अपवाद नही है। साकेत मे सभी रसो की प्रतिष्ठा बड़ी सफलतापूर्वक की गई है। गृहस्थ जीवन के मधुर चित्रो के कारण

हो गया निर्गुण सगुण साकार है।
ले लिया अखिलेश ने अवतार है॥
× × ×
दूर करने के लिए भू भार।

नाम की महिमा का भी गुणगान उन्होंने किया है—

जो नाम मात्र भी स्मरण मदीय करेंगे।
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे॥

पर गुणो का अनुसरण भी वह आवश्यक मानते हैं—

पर जो मेरा गुण कर्म स्वभाव धरेंगे।
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे॥

तुलसी के समान वह भी धर्म सहिष्णु हैं, स्वधर्म पर दृढ हैं, परन्तु परधर्म का खण्डन नही करते।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण

राम भक्ति शाखा के कवियो के लगभग सभी सद्पात्र आचार और लोक-मर्यादा का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उनका चरित्र कवियो ने इस तरह अंकित किया है कि वे महान् और अनुकरणीय प्रतीत होते हैं। वे सर्वांगीण भी हैं क्योकि जीवन की सभी वृत्तियो का उनमे चित्रण किया गया है। सतोगुणी पात्रो के अतिरिक्त रजोगुणी पात्र—लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, आदि तथा तमोगुणी पात्र—रावण आदि भी प्रस्तुत किये गये हैं, पर काव्यगत न्याय के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के लिए सभी काव्यो मे सद् की असद् पर विजय दिखाई गई है। तुलसी राम के ब्रह्मत्त्व और सीता के जगज्जननी रूप को एक क्षण भी नही भूला पाते। पग-पग पर पाठक को इसका स्मरण कराते चलते हैं। इससे काव्य अमनोवैज्ञानिक और अस्वाभाविक भी हो गया है पर कवि की दृष्टि तथा उसके उद्देश्य को देखते हुए वह अक्षम्य नही है। रसिक सम्प्रदाय के कवियो ने राम मे ऐश्वर्य, शृंगार, प्रेम आदि भावो की प्रतिष्ठा की अत उनका चरित्र एकागी बन गया। आधुनिक कवियो ने अपने पात्रो को अधिक मानवीय, मनोवैज्ञानिक तथा स्वाभाविक बनाने का प्रयास किया। 'साकेत' के राम विनोदी हैं, निराला की राम की शक्ति पूजा' के राम युद्ध के परिणामो के प्रति शकालु, उद्विग्न, अश्रु प्रवाहित करने वाले तथा जीवन की पराजय पर खेद प्रकट करते हैं।

धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध।
धिक् साधक जिसके लिये सदा ही किया शोध

'साकेत' के लक्ष्मण अधिक उग्र हैं, कैकेयी अधिक वात्सल्यमयी तथा परितापदग्ध है, उर्मिला आदि वहनें अधिक कर्त्तव्यनिष्ठ तथा दृप्त हैं। इस प्रकार आधुनिक कवियो ने न केवल उपेक्षित पात्रो को ही प्रकाश मे लाने का प्रयास कर हिन्दी साहित्य के एक बडे अभाव की पूर्ति की, अपितु पात्रो को अधिक मनोवैज्ञानिक और

के रचयिता मिश्र जी ने ब्रज भाषा में दोहा-चौपाई का प्रयोग कर एक अद्भुत कार्य कर दिखाया है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि रामकाव्य की एक मात्र भाषा अवधी ही रही। मध्यकाल में ही केशव तथा रसिक सम्प्रदाय के कवियों ने ब्रजभाषा में काव्य रचना की। स्वयं तुलसी ने भी ब्रज का सफल प्रयोग किया था। इन दो भाषाओं के अतिरिक्त राम-काव्य में भोजपुरी बुन्देली राजस्थानी संस्कृत और फारसी के शब्द भी प्रयुक्त हुए। इन्होंने भाषा को परिष्कृत बनाने में भी बड़ा सहयोग प्रदान किया। डा हरदेव बाहरी लिखते हैं 'उसमें न तो वीरगाथाओं की कर्कशता है न प्रेम-काव्य की ग्रामीणता और न ही असंगति तथा विशृंखलता। तुलसी का शब्द चयन पाण्डित्यपूर्ण है। उनकी भाषा की भावात्मकता रसानुकूलता अथवा उपयुक्तता में किसी को संदेह नहीं हो सकता। तुलसी की भाषा अलंकृत न होकर स्वाभाविक सरस और भावाभिव्यंजक है। आधुनिक राम कवियों ने युग के अनुरूप खड़ी बोली में—काव्य का प्रणयन किया है। गुप्त जी ने उसे सर्वप्रथम काव्योचित रूप दिया और उसे सब प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करने के योग्य बनाया। अतः भाषा को परिष्कृत करने में आधुनिक रामभक्त कवियों का महत्व भी कम नहीं है।

सारांश यह है कि राम-काव्य हिन्दी काव्य का गौरवपूर्ण काव्य है। काव्यत्व लोकरंजन लोकरक्षण सभी दृष्टि से उसका महत्व अक्षुण्ण और अविस्मरणीय है।

जो रसमयता उसमे प्रवाहित हुई है, वह उसकी अपनी विशेषता है जो अन्यत्र कही नही मिलती।

प्रकृति-चित्रण

तुलसी आदि भक्त कवियो की दृष्टि प्रकृति के बीच रहते हुये भी प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण पर कम गई थी। उन्होंने प्रकृति को या तो उपदेश के लिए चित्रित किया है।

वर्षा बूँद सहै गिरि कैसे
खल वचन सन्त सहैं जैसे।

अथवा अलकारो के रूप मे। प्रकृति का उद्दीपनकारी चित्र माधुर्य सप्रदाय के काव्य मे उपलब्ध होता है। केशव हृदयहीन कवि थे, अत उन्होने प्रकृति पर या तो ध्यान ही नही दिया या उसका वर्णन वस्तुपरिगणन प्रणाली पर कर कही अपना अज्ञान दिखाया तो कही अपना अविवेक और हृदयहीनता। आधुनिक राम-कवियो ने इस ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होने उसका आलम्वन, उद्दीपन, आलकारिक रूप तो चित्रित किया ही, उसका सवेदनात्मक रूप भी अकित किया है—

"वह कोइल जो कूक रही थी, आज हूक भरती है" —साकेत

प्रकृति का प्रतीकात्मक रूप, लोक शिक्षा का रूप, मानवीकरण दूत या दूती का रूप आदि भी आज मिलते हैं। इस प्रकार राम-काव्य का प्रकृति चित्रण सर्वांगीण है तथा उसके प्रति कवियो की दृष्टि अत्यन्त सवेदनशील तथा कलापूर्ण रही है।

अलकार

जैसा कि हमने ऊपर कहा रामभक्त कवि अलकार शास्त्र के पूर्णज्ञाता थे, अत उन्होने जानबूझ कर अलकारो का प्रयोग कर भले ही कविता-कामिनी को भाराक्रात न किया हो पर सहज ही जो अलकार आ गये हैं उनसे निश्चय ही उनकी कविता का अभिनव शृगार हुआ है। केशव को छोडकर अन्य किसी ने—चाहे वह भक्ति-काल का कवि हो चाहे आधुनिक काल का—शब्दालकारो को आदर नही दिया। इनमें अर्थालंकार भी सहज और स्वाभाविक हैं। प्राचीन कवियो ने यदि उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा को प्राधान्य दिया, तो वर्तमान कवियो ने इनके अतिरिक्त पश्चिम से लिये कतिपय अलकारो—मानवीकरण, ध्वन्यार्थव्यजना, विशेषण विपर्यय आदि को भी अपनाया। इस प्रकार अलकार के प्रयोग की दृष्टि से भी वह हीन काव्य नही है।

भाषा

रामानद ने जनसमूह की भाषा की उपयोगिता समझ संस्कृत को त्याग जन भाषा को अपनाया और तुलसी ने अपनी मातृभाषा अवधी मे काव्य-रचना की। राम-भक्ति कवियो का केन्द्र भी अवध था, अत उनके लिए अवधी भाषा अपनाना नितात स्वाभाविक था। फिर दोहा-चौपाई छद इनका प्रमुख छन्द था और इसके लिए जितनी उपयुक्त अवधी भाषा है कदाचित् उतनी अन्य कोई नही, यद्यपि कृष्णायन

किया जा सकता था। इस गोत्र का पूर्व रूप है काष्र्णायन। वासुदेव इसी काष्र्णायन गोत्र में उत्पन्न हुए थे अतः उनका नाम कृष्ण हो गया।

महाभारत में आकर कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की सूचना मिलती है और वहाँ पता चलता है कि प्रारम्भ में कृष्ण सात्वत जाति के कोई पूज्य पुरुष थे। 'घत जातक' मे वर्णित देवगब्भा और उपसागर के बलवान पराक्रमी उद्धत क्रीड़ाप्रिय पुत्र वासुदेव कण्ह (वासुदेव कृष्ण) की कथा कदाचित् इन्हीं ऐतिहासिक कृष्ण की कथा है जो सम्भवतः पर्याप्त लोकप्रिय हो चली थी। यह कथा श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण कथा से बहुत अधिक मेल खाती है। वासुदेव कण्ह मे भी कुवलयापीड मुष्टिक चाणूर और कंस तथा अन्य वैरियो का नाश करके द्वारका मे अपना राज्य स्थापित किया था। महाउमग्ग जातक' मे भी वासुदेव कृष्ण का उल्लेख उपलब्ध होता है। वहाँ बताया गया है कि उन्होने कामासक्त होकर चाण्डाल-कन्या जाम्बवती को महिषी बनाया था।

डॉ माताप्रसाद गुप्त का अनुमान है कि कृष्ण-चरित का जो विकास महाभारत एवं पुराणों मे पाया जाता है वह ऐतिहासिक वासुदेव से भिन्न है। उनका कथन है कि महाभारत और पुराणो मे कृष्ण द्वारा मिथ्या वासुदेव—पौंड्र-राज पुरुषोत्तम और करवीपुर के राजा शृगाल—को मारकर अपना एकमात्र वासुदेवत्व प्रमाणित करने का उल्लेख है। महाभारत के श्रीकृष्ण मे केवल पराक्रम और ऐश्वर्य ही नही देवत्व भी प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। सभा-पर्व मे भीष्म ने उन्हे समस्त वेद-वेदाग के ज्ञाता राजनीति मे निपुण बलवान योद्धा कह कर उनकी प्रशसा की है। उद्योग पर्व मे कहा गया है कि अर्जुन वज्रपाणि इन्द्र की अपेक्षा कृष्ण को अधिक पराक्रमी समझकर उन्हे युद्ध मे अपनी ओर करने मे अपना सौभाग्य मानते है क्योंकि कृष्ण ने दस्युओं को मारा था भोज राजाओ को नष्ट किया था रुक्मिणी का हरण किया था नागजित के पुत्रो को जीता था सुदर्शन राजा को मुक्त किया था पाण्ड्य का सहार किया था काशी नगरी का उद्धार किया था निषादों के राजा एकलव्य का वध किया था उग्रसेन के पुत्र सुनाम को मारा था इत्यादि। देवताओ ने प्रसन्न होकर कृष्ण को अजय्यता का वरदान दिया था। उन्होने बाल्यावस्था मे ही इन्द्र के घोड़े उच्चैःश्रवा के समान बली यमुना के वन मे रहने वाले हयराज को मारा था तथा वृष प्रलम्ब नरक जृम्भ मुर कंस आदि का सहार किया था। उन्होने जल देवता वरुण को हराया था तथा पातालवासी पचजन को मारकर वे पाचजन्य ले आये थे। सत्यभामा की प्रसन्नता के लिए वे महेन्द्र की अमरावती से पारिजात लाये थे।

महाभारत के उपरान्त भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण विष्णु के पूर्ण अवतार है—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव॥

महाभारत तथा गीता मे कृष्ण के व्यक्तित्व की इतनी प्रतिष्ठा होने पर भी उनके गोपाल-रूप का कहीं भी वर्णन नहीं है। यह ठीक है कि महाभारत में कृष्ण के लिए 'गोविन्द' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, किन्तु वहाँ इस शब्द का अर्थ गो (गाय) से सम्बन्ध रखने वाला नहीं है। डॉ रामकुमार वर्मा का कहना है— आदि पर्व मे

: ५७ .

कृष्ण भक्ति-काव्य

कृष्ण की ऐतिहासिकता

पौरस्त्य एव पाश्चात्य मनीषियो में कृष्ण के व्यक्तित्व को लेकर बडा विवाद रहा है। यदि कुछ विद्वान् कृष्ण को ऐतिहासिक मानते हैं तो कुछ अर्ध-ऐतिहासिक तथा कुछ मात्र कल्पना-सृष्टि। प्रस्तुत प्रसग मे भारतीय वाङ्मय के आधार पर देखना यह है कि ये कृष्ण वस्तुत है क्या ?

कृष्ण का नाम सर्वप्रथम हमे आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद मे मिलता है। यहाँ कृष्ण एक ऋषि का नाम है जिसने ऋग्वेद के अष्टम मण्डल की रचना की थी। वहाँ इस ऋषि ने अपना नाम कृष्ण लिखा है। 'अनुक्रमणी' के लेखक ने उसे आगिरस नाम भी दिया है। ऋग्वेद में कृष्ण नाम के एक असुर का भी उल्लेख हुआ है जो अपने दस सहस्र योद्धाओ के साथ अशुमती तटवर्ती प्रदेश के एक गूढ़ स्थान मे रहता था। इन्द्र ने मरुतो का आह्वान करके वृहस्पति की सहायता से उसे पराजित किया और उसकी सेना का विध्वस किया। एक अन्य स्थल पर बताया गया है कि इन्द्र ने कृष्णासुर की स्त्रियो का वध किया। आगिरस कृष्ण तथा कृष्णासुर एक ही हैं, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। साथ ही इन सन्दर्भों से प्रसिद्ध कृष्ण-कथा का कोई सम्बन्ध भी नहीं हैं।

'छान्दोग्य उपनिषद्' मे कृष्ण को देवकी के पुत्र-रूप मे उपस्थित किया गया है और उन्हें आगिरस का शिष्य बताया गया है। वहाँ कहा गया है कि आगिरस ने कृष्ण को ऐसा ज्ञान दिया था कि उन्हें फिर ज्ञान की पिपासा नही हुई तथा उन्हे यज्ञ की एक ऐसी सरल रीति बताई थी जिसकी दक्षिणा तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य थी। कौशीतकि ब्राह्मण मे भी कृष्ण आगिरस का उल्लेख है। अनुमान है कि यही कृष्ण वासुदेव नाम से भी अभिहित हुए। 'जातकी' की गाथा के भाष्यकार का मत है कि कृष्ण एक गोत्र-नाम है और यह क्षत्रियो द्वारा भी यज्ञ समय मे धारण

है कि श्रीकृष्ण के हृदय में 'श्रीवत्स' चिह्न है। यह चिह्न हृदय पर रोमों के चक्र से निर्मित है जिसके लिए 'भौंरी' एक विशिष्ट शब्द है। यह गाय और बैलों की छाती पर प्रायः रहा करता है। इसी भावना पर बिहारी ने श्लेष से व्यंग्य किया था—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥

(आ) कृष्ण के भाई का नाम बलराम है। वे भी कृषि के देव माने गये हैं। उनका सम्बन्ध विशेषकर पाश्चात्यादिकों से है। उनका आयुध भी हल है। अतएव कृष्ण बलराम प्रकृति की सूक्ष्म शक्ति के प्रतिनिधि हैं।

(इ) गोवर्धन पूजा का भी यही तात्पर्य है जिसमें धनाज की पूजा का प्रधान विधान है। उस उत्सव का दूसरा नाम अन्नकूट भी है। उसका प्रारम्भ श्रीकृष्ण के द्वारा होना कहा गया है जिसके कारण उन्हें इन्द्र का कोप भाजन बनना पड़ा।

इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल के ये सब सिद्धान्त जो प्रकृति के प्रति आदर के भाव से परिपूर्ण थे कृष्ण के देवत्व का निर्माण करने में पूर्ण सहायक थे। बाद में अन्य सिद्धान्तों के मिश्रण से कृष्ण अनेक विचारों के प्रतीक बने किन्तु उनका आदि रूप निश्चय ही 'बलदेव' से लिया गया जान पड़ता है क्योंकि वे आभीर जाति के आराध्य थे।

डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त भी कृष्ण के गोपाल-रूप के विषय में कुछ इसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। उन्होंने लिखा है— संभावना यह है कि गोपाल कृष्ण मूलतः शूरसेन प्रदेश के सात्वत-वृष्णि वंशी पशुपालक क्षत्रियों के कुलदेव थे और उनके क्रीड़ा-कौतुक की मनोरंजक कथायें मौखिक रूप में लोक-प्रचलित थीं।

कृष्णभक्ति का विकास

हापकिंस का मन्तव्य है कि महाभारत में श्रीकृष्ण केवल मनुष्य के रूप में आते हैं बाद में देवत्व के पद पर प्रतिष्ठित हुए। किन्तु कीथ का विचार इससे नितान्त विपरीत है। वे कहते हैं कि महाभारत में श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से देवत्व की भावना से युक्त है। वस्तुतः महाभारत के अन्त साक्ष्य के आधार पर यह बात प्रच्छन्न नहीं रह जाती कि महाभारत के युद्ध में कृष्ण का बहुत अधिक हाथ था। कृष्ण पाण्डवों के पक्ष में थे और पाण्डवों की विजय हुई थी। ऐसी स्थिति में कृष्ण का समाज द्वारा पूजा जाना स्वाभाविक ही था। महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर तथा अर्जुन समय-समय पर कृष्ण से परामर्श लेते हैं और उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। पाण्डव-बन्धुओं की कृष्ण के प्रति यह श्रद्धा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महाभारत के कृष्ण उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ ही नहीं धर्मात्मा एवं तपस्वी भी हैं। महाभारत में विभिन्न अवसरों पर स्वयं वेदव्यास-जैसे ऋषि ने भी उन्हें धर्म-धुरन्धर माना है।

विद्वानों का अनुमान है कि महाभारत की घटना लगभग १४ ई० पू० घटित हुई थी। महाभारत के उपरान्त पाँच-सात शताब्दियों तक कृष्ण की पूजा का प्रचार नहीं हो पाया। किन्तु विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि

गोविन्द का अर्थ वाराह अवतार के प्रसग मे है जहाँ विष्णु ने पानी मथ कर पृथ्वी को निकाला है। शान्ति पर्व मे भी वासुदेव कृष्ण ने अपना नाम गोविन्द वतलाते हुए पृथ्वी के उद्धार की वात कही है। अत 'महाभारत' के काल मे गायो से सम्वन्ध रखने वाले 'गोविन्द' की कथाएँ प्रचलित नही थी। गोविन्द का वास्तविक इतिहास 'गोविन्द' शब्द से है जो 'ऋग्वेद' मे इन्द्र के लिए प्रयुक्त है, जिसने गायो की खोज की थी।" डॉ० माताप्रसाद गुप्त का भी अनुमान है कि गोपाल कृष्ण का चरित मूलत महाभारत के कृष्ण से भिन्न था।

वस्तुत गोपाल कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण 'हरिवश पुराण', 'वायुपुराण' और 'भागवत पुराण' मे हुआ है। हरिवश आदि पुराणो मे कृष्ण के शृगारी रूप के द्विविध चरित मिलते हैं—एक उनका राजसी वैभव विलास का ऐश्वर्यपूर्ण चरित तथा दूसरा उनका गोपाल रूप मे ग्रामीण क्रीडा-केलि का माधुर्यपूण चरित। कृष्ण के ऐश्वर्य रूप की विलास-क्रीडा हरिवश तथा कुछ पुराणो मे अत्यन्त नग्न रूप मे वर्णित है। गोवर्धन की पूजा तक मे दूध, घी, चावल आदि के साथ मेप, महिषादि की वलि चढाने का उल्लेख है। श्रीकृष्ण पिडारयात्रा मे वलराम, नारद, अर्जुन और समस्त यादवों तथा सहस्रो वेश्याओ और अपनी सोलह सहस्र रानियो के साथ जल-क्रीडा और नग्न भोग-विलास मे लिप्त दिखाये गये हैं।

पुराणो मे सर्वप्रथम श्रीमद्भागवत मे ही कृष्ण के ऐश्वर्य और माधुर्य रूपो का अद्भुत मिश्रण है।

ग्रियर्सन, केनेडी, वेवर आदि पाश्चात्य विद्वानो का अनुमान था कि गोपाल कृष्ण का वाल-चरित, जिसे वैष्णव भक्तो ने प्रेम-भक्ति के आलम्बन रूप मे अपनाया, क्राइस्ट के वाल-चरित का अनुकरण है। परन्तु पूतना को 'वर्जिन' तथा प्रसाद को 'लव फीस्ट' मानने का विचार सर्वथा अमान्य हो चुका है।

डॉ० रामकुमार वर्मा कृष्ण के गोपाल रूप का सम्वन्ध 'वनदेव' से जोडते हैं। उनका कहना है कि कृष्ण की ईश्वरीय सृष्टि सर्वप्रथम 'वनदेव' से मानी जानी चाहिये। प्रकृति मे वसन्तश्री से नवीन जीवन की सृष्टि होती है नवीन पल्लवो मे सौन्दर्य फूट पडता है। इस नवीन जीवन को उत्पन्न करने वाली शक्ति के प्रति प्राचीनतम काल के असस्कृत हृदय मे भक्ति का उद्रेक होना स्वाभाविक है। हमें ज्ञात है कि आर्यों ने प्रकृति के अनेक रूपो को देवताओ के रूप मे मान इन्द्र, वरुण, अग्नि, मरुत आदि देवो की कल्पना की है। उसी भाँति मृत्यु से जीवन का आविर्भाव करने वाली शक्ति भी किस प्रकार कृष्ण के रूप मे आई, यही हमे देखना है।

(अ) कृष्ण के जीवन की भावना स्पष्ट रूप से गोप-रूप मे है, जिसका सम्वन्ध गौवो से है। प्रकृति के जीवो की रक्षा करने वाले और प्रकृति के प्रागण मे विहार करने वाले देवताओ की कल्पना तो हमारे भक्ति काल के साहित्य मे भी मिलती है। गाएँ प्रकृति की निर्दोष सरल और करुणा प्रतिमाएँ हैं। श्रीकृष्ण उनके पोषक हैं। इसीलिए वे आदि भावना में गोप-रूप होने के कारण 'वनदेव' के रूप मे आप से आप आ जाते हैं। उनका नाम इसीलिए गोपाल अथवा गोपेन्द्र है। यही कारण ज्ञात होता

उनका मत शुद्धाद्वैत कहलाता है। उन्होंने ब्रह्म और जगत् दोनों को सत्य माना है। योगनिद्रा से जाग्रत होकर ब्रह्म के हृदय में 'एकोऽहं बहुस्याम' के रूप में एक संकल्प उत्पन्न हुआ और इसी संकल्प से सृष्टि का निर्माण हुआ। विष्णु-सम्प्रदाय में कृष्ण (ब्रह्म) की आह्लादिनी शक्ति के रूप में राधा का विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। यही सम्प्रदाय आगे चलकर वल्लभाचार्य द्वारा पुष्टि भाव के रूप में विकसित हुआ।

कृष्णभक्ति के क्षेत्र में विष्णु-सम्प्रदाय के उपरान्त निम्बार्क-सम्प्रदाय का नाम आता है इसके अनुसार ब्रह्म से भिन्न होता हुआ भी जीव जब ब्रह्म में लीन हो जाता है तब उसकी अलग सत्ता नहीं रह जाती। भक्ति द्वारा जीव ब्रह्म में लीन हो सकता है। इस सम्प्रदाय में कृष्ण के साथ राधा की भी महत्ता स्वीकार की गयी है और कृष्ण-भक्ति में माधुर्य भाव को स्थान दिया गया है। कृष्ण परब्रह्म हैं वे राधा के साथ गोलोक में निवास करते हैं। राधा तथा गोपियों का आविर्भाव पर ब्रह्म स्वरूप कृष्ण से ही हुआ है। इस सम्प्रदाय में राधा और कृष्ण के प्रेम का आत्मा और ब्रह्म के प्रेम के रूप में स्थान प्राप्त हुआ है। निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत-सिद्धान्त के प्रवर्तक माने जाते हैं।

वस्तुत उपर्युक्त तीनों सम्प्रदायों का महत्व सिद्धान्त की दृष्टि से तो है किन्तु ये सम्प्रदाय कृष्ण भक्ति में पर्याप्त उभार न ला सके। कृष्ण भक्ति में चरमोत्कर्ष की स्थिति प्रदान करने का श्रेय तो सोलहवीं शताब्दी में स्थापित सम्प्रदायों को है। इनमें प्रमुख सम्प्रदाय है—वल्लभाचार्य का पुष्टि मार्ग चैतन्य का गौड़ीय गोस्वामी हितहरिवंश का राधावल्लभी और स्वामी हरिदास का सखी या टट्टी सम्प्रदाय।

वल्लभाचार्य ने सोलहवीं शताब्दी में शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। इस सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त किसी का अस्तित्व नहीं है। जीव और जगत उसी के चित और सत अंश हैं। पूर्ण अथवा अंशी ब्रह्म परम आनन्दमय श्रीकृष्ण रूप है। प्रकृति जीव तथा अनेक देवी-देवता ब्रह्म के ही अक्षर रूप के काल कर्म स्वभाव के अनुसार प्रकट होने वाले रूपान्तर हैं। श्रीकृष्ण का धाम भी ब्रह्म ही है और वह अक्षर अर्थात् नित्य है। इस प्रकार निम्बार्क की भाँति वल्लभ के अनुसार भी ब्रह्म ही सृष्टि का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी।

चैतन्य-द्वारा प्रवर्तित गौड़ीय सम्प्रदाय के अनुसार परम तत्त्व एक है और वह अनन्त शक्तियों का आकार है। उसकी शक्तियाँ अचिन्त्य हैं क्योंकि उसमें एक साथ ही पूर्ण एकत्व और पृथकत्व तथा अंशभाव और अंशीभाव विद्यमान रहते हैं। श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व है। वे ही सर्व कारणों के कारण तथा प्रकाशशील हैं। जिस प्रकार एक ही पदार्थ दूध जो रूप रस आदि अनेक गुणों का आश्रय है भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा अलग-अलग रूपों में अनुभूत होता है उसी प्रकार परम तत्त्व का भी भिन्न भिन्न प्रकार से पृथक-पृथक अनुभव होता है। वस्तुत यह भेदाभेदवाद दर्शन ही है जिसे चैतन्य ने यथावत् स्वीकार कर लिया है।

राधा-वल्लभ सम्प्रदाय की स्थापना गोस्वामी हितहरिवंश ने सं० १६२ के लगभग की थी। इससे सम्बन्धित कवियों ने राधा-कृष्ण की कुंज-लीला और सुख विलास का ही विशद मधुर रूप में किया है। उन्होंने कर्म और ज्ञान का खण्डन स्पष्ट

ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व के लगभग कृष्ण के प्रति समाज में भक्ति-भावना आ गयी थी। डॉ० रामकुमार वर्मा का कथन है—"इतना तो निश्चित है कि ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व के लगभग कृष्ण मे देवत्व की भावना आ गई थी, क्योकि पाणिनि के व्याकरण मे वासुदेव और अर्जुन देव युग्म हैं। प्रसिद्ध यात्री मैगस्थनीज ने भी लिखा है कि कृष्ण की पूजा मथुरा और कृष्णपुर मे होती थी। यह काल ईसा के ३०० वर्ष पूर्व का है यदि वासुदेव कृष्ण की पूजा प्रथम मौर्य के समय मे प्रचलित थी तब तो इस पूजा का प्रारम्भ मौर्य वश की स्थापना के बहुत पहले हो गया होगा। सभवत इस पूजा का प्रारम्भ 'उपनिषदो के साथ ही हुआ, क्योकि 'महानारायण उपनिषद' मे विष्णु का पर्यायवाची शब्द वासुदेव है। कृष्ण वासुदेव का ही पर्यायवाची है, अत कृष्ण ही विष्णु का द्योतक है।"

जैन-धर्म तथा बौद्ध धर्म के इतिहास हमे बताते हैं कि महावीर स्वामी तथा महात्मा बुद्ध के देहावसान के पर्याप्त समय बाद इन दोनो महापुरुषो के चरित्र के महत्त्व की और प्रतिष्ठा हुई उन्हे पूज्य बुद्धि से देखा जाने जाना। ऐसी स्थिति मे भागवत धर्म का भी प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। इस धर्म के प्रचारको ने भी राम और कृष्ण जैसे इतिहास महापुरुषो को अवतार घोषित किया और उनकी उपासना तथा भक्ति का प्रचार किया। वस्तुत भागवत धर्म का प्रकर्ष हमे गुप्त-साम्राज्य के युग मे मिलता है। गुप्त सम्राटो ने स्वय भागवत धर्म को स्वीकार किया और उसके प्रचार मे पर्याप्त योग दिया। सातवी आठवी शताब्दी तक दक्षिण भारत मे कृष्ण-भक्ति की धूम मच गयी। यहाँ के बहुत से आलवार सन्त कृष्ण के भक्त थे। कृष्ण-भक्ति को अत्यन्त आकर्षक रूप प्रदान करने वाला ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है। कहा जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना भी दक्षिण भारत मे ही हुई थी।

आठवी-नवी शताब्दी मे जब शङ्कराचार्य ने अद्वैतवाद और कुमारिल ने कर्म-काण्ड पर बहुत अधिक बल दिया तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भक्ति-आन्दोलन ने और भी बल पकडा। परिणामत कृष्ण-भक्ति के कई सम्प्रदाय और आचार्य अस्तित्व में आये। इनका सक्षिप्त विवेचन नीचे दिया जायेगा।

कृष्ण भक्ति का दार्शनिक आधार

ऊपर बताया जा चुका है कि आचार्य शङ्कर तथा कुमारिल द्वारा प्रचारित नीरस विचारो के विरोध मे कई भक्ति-सम्प्रदायो ने जन्म लिया। इनमे प्रथम स्थान माधव-सम्प्रदाय का है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य थे। उनकी मान्यता है कि विष्णु ही अविनाशी ब्रह्म हैं। ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता नश्वर हैं। जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है, किन्तु ब्रह्म स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र। ब्रह्म और जीव में स्वामी और सेवक का सम्बन्ध है। कृष्ण ब्रह्म हैं और उनकी भक्ति-द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। माधव-सम्प्रदाय मे कृष्ण के साथ राधा का कोई सम्बन्ध नही स्वीकार किया गया है। मध्वाचार्य द्वैत-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक माने जाते हैं।

विष्णु-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य विष्णु स्वामी थे। इन्हे मध्वाचार्य का मतानुयायी माना जाता है। उन्होने अद्वैतवाद मे माया का अस्तित्व नही माना है।
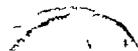
गान किया गया है। साहित्य-लहरी की रचना शृंगार रस तथा नायिकाभेद को दृष्टि पथ मे रखकर हुई है।

सूरदास ने कृष्ण में सख्यभाव की स्थापना करते हुए कृष्ण के लोकरंजक स्वरूप को अपनी भक्ति का आलम्बन बनाया है। उन्होंने कृष्ण के जीवन के जिन मुख्य पक्षों को लिया है वे बाल्य तथा यौवन हैं। बाल्य-वर्णन मे सूर ने केवल बालकों के बाह्य सौन्दर्य एवं शारीरिक चेष्टाओं के ही नहीं उनकी अन्तःप्रकृति के भी सजीव और हृदय ग्राही चित्र अंकित किये हैं। उनके वात्सल्य चित्रण में ममतामयी माता के स्नेह पूर्ण हृदय की व्याकुलता और औत्सुक्य की व्यंजना भी सुन्दर बन पड़ी है। शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों के चित्रण में सूर का अद्भुत कौशल दृष्टिगत होता है। जहाँ सूर ने कृष्ण के रूप का चित्रण किया है तथा जहाँ पर उन्होंने गोपियों के साथ उनकी प्रेम-क्रीड़ा का वर्णन किया है वहाँ शृंगार के संयोग-पक्ष का अच्छा निर्वाह दिखायी देता है। इसी प्रकार कृष्ण के विरह में गोपियों की व्याकुलता पीड़ा और निराशा आदि के वर्णन मे विप्रलम्भ शृंगार का परिपाक मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। 'भ्रमरगीत' प्रसंग में भावुकता और वाग्वैदग्ध्य का विलक्षण समन्वय दृष्टिगत होता है। सूर के पदों मे भावों की गंभीरता भाषा की प्रौढ़ता और संगीत का माधुर्य कूट-कूट कर भरा पड़ा है।

सूर के पश्चात् अष्टछाप के कवियों में नन्ददास का प्रमुख स्थान है। यद्यपि नन्ददास ने कई ग्रन्थों की रचना की है किन्तु रासपञ्चाध्यायी और भँवरगीत को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। रासपंचाध्यायी में कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं का वर्णन अत्यन्त सरस भाषा मे हुआ है। भँवरगीत मे गोपियों की विरह-दशा का चित्र खींचते हुए कवि ने ब्रह्म जीव और माया का विवेचन पाण्डित्यपूर्ण तार्किक शैली पर किया है। हिन्दी की भ्रमरगीत-परम्परा मे नन्ददास के भँवरगीत का दार्शनिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

अष्टछाप के तीसरे कवि कुम्भनदास अत्यन्त निस्पृह व्यक्ति थे। जब सम्राट् अकबर ने इन्हें फतेहपुरी बुलाया था तो इन्होंने अकबर के सामने ही 'सन्तन को कहा सीकरी सो काम' वाला प्रसिद्ध पद सुनाया था। अष्टछाप के चौथे कवि परमानन्ददास ने परमानन्द-सागर परमानन्ददास को पद दानलीला उद्धवलीला ध्रुव चरित्र संस्कृत रत्नमाला आदि ग्रन्थों की रचना की है। परमानन्द-सागर मे लगभग दो हजार पद संगृहीत हैं जो काव्यत्व की दृष्टि से अत्यन्त उच्च कोटि के हैं। अष्टछाप के शेष चार कवियों—कृष्णदास गोविन्दस्वामी छीत स्वामी चतुर्भुजदास—ने भी कृष्ण भक्ति-विषयक सुन्दर रचनाएं की हैं। इन सभी कवियों की कविताओं में उनके हृदय की भक्ति भावना की अनन्यता और सहज अनुभूति व्यक्त हुई है।

इन अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त भक्तिकाल में और भी कृष्णभक्ति-काव्य के कवि हुए, जिनमें हितहरिवंश मीराबाई और रसखान के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। राधा-सुधानिधि और हितचौरासी हितहरिवंश की प्रमुख रचनाएं हैं। इन्होंने राधा और कृष्ण का शृंगार-वर्णन आध्यात्मिक स्तर पर किया है। मीराबाई ने माधुर्यभाव की भक्ति भावना को अपनाते हुए स्वयं कृष्ण की विरहिणी बनकर अपने पदों में

रूप से करते हुए भक्ति का प्रतिपादन किया है। इस सम्प्रदाय मे यह परम आवश्यक है कि वह राधा-कृष्ण की नित्य-क्रीडा के ध्यान मे सतत निमग्न रहे। इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमे केवल सयोग-सुख की लीला ही स्वीकार की गयी है, वियोग की भावना मान्य नही। जो माधुर्य रास-क्रीडाओ मे उपलब्ध हो सकता है, वह वियोग-लीलाओ मे कहाँ ? हितहरिवश जी के विचार मे राधा-कृष्ण अभिन्न तत्त्व हैं वे प्रेम-रूप हैं, प्रेम के कारण भी हैं और कार्य भी। वे जल-तरग की भाँति एक-दूसरे मे ओत-प्रोत हैं। सृष्टि मे जो कुछ जड-चेतन दृष्टिगोचर होता है, वह सब एक ही वस्तु 'हित' या प्रेम है। प्रेम के इस रसमय रूप के भी दो भेद किये गये हैं—(१) व्रज-रस और (२) निकुज-रस। व्रज-रस मे गोपियो का उपपति-प्रेम (जार-प्रेम) होता है, अर्थात् इसमे परकीया-भाव से सम्बन्ध होता है। यह केवल अवतार दशा मे प्रकट होता है अत इसे अनित्य माना गया है। इससे भिन्न निकुज-रस नित्य, अखड, सदा एक-रस होता है और उसमे 'स्व' और 'पर' का कोई भेद नही रहता। यह केवल वृन्दावन मे दृष्टि गोचर होता है, अत इसे श्रीवृन्दावन-रस भी कहते हैं।

सखी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदास थे। इनकी भक्ति का उद्देश्य राधा-कृष्ण युगल की उपासना थी। ये राधा-कृष्ण की विहार-लीलाओ का आनन्द सखी-भाव के अवलोकन से लूटा करते थे।

कृष्णभक्ति के सभी सम्प्रदायो, विशेष रूपसे सोलहवी शताब्दी तथा उसके उपरात जन्म लेने वाले कृष्णभक्ति-सम्प्रदायो की विशेषताओ का निरूपण करते हुए डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है—"सामान्य रूप से दार्शनिक पक्ष में सभी कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय ब्रह्म की सगुणता का प्रतिपादन करते हैं, सभी ब्रह्म की परिपूर्णता उसके रस या परम आनन्दमय रूप मे ही मानते हैं जिसे साक्षात् श्रीकृष्ण कहा गया है। सभी सम्प्रदायो मे जगत और जीव को ब्रह्म का ही अश रूप माना गया है। इस प्रकार सभी श्रीकृष्ण ब्रह्म की अद्वैतता के साथ-साथ आशिक द्वैतता को भी स्वीकार करते हैं। सभी ने श्रीकृष्ण को भगवान मानकर उनमे अपने अपने भक्ति-भाव के अनुसार मानवीय गुणो का आरोप किया है। भगवान श्रीकृष्ण के परम धाम को गोलोक या वृन्दावन कहकर उसकी नित्यता तथा परम आनन्दमयता का प्राय सभी सम्प्रदायो मे मोहक वर्णन किया गया है तथा उसके जड चेतन गोप, गोपी, यमुना, वन, वृक्ष, लता, कुज आदि—सभी उपकरणो को श्रीकृष्ण से अभिन्न बताया गया है राधावल्लभी मत मे पार्थिव वृन्दावन को ही श्रीकृष्ण का नित्य धाम बताकर राधाकृष्ण और सहचरीगण को अभिन्न, अद्वय कहा गया हैं।"

कृष्णभक्ति काव्यधारा के प्रमुख कवि तथा उनका काव्य

कृष्णभक्ति-काव्य का चरमोत्कर्ष सूर मे देखने को मिलता है, अत इस काव्य-धारा के कवियो की रचनाओ पर दृष्टिपात करने से पूर्व सूरदास पर ही विचार कर लेना उचित प्रतीत होता हैं। कहा जाता है कि इनका जन्म सारस्वत ब्राह्मण-कुल मे सीही नामक गाव मे स० १३३५ मे हुआ था। ये वल्लभाचार्य के शिष्य और अष्ट-छाप के कवि थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थो मे सूर-सागर, साहित्य-लहरी और सूर-सारावली उल्लेखनीय हैं। सूर-सागर तथा सूर-सारावली मे कृष्ण की लीलाओ का

हैं। भ्रमरगीत प्रसंग को लेकर भी आधुनिक युग में कुछ काव्य रचमाए हुए हैं जिनमें कविरत्न सत्यनारायण का भ्रमरदूत जगन्नाथदास रत्नाकर का उद्धवशतक और रमाशंकर शुक्ल रसाल का भ्रमरगीत उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्णभक्ति-काव्य की परम्परा आज तक चली आ रही है।

कृष्णभक्ति काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

(१) कृष्ण-लीला-वर्णन—इसमें संदेह नहीं कि समग्र कृष्ण भक्ति-काव्य का मूलाधार श्रीमद्भागवत पुराण है किंतु फिर भी कृष्ण भक्ति काव्य के कृष्ण और भागवत के कृष्ण में पर्याप्त अन्तर है। वहाँ भागवत के कृष्ण गोपियों से निर्लिप्त रहते हैं और गोपियों द्वारा ही बार-बार आग्रह किये जाने पर उनमें प्रवृत्त होते हैं वहाँ हिन्दी कवियों के कृष्ण बड़े ही रसिक हैं और वे गोपियों को अनेकों उपायों से अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करते हैं। भागवत के कृष्ण अपने ब्रह्म-रूप को विस्मृत नहीं कर पाते किंतु हिंदी कवियों के कृष्ण में अलौकिकता का आभास बहुत कम स्थलों पर होता है। भागवत में राधा-सम्बन्धी इतिवृत्त का अभाव है जबकि हिंदी में सूरदास जैसे उच्चकोटि के भक्त कवि ने भी राधा के बचपन उसकी युवावस्था आदि का बड़ी ही रुचि के साथ वर्णन किया है। स्पष्ट है कि हिंदी कवियों ने कृष्ण के रूप को अत्यन्त मोहक और मधुर बना दिया है।

(२) भक्ति का स्वरूप—महाप्रभु वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण भक्ति का जो रूप निर्धारित किया था वह अत्यन्त आकर्षक था। वात्सल्य और माधुर्य भाव की उपासना में श्रीकृष्ण के शृंगारिक पक्ष ही की प्रधानता थी। कृष्ण का सौन्दर्य गोपियों का प्रेम कृष्ण और गोपियों का विहार, ये विषय बड़ी कुशलता के साथ प्रतिपादित हुए किंतु इन सभी वर्णनों के प्रारम्भ में अलौकिक और आध्यात्मिक तत्व सन्निहित थे। शारीरिक आकर्षण के साथ आध्यात्मिक आकर्षण भी इंगित था किंतु यह रूप आगे चलकर स्थिर न रह सका। चैतन्य महाप्रभु ने माधुर्य भाव से श्रीकृष्ण की उपासना कर कृष्ण के दाम्पत्य प्रेम के चित्रण की सामग्री प्रस्तुत की। उसके आध्यात्मिक स्वरूप का ग्रहण सभी भक्तों और कवियों से एक ही रूप में नहीं हो सका। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है—'प्रेम के क्षेत्र में प्रेम ही का पतन हुआ और उसमें सांसारिक और पार्थिव-आकर्षण की दूषित गंध आ गई। क्रम यह हुआ कि श्रीकृष्ण सूरदास के 'प्रभु बाल सँघाती' न रह कर गोपियों द्वारा होली खेलने के लिए बार-बार निमन्त्रित किये जाने वाले 'लला फिर आइयो खेलन होरी' वाले श्रीकृष्ण हो गए।

(३) वात्सल्य रस का चित्रण—वल्लभाचार्य ने बाल-कृष्ण की ही उपासना पर बल दिया था अतः उनके सम्प्रदाय से सम्बद्ध कवियों द्वारा वात्सल्य का चित्रण किया जाना स्वाभाविक ही था। वात्सल्य के चित्रण में सर्वाधिक सफलता सूरदास को मिली है। उन्होंने कृष्ण के रूप में बालक की विभिन्न चेष्टाओं तथा क्रीड़ाओं का चित्रण तथा उसकी उक्तियों की व्यंजना सहज स्वाभाविक ढंग से की है। मातृ-हृदय की वेदना को जितना अच्छा सूर समझ सके हैं उतना अच्छा और कोई कवि नहीं। माता यशोदा को आशंका है कि कहीं देवकी कृष्ण को पराया समझ कर उसकी

अपने हृदयगत कृष्ण-प्रेम की मार्मिक व्यजना की है। मीरा के काव्य की सबसे बडी विशेषता है, हृदय की तीव्र अनुभूति, मधुर वेदना और गहरी पीडा की सगीतमयी भाषा मे सशक्त अभिव्यक्ति। उनके विरह-वर्णन मे स्वाभाविकता और तन्मयता है। रसखान ने मुसलमान होते हुए भी कृष्ण की भक्ति मे तल्लीन रहकर, अत्यन्त सरस फुटकर पद्यो की रचना की है। इन्होने गोस्वामी विट्ठलनाथ से वल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षा ग्रहण की थी। इनकी दो रचनाए प्रसिद्ध हैं—प्रेमवाटिका और सुजान-रस-खान। प्रेमवाटिका की रचना दोहो मे और सुजान-रसखान की कवित्त-सवैयो मे हुई है। ब्रजभाषा का सरस, स्वाभाविक और सुव्यवस्थित रूप इनकी कविता मे देखने को मिलता है। हृदय की सहज अनुभूति और तन्मयता इनकी रचनाओ का प्रमुख वैशिष्ट्य है। इनकी कविता मे अनुप्रास और यमक अलकारो की सुन्दर नियोजना हुई है, किन्तु इस अलकार-विधान मे अस्वाभाविकता कहीं नही आने पाई है।

महात्मा तुलसीदास ने भी कृष्णगीतावली मे कृष्ण के चरित्र को लेकर सुन्दर, सरस एव भावपूर्ण गीतो की रचना की है।

भक्तिकाल मे उपर्युक्त कवियो द्वारा कृष्ण-भक्ति की जो पावन मन्दाकिनी प्रवाहित की थी वह रीतिकालीन कवियो द्वारा कलुषित कर दी गई। रीतिकालीन कविता में कृष्ण और राधा को साधारण नायक और नायिका का रूप दे दिया गया। रीतिकालीन प्राय सभी प्रवृत्तियो के लिये भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य ने क्षेत्र प्रस्तुत कर दिया था। कृष्ण ने रूप चित्रण के नखशिख सौन्दर्य-वर्णन के लिये, कृष्ण और राधा की प्रेम-क्रीडाओ के वर्णन ने नायक नायिका-भेद के लिये और कृष्ण तथा गोपियो की रासलीलाओ ने ऋतुवर्णन के लिये पहले ही भूमिका प्रस्तुत कर दी थी। चिन्तामणि, मतिराम, बिहारी, देव, पद्माकर, आलम, घनानद आदि सभी रीतिकालीन कवियो ने राधा और कृष्ण को लेकर मुक्तक रचनाए की।

आधुनिक काल मे भी कृष्ण-चरित्र को लेकर अनेको काव्य लिखे गए हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कृष्ण-भक्त कवियो की भाति भक्ति और प्रेम का सरस, मधुर आह्लादकारी चित्रण अपनी रचनाओ मे किया है। उनकी प्रेममाधुरी, प्रेमफुलवारी, प्रेममालिका, प्रेमप्रलाप आदि रचनाओ मे कृष्ण-भक्ति और शृगार रस का सुन्दर समन्वय हुआ है। भारतेन्दु के भ्रमरगीत मे उनके हृदय की भक्ति-भावना सुन्दर ढग से व्यक्त हुई है। मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'द्वापर' मे कृष्ण-चरित्र के कथानक को अपनाया है।

आधुनिक काल मे जितने भी कृष्ण-काव्यों की रचना हुई है, उनमें अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के प्रियप्रवास और प० द्वारकाप्रसाद मिश्र के कृष्णायन का मुख्य स्थान है। हरिऔध जी ने प्रियप्रवास मे कृष्ण और राधा के परम्पराभुक्त चरित्रो मे युग के अनुरूप काफी काट-छाट की है, क्योंकि उनके द्वारा प्रस्तुत किये गए कृष्ण एक आदर्श नेता और लोक सेवक हैं तथा राधा दीन-दुखियो की सेवा मे निरत एक लोक-सेविका हैं। "कृष्णायन में गोपीजन-वल्लभ, भक्तवत्सल और असुरसहारक कृष्ण आज के युग की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओ का समाधान करते हुए धर्म-सस्थापक, समाज-सुधारक और राष्ट्रनायक के रूप मे हमारे सामने आते

बरों के प्रयोग से भाषा की अभिव्यंजना शक्ति में अदृष्ट पूर्व वृद्धि हुई है। इन कवियों के हृदय की भाव-धारा में अभिषिक्त होकर ब्रजभाषा में ऐसी कोमलता सरलता स्निग्धता आ गई कि भावी पीढ़ी के लिए वह सर्वगुण-सम्पन्न हो गई है।

उपसंहार

कृष्ण भक्ति-साहित्य हिंदी की अनुपम निधि है। आज जो हिंदी-साहित्य विश्व के समुन्नत साहित्यों के समकक्ष खड़े होने का दम भरता है उसमें इस काव्य-परम्परा का भी बहुत बड़ा हाथ है यदि हिंदी साहित्य से अकेले सूर को ही निकाल दिया जाय तो यह साहित्य पंगु हो जायेगा और इसमें गर्व के साथ मस्तक ऊंचा करके खड़े रहने की क्षमता शेष न रह जायेगी। कृष्ण भक्ति काव्य वैयक्तिक होते हुए भी समाज मंगल का विधायक है। सूर जैसे भक्त कवियों की रचनाएं जन मानस को अपूर्व शांति प्रदान करती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कृष्णभक्ति साहित्य के गुणों का उल्लेख करते हुए लिखा है— 'मनुष्य की रसिकता को उद्बुद्ध करता है उसकी अन्तर्निहित अनुराग-लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है और उसे निरन्तर रस-सिक्त बनाता रहता है।

उपेक्षा न करे, अत वह अपने पुत्र के सुख के लिये अपने अधिकार का परित्याग कर धाय बनना भी स्वीकार कर लेती है।

(४) शृगार-वर्णन—कृष्ण और गोपियो का प्रेम सौन्दर्य-जन्य है जो धीरे-धीरे साहचर्य के द्वारा विकसित होता है। प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था मे कृष्ण और गोपियो के बीच छेडछाड चलती रहती है। आगे चलकर जब कृष्ण व्रज से मथुरा चले जाते हैं तो गोपियो की वियोग-जन्य पीडा की कोई सीमा नही रहती। सूर के 'भ्रमरगीत' में गोपियो का एक-एक शब्द उनके हृदय की व्यथा और वेदना को साकार रूप मे प्रस्तुत करता है।

(५) पात्र एव चरित्र-चित्रण—जो कृष्ण-काव्य के कवि वास्तव मे भक्त हैं उनके सभी पात्र प्रतीकात्मक है। राधा माधुर्य भाव की भक्ति का उच्चतम प्रतीक है। वह आनन्दस्वरूप कृष्ण से अभिन्न उन्ही की ह्लादिनी शक्ति है। माधुर्य भाव से प्रेम करने वाली गोपिया भी कृष्ण से अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण परमात्मा हैं और गोपिया जीवात्माए। वे निरन्तर प्रेम से व्याकुल होकर परम आनन्दधाम कृष्ण मे लीन होने के लिए व्याकुल रहती हैं।

(६) प्रकृति चित्रण—कृष्ण भक्त कवियो ने प्रकृति-चित्रण मे अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है। डा० व्रजेश्वर वर्मा के शब्दो मे, "दृश्यमान जगत् का कोई भी सौन्दर्य उनकी आँखो से छूट नही सका। पृथ्वी, अतरिक्ष, आकाश, जलाशय, वन-प्रात, यमुना-कूल तथा कुज-भवन की सम्पूर्ण शोभा इन कवियो ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे नि शेष कर दी है।"

(७) रीति तत्व का समावेश—सूरदास ने साहित्यलहरी और नन्ददास ने रसमजरी, विरहमजरी आदि मजरियो की रचना कर हिंदी मे रीति-परम्परा का प्रवर्त्तन कर दिया।

(८) शैली—कृष्ण-काव्य के कवियो ने प्राय. गीति-शैली का प्रयोग किया है। भावात्मकता, सगीतात्मकता, वैयक्तिकता, सक्षिप्तता और भाषा की कोमलता, इन पाचो गीति-तत्त्वो का समावेश इनके काव्य मे हुआ है।

(९) छन्द—कृष्ण-काव्य की रचना प्राय मुक्तको मे हुई है। साथ ही इस काव्यधारा के अधिकाश कवि उच्चकोटि के सगीतज्ञ थे, अत उनके द्वारा विभिन्न राग-रागिनियो मे कृष्ण-चरित्र गाया जाना नितान्त स्वाभाविक था। कृष्ण-काव्य मे जो कलात्मक प्रसग हैं, उनमे चौपाई, चौबोला, सार और सरसी छदो का प्रयोग हुआ है। इन छदो के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, छप्पय, कुण्डलिया, गीतिका, हरिगीतिका तथा अरिल्ल भी बहुत अधिक सख्या मे प्रयुक्त हुए हैं। अन्य अनेक छदो की भी अवतारणा इस धारा के कवियो ने की है।

(१०) भाषा—कृष्ण-काव्य का प्रणयन अधिकाश मे कृष्ण की लीला भूमि मे हुआ है अत उसमे व्रजभाषा का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इस काव्य-धारा के कवियो के हाथ में पडकर व्रजभाषा चमक उठी है। इन कवियो ने तत्सम और तद्भव शब्दों का धडल्ले से प्रयोग कर व्रजभाषा के शब्द-भण्डार को खूब भरा है। विभिन्न मुहा-

मर्यादावादी समीक्षक होने के कारण शुक्ल जी का दृष्टिकोण उदार नहीं है, किन्तु फिर भी प्रस्तुत पंक्तियों में उन्होंने जो कुछ कहा है वह बहुत-कुछ ठीक ही है।

'रीति' शब्द का विश्लेषण

संस्कृत-काव्य शास्त्र में यों तो 'रीति' का सामान्य अर्थ पद्धति शैली या प्रणाली है किन्तु आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा (रीतिरात्मा काव्यस्य) घोषित करते हुए उसे 'विशिष्ट पद रचना' माना है। हिन्दी में 'रीति' शब्द अपने अर्थ में इतना व्यापक हो गया कि वह केवल विशिष्ट पद रचना तक ही सीमित न रहकर रस, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि सभी रचना-सम्बन्धी नियमों एवं सिद्धान्तों का वाचक हो गया। प्रस्तुत युग विशेष का नाम आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल रखा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी द्वारा दिये गये इस नामकरण के विषय में उनके मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है— 'यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकार शास्त्र का ही जोर रहा है जिसे उस काल में 'रीति' 'कवित्त रीति' 'सुकवि-रीति' कहने लगे थे संभवत इन शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्ल जी ने इस श्रेणी की रचनाओं को 'रीति-काव्य' कहा है। डॉ नगेन्द्र तथा श्री विश्वनाथ प्रसाद ने भी कुछ इसी प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की है और रीति शब्द को 'काव्य रीति' का संक्षिप्त रूप स्वीकार किया है। रीतिकालीन कवि-आचार्यों ने 'कवित्त रीति' 'कवि-रीति', 'काव्य रीति' 'अलंकार-रीति' 'रस रीति' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों में समाहत 'रीति' शब्द असन्दिग्ध रूप में काव्यांगों के विवेचन से सम्बन्ध रखता है।

नामकरण—विभिन्न मत तथा उनकी समीक्षा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रस्तुत विवेच्य काल का नाम रीतिकाल रखा है। मिश्रबन्धुओं ने इसे 'अलंकृत-काल' डॉ रसाल ने इसे 'कलाकाल' और प विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'शृंगार-काल' की संज्ञा से अभिहित किया है।

शुक्ल जी द्वारा दिया गया नाम प्रवृत्तिगत न होकर रचना-पद्धति पर आधारित है। उन्होंने 'रीति' को केवल शैली न मानकर एक दृष्टिकोण भी माना है। उनका रीति शब्द काव्यांगों के विवेचन से सम्बन्ध रखने वाले सलक्षण एवं अलक्षण दोनों प्रकार के काव्य का परिचायक है। उनके मत में काव्यांगों के लक्षणों के साथ अथवा उनके आधार पर लिखा गया काव्य हिन्दी में 'रीति-काव्य' कहलाता है। इस प्रकार के सलक्षण और अलक्षण रीति ग्रन्थों की रचना प्रमुख रूप से इस काल में होती रही इसलिए शुक्ल जी ने इस काल का नामकरण 'रीतिकाल' किया है। यद्यपि यह नाम रीति-परम्परा के प्रभावों से मुक्त घनानन्द बोधा ठाकुर आदि कवियों की उपेक्षा करता प्रतीत होता है तथापि वह नाम उक्त काल के अधिकांश साहित्य को अपने में समेट लेता है।

मिश्रबन्धुओं द्वारा प्रदत्त नाम कविता के केवल एक पक्ष—कलापक्ष—का सूचक है, उसमें भावपक्ष की समाहिति नहीं है। प्रस्तुत काल में कविता के केवल कला-पक्ष को ही महत्त्व दिया गया हो और भाव-पक्ष की पूर्णत उपेक्षा की गई हो, ऐसी बात नहीं है। इस काल में केशव को छोड़ कर अनेक ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने

: ५८ :

हिन्दी रीतिकाव्य

१. सामान्य परिचय ।
२ 'रीति' शब्द का विश्लेषण ।
३. नामकरण—विभिन्न मत तथा उनकी समीक्षा ।
४. युगीन परिस्थितिया ।
५ रीति-प्रवर्त्तक आचार्य ।
६. प्रमुख कवि ।
७. काव्यगत प्रवृत्तिया—(क) लक्षण ग्रन्थों का निर्माण, (ख) सरस उदाहरण, (ग) शृंगार का प्राधान्य, (घ) शृगार वर्णन में संस्कृत और फारसी का प्रभाव, (ङ) उद्दीपन-रूप में प्रकृति चित्रण, (च) आश्रय दाताओं की प्रशसा, (छ) रीति काव्य एव यथार्थ जीवन (ज) विरक्ति की भावना, (झ) वीर-काव्य का प्रणयन, (ञ) कलापक्ष की प्रधानता, (ट) मुक्तक शैली, (ठ) छन्द, (ड) भाषा ।
८ उपसहार ।

सामान्य परिचय

हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे रीतिकाल का समय स० १७०० विक्रम से लेकर स० १६०० विक्रम तक माना जाता है । कुछ विद्वानो ने रीतिकाल का आरम्भ सं० १६५० विक्रम से माना है जो केशव की कृतियो को देखते हुए, असगत नही जान पडता । रूप-तत्त्व की दृष्टि से इसे हिन्दी-काव्य का चरमोत्कर्ष-काल माना जा सकता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग के साहित्य की एक सामान्य रूप-रेखा प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"इन रीति-ग्रन्थो के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे । उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यागो का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना । अत उनके द्वारा बडा भारी कार्य यह हुआ कि रसो (विशेषत शृगार रस) और अलङ्कारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण मे प्राप्त हुए । रीति-ग्रन्थो की इस परम्परा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास मे कुछ बाधा भी पडी । प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातो तथा जगत् के नाना रहस्यो की ओर कवियो की दृष्टि नही जाने पाई । वाग्धारा बधी हुई नालियो मे प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गये ।" यह ठीक है कि रीतिकाल के विषय मे,

राधा-कृष्ण विषयक मधुरा भक्ति से प्रेरणा प्राप्त करते हुए इस काल के कवियों ने 'राधा-कन्हाई सुमिरन' के बहाने नग्न शृंगार की कविता करके अपने आश्रयदाताओं की शृंगारी मनोवृत्ति को तृप्त करने का प्रयत्न किया।

रीतिप्रवर्तक आचार्य

हिन्दी में रीति-परम्परा का आरम्भ भक्ति काल मे ही हो गया था। इस काल मे रचित प्रमुख रीतिग्रन्थ हैं—सूरदास-कृत साहित्य-लहरी (स १६०७ वि) नंददास-कृत रस-मंजरी (स १६१० वि) गोपा-कृत अलंकार चन्द्रिका (स १६१५ वि०) मोहन-कृत शृंगार-सागर (सं० १६१६ वि०) करणेश-कृत करणा भरण श्रुति भूषण भूपभूषण आदि (स १६३७ वि के आस पास) बलभद्र मिश्र-कृत नखशिख (स १६४ वि) आदि। परन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ महत्वपूर्ण नहीं है। केशव की कविप्रिया और रसिकप्रिया नामक ग्रन्थ इस परम्परा म अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी-रीति परम्परा का प्रवर्तक केशव को ही मानना चाहिए, किन्तु आचार्य रामच- शुक्ल यह श्रेय चिन्तामणि त्रिपाठी को (रचना काल सं १७ ० वि) प्रदान करते हैं, केशव को नहीं। इसके लिए उन्होंने जो तर्क दिये हैं वे इस प्रकार हैं—(१) रीति न्थों का अविरल और अखण्डित प्रवाह केशव की कविप्रिया के पचास वर्ष पीछे चला। (२) केशव अलंकारवादी जबकि परवर्ती कवियों ने केशव से भिन्न आदर्श—रस-सिद्धान्त को अपनाया। (३) परवर्ती कवियों ने अलंकारों के निरूपण में केशव की शैली को न अपना कर कुवलया नन्द की शैली को—एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण देने की शैली—का प्रयोग किया।

आचार्य शुक्ल के प्रथम आक्षेप के उत्तर मे कहा जा सकता है कि केशव के उपरान्त रीति ग्रन्थ प्रणयन की परम्परा विच्छिन्न नहीं हुई, वरन् निरन्तर चलती रही। केशव और चिन्तामणि के बीच जिन रीति ग्रन्थो की रचना हुई वे ये हैं—बालकृष्ण कृत रस चन्द्रिका (स १६५७ वि) मुबारक कृत अलक शतक व तिल शतक (स १६० वि) जगपति भट्ट कृत रंग भाव माधुरी (रस नायिका भेद का ग्रन्थ स १६८ वि) लीलाधर कृत नख सिख (सं १६७१ वि) सुन्दर कृत सुन्दर शृंगार (रस नायिका भेद का ग्रन्थ स १६८८ वि) रहीम कृत नगर शोभा बरवै नायिका भेद और मदनाष्टक (सं १६६६ ८१ वि के बीच) खेमराज कृत फतेह प्रकाश (स १६८५ वि) तोष कृत सुधानिधि (सं १६६१ वि) और जसवन्तसिंह कृत भाषा भूषण (स १६६५ वि)। अत शुक्ल जी का प्रथम आक्षेप निराधार सिद्ध हो जाता है।

आचार्य शुक्ल का दूसरा आक्षेप यह है कि केशव अलंकारवादी थे। वस्तुत केशव पर यह आक्षेप भी उचित नहीं है क्योंकि केशव ने जहाँ एक ओर 'कविप्रिया मे अलंकारो का विवेचन किया है वही दूसरी ओर उन्होंने रसिक प्रिया में रस के सभी अंगो एवं भेदो का भी निरूपण किया है। उन्होंने अलंकारों को काव्य की आत्मा कभी घोषित नहीं किया। हाँ! उ" शोभाकारक अवश्य माना है, और

अलकार को प्रधानता न देकर रस या ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए सुन्दर, सरस एवं भावपूर्ण कविता की है। इस प्रकार की कविता करने वालो मे मतिराम, विहारी आदि का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। और फिर कविता के भाव-पक्ष और कला-पक्ष तो भक्तिकाल मे भी समृद्ध रहे हैं। ऐसी स्थिति मे इस काल का नाम 'अलकृत-काल' उपयुक्त प्रतीत नही होता।

जो असगति मिश्रवन्धुओ द्वारा सुझाये गये नाम मे है, वही रसाल द्वारा निर्धारित किये गये नाम मे भी वनी हुई है, क्योकि यह नाम भी कविता के भाव-पक्ष की उपेक्षा करता हुआ जान पडता है।

इसमे सन्देह नही कि शृगार-चित्रण इस युग की मुख्य प्रवृत्ति रही है और इसलिए प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा प्रस्तावित नाम को मान्यता मिलनी चाहिए, किन्तु इस नाम को स्वीकार कर लिये जाने पर भूषण, ग्वाल, सूदन, जोधराज जैसे वीर-रस के कवि वहिष्कृत हो जायेंगे। अत विवेच्य काल के लिए यह नाम भी वहुत समीचीन नही है।

नामकरण-विषयक प्रस्तुत समस्याओ को देखते हुए आचार्य शुक्ल द्वारा निश्चित किया नाम ही मान लिया जाना चाहिए। यह ठीक है कि 'रीति काल' नाम मान लिए जाने पर घनानन्द, वोधा, ठाकुर जैसे रीति-मुक्त कवि उपेक्षित से जान पडते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे ये भी रीतिकाव्य शैली से प्रभावित जान पडते हैं।

युगीन परिस्थितिया

इस वात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि रीति काल मे भक्ति, वीरता, नीति आदि अनेक विषयो पर कविताओ का प्रणयन हुआ, किन्तु प्रधानता इस युग मे शृगारपरक रचनाओ की ही रही। वास्तव मे इस शृगाराधिक्य के मूल में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एव धार्मिक परिस्थितियाँ कार्य कर रही थी।

यह ठीक है कि रीतिकाव्य का आरम्भ मुगल-सम्राट् औरगजेव के युग से होता है, किन्तु उस पर प्रभाव औरगजेव का नही, वरन् उसके पूर्ववर्ती मुगल-सम्राटो का है। अकवर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ, ये सभी मुगल-सम्राट् ललित कला-प्रेमी थे। औरगजेव के वाद के तो लगभग सभी मुगल-वादशाह भोग-विलास मे निमग्न रहते थे। औरगजेव के समय से मुगल-साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया था। उसके वाद तो स्थिति यह हुई कि छोटे-छोटे रजवाडे भी स्वतन्त्र हो गये और इनमे रूप की अवाध साधना चल पडी थी। इस प्रकार राजनीतिक परिस्थितियाँ सौन्दर्योपासना मे पूर्ण सहयोग दे रही थी।

छोटे छोटे राजाओ के जीवन का प्रभाव समाज के धनी-मानी व्यक्तियो पर भी पडा और वे भी विलासपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। समाज के निम्न वर्ग को कोई पूछता न था।

धर्म के क्षेत्र मे भी कामुकता ने स्थान पा लिया था। सगुणोपासक भक्त कवियो की धार्मिक भावना मे अव शृगारी मनोवृत्ति ने प्रवेश प्राप्त कर लिया था।

कुलपति ने काव्य प्रकाश के आधार पर रस रहस्य-नामक रीति ग्रन्थ की रचना कर ध्वनि का विवेचन प्रस्तुत किया। सुखदेव-द्वारा रचित ग्रन्थो की संख्या ७२ है जिनमे छन्दों और रसों का अच्छा विवेचन हुआ है। इन्होने जो उदाहरण दिये हैं वे काव्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सरस हैं। देव के ग्रन्थों मे विचार की स्पष्टता वर्गीकरण की मौलिकता तथा उदाहरणों की रमणीयता द्रष्टव्य है। देव सम्बंधित के ममज्ञ थे। शब्द और वर्णों का संतुलन कर उनकी भावानुकूल गति की व्यवस्था करना देव की बहुत बड़ी विशेषता है।

"पूर्ण पांडित्य और व्यापक बिदग्धता को लेकर मर्मस्पर्शी ललित काव्य के प्रणेता बिहारी रीति गगन के उज्ज्वल नक्षत्र है। इनकी सतसई में किसी भी काव्यांग का लक्षण नही है। अलंकार, रस रीति वक्रोति, ध्वनि आदि सभी इस सतसई मे समाये हुए हैं। वस्तुत बिहारी की दृष्टि अत्यन्त पैनी थी। छोटे से दोहे में एक सम्पूर्ण दृश्य को अपनी पूर्ण सुन्दरता और क्रियाकलाप के साथ स्पष्ट कर देना बिहारी की सबसे बड़ी विशेषता है।

देव के उपरांत रीति-काव्य खूब विकसित हुआ। कालिदास सूरति मिश्र श्रीपति सोमनाथ आदि ने इसकी परम्परा-वृद्धि मे बहुत अधिक योग दिया। कालिदास का 'कालिदासहजारा' एक हजार कविताओं का संकलन है। सूरति मिश्र ने 'काव्य-सिद्धांत' की रचना कर काव्य-शास्त्र के सभी अगो का सुन्दर और अधिकारपूर्ण विवेचन किया है। श्रीपति ने अपने ग्रन्थ 'काव्य-सरोज मे काव्य के स्वरूप कारण प्रयोजन दोष-गुण अलकार आदि पर अच्छा प्रकाश डाला है। सोमनाथ के रस-पीयूष निधि मे भी काव्य-शास्त्र विषयक चर्चा की गई है। सोमनाथ की मान्यता है कि व्यंग्य ही काव्य की आत्मा है।

भिखारीदास के ग्रन्थों मे काव्य-निर्णय शृगार-निर्णय छन्दोर्णव पिंगल और रस साराश विशेष प्रसिद्ध हैं। इनकी विशेषता इस बातमे है कि इन्होंने अलंकारों के वर्गीकरण काव्य-भाषा तुक आदि पर मौलिक रूप से विचार किया है। इनका विवेचन स्पष्ट और वैज्ञानिक भी है। पद्माकर रीति-परम्परा के अन्तिम प्रतिभा-समन्वित कवि थे। इनके द्वारा रचित पद्माभरण और 'जगद्विनोद' अच्छे रीति-ग्रन्थ हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता वर्ण-साम्य और शब्द-मैत्री है। बेनी कवि का नवरस-तरंग काव्य की दृष्टि से सुन्दर है भले ही उसमे लक्षण अच्छे न दिए गए हो। प्रतापसाहि ने व्यंग्यार्थ-कौमुदी मे नायिका भेद अलकार और व्यंग्यार्थ का सुन्दर विवेचन किया है। गूढता इनकी प्रमुख विशेषता है।

रीतिकाल मे जन्म लेने वाले घनानन्द बोधा ठाकुर आदि कुछ ऐसे भी कवि थे जिन्होंने स्वच्छन्द रीति से काव्य-रचना की। यद्यपि इन्होंने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण नहीं किया तथापि इनकी रचनाओं मे उदाहरणों के सुन्दर रूप मिलते हैं।

काव्यगत प्रवृत्तियाँ

(क) लक्षण ग्रन्थों का निर्माण—रीति काल की सबसे बड़ी विशेषता तत्कालीन साहित्य मे रीति ग्रन्थों अथवा लक्षण-ग्रन्थों की प्रचुरता है। केशव चिन्तामणि मतिराम भूषण कुलपति देव भिखारीदास आदि प्राय सभी कवियों ने लक्षण-ग्रन्थों

ऐसा चिन्तामणि, देव, श्रीपति, सोमनाथ, दास आदि सभी रीतिकालीन आचार्यों ने माना है, अर्थात् ये आचार्य भी अलकारो को आभूषणो की भाँति काव्य को शोभा का विधायक उपकरण स्वीकार करते हैं।

केशव के विषय मे यह भी कहा जाता है कि उन्होंने सस्कृत के प्रारम्भिक आचार्यों दण्डी आदि का अनुकरण किया, परवर्ती आचार्यों मम्मट, विश्वनाथ आदि का अनुकरण नही किया, जबकि हिन्दी के रीति-कवि विश्वनाथ आदि के मार्ग पर चले। यह आक्षेप भी कविप्रिया के आधार पर किया गया प्रतीत होता है। रसिक-प्रिया की अधिकाश सामग्री—रस-विवेचन, नायक के चार भेद, नायिका के तीन प्रमुख तथा अवान्तर भेद आदि—मम्मट के काव्य-प्रकाश एव विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण पर आधारित हैं।

केशव के परवर्ती कवियो मे से अलकार-निरूपण मे कुछ ने कुवल-यानन्द की पद्धति को अपनाया है और कुछ ने केशव का अनुकरण करते हुए लक्षण और उदाहरण अलग-अलग छदो मे दिये हैं। दूसरे वर्ग के कवियो मे मतिराम (ललित-ललाम), भूषण (शिवराज भूषण), रघुनाथ (रसिकमोहन) दुलह (कवि-कुल-कण्ठाभरण) ग्वाल (रसिकानन्द), प्रतापसाहि (अलकार-चिन्तामणि) उल्लेखनीय हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि केशव ने कविप्रिया और रसिकप्रिया मे जिस ढाँचे को खडा किया तथा जिन विषयो का जिस पद्धति मे विवेचन किया है, परवर्ती कवियो ने प्राय कुछ अपवादो को छोडकर, उसी ढाँचे, उन्ही विषयो और उसी पद्धति को स्वीकार किया है। अत यह कहने मे किसी प्रकार का सकोच नहीं होना चाहिए कि वस्तुत हिन्दी में रीति-प्रवर्त्तक आचार्य केशव हैं और यह श्रेय उन्ही को प्रदान किया जाना चाहिए।

प्रमुख कवि

रीतिकाल के कवियो मे केशव ने शुद्ध साहित्यिक रचना का एक नूतन मार्ग प्रस्तुत किया। कविप्रिया एव रसिक प्रिया के माध्यम से उन्होंने काव्यशास्त्र के विभिन्न अगो पर प्रकाश डाला। केशव चमत्कारवादी कवि थे, अलकारो के प्रति उन्हे विशेष मोह था। रीति-ग्रन्थो के रचयिताओ मे केशव के उपरान्त चिन्तामणि का नाम आता है। काव्यशास्त्र के विभिन्न अगो की इन्होंने बडे ही सरल रूप मे व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। रीति काल में चिन्तामणि से बढकर सुगम और स्पष्ट लक्षण देने वाला कोई दूसरा आचार्य नही हुआ। इनके चार लक्षण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं— पिंगल, रस-मजरी शृंगार-मजरी और कविकुल-कल्पतरु। रीतिकालीन अधिकाश कवियो ने चिन्तामणि द्वारा प्रदर्शित सरणि का अनुगमन किया है। चिन्तामणि के दोनो भाइयो, भूषण तथा मतिराम ने भी उच्च कोटि की काव्य-रचना की है। भूषण वीर रस के कवि थे और मतिराम शृंगार के। इन दोनो कवियोंमे विलक्षण प्रतिभा थी और दोनो ही प्रबन्ध-रचना सहज ही कर सकते थे, परन्तु युग की परिस्थितियो ने उन्हें लक्षण-ग्रन्थ लिखने को विवश कर दिया। "रीति-पद्धति को लेकर वीरकाव्य लिखने वाला भूषण के समान दूसरा कवि नही, जबकि भावो की मनोरम सुकुमारता में मतिराम अद्वितीय हैं।"

ा गये। इस काल के कवि यह समझते थे कि राधा और कृष्ण के आधार पर की ई शृंगार-परक रचनाओं को जनता निस्संकोच ग्रहण कर लेगी। दूसरे शब्दों में हना चाहें तो कह सकते हैं कि राधा-कृष्ण का नाम उनके लिए सामाजिक कवच ना हुआ था। भिखारीदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसी भावना को व्यक्त कर ती हैं—

"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

द्विजदेव भी कुछ इसी प्रकार की बात कहते हैं—

"रसिक रीझिहैं जानि तो ह्वै है कविताई सफल
नतरु सदा सुखदानि श्री राधिका हरि को सुजस है।

रीतिकालीन कविता में शृंगारिक वर्णनों के अवसर पर कहीं-कहीं तो अश्ली ता अपनी चरम सीमा को पहुंच गई है। ऐसे प्रसंग और चित्रण वे हैं जहाँ काम ास्त्र के आधार पर या वासनात्मक रूप से शास्त्रीय आधार के बहाने रति विपरीत ति आदि का नग्न और सीधा चित्रण हुआ है।

रीतिकाल में शृंगार के अन्तर्गत मुख्यतः संयोग-पक्ष और नायिका के सौंदर्य ा वर्णन हुआ है। आलम्बन की मधुर छवि एवं उसकी सूक्ष्म चेष्टाओं के अंकन के ए उन्होंने नख-शिख-वर्णन की परम्परागत शैली में थोड़ा संशोधन करके नई नई द्धति का विकास किया। नख शिख-वर्णन की रूढ़िबद्ध प्रणाली में नायिका के लगभग भी स्थूल अंगों का वर्णन किया जाता था किन्तु इस काल के कवियों ने केवल कुछ गों को लेकर एक समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जिसमें इन्हें अच्छी फलता मिली है। एक उदाहरण प्रस्तुत है

"कुन्दन को रंग फीको लगै झलकै ऐसी अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लहै मुसुकानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई।

—भिखारीदास

रीतिकालीन कवियों की विशेषता इस बात में भी है कि उन्होंने नायिका के ौंदर्य की एक-एक विशेषता पर पूरा का पूरा छंद लिख दिया है और फिर भी उसमें विस्य नहीं आने पाया है।

नायिका के हावों और अनुभावों का इन कवियों ने बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन ़या है। इस क्षेत्र में वे अपने पूर्ववर्ती कवियों से बहुत आगे बढ़ गये हैं। प्रिय के ान्निध्य से नायिका के हृदय में जो गुदगुदी उत्पन्न होती है वह इस सवैया म ष्टव्य है—

"अपने हाथ सों देत महावर आप ही बार सवारत नीके।
आपुन ही पहिरावत आनिकै हार सवारि कै मौलसिरी के॥

की रचना की है। रीतिकाल के इन रीति-ग्रन्थकार कवियो ने सस्कृत के दण्डी, मम्मट राजशेखर, जगन्नाथ, विश्वनाथ आदि आचार्यों का अनुकरण किया है। इस युग मे रस-मीमासा के क्षेत्र मे शृगार का प्राधान्य रहा। काव्य के विविध अगो—रस, अलकार, छन्द आदि की विवेचना हुई। परिणाम यह हुआ कि रचनाओ मे हृदय की अनुभूतियो का अकन न होकर—केवल छन्दो, रसो, अलकारो के दृष्टात दिए जाने लगे। यह ठीक है कि रीतिकालीन कवि-आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती सस्कृत आचार्यों का अनुसरण किया, किन्तु उनकी भाति ये काव्यशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत न कर सके इसके भी कुछ कारण है। प्रथम तो यह कि इन रीति-कालीन आचार्यों के समक्ष कोई वास्तविक काव्यशास्त्रीय समस्या नही थी। जो सस्कृत जानने वाले व्यक्ति थे, वे हिंदी रीति-ग्रन्थो का अवलोकन न कर सस्कृत ग्रन्थो को देखते थे। रह गये कम पढे-लिखे साहित्य-रसिक, केवल उन्ही के लिए इन्होंने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का निर्माण किया। इन सामान्य रूप से पढे-लिखे लोगो के समक्ष यदि काव्य-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया जाता तो वे उसे नही समझ पाते। अत रीतिकालीन आचार्यों ने सामान्य जनता को ही दृष्टि पथ मे रखकर रीति-ग्रन्थो का निर्माण किया, विद्वानो को दृष्टि मे रखकर नही। केशव ने स्पष्ट कह दिया—

> "समुझहि बाला बालकहु वर्णन-पथ अगाध।
> कविप्रिया केशव करी छमियो कवि अपराध।।

दूसरा कारण यह भी था कि रीतिकाल मे हिन्दी गद्य का अभाव था। शास्त्रीय विषय को जितनी गम्भीरता से गद्य के द्वारा समझाया जा सकता है उतनी गम्भीरता से पद्य के द्वारा नही।

तीसरे, रीति-कालीन आचार्यों ने कवि और आचार्य एक साथ बनने की चेष्टा की है जबकि सस्कृत मे कवि और आचार्य की भिन्न-भिन्न कोटिया थी। इस कारण भी इनका रीति-निरूपण सूक्ष्म न बन सका।

(ख) सरस उदाहरण—रीति-काल के कवि अत्यन्त भावुक एव सहृदय थे, अत इन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, वे अत्यन्त सरस, सुन्दर और मार्मिक है। इस विषय मे आचार्य रामचद्र शुक्ल जैसे कट्टर मर्यादावादी आलोचक को भी कहना पड गया "ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण सस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थो से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक सख्या न होगी।"

(ग) शृगार का प्राधान्य—समग्र रीतिकालीन कविता मे शृगार का खुल कर चित्रण हुआ है। "इस रस का इतना अधिक विस्तार हिन्दी साहित्य मे हुआ कि इसके एक-एक अग को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचे गए।" इस काल के अधिकाश कवि दरबारी थे। उनकी कविता का उद्देश्य स्वात सुखाय न होकर, शृगारी कविता के द्वारा अपने आश्रयदाताओ की कामुक मनोवृत्तियो को उभाडना था। भक्तिकाल की राधा-कृष्ण विषयक शृगारी कविता से भी रीतिकाल के कवियो ने प्रेरणा प्राप्त की और राधा-कृष्ण के अलौकिक प्रेम को घोर शृगार मे परिणत कर दिया। इन दोनों का अलौकिक रूप लुप्त हो गया और वे साधारण नायिका और नायक की कोटि में

कालीन शृंगार में बीभत्सता का समावेश भी फारसी प्रभाव का ही सूचक है।

(इ) उद्दीपन-रूप में प्रकृति-चित्रण—इस युग के कवियों में स्वतंत्र प्रकृति निरीक्षण का अभाव देखा जाता है। आलम्बन रूप में प्रकृति का वर्णन बहुत ही कम हुआ है। प्रकृति चित्रण विशेष रूप से षड्ऋतु वर्णन और बारहमासे के रूप में किया गया। इन कवियों ने प्रकृति तथा ऋतुओं को शृंगार रस की पृष्ठभूमि या शास्त्रीय परिभाषा में 'उद्दीपन' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनकी दृष्टि अधिकतर ऋतुओं के कामोद्दीपक वैभव पर रही है। पावस ऋतु के प्रारंभ एवं मनोरम वातावरण के कारण नवयौवना 'गौरी' के सौंदर्य प्रभाव की तीव्रता देखते ही बनती है—

"ऐसी हरी भू बन घू बन उठायो काम भू पै सुख प्यारी कमी पूरि के न बहरि कै।
कहै सिवनाथ झिल्ली धन पावत हैं सावन में बहु रस लहरी छहरि कै।
उन री मुकुन्द दुति कुमारी चुमन बाढ़ी झूम री कहिल और दैन री महरि कै।
झन री घटा में गौरी तून री छटा पै बैठ झूम री करैगी मान चूनरी पहरि कै।
—सिवनाथ

इसी प्रकार बसन्त का मादक वैभव नायक-नायिका के हृदय को रस-विह्वल बना देता है।

प्रेमी और प्रवसी की मानसिक दशा के अनुरूप ही प्रकृति का चित्रण हुआ है। संयोग के समय के सुखदायी उपकरण वियोग के समय दुखदायी बन जाते थे। पावस की घटाएँ, जो संयोग की स्थिति में नायक-नायिका को अमृत की वृष्टि करती जान पड़ती हैं, किसी विरहिणी अबला के लिए दुःसह शोक-व्यथा को जन्म देने वाली बन जाती हैं—

"पावस बनाया तो न विरह बनाउती
जो विरह बनायो तो न पावस बनाउती।

(च) आश्रयदाताओं की प्रशंसा—रीतिकालीन काव्य का सर्जन अधिकांशतः शासक एवं सामन्त-वर्ग के आश्रय में हुआ है। अतः कवियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं के प्रशस्तिगान लिखे जाने स्वाभाविक ही थे। केशव के जहाँगीर-जस-चन्द्रिका तथा रतनावली और पद्माकर की हिम्मत-बहादुर-विरुदावली आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं।

(छ) रीतिकाव्य एवं यथार्थ जीवन—यथार्थ जीवन के प्रति गहरी अभिरुचि रीतिकाव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। इस धारा के कवियों का मुख्य ध्येय जीवन और यौवन के वास्तविक तथा रमणीय स्वरूप का यथार्थ चित्रण है। डॉ. भगीरथ मिश्र का कहना है—'ऐसा लगता है कि रीतिकाव्य के रचयिता यौवन और बसन्त के कवि हैं। जीवन का फूलता हुआ सुन्दर रूप ही उन्हें प्रिय है। पतझड़ सघर्ष और विषाद स्वभावतः स्वतः जीवन में इतने और रूप में विद्यमान था कि कवि काव्य में भी उसको उतार कर नैराश्य और निवृत्ति की भावना को जगाना नहीं चाहता है। वह तो फलते-फूलते जीवन का भ्रमर है। उसने जीवन का एक ही स्वरूप लिया, एक ही पक्ष लिया' यह इस धारा के कवि की संकीर्णता है दुर्बलता है एकांगिता

हौं सखी लाजन जात मरी, 'मतिराम' सुभाव कहा कहौं पीके ।।
लोग मिलं घर घेर कहैं, अवई ते ए चेरे भए दुलही के ।"

—मतिराम

स्पष्ट है कि उपर्युक्त पक्तियो मे गार्हस्थ्य जीवन से सम्बधी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति है, किन्तु इस काल के काव्य मे स्वच्छ द अनुभूतियो की अभिव्यक्ति का अभाव हो, ऐसी बात नही है। यदि रीतिकाल के कवि कही 'मैनशर' से पीडित नव-वधू वाला को अध निशा मे किसी बटोही को जगाते देखते है तो कही किसी निर्मोही को हृदय दे बैठने के कारण किसी तरुणी को निर्वेद से ग्रस्त पाते हैं।

इस काल के कवियो के काव्य मे प्रेम की विभिन्न अवस्थाओ का निरूपण मिलता है मतिरास, देव और पद्माकर जैसे कवियो ने प्रेमोत्पत्ति से लेकर उसकी चरम परिणति तक की प्राय सभी अवस्थाओ का वणन पूण महानुभूति के साथ किया है। उदाहरण के लिए नीचे मिलनाकाक्षा का चित्रण देखते ही बनता है—

"ऐरी इन नैनन के नीर मे अबीर घोरि,
बोरि पिचकारी, चितचोर पै चलाइ आउ।'

—मतिराम

देव द्वारा चित्रित प्रेमासक्त नायिका की दशा भी देखने ही योग्य हैं—
'मूरति जो मनमोहन की मन मोहिनी के मन है थिरकी सी।
देव गुपाल को बोल सुनै,छतिया सियराति सुधा छिरकी सी ।।
'नींके झरोखा है झाकि सकै नहि नैननि लाज घटा थिरकी सी।
पूरन प्रीति हियै हिरकी, खिरकी खिरकीनि फिरै फिरकी सी।।

रीति कालीन कवियो मे ऊहात्मक वर्णन भी देखने को मिल जाता है। वस्तुत. इस युग मे कला वासना पूर्ति का साधन बन गई थी। इस कला का आलम्बन 'नारी' थी। नारी का सागोपाग वर्णन कला का आदर्श बना। कवियो ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नारी प्रकृति का विश्लेषण न करके केवल रति और काम वासना से सम्बन्धित नारी के विविध रूपो का चित्रण किया है। इन्होने नायिका भेद पर अनेको ग्रन्थो की रचना कर डाली। नखशिख वर्णन मे इन कवियो ने कमाल कर दिखाया है। ये नायिका के एक एक अग पर स्वर्ग के सुख को भी न्यौछावर करते दिखाई देते हैं।

रीति काव्य मे शृगार रस और नायिका-भेद के वर्णन के साथ साथ षड्ऋतु या बारहमासा वर्णन को भी प्रमुख स्थान मिला है। यह ऋतु वर्णन भी एक प्रमुख प्रवृत्ति है। यह वर्णन शृगार रस के उद्दीपन विभाव के रूप मे ही दिखाई देता है। सयोग शृगार तथा विप्रलम्भ शृगार दोनो प्रसगो मे विभिन्न ऋतुओ का वर्णन रीति काल के कवियो ने किया है।

(घ) शृगार वर्णन मे सस्कृत और फारसी का प्रभाव—उत्तरकालीन सस्कृत साहित्य मे नायिकाओ के सूक्ष्म वर्गीकरण पर आधारित शृगारिक चेष्टाओ को व्यक्त करने वाली परिपाटी प्रारम्भ हो गई थी। इसी का प्रभाव रीतिकालीन काव्य पर पड़ा। फारसी के प्रभाव के कारण शृगार वर्णन मे चमत्कार का प्राधान्य हुआ। रीति

के परिणाम-स्वरूप हम ब्रजभाषा में एक विशेष निखार ओजस्विता एवं माधुर्य समाविष्ट देखते हैं। भाषा में कोमल शब्दावली मुहावरे, कहावतें आदि जितने सुन्दर रूप में इस काल मे प्रयुक्त हुए है उतने पहले कभी नहीं हुए।

उपसंहार

रीति के संकीर्ण क्षेत्र में रहकर काव्य रचना करते हुए इस काल के कवियों ने अपनी भावानुभूति रसात्मकता कलाकौशल संगीतात्मकता भाषा-संगठन आदि का सुन्दर परिचय दिया है। इन कवियो ने कला को कला के ही रूप में देखा है और सौन्दर्य की साधना को ही अपने कर्त्तव्य का चरम लक्ष्य स्वीकार किया है। डॉ॰ भगीरथ मिश्र के शब्दो म 'यह काव्य रमणीय है जो इसे निन्दनीय और उपेक्षणीय समझते है वे यौवन के भावो और वसन्त के विकास को भी गर्हित कहने की चेष्टा करते हैं।

है। परन्तु जिस पक्ष को उसने लिया है, उसके चित्रण मे उसने कोई कोर-कसर उठा नही रखी। उसके समस्त वैभव और विलास के चित्रण मे उसने कलम तोड दी है।"

(ज) **विरक्ति की भावना**—रीतिकालीन अधिकाश कवि राज्याश्रय मे रहते थे अत उन्हे अपने आश्रयदाताओ की तुष्टि के लिए शृगार-परक काव्य-रचना करनी पडती थी, किन्तु हृदय से यह ऐसा नही चाहते थे। यही कारण है कि अपने अन्तिम दिनो में ये प्राय सभी कवि निर्वेद की भावना व्यक्त करते पाये जाते है। सभी ने राम, शिव, दुर्गा, गगा आदि की स्तुति की है। यह स्तुति उनकी व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभूतियो के उद्गार हैं। "शृगार की अतिशयता मे आकण्ठ निमग्न इन कवियो की सम्पूर्ण आत्मग्लानि और असहायता के दर्शन इन कविताओ मे मिल जाते हैं।"

(झ) **वीर-काव्य का प्रणयन**—इस युग मे जहाँ एक ओर अधिकाश कवि सौन्दर्योपासना मे तल्लीन थे, वहा दूसरी ओर कुछ अन्य कवि एक हिन्दू राष्ट्र की भावना से वीर-काव्यो की भी रचना कर रहे थे और सुप्त देश को अपनी हुकारो से जगा रहे थे। भूषण, लाल सूदन, पद्माकर आदि ऐसे ही कवि हैं।

(ञ) **कलापक्ष की प्रधानता**—रीतिकाल की कविता मे भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष की प्रधानता है। इस युग के अधिकाश कवि अलंकारवादी थे। यही कारण है कि रीति काल का काव्य अलङ्कारो का एक समृद्ध कोश बन गया है। इस काल की अलकार-प्रियता का उल्लेख करते हुए डॉ० भगीरथ मिश्र ने लिखा है—"विभिन्न अलकारो से अपने कथन को सजाना इस युग का फैशन था। बात को सरल स्वाभाविक रीति से कहना सम्माननीय न समझा जाता था। उक्ति-चमत्कार के द्वारा पाठक और श्रोता के मन को आकृष्ट कर लेना ही इस युग के कवियो का लक्ष्य तथा इनकी सफलता का मापदड था।

(ट) **मुक्तक-शैली**—रीतिकाल मे बहुत ही कम प्रबन्ध-काव्यो की रचना हुई है, अधिकाश कवियों ने मुक्तक-शैली का ही आश्रय लिया है। इसके दो कारण बताये जाते हैं—(१) आश्रयदाता प्रबन्धकाव्य सुनने का समय और अवकाश नही पाते थे। उन्हे विलास से फुर्सत ही नही मिलती थी। कवि स्वामी की रुचि देखकर आशु-काव्य की रचना करते थे जिससे मौलिकता का भी ह्रास हुआ। (२) जीवन का सर्वांगीण क्षेत्र उपेक्षित होकर शृगार की प्रधानता रही। इसके लिए मुक्तक शैली ही विशेष रूप से उपयुक्त थी। चमत्कारपूर्ण दोहा-साहित्य का बाहुल्य इसी के कारण हुआ।

(ठ) **छन्द**—रीति काव्य मे अधिकाशत कवित्त, सवैया और दोहा छन्दो के प्रयोग की ही प्रवृत्ति देखी जाती है। यद्यपि बीच-बीच मे किन्ही-किन्ही ग्रन्थो मे अन्य छन्द—जैसे छप्पय, बरवै, हरिपद आदि भी मिलते हैं।

(ड) **भाषा**—रीतिकाव्य-धारा का कवि भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में अत्यधिक सजग है। वर्णमैत्री, अनुप्रासत्व, ध्वन्यात्मकता, शब्दगति, शब्दशोधन, अनेकार्थता, व्यग्य आदि की विशेषता इस काव्य मे प्रचुर मात्रा मे मिलती है। इस धारा का अधिकाश काव्य ब्रजभाषा मे ही रचा गया। अत इन कवियो के प्रयत्नो

ऐसा काव्य लिखना चाहते थे जिससे उन्हें राज सभा में गौरव मिल सके तथा पंडितों का आदर प्राप्त हो सके।

ठाकुर सो कवि भावत मोंहि जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरें सो कवित्त कहावै॥

स्पष्ट है कि ठाकुर के समय भी श्रेष्ठ कविता वही मानी जाती थी जो राज-सभा में प्रशंसा पा सके और पंडितों तथा प्रवीणों को चमत्कृत कर सके। इस धारणा से ये कवि प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। अतः उनके काव्य में भी उक्ति-वैचित्र्य अलंकार-सौन्दर्य आदि काव्य सौन्दर्य के बाह्य उपकरण मिलते हैं।

एक अन्य समानता जो रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों में मिलती है वह यह है कि दोनों ने नायिका-भेद विलास की विविध अवस्थाओं और स्वामों के चित्र नख-शिख वर्णन ऋतु-वर्णन सम्बन्धी कविता लिखी है और उनकी कविताओं का छन्दगत ढाँचा भी लगभग समान है अर्थात् दोनों ने कवित्त-सवैयों में ही रचना की है।

प्रेम की कविता लिखते समय दोनों धाराओं के कवियों ने गोपी और गोपाल राधा और कृष्ण के माध्यम से अपने भाव प्रकट किये उन्हें प्रेम के प्रतीक रूप में ग्रहण किया। चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी रीतिमुक्त कवियों—विशेषतः घनानन्द ठाकुर आदि में उपलब्ध होती है। विरोधाभास श्लेष यमक आदि का अति शय प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि घनानन्द भी शैलीगत चमत्कार पर पर्याप्त ध्यान देते थे। वह निस्सन्देह जागरूक और सचेत कलाकार (Conscious artist) थे।

इन समानताओं के होते हुए भी रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त कवियों में भावगत तथा कलागत पर्याप्त भेद था जिसके कारण शुक्ल जी ने उन्हें विभिन्न माना। घनानन्द ठाकुर, बोधा आदि कवि अपने समकालीन रीतिबद्ध कवियों से इस बात में विशिष्ट हैं कि एक ओर उन्होंने साहित्यिक परम्पराओं के प्रति विद्रोह किया और दूसरी ओर नैतिक मूल्यों के प्रति नया क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपनाया। इन्हीं दोनों क्षेत्रों में नया मार्ग अपनाने—साहित्यिक रूढ़ियों का तिरस्कार करने तथा प्रचलित मान्यताओं को न मानने के कारण इनके काव्य में ऐसी विशिष्टता आ गयी है जो उन्हें तथा उनके काव्य को अभिनव गरिमा प्रदान कर उसे शेष रीति-कालीन-काव्य से अलग कर देती है। उन्होंने अपनी कविता रीति-ग्रन्थों का निर्माण करने के लिए नहीं लिखी अपितु अपने हृदय के नैसर्गिक भावपूर्ण उद्गारों को अभिव्यक्त करने के लिए लिखी। अतः इस काव्य में भावना का सहज और स्वाभाविक उन्मेष मनोगत वेग का प्रवाह, रस की धारा का उन्मुक्त प्रवाह स्वाभाविक ही था।

प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण और प्रेम का स्वरूप

रीतिबद्ध कवियों का प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण मुख्यतः मांसल और शरीरी था अतः उनकी रचनाओं में प्रेम का बाह्य पक्ष ही दिखाई देता है और वह भी कविबद्ध अर्थात् परम्परा से जो प्रेम-व्यापार के लक्षण चुने-बनाये हुए कवि-समय सिद्ध व्यापार चले आ रहे थे उन्हीं तक उनकी दृष्टि सीमित थी। उन्हें मानसिक [illegible] आकृष्ट करता था, 'जो

: ५६ :

रीतिमुक्त या स्वच्छन्द काव्य धारा

१. परिचय तथा रीतिबद्ध कवियों से समानता, उसके कारण।
२. रीतिबद्ध कवियों से भेद।
३. रीतिमुक्त कवियों का प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण।
४. रीतिमुक्त कवियों की काव्यगत विशेषतायें।
५. सयोग वर्णन।
६. वियोग वर्णन।
७. प्रकृति चित्रण।
८. भक्ति-काव्य।
९. कला-पक्ष।
१०. उपसंहार

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास मे घनानन्द, बोधा, आलम आदि कतिपय कवियो को, जिन्होने स्वच्छन्द प्रेम के भावपूर्ण उद्गारों को काव्य-बद्ध किया, जो मनोगत वेग के प्रवाह मे काव्य लिखते थे, जिन्होने प्रेम के बाह्य पक्ष की अपेक्षा आन्तरिक पक्ष पर बल दिया, काव्य पद्धति की स्वच्छन्दता को निस्सकोच अपनाया, साहित्य की परम्परागत प्रेम व्यापार पद्धति का त्याग किया; 'रीतिमुक्त कवि' कहा है और उनकी मुक्त-कठ से प्रशसा की है। यह रीतिमुक्त धारा रीतिबद्ध काव्य-धारा से एकदम विच्छिन्न नही की जा सकती। दोनो धाराओ के कवियो को परम्परा से चली आती एक परिपुष्ट काव्य-पद्धति मिली थी और उसे त्यागना सभव नही था। दूसरे, दोनो सामतीय वातावरण मे पले थे, उसी मे अपनी काव्य-रचना कर रहे थे। दरबारो में रहते हुए, राज्याश्रय में पलते हुए उनके लिए यह सम्भव न था कि वे सामतीय वातावरण से अपने को पृथक् रख सकते, आश्रय-दाता नरेशो की रुचि की अवहेलना करते और तत्कालीन प्रभाव से अपने को असम्पृक्त रख पाते। आलम औरगजेब के दूसरे पुत्र मुअज्जम के आश्रित कवि थे, तो घनानन्द मुहम्मदशाह 'रगीले' के मीर मुशी थे। यदि बोधा पन्ना के महाराज के राजकवि थे, तो ठाकुर "विजावर" की छत्रछाया मे निवास कर रहे थे। इनका स्वभाव, व्यक्तित्व, आशा-आकांक्षाएँ सामान्य मानव जैसी ही थी, राजसभा मे गौरव पाने की अभिलाषा से वे भी उतने ही अनुप्रेरित थे जितने अन्य रीतिबद्ध कवि। यदि विहारी को एक दोहे के लिए एक अशरफी मिलती थी तो ठाकुर भी

है, जड़ता का सदाक मानता है, उसे तो प्रिय के वियोग में तड़पना ही चेतनता जान पड़ती है वही धीम है—

हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर सनेही को लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।

(घनानन्द)

यह जानते थे कि प्रेम का मार्ग भयकर है, तलवार की धार पर चलने के समान है—

यह प्रेम को पंथ कराल महा तलवार की धार पै धावनो है।"

(बोधा)

पर उन्हें उसी पर दौड़ने मे जीवन की परम सिद्धि प्राप्त होती है। इन्होंने प्रेम के क्षेत्र में लौकिक बन्धनों को अस्वीकार किया नियमपालकों को अंधा गार उलूक बताया—

"नेमी धर्म हँसि मरें चाहैं तिन रीस करैं।
ऐसे मरकटे क्यौं चकोर हो न की उलूक।।"

(घनानन्द)

पर इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने प्रेम का अनुदात्त स्वरूप अपनाया। प्रम की स्वच्छन्दता को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उसका उदात्त रूप ही ग्रहण किया। रीतिमुक्त कवि यदि स्वच्छन्दतावादी कहे जाते हैं तो इसीलिए कि इनमें व्यक्तिनिष्ठता है उनकी अभिव्यक्ति परम्परायुक्त साहित्यिक नियमों को अस्वीकार करती है उसमें भावात्मक तन्मयता है और अनुभूत्यात्मक चेतना का प्राधान्य है जो विपसे के अनुसार स्वच्छन्दतावाद के आवश्यक लक्षण हैं। परन्तु प्रेम की एकान्तिक उपासना इनका चरम लक्ष्य है प्रिय के प्रति सहज आत्म-समर्पण एक मात्र जीवन वृत्ति। अतः प्रेम का इनका आदर्श स्वच्छन्द होते हुए भी अत्यन्त उदात्त है। साथ ही वह जीवन से पलायन या निर्वेद का भी द्योतक नहीं है इसीलिए डॉ बच्चनसिंह ने उसके सम्बन्ध मे कहा है— इन कवियों का प्रेम न तो रीतिबद्ध कवियों की भाँति शरीरी है और न प्लेटोनिक प्रेम की तरह अशरीरी और वायवी। इनकी स्थिति बहुत कुछ दोनों की मध्यवर्तिनी है।[1]

यहाँ एक प्रश्न पर और विचार कर लिया जाय। क्या रीतिमुक्त कवियों को अपने प्रेम के स्वरूप का निर्माण करने में सूफियों तथा फारसी कवियों से बल मिला था। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा डॉ बच्चनसिंह दोनों का मत है कि 'स्वच्छन्द धारा के रीतिमुक्त कवि सूफी सतों और फारसी साहित्य की प्रवृत्ति से प्रभावित हुए हैं यह असंदिग्ध है। उनका तर्क है कि संस्कृत अम्य और इन दोनो काव्य-परम्पराओं मे प्रेम के समरूप का ही विधान है। वाल्मीकि के राम सीता कालिदास के शकुन्तला-दुष्यंत बाण के चन्द्रापीड और कादम्बरी विद्यापति

1. डा बच्चन सिंह—रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, पृ ९९
2. प्रताप मिश्र—बिहारी पृ ९१

लहिये सग सजन तौ धरक नरक हू की न"। प्रेम की वह चरमावस्था जिसे पाकर राधा 'अनुदिन माधव माधव रट इत, राधा भेल कन्हाई' कृष्णमय हो जाती थी, वह इनमे नही मिलती। इसके विरुद्ध रीतिमुक्त कवियो का प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण सूक्ष्म, अशरीरी और मानसिक था। वह गूढ, एकान्तिक और एकनिष्ठ था। रीति-वद्ध कवि प्रेम-मार्ग की वक्रता, उसकी चातुरी और उसकी विविध छल-कपटमयी वातो पर लिखते रहे थे, परन्तु रीतिमुक्त कवियो की धारणा थी कि प्रेम का मार्ग सरल है उसमे बौद्धिक चातुरी, छल कपट, वक्रता आदि का कोई स्थान नही।

"अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
यहा सूधे चलै तजि आपनपौ झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं॥

(घनानन्द)

रीतिवद्ध कवि स्वच्छन्द प्रेम के समर्थक नही थे, सामाजिक मर्यादा और नैतिक नियम उनकी दृष्टि मे अनुलघनीय थे। इससे और कुछ लाभ हुआ हो या नही, कवियो को खेल दिखलाने का अवसर अवश्य मिल गया। कभी वे दूती और सखी को मध्यस्थ वनाकर प्रेम-व्यापार का वर्णन करते और कभी गुरुजनो के वीच प्रेम के सकेतो का, सहेट-स्थलो की लुका-छिपी का, अभिसारिका की साज-सज्जा का वर्णन करते। रीतिमुक्त कवि स्वच्छन्द प्रेम के समर्थक थे, उन्हे लोक-लाज या रूढिगत वन्धनो की चिन्ता न थी। वे तो एकनिष्ठ प्रेम को ही सर्वस्व मानते थे, अत उन्होने अपने आपको वहुत सीमा तक प्रेम की इस उच्छृखल क्रीडाओ से अलग रखा। इसका कारण यह भी है कि इनका काव्य वैयक्तिक सस्पर्शों से युक्त है, अत मार्मिक और रसार्द्र वन गया है। घनानन्द को सुजान नही मिल सकी, तो ठाकुर को भी अपनी प्रेयसी प्राप्त न हो सकी। अत इस व्यवधान ने ही इन्हे वह प्रेरणा (Stimuli) दी जिससे उनके मनोभाव कविता के रूप मे फूट पडे और पत जी की निम्न उक्ति को सार्थक कर वैठे।

'वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान
उमड कर आँखों से चुपचाप
वही होगी कविता अजान।'

उनकी दृष्टि मे प्रेम वुद्धि की कतरव्योंत शरीर की मादक क्रीडा न होकर शुद्ध हृदय की भावधारा है। हृदय की रीझ रानी है और वुद्धि दासी मात्र—

"रीझि सुजान सची पटरानी वची वुद्धि वावरी ह्वै करि दासी"

उसे प्रेम-निवेदन के लिए मध्यस्थ की आवश्यकता नही थी, वह स्वय ही अपने भावोद्गार प्रकट करता है। उसका प्रेम एकनिष्ठ है और तुलसी का चातक उसका आदर्श है—

"उपल वरसि गरजत तरजि, डारत फुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कवहुँ दूसरी ओर॥'

वह प्रेम में मर जाने से डरता नही पर उस मरने को वह कायरता समझता

चित्रण में इतना रस नहीं लेते जितना रूप के सम्मिलित प्रभाव के अंकन में। अतः नेत्र चितवन संयोग-परक आमोद प्रमोद के चित्र बहुत कम हैं। उन्होंने सौन्दर्य का स्थूल वर्णन न कर व्यापक सौन्दर्य चेतना का ही आकलन किया है। रीतिमुक्त कवियों में सर्वाधिक भंगिमापूर्ण रससिक्त और आकर्षक चित्र घनानन्द के हैं क्योंकि जहाँ बोधा विरह-निवेदन में रत रहे वहाँ आलम अपने को रीति परम्परा से मुक्त नहीं कर पाये। घनानन्द ने अपने प्रिय का वर्णन करने के लिए स्थूल अंगों उनके आकार और व्यापार का वर्णन कम किया है उनके तरल सौंदर्य का या गुणों का अधिक। अंग प्रत्यंग के परिपाटी विहित पुरातन उपमानों की सहायता से किये गये चित्रों की अपेक्षा उन्होंने प्रिय की भंगिमाओं तिरछी चितवन प्रेमपूर्ण वार्तालाप सरस मुस्कान आदि का चित्रण ही अधिक किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके चित्रों मे मोहक ऐंद्रियता है ही नहीं है पर वह मोती की तरल कांति की तरह कोमल है चटकीली नहीं। लज्जाभरी चितवन सरस वार्तालाप और स्मितयुक्त भंगिमा का यह मोहक चित्र देखिए—

लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी
लसति ललित लोल चख तिरछानि मैं।
छवि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल
रस निचुरत मीठी मृदु मुसकानि मैं॥
आनन्द की निधि जगमगाति छबीली बाल
अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरि जानि मैं।

वह कहीं प्रेमिका के नृत्य और अभिनय का मनोमुग्धकारी चित्र अंकित करते हैं—

नाच की मटक लसै अंगनि मटक रस
लाड़िली लटक संग लोचन नचे फिरै।

तो कहीं उसके वीणा-वादन का प्रभाव बताते हुए कहते हैं—

'जान प्रवीन के हाथ की बीन है मो चित राग भर्यो नित राजै।
सो सुर साध कहूँ नहिं छाड़त क्यौं ही बजावै जिये मन भाजै॥

स्पष्ट है कि रीतिमुक्त कवियों की दृष्टि अंग वर्णन पर उतनी नहीं है जितनी प्रेयसी की सामूहिक छवि के अंकन पर अथवा उसके रूप-गुण की सम्मिलित शोभा से उत्पन्न प्रभावमयता पर।

इन कवियों के प्रेम मे मानसिक उल्लास का स्थान ही प्रमुख है उसमें शरीर का स्पर्श कम है। अतः रीतिबद्ध कवियों की तरह इन्होंने आलिंगन, चुम्बन सुरति सुरतांत विपरीत रति आदि का कुरुचिपूर्ण अलंकृत चित्रण नहीं किया है। यदि कहीं इस प्रकार के चित्र हैं भी तो उनके कवि-जीवन के प्रारंभिक काल के हैं उनकी प्रौढ़ावस्था के नहीं। खंडिता का वर्णन इनके काव्य में मिलता है पर सौतों की तरह उनका तात्पर्य अथवा मान-मनावन के प्रसंगों को लाने के लिए नहीं अपितु प्रेम-वैषम्य दिखाने के लिए। अतः खंडिताओं की जो उक्तियाँ हमें रीतिबद्ध

के राधा-कृष्ण सभी मे सम प्रेम की प्रतिष्ठा हुई है। पर बाद मे सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियो मे, तदुपरान्त रीति-बद्ध कवियो में प्रेम की विषमता का स्वरूप अंकित तो किया गया है पर उसका बढा-चढ़ा रूप रीति-मुक्त कविता मे ही उपलब्ध होता है। कृष्ण-भक्त कवियो मे जो प्रेम का वैषम्य दिखाई देता है वह भक्तिक्षेत्र की विषमता से भिन्न है क्योंकि भक्ति मे यह विषमता उपास्य की ओर उपासक को आकृष्ट करने के लिए लायी अवश्य जाती है, पर वहाँ प्रिय निष्ठुर, कठोर या क्रूर नही दिखाया जाता, उसे करुण, उदार बताया जाता है, जबकि प्रेम के क्षेत्र मे उसे क्रूर, कठोर और निष्ठुर चित्रित किया जाता है, तुलसी के राम और सूर के कृष्ण अवढरदानी हैं, जो दीनो पर बिना कारण द्रवित हो जाते हैं, परन्तु गोपियाँ अपने प्रियतम कृष्ण को उनकी निष्ठुरता, छल, कपट आदि के कारण उपालम्भ देती हैं, कठोर वचन कहने से भी नही चूकती—

"यह मथुरा काजरि की कोठरि जे आवें सो कारे"

इसका कारण यही है कि गोपियो मे भक्ति की अपेक्षा प्रेम का पक्ष प्रबल हो गया है। अत स्वच्छन्द धारा के रीति कवियो में यह वैषम्य कृष्ण भक्तो की रचना से प्रभावित होने के कारण नही, सूफियो की कविता के परिणाम-स्वरूप आया है। वस्तुत रीतिकाल मे अनेक कवि फारसी काव्य से प्रभावित हुए हैं। बिहारी मे विरह की नाप-जोख का वर्णन है, रसनिधि ने वियोग पक्ष का चित्रण करते हुए फारसी की बीभत्स व्यापारावलि तथा कही-कही ज्यो की त्यो शब्दावली ग्रहण की। घनानन्द की समकालीन एक रचना भी मिलती है—'भडौबा सग्रह'। उससे भी ज्ञात होता है कि इस समय के कवि फारसी की उक्तियाँ चुराया करते थे, अत इन कवियो पर फारसी के एकान्तिक प्रेम का प्रभाव पडना भी सभव हैं। बोधा का सूफियो की 'प्रेम की पीर' का प्रभाव अवश्य पडा था और फारसी कविता की धारा ने रीति कविता के प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण को बदलकर ऐसी कविता को पनपने का अवसर दिया जो प्रत्येक भावुक हृदय को आज भी मुग्ध करती है। कविवर दिनकर ने दो भिन्न सस्कृतियो के मिलन से उत्पन्न जिस परिणाम की बात कही है, वह इस काव्य पर भी लागू होती है, "भारत मे साहित्य और सस्कृति के सबसे सुन्दर फूल तब खिले जब बाहर को कोई धारा आकर हमारी धारा से टकरा गई है। जब मुसलमान आए, यहाँ भाषा काव्य का विकास हुआ और शृगार तथा रहस्यवाद की कविताओ मे एक नई तडप पैदा हुई।"

रीतिमुक्त कवियो की काव्यगत विशेषताएँ

सयोग वर्णन—रीतिमुक्त कवियो का प्रेम काम की पीडा नही है, अत उनकी रचनाओ मे हमे परिपाटी विहित कलात्मक चित्र कम मिलते हैं, अन्तरात्मा की पुकार अधिक। काव्य लिखते समय इनके सम्मुख कोई सजीव मानवीय प्रतिमा सुजान, शेख आदि के रूप मे विद्यमान रहती थी, अत उनकी कविता में प्रत्यक्ष अनुभूति की सरसता, सहजता और रसार्द्रता पर्याप्त मिलती है।

सौन्दर्य चेतना और सौन्दर्य वर्णन—इन कवियो का सौन्दर्य सम्बन्धी दृष्टिकोण रूप के प्रभाव के प्रति जागरुक और सचेत है। ये लोग अग-प्रत्यग के सौन्दर्य

एक चित्र देखिये—

"औचक चली उठि प्रेम प्रली सु छबीली छपाय सौं छाँहु न छावै।
घूंघट ओट चितै घनआनन्द ओट चितै संपुटाहि दिखावै॥

इसी प्रकार होली के वर्णन में भी नायक-नायिका के हृदयोल्लास का चित्रण अधिक है गुलाल की गर्द और केसर की कीच का चित्रण कम।

वियोग वर्णन

रीतिमुक्त कवियों का प्रेम उदात्त है उसमें प्रीति विषमता को स्वीकार किया गया है, अतः संयोग से अधिक वियोग का वर्णन है। रीतिबद्ध कविता में वियोग वर्णन शास्त्रस्थिति संपादन के लिए किया गया था उसमें ऊहा का सहारा आवश्यकता से अधिक लिया गया है। कहीं माघ मास में गाव भर को झुलसाने वाली लुएँ चलती हैं, कहीं सखिया जाड़े की ऋतु में भी विरहविदग्धा नायिका को देखने के लिए गीले कपड़े पहनकर आती हैं, कहीं गुलाब जल नायिका के शरीर का स्पर्श करने से पूर्व ही भाप बनकर उड़ जाता है और कहीं नायिका घड़ी के पैण्डुलम की तरह—

"इत आवत चलि जात उत चली छः सातक हाथ
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन साथ।

इसके विपरीत रीतिमुक्त कवि अपनी वेदना की विवृति के लिए अनुमान का अथवा माप-जोख का आश्रय नहीं लेते। उनकी अधिकांश उक्तियां स्वानुभूतिनिरूपिणी हैं। 'विरह वेदना का तप्त स्वर्ण है' उक्ति इस पर चरितार्थ होती है। इनका हृदय वैयक्तिक विरहाग्नि में पिघल कर शुद्ध हो गया था अतः इनके काव्य में हृदय की व्याकुलता अश्रुपात नेत्रों की विवशता दैन्य करुणापूर्ण उपालम्भ सर्वस्व खोने के मार्मिक चित्र ही अधिक हैं। व्यक्तिगत जीवन की निराशा और पीड़ा के उदात्तीकरण या उन्नयन के फलस्वरूप ही इन कविताओं की मार्मिकता बढ़ गयी है। कहीं घुटते हुए प्राणों की व्यथा का चित्र है कहीं प्रेम की तड़प का।

रैन दिना घुटिबो करें प्रान झरैं दुखिया अंखियाँ झरना सी।"

तो कहीं कवि कहता है कि वियोग-जन्य वेदना इतनी तीव्र है कि उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता भाषा उसे प्रेषित करने में अपने को पंगु पाती है—

जानै बेई दिन राति बखानै तें जाय पर दिन राति को अन्तर।

इन कवियों के संयोग में भी वियोग पीछा नहीं छोड़ता—

"यह कैसो संजोग न बूझि परै कि वियोग न क्यौं हू बिछोहत है।

संयोग में भी वियोग की खटक बनी रहती है

मिलेहू मैं मारै जारै खरक बिछोहू की।

सारांश यह कि इन रीतिमुक्त कवियों की प्रेम की पीर विलक्षण है उसे समझने के लिये हृदय की आँखें चाहिये।

"समझै कविता घनआनन्द की हिय आँखिन नेह की पीर तकी।"

कवियो मे मिलती हैं, वे रीतिमुक्त कवियो की उक्तियो से भिन्न हैं। रीतिबद्ध कवियो ने इस प्रसग मे उन शारीरिक चिह्नो का वर्णन किया है जो सपत्नी के ससर्ग से नायक के शरीर पर दिखाई देते हैं—जैसे भाल पर महावर, आँखो मे पान की पीक, अधरो पर अजन रेखा, छाती पर माला के चिह्न आदि। उन्होने खडिता के हृदयगत भावो का भावपूर्ण चित्रण नही किया है। धीरा-धीरादि मे भी वचनावली की कठोरता या कोमलता को ही उन्होंने लक्ष्य किया, उनके हृदय की मनोदशा का चित्र प्रस्तुत नही किया। उनकी उक्तियाँ हृदय की पीडा को व्यक्त न करती थी उनमे वाग्विलास अधिक होता था। रीतिमुक्त कवियो ने खडिता द्वारा नायक के शरीर पर उभरे चिह्नो की उद्धरणी प्रस्तुत करने के स्थान पर उसके हृदय के भीतर झाँका और उसकी मर्मव्यथा प्रकट की। यह बताने के लिए कि उक्ति खडिता की ही है, वह किसी एक चिह्न का सकेत तो कर देते हैं पर फिर तुरन्त ही उसके भावो को प्रकट करने के हेतु भाव-विधान मे लग जाते हैं। पर ये उक्तियाँ भी सख्या मे बहुत नही हैं, क्योंकि उनका मन इनमे नहीं रमा है।

सयोग शृगार के स्थूल चित्रो के अभाव का कारण स्वय इन कवियो ने भी दिया है। प्रथम तो सयोग के अवसर आते ही कम हैं, दूसरे जब आते भी हैं तो या तोप्रिय की सौन्दर्य-आभा से दिशाएँ इतनी आलोकमयी हो उठती हैं कि और कुछ दिखाई ही नही देता और प्रेमी सभ्रम मे पड जाता है—

कौंध मे चौंध भरे चख हाय ! कहा कहौं हेरनि ऐसी हिराई।
बाते बिलाय गई रसना पै ! हियो उमड्यो कहि एकौ न आई।

अथवा आँसुओं की झडी के कारण प्रिय को प्रेमी आँख भर देख नहीं पाता—

"कौन वियोग भरे असुवा, जू संयोग में आगेई देखन धावत।"

सयोग के क्षणो का चित्रण करते हुए भी कवियो की दृष्टि बाह्य दृश्य पर नहीं है, अत वहाँ भी मन की उमग और उल्लास का चित्रण ही प्रमुख है—

पौढ़े घनआनन्द सुजान प्यारी परजक,
धरे घन अक तऊ मन रक गति है।

\+ \+ \+

मोद मद छाके घूमै रीझि भीजि रस झूमै
गहै चाहि रहै चूमै अहा कहा रति है।

शारीरिक और मानसिक आकर्षण का यह सयोग कितना हृदयग्राही और मनोरम है! न यहाँ झाँझरिया झनकती हैं—न पायल बजती है और न चुरी खटकती है और न सिसकियाँ सुनाई देती हैं। यह सब अवस्था (morbidity) यहाँ देखने को कही नहीं मिलती। पर ऐन्द्रिय स्थूलता, शारीरिक माँसलता की उष्ण गन्ध न होते हुए भी ऐन्द्रिय प्रभावोत्पादकता कम नही है। रीतिबद्ध कवियो की तरह विनोद के प्रसग, प्रेम क्रीडा का उल्लासपूर्ण चित्रण भी रीतिमुक्त कवियो के काव्य मे मिलता है, अन्तर इतना ही है कि प्रथम मे स्थूलता है तो दूसरे मे मनोल्लास।

वैसा रीतिबद्ध कवियों ने नहीं। इसका कारण यह है कि ये एक स्थिति का अंकन करने की बजाय एक साथ अनेक स्थितियों का वर्णन करते हैं। जिससे काव्य में नाटकीयता आ जाती है। कभी वह अचेतन स्थिति का वर्णन करते हैं, तो कभी चेतन का। उदाहरण के लिए घनानन्द की निम्न पंक्ति लीजिए—

'भक भरौं चकि चौंकि परौं कबहूक भरौं, छिन ही मैं मनाऊँ यहाँ 'भक भरौं' में नायिका की अचेतन दशा की ओर संकेत है तो 'चकि चौंकि परौं' में प्रिय को न पा चकपका कर चौंक पड़ने की चेतन दशा की ओर संकेत किया गया है।

वियोग जन्य कृशता शारीरिक क्षीणता विरह-ताप की जलन और पीड़ा का प्रथम तो अत्युक्तिपूर्ण वर्णन रीतिमुक्त कवियों ने किया ही नहीं है पर जहाँ किया भी है वह सामान्यतः अपनी सीमाओं का उल्लंघन कर उपहासास्पद नहीं हो पाया है। घनानन्द ने प्रेमियों की दुर्बलता का भावपूर्ण किन्तु तर्क-संगत ढंग से वर्णन किया है—

उठि न सकत ससकत गैन बान बिधे

हूलें हू पै बिषम बिषाद बूर लू बरे।

कहीं-कहीं यदि ऊहात्मक उक्तियाँ आ भी गयी हैं जैसे आलम की—

चलसी में कुनाय दिया बाती धानि वारि लै।

अथवा

मेहु-नीकी बाती रसना पै उर-आंच लागे

बागे मन आलम्ब ज्यौं पु बानि मसाल हैं।

तो प्रथम तो वे कम हैं दूसरे इनमें भी कहीं न कहीं सहृदयता हृदय की रसात्मकता है। अतः वे रीतिबद्ध कवियों की ऊहात्मक उक्तियों से भिन्न हैं।

रीतिबद्ध कवियों ने संदेशवाहक के रूप में दूत-दूती को ही अपनाया था प्रकृति के उपकरण—पवन मेघ आदि तत्कालीन सामन्तीय वातावरण में उन्हें उपयुक्त प्रतीत नहीं हुए पर रीतिमुक्त कवियों ने उन्हें पुन अपनाया क्योंकि उनमें कवि की स्वच्छन्द कल्पना को विहार करने का पर्याप्त अवकाश था। अतः घनानन्द की नायिका अपने प्रिय के पास पवन-दूती भेजती है—

ए रे बीर पौन तेरी सबै ओर गौन बीरी

तो सो और कौन मनै ढरकौंही बानि दै।

× × ×

'धूरि तिन पायन की हा हा ! नैकु आनि दै।

पवन का मानवीकरण नायिका का दीर्घ वियोग मिलन की अनिश्चितता नायिका का अकेलापन और असहायता—सभी इस पद को मार्मिक बना देते हैं।

प्रकृति—चित्रण

षड्ऋतु-वर्णन और बारहमासा के अन्तर्गत प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप चित्रित करने की पद्धति भारत में अत्यन्त प्राचीन समय से चली आ रही थी। अभिजात्य तथा लोक-साहित्य दोनों में उसका प्रयोग होता था। रीतिकालीन कवियों ने भी इस

वियोग की विविध मनोदशाएं

रीतिवद्ध कवियो का प्रेम वर्णन शास्त्रीय पद्धति पर या लक्षण ग्रन्थो के आधार पर हुआ था, अत उसमे वियोग की सभी शास्त्रीय मनोदशाओ के चित्र थे - इसके विपरीत रीतिमुक्त कवियो के काव्य मे वियोग का एक अविच्छिन्न प्रवाह है, वियोग दशाओ का परिपाटी विहित शास्त्रीय निरूपण नही। यहाँ अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, जडता, व्याधि की दशाओ का नपातुला उदाहरण प्रस्तुत नही किया गया है। यही कारण है कि पूर्वराग और मान के चित्र भी इनके काव्य मे अत्यन्त स्वल्प हैं। प्रिय की निष्ठुरता के कारण कभी ये लोग उसे उपालम्भ देते है—

"हाय दई ! न विसासी सुनै कछु, है जग वाजति नेह की डौंडी।

तो कभी अपने भाग्य और चित्तवृत्ति को कोसते हैं, कभी उसकी प्रतीक्षा मे पलक पांवडे बिछाते हैं, तो कभी अपनी विवशता, अकेलेपन और असहायता पर चार चार आँसू बहाते हैं।

"मन-भावन प्यारे गोपाल बिना जग जीजतु है पै न जीजतु है।"

अथवा

कान्ह ! परे वहुतायत मैं इकलैन की वेदन जानौ कहा तुम।"

निराशा की चरम स्थिति मे प्रेमी अपना दैन्य निवेदन कर प्रिय के हृदय मे करुणा उत्पन्न करना चाहता है, अपनी वेदना का ऐसा करुणापूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है कि कठोर से कठोर प्रिय भी दयार्द्र हो उठे—

कठिन कुदाय प्राय घिरी हौं अनदघन,
रावरी वसाय तौ वसाय न उजारियै।

तो कभी प्रतिज्ञा करता है कि वह अन्तत साधना के द्वारा प्रिय को रिझा ही लेगा। यह प्रतिज्ञा भी निराशा की स्थिति की ही द्योतक है।

जहा तक वियोग की शास्त्रीय दशाओ का सम्बन्ध है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रीतिमुक्त कवियो ने इन सबका चित्रण नही किया है। स्मृति और उन्माद का ही विशेष वर्णन मिलता है। उद्वेग, उन्माद, व्याधि, जडता आदि के चमत्कारपूर्ण चित्र नही के बराबर हैं। स्मृति दशा के चित्रण मे भी रीतिमुक्त कवि रीतिबद्ध कवियो से भिन्न हैं। जहाँ रीतिवद्ध कवियो की दृष्टि प्राय बाह्योन्मुख थी और प्रिय की सुन्दर आखो पर, उसके तीक्ष्ण कटाक्ष या रसभरी चितवन पर रहती थी, वहाँ रीतिमुक्त कवियों ने अपनी कविता मे उन स्थानो को पृष्ठभूमि मे रखा है जिनके साथ प्रिय की स्मृति लिपटी हुई हैं। करील कुज और यमुना तट उनकी सोई हुई स्मृतियो को जगा देते हैं, पहले के सुख की तुलना वर्तमान दुख से करने को वाध्य करते हैं।

'वही जमुना पर हेली, वह पानी वहिगौ' मे पूर्व स्मृतियो की कितनी विषाद-पूर्ण व्यजना है। इन कवियो की विरहिणी नायिकाएँ प्रिय के भोग-व्यापारो का स्मरण नही करतीं।

उन्माद की दशा का जैसा मूर्त रूप रीतिमुक्त कवियों ने चित्रित किया है,

की ओर इनके उन्मुख होने का कारण यह था कि व्यक्तिगत जीवन में इन्हें प्रेम-क्षेत्र में निराशा हुई थी और उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप वे भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त हुए थे। उनकी रचनाएं भक्त कवियों की सी नहीं हैं। घनानन्द भक्ति-सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर भी 'सुजान' का नाम नहीं भूल सके। श्रीकृष्ण को 'सुजान श्याम प्रानप्रिय' आदि कहकर उनकी प्रेममयी गाथा गाते रहे। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हृदय की टीस अन्त तक बनी रही। बस इतना कहा जा सकता है कि कृष्णलीला इन कवियों की आत्माभिव्यक्ति के लिए सामग्री बन गई। इन कवियों ने शायद ही कभी हृदय के योग और पूर्ण तल्लीनता के भाव से भक्ति की रचनाएं लिखी हों। भक्त-कवियों से एक अन्य विशेषता इन कवियों में यह दिखाई देती है कि जहां कृष्ण-भक्त कवियों की भक्त-भावना एकनिष्ठ और अनन्य तथा साम्प्रदायिक थी वहां इन स्वच्छन्दधारा के कवियों की दृष्टि उदार थी अत उन्होंने अन्य देवी-देवताओं की भी अर्चना की। आचार्य विश्वनाथ मिश्र ने एक और तर्क भी प्रस्तुत किया है—सूरदास या अन्य भक्त कवि जैसे पद के अन्त में 'सूर के प्रभु' 'सूर के स्वामी' 'परमानन्द के प्रभु' 'छीत के स्वामी' आदि पदावली का प्रयोग करते हैं, वैसे स्वच्छन्दधारा के कवि नहीं। इनकी उक्तियों में तथा शृंगार कवियों—मतिराम पद्माकर, देव आदि—की उक्तियों में विशेष अन्तर नहीं है। अत: ये कवि शुद्ध भक्त कवि नहीं हैं, और इनकी भक्तिपरक रचनाएं भक्ति-काव्य न होकर भक्ति परक काव्य के ही अन्तर्गत आयेंगी। शैली की दृष्टि से भी इनकी रचनाएँ भक्त कवियों की रचना से भिन्न हैं। कृष्ण भक्त कवियों ने गीत या पद शैली में काव्य लिखा है जबकि इन्होंने कवित्त-सवैया शैली में या बीच बीच में दोहा सोरठा छप्पय आदि में। अत: मनोवृत्ति तन्मयता शैली सभी दृष्टि से ये कवि राधा-कृष्ण सम्बन्धी कविता लिखते हुए भी भक्त कवि नहीं कहे जा सकते क्योंकि 'आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई नतु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' लिख देने से ही कोई भक्त नहीं बन जाता है।

कलापक्ष—ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि रीतिमुक्त कवियों का ध्यान कला की बाह्य सजावट पर इतना नहीं था जितना भाव पक्ष पर। उन्होंने रीतिबद्ध काव्य-परम्परा का स्पष्ट विरोध किया। ठाकुर के निम्न शब्द इसका प्रमाण हैं, "लोगों ने कवित्व करना केवल खेल समझ है। आंखों के लिए मीन मृग खंजन कमल आदि बासोच्छिष्ट उपमान पढ़कर, यश और प्रताप की कुछ कहानियां सीख कर, कल्पवृक्ष कामधेनु, चिंतामणि आदि कुछ कवि-प्रसिद्धियों को जानकर, मेरु और कुबेर आदि पहाड़ों को जानकर इन्होंने कवि का बाना धारण कर लिया है। फिर तो ये कविनामधारी महापुरुष अपनी कविताओं को मिट्टी के ढेले की भांति सभाओं में फेंककर सहृदयों को कष्ट देते हैं।

घनानंद ने अपना कला संबंधी मत व्यक्त करते हुए लिखा "लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत" अर्थात् अन्य कवि परिश्रम और अभ्यास से कविता लिखते हैं पर मेरे कवित्तों को तो स्वयं मेरी भावना ने बनाया है। यही बात अन्य रीतिमुक्त कवियों के विषय में भी कही जा सकती है। उनकी कविता में

परम्परा को अपनाया। इनकी कविता मे भी यदि शीतल समीर चलता है तो विरहीजनो को जलाने के लिए, पुष्प खिलते हैं तो किसी नायिका के केशपाश को सजाने के लिए और कोयल बोलती है तो नायिका को प्रियतम का स्मरण दिलाने के लिये। छ ऋतुओ मे पावस और वसन्त तो सर्वाधिक उद्दीपक होती हैं। काव्य-परम्परा तथा कामशास्त्रीय परम्परा दोनो मे इन ऋतुओ को परम उद्दीपनकारी माना गया है। रीतिकाल के रीतिबद्ध कवियो के समान ही रीतिमुक्त कवियो ने भी इन दोनों ऋतुओ को इसी रूप मे ग्रहण किया फिर भी भावानुभूति की सघनता रीतिमुक्त कविता मे जितनी प्राप्त होती है उतनी रीतिबद्ध काव्य मे नही। दोनो कवि इन ऋतुओ मे कोकिल और चातक को अपनी वाणी द्वारा विरहिणियो का विरह उद्दीप्त करते दिखाते हैं पर अन्त करण की जो व्याकुलता घनानन्द और द्विजदेव के वर्णनो मे मिलती है वह पद्माकर या देव मे भी नही। घनानन्द के निम्न पद मे हृदय का भावावेग इतनी तीव्रता से व्यक्त हुआ है कि वह स्वाभाविक प्रतीत होता है और विरहानुभूति को तीव्र बनाता है।

> कारी कूर कोकिला! कहाँ को बैर काढति री,
>
> कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै।
>
> पैड परै पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्यो ही,
>
> चातक घातक त्यो ही तू कान फोरि लै॥

रीतिमुक्त धारा के कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जैसे गुमान मिश्र जिनकी कविता मे प्रकृति उद्दीपन के बन्धन से मुक्त है। कालिदास, भवभूति आदि सस्कृत कवियो की तरह ये प्रकृति का खुला दर्शन करते हैं। स्वय प्रकृति के मुक्त प्रागण—बुन्देलखड— मे रहने के कारण यह स्वाभाविक ही था। द्विजदेव की तरह बोधा ने भी 'विरह वारीश' मे प्रकृति का वर्णन व स्वच्छन्द वृत्ति से किया है।

स्वच्छन्द दृष्टि ने इन कवियो का ध्यान देश के साँस्कृतिक पर्वों, त्यौहारो आदि की ओर भी आकृष्ट किया। होली का प्रेमपूर्ण चित्रण करने मे पद्माकर ने पूर्ण सहृदयता से काम लिया था, पर अधिकाश रीतिबद्ध कवियो ने उस प्रसग में गुलाल की गर्द और केशर की कीच का ही वर्णन किया था। घनानन्द ने अपने होली वर्णन मे नायिका की शोभा और उसकी भाव-भगिमा को अच्छी तरह उभारकर प्रस्तुत किया। हावो की सुन्दर योजना द्वारा वह नायिका के हृदयस्थ भावो को अत्यन्त प्रभावशाली रूप मे प्रस्तुत कर सके हैं और नाटकीयता के पुट ने तो उसे और भी सजीव बना दिया है। ठाकुर ने अपनी रचनाओ मे बुन्देलखड के आनन्दोल्लासमय जीवन का जो चित्र उपस्थित किया है, उससे देश के सास्कृतिक वैभव का परिचय सहज ही हो जाता है। अरवती, गनगौर, वट सावित्री होली आदि के भावपूर्ण-उल्लासपूर्ण चित्र खीचकर ठाकुर ने उसे प्रदेश की सस्कृति की झाँकी प्रस्तुत की जो रीतिबद्ध कवियो मे नहीं मिलती और जिसे बाद मे भी केवल वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यासो मे प्राणवान बनाकर अमर किया।

भक्ति-काव्य—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिबद्ध कवियो को शुद्ध भक्त न मानकर प्रेमीभग के कवि माना है, जो ठीक है। इनका कथन है कि कृष्णभक्ति

८०

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य और उनकी देन

१ आचार्यत्व कवित्व

संस्कृत आचार्यों की परम्परा और उनके वर्ग

३ संस्कृत काव्यशास्त्र से हिन्दी रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों का भेद

४ रीतिकालीन रीतिशास्त्र के चार वर्ग—

(क) सर्वांग निरूपक (ख) रस निरूपक, (ग) अलंकार निरूपक (घ) पिंगल निरूपक

५ रीति आचार्यों की सीमायें

६ रीति आचार्यों की शक्ति

७ उपसंहार

आचार्यत्व और कवित्व दो भिन्न गुण हैं दोनों का क्रिया क्षेत्र भी अलग अलग है। एक का सम्बन्ध प्रधानतः मस्तिष्क से है और दूसरे का विशेषतः हृदय से। आचार्यत्व के लिए तर्क शक्ति खण्डन मण्डन करने की रीति विवेचन क्षमता सिद्धांत प्रतिपादित करने की तीक्ष्ण बुद्धि आदि का आवश्यकता है। कवित्व के लिए भावुकता कोमलता सरसता की अपेक्षा होती है। इस प्रकार दोनों का मार्ग भिन्न है, कार्यक्षेत्र भिन्न है और उसके लिए भी आवश्यक गुण भिन्न हैं।

संस्कृत साहित्य मे कवि और आचार्य दो भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे थे। संस्कृत मे रीति ग्रन्थों के प्रणेता स्वयं कवि नहीं थे वे केवल आचार्य थे जिनका कार्य कविता करना न था। वे सिद्धांतों का खण्डन-मण्डन कर किसी सुनिश्चित सिद्धांत का प्रतिपादन करते थे। भरत वामन रुद्रट अभिनवगुप्त कुन्तक मम्मट आदि सभी आचार्य थे। इन्होंने सूत्र कारिका वृत्ति आदि के द्वारा सैद्धांतिक विवेचन किया है। दण्डी राजशेखर आदि कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो आचार्य और कवि दोनों थे किन्तु इन्होंने कभी भी इन दोनों रूपों को एक नहीं किया अलग-अलग ही रखा जिसके फल स्वरूप न तो उनकी कविता ही शुष्क अलंकार-बोझिल और अनूठी उक्ति मात्र बन कर रह गई और न उनका सिद्धांत-प्रतिपादन ही विस्तृत तथा अस्पष्ट हो पाया। आगे चलकर इस परम्परा का निर्वाह नहीं हो पाया। भानुदत्त और पण्डितराज जग न्नाथ के समय में कवित्व और आचार्यत्व का एकीकरण होने लगा। जगन्नाथ ने सिद्धांतों का विवेचन गद्य में किया और उदाहरण स्वरूप जो पद रखे वे स्वरचित थे। इनके बाद उन विद्वानों की तीसरी धारा आई जिन्होंने लक्षण और उदाहरण एक ही छंद मे रखा और गद्य का बहिष्कार कर दिया हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों को अपनी

अनुभूत्यात्मक चेतना अधिक है, कला की साज संवार कम। इन्होने भी अलकार, कवित्त और कवि रूढियो को अपनाया है जैसे नेत्र व्यापार सम्बन्धी उक्तियो मे, पर उनका प्राधान्य नही है, उनके बोझ से कविता भाराक्रात नही हुई है। इनकी एक अन्य विशेषता काव्यगत शैली सबधी है। न तो कृष्ण भक्त कवियो ने और न रीतिबद्ध कवियो ने ही प्रबन्ध-काव्य रचना की ओर ध्यान दिया था। स्वच्छन्दधारा के कवियो ने सूफी कवियो की तरह प्रेम-प्रबध लिखे। आलम का 'माधवानलकाम-कदला', सुदामाचरित्र' और 'श्याममनेही', बोधा का 'विरह-वारीश' स्वच्छन्दधारा के कवियो मे प्रबन्ध की प्रवृत्ति के स्फुरण का सकेत करते हैं।

भाषा के क्षेत्र मे भी स्वच्छन्द कवियो की देन कम नही। रीतिबद्ध कवियो की वृत्ति भाषा के परिष्कृत और प्राजल रूप पर नही थी। शब्दो का अगभग उन्होने बहुत किया है, उन्होने प्राकृत, अपभ्रश के शब्द प्रयुक्त किए, शब्द-रूप की एकता की अवहेलना की, पश्चिमी ब्रज और पूर्वी अवधी की पदावली का तालमेल किया और इस सबने मिलकर उनकी भाषा को विकृत कर दिया। स्वच्छन्द धारा के कवियो ने यह अपराध नही किया। इन्होने न शब्दो का अगभग किया, न प्रयोगों को विकृत किया। कुछ कवियो ने जैसे रसखान और घनानद ने तो ब्रजभाषा का ऐसा स्वच्छ रूप प्रस्तुत किया कि उससे आगे के कवि भी कुछ सीख सके।

यह सच है कि रीतिमुक्त धारा के सभी कवि समान महत्त्व के नही हैं—कोई अधिक भावुक और वेदना-विह्वल है, तो कोई अधिक सयमी और धीर। कोई शुद्ध रीतिमुक्त हैं, तो कोई रीतिबद्ध और कोई रीतिमुक्त काव्य की सीमारेखा पर खडा है। पर सब एक पथ के पथिक हैं—सभी रीतिबद्ध कवियो से एक ओर और शुद्ध-भक्त कवियो से दूसरी ओर भिन्न हैं। उनकी महानता उनकी सहज पीडाभिव्यक्ति मे है, भावुकता, तन्मयता तथा अनुभूति की गहनता मे है।

६०

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य और उनकी देन

१ आचार्यत्व काव्यत्व

संस्कृत आचार्यों की परम्परा और उनके वर्ग

३ संस्कृत काव्यशास्त्र से हिन्दी रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों का भेद

४ रीतिकालीन रीतिशास्त्र के चार वर्ग—

(क) सर्वांग निरूपक (ख) रस निरूपक (ग) अलंकार निरूपक (घ) पिंगल निरूपक

५ रीति आचार्यों की सीमायें

६ रीति आचार्यों की शक्ति

७ उपसंहार

आचार्यत्व और काव्यत्व दो भिन्न गुण हैं दोनों का क्रिया क्षेत्र भी अलग अलग है। एक का सम्बन्ध प्रधानतः मस्तिष्क से है और दूसरे का विशेषतः हृदय से। आचार्यत्व के लिए तर्क शक्ति खण्डन मण्डन करने की रीति विवेचन क्षमता सिद्धांत प्रतिपादित करने की तीक्ष्ण बुद्धि आदि की आवश्यकता है। काव्यत्व के लिए भावुकता कोमलता सरसता की अपेक्षा होती है। इस प्रकार दोनों का मार्ग भिन्न है कार्यक्षेत्र भिन्न है और उसके लिए भी आवश्यक गुण भिन्न हैं।

संस्कृत साहित्य मे कवि और आचार्य दो भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे थे। संस्कृत में रीति ग्रन्थों के प्रणेता स्वयं कवि नहीं थे वे केवल आचार्य थे जिनका कार्य कविता करना न था। वे सिद्धांतों का खण्डन-मण्डन कर किसी सुनिश्चित सिद्धांत का प्रतिपादन करते थे। भरत वामन रुद्रट अभिनवगुप्त कुन्तक मम्मट आदि सभी आचार्य थे। इन्होंने मूल कारिका वृत्ति आदि के द्वारा सैद्धांतिक विवेचन किया है। दण्डी राजशेखर आदि कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो आचार्य और कवि दोनों थे किन्तु इन्होंने कभी भी इन दोनों रूपों को एक नहीं किया अलग अलग ही रखा जिसके फल स्वरूप न तो उनकी कविता ही शुष्क अलंकार-बोझिल और अनूठी उक्ति मात्र बन कर रह गई और न उनका सिद्धांत-प्रतिपादन ही विस्तृत तथा अस्पष्ट ही पाया। आगे चलकर इस परम्परा का निर्वाह नहीं हो पाया। भानुदत्त और पण्डितराज जग न्नाथ के समय में काव्यत्व और आचार्यत्व का एकीकरण होने लगा। जगन्नाथ ने सिद्धांतों का विवेचन गद्य में किया और उदाहरण स्वरूप जो पद रखे वे स्वरचित थे। इसके बाद उन विद्वानों की तीसरी धारा आई जिन्होंने लक्षण और उदाहरण एक ही छंद मे रखा और गद्य का बहिष्कार कर दिया हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों को बपौती

के रूप मे यही अतिम धारा मिली थी। ईसा की १७वी शताब्दी का मध्य भाग आते-आते सस्कृत काव्यशास्त्र की वह पुष्ट परम्परा जो लगभग दो सहस्र वर्षों तक काव्य, नाटक, कविशिक्षा सम्बन्धी सिद्धातो का अव्याहत गति से सर्जन, विवेचन एव सकलन करती रही थी अब क्षीण होने लगी और हिंदी के आचार्यों ने उसी को अपनाया। सस्कृत के अतिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ हिंदी के प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिंतामणि के समकालीन थे।

सस्कृत काव्यशास्त्र से हिंदी रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थो का भेद

जैसा हम सकेत कर चुके हैं, रीतिकाल को सस्कृत काव्य-शास्त्र की क्षीण हुई धारा ही वपौती मे मिली थी। अत यह आचार्य सस्कृत काव्य-शास्त्र का अनुकरण करते हुए भी उसको ज्यो का त्यो नही अपना पाये। सस्कृत काव्य-शास्त्र की तीन धाराएँ थी —काव्यविधान, नाट्यविधान तथा कविशिक्षा। पर हिंदी रीतिकालीन रीति ग्र थो मे अधिकतर काव्यविधान को ही स्थान मिला, नाट्यविधान और कवि शिक्षा के क्षेत्र मे केवल एक-एक ग्र थ उपलब्ध होते हैं—नाट्यविधान सबधी नारायणकृत, 'नारायणदीपिका' और कवि शिक्षा सबधी केशव प्रणीत 'कविप्रिया'।

आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचनात्मक और निर्णयात्मक शक्ति की आवश्यकता होती है, उसका विकास हिंदी मे नही हो पाया था। परिणामत काव्य के विभिन्न अगो का विस्तृत और गम्भीर विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन मण्डन, सिद्धातो का निरूपण आदि कुछ भी नही हो पाया था। काव्यागो के स्वतत्र विवेचन के अभाव मे किसी वाद की स्थापना होना सम्भव न था सस्कृत का काव्यशास्त्र समय-समय पर रस वाद, अलकारवाद, ध्वनिवाद तथा वक्रोक्तिवाद का समर्थन और खण्डन-मण्डन करता रहा था। भरत ने दूसरी तीसरी शताब्दी में रसवाद की प्रतिष्ठा की थी, भामह और दडी ने ६ठी-७वी शताब्दी मे अलकार को काव्य का सर्वस्व माना था, वामन ने रीति को अलकार और रस से प्रधान माना। आनदवर्धन ने ध्वनि सिद्धात का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नई दिशा दी थी। कु तक ने वक्रोक्ति की स्थापना की थी (१०वी ११वी शताब्दी)। १७वी शताब्दी तक इन वादो मे परस्पर सघर्ष भी होता रहा था पर हिंदी के रीतिकालीन आचार्य इन वादो के पचडे मे नही पडे। उनमे से अधिकाश ने नायक-नायिका भेद पर ग्रन्थ लिखे या कुछ ने अलकार पर। नायक-नायिका भेद के लिए वे भानुमिश्र के ऋणी हैं, तो अलकारो के लिए अप्पय दीक्षित के। ये दोनो सस्कृत आचार्य भी किसी वाद से सम्बद्ध न थे, अत इनके हिंदी अनुकर्ता भी वादो के झमेले मे नही पडे। फिर ये लोग इन वादो से पूर्णतया अवगत भी न थे। अत उनके लिए पाचो वादो मे से किसी एक को चुनने का प्रश्न ही नही था। उन्होंने तो मम्मट या विश्वनाथ के सस्कृत लक्षण ग्रन्थो का अनुकरण-मात्र किया है, उनका आधार लेकर अपने ग्रन्थो का निर्माण किया है। हिंदी आचार्यों मे से यदि किसी ने जैसे देव ने दडी के ग्र थ का आधार लिया, तो इसका यह अभिप्राय नही कि वह अलकारवादी थे। इसी प्रकार मम्मट के अनुकर्ता को ध्वनिवादी या विश्वनाथ के अनुकर्ता को रसवादी कहना ठीक न होगा। साराश यह है कि हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य न तो सभी वादो से परिचित थे, न उनके स्वरूप का गम्भीर विश्लेपण और विवेचन करने मे समर्थ थे, न उन्होने पाचो वादो का खण्डन-

मण्डनकर किसी एक वाद को सर्वोत्कृष्ट समझकर अपनाया और उसका समर्थन किया।

संस्कृत काव्यशास्त्री विद्वान् थे उनका अध्ययन विस्तारपूर्ण और व्यापक था उनकी विवेचन शक्ति बड़ी तीक्ष्ण थी। अतः पर्याप्त अध्ययन के उपरांत नीर-क्षीर विवेक द्वारा वे पहले सिद्धांत निरूपण करते थे और तदुपरांत उदाहरणों के लिए पूर्ववर्ती काव्य का अनुशीलन करते थे और उसी में से छाँट-छाँटकर उद्धरण देते थे। हिंदी के रीति आचार्यों का न तो अध्ययन ही व्यापक था न विवेचन शक्ति ही प्रौढ़। उनका लक्ष्य भी हिंदी साहित्य सम्बन्धी काव्यशास्त्र का निर्माण करना नहीं था। यदि यह उद्देश्य होता तो वे उदाहरणों के रूप में अपनी कविता प्रस्तुत न कर आदि काल तथा भक्तिकाल के विपुल साहित्य से उद्धरण देते। उनका ऐसा न करना इस बात का प्रमाण है कि वे केवल संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का हस्का प्रस्तुत करना चाहते थे स्वतंत्र काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण करना नहीं।

संस्कृत काव्य शास्त्र तथा हिंदी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र में यह भी एक भेद है कि वहाँ संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय सिद्धांत धीरे धीरे विकसित और खण्डित-मण्डित होते रहे उनका विकास लगभग २ ० वर्ष तक बराबर होता रहा वहाँ हिंदी के शास्त्रीय ग्रंथों में सिद्धांतों का क्रमिक विकास परिलक्षित नहीं होता। चिन्तामणि और उनके दो सौ वर्ष बाद होने वाले प्रतापसाहि दोनों के मूलभूत सिद्धांतों में कोई अन्तर नहीं है। प्रथम तो हिन्दी के आचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रंथों का अवलोकन करते ही नहीं थे सीधे संस्कृत ग्रन्थों को आधार बनाते थे और यदि कोई अपने पूर्ववर्ती आचार्य का अध्ययन अनुशीलन करता भी था तो संस्कृत ग्रंथों का आधार ग्रहण करने से बचने के लिए, न कि पूर्ववर्ती हिन्दी आचार्यों के सिद्धांतों का खण्डन मण्डन परीक्षण पोषण समालोचन विवेचन परिवर्धन के उद्देश्य से। पर कुछ अप वाद भी हुए हैं। जैसे भिखारीदास ने 'तुक' का विवेचन हिन्दी को ही ध्यान में रख कर किया शेष प्रकरण के उदाहरणों में हिन्दी का वातावरण बनाये रखा देव ने ऐसी नायिका या दूती का उल्लेख किया जो हिंदी काव्य में ही मिलती है। पर ऐसे आचार्य एक दो हैं और उनके द्वारा प्रस्तुत नवीन सामग्री भी अत्यत स्वल्प है। अतः कुल मिलाकर यही कहना पड़ता है कि हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों का उद्देश्य संस्कृत काव्य शास्त्र का अनुवाद करना मात्र था हिंदी सबंधी नवीन काव्यशास्त्र का निर्माण करना नहीं।

संस्कृत के काव्यशास्त्री विद्याव्यसनी आचार्य थे। उन पर दरबारी वातावरण का विशेष प्रभाव न था। न तो उनका उद्देश्य अनूठी चमत्कारपूर्ण उक्तियों द्वारा दरबारियों की वाहवाही लूटना था और न शृंगार और विलासपूर्ण चित्रों द्वारा राजाओं को उद्दीप्त कर उन्हें प्रसन्न करना और पुरस्कार पाना। उनमें से अनेक तो कवि भी नहीं थे। जिन्होंने जैसे कवी जयदेव और जगन्नाथ ने आश्रयदाताओं का स्तुतिगान किया वे भी शृंगार रस के चस्के सिखाने के उद्देश्य से काव्य नहीं लिखते थे। इधर हिंदी के रीति आचार्यों में से लगभग सभी दरबारी और राज्याश्रित कवि थे। उनका उद्देश्य शृंगार और स्तुतिपरक उदाहरणों का निर्माण करना था ताकि वे राजा से पुरस्कार पा सकें अपने आश्रयदाताओं से सुखद आश्रय पा सकें। इन लोगों का दूसरा उद्देश्य सुकुमार बुद्धि राजाओं राजकुमार तथा पारिषदों को सरल

शैली मे काव्य-शास्त्र की शिक्षा भी देना था। अत वे एक ओर कवि-कर्म करते थे और दूसरी ओर शिक्षक का कर्त्तव्य पालते थे। कवि के नाते शृगार रस की कविता या स्तुतिपरक पद्य लिखते थे, तो शिक्षक के नाते काव्य के विभिन्न अगो का परम्परागत शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करते थे। परिणाम यह हुआ कि इन्होने उन्ही काव्यागो का निरूपण अधिकता से किया, जिनके निरूपण मे उन्हे सरस उदाहरण देने के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सकता था। नायक-नायिका भेद सबधी ग्र थो की विपुलता इसका प्रमाण है। इस सामान्य प्रवृत्ति के कुछ अपवाद भी हैं। भूषण ने शृगार की मादक धारा प्रवाहित न कर वीर रस की उच्छल तरगें प्रवाहित की। पर ये अपवाद भी बहुत कम हैं।

विषय विस्तार तथा विवेचन की गम्भीरता के इस भेद का कारण यह भी है कि जहा सस्कृत काव्य-शास्त्र का निरूपण करने वाले तीन प्रकार के विद्वान् थे—मूल आचार्य जैसे भरत, मम्मट, टीकाकार जैसे उद्भट, लोल्लट, शकुक, भट्टनायक आदि और सग्रहकर्ता जैसे रुद्रट, अग्निपुराणकार, विश्वनाथ आदि वहाँ हिंदी मे केवल सस्कृत काव्य-शास्त्र का उलथा करने वाले, जिन्होने मम्मट, दडी और विश्वनाथ का अनुकरण मात्र किया। सस्कृत मे टीकाकारो के गम्भीर, प्रौढ और तर्क सम्मत विवेचन ने काव्य शास्त्रीय समस्याओ को सुलझाने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया था। इस प्रकार के टीकाकार हिन्दी मे हुए ही नही। अत हिंदी के रीतिकाल मे काव्य-शास्त्र मा सम्यक् विकास नही हो पाया।

सस्कृत के आचार्यों ने विषय प्रतिपादन के लिए तीन शैलियाँ अपनायी थी—(क) पद्यात्मक शैली—जैसे भरत, भामह, दण्डी, उद्भट आदि ने, (ख) सूत्रवृत्ति शैली—जैसे वामन और रूय्यक के शास्त्रीय सिद्धात सूत्रबद्ध हैं और सूत्रो की वृत्ति गद्यात्मक है, (ग) कारिकावृत्ति शैली—जैसे आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ आदि की। इन्होने अपने प्रमुख सिद्धात कारिकाबद्ध किये। उन के उदाहरण पद्यात्मक हैं पर व्याख्यात्मक विवेचना गद्यबद्ध वृत्ति मे है। इसके विपरीत हिन्दी आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली को अपनाया। शास्त्रीय विवेचन के लिए ये लोग दोहा और सोरठा जैसे छोटे छदो का प्रयोग करते थे और उदाहरण के लिए बडे छन्दो—कवित्त, सवैया आदि का। सूत्रवृत्ति शैली मे लिखा गया हिन्दी का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही। कारकावृत्ति शैली मे, चिन्तामणी कुलपति, प्रतापसाहि आदि ने ग्रन्थ लिखे तो सही, परन्तु इनका गद्य भाग बहुत कम है। दूसरे यह गद्य न तो परिष्कृत और पुष्ट है और न इसमे गम्भीर विवेचन ही है।

जहाँ तक विषय सामग्री के निरूपण का प्रश्न है हिन्दी रीति-आचार्यों ने या तो सस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद प्रस्तुत किया है, या उसका भाव लेकर उसे अपनी सरल शब्दावली मे ढाल दिया है। इन्होने केवल उन्ही विषयो को चुना है जो सरल हैं दुरूह तथा जटिल शास्त्रीय समस्याओ को या तो छुआ तक नही है और या उनके निरूपण मे असफल रहे हैं। उदाहरण के लिए काव्य-लक्षण का प्रसग हमे केवल कुलपति तथा प्रतापसाहि मे मिलता है, पर वहाँ भी वह एकागी, अपूर्ण और भ्रामक ही है, पाठक उसके विषय को समझने की बजाय और उलझन मे पड जाता है। साराश यह है कि सम्पूर्ण रीतिकाल मे एक भी ऐसा ग्रन्थ नही है जो 'काव्यप्रकाश' या

'साहित्यदर्पण' की टक्कर का हो। इसके नायक-नायिका भेद प्रकरण भी विशाल तो हैं पर शास्त्रीय पक्ष उनका भी दुर्बल है। सारांश यह है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र की तुलना में हिन्दी रीतिकालीन काव्यशास्त्र वर्ण्य-विषय की दृष्टि से लगभग समान होता हुआ भी विषय की व्यापकता शास्त्रीय विवेचन और प्रतिपादन शैली की दृष्टि से शिथिल है और इस शिथिलता का प्रधान कारण है उद्देश्य की भिन्नता।"[1]

रीतिकालीन रीतिशास्त्र के चार वर्ग—रीतिकाल के दो सौ वर्षों में (१७०० १९) अनेक रीतिग्रन्थों का प्रणयन हुआ। विषय के आधार पर इन्हें चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—रस विषयक ग्रन्थ अलंकार विषयक ग्रन्थ पिंगल विषयक ग्रन्थ तथा सर्वांग निरूपण ग्रन्थ। इसमें अन्तिम वर्ग के ग्रन्थ ही सर्वाधिक प्रौढ़ हैं। अत सबसे पहले हम उन्हीं का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

सर्वांग निरूपक आचार्य तथा उनके ग्रन्थ—इन आचार्यों की दृष्टि उदाहरण निर्माण पर कम रही क्योंकि इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया केवल रस नायिका भेद तथा अलंकारों का निरूपण ही नहीं किया जिनके निरूपण में सरस उदाहरण निर्माण के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। इन्होंने केवल सुगम काव्यांगों का ही चयन नहीं किया कठिन या दुरूह अंगों का भी विवेचन करने का प्रयास किया। ये आचार्य ही कवि शिक्षक पद के अधिकारी हैं क्योंकि काव्य-शास्त्र सम्बन्धी विभिन्न सामग्री का जितना पूर्ण और प्रौढ़ ज्ञान इन्हें था उतना अन्य एकांग निरूपक आचार्यों को नहीं। इन्होंने आचार्य-कर्म अर्थात् काव्यशास्त्र के विवेचन और विश्लेषण कार्य को अधिक मनोनिवेश के साथ अपनाया परिपक्व ज्ञान और असीम धैर्य के साथ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इनका ध्यान लक्ष्य काव्य की ओर कम था लक्षण काव्य लिखने में ही इनकी शक्ति लगी थी। इनका अध्ययन और विद्या-व्यसन भी इन्हें आचार्य बनाने में सहायक सिद्ध हुआ। इसी विशेषता के कारण केशव और चिंतामणि को हम सर्वांग निरूपक आचार्य मानते हैं तथा आचार्यत्व की दृष्टि से उन्हें मतिराम भूषण आदि से श्रेष्ठ मानते हैं। केशव और चिंतामणि के अतिरिक्त सर्वांग निरूपक आचार्यों में कुलपति देव भिखारीदास प्रतापसाहि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों ने रस अलंकार नायिकाभेद, काव्यदोष छन्द आदि सभी विषयों पर अपने विचार प्रकट किए जैसे केशव ने 'रसिक प्रिया' में नायिका भेद का 'कवि प्रिया' में दोषों कवि शिक्षा तथा अलंकारों का तथा 'छन्दमाला' में छन्दों का निरूपण किया।

रस निरूपक आचार्य—जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है रीतिकाल में सबसे अधिक ग्रन्थ रस और नायिका भेद पर लिखे गये। कहने को तो इनमें सभी रसों का निरूपण किया होता था पर वस्तुत प्रधानता रसराज शृंगार की ही होती थी अन्य रसों का वर्णन संक्षेप में होता था। शृंगार वर्णन करने वाले ग्रन्थों में भी मुख्य विषय नायक-नायिका भेद होता था। इसके अतिरिक्त नायिका भेद पर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गए। इस प्रकार रस निरूपक ग्रन्थों का सर्वप्रमुख विषय नायक-नायिका भेद रहा। इन दोनों के प्रसंग में संस्कृत ग्रन्थों को ही आधार बनाया गया क्योंकि यह परम्परा स्वयं सीधे संस्कृत से ली गई थी। रस का काव्य-सिद्धान्त

---

[1] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृष्ठ ३३६

शैली मे काव्य-शास्त्र की शिक्षा भी देना था। अत वे एक ओर कवि-कर्म करते थे और दूमरी ओर शिक्षक का कर्त्तव्य पालते थे। कवि के नाते शृगार रस की कविता या स्तुतिपरक पद्य लिखते थे, तो शिक्षक के नाते काव्य के विभिन्न अगो का परम्परागत शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करते थे। परिणाम यह हुआ कि इन्होने उन्ही काव्यागो का निरूपण अधिकता से किया, जिनके निरूपण मे उन्हे सरस उदाहरण देने के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सकता था। नायक-नायिका भेद सबधी ग्रथो की विपुलता इसका प्रमाण है। इस सामान्य प्रवृत्ति के कुछ अपवाद भी हैं। भूषण ने शृंगार की मादक धारा प्रवाहित न कर वीर रस की उच्छल तरगें प्रवाहित की। पर ये अपवाद भी बहुत कम हैं।

विषय विस्तार तथा विवेचन की गम्भीरता के इस भेद का कारण यह भी है कि जहा सस्कृत काव्य-शास्त्र का निरूपण करने वाले तीन प्रकार के विद्वान् थे—मूल आचार्य जैसे भरत, मम्मट, टीकाकार जैसे उद्भट, लोल्लट, शकुक, भट्टनायक आदि और सग्रहकर्ता जैसे रुद्रट, अग्निपुराणकार, विश्वनाथ आदि वहाँ हिंदी मे केवल सस्कृत काव्य-शास्त्र का उल्था करने वाले, जिन्होने मम्मट, दडी और विश्वनाथ का अनुकरण मात्र किया। सस्कृत मे टीकाकारो के गम्भीर, प्रौढ और तर्क सम्मत विवेचन ने काव्य शास्त्रीय समस्याओ को सुलझाने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया था। इस प्रकार के टीकाकार हिन्दी मे हुए ही नही। अत हिंदी के रीतिकाल मे काव्य-शास्त्र सा सम्यक् विकास नही हो पाया।

सस्कृत के आचार्यों ने विषय प्रतिपादन के लिए तीन शैलियाँ अपनायी थीं—(क) पद्यात्मक शैली—जैसे भरत, भामह, दण्डी, उद्भट आदि ने, (ख) सूत्रवृत्ति शैली—जैसे वामन और रूय्यक के शास्त्रीय सिद्धात सूत्रबद्ध है और सूत्रो की वृत्ति गद्यात्मक है, (ग) कारिकावृत्ति शैली—जैसे आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ आदि की। इन्होने अपने प्रमुख सिद्धात कारिकाबद्ध किये। उन के उदाहरण पद्यात्मक हैं पर व्याख्यात्मक विवेचना गद्यबद्ध वृत्ति मे है। इसके विपरीत हिन्दी आचार्यों ने केवल पद्यात्मक शैली को अपनाया। शास्त्रीय विवेचन के लिए ये लोग दोहा और सोरठा जैसे छोटे छदो का प्रयोग करते थे और उदाहरण के लिए बडे छन्दो—कवित्त, सवैया आदि का। सूत्रवृत्ति शैली मे लिखा गया हिन्दी का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही। कारकावृत्ति शैली मे, चिन्तामणी कुलपति, प्रतापसाहि आदि ने ग्रन्थ लिखे तो सही, परन्तु इनका गद्य भाग बहुत कम है। दूसरे यह गद्य न तो परिष्कृत और पुष्ट है और न इसमे गम्भीर विवेचन ही है।

जहाँ तक विषय सामग्री के निरूपण का प्रश्न है हिन्दी रीति-आचार्यों ने या तो सस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद प्रस्तुत किया है, या उसका भाव लेकर उसे अपनी सरल शब्दावली मे ढाल दिया है। इन्होने केवल उन्ही विषयो को चुना है जो सरल हैं दुरूह तथा जटिल शास्त्रीय समस्याओ को या तो छुआ तक नही है और या उनके निरूपण मे असफल रहे हैं। उदाहरण के लिए काव्य-लक्षण का प्रसग हमे केवल कुलपति तथा प्रतापसाहि मे मिलता है, पर वहाँ भी वह एकागी, अपूर्ण और भ्रामक ही है. पाठक उसके विषय को समझने की बजाय और उलझन मे पड जाता है। साराश यह है कि सम्पूर्ण रीतिकाल मे एक भी ऐसा ग्रन्थ नही है जो 'काव्यप्रकाश' या

रसिकों के लिए लिखे जाने लगे अतः उनमें न तो आचार्य की प्रतिभा है न व्याख्यान कार की अध्ययनशीलता और न ललित अभिव्यक्ति। इन सबका स्थान ले लिया है कवि की सहृदयतापूर्ण उक्तियों ने।

हिन्दी रीतिकाव्य में अलंकार का निरूपण दो प्रकार के विद्वानों ने किया—अलंकार विषय के ज्ञाताओं ने जिन्होंने इसी दृष्टि से काव्य रचना की और दूसरे वे जो अलंकार के बहाने साहित्य क्षेत्र में आए। डॉ० नगेन्द्र ने प्रथम वर्ग के विद्वानों को 'अलंकर्ता' तथा दूसरे वर्ग के विद्वानों को 'कर्त्ता' कहा है। 'अलंकर्ता' का उद्देश्य छोटे से छोटे छन्द में स्वच्छन्दता के साथ अलंकार विषय का स्थूल वर्णन करना होता था जबकि 'कर्त्ता' काव्य रसिक होने के नाते बड़े बड़े छन्दों में अलंकार के उदाहरण प्रस्तुत करते थे। उनमें अलंकार का निरूपण उलझा हुआ होता था पर रस की मात्रा अधिक होती थी।

केशव से ग्वाल कवि तक असंख्य अलंकार निरूपक कवि हुए जिनमें प्रसिद्ध हैं जसवन्तसिंह मतिराम भूषण सूरति मिश्र भूपति दूलह पद्माकर भिखारीदास ग्वाल आदि।

पिंगल निरूपक आचार्य—भारतीय काव्य-शास्त्र में दो प्रकार के आचार्य माने गए हैं—मौलिक उद्भावक आचार्य और व्याख्याता आचार्य। जहाँ तक हिन्दी के पिंगल निरूपक आचार्यों का सम्बन्ध है उनमें किसी को भी मौलिक उद्भावक आचार्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि लगभग सभी ने संस्कृत और प्राकृत भाषा के पिंगल ग्रन्थों का आधार लिया है। वर्णवृत्तों में यदि उन्होंने संस्कृत के वृत्त ज्यों के त्यों लिए, तो मात्रिक छन्दों के लिए उन्होंने प्राकृत तथा अपभ्रंश के छन्द-ग्रन्थों का आधार लिया। जैसा डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है हिन्दी के सभी पिंगल ग्रन्थकारों ने 'वर्ण रत्नाकर' 'छन्द मंजरी' और 'प्राकृत पैंगलम' के छन्द लेकर ग्रन्थों की रचना की। इसके बावजूद कुछ ऐसे वर्णिक तथा मात्रिक छन्द भी हैं जो संस्कृत तथा प्राकृत के ग्रन्थों में नहीं मिलते। स्पष्ट है कि इनकी उद्भावना स्वयं हिन्दी कवियों ने की होगी या पुराने आधार पर नये छन्दों की रचना की होगी। ये छन्द संख्या में अधिक नहीं हैं। इसीलिए हमने ऊपर कहा है कि मौलिक उद्भावना करने वाले पिंगल आचार्य हिन्दी के रीतिकाल में नहीं हुए हैं।

व्याख्याता की दृष्टि से भी इनका कोई विशेष महत्व नहीं। यह सच है कि इन कवियों ने दोहा सवैया और कवित्त का बड़ी निपुणता से प्रयोग किया पर जहाँ इनके छन्दशास्त्रीय विवेचन का प्रश्न है वह शून्य के बराबर है। दोहे का विवरण निरूपण हिन्दी छन्द-ग्रन्थों में अवश्य मिलता है, पर उसका श्रेय हिन्दी पिंगलनिरूपक आचार्यों को नहीं है क्योंकि 'प्राकृतपैंगलम्' में उसका निरूपण पहले ही हो चुका था। सवैया का विकास तो रीतिकालीन कवियों ने बड़ी सफलतापूर्वक किया उसके अनेक प्रकार भी हुए, पर उसका शास्त्रीय विवेचन वे लोग नहीं कर पाये। इसी प्रकार कवित्त का विकास तो हुआ जैसे घनाक्षरी के विविध रूपों में पर शास्त्रीय विवेचन उनका भी यथेष्ट तथा समुचित रूप में नहीं हुआ। इसका कारण केवल यही है

१ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग पृ० ४१

के रूप मे विवेचन नही के बराबर हैं। लेखको की दृष्टि सरस उदाहरण प्रस्तुत करने पर थी, अत उन्होने सयोग और वियोग शृगार को ही अधिक अपनाया। सयोग मे विभाव, अनुभाव, सचारी के साथ हावो का वर्णन किया—तो वियोग के अन्तर्गत मान और विरह की नाना दशाओ का वर्णन किया। नायिका-भेद मे वैसे तो इन्होने विविध आधार अपनाए पर प्रधान आधार भानुदत्त की 'रसमजरी' ही रहा। अध्ययन की सुविधा के लिए रसनिरूपक ग्रन्थो के तीन वर्ग किए गए हैं।

(क) सब रसो का निरूपण करने वाले ग्रन्थ।

(ख) केवल शृगार रस का निरूपण करने वाले ग्रन्थ।

(ग) केवल नायिका-भेद पर लिखे गये ग्रन्थ।

प्रथम वर्ग मे केशव की 'रसिकप्रिया', तोप का 'सुधानिधि', सुखदेवकृत 'रस रत्नाकर' और 'रसार्णव', भिखारीदास का 'रस साराश', रसलीन कृत 'रस प्रवन्ध' आदि आते हैं। दूसरे वर्ग मे सुन्दर कृत 'सुन्दर शृगार', मतिराम का 'रसराज', देव कृत 'भवानी विलास', भिखारीदास का 'शृगार-निर्णय', यशवत सिंह का 'शृगार शिरोमणि' आदि तथा तीसरे वर्ग मे कृपाराम का 'हित तरगिणी', नन्ददास का 'रस मजरी', चिंतामणि का 'शृगार मजरी', देव का 'रस विलास' आदि आते हैं।

रीतियुग के रस, शृगार और नायिका भेद पर लिखे गये काव्य का कवित्व, जीवन और मनोविज्ञान की दृष्टि से तो निश्चय ही पर्याप्त महत्व है, पर शास्त्रीय विवेचन इनका अत्यन्त स्थूल तथा अपर्याप्त है। उदाहरणार्थ इन्होंने नायिकाओ की पल्टनें तो खडी कर दी हैं पर नायिका भेद का कोई शास्त्रीय महत्व नही। कुल मिला कर यह काव्य केवल इसीलिए महत्वपूर्ण है कि इसके द्वारा ललित, मनमोहक कविता की रचना हुई और ब्रजभाषा का कलात्मक सौंदर्य निखर आया। यह काव्य उपयोगी तो न था पर लालित्य की दृष्टि से उसकी तुलना मे और कविता फीकी ही उतरती है।

अलकार निरूपक आचार्य—केशवदास का सस्कृत तथा हिन्दी भाषा दोनो पर समान अधिकार था। सस्कृत मे लिखने की क्षमता होने पर भी इन्होने शिष्यो के हित के लिए भाषा मे काव्य शास्त्र का निश्चित और व्यवस्थित विवेचन किया। कुछ विद्वानो का मत है कि अलकार विषय पर केशव से पूर्व गोप नामक कवि ने 'अलकार चन्द्रिका' तथा करणेश ने 'करण भरण', 'श्रुति भूषण', 'भूप भूषण', लिखे थे, परन्तु डॉ० भगीरथ मिश्र ने गोप कवि का समय सवत् १६१५ न मानकर सवत् १७७३ माना है और करनेश की रचनाओ के केवल नाम मिलते हैं, स्वय रचनाए नहीं। अत उपलब्ध सामग्री के आधार पर केशव ही हिन्दी ब्रजभाषा मे अलकार निरूपण करने वाले प्रथम आचार्य प्रमाणित होते हैं। चूकि उस समय प्रौढ विद्वान् और आचार्य सस्कृत ग्रन्थो का अध्ययन करते थे, अत स्पष्ट है कि केशव ने 'कवि प्रिया' भाषा में शिष्यो के लिये लिखी थी, विद्वानो के लिए नही। वह स्वय भी लिखते हैं—

> समुझै बाला बालकहु, वर्णन पथ अगाध।
> कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध॥

उनके वाद भी कुछ ऐसी हवा चली कि रीतिग्रन्थ विद्वानो के लिए नही

आलोचना का जो आचार्य का धर्म है आलोच्य साहित्य के साथ अंतरंग सम्बन्ध होता है। आलोचक यदि सहस्रों वर्ष पुराने लक्षणों के आधार पर लक्षण-ग्रन्थ लिखता है और उदाहरण स्वयं निर्मित करता है तो वह अपने कर्तव्य से भ्रष्ट होता है उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करता और अच्छा आलोचक नहीं कहा जा सकता। कविकर्म और आचार्यत्व को मिलाकर इन्होंने असाम्य अपराध किया क्योंकि इससे काव्य की वृद्धि अवश्य हुई पर काव्य-शास्त्र का विकास न हो पाया। इसी को दृष्टि में रख कर शुक्ल जी ने लिखा था "हिन्दी में लक्षण ग्रन्थों की परिपाटी पर रचना करने वाले सैकड़ों कवि हुए हैं वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर विकास करना।

इन आचार्यों में आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचनात्मक और निर्णयात्मक शक्ति की आवश्यकता होती है उसका भी अभाव था। अत उनका विवेचन अस्पष्ट उलझा हुआ और अपूर्ण है। उनका अध्ययन अपरिपक्व और ज्ञान अधूरा था। अत श्यामसुन्दरदास ने उन्हें संस्कृत की नकल करने वाला कहा है। दूसरे इनके समय में गद्य प्रौढ़ नहीं हो पाया था। उसमे इतनी शक्ति नहीं थी कि वह काव्यशास्त्र जैसे जटिल विषय को प्रस्तुत कर सकता उसकी बारीकियों को स्पष्ट कर सकता।

इन दोषों का अधिकतर उत्तरदायित्व उन परिस्थितियों पर है जिनके बीच मे कवि आचार्य उत्पन्न हुए थे। इन आचार्यों को संस्कृत काव्य-शास्त्र की प्रौढ़ और सप्राण परम्परा मिलने की बजाय निर्जीव परम्परा मिली थी। अत वे मौलिक चिन्तन और विवेचन के लिए उपयुक्त वातावरण न पा सके। दूसरे उस युग मे कवि शिक्षा का ही प्रचार अधिक था जिसके लिए न मौलिक चिंतन की अपेक्षा है न स्वतन्त्र सिद्धान्त प्रतिपादन की और न प्राचीन सिद्धान्तो के पुनराख्यान की। विवेचन के स्थान पर वर्णन से काम चल जाता था। कवि-शिक्षकों का उद्देश्य रसिकों को सामान्य काव्यरीति की शिक्षा देना होता है जिज्ञासु के लिए काव्य के रहस्यों की व्याख्या करना नहीं अत इन्होने या तो आश्रयदाता राजाओं को प्रसन्न करने के लिए रस गृ गारपूर्ण कविता लिखी या कवि-शिक्षा के लिए काव्य-शास्त्र का सामान्य निरूपण किया। गहन प्रश्नों पर विचार करने उन्हें समझाने उनका समाधान प्रस्तुत करने की न उन्हें आवश्यकता थी न मेधा और न धैर्य। गद्य का अभाव भी इस सबके लिए उत्तरदायी है क्योंकि विचार विश्लेषण का सफल माध्यम गद्य हो सकता है पद्य नहीं। छन्द के बन्धन म पद्य तो बिल्कुल ही नहीं। पर इस काल मे जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य म ही लिखा जाता था। पद्य म किसी सिद्धान्त की तर्कपूर्ण मीमांसा होना असम्भव है। अपने आचार्य-कर्म में *विफल होने का कारण यह भी है कि इन्होंने लक्षण* के जो उदाहरण प्रस्तुत किये वे क्लिष्ट और असुन्दर हैं। उदाहरण के लिए 'काव्य कल्पद्रुम' लिया जा सकता है। एक कारण यह भी है कि अनुवाद के स्थान पर जिन आचार्यों ने मौलिक पद्य उद्धृत किये वे सर्वथा अपरिचित थे। अत रीति-लक्षणों को समझने म अस्पष्टता का होना स्वाभाविक था।

यद्यपि इन आचार्यों मे अनेक भावुक सहृदय और निपुण कवि थे अत उनके

सकता है कि ये आचार्य कुशल कवि होते हुए भी सफल व्याख्याकार नहीं थे। वे सस्कृत के या प्राकृत के पिंगल-ग्रन्थो से लक्षण ले लेकर उनका अनुवाद या भावानुवाद तो कर सकते थे पर उनकी व्याख्या नहीं। दूसरे, गद्य का प्रयोग भी इन्होने नहीं किया और बिना गद्य का प्रयोग किये विवेचना स्पष्ट नही हो सकती। उस काल मे गद्य का विकास भी नही हो पाया था, अत वे लोग करते भी क्या ? तीसरे, हिन्दी के पिंगल-ग्रन्थकारो का उद्देश्य विषय को सरलातिसरल रूप मे रखना था और पद्यो को कठस्थ करने का सुन्दर ढग प्रस्तुत करना था न कि उनकी व्याख्या करना। अत ये आचार्य कवि-शिक्षक रूप मे ही सफल हुए, व्याख्या की दृष्टि से उनका योगदान नगण्य ही है।

भारतीय काव्यशास्त्र के विकास मे रीति आचार्यो का योगदान—रीति आचार्यों की सीमाएँ—रीतिकाल के आचार्यों का जो प्रथम दोष उनके लक्षण ग्रन्थो को पढ़ते समय तुरन्त ध्यान मे आता है, वह है मौलिकता का अभाव। उन्होने कोई नया सिद्धात प्रतिपादित नही किया, किसी नये वाद की स्थापना नही की। न तो उन्होने सिद्धातो की उद्भावना की और न प्राचीन सिद्धातो का पुनराख्यान। सम्पूर्ण रीतिकाल मे ऐसे किसी नये व्यापक आधारभूत सिद्धान्त की उद्भावना नही हुई जो काव्यशास्त्र मे नई दिशा, नया क्षितिज खोलता। जहाँ कही नवीन उद्भावना मिलती भी है, उसका या तो किसी न किसी सस्कृत ग्र थ मे आधार-स्रोत मिल जाता है,अथवा उसके पीछे विवेक का पुष्ट आधार नही है, वह केवल नवीन प्रदर्शन के लिये ही है।

यद्यपि सस्कृत काव्य-शास्त्र वडा व्यापक और विस्तारपूर्ण था, पर इसका यह अर्थ नही कि वे इस विषय मे अन्तिम शब्द कह चुके थे। दो क्षेत्र तो निश्चय ही ऐसे थे जिनमे हिन्दी आचार्य यदि कुछ करना चाहते तो कर सकते थे। प्रथम तो सस्कृत आचार्यों ने कवि-कर्म के आतरिक रूप का अर्थात् कवि-मानस की सृजन-प्रक्रिया का विवेचन नही किया था। उन्होने इस बात की ओर ध्यान नही दिया था कि काव्य-सृजन के समय कवि क्या अनुभव करता है, उस अनुभूति को अभिव्यक्त कैसे करता है आदि आदि। और दूसरे रीतिकाल तक आते-आते काव्य-शास्त्र का इतना विस्तार हो चुका था कि उससे अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी। उदाहरणार्थ, ध्वनि के हजारो भेद हो गये थे, नायिकाओ की पल्टनें खडी हो गयी थी। अत व्यवस्था की वडी आवश्यकता थी, पर इस ओर भी हिन्दी आचार्यो ने ध्यान नही दिया। इसका कारण कदाचित् यह था कि शास्त्रार्थ, खडन-मडन और विवेचन की अपेक्षा वर्णन सरल पडता था। अत उन्होने विवेचन-विश्लेपण की अपेक्षा कवि-शिक्षा के सरल धर्म को अपनाया।

यदि हिन्दी आचार्य चाहते तो अपने पूर्ववर्ती विशाल हिन्दी काव्य का अनुगम-विधि से विश्लेपण कर उसके आधार पर एक स्वतन्त्र काव्य-शास्त्र का निर्माण कर सकते थे। पर उन्होने यह उत्तदायित्व भी नही निवाहा। जव लक्षण लिखना होता, तो वे सस्कृत के लक्षण ग्र थो का सहारा लेते और जव उदाहरणो की जरूरत पडती, तो पूर्ववर्ती कवियो के काव्य से उद्धरण छांटने की वजाय स्वय ही छन्द निर्माण करते और उन्हे उदाहरण रूप मे प्रस्तुत कर देते। स्वाधीन चिन्तन के प्रति उनमे एक अवज्ञा का भाव आ गया था। स्पष्ट ही यह आचार्य के कर्त्तव्य के विरुद्ध था क्योकि

६१

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य

१ भूमिका
२ सामाजिक परिस्थितियाँ
३ अनास्था का स्वर
४ बौद्धिकता का प्राधान्य
५ सौन्दर्य-भावना
६ प्रगतिवादी स्वर
७ प्रकृति चित्रण
८ प्रयोग-काव्य
९ मानवतावादी स्वर
१० शिल्प सम्बन्धी प्रयोग
११ गीत काव्य
१२ प्रबन्ध काव्य
१३ उपसंहार

हिन्दी साहित्य की जिस विधा मे स्वतंत्रता सर्वाधिक प्रतिफलित हुई है, वह है हिन्दी कविता। यद्यपि यह स्वतन्त्रता काव्य के शिल्प के स्तर पर अधिक प्रतिफलित हुई है तथापि यह नही कहा जा सकता कि उसकी वस्तु उसके प्रभावों से नितान्त अछूती रही है। स्वतंत्रता से हमे अनेक आशा-आकांक्षाएं थी हमने स्वातंत्र्योत्तर भारत के अनेक मधुर स्वप्न संजोये थे पर जब वे धराशायी होने लगे आर्थिक विषमता कम होने की बजाय बढने लगी अनीति के दुर्धर्ष नाग ने स्थिति को और भी जटिल बना दिया और आन्तरिक सांस्कृतिक क्षेत्र में विघटन शून्यता और विसंगति के स्वर सुनाई देने लगे तो कविता मे भी निराशा कुंठा, अनास्था आत्म-मंथन और क्रान्ति की अनुगूंजें सुनाई देने लगी। कविता मे अनास्था विघटन और विरक्तता के इन स्वरो का कारण कुछ तो देश की आन्तरिक परिस्थितियां थी और कुछ विदेशी साहित्य का प्रभाव जहां यूरोप के महायुद्धो और वहां के जनवाद, अस्तित्ववाद (Existentualism) आदि दार्शनिक विचारो ने वहां के कवि को अनास्थावादी निराशा और कुंठा ग्रस्त बना दिया था।

हिन्दी का नया कवि भी अपने अस्तित्व को विराट मे समाहित नही कर पाया है। उसका अस्तित्व लघुता का वृत्त-परिवेष ओढ़कर अधिक कुंठाग्रस्त एवं पराजित

उदाहरण रूप मे प्रस्तुत कवित्त और सवैये हिन्दी के सरस काव्य की अमर निधि हैं, तथापि आचार्यत्व के मोह मे रीतिकालीन कवियो की भाव-व्यजना गौण पड गयी। वस्तु व्यजना की ओर उनकी दृष्टि अधिक गयी। इससे साहित्य के विस्तृत विकास मे वाधा पडी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य वातो तथा जगत् के नाना रहस्यो की ओर कवियो की दृष्टि नही जाने पायी। उनकी दृष्टि बद्ध और सीमित हो गयी। इन कवियो को आचार्यत्व के वन्धन के कारण ही अपनी व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर कम मिला। अतएव उनके स्वतत्र चिंतन और स्वतत्र व्यक्तित्व का विकास न हो पाया। आचार्य केशव की अलकार-प्रियता ने उनके कवित्व का हनन किया। पाडित्य–प्रदर्शन के मोह ने उनके हृदय को कुण्ठित कर दिया 'रामचन्द्रिका' को छदो की प्रदर्शनी बना दिया, पचवटी को धघ्टी वना दिया, वेर वृक्ष को प्रलय वेला के द्वादशादित्य का रूप प्रदान किया। इसी झमेले मे पडकर विहारी ने अनूठी अतिशयोक्तियो का निर्माण किया, पद्माकर ने शव्दाडम्वर का आश्रय लिया। साराश यह कि इस आचार्यत्व और काव्यत्व के एकीकरण तथा कवित्व द्वारा आचार्यत्व के आच्छादन का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर अच्छा नही पडा। इससे न तो आचार्यत्व का ही पूर्ण विकास हो पाया और न कविता-कामिनी ही स्वतत्र रूप से भाव-लोक मे विचरण कर सकी।

रीति आचार्यों की शक्ति

इन रीति आचार्यों की शक्ति यदि किसी वात मे पायी जाती है तो केवल निम्न वातो मे—

(१) इन्होने शास्त्र की परम्परा को सरल रूप मे अवतरित किया, य[illegible] वह परम्परा अत्यत क्षीण है।

(२) इनके कारण रस ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त हुआ।

(३) इन्होने सरस उदाहरणो का एक अक्षय कोश प्रदान किया जो काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

(४) इनका काव्य तत्कालीन सामाजिक, पारिवारिक एव गार्हस्थ्य जीवन पर प्रकाश डालता है।

पर जहाँ तक आचार्यत्व का प्रश्न है, इसमे वे प्राय असफल रहे। इस सम्वन्ध मे डॉ० नगेन्द्र का मत उल्लेखनीय है, "सस्कृत काव्य शास्त्र की तुलना मे हिन्दी का रीतिकालीन काव्यशास्त्र वर्ण्य विषय की दृष्टि से लगभग समान होता हुआ भी विपय की व्यापकता, शास्त्रीय विवेचना और प्रतिपादन शैली की दृष्टि से शिथिल है और इस शिथिलता का प्रधान कारण है उद्देश्य की भिन्नता।" वस्तुत इन आचार्यों के सम्मुख कोई वास्तविक काव्य शास्त्रीय समस्या थी ही नही। इनका उद्देश्य तो कवियो और साहित्य-रसिको को काव्य-शास्त्र के विपयो से परिचित कराना था। अत हिन्दी के रीति-आचार्यों द्वारा प्रणीत रीतिग्रथो से भारतीय काव्य-शास्त्र का कोई महत्वपूर्ण विकास नही हो पाया।

तो हमें आपत्ति होती है। हम भी कवि को उपदेशक और काव्य को नीति-ग्रन्थ नहीं मानते हम यह भी स्वीकार करते हैं कि अनुभूति-प्रक्रिया में डूबा हुआ व्यक्ति उपदेश नहीं देता पर साथ ही साधारणीकरण की शक्ति जिस काव्य में नहीं है उसे हम काव्य नहीं मानते। कवि की संवेदना विशिष्ट होते हुए भी सब की सांझी होनी चाहिए, उसे कवि बनने के लिए लोक-हृदय को पहचानना ही होगा पर आज का नया कवि इसे नहीं मानता जिसके फलस्वरूप कविता अजूबा बन गई है।

'नये मनुष्य की प्रतिष्ठा नयी कविता का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।' नये कवि की लेखनी मनुष्य की उस आकृति का अंकन करती है जो अणुबम अकाल भूख बीमारी आदि के अभिमार्गों के बीच युग के सारे अत्याचार और शोषण से टक्कर लेता हुआ नए समाज की रचना का संकल्प लिए आगे बढ़ रहा है मन के भीतरी द्वन्द्वों से जूझ स्वस्थ सामाजिक स्वरों का उद्घोष कर रहा है। पर नरेश मेहता जैसे कवि हिन्दी में कम ही हैं।

आज की कविता में अनुभूति एवं रागात्मकता के स्थान पर बौद्धिकता का प्राधान्य है। नया कवि पाठक के हृदय को तरंगित और उद्वेलित न कर, कुरेदता है

चाहे मन सहलाया न हो कुरेदा हो।

आज का युग ही बौद्धिक जागृति का युग है जिसके कारण एक ओर दृष्टि कोणों में विराट्ता आ गई है तो दूसरी ओर चिन्तन का प्रक्षेप भी विस्तृत हो गया है। जीवन के साधारण से साधारण तत्त्व की भी उपेक्षा नहीं की गई है। इस प्रक्रिया में एक प्रकार का वैचारिक संघर्ष भी आ गया है जिसका सम्बन्ध बौद्धिकता से है। नवीन भाव-स्तरों के अन्वेषण के कारण भी अज्ञेय आदि कवियों के काव्य-स्तरों में चिन्तनशीलता अधिक आ गई है। इस चिन्तनशीलता के ही कारण कभी-कभी ऐसा लगता है कि इस काव्य में व्यष्टि की ही अभिव्यक्ति अधिक हुई है। पर वस्तुतः अज्ञेय का व्यक्तिवाद समष्टि से कटा-छटा नहीं है—

हम नदी के द्वीप हैं
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर
स्रोतस्विनी बह जाय?
वह हमें आकार देती है

मां है वह! इसी से हम बने हैं।

इस काव्य में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक अस्तित्व-खण्ड विराट् चेतन का ही एक-एक अंग है और इन अस्तित्व-खण्डों के माध्यम से विराट् चेतन की ही अभिव्यक्ति की गई है।

प्रयोगशील कवियों में एक दल सौन्दर्य के व्याख्याकारों का भी है। गिरिजा कुमार माथुर एवं नरेश मेहता इनमें प्रमुख हैं। इन दोनों ने बाह्य और आन्तरिक, आत्मा एवं प्रकृति के सौन्दर्य को प्रस्तुत किया है। माथुर ने रूप और रंग की तरंग केलि' में आनन्द तत्त्वों का विकास देखा है—

हो गया है। वह अपनी [आत्म-कुंठा और आत्म-अनस्तित्व की ही भावाभिव्यक्ति करता है—

मैं हू,
मैं एक छोटा किन्तु जागरूक अस्तित्व
मैं ही नल हू
अजगर-सा चाय की पत्तिया निगलता हूं
मैं ही शराब की बोतलें ले
रामायण से गीता तक जीता हूं
मैं जो क्षण-क्षण जलता हू, मरता हूं।

आत्माभिव्यक्ति करना प्रयोगशील कविता का धर्म है, और अधिकाश कवि अपनी निजी मान्यताओ, अनुभूतियो, अहभाव और कुंठाओ की ही अभिव्यक्ति करते हैं, तथापि कुछ ऐसे भी नये कवि हैं जिन्होंने आत्म-चेतन की रागात्मकता एव बाह्य-चेतन की यथार्थता मे तरग-रति उत्पन्न कर दी है—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की निम्न पक्तिया देखिए—

यदि दुर्बलता दर्प मे बदल जाय
व्यथा अन्तर्दृष्टि दे
खण्डित आत्माए
सचित कर सकें शक्ति की समिधायें,
जो जलकर अग्नि को भी
गन्ध ज्वार बना दें,
तो मैंने अपना कवि-कर्म पूरा किया
चाहे मर्म सहलाया न हो, कुरेदा हो।

ऐसी ही कविताओ के विषय मे डा० रमाशकर मिश्र की यह उक्ति चरितार्थ होती है, 'प्रयोगशील काव्य धारा मे आत्म चेतन अथवा व्यक्ति-चेतन की जो अभि-व्यक्ति हुई है, वह समाज-मूल्यो से असम्बद्ध नही है। व्यक्ति चेतन वास्तविक सत्य से उद्भूत समाज-मूल्यो की ही एक अन्विति है।" प्रयोगशील काव्य-धारा के ये नवीन सस्कार नये यथार्थ से ग्रहण किये गए हैं और यह नया यथार्थ ही नया सत्य है जिसमे परम्पराओ के प्रति विद्रोह की भावना है।

नई कविता के समर्थको का कहना है कि यथार्थ का कोई स्वय-सिद्ध अथवा पूर्वनिर्धारित रूप नही होता यथार्थ का अनुभाव समाज को व्यक्ति व्यक्ति के निजी और सीमित सवेदना-यन्त्र के माध्यम से ही होता हैं। अत नई कविता मे जिस सत्य पर बल दिया जाता है, वह सवेदनशील व्यक्ति द्वारा प्रत्यक्षीकृत विशेष सत्य' होता है। कवि को अपनी सम्पूर्ण प्रकृति से जो सत्य अपने पूर्ण रूप मे दिखाई देता है, वही उसके लिए यथार्थ होता है और वही अभिव्यक्ति पाकर काव्य बन जाता है यहा तक तो बात ठीक है, पर जब वे कहते हैं कि कवि का ध्येय इस अनुभूति और अभिव्यक्ति का साधारणीकरण करना न होकर उन्हे कलात्मक रीति मे सप्रेपित करना मात्र है,

ग्राम्य प्रकृति के साथ-साथ लोक जीवन का सजीव चित्र भी स्वातंत्र्योत्तर कविता में हुआ है। जन-सामान्य का दिन प्रतिदिन का जीवन उसके तिथि त्यौहार साँझ के समय जलपान से जाती हुई ग्रामीण युवतियों की पाँत गोधूर लपेटे गाँव के टूटे फूटे मन्दिरों के टूटे फूटे महावीर और उनकी पूजा अर्चना सावन में आल्हा के साथ ढोलक पर पड़ने वाली थाप बैलों के गले में बंधी घण्टियों की टनटनाहट, चित्रकूट के जोड़म यात्री पैठी बिरहा की कलेजा को चीर देने वाली आवाज—सभी का सजीव अंकन इस काव्य को एक अभिनव आकर्षक गरिमा प्रदान करता है।

कुल मिलाकर इस प्रगतिशील काव्य में जीवनाभिमुखता है जीवन की सारी कुरूपता से संघर्ष करते हुए आशा और विश्वास का स्वर है। इसमें न तो जीवन से पलायन है, न सबसे कटकर जीवन के क्षणों को अकेले भोगने की संकीर्ण भोगवादिता और न क्षण में ही समूची विराटता को देख लेने वाली खोखली दार्शनिकता। इसमें इलियट के वेस्ट लैंड की सी अवसादमय भावना नहीं यहाँ तो जीवन की अबाध स्वीकृति और उसके प्रति अखण्ड विश्वास का भाव है—

> प्यार है मनुष्यों में—बार-बार जीने का
> बार-बार रस रूप गंध धूप पीने का।
> बार-बार पृथ्वी में नया जन्म पाने का
> बार-बार गाने का—मेह के बसाने का॥

इस धारा का प्रणय काव्य भी अपना निजी वैशिष्ट्य लिए हुए है। संयोग शृंगार के काव्य में यदि हमें कवि हृदय का मुक्त उल्लास मिलता है तो वियोग की स्थितियों में भय से सर्वथा रहित उसका प्रसन्न अवसाद। नरेन्द्र शर्मा त्रिलोचन और मदन वात्स्यायन ने दाम्पत्य प्रणय की बड़ी स्वच्छ तथा सजीव अभिव्यक्ति की है। इसमें न तो काल्पनिक उड़ानें हैं और न क्यामत के अफसाने।

> आज भी बुलाते हैं मुझे पड़ोसिन के विहान
> आज भी जगाती है मुझे उषा बहुरूपी;
> बस रामू को पुकारती हुई एक पतली आवाज नहीं है
> और कुछ भी नहीं है ।

वात्सल्य की मार्मिक अभिव्यक्तियाँ भी इस काव्य में जब तब देखने को मिल जाती हैं। किसी की 'दंतुरित मुस्कान' पर रीझ उठने वाले नागार्जुन तथा स्वस्ति मेरी बेटी के गायक मदन वात्स्यायन के काव्य में वात्सल्य की गुनगुनाहट मुखरित हो उठी है।

मानवतावादी विचारधारा आज की कविता का अभिन्न अंग है। मनुष्यता जहाँ पीड़ित है, आज के कवि का ध्यान वहीं जाता है। यह वह भूमिका है जहाँ पूर्व और पश्चिम के भेद मिट जाते हैं—केवल मनुष्य की पीड़ित-आहत प्रतिमा शेष रह जाती है। इस अन्तर्राष्ट्रीय बोध को आज की कविता में स्पष्ट देखा जा सकता है जिसे श्रीमती विजय चौहान ने स्वर स्वर है देशी हो या विदेशी' में व्यक्त किया है। शमशेर के 'अमन राग' गिरिजाकुमार माथुर के 'हम्स देश' 'एशिया का जागरण' में भी यही अन्तर्राष्ट्रीय स्वर पाया जाता है।

नयन लालिम स्नेह दीपित, भुज मिलन तन गन्ध-सुरभित।
उस नुकीले वेश की वह घुवन, उकसन, चुभन अलसित॥

इस अगरु सुधि से सलोनी हो गई है, रात यह हेमन्त की। इसी प्रकार नरेश मेहता के काव्य मे भी हमे आन्तरिक एव वाह्य सौन्दर्यमूल्यो की व्याख्या मिलती है—

आओ रितुपति चन्द्र सूर्य तुम
अपनी धूप चादनी के सौ-सौ चीवर फैलाने
मनुज घाव पर चैत शरद की चादनियो की रेशम पलकें हवा कर सकें
गगन ग्राम पर स्वर्ग कही वैठा-वैठा तारो की वशी मुझे सुनाये
धरती नीले तारो का परिवार वना सके।
इसीलिए खेतो मे सन्ध्या केसर वरसे॥

यद्यपि आज प्रगतिशील आन्दोलन जैसा कोई आन्दोलन नही है, और न ही प्रगतिवाद युग जैसा कोई काव्य-युग, परन्तु स्वतत्रता के बाद के लिखे गए काव्य मे प्रगतिशील चेतना पर्याप्त मात्रा मे पाई जाती है। इसमे लोकोन्मुखी चेतना है, युगोद्-बोधक रचनाए है, और विशुद्ध सामाजिक यथार्थ की भूमि पर जनजीवन तथा धरती की महिमा के गीत भी हैं। इसमे नए भाव तथा सौन्दर्यबोध को साथ लिए सामाजिक चेतना के प्रशस्त माग पर चलने वाला काव्य भी है। यह कवि मन की अधियारी गलियो मे नही भटकता, वह मन के सघर्षों से अधिक महत्त्व वाह्य सघर्षों को देता है, वल्कि मन के सघर्षों को वाहर के सघर्षों का ही परिणाम मानता है, मन के अघेरे को वाहरी जीवन का अवस माानता है। वह दुनिया के भयानक सघर्षों अतिचारी शक्तियो शोपको, समाज तथा शासन की क्रूर व्यवस्थाओ को उनकी वास्तविकता मे प्रस्तुत करता है और 'एशिया का जागरण' तथा 'रूस देश' जैसी कविताए लिखता है। जन्मत अधिकार-साम्य, योग्यतानुरूप समान सम्पत्ति-विभाजन, सामान्य जन के स्वाभिमान की प्रतिष्ठा आदि वातें ऐसी हैं जिनसे प्रत्येक वौद्धिक प्राणी प्रेरणा ग्रहण करता है और आधुनिक कवि के लिए भी इन विचारो से असम्पृक्त रहना कठिन है। अत आज का कवि भी न्याय, औचित्य और दलितो का पक्ष ले रहा है तथा शोपण, अन्याय और उत्पीडन के विरुद्ध विद्रोह का स्वर गु जा रहा है। यह बात प्रगतिवादी हिन्दी कविता मे भी थी, पर आज की कविता ने जीवनकी सारी विरूपता चित्रित करने के साथ ही उसके सारे खट्टे-मीठे अनुभवो को स्वीकार किया है, शोपण के वावजूद एक नये स्वस्थ जीवन के लिए सघष करते मानव की तस्वीर उभारी है, गवई गाँव की पकृति और वहा के सामान्य जन की सुख-दुख पूर्ण जिन्दगी की सामान्य झाकिया प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार इन्होने यथार्थ के कुछ विरूप कोनो को ही नही, उसको उसकी सम्पूर्णता मे देखा और परखा है। यह जन जन की कविता है—जनता के दुख-दद, हर्ष-उल्लास, उसकी प्रकृति, ऋतुओ और लोकगीतो की कविता है। वैसवाडे के तालो मे खिलती कोकानेली, मिथिला के सरोवरो के तालमखान और कमल का वर्णन करती हुई ये कविताए अचल-प्रेम के साथ साथ देश-प्रेम की भी परिचायिका हैं। नागार्जुन के लिए 'चन्दनवर्णी धूल' को 'जी भर छू पाने' का सन्तोष कुवेर की सम्पूर्ण सम्पत्ति से भी अधिक मूल्यवान है।

को भोजपुरी अंचल से नये अनुभव और नये संकेत मिले हैं। यद्यपि देवराज दिनेश और रामावतार त्यागी जैसे गीतकार अभी भी पुरानी भाषा और परम्परागत भाव विचारों का प्रयोग कर रहे हैं तथापि नये गीतकार जैसे नरेश सक्सेना ओम प्रभाकर मे एक परिपक्वता है *उनकी भाषा में नवीन शक्ति है। शब्द प्रयोगों बिम्ब विधानों* या वातावरण प्रधान विशेषताओं से नई गीत रचना शैली से आगे बढ़ रही है। पुराने तर्कों और पुरानी टेकों की एकरसता का स्थान सजीवापन ले रहा है। लोक गीतों ने इसे सर्वाधिक ताजगी दी है। छन्द और लय को आज का गीतकार अनिवार्य मानता है क्योंकि गेयता को वह बाहरी तत्त्व न मानकर भीतरी तत्त्व मानता है। उसने देश की गंध तथा अछूते बिम्ब चित्रों को नये सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। उसने देश की प्रकृति को नये सिरे स देखा है उसे अपने सुख-दर्द का साथी बनाया है उसे अंब और प्रतीकों के प्रजस्र स्रोत के रूप मे ग्रहण किया है। इसीलिए नये गीतों म कई तरह के रंग चित्र और कितने ही नव प्रतीक एक साथ मिले जुले दिखाई देते है।

गीत के सम्बन्ध मे जितने प्रयोग गिरिजाकुमार माथुर ने किए हैं उतने अन्य किसी कवि ने नहीं। गीत छन्द रंग और लय की जितनी अद्भुत पहचान माथुर को है, उतनी शिल्प स्वाध्य म किसी अन्य को नहीं। उन्होंने गीत के नये आयाम विकसित किए हैं उसे नई गति दी है। नरेश मेहता तथा धर्मवीर भारती ने भी गीतों को नया स्वरूप प्रदान किया है। इन दोनों मे प्रकृति के अछूते बिम्ब लोक कथानकों की सुगंधि से सजीव हो उठे हैं। इनके प्रभाव से हिन्दी क्षेत्रों के अंचलों मे कितने ही नये गीतकार उभर कर आगे आये हैं। जहां तक मंच-कवियों का सम्बन्ध है जो कवि-सम्मेलनों मे सर्वाधिक लोकप्रियता पाते है वे निरन्तर उर्दू कविता की ओर मुड़ते जाते हैं अत शिल्प शैली और भाषा की दृष्टि से वे हिंदी गीत-काव्य को विकसित करने म कुछ अधिक योग नहीं दे रहे।

प्रबन्ध काव्य—कहा जाता है कि आज का युग प्रबन्ध-काव्य का युग नहीं है क्योंकि प्रबन्ध-काव्य सम्बन्धी पूर्व मान्यताएं अब समाप्त हो गई है। आज न तो विगत युगों की जीवन-दृष्टियां रह गई हैं न आदर्शवादी मान्यताएं न रसवादी रूढ़ियाँ और न व्यक्तित्व सम्बन्धी प्रतीतियां। आज वह एकसूत्रता छिन्न भिन्न हो गई है जो पहले प्रबन्ध-काव्यों के मूल मे प्रबन्ध व्यक्तियों को लेकर पाई जाती थी। क्षणवादी दर्शन ने समय की मान्यता को एक नया आयाम दिया है। इसका कहना है कि समय का कोई भी क्षण अपने आप मे छोटा-बड़ा प्रभावशाली या प्रभावहीन नहीं होता। *वह तो हमारी गहरी संवेदनायों से छोटा-बड़ा बनता है। इसी क्षणवादी दर्शन* और विघटित व्यक्तियों वाली धारणा के कारण कथा या घटना शृंखलित प्रबन्ध-काव्य कम लिखे जाते हैं। अभिजात्य से हटकर लघुत्व या सामान्यता की ओर जाना भी आज की प्रवृत्ति है जिसे लोकतन्त्र की स्थापना और अधिक बल दिया है। अत आज के प्रबन्ध-काव्य मे शिल्प और भाव-बोध बदल गया है। आज का प्रबन्ध-काव्य स्थूल मांसल कथा सम्पूर्ण व्यक्तित्व विराट समय प्रवाह की शृंखला से एकसूत्रित न होकर मन सत्त्वों की सूक्ष्म रेखाओं चिन्तन के क्षणों विघटित व्यक्तित्वों और अनुभूतियों की प्रतीति से अनुस्यूत होती है। कथानक भले ही पुराणों या इतिहास में

व्यग भी इस युग की कविता की एक उपलब्धि यहै जिसे आज के कवियो — नागार्जुन, प्रभाकर माचवे, भवानी प्रसाद मिश्र, त्रिलोचन आदि ने यथार्थ के एक अत्यन्त सशक्त और प्रभावशाली माध्यम के रूप मे ग्रहण किया है। इन व्यग्यो का लक्ष्य व्यक्ति समाज, सस्था जर्जर तथा सडी गली रूढियो है। नागार्जुन ने इस दिशा मे प्रशसनीय कार्य किया है, यद्यपि कही कही उनके व्यग्य बहुत ही तीखे और असतुलित हो उठे हैं। परन्तु अनेक कविताओ जैसे 'प्रेत का बयान' 'तालाब की मछलिया' 'वे और तुम' आदि मे उनका व्यग्य बडा सधा हुआ और मार्मिक है।

स्वतन्त्रता के बाद की हिन्दी कविता ने शिल्प के सम्बन्ध मे एक ओर प्राचीन के प्रति विद्रोह किया है और दूसरी ओर नये प्रयोगो को अपनाया है। अतिरजना, अलकरण, रूढ प्रतीक योजना, काव्येतर तत्त्वो के सम्मिश्रण से उसने अपने को मुक्त करने की चेष्टा की है। प्रस्तुत अप्रस्तुत का परम्परागत विभाजन भी आज 'लुप्त होता जा रहा है। कवि आज व्यक्त जगत् की किसी वस्तु विशेष का किसी अन्य वस्तु के माध्यम से वर्णन नही करता, वह वस्तुजगत से गृहीत अनुभव को उसके सश्लिष्ट रूप मे प्रस्तुत करता है। जगदीश गुप्त के शब्दो मे, "वह किसी विषय पर कविता नही लिखता, उसका अनुभव ही कविता का विषय होता है।" उपमानो की नवीनता रूपको का नया विधान और आलकारिकता के सम्बन्ध मे नया दृष्टिकोण इस नये काव्य की विशेषता है जैसे

"प्यार का बल्ब फ्यूज हो गया।
बिजली के स्टोव सी एकदम सुर्ख हो जाती है।"

इसके विपरीत आज के प्रगतिशील कवि ने भाषागत प्रयोगो की एकान्त वैयक्तिक लीको से बचते हुए उसकी व्यजना-शक्ति को समर्थ बनाया है, समग्र जीवन-क्षेत्रो से शब्द-चयन किया है। लोक जीवन से शब्दो का चुनाव करते हुए इन्होंने भाषा को सहज, सुथरा और अर्थ गर्भ बनाने की चेष्टा की है।

छन्दो के बन्धनो के प्रति अनास्था होते हुए भी प्रयोगशील कवियो ने राग-तत्त्व और लय-तत्त्व के प्रति उपेक्षा-भाव नही दिखाया है। ऐसी कविताए कम ही हैं जिनमे गद्य की सी नीरसता और शुष्कता हो। कहीं-कही लोकगीतो के आधार पर इन्होने गीतो की रचना की है उधर प्रगतिशील कवियो ने अतिरिक्त नयेपन से बचते हुए परम्परागत भूमिकाओं से जुडने का प्रयास किया है। गीत, गजल, सवाई सानेट तथा परम्परागत अन्य काव्य-रूपो के साथ विशेष रूप से मुक्त छन्द के प्रयोग के प्रति सबकी रुचि रही है। पर इन कवियो ने मुक्त छन्द को लय-तत्त्व के साथ ग्रहण किया है। लोक-भूमिका से जुडकर लय-तत्त्व को अभिनव रूप प्राप्त हुआ है। अज्ञेय तक के काव्य मे सगीत तत्त्व वर्तमान है। अत आज की हिन्दी कविता मे छन्द सम्बन्धी विविध प्रयोग मे बावजूद सगीत और लय-तत्त्व वर्तमान हैं।

गीत-कविता— यद्यपि प्रयोगवादी काव्य की प्रधानता के कारण हिंदी गीत-कविता पर बडा भारी सकट आ गया था, पर अब वह उससे मुक्त हो गई है। आच-लिकता के आन्दोलन ने निश्चय ही उसे बल प्रदान किया है। ओम प्रभाकर को मध्य प्रदेश के पठारो, केदार अग्रवाल को बुन्देलखण्ड, केदारनाथसिह और रामदरश मिश्र

माध्यम से कवि ने अपने जीवनादर्शों और समाधानों को प्रस्तुत किया है कि वास्तविक सफलता तभी मिलेगी जब भौतिक योग-क्षेम के साथ आध्यात्मिक चेतना का विकास होगा। कथाकेन्द्र निरन्तर राष्ट्रीयता से मानवता और मानवता से देवत्व की ओर अग्रसर होता है।

यह तो सच है कि 'लोकायतन' में पहली बार सम्पूर्ण युग को पकड़ने की चेष्टा की गई है, पर यह काव्य बौद्धिक अधिक हो उठा है कवि अपने विचारों और भावों को राग के स्तर पर नहीं ला सका है वे जीवन के संवेदनों के बीच नहीं उभर सके हैं। शिल्प की दृष्टि से भी यह बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। कथानक रचना की शिथिलता अनुपातहीनता एक ही बात को तरह-तरह से कहने की प्रवृत्ति और रिपोर्टिंग की प्रवृत्ति से इस प्रबंध काव्य को क्षति पहुंची है।

कनुप्रिया एक नये प्रकार का प्रबन्ध काव्य है। इसमें कृष्ण के साथ बीते राधा के तन्मय क्षणों की विभिन्न स्थितियों को रूप देना ही कवि को अभिप्रेत है कोई कथा कहना नहीं। स्थूल प्रसगो की जगह संवेदना की प्रधानता है। रामदरस मिश्र के शब्दों में उसके सम्बन्ध में लिखा है "कनुप्रिया ही एक ऐसी कृति है जो शिल्प और बोध दोनों दृष्टियों से आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करती है। कनुप्रिया में प्रस्तुत जीवन की नई अनुभूतियाँ आधुनिक प्रश्न नवीन चेतना-बोध नये बिम्ब और नई प्रतीकात्मकता से पूर्ण सरल भाषा इसके विशिष्ट गुण हैं।

'महामानव' 'द्रौपदी' और 'उत्तर जय' इस काल के अन्य तीन प्रबंध-काव्य हैं जिनमें से पहले में जनजागरण की कथा कही गई है और अन्य दो में पौराणिक विषयों द्वारा नया सन्देश दिया गया है जैसे कि पीड़ा तो जीवन की नियति है उसे भोगना ही उससे मुक्ति पाना है।

सारांश यह है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबंध-काव्य परम्परागत प्रबन्ध-काव्यों से नितान्त भिन्न हैं। वे स्थूल से अधिक सूक्ष्म पर केन्द्रित हैं स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य के उपर्युक्त विवेचन के उपरांत हमें निराश होने का कोई कारण नहीं दिखता और यह कहना अनुचित प्रतीत होता है कि बीसवीं शताब्दी कविता के अनुकूल नहीं है।

लिया गया हो, पर उसमे नवीन भाव-बोध और सवेदनाओ का स्पर्श होता है। उसमे वर्ग अतीत मे वर्तमान का प्रक्षेपण किया जाता है।

स्वतत्रता के पश्चात् जो महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध-काव्य लिखे गए हैं वे हैं—गुप्त जी के 'जय भारत' और 'विष्णु प्रिया', दिनकर के 'उर्वशी' और रश्मिरथी' पन्त जी का 'लोकायतन' और धर्मवीर भारती का 'कनुप्रिया'। ठाकुर प्रसाद सिह का 'महा-मानव' और नरेन्द्र शर्मा की 'द्रौपदी' भी इसी क्रम मे आती हैं।

'जय भारत' की कथा महाभारत की कथा का हिंदी रूपान्तर है और 'विष्णु प्रिया' मे चैतन्य महाप्रभु की धर्मपत्नी विष्णुप्रिया का चरित्र गाया गया है। उन्होने आज की मानवतावादी दृष्टि से ही उर्मिला, यशोधरा की तरह विष्णुप्रिया के उपेक्षित गौरव को, उसके त्याग और व्यथा को वाणी दी है। जयभारत' की एकमात्र विशेषता यह है कि कवि ने मार्मिक प्रसगो को उभारकर भावमय बना दिया है, अन्यथा उसका महत्त्व केवल इतना है कि वह हिंदी मे महाभारत का काव्यमय सस्करण है।

'रश्मिरथी' मे भी आधुनिक मानवतावाद के आलोक मे कर्ण के चरित्र का उद्घाटन और उसके माध्यम से सम्पूर्ण कलकित, उपेक्षित, मानवता की मूकता को वाणी देने का प्रयास किया गया है।

"मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग, किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे ।।"

प्रबन्ध-कुशलता के अतिरिक्त उसमे नवीन भावोन्मेष नवीन दृष्टि मार्मिक प्रसग तथा गहरी सवेदनाए हैं जो सब मिलाकर काव्य को प्रभावशाली बनाते हैं।

'उर्वशी' मे उर्वशी और पुरुरवा के प्राचीन आख्यान मे एक नया दार्शनिक अर्थ जोडा गया है। यह दर्शन है प्रेम और ईश्वर, जैन और आत्म धरातल को परस्पर मिलाना, उपेक्षित धरती की महत्ता स्थापित करना। पर इस काव्य की महानता उसके दर्शन मे इतनी नही जितनी उसके प्रेम और सौन्दर्य के विधान मे। वस्तुत यह काव्य है ही प्रेम और सौन्दर्य का काव्य। कवि ने प्रेम की छवियो को मनोवैज्ञानिक धरातल पर पहचाना है। इसमे न तो 'रश्मिरथी' की घटना बहुलता और वर्णनात्मक है, न 'कुरुक्षेत्र' की वैचारिकता। इसमे तो भाव-सकुलता के सहारे प्रबन्धात्मकता व्यजित है इसीलिए इसमे बिम्बो की बहुलता है। ये बिम्ब कही तो पारस्परिक हैं और कही बहुत ही नये और ताजे। 'उर्वशी' सवाद शैली मे लिखा गया है पर कही कही प्रेम के गहन क्षणो मे लम्बे-लम्बे उद्गार खटकते हैं।

पन्त जी के 'लोकायतन' मे स्वाधीनता-पूर्व तथा स्वातत्र्योत्तर भारतीय जीवन की गाथा कही गई है। यह दो खण्डो मे विभाजित है—बाह्य परिवेश और अन्तश्चैतन्य मे। प्रथम खण्ड मे कवि ने देश-काल की विषम अवस्था तथा जन-जीवन के ह्रास और अभाव की कथा सुन्दरपुर गाँव के माध्यम से कही है कि किस प्रकार स्वतन्त्र होने पर भी सस्कृति के वास्तविक प्रकाश के अभाव मे लोग धर्म और कर्म की सकुचित गलियो मे भटक गए। धर्म, अर्थ, काम सभी का रूप विकृत हो उठा। इन विषमताओ का समाधान कवि ने कला-केन्द्र के द्वारा कराया है, और उसी के

षष्ठ वर्ग

हिन्दी साहित्य के विभिन्न वाद

रहस्यवाद को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाओं में आबद्ध करने का प्रयास किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।' बाबू गुलाबराय के मतानुसार, प्रकृति मे मानवी भावों का आरोप कर जड़-चेतन के एकी-करण की प्रवृत्ति छायावाद की विशेषता है और उसके मूर्त रूप की अमूर्त से तुलना करने वाले अलंकार विधान मे जैसे 'बिजुरी चमकें ज्यों तर्कवाक लहरों के लिए इच्छाओं-सी असमान' तथा मानवीकरण प्रधान लाक्षणिक प्रयोगों में परिलक्षित होती है। जब यह प्रवृत्ति कुछ अधिक वास्तविकता धारण कर अनुभूति-मय किसी सम्बन्ध की ओर अग्रसर होती है तभी छायावाद रहस्यवाद में परिणत होता है। गंगाप्रसाद पाण्डेय का कथन है— मनुष्य जब अपनी मानवीय विवशता में अथवा प्राकृतिक व्यापारों की विवशता मे किसी एक अलक्षित शक्ति के प्रभाव तथा अस्तित्व की कल्पना करने लगा तभी से रहस्यवाद का बीजारोपण हुआ। रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं स्वर्गिक 'महा अस्तित्व' के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है। डा रामकुमार वर्मा जीवात्मा के अलौकिक शक्ति के साथ पूर्ण ऐक्यात्म्य को रहस्यवाद मानते हुए मिलते है— 'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में अन्तर नहीं रह जाता। महादेवी वर्मा रहस्यवाद के संवेद-तत्त्व की ओर संकेत करती हुई कहती है— "जब प्रकृति की अनेकरूपता में परिवर्तनशील विभिन्नता मे कवि ने एक ऐसा तार तम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतना मे और दूसरा उसके ससीम हृदय मे समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध मे मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण हर एक मधुरतम अस्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया। रहस्यवाद के विषय में कविवर जयशंकर प्रसाद का मन्तव्य है— काव्य म आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा का नाम रहस्यवाद है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा है—"किसी परोक्ष सत्ता की अनुभूति और उससे मिलन की भावना रहस्यवाद है। डा गोविन्द त्रिगुणायत रहस्यवाद की सृष्टि का मूल कारण बताते हुए मिलते हैं— 'जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति को वाणी के द्वारा शब्दमय रूपों मे सजाकर रखने लगता है तभी साहित्य मे रहस्यवाद की सृष्टि होती है। प परशुराम चतुर्वेदी की मान्यता है— रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानतः उसमे लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है जो विश्वात्मक सत्ता

: ६२ :

रहस्यवाद और हिन्दी-काव्य

१. रहस्यवाद की परिभाषाय तथा उनका निष्कर्ष
२. काव्यगत रहस्यवाद और दर्शनगत रहस्यवाद में अन्तर
३. रहस्यवाद के सोपान
४. रहस्यवाद के भेद
५ रहस्यवाद का विकास—(अ) प्राचीन भारतीय वाङ्मय में रहस्यवाद का विकास, (आ) हिन्दी-साहित्य के प्रमुख रहस्यवादी कवि—(क) कबीर, (ख) जायसी, (ग) जयशंकर प्रसाद, (घ) प० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, (ङ) सुमित्रानन्दन पंत, (च) महादेवी वर्मा
६ रहस्यवाद की प्रमुख प्रवृत्तिया
७ रहस्यवाद और छायावाद
८. उपसहार

रहस्यवाद की परिभाषाए तथा उनका निष्कर्ष

मानव अत्यन्त जिज्ञासु प्राणी है। वह अनादिकाल से ही बडी जिज्ञासा भरी दृष्टि से ससार के विपुल प्राकृतिक वैभव को देखता आया है और इस वैभव के कर्त्ता के विषय मे जानने की उसकी अतृप्त लालसा रही है। अपने चारो ओर के वन, गिरि, नदी, पादप, पशु-पक्षी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघ, वायु आदि सभी के मूल मे वह एक रहस्यमय सत्ता को देखता है। इस रहस्यमय सत्ता के साथ जब उसकी आत्मा तादात्म्य प्राप्त कर लेती है तब उसे एक विचित्र प्रकार की भाव-विह्वल अनुभूति होती है। इसी अनुभूति को जब वह शब्दो के माध्यम से अभिव्यक्त करता है तब यही अभिव्यक्ति 'रहस्यवाद' की सज्ञा से अभिहित की जाती है। रहस्यवादी की भाषा कुछ अटपटी सी होती है, क्योंकि मानव अपनी अनुभूति को यथावत् उपस्थापित करने मे अपने को असमर्थ पाता है। इस असमर्थता के कारण उसके हृदय मे एक प्रकार की व्याकुलता का अनुभव होता है और इस व्याकुलता की दशा में उसके शब्द कुछ विचित्र से हो जाते हैं। इसी कठिनाई का अनुभव कर कबीर ने कह दिया था—'कहिबे कूँ शोभा नही, देख्या ही परमाण।' वे इस रहस्य-गाथा को 'अकथ कहानी प्रेम की' कहकर इसे 'गूँगे का गुड़' मान मौन हो जाते हैं। वाणी के धनी महाकवि प्रसाद ने भी कह दिया— हे अनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता!

जगत् और बाह्य जगत् दोनों एक दूसरे से मिल जाते हैं। तीसरी कोटि में साधना चरम सीमा पर पहुँच जाती है। यहाँ आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है। यहाँ पहुँचकर आत्मा का पृथक अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह परमात्मा के साथ एकाकार हो जाती है। इस स्थिति में वह सहज ही परमात्मा के गुणों का अपने पर आरोप कर लेती है। ये तीनों सोपान अपरिवर्तनीय हों यह नहीं कहा जा सकता। परिस्थिति-भेद से इनमें थोड़ा-बहुत अन्तर किया जा सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि साधक प्रथम सोपान को पार किये बिना ही द्वितीय सोपान पर पहुँच जाय। उदाहरणार्थ कबीर की साधना का आरम्भ ही दृढ़ आस्तिकता से होता है उसमें इस जिज्ञासा भाव मिलता ही नहीं।

रहस्यवाद के भेद

विद्वानों ने रहस्यवाद के अपने अपने ढंग से भेद किये हैं। एक पाश्चात्य विद्वान् ने रहस्यवाद को चार वर्गों में बाँटा है—(१) प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवाद (२) दर्शन सम्बन्धी रहस्यवाद (३) धर्म और उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद तथा (४) प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके दो प्रकारों का उल्लेख किया है—(१) साधनात्मक रहस्यवाद और (२) भावात्मक रहस्यवाद। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने ये सभी भेद अप्राकृतिक और अनावश्यक माने हैं। उनका कथन है कि रहस्यवाद में अलौकिक प्रेम और अद्वैत दर्शन की सत्ता अनिवार्य रूप से रहती है अतः प्रेम सम्बन्धी रहस्यवाद और दर्शन सम्बन्धी रहस्यवाद—दोनों का एक दूसरे से भिन्न बताना उचित नहीं। कोरे धर्म दर्शन या कोरी उपासना या साधना से भी रहस्यवाद की सृष्टि नहीं हो सकती इन सबमें रागात्मकता का पुट होने पर ही रहस्यवाद का विकास हो सकता है, अतः धार्मिक दार्शनिक उपासनात्मक या साधनात्मक भेद भी भावात्मक रहस्यवाद से भिन्न नहीं हैं। इसी प्रकार रागात्मकता या प्रणय में ही भावात्मकता एवं साहित्यिकता का भी समावेश हो जाता है। डॉ० गुप्त ने विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये रहस्यवाद के विभिन्न भेदों को भेद न मान कर एक ही रहस्यवाद के विभिन्न अंग माना है, जो समन्वित रूप से साथ-साथ विद्यमान रहते हैं।

वस्तुतः प्रत्येक विचार धारा पर युग का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। रहस्यवाद का रूप भी जैसा कबीर के समय था बिल्कुल वैसा ही आज नहीं है; उसमें कुछ अन्तर आ गया है। इसीलिए हिन्दी के रहस्यवादी कवियों के दो भेद किये जा सकते हैं—(१) प्राचीन रहस्यवादी कवि तथा (२) आधुनिक रहस्यवादी कवि। अथवा इन दोनों प्रकार के कवियों को हम क्रमशः यथार्थ रहस्यवादी और काल्पनिक रहस्यवादी भी कह सकते हैं। प्रथम प्रकार के कवि अपने जीवन में पूर्ण रूप से साधक और उपासक रहे हैं उन्होंने अपनी साधना के बल पर परम तत्त्व की अनुभूति प्राप्त की है और उसे स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त किया है। इस के अन्दर कबीर दादू आदि का नाम आता है। दूसरे प्रकार के कवि प्रत्यक्ष जीवन में तो सांसारिकता में मग्न रहते हैं किन्तु विश्राम की कुछ घड़ियों में कल्पना या चिन्तन के बल पर रहस्यवाद की सृष्टि कर डाली है। प्रसाद निराला पंत महादेवी आदि की इसी दूसरी कोटि

की प्रत्यक्ष, गम्भीर एव तीव्र अनुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है।

डॉ० भगीरथ दीक्षित ने रहस्यवाद के तत्त्वो पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"रहस्यवाद मे भारतीय वेदान्त का ब्रह्म-चिन्तन, भक्तो की भगवान् विषयक भावना, दिव्य प्रणयानुभूति और लौकिक रूपको के माध्यम से पार्थिव अभिव्यक्ति की एक साथ रहस्यपूर्ण स्थिति अनिवार्य है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ मे शाब्दिक अन्तर होते हुए भी कोई मौलिक भेद नही है। इन सभी परिभाषाओ से परमात्मा के प्रति जीवात्मा के आत्म-निवेदन, मिलन के लिए प्रयत्न और मिलन की ही ध्वनि निकलती है।

काव्यगत रहस्यवाद और दर्शनगत रहस्यवाद में अन्तर

काव्यगत रहस्यवाद तथा दर्शनगत रहस्यवाद मे पर्याप्त अन्तर है। काव्य के रहस्यवाद मे जहा भावना का प्राधान्य है, वहा दर्शन के रहस्यवाद मे ज्ञान का। काव्य का रहस्यवाद जहाँ हृदय से उद्भूत है, दर्शन का रहस्यवाद वहाँ मस्तिष्क की उपज है एक आधुनिक आलोचक ने दोनो प्रकार के रहस्यवाद के बीच भेद स्थापित करते हुए लिखा है—"काव्यगत रहस्यवाद की आत्मा भाव है और उसका उद्गम-स्थान हृदय है। दूसरी ओर दर्शन के रहस्यवाद की आत्मा ज्ञान है और उसका मूल स्रोत मस्तिष्क है। ज्ञान-द्वारा आत्मा और परमात्मा की एकता की स्थापना दर्शन का विषय है किन्तु भावातिरेक द्वारा इस भावात्मक ऐक्य की अनुभूति काव्य मे वर्तमान रहती है। दर्शनगत रहस्यवाद मे ससार की नश्वरता से उत्पन्न उदासीनता, माया की छलना से भय और ज्ञान चिन्तन आदि तत्त्वो को प्रमुख स्थान दिया जाता है, किन्तु काव्यगत रहस्यवाद मुख्यतया मानव-प्रेम, आश्चर्य का भाव और परमात्मा के विरह मे आत्मा की व्याकुलता को आत्मसात् करता हुआ आगे बढता है।"

रहस्यवाद के सोपान

डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल ने रहस्यवाद के निम्नाङ्कित पाँच सोपान माने हैं—

१ प्रभु के प्रति जिज्ञासा, कुतूहल अथवा विस्मय की भावना,
२ प्रभु का महत्त्व और उसकी अनिर्वचनीयता,
३ प्रभु के दर्शन का प्रयत्न,
४ प्रभु के प्रति विभिन्न सम्बन्धो की उद्भावना,
५ प्रभु से एकाकारिता।

किन्तु अधिकाश विद्वान् रहस्यवाद की क्रम से तीन ही कोटिया स्वीकार करते हैं प्रथम अवस्था मे साधक के अन्दर असीम सत्ता के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वह प्रकृति के समस्त रूप-सौन्दर्य तथा जगत् के कार्य-कलापो मे अन्तर्हित किसी अलौकिक शक्ति को जानने का प्रयत्न करता है। रहस्यवाद की दूसरी स्थिति वहा आती है जहाँ साधक असीम सत्ता से प्रेम करने लगता है। उसकी भावनाए इतनी तीव्र हो जाती हैं कि वह एक प्रकार का पागलपन अनुभव करने लगती है। प्रेम की इस दशा मे आत्मा अपने भौतिक अस्तित्व से ऊपर उठ जाती है। इस प्रेम-भावना के कारण लौकिक तथा अलौकिक जीवन मे सहज ही सामजस्य प्रस्तुत हो जाता है। यहाँ अन्त-

रहस्यवाद का विकास

भारत अत्यन्त प्राचीन काल से ही दर्शन-प्रधान देश रहा है अतः इस देश में रहस्यवाद की परम्परा बहुत अधिक पुरानी है।

(अ) प्राचीन भारतीय वाङ्मय में रहस्यवाद का विकास—सर्वप्रथम रहस्यवादी भावना हमें भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में मिलती है। वहाँ कहा गया है—

उतत्वया तन्वा संवदे तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि।

—ऋ० ७।८६।२

अर्थात् 'मैं कब अपने इस शरीर से उसकी स्तुति करूँगा और कब मैं उस वरुण करने योग्य के हृदय से एकता स्थापित कर सकूँगा।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में रहस्यवादी भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

उपनिषदों में तो रहस्यवाद का बहुत ही अधिक प्रतिपादन हुआ है। 'केनोपनिषद्' में जिज्ञासात्मक ढंग से और श्वेताश्वेतरोपनिषद् के रूपक द्वारा रहस्यवाद का स्वरूप अच्छी प्रकार से स्पष्ट किया गया है। शिष्य का गुरु से प्रश्न है—

ओ३म् केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैतियुक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥

अर्थात्, 'जड़-रूप अन्तःकरण प्राण वाणी आदि कर्मेन्द्रियों और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपना-अपना कार्य करने की योग्यता प्रदान करने वाला और उन्हें अपने अपने कार्य में प्रवृत्त करने वाला जो कोई एक सर्वशक्तिमान चेतन है वह कौन है और कैसा है?

औपनिषदिक रहस्यवाद के विषय में एक बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है और वह यह कि यहाँ उसकी वह काव्यात्मक अनुभूति नहीं मिलती जिसे रहस्यवाद कह सकते हैं।

भक्ति-सूत्रों तथा पुराणों में अलौकिक सत्ता के प्रति प्रेम भावना तो मिलती है, किन्तु उसमें अद्वैतवाद जो रहस्यवाद का मूलाधार है नहीं पाया जाता। वहाँ तो भक्त सम्य-सेवक भाव से भगवान् का भजन-कीर्तन करता है अतः उसमें अद्वैत की भावना का प्रश्न ही नहीं उठता। आठवीं-नवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने रहस्यवाद का पुनरुद्धार किया किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इस अद्वैतवाद के विशिष्टाद्वैत द्वैताद्वैत शुद्धाद्वैत आदि भेद करके उसका मार्ग ही रोक दिया।

(आ) हिन्दी-साहित्य के प्रमुख रहस्यवादी कवि—हिन्दी-साहित्य में हम रहस्यवाद कबीर, दादू आदि के समय से मिलता है। एक विद्वान् ने सन्तों के रहस्यवाद के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए लिखा है—"चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती में भारतीय सन्तों द्वारा रहस्यवाद का प्रवर्तन मुख्यतः दो धार्मिक सम्प्रदायों के बीच से हुआ—एक था नाथ-पंथी सम्प्रदाय और दूसरा वैष्णव-भक्ति सम्प्रदाय। सन्त लोग एक ओर तो नाथपंथियों के निर्गुण की उपासना स्वीकार करते थे किन्तु वे हठयोग

के रहस्यवादी कवियो मे गणना की जाती है। प्रो० भारतभूषण सरोज ने इन दोनो ही वर्गों के रहस्यवादी कवियो मे अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"इनके (प्रसाद, निराला, पत, तथा महादेवी के) और भक्ति कालीन साधको और सन्तो के रहस्यवाद मे प्रमुखत एक अन्तर हमे दिखाई पडता है और वह यह कि आधुनिक युग के ये कवि कवि पहले हैं और साधक भक्त या दार्शनिक वाद मे और सन्त कवि पहले सन्त हैं और बाद में कवि। उनका रहस्यवाद उनके व्यक्तित्व का एक ही नही, अपितु समग्र भाग कहा जा सकता है और आधुनिक कवियो का रहस्यवाद उनके कवि-रूप का अग है तथा उनके कवित्व का एक अश है। इसी बात को और भी स्पष्ट करने के लिए हम यो कह सकते हैं कि सन्त कवियो का काव्य उनके कवित्व और काव्य का अग है।" एक अन्य आलोचक का मत है "प्राचीन रहस्यवाद और अर्वाचीन रहस्यवाद मे पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। आधुनिक रहस्यवाद पश्चिमी धारा से प्रभावित है। प्राचीन रहस्यवाद मे बौद्धिक चेतना की प्रधानता है, किन्तु आधुनिक रहस्यवाद मे प्रेम-सम्बन्ध तथा प्रणय निवेदन को प्रमुख स्थान दिया गया है। प्राचीन रहस्यवाद मे धार्मिक अनुभूति एव साधना का प्राधान्य है, किन्तु आज का रहस्यवाद धार्मिक साधना का फल न होकर मुख्यतया कल्पना पर आधारित है।' हिन्दी मे आधुनिक रहस्यवाद पश्चिम की देन है, इस बात को प्रसाद जी ने स्पष्ट ही अस्वीकार किया है। वे इसे भारतीय परम्परा का विकसित रूप मानते हैं—"वर्तमान हिन्दी मे इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यजना होने लगी है। वह साहित्य मे रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पत्ति है, इसमे सन्देह नही।" एक स्थल पर उन्होने लिखा है—"आज साहित्य मे विश्व-सुन्दरी प्रकृति मे चेतना का आरोप सस्कृत वाङ्मय मे प्रचुरता से प्राप्त होता है। यह प्रकृति वा शक्ति का रहस्यवाद सौन्दर्य लहरी के 'शरीरन्व शम्भो' का अनुकरणमात्र है। वर्तमान हिन्दी का रहस्यवाद स्वाभाविक रूप से विकसित होकर आया है।" महादेवी ने भी रहस्यवाद के तत्त्वो का उल्लेख करते हुए उसे परम्परागत ही माना है। वे लिखती हैं—"आज गीत मे हम जिसे नये रहस्यवाद के रूप मे ग्रहण कर रहे हैं, वह इन सबकी विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया ग्रहण की, लेकिन प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के साकेतिक दाम्पत्य-भाव सूत्र मे बाँधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को आलम्बन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।"

वस्तुत यदि निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो इतना तो मानना ही पडेगा कि भले ही छायावाद-युग के कवियो का रहस्यवाद परम्परा-विकसित ही हो, किन्तु उसकी ओर प्रेरित करने का श्रेय वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज प्रभृति पाश्चात्य रोमानी कवियो को ही है। जब छायावाद के कवियो ने इन पाश्चात्य कवियो की कृतियो मे रहस्यवाद (mysticism) की अभिव्यक्ति देखी तो ये भी उसकी ओर प्रवृत्त हुए और अपनी रचनाओं मे उसे स्वीकार किया।

"बहुत दिनन थी मैं प्रीतम पाये। भाग बड़े घर बैठे आये।।
मंगलचार माँही मन राखौं। राम रसाइन रसना चाखौं।।"

वाग्युद्ध में काशी के पण्डितों के छक्के छुड़ाने वाला कबीर प्रियतम से मिलन की बेला में खण्डन-मण्डन सब कुछ भूल गया है। उस समय तो उसे अपने प्रियतम के अतिरिक्त और कुछ दिखायी ही नहीं पड़ता। अपने पति में परानुरक्त नवेली की भांति उस अपने प्रियतम से ही बातचीत करने से फुर्सत नहीं। रहस्यवाद के क्षेत्र में कबीर निस्सन्देह अप्रतिम हैं।

(ख) जायसी—जायसी के काव्य में भी प्रेम प्रधान रहस्यवाद का सुन्दर रूप देखने को मिलता है। जायसी के रहस्यवाद का आधार सूफी-साधना-पद्धति है। उसका मूल तत्त्व प्रेम की पीर है। जायसी ने 'इश्क मजाज़ी' (लौकिक प्रेम) को 'इश्क हकीकी' (आध्यात्मिक प्रेम) का प्रथम सोपान माना है। यही कारण है कि उन्होंने अपने रहस्यवाद को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए रतनसेन और पद्मावती के कथानक को अपनाया है, और इस प्रकार लौकिक प्रेम कथा के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की मनोरम व्यंजना की है। जायसी ने अपने रहस्यवाद को लौकिक आवरण से आवेष्टित किया है इसीलिए उनका रहस्यवाद अधिक सरस एवं हृदयग्राही बन पड़ा है। उन्होंने आत्मा को पुरुष-रूप में और ब्रह्म को स्त्री-रूप में चित्रित कर आत्मा को परमात्मा से मिलने के लिए व्याकुल दिखाया है। पद्मावती के रूप में जायसी का ब्रह्म अलौकिक सौन्दर्य से मण्डित है। विश्व के सौन्दर्य का आदि-स्रोत उसी ब्रह्म का सौन्दर्य है। विश्व के कण-कण में उसी ब्रह्म की दिव्य ज्योति प्रतिबिम्बित है—

'रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।।
जहँ-जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी। तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी।।

(ग) जयशंकर प्रसाद—प्रसाद एक अत्यन्त उच्चकोटि के कवि हैं। उन्होंने रहस्यवाद को कल्पना के इन्द्रधनुषी रंगों से रंगा है। वस्तुतः उनके रहस्यवाद में अनुभूति की कमी और कल्पना का ही प्राधान्य है। यही कारण है कि उनका रहस्यवाद पाठक के हृदय को इतना अधिक आन्दोलित नहीं करता जितना कबीर का। वस्तुस्थिति तो यह है कि छायावाद के प्रायः सभी कवियों में आध्यात्मिक साधना का अभाव है इसीलिए उन सभी को प्रायः कल्पना का अधिक आश्रय लेना पड़ा है।

प्रसाद की निम्नांकित पंक्तियों में उस अव्यक्त परम सत्ता के प्रति जिज्ञासा भाव देखा जा सकता है—

"महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते हैं सन्धान?
छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए।

की साधना-पद्धति से बचना चाहते थे, दूसरी ओर वे भक्ति आन्दोलन की भावनात्मकता को ग्रहण करना चाहते थे पर उसके सगुणवाद से दूर रहे। इस प्रकार नाथ पंथियो का निर्गुण वैष्णव-भक्ति के भक्तिभाव से मिश्रित होकर रहस्यवाद का आधार बन गया। नामदेव, कबीर दादू आदि सन्तो में हमे यही रूप दृष्टिगोचर होता है।"

हिन्दी के मुख्य रहस्यवादी कवियो मे प्राय कबीर, जायसी, प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी का नाम लिया जाता है, अत यहा पर इन्ही के रहस्यवाद पर विचार किया जायेगा।

(क) कबीर—समग्र हिन्दी काव्य मे कबीर को प्रथम रहस्यवादी कवि स्वीकार किया जाता है। पीछे बताया जा चुका है कि कबीर मे रहस्यवाद के प्रथम सोपान का सर्वथा अभाव है। उनकी साधना एकदम रहस्यवाद के द्वितीय सोपान से प्रारम्भ होती है। कबीर के रहस्यवाद मे प्रेम का प्राधान्य है। वे अपने प्राण देकर भी प्रेम को प्राप्त करना चाहते है—

'सोस काटि पासग दिया जीव सर भरि लीन्ह।
जाहि भावै सो आइल्यो, प्रेम हाट हम कीन्ह।"

कबीर का यह प्रेम शुद्ध अद्वैतमूलक प्रेम था। उनके इस प्रेम मे विरह की दोनो स्थितिया—विरह और मिलन—मिलती हैं। विरह की स्थिति मे वे कहते हैं—

"चोट सताणी विरह की, सब तन जर-जर होय।
मारणहारा जाणि है, कै जिहि लागी होय॥"

और भी

'आंखडियां झांई पडी, पथ निहारि निहारि।
जीभडियां छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि॥
आइ न सकौं तुज्झ पै, सकूं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे विरह तपाइ तपाइ॥"

प्रस्तुत पक्तियो मे विरह की तीव्रतम अभिव्यञ्जना हुई है। "कबीर जैसा अक्खड साधु भी प्रणय की तीखी चोट से घायल होकर किसी विरह-विधुरा बाला की भाति दीन असहाय और व्याकुल हो उठता है। उनकी आत्मा जल-वियुक्त मछली की भाति तडफने लगती है।" जब मिलन की घडिया आती हैं तो कबीर की आत्मा एक नवोढा की भाति बडी ही सकुचाती हुई अपने प्रियतम के समक्ष जाना चाहती है—

"मन प्रतीति न प्रेम रस, ना इस तन मे ढग।
क्या जाणौं उस पीव सूं कैसा रहसी रग।"

और जब वह अपने प्रियतम से मिल जाती है तो मयूर की भाति आह्लाद-विह्वल हो नृत्य करने लग जाती है—

"दुलहिनि गावहु मगलचार।
हम घरि आए हो राजा राम भरतार॥"

× × ×

सत्ता के प्रति यही नैकट्य जाना जाता है। जैसा कि अभी उल्लेख किया जा चुका है निराला ने दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया था पुत्री सरोज की मृत्यु आदि घटनाओं ने उनके हृदय में एक तीव्र वेदना का संचार कर दिया था जीवन उनका अस्त-व्यस्त था ही। ऐसी परिस्थितियों में उनके रहस्यवादी स्वरों में तीव्रता का आ जाना स्वाभाविक ही था। प्रिय से मिलन के लिए जब वे जाने को कहते हैं तो उनकी अनुभूति की तीव्रता देखते ही बनती है—

> 'हमें जाना है जग के उस पार जहाँ नयनों से नयन मिलें
> ज्योति के रूपक सहस्र खिलें सदा ही बहती नव रसधार।
> वहीं जाना इस जग के पार।।

(ग) सुमित्रानन्दन पन्त —पन्त के रहस्यवाद मे प्रकृति की प्रधानता है। प्रकृति का व्यापार-जगत् उन्हे आमंत्रित करता सा प्रतीत है—

> स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार चकित रहता शिशु सा नादान
> विश्व के पलकों पर सुकुमार विचरते हैं जब स्वप्न अजान।
> न जाने नक्षत्रों से कौन? निमन्त्रण देता मुझको मौन।।

वीणा' पल्लव' और गुञ्जन' नामक कविता संकलनों मे कवि पंत की रहस्य भावना को वाणी मिली है।

(घ) महादेवी वर्मा —ऊपर जिन तीन छायावादी कवियों के रहस्यवाद की चर्चा कर आये हैं, वे रहस्यवाद के पथ पर अग्रिम होकर नहीं चल सके। इस युग के कवियों मे केवल महादेवी ही ऐसी है जो रहस्यवाद की साधना मे सतत लीन हैं। वे आदि से अन्त तक रहस्यवादी हैं और इस क्षेत्र मे उन्हे बहुत अधिक सफलता मिली है। रहस्यवाद के क्षेत्र मे महादेवी की सफलता के कारणो की खोज करते हुए डा गणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा है महादेवी मे नारी-हृदय की सहज करुणा उपनिषदों का अद्वैत ज्ञान एकाकी जीवनकी अनुभूति और सांसारिक वेदनाओं का अनुभव आदि सभी कुछ हैं अतः वे रहस्य-गीतियो की सृष्टि मे सफल हो सकी हैं। महादेवी के रहस्यवाद मे प्रेम-सम्बन्धी वेदना का प्रमुख स्थान है। उन्होने निखिल सृष्टि प्रसार मे अपने चिर सुन्दर प्रियतम का ही दर्शन किया है। रहस्यवाद की प्रथम स्थिति अर्थात् जिज्ञासा की भावना महादेवी की इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

> 'शून्य नभ में उमड़ जब दुख भार सी
> नैश तम में सघन छा जाती घटा
> बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी
> जब सुनहले आँसुओं के हार सी
> तब चमक जो लोचनों को मूँदता।
> तड़ित की मुस्कान में वह कौन है?

महादेवी की अपने प्रियतम से मिलने को अत्यधिक आतुर हैं। इस अलौकिक प्रियतम से प्रेम की स्थिति मे उन्हें विरह वेदना की ही अधिक अनुभूति हुई है और इस अनुभूति की उनके काव्य मे पदे-पदे अभिव्यक्ति हुई है। एक स्थल पर वे कहती है—

तृण वीरुध लहलहे हो रहे,
किसके रस से सिंचे हुए ?
सिर नीचा कर किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ ?
सदा मौन हो प्रवचन करते,
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?"

प्रेम की विरह-जन्य स्थिति को प्रसाद ने 'लहर' मे भली प्रकार वाणी प्रदान की है। वियोग की स्थिति मे वे कहते हैं—

"क्यों जीवन-धन ! ऐसा ही है, न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र ?
लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र !
औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुख नहीं !
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं !"

बडे खिन्न हृदय से कहना पडता है कि इन पक्तियो मे आध्यात्मिक प्रेम की अपेक्षा लौकिक प्रेम का ही आभास अधिक मिलता है। रहस्यवाद के लिए अद्वैत की जो स्थिति काम्य है, वह इनमे दृष्टिगत नही होती।

रहस्यवाद के अतिम सोपान अर्थात् आत्मा से परमात्मा का मिलन, इन पक्तियो मे देखा जा सकता है—

"हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल एक हमीं हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमे कुछ नहीं कमी है।"

एक आलोचक के शब्दो मे, "प्रसाद के काव्य मे आत्मा और परमात्मा की एकता पर आधारित रहस्यवाद कम है, लौकिक और अलौकिक प्रेम के मिश्रण की अस्पष्टता उद्भूत रहस्यवाद अधिक है।"

(घ) प० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला—निराला जी के रहस्यवाद मे अद्वैत दर्शन के गम्भीर अध्ययन की स्पष्ट छाप है उन्होंने इस क्षेत्र म अवतरित होने से पूर्व अद्वैत दर्शन का भली प्रकार मन्थन किया था, नीचे की पक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि निराला का अद्वैत दर्शन का अध्ययन अत्यत प्रौढ था—

"व्यष्टि और समष्टि मे नहीं है भेद
भेद आ जाता भ्रम,
माया जिसे कहते हैं।
जिस प्रकाश के बल से
सौर ब्रह्माण्ड को उद्भासमान देखते हो,
उसमे नहीं वंचित है एक भी मनुष्य भाई !"

ऐसा लगता है जैसे इन पक्तियो मे अद्वैत की केवल प्रतिष्ठा की गयी हो, क्योंकि इनमे निराला का कवि-हृदय योग दे सका हैं, इसमे संदेह है। उनके काव्य में ऐसे बहुत से स्थल मिल जायेंगे जहाँ वे अलौकिक सत्ता के साथ अपना निकट सम्बन्ध स्थापित करते हैं "तुम तुग हिमालय शृग, मैं चचल-गति सुरसरिता" में उनका परम

है। अपने अनन्त प्रियतम की अलौकिक शक्ति तथा अद्भुत सौन्दर्य पर चकित एवं मुग्ध होकर रहस्यवादी कवि की आत्मा उससे मिलने की उद्दाम आकांक्षा को लेकर उसकी ओर बढ़ती है। हरिकृष्ण प्रेमी की निम्नांकित पंक्तियाँ रहस्यवादी कवि के इसी आकर्षण को ध्वनित करती हैं—

'सुनती हूँ पार क्षितिज के प्रियतम का सुन्दर घर है।
जिसके चरणों को छूने झुक गया वहाँ अम्बर है॥

(५) रहस्यवाद में आत्मसमर्पण की भावना को प्रमुख स्थान मिला है। रहस्यवादी यह मानता है कि जब तक अहं का पूर्णरूपेण विलयन कर आत्मा अपने को प्रियतम के लिए अर्पित नहीं कर देती तब तक उसका प्रियतम के साथ मिलन सम्भव नहीं। आत्म-समर्पण की भावना के कारण ही रहस्यवादी अपने को अत्यन्त हीन-दीन भी समझता है। कबीर के शब्द हैं—

कबीर कुतिया राम का मुतियाँ मेरा नाँउ।
गलै राम की जेवड़ी जित खेंचे तित जाउ॥

प्रसाद भी बड़े ही दैन्यपूर्ण शब्दों में प्रियतम से याचना करते हैं—

करुणा-निधे यह करुण क्रन्दन भी जरा सुन लीजिए।
कुछ भी दया हो चित्त में तो नाथ रक्षा कीजिये॥
× × × ×
हम हैं तुम्हारे इसलिए फिर भी दया के पात्र हैं॥

निराला जैसा पौरुष सम्पन्न व्यक्ति भी प्रियतम के द्वार पर पहुँच कर अत्यन्त कोमल नवोढ़ा का रूप धारण कर लेता है—

'बन्द तुम्हारा द्वार
मेरे सुहाग शृंगार
द्वार यह खोलो
सुनो भी मेरी करुण-पुकार
जरा कुछ बोलो॥

महादेवी का समर्पण भाव इन पंक्तियों में अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है—

'तू जल-जल होता जितना क्षय
वह समीप आता छलनामय।
मधुर मिलन में मिट जाना तू,
उसकी उज्ज्वल स्मिति में घुलमिल।

जब रहस्यवादी अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए सीधी सादी भाषा को असमर्थ पाता है तब वह रूपकों और प्रतीकों की योजना करता है यही कारण है कि रहस्यवादी काव्य में रूपकों और प्रतीकों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। कबीर काल को माली का और मानव शरीर को कलियों का रूप देते हुए कहते हैं—

"माली आवत देखि कै कलियाँ करीं पुकार।
फूले-फूले चुनि लिए काल्हि हमारी बार॥

"नित जलता रहने दो तिल-तिल,
अपनी ज्वाला मे उर मेरा।
उसकी विभूति मे फिर आकर,
अपने पदचिह्न बना जाना।"

जब उन्हे यह अनुभव होता है कि अब प्रियतम समीप आने वाले हैं तो व तारागण-रूपी दीपो से बुझ जाने के लिए अनुनय करती हैं, क्योंकि वे जानती हैं कि उनके प्रियतम को अधकार मे ही मिलना अच्छा लगता है—

"हे नभ की दीपावलियो! तुम पल भर को बुझ जाना!
मेरे प्रियतम को भाता तम के परदे मे आना!"

महादेवी की रहस्यवादी भावना का एक प्रमुख वैशिष्ट्य है, और वह यह कि उन्हें मिलन की अपेक्षा विरह ही अधिक प्रिय है। वे प्रियतम के वियोग में उसके मिलन के लिए सतत साधना करती रहे, यही उनकी चिर अभिलाषा है, इसलिए वे विरह को भी मिलन से कम महत्त्व नही देती।

"विरह का दुःख आज दीखा मिलन के मधु पल सरीखा!
दुःख सुख मे कौन तीखा, मैं न जानी औं न सीखा!!

वास्तव मे महादेवी अपने प्रियतम की चिर आराधिका हैं। उनसे हिन्दी-काव्य मे रहस्यवाद की जो श्रीवृद्धि हुई है, उसके लिए वह उनका चिरऋणी रहेगा।

रहस्यवाद की प्रमुख प्रवृत्तिया

हिन्दी-काव्य के रहस्यवाद मे हमे सात प्रमुख प्रवृतियाँ लक्षित होती हैं—(१) प्रेमतत्त्व की व्यजना, (२) आध्यात्मिक तत्त्वो का प्राधान्य, (२) रहस्यवाद की जागरूकता, (४) परोक्ष सत्ता के प्रति आकर्षण, (५) आत्म समर्पण की भावना, (६) रूपको तथा प्रतीको की योजना, और (७) मुक्तक गीति शैली।

(१) रहस्यवाद मे प्रेम तत्त्व का प्राधान्य है। रहस्यवादी की आत्मा अनन्त शक्ति के प्रति प्रेम मे अनुरक्त होकर सदैव उससे मिलने को व्याकुल रहती है। रहस्यवादी कवि आत्मा को पत्नी एव परम सत्ता को प्रियतम का रूप देकर आत्मा के प्रणय निवेदन की मनोरम व्यजना करता आया है। प्रियतम परमात्मा के विरह मे आत्मा की छटपटाहट और उसका साक्षात्कार होने पर आत्मा के उल्लास एव उन्माद को रहस्यवाद मे प्रमुख स्थान दिया जाता है।

(२) आध्यात्मिक तत्त्वो की प्रधानता रहस्यवाद की एक अन्य प्रमुख प्रवृत्ति है। "आत्मा की नित्यता, आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता जगत् की नश्वरता और माया की छलना मे सम्बद्ध दार्शनिक तत्त्वों के आधार पर ही रहस्यवाद का प्रासाद निर्मित होता है।'

(३) रहस्यवादी अनन्त सत्ता के प्रति सतत जागरूक रहता है। अपने प्रिय से मिलने की उत्कट अभिलाषा उसे सदैव जाग्रत रखती है।

(४) रहस्यवादी कवि की केवल भावना ही परोक्ष सत्ता के प्रति उन्मुख हो, ऐसी बात नही है, उसका तो सम्पूर्ण हृदय एव सारी वृत्तियाँ ही उस ओर आकृष्ट हो जाती

। उसका दीपक जलाये आगे बढ़ रही है। वस्तुतः छायावाद के मोम से रहस्यवाद ने
ृथ्वी को जो कुछ दिया है वह चिरस्थायी साहित्य के रूप मे अमर रहेगा । कबीर
ौर जायसी को तो कोई युग विस्मृत ही नही कर सकता। वैसे तो आज के इस
ंघर्षशील युग मे मानव का जितना अधिक कल्याण रहस्यवाद कर सकता है उतना
धिक कल्याण की मात्रा अन्य किसी प्रकार सम्भव नही। किन्तु फिर भी आज वह
ाव्य-वाङ्मय से उठ सा गया है। रहस्यवाद की कल्याणकारिणी क्षमता का अनुमान
र एक आलोचक ने लिखा है— विश्व हित विश्व बन्धुत्व एव विश्व प्रेम का
ादर्श जितनी सरलता के साथ एक रहस्यवादी व्यक्त कर सकता है उतना सभवत
ोई और नही। एक अन्य आलोचक का कथन है—'रहस्यवाद की प्राचीन धारा
। जिस प्रकार भक्तिकाल मे नैराश्यपूर्ण जीवन में आशा का संचार किया उसी प्रकार
आज का रहस्यवाद भौतिक सघर्ष से पीड़ित मानव-हृदय को शान्ति पहुँचाने मे समर्थ
ुआ है।

रहस्यवादी कवि अपने भावो के प्रकाशन के लिए प्राय मुक्तक गीति शैली का ही आश्रय लेता है। कबीर, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी आदि सभी ने इसी शैली को अपनाया है, केवल जायसी ही इसके अपवाद हैं।

रहस्यवाद और छायावाद

जितने भी छायावादी कवि हैं, वे लगभग सभी रहस्यवादी भी हैं। ऐसी स्थिति मे रहस्यवाद तथा छायावाद के बीच अन्तर करना आवश्यक हो जाता है। वास्तव मे रहस्यवाद और छायावाद के बहुत से तत्त्व समान हैं। ऐसी स्थिति मे इन दोनो के बीच एक निश्चित व्यावर्त्तक रेखा खीचना दुष्कर कार्य ही है, फिर भी इनके स्थूल भेदो को स्पष्ट किया ही जा सकता है।

रहस्यवाद मे अद्वैत-दर्शन का प्राधान्य है, उसका सम्बन्ध आत्मा, परमात्मा तथा जगत् से है, किन्तु छायावाद परमात्मा को छोड देता है, उसका सम्बन्ध केवल आत्मा और जगत् से है। रहस्यवाद मे आत्मा के साथ परमात्मा के सम्बन्ध को अभिव्यक्ति दी जाती है, जबकि छायावाद आत्मा तथा आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। छायावादी प्रकृति के सभी उपादानो मे एक प्राण-चेतना के दर्शन करता है और उसके साथ आत्मीयता स्थापित करता है, जबकि रहस्यवादी को प्रकृति के निखिल वैभव मे परम सत्ता के दर्शन होते हैं। रहस्यवाद इस दृश्यमान जगत् की उपेक्षा करता है, जबकि छायावाद में सारी प्रकृति और सम्पूर्ण विश्व को ही उस अखण्ड चेतन सत्ता का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया जाता है। रहस्यवाद मे जीव की स्थिति अत्यन्त दीन है, जबकि छायावाद मे जीव की भी महत्ता स्वीकार की गई है। महादेवी के अनुसार छायावादी कवि प्रकृति मे व्याप्त-अखड असीम चेतन के साथ अपने ससीम हृदय का तादात्म्य अनुभव करता है और रहस्यवादी कवि उस अखण्ड असीम सत्ता के प्रति आत्म निवेदन। छायावाद मे अव्यक्त सत्ता के प्रति केवल जिज्ञासा होती है, रहस्यवाद मे उस सत्ता के प्रति प्रेम की व्यजना। रहस्यवाद तथा छायावाद का अन्तर स्पष्ट करते हुए गगा प्रसाद पाण्डेय ने लिखा है, "वास्तव मे दोनो (रहस्यवाद तथा छायावाद) एक-दूसरे के इतने निकट और एक-दूसरे के इतने समान हैं कि बिना दोनो के बीच एक विभाजक रेखा बनाये उनका स्वतन्त्र अस्तित्व स्पष्ट नही हो सकता

रहस्यवाद के विषय—आत्मा, परमात्मा और जगत् हैं। छायावाद परमात्मा को छोड देता है, वह केवल आत्मा और जगत् के प्रदेश मे ही विचरण करता है।

छायावाद मे जिस प्रकार एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है, अथवा आत्मा के साथ आत्मा का सन्निवेश है, तो रहस्यवाद मे आत्मा के साथ परमात्मा का। एक पुष्प को देखकर जब हम अपने ही जीवन सा सप्राण पाते हैं तो यह हमारी छायावाद की आत्माभिव्यक्ति हुई, किन्तु जब उसी पुष्प को हम किसी परम चेतना का आभास या विकास पाते हैं तो हमारी यह अभिव्यक्ति रहस्यमयी भावना रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत होगी।"

उपसहार

आज हिन्दी काव्य मे छायावाद समाप्त प्राय हो चला है, केवल महादेवी वर्मा

गौरव देते हुए प्रसाद जी ने लिखा— 'मोती के भीतर छाया जैसी तरलता होती है वैसी ही कांति की तरलता होती है वैसी ही कांति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति व अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता लाक्षणिकता सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं अपने भीतर से पानी की तरह भीतर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कांतिमय होती है। महादेवी वर्मा ने भी इस नाम को अत्यन्त उपयुक्त पाया। उनका कथन है— 'सृष्टि के बाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभि व्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त लगता है।

छायावाद की विभिन्न परिभाषाएँ और उनका निष्कर्ष

छायावाद को स्पष्ट करने के लिए आज तक विभिन्न आलोचकों द्वारा विभिन्न परिभाषाएँ दी जाती रही हैं किन्तु कोई भी परिभाषा छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकी है। हाँ! इन परिभाषाओं से छायावाद की कुछ प्रमुख विशेषताएं अवश्य प्रकाश में आ जाती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद को स्पष्ट करते हुए लिखा— छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है। महादेवी वर्मा ने छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद में माना है। बाबू गुलाबराय ने छायावाद और रहस्यवाद में कोई विशेष भेद न मानते हुए लिखा है— छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही मानव और प्रकृति का एक आध्यात्मिक आधार बताकर एकात्मवाद की पुष्टि करते हैं। डॉ रामकुमार वर्मा ने भी छायावाद और रहस्यवाद में कोई भेद नहीं माना है। छायावाद के विषय में उनके शब्द हैं— आत्मा और परमात्मा का गुप्त वाग्विलास रहस्यवाद है और वही छायावाद है। एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है— छायावाद या रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक सत्ता से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता है। इसी बात को वे प्रकारान्तर से लिखते हुए कहते हैं— 'परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है। छायावाद के सम्बन्ध में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मन्तव्य है— 'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। छायावाद की व्यक्तिगत विशेषता दो रूपों में दीख पड़ती है—एक सूक्ष्म और काल्पनिक अनुभूति के प्रकाश में और दूसरी लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोग में। और इस आधार पर तो यह कहा ही जा सकता है कि छायावाद आधुनिक हिन्दी-कविता की वह शैली है जिसमें सूक्ष्म और

: ६३ :

छायावाद और हिन्दी काव्य

१ छायावाद का नामकरण—एक रहस्य

२ छायावाद की विभिन्न परिभाषाएँ और उनका निष्कर्ष

३ युगीन परिस्थितिया एव छायावाद

४. छायावाद का प्रवर्त्तक कवि

५. हिन्दी के प्रमुख छायावादी कवि

६ छायावाद की मूलभूत प्रवृत्तिया

७ उपसहार

छायावाद का नामकरण—एक रहस्य

जिस समय द्विवेदी-युग समाप्त हो रहा था, उस समय हिन्दी मे एक नूतन काव्य-धारा जन्म ले रही थी। इस काव्य-धारा को 'छायावाद' की सज्ञा से अभिहित किया गया है। किन्तु काव्य-धारा-विशेष को यह नाम किस आधार पर दिया गया और किसने दिया, यह अभी तक रहस्य ही बना हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विश्वास था कि बगाल मे कुछ कवि ऐसे हुए जिन्होने बगाल मे कुछ आध्यात्मिक प्रतीकवादी रचनाएँ की। इन रचनाओ को वहाँ छायावाद नाम से पुकारा गया। किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बडे ही स्पष्ट रूप मे शुक्ल जी के इस विश्वास को निराधार बताया है। उनका कथन है कि बगला-साहित्य मे यह नाम कभी प्रचलित ही नही हुआ। 'छायावाद' यह नाम हमे सबसे पहले 'श्री शारदा' (१९२०) तथा 'सरस्वती' (१९२१) नामक पत्रिकाओ मे देखने को मिलता है। इन पत्रिकाओ में मुकुटधर पाण्डेय और सुशीलकुमार के दो लेख 'हिन्दी मे छायावाद' नाम से प्रकाशित हुए थे। ऐसी स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि इस नाम का प्रयोग सन् १९२० से या उससे पूर्व से होने लग गया था। सभावना यह भी है कि इस नाम का सर्वप्रथम प्रयोग मुकुटधर पाण्डेय ने ही किया हो। प्रस्तुत प्रसग मे यह स्मरणीय है कि पाण्डेय जी ने इसका प्रयोग व्यग्यात्मक रूप मे किया था। वे 'छायावाद' कहकर इस युग मे रचे गये काव्य की अस्पष्टता (छाया) की ओर इगित करना चाहते थे। कुछ भी सही, भले ही मुकुटधर पाण्डेय ने इसका प्रयोग व्यग्यात्मक रूप मे किया हो, किन्तु आगे चलकर इस नाम को सभी साहित्यकारो ने स्वीकार कर लिया, यहाँ तक कि स्वय छायावादी कवियों ने भी इसे बड़े ही आग्रह के साथ अपना लिया। इस नाम को

नहीं पड़ा था—स्वातन्त्र्य-आन्दोलन तथा अंग्रेजों की दमन एवं शोषण की नीति से छायावादी कवि सर्वथा असम्पृक्त न … किन्तु बात ऐसी नहीं है। छायावाद अपने युग की राजनीतिक गति विधियों से प्रभावित हुआ है इस बात को अस्वीकारा नहीं जा सकता। डॉ नगेन्द्र ने स्पष्ट लिखा है—"राजनीति में ब्रिटेन साम्राज्य की प्रबल सत्ता और समाज में सुधार की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह (बन्धन-मुक्ति) की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी निदान वे भावनाएं अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन मन में जाकर बैठ रही थी और वहाँ से क्षतिपूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थी … आशा के इन्हीं स्वप्नों और निराशा के छाया चित्रों की समष्टि का ही नाम छायावाद है।

अपने युग की धार्मिक और दार्शनिक परिस्थितियों ने भी छायावाद को कम प्रभावित नहीं किया। छायावाद पर रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द गाँधी टैगोर तथा अरविन्द जैसे महापुरुषों की छाप है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने जिस विश्व-बन्धुत्व एव विश्व कल्याण का सन्देश दिया उसकी अनुगूंज हिन्दी के प्राय सभी छायावादी कवियों में मिलती है। दर्शन के क्षेत्र में ये कवि अद्वैतवाद तथा सर्वात्मवाद को अपनी रचनाओं में समाहित करने का लोभ सवरण न कर सके। महादेवी वर्मा ने बड़े ही निर्भ्रान्त शब्दों मे कहा है— छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त ब्रह्म को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया हृदय की भाव भूमि पर उसने प्रकृति मे बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद हृदयवाद अध्यात्मवाद रहस्यवाद छायावाद आदि अनेक नामो का भार सँभाल सकी।

इस युग तक आते-आते हमारा समाज पाश्चात्य सभ्यता के पूर्णरूपेण सम्पर्क मे आ चुका था। यहाँ के नवयुवक और नवयुवती भी पाश्चात्य समाज के ढंग पर अपना जीवन ढालने को लालायित हो उठे। जाति-पाँति के बन्धनो को भुलाकर वे एक-दूसरे के जीवन-सहचर बनना चाहते थे किन्तु समाज की रूढ़ियाँ उन्हें ऐसा करने से रोकती थी। इससे उनके हृदय मे एक प्रकार की वेदना होती थी एक प्रकार की टीस होती थी। छायावादी कवि के काव्य मे इस टीस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। एक छायावादी कवि के ही शब्दों मे … आज यदि सामाजिक बन्धनों के कारण एक नौजवान या नवयुवती अपने स्नेहपात्र को प्राप्त नहीं कर सकते और यदि वे वियोग और बिछोह के हृदयग्राही गीत गा उठते हैं तो यह न समझिए कि यह केवल उन्हीं की वेदना है जो मो फँस पड़ी है—यह वेदना तो समूचे संस्कृत हृदयों का चीत्कार है … कवियों का प्रत्यक्ष में केवल आधिभौतिक दिखाई देने वाला दुःखवाद वास्तव म आध्यात्मिक है—आज की कविता में रोदन और गायन का सम्बन्ध हो रहा है। कुछ आलोचकों ने छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है किन्तु इस विषय में डॉ रामविलास शर्मा का स्पष्ट मत है— छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता रूढ़िवाद और सामन्ती-साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह रहा है। परन्तु यह विद्रोह

काल्पनिक सहानुभूति को लाक्षणिक एव प्रतीकात्मक ढग पर प्रकाशित करते हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने छायावाद और रहस्यवाद मे गहरा सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा—"जिस प्रकार मैटर आफ फैक्ट (इतिवृत्तात्मकता) के आगे की चीज छायावाद है उसी प्रकार छायावाद के आगे की चीज रहस्यवाद है।" गगाप्रसाद पाण्डेय ने छायावाद पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—"छायावाद नाम से ही उसकी छायात्मकता स्पष्ट है। विश्व की किसी वस्तु मे एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। जिस प्रकार छाया स्थूल वस्तु-वाद के आगे की चीज है, उसी प्रकार रहस्यवाद छायावाद के आगे की चीज है।" प्रसाद जी ने छायावाद को अपने ढग से स्पष्ट करते हुए कहा—"कविता के क्षेत्र मे पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी मे उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।" डॉ० देवराज छायावाद को आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह स्वीकार करते हैं। डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि मे, "छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है। जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।' उन्होने इसकी मूल वृत्ति के विषय में लिखा है—"वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए, उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की प्रवृत्ति ही मूल वृत्ति है।" उनके विचार से, "युग की उद्बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य मे छायावाद के रूप मे अभिव्यक्त हुई।" वे छायावाद को अतृप्त वासना और मानसिक कुण्ठाओ का परिणाम स्वीकार करते हैं। एक अन्य आधुनिक आलोचक ने, छायावाद की परिभाषा निर्धारित करते हुए लिखा है—"आत्मपरक अन्तर्दृष्टि को अपनाता हुआ कवि जब अपने हृदय की सहज अनुभूति को प्रकृति के माध्यम से लाक्षणिक एव प्रतीकात्मक शैली मे व्यक्त करता है तब उसकी कविता छायावाद का रूप धारण करती है।" वस्तुत. छायावाद के प्रसग मे डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त की परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध मानी जा सकती है, क्योकि उन्होने छायावाद के विषय मे दी गयी विभिन्न परिभाषाओ के मूल तत्त्वो को समाहित करते हुए परिभाषा का निर्धारण किया है। उनके द्वारा दी गयी छायावाद की परिभाषा है—"छायावाद हिन्दी कविता के एक विशेष युग मे पूर्ववर्ती युग के विरोध मे प्रस्फुटित एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण, एक विशेष दार्शनिक अनुभूति एव एक विशेष शैली है जिसमे लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक का एवम् अलौकिक प्रेम के व्याज से लौकिक अनुभूतियो का चित्रण होता है. जिसमे प्रकृति को मानवी रूप मे प्रस्तुत किया गया है और जिसमे गीति तत्त्वो की प्रमुखता होती है।"

युगीन परिस्थितिया एव छायावाद

प्रत्येक युग के साहित्य के मूल मे उस युग की परिस्थितिया प्रत्यक्ष किंवा अप्रत्यक्ष रूप से काम करती रहती हैं। छायावाद के विषय मे भी यही बात है। कुछ विद्वानो का विचार है कि छायावाद पर राजनीतिक परिस्थितियो का कोई प्रभाव

मोमो के द्वारा तो सन् १९१४ से स्वीकार किया जाता है। ऐसी स्थिति मे देश-काल के आधार पर यह कह देना कि एक साहित्य दूसरे को प्रभावित नही कर सकता कुछ अधिक तर्क संगत नही जान पड़ता। वस्तुस्थिति तो यह है कि अंग्रेजी के स्वच्छन्दता वाद की प्राय सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ—प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह व्यापक मानवतावाद वैयक्तिक प्रम की अभिव्यक्ति रहस्यात्मकता का आभास सौन्दर्य के सूक्ष्म गुणो की पूजा प्रकृति म चेतना का आरोप गीति-शैली आदि—हिन्दी के छायावाद में समान रूप से मिलती हैं।

छायावाद का प्रवर्तक कवि

वास्तव में छायावाद का प्रवर्तन किस कवि ने किया इस विषय में आलोचको मे ऐकमत्य नही है। कोई आलोचक किसी को छायावाद का प्रवर्तक कवि स्वीकार करता है तो कोई किसी को। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मैथिलीशरण गुप्त मुकुटधर पाण्डेय आदि को छायावाद के प्रवर्तक कवियो के रूप मे स्वीकार किया है। उनका मत है—'छायावाद के पहले नये-नये मार्मिक विषयों की ओर हिन्दी कविता की प्रवृत्ति होती आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यजक शैली की कल्पना व सवेदना के अधिक योग की तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकाक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यजना की रोचक प्रणाली का विकास था जो धीरे धीरे अपने स्वतन्त्र ढर्रे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त मुकुटधर पाण्डेय आदि के द्वारा हो रहा था। सियारामशरण गुप्त ने भी शुक्ल जी की ही भाँति मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को ही छायावाद के प्रवर्तन का श्रेय दिया है। इलाचन्द्र जोशी ने स्पष्ट रूप से शुक्ल जी के मत का खण्डन करते हुए कहा—'छायावाद की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध म आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वक्तव्य एकदम भ्रामक निर्मूल एव मनगढंत है। प्रसाद जी अविवादास्पद रूप से हिन्दी के सर्वप्रथम छायावादी कवि ठहरते हैं। सन् १९१३ १४ के आसपास इन्दु मे प्रतिमास उनकी जिस ढंग की कविताएँ निकलती थी। जो बाद मे कानन-कुसुम के नाम से पुस्तकाकार में प्रकाशित हुई वे निश्चित रूप से तत्कालीन हिन्दी काव्य-क्षेत्र मे युग प्रवर्तन की सूचक थी। रायकृष्णदास पन्त आदि का भी यही मत है। राजाराम रस्तोगी भी प्रसाद को ही छायावाद का प्रवर्तन कर्ता मानते हैं। उनके शब्द हैं—हिन्दी साहित्य मे छायावाद का प्रवर्तन करने वाले प्रथम कवि हैं जयशकर प्रसाद जिन्होने आँसू नामक काव्य की रचना करके नवीन काव्य क्रांति की उद्घोषणा की। इस मार्ग पर चलकर छायावाद का पोषण किया 'निराला महादेवी और पन्त ने। विनयमोहन शर्मा तथा प्रभाकर माचवे के विचार से माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा छायावाद के प्रवर्तक हैं। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी छायावादी काव्य-धारा का मूल पन्त म स्वीकार करते हैं। उनका कहना है—साहित्यिक दृष्टि से छायावादी काव्य-शैली का वास्तविक अभ्युदय सन् १९२ के पश्चात् पत की उच्छ्वास नाम की काव्य-पुस्तिका के साथ माना जा सकता है।

वास्तव मे मैथिली शरण गुप्त मुकुटधर पाण्डेय तथा माखनलाल चतुर्वेदी को छायावाद का प्रवर्तक नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि उनमे छायावादी

मध्यवर्ग के तत्त्वावधान में हुआ था। इसीलिए उनके साथ मध्यवर्गीय असगति, पराजय और पलायन की भावना जुडी हुई है।" वस्तुत इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है, किंतु डॉ० शर्मा ने जो बात कही है, उसमे भी बहुत बडा सत्य निहित है। किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति के अवतरित होने मे कोई एक कारण ही कार्य नही करता, उसके लिए अनेको कारण हो सकते हैं, और ऐसी स्थिति मे उपर्युक्त दोनों बातो के मान लेने मे कोई हर्ज नही है।

छायावाद की साहित्यिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालने से यह बात छिपी नहीं रह जाती कि छायावाद द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्थित हुआ। डॉ० गोविन्द राम शर्मा का कथन है—"वस्तुत द्विवेदी-युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता, स्थूलता और नैतिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे उस समय की आवश्यकताओ के अनुरूप छायावादी कविता का विकास हुआ। छायावाद मे सामूहिकता के विरुद्ध वैयक्तिकता, रूढिवादिता के विरुद्ध स्वच्छन्दता, स्थूल के प्रति सूक्ष्म, बौद्धिकता एव यथार्थ के प्रति भावुकता तथा कल्पना और अभिधाप्रधान वर्णनात्मक अभिव्ञ्जना-शैली के प्रति लाक्षणिक प्रतीकात्मक शैली की व्यापक प्रतिक्रिया प्रस्फुटित हुई है।"

इन्ही साहित्यिक परिस्थितियो के ही सन्दर्भ मे इस बात को भी नही झुठलाया जा सकता कि अग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप छायावाद पाश्चात्य कविता के स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) से भी प्रभावित हुआ है। यद्यपि आरम्भ मे डा० नगेन्द्र ने इस बात को स्वीकार किया है, किन्तु आगे चलकर भारतीय सस्कृति के प्रति उनकी अगाध निष्ठा आडे आ गई और उन्होने छायावाद पर पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद का कोई प्रभाव नही माना। वे लिखते हैं—"दूसरी भ्रान्ति उन लोगो की फैलाई हुई है जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियो का अध्ययन कर सकने के कारण—और उन अपराधियों में मैं भी हू—केवल बाह्य साम्य के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमाटिक काव्य सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं। इसमे सन्देह नही कि छायावाद मूलत रोमानी कविता है और दोनो की परिस्थितियो मे भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है। परन्तु फिर भी यह कैसे भुलाया जा सकता है कि छायावाद सर्वथा एक भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था वहाँ रोमाटिक काव्य के पीछे फ्रास का सफल विद्रोह था, जिसमे जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जाग्रत देशो मे एक नवीन आत्म-विश्वास की लहर दौडा दी थी। फलस्वरूप वहा के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एव वायवी था।" वस्तुत आज के वैज्ञानिक युग मे, जिसमे एक देश दूसरे देश का प्रतिवेशी बन गया है, देश के आधार पर एक साहित्य को दूसरे से अलग करके नही देखा जा सकता। जहा तक काल का प्रश्न है, उसके विषय मे यह बात बडी स्पष्ट है कि इग्लैंड के साहित्य मे जो-जो वाद उत्थित हुए हैं, उसके पर्याप्त समय बाद भारत मे वे वे वाद आए हैं। वहा नई कविता का आरम्भ बीसवी शताब्दी के आरभ में ही हो गया था, किन्तु भारत मे नई कविता का आरम्भ सन् १९४३ से और कुछ

नत-मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रसकण ढरते
हे लाज भरे सौंदर्य बता दो—
मौन बने रहते हो क्यों ?

नारी-सौन्दर्य का मनमोहक चित्र 'आंसू' की इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

"शशिमुख पर घूंघट डाले अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये॥

प्रसाद के प्रेम-चित्रण की प्रमुख विशेषता शालीनता गंभीरता एवं शिष्टता है। वह सांसारिक एवम् आध्यात्मिक दोनों किनारों का स्पर्श करता हुआ आगे बढ़ता है।

प्रकृति प्रेम प्रसाद का एक अन्य प्रमुख वैशिष्ट्य है। उन्होंने प्रकृति के अत्यन्त हृदय स्पर्शी सश्लिष्ट बिंब उतारे हैं। प्रकृति पर उन्होंने मानव चेतना का आरोप भी अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया है।

प्रसाद के काव्य की भाषा-शैली अत्यन्त प्रौढ़ परिष्कृत एवं साहित्यिक है। उनकी भाषा में कोमलता माधुर्य और भाव-वहनता पाई जाती है। शब्दों के माध्यम से सजीव चित्र प्रस्तुत करने में वे अधिक सफल हुए हैं। उनकी भाषा में संगीतात्मकता प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। अलंकारों के प्रयोग से प्रसाद के काव्य में अधिक रमणीयता आ गई है। उपमा रूपक उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के प्रयोग में स्वाभाविकता एवं भावोत्कर्षता वर्तमान है। लाक्षणिकता चित्रमयता आदि छायावादी काव्य की शैलीगत सारी विशेषताएं प्रसाद के काव्य में पाई जाती हैं।

प्रसाद के उपरान्त छायावादी कवियों में पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का प्रमुख स्थान है। 'परिमल' 'अनामिका' 'तुलसीदास' 'कुकुरमुत्ता' 'अणिमा' 'बेला' 'नये पत्ते' 'अर्चना' 'आराधना' आदि उनके प्रमुख काव्य-ग्रन्थ हैं। निराला ने छायावादी काव्य को एक नूतन गति प्रदान की है। भाव भाषा छन्द आदि सभी क्षेत्र में उन्होंने युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित किया है। निराला ने वेदान्त दर्शन का सम्यक् अध्ययन किया था इसीलिए उनके काव्य में पदे-पदे वेदान्त दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर दर्शन एवं काव्य के बीच बड़ा ही सुन्दर समन्वय स्थापित किया है किन्तु फिर भी कहीं-कहीं दर्शन के प्रभाव से उनके काव्य में शुष्कता एवं दुरूहता आ गई है। अन्य छायावादी कवियों की भाँति निराला ने भी प्रकृति पर मानव-चेतना का आरोप किया है। सन्ध्या को सुन्दरी रूप में प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं—

"मेघमय आसमान से उतर रही
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे।

पन्त ने जहां केवल प्रकृति के कोमल रूपों की ही झांकी देखी है वहां निराला ने उसके कोमल और कठोर दोनों रूपों को देखा है और इन दोनों ही रूपों में उसे

प्रवृत्तिया स्पष्ट नहीं हैं। रह गई प्रसाद तथा पन्त की बात, इस विषय मे स्पष्ट ही कहा जा सकता है कि प्रसाद काव्य-क्षेत्र मे पन्त से पहले आये और उनकी रचनाओ मे आरम्भ से ही छायावाद की मूलभूत प्रवृत्तियाँ—आत्मनिष्ठता अन्तर्मुखी दृष्टि, प्रकृति के प्रति नवीन दृष्टिकोण, अभिव्यक्ति की नूतन शैली आदि—मिलती है, अत वास्तव मे कविवर जयशकर प्रसाद ही छायावाद के प्रवर्त्तक है और यह श्रेय उन्हे ही मिलना चाहिए।

हिन्दी के प्रमुख छायावादी कवि

प्रसाद जी छायावाद के अग्रदूत के रूप मे हमारे समक्ष आते है। उनकी काव्य कृतियो से हमे छायावाद का प्रौढतम रूप देखने को मिलता है।' 'प्रेम-पथिक', 'कानन-कुसुम', 'झरना', 'आसू', 'लहर', 'कामायनी' आदि उनकी मुख्य छायावादी रचनाए हैं। उनके 'चित्राधार', 'करुणालय' तथा 'महाराणा का महत्त्व' मे भी यत्र-तत्र छायावाद की कतिपय प्रवृत्तिया लक्षित हो जाती है। 'प्रेम-पथिक' एक लघु प्रबन्ध काव्य है, जिसमे नायक अपने असफल प्रेम की कहानी अपने मुख से कहता है। अनुभूतियो की तीव्रता इसमे देखते ही बनती है। जिस समय नायिका का किसी अन्य से विवाह हो रहा होता है, उस समय नायक के हृदय की वेदना अपनी चरम सीमा को पहुच जाती है—

"किन्तु कौन सुनता उस शहनाई मे हृत्तत्री झनकार
जो नौबतखाने मे बजती थी, अपनी गहरी धुन मे—
रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है
कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पडता है।"

'कानन-कुसुम', 'झरना' और 'लहर' प्रसाद की स्फुट कविताओ के सग्रह है। आलोचको ने उनमे चार प्रमुख प्रवृत्तिया देखी हैं—(१) लौकिक प्रभु के प्रति आत्म-निवेदन, (२) लौकिक प्रेम की व्यजना (३) प्रकृति एव नारी-सौन्दर्य का चित्रण और (४) अतीत भारत की किसी घटना का वर्णन। 'आँसू' अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का विरह-काव्य है। 'कामायनी' प्रसाद द्वारा रचित प्रबन्ध काव्य है, जिसे बीसवी शताब्दी के श्रेष्ठतम महाकाव्य के रूप मे स्वीकार किया जाता है। इसमे छायावाद की सभी प्रवृत्तिया प्रौढतम रूप मे विकसित हुई हैं। इसकी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए एक आलोचक ने लिखा है—"मानव-हृदय की प्रवृत्तियो मे सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण, प्रकृति एव नारी-सौन्दर्य के सजीव अकन, प्रणय और विरह की मार्मिक व्यजना, ज्ञान, कर्म और इच्छा के समन्वय के मगलकारी सन्देश और शैली की प्रौढता की दृष्टि से 'कामायनी' अनुपम है।"

प्रसाद मुख्य रूप से प्रेम तथा सौन्दर्य के कवि हैं। उनके काव्य मे इन दोनो के अत्यन्त उदात्त तथा मार्मिक चित्र अकित हुए हैं। लाज-भरे यौवन का सजीव सौन्दर्य इन पक्तियों मे देखते ही बनता है—

"तुम कनक किरण के अन्तराल मे
लुक छिपकर चलते हो क्यों?

कवि कर सका हो। छायावादी काव्य को यदि प्रसाद ने प्रकृति-तत्त्व दिया निराला ने मुक्त छन्द दिया पन्त ने सरसता एवं कोमलता दी तो महादेवी ने उसे उदात्तता एवं भावात्मकता देकर सम्पन्न किया। 'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' 'सांध्यगीत' 'दीपशिखा' आदि अनेक शीर्षकों से उनके कविता-संकलन प्रकाशित हुए हैं।

महादेवी के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता वेदना है। वे वेदना को अपने प्रियतम की देन समझ कर उसका पोषण बड़ी सावधानी से करती हैं। विरह-वेदना की अग्नि में जितना अधिक जलती हैं अपने को उतना अधिक ही वे अपने प्रियतम के निकट समझती हैं—

"तू जल जल जितना होता क्षय
वह समीप आता छलनामय
मधुर मिलन में मिट जाता तू;
उसकी उज्ज्वल स्मिति में घुलमिल।
मदिर मदिर मेरे दीपक जल॥

दुःखी व्यक्ति का हृदय अत्यन्त सहानुभूति पूर्ण हो जाता है, और इसीलिए महादेवी को सारा संसार अपना-सा लगता है। दुःखानुभूति को लेकर ही महादेवी अज्ञात सत्ता की ओर उन्मुख हुई हैं। इस सत्ता को उन्होंने अपने प्रियतम के रूप में स्वीकार किया है और उसे चिरसुन्दर निर्मम एवं निष्ठुर जैसे विशेषणों से सम्बोधित किया है। प्रकृति का उनके भी काव्य में प्रमुख स्थान है। किन्तु उन्होंने इसे मानव मन की सुख-दुःखात्मक अनुभूति को व्यक्त करने के माध्यम-रूप में अपनाया है।

महादेवी का भाव और कला दोनों पक्ष ही एक-से सबल एवं समृद्ध हैं। भाषा अत्यन्त परिष्कृत सरस एवं कोमल है। उनकी भाषा में भावाभिव्यक्ति की असाधारण क्षमता है। महादेवी के काव्य में शब्दों के अभिधामूलक प्रयोग कम देखने को मिलेंगे उनके लाक्षणिक प्रयोग ही वहाँ अधिक हैं। महादेवी जी की अनुभूतियाँ एकदम अन्तर्मुखी हैं। अन्तर्मुखी-व्यक्ति अनुभूतियों के प्रकाशन के लिए गीतिकाव्य सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम है। यही कारण है कि अपनी अन्तर्मुखी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने गीतिकाव्य को चुना है। गीतिकाव्य का चरम उत्कर्ष उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है। तन्मयता अनुभूति की तीव्रता तथा माधुर्य महादेवी के गीतों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

छायावाद की मूलभूत प्रवृत्तियाँ

समग्र छायावादी काव्य का विश्लेषण करने के उपरान्त उसकी निम्नांकित दस प्रमुख प्रवृत्तियाँ प्रकाश में आती हैं—

(१) वैयक्तिकता (२) सौन्दर्य भावना (३) शृंगार भावना (४) प्रकृति प्रेम (५) वेदना तथा करुणा का प्राधान्य (६) अज्ञात सत्ता के प्रति आकर्षण (७) नारी विषयक नवीन दृष्टिकोण (८) नवीन जीवन-दर्शन (९) पलायनवादी प्रवृत्ति (१) अभिव्यक्ति की शैली में क्रान्ति।

पूरे छायावादी काव्य में वैयक्तिकता का प्राधान्य है। छायावादी कवि की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होने के कारण वह अपने ही सुख-दुःख हर्ष-शोक आदि भावों की

अत्यन्त सशक्त वाणी प्रदान की है। निराला का भाषाधिकार बडा ही विलक्षण है। भावो के अनुकूल भाषा की योजना मे वे सिद्धहस्त हैं। छन्दो के क्षेत्र मे उन्होने जो क्रान्ति खडी कर दी है, उसके लिए वे अविस्मरणीय है। मुक्त छन्द के लिए निराला सदैव याद किये जायेंगे।

छायावाद के साथ सुमित्रानन्दन पन्त का नाम सदैव अमर रहेगा। उन्होंने अपने व्यक्तित्व के अनुरूप ही छायावादी काव्य को कोमलता, सरसता एव सुन्दरता प्रदान की है। उनकी काव्य-कृतियो के नाम हैं— वीणा', ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गु जन', 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि', 'युगान्तर', उत्तरा', 'रजत-शिखर', 'शिल्पी', 'प्रतिमा' और 'लोकायतन'। उनकी छायावादी कृतिया प्रमुख रूप से चार हैं—'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव' और 'गु जन'। 'युगान्त' तक आते-आते पन्त छायावाद की ओर से मुख मोड लेते हैं। वीणा', 'पल्लव' तथा 'गु जन' पन्त जी की स्फुट कविताओ के सग्रह हैं। 'ग्रन्थि' एक छोटा-सा प्रवन्ध काव्य है जिसमे असफल प्रेम की कहानी कही गई है।

पन्त जी का प्रकृति- चित्रण बडा ही हृदयग्राही है। उन्होंने प्रकृति को वडे ही विस्मय के भाव से देखा है। कही-कही पर प्रकृति ने उन्हे दार्शनिक मनोवृत्ति भी प्रदान की हैं। पन्त प्रकृति के दृश्य मे एक चिरन्तन सत्य को देखना चाहते हैं, इसीलिए प्रकृति का सौन्दर्य उन्हें उस अज्ञात सत्ता की ओर आकृष्ट करता हुआ दिखायी देता है जिसमे वे विलीन हो जाना चाहते हैं। प्रकृति पर मानव-चेतना का आरोप छायावाद की प्रमुख विशेषता है, पन्त जी भी उसे मानवी रूप मे देखते हैं। उन्होने प्रकृति के केवल कोमल पक्ष को ही देखा है, उसके विकराल रूप को नही। सुख-दु ख के विषय मे पन्त का दृष्टिकोण सामजस्यवादी है। उनका विचार है कि सुख तथा दु ख के मधुर मिलन से ही जीवन पूर्ण वनता है—

> "सुख-दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन।
> फिर घन मे ओझल हो शशि, फिर शशि से ओझल हो घन॥"

पन्त-काव्य में विम्व-योजना देखने की वस्तु है। उन्होने अपनी तरल से तरल अनुभूतियो को भी विम्व के सहारे सहृदय पाठक को हृदय-ग्राह्य वना दिया है। अत्यन्त सजीव शव्द-चित्रो के माध्यम से वे अमूर्त भावो का एक चाक्षुष चित्र उपस्थित कर देते हैं। स्थिर तथा गत्यात्मक, दोनो ही प्रकार के चित्रो के अकन मे पन्त को असाधारण सफलता मिली है। उनकी भाषा सर्वत्र परिमार्जित, सरस एव मधुर है। सुन्दर अलकार-विधान से पन्त की कविता-कामिनी चमक उठी है। जहाँ एक ओर उन्होंने अपने काव्य मे अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, समासोक्ति आदि भारतीय परम्परागत अलकारो को अपनाया है, वही दूसरी ओर मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय आदि पाश्चात्य ढग के अलकारो को भी नही छोडा है।

प्रसाद, निराला तथा पन्त के पश्चात् छायावादी कवियो मे महादेवी वर्मा का नाम वडे आदर के साथ लिया जाता है। छायावादी काव्य को सँवारने में महादेवी का वहुत वडा हाथ है। "हृदय की अनुभूतियो और सूक्ष्मतम भावनाओ की अभिव्यक्ति जितनी सफलता के साथ महादेवी ने की है, उतनी सफलता से कदाचित् ही कोई अन्य

"पगली हाँ सँभाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल ?
देख बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल !
फटा हुआ था नील वसन क्या ओ यौवन की मतवाली।
देख अकिंचन जगत लूटता तेरी छवि भोली-भाली॥

महादेवी ने भी रजनी का नारी-रूप में ही आह्वान किया है—

तारकमय नव वेणी बन्धन
शीशफूल शशि का कर नूतन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे।
चितवन से अपनी।
पुलकती आ बसन्त-रजनी॥

वेदना तथा करुणा का प्राधान्य छायावाद की एक अन्य प्रमुख विशेषता है। दुख-शोक हास-रुदन जन्म मरण विरह मिलन आदि से उत्पन्न विषमताओं से घिरे हुए मानव-जीवन को देखकर कवि-हृदय से वेदना और करुणा उमड़ पड़ती है। जीवन में मानव-मन की आकांक्षाओं और अभिलाषाओं की असफलता पर कवि हृदय करुणा क्रन्दन करने लगता है। छायावादी कवि सौन्दर्य-प्रेमी होता है किन्तु सौन्दर्य की क्षणभंगुरता को देख उसका हृदय आकुल हो उठता है। हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति की अपूर्णता अभिलाषाओं की विफलता सौन्दर्य की नश्वरता प्रेयसी की निष्ठुरता मानवीय दुर्बलताओं के प्रति संवेदनशीलता प्रकृति की रहस्यमयता आदि अनेक कारणों से छायावादी कवि के काव्य में वेदना और करुणा की अधिकता पाई जाती है। प्रसाद ने 'आँसू' में वेदना को साकार रूप दिया है। पन्त तो काव्य की उत्पत्ति ही वेदना से मानते हैं—

"वियोगी होगा पहला कवि आह से निकला होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान॥

महादेवी के लिए तो पीड़ा बहुत ही अधिक स्पृहणीय है—

'तुमको पीड़ा में ढूँढा तुम में ढूँढूँगी पीड़ा।

छायावादी कवि की अज्ञात सत्ता के प्रति एक विशेष आकर्षण है। वह प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में इसी सत्ता के दर्शन करता है। उसका इस अनन्त के प्रति प्रमुख रूप से विस्मय तथा जिज्ञासा का भाव है। उसके विरह में वह व्याकुल बहुत कम हुआ है।

नारी के प्रति छायावाद ने सर्वथा एक नवीन दृष्टिकोण अपनाया है। यहाँ नारी वासना की पूर्ति का साधन नहीं है यहाँ तो वह प्रेयसी जीवन-सहचरी माँ आदि विविध रूपों में उतरी है। उसका मुख्य रूप प्रेयसी का ही रहा है। यह प्रेयसी पार्थिव जगत् की स्थूल नारी नहीं वरन् कल्पना-लोक की सुकुमारी देवी है। प्रसाद द्वारा चित्रित इस भावमयी नारी का यह सुकुमार और कोमल रूप अत्यन्त रमणीय है—

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत-नग-पगतल में।

अभिव्यक्ति मे लगा रहा है, समष्टि की ओर उसकी दृष्टि कम गयी है। उसने समग्र वस्तुजगत् को अपनी भावनाओ मे रँग कर देखा है।

सभी छायावादी कवि सौन्दर्य दो प्रकार का हो सकता है—बाह्य सौन्दर्य और अन्त सौन्दर्य, अथवा स्थूल सौन्दर्य और सूक्ष्म या अतीन्द्रिय सौन्दर्य। छायावादी कवि मूलत अतीन्द्रिय सौन्दर्य के उपासक हैं। उनकी वृत्तियाँ बाह्य सौन्दर्य के उद्‌घाटन की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य के उद्‌घाटन मे विशेष रूप से रमी हैं। प्रकृति के कण-कण मे अलौकिक-सौन्दर्य की झाँकी देखकर वे सभी अभिभूत हो जाते हैं। "सौन्दर्योपासक छायावादी कवियो ने नारी-सौन्दर्य को नाना रगो का आवरण पहना कर व्यक्त किया है। उन्होंने विश्व के कोलाहल से दूर प्रकृति की रगशाला मे प्रवेश करके शतश हृदय-स्पर्शी सौन्दर्य-चित्र अकित किये हैं। इस अतीन्द्रिय सौन्दर्य की झाँकी पन्त की इन पक्तियो मे द्रष्टव्य है—

"अरुण अधरों का पल्लव प्रात मोतियो सा हिलता हिम-हास,
इन्द्रधनुषी-पट से ढक गात बालविद्युत का पावन-लास,
हृदय मे खिल उठता तत्काल अधखिले अगों का मधुमास,
तुम्हारी छवि का कर अनुमान,
प्रिये, प्राणो की प्राण।"

छायावादी काव्य मे शृगार की प्रचुरता है, किन्तु यह शृगार स्थूल अथवा ऐन्द्रिय न होकर सूक्ष्म अथवा अतीन्द्रिय है। इस अतीन्द्रिय शृगार को दो रूपो मे विकसित माना गया है— एक तो प्रकृति पर नारी-भाव के आरोप द्वारा और दूसरे नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य चित्रण द्वारा। "छायावाद का शृगार उपभोग की वस्तु नही, अपितु कौतूहल और विस्मय का विषय है। उसकी अभिव्यजना मे स्थूलता एव स्पष्टता नही, कल्पना और सूक्ष्मता होती है" नारी का अतीन्द्रिय सौन्दर्य छायावादी किस प्रकार चित्रण करता है, यह प्रसाद द्वारा श्रद्धा के सौन्दर्य-चित्रण मे द्रष्टव्य है—

"नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघवन बीच गुलाबी रग॥"

प्रकृति-प्रेम छायावाद की बहुत बडी विशेषता है। सभी छायावादी कवियो ने अपने-अपने काव्यो मे प्रकृति का चित्रण बडे ही आग्रह के साथ किया है और सभी ने उस पर मानव-चेतना का आरोप किया है। छायावादी काव्य मे प्रकृति-चित्रण की विशेषता का उद्‌घाटन करते हुए डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने लिखा है—"प्रकृति के सौन्दर्य और उससे प्रेम का वर्णन भी छायावादी कवियो की शृगारिकता का दूसरा रूप है। वे प्रकृति के रूप मे भी नारी का रूप देखते हैं, उसकी छवि मे किसी प्रेयसी के सौन्दर्य-वैभव का साक्षात्कार करते हैं, उसकी चाल-ढाल मे किसी नवयौवना की चेष्टाओं का प्रतिबिम्ब पाते हैं, उसके पत्तो की मर्मर या फूलो की गुनगुनाहट मे उन्हे, किसी बाला-किशोरी के मधुर आलाप या अर्द्ध-स्फुट हास्य की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।" प्रसाद ने रात्रि को नारी के रूप मे प्रस्तुत करतेहुए लिखा—

के स्थान पर प्राय: लक्षणा और व्यंजना से काम लिया है— यह पतझड़ मधुबन की भी हो शूलों का दर्शन भी हो कलियों का चुम्बन भी हो में पतझड़ मधुबन शूल तथा कलियां जीवन के विभिन्न रूपों व अंगों के प्रतीक हैं। उपमान-विधान के क्षेत्र में छायावादी कवियों ने मूर्त को अमूर्त रूप में तथा अमूर्त को मूर्त रूप में चित्रित किया है। मूर्त के लिए अमूर्त उपमान इस पंक्ति में देखिये—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल।

अमूर्त के लिए मूर्त उपमान का प्रयोग यहां द्रष्टव्य है—

कीर्ति किरण सी नाच रही है।

छायावादी काव्य में जहां एक ओर उत्प्रेक्षा उपमा रूपक आदि परम्परा भुक्त अलंकारों की योजना की गयी वहीं दूसरी ओर उसमें मानवीकरण, विरोधाभास विशेषण विपर्यय आदि पाश्चात्य ढंग के अलंकार भी दृष्टिगत होते हैं। छायावाद की भाषा का रूप बड़ा ही प्रौढ़ है। इसमें प्राय: संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली के दर्शन होते हैं। खड़ी बोली को संवारने में भी छायावादियों ने बहुत बड़ा काम किया है। पन्त जी शब्दों के शिल्पी ही हैं। उन्होंने न जाने कितने नूतन शब्दों की उद्भावना करके भाषा की अभिव्यक्ति-क्षमता को बढ़ाया है।

साराश यह कि भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष दोनों ही दृष्टियों से छायावाद का काव्य अत्यन्त प्रौढ़ है।

उपसंहार

आज साहित्य-समाराधना के क्षेत्र में केवल महादेवी ही छायावाद का सकर आगे बढ़ रही हैं। प्रसाद और निराला दिवंगत हो चुके—निराला ने तो अपने जीवन काल में ही प्रगतिवाद की राह पकड़ ली थी। पन्त भी विभिन्न वादों के चक्कर में पड़कर छायावाद से दूर जा पड़े हैं। किन्तु छायावाद ने जो कुछ दिया है वह साहित्य के इतिहास तथा मानव के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जायेगा। साहित्य के इतिहास में इसलिए, क्योंकि छायावाद ने अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य दिया है और मानव के इतिहास में इसलिए, क्योंकि इसने विश्व-मंगल का सन्देश दिया है।

पीयूष-स्रोत-सी वहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल मे ॥"

कितना भव्य एवम् उदात्त है छायावादी का नारी के प्रति यह दृष्टिकोण !

छायावादियो के जीवन-दर्शन मे भी नवीनता है। यहाँ भी भावना को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। छायावादी कवि मे शाश्वत प्रेम और सच्ची मानवता पर आधारित नूतन समाज और नवीन सस्कृति के निर्माण की आकाक्षा अत्यन्त प्रबल रही है। छायावाद मे जहाँ एक ओर व्यक्तिगत भावुकता और कल्पना है, वही दूसरी ओर उसमे मानव-प्रेम, करुणा, उदारता जैसी उदात्त वृत्तियाँ भी पायी जाती हैं जिससे उसने मानव-कल्याण एव विश्व बन्धुत्व का सन्देश भी दिया है। सर्वात्मवाद छायावाद का मूल दर्शन है। समस्त चराचर जगत् छायावादी को मानव चेतना मे स्पन्दित दिखायी पडता है।

पलायनवादी प्रवृत्ति भी छायावाद मे कम मुखर नही है। छायावादी इस ससार से ऊब कर अन्यत्र जाना चाहता है। इसका मुख्य कारण यह है कि वह इस ससार मे दुःख ही दुःख देखता है, यहा सर्वत्र उसे सुख का अभाव दृष्टिगत होता है। इस विषय मे कवि पन्त की अभिव्यक्ति दर्शनीय है—

"यहाँ सुख सरसो, शोक सुमेरु,
अरे जग है जग का ककाल,
वृथा रे, ये अरण्य-चीत्कार,
शान्ति सुख है उस पार।"

निराला भी 'जग के उस पार' जाना चाहते हैं। प्रसाद भी अपने नाविक से इस कोलाहलपूर्ण ससार से दूर ले चलने का अनुरोध करते हैं—

"ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक ! धीरे धीरे,
जिस निर्जन सागर मे लहरी
अम्बर के कोने मे गहरी—
निश्छल करुण कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"

छायावाद के सभी कवियो ने अभिव्यक्ति की शैली के क्षेत्र मे एक बहुत बडी क्रान्ति मचा दी है। इन्होने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए प्राय मुक्तक, गीति-शैली को चुना है। वैयक्तिकता, भावात्मकता, सगीतात्मकता, सक्षिप्तता, कोमलता आदि सभी गीति तत्त्वो का समावेश छायावादी काव्य मे मिलता है। छन्द-योजना मे छायावादी कवियों ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उन्होने परम्परागत छन्दो के कठोर नियमो की उपेक्षा करके नवीन छन्दों को अपनाया है। निराला-जैसे कवियो ने तो अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए मुक्त छन्द तक का आविष्कार किया है। प्रतीकात्मकता छायावादियो की एक अन्य विशेषता है। इन्होंने अपने सूक्ष्म भावो की अभिव्यक्ति के लिए लाक्षणिक प्रतीकात्मक शैली को अपनाया है शब्द-शक्तियो में इन्होने अभिधा

का है वही स्थान साहित्य में प्रगतिवाद का है। पन्त जी की प्रगतिवाद-विषयक परिभाषा से एक बात बड़ी स्पष्ट हुई और वह यह कि प्रगतिवाद वर्ग-वैषम्य को दूर कर श्रमिकों तथा कृषकों की मंगल भावना से प्रेरित है और इसीलिए वह पूँजीपतियों तथा शोषकों के विरुद्ध क्रान्ति का आह्वान करने वाला है।

युगीन परिस्थितियाँ

प्रगतिवाद का समय अल्पस्थ है अर्थात् हिन्दी साहित्य की इस धारा ने केवल सात वर्ष के लिए (१९३६-४३) बल पकड़ा। जिस समय प्रगतिवादी साहित्य प्रकाश में आ रहा था उस समय राजनीति समाज धर्म तथा साहित्य की परिस्थितियाँ उसे आगे बढ़ाने में सहायक हो रही थीं। राजनीति के क्षेत्र में हम देखते हैं कि उस समय भारत पर अंग्रेजों का शासन था। वे निरन्तर भारतीयों के शोषण-कार्य में निरत थे। भारत की लगभग सभी पूँजी विलायत जा रही थी और यहाँ का गरीब मजदूर तथा किसान भूखों मर रहा था। देश में असहयोग आन्दोलन के परिणामस्वरूप जागृति आ ही चुकी थी। देशवासियों की दयनीयावस्था को देखकर साहित्यकार से रहा न गया और उसने खुलकर प्रगतिवाद के गीत गाये।

सामाजिक क्षेत्र में भी धनियों तथा श्रमिकों के वर्ग तो बने ही हुए थे बिड़ला टाटा डालमिया उस समय भी थे और दूसरी ओर भूखी-नंगी जनता थी किन्तु इस विषय में एक बात स्मरणीय है और वह यह कि भारत में प्रगतिवाद का जन्म इन बिड़ला टाटा डालमिया आदि मिलमालिकों के विरोध में इतना नहीं हुआ, जितना शोषण करने वाली अंग्रेजी सत्ता के विरोध के परिणामस्वरूप हुआ। कहने का आशय यह कि प्रगतिवाद का मूल विरोध अंग्रेजी सत्ता से था, मिलमालिकों से इसका कोई विशेष कड़ा विरोध न हुआ था।

वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप धर्म तो लड़खड़ा ही रहा था अतः प्रगतिवाद में नास्तिकता के नारों का गुंजायमान होना स्वाभाविक ही था। लोगों का विश्वास ईश्वर से उठता जा रहा था। उसका प्रतिफलन साहित्य में देखने को मिलता है। अधिकांश प्रगतिवादी साहित्यकारों ने परम्परागत रूढ़ियों भाग्यवाद, ईश्वर तथा देवी-देवतावाद आदि का खुलकर विरोध किया है। इस विरोध में प्रगतिवादियों के अन्दर एक भावना और काम कर रही थी। वह भावना यह थी कि प्रगतिवादी साहित्यकार यह समझते थे कि भारत की बेपढ़ी-लिखी जनता में भाग्यवाद बहुत अधिक बल पकड़ गया है। जनता यह समझती थी कि उसकी जो भी दयनीय स्थिति हो रही थी वह सब उसके भाग्य का फल थी। सरकार तथा मिलमालिक जनता के इस भाग्यवाद की आड़ में अनुचित लाभ उठाते थे। भाग्यवादी व्यक्ति वही होता है जो ईश्वर पर विश्वास रखता हो। जनता के हृदय से इस भाग्यवादी भावना को दूर करने के लिए प्रगतिवादी लेखक ने मूल पर ही कुठाराघात किया और ईश्वर तथा देवी-देवताओं के अस्तित्व से खुलकर इन्कार किया। ये लेखक हृदय से यह चाहते थे कि किसी प्रकार जनता का कल्याण हो उसे किसी प्रकार भरपेट अन्न पहनने को वस्त्र और रहने के लिए ठीक घर मिलें। यही कारण है कि उन्होंने हँसिये और हथौड़े को अपने साहित्य में प्रमुख स्थान दिया।

: ६४ :

प्रगतिवाद और हिन्दी साहित्य

प्रगतिवाद का अर्थ तथा प्रगतिवाद की परिभाषा

प्रगति का शाब्दिक अर्थ वही है जो अग्रेजी मे 'प्रोग्रेस (Progress) शब्द का है, अर्थात्, 'आगे वढना', अथवा 'उन्नति करना'। किन्तु आज इस शब्द से एक विशिष्ट दिशा मे वढने की ओर सूचना मिलती है। कहने का तात्पर्य यह कि आज साहित्य मे इस शब्द का अर्थ रूढ हो चुका है और अपने रूढ अर्थ मे यह शब्द मार्क्सवादी ढग से आगे वढने की ओर सकेत करता है। मार्क्सवादी या साम्यवादी विचारधारा का पोपक साहित्य प्रगतिवाद की सज्ञा मे अभिहित किया जाता है। इसी प्रगतिवाद से मिलता-जुलता एक अन्य शब्द—प्रगतिशील—भी प्रचलित है। यहाँ पर इन दोनो शब्दो के वीच अन्तर समझ लेना अनिवार्य है। यदि हम यहाँ डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दो मे कहे तो कह सकते है कि जहा 'प्रगतिवाद' सर्वथा मार्क्सवाद से वधा हुआ है, वहा 'प्रगतिशील' उससे स्वतन्त्र है। समाज की प्रगति के कई मार्ग हो सकते हैं। प्रगतिवादी केवल साम्यवादी मार्ग को ही अपनाने के लिए विवश है, जवकि 'प्रगतिशील' किसी भी वाद-विशेप से वद्ध नही होता।

वस्तुत प्रगतिवादी साहित्य वह है जिसकी रचना मार्क्सवादी अथवा साम्यवादी विचारधारा को दृष्टिपथ मे रखकर की गयी हो। प० सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रगतिवाद की परिभापा निर्धारित करते हुए लिखा है—"प्रगतिवाद उपयोगितावाद का ही दूसरा नाम है। वैसे तो सभी युगो का लक्ष्य सदैव प्रगति की ओर रहा है, परन्तु आधुनिक काल का प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के प्रयोग पर जन-समूह की सामूहिक प्रगति का पक्षपाती है सामूहिक प्रगति, सामयिक नव-निर्माण जनता के चीत्कार की कहानी किसी दर्शन पर आधृत है और वह दर्शन है मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। इसी कारण आलोचको ने कहा है कि राजनीति में जो स्थान समाजवाद

(क) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद—कार्ल मार्क्स के विचारानुसार इस संसार की उत्पत्ति नहीं बरन् विकास हुआ। मार्क्स का द्वन्द्व से तात्पर्य संघर्ष से है। उनका कहना है कि संघर्ष से ही इस संसार का विकास होता है। वे मानते हैं कि दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष से तीसरी शक्ति या वस्तु विकसित होती है। आगे चलकर तीसरी को चौथी से संघर्ष करना पड़ता है और तब पांचवी शक्ति का विकास होता है। इसी क्रम से भौतिक जगत् मे नयी वस्तुएं नये-नये रूपों नयी-नयी शक्तियों एवं सत्ताओं का विकास होता रहता है। संक्षेप में द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद का अर्थ हुआ कि दो शक्तियों के पारस्परिक द्वन्द्व से भौतिक जगत् का विकास होता है।

(ख) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त—किसी वस्तु के मूल्य मे किस प्रकार वृद्धि होती रहती है इसकी व्याख्या के लिए कार्ल मार्क्स ने उत्पत्ति के चार अंग निर्धारित किये—(१) मूल पदार्थ (२) स्थूल साधन (३) श्रमिक का श्रम और (४) मूल्य वृद्धि। उदाहरणार्थ दस रुपये की कपास को जब कात-बुनकर कपड़े के थान के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है तब उस थान का मूल्य पचास रुपये से भी अधिक हो जाता है। यहां पर चालीस रुपये की मूल्य-वृद्धि हुई। यदि कपड़े की बुनाई इत्यादि की घिसाई आदि के लिए दो रुपये और कम कर दें तो वास्तविक लाभ अड़तीस रुपये रह जाता है। यह पूरा लाभ श्रमिक को मिलना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। आज के पूंजीवादी युग मे होता यह है कि इस लाभ का अधिकांश तो मिलमालिक हड़प कर जाता है बेचारे श्रमिक को तो गिने चने टके ही मिलते हैं। इससे समाज मे दो वर्गों का विकास हुआ— (१) श्रमिक वर्ग और (२) पूंजीवादी वर्ग (२) पूंजीवादी वर्ग जो श्रमिकों के श्रम का अनुचित लाभ उठाते हैं। मार्क्स ने इन्हें क्रमश 'शोषित' और 'शोषक' नाम दिये हैं।

मानव-सभ्यता के विकास की नयी व्याख्या—जैसा कि अभी-अभी बताया जा चुका है मार्क्स विश्व के मनुष्यो को दो वर्गों—शोषित और शोषक—में बांटते हैं। मानव-सभ्यता का समग्र इतिहास इन्ही दो वर्गों की कहानी है—पहला युग दास-प्रथा का युग था जबकि श्रमिक के व्यक्तित्व उसके श्रम उत्पत्ति के साधनों तथा उत्पादन—इन चारो पर मालिक (शोषक) का अधिकार था। आगे चलकर दूसरा युग सामन्ती प्रथा का आया जिसमे मजदूर के व्यक्तित्व को तो स्वतन्त्रता मिल गयी किन्तु शेष तीनो बातो पर सामन्त (शोषक) का ही अधिकार रहा। दास प्रथा के युग मे श्रमिक को किसी प्रकार की भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं थी जबकि सामन्ती युग में उसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो गयी अत यह व्यवस्था प्रथम व्यवस्था से श्रेष्ठतर थी। तीसरा युग पूंजीवादी व्यवस्था का आया जिसमे मजदूर के व्यक्तित्व एव उसके श्रम पर मजदूर का अधिकार हो गया किन्तु शेष दो पर पूंजीपति का अधिकार रहा। अर्थात् सामन्तवादी युग की भांति पूंजीवादी युग मे कोई किसी से बलात् श्रम नहीं करवा सकता। मजदूर अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे अपने श्रम को बेच सकता है। अतः दूसरी व्यवस्था स तीसरी व्यवस्था अच्छी है। किन्तु फिर भी श्रमिकों को उत्पादन का पूरा लाभ तभी मिल सकता है जबकि उत्पादन के

प्राय देखा गया है कि प्रत्येक नूतन साहित्य-धारा का आगमन उसके अपने पूर्ववर्ती साहित्य की प्रतिक्रिया के स्वरूप होता है। प्रगतिवाद के जन्म मे भी यह बात काम कर रही थी। लेखक छायावाद की काल्पनिक उडान से ऊब गया था अब वह ठोस धरती के ऊपर आना चाह रहा था। साथ ही छायावाद मे वैयक्तिकता का भी प्रभूत प्राधान्य था, इसकी भी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। महादेवी वर्मा के शब्दो मे छायावाद "व्यक्तिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा मे अनुत्तीर्ण रहा।" छायावाद के विषय मे पन्त जी का विचार है—'छायावाद के शून्य सूक्ष्म आकाश मे अति काल्पनिक उडान भरने वाली अथवा रहस्य के निर्जन अदृश्य शिखर पर विराम करने वाली कल्पना" को मानव-जीवन की वास्तविक समस्याओ का अकन करने के लिए 'एक हरी-भरी ठोम जनपूर्ण धरती" की आवश्यकता थी। क्योकि छायावाद मे वैयक्तिक कल्याणमयी भावुकता का अतिरेक था, मानव की समस्याओ, उसके आँसू और दु ख के अकन का प्रयत्न नही था। श्री राजाराम रस्तोगी ने प्रगतिवाद के जन्म के विषय मे लिखा है—"(छायावाद की) सूक्ष्म आध्यात्मिकता एव अशरीरी सौन्दर्य-कल्पना की उच्छृखल प्रवृत्तियो पर प्रगतिवाद एक प्रश्नवाचक चिह्न की तरह टूट पडा।" वस्तुत छायावाद की भौतिक जीवन से उदासीन आत्मनिष्ठ, सूक्ष्म, अन्तर्मुखी प्रवृति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे प्रगतिवाद का जन्म हुआ। जिस प्रकार द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और स्थूलता की प्रतिक्रिया छायावाद के रूप मे हुई, उसी प्रकार छायावाद की अत्यधिक आत्मनिष्ठता, काल्पनिकता और आदर्शवादिता की प्रतिक्रिया प्रगतिवाद के रूप मे प्रस्फुटित हुई। यदि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है तो प्रगतिवाद कल्पना-लोक के विरुद्ध स्थूल जगत की प्रतिक्रिया है। छायावादी काव्य मे कल्पना-लोक के वायवी चित्र अकित किये गये और कवियो को उस धरती का ध्यान ही न रहा जिस पर वे रह रहे थे। उन्होने समाज के प्राणियो का करुण क्रन्दन न सुनकर गगनचारिणी विहग-बालिका के मधुर गीत-द्वारा अपने हृदय को तृप्त किया। इन छायावादी कवियो की कल्पना के सुनील गगन मे उडान भरने वाली प्रवृत्ति सीमा का अतिक्रमण कर चुकी थी, अब उसकी प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी।

मार्क्सवाद और प्रगतिवादी साहित्य पर उसका प्रभाव

पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवादी विचार धाराओ का प्रतिफलन है। अत प्रगतिवाद को भली प्रकार समझने के लिए मार्क्सवादी विचारधारा से अवगत होना नितान्त अनिवार्य है। इस विचारधारा के प्रवर्त्तक कार्ल मार्क्स हैं जिनका जन्म सन् १८१८ ई० मे और मृत्यु सन् १८८३ ई० में हुई थी। इन्होने अपनी विचारधारा से समस्त योरोप मे ही नही, वरन् सम्पूर्ण विश्व मे क्रान्ति मचा दी थी। विद्वानो ने मार्क्सवादी विचारधारा को तीन प्रमुख शीर्षको मे विभक्त कर देखने का प्रयास किया है—(क) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, (ख) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त और (ग) मानव-सभ्यता के विकास की नयी व्याख्या।

साम्यवाद की अवतारणा करने वाले युग को उन्होंने स्वर्णिम युग माना है—

साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण।
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन ॥

सामन्तयुगीन तथा पूंजीवादी संस्कृति की निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। धर्म सभ्यता संस्कृति धर्म नीति और सदाचार का मूल्यांकन पन्त ने मानव-हित में किया है—

सभ्य शिष्ट औ संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित।
धर्म नीति औ सदाचार का मूल्यांकन है जनहित ॥

'युगान्त' में पन्त ने छायावाद के अन्त का दृश्य प्रस्तुत किया है। 'युगवाणी' में उन्होंने जन-जीवन को वाणी प्रदान की है। 'ग्राम्या' में उन्होंने ग्राम की अत्यन्त दीन-हीन दशा का चित्रण करते हुए लिखा है—

'यह तो मानव-लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम-सभ्यता संस्कृति से निर्वासित ॥
मानव की दुर्गति माया से ओत प्रोत मर्मान्तक।
सदियों से अत्याचारों की यह सूची रोमांचक ॥

निराला ने भी छायावाद से उठकर प्रगतिवाद में प्रवेश किया। भिक्षुक 'वह तोड़ती पत्थर' 'विधवा' जैसी कविताओं में उन्होंने भिखारी मजदूरनी दीन-दुःखी विधवा आदि के करुणाजनक चित्र अंकित किये हैं। उनके द्वारा चित्रित भिक्षुक का यह चित्र देखिए—

'वो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुंह फटी-पुरानी झोली का फैलाता।

निराला की कविताओं में परम्परागत रूढ़ियों के प्रति क्रान्ति की एक सहज भावना विद्यमान है। 'कुकुरमुत्ता' और 'नर्मोहरा' में उन्होंने सामाजिक परम्पराओं पर बड़े ही करारे व्यंग्य किये हैं। प्रगतिवादी काव्य को सर्वप्रथम नूतन भाषा-शैली प्रदान करने का श्रेय निराला को ही है। उन्होंने ही सर्वप्रथम नूतन छन्दों को बन्धनों से मुक्त किया। मुक्त छन्द के माध्यम से उन्होंने निम्न वर्ग के दैनिक-जीवन के कार्य कलापों के अनेक मार्मिक चित्र खींचे हैं

प्रगतिवादी काव्य के इतिहास में नरेन्द्र शर्मा का भी प्रमुख स्थान है। इन्होंने भी पन्त और निराला की भांति अपने कवि जीवन के प्रारम्भिक दिनों में छायावादी कविताएँ रचीं किन्तु आगे चलकर प्रगतिवादी दृष्टिकोण को अंगीकार कर लिया। प्रवासी के गीत जहाँ उनकी छायावादी रचनाओं का संकलन है वहाँ 'मिट्टी का फल' तथा 'पलाश वन' में उन्होंने प्रगतिवादी प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इन दोनों कृतियों में उन्होंने मानव जीवन की यथार्थ समस्याओं पर विचार किया है।

साधनो पर उनका अधिकार हो। यह व्यवस्था एक ऐसे समाज मे ही सम्भव है जहा मजदूरो की ही सत्ता हो। अस्तु, कार्ल मार्क्स का लक्ष्य उस चौथी व्यवस्था—साम्यवादी व्यवस्था—को स्थापित करना था जिसमे श्रमिको की प्रतिनिधि सरकार द्वारा उत्पादन के समस्त साधनो पर नियन्त्रण हो तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुरूप फल मिले। सक्षेपत, वर्ग-विहीन समाज की स्थापना ही मार्क्स का मूल उद्देश्य था।

हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य पर उपर्युक्त मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभूत प्रभाव पडा है। ऐसा एक भी प्रगतिवादी लेखक नही है जिसने श्रमिको के साथ पूर्ण सहानुभूति रखकर पूँजीपतियो के विरुद्ध क्रान्ति का आह्वान न किया हो। प्रगतिवादी प्रवृत्तियो के विवेचन मे यह स्वत ही स्पष्ट हो जायेगा कि कार्ल मार्क्स के विचारो ने इस साहित्यिक धारा के लेखको को कितना अधिक प्रभावित किया है। अब यहाँ पर पहले हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य का विवेचन करना है।

हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य

पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि हिन्दी मे प्रगतिवादी चेतना सन् १९३६ ई० के आस-पास आयी सन् १९३५ मे मुल्कराज आनन्द तथा सज्जाद जहीर के प्रयत्न से लखनऊ मे 'प्रगतिशील लेखक सघ' की स्थापना हुई, जिसके प्रथम अधिवेशन (१९३६) की अध्यक्षता मुशी प्रेमचन्द ने की। सभापति-पद से वक्तव्य देते हुए प्रेमचन्द जी ने प्रगतिशील साहित्य की विशेषताओ पर प्रकाश डाला। इस सघ का दूसरा अधिवेशन १९३८ मे सम्पन्न हुआ जिसके अध्यक्ष विश्वकवि रवीन्द्र थे। यही वह वर्ष है जब पन्त तथा नरेन्द्र शर्मा ने प्रगतिवादी साहित्य को गति देने के उद्देश्य से 'रूपाभ' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। मुँशी प्रेमचन्द के सम्पादकत्व मे प्रकाशित 'हस' का भी मूल उद्देश्य प्रगतिवादी साहित्य का ही प्रचार करना था।

प्रगतिवादी काव्य के प्रवर्त्तन का श्रेय प० सुमित्रानन्दन पन्त को दिया जाता है। आरम्भ मे वे छायावादी रहे और छायावादी कवि के रूप मे उन्होने 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव' और 'गुजन' नामक काव्य-कृतिया दी। किन्तु 'युगान्त', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे कल्पना-लोक की सैर करना छोडकर इस कठोर धरती पर उतर आये। इन पश्चात्कालीन रचनाओ के माध्यम से उन्होने किसानो तथा श्रमिको के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त की है। यहा उन्होंने प्रेम तथा सौन्दर्य का परित्याग कर वर्ग सघर्ष के प्रति जागरूक हो भौतिक जीवन के यथार्थ चित्र अकित किये हैं। पूजीवाद, सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के दुष्परिणामस्वरूप शोषित वर्ग की दयनीय स्थिति को उन्होंने देखा है और उस स्थिति का सफल चित्र अकित किया है। इस धरती के उन्होंने अनेक गीत गाये हैं। उदाहरण के लिए निम्नाङ्कित पक्तिया द्रष्टव्य हैं—

"ताक रहे गगन ?

मृत्यु नीलिमा गहन गगन ? निस्पन्द, शून्य, निर्जन, नि स्वन ?
देखो भू को, स्वर्गिक भू को, मानव-पुण्य प्रसू को!"

माथुर आदि कवियों ने भी प्रगतिवादी साहित्य की अभिवृद्धि में पर्याप्त योग दिया है। इन सभी ने अपनी-अपनी रचनाओं में समाज की वर्तमान समस्याओं को वाणी प्रदान की है। इनकी रचनाओं में दलित एवं पीड़ित निर्धन वर्ग के जीवन की विपन्नता दैन्य तथा निस्सहायावस्था के यथार्थ चित्र अंकित हुए हैं।

प्रगतिवाद के अन्तर्गत काव्य प्रणयन के अतिरिक्त विभिन्न गद्य विधाओं का भी सर्जन हुआ है। गद्य के क्षेत्र में प्रगतिवादी विचारधारा को सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने ही अपनाया है। उन्होंने अपने उपन्यासों तथा कहानियों में सामाजिक समस्याओं का यथार्थ अंकन किया है। कृषकों तथा श्रमिकों की शोचनीय दशा उन पर होने वाले जमींदारों तथा पूँजीपतियों के अत्याचारों और सामन्तवाद की कठोरता आदि का चित्रण उन्होंने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से किया है। निम्न तथा मध्यवर्ग के लिए उनके हृदय में सच्ची सहानुभूति है। 'रंगभूमि' 'कर्मभूमि' 'गोदान' आदि में उनके प्रगतिवादी विचारों की सुन्दर झाँकी देखी जा सकती है। उनकी 'कफन' नामक कहानी का प्रगतिशील कथा-साहित्य में प्रमुख स्थान है।

'चोटी की पकड़' 'काले कारनामे' 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि उपन्यासों में निराला ने भी मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को अपनाया है। उनकी 'चतुरी चमार' तथा 'पगली' नामक कहानियाँ भी प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। प्रसाद के 'कंकाल' नामक उपन्यास की गणना भी प्रगतिवादी उपन्यासों के अन्तर की जा सकती है। प्रगतिवादी उपन्यासकारों तथा कहानीकारों में प्रस्तुत लेखकों के अतिरिक्त यशपाल रांगेय राघव राहुल सांकृत्यायन कृष्णचन्द्र अमृतलाल नागर राजेन्द्र यादव आदि का भी नाम आदर के साथ लिया जाता है। प्रगतिवादी निबन्धकारों में डॉ० राम विलास शर्मा राहुल सांकृत्यायन यशपाल शिवदानसिंह चौहान आदि मुख्य हैं।

हिन्दी में प्रगतिवादी आलोचना ने भी एक नूतन दृष्टिकोण दिया है। इस प्रकार की आलोचना में साहित्य का मूल्यांकन समाज की उपयोगिता को दृष्टिपथ में रखकर किया जाता है। डॉ० रामविलास शर्मा शिवदानसिंह चौहान अमृतराय प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि प्रमुख प्रगतिवादी आलोचक हैं।

प्रगतिवादी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

प्रगतिवादी साहित्य का मूलाधार द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद है' अतः इसमें इस जीवन-दर्शन की प्रायः सभी मान्यताओं का समावेश मिलता है। संक्षेप में प्रगतिवादी साहित्य की निम्नांकित प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया जा सकता है—

(क) शोषक वर्ग के प्रति घृणा का प्रचार—समग्र प्रगतिवादी साहित्य में पूँजीवादियों के प्रति घोर घृणा का भाव व्यक्त किया गया है। प्रगतिवादी लेखक समझता है कि पूँजीपति निर्धनों का रक्त चूस-चूस कर सुख नींद सोते हैं। वह यह नहीं चाहता कि एक व्यक्ति तो वातानुकूलित कक्षों में विश्राम करे और दूसरा सड़कों पर पड़ा-पड़ा वस्त्राभाव के कारण जाड़ों में ठिठुरता रहे। इसीलिए वह शोषित वर्ग में शोषक वर्ग के प्रति घृणा का भाव भरना चाहता है और शोषितों को शोषकों के विरुद्ध क्रान्ति करने के लिए आह्वान करता है। प्रगतिवादी लेखक ने पूँजीपतियों के अत्यन्त घृणित चित्र उतारे हैं।

शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए उन्होने मार्क्सवादी विचारधारा के अनुरूप अनेक गीत लिखे हैं। रूढियो पर उन्होने बडे तीखे व्यग्य किये हैं। उन्होंने उन लोगो की खिल्ली उडाई है जो धर्म की आड मे जनता को ठगते हैं और साथ ही साथ भाग्यवाद की कटु भर्त्सना की है—

"एक व्यक्ति सचित करता है अर्थ कर्म के वल से।
और भोगता उसे दूसरा अरे भाग्य के छल से॥"

नरेन्द्र की भाषा मे प्रवाह, सरलता और भावमयता विशेष रूप से द्रष्टव्य है। भावो की सुन्दर अभिव्यक्ति से उन्होंने अपनी शैली को अत्यन्त आकर्षक बना लिया है।

शिव मगलसिंह 'सुमन' भी प्रगतिवादी काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। इनकी कविता पर रूसी साम्यवाद का बहुत अधिक प्रभाव है। रूस की लाल सेना से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होने भारतीय शोषित वर्ग को क्राति के लिए ललकारा है—

"युगो की खडी रूढियो को कुचलती।
लहर को लहर से सदा ही मचलती॥
अँधेरी निशा में मशालो सी जलती।
चली जा रही है बढी लाल सेना॥"

'मास्को अब भी दूर है' जैसी उनकी कविताओ को पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई है। भाषा सर्वत्र ही सरल है। ओज गुण भी सर्वत्र ही देखने को मिलता है। मुहावरो के प्रयोग मे 'सुमन' जी को बहुत अधिक सफलता मिली है।

रामधारीसिंह दिनकर ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण को स्वीकार कर अपने ओज पूर्ण स्वर से देश को जगाया है। 'हुकार' रसवन्ती','रेणुका', 'कुरुक्षेत्र' आदि आपकी प्रमुख प्रगतिवादी काव्य-रचनाएँ हैं। शोषित वर्ग के जीवन मे जो एक महान् अन्तर दिखायी पडता है, उसको उन्होने अत्यन्त सजीव अभिव्यक्ति प्रदान की है—

"श्वानो को मिलता दूध वस्त्र बच्चे भूखे अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाडो की रात बिताते हैं॥
युवती की लज्जा वसन बेच, जब व्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं॥"

दिनकर जी ने अपनी कविता 'कस्मै 'देवाय' मे वर्तमान सभ्यता का अत्यन्त भीषण चित्र अकित किया है। उनकी भाषा मे सर्वत्र ओज, प्रवाह एव सजीवता है।

रामेश्वर शुक्ल 'अचल' ने भी कृषको की अत्यन्त दयनीय स्थिति को देखा है—

"इन खलिहानो में गूँज रही, किन अपमानों की लाचारी।
हिलती हड्डी के ढाँचो ने, पिटती देखी घर की नारी॥
युग-युग के अत्याचारो की, आकृतियाँ जीवन के तल में।
घिर-घिर कर पुंजीभूत हुई, ज्यों रजनी के छाया-छल में॥"

इन कवियो के अतिरिक्त केदारनाथ अग्रवाल, डॉ० रामविलास शर्मा, रागेय राघव, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', भारतभूपण अग्रवाल गिरिजाकुमार

द्वारा स्थापित मन्दिरों के गगनचुम्बी कलशों में भी वह खून और पसीना एक कर देने वाले मजदूरों के गौरवपूर्ण जीवन की असफलताओं को प्रतिबिम्बित देखता है।

(च) उपयोगितावाद —प्रगतिवादी साहित्य उपयोगितावाद का उपासक है। प्रगतिवादी आलोचक उसी साहित्यिक कृति को मानता है जिसका मानव-जीवन में अधिक से अधिक महत्त्व हो। उसकी दृष्टि में सच्चा साहित्य वह है जो जन-जीवन को प्रगति के पथ पर अग्रसर करे।

(छ) भाषा-शैली —प्रगतिवादी साहित्य का सम्बन्ध जन-जीवन से होने के कारण इस धारा का साहित्यकार सरल एवं स्वाभाविक भाषा-शैली अपनाने का पक्षपाती है। प्रगतिवादी लेखक जनता के विचारों एवं भावों को व्यक्त करने के लिए नवीन शैली का प्रयोग करता है। स्पष्ट यथार्थ तथा वास्तविक विचारों को व्यक्त करने के लिए वह सरल सुबोध एवं व्यावहारिक भाषा का प्रयोग करता है वर्ग तथा निम्न वर्ग के बीच वैषम्य प्रदर्शित करने के लिए उसने अत्यन्त तीखी व्यंगमयी भाषा को अपनाया है वह परम्परागत उपमानों तथा प्रतीकों का परित्याग कर नवीन विचारधाराओं को व्यक्त करने में सक्षम नूतन उपमानों तथा प्रतीकों की योजना करता है। जब उसे शक्ति की तुलना करनी पड़ती है तो वह भीम, हनुमान आदि को न अपनाकर 'टैंक' और बुलडोज़र की ओर आकर्षित होता है। प्रतीकों के लिए वह मशाल, प्रलय, ताण्डव रक्त शोक आदि को अपनाता है। छन्दों के क्षेत्र में वह परम्परागत छन्दों का बहिष्कार कर नवीन मुक्त छन्द की ओर मुड़ता है। इस प्रकार भाषा-शैली के क्षेत्र में भी प्रगतिवादी साहित्यकार पूर्णरूपेण क्रान्तिकारी है।

प्रगतिवादी साहित्य में कतिपय त्रुटियाँ

विभिन्न आलोचकों ने प्रगतिवादी साहित्य की कुछ त्रुटियों की ओर भी संकेत किया है। प्रमुख त्रुटियाँ ये हैं—

(क) प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार चेतना से शून्य जड़तावाद है। धर्म ईश्वर परलोक संस्कृति आदि में उसका कोई विश्वास नहीं। भारत-जैसे धर्मप्रधान देश के लिए यह वाञ्छनीय नहीं।

(ख) प्रगतिवादी साहित्य एकांगी है वह समाज का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत नहीं करता उसकी पूरी सहानुभूति केवल शोषित वर्ग के साथ है। समाज में धनी निर्धन अशिक्षित-शिक्षित मूर्ख-पण्डित सज्जन-दुर्जन आदि सभी प्रकार के लोग रहते हैं। समाज इन सभी से सम्पूर्णता को प्राप्त करता है किन्तु प्रगतिवाद केवल कृषकों एवं श्रमिकों का ही प्रतिनिधित्व करता है मार्क्सवाद के अनुसार समाज के दो प्रमुख वर्ग हैं उन दोनों के ही श्यामल और भव्य रूप होते हैं किन्तु प्रगतिवादी लेखक को पूँजीपतियों की केवल बुराइयाँ ही बुराइयाँ दिखाई पड़ती हैं। उनमें कुछ गुण भी हो सकते हैं परन्तु उनकी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती।

(ग) प्रगतिवादी लेखक यथार्थ को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है और इसीलिए वह यथार्थवाद का चित्रांकन करते समय समाज के केवल कुत्सित रूप को ही अपनाता है उसके भव्य पक्ष की वह सर्वथा उपेक्षा करता है।

(ख) धर्म, ईश्वर तथा परलोक का विरोध —प्रगतिवादी साहित्य मे धर्म, ईश्वर तथा परलोक का घोर विरोध किया गया है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि आज के वैज्ञानिक युग मे इन सब पर से शिक्षित लोगो का विश्वास उठ गया है और दूसरे इसलिए कि स्वय मार्क्सवादी विचारधारा मे इन सबका प्रबल विरोध किया गया है। प्रगतिवादी लेखक की यह दृढ धारण है कि शोषित वर्ग अपनी दयनीय दशा का कारण शोषको को नही, वरन् अपने भाग्य को मानता है, इसीलिए भाग्यवाद को दूर कर शोषको के विरुद्ध सघर्ष करने के लिए शोषितो को प्रेरित करने के लिए वह इन सब का विरोध करता है। उसका यह विश्वास है कि जब तक श्रमिक धर्मपरायण, ईश्वरवादी तथा भाग्य पर निर्भर रहने वाला रहेगा तब तक वह हिंसात्मक क्रान्ति के लिए कभी प्रस्तुत नही होगा। शोषक वर्ग इन्ही अध्यात्मवादी मान्यताओ के बल पर शोषित वर्ग पर अत्याचार करता है। यही कारण है कि प्रगतिवादी लेखक 'ईश्वर असफल हो गया है', 'धर्म अफीम का नशा है' जैसे नारे लगाता है।

(ग) शोषित वर्ग की दीन स्थिति का चित्रण —प्रगतिवादी साहित्यकार का उद्देश्य शोषक एव शोषितो के बीच एक क्रान्ति खडी कर देना है। इसीलिए वह शोषितो की दयनीय स्थिति का वर्णन करता हुआ उन्हे आराम का जीवन व्यतीत करने वाले शोषको के विरुद्ध क्रान्ति के लिए प्रेरित करता है।

(घ) नारी-विषयक नवीन दृष्टिकोण —प्रगतिवाद ने नारी के विषय मे सर्वथा नूतन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। अब तक या तो नारी केवल उपभोग की वस्तु समझी जाती थी, जैसी रीतिकालीन काव्य मे अथवा फिर वह एक कल्पनालोक की सौन्दर्यमयी सृष्टि थी, जैसी छायावाद मे प्रगतिवादी साहित्य ने उसके स्वस्थ रूप को प्रस्तुत किया। प्रगतिवादी साहित्यकार ने नारी को पुरुष की ही भाँति स्थूल सृष्टि का एक अग माना है। उसने उसको अधिकार भी उतने ही देने की बात कही, जितने पुरुष को प्राप्त हैं। उसने नारी के शोषण का सर्वथा विरोधकर उसे पुरुष की जीवन-सहचरी के रूप मे प्रस्तुत किया। प्रगतिवादी साहित्य ने अट्टालिकाओ मे सुरक्षित राजकुमारियो की अपेक्षा खेत-खलिहानो मे काम करने वाली स्वस्थ कृषक-बालिकाओ तथा मजदूरनियो के चित्रण को विशेष महत्त्व दिया। यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किये जाने के कारण प्रगतिवादी साहित्यकारो ने कही-कही वासना के नग्न चित्र भी खीचे हैं जो कथमपि अभिनन्द्य नही।

(ङ) यथार्थवादी दृष्टिकोण —प्रगतिवादी साहित्य मे यथार्थ को प्रश्रय मिला है। प्रगतिवाद का एक लेखक सुन्दर, भव्य एव उदात्त का चित्रण उतना आवश्यक नही मानता जितना जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण। वर्तमान जीवन मे दैन्य, दुःख, शोषक, कठोरता और कुरूपता ही अधिक है, इसलिए प्रगतिवादी साहित्य मे भी उनकी यथार्थ अभिव्यक्ति को प्रधानता दी जाती है। प्रगतिशील साहित्यकार भव्य, महान् और आदर्श की ओर आकृष्ट न होकर कुरूप, कुत्सित, पतित एव कठोर सत्य का अकन करता है। वह ताजमहल की भव्य, कलापूर्ण दीवारो के भीतर भी उन्हें खडी करने वाले श्रमिक-वर्ग का हाहाकार सुनता है। धर्म के सरक्षक पूँजीपतियो

६५

प्रयोगवाद और हिन्दी काव्य

१ प्रयोगवाद—परिभाषा और नामकरण
२ प्रयोगवादी हिन्दी काव्य का संक्षिप्त परिचय
३ प्रयोगवाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—(क) विषयगत (ख) शिल्पगत
४ उपसंहार

प्रयोगवाद—परिभाषा

सामान्य रूप से 'प्रयोग' शब्द अंग्रेजी के 'एक्सपेरिमेण्ट (Experiment) का पर्याय है किन्तु हिन्दी में 'प्रयोगवाद' शब्द साहित्य की उस धारा विशेष को सूचित करता है जो आयी तो प्रगतिवाद के उपरान्त किन्तु उसका जन्म मूलत छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। प्रयोगवाद के उत्थान के कारण का उल्लेख करते हुए डा नगेन्द्र ने लिखा है— भाव-क्षेत्र में छायावाद की अतीन्द्रियता और वायवी सौंदर्य चेतना के विरुद्ध एक वस्तुगत मूर्त और ऐन्द्रिय चेतना का विकास हुआ और सौन्दर्य की परिधि में केवल मसृण और मधुर के अतिरिक्त परुष अनगढ़ भदेस का समावेश किया। प्रयोगवादी कवियों की मूल दृष्टि काव्य के विषय तथा शिल्प के मुख्य रूप से शिल्प के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग की ओर रही है। यही कारण है कि प्रयोगवाद की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए डा गोविन्दराम शर्मा ने कहा— प्रयोगवाद कविता की एक नूतन शैली विशेष है जो कवि द्वारा अनुभूत 'सत्य' को पाठक तक पहुंचाने के लिए विभिन्न प्रयोगों को आत्मसात् करती है।

काव्य की धारा-विशेष के लिए प्रयोगवाद' नाम सम्भवत 'तार सप्तक' में 'अज्ञेय जी द्वारा दिए गए इस 'वक्तव्य के आधार पर रखा गया है— प्रयोग सभी कालो के कवियो ने किए हैं। किन्तु कवि क्रमश अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों म प्रयोग हुए हैं आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रो का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी छुआ नही गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है। इन अन्वेषणकर्ता कवियों मे अज्ञेय जी ने तार सप्तक म ऐसे सात कवियो को अपनाया जो — 'किसी एक स्कूल के नही हैं किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं अभी राही हैं—राही नही राहों के अन्वेषी। —काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र मे बांधता है। आगे चल कर इन कवियो के विषय म अज्ञेय जी ने लिखा है—"उनमें मतैक्य नही है सभी महत्त्वपूर्ण विषयो मे उनकी अलग अलग राय है—जीवन के विषय में समाज और धर्म और राजनीति के विषय म काव्य-वस्तु और शैली के छन्द

(घ) अधिकाश प्रगतिवादी लेखक ऐसे हैं जो अत्यन्त सुख मे जीवन व्यतीत करते हैं और नरम गद्दो पर लेटे हुए श्रमिको की स्थिति का चित्र उतारते हैं जीवन-सघर्षों का कटु अनुभव न होने के कारण उनकी अभिव्यक्ति मे तीव्रता नही आती। ऐसा लगता है मानो दलितवर्ग के प्रति उनकी अनुभूति किराये की हो।

(ङ) प्रगतिवाद साहित्य के स्थायी मूल्यो की कोई चिन्ता नही करता। उसकी दृष्टि सामयिकता पर लगी रहती है और इससे साहित्य मे चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति का अवसर ही नही आने पाता। प्रगतिवादी लेखक चिरन्तन सत्य को स्वीकार ही नही करता साहित्य मे विविध युगो की परिस्थितियो के अनुरूप परिवर्तन का समर्थन करता है।

(च) एक प्रगतिवादी साहित्यकार का दृष्टिकोण मूल रूप मे वैज्ञानिक होने के कारण उसके साहित्य मे बौद्धिकता का प्राधान्य हो जाता है। रसोद्रेक करने वाले तत्त्वो का प्रगतिवादी साहित्य मे प्राय अभाव रहता है।

उपसहार

वास्तव मे यदि प्रगतिवादी साहित्य मे से उपर्युक्त त्रुटिया दूर हो जायें तो वह मानव का बहुत बडा मगल-विधायक बन सकता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे, 'इनके सिद्धान्त और उद्देश्य बहुत सुन्दर हैं लेकिन ये लोग कम्यूनिस्ट पार्टी के साथ जुडे हुए हैं, यही जरा खटकता है। अगर ये लोग दल द्वारा परिचालित होना छोड दें तो सब कुछ ठीक हो जाय।'' यह असदिग्ध है कि प्रगतिवाद का लक्ष्य अत्यन्त महान् है। बाबू गुलाबराय ने लिखा है—''प्रगतिवाद हमको स्वार्थपरायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखको को शैय्यासेवी अकर्मण्य नही रखा है।'' प्रगतिवाद का कडा विरोध करने वाले आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी भी इसकी-मगल विधायिनी शक्ति की उपेक्षा नही कर सके हैं। उन्हें भी विवश होकर लिखना पडा है—'साहित्य के सामाजिक लक्ष्यो और उद्देश्यो का विज्ञापन करने वाली यह पद्धति साहित्य का बहुत कुछ उपकार भी कर सकी है। उसने हमारे युवको को एक नई तेजस्विता भी प्रदान की है और एक नया आत्मबल भी दिया है उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं। प्रथम यह कि काव्य साहित्य का समन्वय सामाजिक वास्तविकता से है और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त सजग और सवेदनशील है, द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायेगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव-सम्बन्धी एक नई मापरेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमे दिया है जिसका उचित प्रयोग हम करेंगे।'' वस्तुत सच्चा प्रगतिवादी साहित्य हमारे जीवन को गति दे सकता है, वह हमारी उन्नति मे सहायक हो सकता है, किंतु सच्चा प्रगतिवादी साहित्य वही है जो भारतीय समस्याओ का समाधान भारतीय पद्धति पर करे। प्रगतिवाद को चाहिए था कि वह नास्तिकता का प्रचार छोड नग्न यथार्थ को भी भव्य, सुन्दर और सरस रूप मे अपनाता। इससे मगलमय समाज की सृष्टि की अधिक सम्भावना थी।

विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। धर्मवीर की कविता-पुस्तकों में 'ठंडा लोहा' तथा अन्य कविताएँ' यथा पुन 'कनुप्रिया' तथा सात गीत वर्ष मुख्य हैं। इन कवियों तथा कविता संकलनों के अतिरिक्त प्रभाकर माचवे के 'अनुक्षण' तथा 'स्वप्न भंग', भारत भूषण अग्रवाल का 'ओ अप्रस्तुत मन', जगदीश गुप्त के 'नाव के पाँव' तथा 'शब्द दंश', कुँवर नारायण का 'चक्रव्यूह', दुष्यन्त कुमार का 'सूर्य का स्वागत', देवराज का 'धरती और स्वर्ग', नरेश मेहता का 'बनपाखी सुनो', अजित कुमार का 'अकेले कण्ठ की पुकार', कीर्ति चौधरी की 'कविताएँ' आदि कविता संग्रह भी प्रयोगवादी कविता के सुन्दर उदाहरण हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, बालकृष्ण राव, विजयदेव नारायण साही आदि अन्य भी इस काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। इन कवियों के केवल कविता संकलन ही प्रकाशित नहीं हुए हैं वरन् विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कविताएँ आये दिन प्रकाशित होती रहती हैं।

प्रयोगवाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

प्रयोगवाद की प्रवृत्तियों को हम दो प्रमुख वर्गों में विभक्त करके देख सकते हैं (अ) विषयगत प्रवृत्तियाँ तथा (आ) शिल्पगत प्रवृत्तियाँ।

(अ) विषयगत प्रवृत्तियाँ —प्रयोगवाद की विषयगत प्रवृत्तियों में सर्वप्रथम जिस प्रवृत्ति पर हमारी दृष्टि जाती है वह है प्रयोगवादी कवियों का समसामयिक जीवन के प्रति आग्रह। यदि प्रयोगवादी काव्य को समसामयिक जीवन की चेतना का काव्य कह दिया जाय तो किसी प्रकार की अत्युक्ति न होगी। समसामयिक वस्तुओं तथा व्यापारों ने इस काव्यधारा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। रिक्शों के भोंपू की आवाज, लाउड स्पीकर का चीत्कार, मशीन के अलार्म की चीख, रेल के इञ्जन की सीटी आदि सभी को यथावत् अभिव्यक्ति यहाँ मिलेगी। गिरिजा कुमार माथुर की 'हवा देश' नामक कविता की निम्नांकित पंक्तियों में आधुनिक औद्योगिक और रासायनिक युग को वाणी प्रदान की गई है—

उगल रही हैं खानें सोना
अभ्रक ताँबा जस्त क्रोमियम
टीन कोयला लोह प्लेटिनम
यूरेनियम अनमोल रसायन
कोपैक सिल्क कपास अन्न-धन
द्रव्य फौलादों से पूरित।

नलिन विलोचन शर्मा ने वसन्त वर्णन के प्रसंग में लाउड स्पीकर की ध्वनि को अंकित किया है। प्रत्यूष-वर्णन में उन्होंने रिक्शों के भोंपू की आवाज का उल्लेख किया है। एक अन्य स्थल पर रेल के इञ्जन की ध्वनि का उल्लेख किया है। मदन वात्स्यायन ने भी कारखानों में चलने वाली मशीनों की ध्वनि को ज्यों का त्यों अवतरित कर दिया है। प्रयोगवादियों का समसामयिकता के प्रति इतना अधिक मोह है कि उन्होंने उपमान तथा बिम्बों का चयन भी समसामयिक युग के विभिन्न उपकरणों से किया है। इस प्रसंग में भारत भूषण अग्रवाल की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिनमें उन्होंने लाउड स्पीकर तथा टाइपराइटर की 'की' को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है—

और तुक के, कवि के दायित्वो के प्रत्येक विषय मे उनका आपस मे मतभेद है । यहा तक कि हमारे जगत के ऐसे सर्वमान्य और स्वय सिद्ध मौलिक सत्यो को भी वे स्वीकार नही करते, जैसे—लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगो का समाजीकरण, यात्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननवाला और सहगल के गानो की उत्कृष्टता इत्यादि। वे सब एक-दूसरे की रुचियो, कृतियो और आशाओ और विश्वासो पर, एक-दूसरे की जीवन परिपाटी पर और यहां तक कि एक-दूसरे के मित्रो और कुत्तो पर भी हसते हैं।''

प्रयोगवादी कवियो का प्रयोग अथवा नूतनता के प्रति इतना अधिक आग्रह बढता चला गया कि सन् १६५४ के तथा उसके बाद की रचनाओ को नयी कविता के नाम से पुकारा जाने लगा। कुछ लोग प्रयोगवाद तथा नयी कविता के बीच भेद करते हैं, किन्तु यह भेद ठीक नही, क्योकि इन दोनो नामो से अभिहित कविताओ के न तो कवि ही अलग-अलग हैं और न उनकी मूलभूत प्रवृत्तिया। इसलिए यहा पर प्रयोगवाद और नई कविता को एक मानकर उसके कवियो तथा प्रवृत्तियो का विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

प्रयोगवादी हिन्दी-काव्य का सक्षिप्त परिचय

प्रयोगवाद का आरम्भ 'तार सप्तक' के प्रकाशन (सन् १६४३ ई०) से माना जाता है। इनमे सात कवियो की कविताएँ सकलित हैं। ये कवि हैं—गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, डा० रामविलास शर्मा तथा सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'। 'तार सप्तक' के सम्पादक 'अज्ञेय' जी हैं। सन् १६५१ मे पुन 'अज्ञेय' जी के ही सम्पादकत्व मे'दूसरा सप्तक प्रकाश मे आया। इसमे फिर सात कवियो की कविताए सकलित की गयी। इन कवियो के नाम हैं—भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीर सहाय तथा धर्मवीर भारती। इन कविता-सग्रहो के अतिरिक्त 'प्रतीक' नामक मासिक पत्रिका भी प्रकाश मे आई, जिसमे प्रयोगवादी अथवा नये कवियो की कविताओ को प्रश्रय दिया गया है। इस पत्रिका के भी सम्पायक 'अज्ञेय' जी ही हैं। 'पाटल', 'दृष्टिकोण', 'कल्पना', 'अजन्ता', 'राष्ट्रवाणी', 'धर्मयुग', आदि पत्र-पत्रिकाओ मे भी नयी कविता को पर्याप्त स्थान मिला है। सन् १६५४ मे 'नयी कविता' डा० जगदीश गुप्त के सम्पादन मे निकली। यह वार्षिक पत्रिका है जिसके आज तक कई अक प्रकाश में आ चुके हैं। 'निकष' भी नई कविता की प्रमुख पत्रिका हैं।'तार सप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक' की परम्परा मे 'तीसरा सप्तक भी प्रकाशित हुआ है, जिसके सम्पादक 'अज्ञेय' जी ही हैं। इसमे भी सात ही कवियो की रचनाएँ सगृहीत हैं।

प्रयोगवाद किंवा नई कविता के विभिन्न कवियो के अनेको स्वतन्त्र कविता-सकलन भी प्रकाशित हो चुके हैं। 'अज्ञेय' जी के जो कविता-सकलन प्रकाश मे आये हैं उनमे से 'हरी घास पर क्षण पर', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' आदि मे प्रयोगवादी प्रवृत्तियो का स्वर प्रभूत मात्रा मे मुखरित हुआ है। गिरिजा कुमार माथुर के काव्य सग्रह 'मजीर', 'नाश और निर्माण', 'शिला पख चमकीले' तथा 'धूप के धान

जो पूजा-भावना व्यक्ति की क्षमता को सीमित करने वाली है साही में उसकी स्पष्ट अस्वीकृति है।

प्रयोगवादी कविता की तीसरी विषयगत प्रवृत्ति है लघु मानव की प्रतिष्ठा। इसमें सन्देह नहीं कि इस कविता म मानव की लघुता को प्रमुख स्थान मिला है किन्तु साथ ही उसके व्यक्तित्व तथा सामर्थ्य पर विश्वास और गौरव की भावना प्रकट हुई है। वस्तुत प्रयोगवादी काव्य में लघु मानव की एक ऐसी धारणा को स्थान मिला है जो इतिहास की गति को एक अप्रत्याशित मोड़ दे सकने की क्षमता की ओर इंगित करती है। उदाहरणाथ धर्मवीर भारती की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

मैं रथ का टूटा पहिया हूं
लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति
सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले।"

इस काव्य मे मानव के लघु व्यक्तित्व की उस शक्ति पर गौरव तथा अभिमान की अभिव्यक्ति की गई है जो महत्ता की चरम सीमा का स्पर्श करती है। धर्मवीर भारती लघु मानवो को साहस बंधाते हुए कहते हैं—

हारो मत साहस मत छोड़ो
इससे भी अथाह शून्य में
बौनो ने तीन पगों में धरती नापी।

प्रयोगवादी काव्यधारा की चौथी प्रवृत्ति अनास्थावादी तथा संशयात्मक स्वरों की अभिव्यक्ति है। डा शम्भूनाथ चतुर्वेदी ने अनास्थामूलक प्रयोगवादी काव्य के दो पक्ष स्वीकार किये हैं। एक आस्था और अनास्था की द्वन्द्वमयी अभिव्यक्ति जो वस्तुत निराशा और संशयात्मक दृष्टिकोण का संकेत करती है। दूसरी नितान्त कुण्ठापूर्ण मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति। कुण्ठा एक अनास्थामूलक वृत्ति है। धर्मवीर भारती की निम्नांकित पंक्तियों मे कुण्ठाजन्य असमर्थता का प्रतिफलन हुआ है—

अपनी कुण्ठाओं की
दीवारों में बन्दी
मैं घुटता हूं।

इसी प्रकार उनकी कविता मेरी परछाईं मे जहा एक ओर साहसपूर्वक मन्तव्य तक जाने की बात कही गई है वहीं दूसरी ओर यह भी आशंका व्यक्त की गई है कि कहीं वह भी और लोगो की भांति साहस खोकर भटक न जाये और उसकी परछाईं तड़पे—

"सघन तिमिर को कुचल-कुचलकर
यदि मैं चलता ही जाऊं तो
मेरे ही कदमों से लिपटा सूर्य उगेगा

"कैमरे के लैन्स-सी हैं आँखें बुझी हुईं,
बिगडे, कम्बख्त लाउडस्पीकर से
जिनके मुख निश्शब्द खुले हैं।
. ..
दाँतेदार पहिये-सा दिल घूमे जाता है
.
टाइपराइटर की "की" की तरह
सबके पैर बारी-बारी से उठते हैं।"

रघुवीर सहाय ने भी पहिये और सिनेमा की रील के उपमानो को ग्रहण किया है। सिनेमा की रीलो का उपमान समसामयिकता के मोह की ओर ही इगित करता है। केसरी कुमार अपनी एक कविता की निम्नाकित पक्तियो मे व्यावसायिक जीवन के उपमान का प्रयोग करते हैं—

"बादल है
सेठ चेहरोवाला
जो कभी सूरज के कान
उमेठ देता है, जान
कर दूकान, कभी
मेजों की मक्खियो-सा
भनभनाता, कभी ।"

चिकित्सा तथा रसायन-शास्त्र से अनेको उपमान प्रयोगवादी कवियो ने ग्रहण किये हैं।

प्रयोगवादी कविता की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति विद्रोहात्मक स्वर तथा व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति की है। इस कविता में विद्रोह का स्वर एक ओर समाज और परम्परा से अलग होने के रूप मे मिलता है और दूसरी ओर आत्मशक्ति के उद्घोष-रूप में। भवानी प्रसाद मिश्र की निम्नाकित पक्तियो मे जो उल्लास है वह परम्परा और रूढि से मुक्ति पाने के लिए है—

"ये किसी निश्चित नियम, क्रम की सरासर सीढ़ियाँ हैं,
पाव रखकर बढ रहीं जिस पर कि अपनी पीढ़ियाँ हैं,
बिना सीढ़ी के बढ़ेंगे तीर के जैसे बढ़ेंगे।"

विद्रोह का दूसरा रूप चुनौती और ध्वस की बलवती अभिव्यक्ति के रूप मे उपलब्ध होता है। भारतभूषण अग्रवाल में 'स्वय का ज्ञान' इतना अधिक प्रबल हो उठा है कि वे नियति को सघर्ष की चुनौती देते हुए कहते हैं—

"मैं छोडकर पूजा
क्योंकि पूजा है पराजय का विनत स्वीकार—
बाँधकर मुट्ठी तुझे ललकारता हूँ,
सुन रही है तू ?
मैं खड़ा तुमको यहाँ ललकारता हूँ।"

विवेच्य काव्यधारा की पाँचवीं प्रवृत्ति के अन्तर्गत आस्था तथा भविष्य के प्रति विश्वास को लिया जा सकता है। नरेश मेहता तथा रघुवीर सहाय ने काव्य में अनास्थामूलक तत्वों को अनावश्यक माना है। गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में आस्था के बल पर नव-निर्माण का स्वर भली प्रकार मुखरित हुआ है। हरिनारायण व्यास तथा नरेश मेहता में भी आस्थामूलक वृत्तियों के प्रति आग्रह है। आस्था का पहला रूप पुरोगामी संकल्प का सूचक है। उदाहरणार्थ अज्ञेय जी की इन पंक्तियों में आस्था की कुछ सफल अभिव्यक्ति हुई है—

'मैं आस्था हूँ
तो मैं निरन्तर उठते रहने की शक्ति हूँ

जो मेरा कर्म है उसमें मुझे संशय का नाम नहीं
वह मेरी अपनी साँस-सा पहचाना है

आस्था के दूसरे रूप में सर्जन-शक्ति अथवा कर्म निष्ठा की भावना आती है। एक अन्य स्थल पर अज्ञेय जी ने आस्था के माध्यम से पूर्णता के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित होने की बात का संकेत किया है—

'आस्था न कांपे मानव फिर मिट्टी का भी देवता हो जाता है।

आस्था के ही बल पर 'अज्ञेय' जी अपनी आत्मा से निर्माण की ओर बढ़ने का अनुरोध करते हैं—

"अभी न हारो अच्छी आत्मा
मैं हूँ तुम हो और अभी मेरी आस्था है।

डॉ॰ शम्भूनाथ चतुर्वेदी ने प्रयोगवाद में आस्थामूलक वृत्तियों का विवेचन करते हुए लिखा है— 'मंगलमय भविष्य के प्रति विश्वास की भावनाएँ गिरिजाकुमार हरि व्यास और नरेश मेहता की रचनाओं में देखी जा सकती हैं। आगत की प्रतीक्षा का स्वर गिरिजाकुमार और दुष्यन्त कुमार के काव्य में अभिव्यक्त हुआ है। जीवन के भविष्य का अपराजित स्वरूप गिरिजाकुमार में दृष्टिगोचर होता है। 'मैन हटन' 'मिट्टी के सितारे' 'पूर्व की किरन' 'तैंतीसवीं वर्षगाँठ' और 'चाय शीर्षक रचनाएँ इसके प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं।

गिरिजाकुमार माथुर ने नये आदर्शों के प्रति आसक्ति व्यक्त करते हुए लिखा है—

'विश्व में जब कुटिलता है, त्रास है
सत्य शिव का तब हमें विश्वास है।

माथुर जी ने मंगलमय सृष्टि के लिए आकांक्षा व्यक्त की है—

'भावनी रचे नये समाज का भवन
हो भविष्य सूर्य भरी मुक्ति के चरण।

वेदना की अनुभूति को प्रयोगवाद की छठी प्रवृत्ति स्वीकार किया जा सकता है। प्रयोगवादी कवि वेदना से पलायन न करके उसके सान्निध्य की अभिलाषा करते हैं। इसे उसने दो रूपों में स्वीकार किया है—एक तो वेदना को ग्रहण करने की

. . . .

लेकिन सम्भव है
कल मेरा साहस टूटे, हिम्मत छूटे
और भटक जाऊँ मैं अपनी पगडडी से।"

भारती जी के 'अधा युग' के विषय मे तो डा० शम्भूनाथ चतुर्वेदी ने यहाँ तक कहा है और उनका कथन सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है कि 'अन्धायुग' मे अनास्था सर्वत्र व्याप्त है। गाधारी, युयुत्सु और अश्वत्थामा के चरित्र मर्यादा की अपेक्षा अनास्था के अधिक निकट है। भारती ने 'अन्धा युग' मे मर्यादा की स्थापना और विघटन की समस्या को लिया है। परन्तु प्रत्येक चरित्र विघटित है—आस्था की मनोवृत्ति किसी भी पात्र मे उपलब्ध नही होती। गाधारी को कृष्ण के तथाकथित धर्म के प्रति अनास्था है और यह अनास्था विदुर के शब्दो मे निराशाजनित है। बलराम भी कृष्ण पर आक्षेप कर उनके प्रति अनास्था का प्रदर्शन करते हैं। युयुत्सु के चरित्र मे भी सुदृढ आस्था का प्रभाव है अन्यथा वह दुर्योधन का समर्थन कर परिजनो की सहानुभूति प्राप्त न कर सकने पर पश्चात्ताप न करता। एक अन्य स्थल पर युयुत्सु का कथन उसकी दुर्बल आस्था का ही परिचायक कहा जा सकता है।

"अच्छा था यदि मै
कर लेता समझौता असत्य से।"

"अश्वत्थामा अपनी अमानुपिकता मे अनास्थापूर्ण चरित्र है। युधिष्ठिर द्वारा आत्महत्या का प्रयास और युद्धोत्तर कथन उसकी हताशा और अनास्था के परिचायक कहे जा सकते हैं। युधिष्ठिर ने परिजनो की चारित्रिक व्याख्या करते हुए सर्वव्यापी अन्धकार और ह्रास का सकेत किया है—

"यह है मेरा
ह्रासोन्मुख कुटुम्ब
जिसे कुछ ही वर्षो मे बाहर घिरा हुआ
अँधेरा निगल जायेगा—।"

"मृत युयुत्सु द्वारा अश्वत्थामा को मिली आस्था पर आक्षेप अनास्था का प्रतिनिधित्व करता दीख पडता है। युयुत्सु आरम्भ मे धर्म और अन्याय की प्रेरणा से दुर्योधन का विरोध करता है और कृष्ण में अगाध आस्था रखता है। वही अन्त मे कृष्ण की मर्यादा और आस्था को झूठा सिद्ध करता है।"

प्रयोगवादी कविता में पस्ती, पराजय और अविश्वास की अभिव्यक्ति के रूप मे भी अनास्था को प्रमुख स्थान मिला है। विजयदेव नारायण साही ने जहा एक ओर व्यक्ति या समाज के जीवन को आक्रान्त करने वाली अनास्था का स्पष्ट प्रकाशन किया है, वहाँ दूसरी ओर सम्पूर्ण समाज अथवा व्यक्ति विशेष से अनास्था के तत्त्वो को ग्रहण करने का भी सन्देश दिया है—

"हर आँसू कायरता की खीझ नहीं होता।
बाहर आओ,
सब साथ मिलकर रोओ।"

कुँवरनारायण भी मानते हैं कि वासना के माध्यम से व्यक्ति अलौकिक तथ्यों की खोज कर सकता है—

वासना की घोर अन्धी तहों में
अनुभूतियों के सत्य
अपने में छिपाये वे अलौकिक तथ्य।

धर्मवीर भारती ने तो सम्भोग-दशा का स्पष्ट चित्र ही उतार दिया है—

मैंने कसकर तुम्हें जकड़ लिया है
और जकड़ती जा रही हूँ
और निकट और निकट

और तुम्हारे कन्धों पर बाँहों पर होठों पर
नागवधू की शुभ्र दंत-पंक्तियों के नीले-नीले चिह्न
उभर आये हैं—

गिरिजाकुमार माथुर द्वारा चित्रित वासना के चित्र स्मृति-जनित हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"आज अचानक सूनी-सी संध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम में जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा।
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं
रंग-भरी उस मिलन रात में।

वासना के इन्हीं नग्न चित्रों को देखकर ही आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने प्रयोगवादी काव्य की बड़ी भर्त्सना की है।

(आ) शिल्पगत प्रवृत्तियाँ—शिल्प के क्षेत्र में प्रयोगवादी कवियों ने काव्य में एक महत्त्वपूर्ण क्रान्ति ला दी है। मुक्ति बोध में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जो जटिलता से स्पष्टता की ओर जाने की प्रवृत्ति के सूचक हैं। गिरिजाकुमार माथुर ने विषय से अधिक टैक्नीक पर ध्यान दिया। भाषा ध्वनि तथा छन्द विधान में उन्होंने नवीन प्रयोग किये। प्रभाकर माचवे ने नयी अलंकार-योजना बिम्ब विधान और उपमानों के नये प्रयोगों को अधिक महत्त्व दिया। अज्ञेय जी ने साधारणीकरण की दृष्टि से भाषा-सम्बन्धी नवीनता को अधिक महत्त्व दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रयोगवादियों ने भाषा लय शब्द बिम्ब तथा छन्द विधान सम्बन्धी नये प्रयोगों पर ध्यान दिया।

प्रयोगवादी कविता में बिम्ब योजना बड़ी सफलता के साथ की गयी है। इस कविता से पूर्व की किसी कविता में इतने अधिक स्पष्ट बिम्ब उतरे हैं इसमें सन्देह है। बिम्ब-योजना के विषय में प्रयोगवादियों की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इनके

लालसा के प्रकटीकरण मे और दूसरे वेदना या पीडा की अतल गहराइयो मे बैठ कर नये अर्थ की उपलब्धि के रूप मे। भारत भूषण अग्रवाल वेदना को उत्साहवर्द्धिनी मानते हैं—

"पर न हिम्मत हार,
प्रज्वलित है प्राण मे अब भी व्यथा का दीप
ढाल उसमे शक्ति अपनी
लौ उठा।"

मुक्ति बोध की मान्यता है कि वेदना अथवा पीडा के अवशेष मानव की सघर्ष-शक्ति को उभारते हैं—

"किन्तु जो लघु दाग पड जाते हमारी आग के
वे वृद्धि के नक्षत्र,
उसके गणित के शत अक हो जाते
कि उनकी शक्ति पर
भूकप-गर्भा धरित्री-साधीर-गुरु व्यक्तित्व
शतधन्वा
विरोधी सृष्टि से अड़ता
उभड़कर काटता पार्वत्य बाधाएँ।"

प्रयोगवादी काव्य की सातवी प्रवृत्ति समष्टि-कल्याण की भावना है। इस काव्य में व्यष्टि के सुख की अपेक्षा समष्टि के कल्याण को अधिक महत्त्व दिया गया है। रघुवीर सहाय सूर्य से धरती के जीवन को मगलमय बनाने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

"आओ स्वीकार निमंत्रण यह करो,
ताकि, ओ सूर्य, ओ पिता जीवन के,
तुम उसे प्यार से वरदान कोई दे जाओ,
जिससे भर जाये दूध से पृथ्वी का आँचल;
जिससे इस दिन उसके पुत्रो के लिये मगल हों।"

वासना की नग्न अभिव्यक्ति प्रयोगवाद की आठवी प्रवृत्ति स्वीकार की जा सकती है। कुँवरनारायण ने यौनाशय को अत्यधिक महत्त्व दिया है—

"आमाशय,
यौनाशय,
गर्भाशय,
जिसकी जिन्दगी का यही आशय
यही इतना भोग्य,
कितना सुखी है वह,
भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य।"

दो लालटेन से नयन
निष्प्राण स्तम्भ
दो बड़े पाँव ।

इलियट के काव्य के प्रभाव-स्वरूप प्रयोगवादी कवियों में असंगत अनुषंगों (Free Associations) की भी भरमार मिलती है जिससे इनका काव्य अत्यधिक दुरूह हो गया है। यहाँ पर ये कवि असंगत अनुषंगों का प्रयोग करने लग जाते हैं। वहाँ पर इनकी विचारधारा में पूर्वापर का सम्बन्ध न होने के कारण किसी एक निश्चित अर्थ पर पहुँचना अत्यन्त कठिन हो जाता है। हिन्दी की प्रयोगवादी कविता में सर्वप्रथम इस प्रवृत्ति का अवतरण 'अज्ञेय' जी ने किया और उनके उपरान्त इसका बहुत अधिक प्रयोग होने लगा। असंगत अनुषंग अथवा असम्बद्धता के लिए यहाँ पर नरेश की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

ई से ईश्वर
उ से उल्लू—
माँ जी ?
नहीं जी
वह पंछी
जो देखता है रात भर ।

प्रस्तुत पंक्तियों का बड़ी माथा-पच्ची करने पर ही यह अर्थ निकाला जा सकता है कि कवि किसी काम में व्यस्त है कि इतने में उसका लड़का ई से ईश्वर उ से उल्लू रटता हुआ उसके पास आता है और सहसा कवि से अपनी माँ जी के विषय में प्रश्न करता है। कवि सम्भवतः यह समझता है कि लड़का कदाचित् यह पूछना चाहता है कि क्या माँ जी उल्लू हैं? कवि प्रश्न को जैसा समझता है उसके अनुसार उत्तर देता हुआ कहता कि नहीं माँ जी उल्लू नहीं हैं। उल्लू तो एक पक्षी है जो रात भर देखता है। स्पष्ट है कि असंगत अनुषंग प्रयोगवादी कविता को समझने में बड़ी बाधा उत्पन्न करते हैं।

छन्द विधान में तो नये कवि ने आमूल-चूल परिवर्तन ही कर दिया है। उसने जहाँ अंग्रेजी उर्दू आदि विभिन्न भाषाओं के कुछ छन्द अपनाये हैं वहीं उसने मुक्त छन्द को बहुत अधिक अपना लिया है। प्रयोगवादी कविता में अधिकांशतः मुक्त छन्द का प्रयोग हुआ है। इस मुक्त छन्द का रचना-विधान गद्य-जैसा होता है।

प्रयोगवादी कवि सामान्य जन का सामीप्य चाहता है इसलिए उसके काव्य में साधारण बोलचाल की भाषा मिलती है। कहीं-कहीं विचारों की गहनता के कारण भाषा संस्कृत परिनिष्ठित हो गयी है किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। भारत भूषण अग्रवाल ने भावानुरूप नयी भाषा-शैली का प्रयोग किया और कवि से '[illegible]' तोड़ने का निवेदन किया। प्रयोगवादी काव्य में लोक-गीतों के आधार पर सरल काव्य रचना भी हुई। प्रभाकर माचवे और 'अज्ञेय' के काव्य में ऐसे प्रयोगों के उदाहरण देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ 'अज्ञेय' जी की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं—

विम्ब नितान्त सजीव हैं। नरेश मेहता द्वारा अंकित एक बिम्ब द्रष्टव्य है—

"गोमती तट
दूर पेंसिल रेख-सा वह बाँस झुरमुट,
शरद दुपहर के कपोलों पर उडी वह धूप की लट
जल के नग्न ठंडे बदन पर कुहरा झुका
लहर पीना चाहता है।
सामने के शीत नभ मे
आयरन ब्रिज की कमानी, बाँह मस्जिद की विछी है।
धोबियो की हाँक,
बट की डालियाँ दुहरा रही हैं।
तुम यहाँ बैठी हुई थीं अभी उस दिन
सेव सी बन लाल
चिकने चीड सी वह बाँह अपनी टेक पृथ्वी पर यहाँ
वह गया वह नीर जिसको पदो से तुमने छुआ था
कौन जाने धूप उस दिन की कहाँ है,
जो तुम्हारे कुन्तलो में गरम, फूली, धुली, धौली लग रही थी।
चाहता मन, तुम यहाँ बैठी रहो,
उडता रहे चिडियों सरीखा वह तुम्हारा श्वेत आँचल।
किन्तु अब तो ग्रीष्म,
तू भी दूर ओ, ये लू।"

प्रस्तुत रचना के विम्ब-विधान की सबसे बडा वैशिष्ट्य यह है कि वह कवि की स्मृति मे आये भाव को निष्कपट रूप से प्रकृति के सहज वातावरण और पृष्ठभूमि के साथ प्रकट करने वाला है।

अप्रस्तुत-योजना में प्रयोगवादी कवियो ने पुराने उपमानो का इस प्रकार परित्याग कर दिया है जैसे दूध मे पडी हुई मक्खी को निकाल कर फेंक देते हैं। इनके प्राय सभी उपमान एक दम नये हैं। इनके अप्रस्तुत-विधान की प्रमुख विशेषता यह है कि वे जीवन से गृहीत हैं, उनकी सयोजना के लिए कल्पना के पखो पर नही उडा गया है। उदाहरण के लिए प्रभाकर माचवे की ये दो पक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

"नोन-तेल लकड़ी की फिक्र में लगे घुन से,
मकडी के जाले से, कोल्हू के बैल से।"

उपमान की नवीनता मुक्ति बोध की इन पक्तियो मे भी देखते ही बनती है जिनमे उन्होने नेत्रो के लिए लालटेन और पाँवो के लिए स्तभ के उपमानो को चुना है—

"अन्तर्मनुष्य
रिक्त-सा गेह

६६

हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण

१ प्रकृति और मानव

२ प्रकृति और कवि

३ प्रकृति चित्रण के विभिन्न रूप

४ प्रकृति-चित्रण की परम्परा—(अ) प्राचीन भारतीय काव्य में प्रकृति चित्रण (आ) हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण—(क) आदिकालीन काव्य में प्रकृति चित्रण (ख) पूर्व मध्यकालीन काव्य में प्रकृति चित्रण (ग) उत्तर मध्यकालीन अथवा रीतिकालीन काव्य में प्रकृति चित्रण (घ) आधुनिक कालीन काव्य में प्रकृति चित्रण

५ उपसंहार

प्रकृति और मानव

प्रकृति के साथ मानव का सम्बन्ध तभी से है, जब से वह इस धरातल पर आया। शिशु के रूप में उसने प्रकृति-जननी की ही उन्मुक्त क्रोड़ में खेलो-मीलन किया उसी की गोद में उसने स्वच्छन्द विहार किया और अन्त में उसी के वक्षस्थल पर वह चिर निद्रा में सोता रहा। महादेवी वर्मा ने प्रकृति और मानव के सम्बन्ध पर विचार करते हुए लिखा है—'स्वयं प्रकृति मानव-जीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रही है। प्रकृति के विविध कोमल-परुष सुन्दर विरूप व्यक्त रहस्यमय रूपों के आकर्षण ने मानव की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है इसका लेखा जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुत संस्कार क्रम में मानव-जाति का भाव-जगत ही नहीं उसके चिन्तन की दिशाएँ भी प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय द्वारा तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित है। वस्तुत प्रकृति ने मानव जीवन पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ रखी है। मनुष्य जब उसके कोमल एवं सौम्य रूपों को देखता है तो उसके हृदय में उल्लास होता है, उसके कठोर एवं भयावह रूप से मानव मन आतंकित होता है और अपने रहस्यात्मक रूपों से वह उसके हृदय में जिज्ञासा को उत्पन्न कर देती है। मानव मन की वृत्तियों के परिष्कार में प्रकृति का बहुत बड़ा हाथ है। सांसारिक संघर्षों एवं असफलताओं से उत्पन्न मानव मन की उद्विग्नता को शान्त करने में भी प्रकृति के रम्य दृश्यों का वही स्थान है जो फोड़े की पीड़ा के शमनार्थ मरहम का। हमारे अनेकों महापुरुष संसार से ऊबकर पर्वतों की घाटियों में जाते रहे हैं और वहाँ के रम्य प्राकृतिक दृश्यों से शान्ति-लाभ करते रहे हैं।

"मेरा जिया हरसा,
ओ पिया, पानी बरसा,
खड़-खड़ कर उठे पात
फड़क उठे गात।"

उपसंहार

इसमे सन्देह नही कि प्रयोगवादी कविता के कुछ कवि अपनी अनुभूतियों के प्रति पर्याप्त ईमानदार हैं, किन्तु आज ऐसे नये कवियो की भरमार हो गयी है जो अनुभूति-प्रवणता के नाम पर अधिकाश मे कूडा-कचडा लिख रहे हैं, जिसे कभी भी साहित्य में स्थान नही दिया जा सकता। नयी कविता अथवा प्रयोगवाद के कवि यदि थोडी-सी सावधानी से कार्य लें तो और भी उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाएँ दे सकते हैं। उनके लिए आवश्यकता इस बात की है कि वे वासना के खुले चित्रण, मुक्त अनुषग तथा गद्यवत् रचना करने की प्रवृत्तियो का परित्याग कर दें। यह ठीक है कि 'पुराण-मित्येव न साधु सर्वम्' किन्तु फिर भी परम्परा से एकदम विच्छेद हितकारी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति मे प्रयोगवादी कवियो का यह कर्त्तव्य है कि वे नवीनता को ग्रहण अवश्य करें, किन्तु परम्परा के ही सन्दर्भ मे।

है। किन्तु वस्तुतः यह प्रकृति चित्रण की कोई नवीन पद्धति नहीं जान पड़ती—इसका समावेश प्रकृति के प्रतीकात्मक रूप में ही हो जाता है।

(१) जहाँ प्रकृति का चित्रण-स्वतन्त्र रूप में किया जाता है वहाँ उसका आलम्बन रूप होता है। आलम्बन-रूप में प्रकृति-चित्रण का उद्देश्य स्वयं प्रकृति-चित्रण ही होता है। कवि प्रकृति का निरीक्षण करता है और उसके सूक्ष्मतम तत्त्वों के प्रति आकर्षित होता है। अपने इस आकर्षण को वह अपनी रचना में यथावत् अभिव्यक्ति दे देता है। यहाँ पर प्रकृति उसका साधन न होकर साध्य होती है। उदाहरणार्थ नीचे की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

कहीं शुकों का दल बैठ पेड़ की फली सशाखा पर केलिमत्त हो।।
अनेक मीठे फल का कवल को गिरा रहा भू पर था प्रफुल्ल हो।।
कहीं कपोती स्वकपोत को लिए विनोदिता हो करती विहार थी।।
कहीं सुनाती निजकान्त साथ थी स्व-काकली की कलकंठ कोकिला।।

(२) उद्दीपन रूप में प्रकृति नायक तथा नायिकाओं के हृदयगत भावों को उद्दीप्त करती हुई जान पड़ती है। नायक अथवा नायिका की जैसी मानसिक दशा होती है प्रकृति उसकी उस मानसिक दशा में तीव्रता लाती जान पड़ती है। संयोग की स्थिति में नायक-नायिका को जो चन्द्र चन्दन त्रिविध समीर उद्यान लता-पादप आदि उल्लसित करते हैं वियोग की दशा में वे ही उन्हें दग्ध करते जान पड़ते हैं। कृष्ण से मिलन की दशा में गोपियों को ब्रज का जो प्राकृतिक वातावरण सुखदायक था वही उनकी अनुपस्थिति में उन्हें जलाये डालता है—

"बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।।
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार सजीवनि दधि-सुत किरन भानु भईं भुंजैं।।"

(३) पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का चित्रण सप्रयोजन होता है। जहाँ प्रकृति का वर्णन आगे आने वाली घटनाओं के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है वहाँ इसी प्रकार का प्रकृति-चित्रण होता है। इस प्रकार का प्रकृति चित्रण महाकाव्यों में प्राय देखा जा सकता है। प्रलय के घनघोरतम मानव-सभ्यता का विनाश होने जा रहा है अतः प्रसाद ने 'कामायनी' में उसकी पृष्ठभूमि में प्रकृति को इस प्रकार अंकित किया है—

"उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी सी उदित हुई
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में शरद विकास नए सिर से।

(४) उपमान रूप में प्रकृति-चित्रण की परम्परा बड़ी प्राचीन है। कवि ने प्रकृति में सदैव एक विलक्षण सौन्दर्य देखा है। यही कारण है कि मानव के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए उसने विभिन्न प्राकृतिक उपादानों का चयन किया है।

प्रकृति और कवि

यो तो धर्म, दर्शन, साहित्य और कला, इन सभी में प्रकृति-चित्रण को स्थान मिला है, किन्तु काव्य मे उसे सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि काव्य का रचयिता कवि होता है और कवि साधारण मानव की अपेक्षा अधिक सवेदनशील प्राणी होता है। अपनी इसी सवेदनशीलता के कारण वह प्रकृति के विभिन्न दृश्यो से बहुत शीघ्र और बहुत अधिक अभिभूत होता है। यदि भली प्रकार देखा जाय तो पता लगेगा कि भारतीय वाङ्मय मे जितने भी महान् कवि हुए हैं, उनकी अमर वाणी को प्रस्फुटित होने की प्रेरणा प्रकृति से ही मिली है। आदि कवि की वाणी क्रौञ्चयुग्म मे से एक को बहेलिये द्वारा धराशायी होते देखकर निस्सृत हुई थी। कालिदास की अमर कविता आषाढ के प्रथम मेघो को देखकर फूटी थी। सुकुमार पन्त के काव्य के मूल मे भी प्रकृति ही कार्य कर रही है। "कवि के मनोभावो के विकास मे प्रकृति का सदैव महत्त्वपूर्ण योग रहा है। उपवन मे खिले हुए पुष्प मे वह अपने हृदय के उल्लास को एव प्रातःकालीन ओस की बूदो में अपने आसुओं को प्रतिविम्बित देखता है। वर्षा ऋतु मे आकाश मे उमडे हुए बादलो को देख कर उसे अपनी प्रेयसी की याद आ जाती है और वह बादलो द्वारा अपनी विरहिणी प्रेमिका तक सदेश पहुचाने के लिए उत्सुक हो उठता है। सयोगदशा मे वसन्त की मधुर मादक यामिनी उसके हृदय मे नव चेतना, नवीन उत्साह और नूतन उल्लास का सचार करती है। इसी प्रकार विषाद की स्थिति मे मलयानिल एव चन्द्रमा की शीतल किरणें उसके हृदय की व्यथा को उद्दीप्त करती हैं। कभी वह बहती हुई सरिता अपने प्रिय से मिलने के लिए उत्सुक विरहिणी नायिका का आभास पाता है और कभी आकाश के नक्षत्रो में किसी रहस्यमयी अज्ञात सत्ता के सकेत देखता है।"

प्रकृति चित्रण के विभिन्न रूप

यो तो प्रकृति-चित्रण को निश्चित वर्गों मे विभाजित कर पाना प्राय असम्भव-सा ही है, किन्तु फिर भी अध्ययन में सौकर्य की दृष्टि से कुछ आलोचको ने उसे ग्यारह वर्गों मे विभक्त किया है—(१) आलम्बन रूप मे, (२) प्रकृति मे मानव-भावनाओं का आरोप (मानवीकरण रूप मे), (३) पृष्ठभूमि के रूप में, (४) उद्दीपन रूप मे, (५) प्रतीकात्मक रूप मे) (६) विम्ब-प्रतिविम्ब रूप मे, (७) उपदेशिका के रूप मे, (८) अलकार-प्रदर्शन के रूप मे, (९) दूतिका के रूप मे (१०) रहस्यात्मक रूप मे, (११) मानवीकरण रूप में। ऐसा समझा जाता है कि यह परिगणन-सख्या मे वृद्धि करने के लिए कर दिया है। मानवीकरण का नाम दो बार आ गया है। दूतिका-रूप मे प्रकृति का चित्रण भी मानवीकरण के ही अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार प्रकृति-चित्रण की नौ प्रमुख पद्धतियाँ रह जाती हैं—(१) आलम्बन-रूप मे, (२) उद्दीपन-रूप मे, (३) पृष्ठभूमि के रूप मे, (४) उपमान-रूप मे, (५) मानवीकरण-रूप मे, (६) प्रतीक-रूप मे, (७) विम्ब-प्रतिविम्ब रूप मे, (८) उपदेशिका के रूप मे, (९) रहस्यात्मक रूप मे। कुछ विद्वानो ने प्रकृति-चित्रण का एक और रूप भी माना है और उसे 'अन्योक्ति रूप मे प्रकृति-चित्रण' नाम दिया

फूल को उर में छिपाए विकल बुलबुल हूँ
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ।
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

(७) जहाँ मानव के क्रिया-कलापों और प्रकृति के व्यापारों में समता दिखायी पड़ती है वहाँ प्रकृति का वर्णन बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप मे किया जाता है। गौतम की पत्नी यशोधरा अपने पुत्र राहुल को अपनी गोद मे बैठाये गा रही है। मैथिलीशरण गुप्त इस दृश्य को अंकित करते हुए कहते हैं—

रवि पर नलिनी की शिशु-छवि पर मौन दृष्टि लगा रही।
वहाँ अंक में मधुप यहाँ मैं गिरा एक गुण गा रही।

उधर नलिनी (कमलिनी) सूर्य की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देख रही है और इधर गोपी राहुल को गोद मे लिए गौतम के ध्यान मे बैठी है। उधर नलिनी के अंक मे मधुप बैठा है और इधर अपनी मा की गोद मे राहुल। उधर मधुप उषा का गुण गा रहा है और इधर राहुल गौतम की प्रशंसा कर रहा है।

(८) कभी-कभी कवि को प्रकृति उपदेश करती-सी ज्ञात पड़ती है। जब कवि उसका इस रूप मे चित्रण करता है तभी वह प्रकृति का उपदेशिका रूप मे चित्रण कहलाता है। यह प्रकृति हिन्दी-कवियों मे तुलसी के अन्दर बहुत मिलेगी। उन्हें प्रकृति का प्रत्येक उपादान उपदेश करता ज्ञात पड़ता है। वर्षा-वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

बरषहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध विद्या पाए॥
बूंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥
दामिनि दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।

(९) रहस्यवादी प्रकृति मे सर्वत्र विश्व की नियामक परम सत्ता का आभास पाता है। उसे प्रकृति के कण-कण मे परमात्मा का रूप दिखाई पड़ता है। जायसी समस्त चराचर जगत् में परम ज्योति के स्वरूप का दर्शन करते हैं—

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ विहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥
नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग-हीर॥'

प्रकृति चित्रण की परम्परा

(अ) प्राचीन भारतीय काव्य मे प्रकृति-चित्रण—भारत मे प्रकृति-चित्रण की परम्परा बहुत अधिक प्राचीन है। विश्व-वाङ्‌मय के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद मे ही इसका अत्यन्त प्रौढ़ रूप देखने को मिलता है। वैदिक ऋषि प्रकृति के नाना उपादानो के सौन्दर्य से अभिभूत तथा उनकी विकरालता से संत्रस्त हुआ है। उसने उन्हें देव-रूप मे स्वीकार कर उनकी अनेक प्रकार से स्तुतियाँ की हैं। इन्द्र अग्नि मरुत् उषस् आदि सूक्त इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। भाव रंगीनी की दृष्टि से उषस् सूक्त बहुत सुन्दर बन पड़ा है। इस सूक्त मे उषा की एक ऐसी प्रकाशमयी कमनीय एवं आकर्षणयुक्त

जब उसे नायिका के विभिन्न शरीरावयवो की तुलना करनी पडी है तो वह प्रकृति की ही शरण मे गया है और इस प्रकार उसके विविध पदार्थों से उसने अपने अलकारो की योजना की है। वास्तव मे उपमान-रूप मे प्रकृति का काव्य मे बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। जितने भी सादृश्यमूलक अलकार हैं, उनमें से अधिकाश प्रकृति-जगत् से ही लिये गये हैं। कविवर प्रसाद श्रद्धा के शरीर की मनोरम कान्ति की समता विद्युत्-पुष्प से करते हुए लिखते हैं—

"नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघवन बीच गुलाबी रग॥"

जायसी ने तो नायिका के एक-एक अग के लिए प्रकृति के अनेको उपमान लाकर जुटा दिये हैं—

"बरनौं मांग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहि चढा जेहि नाँहीं।
बिनु सेंदुर अस जानइ दीआ। उजियर पथ रैनि मँह कीआ॥
कचन रेख कसौटी कसी। जनु घन मँह दामिनी परगसी।
सुरुज किरन जनु गगन विसेखी। जमुना मांझ सुरसुती देखी॥"

(५) कवि द्वारा मानव-चेतना का प्रकृति पर आरोप प्रकृति का मानवीकरण कहा जाता है। प्रकृति के मानवीकरण की स्थिति मे पर्वत, सरिता, वन, रात्रि, उषा, सन्ध्या आदि सभी मानव की भाँति सप्राण एव स्पन्दनशील जान पडते हैं। ऐसी दशा मे वृक्ष प्रेमी और लता प्रेयसी के रूप मे एक-दूसरे के बाहु-पाश मे आबद्ध प्रतीत होते हैं। सरिता नायिका-रूप मे अपने प्रियतम समुद्र से मिलने के लिए उत्सुक दिखायी देती है। निशा-सुन्दरी चन्द्रमा के रूप मे अवस्थित अपने प्रिय से मिलन के लिए मनोरम वेश-भूषा से शृङ्गार करती जान पडती है। महादेवी वसन्त-रजनी को नवयुवती के रूप मे चित्रित करते हुए लिखती हैं—

"धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी।
तारकमय नव वेणी बन्धन, शीश फूल शशि का कर नूतन,
रश्मिवलय, सित घन-अवगुठन, मुक्ताहल अभिराम बिछा दे,
चितवन से अपनी, पुलकती आ वसन्त-रजनी॥"

यो तो प्रकृति पर मानव-चेतना का आरोप हमे ऋग्वेद की ऋचाओ मे मिलता है, किन्तु आज हिन्दी-काव्य मे मानवीकरण-रूप मे प्रकृति-चित्रण की जो प्रक्रिया अपनायी जा रही है, वह पाश्चात्य रोमानी काव्यधारा से प्रभावित है।

(६) जहा कवि भावसाम्य के आधार पर प्रकृति से उपादान चुन लेता है, वहा प्रकृति का प्रतीकात्मक चित्रण माना जाता है। प्राय देखा जाता है कि कवि निराशा के लिए अन्धकार को, दुख के लिए रात्रि को, सुख के लिए दिन को, आह्लाद और उल्लास के लिए उषा को, यौवन के लिए वसन्तादि को अपना लेता है। यहा पर अन्धकार, रात्रि, दिन, उषा तथा वसन्त पतीकात्मक प्रयोग ही हैं। प्रतीकात्मक रूप मे प्रकृति-चित्रण के लिए महादेवी की ये पक्तिया देखिये—

"नयन मे जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण मे वह निठुर दीपक हूँ।

लिखा है— काश के वस्त्रों से सुसज्जित परिपक्व धानों से ललित प्रशनु शरीर वाली विकसित (कमल के समान) मुख वाली यह शरद् सुन्दरी नूपुर ध्वनि के तुल्य हंसों के कलरव का शब्द करती हुई किसी नववधू के समान आ रही है। कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंश में भी प्रकृति के सुन्दर चित्र खींचे हैं। शिशुपालवध किरातार्जुनीय आदि महाकाव्यों में भी प्रकृति-वर्णन को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। मृच्छकटिक अभिज्ञानशाकुन्तल विक्रमोर्वशीय उत्तररामचरित आदि संस्कृत के नाटक भी प्रकृति-वर्णन से भरे पड़े हैं। दशकुमारचरित कादम्बरी हर्षचरित आदि गद्यकाव्यों में तो प्रकृति-चित्रण को शीर्षस्थ ही स्थान मिला है। इनके रचयिताओं की तूलिकों ने प्रकृति के बड़े ही मनोमुग्धकारी चित्र अंकित किये हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश में संस्कृत-कवियों के प्रकृति चित्रण का प्रायः पिष्ट-पेषण हुआ है। कहीं-कहीं अवश्य प्रकृति का मार्मिक वर्णन मिल जाता है। उदाहरणार्थ अब्दुर्रहमान ने के सन्देश रासक में विरहिणी नायिका की दशा का वर्णन उसी के मुख से कराते हुए लिखा है— (वर्षा ऋतु में) अम्बर में चारों ओर काले बादल छाये हुए हैं। काली बदमाओं की घरघराहट जोर से उठती है! नभ-मार्ग में विद्युत् तड़कती है। मेढकों की कठोर टर्राहट सहन नहीं हो पाती। धरती पर निरन्तर मूसलाधार वर्षा होती रहती है। हे पथिक! बताओ शिखर-स्थित कोयल के मीठे स्वर की चोट को कैसे सहन करूँ!! कवि ने भी ग्रीष्म ऋतु में मुग्ध वियोगिनी नायका का अच्छा चित्र खींचा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय काव्य में प्रकृति का अत्यन्त रमणीक चित्रण किया गया है। वहाँ उसने मानव की अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर रखा है। कहीं वह सौन्दर्य की सहायिका है तो कहीं स्वयं सौन्दर्य का प्रकाम भण्डार।

(आ) हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण —अधिकांश विद्वान् हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ रासो-काव्यों से मानते हैं अतः यहाँ पर हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण के लिए सर्वप्रथम रासो-काव्यों पर ही विचार किया जायेगा।

(क) आदिकालीन काव्य में प्रकृति-चित्रण—रासो-काव्यों में प्रकृति का वर्णन मुख्य रूप से उद्दीपन एवं उपमान-रूप में हुआ है। वहाँ पर नायिका के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है वहाँ पर प्रकृति के विभिन्न उपादान अलंकार बन कर आये हैं और जहाँ कवि का उद्देश्य नायिका का विरह-वर्णन रहा है वहाँ उसने प्रकृति को उद्दीपन रूप में चित्रित किया है। पृथ्वीराजरासो के कवि ने पद्मावती के रूप वर्णन के लिए विभिन्न उपमानों को प्रकृति से ही ग्रहण किया है—

"मनहुँ कला ससिभान कला सोलह सों बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय॥
विगसि कमल स्रग भ्रमर बेनु, खंजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिम्ब मोति नखसिख अहिघुट्टिय॥
छप्पति गयंद हरि हंस गति बिह बनाय संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पदमावतिय मनहुँ काम कामिनि रचिय॥"

कन्या के रूप मे चित्रित किया गया है जो अपने प्रियतम सूर्य के पास जाकर मनमोहक स्मितिपूर्वक उसके समक्ष अपने वक्ष-प्रदेश को निरावृत करती है। इसी प्रकार पुरुरवा को छोडकर जाती हुई उर्वशी के रूप-सौन्दर्य को चित्रित करते हुए कहा गया है कि उसकी कान्ति मेघो को चीरकर जाती हुई विजली के सदृश थी। मण्डूक-सूक्त मे मेढको के क्रिया-कलापो पर मानवीय जीवन-व्यापारो का आरोप किया गया है।

आदि कवि वाल्मीकि को तो प्रकृति-जगत् की ही एक घटना ने काव्य के लिए प्रेरित किया था। उनके अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ रामायण मे यत्र-तत्र प्रकृति-चित्रण अत्यन्त सुन्दर वन पडा है। वर्षा तथा शरद् का वर्णन तो अत्यन्त ही हृदयग्राही हुआ है। रामायण मे प्रकृति के उद्दीपन रूप का भी चित्रण कही कही मिल जाता है। कौशिक ऋषि के सयम को भग करने के लिए रम्भा को प्रेरित करता हुआ इन्द्र कहता है —

मा भैषी रम्भे भद्र ते कुरुष्व मम शासनम ।
कोकिलो हृदयग्राही माधवे रुचिरद्रुमे ॥
अह कन्दर्पसहित स्थास्यामि तव पार्श्वत ।
त्व हि रूप वहुगुण कृत्वा परमभास्वरम् ॥
तमृषि कौशिक भद्रे भेदयस्व तपस्विनम् ॥

अर्थात्, हे रम्भे ! तुम डरो नही। तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी आज्ञा का पालन करो। मैं वसन्त-ऋतु मे हृदयग्राही कोकिल का रूप धारण कर किसी सुन्दर वृक्ष पर कन्दर्पसहित तुम्हारे पास वैठूंगा। हे कल्याणि ! तुम अपने रूप को कई गुना अधिक चमकता हुआ वनाकर उस तपस्वी कौशिक के हृदय को कामदेव के वाणो से विद्ध करो।

महाभारत का प्रकृति-चित्रण और भी अधिक खिल उठा है। शकुन्तलोपाख्यान के प्रसग मे कण्व के आश्रम का वर्णन करते हुए महाभारतकार ने लिखा है—"वह वन पुष्पो से युक्त और वृक्षो से सुशोभित था। उसमे अत्यत सुखकारी हरी-हरी घास लहरा रह थी। अनेक सुन्दर पक्षियो के कलरव तथा कोयलो की कूक और झिल्ली की झकार से वह गु जरित हो रहा था।" (दृष्टव्य आदि पर्व, ७०।४,५,६)। नितात सौन्दर्यमयी वाला तप्ता के रूप-वैभव को चित्रित करते हुए महाभारत मे कहा गया है—"वह या तो लक्ष्मी है अथवा सूर्य से झडकर पडी हुई उसकी कान्ति है। अगो की द्युति की दृष्टि से वह रवि की शिखा-तुल्य और निर्मल सौन्दर्य की दृष्टि से चन्द्रलेखा-तुल्यप्रतीत होती है। पर्वत-प्रदेश पर स्थित यह श्याम-वर्ण नेत्रो वाली कन्या स्वर्ण की प्रतिभा-तुल्य प्रतीत होती है।

रामायण तथा महाभारत के उपरात सस्कृत मे जो-जो काव्य-ग्र थ लिखे गये उन सभी मे प्रकृति-वर्णन की भरमार है। वरन् परवर्ती महाकाव्यो मे तो प्रकृति-चित्रण को महाकाव्य का अपरिहार्य-तत्त्व स्वीकार कर लिया गया। कालिदास ने 'मेघदूत' मे प्रकृति की भव्य झाकिया प्रस्तुत की हैं। गभीरा नदी को उन्होंने मद-विह्वल नारी के रूप में प्रस्तुत करते हुए उस पर नायिका के हाव-भावो का आरोप किया है। 'ऋतु सहार' में भी उन्होंने शरद् को एक नववधू के रूप मे प्रस्तुत करते हुए

(ख) पूर्व मध्यकालीन काव्य में प्रकृति चित्रण—यद्यपि सन्त-कवियों का उद्देश्य प्रकृति का चित्रण करना कभी नहीं रहा, तथापि उन्होंने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के विभिन्न रूपों को अपनाया है। आध्यात्मिक प्रेम की साधना उत्साह तन्मयता और एकनिष्ठता का उल्लेख सन्त-कवियों ने प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से चुने हुए रूपकों के माध्यम से किया है। इस प्रकार के पदों में प्रकृति के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की व्यञ्जना अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है—

'मानसरोवर सुभग जल हंसा केलि कराहिं।
मुक्ताहलमुक्ता चुगें अब उड़ि अनत न जाहिं॥

साधनाजन्य अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिए भी कबीर प्रकृति की ही शरण में जाते हैं—

'अंतर कंवल प्रकासिया ब्रह्म बास तहँ होय।
मन भंवरा तहँ लुबुधिया जाणगा जन कोय॥

निम्नांकित पंक्तियों में कबीर ने प्रकृति के उपादानों का प्रतीक-रूप में प्रयोग किया है। यहाँ पर उन्होंने नलिनी को आत्मा का तथा जल को ब्रह्म का प्रतीक बना कर आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध की व्याख्या की है—

"काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास जल में नलिनी तोर निवास॥

जायसी में प्रकृति के उपमान उद्दीपन तथा रहस्यात्मक रूपों का प्राचुर्य है। उन्होंने जहाँ सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना की है वहाँ प्रकृति के पदार्थों एवं व्यापारों को उपमान-रूप में प्रस्तुत किया है। नख सिख-वर्णन के प्रसंग में उन्होंने प्रायः प्रकृति-चित्रण के उपमान-रूप से ही कार्य लिया है—

"ससिमुख अंग मलयगिरि बासा। अधर ओठ पुरइन बस राता॥
हसत-दसन-सौं किरनि जो फूटहिं। सब जग जनहुँ फुलझरी छूटहिं॥
जानहुँ ससि महँ बीज दिखावा। चौंकि परै किछु कहै न आवा॥

वर्षा-ऋतु नागमती की विरह-वेदना को और अधिक उद्दीप्त कर देती है—

चमक बीजु बरसै जलु सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥

यद्यपि तुलसीदास की वृत्ति प्रकृति-वर्णन में बहुत अधिक नहीं रमी है तथापि जहाँ कहीं भी उन्होंने प्रकृति को चित्रित किया है वहाँ उनका चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ा है और वह प्रायः उपमान तथा उद्दीपन रूप में आया है। उनके काव्य में प्रकृति उपदेशिका बनकर भी कई स्थलों पर आयी है। रामचरितमानस में चित्रकूट वर्णन में वनभूमि एवं पर्वतों के रमणीक चित्र अंकित हुए हैं। गीतावली और कवितावली में भी प्रकृति का वर्णन अच्छा हुआ है। प्रकृति के उपादानों को उपमान-रूप में ग्रहण करते हुए तुलसीदास ने लिखा है—

'उदित अगस्त पंथ जल सोखा। जिमि लोभहिं सोखइ संतोषा॥

सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥

प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप अशोक-वाटिका प्रसंग में मिल जाता है जहाँ राम के विरह में सीता को चन्द्रमा पावकमय प्रतीत होता है—

रासो-काव्य मे प्रकृति के उद्दीपन-रूप के चित्रण के लिए 'वीसलदेवरासो' का वह प्रसग द्रष्टव्य है जिसमे नायिका की भादो मास की झड़ियाँ नायिका की विरहाग्नि को और अधिक उद्दीप्त करती हैं—

"भादवउ बरसइ छइ मगहर गभीर । जल थल महीयल सहू भरया नीर ॥
जाणे सरवर उलटइ । एक अधारी बीजखी बाया ॥
सूनी सेज विदेश पिया । दोई दुख नाल्ह क्यु सइहणा जाई ॥"

यही पर मैथिल-कोकिल विद्यापति के प्रकृति-चित्रण पर विचार कर लेना समीचीन प्रतीत होता है । प्राकृतिक पदार्थों के अकन मे विद्यापति की भी दृष्टि रासो काव्यकारो की ही भाँति रही है, अर्थात् उन्होने भी अपने काव्य मे प्रकृति का उपयोग मुख्यत उपमान, विधान और उद्दीपन के लिए किया है, यो तो प्रकृति-वर्णन की अन्य पद्धतियाँ भी उनकी रचनाओ मे मिल जायेंगी । प्रकृति के विभिन्न पदार्थों को उपमान-रूप मे प्रयुक्त करते हुए उन्होने लिखा है—

"पीन पयोधर दूबर गता, मेरु उपजल कनक-लता ।
× × ×
सुन्दर वदन चारु अरु लोचन, काजर रजित भेला !
कनक-कमल माझ काल भुजगिनि, श्री युत खजन खेला !"

उद्दीपन-रूप मे चित्रित प्रकृति उनकी इन पक्तियो मे देखिए—

"नव बृन्दाबन नब नब तरुगन, नब नब बिकसित फूल ।
नवल वसत नवल मलयानिल, मातल नव अलि फूल ।
बिहरइ नवलकिसोर ।"

विद्यापति ने यत्र तत्र प्रकृति को कुछ अन्य रूपो मे भी प्रस्तुत किया है । उदाहरण क लिए उनके काव्य मे उसका प्रतीक-रूप देखिए—

"कौन कुबुधि लुटु मदन-भडार
× × ×
हाय-हाय सम्भु भगन भए गेल
× × ×
साझ क वेरि उगल नव ससघर
भरम विदित सविताहु !"

मानवीकरण इन पक्तियो मे देखा जा सकता है ।

"दखिन पवन वह दस दिस रोल, से जनि वादी भासा वोल ।
× × ×
माइ हे सीत-वसत विवाद, कओन विचारव जय-अवसाद ।
दुइ दिस मधय दिवाकर भेल, दुजवर कोकिल साखी देल ।
× × ×
वादी तह प्रतिवादी भीत, सिसिर-विन्दु हो अन्तर सीत ।"

यहाँ पर विद्यापति ने वसन्त और शीत को वादी तथा प्रतिवादी के रूप मे चित्रित किया है और अन्त में वसन्त की विजय दिखलाई है ।

योजना रीतिकालीन शृ गारी काव्य मे प्रचुर मात्रा मे हुई है। इस काल मे प्रकृति व की स्वाभाविक पद्धति का विकास नही हो सका। राजदरबारो में आश्रयदाताओं विलासप्रिय मनोवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए रीतिकालीन कवियो ने मानव-नारि के सौन्दर्य का प्रकाश म लाने का प्रयत्न किया है। स्वतन्त्र रूप म प्रकृति के सौ के उद्घाटन म उनकी दृष्टि नही रमी है।

(घ) आधुनिक कालीन काव्य में प्रकृति चित्रण — आधुनिक युगीन हि काव्य मे प्रकृति का चित्रण अत्यन्त व्यापक स्तर पर हुआ है। छायावादी काव्य में सबन प्रकृति की ही छटा देखने को मिलेगी।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तथा उनके समसामयिक बदरीनारायण चौधरी ठा जगमोहन सिंह प्रतापनारायण मिश्र बालमुकुन्द गुप्त आदि कवियो ने भारतेन्दु- मे प्रकृति के प्रति सच्चा अनुराग व्यक्त किया है।

द्विवेदी युगीन कवियों ने प्रकृति को अपने काव्य का वर्ण्य विषय बनाया है प्रकृति प्रेम से प्रेरित होकर स्वयं स्वतन्त्र रूप से प्रकृति के सुन्दर चित्र अंकित कि है। श्रीधर पाठक प्रकृति के सच्चे प्र मी के रूप में हमारे सामने आते हैं। राम सुमन ने प्रकृति को आलम्बन-रूप में प्रस्तुत किया है। रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथि तथा 'स्वप्न' खण्डकाव्यो में प्रकृति का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है उन्होने 'पथि में दक्षिण भारत की तथा स्वप्न म काश्मीर की प्रकृति श्री को चित्रित किया है अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध' के प्रियप्रवास म विरहविधुरा गोपियाँ अपनी हृ व्यथा को प्रकृति मे प्रतिबिम्बित देखती हैं—

> "विकलता उसकी अवलोक के। रजनि भी करती अनुताप थी॥
> निपट नीरव ही मिस ओस के। नयन से गिरता बहु वारि था॥
> विपुल नीर बहा कर नेत्र से। मिस कलिन्द-कुमारि-प्रवाह के॥
> परम कातर हो रहे मौन ही। रुदन थी करती ब्रज की धरा॥"

'हरिऔध' जी द्वारा किया गया प्रकृति का मानवीकरण बहुत सुन्दर है—

> प्रकृति-सुन्दरी विहँस रही थी चन्द्रानन था दमक रहा।
> परम दिव्य बन कान्त अंक में तारकचय था चमक रहा॥
> पहन श्वेत-साटिका सिता की वह लसिता दिखलाती थी।
> ले-ले सुधा सुधाकर-कर से वसुधा पर बरसाती थी॥

प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से मैथिलीशरण गुप्त के साकेत पंचवटी यशोधर सिद्धराज आदि ग्रन्थ पर्याप्त सुन्दर है। पंचवटी मे भ्रातृ-सेवा मे रत लक्ष्मण को चित्र करने के लिए उन्होने चन्द्र-ज्योत्स्ना से पूर्ण रात्रि का पृष्ठभूमि के रूप मे चित्रि किया है—

> "चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल म।
> स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बरतल में॥
> पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से।
> मानों झूम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से।

"पावकमय ससि स्रवत न आगी । मानहु मोहि जानि हतभागी ।।"

तुलसी मे प्रकृति के उपदेशष्टा-रूप पर विचार हम प्रकृति-चित्रण के विभिन्न प्रकारो के अन्तर्गत कर चुके हैं।

कृष्ण-काव्य मे प्रकृति मुख्यतया उद्दीपन और आलकारिक रूप मे चित्रित हुई है। सयोग-दशा मे प्रकृति मानव हृदय के उल्लास एवम् आनन्द को बढ़ाती है किन्तु विरह-दशा मे वह हृदय को अधिक व्याकुल बना देती है—

"पिया बिनु साँपिनि कारी राति ।
कबहु जामिनि होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति ।।"

प्रकृति के आलकारिक रूप के लिए इन पक्तियो पर दृष्टिपात कीजिए—

"अदभुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल पर गजबर क्रीडत ता पर सिंह करत अनुराग ।।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फले कज पराग ।"

(ग) उत्तर मध्यकालीन अथवा रीतिकालीन काव्य मे प्रकृति-चित्रण—यद्यपि रीतिकाल के प्राय सभी कवियो ने प्रकृति-वर्णन किया है तथापि उनके प्रकृति-निरूपण मे घिसापिटापन होने के कारण उसमे हृदयस्पर्शिता का प्राय अभाव है, किन्तु फिर भी कुछ कवियो के द्वारा उभारे गये प्रकृति चित्र पर्याप्त सुन्दर बन पडे हैं। बिहारी ने वायु को नवोढा का रूप प्रदान करते हुए लिखा है—

"लपटी पुहुप पराग-पट सनी स्वेद मकरद ।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायुगति मद ।।"

रीति-काल मे प्रकृति के उद्दीपन-रूप का प्राबल्य है। वर्षा-ऋतु के आगमन से मतिराम की विरहिणी नायिका काँप उठती है—

"धुरवान की धावन मानों अनग की तु ग ध्वजा फहराने लगी ।
नभ मडल तें छिति मडल छ्वै छिन जोत छटा छहराने लगी ।।
'मतिराम' समीर लगी लतिका बिरही वनिता थहराने लगी ।
परदेस मे पीय सँदेस नहीं चहूँ ओर घटा घहराने लगी ।।"

विरह की स्थिति मे यही दु खद प्रकृति सयोगावस्था मे सुहावनी लगती है—

भौंरन को गु जन बिहार वन कु जन मे, मजुल मलारन को गावनो लगत है।
कहे 'पद्माकर' गुमान हूँ तें मान हू तें, प्राण हूँ तें, प्यारो मन-भावनो लगत है।।
मोरन को सोर घन-घोर चहु ओरन, हिंडोरन को वृन्द छवि छावनो लगत है।
नेह सरसावन मे मेह बरसावन मे, सावन मे झूलिवो सुहावनो लगत है ।।"

रीतिकालीन कवियो के प्रकृति-चित्रण के विषय मे एक आलोचक का मत है—"रीतिकालीन कवियो ने नायक-नायिका के सौन्दर्य, हाव-भाव, प्रेम क्रीडा आदि के वर्णन मे प्रकृति के उपमानो की योजना करते हुए अलकारो के रूप मे भी प्रकृति-चित्रण को अपनाया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलकारो के लिए उन्होंने अधिकाश उपमान प्रकृति से ही चुने हैं। उनके उपमान परम्परागत ही हैं। भ्रमर, चन्द्र, चकोर, मीन, कमल, कीर, पिक आदि प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले उपमानो की

"उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई॥"

पन्त ने प्रकृति को अलंकार-रूप म प्रयोग करते हुए मृणाल-तन्तु, मेघ रेशम लहर, अ बकार आदि को कर्मों के उपमान-रूप में ग्रहण किया है—

घने लहरे रेशम से बाल
मिसिम्बों से उलझी गु बार,
मृणालो से मृदु तार
मेघ से सन्ध्या का शृंगार।

छायावाद के प्रकृति-चित्रण विषयक प्रस्तुत विवेचन से यह सिद्ध होता है कि छायावादी कवि ने प्रकृति को विभिन्न रूपों में देखा है और उसने अपने पूर्ववर्ती सभी कवियों की अपेक्षा प्रकृति को अधिक व्यापक रूप में अपनाया है।

उपसंहार

प्रस्तुत निबन्ध का समाप्त करते हुए डॉ गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों म कहा जा सकता है—"आधुनिक काव्य में प्रकृति और मानव दोनों एकाकार हो गए हैं। प्रकृति मे मानव के तथा मानव में प्रकृति के रूप वैभव का दर्शन सर्वत्र उपलब्ध होता है। प्रकृति आधुनिक कवियों का कथ्य है कथन है और कथन का साधक है। ब्रह्म के विराट रूप का प्रतिपादन करना हो या जीवन-दर्शन-सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को समझाना हो अथवा अपने किसी गुप्त प्रेम के किसी गोप नीय तथ्य की व्यंजना करनी हो हमारे काव्य रचयिताओं ने प्रकृति को सहायता के लिए आमन्त्रित किया है।

छायावादी कवि तो प्रकृति के रम्याद्भुत दृश्यो से अभिभूत ही हो गया है। कविवर पन्त तो प्रकृति की रम्य क्रोड का परित्याग कर प्रेमिका के प्रेमपाश तक मे नही फँसना चाहते। उन्होने स्पष्ट कहा है—

"छोड द्रुमो की मृदु छाया, तोड प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल मे कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को॥"

छायावादी कवि मे रहस्यात्मकता का प्राधान्य है, इसीलिए प्रसाद जी वडे ही जिज्ञासा-भाव से प्रश्न करते हैं—

"महानील इस परम व्योम के अन्तरिक्ष मे ज्योतिर्मान।
ग्रह नक्षत्र और विद्युतकण, किसका करते-से सधान॥"

मानवीकरण छायावादी प्रकृति-चित्रण की बहुत वडी विशेपता है। प्रसाद कामायनी मे 'धरा' को मानवती नायिका का रूप देते हुए लिखते हैं—

"सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक सकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति मे मान किए सी ऐंठी सी॥"

निराला ने 'सध्या' को सुन्दरी का रूप प्रदान किया है—

"दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है।
वह सध्या सुन्दरी परी सी,
धीरे, धीरे, धीरे॥"

सुमित्रानन्दन पन्त ने गगा को नारी का रूप देकर उसका चित्र इस प्रकार अकित किया है—

"सैकत शैय्या पर दुग्ध धवल, तन्वगी गगा ग्रीष्म विरल,
लेटी श्रांत क्लांत निश्चल।
तापस-बाला-सी गगा कल, शशिमुख से दीपित मृदु करतल
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।"

महादेवी वसन्त की रजनी को एक नवोढ़ा के रूप मे आह्वान करती हैं—

"तारकमय नव वेणी बन्धन,
शीशफूल शशि का कर नूतन,
मुक्ताहल अभिराम बिछादे—
चितवन से अपनी।
पुलकती आ वसन्त-रजनी।"

छायावादियो ने प्रतीक और उपमान रूप मे भी प्रकृति का उपयोग किया है जिसकी चर्चा पहले ही 'प्रकृति-चित्रण के विभिन्न रूप' नामक शीर्षक के अन्तर्गत हो चुकी है।

छायावाद मे कही-कही आलम्बन-रूप मे भी प्रकृति का वर्णन मिल जाता है। उदाहरण के लिए प्रसाद की ये पक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

कि इतनी अधिक प्रबल प्रवृत्ति होते हुए भी राष्ट्रीयता का परिगणन रस के भावों में भावों के अन्तर्गत क्यों नहीं किया ? उत्तर बड़ा ही स्पष्ट है और वह यह कि राष्ट्रीयता मानव-हृदय का चिरन्तन भाव नहीं है; जब-जब युद्धों का समारम्भ होता है तब-तब ही लोगों में राष्ट्रीयता की भावना बल पकड़ती है। साथ ही इसका स्वरूप सर्वत्र एक-सा नहीं है। भारतीयों के हृदय में राष्ट्रीयता का जो रूप है वह पाकिस्तानियों के हृदय में नहीं हो सकता—भारतीय जिस धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राणों को विसर्जित कर देना चाहते हैं ठीक उसी धर्म के लिए पाकिस्तानी नहीं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने पर राष्ट्रीयता को किसी भाव में तो समाहित करना ही पड़ेगा अतः यहाँ पर फिर एक नयी समस्या खड़ी हो जाती है। इस विषय में डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त ने अनेक सम्भावनाओं को प्रस्तुत करते हुए लिखा है—'राष्ट्रीयता का अर्थ देश-प्रेम भी किया गया है अतः कदाचित् कुछ विद्वान् इसे रति-भाव से सम्बन्धित मानें। अपने देश की दुर्दशा को देखकर भी राष्ट्रीयता का संचार होता है अतः उसे करुणा से भी सम्बन्धित बताया जा सकता है। देश प्रेम के लिए संघर्ष और युद्ध भी किया जाता है अतः इसे वीर रस में भी स्थान देने की बात सोची जा सकती है। देश के सुधार के लिए क्रान्ति का—इन्कलाब जिन्दाबाद का—आह्वान भी किया जाता है अतः इसे रौद्र में स्थान देना भी उचित है। देश प्रेम से अभिभूत व्यक्ति अपने देश पर अत्याचार करने वाले विदेशियों को घृणा की दृष्टि से देखता है अतः इसे घृणा या जुगुप्सा के आधार पर विकसित होने वाले भाव बीभत्स में भी स्थान देने की कल्पना की जा सकती है। अपने देश पर भारी विपत्ति की आशंका से भय का भी संचार सम्भव है अतः भयानक से भी इसका संबंध सम्भव है। भारत माता की पूजा करने वाले देश भक्तों को ध्यान में रखते हुए इसे भक्ति रस का भी दूसरा रूप बताया जा सकता है। इस प्रकार प्रायः सभी रसों से इसका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है जो इसकी व्यापकता को सूचित करता है किन्तु हमारी मूल समस्या का समाधान इससे नहीं होता। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राष्ट्रीयता का समाहरण उत्साह नामक स्थायी भाव के अन्तर्गत किया जा सकता है और इसकी अभिव्यक्ति करने वाले सभी काव्यों को वीर रसात्मक काव्य माना जा सकता है। राष्ट्रीय कविता का मूल प्रेरक भाव उत्साह ही है और वीररस के विविध भेदों के अन्तर्गत ही उत्साहमूलक राष्ट्रीय कविता को स्थान दिया जा सकता है।

हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता की भावना का विकास

यों तो संस्कृत में भी 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' जैसी राष्ट्रीय भावना से भावित उक्तियाँ भी मिल जाती हैं किन्तु संस्कृत-साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास हो नहीं पाया है। इस प्रकार के काव्य का सृजन तब हुआ जब देश पर मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण प्रारम्भ हो गये। यह समय हिन्दी-साहित्य का आदिकाल था अतः हमें राष्ट्रीय काव्य की परम्परा को हिन्दी के आदिकाल से ही देखना चाहिए।

(अ) आदिकाल—हिन्दी साहित्य के आदिकाल में राष्ट्रीय भावना का प्रारम्भिक रूप देखा जा सकता है। इस युग के कवि अधिकतर दरबारी होते थे और

: ६७ :

हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता की भावना

१ राष्ट्रीयता का स्वरूप-विश्लेषण

२. रस-सिद्धान्त और राष्ट्रीयता

३ हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता की भावना का विकास—(अ) आदिकाल, (आ) मध्यकाल, (इ) आधुनिक काल

४ उपसहार

राष्ट्रीयता का स्वरूप-विश्लेषण

राष्ट्रीयता का उद्देश्य समष्टि में आत्मगौरव की भावना का आधान कर उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर करने मे है। राष्ट्रीय-भावना को स्पष्ट करते हुए डॉ० गोविन्दराम शर्मा ने लिखा है—"जाति या राष्ट्र के व्यक्तियो की एक साथ मिल कर रहने और सामूहिक रूप मे अपनी तथा अपने देश को उन्नत बनाने की इच्छा ही राष्ट्रीय भावना कहलाती है। अपने देश के लिए अगाध भक्ति मे, अपनी सभ्यता तथा सस्कृति के प्रति गौरव मे अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा मे, विदेशी शासन के प्रति घृणा एव द्वेष में और अपने देश की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक दशाओ मे सुधार के प्रयत्न आदि मे यह राष्ट्रीय भावना प्रस्फुटित होती है। इस प्रकार राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण काव्य मे देश की महिमा गाई जाती है, अतीत के गौरव का चित्रण होता है। देशवासियो को अपने देश तथा उसकी स्वतन्त्रता को रक्षा के निमित्त मर-मिटने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और देश की उन्नति मे बाधक प्राचीन रूढ़ियो एव बुरी प्रथाओ के प्रति जनता के हृदय मे विद्रोह की भावना जाग्रत की जाती है।"

रस-सिद्धान्त और राष्ट्रीयता

रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत भावो का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है, किन्तु फिर भी उसमे राष्ट्रीयता नामक किसी भी भाव का उल्लेख नही मिलता जब कि यह मानव-हृदय की सर्वाधिक प्रबल प्रवृत्ति रही है। राष्ट्रीयता के आवेश मे मानव ने ससार के मोहकतम बन्धनो—स्त्री-पुत्र आदि के प्रति अनुराग—को भी तोड दिया है और जाति एव राष्ट्र की रक्षा के लिए वह सिर हथेली पर रखकर निकल पडा है। राष्ट्रीयता के ही भाव से प्रेरित होकर भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के समय लोगो ने अत्यन्त वैभवमय जीवन को ठुकरा कर कारावास के क्लेशपूर्ण जीवन को हँसते-हँसते झेला है। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न उठाया जाना स्वाभाविक है

(आ) मध्यकाल—हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल विशेष रूप से पूर्व मध्यकाल में कविता को राजदरबार से हटाकर साधु महात्माओं की कुटिया में शरण लेनी पड़ी अतः इस युग में राष्ट्रीय भावना प्रधान काव्य का सर्जन असम्भव-सा ही था किन्तु फिर भी इसी युग में कुछ ऐसे कवि हुए जिन्होंने स्वतन्त्रता के अमर सेनानी महाराणा प्रताप के शौर्य का अत्यन्त प्रभावशाली गान किया। यों तो बीकानेर के महाराजा पृथ्वीराज ने व्यक्तिगत रूप से अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी किन्तु फिर भी वे यह समझते थे कि जब तक महाराणा प्रताप जीवित हैं हिन्दू-गौरव की पताका अबाध गति से फहरा रही है। किन्तु जब उन्होंने सुना कि सकटों से तंग आकर प्रताप अकबर की अधीनता स्वीकार कर रहे हैं तो उन्होंने अत्यन्त ही मार्मिक शब्दों में महाराणा को लिखा—

> 'पटकू मूँछाँ पाण कै पटकू निज तन करद।
> दीजे लिख दीवाण इण दो महली बात इक॥"

अर्थात् आज हिन्दू-गौरव के प्रतीक तुम अकबर की अधीनता स्वीकार कर रहे हो यह जानकर मैं अपनी मूछों को नीचा कर लूँ अथवा अपनी गर्दन पर तलवार चलाकर आत्महत्या कर लूँ ? हे दीवान ! (महाराणा प्रताप की उपाधि) इन दो बातों में से एक बात मुझे लिखकर भेज दो।

पृथ्वीराज राठौड़ ने अनेक दोहों के माध्यम से अभारतीय संस्कृति के प्रतीक अकबर की निन्दा और भारतीय संस्कृति के प्रतीक प्रताप की प्रशंसा बड़े ही स्पष्ट शब्दों में की है—

> "माइरे अकबरियाह तेज तुहालो तुरकड़ा।
> नम नम नीसरियाह राण बिना सह राजवी॥
> माई एहड़ा पूत जण जेहड़ा राणा प्रताप।
> अकबर सूतो ओझकै जाण सिराणै सॉप॥

अथवा फिर—

> 'जासी हाट बात रहसी जग अकबर ठग जासी एकार।
> है राख्यो खत्री धम राणै सारा ले बरतो संसार॥

दुरसाजी ने भी प्रताप के प्रशसा-गान में किसी प्रकार की कसर उठा न छोड़ी उन्होंने भी लिखा

> अकबर गरब न आण हिंदू सह चाकर हुआ।
> दीठो कोई दीवाण करतो लटका कटहड़ै॥
> अकबर पत्थर अनेक कै भूपत भेला किया।
> हाथ न लागो हेक पारस राण प्रताप सी॥
> अकबर समद अथाह तिहँ डूबा हिंदू तुरक।
> मवाड़ो तिण माँह पोयण फूल प्रताप सी॥

हो सकता है कुछ लोग महाराणा प्रताप के इस गुणगान को राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित स्वीकार न करें किन्तु इतना स्पष्ट है कि इसमें जातीय गौरव

दरबार मे रहकर वे अपनी ओजस्विनी कविता द्वारा आश्रयदाताओ को विदेशी आक्रमणकारियो के विरुद्ध युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। उस समय देश छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त था। एक राजा दूसरे राजा के राज्य को हडपकर जाना चाहता था, अथवा एक राजा द्वारा किसी दूसरे राजा की सुन्दरी कन्या को माँगे जाने पर और उस राजा द्वारा अपनी कन्या को उसे न दिये जाने पर युद्ध प्रारम्भ हो जाता था और इस प्रकार व्यर्थ ही रक्तपात होता था। दरबारी कवि अपने आश्रयदाताओ को उनके विरोधी राजाओ के विरुद्ध भी युद्ध करने को उकसाते रहते थे। इस प्रकार इस युग की राष्ट्रीय भावना अत्यन्त सकुचित थी, उसे विशुद्ध देशभक्ति के अन्तर्गत नही लिया जा सकता। 'पृथ्वीराज रासो', 'हम्मीर रासो', 'वीसलदेवरासो', 'आल्हखण्ड' आदि इस युग के राष्ट्रीय-भावना-प्रधान प्रमुख काव्य हैं। युद्ध क्षेत्र मे मर-मिटने वाले योद्धाओ के शौर्य एव साहस के अत्यन्त प्रभावशाली चित्र इन वीरगाथाओ मे अकित हुए हैं। यहाँ पर इन वीरकाव्यो से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

"करतार हथ्थ तरवार दिय। इह सुतत्त रजपूत कर।"
"रजपूत मरन ससार बर।"

—पृथ्वीराजरासो।

वर्तमान आल्हखण्ड की रचना श्रुति-परम्परा से चले आते हुए जगनिक के आल्हखण्ड के आधार पर मानी जाती है। वर्तमान आल्हखण्ड मे लिखा है—

"बारह बरिस लै कूकर जीवै, औ तेरह लौं जियै सियार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीवै, आगे जीवन कै धिक्कार॥"
"स्वर्ग मढ़ैया सब काहू कै, कोऊ आज मरै कोउ काल।
खटिया परिकै जो मरि जैहो, कोउ न लैहै नाम अगार॥
× × ×
जो मरि जैहौ रन खेतन मैं, तुमरो नाम अमर होइ जाय॥"

आल्हखण्ड की तो बात ही छोडिये, क्योकि उसमे तो कवि का मूल उद्देश्य आल्हा तथा ऊदल की प्रशसा का गान करना ही रहा है, पृथ्वीराज रासो, जिसे कुछ अशो मे जातीय चेतना का महाकाव्य कहा जा सकता है, ऐसा ग्रन्थ नही है जिसमे कवि राजपूती-गौरव से ऊँचा उठ पाया हो। उसकी भी दृष्टि इतनी अधिक सकुचित है कि पृथ्वीराज और गौरी के सघर्ष को भी वह राष्ट्रीय सघर्ष के रूप मे नही अवतरित कर सका है। एक आलोचक के शब्दो मे "उस काल के चारण-कवियो की दृष्टि इतनी सकुचित रही कि वे राजपूत राजाओ और विदेशी आक्रान्ताओ के सघर्ष को जातीय या राष्ट्रीय सघर्ष के रूप मे न देख सके। सामूहिक रूप मे देश की रक्षा की ओर उनका ध्यान नही गया। उन्होने अपने आश्रयदाता राजाओ का यशोगान करना ही अपना कर्तव्य समझा। सम्पूर्ण देश एव जाति की रक्षा की भावना से प्रेरित होकर ही अपितु अपने आश्रयदाता की व्यक्तिगत वीरता से प्रभावित होकर ही उन्होने अपने काव्य की रचना की है। कभी-कभी तो इन चारण कवियो ने राजपूत राजाओ को पारस्परिक गृह-युद्धो के लिए प्रेरित करके देश की एक सूत्रबद्ध एकता को हानि पहुचाने मे भी योग दिया है।"

उनका राष्ट्रीय कवि होना असन्दिग्ध है। दूसरी बात यह कि भूषण मुसलमानों के विरोधी न होकर उस औरंगजेब के विरोधी थे जो हिन्दुओं पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार कर रहा था। बाबर हुमायूँ अकबर आदि मुगल-सम्राटों को भूषण ने बड़े ही आदर की दृष्टि से देखा है—

बब्बर अकब्बर हुमाऊँ हद्द बाँधि गए,
जो मैं एक करी न कुरान-बेद ढब की।

डा० विमलकुमार जैन ने ठीक ही लिखा है— भूषण मुसलमानों के विरोधी नहीं थे वरन् औरंगजेब के विरोधी थे जिसने अपने पूर्वजों द्वारा बनाये हुए सुन्दर मार्ग को छोड़कर हिन्दुओं पर आपत्तियों के पहाड़ ढा दिये थे। भूषण जाति-द्वेष के शिकार नहीं थे वरन् एक सच्चे राष्ट्रभक्त थे।

भूषण-काव्य की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए एक आलोचक ने लिखा है— भूषण के काव्य में देश की रक्षा एवं हिंदू जाति के उत्थान की भावना का प्राधान्य है। शिवाजी और छत्रसाल जैसे देशरक्षक एवं लोक-हितैषी वीर नायकों को आलम्बन बनाकर भूषण के कण्ठ से जो ओजस्विनी-कविता प्रवाहित हुई उसमें केवल भूषण का ही नहीं सारी हिन्दूजाति तथा सारे भारत का स्वर गूँजता है। भूषण की कविता का मुख्य उद्देश्य अपने वीर नायकों का यशोगान नहीं अपितु उनके यशोगान द्वारा पतन के गर्त में पड़ी हुई हिन्दू जाति के हृदय में राष्ट्रीय भावनाओं को जगाना था। भूषण की कविता में जातीय भावना सर्वत्र व्याप्त है। वह हिन्दू जाति की तत्कालीन मानसिक अवस्था की सच्ची परिचायिका है। शिवाजी की विजय को भूषण ने उनकी व्यक्तिगत विजय के रूप में नहीं हिन्दू जाति की विजय के रूप में देखा है। भूषण के काव्य में हिन्दू-संस्कृति हिन्दू धर्म एवं हिन्दूजाति के गौरव की मनोरम अभिव्यक्ति हुई है।

(इ) आधुनिक काल—हिंदी-साहित्य का आधुनिक काल भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के साहित्य-क्षेत्र में अवतरित होने पर होता है। इस समय तक अंग्रेज भारत के अधिकांश भाग पर अपना शासन स्थापित कर चुके थे। परिणामस्वरूप यहाँ पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार हो रहा था और नूतन परिस्थितियाँ जन्म लेती जा रही थीं। राजा और बड़े-बड़े रईस विलास का जीवन व्यतीत कर रहे थे और साधारण जनता टैक्स आदि के बोझ से दबी जा रही थी। अब जो भी शोषण-नीति की परम्परा रखा था। इस देश का अधिकांश धन वे अपने देश को ले जा रहे थे और यहाँ की भूखी-नंगी जनता त्राहि त्राहि कर रही थी। ऐसी दशा में भारतेन्दु ने जनता में राष्ट्रीय चेतना को जगाने का सुन्दर प्रयास किया। उन्होंने जहाँ एक ओर अपनी राज्य भक्ति का परिचय दिया वहीं दूसरी ओर उन्होंने विदेशियों के अत्याचारों का भी पर्दाफाश किया—

"अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥" [?]

हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।"

को अभिव्यक्ति मिली है और जातीय गौरव राष्ट्रीयता का प्राण होता है। प्रताप के प्रशसक इन कवियो को प्रताप से किसी व्यक्तिगत लाभ की आशा न थी, क्योकि वे तो जगलो मे मारे-मारे फिरते थे, उन्होने प्रताप के विषय मे जो भी लिखा वह केवल जातीय भावना से प्रेरित होकर।

रीतिकाल मे शृगार की भावना का प्रावल्य रहा और इस युग के अधिकाश कवियो ने राजदरबारो मे रहकर अपनी शृगार-प्रधान कविता द्वारा आश्रयदाताओं की कामुक प्रवृत्तियो को उभारा। उनका मूल उद्देश्य आश्रयदाताओ की मनोवृत्तियो को सन्तुष्ट करना था, इसीलिए इस काल मे शृगार की कलुषित धारा प्रवाहित होती रही। परिणामत राष्ट्रीय भावनाओ से युक्त काव्य के प्रणयन का वैरल्य रहा। केवल भूषण, लाल, सूदन आदि कुछ ही कवि ऐसे हुए जिन्होंने जातीय गौरव को परखा और उसका गान कर सुप्त जनता को जगाने का स्तुत्य प्रयास किया। जिस समय औरगजेब के अत्याचारो से भारतीय सस्कृति खतरे मे पड गई थी, उस समय छत्रपति शिवाजी ने वह काय किया जिसका राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है। भूषण ने उन्हें राष्ट्र-रक्षक के ही रूप मे देखा है—

"वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मे।
हिंदुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे मे जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में॥
मीडि राखे मुगल, मरोडि राखे पातसाह
बैरी पीसि राखे वरदान राख्यो कर मे।
राजन की हद्द राखी तेगबल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो गर मे॥"

एक अन्य कवित्त मे उन्होने लिखा है—

"राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मे।
राखी राजपूती रजधानी राखी राजन की,
धरा मे धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी में॥"

भूषण के काव्य मे मुसलमानो के प्रति कुछ कटूक्तिया पाई जाने के कारण कतिपय आलोचक उन्हे राष्ट्रीय कवि नही मानते। उनका कहना है कि भूषण केवल हिन्दू जाति के ही प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं, समस्त भारत के नही। किन्तु ऐसा कहते समय वे यह भूल जाते हैं कि राष्ट्रीयता का रूप सदैव एक सा नही रहता। समय के अनुसार उसमे परिवर्तन होता रहता है। यह ठीक है कि आज भारत मे रहने वाले हिन्दू, मुसलमान, पारसी, सिख, ईसाई आदि सभी मिलकर एक राष्ट्र हैं, किन्तु भूषण के समय मुसलमानो को विदेशी आक्रमणकारी समझा जाता था और उन्हे भारतीय सस्कृति के विघातक के रूप में देखा जाता था। अत ऐसी स्थिति मे भूषण द्वारा दिया गया हिन्दुत्व का सन्देश भारतीयता का सन्देश था, और इस दृष्टि से

अनुभव किया। डॉ० गोविन्दराम शर्मा ने भारतेन्दु युगीन राष्ट्रीयता तथा द्विवेदी युगीन राष्ट्रीयता का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारतेन्दु-काव्य की राष्ट्रीयता की अपेक्षा द्विवेदीकालीन राष्ट्रीयता अधिक व्यापक है। भारतेन्दुकालीन राष्ट्रीयता प्राचीन इतिहास की ओर अधिक संकेत करती है किन्तु द्विवेदीयुग की राष्ट्रीयता अतीत की अपेक्षा वर्तमान से अधिक सम्बद्ध है जबकि द्विवेदीकालीन कवियों का देश प्रेम आशा और उत्साह से अनुप्राणित है। जहाँ भारतेन्दु-युग के कवि देश की वर्तमान दुर्दशा पर आँसू बहाकर रह जाते हैं वहाँ द्विवेदी-काल के कवि अपनी मातृभूमि की उन्नति के लिए अधिक उत्साह के साथ प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। भारतेन्दु-युग के कवियों को अंग्रेज शासकों से देश की उन्नति की आशा थी इसी लिए उन्होंने देशभक्ति के साथ-साथ राजभक्ति को भी अपनाया था। द्विवेदी-युग के कवियों को विदेशी शासकों से पूरी निराशा हुई और उनके अत्याचारों के प्रति वे पूर्णतया सजग हुए। इसलिए उन्होंने अपने अधिकारों की प्राप्ति एवं देश की स्वतन्त्रता के लिए विदेशीशासन के विरुद्ध विद्रोह-व्यक्त किया। द्विवेदी-युग के कवि देशवासियों को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करते हैं और उन्हें देश की स्वतन्त्रता के लिए मर-मिटने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इस युग के कवियों की राष्ट्रीय भावना कहीं भारत के अतीत वैभव एवं गौरव के चित्रण में और कहीं मातृभूमि के प्राकृतिक सौन्दर्य के उद्घाटन में अच्छी तरह व्यक्त हुई है। भारतेन्दु युग की तुलना में द्विवेदी युग की राष्ट्रीय-कविता अतीत से वर्तमान कल्पना से यथार्थ निराशा से आशा, अविश्वास उपदेश से कर्म और आत्महीनता से आत्म गौरव की ओर अग्रसर दिखाई देती है। श्रीधर पाठक रामनरेश त्रिपाठी गोपालशरणसिंह सियाराम शरण गुप्त मैथिलीशरण गुप्त अयोध्यासिंह उपाध्याय माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान आदि इस युग के प्राय सभी कवियों ने मातृभूमि के प्रति अपने हृदय का सच्चा स्नेह व्यक्त किया है। देश की वर्तमान दुर्दशा और अतीत के सुनहले स्वप्नों को देखते हुए भी इस काल के कवियों का देश की भावी उन्नति पर दृढ़ विश्वास दिखायी देता है। इन कवियों में एक और विशेष बात दिखाई पड़ती है और वह यह कि इनमें से अधिकांश स्वतन्त्रता-संग्राम के वीर सेनानी रहे हैं। इनमें मैथिलीशरण गुप्त माखन लाल चतुर्वेदी सुभद्राकुमारी चौहान रामनरेश त्रिपाठी आदि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है।

श्रीधर पाठक ने 'भारत गीत' नामक कविता में मातृभूमि की वन्दना करते हुए उसकी दिव्य झाँकी प्रस्तुत की है—

बंदहु मातृ भारत-धरनि।
सेत हिमगिरि सुपय सुरसरि तेज तपमय तरनि।
ललित बन छवि भरित भुव छवि सरस कवि-मनहरनि॥

मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी भारत भारती के माध्यम से भारतवासियों का ध्यान भारत के स्वर्णिम अतीत वर्तमान दुर्दशा तथा उज्ज्वल भविष्य की ओर आकृष्ट किया। प्रस्तुत पुस्तक के मुख-पृष्ठ पर ही ये पंक्तियाँ छापी गयीं—

भारतेन्दु ने भारतीयों को उनके स्वर्णमय अतीत की याद दिलाते हुए उनमे क्रान्ति के लिये प्राण-सचार किया—

"जो आरजगन एक होइ निज रूप सम्हारै।
तजि गृह कलहहिं अपनी कुल मरजाद विचारै।।
तो ये कितने नीच कहा इनको बल भारी।
सिंह जगे कहु स्वान ठहरिहैं समर मँझारी।"

राम, कृष्ण, गौतम, हरिश्चन्द्र, नहुष, ययाति, युधिष्ठिर, शर्याति, भीम तथा अर्जुन के देश मे अज्ञानान्धकार को बढते देखकर उनके हृदय का क्षोभ ऐसे शब्दो मे फूट पडा है —

"जहँ शाक्य भए हरिचन्दरु नहुष ययाती,
जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती,
तहँ रही मूढता कलह अविद्या राती।"

उन्होने विदेशी सत्ता को उखाड फेंकने के लिए सभी भारतवासियो का आह्वान किया—

"चलहु वीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उडाओ।
लेहु म्यान सों खग खींचि रनरग जमाओ।।
परिकर कसि कटि उठहु धनुष पै धरि सर साँधो।
केसरिया बानो सजि-सजि रन कगन बाँधो।।"

भारतेन्दु-युग के कुछ अन्य कवियो की कविताओ मे भी राष्ट्रीयता की भावना मुखरित हुई है। बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी का इन कवियो मे प्रमुख स्थान है। इन सभी ने देश की जनता मे देश भक्ति की भावना का सचार करते हुए उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर होने का सन्देश दिया है। प्रेमघन ने भारत के समृद्ध भविष्य के लिए अपनी कामना इस प्रकार व्यक्त की है—

"सब द्वीप की विद्या कला विज्ञान इत चलि आवई।
उद्यमनिरत आरज-प्रजा रहि सुख-समृद्धि बढ़ावई।।
दुष्काल रोग, अनीति नसि, सद्धर्म उन्नति पावई।
भट, विबुध, अन्न, सुरत्न भारतभूमि नित उपजावई।।"

स्वदेशी वस्तुएँ के निर्माण पर बल देते हुए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है—

"आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीवें मरें।
अपनी चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अग सजाओ।।"

द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय भावना ने और अधिक सशक्त रूप धारण किया। स्वातन्त्र्य-आन्दोलन, वग-भग आन्दोलन तथा आर्य समाज-जैसी सस्थाओ के कार्यों के परिणामस्वरूप सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों मे नवीन चेतना उत्थित हुई और भारतीयो ने अपने हृदयो मे भारतेन्दु-युग की अपेक्षा अधिक आत्म गौरव के भाव का

जिसमें प्रकृति विकास-क्रम अनुपम उत्तम है।
जीव जन्तु फल-फूल शस्य अद्भुत अनुपम है॥
पृथ्वी पर कोई देश भी इसके नहीं समान है।
इस दिव्य देश में जन्म था हमें बहुत अभिमान है॥

सियाराम शरण गुप्त को जहाँ एक ओर भारत के अतीत वैभव पर गर्व है वहीं उसकी वर्तमान दुर्दशा पर खीझ कर वे कह उठते हैं—

संसार भर में यह हमारा देश ही सिरमौर था।
सौन्दर्य में सुख-शान्ति में ऐसा न कोई और था॥
निष्पक्ष होकर मानते हैं बात यह सादर सभी।
सर्वोच्च उन्नति के शिखर पर स्थिर रहा था यह कभी॥
बल बुद्धि वीर्य सभी हमारा हो चुका नि:शेष है।
जातीयता तो नाम को भी अब न हम में शेष है।

माखनलाल चतुर्वेदी ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए केवल देशवासियों को केवल ललकारा ही नहीं वरन् अनेक बार जेल-यात्रा करके भारतीयों के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया है। उनकी अधिकांश कविताएँ बलिदान भावना से ओत प्रोत हैं। विदेशी-शासन के विरोध में वे विषधर की भाँति फुंकार उठे हैं—

'बलि होने की परवाह नहीं मैं हूँ कष्टों का राज्य रहे।
मैं जीता जीता-जीता हूँ माता के हाथ स्वराज्य रहे॥

उनके स्वर में एक हुंकार है जो देशवासियों को निर्भयतापूर्वक स्वातन्त्र्य-वेदी पर बलि हो जाने के लिए प्रेरित करती है—

'रक्त है? या है नसों में क्षुद्र पानी।
जाँच कर तू सीस दे दे कर जवानी?

'पुष्प की अभिलाषा नामक कविता में वे अपने हृदयोद्गारों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए कहते हैं—

मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पर जावें वीर अनेक॥

उनकी बलिदान भावना निम्नांकित पंक्तियों में परयन्त उभर कर आयी है—

"चढ़ चल चढ़ चल चढ़ मत रे! बलिपथ के सुन्दर जीव।
उच्च कठोर शिखर के ऊपर है मंदिर की नींव।
बड़े-बड़े ये शिला-खण्ड मग रोके पड़े अचेत।
पगें लाँघ तू यदि जाना है तुझे मरण के हेत।

मातृभूमि की स्वातन्त्र्य-वेदी पर बलि हो जाने की इसी भावना को सुभद्रा कुमारी चौहान के काव्य में भी अभिव्यक्ति मिली है—

"सुन् गी माता की आवाज
रहूँगी मरने को तैयार।

"हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥"

भारत की पारतन्त्र्य-शृंखलाओ को भग्न करने के लिए गुप्त जी का कवि-हृदय उद्विग्न हो उठा और उनकी लेखनी से निकल पडा—

"भारत लक्ष्मी पडी राक्षसो के बन्धन मे।
सिंधु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन मे॥"

गुप्त जी का राष्ट्रीयता-विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक एवम् उदार था। वे भारत की स्वतन्त्रता के लिए हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य को अनिवार्य मानते थे, इसीलिए उन्होने 'काबा और कर्बला' की रचना की। विभिन्न जातियो एव सम्प्रदायो के प्रति भी उनकी दृष्टि पर्याप्त उदार रही है। मातृभूमि से उन्हे अगाध अनुराग था। उन्होने भारत को ईश्वर की साकार मूर्त्ति माना है—

"नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्रमा मुकुट मेखला रत्नाकर है,
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
वन्दीजन खग वृन्द शेषफन सिंहासन है,
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि, तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की॥"

गुप्तजी के काव्य मे बलिदान की भावना भी मिल जायेगी। 'साकेत' में उन्होने लिखा है—

"धर्म तुम्हारी ओर तुम्हें फिर किसका भय है?
जीवन मे ही नहीं, मरण मे भी निज जय है।"

'साकेत' मे ही उन्होंने अन्यत्र भी जन्मभूमि के प्रति भावाञ्जलि समर्पित करते हुए लिखा—

"जन्मभूमि ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव गर्व तथा निज मान दे,
× × ×
तेरा स्वच्छ समीर हमारे श्वास मे,
मानस मे जल और अनल उच्छ्वास मे,
अनासक्ति में सतत नभस्थिति हो रही,
अविचलता मे बसी आप तू है मही।"

अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास' मे राधा और कृष्ण के चरित्रो के माध्यम से देशभक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

रामनरेश त्रिपाठी को भारत मे जन्म लेने का बहुत बडा अभिमान है। उनका स्वाभिमानी हृदय भारत की भव्य झाँकी प्रस्तुत करता हुआ गा उठता है—

"जिसके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर है।
[illegible] शिखर है॥

भावना उभर नहीं सकी। किन्तु फिर भी छायावादी कवि अपने युग से पूर्णतः असम्पृक्त न रह सके और उन्होंने भी राष्ट्र भावना से भावित गीत गाये। यहाँ पर छायावादी काव्य से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

प्रसाद—"हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती।।
अमर्त्य वीरपुत्र हो दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य-पंथ है बढ़े चलो बढ़े चलो।

निराला— पशु नहीं वीर तुम
समर-शूर क्रूर नहीं
काल-चक्र में हो दबे
आज तुम राजकुँवर समर-सरताज!
पर क्या है सब माया है—माया है।
मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा विहीन-बन्ध छन्द ज्यों!

भारति जय विजय करे में भारतमाता के देवी-रूप की प्रतिष्ठा करते हुए निराला ने लिखा—

लंका पदतल शतदल गर्जितोर्मि सागर जल
धोता शुचि चरण युगल स्तव कर बहु अर्थ भरे।
मुकुट शुभ्र हिम तुषार प्राण प्रणव ओंकार
ध्वनित दिशाएँ उदार शत-मुख शतरव मुखरे।

पन्त ने भी तिरंगे झण्डे की वन्दना करते हुए कहा—

गगनचुम्बी विजयी तिरंग ध्वज
इन्द्रचापवत है
कोटि कोटि हम श्रमजीवी सुत
संभ्रमयुत नत है
सब एक मत एक ध्येय रत
सर्वश्रेष्ठ व्रत है
जय भारत है!
जाग्रत भारत है!"

आधुनिक युग का एक अन्य प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि रह जाता है और वे हैं रामधारीसिंह दिनकर। दिनकर ने बड़ी ही ओजस्विनी भाषा में राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत काव्य रचना की है। जिस समय वे देशभक्तिपरक कविताओं को लिखने बैठते हैं उस समय उनकी लेखनी आग उगलने लगती है। उनकी रचनाओं से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"नहीं जीते जी सकता देख विश्व में झुका तुम्हारा भाल।
वेदना मधु का भी कर पान आज उगलूँगा गरल कराल।।"

कभी भी उस वेदी पर देव,
न होने दूँगी अत्याचार ॥
चलो मैं हो जाऊँ बलिदान।
मातृ मंदिर मे हुई पुकार,
चढ़ा दो मुझको हे भगवान ॥"

उनकी कविता 'झाँसी की रानी' मे देशभक्ति की प्रखरतम भावना देखी जा सकती है। स्वतन्त्रता के लिए बलिदान हो जाने वाली झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई को उन्होंने बड़े ही उपयुक्त शब्दो मे श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है—

"बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ॥"

भारत की दयनीय दशा को देखकर गोपालशरणसिंह के करुणा-विगलित हृदय से निम्नाङ्कित पंक्तियाँ फूट पड़ी हैं—

"गौतम कणाद से जहाँ हुए थे ज्ञानी,
जिसमें दधीचि शिवि सदृश हुए थे दानी।
जो मानी गई सदैव विश्व-की रानी,
जग में कोई देश न जिसका सानी ॥
जिसके अधीन थीं ऋद्धि सिद्धियाँ सारी,
वह भारत-भूमि क्या यही हमारी प्यारी ॥"

सोहनलाल द्विवेदी की दृष्टि मे स्वतन्त्रता का मूल्य शीश-दान है, इसीलिए वे कहते हैं—

"आँसू बिखराते बीतेंगी,
जलती जीवन घड़ियाँ।
बिना चढ़ाये शीश, नहीं,
टूटेंगी माँ की कड़ियाँ ॥"

श्यामनारायण पाण्डेय की भी 'हल्दी घाटी' जातीय चेतना का काव्य है। प० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने आततायी के विरुद्ध अपनी जन-शक्ति को उद्बोधित करते हुए कहा—

"ओ भिखमंगे, अरे पतित तू ओ मजलूम, अरे चिर-दोहित,
तू अखंड भंडार शक्ति का, जाग अरे निद्रा-सम्मोहित।
प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारो से जल-थल भर दे,
अनाचार के अम्बारों मे अपना ज्वलित फलीता भर दे।"

डॉ० नगेन्द्र के शब्दो में, "यह देश के उद्दीप्त यौवन की पुकार है। इन स्वरो में देश का आहत अभिमान जैसे बौखला उठा है। नवीन जी स्वतन्त्रता संग्राम के कर्मठ सैनिक रहे हैं, उनका व्यक्तित्व निर्भीक शौर्य का प्रतीक है। उनकी वाणी तेज के स्फुलिंग उगलती है।"

छायावादी काव्य की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होने के कारण उसमे राष्ट्रीयता की

हिन्दी काव्य में भ्रमरगीत परम्परा

१ भ्रमरगीत से अभिप्राय
२ भ्रमरगीत का सांकेतिक अर्थ
भ्रमरगीत—नामकरण का कारण
४ भ्रमरगीत का वर्गीकरण
५ भ्रमरगीत परम्परा का विकास—(अ) श्रीमद्भागवत में भ्रमरगीत (आ) हिन्दी में भ्रमरगीत परम्परा
(क) भक्तिकालीन भ्रमरगीत (ख) रीतिकालीन भ्रमरगीत (ग) आधुनिककालीन भ्रमरगीत
६ उपसंहार

भ्रमरगीत से अभिप्राय

भ्रमरगीत का सामान्य अर्थ तो 'भ्रमर का गीत' अथवा 'भ्रमर से सम्बद्ध गीत' है, किन्तु हिन्दी साहित्य में यह एक प्रसंग विशेष का सूचक बनकर आया है और यह प्रसंग है उद्धव गोपी-संवाद। जब कृष्ण ब्रज से मथुरा चले गये तब वहां जाकर उन्होंने ब्रजवासियों को सान्त्वना देने के लिए उद्धव के हाथ सन्देश भेजा। उद्धव ने यह सन्देश गोपियों को दिया किन्तु गोपियों को उनका नीरस उपदेश तनिक भी नहीं भाया और उन्होंने भ्रमर को सम्बोधित करते हुए उद्धव तथा कृष्ण पर जो व्यंग्य कसे वे ही काव्यनिबद्ध होकर भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध हुए। भ्रमरगीत के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए डा० स्नेहलता श्रीवास्तव ने अपने शोध प्रबन्ध 'हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा' में लिखा है—'भ्रमरगीत उपालम्भ काव्य है और यह काव्य केवल विप्रलम्भ शृंगार से सम्बद्ध है। भ्रमरगीत' उस काव्य अथवा गीति-माला का नाम है जिसमें गोपियों ने भ्रमर के व्याज से उद्धव पर और उद्धव के व्याज से कृष्ण पर व्यंग्य किए हैं। इस प्रकार व्यंग्य के लक्ष्य की दृष्टि से भ्रमरगीत के मूलतः दो पक्ष हो गये हैं। पहला बुद्धि पक्ष है जो सैद्धान्तिक और व्यंग्यप्रधान है इसके प्रतीक हैं उद्धव। दूसरा हृदय-पक्ष है जो रागात्मक और उपालम्भप्रधान है इसके प्रतीक हैं कृष्ण। भ्रमरगीत का मूल उद्देश्य है ज्ञान पर प्रेम की, मस्तिष्क पर हृदय की विजय दिखाकर निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा सगुण साकार ब्रह्म की भक्ति भावना की प्रतिष्ठा का प्रतिपादन।

अँग्रेजी सत्ता की दमन और शोषण नीति से भारतीय युवक का रक्त खौल उठा। दिनकर ने उसकी स्थिति को देखा और उनकी लेखनी से इस प्रकार की पक्तियाँ निस्सृत हो पडी—

"पौरुष को बेडी डाल पाप का अभय रास जब होता है,
ले जगदीश्वर का नाम खड्ग कोई दिल्लीश्वर धोता है।
धन के विलास का बोझ दुखी दुर्वल दरिद्र जब ढोता है।
सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मेरा यौवन।"

दिनकर जी ने सन् १९६२ मे हुए चीनी आक्रमण के समय भी अनेक देशानुरागपूर्ण कविताएँ लिखकर देश मे जागृति का शख-फूँका। अभी हाल मे पाकिस्तानी आक्रमण के अवसर पर भी उनकी वहुत-सी कविताएँ आकाशवाणी से प्रसारित की गयी, जिन्होने जनता मे एक अपूर्व उत्साह भर दिया। इन दोनो आक्रमणो के समय अन्य वहुत से कवियो ने भी राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत कविताएँ लिखी जो पत्र-पत्रिकाओ से प्रकाशित हुईं अथवा फिर आकाशवाणी से प्रसारित की गयी।

उपसहार

राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण साहित्य का सर्जन किसी देश की जागृति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आज आवश्यकता इस वात की है कि हमारे कवि इस प्रकार के काव्य की रचना कर देश की जनता को नव-निर्माण के लिए प्रेरणा दें। यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्ति से लेकर अव से कुछ समय पूर्व तक राष्ट्रीय कविताओ का लिखा जाना प्राय वन्द-सा हो गया था, किन्तु हर्ष का विषय है कि आज का हमारा कवि इस ओर वहुत अधिक जागरूक है।

का विषय बन जाती है। (२) द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत भ्रमरगीत के उन पदों को रखा जा सकता है जिनमें शृंगार-सम्बन्धी उपालम्भ तो ज्यों का त्यों बना रहता है, किन्तु भ्रमर प्रमुख रहता है। यहाँ भ्रमर पृष्ठभूमि में रहता है और उद्धव को ही अलि मधुप मधुकर आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। गोपी-उद्धव-संवाद से सम्बन्ध रखने वाले सभी पदों की गणना इसी वर्ग के अन्तर्गत की जा सकती है। गोपी-उद्धव-संवाद में तर्क प्रधान हो गया है और भावना गौण। गोपियाँ तर्क तथा व्यंग्य के द्वारा उद्धव के योग सन्देश का खण्डन कर, उनके निराकार ब्रह्म को ग्रहण करने में अपनी असमर्थता तथा विवशता प्रकट करती हैं। निराकार-साकार ब्रह्म विवाद के परिणामस्वरूप उद्धव गोपी-संवाद में दार्शनिकता को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस वर्ग की रचनाओं में उक्ति वैचित्र्य द्वारा साकार ब्रह्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। (३) तृतीय वर्ग में भ्रमरगीत-काव्य का वह प्रसंग रखा जा सकता है जिसका सम्बन्ध नन्द यशोदा तथा माधो से है। इन रचनाओं में भ्रमरगीत के मूल तत्त्व उपालम्भ को ही आधार माना गया है किन्तु इसकी मूल भावना शृंगारिक नहीं है। नन्द-यशोदा के उपालम्भ का सम्बन्ध दाम्पत्य जीवन से न होकर प्रिय पुत्र की अविस्मरणीय भावना से ही अधिक है यद्यपि इस प्रकार के उपालम्भ के मूल में नारी प्रणय की भावना नहीं है तथापि प्रेम की सात्त्विकता और तीव्रता का अभाव भी नहीं माना जा सकता है। प्रिय से बिछुड़ कर नारी का हृदय जिस वेदना का अनुभव करता है पुत्र से वियुक्त माता का हृदय भी उसके अभाव में उतना ही विकल तथा विह्वल रहता है। भ्रमरगीत के मूल तत्त्व उपालम्भ के वर्तमान रहने के कारण ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार के समस्त पदों को भ्रमरगीत के अन्तर्गत माना है। यही कारण है कि उन्होंने 'भ्रमरगीत सार' में नन्द यशोदा सम्बन्धी पदों को भी संकलित किया है।

भ्रमरगीत-परम्परा का विकास

डा गणपतिचन्द्र ने अभिज्ञान शाकुन्तल के उस श्लोक को भ्रमरगीत का उद्गम-स्रोत माना है जिसे राजा दुष्यन्त वृक्षों के सिंचन-कार्य में संलग्न शकुन्तला के चारों ओर मँडराते हुए भ्रमर को सम्बोधित कर कहता है। इस श्लोक का अर्थ है—हे भ्रमर ! तू मेरी प्रियतमा के चपल कटाक्षों एवं कम्पित चितवन का बार बार स्पर्श कर रहा है। एकान्त में रहस्यालाप करने वाले मित्र की भाँति उसके श्रवणों के पास जाकर मधुर शब्दों में कुछ कह रहा है उसके बार बार निषेध करने पर भी तू उसके अधरों के मधुर रस को पी रहा है। वास्तव में रस तत्त्व का भोग करके सफल तू ही हुआ हम तो यों ही भटकते रहे।

यहाँ पर देखना यह है कि क्या भ्रमरगीत के लिए आवश्यक तत्त्वों का समावेश पक्ष श्लोक में हुआ है ? भ्रमरगीत के लिए सबसे पहला आवश्यक तत्त्व प्रिय के प्रति उपालम्भ है। दूसरा तत्त्व प्रियतम से वियोग है। विप्रलम्भ की असहनीय वेदना में ही प्रियतम के प्रति किया गया उपालम्भ भ्रमरगीत के अन्तर्गत आता है। उक्त श्लोक में इन दोनों ही तत्त्वों का अभाव है। राजा द्वारा जो कुछ कहा जा रहा है उसे अनु-

भ्रमरगीत का सॉकेतिक अर्थ

जब हम भ्रमरगीत का सम्बन्ध उद्धव-गोपी-सवाद से जोडते हैं तो एक प्रश्न उठना नितान्त स्वाभाविक हो जाता है, और वह यह कि गोपियो के उपालम्भ के लिए भ्रमर को ही क्यो चुना ? वस्तुत बात यह है कि शृगारी काव्य मे भ्रमर बडे प्राचीन काल से ही लोलुप प्रवृत्ति का प्रतीक माना जाता रहा है। वह एक पुष्प का रसपान कर दूसरे पुष्प पर जा बैठता है और उस समय वह पीत-रस पुष्प को बिल्कुल ही विस्मृत कर देता है। गोपिया भी यही समझती हैं कि कृष्ण ने तो पहले हमारे साथ रगरेलियाँ की, और हमे पूर्णत विस्मृत कर मथुरा मे जाकर बैठ गये हैं। अत गोपियो द्वारा भ्रमर को लक्ष्य कर उपालम्भ देने का एक कारण तो भ्रमर तथा कृष्ण की इसी लोलुप वृत्ति का साम्य है। दूसरे वर्ण में भी भ्रमर और कृष्ण मे साम्य है—दोनो ही का रग काला है। तीसरे जिस प्रकार भ्रमर गुनगुनाता है उसी प्रकार कृष्ण ने भी मधुर वशी ध्वनि से गोपियो को अपनी ओर आकृष्ट किया है। यदि भ्रमर को उद्धव के पक्ष मे लिया जाय तब भी कम से कम वर्ण साम्य तो बैठ ही जायेगा। ऐसी स्थिति मे गोपियो को कृष्ण के प्रति उपालम्भ देने तथा उद्धव को जली कटी सुनानेका माध्यम भ्रमर के अतिरिक्त अन्य कुछ हो ही नही सकता था।

भ्रमरगीत—नामकरण का कारण

ऊपर हम भ्रमरगीत का साकेतिक अर्थ स्पष्ट कर चुके हैं। अब यहाँ पर एक प्रश्न और उठना है। प्रश्न है, गोपिया उद्धव से बात करते-करते भ्रमर को क्यो खरी खोटी सुनाने लगी ? जो कुछ उन्होने भ्रमर से कहा, क्या वे उसे सीधे उद्धव से नही कह सकती थीं ? उत्तर बडा ही साफ है। गोपियो को कृष्ण की बेवफाई से बडा क्षोभ था और उस पर ऊपर से उद्धव अपने निर्गुण ब्रह्म की गाथा गाये जा रहे थे। इससे गोपियो का और भी अधिक क्षुब्ध हो उठना स्वाभाविक था किन्तु उद्धव उनके अतिथि थे और अतिथि पूज्य होता है, उसका अपमान नही किया जाना चाहिए। गोपियाँ इस शिष्टाचार से अवगत थी। जब उनके तथा उद्धव के बीच वार्तालाप चल रहा था, उसी समय मथुरा की ओर से उडकर आता हुआ एक भ्रमर एक गोपी के पैर पर बैठ गया। अब क्या था, गोपिया उस पर टूट पडी और अपनी सारी खीझ उसी को माध्यम बनाकर व्यक्त कर डाली। इससे उद्धव के भी सम्मान की रक्षा हो गयी और गोपियो ने भी अपने हृदय का सारा गुबार निकाल डाला। इस दृष्टि से उद्धव तथा गोपियो के मध्य हुए सवाद के लिए 'भ्रमरगीत' नाम पूर्णरूपेण उपयुक्त है।

भ्रमरगीत का वर्गीकरण

डा० स्नेहलता श्रीवास्तव ने भ्रमरगीत का विभाजन करते हुए उसे तीन वर्गों मे रखा है—(१) प्रथम वर्ग मे उन्होने शुद्ध भ्रमरगीत को रखा है। इसमे भ्रमर की उपस्थिति अनिवार्य है। इस प्रकार के भ्रमरगीत मे इसी भ्रमर के व्याज से उपालभ दिया जाता है। अधिकाश भ्रमरगीत-काव्य इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है। गोपिया भ्रमर के व्याज से अप्रत्यक्ष रूप से उद्धव तथा उनके निराकार ब्रह्म पर व्यग्य कर कृष्ण को उपालम्भ देती हैं। इस प्रकार के काव्य मे व्यग्य गौण और उपालम्भ प्रधान हो जाता है। भ्रमर के बहाने हृदय की मार्मिक पीडा की अभिव्यजना ही इस काव्य

लेशमात्र भी नहीं है। उनके प्रत्येक वाक्य में प्रेमासक्ति की तीव्रता है। कहीं-कहीं गोपियों की विनोद-प्रियता भी देखते ही बनती है। उदाहरण के लिए निम्नांकित श्लोक द्रष्टव्य है—

"विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारैः—
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन्?"

अर्थात् हे मधुकर! देख तू मेरे पैर पर सिर मत टेक। मैं जानती हूँ कि तू अनुनय-विनय करने में क्षमा-याचना करने में बड़ा निपुण है। मालूम होता है तू श्रीकृष्ण से ही यह सीख कर आया है कि रूठे हुए को मनाने के लिए दूत को—सन्देश वाहक को—कितनी चाटुकारिता करनी चाहिए। परन्तु तू समझ ले कि यहाँ तेरी दाल नहीं गलने की। देख हमने श्रीकृष्ण के लिए ही अपने पति पुत्र और दूसरे लोगों को छोड़ दिया। परन्तु उनमें तनिक भी कृतज्ञता नहीं। वे ऐसे निर्मोही निकले कि हमें छोड़कर चलते बने! अब तू ही बता ऐसे अकृतज्ञ के साथ हम क्या सन्धि करें! क्या तू अब भी कहता है कि उन पर विश्वास करना चाहिए?

उद्धव गोपियों के कृष्ण विषयक अनुराग को देखकर उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं— 'अहो! यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिता।' अर्थात् हे गोपियो! तुम कृतार्थ हो तुम लोक-पूजनीय हो। आगे चलकर वे पुनः गोपियों की इस ऐकान्तिक भक्ति भावना की प्रशंसा करते नहीं अघाते। वे कहते हैं— कृष्ण की भक्ति, दान व्रत तप होम जप स्वाध्याय इन्द्रियदमन तथा अन्य जन-कल्याण कारक कर्मों द्वारा ही प्राप्त की जाती है किन्तु तुमने सौभाग्य से मुनिजनों के लिए भी परम दुर्लभ भगवान् कृष्ण की उत्तम अवस्था भक्ति प्राप्त करके उसका विस्तार किया है। तुमने अपने स्वजनों को त्याग कर परम पुरुष भगवान् कृष्ण का वरण किया है यह बड़े सौभाग्य की बात है।

भागवत के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि भागवतकार का उद्देश्य ज्ञान एवं भक्ति के बीच द्वन्द्व दिखाना नहीं था। वहाँ तो इस प्रसंग के माध्यम से ज्ञान कर्म एवं भक्तिमें सामञ्जस्य उपस्थित करनाही मूल उद्देश्य प्रतीत होता है वहाँ यह भी बताया गया है कि कृष्ण का मथुरा-गमन गोपियों के प्रेम में प्रौढ़ता एवं गम्भीरता उत्पन्न करने के लिए ही था। उद्धव कृष्ण के सन्देश को गोपियों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं— गोपियो! तुम्हारे नेत्रों का तारा होकर भी जो मैं तुमसे दूर चला आया हूँ उसका उद्देश्य यही है कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान करती रहो। शरीर दूर रहने पर भी तुम्हारा मन मेरे ही पास रहे क्योंकि स्त्रियों एवं प्रेमियों का मन जिस दृढ़ता एवम् एकाग्रता के साथ परदेश गए हुए प्रियतम में रमा रहता है वैसा आँखों के सामने रहने पर नहीं रहता।

(आ) हिन्दी में भ्रमरगीत-परम्परा—जो कुछ लोगों ने मैथिल कोकिल विद्यापति की निम्नांकित पंक्तियों में भी भ्रमरगीत की झलक देखी है—

न्तला के प्रति उपालम्भ नही कहा जा सकता। दूसरे राजा जो कुछ कह रहा है, वह उसकी कामुक प्रवृत्ति का ही परिचायक है, उसमे किसी प्रकार की विरहजन्य वेदना की अभिव्यक्ति नही। ऐसी स्थिति मे कालिदास के इस श्लोक को भ्रमरगीत का आदि स्रोत नही स्वीकार किया जा सकता वस्तुत संस्कृत साहित्य मे श्रीमद्भागवत ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसे भ्रमरगीत का मूल स्रोत माना जा सकता है। इसीलिए यहा पर सर्व-प्रथम भागवत मे समागत भ्रमरगीत प्रसग पर ही विचार किया जायेगा।

(अ) श्रीमद्भागवत मे भ्रमरगीत – भ्रमरगीत का प्रसग श्रीमद्भागवत के ४७वें अध्याय मे सम्बन्धित है। ४६वें अध्याय मे उद्धव के व्रजगमन तथा नन्द-यशोदा के साथ उनके वार्तालाह का वर्णन है। ४७वें अध्याय मे भ्रमरगीत तथा उद्धव-गोपी-सवाद उपलब्ध है। भागवत मे भ्रमर को लोलुप वृत्ति का प्रतीक माना है। वहा गोपियाँ कहती हैं—"दूसरो के साथ जो प्रेम का सम्बन्ध स्वाग किया जाता है, वह तो किसी न किसी स्वार्थ के लिए ही होता है। भौंरो का पुष्पो मे और पुरुषो का स्त्रियो से ऐसा ही स्वार्थ का सम्बन्ध होता है। चाहे स्त्री के हृदय मे कितना भी अनुराग क्यो न हो, जार पुरुष अपना काम बना लेने के बाद उलटकर भी नही देखता।"

ध्यान देने की बात यह है कि भागवत मे उद्धव-गोपी-सवाद के आरम्भ मे भ्रमर कृष्ण का प्रतीक न होकर उद्धव के लिए आया है—"एक गोपी को उस समय भगवान श्रीकृष्ण के मिलन की लीला का स्मरण हो रहा था। उसी समय उसने देखा कि पास ही एक भौंरा गुनगुना रहा है। उसने ऐसा समझा मानो मुझे रूठी हुई समझ कर श्रीकृष्ण ने मनाने के लिए दूत भेजा हो। वह गोपी भौंरे से इस प्रकार कहने लगी—"हे मधुप! तू कपटी का सखा है, इसलिए तू भी कपटी है। तू हमारे पैरो को मत छू! झूठा प्रणाम करके हमसे अनुनय विनय मत कर। हम देख रही है कि श्रीकृष्ण की जो वनमाला हमारी सौतो के वक्ष स्थल के स्पर्श से मसली हुई है, उसका पीला-पीला कुकुम तेरी मूछो पर भी लगा हुआ है। तू स्वय भी तो किसी कुसुम से प्रेम नही करता, यहाँ से वहा उडा करता है। जैसे तेरे स्वामी, वैसा ही तू।" भागवत मे इसी प्रसग के अन्तर्गत एक अन्य स्थल पर गोपियाँ कहती हैं - "अच्छा, हमारे प्रियतम के प्यारे दूत मधुकर! हमे यह बतलाओ कि आर्यपुत्र भगवान श्रीकृष्ण गुरुकुल से लौटकर मधुपुरी मे अब सुख से तो हैं न? क्या वे कभी नन्द बाबा, यशोदा रानी यहा के घर, सगे सम्बन्धी और ग्वाल-बालो को भी याद करते हैं और क्या हम दासियो की भी कोई बातचीत चलाते हैं? प्यारे भ्रमर! हमे यह भी बताओ कि कभी वे अपनी अगर के समान दिव्य सगन्ध से युक्त भुजा हमारे सिरो पर रखेंगे? क्या हमारे जीवन मे कभी ऐसा शुभ अवसर भी आयेगा?" इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राय तो गोपियो के व्यग्य का लक्ष्य स्वय उद्धव ही हैं, किन्तु अवसर पर वे कृष्ण पर भी चोट करने मे नही चूकती—"जैसा तू काला है, वैसे ही वे भी हैं। तू भी पुष्पों का रस लेकर उड जाता है, वैसे ही वे भी निकले।"

भागवत के भ्रमरगीत-सम्बन्धी जिन श्लोको मे विरह-वेदना, आत्म-दैन्य, उपालम्भ तथा व्यग्य की सच्ची अभिव्यक्ति हुई है, वे अत्यन्त हृदय स्पर्शी बन पडे है। भागवत की गोपियो के व्यग्य की विशेषता इस बात मे है कि उसमे कटुता का

की पिटारी उनके समक्ष खोले बिना माने नहीं होंगे) उद्धव की बातों को सुनकर गोपियाँ चिढ़ जाती हैं किन्तु चूँकि उद्धव उनके अतिथि हैं अतः सीधे उन्हें खरी-खोटी सुनाना अर्थ अतिथि का अपमान करना है इसीलिए वे ज्ञान-चर्चा के समय ही मथुरा की ओर से उड़कर आये हुए भ्रमर के बहाने अपने हृदय की खीझ को व्यक्त करती हैं। इस भ्रमरागमन के प्रसंग को अवतरित करते हुए सूरदास लिखते हैं—

"यहि अन्तर इक मधुकर आयो।
निज स्वभाव अनुसार निकट होइ सुन्दर शब्द सुनायो॥
पूछन लागी ताहि गोपिका 'कुब्जा' तोहि पठायो।
कैधौं सूर स्याम सुन्दर को हमैं सन्देसो लायो॥"

गोपियों को उद्धव की ज्ञान-वार्ता और उनका निर्गुण ब्रह्म का उपदेश बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता। वे उद्धव के निर्गुण ब्रह्म की खिल्ली उड़ाती हुई उनसे पूछती हैं—

"निर्गुन कौन देस को बासी?
मधुकर! हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हाँसी॥
को है जनक जननि को कहियत कौन नारि को दासी।
कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी॥"

वे बड़े ही भोले भाव से उद्धव से प्रश्न करती हैं—

"हम सों कहत कौन की बातें?
सुनि ऊधो! हम समुझति नाहीं फिरि बूझति हैं तातें॥"

गोपियाँ बड़ी ही मीठी चुटकियाँ लेती हुई उद्धव से कहती हैं—

"उद्धव जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधहु गाँठि कहूँ जनि छूटै फिरि पाछे पछिताहु॥"

गोपियों के लिए तो कृष्ण ही सब कुछ हैं। इसीलिए उद्धव का ज्ञान उनके पल्ले ही नहीं पड़ता। वे उद्धव से कहती हैं कि हो सकता है तुम्हारा ज्ञान कोई बहुत अच्छी चीज हो और उसमें तत्त्व ही तत्त्व भरा हो किन्तु हम उसका क्या करें? हम तो निपट गँवारिन हैं अतः हमारे समझ में तो कुछ आता नहीं। अधिक अच्छा यह होगा कि अपने इस ज्ञान को लेकर मथुरा ही चले जाओ। वहाँ की स्त्रियाँ तुम्हारी इस ज्ञान-कथा का भली भाँति श्रवण-मनन कर सकती हैं क्योंकि वे नागरिक जो ठहरीं—

"ऊधो! ब्रज की दसा बिचारो।
ता पाछे यह ज्ञान आपनो जोग कथा बिस्तारो॥
अपनी ज्ञान कथा यह ऊधौ मथुरा ही लै जाव।
नागरि नारि नीके समझेंगी तुमरो बचन बनाव॥"

उद्धव की सिट्टी गुम जाती है। उनके मुख से एक भी शब्द नहीं निकलता। गोपियों के व्यंग्य-बाण उन पर निरन्तर चल रहे हैं। वे उद्धव से पूछती हैं क्या तुमने कभी अपने इस निर्गुन ब्रह्म को देखा भी है जिसका वर्णन तुम हम से कर रहे हो?

"कटक माझ कुसुम परगास, भमर विकल नहिं पावए पास।
भमरा मेल घुरए सब ठाम, तोहे विनु मालति नहिं विसराम ॥"

इन पक्तियो मे भ्रमर प्रेमी रसिक के रूप मे अवश्य आया है, किन्तु उसका सम्बन्ध उद्धव-गोपी-सवाद से कथमपि नही जोडा जा सकता। ऐसी स्थिति मे हिन्दी मे भ्रमरगीत का प्रारम्भ विद्यापति से नही माना जा सकता। हिन्दी-साहित्य मे उसके प्रवर्तन का श्रेय महाकवि सूरदास को है, अत यहाँ पर सर्वप्रथम भक्तिकालीन भ्रमर गीतो पर विचार करेंगे।

(क) भक्तिकालीन भ्रमरगीत—भ्रमरगीत-परम्परा मे सूरदास के भ्रमरगीत का प्रतितम स्थान है। उनके सूरसागर मे तीन भ्रमरगीत उपलब्ध होते हैं। प्रथम भ्रमरगीत अत्यन्त सक्षिप्त है। यह भागवत का अनुवाद-सा प्रतीत होता है। इसमे ज्ञान-वैराग्य की चर्चा अधिक है पर अन्त मे ज्ञान पर भक्ति की ही विजय दिखायी गयी है। इसकी रचना चौपाई छन्दो मे हुई है। कवित्व की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नही है। अन्य दो भ्रमरगीतो की रचना पदो मे ही की गयी है। दूसरे भ्रमरगीत मे भी गोपियो ने मधुकर के माध्यम से उद्धव को उपालम्भ दिया है पर सूर की प्रतिभा की प्रौढता इसमें नही पाई जाती। तीसरा भ्रमरगीत सबसे अधिक विस्तृत है। इसमे काव्य-सौन्दर्य के साथ-साथ सगुण भक्ति की महत्ता भी सुन्दर ढग से दिखायी गयी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भ्रमरगीत के मार्मिक पदो का सकलन 'भ्रमरगीत-सार' नामक पुस्तक मे कर दिया है।

कृष्ण द्वारा उद्धव को ब्रज भेजे जाने मे जो दृष्टि भागवत मे रही है, वह सूर के भ्रमरगीत मे नही। भागवत के कृष्ण तो उद्धव को ब्रज केवल इसलिए भेजते हैं कि वे वहाँ जाकर के नन्द, यशोदा, ग्वाल-बाल तथा गोपियो को सान्त्वना दे आवें और उन्हे बता दें कि कृष्ण मथुरा मे कुशल-क्षेम से हैं,, किन्तु सूर के भ्रमरगीत मे उद्धव को ब्रज भेजे जाने का मूल उद्देश्य है कि उद्धव के ज्ञानाभिमान को चूर-चूर करना। एक बार कृष्ण उद्धव के समक्ष अपनी अतीत की मधुर स्मृतियो का प्रसग छेड बैठते हैं। उद्धव को यह बिल्कुल नही भाता और वे उन्हे ज्ञान का उपदेश देने लगते हैं। कृष्ण को इससे बडी खीझ होती है और वे उनके ज्ञान के गर्व को चूर करने के लिए उन्हें प्रेममयी गोपियो के पास भेजते हुए कहते हैं—

"उद्धव यह मन निश्चय जानौ।
मन, क्रम, बच मैं तुम्हैं पठावत ब्रज को तुरत पलानौ ॥
पूरन ब्रह्म सकल अविनासी ताके तुम हौ ज्ञाता।
रेख, न रूप, जाति कछु नाहीं जाके नहिं पितु माता ॥
यह मत दै गोपिन कहँ आवौ विरह नदी मैं भासति।
सूर तुरत यह जाइ कहौ तुम ब्रह्म बिना नहिं आसति ॥"

उद्धव अपने ज्ञान के गर्व मे डूबे हुए ब्रज पहुचते हैं और वहा पहुचकर गोपियो के समक्ष अपनी ज्ञान-चर्चा छेड देते हैं। (यद्यपि भ्रमरगीत मे ऐसा एक भी पद नही है जिसमे उद्धव ने गोपियो को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया हो तथापि गोपियो की उक्तियो से इस बात का पता लग जाता है कि उनके बोलने से पूर्व उद्धव अपने ज्ञान

हाथ न पाँव न नासिका नैन बैन नहिं कान।
अच्युत ज्योति प्रकास है सकल विश्व के प्रान॥"

उद्धव की इस निर्गुण विषयक व्याख्या को गोपियाँ सुनकर झट प्रश्न कर बैठती हैं—

"जो मुख नाहिन हुतौ कहौ किन माखन खायौ।
पाँयन बिन गो संग कहौ बन-बन को धायौ॥"

उद्धव भगवान् को निर्गुण बताते हुए कहते हैं—'जो उनके गुन होय बेद क्यो नेति बखाने!' गोपियाँ चुप क्यों रहने लगीं, वे भी तुरन्त ही पूछती हैं—'जो उनके गुन नाय और गुन भए कहाँ ते?' जब उद्धव ब्रह्म को अलक्ष्य और गुणातीत बताते हैं तो गोपियाँ उत्तर देती हैं—जिनको वे आँखें नहीं देखें कब यह रूप।

उद्धव तथा गोपियों का तर्क-वितर्क चल ही रहा है कि गोपियों को सहसा अपने प्रियतम कृष्ण की मधुर स्मृति हो आती है और वे अपने सभी तर्कों को भुलाकर एक साथ ही रो पड़ती हैं—

'ता पाछे इक बार ही रोई सकल ब्रजनारि।
हा! करुणामय नाथ हो! केशव कृष्ण मुरारि
फाटि हियरौ चल्यौ!"

उद्धव गोपियों के तर्कों तथा उनके अनन्य प्रेम से अभिभूत हो जाते हैं और उनकी अनेक प्रकार से प्रशंसा करते हैं। ब्रज से मथुरा पहुँचकर उनकी जो स्थिति होती है उसका चित्रण करते हुए नन्ददास ने लिखा है—

'एते मन अभिलाष करत मथुरा फिरि आयौ।
गद्गद् पुलकित रोम अंग आवेस जनायौ॥
गोपी गुन गावन लग्यो मोहन गुन गयो भूलि।
जीवन यों लै का करै पायो जीवन-मूलि॥
भक्ति को सार यह॥

सूर तथा नन्ददास के अतिरिक्त कृष्णभक्त अन्य कवियों में परमानन्ददास कृष्णदास चतुर्भुजदास कुम्भनदास गोविन्द स्वामी छीत स्वामी आदि ने भी भ्रमर गीत प्रसंग को लेकर फुटकर पदों में रचनाएँ की हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपनी 'कृष्ण गीतावली' के अन्तर्गत भ्रमरगीत प्रसंग को उठाया है। इस पुस्तक में इस प्रसंग से सम्बद्ध कुल २१ पद पाये जाते हैं। है। तुलसी की गोपियाँ भोली भाली ग्रामवासिनी स्त्रियाँ हैं। सूर की गोपियों की भाँति न उनमें वाक्-चातुर्य है और न नन्ददास की गोपियों की भाँति तर्क का प्राधान्य उनमें हृदय की उदात्त भावना विशद रूप में पायी जाती है। वे व्यंग्यपूर्वक उद्धव से कहती हैं—

"काहे को कहत बचन सँवारि।
ग्यान पाठ न आनिबे ब्रज मधुप अनत सिधारि॥
जुगति धूम बघारिबे की समुझिहैं न गँवारि।"

रहीम ने भी उक्त प्रसंग से सम्बद्ध कुछ बरवै लिखे हैं। इनमें गोपियों की

क्या तुमने कभी अपने ब्रह्म की वैसी वाँकी झाँकी देखी है जैसी हम कृष्ण की देख चुकी हैं—

"रेख न वरन रूप नहि जाके, ताको हमें बतावत।
अपनी कहौ दरस ऐसे कौ, तुम कवहूँ हौ पावत ॥
मुरली अधर धरत है सो पुनि, गोधन वन-वन चारत।
नैन विसाल भौंह बक करि, देख्यौ कवहूँ निहारत ॥
तन त्रिभग करि, नटवर बपु धरि, पीताम्बर तेहि सोहत।
सूर स्याम जो देइ हमै सुख, त्यो तुमको सोइ मोहत ॥"

उद्धव वेचारे क्या उत्तर देते ? उन्हे मौन धारण करना पडता है और यही सूर का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। सूर ज्ञान पर भक्ति की, निर्गुण पर सगुण की और मस्तिष्क पर हृदय की विजय दिखाना चाहते थे। उद्धव के मौन ने उनका यह कार्य भली भाँति सम्पन्न कर दिया।

"काव्य की दृष्टि से सूरदास के भ्रमरगीत मे अधिक स्वाभाविकता, रोचकता एव मार्मिकता है। केवल सन्देश से ही गोपियो की विरहाग्नि का शान्त हो जाना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा अस्वाभाविक है। दूसरे भागवत मे मुख्यत उपालम्भ का स्वर ही प्रधान है तथा उसमे सर्वत्र गोपियो की दैन्यता, करुणा एव वेदना व्यञ्जित है, जबकि सूर-सागर मे चुटीले व्यग्यो, मीठे उपहासो, भोली मनुहारो, क्रोधपूर्ण तिरस्कारो एव शोकपूर्ण अश्रुओ की अभिव्यक्ति के कारण भाव-क्षेत्र मे विविधता आ गई है। निश्चित रूप से ही भागवत पुराण मे भ्रमर-गीत के रूप मे जो रस की एक बूँद थी वह 'सूर-सागर' मे अथाह लहरो के रूप मे उद्वेलित दिखाई पडती है।"

भ्रमरगीत-परम्परा मे सूर के भ्रमरगीत के उपरान्त नन्ददास के भँवरगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सूर की गोपियो ने निर्गुण ब्रह्म के खण्डन के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे बडे ही लचर हैं, उनमे हृदय-पक्ष की ही प्रधानता अधिक है, वाद-विवाद के लिए जिस बुद्धि-पक्ष की आवश्यकता होती है, उसका उनमे अभाव है। यही कारण है कि बुद्धिवादी सूर की गोपियों के तर्कों से सन्तुष्ट नही हो पाते। सूर के भ्रमरगीत की इसी न्यूनता का पूरक नन्ददास का भँवरगीत है। नन्ददास की गोपियो का बौद्धिक स्तर सूर की गोपियो के बौद्धिक स्तर से बहुत ऊँचा है। उनकी सभी उक्तियाँ प्रबल तर्कों पर आधारित हैं। नन्ददास ने गोपियो द्वारा उद्धव के ज्ञान-मार्ग का खण्डन अत्यन्त शास्त्रीय दृष्टिकोण से कराया है। इसका तात्पर्य यह कदापि नही कि नन्ददास की गोपियो मे भावप्रणता नही है। भँवरगीत का उत्तरार्द्ध भावुकता से पूर्णत ओत-प्रोत है।

भँवरगीत की गोपियो की तर्क-शक्ति की परीक्षा के लिए यहाँ पर कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं। उद्धव योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति का उपदेश देते हुए अपने ब्रह्म की व्याख्या करते हैं—

"यह सव सगुण उपाधि, रूप निर्गुण है उनको।
निरविकार, निरलेप, लगति नहिं तीनो गुन को ॥

मैं ऐसी हूं न मिन्न दुख से कम्पिता शोक मग्ना।
हा ! जैसी हूं व्यथित ब्रज के वासियों के दुखों से ॥

× × ×

"मेरे जी में हृदय विजयी विश्व का प्रेम जागा।
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में ॥"

मैथिलीशरण गुप्त के 'द्वापर'—में ज्ञानगर्व से पूर्ण अहंकारी कठोर उद्धव सहृदय कोमल और संवेदनशील दिखायी देते हैं। यहां गोपियां विहंग के बहाने से उद्धव को इस प्रकार उपालम्भ देती है—

अरे विहंग लौट आ तेरा नीड़ रहा इस वन में।
छोड़ उच्च पद की उड़ान वह क्या है शून्य गगन में ?"

सत्यनारायण कविरत्न ने अपनी प्रतिभा के बल पर अपने 'भ्रमर-दूत' में मौलिक प्रसंगों का आधान किया है। डॉ० कृष्णदेव झारी के शब्दों में इसमें न उद्धव हैं न गोपियां न ज्ञान योग और भक्ति का वाद-विवाद है न सगुण-निर्गुण का खण्डन-मण्डन। यशोदा माता ही भ्रमर-दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजती हैं। देश की सामाजिक राजनीतिक अधोगति का चित्रण ही इसका मुख्य उद्देश्य है। पुरानी परम्परा को छोड़कर कवि ने यशोदा को भारत माता के रूप में चित्रित किया है। सन्देश भी मथुरावासी कृष्ण के पास भेजा गया है। कविरत्न जी की शैली में एक विशिष्ट माधुर्य है—

निजपति प्रति कमलपति जबै लखी जननि निज स्याम।
भ्रमत भ्रमत आये तबै आये मन अभिराम।
भ्रमर के रूप में।

भ्रमरगीत-परम्परा में रत्नाकर जी के 'उद्धव-शतक' का विशिष्ट स्थान है। उनके इस ग्रन्थ में सूरदास की-सी भावात्मकता नन्ददास की-सी तार्किकता तथा रीतिकालीन कवियों जैसा चमत्कार देखने को मिल जायगा। कृष्ण तथा गोपियों के बीच तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा रत्नाकर जी का प्रमुख वैशिष्ट्य है। कृष्ण के विरह में गोपियां जितनी अधिक व्याकुल हैं कृष्ण के हृदय में भी गोपियों से बिछुड़ने की उससे कम उद्विग्नता नहीं है। गोपियों के प्रेम में कृष्ण की व्याकुलता इन पंक्तियों में देखते ही बनती है—

विरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा
कहत बनै न जो प्रवीन सुकवीनि सौं।
कहै रतनाकर बुझावन लगे ज्यों कान्ह
ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज जुवतीनि सौं ॥
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं
प्रेम परयौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।
नैंकु कही बैननि अनेक कही नैननि सौं
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं ॥

गोपियां भी कृष्ण के दर्शनों के लिए इतनी व्याकुल हैं कि वे उद्धव द्वारा उपदिष्ट योग की समस्त कष्टसाध्य क्रियाओं को करने को प्रस्तुत हैं बशर्ते उन्हें उनका

दर्दभरी आह अत्यन्त मर्मस्पर्शिणी हो उठी है—

"घेरि रह्यो दिन रतियां विरह बलाय।
मोहन की ये बतियां उद्धव हाय॥"

(ख) रीतिकालीन भ्रमर गीत—रीतिकाल के कई कवियो ने भ्रमरगीत-प्रसग पर लेखनी उठायी है। इन कवियो मे मतिराम, देव, घनानद, पद्माकर, आलम, ठाकुर, भिखारीदास आदि को पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई है। इस प्रसग पर क्रमबद्ध रचना करने वाले कवियों मे रसनायक, ग्वाल कवि और व्रजनिधि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रसनायक के भ्रमरगीत का नाम 'विरह-विलास' है। इसमे दोहे और कवित्त का क्रम मिलता है, पहले एक भाव दोहे मे कहा गया है, पुन उसी को कवित्त मे रखा गया है। इसमे गोपियो के विरह-दग्ध हृदय का अत्यन्त-स्वाभाविक वर्णन मिलता है। ग्वाल कवि की 'प्रेम पच्चीसी' मे गोपिया उद्धव को बहुत जली-कटी सुनाती हैं। यहाँ गोपियो की पीडा का मार्मिक चित्रण है। व्रजनिधि ने 'प्रीति पच्चीसी' मे गोपियो के माध्यम से उद्धव की योग-साधना की जोरदार खिल्ली उडाई है।

(ग) आधुनिककालीन भ्रमरगीत—आधुनिक युग मे भ्रमरगीत-प्रसग पर पुन सशक्त रचनाएँ प्रस्तुत की गयी। कुछ कवियो ने अपनी प्रतिभा के बल पर इस प्रसग के उद्देश्य को युग की परिस्थितियो के अनुरूप बदला है और उसमे उन्हे पूर्ण सफलता मिली है। आधुनिक युग के भ्रमरगीतकारो मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, सत्यनारायण, 'कविरत्न' जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तथा रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के नाम आदर के साथ लिये जा सकते हैं।

भारतेन्दु ने उक्त प्रसग को लेकर कुछ फुटकर पदो मे रचना की है। वैष्णव होने के कारण उन्होने इस प्रसग को शृगारी कवि की अपेक्षा एक भक्त की दृष्टि से देखा है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भ्रमरगीत-प्रसग को एक नया मोड प्रदान किया है। उन्होने अपने 'प्रिय प्रवास' मे कृष्ण को एक देशसेवक, राष्ट्रहितैषी महापुरुष के रूप मे अकित किया है। राधा भी यहाँ आकर एक सामान्य नायिका नही रह गयी है, उन्हें भी कवि ने लोकसेवा मे निरत एक आदर्श नारी के रूप मे प्रस्तुत किया है। 'प्रियप्रवास' के उद्धव गोपियो से ही बातचीत करने मे तल्लीन नही हो जाते, वे यशोदा की भी खबर लेते हैं। 'प्रियप्रवास' मे गोपियो की विरह-वेदना की तीव्रता अत्यन्त सुन्दर ढग से अभिव्यक्त हुई है—

"श्यामा बातें श्रवण करके बालिका एक रोई।
रोते-रोते अरुण उसके हो गये नेत्र दोनों॥
ज्यो-ज्यों लज्जा-विवश वह थी रोकती वारिधारा।
त्यों-त्यों आँसू अधिकतर ये लोचनों मध्य आते॥"

हरिऔध जी की गोपियाँ अन्त मे उद्धव के ज्ञान को स्वीकार कर लेती हैं और उनका व्यक्तिगत प्रेम उदात्त रूप धारण करता हुआ विश्व-प्रेम मे परिणत हो जाता है—

६६
हिन्दी में वीर काव्य
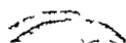
१ भूमिका
२ वीरगाथा काल का वीर काव्य
३ भक्ति काल में वीर काव्य
४ रीतिकाल में वीर कविता
५ आधुनिक काल में वीर काव्य
६ उपसंहार

भूमिका

उषा की अरुणिमा के सदृश ससार के समस्त साहित्य का सूत्रपात वीर भावना के साथ हुआ। चाहे वह ग्रीक साहित्य हो या लैटिन साहित्य संस्कृत काव्य हो या अरबी अथवा हो या फ्रेंच-सभी भाषाओं के आदि-काव्य मे हमे वीरो का निनाद ही सुनाई पड़ता है। इलियड और ओडिसी पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो इसके प्रमाण हैं। हिन्दी के आदिकाल में भी वीर रस का प्राधान्य रहा क्योंकि उसी की गोद मे उत्साह का अमृत पीकर वह पल्लवित हुई। उसकी ध्वनि हमे एक ओर पृथ्वीराज के धनुष की टंकार म सुनाई देती है तो दूसरी ओर आल्हा ऊदल के ढोल के गंभीर गर्जन मे। अपनी शैशवावस्था मे ही उसे शिव के ताण्डव योगिनियो की जमात देखने और चामुण्डा की हुकार सुनने का अवसर मिला।

प्रत्येक देश का इतिहास बताता है कि आरम्भ मे मानव उतना सुसस्कृत और सभ्य न था जितना वह आज है। वैसे तो आज भी उसकी लड़ने झगड़ने की प्रवृत्ति समाप्त नही हुई है अब भी वह विवाद को बातचीत की बजाय युद्ध के द्वारा समाप्त करने को प्रवृत्त हो जाता है फिर आदि-काल मे तो यह प्रवृत्ति और भी बलवती थी। हिन्दी के वीरगाथा काल मे राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो ने वीर भावना को पुष्ट करने तथा वीर काव्य लिखने मे पर्याप्त सहायता दी। वैसे तो हिन्दी साहित्य के सभी कालो मे वीर काव्य लिखा गया पर उसका आदिकाल तो वीरकाव्य से इतना भरा पड़ा है कि उसी के कारण आचार्य शुक्ल ने उसे वीरगाथा काल नाम दिया।

वीरगाथा काल का वीर काव्य

हर्ष वर्धन की मृत्यु के बाद भारत मे केन्द्रीय सत्ता लुप्त हो गयी थी। देश अनेक छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त था उधर उत्तर-पश्चिम से यवनो के आक्रमण होते रहते थे। सारा देश सघर्ष मे लीन था—एक ओर विभिन्न राजे रजवाड़े और उनके विभिन्न क्षत्रिय-कुलो के शासक—चौहान चंदेल गहरवार परिहार—आपस म

प्यारा कन्हैया मिल जाय—

"सहि हैं तिहारे कहे सांसति सबै पै बसि,
एती कहि देउ कन्हैया मिलिजायगो।"

उद्धव गोपियो के कृष्ण विषयक प्रेम से इतने अधिक प्रभावित हो जाते हैं कि वे भी व्रज से प्रेम पथ के पथिक बनकर लौटते हैं और इस प्रेम मे अपने शरीर की सभी सुध-बुध खो बैठते हैं।

'उद्धव शतक' की विशेषताओ का उद्घाटन करते हुए प्रो० कृष्णदेव भारी ने लिखा है—"उनकी (रत्नाकर' जी की) गोपिया यद्यपि उद्धव के ज्ञान का खण्डन करती हैं, तो भी उनमे भावावेश अधिक है। उनमे सूर की गोपियो का हृदय नन्ददास की गोपियो की बुद्धि और आधुनिक नारी के चातुर्य और चापल्य का मिश्रण है। किन्तु उनके समस्त तर्क और वाक्-चातुर्य के पीछे उनका विरह-विदग्ध हृदय छिपा हुआ है। भाषा मे नवीन-नवीन प्रयोग भी पाये जाते हैं।"

डॉ० रमाशकर शुक्ल 'रसाल' ने भी 'उद्धव गोपी-सवाद' की रचना करके भ्रमरगीत-परम्परा मे योग दिया है। उनकी गोपियो मे बौद्धिकता का प्राधान्य है। वे उद्धव के अद्वैतवाद का खण्डन अत्यन्त सस्कृत एव व्यग्यपूर्ण उक्तियो से करती हैं। 'रसाल' जी ने इस प्रसग मे भ्रमर की अवतारणा नही की है। विरह-वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति मे 'रसाल' जी को पर्याप्त सफलता मिली है। उदाहरणार्थ निम्नाकित पक्तिया देखिये—

"बीति गए दिन प्रेम के वे सजनी अब वे रजनी हूँ सिरानी।
और कथा भई ऊधव जू! अब ह्वै गई और रसाल कहानी॥
नेह जर्यो विरहानल मे, परतीत रही अपनी न विरानी।
बात रही न रह्यो रस हूँ, तन मानस की लहरें न थिरानी॥"

इसी प्रसग की अवतारणा श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' मे, लाला हरदेवप्रसाद ने 'ऊधो-पचीसी' और जगन्नाथसहाय ने 'कृष्णसागर' मे की है।

उपसहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि भ्रमरगीत की परम्परा श्रीमद्भागवत से प्रारम्भ हुई और आज तक चली आ रही है। सूर ने भागवत के कथानक को अवश्य अपनाया किन्तु उन्होने अपनी रुचि के अनुसार उसमे परिवर्तन किये। भागवत के उद्धव गोपियो की विरह-वेदना से प्रभावित अवश्य होते हैं, किन्तु अन्त तक वे ज्ञानी ही बने रहते हैं और अन्त मे नन्द आदि के द्वारा दी गई सामग्री को लेकर मथुरा लौटते हैं। सूर मे इस प्रकार का कही कोई उल्लेख नही मिलता। उन्होने स्पष्ट ही ज्ञान पर भक्ति की और निर्गुण पर सगुण की विजय प्रतिपादित की है। सूर के उपरान्त अनेको भ्रमरगीतो की रचना हुई, किन्तु उनके सभी परवर्ती भ्रमरगीतकारो पर उनका प्रभूत प्रभाव है। किसी ने उनकी भावुकता को अपनाया तो किसी ने उनकी वाक्-चातुरी को प्रमुखता दी और किसी ने उनकी तार्किता को ही सर्वोपरि स्थान प्रदान किया। निर्गुणोपासना पर सगुणोपासना की प्रतिष्ठा तो उन्ही की तरह प्राय सभी ने ही की है। भ्रमरगीत काव्य-परम्परा मे सूर का स्थान निस्सन्देह अप्रतिम है।

है। परशुराम-लक्ष्मण-संवाद अंगद रावण-संवाद युद्ध-वर्णन आदि में उसकी उत्साह-वर्धक व्यंजना हुई है। परशुराम-लक्ष्मण संवाद की निम्न पंक्तियाँ देखिये—

यहाँ कुम्हड़ बतिया कोई नाहीं।
जो तर्जनि देखत मरि जाहीं॥

इसी प्रकार कपि भालुओं की सेना के समुद्र पार उतरने के समय लक्ष्मण की उक्ति भी वीर रस से पूर्ण है—

संधानेऊ प्रभु विसिख कराला।
उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला॥

सारांश यह कि तुलसी के काव्य में वीर रस की धारा प्रवाहित तो हुई है पर उसकी गति अत्यन्त मंद है उसका स्वरूप भी उतना उज्ज्वल नहीं है जितना वीरगाथा काल के काव्य में। तुलसी की तरह सूर ने भी कतिपय पद वीर रस के लिखे हैं पर प्रथम तो वे संख्या में बहुत कम हैं दूसरे कथा प्रसंग के रूप में आये हैं स्वतन्त्र रूप से नहीं लिखे गये हैं अतः उनमें वह ओज नहीं जो वीरगाथा काव्य में मिलता है।

आज जो हरिहि न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा-जननी को सांतनु सुत न कहाऊँ॥
स्यन्दन खंडि महारथि खण्डौं कपिध्वज सहित डुलाऊँ॥

इसमें वीर भावना का पर्यवसान भक्तवत्सलता में होता है। इस काल के कवि स्वान्तःसुखाय लिखते थे और वे प्रायः भक्त थे। उन्हें किसी आश्रयदाता का प्रशस्ति गान नहीं लिखना था संतन कौं सीकरी सौं कहा काम। अतः उनके काव्य में वीर रस को गौण स्थान ही प्राप्त है। गंग और केशवदास ने भी अपने काव्य में वीररस की मंदाकिनी प्रवाहित अवश्य की है पर केशव ने केवल शास्त्रीय दृष्टि से वीर रस का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए अतः उसके पीछे हृदय का उत्साह अन्तर की अनुभूति कम है बाह्य विधान अधिक है। गंग भाट थे। उन्हें वीर काव्य प्रणयन की प्रतिभा अपने पूर्वजों से विरासत में मिली थी।

रीतिकाल में वीर काव्य

रीतिकाल अपेक्षाकृत शान्ति का काल था। हिन्दी के अधिकांश कवि या तो हिन्दू राजाओं के अथवा मुसलमान शासकों के आश्रय में रहते थे। मुसलमान शासक भी काव्य और कलाओं को प्रश्रय देते थे उनकी उन्नति व विकास में सहायक थे अतः इस काल में अन्य कलाओं के साथ साथ काव्य को भी समृद्ध होने का स्वर्ण अवसर मिला। पर यह काल वैभव विलास का काल था। आश्रयदाता राजाओं के जीवन में वीर भावना तिरोहित हो चुकी थी। वे प्रेम के तराने सुनना चाहते थे अतः कवियों ने भी प्रेम के गीत गाने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझी। इससे उन्हें यश धन दोनों की उपलब्धि होती थी। बिहारी ने एक-एक दोहे पर एक एक अशर्फी प्राप्त की।

मुगल साम्राज्य का वैभव उसकी शक्ति औरंगजेब के समय अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई पर उसने अपनी धर्मान्धता असहिष्णुता अत्याचार तथा हिन्दुओं पर सीधे प्रहार से हिन्दुओं के हृदय में विद्रोह का भाव उत्पन्न कर दिया। समाज की

अपनी झूठी प्रतिष्ठा, काल्पनिक कुल-मर्यादा, सुन्दरी कन्या, छोटे से भूमिखण्ड आदि के लिए लडते रहते थे और दूसरी ओर यवन आक्रान्ताओ से अपनी जन्मभूमि की रक्षा के लिए उन्हें खड्ग ग्रहण करनी पडती थी। फलस्वरूप सारा उत्तर भारत एक रणक्षेत्र बना हुआ था। सकुचित स्वार्थों तथा पारस्परिक फूट और वैमनस्य के कारण ही क्यो न सही वीर क्षत्रिय शौर्य-प्रदर्शन के हेतु उतावले रहते थे। उनके आश्रय मे पलने वाले चारण और भाट भी उन्हें आये दिन युद्ध के लिये उकसाते रहते थे। कर्नल टाड ने अपनी पुस्तक Annuals and antiquities of Rajasthan मे कहा है, "There is not a petty state in Rajasthan that has not had its Themspylac and scarcely a city that has not produced a Deonidas"

राज्याश्रित भाट और चारण कुछ तो अपने आश्रयदाता राजाओ के वास्तविक शौर्य, साहस, बलिदान का वर्णन करने के लिए और कुछ केवल धन प्राप्ति के उद्देश्य से उनके काल्पनिक शौर्य का वर्णन करने के लिए वीर काव्य लिखते थे। कभी कभी देशप्रेम की उत्कट भावना से अनुप्रेरित ये वीर चारण न केवल अपनी उत्तेजक उक्तियो और प्रेरणा तथा स्फूर्तिदायक छदो से ही वीरो को उत्साहित करते थे। अपितु स्वय भी तलवार लेकर युद्ध मे जुझ जाते थे। इन कवियो ने एक हाथ मे तलवार तथा दूसरे मे लेखनी लेकर जो जौहर दिखाये, वे अविस्मरणीय हैं। सारे देश मे जो वीर भावना फूकी उसकी प्रतिध्वनि आज भी वर्षा ऋतु मे गाँवो मे ढोल के गभीर गर्जन के साथ सुनाई पड जाती है—

बारह बरिस लै कूकर जीए, औ तेरह लै जिए सियार।
बरस अठारह छत्री जीए, आगे जीवन कै धिक्कार॥

इन चारण कवियो का युद्ध-वर्णन प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित होने के कारण बडा प्रभावशाली बन पडा है। इनकी रचनाए ख्यात कहलाती हैं तथा उनकी भाषा राज थानी है। एक उदाहरण देखिए—

घोम कुँवर मारियाँ राव नाहण रीसाणो।
गौ आसल सींघला सांग सूँ द्रोह कहाँगो॥

अर्थात् घोम ने कुवर को मार डाला जिससे उसका पिता नाहण क्रुद्ध हो गया। घोम की असल जाति सीघला मे जा बसी और उसी समय से दोनो मे द्रोह उत्पन्न हो गया।

चारण काल का वीर-काव्य दो रूपो में उपलब्ध होता है—प्रबन्ध तथा मुक्तक। प्रबन्ध काव्य के भी दो वर्ग किये जा सकते हैं—एक वे जिनमे नायक का सुसम्बद्ध जीवन-वृत्त तथा शौर्य पराक्रम तथा विलास-वैभव चित्रित किया जाता है तथा दूसरे वे जो वीरगीतो के रूप मे मिलते हैं। प्रथम के अन्तर्गत यदि खुमान रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द्र प्रकाश 'जयमयक जस चन्द्रिका आते हैं, तो दूसरे के अन्तर्गत वीसलदेव रासो, आल्हा आदि आते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका मूल्य बहुत नही है क्योकि उनका बहुत कुछ भाग प्रक्षिप्त है और जो प्रामाणिक भी है उसमे भी अतिशयोक्ति तथा पक्षपात की भावना के कारण बहुत सी बातें असत्य हैं पर काव्य की दृष्टि से उनका महत्व असदिग्ध है।

इन वीर काव्यों का युद्ध-वर्णन सेना की साज-सज्जा का चित्रण रणक्षेत्र का चित्र वीरों की हुंकार ललकार, घोड़े हाथियों की चीत्कार आक्रमण प्रत्याक्रमण आदि के चित्र बड़े ही प्रभावशाली हैं। इन वर्णनों में दृश्य काव्य की सी सजीवता है और आज भी पाठक उन्हें पढ़ अपनी धमनियों में रक्त प्रवाह की गति में तीव्रता अनुभव करता है।

उपर्युक्त छन्दों के चुनाव ने वर्ण्य विषय को और भी प्रभावोत्पादक बना दिया है। जहाँ युद्ध की साज-सज्जा का वर्णन है वहाँ धीरे धीरे पूर्ण प्रभाव डालने वाले छन्द-कवित्त छप्पय आदि प्रयुक्त किये गये हैं पर जहाँ युद्ध तीव्र गति धारण कर लेता है वहाँ तीव्र गति वाले छन्द जैसे पद्धरी नाराच विज्जुमाली आदि प्रयुक्त किये गये हैं।

सच्ची वीरता शत्रु को केवल मारने में नहीं है अपितु उदारतापूर्वक उसे क्षमा करने में है। क्षमा वीरता का प्रधान अंग समझी जाती थी। दिनकर ने जो बात 'कुरुक्षेत्र' में कही है,

> क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।
> उसको क्या जो दन्तहीन विष रहित विनीत सरल हो॥

वह उस समय के वीरों पर लागू होती थी। रासोकार के अनुसार पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को ११ बार बन्दी बनाया और ११ बार उसे छोड़ दिया।

> गहिय राज प्रथिराज छंडि साहबदीन सुर।
> विपत सुर सामंत बजत नीसाम गजत सुर॥

(पद्मावती समय)

इन वीर काव्यों में शृंगार का पुट भी यथेष्ट मात्रा में मिलता है क्योंकि युद्ध प्रायः किसी सुन्दर कन्या को लेकर होता था। जिस प्रकार पाश्चात्य साहित्य में प्रेम और युद्ध की अनेक कथाएं रोमान्स के रूप में लिखी गयीं उसी प्रकार हिन्दी के आदि काल में प्रेम और युद्ध का काव्य लिखा गया। नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' यद्यपि वीरगीत कहा जाता है तथापि इसमें शृंगार और रस किसी भी प्रकार कम नहीं है।

> कुंवरि कहइ सुणि सांभरया राव काई स्वामी तू उलगई जाइ?
> कहेउ हमारउ जइ सुणेउ बारह छह लाठ अंतेवरी नारि॥
> कड़वा बोल न बोलिस नारि तू मो मेल्हसी चित्त विसारि।

'पृथ्वीराज रासो' 'बीसलदेव रासो' तथा अन्य छोटी-मोटी काव्य-कृतियों का जिनका संकलन एल पी टैसरी ने "A descriptive catalogue of bardic and historical manuscript" के अन्तर्गत किया है अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के काव्य पर तत्कालीन राजनीतिक एवं दरबारी वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

इस युग के कवियों पर प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता है कि उनमें राष्ट्रीय भावना का अभाव था। पर इसके लिए समय की परिस्थितियां उत्तरदायी हैं और

आत्मा, जो बहुत दिनो से मूक और असहाय होकर, यवनो के अत्याचार और अनाचार सहन करती आ रही थी, अब और अधिक मूक नही रह सकती थी। उसकी पिंजरबद्ध आत्मा अकुला उठी और शिवाजी, छत्रसाल जैसे जाति वीरो का अवलम्बन पा विद्रोह करने के लिए तत्पर हो उठी। औरगजेब की अदूरदर्शिता, शिवाजी आदि वीरो के नेतृत्व, भूषण और लाल जैसे कवियो की ओजस्वी वाणी के कारण शासक और शासित एक दूसरे के विरुद्ध ताल ठोककर मैदान मे उतर पडे और शिवाजी के सिंहनाद के साथ साथ वीररस का शख गूँज उठा। गुरु गोविन्दसिंह, छत्रपति शिवाजी, महाराज छत्रसाल वीरता के प्रतीक बन कर जनता के सम्मुख आये और कवियो की भारती ने उनका अपने ओजस्वी, वीरतापूर्ण छन्दो मे अभिनन्दन किया। इस काल के वीररस के प्रमुख कवियो मे भूषण जोधराज, मान, हरिकेश गोपाल, सारगधर और सूदन उल्लेखनीय हैं। भूषण ने अपने काव्य का विषय दो वीर पुरुषो—शिवाजी तथा छत्रसाल को बनाया, वह राज्याश्रित कवि थे, अत यह सन्देह हो सकता है कि उन्होने केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए इन जातिवीरो की प्रशसा के गीत गाये पर वस्तुत शिवाजी तथा छत्रसाल केवल व्यक्तिगत रूप से ही वीर न थे, उन्होने केवल अपने राज्य की रक्षा के लिए ही यवनो से युद्ध नही ठाना था, अपितु वे जाति-वीर भी थे, हिन्दू जाति, धर्म, सस्कृति के रक्षक माने जाते थे।

भूषण आदि की कविता पढकर स्पष्ट हो जाता है कि इस युग मे वीरगाथा काल की व्यक्तिगत शौर्य की भावना रीतिकाल मे आकर जाति भावना मे परिवर्तित हो गई थी। दूसरे, अब वीरता का आदर्श भी बदल गया था। अब शत्रु को क्षमा करने या निहत्थे को अस्त्र देकर उसे युद्ध के लिये ललकारने मे वीरता नही मानी जाती थी, अब तो किसी भी युक्ति से शत्रु को पराजित करना वीरता का आदर्श था। इस काल के कवियो पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि उनमे साम्प्रदायिकता का पुट है पर यह ठीक नही। प्रथम तो उस समय तक यवनो को उसी प्रकार विदेशी समझा जाता था जिस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी मे अगरेजो को। दूसरे वे अत्याचारी थे और अत्याचार के विरुद्ध लडना साम्प्रदायिकता नही कहा जा सकता। औरगजेब के विरुद्ध जो कुछ लिखा गया, वह केवल इसलिये नही कि वह मुसलमान था। इसका कारण यह था कि वह अत्याचारी था। हमारे इस मत की और भी पुष्टि हो जाती है जब हम भूषण के पदो मे बाबर और अकबर की प्रशसा पाते हैं। वस्तुत राष्ट्रीयता की भावना युग और काल के साथ बदलती रहती है, तत्कालीन वातावरण और परिस्थितियो को देखते हुए भूषण की भावना जातिभावना न मानकर राष्ट्रभावना ही कही जायेगी।

पद्माकर हिम्मतबहादुर के आश्रय मे कुछ समय तक रहे थे अत उन्होने उनके कीर्तिगान के लिए 'विरुदावली' की रचना की।

आधुनिककाल में वीरकाव्य

रीतिकाल और आधुनिक काल की सन्धि रेखा पर हमे राजस्थान के अमर कवि सूर्यमल्ल की अमर कृति 'वीर सतसई' मिलती है। सन् १८५७ के विद्रोह की पृष्ठभूमि मे लिखी गई यह रचना देश की सुप्त वीर-भावना को उद्‌बुद्ध करने के लिए

है। परशुराम-लक्ष्मण-संवाद अंगद रावण-संवाद युद्ध वर्णन आदि में उसकी उत्साह वर्धक व्यंजना हुई है। परशुराम-लक्ष्मण संवाद की निम्न पंक्तियाँ देखिये—

> इहाँ कुम्हड़ बतिया कोई नाहीं।
> जो तर्जनि देखत मरि जाहीं॥

इसी प्रकार कपि भालुओं की सेना के समुद्र पार उतरने के समय लक्ष्मण की उक्ति भी वीर रस से पूर्ण है—

> संधानेऊ प्रभु विशिख कराला।
> उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला॥

सारांश यह कि तुलसी के काव्य में वीर रस की धारा प्रवाहित तो हुई है पर उसकी गति अत्यन्त मंद है उसका स्वरूप भी उतना उज्ज्वल नहीं है जितना वीरगाथा काल के काव्य में। तुलसी की तरह सूर ने भी कतिपय पद वीर रस के लिखे हैं पर प्रथम तो वे संख्या में बहुत कम हैं दूसरे कथा प्रसंग के रूप में आये हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं लिखे गये हैं अतः उनमें वह ओज नहीं जो वीरगाथा काव्य में मिलता है।

> आज जो हरिहि न शस्त्र गहाऊँ।
> तौ लाजौं गंगा-जननी को सांतनु सुत न कहाऊँ॥
> स्यन्दन खंडि महारथि खंडौं कपिध्वज सहित डुलाऊँ॥

इसमें वीर भावना का पर्यवसान भक्तवत्सलता में होता है। इस काल के कवि स्वान्तःसुखाय लिखते थे और वे प्रायः भक्त थे। उन्हें किसी आश्रयदाता का प्रशस्ति-गान नहीं लिखना था सन्तन को सीकरी सों कहा काम। अतः उनके काव्य में वीर रस को गौण स्थान ही प्राप्त है। गंग और केशवदास ने भी अपने काव्य में वीररस की मंदाकिनी प्रवाहित अवश्य की है पर केशव ने केवल शास्त्रीय दृष्टि से वीर रस का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए अतः उसके पीछे हृदय का उत्साह अन्तर की अनुभूति कम है बाह्य विधान अधिक है। गंग भाट थे। उन्हें वीर काव्य प्रणयन की प्रतिभा अपने पूर्वजों से विरासत में मिली थी।

रीतकाल में वीर काव्य

रीतिकाल अपेक्षाकृत शान्ति का काल था। हिन्दी के अधिकांश कवि या तो हिन्दू राजाओं के अथवा मुसलमान शासकों के आश्रय में रहते थे। मुसलमान शासक भी काव्य और कलाओं को प्रश्रय देते थे उनकी उन्नति व विकास में सहायक थे अतः इस काल में अन्य कलाओं के साथ साथ काव्य को भी समृद्ध होने का स्वर्ण अवसर मिला। पर यह काल वैभव विलास का काल था। आश्रयदाता राजाओं के जीवन में वीर भावना निश्शेष हो चुकी थी। वे प्रेम के तराने सुनना चाहते थे कवियों ने भी प्रेम के गीत गाने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझी। इससे उन्हें यश धन दोनों की उपलब्धि होती थी। बिहारी ने एक-एक दोहे पर एक-एक अशर्फी प्राप्त की।

मुगल साम्राज्य का वैभव उसकी शक्ति औरंगजेब के समय अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई पर उसने अपनी धर्मान्धता अत्याचार अनाचार तथा हिन्दुओं पर नीचे प्रहार से हिन्दुओं के हृदय में विद्रोह का भाव उत्पन्न कर दिया। शिवाजी की

हम साधारणत कवि या लेखक को उसके काल से अलग कर उसका मूल्याकन नही कर सकते। भारत उस समय एक इकाई न था। एक राष्ट्र, एक भाषा, एक जाति की भावना का तब चिह्न तक न था। अपने अपने भू-खण्ड के लिए उसके अधिपति के लिए मर मिटना सैनिक और प्रजा अपना कर्त्तव्य समझते थे। अत यदि कवियो ने अपने-अपने आश्रयदाता स्वामियो के प्रशस्तिगीत गाये, अपनी मातृभूमि की सीमाओ को सकीर्ण बना उसी के गुण गान गाये और उसी की रक्षा के लिए स्वामी तथा देशवासियो को प्रोत्साहित किया, तो इसमे आश्चर्य नही। उस समय तो प्रत्येक नरेश व्यक्तिगत शौर्य को ही शौर्य मानता था। ऐसी व्यक्तिगत वीरत्व की भावना सकुचित दृष्टि, राष्ट्र की सकुचित परिभाषा के समय कवियो से और अधिक आशा की भी नही जा सकती। आधुनिक अर्थ मे देश-प्रेम, देश-सेवा की भावना होना असभव था, अत हमे इस वीर-काव्य का मूल्याकन उसी परिप्रेक्ष्य मे करना चाहिये। कुछ लोगो ने इसी त्रुटि के कारण इस काल के काव्य को वीराभास (pseudo-heroic) काव्य कहा है, पर यह उचित नही।

भक्तिकाल में वीर काव्य

यवनो के आक्रमण होते रहे और उनका साम्राज्य धीरे-धीरे जड जमाता चला गया। चारणो को आश्रय देने वाले कम हो गये। हिन्दुओ के स्वातत्र्य के साथ-साथ वीरगाथाओ की परम्परा भी काल के अन्धकार मे जा छिपी। उस हीन दशा मे कौन पराक्रम के गीत गाता और गाता भी तो किस मुह से! एक ओर हिन्दू सम्राट और उनके राज्य भारत के मान-चित्र पर से मिटते जा रहे थे, दूसरी ओर मुगल सम्राटो का ऐश्वर्य और वैभव स्वर्ग के वैभव को चुनौती दे रहा था और उनके अत्याचार हिन्दुओ को हताश कर रहे थे। ऐसी स्थिति मे निरलम्ब, असहाय तथा भग्नहृदय हिन्दू जनता के सामने भगवद्भक्ति के अतिरिक्त और कोई चारा न रह गया था। अब तलवार की बजाय सुमिरनी पर भरोसा किया जा रहा था। अपने पौरुष से हताश जाति और उसके कवियो ने वीर काव्य लिखना प्राय बन्द कर दिया। हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल मे यदि वीर रस की धारा काव्य में प्रवाहित भी हुई, तो बडी मद गति से और वह भी केवल पौराणिक आख्यानो के सन्दर्भ मे। तुलसी ने राम का लोकरक्षक तथा लोक नायक के रूप मे प्रस्तुत किया अवश्य और उनके दुष्टदलनकारी रूप की प्रतिष्ठा भी अपने काव्य मे की पर उनका स्वरूप केवल शौर्य-मय नही था, वह शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनो के अधिष्ठाता के रूप मे प्रतिष्ठित किये गये। इन तीनों मे भी उनके शील और सौन्दर्य समन्वित रूप अधिक भास्वर थे क्योकि भक्त भगवान के सुन्दर और मोहक रूप पर मुग्ध होता है और उनके शील पर श्रद्धावनत। राम-रावण युद्ध या राक्षसो के सहार के सन्दर्भ मे राम का वीर रूप अकित अवश्य किया गया है पर वह उतना प्रमुख नही जितने उनके अन्य दो रूप। साराश यह कि 'रामचरित मानस' मे प्रतिष्ठित वीर भावना कथा के प्रसगो के कारण आयी है, कवि के उत्साह के कारण नही फिर भी तुलसी महान कवि थे रस व्यजना मे सफल थे, उनके राम का वृत्त जीवन के विविध अगो को स्पर्श करने वाला था, अत उनके ग्रन्थो मे वीर काव्य मिलता है और उसका अकन भी सफलतापूर्वक हुआ

प्रणीत की गई थी। सतसई के दोहों में कवि ने जागरण का महामन्त्र फूंका है। एक ओर उसमे उज्ज्वल अतीत के विस्तृत गौरव का स्मरण दिलाया है और दूसरी ओर ऐसे आदर्श वीर समाज का चित्र प्रस्तुत किया है जो उस गहन निराशा में प्रकाश आलोक-स्तम्भ का कार्य कर सके। सतसई में चित्रित उस वीर समाज का केन्द्र-बिन्दु है नारी जो स्वयं वीरता की साक्षात् प्रतिमा है और है उत्सर्ग का ज्वलन्त दृष्टान्त। कवि ने उसके दो रूप—वीर माता और वीर पत्नी—भास्वर रंगों में चित्रित किये हैं। वीर माता की एकमात्र साध है कि उसका वीर पुत्र या तो अपने उद्भट पराक्रम से शत्रु को परास्त करे अथवा धारा-तीर्थ में स्नान करता हुआ प्राणों का विसर्जन कर दे।

उसे अपने दूध की लाज की बड़ी चिन्ता है—

सहणी सबरी हूं सखी दो उर उलटी दाह।
दूध लजाणो पूत सम वलय लजाणो नाह॥

यदि वीर माता को अपने दूध की लाज का ध्यान है तो वीर पत्नी को अपने चूड़े का—

पूजापी मन मोतियां सीसापी कर सूत।
सीसाणी रण आभरी है चूड़ो बल दूत॥

कवि ने सती प्रथा को वीरत्व का अंग माना है। बूढ़ा सास अपने पुत्र और पुत्रवधू की यह मरण-उमंग देख कर किस प्रकार चकित रह जाती है—

आज घरे सासू कहै हरख अचानक काय।
बहू बलेबा हुलसी पूत मरेबा जाय॥

सतसई के दोहों में मर मिटने की यह उत्कट भावना पाठक के हृदय को वीरत्व से उद्वेलित कर देती है। वीर सतसई भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम का काव्यमय उद्गार है जिसमे वीर युवकों का ही नहीं वीर बाला का भी शौर्य अंकित किया गया है—

"सिंहण जाई सिंहणी लीधी तेग उठाय।

इसके बाद भारतेन्दु युग मे वीरता की भावना नव रूप प्रस्फुटित होती दिखाई देती है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब तक हमारी वीरत्व भावना का आधार हिन्दुत्व था पर अब उसका स्थान भारतीयता ने ले लिया। इसका कारण १८५७ ई० का स्वातन्त्र्य संग्राम था। इस संग्राम मे हिन्दू-मुसलमान दोनों ने कन्धे से *कन्धा मिलाकर शत्रु से लोहा लिया था। दूसरे पश्चिम के साहित्य तथा समाज* ने भी हमारी दृष्टि को अधिक व्यापक और विशद बनाया था। यद्यपि विक्टोरिया के भारत की साम्राज्ञी घोषित होने रेल तार डाक आदि का प्रचलन होने से देश में *स्थिरता एव शान्ति का वातावरण उत्पन्न हो गया था पर अंग्रेजों की शोषण-नीति* के कारण देश की आर्थिक स्थिति बड़ी विपन्न थी। इसी को लक्ष्य देते हुए भारतेन्दु ने लिखा—

"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥

आत्मा, जो बहुत दिनो से मूक और असहाय होकर, यवनो के अत्याचार और अनाचार सहन करती आ रही थी, अब और अधिक मूक नही रह सकती थी। उसकी पिंजरबद्ध आत्मा अकुला उठी और शिवाजी, छत्रसाल जैसे जाति वीरो का अवलम्बन या विद्रोह करने के लिए तत्पर हो उठी। औरगजेब की अदूरदर्शिता, शिवाजी आदि वीरो के नेतृत्व, भूषण और लाल जैसे कवियो की ओजस्वी वाणी के कारण शासक और शासित एक दूसरे के विरुद्ध ताल ठोककर मैदान मे उतर पडे और शिवाजी के सिंहनाद के साथ साथ वीररस का शख गूँज उठा। गुरु गोविन्दसिंह, छत्रपति शिवाजी, महाराज छत्रसाल वीरता के प्रतीक बन कर जनता के सम्मुख आये और कवियो की भारती ने उनका अपने ओजस्वी, वीरतापूर्ण छन्दो मे अभिनन्दन किया। इस काल के वीररस के प्रमुख कवियो मे भूषण जोधराज, मान, हरिकेश गोपाल, सारगधर और सूदन उल्लेखनीय है। भूषण ने अपने काव्य का विषय दो वीर पुरुषो—शिवाजी तथा छत्रसाल को बनाया, वह राज्याश्रित कवि थे, अत यह सन्देह हो सकता है कि उन्होंने केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए इन जातिवीरो की प्रशसा के गीत गाये पर वस्तुत शिवाजी तथा छत्रसाल केवल व्यक्तिगत रूप से ही वीर न थे, उन्होंने केवल अपने राज्य की रक्षा के लिए ही यवनो से युद्ध नही ठाना था, अपितु वे जाति-वीर भी थे, हिन्दू जाति, धर्म, सस्कृति के रक्षक माने जाते थे।

भूषण आदि की कविता पढकर स्पष्ट हो जाता है कि इस युग मे वीरगाथा काल की व्यक्तिगत शौर्य की भावना रीतिकाल मे आकर जाति भावना मे परिवर्तित हो गई थी। दूसरे, अब वीरता का आदर्श भी बदल गया था। अब शत्रु को क्षमा करने या निहत्थे को अस्त्र देकर उसे युद्ध के लिये ललकारने मे वीरता नही मानी जाती थी, अब तो किसी भी युक्ति से शत्रु को पराजित करना वीरता का आदर्श था। इस काल के कवियो पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि उनमे साम्प्रदायिकता का पुट है पर यह ठीक नही। प्रथम तो उस समय तक यवनो को उसी प्रकार विदेशी समझा जाता था जिस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी मे अगरेजो को। दूसरे वे अत्याचारी थे और अत्याचार के विरुद्ध लडना साम्प्रदायिकता नहीं कहा जा सकता। औरगजेव के विरुद्ध जो कुछ लिखा गया, वह केवल इसलिये नही कि वह मुसलमान था। इसका कारण यह था कि वह अत्याचारी था। हमारे इस मत की और भी पुष्टि हो जाती है जब हम भूषण के पदो मे बाबर और अकबर की प्रशसा पाते हैं। वस्तुत राष्ट्रीयता की भावना युग और काल के साथ बदलती रहती है, तत्कालीन वातावरण और परिस्थितियो को देखते हुए भूषण की भावना जातिभावना न मानकर राष्ट्रभावना ही कही जायेगी।

पद्माकर हिम्मतबहादुर के आश्रय मे कुछ समय तक रहे थे अत उन्होंने उनके कीर्तिगान के लिए 'विरुदावली' की रचना की।

आधुनिककाल में वीरकाव्य

रीतिकाल और आधुनिक काल की सन्धि रेखा पर हमे राजस्थान के अमर कवि सूर्यमल्ल की अमर कृति 'वीर सतसई' मिलती है। सन् १८५७ के विद्रोह की पृष्ठभूमि मे लिखी गई यह रच[illegible]की सुप्त वीर-भावना को उद्बुद्ध करने के लिए

कोमलमना और कवियों में सौम्य संत पत ने भी युग को ललकारते हुए लिखा—

> ध्वस्त भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बंधन।
> पावक पग धर आवे नूतन हो पल्लवित नवल मानव मन ॥

निराला की 'राम की शक्ति पूजा' में वीर रस का बड़ा ओजस्वी वर्णन है युद्ध का एक चित्र देखिये—

> तीक्ष्ण शर विधृत क्षिप्र-कर वेग प्रखर,
> शत शैल सम्वरण शील नील नभ गर्जित स्वर—
> प्रतिपल परिवर्तित व्यूह भेद कौशल समूह—
> राक्षस विरुद्ध प्रत्यूह— क्रुद्ध कपि विषम हूह—
> विच्छुरित-वह्नि—राजीवनयन हत लक्ष्य बाण।
> लोहित लोचन रावण मदमोचन महीयान ॥

आधुनिक युग में वीरकाव्य धारा का प्रतिनिधित्व 'दिनकर' कर रहे हैं। यह पौरुष के पुञ्जीभूत व्यास हैं। युगधर्म का उन्होंने सदा निर्वाह किया है। 'हुंकार' से परशुराम की प्रतीक्षा तक उन्होंने देश के नवयुवकों का आह्वान किया है—

> लेना अनिल किरीट भाल पर ओ आशिक होने वाले।
> कालकूट पहले पी लेना सुधा बीज बोने वाले ॥

यह फूंक फूंक कर चलने वालों की भर्त्सना करते हैं—

> चल यौवन उद्दाम चल चल बिना विराम
> जन्म-मरण दो घाट समर के बीच कहाँ विश्राम।

और श्रम-धारा के लिये उन्हें उत्त जित करते हैं—

चीन के भारत पर आक्रमण ने हिन्दी के सभी कवियों की चेतना को झकझोर दिया। वे कवि भी जो शृंगार के गीत गाते थे शान्ति का सन्देश देते थे इस आकस्मिक और अत्याचारपूर्ण विश्वासघाती आक्रमण से चौंक पड़े और लगभग सभी की लेखनी आग उगलने लगी। इस सबका प्रतिनिधित्व भी दिनकर करते हैं। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उसने समय की माँग पहचानकर परशु धारण करने का आह्वान किया आततायी को भारत पर ललचाई दृष्टि डालने वाले को नष्ट करने के लिए शंकर, गौतम और अशोक का इस भाषा में आह्वान किया।

> पर्वतपति को आमूल डोलना होगा
> शंकर को ध्वंसक नयन खोलना होगा
> गौतम को जयजयकार बोलना होगा।

उपसंहार

सारांश यह है कि हिन्दी के वीर-काव्य पर सदा ही राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है। कभी उसने व्यक्तिगत वीरता को वीरता माना है तो कभी जाति गत शौर्य को कभी धन-संहार में उसके वर्णन किये हैं तो कभी आत्मपीड़न में। कभी उसने प्राचीन शूरवीरों के गीत गाये हैं तो कभी वर्तमान शहीदों के। उसकी धारा चाहे ही मन्द पड़ गई हो पर वह प्रवाहमान सदा रही है।

साहू पै मंहगी, कालरोग विस्तारी।
सब के ऊपर टिक्कस की आफत भारी॥"

सन् १९१४-१९१८ के महायुद्ध के बाद जब ब्रिटिश सरकार के आश्वासन खोखले सिद्ध हुए, और स्वतन्त्रता के स्थान पर भारतवासियों को जलियांवाला बाग मे बन्दूक की गोलियां मिली, तो देश भर में अशान्ति, क्षोभ, और क्रोध की एक लहर दौड़ गई। खिलाफत के प्रश्न ने भी देश मे हलचल मचा दी। यद्यपि गांधी जी के प्रयत्नों से आन्दोलन अधिकतर अहिंसात्मक ही बना रहा, तथापि राजनीति के दो नर्म और गर्म पक्षों की तरह काव्य में भी दो कोटि के कवि हुए—एक वे जो गांधीवादी थे और उन्हीं के सिद्धान्तो को काव्यगत रूप देते हुए सत्य, अहिंसा आदि का पथ अपनाकर स्वतत्रता प्राप्ति के प्रयत्न करना चाहते थे और दूसरे वे जो उग्र विचारो के थे और विप्लव, क्राति और रक्तपात म विश्वास रखते थे। प्रथम कोटि के कवियो मे ये सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, गयाप्रसाद शुक्ल, सनेही आदि। इन्होने अपनी शीतल और मद काव्यधारा द्वारा देशवासियो के हृदय मे आत्म सम्मान जगाया, 'हम कौन थे क्या हो गये हैं' कहकर विगत के स्वर्णीय दिनो की याद दिला वर्तमान के प्रति क्षोभ उत्पन्न किया और 'और क्या होगे अभी' के द्वारा भविष्य के विषय मे सोचने की प्रेरणा दी। गांधी के अनुरूप उन्होने 'अनघ' मे मघ जैसे पात्रो की अवतारणा की जो सत्य, अहिंसा आत्मोत्सर्ग, सेवाभाव आदि द्वारा अपना तथा देश का कल्याण करें। हरिऔध ने प्रिय प्रवास के कृष्ण और विशेषत राधा को समाज सेविका के रूप मे चित्रित कर काव्य को एक नई दिशा दी। इन कवियो पर गाधीवाद का प्रभाव था, अत उन्होने अत्याचार के दमन तक के लिए प्रेम-भाव अपनाने का परामर्श दिया—

पापी का उपकार करो हां पापों का प्रतिकार करो।

उत्पीड़न अन्याय कहीं हो दृढ़ता सहित विरोध करो॥
किन्तु विरोधी पर भी अपने करुणा करो न क्रोध करो॥

सनेही जी ने वीर की परिभाषा ही बदल दी। आज वही सर्वश्रेष्ठ वीर है जिसका शरीर भले ही हड्डियो का ककाल मात्र हो पर जिसमे स्वाभिमान की लौ दीप्त हो, जिसे अपने देश पर अभिमान हो और जो उसके लिए उत्सर्ग होने को तत्पर हो।

"जिसको न निज गौरव तथा, निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नरपशु निरा है, और मृतक समान है॥"

तीसरा वर्ग उन कवियो का था। जिन्होने विप्लव, क्रान्ति और सर्वनाश का आह्वान किया। नवीन जी ने क्रान्ति का स्वर मुखरित करते हुए लिखा—

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जग मे उथल-पुथल मच जाये।
बरसे आग जलद जल जाये, भस्मसात भूधर हो जाये।
नाश नाश की महानाश की प्रलयकर आंखें खुल जायें॥'

सप्तम वर्ग

हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाएं

(क) भारतीय मत—महाकाव्य के स्वरूप का निर्धारण करने वाले संस्कृत के आचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य भामह हैं। वे महाकाव्य को सर्गबद्ध काव्य का ही दूसरा नाम मानते हैं। उनका कथन है कि इसमें किसी महान् विषय का निरूपण होना चाहिए। ग्राम्य शब्दों का परिहार अर्थ का सौन्दर्य अलंकारों का प्रयोग और उच्च या उच्चकोटि की कहानी का वर्णन होना महाकाव्य के लिए आवश्यक है। इसमें राज-दरबार दूत आक्रमण युद्ध आदि का चित्रण होता है तथा अन्त मे नायक का अभ्युदय दिखाया जाता है। नाटकों की पाँचों सन्धियों का आयोजन भी उसमें किया जाता है। साथ ही उसका कथानक उत्कर्षपूर्ण होते हुए भी अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता। उसमे काव्यगत सौन्दर्य के साथ चारों वर्गों—धर्म अर्थ काम और मोक्ष—का निरूपण होता है। फिर भी प्रधानता अर्थ को दी जाती है। उसके वर्णन में 'लोक स्वभाव' या स्वाभाविकता का गुण विद्यमान रहता है तथा उसमे सभी रसों का पृथक पृथक निरूपण होता है। प्रारम्भ मे नायक का कुल शक्ति, प्रतिभा या विद्वता के आधार पर उत्कर्ष दिखाकर अन्त मे किसी अन्य पात्र की सफलता के निमित्त उसका वध दिखाना अनुचित है। यदि नायक को सर्वाधिक प्रभावशाली या अन्त में उसे सफल सिद्ध नहीं किया गया तो उसके प्रारम्भिक अभ्युदय का कोई महत्व नहीं है अतः महाकाव्य के अन्त मे नायक को विजयी दिखाना आवश्यक है। (काव्यालंकार—१ । १८ २१)।

भामह के उपरान्त दण्डी ने 'काव्यादर्श' मे महाकाव्य के लक्षण दिये हैं। उन्होने महाकाव्य के प्रारम्भ मे आशीर्वचन नमस्क्रिया वस्तु-निर्देश विभिन्न सर्गों में विभिन्न छन्दो का प्रयोग आदि नवीन गौण तत्वो की स्थापना के साथ ही जो सबसे महत्वपूर्ण बात कही—वह यह थी कि उन्होने 'महान्-नायक' के स्थान पर 'चतुरोदात्त नायक' की स्थापना कर महाकाव्य के उद्देश्य के महत्व को कम कर दिया। 'महान् उद्देश्य' के स्थान पर उन्होने 'चमत्कार' अथवा केवल रसानुभूति को ही प्रधान मान लिया।

परवर्ती काल मे दण्डी द्वारा प्रदत्त महाकाव्य के लक्षण के आधार पर ही महाकाव्यों की रचना हुई। 'अलंकृति और चमत्कार उनका लक्ष्य हो गया और महती घटना या महान् चरित्र द्वारा रसानुभूति उत्पन्न करके अपने महान् उद्देश्य को पूरा करना उनका लक्ष्य नहीं रह गया।

रुद्रट ने महाकाव्य मे नायक और खलनायक—दोनो का वर्णन दोनो का परस्पर युद्ध और नायक की विजय को बहुत महत्व दिया है।

आगे चलकर साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा— जिसमे सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसमे एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हो नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृंगार वीर और शान्त में से कोई एक रस अंगी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक सन्धियां रहती हैं। इसकी कथा ऐतिहासिक या किसी लोक प्रसिद्ध सज्जन से सम्बन्ध रखने वाली होती है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष—इनमें से कोई एक उसका फल होता है।

: ७० :

हिन्दी महाकाव्य : स्वरूप एवं विकास

१ भूमिका
२ महाकाव्य का स्वरूप—(क) भारतीय मत, (ख) पाश्चात्य मत, (ग) दोनों मतों में समन्वय
३ सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श के महाकाव्य
४ विकास क्रम की दृष्टि से हिन्दी के प्रमुख महाकाव्य—(क) पृथ्वीराज रासो, (ख) पद्मावत (ग) रामचरितमानस, (घ) रामचन्द्रिका, (ङ) साकेत, (च) कामायनी, (छ) उर्वशी, (ज) लोकायतन तथा अन्य
५. उपसहार

भूमिका

'महाकाव्य' एक समस्त पद है जो 'महत्' तथा 'काव्य' इन दो शब्दो से मिल कर निष्पन्न हुआ है। 'काव्य' से पूर्व 'महत्' विशेषण का प्रयोग भारतीय वाङ्मय मे सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण मे मिलता है। उत्तरकाड मे लवकुश द्वारा रामायण के पाठ के उपरान्त राम उनसे प्रश्न करते हैं—

किंप्रमाणमिद काव्य का प्रतिष्ठा महात्मन ।
कर्त्ता काव्यस्य महत क्व चासौ मुनिपुंगव ।।

अर्थात्, यह काव्य कितना बडा है और किस महात्मा की प्रतिष्ठा है? इस महान काव्य के प्रणेता मुनि श्रेष्ठ कहाँ हैं? यहा पर 'महत' पद 'काव्यस्य' का विशेषण है। विशेषण सहित विशेष्य का अर्थ है 'महान काव्य का।' प्रस्तुत श्लोक मे 'महाकाव्य' शब्द के पयोग के साथ ही साथ महाकाव्य के तीन मूलभूत लक्षणो की भी ध्वनि निकलती है—(१) महाकाव्य आकार-प्रकार मे विशाल होता है। (२) इसमे किसी महात्मा या महापुरुष के चरित्र की प्रतिष्ठा की जाती है। (३) इसका रचयिता कोई श्रेष्ठ मुनि या उच्च-कोटि का कवि होता है।

महाकाव्य का स्वरूप

साहित्य की प्रत्येक विधा में देश एव काल के अभिनिवेश से निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसी स्थिति मे उसे किसी एक निश्चित परिभाषा मे बाध पाना नितान्त कठिन कार्य है, किंतु फिर भी समय-समय पर पौरस्त्य एव पाश्चात्य आचार्यों द्वारा महाकाव्य का स्वरूप निर्धारित किया जाता रहा है। इन विभिन्न विद्वानो के मतो मे समन्वय की स्थापना करते हुए एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुचा जा सकता है।

(क) भारतीय मत—महाकाव्य के स्वरूप का निर्धारण करने वाले संस्कृत के आचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य भामह हैं। वे महाकाव्य को सर्गबद्ध काव्य का ही दूसरा नाम मानते हैं। उनका कथन है कि इसमें किसी महान् विषय का निरूपण होना चाहिए। ग्राम्य शब्दों का परिहार, अर्थ का सौन्दर्य, अलंकारों का प्रयोग और सच्ची या उच्चकोटि की कहानी का वर्णन होना महाकाव्य के लिए आवश्यक है। इसमें राज दरबार, दूत, आक्रमण, युद्ध आदि का चित्रण होता है तथा अन्त में नायक का अभ्युदय दिखाया जाता है। नाटको की पाँचों सन्धियों का आयोजन भी उसमे किया जाता है। साथ ही उसका कथानक उत्कर्षपूर्ण होते हुए भी अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता। उसमे काव्यगत सौन्दर्य के साथ चारो वर्गों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—का निरूपण होता है। फिर भी प्रधानता अर्थ को दी जाती है। उसके वर्णन में 'लोक स्वभाव' या स्वाभाविकता का गुण विद्यमान रहता है तथा उसमे सभी रसो का पृथक पृथक निरूपण होता है। प्रारम्भ में नायक का कुल, शक्ति, प्रतिभा या विद्वता के आधार पर उत्कर्ष दिखाकर अन्त मे किसी अन्य पात्र की सफलता के निमित्त उसका वध दिखाना अनुचित है। यदि नायक को सर्वाधिक प्रभावशाली या अन्त में उसे सफल सिद्ध नहीं किया गया तो उसके प्रारम्भिक अभ्युदय का कोई महत्त्व नहीं है अतः महाकाव्य के अन्त मे नायक को विजयी दिखाना आवश्यक है। (काव्यालंकार—१। १८-२१)।

भामह के उपरान्त दण्डी ने 'काव्यादर्श' मे महाकाव्य के लक्षण दिये हैं। उन्होने महाकाव्य के प्रारम्भ मे आशीर्वचन नमस्क्रिया वस्तु-निर्देश विभिन्न सर्गों में विभिन्न छन्दो का प्रयोग आदि नवीन गौण तत्त्वो की स्थापना के साथ ही जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात कही—वह यह थी कि उन्होंने 'महान्-नायक' के स्थान पर 'चतुरोदात्त नायक' की स्थापना कर महाकाव्य के उद्देश्य के महत्त्व को कम कर दिया। 'महान् उद्देश्य' के स्थान पर उन्होंने 'चमत्कार' अथवा केवल रसानुभूति को ही प्रधान मान लिया।

परवर्ती काल मे दण्डी द्वारा प्रदत्त महाकाव्य के लक्षण के आधार पर ही महाकाव्यो की रचना हुई। 'रसानुभूति और चमत्कार उनका लक्ष्य हो गया और महती घटना या महान् चरित्र द्वारा रसानुभूति उत्पन्न करके अपने महान् उद्देश्य को पूरा करना उनका लक्ष्य नहीं रह गया।

रुद्रट ने महाकाव्य मे नायक और प्रतिनायक—दोनों का वर्णन दोनों का परस्पर युद्ध और नायक की विजय को बहुत महत्त्व दिया है।

आगे चलकर साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा — जिसमे सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसमे एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमे धीरोदात्तत्वादि गुण हों नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर और शान्त मे से कोई एक रस अंगी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक सन्धियाँ रहती हैं। इसकी कथा ऐतिहासिक या किसी लोक प्रसिद्ध सज्जन से सम्बन्ध रखने वाली होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमें से कोई एक उसका फल होता है।

प्रारम्भ मे आशीर्वाद,नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलो की निन्दा और सज्जनो के गुणो का वर्णन होता है। कहीं-कही सर्ग मे अनेक छन्द मिलते हैं । सर्ग के अन्त मे अगली कथा की सूचना होनी चाहिए । इसमे सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि प्रदोष, अन्धकार, दिन,प्रात काल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, षड्ऋतु, वन, समुद्र, सभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, सग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र, अभ्युदय आदि का यथासम्भव सागोपाग वर्णन होना चाहिए । इसका नामकरण, कवि के नाम या चरित्र के नाम अथवा चरित्र-नायक के नाम के आधार पर होना चाहिए । कही इनके अतिरिक्त भी नामकरण होता है जैसे भट्टि । सर्ग की वर्णनीय कथा के आधार पर सर्ग का नाम रखा जाता है । सन्धियो के अग यहा यथासम्भव रखे जाने चाहिए । यदि एक यादो भिन्न वृत्त हो तो भी कोई हर्ज नही है । जल-क्रीडा, मधुपानादिक सागोपाग होने चाहिए । महाकाव्य के उदाहरण जैसे रघुवशादि ।"

हिन्दी के आचार्यों मे सर्वप्रथम प० रामचन्द्र शुक्ल ऐसे आचार्य हैं जिन्होने सस्कृत-आचार्यों के मतों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए महाकाव्य के लक्षणो का निर्धारण किया । जब शुक्ल जी महाकाव्य के लक्षण निर्धारित कर रहे थे, उस समय उनकी दृष्टि मे तुलसी का 'रामचरित मानस' था । उन्होने महाकाव्य मे केवल चार तत्त्वो को महत्त्व प्रदान किया है—(१) इतिवृत्त, (२) वस्तु व्यापार वर्णन, (३) भावव्यजना और (४) सवाद । शुक्लजी के विचारानुसार महाकाव्य का इतिवृत्त व्यापक होने के साथ-साथ सुसगठित भी होना चाहिए । उसमे ऐसी वस्तुओ और व्यापारो का वर्णन होना चाहिए जो हमारी भावनाओ को तरगित कर सके । कवि की भाव व्यजना मे हृदय को आन्दोलित कर सकने की क्षमता होनी चाहिए । महाकाव्य के सवादो मे रोचकता नाटकीयता और औचित्य का गुण होना आवश्यक है । इन तत्त्वो के अतिरिक्त यद्यपि शुक्ल जी ने सदेश की महानता और शैली की प्रौढता का स्पष्ट उल्लेख नही किया तथापि उनके द्वारा की गई महाकाव्य की विभिन्न समीक्षाओ से यह पता चल जाता है कि वे इन दोनो तत्वो को भी महाकाव्य का अग स्वीकार करते हैं ।

इसमे सन्देह नही कि शुक्ल जी की दृष्टि बडी पैनी थी, किन्तु फिर भी उनकी अपनी कुछ सीमाएँ थी, और यही कारण है कि उनकी इस कसौटी पर कामायनी जैसा महाकाव्य खरा नही उतरता है । डा० नगेन्द्र ने कामायनी को भी दृष्टिपथ में रखते हुए महाकाव्य के पाच लक्षण प्रस्तुत किए हैं—(१) उदात्त कथानक, (२) उदात्त कार्य, (३) उदात्त भाव, (४) उदात्त चरित्र और (५) उदात्त शैली । आज महाकाव्य को कसने के लिए डॉ० नगेन्द्र द्वारा दिए गए इन लक्षणो का बहुत अधिक आदर है ।

(ख) पाश्चात्य मत—पाश्चात्य आलोचको मे महाकाव्य के विषय मे पहला मत अरस्तू का मिलता है । उन्होंने लिखा है—"महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापार का काव्यमय अनुकरण है जो स्वत गम्भीर एव पूर्ण हो, वर्णनात्मक हो, सुन्दर शैली मे रचा गया हो, जिसमे आद्यन्त एक छन्द हो, जिसमे एक ही कार्य हो जो पूर्ण हो, जिस मे प्रारम्भ, मध्य और अन्त हो, जिसके आदि और अन्त एक दृष्टि मे समा सकें, जिस

के चरित्र श्रेष्ठ हो कथा संभावनीय हो और जीवन के किसी एक सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करती हो।

आधुनिक योरोपीय आलोचकों ने भी अपने अपने अनुसार महाकाव्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। इन आलोचकों मे बावरा एबरक्राम्बी केर डिक्सन आदि का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। सी एम बावरा ने महाकाव्य की परिभाषा देते हुए कहा है— सर्वसम्मति से महाकाव्य वह कथात्मक काव्य रूप है जिस का आकार बृहत् होता है जिसमे महत्त्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओं का वर्णन होता है और जिसमे कुछ चरित्रो की क्रियाशील जीवन कथा विशेषकर भयकर कार्यों जैसे —युद्ध आदि से युक्त जीवन कथा होती है। उसके पढ़ने के बाद हम विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है—क्योंकि उसकी घटनाए और पात्र हमारे भीतर मनुष्य की महानता गौरव और उपलब्धियों के द्वारा दृढ़ आस्था उत्पन्न करते हैं।

एबरक्राम्बी ने महाकाव्य के उद्देश्य के साथ ही साथ उसके बाह्य रूप का भी विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनका मत है— बड़े आकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नही हो जाता। जब उसकी शैली महाकाव्य की शैली होगी तभी उसे महाकाव्य माना जा सकता है, और वह शैली कवि की कल्पना विचारधारा तथा उसकी अभिव्यक्ति से जुड़ी रहती है। उस 'शैली' के 'महाकाव्य' एक ऐसे लोक मे पहुँचा देते हैं जहां कुछ भी महत्त्वहीन और असारगर्भित नही होता। महाकाव्य के भीतर एक पुष्ट स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो उसकी गति का आद्यन्त सञ्चालन करता है।

वाल्तेयर न ऐसे ही काव्य ग्रन्थों को महाकाव्य माना जिनम किसी महान् घटना का वर्णन होता है।

(ग) दोनों मतो में समन्वय –वस्तुत यदि इन प्राच्य एवं पाश्चात्य आचार्यों के मतों को मिलाकर महाकाव्य की एक निश्चित रूप रेखा तैयार की जाय तो वह रूप रेखा एक ऐसी रूप-रेखा होगी जिसके अन्तर्गत संसार के सभी महाकाव्यों को समाहित किया जा सकता है। डा शम्भुनाथ सिंह ने इस कार्य को सम्पन्न करते हुए महाकाव्य के लक्षणो को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

आन्तरिक लक्षण

१ महाकाव्य मे किसी महान् घटना का वर्णन होना चाहिए। उसके कथानक मे नाटकीय अन्विति हो तो ठीक है न हो तो भी उसे रोमांचक कथा की तरह विशृंखलित नही होना चाहिए।

२ उसमे कोई न कोई महान् उद्देश्य अवश्य होना चाहिए, चाहे वह उद्देश्य राष्ट्रीय हो या नैतिक धार्मिक हो या दार्शनिक मानवीय हो या मनोवैज्ञानिक।

३ उसमे प्रभावान्विति होनी चाहिए, चाहे वह नाटकीय ढंग की प्रभावान्विति हो या रोमांचक कथा के ढग की या गीतिकाव्य के ढंग की।

बाह्य लक्षण—

१ कथात्मकता और छन्दोबद्धता।

२ सर्गवद्धता या खण्ड विभाजन और कथा का विस्तार।

३ जीवन के विविध और समग्र रूप का चित्रण।

४ नाटक, कथा और गीतिकाव्य के अनेक तत्त्वो के सम्मिश्रण से सघटित थानक का निर्माण।

५ शैली की गम्भीरता, उदात्तता और मनोहारिता।

स्कृत प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्य

यो तो रामायण और महाभारत से भी पूर्व सस्कृत मे रचे गए कतिपय महाकाव्यो का उल्लेख मिलता है, किन्तु आज वे महाकाव्य उपलब्ध नही हैं। ऐसी स्थिति मे रामायण और महाभारत को ही सस्कृत के आदि महाकाव्यो के रूप मे प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। इन दोनो महाकाव्यो के उपरान्त सस्कृत मे जिन महाकाव्यो की रचना हुई उनमे अश्वघोष का बुद्धचरित कालिदास के कुमार सम्भव और रघुवश, भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपाल-वध और श्रीहर्ष का नैषधीयचरित मुख्य हैं। इन परवर्ती सभी महाकाव्यो की रचना उन लक्षणो को दृष्टिपथ मे रखकर की गई है जिन्हे विभिन्न आचार्यों ने निर्धारित किया है।

प्राकृत के महाकाव्यो मे विमलसूरि का पउम चरिय (पद्मचरित) प्राचीनतम माना जाता है। इसके अतिरिक्त प्रवरसेन का सेतुबन्ध या रावण वहो (रावण-वध) प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट शास्त्रीय महाकाव्य माना जाता है। इन दो महाकाव्यो के अतिरिक्त वाक्पतिराज का गउडवहो, कौतूहल की लीलावती तथा अन्य कवियो के सिरिचिह्लकव्व (श्री चिह्लकाव्य) उस्ताणिरुद्ध (उषानिरुद्ध), कसवहो (कस-वध) आदि महाकाव्य भी उल्लेखनीय हैं।

अपभ्रंश-महाकाव्यो की परम्परा मे स्वयम्भू के पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ का प्रमुख स्थान है। स्वयम्भू के अतिरिक्त पुष्पदन्त, धनपाल, पद्मकीर्ति, हरिभद्र सूरि, नयनन्दि, कनकामर, वीर कवि, शुभकीर्त्ति, भट्टारक, यश कीर्त्ति आदि अनेकों कवियो ने अपभ्रंश मे अनेको महाकाव्यो की रचना की है।

विकास-क्रम की दृष्टि से हिन्दी के प्रमुख महाकाव्य

यह तो असन्दिग्ध है कि आदिकालीन हिन्दी-महाकाव्यो पर सस्कृत तथा प्राकृत के महाकाव्यो का प्रभूत प्रभाव है, किन्तु उसका वास्तविक विकास अपभ्रंश-महाकाव्य परम्परा से ही हुआ है। यहा पर विकास-क्रम की दृष्टि से हिन्दी के प्रमुख महाकाव्यो को लेकर उन पर सक्षेप में विचार किया जायेगा।

(क) **पृथ्वीराज रासो**—हिन्दी के आदिकाल मे हमे जिस सर्वाधिक सुन्दर महाकाव्य की उपलब्धि होती है, वह पृथ्वीराजरासो ही है। इसमे महाकाव्योचित औदात्त्य विद्यमान है। इस ग्रन्थ का यह दुर्भाग्य था कि अभी वह साहित्य-गगन मे पूर्णत उद्भासित भी नही हो पाया था कि कुछ इतिहासकारो की क्रूर दृष्टि इस पर पड गई, फलत यह ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता व स्वाभाविकता आदि ग्रहो की काली छाया से आवृत होकर आभा-शून्य हो गया।" किन्तु यहा पर हमे इस ग्रन्थ की ऐतिहासिकता-अनैतिहासिकता, प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता, स्वाभाविकता-अस्वा०

मानिकता भादि के पचड़े में नहीं पड़ना है। भाज इसका जो रूप उपलब्ध है उसी को लेकर हमें इसका विवेचन करना है।

पृथ्वीराजरासो के कई संस्करण मिलते हैं जिनमें आकार की दृष्टि से बहुत अधिक भेद है। इसका सबसे विशालकाय संस्करण ६९ सर्गों मे विभक्त है। इस संस्करण की पृष्ठ संख्या लगभग ढाई हजार है। परम्परा के अनुसार इसका रचयिता चन्दबरदाई को माना जाता है जो पृथ्वीराज के दरबारी कवि और सामन्त थे। इतिहास के साथ इसमे कल्पना का प्रचुर प्रयोग हुआ है और इसी कल्पनाधिक्य के कारण ही लोग इसे अप्रामाणिक तथा जाली मानने लगे हैं। युग और समाज-जीवन के समग्र चित्रण की दृष्टि से इसे अपने युग का दर्पण कहा जा सकता है। तत्कालीन जीवन का सामन्ती वैभव सामाजिक आचार-व्यवहार धार्मिक विधि विधान एवं उस युग के विभिन्न पर्व त्यौहार और उत्सवादि के उल्लसित सूक्ष्म सजीव रूप मे चित्रित हैं। यह महाकाव्य उन शोधकर्ताओं के लिये परम उपयोगी है जो मध्यकालीन संस्कृति के विषय मे शोध करने के इच्छुक हैं।

रासो का प्रधान रस वीर है। रौद्र एवं शृंगार की भी इसमे सफल अभिव्यक्ति हुई है। यत्र तत्र अन्य रस भी मिल जाते हैं। ओज गुण की सृष्टि के लिए अक्षरो के द्वित्व शब्दों की आवृत्ति और वाक्य-विन्यास की विलक्षणता का प्रश्रय लिया गया है। शृंगार के प्रसंग में अत्यन्त कोमल शब्दावली का प्रश्रय लिया गया है।

'स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर हँसते-हँसते बलि हो जाने और देश-जाति और अपने व्यक्तित्व के गौरव और प्रतिष्ठा के लिए प्रतिक्षण मरने मिटने के लिए तैयार रहने का अमर सन्देश देना ही इस महाकाव्य का महत् उद्देश्य है।

(ख) पद्मावत—भक्तिकाल ने दो अमूल्य महाकाव्य रत्न हिन्दी को भेंट किये। ये महाकाव्य है—(१)जायसी का 'पद्मावत'और तुलसी का 'रामचरितमानस'। पद्मावत प्रेमाख्यान-परम्परा का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य स्वीकार किया जाता है। विद्वानों ने इसे रोमांचक महाकाव्यों की कोटि में रखा है। पद्मावत के इतिवृत्त को अर्द्ध ऐतिहासिक कहा जा सकता है। यद्यपि जायसी ने प्रस्तुत महाकाव्य के लिये भारतीय प्रेमाख्यान को चुना है किन्तु उसे रूढ़ियों मे निबद्ध करने के लिये उसमें पर्याप्त परिवर्तन ला दिया है। रत्नसेन द्वारा पद्मावती को प्राप्त करने तक की कहानी अर्थात् पूर्वार्द्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है।

पद्मावत में जो बात खटकती है वह यह है कि इसके पात्रो मे वैविध्य का अभाव है। वस्तुत: इस महाकाव्य के पात्रों मे मनोवृत्तियो की जटिलता नहीं है उनमे गम्भीरता है कदाचित् इसीलिए पात्रों मे एकरूपता है। जहाँ तक विभिन्न भावो की अभिव्यंजना का प्रश्न है उसमे जायसी ने एक महाकवि जैसी क्षमता का परिचय दिया है। प्रेम और विरह की अभिव्यक्ति मे उन्हें विशेष रूप से सफलता मिली है।

पद्मावत का दर्शन-पक्ष अत्यन्त प्रौढ़ है। इसमे लौकिक प्रेम के द्वारा पारमार्थिक प्रेम की व्यंजना की गयी है। युगीन परिस्थितियों के चित्रण में जायसी

२ सर्गवद्धता या खण्ड विभाजन और कथा का विम्तार।

३ जीवन के विविध और समग्र रूप का चित्रण।

४ नाटक, कथा और गीतिकाव्य के अनेक तत्त्वो के सम्मिश्रण से सघटित कथानक का निर्माण।

५ शैली की गम्भीरता, उदात्तता और मनोहारिता।

सस्कृत प्राकृत और अपभ्र श के महाकाव्य

यो तो रामायण और महाभारत से भी पूर्व सस्कृत मे रचे गए कतिपय महाकाव्यो का उल्लेख मिलता है, किन्तु आज वे महाकाव्य उपलब्ध नही हैं। ऐसी स्थिति मे रामायण और महाभारत को ही सस्कृत के आदि महाकाव्यो के रूप मे प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। इन दोनो महाकाव्यो के उपरान्त सस्कृत मे जिन महाकाव्यो की रचना हुई उनमे अश्वघोष का बुद्धचरित कालिदास के कुमार सम्भव और रघुवश, भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपाल-वध और श्रीहर्ष का नैषधीयचरित मुख्य हैं। इन परवर्ती सभी महाकाव्यो की रचना उन लक्षणो को दृष्टिपथ मे रखकर की गई है जिन्हें विभिन्न आचार्यों ने निर्धारित किया है।

प्राकृत के महाकाव्यों मे विमलसूरि का पउम चरिय (पद्मचरित) प्राचीनतम माना जाता है। इसके अतिरिक्त प्रवरसेन का सेतुबन्ध या रावण वहो (रावण-वध) प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट शास्त्रीय महाकाव्य माना जाता है। इन दो महाकाव्यो के अतिरिक्त वाक्पतिराज का गउडवहो, कौतूहल की लीलावती तथा अन्य कवियो के सिरिचिह्नकव्व (श्री चिह्नकाव्य) उस्ताणिरुद्ध (उषानिरुद्ध), कसवहो (कस-वध) आदि महाकाव्य भी उल्लेखनीय हैं।

अपभ्र श-महाकाव्यो की परम्परा मे स्वयम्भू के पउमचरिउ और रिट्ठणेमि-चरिउ का प्रमुख स्थान है। स्वयम्भू के अतिरिक्त पुष्पदन्त, धनपाल, पद्मकीर्ति, हरिभद्र सूरि, नयनन्दि, कनकामर, वीर कवि, शुभकीर्त्ति, भट्टारक, यश कीर्त्ति आदि अनेको कवियो ने अपभ्र श मे अनेको महाकाव्यो की रचना की है।

विकास-क्रम की दृष्टि से हिन्दी के प्रमुख महाकाव्य

यह तो असन्दिग्ध है कि आदिकालीन हिन्दी-महाकाव्यो पर सस्कृत तथा प्राकृत के महाकाव्यो का प्रभूत प्रभाव है, किन्तु उसका वास्तविक विकास अपभ्र श-महाकाव्य-परम्परा से ही हुआ है। यहा पर विकास-क्रम की दृष्टि से हिन्दी के प्रमुख महाकाव्यो को लेकर उन पर सक्षेप मे विचार किया जायेगा।

(क) **पृथ्वीराज रासो**—हिन्दी के आदिकाल मे हमे जिस सर्वाधिक सुन्दर महाकाव्य की उपलब्धि होती है, वह पृथ्वीराजरासो ही है। इसमे महाकाव्योचित औदात्य विद्यमान है। इस ग्रन्थ का यह दुर्भाग्य था कि अभी वह साहित्य-गगन मे पूर्णत उद्भासित भी नही हो पाया था कि कुछ इतिहासकारो की क्रूर दृष्टि इस पर पड गई, फलत यह ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता व स्वाभाविकता आदि ग्रहो की काली छाया से आवृत होकर आभा-शून्य हो गया।" किन्तु यहा पर हमे इस ग्रन्थ की ऐतिहासिकता-अनैतिहासिकता, प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता, स्वाभाविकता-अस्वा-

विश्वास एवं कार्य, प्रकृति चित्रण, मानसिक दशाएँ और भावनाएँ, रूप-चित्रण, वेश-भूषा और वातावरण, आमोद प्रमोद, परिगणनात्मक वर्णन आदि द्वारा युग-जीवन साकार हो उठा है।

भाव-पक्ष की भाँति मानस का शैली-पक्ष भी नितान्त प्रौढ़ है। अलंकार कहीं पर भी भार बनकर नहीं आये हैं। जहाँ-कहीं पर उनका प्रयोग हुआ है अत्यन्त स्वाभाविक हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक तुलसी के प्रिय अलंकार हैं। छन्दों में मुख्य रूप से दोहा चौपाई वाली पद्धति को अपनाया गया है किन्तु साथ ही सोरठा, हरिगीतिका, नाराच आदि छन्दों का भी सुन्दर समावेश है। भाषा परिनिष्ठित अवधी है। संस्कृत की कोमलकान्त पदावली ने भाषा में चार चाँद लगा दिये हैं।

(घ) रामचन्द्रिका—यद्यपि केशव की रामचन्द्रिका मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम के जीवन से सम्बद्ध महाकाव्य है तथापि कतिपय विद्वान् इसके महाकाव्यत्व को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। भले ही इन विद्वानों का दृष्टिकोण ठीक न हो तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि रामचन्द्रिका एक उच्चकोटि का महाकाव्य नहीं है। इसकी कथा ३९ सर्गों में विभक्त है। चमत्कार प्रदर्शन की ओर केशव का ध्यान रहा है वे इसमें कोमल भावों को भली प्रकार अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं। साथ ही केशव दरबारी कवि थे और इस कारण उन्हें समाज का अच्छा ज्ञान न था। कदाचित् इसीलिए मानव-जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन नहीं कर सके, समस्त युग और समाज के सब रूपों को सजीव रूप में प्रस्तुत न कर सके। रामचन्द्रिका में इतने अधिक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है कि यदि उसे छन्दों का कोष मान लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। अलंकार तो एक-एक छन्द में न जाने कितने कितने भर दिये हैं। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी रामचन्द्रिका को महाकाव्य के पद से वंचित नहीं किया जा सकता। उसके वर्ण्य विषय, उसकी भाषा, उसके संवाद आदि सभी में एक अपूर्व गरिमा है।

(ङ) साकेत—साकेत बीसवीं शताब्दी का महाकाव्य है जिसमें मैथिलीशरण गुप्त ने राम-कथा का वर्णन किया है किन्तु एक विशिष्ट उद्देश्य को लेकर। साकेत से पूर्व के रामचरित-सम्बन्धी काव्यों में उर्मिला की उपेक्षा की जाती है यद्यपि उर्मिला ने अपने विवाह के तुरन्त बाद ही अपने पति लक्ष्मण को राम-सीता के साथ भेजकर बहुत बड़ा बलिदान किया। प्रस्तुत महाकाव्य में कवि का मूल उद्देश्य उपेक्षिता उर्मिला के चरित्र का अंकन रहा है। साथ ही साकेतकार ने कैकेयी के चरित्र को भी ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है।

कुछ विद्वानों ने साकेत को महाकाव्य नहीं माना है किन्तु बात ऐसी नहीं है वह महाकाव्य है। यह बात दूसरी है कि वह भाषा शैली की दृष्टि से अत्यन्त सफल है।

(च) कामायनी—हिन्दी-महाकाव्य के क्षेत्र में कविवर जयशंकर प्रसाद की कामायनी एक विलक्षण उपलब्धि है। कामायनी आधुनिक हिन्दी-साहित्य का ऐसा अमर महाकाव्य है जिसमें आधुनिक युग की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का पूर्ण

ने विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की है। समाज के विभिन्न रीति-रिवाजो और प्रथाओ का, लोक-विश्वास और लोक-विचारो का, विभिन्न पर्वो तथा उत्सवो का, दीवाली, होली, वसन्त आदि त्योहारो की सजीव झाकी यहाँ विद्यमान है। साथ ही इस महाकाव्य मे शैली की प्रौढता और अलकार-वैभव भी द्रष्टव्य है।

दर्शन के प्रसग मे पद्मावत के उद्देश्य का उल्लेख करते हुए एक भारतीय विद्वान् ने लिखा है—"जायसी का अध्यात्मवाद व्यावहारिक दृष्टि से उदार और प्रेम-प्रवण मानवतावाद है और उसी की प्रतिष्ठा करना अर्थात् मानव-मानव को एक ही उच्च मनोभूमि पर खडा करके धर्म, जाति आदि की कृत्रिम दीवारो को तोडकर मानवमात्र को एक सूत्र मे बाधना ही पद्मावत का महान उद्देश्य है।"

(ग) रामचरितमानस—हिन्दी मे रामचरितमानस की रचना एक अदृष्टपूर्व घटना है। आज विश्व-साहित्य मे तुलसी की इस कृति को बहुत बडा स्थान प्राप्त है। भारतीयो, चाहे वे धनी हो अथवा निर्धन, उच्चकोटि के विद्वान् हो या कोरे निरक्षर भट्टाचार्य, का तो मानस हृदयहार ही बना हुआ है। भारत के जन-जन मे इसका प्रचार देखकर एक पाश्चात्य विचारक ने तो इसे 'हिन्दुओ का जातीय महाकाव्य' ही कह दिया है। यद्यपि तुलसी ने इसकी रचना स्वान्त सुखाय की है किन्तु फिर भी इसमे लोकमगल की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है।

रामचरितमानस की कथा का विकास श्रोताओ एव वक्ताओ के सवादो के माध्यम से हुआ है।

पात्रो का जितना वैविध्यपूर्ण चित्रण रामचरितमानस मे मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है। एक आधुनिकयुगीन आलोचक ने इस महाकाव्य के चरित्र-चित्रण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"रामचरितमानस के पात्रो मे कुछ ऐसी विशिष्टता, स्वाभाविकता और भव्यता मिलती है जो अनायास ही पाठक की बुद्धि और कल्पना को केन्द्रित कर लेती है। दशरथ की तीनों रानियो और उसके चारो पुत्रो मे से प्रत्येक के चरित मे कुछ ऐसा स्पष्ट अन्तर है जिससे हम उन्हें एक-दूसरे से पृथक् कर सकते हैं। इसी प्रकार रावण, कुम्भकरण और विभीषण तीनो राक्षस—कुलोत्पन्न होते हुए भी वैयक्तिक विशिष्टता से सम्पन्न हैं। कही-कही पात्रो के चरित्र का विकास भी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक आधार पर दिखाया गया है, जैसे पति-परायण कैकेयी का कुलघातिनी बन जाना। सुग्रीव जैसे सरल व्यक्ति का राज्य-प्राप्ति के अनन्तर भोग-विलास मे लीन हो जाना या विभीषण का भ्रातृ-द्रोह के लिए विवश होना।"

रामचरितमानस की सवाद-योजना अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की है। इस महाकाव्य में कुछ सवाद तो ऐसे हैं, जिन्हे कभी विस्मृत ही नही किया जा सकता। ये सवाद हैं—परशुराम-लक्ष्मण-सवाद, मथरा कैकेयी-सवाद, अगद-रावण-सवाद।

प्रस्तुत महाकाव्य मे प्रसगानुकूल सभी प्रमुख रसों की अभिव्यक्ति है, किन्तु प्रमुखता भक्ति और शान्त रसो को मिली है। तुलसी जैसे उच्चकोटि के भक्त से हम और भी आशा कर सकते हैं।

रामचरितमानस का उद्देश्य 'राम-राज्य' की स्थापना है। युग-जीवन की समग्रता की दृष्टि से इसमें सामाजिक सम्बन्ध, उत्सव आदि, धार्मिक, पौराणिक,

है जो न अतीत की ओर मुड़ती है और न उसकी ओर से मुँह मोड़ती है। यह काव्य जो न अतीतोन्मुख है और न अतीत का अस्वीकार वर्तमान के भविष्य को उपहार के समान है। भारतीय लोकभूमि पर विश्व-मानव के अन्तर्बाह्य विकास की परिकल्पना इसमें चित्रित हुई है। पन्त जी के शब्दों में लोकायतन ग्रामधरा के अंचल में जन भावना के छन्दों में बँधी युगजीवन की मानवत कथा है।

लोकायतन के अतिरिक्त आधुनिक युग में कुछ अन्य महाकाव्यों की भी रचना हुई है। इनमें प्रियप्रवास कृष्णायन वैदेही वनवास साकेत-सन्त सिद्धार्थ नूरजहाँ कुरुक्षेत्र हल्दीघाटी सिद्धान्त समर वर्द्धमान पार्वती मीरा तारक वध दैत्य वंश रावण महाकाव्य जौहर रामचरित चिन्तामणि प्रमुख हैं। इनमें से अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध महाकाव्यों पर विहंगम दृष्टिपात कर लेना असमीचीन न होगा।

प्रियप्रवास की कथा कृष्ण और गोपियों के आख्यान पर आधारित है। इसके रचयिता पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' हैं। इस महाकाव्य में प्राचीन अलौकिक शक्तियों का बुद्धिवादी बौद्धिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

कृष्णायन में पं० द्वारका प्रसाद मिश्र ने कृष्ण के समग्र जीवन को चित्रित करने का प्रयास किया है। इसमें युद्ध-नीति और युद्ध-कौशल का चित्रण अत्यन्त आकर्षक ढंग से किया गया है। ग्रन्थ में ऐतिहासिक भौगोलिक और पुरातत्त्व-सम्बन्धी निर्देश कवि की बहुज्ञता के परिचायक हैं। इसकी रचना दोहा चौपाई में हुई है।

जिस प्रकार साकेत की रचना कर गुप्त जी ने उर्मिला के चरित्र को उठाने का प्रयास किया है ठीक उसी प्रकार डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने साकेत-सन्त की रचना कर भरत और उनकी पत्नी माण्डवी के चरित्र को बहुत ऊँचा उठाया है। इस ग्रन्थ में भरत को अहिंसा और सत्य के सच्चे प्रतिपादक,शील के समुद्र,दृढ संकल्पशील आत्मग्लानि में डूबे कर्त्तव्य-परायण आदर्श व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। मिश्र जी ने कैकेयी की संतप्त आत्मा पुत्र प्रेम प्रायश्चित्त करने की विह्वलता आदि का भी सुन्दर सफल चित्रण किया है। करुण शृंगार और वीर रसों का पुट होते हुए भी प्रधानता भक्ति रस की ही है। भाषा सर्वत्र प्रसाद-गुण-मण्डित है।

कुरुक्षेत्र में दिनकर ने युधिष्ठिर और भीष्म के माध्यम से यह सन्देश दिया है कि संसार में शान्ति की स्थापना तब तक नहीं हो सकती जब तक मनुष्य को सुखोपभोग की पर्याप्त सुविधाएँ न प्राप्त हों।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हुए एक आलोचक ने लिखा है— 'कुल मिलाकर आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों ने शास्त्रीय लक्षणों का ध्यान तो रखा है पर उनका बन्धन स्वीकार नहीं किया है। पद्य सन्धियों का निश्चित निर्वाह मंगलाचरण आदि भी इनमें नहीं मिलते। कवियों ने घटनाओं को देश-काल प्रसंग के अनुरूप परिवर्तित कर लिया है। मौलिक उद्भावनाओं द्वारा विशृंखल सूत्र सबद्ध किये गये हैं पात्रों को अधिक मनोवैज्ञानिक बना लिया गया है। वे जीवन को व्यक्त करते हैं, उसकी व्याख्या नहीं करते। वे तत्कालीन देश-काल के साथ-साथ

प्रतिनिधित्व हुआ है और जो अनेक दृष्टियो से हिन्दी के ही नही, अपने युग के पूर्ववर्ती समस्त भारतीय महाकाव्यो से भिन्न, एक निराले स्थान का अधिकारी है।" यह महाकाव्य बौद्धिकता और भौतिकता के अतिरेक से पीडित और विविध प्रकार के सघर्षो मे टूटे हुए विश्व-मानव को चरम शान्ति का मार्ग बताती है।

कामायनी के कथानक की रूप-रेखाएँ सूक्ष्म, अस्पष्ट तथा अस्वाभाविक होते हुए भी उसमे मानव-जाति के समस्त इतिहास को समेटने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि प्रबन्ध-काव्य की सी इतिवृत्तात्मकता एव रोचकता का इसमे अभाव है तथापि मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओ का जैसा मार्मिक, विस्तृत एव गभीर चित्रण इसमे किया गया है वह इसके सारे अभावो की पूर्ति कर देता है। कथानक का आरम्भ शोक से करते हुए इसमे क्रमश श्रृगार, वीर, रौद्र, विस्मय एव शान्त रसो का विधान किया गया है। नारी के व्यक्तित्व के सभी स्थूल और सूक्ष्म गुणो का समन्वित रूप प्रथम बार हमे इसमे मिलता है। उसकी केवल एक वृत्ति—लज्जा को लेकर पूरे सर्ग की रचना कर देना कामायनीकार की काव्य-प्रतिभा का प्रमाण है।

"काव्यत्व की दृष्टि से कामायनी जितनी प्रौढ है, जीवन-दर्शन और युग-सदेश की दृष्टि से वह उतनी ही महान है। इसमे मानव-जीवन की उन चिरन्तन समस्याओ का चित्रण किया गया है जो स्थूल भौतिक जगत् की घटनाओ से नहीं, अपितु, मस्तिष्क और हृदय की सूक्ष्म वृत्तियो द्वारा उपस्थित होती हैं। सघर्ष और युद्ध का कारण कोई जाति-विशेष, देश-विशेष या वाद-विशेष नही है, अपितु हमारी ही अपनी चित्तवृत्तिया हैं। सुख की लालसा मे मानव भटकता हुआ किस प्रकार स्वार्थ-बुद्धि के माया-जाल मे फस जाता है जिससे उसका जीवन अनेक असगतियो का केन्द्र बन जाता है। अस्तु, मानव-जीवन मे सुख और शान्ति का मूल मन्त्र कामायनीकार के शब्दो मे 'ज्ञान, क्रिया और इच्छा' मे उचित समन्वय स्थापित करना है।"

(छ) उर्वशी —दिनकर-रचित उर्वशी पौराणिक महाकाव्य है। इसमे कवि ने अनेको मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। उर्वशीकार ने रूढियो मे बँधे काम-जीवन की वेदना और विडम्बना का उद्घाटन करते हुए बताया है कि पत्नीव्रत या पातिव्रत का आधार समाजनीति भले ही हो, प्रेम नहीं है। इसी कारण ये व्रत आज तक पूरी तरह नही पाले गये, बहुपत्नी-प्रथा तथा वेश्यावृत्ति सभी समाजो और सभी युगो मे चलती रही। उर्वशी के लेखक का मत है कि व्यक्ति-प्रेम को उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करके ही जीवन शान्तिपूर्ण हो सकेगा। इसके कारण समाज को औशीनरी की वेदना और उर्वशी की विवशता सहनी होगी और पुरुरवा की तरह समाज त्याग करना होगा। "प्रेम के परम्परागत अर्थों के विरुद्ध, रूढ़ियो के विरुद्ध यह विद्रोह दिनकर की साहसिकता का सबल प्रमाण है।"

(ज) लोकायतन तथा अन्य —प० सुमित्रानन्दन पन्त के लोकायतन में उनकी "जीवन-भर की सचित भाव-राशि चैतन्यनिष्ठ चिंता और मानवी-मानस सम्पदा का चरण-चरण पर वितरण देखने को मिलेगा। 'लोकायतन' वर्तमान की वह गाथा

७१

हिन्दी-गीतिकाव्य स्वरूप एव विकास

१ स्वरूप—(क) कविता के दो प्रमुख भेद—भावात्मक व्यक्तित्व-प्रधान तथा विषय-प्रधान, (ख) गीतिकाव्य की परिभाषा (ग) गीतिकाव्य की विशेषताएँ, (घ) गीतिकाव्य का वर्गीकरण।

२ विकास—(क) विद्यापति-पूर्व गीति-परम्परा (ख) विद्यापति तथा मैथिली गीति-परम्परा (ग) सूरदास (घ) तुलसीदास (ङ) सन्त-काव्य (च) भारतेन्दु-युग (छ) द्विवेदी युग (ज) छाया-वादी युग (झ) प्रगतिवादी युग (ञ) प्रयोगवादी युग (ट) अन्य गीतिकार।

३ उपसंहार।

स्वरूप

(क) कविताओं के प्रमुख भेद—भावात्मक व्यक्तित्व प्रधान तथा विषय प्रधान —पाश्चात्य समीक्षा-जगत् के आधुनिक आचार्यों ने कविता के दो प्रमुख भेद किये हैं—(१) व्यक्तित्व प्रधान अथवा विषयीगत कविता (Subjective Poetry) और विषय-प्रधान अथवा विषयगत कविता (Objective Poetry)। हिन्दी में डा श्यामसुन्दर दास ने भी कविता के इसी वर्गीकरण को स्वीकार करते हुए इसके दो भेद माने हैं—'एक तो वह जिसमे कवि अपनी अन्तरात्मा मे प्रवेश करके अपने अनुभवों तथा भावनाओं से प्रेरित होता तथा अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूंढ निकालता है और दूसरा वह जिसमे वह अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ ढूंढ निकालता है उसका वर्णन करता है। पहले विभाग को 'भावात्मक व्यक्तित्व प्रधान' अथवा 'आत्माभिव्यंजक' कविता कह सकते हैं। दूसरे विभाग को हम 'विषय प्रधान' अथवा भौतिक कविता कह सकते हैं।

प्रथम विभाग की कविता मे वैयक्तिक अनुभूतियों तथा भावनाओं की प्रधानता होने के कारण गीता मकता का विशेष स्थान रहता है और इसीलिए इसे गीति-काव्य या प्रगीत काव्य कहा जाता है।

(ख) गीति-काव्य की परिभाषा —हिन्दी मे जिसे गीति-काव्य कहा जाता है उसे अंग्रेजी मे लिरिकल पोएट्री (Lyrical Poetry) नाम दिया गया है। अंग्रेजी में लीरिकल पोएट्री उस कविता को कहते हैं जो लाइर (Lyra) नामक वाद्ययन्त्र विशेष के साथ गायी जाती है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका प्रस्तुत कथन का प्रमाण है—

वर्तमान की समस्याओं को मुखरित करते हैं। उनका समाधान प्रस्तुत करते हैं, नवीन सन्देश देते हैं। उनकी शैली पर गीति-काव्य का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। अभिव्यंजना की नवीन पद्धतियों का भी उन्होंने समाहार किया है।"

उपसंहार

महाकाव्यों के सर्जन के लिए विराट् प्रतिभा की आवश्यकता होती है, और ऐसी प्रतिभाएँ कभी-कभी ही जन्म लेती हैं। यही कारण है कि विश्व-साहित्य में अनेकों महाकाव्यों की रचना होने पर भी जीवित वे ही बचे हैं जो विराट् प्रतिभा की उपज हैं। समस्त विश्व-वाङ्मय को छान डालने पर भी युग युग तक स्मरण किये जाने योग्य महाकाव्य केवल उतने ही निकलेंगे जितने उँगलियों पर गिने जा सकें। प्रस्तुत निबन्ध में यद्यपि कई महाकाव्यों का विवेचन किया गया है तथापि केवल दो ही महाकाव्य ऐसे हैं जो युग-युग तक अमर रहेंगे। ये महाकाव्य हैं—रामचरित मानस और कामायनी।

(ग) गीति-काव्य की विशेषताएं—उपर्युक्त परिभाषाओं तथा विभिन्न गीति-काव्यों के अध्ययन के उपरान्त गीतिकाव्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा जा सकता है कि उसका सम्बन्ध मस्तिष्क से न होकर हृदय से होता है, और इसी लिए उसका अन्तरंग अथवा वस्तु-तत्त्व हृदय के अनुरूप ही बहुत कोमल सरस और भावनापूर्ण होना चाहिये। साथ ही भाषा की सरसता मधुरता और व्यंजकता भी आवश्यक है। प्रकरण की संक्षिप्तता गीतिकाव्य की बहुत बड़ी विशेषता है सुन्दरता मनोहरता और प्रभावोत्पादकता आदि गुण भी प्रकरण के लिए अपरिहार्य हैं। कल्पना की नूतनता और उन्मुक्तता गीति-काव्य का वांछनीय तत्त्व है। तीव्र भावाभिव्यक्ति से गीतिकाव्य में सम्प्रेषणीयता का गुण आता है इसीलिए गीति के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति तब तक नहीं देनी चाहिये जब तक अनुभूति अभिव्यक्ति के लिए चित्त को विकल न कर दे। गीति-काव्यों मे भावों की स्पष्टता और सबद्धता भी होनी चाहिए। सुकुमारता गीति का प्रधान गुण है और इस गुण के आधान के लिए गीति मे संगीत का प्राधान्य और कोमल रसों की अभिव्यक्ति आवश्यक है।

गीति-काव्य के जिन विभिन्न तत्त्वों को स्वीकार किया जाता है वे इस प्रकार हैं (१) भावनाओं का चित्रण या भावात्मकता (२) वैयक्तिकता अर्थात् निजी अनुभूतियों का प्रकाशन (३) संगीतात्मकता या लय का प्रवाह (४) शैली की कोमलता व मधुरता (५) संक्षिप्तता और मुक्तक शैली। एक उत्कृष्ट कोटि की गीति मे इन सभी तत्त्वों का समावेश होना अत्यावश्यक है।

(घ) गीतिकाव्य का वर्गीकरण—यों तो मूलतः काव्य के दो ही वर्ग बनाये जाने चाहिए—(१) लोक-गीति और (२) साहित्यिक गीति। किन्तु पाश्चात्य आलोचकों ने गीति काव्य के सॉनेट ओड एलिजी साथ इपिसिल ईडिल आदि कई वर्गों मे विभक्त किया है। इन्हीं विद्वानों का अनुसरण करते हुए हिन्दी के आलोचकों ने भी उसके अनेकों भेद कर दिये हैं। कुछ आलोचकों ने तो इन भेदों की संख्या बारह तक पहुँचा दी है। उनका कहना है कि वृत्ति के अनुसार गीतिकाव्य को निम्नलिखित बारह वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

१ प्रेम गीत २ व्यंग्य गीत ३ धार्मिक गीत ४ शोक गीत ५ युद्ध गीत ६ वीर गीत ७ नृत्य गीत ८ सामाजिक गीत ९ उपालम्भ गीत १० गीति नाट्य ११ सम्बोधन गीत और १२ सानेट—चतुर्दशपदी गीत।

किन्तु इस वर्गीकरण को आत्यन्तिक नहीं माना जा सकता क्योंकि मानव अनुभूतियां अनन्त हैं और इन्हें इस प्रकार के वर्गीकरण के कठघरे मे खड़ा नहीं किया जा सकता। वास्तव मे गीति काव्य एक कला है और कला का प्रभाव टुकड़े-टुकड़े करके नहीं अपितु समग्र रूप मे पड़ता है। ऐसी स्थिति मे गीति-काव्य जैसी सूक्ष्म कला के विभिन्न भेद करना उचित नहीं जान पड़ता।

उद्भव एवं विकास

मानव प्रकृत्या संगीत प्रिय प्राणी है। अपनी आरम्भिक स्थिति मे भी वह विश्राम के क्षणों मे गुनगुनाता रहा होगा। उसके इसी गुनगुनाने से गीतों का जन्म

"Lyrical Poetry, a general term for all poetry which is, or can be supposed to be, susceptable of being sung to the accompaniment of a musical instrument"

गीति-काव्य की प्रस्तुत परिभाषा से एक बात साफ हो जाती है और वह यह कि अंग्रेजी की उक्त कविता में गेयात्मकता की प्रधानता रहती है। हिन्दी में तो गेयात्मकता गीति-काव्य का प्रमुख तत्व है ही।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका मे दी गई परिभाषा के अतिरिक्त जिन पाश्चात्य विद्वानों ने गीतिकाव्य के लक्षण देकर उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है, उनमे जोफ्रॉय, हीगल, अर्नेस्ट राइस, जान ड्रिंक वाटर, गमर तथा हडसन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जोफ्रॉय ने गीति-काव्य और काव्य को समानार्थवाची स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि जोफ्रॉय की परिभाषा गीति-काव्य पर कोई प्रकाश नही डालती। हीगल के मतानुसार —"गीति-काव्य मे किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नही होता जिससे वाह्य ससार के विभिन्न रूपो एव ऐश्वर्य का उद्घाटन हो, उसमे तो कवि की निजी आत्मा के ही किसी एक रूप-विशेष के प्रतिविम्ब का निदर्शन होता है। उसका एक मात्र उद्देश्य शुद्ध कलात्मक शैली मे आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओ, उसकी आशाओ, उमके आल्हाद की तरगो और उसकी वेदना की चीत्कारों का उद्घाटन करना ही हैं।" अर्नेस्ट राइस ने गीतिकाव्य मे भावो के प्राधान्य पर वल देते हुए कहा—"गीतिकाव्य एक ऐसी सगीतमय अभिव्यक्ति है जिसके शब्दो पर भावो का पूर्ण आधिपत्य होता है, किन्तु जिसकी प्रभावशालिनी लय में सर्वत्र उन्मुक्तता रहती है।" इसी प्रकार जॉन ड्रिंक वाटर ने भी लिखा है—'गीतिकाव्य एक ऐसी अभिव्यजना है जो विशुद्ध काव्यात्मक (भावात्मक) प्रेरणा से व्यक्त होती है तथा जिसमे किसी अन्य प्रेरणा के सहयोग की अपेक्षा नही रहती। गमर महोदय ने जो परिभाषा दी है, उससे गीति-काव्य के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पडता है वे लिखते हैं—"गीति-काव्य वह अन्तर्वृत्तिनिरूपिणी कविता है जो वैयक्तिक अनुभूतियो से पोषित होती है, जिसका सम्बन्ध घटनाओ मे नहीं अपितु भावनाओ मे होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था मे निर्मित होती है।" हडसन ने गीतिकाव्य के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया और लिखा—"वैयक्तिकता की छाप गीति-काव्य की सबसे बडी कसौटी है किन्तु वह व्यक्ति वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओ पर आधारित होती है जिससे प्रत्येक पाठक उसमे अभिव्यक्त भावनाओ एव अनुभूतियो से तादात्म्य स्थापित कर सके।

हिन्दी की प्रसिद्ध कवियित्री महादेवी वर्मा का कथन है —"सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था, विशेषकर गिने-चुने शब्दो मे स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है।" गीति-काव्य के विषय मे हिन्दी के अन्य आलोचक का विचार है —"गीति-काव्य एक लघु आकार एव मुक्तक शैली मे रचित रचना होती है जिसमे कवि निजी अनुभूतियो या किसी एक भाव-दशा का प्रकाशन सगीत या लयपूर्ण कोमल शब्दावली मे करता है। यह अन्तिम परिभापा गीति-काव्य की परिनिष्ठित परिभापा स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि इसने उन सभी तत्त्वो का समाहार हो जाता है जिनकी गीति-काव्य के लिए अपेक्षा होती है।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में गोपियों की जिस विरह-वेदना का वर्णन है, वह अत्यन्त ही उच्च कोटि की गीति शैली में अभिव्यक्ति हुई है। दशावतार चरित में क्षेमेन्द्र ने कृष्णावतार के प्रसंग में जिस गीति का प्रयोग किया है उसमें भी गीति काव्य के लगभग सभी गुण पाये जाते हैं।

'हरि-स्मरण' के साथ विलास-कला का समन्वय करने वाले जयदेव ने गीत गोविन्द में क्षेमेन्द्र की परम्परा को आगे बढ़ाया। गीत-गोविन्द की रचना भक्ति-भावना से प्रेरित होकर नहीं वरन् राधा-कृष्ण की काम केलि से प्रेरणा प्राप्त कर की गई है। गीत-गोविन्द अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इसकी इस लोकप्रियता का कारण कोमल एवं कर्णप्रिय शब्दावली तथा संगीतात्मकता की योजना है।

(ख) विद्यापति तथा मैथिली गीति-परम्परा—विद्यापति को अभिनव जय देव की उपाधि से विभूषित किया जाता है। इसका मूल कारण यह है कि विद्यापति ने जयदेव द्वारा चलाई गई गीति-परम्परा को बड़े ही सुन्दर ढंग से आगे बढ़ाया है। विद्यापति ने अपने पदों की रचना लोक भाषा (मैथिली या हिन्दी) में की है। उनके द्वारा संस्कृत को छोड़ लोकभाषा में रचना किये जाने का कारण है और उस कारण को विद्यापति ने अपने ही शब्दों में दिया है—'देसिल बयना सब जन मिट्ठा'। विद्यापति की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि वे पूरी गीति में किसी एक परिस्थिति को ले कर उससे सम्बन्धित भावनाओं का चित्रण इस प्रकार करते हैं कि वह विशुद्ध भावावेश का रूप धारण कर लेता है। विद्यापति संगीत के अच्छे ज्ञाता थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने पदों में कोमलता और मधुरता का अच्छा समावेश किया है। उनकी पदावली में भाव संगीत एवं भाषा का अद्भुत समन्वय देखते ही बनता है—

> चम्पक लम्बक कानन तरतर फिरे फिरे मुरलि बजाव।
>
> समय संकेत-निकेतन बइसल बेरि बेरि बोल पठाव॥

मैथिली गीतों की परम्परा में ही चन्द्रकला उमापति ठाकुर, भीष्म कवि लोचन गोविन्ददास भूपतीन्द्र बुद्धिलाल रमापति आदि गीतकारों के नाम भी उल्लेख्य हैं। इन्होंने विद्यापति का अनुसरण कर अत्यन्त सरस गीतों की रचना की है।

(ग) सूरदास—सूर हृदय की अमित माधुरी लेकर काव्य क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। सूरदास को अष्टछाप के कवियों में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है। उनके पदों में गीति काव्य के सभी तत्त्वों का अत्यन्त सुन्दर निर्वाह हुआ है। यों तो इन तत्त्वों का सुन्दर सन्निवेश कतिपय अन्य कवियों के गीतों में भी मिल जायेगा किन्तु सूर के पदों में तो कुछ ऐसी विलक्षणता है जो अन्यत्र पाई नहीं जाती। उनके पदों की यह विलक्षणता गूंगे का गुड़ है जिसे शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्ति दी ही नहीं जा सकती। उनके पदों से भावनाओं का एक ऐसा प्रबल स्रोत प्रवाहित हो रहा है जिसके आदि अन्त का कोई पार नहीं उनके उद्गारों में अनुभूति की ऐसी स्वच्छन्दता विद्यमान है कि उनमें निजी और परकीय का भेद करना सम्भव ही नहीं उनके स्वरों में ऐसी मधुर लहरियों का गुञ्जार हो रहा है कि वहाँ संगीत-शास्त्र के नियमों की याद रखना बस

हुआ होगा। प्रारम्भ मे ये गीत लोक मे प्रचलित रहे होगे और आगे चलकर कहीं बहुत बाद मे उन्हे साहित्यिक रूप प्राप्त हुआ होगा।

(क) विद्यापति पूर्व गीति-परम्परा—अधिकाश भारतीय विद्वान् हिन्दी साहित्य की लगभग सभी विधाओ का स्रोत ऋग्वेद मे खोज निकालते है, परिणामत उन्होने हिन्दी-गीति-काव्य का आरम्भ भी ऋग्वेद से ही माना है, और अपनी मान्यता के प्रमाण स्वरूप वे उषस् आदि सूक्तो की सौन्दर्य-भावना का हवाला देते हैं। उनका सर्वाधिक प्रबल तर्क यह है कि गीति-काव्य में सगीतात्मकता की प्रधानता होती है और ऋग्वेद की ऋचाओ का भी सस्वर पाठ किया जाता था। वस्तुत यदि लय को ही गीति-काव्य का एकमात्र तत्त्व स्वीकार कर लिया जाय तो लगभग सभी प्रकार की कविता को इसके अन्तर्गत समाहित करना पडेगा, जो कभी हो नही सकता—सभी कविता गीति-काव्य की सज्ञा की अधिकारिणी नही बन सकती। वस्तुत. यदि निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो भारतीय साहित्य मे गीति-काव्य का सर्वप्रथम उदाहरण कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् मे द्वितीय अक के चतुर्थ श्लोक मे मिलता है। यह श्लोक प्रस्तुत नाटक की नायिका मालविका द्वारा नृत्य-गान की प्रतियोगिता मे गाया गया है। श्लोक मूलत प्राकृत मे है, जो इस प्रकार है—

"दुल्लहो पिओ मे तस्मि भव हिअअ णिरास।
अम्हो अपगोअ मे परिप्फुरइ किं वि वामओ।।
एसो सो चिरदिट्ठो कहं उण उवणइदव्वो।
णाह म पराहीण तुइ परिगण अ सतिण्हम्।।"

इसका सस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

"दुर्लभ प्रियो मे तस्मिन्भव हृदय निराश—
महो अपागो मे परिस्फुरित किमपि वाम।
एष स चिरदृष्ट कथ पुन रूपनेतव्यो,
नाथ मां पराधीना त्वयि परिगणय सतृष्णाम्।।"

अर्थात्, 'हे हृदय! प्रिय का मिलन दुर्लभ है, अत उसकी आशा छोड दो। मेरी बाईं आँख फडक रही है। जिसे पहले देखा था, क्या उसे फिर देख पाऊगी? हे नाथ! मुझ पराधीन को तुम अपने प्रेम के वशीभूत समझना।' गीति-काव्य के लगभग सभी तत्त्व—भावात्मकता, वैयक्तिकता, सगीतात्मकता, सक्षिप्तता, भाषा की कोमलता और मुक्तक शैली—प्रस्तुत श्लोक मे मिलते हैं। अत इसी को भारतीय वाङ्मय मे साहित्यिक गीति का आदि स्रोत मान लेना चाहिए।

गीति-काव्य अपनी आरम्भिक स्थिति मे जन साधारण मे प्रचलित था, अत अपने को पण्डितमन्य साहित्यकारो द्वारा उसकी उपेक्षा स्वाभाविक ही थी। सर्वप्रथम इसे साहित्यिक रूप प्रदान किये जाने का श्रेय अपभ्रश के सिद्ध कवियो को है। चर्यापदो के नाम से प्रख्यात सिद्ध कवियो की गीतियो मे भावानुभूति की तीव्रता, सगीतात्मकता वैयक्तिकता, भाषा का माधुर्य, मुक्तक-शैली एव सक्षिप्तता, सभी गीतिकाव्योचित गुण विद्यमान हैं। साधिकाओ (मुद्राओ) के प्रति किया गया प्रणय-निवेदन इन सिद्ध कवियो का हार्दिक उद्गार है।

भात न भावै नींद न आवै बिरह सतावै मोय रे।
ज्यूं कामी को कामिनि प्यारी ज्यूं प्यासे को नीर रे॥

रीतिकाल में गीति-परम्परा प्रायः अवरुद्ध दिखाई देती है।

हिन्दी की मध्यकालीन गीति-कविता का मूल्यांकन करते हुए एक आलोचक ने लिखा है—'मध्यकालीन गीति-कविता का सबसे बड़ा दान हिन्दी-साहित्य को यह मिला कि व्यक्ति के अपने हास रोदन के माध्यम से समूह के दुःख-सुख को वाणी का रूप मिला। इन दिनों जब लोक-संवेद्य भक्ति गीतों की बाढ़-सी आ गयी थी लोक-जीवन की संगीतिकता के शास्त्रीय पुनरुत्थान के प्रयत्न भी चल रहे थे। भाव और भाषा को साहित्यिक सुषमा का शृंगार दिया जा रहा था। काव्य के क्षेत्र में स्वर और वाणी को समान अधिकार मिल रहा था। रीतिकालीन आलंकारिक मोह से गीत-सौन्दर्य को धक्का अवश्य लगा किन्तु उसकी प्रतिक्रियास्वरूप भारतेन्दु युग के गीतों ने सर्वथा नवीन और ऐश्वर्यमय युग की सूचना दी। शास्त्रीय संगीत के नियमित बन्धनों में जो वाणी बद्ध थी भारतेन्दु की साधना से उसे मुक्ति मिली।

(ख) भारतेन्दु-युग—भारतेन्दु-युग के गीतों में तुलसी और सूर वाली गीति धारा का प्रत्यावर्तन हुआ। इस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सत्यनारायण आदि ने पद-शैली में राधा-कृष्ण की प्रेमानुभूति में सुन्दर गीत रचे। वियोगीहरि के गीत भी इसी प्रकार के हैं। मार्मिकता वियोगी जी के गीतों का प्रमुख वैशिष्ट्य है।

(ग) द्विवेदी-युग—द्विवेदी युग की कविता प्रायः विषय प्रधान है। इसीलिए उसमें गीति-तत्त्वों का समावेश नहीं के बराबर हुआ है। इस युग के गीतिकारों में केवल चार के नाम लिये जा सकते हैं और वे हैं श्रीधर पाठक मैथिलीशरण गुप्त ठाकुर गोपालशरणसिंह तथा शिवाधार पाण्डेय। यद्यपि गुप्त जी ने किसी स्वतन्त्र गीति-काव्य की रचना नहीं की है तथापि साकेत और यशोधरा में यत्र-तत्र बिखरे गीत हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। श्रीधर पाठक गोपालशरणसिंह जी तथा पाण्डेय जी के गीत सहृदयता से ओत प्रोत हैं।

(घ) छायावादी युग—गीत-काव्य की दृष्टि से छायावाद का विशेष महत्त्व है। इस युग ने प्रसाद निराला पन्त और महादेवी जैसे उच्च गीतकारों को जन्म दिया है। इन कवियों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम तो यह कि इन्होंने निजी प्रेमानुभूति को लेकर गीतों का प्रणयन किया है। दूसरे इनकी प्रेरणा के स्रोत पाश्चात्य रोमानी कवि तथा रवीन्द्र जैसे उच्च कोटि के गीतकार थे। तीसरे इन्होंने गीतों में एक नया उत्साह और नयी स्फूर्ति का भरा है। प्रसाद ने लहर और 'झरना' के गीतों के अतिरिक्त अपने नाटकों में जिन गीतों की योजना की है वे अपनी मधुरिमा और भाव-तरलता के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। निराला के गीतों की मुख्य विशेषता मार्मिक अभिव्यक्ति है। पन्त में प्रगीतात्मक सामर्थ्य अद्भुत है। बंगला में रवीन्द्र ठाकुर ने जिस प्रकार गीति-काव्य में नवीन से नये प्रयोग किये उसी प्रकार यह कार्य हिन्दी में पन्त और निराला ने किया। महादेवी ने अपने गीतों की रचना का आधार लोक प्रचलित गीतों की धुन को बनाया है। उनके गीत सहज गति-शीलता धारण किये हुए। भाव-विदग्धता और संगीत की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। संक्षिप्तता

की बात नही और उनमे भाषा का ऐसा लालित्य व शब्दो का ऐसा माधुर्य घुला हुआ है कि उसके आस्वादन मे मग्न होकर कटुता एव तिक्तता के स्वाद को भूल जायँ तो कोई आश्चर्य नही। बालकृष्ण की उक्तियो मे जैसी स्वाभाविकता, विरह-विधुरा राधा के शब्दो मे जैसा दैन्य एव श्याम के दरस की प्यासी गोपियो के उपालम्भो मे जैसा व्यग्य है वह किसी भी सहृदय के मन को मोहित कर सकता है।" विरह से विदग्ध गोपियो की उक्तियो मे सूर ने हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै, जब तै स्याम सिधारे॥
दृग अजन न रहत निसि-बासर, कर-कपोल भए कारे।
कचुकि पट सूखत नहिं कबहौं उर बिच बहत पनारे॥"

सूर के विषय में लोग यह कह सकते हैं कि उन्होने जो कुछ कहा है वह तो सब कुछ गोपियो द्वारा कहा गया है, सूर की वैयक्तिकता उसमे कहाँ है जबकि वैयक्तिकता गीति-काव्य का मुख्य तत्त्व है ? उत्तर बडा सीधा है और वह यह कि गोपियाँ जो कुछ भी कह रही हैं, वह सूर के हृदय की ही पुकार है, स्वय वे ही अपने प्राण-प्यारे से मिलने को बेचैन हैं। गोपबालाओ की अनुभूतियाँ सूर की अपनी ही अनुभूतियाँ हैं।

(घ) तुलसीदास —इसमे सन्देह नही कि तुलसी एक भावुक भक्त-कवि हैं, किन्तु उन्हे अपनी भावुकता से अधिक सामाजिकता का ध्यान रहा है। यही कारण है कि उनकी रचनाओ मे वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की अपेक्षा सामूहिक चेतना का चित्रण अधिक हुआ है। किन्तु फिर भी 'विनयपत्रिका' उनके भक्त हृदय का सहज उच्छलन है। इसके पदो मे तन्मयता का गुण कूट कूट कर भरा गया है। आत्म-समर्पण की भावना निम्नाकित पक्तियो से बढकर और कहाँ मिल सकती है—

'जाऊँ कहाँ तजि चरण तिहारे।
काको नाम पतितपावन जग, केहि अति दीन पियारे॥"

(ङ) सन्त-काव्य—हिन्दी-सन्त-कवियो को जो गीति-परम्परा प्राप्त हुई है, वह सिद्धो की है जो नाथ-पथी योगियों एव महाराष्ट्रीय सन्तो मे होती हुई उनको उत्तराधिकार मे मिली है। यही कारण है कि अशिक्षा, साम्प्रदायिक दृष्टिकोण, विचारो की तीव्रता, भावो की अस्पष्टता, शैली की जटिलता एव भाषा की अशुद्धता, ये सभी बातें सन्त-काव्य मे अपभ्र श के सिद्ध-साहित्य से आयी हैं। यद्यपि अधिकाश सन्त-कवि खण्डन-मण्डन, उपदेशो के प्रचार एव योगमार्ग को चर्चा मे लगे रहे तथापि जहाँ पर इन्होने इन बातों को छोडकर स्वानुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान की है, वहाँ इनके पदो मे सम्प्रेषणीयता, भावात्मकता एव मधुरता आ गयी है। उदाहरणार्थ कबीर की यह दु खवादी वैयक्तिक भावना दर्शनीय है—

'बालम आव हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार देता तब मुझको आमन्त्रण।

प्रगतिवादी गीतिकारों में दिनकर के अतिरिक्त नवीन नरेन्द्र शर्मा शिवमं
सिंह सुमन आदि मुख्य हैं। नरेन्द्र शर्मा के गीतों में अनुभूति की सुन्दर अभिव्यक्ति
हुई है।

(आ) प्रयोगवादी युग—प्रयोगवाद के कवियों ने गीति-परम्परा में ए
एक बिल्कुल नवीन मोड़ ला दिया है। इन कवियों के गीतों में भावात्मकता का
स्थान बौद्धिकता ने ले लिया है। काव्य रचना के समय ये कवि इस बात की चिन्
नहीं करते कि वे जिस कविता को लिख रहे हैं वह पाठकों की भी समझ में आवे
अथवा नहीं। संगीत और माधुर्य को तो तिलाञ्जलि ही दे बैठे हैं। केवल कुछ ही
कवि ऐसे हैं जिन्होंने आज के घुटनपूर्ण वातावरण में भी सांस लेते हुए भावुक मन की
अनुभूतियों को बड़ी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्ति प्रदान की है। अधिकांश में इन
कविताओं का उद्देश्य आज के संघर्षपूर्ण जीवन का चित्रण है—यान्त्रिक जीवन की
व्यस्तता, गार्हस्थ्य जीवन की कठिनाइयाँ नगर-जीवन की कृत्रिमता तथा वहाँ का
कोलाहल निष्ठाहीनता सभ्यभ्रष्टता वर्तमान युवक की विवशता आदि को चित्रित
करना ही प्रयोगवादी कवियों का मुख्य ध्येय रहा है। प्रयोगवाद के सफल गीतकारों में
गिरिजाकुमार माथुर धर्मवीर भारती भवानीप्रसाद मिश्र आदि का नाम आदर
पूर्वक लिया जा सकता है। 'अज्ञेय' जी के बहुत-से गीत अत्यन्त सुन्दर हैं किन्तु उन
पर दुरूहता का पर्दा पड़ा हुआ है। जब उन पर से यह पर्दा किसी प्रकार हट जाता
है तो वे अतीव आनन्द के जनक बन जाते हैं।

(इ) अन्य गीतकार—अन्य गीतकारों में बच्चन की अत्यधिक प्रसिद्ध है।
उन्होंने मधुशाला की रचना कर गीति-क्षेत्र में एक नये वाद का प्रवर्तन किया जिसे
हालावाद की संज्ञा से अभिहित किया जाता है किन्तु यह हालावाद उन्हीं तक सीमित
रहा आगे न बढ़ सका। मधुशाला के गीतों में एक विशेष प्रकार की खुमारी है।
आगे चलकर स्वयं बच्चन जी ने ही इस मार्ग को छोड़ दिया और अत्यन्त स्वतंत्र गीतों
की रचना की।

व्यंग्य-गीतकारों में गोपालप्रसाद व्यास और बेढब बनारसी मुख्य हैं। इन्होंने
आधुनिक फैशनपरस्ती पश्चिम के अन्धानुकरण राजनीति में प्रतिदिन दिखलाई देने
वाली धाँधली बेकारी आदि को लक्ष्य कर व्यंग्य-गीत लिखे हैं। इन गीतों का उद्देश्य
समाज में सुधार की भावना को जाग्रत करने के साथ ही साथ मनोरंजन भी है।

देश प्रेम पर गीति रचना करने वालों में सोहनलाल द्विवेदी माखनलाल
चतुर्वेदी बालकृष्ण शर्मा नवीन आदि प्रमुख हैं। इन कवियों ने देश के साथ अपनी
अनुभूतियों को मिला दिया है। देश की दुर्दशा ने इन्हें मर्मान्त तक झकझोर दिया
है। माखनलाल चतुर्वेदी ने छायावाद की पद्धति पर भी कुछ गीत लिखे हैं।

सूक्ष्मता एवं मधुरता महादेवी की गीति-शैली के मुख्य गुण हैं। रामकुमार वर्मा तथा भगवती चरण वर्मा के भी गीतों में अनुभूति की अच्छी गहराई मिलती है।

जिस वस्तु मे वहुत अधिक गुण होते हैं, उसमे कुछ दोष भी होते हैं। छायावादी युग का भी गीति-काव्य जहा अपने गुणो में सर्वातिशायी है, वही उसमे कुछ दोष भी आ गये हैं। इन दोषो का उल्लेख करते हुए एक आलोचक ने लिखा है—"उनमे (छायावादी गीतो मे) कुछ ऐसे दोष भी समन्वित हैं जिनके कारण वे हमारे हृदय का उद्वेलन उस सीमा तक नही कर पाते जिस सीमा तक हम गीति-काव्य से आशा रखते हैं। भावात्मकता उनमे है, किन्तु उसके चारो ओर दार्शनिकता एव बौद्धिकता की एक ऐसी चौखट कसी हुई है जिससे वह स्वच्छन्दतापूर्वक पाठक के हृदय से हिल-मिल नही सकती, वैयक्तिकता भी उनमें है किन्तु वह प्रकृति-बाला की गोदी मे इस तरह छिपी हुई है कि उसे पहिचान पाना सरल नही, उनकी भाषा मधुर है, किन्तु उसमे पेड़ो की सनसन, पत्तो का मरमर एव चिडियो की चहचहाहट का मिश्रण इतना अधिक हो गया है कि उसे समझना टेढी खीर है। इसके अतिरिक्त छायावादी कवि धरती पर मनुष्यो की तरह चलता-फिरता दिखाई नही देता, वह कभी भौंरो का रूप धारण कर उडता हुआ अपनी सुहाग-भरी जूहियो के पास पहुचता है, कभी नक्षत्र-लोक से निमन्त्रण पाकर गगन के उस पार तक चला जाता है तो कभी अपने अलौकिक प्रियतम के साक्षात्कार के लिए नभ की दीपावलियो को बुझा देने का दुष्प्रयत्न करता दिखाई पडता है। भला, इस अलौकिक जगत् मे पहुँच कर किसी अपरिचित के साथ आख मिचौनी खेलने वाले कवि की लीला को हम क्या समझें? उसकी गुन-गुनाहट मीठी है, बिल्कुल भौंरो जैसी, जिसका अर्थ हम नही समझ सकते, उसका सौन्दर्य तितली जैसा है, जिसे हम छू नही सकते, उसका माधुर्य अमृत जैसा है, जिसे हम नही पा सकते। यही कारण है कि छायावादी कवियो के गीति-काव्य की स्वर-लहरिया जन-मानस की भावनाओ को उद्वेलित नही कर सकी।"

(झ) **प्रगतिवादी युग**—प्रगतिवादी युग छायावाद की अवायवी एव आलोक सामान्य अनुभूति की प्रतिक्रियास्वरूप उत्थित हुआ। दोनो युग के कवियो मे आकाश-पाताल का अन्तर है। "छायावादी उच्चता मे यदि आसमान को छूने का प्रयत्न करते थे तो ये ठेठ पाताल मे ही पहुच जाना चाहते हैं, धरती के सीधे-सादे जीवन दोनो मे ही नही हैं। उनके स्वर मे नारी की ऐसी मन्द-मन्द कोमलता थी जो पास मे बैठे हुए को भी नही सुनाई दे तो इनके स्वर का विस्फोट कोसो दूर व्यक्ति के श्रुत-कर्णो को भी चोट पहुचाने मे समर्थ है। इनकी कविता मे भावात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता, वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता, सगीतात्मकता की अपेक्षा बेसुरापन, भाषा की कोमलता की अपेक्षा कठोरता अधिक है, अत गीति-काव्य के लक्षणो की पूर्ति इनमे नहीं मिलती।" किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि इस युग मे गीति-रचना हुई ही नही। इस युग के जो कवि अपनी कविताओ मे अनुभूति का योग दे पाये हैं, उन्होंने सुन्दर गीतो की रचना की है। उदाहरणार्थ दिनकर की ये पक्तिया प्रस्तुत हैं—

७२

हिन्दी मुक्तक काव्य स्वरूप एवं विकास

१ प्रबन्ध एवं मुक्तक
२ 'मुक्तक' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ तथा मुक्तक की परिभाषा
३ मुक्तक और रसानुभूति
४ मुक्तक की विशेषताएँ
५ मुक्तकों का वर्गीकरण
६ मुक्तक-काव्य का विकास—(अ) हिन्दी-पूर्व मुक्तक-काव्य परम्परा (आ) भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी मुक्तक काव्य परंपरा—(क) भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक (ख) शृंगारपरक मुक्तक—(१) रीतिबद्ध मुक्तक (२) रीतिमुक्त मुक्तक (ग) नीति सम्बन्धी मुक्तक (घ) वीररसात्मक मुक्तक, (इ) आधुनिक काल और मुक्तक काव्य परम्परा
७. उपसंहार

प्रबन्ध एवं मुक्तक

बन्ध की दृष्टि से श्रव्य काव्य के दो भेद किये गये हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध मे छन्दो का पूर्वापर सम्बन्ध रहता है जबकि मुक्तक मे प्रत्येक छंद स्वतन्त्र होता है और वह अपने विषय का प्रतिपादन करने मे स्वत ही सक्षम होता है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि प्रबन्ध मे कथानक की शृंखला बनाये रखने के लिए छन्दों का एक निश्चित क्रम रहता है इन छन्दों मे से एक भी छन्द इधर से उधर नहीं किया जा सकता है क्योंकि ऐसा करने से प्रबन्ध की शृंखला टूट जाती है जबकि मुक्तक के प्रत्येक छन्द को कहीं से उठाकर कहीं रखा जा सकता है और प्रत्येक स्थान पर पहुँचने पर वे वही अर्थ देने को अपनी पूर्व स्थिति में बैठे रहे हैं।

मुक्तक में भावना का प्राधान्य रहता है। अनुभूति-निष्ठा इसकी बहुत बड़ी विशेषता है। एक आलोचक के शब्दों मे प्रबन्ध कवि की किसी महती इच्छा इतिवृत्त विधायिनी बुद्धि और शिल्प-कुशल चेतना का परिणाम है किन्तु मुक्तक कवि की सद्य स्फुरित भावुकता समास-चेतना और भाव-विधायिनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति।

मुक्तक शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ तथा मुक्तक की परिभाषा

'मुक्तक' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए सर्वप्रथम 'मुक्त' शब्द पर विचार करना पड़ेगा। 'मुक्त' शब्द 'मुच्' धातु से भूतकाल मे प्रयुक्त होने वाले निष्ठार्थक क्त

अपनी भाव-सम्प्रेषणीयता के कारण आज नीरज के गीत अत्यन्त लोकप्रिय हो रहे हैं। । सुकुमारता इनके गीतो की प्रमुख विशेषता है ।

विवेचित गीतकारो के अतिरिक्त उदयशकर भट्ट, रमाशकर शुक्ल, तारा पाडेय, केसरी, सुधीन्द्र, अचल, वीरेन्द्र मिश्र, बलवीर सिंह, शिव बहादुर सिंह भदौरिया आदि भी अच्छे गीतकार हैं।

उपसहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास के समय से लेकर आज तक हिन्दी-गीति-काव्य-धारा विभिन्न मार्गों से बहती रही है । भक्तिकाल मे गीति-काव्य को अच्छा प्रोत्साहन मिला । इसके बाद रीतिकाल मे उसकी गति मन्द पडी, किन्तु छाया-वाद से उसने फिर बल पकडा, और आज वह पर्याप्त विकसित हो चुका है । किन्तु फिर भी उसमे कुछ त्रुटियाँ अब भी शेष रह गई हैं जो खटकती हैं। हसकुमार तिवारी ने इन त्रुटियो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है—'फिर भी हमें स्वीकार करना पडता है कि गीति-कविता अपने चरमोत्कर्ष पर अभी नही पहुची है। उसमे जिस सर्वजन-सवेद्य विशेषता की अनिवार्यता है, वह गुण अभी इसमे नही आ पाया है— न सवेदनीयता मे, न सगीतात्मकता मे । अतएव अभी हमे उस दिन की अपेक्षा है, जब गीति-कविता लोक-जीवन से मिल जाय और कवियो की वाणी जन-जन के अधरो पर थिरक उठे ।"

के ऐसे छोटे पड़ने की बात नहीं है जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। प्रस्तुत आचार्यों के कथनों से यह बात तो स्पष्ट हो गई कि मुक्तक में रस का समावेश होता है।

किन्तु इन्हीं दोनों आचार्यों के मन्तव्यों से एक शंका और उत्पन्न हो गई, और वह यह कि क्या मुक्तक में प्रबंध की भांति पाठक को आकण्ठ रसमग्न करने की क्षमता होती है अथवा वह उसके हृदय को केवल क्षणभर के लिए ही रसमग्न बनाता है ? क्योंकि आनन्दवर्धन ने तो मुक्तक के रसास्वाद को प्रबंध के रसास्वाद के समान ही महान माना है जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि मुक्तक केवल रस के छींटे ही छोड़ता है। दोनों आचार्यों में से किसकी बात मानी जाय यह समस्या है और इसी पर विचार करना है।

मुक्तक का क्षेत्र प्रबन्ध की अपेक्षा अत्यधिक संकीर्ण होता है। प्रबंध में तो रस-निष्पत्ति के लिए भाव विभाव अनुभाव एवं संचारी आदि के वर्णन के लिए पर्याप्त स्थान रहता है और इससे रसानुभूति में सफलता आती जाती है किन्तु मुक्तक में रस के इन सभी अवयवों का समावेश नहीं हो सकता। इसमें तो किसी एक अवयव को ही लेना पड़ता है। प्रश्न है क्या रस के किसी एक अवयव से रसोत्पत्ति में सफलता लाई जा सकती है ? उत्तर स्पष्ट ही विधेयात्मक है। वस्तुतः एक मुक्तककार इसके सारे अवयवों को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत नहीं करता जिससे कि वे उन सबका वर्णन करके रस की उपलब्धि कर सकें अपितु कवि स्वयं अपने मानस में ही इन सबका आलोडन विलोडन कर लेता है और उससे प्राप्त अनुभूतिमात्र को अपने काव्य में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार मुक्तक में एक भाव-दशा का चित्रण होने पर भी शेष अवयवों की कल्पना पाठक स्वयं कर लेता है और उससे उसे वही रस मिलता है जो एक प्रबंध-काव्य से। वस्तुतः रस एक और अखण्ड है उसमें विभिन्न कोटियों का निर्धारण नहीं होना चाहिए। बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर घनानन्द का एक सवैया उद्धृत किया जा रहा है—

'पर कारज देह को धारे फिरौ परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सबही बिधि सुन्दरता सरसौ॥

यहाँ पर आलम्बन और आश्रय का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है उनकी परिस्थितियों का भी चित्रण नहीं है केवल प्रणयी हृदय की व्याकुलता की अभिव्यक्ति है और इसी से सारी स्थिति व्यंजित हो गई है। वास्तव में यहाँ पर स्थायीभाव के विभिन्न अवयव न होकर स्वयं स्थायीभाव ही द्रवीभूत होकर प्रवाहित हो रहा है।

मुक्तक की विशेषताएँ

मुक्तक की विशेषताओं का उद्घाटन करने के लिए यदि हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ही शब्दों का अवलम्ब लें तो अधिक उपयुक्त होगा। मुक्तक के विषय में आचार्य शुक्ल का कथन है— उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संकलित पूर्ण जीवन का या उसके किसी अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड-दृश्य सहसा सामने ला दिया जाता है। प्रस्तुत वाक्य में शुक्ल जी मुक्तक की तीन मुख्य

प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है। यह विशेषण सूचक शब्द है। इस 'मुक्त' विशेषण से ही सज्ञा बनाने के लिए 'कन्' प्रत्यय जोडा गया है और इस प्रकार 'मुक्तक' शब्द का निर्माण हुआ है। कोप-ग्रन्थो मे इस शब्द के अनेको अर्थ किये गये हैं। स्वय डॉ० रामसागर त्रिपाठी ने अपने शोध-प्रवन्ध 'मुक्तक काव्य परम्परा और विहारी' मे इसके छ अर्थ दिये हैं। इन छ अर्थों मे से इसका एक अर्थ है—एक प्रकार का काव्य जो पूर्वापर-निरपेक्ष स्वत पर्यवसित पद्य तक सीमित हो। प्रस्तुत प्रसग मे मुक्तक शब्द का यही अर्थ है।

सस्कृत के आचार्यों ने मुक्तक की अनेको परिभाषाएँ दी हैं। काव्यादर्श मे आचार्य दण्डी ने मुक्तक को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"मुक्तक वाक्यान्तरनिरपेक्षो य श्लोक।" अर्थात् मुक्तक वह श्लोक है जिसे वाक्यान्तर की अपेक्षा न हो। अग्नि-पुराण मे मुक्तक उस श्लोक को माना गया है जो सहृदयो मे चमत्कार का आधान करने मे समर्थ हो—"मुक्तक श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षम सताम्।" ध्वन्यालोक के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अभिनव गुप्त ने भी कुछ इसी प्रकार की परिभाषा दी है। उनका कहना है कि मुक्तक काव्य उसे कहते हैं जिससे, आगे या पीछे के दूसरे पदो या कविताओ के साथ सम्वन्ध नही होने पर भी रस टपके। ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन का कथन है—"तत्र मुक्तकेषु रस वन्धाभिनिवेशिन कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्।" अर्थात् मुक्तको मे रस-निवन्ध मे आग्रहशील कवि के लिए रसाश्रित औचित्य नियामक तत्त्व है।

हिन्दी मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया। उन्होने लिखा है—"मुक्तक मे प्रवन्ध के समान रस की धारा नही रहती जिसमे कथा प्रसग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय मे एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे तो रस के ऐसे छीटे पडते हैं जिनसे हृदयकालिका थोडी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रवन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है, इसी से वह सभा-समाजो के लिए अधिक उपयुक्त होता है।"

मुक्तक की प्रस्तुत परिभाषाओ से एक वात वडी स्पष्ट हो गई और वह यह कि मुक्तक पूर्वापर सम्बन्ध से निरपेक्ष होता है, अर्थात् वह अपने अर्थ के द्योतन मे स्वत समर्थ होता है, इस विषय मे उसे किसी पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती छद की अपेक्षा नहीं होती।

मुक्तक और रसानुभूति

इतना तो स्पष्ट है कि मुक्तक रसमय होता है। आचार्य आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है—"मुक्तकेषु हि प्रवन्धेष्विव रसवन्धाभिनिवेशिन कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तका शृगाररसस्यन्दिन. प्रवन्धायमाना प्रसिद्धा एव।" अर्थात् देखा जाता है कि जिस प्रकार काव्यो मे सामग्री के सयोग से कवियो का अभिनिवेश रसवन्ध मे होता है उसी प्रकार मुक्तको मे भी हुआ करता है। जैसे अमरुक कवि के मुक्तक प्रवन्ध के समान रसप्रवण प्रसि[illegible] हैं। आचार्य शुक्ल ने भी मुक्तक मे रस

विभिन्न कवियों द्वारा रचे गये हों। विचार करने पर विकीर्णक मुक्तकों का कोई अलग भेद नहीं लगता उसकी समाहिति 'कोष' के ही अन्तर्गत हो जाती है।

ऊपर मुक्तकों के जो आठ या नौ भेद दिये गये हैं उनमें से आज सामान्यतः प्रथम भेद (एक श्लोक में पूर्ण होने वाली रचना) को ही मुक्तक माना जाता है। हिन्दी में डॉ॰ शम्भूनाथसिंह ने मुक्तकों के वर्गीकरण का सुन्दर प्रयास किया है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) संख्याश्रित मुक्तक काव्य—जैसे 'बिहारी सतसई' 'शतक' पचासा' 'बावनी चालीसा' पचीसी' 'बाईसी' आदि।

(२) वर्णमालाश्रित मुक्तक काव्य—जैसे मातृ का संज्ञक (दोहा मातृका) कक्क संज्ञक कक्कहरा अखरावट बारहखड़ी आदि।

(३) छन्दाश्रित—दोहावली कवितावली आदि।

(४) रागाश्रित—जैसे रास लावनी रेखता आदि।

(५) ऋतु-आश्रित—चर्चरी फागु, होरी बारहमासा षटऋतु आदि।

(६) पूजा-धर्म आश्रित—स्तोत्र स्तुति स्तवन आदि।

वस्तुतः इस वर्गीकरण को भी नितान्त परिशुद्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि मानव-वृत्तियाँ अनन्त हैं और इस कारण किसी भी समय किसी भी प्रकार की मुक्तक-रचना की जा सकती है। वास्तव में मुक्तकों के बीच किन्हीं निश्चित व्यावर्तक रेखाओं का खींचना दुस्साध्य-सा ही है। किन्तु इतने पर भी डॉ॰ शम्भूनाथसिंह का उपर्युक्त वर्गीकरण मुक्तक-संग्रहों के नामकरण पर आधृत होने के कारण मुक्तकों के स्वरूप को समझने में सहायक हो सकता है।

मुक्तक-काव्य का विकास

(अ) हिन्दी-पूर्व मुक्तक-काव्य-परम्परा—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मुक्तकों की रचना किस युग से प्रारम्भ हुई। इतना अवश्य असन्दिग्ध है कि मुक्तकों का प्रचलन प्रबन्ध-काव्य के पूर्व हुआ होगा। आज हमें भारतीय वाङ्मय में जो प्राचीनतम मुक्तक रचना उपलब्ध है वह ऋग्वेद है। ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं की स्तुति अलग-अलग मन्त्रों में की गयी है।

ऋग्वेद के उपरान्त पालि एवं प्राकृत साहित्य मुक्तकों की दृष्टि से बहुत धनी है। पालि में रचित थेरि गाथाओं में बौद्ध कवियों के उपदेश प्रायः मुक्तकों में ही हैं। जैन कवियों ने अर्द्ध-मागधी में नीति प्रधान सुन्दर मुक्तकों की रचना की है।

हाल की गाथासप्तशती प्राकृत-मुक्तक-काव्य का सर्वाधिक वैभव समाहित किये हुए है। इसमें अधिकांशतः शृंगारविषयक मुक्तक हैं किन्तु कुछ मुक्तक नीति ज्योतिष वैद्यक शास्त्र तथा कृषि से भी सम्बद्ध हैं। हाल ने इस संकलन में प्रायः उन्हीं मुक्तकों को चुना है जो यथार्थ जीवन से सम्बन्धित हैं। यहाँ काल्पनिक जगत् के पात्रों का चित्रण न होकर जन जीवन का परिचय दिया गया है। प्रेमी प्रेमिकाओं के मनोभावों, दूत दूतियों द्वारा पहुँचाये जाने वाले सन्देशों, परिवार और समाज की मर्यादाओं का उल्लंघन करके होने वाले गुप्त सम्बन्धों आदि का इसमें सुन्दर

विशेषताओ का उल्लेख करते जान पडते है—

(i) मुक्तक मे एक रमणीय दृश्य का सहसा आनयन होता है।

(ii) मुक्तक मे चयन, सयम और मडन की प्रवृत्ति होती है।

(iii) मुक्तक मे कुछ क्षणो के लिए चमत्कृत कर देने वाला प्रभाव होता है।

यदि मुक्तक पर भली प्रकार से विचार किया जाय तो जैसा कि कुछ अन्य विद्वानो ने भी स्वीकार किया है, मुक्तक की चार प्रमुख विशेषताएँ सामने आती हैं—(१) वह बन्ध निरपेक्ष हो, (२) अनिबद्ध हो (उसमे कथा न हो), (३) एक छन्द हो और (४) रसानुभूति कराने मे सहायक हो अथवा चमत्कार-क्षम हो। एक आधुनिक आलोचक ने मुक्तक की निम्नलिखित परिभाषा मे इन्ही विशेषताओ का उल्लेख किया है—

"मुक्तक पूर्व और पर से निरपेक्ष, मार्मिक खण्ड-दृश्य अथवा सवेदना को उपस्थित करने वाली वह रचना है जिसमे नैरन्तर्य-पूर्ण कथा-प्रवाह नही होता। जिसका प्रभाव सूक्ष्म अधिक, व्यापक कम होता है तथा जो स्वय अर्थभूमि-सम्पन्न अपेक्षाकृत लघु रचना होती है।"

प्रस्तुत व्याख्या मे और तो सभी बातें ठीक हैं, केवल एक बात ही खटकती है। उनका यह कहना कि मुक्तक का प्रभाव कम व्यापक होता है, ठीक नही जान पडता। पीछे बताया जा चुका है कि मुक्तक रचना यदि सफल है तो उसमे रसानुभूति करा देने की वही क्षमता होती है जो प्रबन्ध-काव्य मे।

मुक्तको का वर्गीकरण

सस्कृत काव्यशास्त्र मे अनेको आचार्यों ने मुक्तको के वर्गीकरण का अच्छा प्रयास किया है। इन आचार्यों में दण्डी, आनन्दवर्धन, हेमचन्द्र, वाग्भट और विश्वनाथ मुख्य हैं। सस्कृत साहित्य-शास्त्र में श्लोक-सख्या की दृष्टि से मुक्तकों के प्राय सात भेद स्वीकार किये गये हैं—

(१) मुक्तक—एक ही श्लोक मे समाप्त होने वाली रचना, (२) युग्मक अथवा सदानितक—दो श्लोको मे पूर्ण होने वाली रचना, (३) विशेषक—तीन श्लोको मे पूर्ण होने वाली रचना, (४) कलापक—चार श्लोको मे पूर्ण होने वाली रचना, (५) कुलक—कुलक की श्लोक-सख्या के विषय मे पर्याप्त मतभेद है। तरुण वाचस्पति के अनुसार कुलक मे श्लोको की सख्या पाँच या छ होनी चाहिए। वाग्भट तथा हेमचन्द्र कुलक उस रचना को मानते हैं जिसने पाँच से लेकर चौदह तक श्लोक हों। (६) कोष—अनेको कवियो द्वारा रचित मुक्तको के समूह को कोष का नाम दिया जाता है। (७) सघात या पर्याय-वन्ध-सघात उस पद्य का नाम है जो एक व्यक्ति द्वारा निर्मित हो और एकार्थ-विषयक हो।

प्रस्तुत सात भेदों के अतिरिक्त कतिपय आचार्यों ने मुक्तक के दो भेद और स्वीकार किये हैं। वे हैं—प्रघट्टक और विकीर्णक। एक ही कवि द्वारा रचित पदो के समूह को प्रघट्टक कहा जाता है और विकीर्णक उन पदो का सग्रह है जो

(क) भक्ति एवं वैराग्य-सम्बन्धी मुक्तक —हिन्दी में इस प्रकार के मुक्तकों के प्रवर्तन का श्रेय कबीर को है। कबीर ने मुक्तकों के लिए दोहों से मिलती-जुलती शैली को अपनाया जिसे उन्होंने साखी नाम से पुकारा है। कबीर की सभी साखियाँ 'कबीर-ग्रन्थावली' में संकलित हैं जो वर्ण्य विषय के विचार से ५९ अंगों में विभक्त हैं। इन अंगों से कबीर के विषय-क्षेत्र के विस्तार का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। कबीर ने जिन विषयों पर साखियों की रचना की है उनमें परम तत्त्व जीव तत्त्व माया तत्त्व गुरु-महिमा सत्संग महिमा कुसंग का कुप्रभाव चेतावनी विरक्ति ईश्वर-प्रेम विरह चित्त-शोधन करुणा दया आदि प्रमुख हैं। समाज में फैले कुसंस्कारों का भी उन्होंने खुलकर विरोध किया है। अनुभूति की तीव्रता कबीर के मुक्तकों की प्रधान विशेषता है। इसके लिए उनकी यह विरहोक्ति प्रस्तुत है—

चोट सताणी विरह की सब तन जर-जर होइ।
मारण हारा जाणि है कै जिहि लागी सोइ ॥"

कबीर की वैराग्य-सम्बन्धी साखियाँ भी पाठक के हृदय पर करारी चोट करती हैं। उदाहरण के लिए यह साखी द्रष्टव्य है—

'हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी केस जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखि करि भया कबीर उदास ॥"

यह ठीक है कि कबीर दशरथ के घरि औतारि म ने वाले राम में विश्वास नहीं रखते थे तथापि उन्होंने पौराणिक कथाओं के प्रति अपना जो मोह व्यक्त किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के राम इतने दयालु हैं कि भक्तों पर विपत्ति पड़ने के अवसर पर दौड़े हुए आते हैं। कबीर ने अपने इन दयालु राम का भरपूर गुणगान किया है और उनकी भलाई इसी परम्परा को कृष्णभक्त एवं रामभक्त कवियों ने भी स्वीकारा है। सुन्दरदास अपने एक सवैया में कहते हैं—

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर सीत सहे तन धूप समै जो पंचागिन बारी ॥
भूख सही रहि रूख तरे पर सुन्दरदास सबै दुख भारी।
आसन छाँड़ि कै कासन ऊपर आसन मार्‍यो पै आस न मारी ॥

तुलसीदास ने भी कवित्त-सवैयों की रचना कर हिन्दी मुक्तक काव्य-परम्परा को आगे बढ़ाया।

सन्त काव्य से भक्ति काव्य की ओर आने पर मुक्तक रचना के क्षेत्र में हम एक विशेष परिवर्तन पाते हैं और वह यह कि कबीर ने जहाँ साखियों में अपने भावों और विचारों को व्यक्त किया है वहाँ भक्त कवियों ने प्रायः कवित्त और सवैया वाली शैली अपनायी है। इसके भी कुछ कारण हैं। प्रथम कारण तो यह है कि इन लम्बे लम्बे छन्दों के माध्यम से किसी विषय का प्रतिपादन अच्छी तरह किया जा सकता है। दूसरे यह कि इनमें भाव का ऐसा माधुर्य शब्दों का ऐसा प्रवाह और भाषा की ऐसी सजग का आविर्भाव हो जाता है जो श्रोता के मन को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

वर्णन हुआ है। इसके सभी रूपको मे शैली की सरसता, सरलता एव स्वाभाविकता दृष्टिगत होती है। नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक शृगार-प्रकाश, दश-रूपक, काव्य-प्रकाश आदि काव्य शास्त्रीय ग्रन्थो के विभिन्न प्रसगो मे उद्धृत प्राकृत के बहुसख्यक मुक्तक इस बात के प्रमाण हैं कि प्राकृत साहित्य मे मुक्तको की बहुत अधिक रचना हुई है।

गाथासप्तशती की मुक्तक-परम्परा इतनी अधिक प्रिय हुई कि उससे प्रेरणा ग्रहण कर सस्कृत के अनेको कवियो ने मुक्तक रचनाएँ की। इनमे अमरुक का 'अमरुक-शतक,' भर्तृहरि के शृगार-तिलक, नीति-शतक एव वैराग्य-शतक, गोवर्द्धनाचार्य की आर्या सप्तशती, विल्हण की 'चौर-पचाशिका' आदि प्रसिद्ध हैं। सस्कृत मे कुछ स्तोत्र-ग्रन्थो की भी रचना हुई है, जिनमे दुर्गासप्तशती, चडीशतक आदि मुख्य है, किन्तु स्तोत्र ग्रन्थो का साहित्यिक दृष्टि मे कोई विशेष महत्त्व नही है।

प्राकृत एव सस्कृत की इसी मुक्तक-काव्य-परम्परा का विकास हमे अपभ्र श मे दिखाई पडता है। अपभ्र श मे वर्ण्य विषय की दृष्टि से प्रधानत दो प्रकार के मुक्तको की रचना हुई—नीतिपरक और शृगारपरक। सरहपाद के 'दोहा-कोष,' योगीन्दु के 'परमात्मा-प्रकाश' तथा 'योगसार' रामसिंह के 'पाहुड—दोहा,' सुप्रभाचार्य के वैराग्य-सार, देवसेन के 'सावधम्म दोहा,' जिनदत्त सूरि के 'उपदेश रसायन राज' मे नीति-परक मुक्तको की प्रधानता है जबकि प्राकृत-व्याकरण, छन्दोनुशासन, कुमार- प्रतिबोध, प्रबन्ध-चिन्तामणि, प्रबन्ध-कोष, प्राकृत-पैंगलम् आदि मे सकलित अनेको कवियो के मुक्तकों मे शृगार की बहुलता है। इन शृगार परक मुक्तको मे भावो की भाषा की सरसता तथा शैली की स्वाभाविकता देखते ही बनती है।

(आ) भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी-मुक्तक-काव्य-परम्परा —हिन्दी-साहित्य-मुक्तक-काव्य-परम्परा के लिए पालि, प्राकृत, सस्कृत तथा अपभ्र श-साहित्य का ऋणी है। इन विभिन्न साहित्यो मे जिन-जिन प्रकार के मुक्तको की रचना हुई, उन-उन प्रकार के सभी मुक्तक हिन्दी-साहित्य मे भी रचे गये हैं, वर्ण्य विषय के विचार से यदि हम हिन्दी-पूर्व मुक्तक-साहित्य को वर्गीकृत करना चाहे तो उसे तीन वर्गों मे रख सकते हैं—(१) बौद्ध एव जैन कवियों के धर्म तथा वैराग्य से सम्बन्धित मुक्तक, (२) गाथासप्तशतीकार, अमरुक, गोवर्द्धनाचार्य आदि के शृगारी मुक्तक तथा (३) भर्तृहरि आदि के नीतिपरक मुक्तक। हिन्दी-मुक्तको ने इन तीनो धाराओ को अपने मे समाहित किया है। यदि कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि सन्त-कवियो ने प्रथम प्रकार के मुक्तको को अपनाया तो बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर आदि रीतिकालीन कवियो ने शृगार परक मुक्तको की रचना की है। नीति से सम्बन्धित मुक्तको की रचना करने वालो मे रहीम, गिरिधर, घाघ, बैताल आदि हैं। यदि वर्ण्य विषय की दृष्टि से हिन्दी-मुक्तको का अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण करना हो तो उन्हे मुख्य चार वर्गों मे रखा जा सकता है—(क) भक्ति एव वैराग्य-सम्बन्धी मुक्तक, (ख) शृगारपरक मुक्तक, शृगारपरक मुक्तको के दो उपवर्ग-(i) रीतिबद्ध मुक्तक, (ii) रीतिमुक्त मुक्तक, (ग) नीति-सम्बन्धी मुक्तक और [illegible] वीररसात्मक मुक्तक।

(क) भक्ति एवं वैराग्य-सम्बन्धी मुक्तक —हिन्दी मे इस प्रकार के मुक्तकों के प्रवर्तन का श्रेय कबीर को है। कबीर ने मुक्तकों के लिए दोहों से मिलती-जुलती शैली को अपनाया जिसे उन्होंने साखी नाम से पुकारा है। कबीर की सभी साखियाँ 'कबीर-ग्रन्थावली' में संकलित हैं जो वर्ण्य विषय के विचार से ५९ अंगो मे विभक्त हैं। इन अंगों से कबीर के विषय-क्षेत्र के विस्तार का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। कबीर ने जिन विषयों पर साखियों की रचना की है उनमें परम तत्व जीव तत्व माया तत्व गुरु-महिमा सत्संग महिमा कुसंग का कुप्रभाव चेतावनी विरक्ति ईश्वर-प्रेम विरह चित्त-शोधन करुणा दया आदि प्रमुख हैं। समाज में फैले कुसंस्कारो का भी उन्होंने खुलकर विरोध किया है। अनुभूति की तीव्रता कबीर के मुक्तको की प्रधान विशेषता है। इसके लिए उनकी यह विरहोक्ति प्रस्तुत है—

"चोट सताणी विरह की सब तन जर-जर होइ।
मारण हारा जाणि है कै जिहि लागी सोइ ॥"

कबीर की वैराग्य-सम्बन्धी साखियाँ भी पाठक के हृदय पर करारी चोट करती हैं। उदाहरण के लिए यह साखी द्रष्टव्य है—

'हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी केस जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखि करि भया कबीर उदास ॥"

यह ठीक है कि कबीर दसरथ के घरि औतरि आमे वाले राम मे विश्वास नही रखते थे तथापि उन्होंने पौराणिक कथाओं के प्रति अपना जो मोह व्यक्त किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के राम इतने दयालु हैं कि भक्तो पर विपत्ति पड़ने के अवसर पर दौड़े हुए आते हैं। कबीर ने अपने इस दयालु राम का भरपूर गुणगान किया है और उनकी चलाई इसी परम्परा को कृष्णभक्त एवं रामभक्त कवियो ने भी स्वीकारा है। सुन्दरदास अपने एक सवैया मे कहते हैं—

"गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर सीत सहे तन धूप समै जो पंचागिन बारी ॥
भूख सही रहि रूख तरे पर सुन्दरदास सबै दुख भारी।
डासन छाँड़िकै कासन ऊपर आसन मार्‌यो पै आस न मारी ॥"

तुलसीदास ने भी कवित्त-सवैयो की रचना कर हिन्दी मुक्तक काव्य-परम्परा को आगे बढ़ाया।

सन्त काव्य से भक्ति-काव्य की ओर आने पर मुक्तक-रचना के क्षेत्र मे हम एक विशेष परिवर्तन पाते हैं और वह यह कि कबीर ने जहाँ साखियों मे अपने भावों और विचारो को व्यक्त किया है वहाँ भक्त कवियो ने प्राय कवित्त और सवैया वाली शैली अपनायी है। इसके भी कुछ कारण हैं। प्रथम कारण तो यह है कि इन लम्बे लम्बे छन्दो के माध्यम से किसी विषय का प्रतिपादन अच्छी तरह किया जा सकता है। दूसरे यह कि इनमे भाव का ऐसा माधुर्य शब्दो का ऐसा प्रवाह और भाषा की ऐसी लचक का आविर्भाव हो जाता है जो श्रोता के मन को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

(ख) शृंगारपरक मुक्तक—शृंगार-सम्बन्धी मुक्तको मे हमें दो धाराएँ दृष्टि-गोचर होती हैं—(१) रीतिबद्ध मुक्तक, जिनमे लक्षण-ग्रन्थो के आधार पर शृंगार का वर्णन हुआ है,और (२) रीतिमुक्त मुक्तक, जिनमे लक्षण-ग्रन्थों की चिन्ता न करते हुए शृंगार का चित्रण किया जाता है।

(i) रीतिबद्ध मुक्तक—रीतिबद्ध मुक्तको के रचयिता अधिकाश दरबारी कवि थे। इन्होने नायिका के रूप-सौन्दर्य, उसके विभिन्न हाव-भाव, उसके नख-शिख तथा नायक-नायिकाओ की सुरति-क्रीडाओं का वर्णन शास्त्रीय आधार पर किया है। इन रीतिबद्ध मुक्तको के रचयिताओ मे सबसे पहला नाम केशव का आता है। सूरदास 'साहित्य लहरी' तथा नन्ददास 'रस-मञ्जरी' के माध्यम से गीतिकाव्य मे'रीति-प्रवृत्ति' का पहले से ही पोषण कर चुके थे। केशव ने अपनी 'रसिक-प्रिया' एव 'कविप्रिया' मे इसी प्रवृत्ति को शृगारी मुक्तको मे सम्बद्ध किया। केशव के उपरान्त देव, मतिराम, पद्माकर, ग्वाल आदि अनेको रीतिकालीन कवियो ने रीति का सम्यक् निर्वाह करते हुए अत्यन्त सरस एव सुन्दर मुक्तको की रचना की है। बिहारी, मतिराम, विक्रम आदि के शृगार-वर्णन पर भी रीति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

(ii) रीतिमुक्त मुक्तक—रीतिमुक्त शृगारपरक मुक्तको की रचना करने वाले कवियो ने शास्त्रीय लक्षणो की अवहेलना करते वैयक्तिक अनुभूतियो को अभि-व्यक्ति प्रदान की है। यद्यपि इस स्वच्छन्द प्रेम-मूलक मुक्तक-काव्य-धारा का प्रारम्भ नरहरि, रहीम, गग, ब्रह्म आदि कवियो से ही हो जाता है, किन्तु इसके उत्कर्ष की स्थिति घनानन्द, बोधा, आलम, रसखान आदि में मिलती है। भावात्मकता तथा अनु-भूति की गहनता के कारण इस मुक्तक-काव्य-धारा का भावपक्ष अत्यन्त उत्कृष्ट है, साथ ही कला-पक्ष की प्रौढता भी कम नही है। व्यग्यात्मकता, लाक्षणिकता तथा भाषा की प्रवहणशीलता के लिए आचार्य शुक्ल जैसे मर्यादावादी आलोचक ने भी घनानन्द के काव्य को इस काल का सर्वोत्कृष्ट काव्य माना है। इन रीतिमुक्त मुक्तककारो मे पाठक या श्रोता को रसानुभूति करा देने की कितनी अधिक क्षमता विद्यमान है, इस का अनुमान घनानन्द की इन पक्तियो मे लगाया जा सकता है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जह नेकु सयानप बाक नहीं।
तह साँचे चलै तजि आपनपौ,झिझके कपटी जो निसाक नहीं।
'घन आनद' प्यारे सुजान सुनौ, इत एक ते दूसरो आंक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाक नहीं।

(ग) नीति-सम्बन्धी मुक्तक—नीति सम्बन्धी विषयो पर मुक्तक-रचना करने वाले कवियो मे रहीम वृन्द, गिरिधर, घाघ, वैताल आदि उल्लेखनीय हैं। इनके मुक्तको मे भावात्मकता का अभाव है, क्योकि नीति का विषय ही अपने मे नीरस है। नीति मुक्तककारो ने दोहा, कुण्डलिया छप्पय आदि छन्दो को अपनाया है। भावात्म-कता के अभाव मे भी इन कवियों की सूक्तिया पर्याप्त रोचक बन पडी हैं। उदाहरण के लिए गिरिधर कविराय की इस कुण्डलिया को लिया जा सकता है—

"रहिए लटपट काटि दिन, बरु घामहि मे सोय।
छाह न वाकी बैठिए, जो तरु पतरो होय॥

जो तन पतरो होय एक दिन ओछो ह्वैहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर ते जैहै॥
कह गिरिधर कविराय छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छाया में रहिए॥"

(ख) वीर रसात्मक मुक्तक—रीतिकाल में जहाँ एक ओर शृंगारी मुक्तक लिखे जा रहे थे वहीं दूसरी ओर ओज गुण से सम्पन्न वीर रसात्मक मुक्तकों का भी प्रणयन हो रहा था। भाषा की दृष्टि से इन वीर रसात्मक मुक्तकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) राजस्थानी कवियों द्वारा डिंगल भाषा में रचित मुक्तक तथा (२) अन्य कवियों द्वारा ब्रजभाषा में रचित मुक्तक।

राजस्थानी कवियों ने डिंगल भाषा में जिन मुक्तकों को रचा है उनमें शौर्य की अत्यन्त उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है। इस वर्ग के कवियों में पृथ्वीराज बाँकीदास दुरसा जी सूर्यमल मिश्र आदि के नाम आते हैं। इन सभी कवियों की रचनाएँ वीर पूजा की भावना से प्रेरित हैं। इन्हें आर्य वीरों की वीरता पर इतना गर्व है कि पृथ्वीराज तथा दुरसा जी जैसे कवियों का सम्बन्ध अकबर के दरबार से होते हुए भी उन्होंने राणा प्रताप की वीरता एवं महिमा की प्रशस्तियाँ लिखी हैं और राणा की अपेक्षा अकबर को तुच्छ बताया है। इन सभी कवियों ने मध्यकालीन राजपूती आदर्श की सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की है उनका प्रिय छन्द दोहा रहा है। इस काव्य की ऊर्जा पर मुग्ध होकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'इन दोहों में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण नयी बात यह है कि स्त्रियों के मुख से अपने वीर पतियों के सम्बन्ध में अपूर्व दर्पोक्तियाँ कहलाई गई हैं।

ब्रजभाषा में वीर रस से ओत-प्रोत मुक्तकों की रचना करने वाले भूषण तथा कर ब्यास आदि हैं। इन्होंने अरबी फारसी मिश्रित हुई भाषा तथा ओजपूर्ण शैली में अपने-अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा की है। भूषण ने छत्रपति शिवाजी तथा छत्रसाल की प्रशंसा अत्यन्त आवेशपूर्ण ढंग से की है। इन सभी कवियों की शैली कवित्त और सवैयों वाली रही है।

(ग) आधुनिक काल और मुक्तक काव्य परम्परा—हिन्दी में आधुनिक काल का श्रीगणेश भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से माना जाता है। भारतेन्दु का अवतरण ऐसे युग में हुआ था जिसमें जनता में एक ओर भक्ति भावना की प्रबलता थी तो दूसरी ओर देश भी सामाजिक पतन के कगार पर खड़ा हुआ था। इसीलिए उन्होंने जहाँ एक ओर प्राचीन पूर्ववर्ती कविता का अनुसरण करते हुए भक्ति भावना समन्वित मुक्तकों की रचना की वहाँ दूसरी ओर देशप्रेम समाज-सुधार हास्य तथा व्यंग आदि विषयों पर भी मुक्तक लिखे। इनके मुक्तकों में अनुभूति की विदग्धता भावों की सरसता भाषा की स्पष्टता तथा शैली की स्वाभाविकता है।

द्विवेदी युग इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता के कारण मुक्तक काव्य के सर्जन के लिए अनुकूल नहीं था किन्तु फिर भी नाथूराम शर्मा अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' रामचरित उपाध्याय आदि ने उत्तम प्रकार मुक्तकों की सृष्टि की है।

छायावाद मे भी मुक्तक-रचना पर्याप्त मात्रा मे हुई। प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी आदि सभी ने मुक्तक लिखे हैं। यद्यपि इन्होने मुक्तक-शैली की अपेक्षा गीति शैली का ही अधिक प्रयोग किया है तथापि यत्र-तत्र अच्छे मुक्तको की रचना की है। 'आंसू' लम्बी रचना होते हुए भी मुक्तक का अच्छा उदाहरण है।

प्रगतिवादी कवियो ने भी मुक्तक-रचना पर अपनी लेखनी उठाई है। इनमे नरेन्द्र शर्मा का नाम शीर्षस्थानीय है।

प्रयोगवादी काव्य ने भी मुक्तक शैली को ही अपनाया है, किन्तु इस काव्य मे भावात्मकता का स्थान बौद्धिकता ने ले लिया है, और इसीलिए इसका पढने वाला पाठक ऊब जाता है।

उपसहार

मुक्तक-काव्य-परम्परा के प्रस्तुत विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जिस युग मे मुक्तक-रचना अधिक होती है, उस युग मे प्रबन्ध रचना कम, और जिस युग के कवि प्रबन्ध रचना मे अभिरुचि दिखाते हैं, उस युग मे मुक्तक रचना ह्रासोन्मुख हो जाती है, दोनो प्रकार की रचनाएँ समान रूप से एक ही युग मे नही चल सकती। प्राकृत मे मुक्तक-रचना अधिक है और प्रबन्ध रचना कम। सस्कृत के कवियो ने प्रबन्ध-रचना के क्षेत्र मे विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की इसलिए मुक्तक रचना कम हुई। अपभ्रंश मे मुक्तको का प्राधान्य है। भक्तिकाल मे प्रबन्ध विशेष रूप से लिखे गए इसीलिए मुक्तक-रचना को विशेष प्रोत्साहन न मिला। रीतिकाल-मुक्तको का ही काल है। आज भी प्रबन्ध-रचना की अपेक्षा कविगण मुक्तक-रचना मे ही अधिक प्रवृत्त हैं।

७३

हिन्दी गद्य उद्भव और विकास

१ भूमिका—गद्य के विलम्ब से आविर्भाव के कारण
२ हिन्दी गद्य के विकास में बाधक परिस्थितियाँ—उनका निराकरण
३ प्रथम था गद्य
४ खड़ी बोली का आगमन—उसके कारण
५ खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भिक विकास—लल्लूलाल से सदल मिश्र तक
६ भारतेन्दु युग में हिन्दी गद्य
७ द्विवेदी युग में हिन्दी गद्य
८ आचार्य शुक्ल और हिन्दी गद्य के विकास में उनका योगदान
९ आधुनिक काल में हिन्दी गद्य
१० उपसंहार

यद्यपि गद्य का प्रारम्भ तो उसी दिन से हो जाता है जिस दिन से मनुष्य बोलने लगता है परन्तु उसका विकास और साहित्यिक प्रयोग पर्याप्त विलम्ब से होता है। इसका आभास हमें उस प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान् की उक्ति से लगता है जिसमें उसने यह बात कही कि उसे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि वह जीवनभर गद्य ही बोलता रहा पर उसे इसका पता न चला। संसार की प्रत्येक भाषा के साहित्य में गद्य से पहले पद्य का ही विकास हुआ है यद्यपि वाणी का प्रस्फुटन गद्य में ही हुआ होगा। भाषा वैज्ञानिकों का भी यही मत है कि बच्चा भले ही पद एक शब्द बोले वह शब्द वाक्य होता है और वह वाक्य गद्यमय होता है पद्यमय नहीं। फिर भी साहित्य रचना सर्वप्रथम गद्य में न होकर पद्य में हुई है। इसके कई कारण हैं। मानव प्रारम्भ में भावनात्मक होता है उसका हृदय पक्ष अधिक सबल होता है बुद्धिपक्ष अपेक्षाकृत दुर्बल अत वह प्रकृति की रहस्यमयता से प्रभावित—आतंकित हो अपने हृदय पर पड़े प्रभाव को प्रार्थना के रूप में प्रकट करता है। धार्मिक भावना का उद्रेक हृदय से होता है और उस उद्रेक की अभिव्यक्ति गीत या पद्य में होती है। दूसरे मानव की हृदयस्थ सौन्दर्यवृत्ति एक शाश्वत प्रवृत्ति है। वह आदि काल से ही अपने कार्य सुन्दर सुचारु रूप में करने के लिए उत्सुक रहा है। अपनी बात को भी सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करने की आकांक्षा उसमें रही होगी और सुन्दर मोहक अभिव्यक्ति जितनी पद्य में हो सकती है उतनी गद्य में नहीं। सौन्दर्य की तरह संगीत की भावना भी मानव की आदि भावना है। वह आनन्द उल्लास तथा वेदना-व्यथा दोनों के क्षणों में गुनगुना उठता है और आनन्द तथा

छायावाद मे भी मुक्तक-रचना पर्याप्त मात्रा मे हुई । प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी आदि सभी ने मुक्तक लिखे हैं । यद्यपि इन्होने मुक्तक-शैली की अपेक्षा गीति शैली का ही अधिक प्रयोग किया है तथापि यत्र-तत्र अच्छे मुक्तको की रचना की है । 'आंसू' लम्बी रचना होते हुए भी मुक्तक का अच्छा उदाहरण है ।

प्रगतिवादी कवियो ने भी मुक्तक-रचना पर अपनी लेखनी उठाई है । इनमें नरेन्द्र शर्मा का नाम शीर्षस्थानीय है ।

प्रयोगवादी काव्य ने भी मुक्तक शैली को ही अपनाया है, किन्तु इस काव्य मे भावात्मकता का स्थान बौद्धिकता ने ले लिया है, और इसीलिए इसका पढने वाला पाठक ऊब जाता है ।

उपसहार

मुक्तक-काव्य-परम्परा के प्रस्तुत विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जिस युग मे मुक्तक-रचना अधिक होती है, उस युग मे प्रबन्ध रचना कम, और जिस युग के कवि प्रबन्ध रचना मे अभिरुचि दिखाते हैं, उस युग मे मुक्तक रचना ह्रासोन्मुख हो जाती है, दोनो प्रकार की रचनाएँ समान रूप से एक ही युग मे नही चल सकती । प्राकृत मे मुक्तक-रचना अधिक है और प्रबन्ध रचना कम । सस्कृत के कवियो ने प्रबन्ध-रचना के क्षेत्र मे विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की इसलिए मुक्तक रचना कम हुई । अपभ्र श मे मुक्तको का प्राधान्य है । भक्तिकाल मे प्रबन्ध विशेष रूप से लिखे गए इसीलिए मुक्तक-रचना को विशेष प्रोत्साहन न मिला । रीतिकाल-मुक्तको का ही काल है । आज भी प्रबन्ध-रचना की अपेक्षा कविगण मुक्तक-रचना मे ही अधिक प्रवृत्त हैं ।

भाषा न होकर अलग अलग प्रादेशिक भाषाएँ थी अत न तो राज्य से किसी सहायता की सम्भावना थी न जनता से। ऐसी स्थिति में गद्य का विकास होता तो कैसे? हिन्दुओं के अत्यधिक धार्मिक दृष्टिकोण ने भी गद्य के विकास में बाधा डाली। धार्मिक भावना यथार्थ भावना की विरोधी है। धार्मिक भावना आत्मानुभूति पर आधारित होती है और वह पद्य के माध्यम से व्यक्त हो जाती है। इसके विपरीत जीवन का यथार्थ चित्र अंकित करने गंभीर दार्शनिक शास्त्रीय राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं का विवेचन विश्लेषण करने के हेतु गद्य अपेक्षित होता है। जब ये विषय ही न थे तो गद्य कहाँ से आता? डॉ श्यामसुन्दरदास ने कहा है, 'गद्य मनुष्य के व्यावहारिक भाव-विनिमय का साधन होने के कारण अधिक स्पष्ट और नीरस होने को बाध्य है। उधर हमारा धार्मिक शृंगारपरक साहित्य अपनी मधुमय सरसता में डूबा रहना चाहता था और ऐसे गम्भीर विवेचन का नितान्त अभाव था जिसके लिए गद्य अपेक्षित होता है। अतः गद्य के विकास के लिए जिन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है वे हिन्दी के जन्म के समय नहीं थी।

ब्रजभाषा गद्य

मध्यकाल मे गद्य के दो रूप उपलब्ध होते हैं—ब्रजभाषा गद्य और खड़ी बोली गद्य। ब्रजभाषा गद्य का सबसे प्राचीन नमूना चौदहवी शताब्दी के एक गोरख पंथी ग्रन्थ मे मिलता है। उसके बाद ब्रजभाषा गद्य के नमूने उन कृष्ण भक्तो की कृतियो म मिलते हैं जिन्होने वार्ता-साहित्य लिखा। चौरासी वैष्णवन की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता इसी प्रकार के गद्य-ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ वैष्णव भक्तों द्वारा लिखे गये हैं अत इनका उद्देश्य साहित्यिक न होकर भक्तिपरक है। इसीलिए जो गद्य इनमे प्रयुक्त हुआ है वह न साहित्यिक है न सुव्यवस्थित। ब्रजभाषा गद्य में लिखे कतिपय और ग्रन्थों का भी पता चला है जैसे नाभादास का 'अष्टयाम' ब्रजभाषा भैनक का नासिकेतोपाख्यान सुरतिमिश्र का 'बैताल पच्चीसी' का अनुवाद आदि। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने दादू पंथियों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है पर भाषा की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है।

इसके बाद कुछ टीका ग्रन्थ तथा कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गये। साहित्यिक ग्रन्थों की टीकाओं मे बिहारी सतसई की टीका 'कविप्रिया' की टीका 'रामचरितमानस' की टीका मनिराम के 'रस राज' की टीका प्रमुख हैं। स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्रियादास की 'सेवक चन्द्रिका' हीरालाल की 'आईने अकबरी' की भाषा वचनिका लल्लूलाल का 'हितोपदेश' का अनुवाद उल्लेखनीय है। पर इन सबकी भाषा पंडिताऊ है और इनसे गद्य का कोई विकास नहीं हुआ।

जहाँ तक खड़ी बोली गद्य का प्रश्न है उसका सर्वप्रथम रूप अकबर के समय के गंग कवि का 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' माना जाता है। इसमें प्रचुर मात्रा मे तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है तथा वैसे भी इसकी भाषा आधुनिक खड़ी बोली के निकट है। कुछ मुसलमान औलियाओं की 'हिन्दवी' मे लिखी गद्य की पुस्तकें भी प्रारम्भिक खड़ी बोली गद्य की कृतियों मे समाविष्ट की जा सकती हैं अतः

व्यथा के उद्रेक के क्षणो मे ही कविता का जन्म होता है। अत गद्य से पहले पद्य के जन्म होने का कारण मानव की सगीत-प्रियता भी रही होगी। तीसरे, आरम्भ मे मानव के विचार और भाव सरल होते हैं, उनका प्रेषण पद्य में हो सकता है पर सभ्यता के विकास के साथ साथ विचारो और भावो की जटिलता बढती जाती है, उसे अभिव्यक्त करने के लिए पद्य पगु हो जाता है, अत गद्य का विकास अपेक्षाकृत बाद मे होता है। आरम्भ मे भाषा की अभिव्यजना-शक्ति शिथिल होती है, वह भावो की गहनता, विचारो की जटिलता को व्यक्त नही कर सकती, अत जब तक उसमे हृदय के गहनतम गह्वरो मे निवास करने वाली भाव-वीचियो को पकड कर अभिव्यक्त करने की, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारो को प्रकट करने की सामर्थ्य नही आ जाती, तब तक गद्य-साहित्य का आविर्भाव या तो होता ही नही, और यदि होता भी है तो वह अपरिपक्व और अप्रौढ रहता है।

अपनी उक्ति को चिरस्थायी बनाने की मानव-प्रवृत्ति भी गद्य के अपेक्षाकृत विलम्ब से आविर्भूत होने का कारण रही है। मुद्रण-कला के अभाव मे गद्य मे कही हुई बात अधिक देर तक स्मरण नही रह सकती थी, केवल पद्यात्मक उक्ति ही लोगो को सहज याद रह सकती थी, अत अपनी उक्ति को चिर स्थायी बनाने के लिए उन्होंने गद्य की बजाय पद्य का आश्रय लिया।

हिन्दी गद्य के प्रारम्भ-काल की परिस्थितिया

हिन्दी गद्य के देर से विकसित होने मे उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त कुछ अन्य भी कारण थे जिनका सम्बन्ध उन परिस्थितियो से है, जो हिन्दी के जन्म के समय इस देश मे विद्यमान थी। हिन्दी के जन्म होते ही देश विदेशियो से आक्रान्त होने लगा था और वे अपनी भाषा अपने साथ लाये थे। उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे अपनी भाषा का प्रचार और प्रसार करें और यहाँ की देशी भाषा को प्रतिद्वन्द्विनी समझ उसके विकास मे बाधा उपस्थित करें। दूसरे, देश की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति ऐसी थी कि साहित्यकार या तो धन और मान पाने के लिए अपने स्वामी के प्रशस्ति-गान गाता था अथवा विदेशी आक्रान्ताओ से मुक्ति पाने के लिए भगवान् की शरण मे जा उसकी प्रार्थना करता था। जीवन की गभीर समस्याओ के विवेचन की ओर जिसके लिए गद्य आवश्यक है, उसका ध्यान ही न था। अत गद्य दैनिक बोलचाल तक ही सीमित रहा आया, उसे साहित्य मे स्थान न मिल पाया। तीसरे, उस समय जिसे हम आज हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश कहते हैं, वहाँ किसी सर्वमान्य भाषा का आधिपत्य न था, कोई ऐसी केन्द्रीय भाषा न थी जिसे सब अपनी स्वीकार कर, उसकी उन्नति और विकास मे योग देते। उस समय बोलचाल की ही भाषा नही साहित्यिक भाषाएँ भी अनेक थी— राजस्थानी, ब्रज, अवधी, बुन्देलखण्डी आदि। यदि साहित्य की भाषा एक रहती, तो सम्भव था कि सबके सम्मिलित प्रयत्नो से किसी एक भाषा मे गद्य लिखा जाता और उससे गद्य की भाषा विकसित होती। राष्ट्रीय भावना के अभाव मे एक राष्ट्र, एक भाषा का भाव भी जनता के बीच विद्यमान न था। किसी भी एक भाषा को राष्ट्र-भाषा नही कहा जा सकता था। राज्य की भाषा यदि उर्दू-फारसी थी, तो जनता की भाषा एक सर्वमान्य

उन्होंने स्त्री-शिक्षा स्त्री-सुधार आदि पर बल दिया। उनमे राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक सुधारों की चेतना जागी। उस समय भारतीय जनता जहाँ अंग्रेजों की शक्ति बुद्धि बल-वैभव आदि से आतंकित और चमत्कृत थी वहां दूसरी ओर उनके अत्याचारों सुधारों आदि से असन्तुष्ट भी थी। एक ओर उस असन्तोष ने आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा दी दूसरी ओर समाज-सुधारकों—राजा राम मोहन राय स्वामी दयानन्द—आदि ने हमारी सुप्त चेतना को जगाया धर्म मे बुद्धिवाद को स्थान दिया अन्ध विश्वास और अन्ध रूढ़ियों को त्यागने का आवाहन किया। राजनीतिक अधिकारो की भी माग होने लगी। यह सब कार्य पद्य में होना सम्भव न था। अत गद्य का आना स्वाभाविक था। उधर मुद्रण-यन्त्र ने मौखिक परम्परा को अनावश्यक बना दिया था। अत गद्य के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियां विद्यमान थी।

अंग्रेज शासकों ने यह भी अनुभव किया कि भले ही राजभाषा के रूप मे उर्दू को जो मुसलमानी परम्परा से उन्हे प्राप्त हुई थी ग्रहण कर लिया जाय पर वह लोकभाषा न थी और जनता से सम्पर्क स्थापित करने या जन-जन मे अपने धर्म का प्रचार करने के लिए लोकभाषा का ज्ञान आवश्यक था। अत शासकों तथा ईसाई पादरियों दोनों ने खड़ी बोली को जो जनता की भाषा थी सीखने की आवश्यकता समझी। फलस्वरूप एक ओर बाईबिल तथा अन्य ईसाई धर्म की पुस्तकों के अनुवाद खड़ी बोली म किये गये और दूसरी ओर अंग्रेज अफसरों को हिन्दी सिखाने के लिए पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराई गयी।

वैसे तो खड़ी बोली का अस्तित्व खुसरो और कबीर के समय मे ही था और बीच मे मुस्लिम शासकों तथा चारों और रमते साधु-सन्तों द्वारा भी उसका व्यापक प्रचार प्रसार हुआ था परन्तु साहित्य द्वारा उसका वरण उन्नीसवी शताब्दी मे ही हुआ क्योंकि उस समय गद्य की आवश्यकता थी और वह गद्य के लिए विशेष उपयुक्त थी।

प्रारम्भिक चार गद्य-लेखक

साहित्य की दृष्टि से भी उन्नीसवी शताब्दी के दो विभाग हो सकते हैं—पूर्व हरिश्चन्द्र काल और हरिश्चन्द्र काल। पूर्व हरिश्चन्द्र काल मे गद्य साहित्य की रचना दो प्रकार से हुई—स्वतन्त्र सुझाव और अधिकारियों के प्रोत्साहन तथा प्रेरणा द्वारा या धर्म प्रचार के लिए ईसाई पादरियों द्वारा। यद्यपि कुछ विद्वानों का यह कहना है कि हिन्दी गद्य के प्रारम्भिक चारो लेखकों—सदासुखलाल, इंशा अल्लाखाँ लल्लूलाल और सदल मिश्र—ने फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों विशेषत जान गिल क्राइस्ट की प्रेरणा से अपने गद्य-ग्रन्थ लिखे पर अब यह स्थापित हो चुका है कि इनम से दो लेखकों ने—सदासुखलाल तथा इंशा अल्ला खाँ ने—गद्य रचना स्वतन्त्र सुझाव ही की थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन का यह कथन सत्य ही है कि अंग्रेजों की ओर से पुस्तकें लिखने की व्यवस्था होने से दो-एक वर्ष पहले ही सदासुखलाल 'सुखसागर' तथा इंशा अल्ला खाँ 'रानी केतकी की कहानी' लिख चुके थे।

१७९८ मे पटियाला के रामप्रसाद निरजनी द्वारा लिखे गये 'भाषा योगवसिष्ठ' की भाषा तो बहुत ही साफ-सुथरी खडी बोली है। उसका गद्य पर्याप्त सुन्दर और परिमार्जित है, अत विद्वानो ने इसी को खडी बोली गद्य का पहला साहित्यिक रूप माना है। इसका एक नमूना देखिये—

वशिष्ठ जी बोले हे राम जी! यह जो वासना रूपी ससार है, उससे तुम मङ्कीऋषि के सदृश तर जाओ। राम जी ने पूछा, हे भगवन्! मङ्कीऋषि किस प्रकार तरे है सो कृपा करके कहिये? वशिष्ठ जी बोले, मङ्कीऋषि का वृत्तान्त सुनो, उसने महा तीक्ष्ण तप किये थे। एक समय मैं आकाश मे अपने गृह मे था, और तुम्हारे पितामह राजा अज ने मेरा आवाहन किया।

इसके उपरान्त पडित दौलतराम ने सात सौ पृष्ठो मे जो 'जैन पद्म पुराण' का अनुवाद किया, उसमे भी खडी बोली गद्य का नमूना मिलता है, पर उसकी भाषा मे वह सौन्दर्य तथा परिष्कृति नही जो 'निरजनी' की भाषा मे है। अत 'निरजनी' को ही खडी बोली गद्य का प्रथम प्रौढ लेखक तथा उनके 'योगवसिष्ठ' को परिमार्जित खडी बोली का प्रथम ग्रन्थ कह सकते हैं। इनके उपरान्त के लगभग डेढ सौ वर्षों मे हिन्दी गद्य की प्रगति रुक सी गई।

यहाँ एक प्रश्न पर और विचार कर लिया जाय। जब ब्रजभाषा गद्य और पद्य दोनो क्षेत्रो मे स्वामिनी बनी हुई थी, तो यकायक खडी बोली ने उसे गद्य के क्षेत्र से कैसे अपदस्थ कर दिया? वस्तुत इस परिवर्तन के कारण राजनीतिक परिस्थितियो मे निहित हैं। जब मुसलमान यहा आये, तो उन्होने विचार-विनिमय के लिए जिस बोली को चुना, वह दिल्ली-मेरठ की खडी बोली ही थी। राज्याश्रय पा यह बोली मुसलमानो के साथ-साथ उर्दू के रूप मे फैलती चली गई और ब्रजभाषा का महत्त्व कम होता गया। अग्रेजी ने भी राजनीतिक कारणो से उसी भाषा को प्रश्रय दिया जो मुसलमानो के द्वारा राज्यकार्यों मे व्यवहृत होती थी। अत खडी बोली का उत्कर्ष हुआ और ब्रज भाषा केवल काव्य के क्षेत्र मे बनी रही। वस्तुत गद्य के लिए भाषा का जो विकसित और समृद्ध रूप चाहिए, वह ब्रजभाषा मे पहले से वर्तमान भी न था, अत खडी बोली को उसे अपदस्थ करने मे कठिनाई भी न हुई। यदि उस समय ब्रजभाषा का गद्य समृद्ध होता तो उसे अपदस्थ करना कदाचित् कठिन होता या इतना सुकर न होता।

खडी बोली गद्य का आरम्भ

हिन्दी गद्य का वास्तविक सूत्रपात उन्नीसवी शताब्दी मे हुआ। उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे अग्रेजो का भारत मे आधिपत्य स्थापित हो चुका था। राजशासन की दृष्टि से उन्नीसवी शताब्दी को हम दो भागो मे बाट सकते हैं—१८५७ ई० के पूर्व का जिसमें शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथो मे था और दूसरा १८५७ ई० के बाद जब सत्ता ब्रिटिश साम्राज्ञी के हाथो मे चली गयी। इस शताब्दी मे अग्रेजो के साथ सम्पर्क स्थापित होने पर भारतीय उनके राजनीतिज्ञ, सामाजिक, धार्मिक विचारो से परिचित हुए। मिल और स्पेन्सर के विचारो से प्रभावित हो

संवत् १८२१ कूता गया है। यदि यह ठीक है तो वस्तुत उस समय निबन्ध का रचा जाना एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से गद्य लिखने वालो में सदल मिश्र तथा लल्लूलाल प्रमुख हैं। कम्पनी के कार्य को सुचारुता से चलाने के लिए जब गद्य निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गई तो १८ १ ई में गिलक्राइस्ट ने इन्ही दोनो को हिन्दी पुस्तक तैयार करने का काम सौंपा। इसीलिए नलिनी मोहन सान्याल तथा ग्रीव्स का मत है कि खड़ी बोली इन्ही दोनों की देन है।

लल्लू जी लाल ने 'प्रेमसागर' लिखा जिस पर श्रीमद्भागवत के दशम् स्कन्ध की छाया है। इन्होने अपनी भाषा को अन्य भाषाओ के शब्दो से बचाने की चेष्टा की है फिर भी कहीं-कहीं विदेशी शब्द जैसे बैरख (तुर्की) आ ही गये हैं। इनकी भाषा मे ब्रज का भी पुट आ गया है। एक उदाहरण देखिये—

जब सब रात बितीत भई और चार घड़ी पिछली रही तब नन्दराय जी ने ऊधो जी से कहा कि महाराज अब दधि मथने की बिरियाँ हुई जो आपकी आज्ञा पाऊँ तो यमुना स्नान कर आऊँ 'पहले वस्त्र उतार देह शुद्ध करी पीछे नीर के निकट जाय रज सिर चढ़ाय हाथ जोड़ कालिन्दी के प्रति स्तुति गाय आचमन कर जल मे पैठे।

इस उद्धरण मे *बिरियाँ जाय चढ़ाय गाय आदि* ब्रजभाषा के प्रयोग हैं। यद्यपि लल्लूलाल बड़े विद्वान् न थे पर जिस समय उन्होने लिखा वह हिन्दी की दुर्दशा का समय था अत उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। उनकी भाषा में अस्थिरता है, उनके शब्दो का रूप निश्चित नहीं है व्याकरण-सम्बन्धी नियमो का भी पालन शिथिलतापूर्वक किया गया है। तुक अनुप्रास और कवितामय भाषा भी उनके गद्य में मिलती है तथापि उनकी कृति का ऐतिहासिक महत्व असन्दिग्ध है।

सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' संस्कृत ग्रथ 'चन्द्रावती' का अनुवाद है और इनकी भाषा-शैली को जानने का स्रोत। इसकी रचना १८ १ ई मे हुई थी। उसके नमूने देखिए—

'देखो यह कर्म का लेख कहाँ वह नाना भाँति मे जो फूल के बिछौने पर सुख से दिन रात बितते बीतते थे सो अब जंगल मे कन्द मूल खा काटे—भूम पर सोकर प्यारी के बहुविधि डरावने वन मुनि कैसे विपति काटती होगी।

तब सिर नवाय प्रणाम करि हाथ जोर लगे जमराज स्तुति करने।

'समाचार सुनि बहुत बुझाई'

इन उद्धरणों से प्रकट होता है कि जहाँ इनकी भाषा मे एक ओर ब्रजभाषा के शब्द *सुनि नवाय आदि हैं वहाँ दूसरी ओर पूर्वी प्रयोग भी हैं जैसे 'बुझाई'।* कुछ सीमा तक तुकबंदी भी इनमे मिलती है।

इनकी भाषा लल्लूलाल की भाषा से तो निश्चय ही अधिक प्रौढ है पर वह पूर्वी प्रयोगों तथा व्याकरण की भूलो से मुक्त नहीं है। उर्दू का प्रभाव भी कुछ कम नहीं है। उर्दू मुहावरों तथा वाक्यावली का प्रयोग भी जैसे 'सुनते ही आग हो गये गुस्सा तो चढ़ाया' उनकी भाषा में मिलता है। 'उठ के बैठी और लगी सोचने' मे उर्दू

इशा अल्ला खाँ का 'उदयभान चरित्र' या 'रानी केतकी की कहानी, (१८५६-१८६६ ई०) भाषा-प्रयोग के रूप मे लिखा गया था, यद्यपि यह प्रयोग स्वान्त सुखाय ही था, किसी वाह्य प्रेरणा या दवाव के फलस्वरूप नही । इशाअल्लाखाँ की भूमिका इसका प्रमाण है —

" कोई कहानी ऐसी कहिये कि हिन्दवी छुट और किसी वोली का पुट न मिले, तव जाके मेरा जी फूल कली के रूप मे खिले ।" वह चाहते थे कि उसमे हिन्दीपन भी न निकले और भापापन भी न हो ।" इशा के सामने उर्दू तथा सस्कृत मिश्रित हिन्दी दोनो के नमूने थे, पर वह न तो अपनी भाषा को उर्दू-फारसी मिश्रित बनाना चाहते थे और न सस्कृत मिश्रित । वह उसे गवारु या प्रान्तीय भी न होने देना चाहते थे । अत उन्होंने अपनी भाषा को एक नए पथ पर चलाया । एक नमूना देखिये—'कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनो राज की नदियो मे थे, पक्के चाँदी के थक्के से होकर लोगो को हक्का-वक्का कर रहे थे । और जितनी ढबकी नावें थी, सुनहरी, सजी-सजाई कसी-कसाई और सौ-सौ लचकें खातियाँ आतियाँ जातियाँ ठहरातियाँ फिरातियाँ थी । उन सभी पर खचाखच कचनियाँ रामजनियाँ, डोमनियाँ भरी हुई अपने-अपने करतवो मे नाचती, गाती, बजाती, कूदती, फादती, धूमे मचातियाँ, अगडातियाँ, जम्हातियाँ, उगलियाँ, नचातिया और ढुली पडतियाँ थी ।"

इस उद्धरण से उनकी भाशा की कतिपय विशिष्टताए स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। उनकी भाषा-शैली मे चटक-मटक है, गढत शब्दो का बाहुल्य है । शब्दावली केवल ठेठ और तद्भव शब्दों से बनी है। ब्रज, अवधी, और बुन्देली आदि प्रादेशिक भाषाओ के शब्दो का प्रयोग नही किया गया है। सस्कृत की तत्सम शब्दावली का भी यहाँ वहिष्कार किया गया है। अरबी-फारसी के विद्वान्, उर्दू के कवि, शाह आलम के दरबारी होने पर भी उन्होने अरवी-फारसी के शब्दो को स्थान नही दिया है, केवल शैली मे ही उर्दू की चपलता है या कही-कही उर्दू मुहावरो का प्रयोग किया गया है। गद्य मे भी पद्य की तरह तुक मिलाने की प्रवृत्ति ने गद्य को वेतरह घेर रखा है। इस भाषा मे कही-कही फारसी का सा वाक्य विन्यास भी मिलता है जैसे "सिर झुकाकर नाक रगडता हू उस अपने बनाने वाले के सामने ।" यहाँ क्रिया कर्ता के वाद तथा कर्म के पूर्व रखी गयी है। आधुनिक हिंदी और उर्दू मे कृदन्त-क्रियाओ और विशेषणो का प्रयोग होता है, पर उनमें वाचक सूचक चिन्ह नही होते, परन्तु पुरानी उर्दू मे इन वाचक सूचक चिन्हो का प्रयोग होता था। इशा ने भी ऐसे प्रयोग किये हैं। उनके कृदन्तो, विशेषणो तथा विशेष्यो मे लिंग और वचन का साम्य है जैसे 'आतियाँ जातियाँ जो सासे हैं, पसलियाँ वहलातियाँ हैं आदि ।'

स्वान्त सुखाय गद्य लिखने वाले दूसरे लेखक थे मुशी सदासुखलाल (सन् १८२४ ई०)। इन्होने 'विष्णु पुराण' के आधार पर एक अपूर्ण ग्रन्थ तथा 'सुखसागर', जिसका आधार 'श्रीमद्भागवत' था लिखे। ये भगवद्भक्त तथा धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। अत इनकी भाषा मे सस्कृत के तत्सम शब्द है तथा शैली पडिताऊपन लिए कथा-वाचको सी है, वाक्य-योजना भी विशृखल है। मुन्शी जी की प्राप्य रचनाओ मे 'सुरासुर निर्णय' नामक निबन्ध का भी विशिष्ट स्थान है । इसका काल

रहा था तभी भारतेन्दु का उदय हुआ। उनकी वृत्ति समन्वयवादी थी अत उन्होंने दोनों प्रतिवादी शैलियों में सामंजस्य स्थापित किया। उन्होंने विषयानुकूल भाषा अपनाने का सुझाव दिया। उनके समय में हिन्दी के सामने दो समस्याएं थी—निर्माण की तथा भाषा-परिष्कार की। उन्होंने अपने सक्रिय प्रयोगों से हिन्दी भाषा की एक रूप रेखा स्थिर की। भावावेशपूर्ण चलती हुई बातों के लिए उन्होंने छोटे छोटे वाक्यों वाली सरल शब्दावली की शैली अपनायी और तथ्य-निरूपण के लिए बड़े-बड़े वाक्यों म गुम्फित कठिन तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया। उनकी भाषा एक ओर प्रान्तीय भाषा के शब्दों से रहित और पण्डिताऊपन से दूर है तो दूसरी ओर उन्हें अरबी फारसी संस्कृत के शब्दों से बोझिल भाषा भी रुचिकर नहीं। उनकी कुशाग्र बुद्धि ने समय की नब्ज पहचानी और अनुभव किया कि अकेले सैनिक बनने से काम न चलेगा सेनापति का उत्तरदायित्व भी निभाना होगा। अत एक मण्डल तैयार किया जो भारतेन्दु मण्डल' कहलाया। इस मण्डल के साहित्य रचना मे तीन व्यक्तियो में प्रमुख थे—लाला श्रीनिवासदास प्रतापनारायण मिश्र बालकृष्ण भट्ट अम्बिकादत्त व्यास बालमुकुन्द गुप्त और प्रेमघन। यह मण्डल हरिश्चन्द्र की भाषा को आदर्श मानता था और उसे हरिश्चन्द्री हिन्दी कहता था तथापि विषय और व्यक्तिगत रुचि की भिन्नता के फलस्वरूप इनका पथ भी भिन्न-भिन्न है।

भारतेन्दु युग सुधार का युग था। सुधार के लिए हास्य व्यंग्य का अस्त्र जितना प्रभाव शाली होता है उतना अन्य कोई नहीं। अत भारतेन्दु मंडल के अनेक लेखकों ने उसका आश्रय लिया। पण्डित प्रताप नारायण मिश्र स्वयं बड़े विनोदी स्वभाव के व्यक्ति थे और उनके साहित्य पर उनके स्वभाव की पूरी-पूरी छाप भी है। वे अपनी भाषा को पूर्वी प्रयोगों द्वारा और भी हास्यमय बना देते थे। कहावतों और मुहावरों से यह और भी सजीव बन गयी है।

पण्डित बालकृष्ण भट्ट में भी हास्य-विनोद का पुट है पर उनमे पाण्डित्य की मात्रा कुछ अधिक है। संस्कृत गर्भित पदावली के साथ उर्दू-फारसी के शब्द हिन्दी उर्दू के शब्दों को एक साथ रखना, एक-एक शब्द के लिए तीन-तीन शब्द रखना उनकी भाषा शैली की विशेषता है। मौ लो। आप क्या है बला है करिश्मा है तिलिस्मा है—पिनामिना है। मुहावरो का प्रयोग और तुकबन्दी भी जब तब मिल जाती है जानता नहीं मेला है झमेला है तमाशबीनों की भीड़ का रेला है। अंग्रेजी के शब्दो जैसे Education National Vagour Strength पूरे वाक्य Breakers of home cannot be the maker of nations भी उनकी भाषा में मिलते हैं। ग्रामीण प्रयोगो 'अगुम्पय-गुम्पय' आदि से भी उनकी भाषा मुक्त नहीं है। इस युग के सभी लेखको की कृतियों में उनके हृदय का उल्लास स्वभाव की जिन्दादिली सजीवता और मुक्त निर्जीवता मिलता है।

तात्पर्य यह कि भारतेन्दु ने अपनी बनी हुई परिष्कृत भाषा का प्रतिमान प्रस्तुत कर यदि तत्कालीन भाषा के स्वरूप का प्रश्न सुलझाया तो दूसरी ओर हरिश्चन्द्र चन्द्रिका आदि पत्रिकाओं द्वारा लेखकों को विविध साहित्य लिखने की प्रेरणा दी।

वाक्य रचना की छाप है। इन सबसे ऐसा लगता है कि उनके सामने भाषा का कोई आदर्श न था, तथापि भाषा की प्रौढता की दृष्टि से वे समकालीन लेखको मे सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। उनकी भाषा गठीली है, उसमे लल्लूलाल की भाषा का लचरपन नही, शब्दो की तोड-मरोड नही, शब्दो का जाल नही, लम्बे-लम्बे समास नही, तुक तथा अनुप्रास का बाहुल्य नही।

साराश यह है कि इन प्रारंभिक गद्य-लेखको मे सदासुखलाल की भाषा अधिक टकसाली, सस्कृत मिश्रित, साधु भाषा है। इशा की भाषा मे घरेलूपन तुकबन्दी तथा उछलकूद है, लल्लूलाल की भाषा मे ब्रजभाषापन अधिक है और सदल मिश्र की भाषा मे उर्दू का प्रभाव तथा पूर्वी प्रयोगो का बाहुल्य। फिर भी सदल मिश्र की भाषा ही अधिक व्यावहारिक, परिमार्जित और सुसस्कृत थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्द इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय हैं, "इनकी भाषा मे भावी खडी बोली का मार्जित रूप स्पष्ट हुआ। आगे चलकर साहित्य मे जो भाषा गृहीत हुई, उसका गठन बहुत कुछ सदल मिश्र की भाषा पर हुआ है।"

इन लेखको के पश्चात् हिन्दी गद्य के क्षेत्र मे जो कुछ कार्य हुआ वह पादरियो द्वारा, धर्म सुधारको द्वारा या शिक्षा सस्थाओ द्वारा। सन् १८२४ मे कालेज और स्कूलो के पाठ्यक्रम मे हिन्दी को स्थान मिला आगरा कालेज मे हिन्दी पढाने की विशेष व्यवस्था की गयी। १८३३ ई० मे 'आगरा बुक सोसाइटी' की स्थापना हुई जिसके तत्त्वावधान मे इतिहास आदि की कई मौलिक पुस्तकें प्रकाशित हुई तथा पाठ्य-ग्रथ भी लिखे गये।

सन् ५७ की क्रान्ति से पहले भी शिक्षा के प्रयत्न शुरू हो गये थे। मैकॉले अग्रेजी शिक्षा चाहता था पर अधिकारियो को विश्वास हो गया था कि बिना लोकभाषा की शिक्षा दिये काम नही चल सकता। अत उन्होने उस ओर भी ध्यान दिया। सवत् १९११ में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के शिक्षा-विभाग के इन्सपैक्टर नियुक्त होने पर, उनके सतत प्रयत्नो से हिन्दी तथा देवनागरी लिपि को शिक्षा-विधान मे स्थान तो प्राप्त हुआ, पर या तो हिन्दी की रक्षा की भावना से अथवा समय की गति को अच्छी तरह परखने के कारण उन्होने उसका 'आमफहम' तथा 'खास पसन्द' रूप ही अधिक अपनाया। वह हिन्दी को अदालती भाषा उर्दू के अधिक निकट लाना चाहते थे, "I think it is better to help the people in increasing their familiarity with the court-language" ऐसी ही भाषा मे उन्होने 'इतिहास तिमिर नाशक', 'वीरसिह वृत्तान्त', 'राजा भोज का सपना' आदि पुस्तकें लिखी। इस भाषा मे उनका झुकाव उर्दू-फारसी की ओर अधिक था। दूसरी ओर उन्ही के समकालीन राजा लक्ष्मणसिह विशुद्ध हिन्दी के पृष्ठपोषक थे और सस्कृतगर्भित भाषा का प्रयोग करते थे। उन्होने भाषा का आदर्श प्रस्तुत करते हुए 'शकुन्तला' नाटक लिखा।

भारतेन्दु-युग

हिन्दी भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध मे जब इन राजाद्वय मे परस्पर विरोध चल

रहा था तभी भारतेन्दु का उदय हुआ। उनकी वृत्ति समन्वयवादी थी अत उन्होंने दोनों प्रतिवादी शैलियों में सामंजस्य स्थापित किया। उन्होंने विषयानुकूल भाषा अपनाने का सुझाव दिया। उनके समय में हिन्दी के सामने दो समस्याए थी— निर्माण की तथा भाषा-परिष्कार की। उन्होंने अपने सफल प्रयोगों से हिन्दी भाषा की एक रूप रेखा स्थिर की। भावावेशपूर्ण चलती हुई बातों के लिए उन्होंने छोटे छोटे वाक्यों वाली सरस हृदयग्राही शैली अपनायी और तथ्य-निरूपण के लिए बड़े-बड़े वाक्यों में गुम्फित कठिन तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया। उनकी भाषा एक ओर प्रान्तीय भाषा के शब्दों से रहित और पण्डिताऊपन से दूर है तो दूसरी ओर उन्हें अरबी फारसी संस्कृत के शब्दों से बोझिल भाषा भी रुचिकर नहीं। उनकी कुशाग्र बुद्धि ने समय की नब्ज पहचानी और अनुभव किया कि अकेले सैनिक बनने से काम न चलेगा सेनापति का उत्तरदायित्व भी निभाना होगा। अत. एक मण्डल तैयार किया जो 'भारतेन्दु मण्डल' कहलाया। इस मण्डल के साहित्य रचना मे तीन व्यक्तियों म प्रमुख थे—लाला श्रीनिवासदास प्रतापनारायण मिश्र बालकृष्ण भट्ट अम्बिकादत्त व्यास बालमुकुन्द गुप्त और 'प्रेमघन'। यह मण्डल हरिश्चन्द्र की भाषा को आदर्श मानता था और उसे हरिश्चन्द्री हिन्दी कहता था तथापि विषय और व्यक्तिगत रुचि की भिन्नता के फलस्वरूप इनका गद्य भी भिन्न-भिन्न है।

भारतेन्दु युग सुधार का युग था। सुधार के लिए हास्य व्यंग्य का अस्त्र जितना प्रभाव शाली होता है उतना अन्य कोई नहीं। अत भारतेन्दु मडल के अनेक लेखकों ने उसका आश्रय लिया। पण्डित प्रताप नारायण मिश्र स्वयं बड़े विनोदी स्वभाव के व्यक्ति थे और उनके साहित्य पर उनके स्वभाव की पूरी-पूरी छाप भी है। वे अपनी भाषा को पूर्वी प्रयोगो द्वारा और भी हास्यमय बना देते थे। कहावतो और मुहावरों से वह और भी सजीव बन गयी है।

पण्डित बालकृष्ण भट्ट मे भी हास्य विनोद का पुट है पर उनमे पाण्डित्य की मात्रा कुछ अधिक है। संस्कृत गर्भित पदावली के साथ उर्दू-फारसी के शब्द हिन्दी उर्दू के शब्दों को एक साथ रखना एक-एक शब्द के लिए तीन-तीन शब्द रखना उनकी भाषा शैली की विशेषता है। श्री को। आप क्या हैं बला है करिश्मा है तिलिस्मा है—फिमामिना है। मुहावरो का प्रयोग और तुकबन्दी भी यत्र तत्र मिल जाती है जानता नहीं मेला है झमेला है, तमाशबीनों की भीड का रेला है। अंग्रेजी के शब्दो जैसे Education National' Vagour Strength पूरे वाक्य Breakers of home cannot be the maker of nations भी उनकी भाषा में मिलते हैं। ग्रामीण प्रयोगो समुम्भय-बुम्भय' आदि से भी उनकी भाषा मुक्त नहीं है। इस युग के सभी लेखको की कृतियो मे उनके हृदय का उल्लास स्वभाव की स्वाभाविक सजीवता और सुलभ निर्जीवन मिलता है।

साराश यह कि भारतेन्दु ने अपनी मजी हुई परिष्कृत भाषा का प्रतिमान प्रस्तुत कर यदि एक ओर भाषा के स्वरूप का प्रश्न सुलझाया तो दूसरी ओर हरिश्चन्द्र चन्द्रिका आदि पत्रिकाओ द्वारा लेखको को विविध साहित्य लिखने की प्रेरणा दी।

भारतेन्दु-मण्डल की स्थापना तथा उसके सदस्यो के कृतित्व ने हिन्दी साहित्य के विभिन्न अगो—नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि को समृद्ध किया। भारतेन्दु-युग ने हिन्दी के प्रचार और प्रसार के क्षेत्र मे भी कुछ कम काम नही किया। उनके लेखो और भाषणो, गौरीदत्त तथा अयोध्याप्रसाद खत्री के हिन्दी का झडा लेकर घूमने, देवकीनन्दन खत्री तथा किशोरीलाल के उपन्यासो से हिन्दी का खूब प्रचार हुआ। हिन्दी पत्र पत्रिकाओ—'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका,' 'हिन्दी प्रदीप,' 'आनन्द कादम्बिनी इत्यादि ने भी इस कार्य को आगे बढाया। गुलाबराय जी ने इस युग का मूल्याकन करते हुए लिखा है, "सक्षेप मे उन्नीसवी सदी गद्य-निर्माण का समय था। उसमे गद्य का विकास और विस्तार हुआ। भाषा मे व्याकरण की व्यवस्था लाना और काट-छाँट का काम आगे द्विवेदी-युग मे हुआ। द्विवेदी-युग मे विषय का विस्तार बढा और उनमे अपेक्षाकृत अधिक गहराई भी आई, किन्तु निबन्धो की पृष्ठभूमि मे रहने वाले निजीपन, हृदयोल्लास और चलतेपन के लिए हरिश्चन्द्र-युग चिरस्मरणीय रहेगा।"

द्विवेदी-युग

भारतेन्दु-काल मे हिन्दी का प्रचार और प्रसार तो हुआ, साहित्य के विविध अग भी सम्पन्न बने, परन्तु गद्य अभी अपरिमार्जित और अशुद्ध ही था। इस कमी की ओर सर्वप्रथम महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की दृष्टि गयी। भारतेन्दु-युग की बाढ को स्थिर गति देने का काम उन्होने किया। भाषा-सम्बन्धी जितना भी लचरपन, व्याकरण के जितने भी शिथिल प्रयोग उनके सामने आते थे, उन्हे वह शुद्ध करते थे, अशुद्ध लिखने वालो की भर्त्सना कर उन्हे शुद्ध लिखने के लिए प्रेरित करते थे,स्वय लेख लिख कर शुद्ध खडी बोली गद्य का उदाहरण उपस्थित करते थे। जहाँ एक ओर वह नवीन लेखको और कवियो को प्रोत्साहन देकर निर्माण-कार्य मे लगाते थे, वहाँ दूसरी ओर उनको रचनागत समस्त दोषों से बचाने के लिए कठोर नियन्त्रण और अनुशासन मे भी रखते थे।

भाषा परिष्कार के लिए उनके सामने तीन समस्याए थी—अराजकता दूर करने की, व्याकरण की तथा शब्द-भडार की। सस्कृत, बगला, मराठी, उर्दू और अग्रेजी पढे लिखे लेखक हिन्दी लिखते समय अपने लेखो मे इन भाषाओ के शब्द ले आते थे, अत कही बगला, कही उर्दू तथा कहीं मराठी, अग्रेजी के शब्द उनकी कृतियो में छिटके मिलते थे। स्वय हिन्दी के कई रूप थे—पूर्वी बोली, ब्रज, अवधी, बुन्देल-खडी आदि और इन सभी बोलियो के शब्द भी निस्सकोच प्रयुक्त होते थे। इससे अराजकता उत्पन्न हो गयी थी। द्विवेदी जी ने इसे दूर किया। दूसरी समस्या व्याकरण की थी। नये लेखक अपने उत्साह मे या अल्पज्ञान के कारण व्याकरण के नियमो का ध्यान नहीं रखते थे। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा इस समस्या को दूर किया। उन्होने विराम-चिन्हो, पैराग्राफो की ओर भी लेखको का ध्यान आकृष्ट किया। तीसरी समस्या थी अपर्याप्त शब्द-भडार की। हिन्दी का शब्द-भडार उस समय इतना न्यून था कि उसमे सभी भावो की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। इसी कमी के कारण लेखको को कभी-कभी ग्रामीण शब्दो का अवलम्बन ग्रहण करना पडता था जिससे भाषा मे गवारूपन झलकने लगता था। द्विवेदी जी का ध्यान इस ओर भी गया। उन्होने शब्दो के तीन वर्ग किये—प्रान्तज, क्षणभगुर तथा व्यापक। व्यापक के

अंतर्गत उन्होंने वे सब शब्द लिये जो हिन्दी-प्रदेश में सर्वत्र समझे जा सकें और उन्होंने इन्हीं शब्दों के प्रयोग के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया। शब्द-भंडार को सम्पन्न बनाने के लिए उन्होंने अंग्रेजी बंगला मराठी आदि भाषाओं का सहभाग लिया।

हिन्दी साहित्य को सम्पन्न बनाने के लिए विभिन्न साहित्यों से जहाँ भी कोई विशेष बात उन्हें मिलती उसी को वह हिन्दी माध्यम से लिखकर पाठकों को देते। विज्ञान समाज-शास्त्र मनोविज्ञान व्यापार आदि से सम्बन्धित लेखों के लिए वह अंग्रेजी शब्दों का हिन्दी में रूपान्तर करते या नए शब्द अंग्रेजी शब्दों या वाक्यों के आधार पर गढ़ते। बंगला संस्कृत मराठी से भी उन्होंने शब्द ग्रहण कर हिन्दी के शब्द भण्डार को सम्पन्न बनाया। उर्दू अरबी फारसी के अनेक शब्द भी हिन्दी मे लिये क्योंकि बहुत से लेखक उर्दू से हिन्दी मे आये थे।

शैली की दृष्टि से हिन्दी की गद्य-शैली के दो पक्ष किये जा सकते हैं—जातीय शैली और व्यक्तिगत शैली। जातीय शैली से हमारा अभिप्राय उस शैली से है जिसमे अन्य साहित्यो की केवल उन्ही शैलीगत विशेषताओ को अपनाया गया जो हिन्दी की मूल प्रकृति से मेल खाती थी। ग्रहण और त्याग की नीति से जो शैली निर्मित हुई उसमें अंग्रेजी साहित्य की स्पष्ट भाव-व्यंजकता बंगला की सरलता और मधुरता अपनी प्रकृति से मेल न खाने के कारण उर्दू की अत्यधिक चलता-पुर्जा गम्भीरता और अतिशयोक्ति मराठी की अलंकारिकता बंगला की अत्यधिक रसात्मकता और संस्कृत की अनुप्रास-यमक प्रियता और अद्भुत शब्द-जाल को बिल्कुल नहीं अपनाया। यह जातीय शैली भारतेन्दु-काल तक निर्मित नहीं हो पाई थी। परन्तु व्यक्तिगत शैली का आरम्भ बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र तथा बालमुकुन्द गुप्त के शिव शम्भु का चिट्ठा द्वारा हो चुका था। बाद मे द्विवेदी-युग मे जो लेखको की रुचि संस्कार अध्ययन विश्लेषण प्रवृत्ति आदि के कारण व्यक्तिगत शैली के अनेक रूप मिलते हैं। वस्तुत व्यक्तिगत शैली लेखक की वृत्ति पर आधारित होती है अत वह किसी एक युग की बपौती न होकर हर युग मे पाई जायेगी। द्विवेदी-युग मे यदि द्विवेदी जी की शैली घरेलू और चित्ताकर्षक थी श्यामसुन्दरदास की शैली मे भावागत विशेषताएं थी चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की शैली मे बातचीत की मुग्धकारी विशेषताएं थी चण्डीप्रसाद हृदयेश की शैली कहीं सूक्ममयी और कहीं समासमयी होती थी। छायावाद-युग मे भी पन्त महादेवी और प्रसाद की गद्य-शैली में व्यक्तिगत विशेषताएं मिलती हैं और आज भी डॉ नगेन्द्र आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और 'अज्ञेय' की शैली एक-दूसरे से भिन्न है।

आधुनिक काल

द्विवेदी-युग मे द्विवेदी जी के बाद हिन्दी गद्य का विकास करने वालों मे श्री श्यामसुन्दरदास का नाम उल्लेखनीय है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग काशी विश्वविद्यालय के माध्यम से उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों की खोज कराई न्यायालय मे नागरी की प्रतिष्ठा कराई गम्भीर चिंतन और प्रौढ़ रचना-प्रणाली का स्वरूप स्थिर किया साहित्यालोचन का कार्य आरम्भ किया और अपने विविध विषयो पर लिखे ग्रन्थों से हिन्दी का गद्य-भण्डार समृद्ध किया।

आलोचना के क्षेत्र मे युगान्तर उपस्थित करने वाले आचार्य शुक्ल हुए। उनसे पूर्व सैद्धान्तिक समीक्षा का कोई विहित स्वरूप नही था, उसका व्यावहारिक पक्ष भी दुर्बल और क्षीण था। लाला भगवानदीन, पं० पद्मसिंह शर्मा आदि द्वारा स्थापित आलोचना-पद्धति मे तथ्यातथ्य निरूपण की उस अन्तःस्पर्शी मार्मिकता का उद्घाटन करने की क्षमता नही थी जिसका अनुसरण कर समीक्षा की विभिन्न प्रणालियो को बल मिलता। शुक्ल जी ने सर्वप्रथम अपनी तुलसी, सूर तथा जायसी की विस्तृत समीक्षाओ द्वारा समीक्षा का शुद्ध रूप प्रस्तुत किया। शुक्ल जी ने कृतिकार की अपेक्षा कृति के गुण-दोष दर्शन पर अधिक ध्यान दिया, कवियो की आन्तरिक प्रवृत्तियो और उनके सम्पूर्ण कविकर्म की सहृदयता पूर्ण व्याख्या की। उन्होने शास्त्रीय चिंतन का महत्त्व समझाया, आलोचक की स्वच्छन्द ढग से मीमासा करने की स्वतन्त्रता पर बल दिया और इस प्रकार समालोचना के क्षेत्र में नये पथ का सूत्रपात किया। निबन्धो के क्षेत्र मे भी उनकी देन स्तुत्य है। निबन्ध को गम्भीर स्तर पर ले जाने, भाषा मे कसावट लाने, मनोवैज्ञानिक निबध लिखने का श्रेय उन्ही को है।

हिन्दी की गद्य-रचना के क्षेत्र मे जयशकर प्रसाद और प्रेमचन्द के आगमन से साहित्य और भी सम्पन्न हुआ। प्रसाद की प्रतिभा से पोषित कल्पना और भावुकता-पूर्ण और प्रेमचन्द की युग धर्म से अनुप्राणित लेखनी ने गद्य की धारा को गतिशील और पीनकाय बनाया। प्रसाद ने यदि अपने काव्यत्व से, तो प्रेमचन्द ने व्यावहारिक जीवन की यथार्थवादिता से जीवन के चित्र प्रस्तुत किये। प्रसाद के नाटक, उपन्यास और कहानियाँ—सभी काव्यत्व, भावुकता और इन्द्रधनुषी आलोक से दीप्तिमान हैं, तो प्रेमचन्द के उपन्यासो और कहानियो मे मध्यान्ह के सूर्य की प्रखर किरणें दमकती हैं। साराश यह कि दोनो ने अपने निबन्धो, नाटको, कहानियो और उपन्यासो से न केवल हिन्दी गद्य-साहित्य के भण्डार को ही समृद्ध बनाया, अपितु भाषा-शैली को भी नई भगिमा प्रदान की।

प्रेमचन्द ने सरल, पर सशक्त गद्य का स्वरूप उपस्थित किया,तो प्रसाद जी ने काव्यमय गद्य का।

आधुनिक कवियो मे से अधिकाश आलोचक भी हैं। पत, प्रसाद, निराला, महादेवी, अज्ञेय, बच्चन सभी ने अपने काव्य-सिद्धान्तो या कला-सम्बन्धी विचारो को स्पष्ट करने के लिए विस्तृत भूमिकाएँ अथवा स्वतन्त्र लेख लिखे हैं। इन लेखो ने जहाँ एक ओर आलोचना को समृद्ध, सूक्ष्म एव प्रौढ़ बनाया है, वहाँ हिन्दी गद्य की शैली को भी विकसित किया है।

उपन्यास और कहानी के क्षेत्र मे भी मनोवैज्ञानिक और आचलिक उपन्यासो के कारण भाषा तथा शैली दोनो मे महान परिवर्तन हुआ है। अब विवरणात्मक शैली के स्थान पर साकेतिक शैली का प्रयोग अधिक होता है। भाषा का शब्द-भण्डार तो समृद्ध हुआ ही है, उसमे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावो तथा गहन से गहन विचारो को प्रकट करने की भी अभूतपूर्व क्षमता आ गई है।

इस प्रकार आज हिन्दी का गद्य-साहित्य सभी दृष्टियो से सम्पन्न है। विषय-विस्तार तथा भाषा की विविध भगिमाओ दोनो की दृष्टि से यह हिन्दी साहित्य की चरमोन्नति एव उत्कर्ष का काल है।

७४

नाटक का स्वरूप विवेचन

१ नाटक का मानव-जीवन में महत्त्व
२ 'नाटक' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत
३ नाटक के प्रमुख लक्षण
४ नाटक के तत्त्व—(अ) भारतीय आचार्यों की दृष्टि से नाटक के तत्त्व—
(क) वस्तु (ख) पात्र (ग) रस (घ) अभिनय (ङ) वृत्तियाँ (आ) पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि से नाटक के तत्त्व—(क) कथावस्तु (ख) पात्र और चरित्र-चित्रण (ग) कथोपकथन (घ) देश काल (ङ) उद्देश्य (च) शैली, (इ) भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों के दृष्टिकोणों में समन्वय
५ प्राचीन एवं नवीन नाटकों में अन्तर
६ उपसंहार

नाटक का मानव-जीवन में महत्त्व

यदि संस्कृत की उक्ति 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' को परिपुष्ट स्वीकार कर लिया जाय तो देखना यह है कि नाटक की यह रम्यता अथवा उत्कर्ष किस बात में है काव्य की विभिन्न विधाओं की अपेक्षा नाटक ही क्यों श्रेष्ठतम माना गया है ? वस्तुतः इसकी सर्वातिशयता उसकी प्रभाव-क्षमता में अन्तर्निहित है। नाटक साहित्य की ऐसी विधा है जो मानव-मस्तिष्क पर प्रभाव डालने में सर्वाधिक समर्थ है। दृश्य-काव्य होने के कारण नाटक को समझने तथा उससे प्रभाव ग्रहण करने के लिए मानव को बहुत ही कम मानसिक प्रयास करना पड़ता है। पद्मनाभ शर्मा ने साहित्य के विभिन्न अङ्गों की अपेक्षा नाटक का उत्कर्ष प्रदर्शित करते हुए लिखा है— "नाटक की प्रभावोत्पादक शक्ति वाङ्मय के अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक स्थायी गहरी और व्यापक होती है क्योंकि उसमें हम वास्तविकता का अनुभव करते हैं। श्रव्य-काव्य में शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किये जाते हैं परन्तु दृश्य-काव्य में हमें कल्पना पर इतना बल नहीं देना पड़ता जहाँ कल्पना की कमी रहे शब्दों की भाव भंगी पूरी कर देती है। श्रव्य काव्य में अमूर्त का विधान होता है और दृश्य-काव्य में मूर्त का। साधारण बुद्धि के लिए मूर्त और प्रत्यक्ष जितना बोधगम्य होता है उतना अमूर्त नहीं। इसलिए नाटक साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा साधारण जनता के अधिक नजदीक होने के कारण उसकी अपनी चीज है। शास्त्रों और कलाओं की दृष्टि से भी नाटक का महत्त्व समस्त काव्यांगों से अधिक है।"

इतना ही नहीं, नाटक का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उसमें मानव-जगत् के समस्त व्यापार समाहित हो जाते हैं। नाट्यशास्त्र मे स्पष्ट कहा गया है—

"न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र न दृश्यते ।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ।"

अर्थात्, योग, कर्म, सभी शास्त्र, शिल्प तथा ससार के विविध कार्यों में से एक भी ऐसा नही है, जो नाटक में न पाया जाय ।

समग्र वस्तु-जगत् का मूर्त्त साधनो द्वारा अभिनय नाटक की वहुत वडी विशेषता है, इसीलिए वह सहृदय के हृदय पर सद्य एव चिरस्थायी प्रभाव डाल जाता है। लोक-मगल तथा लोक-रजन दोनो ही दृष्टियो से सम्पूर्ण वाङ्मय मे नाटक का अप्रतिम स्थान है।

'नाटक' शब्द की निष्पत्ति के विषय में विभिन्न मत

नाट्य-कला का विशद विवेचन करने वाला भारतीय साहित्य मे सर्वप्रथम ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। इसमे भरत ने 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति नट्' धातु से मानी है। रामचन्द्र गुणचन्द ने अपने ग्रन्थ 'नाट्य दर्पण' मे 'नाट्य' की निष्पत्ति के मूल मे 'नाट्य' धातु को स्वीकार किया है। वेवर तथा मोनियर विलियम्स का विचार है कि 'नट्', नाट्' आदि धातुएँ 'नृत्' (नाचना) धातु की विकारी-रूप हैं, किन्तु इन पाश्चात्य विद्वानो का यह विचार समीचीन प्रतीत नही होता। यदि 'नट्', नाट्' आदि धातुएँ 'नृत्' धातु से विकृत होकर लौकिक सस्कृत मे आई हुई होती तो इन्हे भारतीय वा[illegible] के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद मे नही होना चाहिए था, किन्तु वात ऐसी [illegible] 'नट्' तथा 'नृत् इन दोनो धातुओ का प्रयोग मिलता है। [illegible] नृत्य तथा नाट्य मे अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है [illegible] । है, नृत्य भाव पर और नाट्य रस पर आधारित होता [illegible] नय से [illegible] पति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि नृ [illegible] है— [illegible] मे ही ताल लय और भाव का आश्र [illegible] नाट्[illegible] टक मे अनुकरण व अभिनय [illegible] आ है, किन्तु नाटक नृत्य का [illegible] न करता है।

[illegible] (Drama) है। आइवर [illegible] विशेष से स्थापित किया [illegible] है। इसी को हम चाहे तो [illegible] नाटको मे कार्य को [illegible] अभिनय' अथवा 'रस' का

[illegible] स्तार से प्रकाश डाला [illegible] हुए लिखा है कि जिसमे

स्वभाव से ही लोक का सुख-दुःख समन्वित होता है तथा अंगों आदि के द्वारा अभिनय किया जाता है उसी को 'नाटक' कहते हैं— "योऽयं स्वभावो लोकस्य सुख दुःख समन्वित । सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ।" आचार्य अभिनवगुप्त ने नाटक की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा— प्रत्यक्षकल्पानुव्यवसायविषयो लोकप्रसिद्ध सत्यासत्यविलक्षणत्वात् अभ्रान्तशब्दवाच्यो लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्वणात्मकोऽर्थो नाट्यम् । अर्थात् नाटक वह दृश्य काव्य है जो प्रत्यक्ष कल्पना एवम् अध्यवसाय का विषय बनकर सत्य एवम् असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धि प्रदान करता है । महिम भट्ट की मान्यता है कि जब अनुभाव-विभावादि के वर्णन से रसानुभूति होती है तो उसे काव्य कहते हैं और जब काव्य को गीतादि से रंजित करके अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तो वह नाटक का रूप धारण कर लेता है । रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाटक के वृत्त को रामचरित पर आधारित होना आवश्यक माना है और कहा है कि नाटक धर्म अर्थ तथा काम का प्रदाता होता है । उन्होंने इसे अंकों में विभक्त होना अपरिहार्य बताया है । उनके अनुसार इसे पंच अर्थ प्रकृतियों तथा पंच अवस्थाओं से समन्वित होना भी आवश्यक है । साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने नाटक के लक्षणों पर विशद प्रकाश डालते हुए लिखा है—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसंधिसमन्वितम् ।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभि ॥
सुखदुःख समुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्का परिकीर्तित ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्त प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मत ॥
एक एव भवेदंगी शृ गारो वीर एव वा ।
अंगमन्ये रसा सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुत ॥
चत्वार पञ्च वा मुख्या कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्र तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥

अर्थात् नाटक का वृत्त (कथा) ख्यात होना चाहिए । जो कथा केवल कवि-कल्पित है इतिहास सिद्ध नहीं वह नाटक नहीं हो सकती । नाटक में विलास समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना चाहिए । सुख और दुःख की उत्पत्ति दिखाई जाय और अनेक रसों से उसे पूर्ण होना चाहिए । इसमे पाँच से लेकर दस तक अंक होने हैं । पुराणादि प्रसिद्ध वंश मे उत्पन्न धीरोदात्त प्रतापी गुणवान् कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष नाटक का नायक होता है । (यहाँ धीरोदात्त' पद धीरोद्धत धीरललितादि का भी उपलक्षण है ।) शृंगार या वीर इनमें से कोई एक रस यहाँ प्रधान रहता है—अन्य सब रस अंगभूत रहते हैं । इसे निर्वहण सन्धि मे अत्यन्त अद्भुत बनना चाहिए । इसमे चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्य के साधन मे व्यापृत रहने चाहिए और गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान इसकी रचना होनी चाहिए ।

इतना ही नही, नाटक का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उसमें मानव-जगत् के समस्त व्यापार समाहित हो जाते हैं। नाट्यशास्त्र मे स्पष्ट कहा गया है—

"न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र न दृश्यते ।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ।"

अर्थात्, योग, कर्म, सभी शास्त्र, शिल्प तथा ससार के विविध कार्यों में से एक भी ऐसा नही है, जो नाटक मे न पाया जाय ।

समग्र वस्तु-जगत् का मूर्त्त साधनो द्वारा अभिनय नाटक की बहुत बडी विशेषता है, इसीलिए वह सहृदय के हृदय पर सद्य एव चिरस्थायी प्रभाव डाल जाता है। लोक-मगल तथा लोक-रजन दोनो ही दृष्टियो से सम्पूर्ण वाङ्मय मे नाटक का अप्रतिम स्थान है ।

'नाटक' शब्द की निष्पत्ति के विषय में विभिन्न मत

नाट्य-कला का विशद विवेचन करने वाला भारतीय साहित्य मे सर्वप्रथम ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। इसमे भरत ने 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति नट्' धातु से मानी है। रामचन्द्र गुणचन्द ने अपने ग्रन्थ 'नाट्य दर्पण' में 'नाट्य' की निष्पत्ति के मूल में 'नाट्य' धातु को स्वीकार किया है। वेबर तथा मोनियर विलियम्स का विचार है कि 'नट्', नाट्' आदि धातुएँ 'नृत्' (नाचना) धातु की विकारी-रूप हैं , किन्तु इन पाश्चात्य विद्वानो का यह विचार समीचीन प्रतीत नहीं होता। यदि 'नट्', नाट्' आदि धातुएँ 'नृत्' धातु से विकृत होकर लौकिक सस्कृत मे आई हुई होती तो इन्हें भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद मे नहीं होना चाहिए था, किन्तु बात ऐसी नही है ऋग्वेद मे 'नट्' तथा 'नृत् इन दोनो धातुओ का प्रयोग मिलता है। धनञ्जय ने 'दशरूपक' मे नृत्त, नृत्य तथा नाट्य मे अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि नृत्त ताल-लय पर निर्भर करता है, नृत्य भाव पर और नाट्य रस पर आधारित होता है। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त धनञ्जय से असहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि नृत्त तथा नृत्य में विशेष अन्तर नही है—इन दोनो मे ही ताल लय और भाव का आश्रय लिया जाता है जबकि नट, नाट, नाट्य और नाटक मे अनुकरण व अभिनय की प्रमुखता होती है। नृत्य, नाट्य का एक अग हो सकता है, किन्तु नाटक नृत्य का नही, स्पष्टत ही 'नाटक' 'नृत्य' से व्यापक अर्थ को सूचित करता है।

अँग्रेजी मे नाटक का पर्यायवाची शब्द 'ड्रामा' (Drama) है । आइवर ब्राउन ने इस शब्द का सम्बन्ध यूनानी भाषा के एक शब्द-विशेष से स्थापित किया है और बताया है कि उस शब्द का अर्थ 'किया हुआ' होता है। इसी को हम चाहे तो 'कार्य' (action) कह सकते हैं। यही कारण है कि पाश्चात्य नाटको मे कार्य को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है, जबकि भारतीय नाटको मे 'अभिनय' अथवा 'रस' का स्थान सर्वोपरि है।

नाटक के प्रमुख लक्षण

सस्कृत के लक्षण-ग्रन्थो मे नाटक के लक्षणो पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। सर्वप्रथम तो भरत मुनि ने ही नाटक का लक्षण देते हुए लिखा है कि जिसमे

(क) वस्तु—नाटक की कहानी को वस्तु, कथावस्तु अथवा कथानक नाम दिया गया है। कथावस्तु दो प्रकार की होती है—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक। जो कथा नाटक मे आदि से अन्त तक चलती रहती है तथा जो नायक से सम्बद्ध होती है, उसे आधिकारिक कथा कहते हैं। प्रासंगिक कथा का सम्बंध गौण पात्रों से होता है इसका कार्य मुख्य कथा के विकास में योग देना तथा उसका सौन्दर्य बढ़ाना करना होता है। 'रामचरित' नाटक मे राम की कथा आधिकारिक तथा बालि सुग्रीवादि की कथा प्रासंगिक है।

प्रासंगिक कथा पुन दो प्रकार की होती है—(१) पताका तथा (२) प्रकरी। जो प्रासंगिक कथा मुख्य कथा के साथ-साथ अन्त तक चलती रहती है उसे पताका तथा जो बीच में ही समाप्त हो जाती है उसे प्रकरी कहते हैं। 'रामचरित' नाटक म सुग्रीव की कथा पताका है और अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के पष्ठ अंक में कंचुकी तथा दासियों का वार्तालाप प्रकरी है। आधार की दृष्टि से कथाएं के तीन भेद किये गये हैं—(१) प्रख्यात (२) उत्पाद्य तथा (३) मिश्र। प्रख्यात का आधार इतिहास पुराण अथवा जनश्रुति होता है। उत्पाद्य नाटककार की कल्पना से प्रादुर्भूत होती है। मिश्र म इतिहास और कल्पना के बीच कलात्मक समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

कार्य व्यापार की दृष्टि से नाटक के कथानक को पाँच अवस्थाओ में विभक्त किया जाता है—(१) आरम्भ—यह कथानक का आरम्भिक भाग होता है जिसमें नायक की इच्छाओ उद्देश्यों अथवा सिद्धान्तों अथवा इन सभी की ओर संकेत किया जाता है। (२) यत्न—इसमे नायक अपनी इच्छाओं उद्देश्यों अथवा सिद्धान्तों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता देखा जाता है।(३) प्राप्त्याशा – यहाँ पर आकर नायक के मार्ग की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और उसके लिए फल प्राप्ति की आशा बँधने लगती है। (४) नियताप्ति—इसमें नायक की फल प्राप्ति निश्चित हो जाती है। (५) फलागम—यहाँ पर नायक को सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है।

वे घटनाएँ जिनके कथानक की एक अवस्था से दूसरी अवस्था के विकास का पता चलता है अर्थ प्रकृतियाँ कहलाती हैं। ये भी संख्या मे पाँच होती हैं—बीज बिन्दु पताका प्रकरी और कार्य। प्रत्येक अवस्था तथा अर्थ-प्रकृति मे मेल कराने का कार्य सन्धियों द्वारा किया गया है। इन सन्धियों की संख्या भी पाँच है—मुख प्रतिमुख गर्भ अवमर्श या विमर्श और निर्वहण या उपसंहार। अर्थ प्रकृतियो अवस्थाओ तथा सन्धियो के पारस्परिक सम्बन्ध को निम्नांकित तालिका द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

अर्थ प्रकृति	अवस्था	सन्धि
१ बीज	आरम्भ	मुख
२ बिन्दु	यत्न	प्रतिमुख
३ पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
४ प्रकरी	नियताप्ति	अवमर्श या विमर्श
५ कार्य	फलागम	निर्वहण

ऊपर की पक्तियो से स्पष्ट है कि विश्वनाथ ने नाटक के लिए ख्यात वृत्त पर अधिक वल दिया है। यहाँ पर एक प्रश्न होता है और वह यह कि नाटक का वृत्त ख्यात ही क्यो होना चाहिए वह सामान्य जन-जीवन से क्यो नही हो लिया जा सकता ? उत्तर वडा ही साफ है। ख्यात वृत्त होने से नाटक देखने वाले सामान्य व्यक्ति भी उसे सरलता से ग्रहण कर सकते हैं। नाटको मे ख्यात वृत्त पर वल दिये जाने का एक और भी कारण हो सकता है, ख्यात वृत्त मे ख्यात पात्र होने से दर्शक पात्रो के साथ वडी जल्दी तादात्म्य स्थापित कर सकता है। एक आधुनिक आलोचक के शब्दो मे, "कल्पित आख्यानो के नये-नये पात्रों के प्रति हमारी भावना का विकास एकाएक उतनी गम्भीरता से नहीं हो सकता जितना कि ख्यात नायको—राम, युधिष्ठिर, अर्जुन, अशोक, प्रताप आदि—से हो सकता है। रसानुभूति में हमारे पूर्व-सस्कार एव प्रारम्भिक धारणाओ का भी गहरा योग होता है। महाराणा प्रताप का नाम सुनते ही जिस उदात्त भावना का सचार हमारे हृदय मे हो जाता है वह किसी कल्पित 'चन्द्रसिंह' या 'भानुप्रताप' के दर्शन से नही होती। कल्पित पात्रो के साथ हमारा तादात्म्य नाटक का कुछ अश देख लेने के अनन्तर आगे चलकर होता है, फलत हमारी अनुभूति मे पूर्ण सघनता आने मे अधिक देर लग जाती है।"

नाटक के तत्त्व

जैसा कि प्रस्तुत निवन्ध मे पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि पाश्चात्य नाटको मे 'कार्य' को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है जवकि भारतीय नाटको मे 'रस' पर मूल दृष्टि रही है। ऐसी स्थिति मे पौरस्त्य एव पाश्चात्य नाटको के तत्त्वो मे कुछ अन्तर होना स्वाभाविक ही है। यहाँ पर भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों द्वारा निरूपित नाटक के तत्त्वो पर पहले पृथक्-पृथक् विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा और अन्त मे दोनो दृष्टिकोणो मे समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जायेगा।

(अ) भारतीय आचार्यों की दृष्टि से नाटक के तत्त्व—भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' मे नाटक की उत्पत्ति के विषय मे लिखा है—"एक वार वैवस्वत मनु के दूसरे युग मे लोग वहुत दु खी हुए। इस पर इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने जाकर ब्रह्मा जी से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिससे सवका रजन हो सके। इस पर ब्रह्मा जी ने चारो वेदो को वुलाया और उनकी सहायता से 'पचम वेद' नाटक की रचना की। इसके लिए उन्होने ऋग्वेद से सवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिया।" भरत मुनि के प्रस्तुत कथन से नाटक की उत्पत्ति पर चाहे प्रकाश पडता हो, चाहे न पडता हो, किन्तु एक वात वडी स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि प्रकारान्तर से भरत ने नाटक के चार प्रमुख तत्त्वो सवाद गान, नाट्य और रस की ओर सकेत कर दिया। भरत के परवर्ती अधिकाश आचार्यों ने वस्तु अभिनेता और रस, नाटक के इन तीन तत्त्वो को ही स्वीकार किया। कुछ आचार्यो ने 'अभिनय' और 'वृत्ति' इन दो तत्त्वो का और समावेश करके नाटक के तत्त्वो की सख्या पाँच तक वढा दी। यहाँ पर इन्हीं पाँच तत्त्वो पर विचार किया जायेगा।

प्राय: ये गुण नहीं मिलते' इसीलिए ब्राह्मण अथवा वैश्य ही धीर-प्रशान्त नायक होता है। मालती-माधव नाटक का माधव ऐसा ही नायक है। (४) धीरोद्धत—यह कुटिल नीतिज्ञ कपटी एवं प्रचण्ड व्यक्तित्व वाला होता है। साथ ही मायावी आत्म-प्रशंसा-परायण धोखेबाज तथा चपल भी होता है। रावण का चरित्र धीरोद्धत नायक की ही कोटि का है। ऐसा नायक दुर्गुणों का भण्डार होता है इसीलिए आचार्य इस प्रकार के व्यक्तियों को नायक की कोटि में नहीं रखते।

शृंगार-प्रधान नाटकों में नायिका को विशेष स्थान प्रदान किया है। नायिका के आठ प्रमुख गुण माने गये हैं—

"जा कामिनि के देखिए पूरन आठौं अंग।
ताहि बखाने नायिका त्रिभुवन मोहन रंग॥
पहिले जोबन रूप गुन सील प्रेम पहिचान।
कुल वैभव भूषण बहुरि आठौं अंग बखान॥"

परिस्थितियों अवस्थाओं तथा भावदशाओं के आधार पर नायिकाओं के अनेक भेद किये गए हैं। सामाजिक स्थिति से नायिकाओं के तीन भेद माने गये हैं—(१) स्वकीया—यह नायक की विवाहिता पत्नी होती है (२) परकीया—यह नायक की पत्नी न होकर किसी अन्य की पत्नी अथवा अविवाहिता भी हो सकती है (३) सामान्या—इसे गणिका तथा वेश्या भी कहते हैं। यह नायिका अत्यन्त निकृष्ट कोटि की समझी जाती है। आयु के आधार पर नायिकाओं के तीन अवान्तर भेद हैं—(१) मुग्धा—इसमें रति भाव की अपेक्षा लज्जा का भाव अधिक होता है (२) मध्या—इसमें रति तथा लज्जा के भाव समान मात्रा में होते हैं (३) प्रौढ़ा—इसमें लज्जा भाव की अपेक्षा रति का भाव अधिक होता है। इनके भी कुछ अनेक उपभेद किये गये हैं। परिस्थितियों के अनुसार भी नायिका के स्वाधीनपतिका वासकसज्जा उत्कण्ठिता अभिसारिका विप्रलब्धा खण्डिता कलहान्तरिता प्रवत्स्यत्पतिका प्रोषित पतिका आगतपतिका आदि बहुत से भेद माने गये हैं।

नायक की सहायता करने वाला प्रमुख पात्र पीठमर्द कहलाता है। यह प्रासंगिक कथा का नायक होता है। नायक का विरोधी प्रतिनायक कहा जाता है। विदूषक का कार्य हास्यजनक स्थिति उत्पन्न करके अथवा अपनी विकृत वेश-भूषा या वाणी द्वारा नायक को प्रसन्न करना होता था। कभी-कभी गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो जाने पर विदूषक नायक की सहायता भी करता था। चेट नायक का अनुचर होता है। विट वाद्य तथा गायन में निपुण और नायक का अन्तरंग सखा होता है। इन पात्रों के अतिरिक्त संस्कृत नाटकों में एक अन्य प्रमुख पात्र होता था जिसे कंचुकी कहते हैं। कंचुकी वृद्ध ब्राह्मण होता था। वह नायक के अन्तःपुर में सबत्र जा सकता था उसे कहीं भी रोक नहीं होती थी। वह लोक-व्यवहार में कुशल तथा सभी शास्त्रों का ज्ञाता होता था।

पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए मुख्यतः तीन साधन अपनाये जाते थे—(१) कथोपकथन द्वारा (२) स्वगत कथन द्वारा तथा (३) क्रिया-कलापों द्वारा।

कथानक के रगमच पर प्रस्तुत करने के लिए उसमे पर्याप्त काँट-छाँट करनी पडती है। उसे यथावत प्रस्तुत करने मे बहुत अधिक समय लग जाने की आशका बनी रहती है, इसीलिए उसके कुछ अशो की केवल सूचना दे दी जाती है। कथानक के इन सूच्य अशो को पारिभाषिक शब्दावली मे 'अर्थोपक्षेपक' के नाम से अभिहित किया गया है। ये भी सख्या मे पाँच है—(१) विष्कम्भक-नाटक के आरम्भ मे अथवा दो अको के बीच मे जब कुछ गौण पात्रो के वार्तालाप के माध्यम से किसी घटना की सूचना दी जाती है तो उसे विष्कम्भक कहते हैं। (२) चूलिका—पर्दे के पीछे से दी जाने वाली सूचना को चूलिका कहा जाता है। (३) अकास्य - अक के अन्त मे जहाँ बाहर जाने वाले पात्रो द्वारा अगले अक की कथा की सूचना दिखाई जाती है, उसे अकास्य कहते हैं। (४) अकावतार जहाँ पर पहले अक के पात्र ही बाहर जाकर फिर लौट आते है, उसे अकावतार कहते हैं। (५) प्रवेशक— निम्न कोटि के पात्रो द्वारा दी जाने वाली सूचना प्रवेशक कही जाती है। प्रवेशक तथा विष्कम्भक मे मुख्य अन्तर यह है कि विष्कम्भक मे जहाँ मध्यम अथवा मध्यम एव निम्न कोटि के पात्र प्रयुक्त होते हैं, वहाँ प्रवेशक मे केवल निम्न कोटि के पात्र प्रयुक्त होते है। दूसरे विष्कम्भक नाटक के आरम्भ मे भी आ सकता है जबकि प्रवेशक किसी भी स्थिति मे नाटक के आरम्भ मे नही आ सकता।

कथावस्तु का इस प्रकार का सूक्ष्म विवेचन भारतीय आचार्यों की विश्लेषण प्रतिभा का परिचायक है। आधुनिक नाटककार अर्थ-प्रकृतियो अवस्थाओ, सन्धियो तथा अर्थोपक्षेपको को अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं और अपने नाटको म इन्हे स्थान नही देते, यदि भूले भटके इनमे से कुछ तत्त्वो का आधान हो जाय तो हो जाय।

(ख) पात्र—सस्कृत के आचार्यों ने नाटक के पात्रो को नायक, नायिका, पीठ मर्द, विदूषक, चेट, विट आदि वर्गों मे विभक्त किया है। नाटक का प्रमुख पात्र नायक कहलाता है। उसे नाटक का नेता भी कहा जाता है। 'नेता' शब्द 'नी' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ 'ले चलना' होता है। नायक कथा को फल की ओर ले जाता है। हमारे यहाँ नायक को सर्वगुण सम्पन्न माना गया है। उसे विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय,पवित्र, वाक्पटु, उच्चकुलोद्भव, युवा, बुद्धि-मान, उत्साही, स्मृतियुक्त, प्रज्ञावान, कलावान आत्म-सम्मानी, शूर, तेजस्वी, दृढ शास्त्रज्ञ और धार्मिक होना चाहिए। आज के नाटको के नायक के लिए ये गुण आव-श्यक नही रह गये हैं। आज तो साधारण से साधारण और बुरा से बुरा व्यक्ति भी नायक हो सकता है।

चारित्रिक दृष्टि से नायक चार प्रकार के माने गये हैं - (१) धीरोदात्त—इसका चरित्र अत्यन्त उदार होता है। इसमे शक्ति, क्षमा, स्थिरता, दृढता, गम्भीरता, आत्मसम्मान, उदारता आदि गुण होने चाहिए। मर्यादापुरुषोत्तम राम इसी प्रकार के नायक हैं। (२)धीर-ललित—यह नायक कोमल स्वभाव का होता है तथा इसमे रसि-कता तथा कला-प्रेम का उन्मेष अधिक पाया जाता है। शृगार प्रधान नाटको का नायक धीर-ललित ही होता है। दुष्यन्त धीर ललित नायक हैं। (३) धीर-प्रशान्त—यह नायक सन्तोषी, शान्तिप्रिय, विनम्र एव शान्त स्वभाव वाला होता है। क्षत्रियो मे

स्वेद रोमांच अश्रु आदि का विधान किया गया है। इस प्रकार का अभिनय सबसे अधिक कठिन होता है किन्तु आजकल फिल्म-जगत् में कृत्रिम साधनों का प्रयोग कर अश्रु आदि दिखा दिए जाते हैं।

(४) वृत्तियाँ—वृत्तियों को नाटक में नाट्यमातृक अर्थात् नाटक की माताएँ कहा गया है। कुछ लोग वृत्ति तथा शैली को एक ही मान बैठे हैं किन्तु वस्तुतः इन दोनों में पर्याप्त भेद है। शैली का सम्बन्ध नाटक के बहिरंग अर्थात् उसकी भाषा आदि से है जबकि वृत्ति नाटक की मूल प्रकृति से सम्बन्ध रखती है। वृत्तियों की संख्या चार स्वीकार की गई है—कैशिकी सात्वती आरभटी और भारती। कैशिकी वृत्ति में शृंगार हास्य गीत और नृत्य का प्राधान्य रहता है। सात्वती में शौर्य दान दया आदि वीरोचित कार्यों का बाहुल्य रहता है। आरभटी में माया इन्द्रजाल संग्राम क्रोध संघर्ष आदि का निरूपण रहता है। भारती वृत्ति में स्त्रियाँ वर्जित मानी गई हैं।

(आ) पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि से नाटक के तत्त्व—पाश्चात्य आचार्यों ने नाटक के छः तत्त्व निर्धारित किए हैं—कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण कथोपकथन देशकाल उद्देश्य तथा शैली। यहाँ पर एक-एक तत्त्व को लेकर उन पर संक्षिप्त विचार प्रकट किया जायेगा।

(क) कथावस्तु—कथावस्तु के विषय में भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों के दृष्टिकोणों में कोई मौलिक भेद नहीं मिलता। हाँ ! भारतीय आचार्यों ने इसका जितना सूक्ष्म विवेचन किया है, उतना पाश्चात्य आचार्यों ने नहीं। वे भी पौरस्त्य आचार्यों की ही भाँति कथा के दो प्रकार मानते हैं—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक। जिस प्रकार हमारे यहाँ नाटक की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं उस प्रकार उनके यहाँ भी केवल पारिभाषिक शब्दावली में कुछ अन्तर है। उन्होंने इन अवस्थाओं के नाम प्रारम्भ विकास चरम सीमा उतार और अन्त दिये हैं।

(ख) पात्र और चरित्र चित्रण—इस तत्त्व के विषय में भी दोनों दृष्टिकोणों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। हाँ ! इतना अवश्य है कि पाश्चात्य नाटकों में चरित्र चित्रण पर विशेष बल दिया जा रहा है।

(ग) कथोपकथन—हमारे यहाँ यह अभिनय नामक तत्त्व का एक उपभेद है। कथा-क्रम के विकास और पात्रों के चरित्रों पर प्रकाश डालने के लिए इस तत्त्व की बहुत अधिक उपयोगिता है। कथोपकथन के जो सर्वश्राव्य अश्राव्य तथा स्वगतकथन ये तीन भेद किये गये हैं, उनमें से आज के पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दोनों ही नाटकों से अश्राव्य तथा स्वगतकथन को अस्वाभाविक मानकर हटाया जाने लगा है। कथोपकथन का एक अन्य प्रकार भी प्रचलित था—आकाशभाषित किन्तु आधुनिक नाटकों से भी उसे हटाया जा रहा है। यदि नाटककार को स्वगत-कथन जैसा कोई विधान करना पड़ता है तो वह पात्र के किसी अन्तरंग मित्र को रंगमंच पर उपस्थित कर देता है और पात्र उससे अपनी सम्पूर्ण स्थिति का निवेदन कर देता है।

(घ) देश-काल—नाटक में इस तत्त्व की आवश्यकता स्वाभाविकता का आधान करने के लिए पड़ती है। स्वाभाविकता की रक्षा के लिए नाटककार को प्रत्येक

(ग) रस—भारतीय आचार्यों ने रस को नाटक का सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया है। सर्वप्रथम भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र' मे रस पर सक्षेप रूप से प्रकाश डाला है। उन्होने विभाव तथा अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो के स्थायी भाव के साथ मिल जाने से रस की निष्पत्ति स्वीकार की है—'विभावानुभावव्यभिचारि सयोगाद्रस निष्पत्ति।' भरत के इस रस-सूत्र की व्याख्या उनके अनेक परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोणो से की है। इन आचार्यों मे भट्ट लोल्लट शकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त, धनञ्जय, पण्डितराज जगन्नाथ, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ० नगेन्द्र मुख्य हैं। रस के विषय मे सक्षेप रूप से यही कहा जा सकता है जब अभिनेताओ के कुशल अभिनय से दर्शको की वृत्तियाँ स्व-पर की भावना से मुक्त हो नाट्यरचना के मूल भाव के साथ एक तान हो जाती हैं तब इस प्रक्रिया को साधारणीकरण की सज्ञा दी जाती है। साधारणीकरण से जिस अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है, उसी का दूसरा नाम रस है।

रस-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए आचार्यों ने भाव, विभाव, अनुभाव, सचारी भाव आदि के अनेक सूक्ष्म भेद किये है, किन्तु सामान्यत स्थायी भावो की सख्या नौ स्वीकार की जाती है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। जिन रसों के ये स्थायी भाव हैं, उनके क्रमश नाम हैं—शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा शान्त। विभाव के दो भेद माने गये हैं—आलम्बन और उद्दीपन। अनुभावो के भी शारीरिक, मानसिक तथा सात्विक उपभेद किये गये हैं। सात्विक अनुभावो की सख्या आठ स्वीकार की गई है—स्तम्भ, स्वेद, प्रलय, रोमाच, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु तथा स्वर का बदल जाना। सचारी भाव तैंतीस माने गये हैं, किन्तु कुछ आचार्यों का कहना है कि सचारियो की सख्या इससे अधिक हो सकती है।

(घ) अभिनय—दृश्य काव्य अर्थात् नाटक तथा श्रव्य काव्य मे प्रमुख अन्तर यह कि जहा-जहा काव्य की रचना पढने के निमित्त होती है, वहाँ दृश्य काव्य की रचना दर्शन के निमित्त होती है। दृश्य काव्य को अभिनेता लोग रगमच पर प्रस्तुत करते हैं, अत इसमे अभिनय तत्त्व का बहुत बडा स्थान है। रगमच पर अभिनेता द्वारा रूप-परिवर्तन चेष्टाएँ, वार्तालाप, कार्य आदि सभी अभिनव के अग हैं। भारतीय आचार्यों ने चार प्रकार का अभिनय स्वीकार किया है—(१) आंगिक, (२) वाचिक (३) आहार्य और (४) सात्विक। आगिक अभिनय के पुन अनेक उपभेद किये गये हैं—शारीर, मुखज और चेष्टाकृत। आगिक अभिनय मे अग-सचालन के भिन्न-भिन्न प्रकार निश्चित किए गए हैं। रस के अनुकूल ही अगो का भी सचालन करना पडता है। दूसरे प्रकार के, अर्थात् वाचिक अभिनय मे पात्रो के सभाषण आदि का विवेचन किया जाता है। भरत मुनि ने पात्रो के स्तर तथा उनकी शिक्षा के अनुरूप सभाषण का विधान किया है। तीसरे प्रकार के अर्थात् आहार्य अभिनय के अन्तर्गत पात्रो के रूप, आकृति वेष-भूषा, आभूषणादि पर विचार किया जाता है। भरत ने नाट्यशास्त्र मे आहार्य अभिनय का विपद् विवेचन किया है। उन्होने कहा कि विदूषक को गजा दिखाया जाना चाहिए, बच्चो की तीन चोटियाँ होनी चाहिए, नौकरो की चोटियाँ लम्बी होनी चाहिए, आदि-आदि। चौथे प्रकार के अर्थात सात्विक अभिनय मे [illegible]

उपन्यास और कहानी में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः भारतीय आचार्यों द्वारा किया गया तात्त्विक विवेचन एवं विश्लेषण अधिक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक है तथा वह नाटक के स्वरूप को स्पष्ट करने में अधिक समर्थ है।

प्राचीन एवं नवीन नाटकों में अन्तर

प्राचीन नाटकों की अपेक्षा आधुनिक नाटकों में बहुत अधिक अन्तर आ गया है। (१) प्राचीन नाटकों में जहाँ ख्यात वृत्त को ग्रहण किया जाता था वहाँ आज के नाटकों का कथानक प्रायः कल्पनाजन्य होता है। आधुनिक नाटककार अर्थप्रकृतियो सन्धियों अर्थोपक्षेपकों आदि की कोई चिन्ता नहीं करता। यहाँ तक कि कभी-कभी तो वह अवस्थाओं को भी अवज्ञा की दृष्टि से देखता है और अपने नाटक का अन्त चरमसीमा पर ही ले जाकर कर देता है। (२) आज के नाटकों के लिए यह अनिवार्य नहीं कि उनका नायक कोई महापुरुष अथवा उच्च वर्ग का ही व्यक्ति हो उनका नायक कोई भी हो सकता है—सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी। वस्तुतः आधुनिक नाटकों का तो नायक अधिकांशतः मध्यम अथवा सामान्य वर्ग का व्यक्ति ही होने लगा है। साथ ही संस्कृत-नाटकों में विदूषक कञ्चुकी आदि जिन पात्रों की अवतारणा की जाती थी वे भी आज के नाटक से हटा दिये गये हैं। (३) आधुनिक नाटकों में विरोध प्रायः व्यक्ति और व्यक्ति के बीच नहीं दिखाया जाता अपितु नाटककार का मूल उद्देश्य सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का चित्रण करना रहता है। (४) आज का नाटककार रस को प्राधान्य नहीं मानता और इसीलिए वह ऐसे नाटकों का सर्जन कर रहा है जिनमें रस के लिए कोई स्थान नहीं। समस्या-नाटक इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। (५) अब नाटकों में बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष को प्रधानता दी जाने लगी है। (६) आधुनिक नाटक से गीतों तथा स्वगत कथनों का एकदम बहिष्कार कर दिया गया है।

उपसंहार

भले ही आज के नाटक का रूप बदल गया हो किन्तु मानव-जीवन में उसकी उपयोगिता बड़े प्राचीन काल से रही है और रहेगी किसी भी युग में उसकी उपेक्षा सम्भव नहीं है। बल्कि ज्यों-ज्यों विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मानव का जीवन अधिकाधिक व्यस्त होता जा रहा है त्यों-त्यों नाटक की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ती जाती है। आये दिन चलचित्र-गृहों की संख्या का बढ़ता जाना इस बात का पुष्ट प्रमाण है। तथ्य तो यह है कि नाटक का आकर्षण मानव-जीवन में कभी लुप्त नहीं हो सकता।

युग प्रत्येक देश तथा वातावरण का चित्रण उसकी सस्कृति, सभ्यता, रीति रिवाज, रहन सहन और वेष-भूषा के अनुरूप करना चाहिए। ग्रीक आचार्यों ने नाटक मे देश तथा काल के महत्त्व प्रदान करते हुए सकलनत्रय (Three Unities) का विधान किया था। इस सकलनत्रय के अन्तर्गत समय, स्थान, तथा कार्य की एकताएँ आती हैं। ग्रीक आचार्यों का कहना था कि नाटक की कथावस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसका घटना-काल चौबीस घण्टे से अधिक न हो, पूरी घटना एक ही स्थान पर घटित होनी चाहिए, और घटना मे विश्रृखलता न होकर अन्विति होनी चाहिए अर्थात् नाटककार की दृष्टि सदैव मूल घटना पर रहे, वह इधर-उधर बहक न जाय। मिल्टन का 'सैम्सन एगोनिस्टेस ('Semson Agonistes') नामक नाटक मे सकलनत्रय का सम्यक् पालन किया गया है। आज के नाटको मे सकलनत्रय का कोई ध्यान नही रखा जाता। आधुनिक युग मे प्राय ऐसे नाटको की रचना हुई है कि उनकी घटनाएँ कई-कई वर्षों की हैं, कई स्थानो पर घटित हुई हैं और प्राय आधिकारिक कथा के साथ आनुषगिक कथा का भी विघान किया गया है। शेक्सपीयर तथा प्रसाद के अधिकाश ऐतिहासिक नाटक ऐसे ही हैं।

(ड) **उद्देश्य**—नाटक-रचना का कोई न कोई उद्देश्य होता है और नाटककार अपने इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति प्राय नाटक के प्रमुख पात्र के माध्यम से करता है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए नायक को विभिन्न सघर्षों का सामना करना पडता है।यही कारण है कि पाश्चात्य नाटको मे सघर्ष को बहुत अधिक प्रमुखना दी गई है। उद्देश्य की प्राप्ति के साथ ही सघर्ष का भी शमन हो जाता है।

(च) **शैली**—शैली भी पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि में नाटक का प्रमुख तत्व है। इसे हम भारतीय आचर्यों द्वारा निरूपित वृत्तियो मे समाहित कर सकते हैं।

(इ) **पौरस्त्य एव पाश्चात्य आचार्यों के दृष्टिकोणो मे समन्वय**—प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक के कुछ तत्त्व तो ऐसे हैं जो पौरस्त्य एव पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि मे एक-से ही हैं। जो तत्त्व एक-से दिखाई नही पडते उनमे सामञ्जस्य बैठाया जा सकता है। कथावस्तु पात्रो के विषय मे तो दोनो दृष्टिकोणों मे कोई मौलिक अन्तर नही। रह गई बात शेष तत्त्वो की, उनमे से कथोपकथन नामक पाश्चात्य तत्त्व भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित अभिनय के उपभेद 'वाचिक अभिनय' का ही पर्यायवाची है। भारतीय आचार्यों ने अभिनय के भेदोपभेदो मे वेश भूषा, क्रिया-कलाप आदि पर बल दिया है, इसे परिचय के देश-काल का समानार्थी मान सकते हैं। उद्देश्य का समाहरण रस में तथा शैली का वृत्तियो मे हो जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य तत्त्वो का समावेश तो भारतीय तत्त्वो मे हो गया, किन्तु भारतीय तत्त्वो का समाहार पाश्चात्य तत्त्वो मे नही हो पाता। , काव्य के प्रत्येक अग मे भाव-तत्त्व की प्रमुखता होती है, अत भावानुभूति या रस तत्त्व का नाटक मे महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु पाश्चात्य आलोचको ने इस ओर कोई ध्यान नही दिया। इसी प्रकार अभिनय भी नाटक' को 'नाटक' बनाता है, किन्तु इसका यूरोपीय विद्वानो ने उल्लेख नही किया। पाश्चात्य विद्वान् जो ६ तत्त्व नाटक मे गिनाते हैं, वे ही उपन्यास और कहानी मे भी गिना देते हैं—इसका तात्पर्य है नाटक,

उपन्यास और कहानी में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः भारतीय आचार्यों द्वारा किया गया तात्त्विक विवेचन एवं विश्लेषण अधिक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक है तथा वह नाटक के स्वरूप को स्पष्ट करने मे अधिक समर्थ है ।"

प्राचीन एवं नवीन नाटकों में अन्तर

प्राचीन नाटकों की अपेक्षा आधुनिक नाटकों मे बहुत अधिक अन्तर आ गया है। (१) प्राचीन नाटकों में जहाँ ख्यात वृत्त को ग्रहण किया जाता था वहाँ आज के नाटको का कथानक प्राय कल्पनाजन्य होता है। आधुनिक नाटककार अवप्रकृतियो सन्धियो अर्थोपक्षेपकों आदि की कोई चिन्ता नहीं करता। यहाँ तक कि कभी-कभी तो वह अवस्थाओ को भी अवज्ञा की दृष्टि से देखता है और अपने नाटक का अन्त चरमसीमा पर ही से आकर कर देता है। (२) आज के नाटकों के लिए यह अनिवार्य नहीं कि उनका नायक कोई महापुरुष अथवा उच्च वर्ग का ही व्यक्ति हो उनका नायक कोई भी हो सकता है—सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी। वस्तुतः आधुनिक नाटकों का तो नायक अधिकांशतः मध्यम अथवा सामान्य वर्ग का व्यक्ति ही होने लगा है। साथ ही संस्कृत-नाटको में विदूषक कञ्चुकी आदि जिन पात्रों की अवतारणा की जाती थी वे भी आज के नाटक से हटा दिये गये है। (३) आधुनिक नाटको मे विरोध प्राय व्यक्ति और व्यक्ति के बीच नहीं दिखाया जाता अपितु नाटककार का मूल उद्देश्य सामाजिको रूढियों के प्रति विद्रोह का चित्रण करना रहता है। (४) आज का नाटककार रस को बाग्रह नहीं मानता और इसीलिए वह ऐसे नाटकों का सर्जन कर रहा है जिनमे रस के लिए कोई स्थान नहीं। समस्या-नाटक इसके स्पष्ट प्रमाण है। (५) अब नाटको मे बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष को प्रधानता दी जाने लगी है। (६) आधुनिक नाटक से गीतो तथा स्वगत कथनो का एकदम बहिष्कार कर दिया गया है।

उपसंहार

भले ही आज के नाटक का रूप बदल गया हो किन्तु मानव-जीवन मे उसकी उपयोगिता बड़े प्राचीन काल से रही है और रहेगी किसी भी युग मे उसकी बहिष्कृति सम्भव नहीं है। बल्कि ज्यो-ज्यो विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मानव का जीवन अधिकाधिक व्यस्त होता जा रहा है त्यों-त्यो नाटक की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ती जाती है। आये दिन चलचित्र-गृहो की संख्या का बढ़ता जाना इस बात का पुष्ट प्रमाण है। तथ्य तो यह है कि नाटक का आकर्षण मानव-जीवन मे कभी लुप्त नहीं हो सकता।

: ७५ :

हिन्दी-नाटक : उद्भव एवं विकास

१. भारतीय नाटक की उत्पत्ति
२. प्राचीन भारतीय नाटक-साहित्य
३. हिन्दी के आदिकाल एव मध्यकाल में नाटकों के अभाव के कारण
४ हिन्दी में नाटक-साहित्य—(क) हिन्दी-मैथिली-नाटक, (ख) राम-लीला नाटक, (ग) वैष्णव आन्दोलन से प्रभावित हिन्दी-नाटक, (घ) भारतेन्दु-युग और हिन्दी-नाटक, (ङ) द्विवेदी-युग और हिन्दी-नाटक, (च) प्रसाद-युग और हिन्दी-नाटक, (छ) प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटक
५ उपसंहार

भारतीय नाटक की उत्पत्ति

यो तो साहित्य की प्रत्येक विधा के सर्जन मे मानव की अन्त'प्रेरणा ही कार्य किया करती है, क्योंकि जब तक मानव-मन मे भावो का आलोडन-विलोडन नही होता तब तक उत्कृष्ट कोटि की साहित्य-रचना की कल्पना ही नही की जा सकती, किन्तु फिर भी साहित्य-निर्माण मे बाह्य परिवेश का महत्व न हो, ऐसी बात नही है, वह भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य पर अपना प्रभाव छोड जाता है। नाटक की उत्पत्ति के मूल मे भी मुख्यत चार मनोवृत्तियाँ काम करती हैं। मनोवैज्ञानिको के अनुसार ये मनोवृत्तिया हैं—(१) अनुकरण की प्रवृत्ति, (२) पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मविस्तार की प्रवृत्ति, (३) जाति या समुदाय की रक्षा की प्रवृत्ति और (४) आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति। स्पष्ट है कि इन चारो प्रवृत्तियो का सम्बन्ध मानव-हृदय से है। नाट्य-कला की उत्पत्ति के लिए इन चारो प्रवृत्तियो को स्वीकार कर लेने पर भी, जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, कुछ बाह्य परिस्थितियाँ भी कारण रही होगी। भारतीय नाटक की उत्पत्ति के मूल मे ये कौन-कौन-सी परिस्थितियाँ रही हैं, इस विषय मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। डॉ० रिजवे (Ridgeway) की मान्यता है कि नाटको का उदय मृत वीरो की पूजा है। उनके विचारानुसार प्रारम्भिक काल मे मृतात्माओं की प्रसन्नता के लिए गीत, नाटक आदि का आयोजन चलता रहा, और इसी प्रकार धीरे-धीरे नाटको का विकास हुआ। प्रोफेसर हिलेब्राँ (Hillbrarndt) तथा प्रोफेसर स्टेन कोनो (Sten konow) भारतीय नाटकों की उत्पत्ति के मूल मे लौकिक एव सामाजिक उत्सवो को स्वीकार

करते हैं। इस विषय में डॉ पिशेल (Pischel) का दूसरा ही मत है। उनका कहना है कि भारतीय नाटकों का उदय कठपुतलियों के नाच से हुआ। यह ठीक है कि गुणाढ्य की बृहत्कथा महाभारत तथा राजशेखर-विरचित बालरामायण में कठपुतलियों के नाच के प्रचलन की बात मिलती है किन्तु इससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि भारतीय नाटकों का उद्गम कठपुतलियों का नाच है। बाबू गुलाबराय ने उपर्युक्त सभी मतों को प्रवज्ञा की दृष्टि से देखते हुए लिखा है— 'ये सब कल्पनाशील विद्वान् इस बात को भूल जाते हैं कि भारतवर्ष में धार्मिक सामाजिक और लौकिक कृत्यों में ऐसा भेद नहीं है जैसा कि लोग समझते हैं। भारतवर्ष में धर्म मानव-जीवन का अंग है। इस देश का दुकानदार भी तो अपनी गोलक को महादेव बाबा की गोलक बताता है।

नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में जो उल्लेख मिलता है उससे प्रस्तुत समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ता दिखाई देता है। इस ग्रन्थ में भरतमुनि ने लिखा है कि देवताओं के प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ सामवेद से गान यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर पाँचवें वेद के रूप में नाट्य-वेद की रचना की। इसके लिए शिवजी ने ताण्डव और पार्वती ने लास्य प्रदान किया। कल्पनाजन्य होने पर भी इस प्रसंग से दो तथ्य हमारे सामने आते हैं एक तो यह कि नाटकों की उत्पत्ति चारों वेदों की रचना के अनन्तर हुई और दूसरे यह कि नाटकों के मूलतत्त्व चारों वेदों में विद्यमान हैं।

कतिपय विद्वानों ने भारतीय नाटकों के उद्भव के विषय में बड़ी कपोल कल्पना की है। उनका कहना है कि भारत को नाटक यूनानियों की देन है। वे यह मानते हैं कि भारत में नाटकों का विकास सिकन्दर के आक्रमण के बाद ही हुआ। आज अनेकों प्रबल तर्कों के आधार पर इस मत का खण्डन किया जा चुका है। 'यवनिका' शब्द को यूनान से सम्बद्ध कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस शब्द का शुद्ध रूप है जवनिका। 'जव' का अर्थ 'वेग' या 'त्वरा' है। जवनिका उस पर्दे को कहते हैं जो वेग के साथ अथवा त्वरित गति से गिराया तथा उठाया जा सके। साथ ही द्रष्टव्य यह भी है कि यूनानी नाटकों में पर्दों का प्रयोग नहीं होता था वे खुले हुए मैदान में खेले जाते थे अथवा फिर उनका अभिनय ऐसे अखाड़ों में किया जाता था जहाँ अनेक प्रकार के खेल-तमाशे होते थे। ठीक इसके विपरीत भारतीय नाटकों का अभिनय प्रेक्षागृहों में पर्दों की सहायता से होता आया है। भारतीय नाटकों को यूनानी नाटकों की देन इसलिए भी नहीं माना जा सकता कि इन दोनों के स्वरूप में बहुत बड़ा अन्तर है—(१) भारतीय नाटक अंकों में विभक्त होते हैं जबकि यूनानी नाटकों में अंक नहीं होते वहाँ दृश्य-परिवर्तन की सूचना देने के लिए वृन्द-गान (Chorus song) का प्रयोग किया जाता है। (२) यूनानी नाटक दुःखान्त होते हैं जबकि भारतीय नाटक सुखान्त। (३) यूनानी नाटकों में चरित्र-चित्रण को प्रधानता दी जाती है जबकि भारतीय नाटकों में प्रकृति चित्रण तथा रस का प्राधान्य रहता है। अतः स्पष्ट है कि भारतीय नाटक यूनानी नाटकों से किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं हैं।

: ७५ :

हिन्दी-नाटक : उद्भव एवं विकास

१ भारतीय नाटक की उत्पत्ति

२. प्राचीन भारतीय नाटक-साहित्य

३. हिन्दी के आदिकाल एव मध्यकाल में नाटकों के अभाव के कारण

४ हिन्दी में नाटक-साहित्य—(क) हिन्दी-मैथिली-नाटक, (ख) रास-लीला नाटक, (ग) वैष्णव आन्दोलन से प्रभावित हिन्दी-नाटक, (घ) भारतेन्दु-युग और हिन्दी-नाटक, (ङ) द्विवेदी-युग और हिन्दी-नाटक, (च) प्रसाद-युग और हिन्दी-नाटक, (छ) प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटक

५ उपसहार

भारतीय नाटक की उत्पत्ति

यो तो साहित्य की प्रत्येक विधा के सर्जन मे मानव की अन्तःप्रेरणा ही कार्य किया करती है, क्योंकि जब तक मानव-मन मे भावो का आलोडन-विलोडन नही होता तब तक उत्कृष्ट कोटि की साहित्य-रचना की कल्पना ही नही की जा सकती, किन्तु फिर भी साहित्य-निर्माण में वाह्य परिवेश का महत्त्व न हो, ऐसी बात नही है, वह भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य पर अपना प्रभाव छोड जाता है। नाटक की उत्पत्ति के मूल मे भी मुख्यत चार मनोवृत्तियाँ काम करती हैं। मनोवैज्ञानिको के अनुसार ये मनोवृत्तिया हैं—(१) अनुकरण की प्रवृत्ति, (२) पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मविस्तार की प्रवृत्ति, (३) जाति या समुदाय की रक्षा की प्रवृत्ति और (४) आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति। स्पष्ट है कि इन चारो प्रवृत्तियों का सम्बन्ध मानव-हृदय से है। नाट्य-कला की उत्पत्ति के लिए इन चारो प्रवृत्तियो को स्वीकार कर लेने पर भी, जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, कुछ बाह्य परिस्थितियाँ भी कारण रही होंगी। भारतीय नाटक की उत्पत्ति के मूल मे ये कौन-कौन-सी परिस्थितियाँ रही हैं, इस विषय में विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। डॉ० रिजवे (Ridgeway) की मान्यता है कि नाटको का उदय मृत वीरो की पूजा है। उनके विचारानुसार प्रारम्भिक काल मे मृतात्माओ की प्रसन्नता के लिए गीत, नाटक आदि का आयोजन चलता रहा, और इसी प्रकार धीरे-धीरे नाटको का विकास हुआ। प्रोफेसर हिलेब्रां (Hillbrarndt) तथा प्रोफेसर स्टेन कोनो (Sten konow) भारतीय नाटकों की उत्पत्ति के मूल मे लौकिक एव सामाजिक उत्सवो को स्वीकार

दाँव-पेंचों का गुम्फन जिस सफलता से विशाखदत्त ने किया है वह विश्व नाटक-साहित्य के क्षेत्र में अद्वितीय है। संस्कृत-नाटकों में स्वाभाविकता पर इतना अधिक ध्यान दिया गया है कि यहाँ अशिक्षित पात्रों की संवाद-योजना प्राकृत में हुई है।

प्राकृत में आकर संस्कृत की इस समृद्ध नाट्य-परम्परा का ह्रास हो गया। यहाँ नाटकों की अपेक्षा सट्टकों (नाटकों के प्रकार विशेष) की रचना हुई। प्राकृत के प्रमुख सट्टकों के नाम हैं—कपूर मंजरी रम्भामंजरी चन्द्रलेखा शृगार मंजरी तथा आनन्द सुन्दरी। अपभ्रंश में तो नाटक-परम्परा का प्रायः लोप ही हो गया। रासक-काव्यों के रूप में अवश्य अपभ्रंश में कई सौ रचनाएँ मिलती हैं किन्तु उनमें नाटकीय तत्त्वों का लगभग अभाव-सा है। पहली बात यह कि ये रासक-काव्य पूर्णरूपेण पद्यबद्ध हैं और दूसरे उनमें अभिनय सम्बन्धी संकेत भी नहीं दिये गये हैं।

हिन्दी के आदिकाल एवं मध्यकाल में नाटकों के अभाव के कारण

ऊपर बताया जा चुका है कि संस्कृत की समृद्ध नाटक-परम्परा प्राकृत एवं अपभ्रंश में ह्रासोन्मुख थी ही हिन्दी में आकर वह पूर्णतः लुप्त हो गयी। इसीलिए हिन्दी के आदिकाल एवं मध्यकाल में नाटकों का प्रायः अभाव सा ही है इन कालों में यदि कुछ नाटक-रचनाएँ हुई भी तो केवल नाम के लिए उनमें नाटकीय तत्त्वों का समावेश नहीं है। इन कालों में नाटकों के प्रमुख कारण हैं जिनका संक्षेप में इस प्रकार उल्लेख किया जा सकता है—

(१) हर्षवर्द्धन की मृत्यु (६४७ ई.) के पश्चात भारतवर्ष की राजनीतिक एकता भंग हो गयी। विदेशियों के निरन्तर आक्रमण होने। देशी राजा और नवाब भी गृह-कलह में बीते रहते थे। अतः हिन्दी के जन्म-काल से लेकर भारतेन्दु के पूर्व तक देश में शान्त वातावरण का सर्वथा अभाव रहा इस वातावरण के प्रभाव में जनता का मनोरंजन की ओर प्रवृत्त होना असम्भव ही था परिणामतः इस अशान्तिपूर्ण युग में नाटकों का निर्माण न हो सका।

(२) एक आलोचक के शब्दों में नाटकों के उदय और अभीष्ट विकास के लिए राष्ट्रीय जीवनोल्लास एवं सांस्कृतिक चेतना का होना अनिवार्य है। भारतेन्दु काल से पूर्व राष्ट्र के जीवन में सांस्कृतिक चेतना का प्रायः लोप हो चुका था।

(३) राष्ट्रीय रंगमंच के अभाव के कारण भी नाटक-रचना नहीं हो सकी।

(४) भारतेन्दु से पूर्व भारत में प्रायः मुसलमानी राज्य रहा। इस्लाम में किसी की नकल उतारना पाप माना गया है अतः मुसलमान बादशाहों ने नाटकों के अभिनय पर प्रतिबन्ध लगा रखा था।

(५) परिष्कृत गद्य के अभाव के कारण भी नाटक रचना आगे न बढ़ सकी।

(६) सन्तों की निराशामूलक वाणी भी जनता को नाटक-जैसे मनोरंजन की ओर से रोक रही थी।

(७) साथ ही भक्तिकाल तथा रीति काल की चेतना (Spirit) के प्रभाव के अधीन जनता धार्मिक कथाओं साधुओं के उपदेशों विद्वानों के काव्य प्रदर्शनों और नगाचरी आदि में अधिक आनन्द का अनुभव करती थी तथा उनमें नाटक-सम्बन्धी

चेतना अभी पूर्णतया जग नही पायी थी।

(८) हिन्दी को सस्कृत की जो नाटक-परम्परा विरासत के रूप मे मिली थी वह अत्यन्त छिछली थी हिन्दी के जन्म से पूर्व मुरारि, राजशेखर और जयदेव जैसे सस्कृत-नाटककार हुए। इनके नाटको मे नाटकीय तत्वो का पूर्ण अभाव है। नाटको के कथानक अत्यन्त शिथिल है, वर्णनात्मक और प्रगीत मुक्तको की भरमार कर दी गयी है, चरित्र, सवाद तथा अन्तर्गत की दृष्टि से भी इनका खोखलापन स्पष्ट दीखता है।

हिन्दी में नाटक साहित्य

डा० दशरथ ओझा ने अपने शोध-प्रवन्ध- हिन्दी नाटक उद्भव और विकास', मे 'गय-सुकुमार-रास' को हिन्दी का प्रथम उपलव्ध नाटक माना है। इसकी रचना स० १२८९ वि० मे हुई। ओझा जी ने इस रास मे रास के सभी तत्त्वो को विद्यमान वताया है इसकी भाषा पर राजस्थानी हिन्दी का वहुत अधिक प्रभाव है।

(क) हिन्दी-मैथिली-नाटक—डा०दशरथ ओझा ने मैथिली को हिन्दी की ही एक शाखा माना है। मैथिली मे नाटक-परम्परा काफी पहले से मिलती है। इस भाषा मे आदि नाटककार महाकवि विद्यापति को वताया गया है। कहा जाता है कि विद्यापति ने कई नाटको की रचना की थी, किन्तु आज उनके द्वारा रचित केवल 'गोरक्ष-विजय' नाटक ही उपलव्ध है। जव मिथिला के शासक-वर्ग के कुछ लोग नेपाल मे जाकर वस गये तो विद्यापति की नाटक-परम्परा वहाँ भी पहुँची। नेपाल मे जिन नाटकों की रचना हुई उनमे 'विद्या-विलाप' (१५३३ई०), 'मुदित कुवलयाश्व' (१६२८ई०), 'हर गौरी विवाह' (१६२९ ई०), 'उषाहरण,' 'पारिजात-हरण,' 'प्रभावती-हरण (१७ वी शताब्दी) आदि मुख्य हैं। मिथिला मे रचित नाटको मे से गोविन्द-विरचित 'नल-चरित्र-नाटक' (१६३९ ई०), रामदास झा-विरचित 'आनन्द-विजय नाटक,' देवानन्द-विरचित 'उषा-हरण' (१७वी शताब्दी), रमापति उपाध्याय-विरचित 'रुक्मिणी-हरण' (१८ वी शताव्दी) तथा उमापति उपाध्याय-विरचित 'पारिजात-हरण, (१८ वी शताब्दी) विशेष हैं। इन सभी नाटको मे अभिनेयता का गुण मिलता है।

(ख) रास-लीला नाटक —रास-लीला नाटको की रचना प्राय भक्तिकाल में हुई। यों कुछ विद्वान् इन नाटको का सम्वन्ध, रासक या रास काव्यो से जोडते हैं, किन्तु यह उचित प्रतीत नही होता। वस्तुत रास-लीला नाटको का क्षेत्र व्रज-प्रदेश रहा और वही इन नाटको को विकास प्राप्त हुआ। ऐसे नाटको मे नन्ददास जी की गोवर्द्धन लीला तथा 'स्याम सगाई-लीला' अति प्रसिद्ध लीलाएँ हैं। अन्य कृष्णभक्त कवियो मे ध्रुवदास तथा चाचा वृन्दावनदास ने लगभग ४०-५० लीलाओ की रचना की इनके उपरान्त व्रजवासीदास ने ७४ लीलाएँ लिखी। इन्हीं लीला-नाटक के आधार पर नरसिंह लीला, भगीरथ लीला, प्रह्लाद लीला, दान लीला आदि लीलाओ की रचना हुई। इन लीलाओ मे नृत्य और गान का वहुत अधिक प्राधान्य है।

(ग) वैष्णव आन्दोलन से प्रभावित हिन्दी-नाटक.—रास-लीला नाटको की रचना कृष्णभक्त कवि-नाटककारो द्वारा हुई, किन्तु इसी काल मे कुछ ऐसे नाटको

की भी रचना हुई जो वैष्णव आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप जनता में प्रचलित भजन-पूजन एवं कीर्तन से प्रेरित हैं। ये नाटक सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में लिखे गये। इन नाटकों में रामायण महा नाटक (सं १६६७ वि) हृदयराम कृत हनुमन्नाटक सं १६८ वि०) बनारसीदास कृत समयसार नाटक' (सं १६६३ वि) गुरु गोविन्द सिंह-कृत 'चंडी चरित्र' यशवन्तसिंह-कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' (सं १७ वि० नेवाज-कृत 'शकुन्तला नाटक' (स १७२७ वि) श्री रघुराम नागर-कृत 'सभासार नाटक' (सं १७५७ वि) कृष्ण जीवन लछीराम-कृत करुणा भरण' मुख्य हैं। इन नाटकों का लीला नाटकों से भिन्नता इस बात में है कि ये नाटक कभी रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किये गये जबकि लीला-नाटकों का बराबर अभिनय होता रहा। इसी परम्परा के अन्तर्गत कुछ नाटकों की रचना उन्नीसवीं शताब्दी में भी हुई— माधव-विनोद नाटक जानकी रामचरित नाटक रामलीला विहार नाटक रामायण नाटक प्रबन्ध विजय नाटक नहुष नाटक और आनन्द रघुनन्दन आदि ऐसे ही नाटक हैं। ये सभी नाटक विशुद्ध गद्य में रचे गये हैं। नाटकीयता का इनमें सर्वथा अभाव है।

(ख) भारतेन्दु-युग और हिन्दी नाटक —साहित्य की विभिन्न विधाओं की दृष्टि से भारतेन्दु-युग हिन्दी का स्मरणीय काल है। हिन्दी में नाटक रचना की दृष्टि से इसी युग को वास्तविक अर्थों में प्रारम्भिक काल माना जा सकता है। भारतेन्दु काल राष्ट्रीय जागरण तथा नव सांस्कृतिक चेतना का उन्मेष युग है इससे जहाँ एक ओर जन-सामान्य में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ वहाँ दूसरी ओर सामाजिक और धार्मिक जागरूकता आयी। नव जागृति के संक्रमण काल में जन-जीवन में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना के लिए उस युग में नाटकों का माध्यम अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

भारतेन्दु बाबू ने अपने पिता गोपालचन्द्र द्वारा रचित नहुष नाटक' (सन् १८४१ ई) को हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। सन् १८६१ में राजा लक्ष्मणसिंह ने अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अनुवाद प्रकाशित कराया।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का प्रथम उपन्यास 'विद्या-सुन्दर (सन् १८६ ई) है। यह किसी बंगला के नाटक का छायानुवाद है। इसके पश्चात् उनके अन्य अनूदित एवं मौलिक नाटक प्रकाश में आये जिनमें पाखण्ड विडम्बनम् (१८७२ ई) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७२ ई) धनंजय-विजय (१८७३ ई) सत्य हरिश्चन्द्र (१८७३ ई) प्रेम-योगिनी (१८७४ ई) विषस्य विषमौषधम् (१८७५ ई) कर्पूरमंजरी (१ ७६ ई) चन्द्रावली (१८७६ ई) भारत-दुर्दशा (१८७६ ई) नीलदेवी (१८७७ ई) अन्धेर नगरी (१८८१ ई) सती-प्रताप (१८८४ ई) आदि प्रमुख हैं। इनमें सत्य हरिश्चन्द्र धनंजय विजय मुद्राराक्षस तथा कर्पूरमंजरी ये चार नाटक अनूदित हैं। अपने मौलिक नाटकों के माध्यम से उन्होंने समाज में फैली कुरीतियों का पर्दा-फाश किया है—पाखण्ड विडम्बनम् तथा वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ऐसे ही नाटक हैं जिनमें धर्म के नाम पर होने वाले कुकृत्यों पर तीव्र व्यंग्य बाण छोड़े गये हैं। विषस्य विषमौषधम् की रचना देशी राजाओं को सावधान करने के लिए हुई है। इसमें भारतेन्दु जी ने यह बताया है कि यदि देशी राजा लोग लंपट

न पाये तो उनके सभी राज्यो को अग्रेज अपने अधिकार में कर लेंगे। भारत-दुर्दशा में भारतेन्दु का देश-प्रेमी रूप उभर कर सामने आया है। इसकी रचना उन्होंने अपने हृदय के रक्त से की है। देश की दुर्दशा को देखकर हरिश्चन्द्र जी का हृदय द्रवित हो गया था। वे देख रहे थे कि देश की सारी सम्पत्ति को अग्रेज लोग इगलैंड लिये चले जा रहे हैं और यहा के लोग भूखो मर रहे हैं। इसीलिए उन्होंने इसमे अग्रेजो को भारत-दुर्दैव के रूप मे चित्रित करते हुए भारतवासियो के दुर्भाग्य की कहानी को यथार्थ रूप मे प्रस्तुत किया है।

हिन्दी मे नाटको की गौरवपूर्ण परम्परा का प्रवर्त्तन करने का श्रेय भारतेन्दु जी को है। उन्होने बडी ही सावधानी के साथ सस्कृत, प्राकृत, बगला तथा अग्रेजी के नाटको के सफल अनुवाद प्रस्तुत किये। नाट्य-कला के सिद्धान्तो का उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था। साथ ही अनेको हिन्दी-नाटको के अभिनय की व्यवस्था कर स्वय उनमें भाग भी लिया था। इसीलिए वे रगमच की सभी बारीकियो से अवगत थे। अपने नाटको मे उन्होंने अभिनेयता का पूर्ण ध्यान रखा है। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने भारतेन्दु जी के विषय मे ठीक ही लिखा है—"यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूढें जिसने नाट्य शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के आधार पर नाट्य-कला पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटको का अध्ययन व अनुवाद किया हो, जिसने वैयक्तिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय समस्याओ को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एव मौलिक नाटको की रचना की हो और जिसने नाटको की रचना ही नही, अपितु उन्हे रगमच पर खेल कर भी दिखाया हो—इन सब विशेषताओ से सम्पन्न नाटककार, हिन्दी मे ही नहीं—समस्त विश्व-साहित्य में केवल दो-चार ही मिलेंगे, और उन सबमे भारतेन्दु का स्थान सबसे ऊँचा होगा। उनके नाटको में जीवन और कला, सौन्दर्य और शिव, मनोरजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है।"

भारतेन्दु जी से प्रेरणा पाकर उनके युग के अन्य अनेक लेखक भी नाटक-रचना में प्रवृत्त हुए। श्रीनिवासदास ने रणधीर और प्रेम मोहिनी', राधाकृष्णदास ने 'दुखिनी बाला' और 'महाराणा प्रताप', खग बहादुरलाल ने 'भारत ललना', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'भारत-सौभाग्य', तोताराम वर्मा ने विवाह-विडम्बन', प्रतापनारायण मिश्र ने 'भारत दुर्दशा रूपक' तथा राधाचरण गोस्वामी ने 'तन-मन-धन श्री गोसाई जी के अर्पण' आदि नाटको की रचना की। प्राय इन सभी नाटको मे सुधारवाद, देश-प्रेम तथा हास्य-व्यग्य की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। इनमे पद्य व्रजभाषा में तथा गद्य खडी बोली मे प्रयुक्त हुआ है। सस्कृत-नाटको के अधिकांश शास्त्रीय लक्षणो की उपेक्षा की गई है। भाषा पात्रानुकूल है। शैली मे सरसता और रोचकता है।" वस्तुत भारतेन्दु युग का नाटक-साहित्य जनता के बहुत समीप था तथा वह लोक-रजन एव लोक-रक्षण—दोनो के तत्त्वों से युक्त रहा है। उसने पाठ्य और दृश्य—दोनो रूपों मे तत्कालीन लोक-हृदय का अनुरजन किया।"

(ङ) **द्विवेदी-युग और हिन्दी-नाटक**—भारतेन्दु युग मे नाटको ने जो प्रगति पकडी, द्विवेदी युग मे आकर वह पुन ठप्प हो गई। द्विवेदी जी का दृष्टिकोण सुधार-

वादी था इसलिए उनकी ओर से मनोरंजन को प्रश्रय देने वाले नाटकों की रचना नहीं के ही बराबर हुई। जिन नाटकों की रचना हुई भी उनके पात्र सात्विक वृत्ति वाले महापुरुष रहे। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास' वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुन' मिश्रबन्धु का 'शिवाजी' आदि इसी प्रकार के नाटक हैं। यद्यपि बदरीनाथ भट्ट ने मिस अमेरिका तथा 'विवाह विज्ञापन' जैसे प्रहसन लिखे तथापि उनका मूल दृष्टिकोण सुधारवादी ही है क्योंकि इन प्रहसनों के माध्यम से उन्होंने रीतिकालीन अश्लीलता और पाश्चात्य सभ्यता की कृत्रिमता पर प्रकाश डाला है।

मौलिक नाटकों के अभाव में इस युग में अनुवादों की परम्परा चली। बाबू सीताराम ने नागानन्द मृच्छकटिक तथा मालती माधव के अनुवाद प्रस्तुत किये। रूपनारायण पाण्डेय और रामकृष्ण वर्मा ने बंगला से द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का रूपान्तर किया। नाथूराम प्रेमी और धन्यकुमार जैन ने भी कई बंगला-नाटकों के अनुवाद किये। गंगाप्रसाद पाण्डेय पुरोहित गोपीनाथ मथुरा प्रसाद उपाध्याय आदि ने अंग्रेजी के नाटकों को अनूदित किया। अंग्रेजी के नाटकों में शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद प्रमुख रूप से किया गया।

यही वह समय है जब राधेश्याम कथावाचक नारायण प्रसाद बेताब आगाहश्र कश्मीरी और हरिकृष्ण जौहर ने पारसी नाट्यकला से प्रभावित होकर नाटकों की रचना की। इनके नाटकों को साहित्यिक कोटि में नहीं रखा जा सकता। इसी युग में कुछ ऐसे नाटकों की भी रचना हुई जो दृश्य-काव्य की अपेक्षा श्रव्य-काव्य के गुणों के अधिक समीप हैं। इस प्रकार के नाटकों में बदरीनाथ भट्ट के 'चन्द्रगुप्त' 'वेनचरित्र' और 'दुर्गावती' राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला भानुकुमार' मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास' तथा जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'मिलन मधुर' नाटक विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

(ख) प्रसाद युग और हिन्दी नाटक—हिन्दी नाट्य-साहित्य को प्रौढ़ रूप देने का श्रेय जयशंकर प्रसाद को है। उनके हाथों हिन्दी-नाटकों के स्वरूप में एक अदृष्ट पूर्व परिमार्जन आया। प्रसाद से पूर्व के नाटककारों ने अपने नाटकों के कथानकों का चयन या तो पुराणों से किया था या फिर उनके कथानक एकदम काल्पनिक थे। प्रसाद ने अपने नाटकों के लिए इतिहास की पृष्ठभूमि को रखा। प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटकों में समाज-सुधारक तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहता था प्रसाद ने इस दृष्टिकोण को अलग रखकर सांस्कृतिक एवं दार्शनिक चिन्तन को महत्व प्रदान किया।

प्रसाद ने एक दर्जन से अधिक नाटक लिखे हैं। रचना क्रम के अनुसार उनके नाटकों के नाम हैं—सज्जन (१९१ ई०) कल्याणी-परिणय (१९१२ ई०) करुणालय (१९१३ ई० प्रायश्चित्त (१९१४ ई०) राज्यश्री (१९१५ ई०) विशाख (१९२१ ई०) अजातशत्रु (१९ २ ई०) कामना (१९२३-२४ ई०) जनमेजय का नागयज्ञ (१९२६ ई०) स्कन्दगुप्त (१९२८ ई०) एक घूँट (१९२९ ई०) चन्द्रगुप्त (१९३१ ई०) और ध्रुवस्वामिनी (१९३३ ई०)।

प्रसाद ने अपने अधिकांश नाटकों के कथानकों का चयन भारत के गौरवपूर्ण अतीत से किया है। ऐसा करने में उनका एक मुख्य उद्देश्य था। यह उद्देश्य देश की

न पाये तो उनके सभी राज्यों को अग्रेज अपने अधिकार मे कर लेंगे। भारत-दुर्दशा में भारतेन्दु का देश-प्रेमी रूप उभर कर सामने आया है। इसकी रचना उन्होंने अपने हृदय के रक्त से की है। देश की दुर्दशा को देखकर हरिश्चन्द्र जी का हृदय द्रवित हो गया था। वे देख रहे थे कि देश की सारी सम्पत्ति को अग्रेज लोग इगलैंड लिये चले जा रहे हैं और यहा के लोग भूखो मर रहे हैं। इसीलिए उन्होंने इसमे अग्रेजो को भारत-दुर्दैव के रूप मे चित्रित करते हुए भारतवासियो के दुर्भाग्य की कहानी को यथार्थ रूप मे प्रस्तुत किया है।

हिन्दी मे नाटको की गौरवपूर्ण परम्परा का प्रवर्त्तन करने का श्रेय भारतेन्दु जी को है। उन्होने वडी ही सावधानी के साथ सस्कृत, प्राकृत, वगला तथा अग्रेजी के नाटको के सफल अनुवाद प्रस्तुत किये। नाट्य-कला के सिद्धान्तो का उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था। साथ ही अनेको हिन्दी-नाटको के अभिनय की व्यवस्था कर स्वय उनमे भाग भी लिया था। इसीलिए वे रगमच की सभी वारीकियो से अवगत थे। अपने नाटकों में उन्होने अभिनेयता का पूर्ण ध्यान रखा है। डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त ने भारतेन्दु जी के विषय मे ठीक ही लिखा है—"यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूढें जिसने नाट्य शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के आधार पर नाट्य-कला पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटकों का अध्ययन व अनुवाद किया हो, जिसने वैयक्तिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय समस्याओ को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एव मौलिक नाटकों की रचना की हो और जिसने नाटकों की रचना ही नही, अपितु उन्हे रगमच पर खेल कर भी दिखाया हो—इन सव विशेषताओ से सम्पन्न नाटककार, हिन्दी मे ही नही—समस्त विश्व-साहित्य में केवल दो-चार ही मिलेंगे, और उन सवमें भारतेन्दु का स्थान सवसे ऊँचा होगा। उनके नाटको मे जीवन और कला, सौन्दर्य और शिव, मनोरजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है।"

भारतेन्दु जी से प्रेरणा पाकर उनके युग के अन्य अनेक लेखक भी नाटक-रचना मे प्रवृत्त हुए। श्रीनिवासदास ने रणवीर और प्रेम मोहिनी', राधाकृष्णदास ने 'दु खिनी वाला' और 'महाराणा प्रताप', खग वहादुरलाल ने 'भारत ललना', वदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'भारत-सौभाग्य', तोताराम वर्मा ने विवाह-विडम्वन', प्रतापनारायण मिश्र ने 'भारत-दुर्दशा रूपक' तथा राधाचरण गोस्वामी ने 'तन-मन-धन श्री गोसाई जी के अर्पण' आदि नाटको की रचना की। प्राय इन सभी नाटको मे सुधारवाद, देश-प्रेम तथा हास्य-व्यग्य की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। इनमे पद्य व्रजभाषा मे तथा गद्य खडी वोली मे प्रयुक्त हुआ है। सस्कृत-नाटको के अधिकांश शास्त्रीय लक्षणो की उपेक्षा की गई है। भाषा पात्रानुकूल है। शैली मे सरसता और रोचकता है।" वस्तुत भारतेन्दु युग का नाटक-साहित्य जनता के वहुत समीप था तथा वह लोक-रजन एव लोक-रक्षण—दोनो के तत्वों से युक्त रहा है। उसने पाठ्य और दृश्य—दोनों रूपो मे तत्कालीन लोक-हृदय का अनुरजन किया।"

(ङ) द्विवेदी-युग और हिन्दी-नाटक—भारतेन्दु युग मे नाटको ने जो प्रगति पकडी, द्विवेदी युग मे आकर वह पुन ठप्प हो गई। द्विवेदी जी का दृष्टिकोण सुधार-

वादी था इसलिए उनकी ओर से मनोरंजन को प्रश्रय देने वाले नाटकों की रचना नहीं के ही बराबर हुई। जिन नाटकों की रचना हुई भी उनके पात्र सात्विक वृत्ति वाले महापुरुष रहे। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास' वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुने मिश्रबन्धु का शिवाजी' आदि इसी प्रकार के नाटक हैं। यद्यपि बदरीनाथ भट्ट ने 'मिस अमेरिका तथा 'विवाह विज्ञापन' जैसे प्रहसन लिखे तथापि उनका मूल दृष्टिकोण सुधारवादी ही है क्योंकि इन प्रहसनों के माध्यम से उन्होंने रीतिकालीन अश्लीलता और पाश्चात्य सभ्यता की कृत्रिमता पर प्रकाश डाला है।

मौलिक नाटकों के अभाव मे इस युग मे अनुवादों की परम्परा चली। बाबू सीताराम ने मायानन्द मृच्छकटिक तथा मालती-माधव के अनुवाद प्रस्तुत किये। रूपनारायण पाण्डेय और रामकृष्ण वर्मा ने बंगला से द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का रूपान्तर किया। नाथूराम प्रेमी और धन्यकुमार जैन ने भी कई बंगला-नाटकों के अनुवाद किये। गंगाप्रसाद पाण्डेय पुरोहित गोपीनाथ मथुरा प्रसाद उपाध्याय आदि ने अंग्रेजी के नाटकों को अनूदित किया। अंग्रेजी के नाटकों में शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद प्रमुख रूप से किया गया।

यही वह समय है जब राधेश्याम कथावाचक नारायण प्रसाद बेताब आगाहश्र कश्मीरी और हरिकृष्ण जौहर ने पारसी नाट्यकला से प्रभावित होकर नाटकों की रचना की। इनके नाटको को साहित्यिक कोटि मे नही रखा जा सकता। इसी युग मे कुछ ऐसे नाटको की भी रचना हुई जो दृश्य-काव्य की अपेक्षा श्रव्य-काव्य के गुणो के अधिक समीप हैं। इस प्रकार के नाटको मे बदरीनाथ भट्ट के 'चन्द्रगुप्त' 'वेनचरित' और 'दुर्गावती' राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकला भानुकुमार' मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास तथा जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'मिलन मधुर' नाटक विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

(ख) प्रसाद युग और हिन्दी नाटक—हिन्दी नाट्य-साहित्य को प्रौढ़ रूप देने का श्रेय जयशंकर प्रसाद को है। उनके हाथों हिन्दी-नाटकों के स्वरूप में एक प्रकृष्ट पूर्ण परिमार्जन आया। प्रसाद से पूर्व के नाटककारो ने अपने नाटको के कथानकों का चयन या तो पुराणो से किया था या फिर उनके कथानक एकदम काल्पनिक थे। प्रसाद ने अपने नाटको के लिए इतिहास की पृष्ठभूमि को रखा। प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटको मे समाज-सुधारक तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहता था प्रसाद ने इस दृष्टिकोण को अलग रखकर सांस्कृतिक एव दार्शनिक चिन्तन को महत्त्व प्रदान किया।

प्रसाद ने एक दर्जन से अधिक नाटक लिखे हैं। रचना क्रम के अनुसार उनके नाटको के नाम है—सज्जन (१९१ ई०) कल्याणी-परिणय (१९१२ ई०) करुणालय (१९१३ ई० प्रायश्चित्त (१९१४ ई०) राज्यश्री (१९१५ ई०) विशाख (१९२१ ई०) अजातशत्रु (१९२२ ई०) कामना (१९२३-२४ ई०) जनमेजय का नागयज्ञ (१९२६ ई०) स्कन्दगुप्त (१९२८ ई०) एक घूँट (१९२९ ई०) चन्द्रगुप्त (१९३१ ई०) और ध्रुवस्वामिनी (१९३३ ई०)।

प्रसाद ने अपने अधिकांश नाटकों के कथानकों का चयन भारत के गौरवपूर्ण अतीत से किया है। ऐसा करने मे उनका एक मुख्य उद्देश्य था। यह उद्देश्य देश की

सोई हुई जनता मे आत्मगौरव, उत्साह, वल एव प्रेरणा का सचार करना था। उनके ऐतिहासिक नाटको मे से अधिकाश उस वौद्ध युग से सम्वद्ध हैं जिस समय मे भारतीय सस्कृति की पताका विश्व के विभिन्न देशो मे फहरा रही थी। प्राचीन इतिहास एव सस्कृति को प्रस्तुत करने के लिए प्रसाद ने वडी सूक्ष्म दृष्टि अपनाई है। एतदर्थ उन्हे भारत के प्राचीन इतिहास का गम्भीर अध्ययन करना पडा है। उनके इसी विशद एव व्यापक अध्ययन का ही परिणाम है कि उनके नाटको मे उस युग का समस्त वाता वरण मुखरित हो गया है जिस युग की पृष्ठभूमि पर वे आधारित हैं। धर्म की वाह्य परिस्थितियो की चिता न करते हुए उन्होने दर्शन की गुत्थियो को सुलझाने मे विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की है। चरित्र चित्रण मे वे विशेष सतर्क रहे हैं। पात्रो के सत्-असत् पक्ष को प्रस्तुत करने मे उन्होंने मनोवैज्ञानिक पद्धति को अपनाया है। यही कारण है कि उनके अधिकाश पात्र अ तर्द्वन्द्व प्रधान है। नारी चरित्र के अकन मे उन्होंने अपनी अत्यन्त भावुक, सहृदय और उदार प्रकृति का परिचय दिया है। एक आलोचक का कथन है—"नारी रूप को जैसी महानता, सूक्ष्मता, शालीनता एव गम्भीरता कवि प्रसाद के हाथो प्राप्त हुई है उससे भी अधिक सक्रिय एव तेजस्वी रूप उसे नाटककार प्रसाद ने प्रदान किया है। प्रसाद के प्राय सभी नाटको मे किसी-न-किसी नारी पात्र की अवतारणा हुई है जो धरती के दु खपूर्ण अन्धकार के वीच प्रसन्नता की ज्योति की भाति उद्दीप्त है, जो पाशविकता, दनुजता और क्रूरता के वीच क्षमा, करुणा एव प्रेम के दिव्य सन्देश की प्रतिष्ठा करती है, जो अपने प्रभाव से दुर्जनो को-सज्जन, दुराचारियो को सदाचारी और नृशस अत्याचारियो को उदार लोक-सेवी वना देती है। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' की उक्ति प्रसाद की इन दिव्य नायिकाओ पर पूर्णत लागू होती है।

शिल्प के क्षेत्र मे प्रसाद जी ने भारतीय एव पाश्चात्य पद्धतियो के वीच सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने प्रसाद की इस विशेषता का उद्घाटन करते हुए लिखा है कि जहा प्रसाद के नाटको मे कथावस्तु, रस, नायक, प्रतिनायक, विदूषक, शील-निरूपण, सत्य और न्याय की विजय मे भारतीय नाट्य-साहित्य की परम्पराओ का पालन हुआ है वहा पाश्चात्य नाटको का सघर्ष एव व्यक्ति-वैचित्र्य का निरूपण भी उनकी रचनाओ मे हुआ है। भारतीय नाटको की रसात्मकता इनमे भरपूर मिलती है तो दूसरी ओर पाश्चात्य नाटको की सी कार्य-व्यापार की गतिशीलता भी उनमे विद्यमान है। भारतीय नाटककार सुखान्त को पसन्द करते हैं—पश्चिम के कलाकार दु खान्त को, प्रसाद ने अपने नाटको का अन्त इस ढग से किया है कि हम उन्हें सुखान्त भी कह सकते हैं और दु खान्त भी, न उन्हे सुखात कह सकते हैं और न दु खान्त ही। वस्तुत उनका अत एक ऐसी वैराग्यपूर्ण भावना के साथ होता है जिसमे नायक की विजय तो हो जाती है, किन्तु वह फल का उपभोग स्वय नही करता, उसे वह प्रतिनायक को ही लौटा देता है। इस प्रकार के विचित्र अत को 'प्रसादात' की सज्ञा दी गयी है।

कतिपय आलोचको ने प्रसाद जी के जटिल कथानको, दृश्यों, लम्बे-लम्बे सवादो, गीतों के प्रचुर प्रयोग, दर्शन के समावेश, भाषा की जटिलता, वातावरण

की गंभीरता आदि को लेकर उनके नाटकों पर अनभिनेयता का दोष लगाया है। किंतु इस विषय में एक बात याद रखनी चाहिए और वह यह कि प्रसाद जी ने अपने नाटकों की रचना अत्यंत परिष्कृत समाज को दृष्टिपथ में रखकर की है, हल्के लोगों और हल्के वालों के लिए नहीं। आलोचक शिवदानसिंह ने बहुत ठीक लिखा है कि "उनके (प्रसाद जी के) अधिकतर नाटक अभिनेय हैं किन्तु अभी तक अच्छ कला के राष्ट्रीय रंगमंच के अभाव में अधिक खेले नहीं जा सके जिससे यह भ्रम पैदा हुआ है। रंगमंच की संभावनाओं का अभी हमारे देश में पूरी तरह विकास ही नहीं हुआ। अब पहले से ही ऐसी धारणाएँ बनाकर एक महान् कलाकार की कृतियों को अनुपयुक्त ठहरा देना अनुचित है।

प्रसाद-युग के अन्य नाटकों में माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन युद्ध, पण्डित गोविंदवल्लभ पंत के वरमाला, राजमुकुट आदि, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र का महात्मा ईसा, मुंशी प्रेमचंद के कर्बला तथा संग्राम आदि मुख्य रूप से उल्लेख्य हैं। गोविंद वल्लभ पंत की नाट्य-कला में 'रहस्य-ग्रन्थि' का विशेष महत्त्व है। यह रहस्यात्मक तत्त्व दर्शकों के हृदय में जिज्ञासा और कौतूहल की रक्षा करता है। पन्त जी के संवादों में सजीवता और नाटकीयता पायी जाती है। उनकी भाषा संयत सरस और प्रवाहमयी है।

(ख) प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटक—प्रसाद के उपरान्त हिंदी-नाटकों ने विशेष बल पकड़ा है। उनके पश्चात् ऐतिहासिक, समस्यामूलक, गीत नाट्य, प्रतीक नाटक, रेडियो नाटक आदि विविध प्रकार के नाटक रचे गये हैं और निरन्तर रचे जा रहे हैं।

ऐतिहासिक नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावनलाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री तथा जगदीशचन्द्र माथुर के नाम उल्लेखनीय हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटकों में रक्षा-बन्धन (१९३४ ई) शिवा-साधना (१९३७ ई) प्रतिशोध (१९३७ ई) आहुति (१९४ ई) स्वप्न भंग (१९४ ई) विषपान (१९४५ ई) तथा शपथ (१९५१ ई) विशेष प्रसिद्ध हुये हैं। प्रेमी जी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में मुसलमानी शासन-काल की झाँकी प्रस्तुत कर हिन्दू मुस्लिम एकता का अच्छा प्रयत्न किया है। वृन्दावनलाल वर्मा ने राखी की लाज (१९४३ ई) काश्मीर का काँटा (१९४८ ई) झाँसी की रानी (१९४८ ई) हंस-मयूर (१९४६ ई) बीरबल (१९५) जहाँदारशाह (१९५ ई) आदि ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। उनके इन नाटकों में इतिहास और कल्पना के बीच सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया है। तत्कालीन समाज के जीते-जागते चित्र इनमें हैं। अभिनेयता की दृष्टि से भी वर्मा जी के नाटक उत्तम हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अमर राठौर और उत्सर्ग तथा जगदीशचन्द्र माथुर ने कोणार्क की रचना कर ऐतिहासिक नाटक-साहित्य को अच्छा योगदान दिया है।

इब्सन और बर्नार्ड शा से प्रभावित होकर हिंदी में कुछ समस्या-नाटक भी लिखे गये हैं। श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने स्वर्ग की झलक (१९३९ ई) कैद (१९४५ ई) छठा बेटा (१९४९ ई) उड़ान (१९४९ ई) आदि मार्ग (१९५० ई)

आदि नाटको के माध्यम से समाज की विभिन्न समस्याओ पर अच्छा प्रकाश डाला है। पुरुष तथा नारी के पारस्परिक सम्बन्ध तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओ का अकन करने में लक्ष्मीनारायण मिश्र को अच्छी सफलता मिली है। उनके समस्याप्रधान नाटको मे सन्यासी (१६३१ ई०), राक्षस का मन्दिर (१६३१ ई०), मुक्ति का रहस्य (१६३२ ई०), सिन्दूर की होली (१६३४ ई०), आधी रात (१६३६ ई०), गुडिया का घर तथा वत्सराज आदि मुख्य हैं। सेठ गोविन्ददास ने दार्शनिक, नैतिक एव व्यावहारिक समस्याओ को लेकर नाटक-रचना की है। हर्ष, प्रकाश (१६३५ ई०), कर्त्तव्य (१६३५ ई०), सेवा-पथ (१६४० ई०), दु ख क्यो (१६४६), वडा पापी कौन (१६४८ ई०) आदि उनके मुख्य नाटक हैं। इन सभी समस्या-नाटकों मे रगमचीय गुण विद्यमान है।

हिंदी-गीतिनाट्यो का प्रारम्भ तो प्रसाद जी के करुणालय, मैथिलीशरण के तथा सियारामशरण गुप्त के उन्मुक्त तथा प्रेमी का स्वर्णविहान आदि से ही हो जाता है, किंतु उनका प्रकर्ष आधुनिक युग मे ही हुआ है। गीतिनाट्यों के लेखन मे उदयशकर भट्ट को अच्छी सफलता मिली है। कालिदास, मत्स्यगधा, विश्वामित्र तथा राधा आदि इनके गीतिनाट्य रेडियो से भी प्रसारित किये जा चुके हैं। प्रस्तुत गीति नाट्यो के अतिरिक्त दिनकर के 'मगध महिमा' और 'उर्वशी', सुमित्रानन्दन पन्त के 'शिल्पी', 'रजतशिखर' 'विद्युत वसना', 'शुभ्र पुरुष' आदि, भगवती चरण वर्मा के 'कर्ण', महा-काल', तथा 'द्रौपदी' सिद्धनाथकुमार के 'लौह देवता' तथा धर्मवीर भारती के अन्धा युग' आदि को अच्छी ख्याति प्राप्त हुई है। केदारनाथ मिश्र तथा जानकी वल्लभ शास्त्री ने भी कुछ गीति-नाट्य लिखे हैं। इन गीति-नाट्यो की विशेषता यह है कि इनमे वाह्य सघर्ष की अपेक्षा मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण को प्रधानता दी जाती है।

हिंदी मे उदशकर भट्ट तथा लक्ष्मी नारायणलाल ने कुछ प्रतीक नाटक भी लिखे हैं। इन नाटको पर मैटरलिक तथा टैगोर के राजा' का प्रभाव है। भट्ट जी का 'विश्वामित्र' गीति-नाट्य होते हुये भी उसकी पौराणिक कथा को प्रतीक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। लक्ष्मी नारायणलाल के 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस' और 'अन्धा कुआँ' प्रतीक-नाटक पर्याप्त लोक-प्रिय हुये हैं।

आज रेडियो-नाटक के विभिन्न प्रकारो, जैसे रेडियो-रूपक, फीचर, ध्वनि-नाट्य, स्वोक्ति, फैण्टेसी, ध्वनि गीति-रूपक, रिपोर्ताज, जन-नाटक और व्यग्य की भी रचना हिन्दी मे वडी द्रुत गति से हो रही है। रेडियो-नाटक के इन सभी रूपो पर पाश्चात्य प्रभाव है।

अभी तक चलचित्रो को साहित्य मे स्थान नहीं दिया गया है।

उपसहार

हिन्दी मे नाटको का जो अदृष्टपूर्व विकास हो रहा है, उसे देखते हुये यह आशा की जाती है कि नाटको के क्षेत्र मे हिन्दी साहित्य शीघ्र ही विश्व के प्रगतिशील साहित्यो के नाटको से होड ले सकेगा। वस्तुत' आज के मानव के वैविध्यपूर्ण जीवन को नाटक के विकसित होते हुये विभिन्न रूपों के माध्यम से ही अधिक सफलता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। निम्सन्देह हिन्दी-नाटक का भविष्य वडा उज्ज्वल है।

की गंभीरता आदि को लेकर उनके नाटकों पर अनभिनेयता का दोष लगाया है। किंतु इस विषय में एक बात याद रखनी चाहिए और वह यह कि प्रसाद जी ने अपने नाटकों की रचना अत्यंत परिष्कृत समाज को दृष्टिपथ में रखकर की है इनके लोंदे और ठेंगे वालों के लिए नहीं। आलोचक शिवदानसिंह ने बहुत ठीक लिखा है कि 'उनके (प्रसाद जी के) अधिकतर नाटक अभिनेय हैं किन्तु अभी तक अ ष्ठ कला के राष्ट्रीय रंगमंच के अभाव में अधिक खेले नहीं जा सके जिससे यह भ्रम पैदा हुआ है। रंगमंच की संभावनाओं का अभी हमारे देश में पूरी तरह विकास ही नहीं हुआ। अत पहले से ही ऐसी धारणाएं बनाकर एक महान् कलाकार की कृतियों को अनुपयुक्त ठहरा देना अनुचित है।

प्रसाद-युग के अन्य नाटकों म माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन युद्ध पण्डित गोविन्दवल्लभ पंत के वरमाला राजमुकुट आदि पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र का महात्मा ईसा मुंशी प्रेमचन्द क कर्बला तथा संग्राम आदि मुख्य रूप से उल्लेख्य हैं। गोविन्द वल्लभ पंत की नाट्य-कला मे रहस्य-ग्रन्थि का विशेष महत्त्व है। यह रहस्यात्मक तत्त्व दर्शकों के हृदय में जिज्ञासा और कौतूहल की रक्षा करता है। पन्त जी के संवादों मे सजीवता और नाटकीयता पायी जाती है। उनकी भाषा संयत सरल और प्रवाहमयी है।

(ख) प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटक—प्रसाद के उपरान्त हिंदी-नाटकों ने विशेष बल पकड़ा है। उनके पश्चात् ऐतिहासिक समस्यामूलक गीत नाट्य प्रतीक नाटक रेडियो नाटक आदि विविध प्रकार के नाटक रचे गये हैं और निरन्तर रचे जा रहे हैं।

ऐतिहासिक नाटककारो मे हरिकृष्ण प्रेमी वृन्दावनलाल वर्मा आचार्य चतुरसेन शास्त्री तथा जगदीशचन्द्र माथुर के नाम उल्लेखनीय हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटको मे रक्षा-बन्धन (१६३४ ई) शिवा-साधना (१६३७ ई) प्रतिशोध (१६३७ ई) आहुति (१६४ ई) स्वप्न भंग (१६४ ई) विषपान (१६४२ ई) तथा शपथ (१६५१ ई) विशेष प्रसिद्ध हुये हैं। प्रेमी जी ने अपने ऐतिहासिक नाटको मे मुसलमानी शासन-काल की झाँकी प्रस्तुत कर हिन्दू-मुस्लिम एकता का अच्छा प्रयत्न किया है। वृन्दावनलाल वर्मा ने राखी की लाज (१६४३ ई) काश्मीर का काँटा (१६४८ ई) झाँसी की रानी (१६४८ ई) हंस-मयूर (१६४६ ई) बीरबल (१६५) जहाँदारशाह (१६५ ई) आदि ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। उनके इन नाटको मे इतिहास और कल्पना के बीच सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया है। तत्कालीन समाज के जीते-जागते चित्र इनमें हैं। अभिनेयता की दृष्टि से भी वर्मा जी के नाटक सफल हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अमर राठौर और उत्सर्ग तथा जगदीशचन्द्र माथुर ने कोणार्क की रचना कर ऐतिहासिक नाटक-साहित्य को अच्छा योगदान दिया है।

इब्सन और बर्नार्ड शा से प्रभावित होकर हिंदी मे कुछ समस्या-नाटक भी लिखे गये हैं। श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने स्वर्ग की झलक (१६३६ ई) कैद (१६४२ ई) छठा बेटा (१६४६ ई) उड़ान (१६४६ ई) आदि मार्ग (१६५ ई)

आदि नाटको के माध्यम से समाज की विभिन्न समस्याओ पर अच्छा प्रकाश डाला है। पुरुष तथा नारी के पारस्परिक सम्बन्ध तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओ का अकन करने मे लक्ष्मीनारायण मिश्र को अच्छी सफलता मिली है। उनके समस्याप्रधान नाटको मे सन्यासी (१६३१ ई०), राक्षस का मन्दिर (१६३१ ई०), मुक्ति का रहस्य (१६३२ ई०), सिन्दूर की होली (१६३४ ई०), आधी रात (१६३६ ई०), गुडिया का घर तथा वत्सराज आदि मुख्य हैं। सेठ गोविन्ददास ने दार्शनिक, नैतिक एव व्यावहारिक समस्याओ को लेकर नाटक-रचना की है। हर्ष, प्रकाश (१६३५ ई०), कर्त्तव्य (१६३५ ई०), सेवा-पथ (१६४० ई०), दुख क्यो (१६४६), वडा पापी कौन (१६४८ ई०) आदि उनके मुख्य नाटक हैं। इन सभी समस्या-नाटको मे रगमचीय गुण विद्यमान है।

हिंदी-गीतिनाट्यो का प्रारम्भ तो प्रसाद जी के करुणालय, मैथिलीशरण के तथा सियारामशरण गुप्त के उन्मुक्त तथा प्रेमी का स्वर्णविहान आदि से ही हो जाता है, किंतु उनका प्रकर्ष आधुनिक युग मे ही हुआ है। गीतिनाट्यो के लेखन मे उदयशकर भट्ट को अच्छी सफलता मिली है। कालिदास, मत्स्यगधा, विश्वामित्र तथा राधा आदि इनके गीतिनाट्य रेडियो से भी प्रसारित किये जा चुके हैं। प्रस्तुत गीति नाट्यो के अतिरिक्त दिनकर के 'मगध महिमा' और 'उर्वशी', सुमित्रानन्दन पन्त के 'शिल्पी', 'रजतशिखर' 'विद्युत वसना', 'शुभ्र पुरुष' आदि, भगवती चरण वर्मा के 'कर्ण', महा-काल', तथा 'द्रौपदी' सिद्धनाथकुमार के 'लौह देवता' तथा धर्मवीर भारती के अन्धा युग' आदि को अच्छी ख्याति प्राप्त हुई है। केदारनाथ मिश्र तथा जानकी वल्लभ शास्त्री ने भी कुछ गीति-नाट्य लिखे हैं। इन गीति-नाट्यो की विशेषता यह है कि इनमे वाह्य सघर्ष की अपेक्षा मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण को प्रधानता दी जाती है।

हिंदी मे उदशकर भट्ट तथा लक्ष्मी नारायणलाल ने कुछ प्रतीक नाटक भी लिखे हैं। इन नाटको पर मैटरलिक तथा टैगोर के राजा' का प्रभाव है। भट्ट जी का 'विश्वामित्र' गीति-नाट्य होते हुये भी उसकी पौराणिक कथा को प्रतीक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। लक्ष्मी नारायणलाल के 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस' और 'अन्धा कुआँ' प्रतीक-नाटक पर्याप्त लोक-प्रिय हुये हैं।

आज रेडियो-नाटक के विभिन्न प्रकारो, जैसे रेडियो-रूपक, फीचर, ध्वनि-नाट्य, स्वोक्ति, फैण्टेसी, ध्वनि गीति-रूपक, रिपोर्ताज, जन-नाटक और व्यग्य की भी रचना हिन्दी मे वडी द्रुत गति से हो रही है। रेडियो-नाटक के इन सभी रूपो पर पाश्चात्य प्रभाव है।

अभी तक चलचित्रो को साहित्य मे स्थान नही दिया गया है।

उपसहार

हिन्दी मे नाटको का जो अदृष्टपूर्व विकास हो रहा है, उसे देखते हुये यह आशा की जाती है कि नाटको के क्षेत्र मे हिन्दी साहित्य शीघ्र ही विश्व के प्रगतिशील साहित्यो के नाटको से होड ले सकेगा। वस्तुत आज के मानव के वैविध्यपूर्ण जीवन को नाटक के विकसित होते हुये विभिन्न रूपो के माध्यम से ही अधिक सफलता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। निम्सन्देह हिन्दी-नाटक का भविष्य वडा उज्ज्वल है।

७६

हिन्दी एकांकी स्वरूप एवं विकास

१ एकांकी से अभिप्राय ।
२ एकांकी की विशेषताएं
३ एकांकी के तत्व
४ एकांकी तथा नाटक में अन्तर
५ एकांकी के भेद
६ एकांकी का उद्भव
७ संस्कृत एवं प्राकृत में एकांकी
८ हिन्दी में एकांकी का विकास—(अ) भारतेन्दुपूर्व युग (आ) भारतेन्दु युग (इ) द्विवेदी युग (ई) प्रसाद युग (उ) आधुनिक युग
९ उपसंहार

एकांकी से अभिप्राय:

एकांकी से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है जिसमे सम्पूर्ण कथानक की समाप्ति एक ही अंक मे हो जाती है । नाटक के प्रकार विशेष का यह नाम अंग्रेजी के 'वन एक्ट प्ले' के आधार पर रखा गया है । एकांकी में नाटक के तो सभी तत्त्व होते ही हैं, साथ ही उसमे कुछ ऐसी अन्य विशेषताएँ भी होती हैं जिनके कारण समालोचकों ने इस साहित्य को सर्वथा स्वतन्त्र विधान के रूप में उसी प्रकार स्वीकार कर लिया है जिस प्रकार उपन्यास और कहानी के तत्वों मे पर्याप्त समानता होने पर भी अपनी-अपनी कुछ निजी विशेषताओं के कारण उनको स्वतन्त्र विधाओं के रूप मे मान लिया है ।

एकांकी की विशेषताएँ

एकांकी-कला पर विचार करने वाले विद्वानो मे डॉ रामकुमार वर्मा, डॉ नगेन्द्र डॉ रामचरण महेन्द्र डॉ रामगोपालसिंह चौहान डॉ एस पी खत्री श्री उपेन्द्रनाथ अश्क प्रो सद्गुरुशरण अवस्थी सेठ गोविन्ददास आदि विद्वानों ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है । यहाँ पर इन सभी के मतों को उद्धृत कर उनकी समीक्षा करना असम्भव ही है, अत केवल डॉ रामकुमार वर्मा के विवेचन को देख लेना ही पर्याप्त होगा क्योंकि एकांकी के विषय में उनका विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ है ।

डॉ० वर्मा के इस विवेचन को, निष्कर्ष-रूप मे प्रस्तुत करते हुए डॉ० रामचरण महेन्द्र ने एकाकी की विशेषताओं का इस प्रकार उल्लेख किया है—

(१) एकाकी मे आधार-रूप से एक ही मुख्य घटना या जीवन की एक प्रमुख सवेदना होनी चाहिए जिसका विकास कौतूहल और जिज्ञासापूर्ण नाटकीय शैली मे होना चाहिए। चरम सीमा पर पहुच कर एकाकी का अन्त होना चाहिए। इसी वात को यदि डॉ० वर्मा के शब्दो मे कहना चाहे तो कह सकते हैं— 'एकाकी नाटकों मे अन्य प्रकारो के नाटको से विशेषता होती है। उनमे एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का सयमन करती हुई चरम सीमा तक पहुचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसग नही रहता। विस्तार के अभाव मे प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमे लता की भाति फैलने की विशृखलता नही होती।''

(२) एकाकी मे अभिव्यजित घटनाओ का चुनाव दैनिक जीवन से हो तथा उसमे यथार्थवाद एव मनोरञ्जन के तत्त्वो का उचित समावेश होना चाहिए।

(३) दो विरोधी पात्रो के वर्गो या मनुष्यो के दो प्रकार के भावों में सघर्ष होने से नाटक का ताना-वाना वनता है। सघर्ष (Conflict) एकाकी का प्राण है। इसकी अभिव्यञ्जना का आधार मनोविज्ञान होना चाहिए।

(४) एकाकी के कथानक मे कौतूहल (Suspense) तथा जिज्ञासा (Curiosity), क्षिप्रगति और चरम सीमा (Climax) मे परिणति होनी चाहिए।

(५) यथार्थवाद की रक्षा के लिए सहज स्वाभाविक चित्रण रहे, किन्तु आदर्शवाद की ओर सकेत हो सकता है।

(६) कला-पक्ष मे एकाकी की स्वाभाविकता और जीवन से निकटता वनाये रखने के लिए सकलन-त्रय (Three Unities) का कठोरता से पालन होना चाहिए। आकार छोटा रहे और अवधि कम लगे। उसमे पात्रो के चरित्र अथवा घटना को सक्षेप मे प्रकट करने की क्षमता होनी चाहिए।

डॉ० वर्मा द्वारा निर्दिष्ट एकाकी की उपर्युक्त विशेषताओ मे से कुछ के प्रति कतिपय विद्वानो ने अपना विरोध भी प्रदर्शित किया है। उदाहरणार्थ डॉ० वर्मा प्रभाव-साम्य, सकलन-त्रय तथा चरमोत्कर्ष पर विशेष बल देते हैं, किन्तु डॉ० नगेन्द्र चरमोत्कर्ष को विशेष महत्त्व प्रदान नहीं करते। उनका कथन है कि चरमोत्कर्ष के अभाव मे भी सफल एकाकी की रचना हो सकती है। अपने कथन की पुष्टि के लिए वे सेठ गोविन्ददास के 'स्पर्धा' नामक एकाकी का हवाला देते हुए कहते हैं कि यद्यपि इस एकाकी में चरमोत्कर्ष की स्थिति नही है, किन्तु फिर भी यह पूर्ण सफल एकाकी है। सकलन-त्रय के भी विषय में उनका मत है कि उसका पालन साधारणत किया जा सकता है, कठोरता के साथ नही। डॉ० सत्येन्द्र सकलन-त्रय को तो अनिवार्य मानते हैं, परन्तु चरमोत्कर्ष को अधिक महत्त्व नही देते। वस्तुत इन विरोधो में कोई तात्त्विक अन्तर नही है। ऐसी स्थिति मे डॉ० वर्मा के मत को ही मान लेना चाहिए।

७६

हिन्दी एकांकी : स्वरूप एवं विकास

१ एकांकी से अभिप्राय।
२ एकांकी की विशेषताएँ
३ एकांकी के तत्त्व
४ एकांकी तथा नाटक में अन्तर
५ एकांकी के भेद
६ एकांकी का उद्भव
७ संस्कृत एवं प्राकृत में एकांकी
८ हिन्दी में एकांकी का विकास—(अ) भारतेन्दु-पूर्व युग (आ) भारतेन्दु युग (इ) द्विवेदी-युग (ई) प्रसाद युग (उ) आधुनिक युग
९ उपसंहार

एकांकी से अभिप्राय

एकांकी से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है जिसमें सम्पूर्ण कथानक की समाप्ति एक ही अंक में हो जाती है। नाटक के प्रकार विशेष का यह नाम अंग्रेजी के 'वन एक्ट प्ले' के आधार पर रखा गया है। एकांकी में नाटक के तो सभी तत्त्व होते ही हैं साथ ही उसमें कुछ ऐसी अन्य विशेषताएँ भी होती हैं जिनके कारण समालोचकों ने इसे साहित्य की सर्वथा स्वतन्त्र विधा के रूप में उसी प्रकार स्वीकार कर लिया है जिस प्रकार उपन्यास और कहानी के तत्त्वों में पर्याप्त समानता होने पर भी अपनी-अपनी कुछ निजी विशेषताओं के कारण उनको स्वतन्त्र विधाओं के रूप में मान लिया है।

एकांकी की विशेषताएँ

एकांकी-कला पर विचार करने वाले विद्वानों में डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. रामचरण महेन्द्र, डॉ. रामगोपालसिंह चौहान, डॉ. एस. पी. खत्री, श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, सेठ गोविन्ददास आदि विद्वानों ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। यहाँ पर हम सभी के मतों को उद्धृत कर उनकी समीक्षा करना असम्भव ही है, अतः केवल डॉ. रामकुमार वर्मा के विवेचन को देख लेना ही पर्याप्त होगा क्योंकि एकांकी के विषय में उनका विवेचन पर्याप्त प्रौढ़ है।

डॉ० वर्मा के इस विवेचन को, निष्कर्ष-रूप मे प्रस्तुत करते हुए डॉ० रामचरण महेन्द्र ने एकाकी की विशेषताओ का इस प्रकार उल्लेख किया है—

(१) एकाकी मे आधार-रूप से एक ही मुख्य घटना या जीवन की एक प्रमुख सवेदना होनी चाहिए जिसका विकास कौतूहल और जिज्ञासापूर्ण नाटकीय शैली मे होना चाहिए। चरम सीमा पर पहुच कर एकाकी का अन्त होना चाहिए। इसी बात को यदि डॉ० वर्मा के शब्दो मे कहना चाहें तो कह सकते हैं—'एकाकी नाटको मे अन्य प्रकारो के नाटको से विशेषता होती है। उनमे एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का सयमन करती हुई चरम सीमा तक पहुचती है। उसमे कोई अप्रधान प्रसग नही रहता। विस्तार के अभाव मे प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमे लता की भाति फैलने की विशृखलता नही होती।"

(२) एकाकी मे अभिव्यजित घटनाओ का चुनाव दैनिक जीवन से हो तथा उसमे यथार्थवाद एव मनोरञ्जन के तत्वो का उचित समावेश होना चाहिए।

(३) दो विरोधी पात्रो के वर्गो या मनुष्यो के दो प्रकार के भावो मे सघर्ष होने से नाटक का ताना-बाना बनता है। सघर्ष (Conflict) एकाकी का प्राण है। इसकी अभिव्यञ्जना का आधार मनोविज्ञान होना चाहिए।

(४) एकाकी के कथानक मे कौतूहल (Suspense) तथा जिज्ञासा (Curiosity), क्षिप्रगति और चरम सीमा (Climax) मे परिणति होनी चाहिए।

(५) यथार्थवाद की रक्षा के लिए सहज स्वाभाविक चित्रण रहे, किन्तु आदर्शवाद की ओर सकेत हो सकता है।

(६) कला-पक्ष मे एकाकी की स्वाभाविकता और जीवन से निकटता बनाये रखने के लिए सकलन-त्रय (Three Unities) का कठोरता से पालन होना चाहिए। आकार छोटा रहे और अवधि कम लगे। उसमे पात्रो के चरित्र अथवा घटना को सक्षेप मे प्रकट करने की क्षमता होनी चाहिए।

डॉ० वर्मा द्वारा निर्दिष्ट एकाकी की उपर्युक्त विशेषताओं में से कुछ के प्रति कतिपय विद्वानो ने अपना विरोध भी प्रदर्शित किया है। उदाहरणार्थ डॉ० वर्मा प्रभाव-साम्य, सकलन-त्रय तथा चरमोत्कर्ष पर विशेष बल देते हैं, किन्तु डॉ० नगेन्द्र चरमोत्कर्ष को विशेष महत्त्व प्रदान नही करते। उनका कथन है कि चरमोत्कर्ष के अभाव मे भी सफल एकाकी की रचना हो सकती है। अपने कथन की पुष्टि के लिए वे सेठ गोविन्ददास के 'स्पर्धा' नामक एकाकी का हवाला देते हुए कहते हैं कि यद्यपि इस एकाकी में चरमोत्कर्ष की स्थिति नही है, किन्तु फिर भी यह पूर्ण सफल एकाकी है। सकलन-त्रय के भी विषय मे उनका मत है कि उसका पालन साधारणत किया जा सकता है, कठोरता के साथ नहीं। डॉ० सत्येन्द्र सकलन-त्रय को तो अनिवार्य मानते हैं, परन्तु चरमोत्कर्ष को अधिक महत्त्व नही देते। वस्तुत इन विरोधो मे कोई तात्त्विक अन्तर नही है। ऐसी स्थिति मे डॉ० वर्मा के मत को ही मान लेना चाहिए।

एकांकी के तत्व

डॉ रामचरण महेन्द्र ने एकांकी के आठ तत्व निर्धारित किये हैं—(१) कथावस्तु (२) संघर्ष या द्वन्द्व (३) संकलन-त्रय (४) पात्र और चरित्र-चित्रण (५) कथोपकथन (६) अभिनयशीलता (७) रंगमंच निर्देश और (८) प्रभाव ऐक्य। डॉ गणपतिचन्द्र गुप्त ने एकांकी के सात तत्व गिनाये हैं—(१) कथावस्तु, (२) पात्र (३) कथोपकथन (४) देशकाल (५) शैली (६) उद्देश्य (विचार) और (७) भावना। डॉ रामगोपालसिंह चौहान ने एकांकी के केवल तीन तत्व स्वीकार किये हैं और अन्य पांच तत्वों का इन्हीं तीन तत्वों में समाहार कर दिया है। उनके अनुसार एकांकी के निम्नांकित तत्व हैं—

१ कथा { कथा / चरित्र चित्रण / उद्देश्य।

२ संवाद { संवाद / भाषा-शैली।

३ दृश्य विधान { वातावरण-सृजन देशकाल / रंग-निर्देश।

डॉ चौहान द्वारा बताये गये तत्वों का विवेचन अपेक्षाकृत सूक्ष्मतर होने के कारण अधिक वैज्ञानिक माना जा सकता है।

एकांकी तथा नाटक में अन्तर

प्रस्तुत निबन्ध के प्रारम्भ में ही यह बात कही जा चुकी है कि एकांकी तथा नाटक के अनेक तत्व समान होते हुए भी एकांकी साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा है। नाटक के विपरीत उसकी अपनी निजी विशेषताएँ हैं। यहां पर एकांकी की इन्हीं निजी विशेषताओं पर प्रकाश डालना हमारा उद्देश्य है।

यदि एकांकी तथा नाटक के अन्तर को डॉ रामचरण महेन्द्र के शब्दों में स्पष्ट करना चाहें तो कुछ सकते हैं कि एकांकी का नाटक से वही सम्बंध है जो कहानी का उपन्यास से अथवा खण्डकाव्य का महाकाव्य से। नाटक में जीवन का विस्तार लम्बाई और परिधि का विस्तार है उसका क्षेत्र जीवन की भांति सुविस्तृत है। एकांकी का क्षेत्र सीमित है परिधि संकुचित है और जीवन का एक पहलू ही चित्रित करने का उसका कार्य है। एकांकी थोड़े से समय में मानव-जीवन की एक झांकी मात्र दे देता है। वह किसी विशेष पहलू पर प्रकाश डालता है। नाटक में जीवन की बहुलता अनेक रूपता और घटना-बाहुल्य है एकांकी में एकरूपता एक समस्या एक पहलू या जीवन का उद्दीप्त क्षण है। एकांकी में मितव्ययता और संक्षिप्तता का महत्व है। एकांकी के कथानक सरल होते हैं। नाटक में कथानक जटिल होता है और उसमें सहायक कथाओं को स्थान प्राप्त हो जाता है। एकांकी प्रायः संघर्ष-स्थल से प्रारम्भ होता है और शीघ्र ही गति पकड़ कर चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है। नाटक की गति धीमी होती है, एकांकी में वेग-सम्पन्न प्रवाह का महत्व है।

एकाकी मे सकलन-त्रय का होना महत्त्वपूर्ण है। यही उसे जीवन का यथार्थवादी चित्र बनाता है।' ' 'बडे नाटक मे सकलन-त्रय का निर्वाह आवश्यक नही है।

एकाकी तथा नाटक के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने अपना जो मत व्यक्त किया है, वह भी बहुत-कुछ अशो मे डॉ० रामचरण महेन्द्र से ही मिलता-जुलता हैं। डॉ० गुप्त का कथन है—"एकाकी मे एक अक, एक घटना, एक कार्य और एक समस्या होती है जबकि नाटक मे कई अको, घटनाओ, कार्यों और समस्याओ का आयोजन हो सकता है। अत स्थूल दृष्टि से एकाकी नाटक से बहुत लघु और सीमित होता है किन्तु फिर भी किसी छोटे नाटक को एकाकी या बडे एकाकी को छोटा नाटक नही कह सकते। नाटक से निकाल कर अलग किये गये एक अक को भी एकाकी नही कहा जा सकता। एकाकी अपने आप मे पूर्ण होता है तथा उसकी सत्ता, उसका व्यक्तित्व एव उसकी चाल-ढाल नाटक से बहुत कुछ भिन्न होती है। एकाकीकार अपने लक्ष्य की ओर सीधा दौडता है, जबकि नाटककार धीरे-धीरे आगे बढता है। एकाकी की शैली मे सक्षिप्तता एव गतिशीलता होती है।"

डॉ० रामगोपालसिंह ने एकाकी तथा नाटक के मूलभूत जिन भेदो पर प्रकाश डाला है उन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) एकाकी मे एक अङ्क होता है, अनेकाकी मे अनेक अङ्क होते हैं।

(२) एकाकी मे केवल एक ही कथा या घटना का चित्रण होता है। अनेकाकी मे एक आधिकारिक तथा एक या अनेक प्रासगिक कथाएँ भी होती हैं।

(३) एकाकी मे पात्रो के क्रिया-कलापो को इस रूप मे सगठित किया जाता है कि एक सीमित क्षेत्र मे ही पात्रो के चारित्रिक तथा मानसिक घात-प्रतिघात तथा कथा-प्रसग तथा चीजो की मूल चारित्रिक विशेषताओ द्वारा कथा का मर्म स्पष्ट हो जाय।

(४) एकाकी मे अनेकांकी की भांति धीरे-धीरे कथा के आरम्भ प्रयत्न, प्राप्त्याशा आदि के विकास की गुजाइश नही होती। एकाकी मे तो कथा आरम्भ से ही एक आवेग के साथ आरम्भ होती है और जिज्ञासा तथा विस्मय की आरोह-अवरोहपूर्ण गति के साथ चरमसीमा की ओर विकास करती है और चरमसीमा पर पहुचकर जिज्ञासा और विस्मय पुजीभूत होता है और कथा का आकस्मिक पटाक्षेप हो जाता है। एकाकी की कथा चरमसीमा पर पहुच कर फिर आगे नही बढती। एकाकी की कथा में एक घनत्व होता है और अनेकाकी की कथा मे फैलाव।

(५) एकाकी कम-से-कम दस मिनट और अधिक-से-अधिक एक घण्टे का हो सकता है। अनेकाकी की कथा कई घण्टो मे समाप्त होती है। इसलिए अनेकाकी की अपेक्षा एकाकी में कथा के गठन मे क्षिप्रता, घटनाओ के क्रम मे वेग, सवादो मे अधिक चुस्ती और साकेतिकता होती हैं। एकाकी के सवादो मे एक साथ चरित्र तथा कथा का विकास और पात्रो तथा कथा से सम्बन्धित घटनाओ का सकेत और उद्घाटन भी होता चलता है।

(६) एकाकी [illegible] अनेकाकी मे चरित्र मे अधिक [illegible] का

अवसर रहता है। एकांकी में उसका अवसर नहीं होता । एकांकी में भी पात्रों के चरित्र का उतार चढ़ाव तथा द्वन्द्व तो होता है, पर ऐसा जो पात्र के सम्पूर्ण जीवन को अपने परिवेश में नहीं घेरता। एकांकी म चित्रित चरित्र के आधार पर हम बहुधा किसी पात्र के सम्पूर्ण जीवन की चारित्रिक विशेषता का अनुमान नहीं लगा सकते।

डॉ॰ चौहान द्वारा निर्दिष्ट उपयुक्त एकांकी तथा अनेकांकी के अन्तर को प्रमाण-रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।

एकांकी के भेद

मूल प्रवृत्तियो के आधार पर डॉ सत्येन्द्र ने एकांकी के आठ भेद किए हैं—(१) आलोचक एकांकी जो मानव-जीवन की त्रुटियो की आलोचना करते हैं। (२) विवेकवान एकांकी जिसमे वाद विवाद द्वारा आलोचना प्रत्यालोचना की जाती है। (३) भावुक एकांकी जिसमे भावुकता का प्राधान्य होता है। (४) समस्या एकांकी जिसमे किसी समस्या का चित्रण होता है। (५) अनुभूतिमय एकांकी। (६) व्याख्यामूलक एकांकी। (७) आदर्शमूलक एकांकी। (८) प्रगतिवादी एकांकी।

विषयो के आधार पर एकांकी के पांच भेद माने गये हैं—(१) सामाजिक (२) पौराणिक (३) ऐतिहासिक (४) राजनीतिक और (५) साहित्यिक।

रचना प्रकार की दृष्टि से डॉ रामचरण महेन्द्र ने नौ प्रकार के एकांकी बताये हैं—(१) सुखान्त (२) दुखान्त (३) प्रहसन (४) फॅटेसी (५) गीति नाट्य या ऑपेरा (६) झाँकी (७) संवाद या सम्भाषण (८) स्वोक्ति रूपक या मोनोड्रामा (९) रेडियो प्ले। एकांकियो के इस भेदीकरण मे डॉ महेन्द्र ने सम्भवत पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि को अपनाया है। अन्त विचार से कोई भी नाटक तीन प्रकार का हो सकता है—सुखान्त दुखान्त अथवा समन्वयात्मक (प्रसादान्त)। हास्य प्रधान एकांकी को प्रहसन की संज्ञा दी गई है। फॅटेसी मे रोमास और कल्पना का आधिक्य रहता है। गीतिनाट्य मे काव्यात्मकता की प्रचुरता होती है। झाँकी मे केवल एक छोटा-सा दृश्य प्रस्तुत कर दिया जाता है। सम्भाषण में केवल दो पात्रों के बीच बातचीत का विधान किया जाता है। मोनोड्रामा मे केवल एक पात्र रंगमंच पर उपस्थित होता है और वह स्वगत कथन के रूप में किसी पूर्व घटना अथवा आपबीती को व्यक्त करता है। रेडियो प्ले मे ध्वनि के उतार चढ़ाव की प्रमुखता रहती है।

सवेग को ध्यान मे रखते हुये एकांकियो के चार भेद किये गये हैं—(१) आदर्शवादी (२) यथार्थवादी (३) प्रकृतवादी तथा (४) मनोरंजनवादी।

अभिनेयता की दृष्टि से एकांकियों को दो वर्गों मे रखा गया है-(१) पठनीय और (२) रगमचीय।

वस्तुत एकांकियो के स्वरूप विषय शैली सम्वेदना आदि मे निरन्तर विकास होने की सम्भावना है ऐसी स्थिति मे एकांकियो के भेदों की संख्या में सदैव विकास और परिवर्तन होता रहेगा। अत उपर्युक्त भेदों मे से किसी को भी वास्तविक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

एकाकी मे सकलन-त्रय का होना महत्त्वपूर्ण है। यही उसे जीवन का यथार्थवादी चित्र बनाता है।' ...वडे नाटक मे सकलन-त्रय का निर्वाह आवश्यक नही है।

एकाकी तथा नाटक के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने अपना जो मत व्यक्त किया है, वह भी वहुत-कुछ अशो मे डॉ० रामचरण महेन्द्र से ही मिलता-जुलता हैं। डॉ० गुप्त का कथन है—"एकाकी मे एक अक, एक घटना, एक कार्य और एक समस्या होती है जवकि नाटक मे कई अको, घटनाओ, कार्यो और समस्याओ का आयोजन हो सकता है। अत स्थूल दृष्टि से एकाकी नाटक से वहुत लघु और सीमित होता है किन्तु फिर भी किसी छोटे नाटक को एकाकी या वडे एकाकी को छोटा नाटक नही कह सकते। नाटक से निकाल कर अलग किये गये एक अक को भी एकाकी नही कहा जा सकता। एकाकी अपने आप मे पूर्ण होता है तथा उसकी सत्ता, उसका व्यक्तित्व एव उसकी चाल-ढाल नाटक से वहुत कुछ भिन्न होती है। एकाकीकार अपने लक्ष्य की ओर सीधा दौडता है, जवकि नाटककार धीरे-धीरे आगे वढता है। एकाकी की शैली मे सक्षिप्तना एव गतिशीलता होती है।"

डॉ० रामगोपालसिंह ने एकाकी तथा नाटक के मूलभूत जिन भेदो पर प्रकाश डाला है उन्हे इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) एकाकी मे एक अङ्क होता है, अनेकाकी मे अनेक अङ्क होते हैं।

(२) एकाकी मे केवल एक ही कथा या घटना का चित्रण होता है। अनेकाकी मे एक आधिकारिक तथा एक या अनेक प्रासगिक कथाएँ भी होती है।

(३) एकाकी मे पात्रो के क्रिया-कलापो को इस रूप मे सगठित किया जाता है कि एक सीमित क्षेत्र मे ही पात्रो के चारित्रिक तथा मानसिक घात-प्रतिघात तथा कथा-प्रसग तथा चीजो की मूल चारित्रिक विशेषताओ द्वारा कथा का मर्म स्पष्ट हो जाय।

(४) एकाकी मे अनेकांकी की भाति धीरे-धीरे कथा के आरम्भ प्रयत्न, प्राप्त्याशा आदि के विकास की गुजाइश नही होती। एकाकी मे तो कथा आरम्भ से ही एक आवेग के साथ आरम्भ होती है और जिज्ञासा तथा विस्मय की आरोह-अवरोहपूर्ण गति के साथ चरमसीमा की ओर विकास करती है और चरमसीमा पर पहुचकर जिज्ञासा और विस्मय पुजीभूत होता है और कथा का आकस्मिक पटाक्षेप हो जाता है। एकाकी की कथा चरमसीमा पर पहुच कर फिर आगे नही बढती। एकाकी की कथा मे एक घनत्व होता है और अनेकाकी की कथा मे फैलाव।

(५) एकांकी कम-से-कम दस मिनट और अधिक-से-अधिक एक घण्टे का हो सकता है। अनेकाकी की कथा कई घण्टो मे समाप्त होती है। इसलिए अनेकाकी की अपेक्षा एकाकी मे कथा के गठन मे क्षिप्रता, घटनाओ के क्रम मे वेग, सवादो मे अधिक चुस्ती और साकेतिकता होती है। एकाकी के सवादो मे एक साथ चरित्र तथा कथा का विकास और पात्रो तथा कथा से सम्वन्धित घटनाओ का सकेत और उद्घाटन भी होता चलता है।

(६) एकाकी की अपेक्षा अनेकाकी मे चरित्र मे अधिक उतार-चढाव का

अवसर रहता है। एकांकी में उसका अवसर नहीं होता। एकांकी में भी पात्रों के चरित्र का उतार चढ़ाव तथा द्वन्द्व तो होता है, पर एसा जो पात्र के सम्पूर्ण जीवन को अपने परिवेश मे नहीं घेरता। एकांकी में चित्रित चरित्र के आधार पर हम बहुधा किसी पात्र के सम्पूर्ण जीवन की चारित्रिक विशेषता का अनुमान नहीं लगा सकते।

डॉ चौहान द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त एकांकी तथा अनेकांकी के अन्तर को प्रमाण-रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

एकांकी के भेद

मूल प्रवृत्तियो के आधार पर डॉ॰ सत्येन्द्र ने एकांकी के आठ भेद किये हैं—(१) आलोचक एकांकी जो मानव-जीवन की त्रुटियों की आलोचना करते हैं। (२) विवेकवाद एकाकी जिसमे वाद विवाद द्वारा आलोचना प्रत्यालोचना की जाती है। (३) भावुक एकांकी जिसमे भावुकता का प्राधान्य होता है। (४) समस्या एकांकी जिसमें किसी समस्या का चित्रण होता है। (५) अनुभूतिमय एकांकी। (६) व्याख्यामूलक एकांकी। (७) आदर्शमूलक एकांकी। (८) प्रगतिवादी एकांकी।

विषयों के आधार पर एकांकी के पाँच भेद माने गये हैं—(१) सामाजिक (२) पौराणिक (३) ऐतिहासिक (४) राजनीतिक और (५) साहित्यिक।

रचना प्रकार की दृष्टि से डॉ रामचरण महेन्द्र ने नौ प्रकार के एकांकी बताये हैं—(१) सुखान्त (२) दुःखान्त (३) प्रहसन (४) फैंटेसी (५) गीति नाट्य या ऑपेरा (६) झाँकी (७) संवाद या समापण (८) स्वोक्ति रूपक या मोनोड्रामा (९) रेडियो प्ले। एकांकियों के इस भेदीकरण मे डॉ महेन्द्र ने सम्भवत पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि को अपनाया है। 'मन्त विचार से कोई भी नाटक तीन प्रकार का हो सकता है—सुखान्त दुःखान्त अथवा समन्वयात्मक (प्रसादान्त)। हास्य-प्रधान एकांकी को प्रहसन की संज्ञा दी गई है। फैंटेसी मे रोमांस और कल्पना का आधिक्य रहता है। गीतिनाट्य में काव्यात्मकता की प्रचुरता होती है। झाँकी मे केवल एक छोटा-सा दृश्य प्रस्तुत कर दिया जाता है। समापण मे केवल दो पात्रों के बीच बातचीत का विधान किया जाता है। मोनोड्रामा मे केवल एक पात्र रंगमंच पर उपस्थित होता है और वह स्वगत कथन के रूप में किसी पूर्व घटना अथवा आपबीती को व्यक्त करता है। रेडियो प्ले मे ध्वनि के उतार चढ़ाव की प्रमुखता रहती है।

उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुये एकांकियों के चार भेद किये गये हैं—(१) आदर्शवादी (२) यथार्थवादी (३) प्रगतिवादी तथा (४) मनोरंजनवादी।

अभिनेयता की दृष्टि से एकांकियों को दो वर्गों में रखा गया है—(१) पठनीय और (२) रंगमंचीय।

वस्तुत एकांकियों के स्वरूप विषय शैली संवेदना आदि में निरन्तर विकास होने की सम्भावना है ऐसी स्थिति मे एकांकियों के भेदों की संख्या मे सदैव विकास और परिवर्तन होता रहेगा। अत उपर्युक्त भेदों में से किसी को भी अन्तिम रूप मे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

एकांकी का उद्भव

हिन्दी मे एकाकी के उद्भव के विषय मे विद्वानो के दो परस्पर विरोधी मत हैं। एक वर्ग तो ऐसे विद्वानो का है जो यह मानते हैं कि हिन्दी को एकांकी पाश्चात्य जगत् की देन है। दूसरे वर्ग मे वे विद्वान आते हैं, जिनकी मान्यता है कि हिन्दी एकाकी पाश्चात्य जगत् की देन नही, वरन् वह तो सस्कृत प्राकृत आदि भाषाओ से चली आती हुई विशुद्ध भारतीय परम्परा है। इस वर्ग के विद्वान अपने मत के प्रमाण स्वरूप सस्कृत-साहित्य मे नाटक के एक अक वाले उपलब्ध सत्रह रूपो को व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, नाटिका, गोष्ठी, सटक, नाट्य रासक, प्रकाशिका, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, श्रीगदित, विलासिका, प्रकरणिका, हल्लीश तथा अक को प्रस्तुत करते हैं। प्रो० अमरनाथ गुप्त प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डॉ० एस० पी० खत्री प्रथम वर्ग के आलोचको मे आते हैं तथा डॉ० सरनामसिह प्रो० ललित प्रसाद और प्रो० सद्गुरु शरण अवस्थी द्वितीय वर्ग के आलोचक हैं। वास्तव मे यदि निष्पक्ष ढग से विचार किया जाय तो इस बात को कहने मे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही होनी चाहिए कि हिन्दी एकाकी ने अपने आरम्भिक रूप मे सस्कृत एकाकी से प्रेरणा ग्रहण की थी परन्तु आगे चलकर उसने अपने वर्तमान स्वरूप का निर्माण पाश्चात्य एकाकी के ही आधार पर किया।

सस्कृत एव प्राकृत में एकांकी

सस्कृत तथा प्राकृत में एकाँकियो की एक दीर्घ परम्परा मिलती है। यह बात दूसरी है कि इन भाषाओ मे पाये जाने वाले एकाकी, एकाकी नाम से अभिहित न होकर किन्ही अन्य नामो से अभिहित होते हैं। 'पार्थ पराक्रम' (सन् ११६३ ई०) अत्यन्त उच्च कोटि का व्यायोग है। व्यायोग के अतिरिक्त विश्वनाथ ने 'सौगन्धि हरण' वत्सराज ने 'किरातार्जुनीय', कचन पण्डित ने 'धनजय-विजय', मोक्षादित्य ने 'भीम विक्रम', रामचद्र ने निर्भय भीम, जैसे श्रेष्ठ व्यायोगो की रचना की है। प्रहसन की कोटि मे आने वाले एकाकियो मे 'कन्दर्पकेलि,, 'धूर्त-चरित्र', 'लटक मेलक', 'लता काम लेखा', 'धूर्त समागम', 'धूर्त नाटिका', 'हास्य चूडामणि' आदि सस्कृत मे मिलते हैं। जिस प्रकार मोनोड्रामा मे एक ही पात्र आकर रगमच पर बोलता है, उसी प्रकार का सस्कृत में भाण है। वामन भट्ट का 'शृगार-भूषण', रामचद्र दीक्षित का 'शृगार-तिलक' शकर का 'श्रद्धा-तिलक', वत्सराज का कर्पूर चरित' आदि प्रसिद्ध भाण हैं। वास्तव में भाण एकाकी कला का अत्यन्त विकसित रूप माना जा सकता है।

हिन्दी में एकांकी का विकास

प्रत्येक भाषा के साहित्य मे प्रत्येक विधा के जन्म का कोई-न-कोई कारण होता है। हिन्दी एकाँकी के जन्म का भी कारण है, जिसे डॉ० रांगेय राघव ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"अब अपने रगमच के अभाव के कारण पूर्ण नाटको के लिए क्षेत्र न था। स्कूल और कालेजो मे हिन्दी शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ विद्यार्थियो के लिए इस प्रकार के नाटको की आवश्यकता प्रतीत हुई जिनमें कम-से-कम सामान की आवश्यकता पड़े औ-

अपने में पूर्ण हों तथा मनोरंजन सामाजिक शिक्षा तथा सुधार का माध्यम बन सकें। दूसरी ओर कालेजों में अंग्रेजी शिक्षा के कारण उनके सामने उस साहित्य के एकांकी आए। इस पाश्चात्य प्रभाव और अपनी सीमित परिस्थितियों ने हिन्दी में एकांकी नाटकों को जन्म दिया।

प्रश्न है हिन्दी में कौन से लेखक से एकांकी का प्रारम्भ माना जाय? इस विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। डॉ रामचरण महेन्द्र हिन्दी-एकांकी का प्रारम्भ सन् १८५ तक खींच कर ले गये हैं। डॉ सत्येन्द्र की मान्यता है कि हिंदी में एकांकियों की परम्परा भारतेन्दु से आरम्भ हुई। डा हरदेव बाहरी डॉ नगेन्द्र प्रो सद्गुरु शरण अवस्थी प्रो प्रकाश चन्द्र गुप्त डॉ बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे आदि विद्वान् हिन्दी-एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूट' से मानते हैं। डा हरदेव बाहरी का कथन है— 'यों तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बदरीनारायण चौधरी राधारमण गोस्वामी बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्णदास ने पिछली शताब्दी में ही ऐसे रूपक लिखे थे जो आजकल के एकांकियों से मिलते-जुलते हैं परन्तु उन्हें आदर्श एकांकी नहीं कह सकते। हिंदी एकांकी का प्रादुर्भाव जयशंकर प्रसाद के 'एक घूट' से होता है। डॉ नगेन्द्र ने बड़े ही निर्भ्रान्त शब्दों में लिखा है— 'सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूट' से हुआ है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है—इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की टैकनीक का 'एक घूट' में पूरा निर्वाह है।" डॉ रामनाथ सुमन का मन्तव्य है कि हिंदी एकांकी का वास्तविक आरम्भ डॉ राम कुमार वर्मा से होता है।

वैसे तो इन विभिन्न मतों में डॉ हरदेव बाहरी डॉ नगेन्द्र आदि का ही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है तथापि हमें हिंदी एकांकी की खोज वहां से कर लेनी चाहिए जहां से एकांकी के तत्त्व मिलते हैं।

(अ) भारतेन्दु पूर्व युग—यद्यपि डॉ गणपति चन्द्र गुप्त ने एकांकी का आरम्भ तुलसी के 'रामचरितमानस' केशव की 'रामचन्द्रिका' तथा नरोत्तमदास के सुदामा चरित के संवादों से माना है किन्तु यह अतिवादी दृष्टिकोण है। हिन्दी के जो प्रथम एकांकी माने जा सकते हैं उनमें 'इन्द्रसभा' 'बन्दर सभा' 'मुश्न्दर सभा' आदि का नाम लिया जा सकता है। ये सभी सन् १८५ के उपरान्त नौटंकी-नाटकों के रूप में लिखे गए हैं।

(आ) भारतेन्दु युग भारतेन्दु ने संस्कृत की एकांकी परम्परा का अनुसरण करते हुए अनेक एकांकी लिखे जिनमें 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' 'विषस्य विष मौषधम्' 'अन्धेर नगरी' तथा 'धनञ्जय-विजय' प्रमुख हैं। इन सभी कृतियों में एक ही एक अंक का विधान किया गया है। संस्कृत-नाटकों की परम्परा के अनुसार 'विषस्य विषमौषधम्' को भाण 'धनञ्जय-विजय' को व्यायोग 'अन्धेर नगरी' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' को प्रहसन कहा जा सकता है। इन सभी एकांकियों में भारतेन्दु की का मूल दृष्टिकोण तत्कालीन समस्याओं को अभिव्यक्ति देना रहा है। इनके माध्यम से उन्होंने विभिन्न रूढ़ियों रीति रिवाजों सामाजिक एवं राष्ट्रीय बुराइयों

एकांकी का उद्भव

हिन्दी मे एकाकी के उद्भव के विषय मे विद्वानों के दो परस्पर विरोधी मत हैं। एक वर्ग तो ऐसे विद्वानो का है जो यह मानते हैं कि हिन्दी को एकांकी पाश्चात्य जगत् की देन है। दूसरे वर्ग मे वे विद्वान आते हैं, जिनकी मान्यता है कि हिन्दी एकाकी पाश्चात्य जगत् की देन नही, वरन् वह तो सस्कृत प्राकृत आदि भाषाओ से चली आती हुई विशुद्ध भारतीय परम्परा है। इस वर्ग के विद्वान अपने मत के प्रमाण स्वरूप सस्कृत-साहित्य मे नाटक के एक अक वाले उपलब्ध सत्रह रूपो को व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, नाटिका, गोष्ठी, सटक, नाट्य रासक, प्रकाशिका, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, श्रीगदित, विलासिका, प्रकरणिका, हल्लीश तथा अक को प्रस्तुत करते हैं। प्रो० अमरनाथ गुप्त प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डॉ० एस० पी० खत्री प्रथम वर्ग के आलोचको मे आते हैं तथा डॉ० सरनामसिह प्रो० ललित प्रसाद और प्रो० सद्गुरु शरण अवस्थी द्वितीय वर्ग के आलोचक हैं। वास्तव मे यदि निष्पक्ष ढग से विचार किया जाय तो इस बात को कहने मे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही होनी चाहिए कि हिन्दी एकाकी ने अपने आरम्भिक रूप मे सस्कृत एकाकी से प्रेरणा ग्रहण की थी परन्तु आगे चलकर उसने अपने वर्तमान स्वरूप का निर्माण पाश्चात्य एकाकी के ही आधार पर किया।

सस्कृत एव प्राकृत में एकाकी

सस्कृत तथा प्राकृत मे एकाँकियो की एक दीर्घ परम्परा मिलती है। यह बात दूसरी है कि इन भाषाओ मे पाये जाने वाले एकाकी, एकाकी नाम से अभिहित न होकर किन्ही अन्य नामों से अभिहित होते हैं। 'पार्थ पराक्रम' (सन् ११६३ ई०) अत्यन्त उच्च कोटि का आयोग है। व्यायोग के अतिरिक्त विश्वनाथ ने 'सौगन्धि हरण' वत्सराज ने 'किरातार्जुनीय', कचन पण्डित ने 'धनजय-विजय', मोक्षादित्य ने 'भीम विक्रम', रामचद्र ने निर्भय भीम, जैसे श्रेष्ठ व्यायोगो की रचना की है। प्रहसन की कोटि में आने वाले एकाकियो मे 'कन्दर्पकेलि,, 'धूर्त-चरित्र', 'लटक मेलक', 'लता काम लेखा', 'धूर्त समागम', 'धूर्त नाटिका', 'हास्य चूडामणि' आदि सस्कृत में मिलते हैं। जिस प्रकार मोनोड्रामा मे एक ही पात्र आकर रगमच पर बोलता है, उसी प्रकार का सस्कृत मे भाण है। वामन भट्ट का 'शृगार-भूषण', रामचद्र दीक्षित का 'शृगार-तिलक' शकर का 'श्रद्धा-तिलक', वत्सराज का कर्पूर चरित' आदि प्रसिद्ध भाण हैं। वास्तव मे भाण एकाकी कला का अत्यन्त विकसित रूप माना जा सकता है।

हिन्दी में एकाकी का विकास

प्रत्येक भाषा के साहित्य मे प्रत्येक विधा के जन्म का कोई-न-कोई कारण होता है। हिन्दी एकाँकी के जन्म का भी कारण है, जिसे डॉ० रांगेय राघव ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"अब अपने रगमच के अभाव के कारण पूर्ण नाटको के लिए क्षेत्र न था। स्कूल और कालेजों मे हिन्दी शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ विद्यार्थियो के लिए इस प्रकार के नाटको की आवश्यकता प्रतीत हुई जिनमे कम-से-कम सामान की आवश्यकता पड़े और कम समय मे ही उनको तैयार किया जा सके, साथ ही वह

मिलता है। प्रसाद की नाट्य कला पर भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य-कलाओं का प्रभाव पड़ा है। 'एक घूँट' का वातावरण कुछ अंशों तक प्राचीन भारतीय नाट्य कला के अनुकूल है पर संघर्ष का जो रूप इस एकांकी में प्रस्तुत किया गया है वह सर्वथा पाश्चात्य ढंग का है। स्थान और समय की एकता का भी इसमें पूर्ण पालन किया गया है। कुछ विद्वानों ने प्रसाद जी के 'एक घूँट' के अतिरिक्त 'सज्जन' 'कल्याणी-परिणय' तथा 'कामना' को भी एकांकी ही माना है।

प्रसाद के अनन्तर सूर्य किरण पारीक जैनेन्द्रकुमार चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि अनेक लेखकों ने भी एकांकी रचना पर लेखनी उठायी किन्तु उन्हें सफलता न मिल सकी।

(ग) आधुनिक युग—हिन्दी-एकांकी के क्षेत्र में आधुनिक युग का प्रारम्भ डॉ॰ रामकुमार वर्मा से होता है। अधिकांश आलोचकों ने उन्हें हिन्दी-एकांकी का जनक माना है। वस्तुतः उनके एकांकियों में शिल्प विधि तथा विषय की दृष्टि से अदृष्टपूर्व प्रौढ़ता देखने को मिलती है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा का प्रथम एकांकी 'बादल की मृत्यु' सन् १९३० में प्रकाशित हुआ। इसमें काल्पनिकता एवं काव्यात्मकता अधिक है नाटकीयता कम। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने इसे 'अभिनयात्मक गद्य काव्य' कह डाला है। प्रस्तुत एकांकी के उपरान्त वर्मा जी के कई एकांकी-संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं जिन्हें काल-क्रमानुसार इस प्रकार रखा जा सकता है—'पृथ्वीराज की आँखें' (१९३७ ई॰) 'रेशमी टाई' 'चारु मित्रा' (१९४१ ई॰) 'विभूति' (१९४१ ई॰) 'सप्तकिरण' (१९४७ ई॰) 'रूप रंग' (१९४८ ई॰) 'कौमुदी महोत्सव' (१९४९ ई॰) 'ध्रुव-तारिका' (१९५० ई॰) 'ऋतुराज' (१९५२ ई॰) 'रजत रश्मि' (१९५२ ई॰) 'दीपदान' (१९५४ ई॰) 'कामकन्दला' (१९५५ ई॰) 'बापू' (१९५६ ई॰) 'इन्द्रधनुष' (१९५७ ई॰) 'रिमझिम' (१९५७ ई॰) इत्यादि। डॉ॰ वर्मा के एकांकियों की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए डॉ॰ बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे लिखते हैं "डॉ॰ वर्मा ने सामाजिक तथा ऐतिहासिक एकांकी नाटकों द्वारा मनुष्य की करुणा दया त्याग आदि सात्त्विक वृत्तियों का चित्रण सुन्दर ढंग से किया है। उन्होंने ऐतिहासिक पात्रों में नवजीवन तथा जीवन की व्यावहारिकता का आदर्श दिखाया है। सामाजिक एकांकी नाटकों में मध्यवर्गीय नागरिकों का जो जीवन चित्रित किया है उसमें अधिकतर आधुनिक समाज की विशेषताओं के साथ उसकी कमजोरियों पर भी व्यंग्यात्मक आघात किया है।

भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र ने पाश्चात्य एकांकी-कला को आत्मसात् कर हिन्दी एकांकियों की शैली के विकास में बहुत बड़ा योग दिया है। मिश्र जी का सबसे पहला एकांकी-संग्रह 'कारवाँ' सन् १९३५ ई॰ में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में छः एकांकियों का संग्रह है। भुवनेश्वर जी की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं—'श्यामा—एक वैवाहिक विडम्बना' 'पतिता' 'एक साम्यहीन साम्यवादी' 'प्रतिमा का विवाह' 'रहस्य रोमांच' 'लाटरी' 'मृत्यु' 'सवा आठ बजे' 'इस्पेक्टर जनरल' 'रोशनी और आग' 'फोटोग्राफर के सामने' 'तांबे के कीड़े' 'इतिहास की केंचुल' 'आजादी की नींद' 'सीकों की गाड़ी' आदि। 'सिकन्दर' [illegible] और 'जयेष्ठ' 'इतिहास के'

पर लिखे किये हैं। विदेशी सरकार की भी अच्छी खबर उन्होने ली है। डॉ० रामचरण महेन्द्र ने भारतेन्दु जी की एकांकी-कला पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"किन्तु जिस बात से हम विशेष प्रभावित होते हैं, वह उनकी प्रतिभा है। उन पर नये ढग से वगला नाटको तथा फारसी रगमच का भी प्रभाव था। फारसी रगमच की दोहा-शेर वाली पद्धति की छाप उनके एकांकियो पर है। अग्रेजी का प्रभाव वग-साहित्य के माध्यम से उनकी एकांकी-कला पर पडा है।

भारतेन्दु-युग के अन्य एकाकियो मे श्री निवासदास का 'प्रह्लादचरित, राधाचरण गोस्वामी के 'श्रीदामा नाटक', 'सती चन्द्रावली' और 'तन मन धन गुसाईं जी के अर्पण', प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि कौतुक', देवकीनन्दन त्रिपाठी के 'जय नरसिंह की' तथा 'कलयुगी जनेऊ' राधाकृष्णदास का 'दु खिनी बाला', बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान', कार्तिक प्रसाद का 'रेल का विकट खेल', जी० एल० उपाध्याय का 'वैदिकी मिथ्या मिथ्या न भवति', रत्नचन्द्र का 'हिन्दी उर्दू नाटक', किशोरीलाल गोस्वामी का 'चौपट-चपेट' आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन सभी को नाटक कहा गया है तथापि लक्षणो एव शैली की दृष्टि से इन्हें एकाकियो के अन्तर्गत ही स्थान दिया जाना चाहिए। डॉ० रामगोपालसिंह चौहान ने भारतेन्दु युगीन इन एकाकियो की विशेषताओ का उल्लेख करते हुए लिखा है—"उनमे तत्कालीन आधुनिक जीवन का यथार्थ चित्रण है, उद्देश्य की साकेतिकता है, रग-निर्देश भी है और सवादो की चुस्ती भी और क्रिया-क्षिप्रता और गतिशीलता भी है।"

(इ) **द्विवेदी-युग**—द्विवेदी-युग मे हिन्दी-एकाकी-कला पर पाश्चात्य एकाकी का प्रभाव पडा और परिणाम स्वरूप उसकी शैली मे अन्तर आया, किन्तु वर्ण्य-विषय प्राय वे ही रहे जो भारतेन्दु-युग मे थे, जैसे, समाज-सुधार, राष्ट्रोन्नति आदि। इस युग के मुख्य एकाकियों मे मगलाप्रसाद विश्वकर्मा का 'शेरसिंह', सियारामशरण गुप्त का 'कृष्ण', ब्रजलाल शास्त्री के 'नीला', 'दुर्गावती', 'पन्ना', 'तारा' आदि, रामसिंह वर्मा के 'रेशमी रूमाल', 'क्रिस-मिस', सरयूप्रसाद विन्दु का 'भयकर भूत', शिवरामदास गुप्त का 'नाक मे दम', प० बदरीनाथ भट्ट के 'चु गी की उम्मेदवारी' तथा 'रेगड समाचार के ऐडीटर की धूल दच्छना', रूपनारायण पाण्डेय का 'मूर्ख मडली', पाडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'चार बेचारे', श्री सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' के नाम आदर के साथ लिये जा सकते हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से इस काल के एकाकियो को चार वर्गों मे विभक्त किया गया है—(१) सामाजिक व्यग्यात्मक, (२) राष्ट्रीय ऐतिहासिक, (३) धार्मिक पौराणिक तथा (४) अनु-वादित। भारतेन्दु-युग मे कही-कही नान्दी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि की जो प्रवृत्ति दिखायी पडती थी वह इस युग के नाटको से लुप्त हो गयी। कथानक की तीव्र गति से चरम सीमा तक पहुचाने का प्रयत्न किया जाने लगा। पद्य का पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया।

(ई) **प्रसाद-युग**—पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि अधिकाश अधिकारी विद्वानो ने हिन्दी-एकाकी का वास्तविक आरम्भ प्रसाद जी के 'एक घूंट' (सन् १६३०) सेमाना है। इस एकांकी में आधुनिक एकाकी-कला का परिष्कृत रूप देखने को

मिलता है। प्रसाद की नाट्य कला पर भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य-कलाओं का प्रभाव पड़ा है। 'एक घूँट' का वातावरण कुछ अंशों तक प्राचीन भारतीय नाट्य कला के अनुकूल है पर संघर्ष का जो रूप इस एकांकी में प्रस्तुत किया गया है वह सर्वथा पाश्चात्य ढंग का है। स्थान और समय की एकता का भी इसमें पूर्ण पालन किया गया है। कुछ विद्वानों ने प्रसाद जी के 'एक घूँट' के अतिरिक्त 'सज्जन' 'कल्याणी-परिणय' तथा 'कामना' को भी एकांकी ही माना है।

प्रसाद के अनन्तर सूर्य किरण पारीख जैनेन्द्रकुमार चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि अनेक लेखकों ने भी एकांकी रचना पर लेखनी उठायी किन्तु उन्हें सफलता न मिल सकी।

(ज) आधुनिक युग—हिन्दी-एकांकी के क्षेत्र में आधुनिक युग का प्रारम्भ डॉ॰ रामकुमार वर्मा से होता है। अधिकांश आलोचकों ने उन्हें हिन्दी-एकांकी का जनक माना है। वस्तुतः उनके एकांकियों में शिल्प विधि तथा विषय की दृष्टि से अदृष्टपूर्व प्रौढ़ता देखने को मिलती है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा का प्रथम एकांकी 'बादल की मृत्यु' सन् १९३० में प्रकाशित हुआ। इसमें काल्पनिकता एवं काव्यात्मकता अधिक है नाटकीयता कम। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने इसे अभिनयात्मक पद्य काव्य कह डाला है। प्रस्तुत एकांकी के उपरान्त वर्मा जी के कई एकांकी-संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं जिन्हें काल-क्रमानुसार इस प्रकार रखा जा सकता है—'पृथ्वीराज की आँखें' (१९३७ ई॰) 'रेशमी टाई' 'चारु मित्रा' (१९४१ ई॰) 'विभूति' (१९४१ ई॰) 'सप्तकिरण' (१९४७ ई॰) 'रूप रंग' (१९४८ ई॰) 'कौमुदी-महोत्सव' (१९४९ ई॰) 'ध्रुव-तारिका' (१९५० ई॰) 'ऋतुराज' (१९५२ ई॰) 'रजत रश्मि' (१९५२ ई॰) 'दीपदान' (१९५४ ई॰) 'काम-कंदला' (१९५५ ई॰) 'बापू' (१९५६ ई॰) 'इन्द्र धनुष' (१९५७ ई॰) 'रिमझिम' (१९५७ ई॰) इत्यादि। डॉ॰ वर्मा के एकांकियों की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए डॉ॰ बसन्त सखाराम कोतमिरे लिखते हैं "डॉ॰ वर्मा ने सामाजिक तथा ऐतिहासिक एकांकी नाटकों द्वारा मनुष्य की करुणा दया त्याग आदि सात्विक वृत्तियों का चित्रण सुन्दर ढंग से किया है। उन्होंने ऐतिहासिक पात्रों में नवजीवन तथा जीवन की व्यावहारिकता का आदर्श दिखाया है। सामाजिक एकांकी नाटकों में मध्यवर्गीय नागरिकों का जो जीवन चित्रित किया है उसमें अधिकतर आधुनिक समाज की विशेषताओं के साथ उसकी कमजोरियों पर भी व्यंग्यात्मक आघात किया है।

भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र ने पाश्चात्य एकांकी-कला को आत्मसात् कर हिन्दी एकांकियों की शैली के विकास में बहुत बड़ा योग दिया है। मिश्र जी का सबसे पहला एकांकी-संग्रह 'कारवाँ' सन् १९३५ ई॰ में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में छः एकांकियों का संग्रह है। भुवनेश्वर जी की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं—'श्यामा—एक वैवाहिक विडम्बना' 'पतिता' 'एक साम्यहीन साम्यवादी' 'प्रतिभा का विवाह' 'रहस्य रोमांच' 'लाटरी' 'मृत्यु' 'सवा आठ बजे' 'इन्सपेक्टर जनरल' 'रोशनी और आग' 'फोटोग्राफर के सामने' 'ताँबे के कीड़े' 'इतिहास की केंचुल' 'आजादी की नींव' 'सीको की गाड़ी' आदि। सिकन्दर 'अकबर' और चंगेज को इतिहास प

आधारित एकाकी हैं। भुवनेश्वर जी पर अग्रेजी के नाटककारो मे बर्नार्ड शॉ और इब्सन का बहुत अधिक प्रभाव है। उन्होंने स्वय भी स्वीकार किया है—"शॉ की छाया तनिक मुखर हो गई है, मैं इसे निर्विकार स्वीकार करता हू।" मिश्र जी ने हमारे मध्यवर्गीय समाज की खोखली नैतिकता पर गहरा प्रहार किया है, जो दर्शक एव पाठक को अपने जीवन की वास्तविकता के प्रति झकझोर कर जागरूक कर देते हैं।

समस्या-नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी अनेक एकाकियो की रचना कर हिन्दी-एकाकी की श्रीवृद्धि मे पर्याप्त योगदान दिया है। उनके प्रमुख सग्रहो के नाम हैं—'अशोक वन', 'प्रलय के पख पर', 'एक दिन', 'कावेरी मे कमल', 'बलहीन', 'नारी का रग', 'स्वर्ग मे विप्लव', 'भगवान मनु' तथा अन्य एकाकी आदि। अपने एकाकियो के माध्यम से मिश्र जी ने अनेक सामाजिक, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओ को रखा है। मनोरजन तथा अभिनेयता के गुण इनके एकाकियो मे कूट-कूट कर भरे हुए हैं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दो मे, "इसके अतिरिक्त विदेशी साहित्य का बुद्धिवाद, यथार्थवाद, चिरन्तन नारीत्व की समस्या, प्रकृति की ओर परिवर्तन का अनुरोध, जीवन के मौलिक सत्यो की निर्भ्रान्त स्वीकृति आदि आदि से सकुल प्रवृत्तियाँ उनके मन मे काम कर रही हैं। इधर भारत की अपनी समस्याओ—यहाँ की आध्यात्मिकता का भी उन पर प्रभाव है।"

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने मुख्यत तीन प्रकार के एकाकियो की रचना की है—(१) सामाजिक व्यग्य—'पापी' 'लक्ष्मी का स्वागत', 'मोहब्बत', 'आसवर्ड पहेली', 'अधिकार का रक्षक', 'आपस का समझौता', 'स्वर्ग की झलक', 'विवाह के दिन' 'जोक' आदि। (२) साकेतिक एव प्रतीकात्मक एकाकी—'चरवाहे', 'चिलमन', 'खिडकी', 'चुम्बक', 'मैमूना', 'देवताओ की छाया मे', 'चमत्कार', 'सूखी डाली', 'अन्धी गली' आदि। (३) मनोवैज्ञानिक एकाकी प्रहसन—'आदि मार्ग', 'बतसिया', 'सयाना मालिक', 'जीवन-साथी' आदि। 'अश्क' जी समाज की दुर्बलताओ, रूढियो तथा जीर्ण-शीर्ण परम्पराओ पर तीक्ष्ण व्यग्य—बाण छोडने मे कभी नही घबराते। 'अश्क का एकाकी साहित्य परिमाण की दृष्टि से विशाल है। रूप और शैलियो की दृष्टि से विविधतापूर्ण है और कला की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ है।

श्री उदयशकर भट्ट ने 'एक ही कब्र मे', 'दस हजार', 'दुर्गा', 'नेता', 'उन्नीस सौ पैंतीस', 'वर-निर्वाचन', 'सेठ लाभचन्द' आदि एकाकियो मे समाज की विभिन्न समस्याओ का चित्रण किया है। 'स्त्री का हृदय', 'नकली और असली', 'बडे आदमी की मृत्यु', 'विष की पुडिया', 'मुशी अनोखेलाल' आदि एकाकियो में स्वस्थ हास्य एव व्यग्य के अच्छे चित्र मिलते हैं। 'आदिम युग', 'प्रथम विवाह', 'मनु और मानव', 'समस्या का अन्त', 'कुमार-सभव', 'गिरती दीवारें', 'पिशाचो का नाच', 'बीमार का इलाज', 'आत्मप्रदान', 'जीवन', 'वापसी', 'मदिर के द्वार पर', 'दो अतिथि', 'अघटित', 'अन्धकार', 'नये मेहमान', 'नया नाटक', 'विस्फोट', 'धूम-शिखा' आदि भट्ट जी के अन्य प्रमुख एकांकी हैं। उनके एकाकियो की विशेषताओ का उल्लेख करते

हुए डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है— भट्ट जी के एकांकियों का संविधान रंगमंचीय है तथा उन्हें सरलता से अभिनीत किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि भट्ट जी के एकांकी जहाँ ज्ञान-बहुल हैं मानव-जीवन की पारदर्शिता को प्रकट करते हैं वहाँ वे जीवन के बहु-व्यापी अंग-उपांगों का गहन विश्लेषण भी करते हैं। भूत भविष्यत् वर्तमान के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि मानव के विकास में चेतना का अन्तर्दर्शी विवेचन उनके इस साहित्य का रूप है। मालूम होता है जैसे भट्ट जी के द्वारा गीति कविता कथानक की प्रौढ़ता समय की मस्तरस दृष्टि ऐतिहासिक ऊहापोह जीवन-कल्याण की सभी भावनाओं का उनके नाटकों में प्रकटीकरण हुआ है।"

सेठ गोविन्ददास के एकांकियों को मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। उनके प्रमुख एकांकियों के नाम हैं—(१) ऐतिहासिक—'बुद्ध की एक शिष्या' 'बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन?' 'नानक की नमाज' 'तेगबहादुर की भविष्यवाणी' 'परमहंस का पत्नी प्रेम' आदि। (२) सामाजिक समस्या प्रधान 'स्पर्धा' मानव-मन 'मैत्री' हंगर स्ट्राइक' 'जाति-उत्थान' 'वह मरा क्यों?' आदि। (३) राजनैतिक 'सच्चा कांग्रेसी कौन?' (४) पौराणिक—'कृषि यज्ञ' आदि। सेठ जी के अधिकांश एकांकियों पर गांधीवादी विचारधारा की छाप है। दृष्टिकोण में आदर्शवादी एवं सुधारवादी होने के कारण उन्होंने समस्याओं का चित्रण प्रचारात्मक ढंग से किया है।

जगदीशचन्द्र माथुर के प्रकाशित एकांकियों में मेरी बाँसुरी 'भोर का तारा' कलिंग विजय' 'रीढ़ की हड्डी' मकड़ी का जाला 'खण्डहर' 'खिड़की की राह' 'घोंसले' कबूतर खाना' 'भाषण' ओ मेरे सपने' 'शारदीया' बंदी आदि को बहुत अधिक प्रसिद्धि मिली है। समस्याओं की प्रस्तुति एवं उनका समाधान तथा हास्य और व्यंग्य का मिश्रण माथुर जी के एकांकियों का प्रधान वैशिष्ट्य है। माथुर जी के एकांकियों की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए शिवदानसिंह चौहान ने कहा है—(जगदीशचन्द्र माथुर की) सचेत दृष्टि आधुनिक जीवन के उस वैषम्य के आर-पार जाती है जो रूढ़िग्रस्त संस्कारों और नई सामाजिक प्रवृत्तियों के बीच एक जटिल और अविराम संघर्ष का जनक है। इसी कारण उनके नाटकों में एक प्रबुद्ध कलाकार के संयम के साथ मानव स्वाभिमान को चोट पहुँचाने वाली अमानवीय बर्बर मान्यताओं और लोकाचारों पर निर्मम प्रहार रहता है।

गणेशप्रसाद द्विवेदी के एकांकी हैं—'सोहाग-बिन्दी' 'वह फिर आयी थी' 'पर्दे का अपार पार्श्व' 'शर्माजी' 'दूसरा उपाय ही क्या है?' 'सर्वस्व-समर्पण' 'कामरेड' 'गोष्ठी' 'परीक्षा' 'रपट' 'रिहर्सल' 'धरती-माता' आदि। द्विवेदी जी सब की एकांकी-कला को लेकर हिन्दी एकांकी-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं इसीलिये उनकी कला में प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। आपने प्रायः सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण किया है। यौन आकर्षण प्रेम-वैषम्य अनमेल विवाह आदि से उत्पन्न होने वाली मानसिक जटिलताओं का सूक्ष्म विश्लेषण इनके साहित्य में मिलता है।

विष्णु प्रभाकर ने 'बन्धन-मुक्त', 'पाप', 'साहस', 'प्रतिशोध', 'वीरपूजा', 'भाई', 'चन्द्रकिरण' आदि अनेक सामाजिक एकाकी तथा 'उपचेतना का फल', 'क्या वह दोषी था ?', 'ममता का विष' आदि बहुत से मनोवैज्ञानिक एकाकी लिखे हैं।

उपर्युक्त एकाकीकारो के अतिरिक्त गिरिजाकुमार माथुर, गोविन्दवल्लभ पन्त, हरिकृष्ण प्रेमी, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अमृतलाल नागर, श्री जगन्नाथ नलिन, डॉ० सत्यप्रकाश सगर आदि एकाकीकारो ने भी हिन्दी-साहित्य की इस विधा की समृद्धि मे बहुमुखी योगदान दिया है।

आज रेडियो नाटको की भी धूम मची हुई है। रेडियो नाटको को एकाकी का ही एक रूप माना जा सकता है।

उपसहार

थोडे ही दिनो मे हिन्दी-एकाकी ने जो प्रगति की है, उससे इस विधा की और भी अधिक समृद्धि की आशा है। यदि रगमच के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया तो एकाकी बहुत अधिक उन्नति करेगा, इसमे कोई सन्देह नही।

७७

हिन्दी उपन्यास   स्वरूप एव विकास

१ 'उपन्यास' शब्द का विश्लेषण

२ उपन्यास से वास्तविक अभिप्राय तथा उसकी परिभाषा

३ उपन्यास के तत्त्व

४ उपन्यास के भेद या प्रकार

५ उपन्यास का उद्गम

६ उपन्यास का विकास—[अ] प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास [आ] प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उपन्यास (इ) प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास—[क] सामाजिक उपन्यास [ख] व्यक्तिवादी उपन्यास [ग] समाजवादी उपन्यास [घ] ऐतिहासिक उपन्यास [ङ] मनोविश्लेषणवादी उपन्यास

७ उपसंहार

उपन्यास शब्द का विश्लेषण

'उपन्यास' में मूल शब्द 'न्यास' है। उसके पूर्व 'उप' उपसर्ग लगाया गया है। 'उप' का अर्थ 'समीप' और 'न्यास' का अर्थ 'रखी हुई' या 'रखा हुआ' होता है। अत 'उपन्यास' का शाब्दिक अर्थ हुआ 'समीप रखी हुई' अथवा 'समीप रखा हुआ'। वस्तुत आज जिस अर्थ में उपन्यास शब्द रूढ़ हो गया है। उससे प्रस्तुत अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ विद्वानों ने 'उपन्यास' के शाब्दिक अर्थ का उसके रूढ़ अर्थ से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है किन्तु उनका यह प्रयास तर्क सगत नहीं माना जा सकता है। उन्होंने प्रस्तुत शब्द के शाब्दिक और रूढ़ अर्थों में ताल मेल बैठाते हुए कहा है कि उपन्यास में जीवन को बहुत निकट प्रस्तुत कर दिया है इसलिए साहित्य की विधा-विशेष के लिए प्रयुक्त यह शब्द ठीक ही है। किन्तु ऐसा कहते समय वे विद्वान् यह भूल जाते हैं कि नाटक कहानी आदि भी तो जीवन के निकट होते हैं। फिर उन्हें यह नाम क्यों नहीं दे दिया जाता? प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग नाटक की प्रतिमुख-सन्धि के एक उपभेद के लिए किया गया है। इसकी दो प्रकार से व्याख्या की गई है— उपन्यासः प्रसादनम्। अर्थात् प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। दूसरी व्याख्या के अनुसार किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करने का नाम उपन्यास है— उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः सकीर्तितः। 'उपन्यास' शब्द की इन दोनों व्याख्याओं में उपन्यास के जिन गुणों की ओर सकेत किया जा रहा है वे आज की सभी साहित्य-विधाओं में हैं अकेले उपन्यास में ही नहीं। ये तो हुए उपन्यास के शाब्दिक तथा व्याख्यात्मक अर्थ। अब देखना यह है कि इसका रूढ़ अर्थ क्या है?

विष्णु प्रभाकर ने 'बन्धन-मुक्त', 'पाप', 'साहस', 'प्रतिशोध', 'वीरपूजा', 'भाई', 'चन्द्रकिरण' आदि अनेक सामाजिक एकाकी तथा 'उपचेतना का फल', 'क्या वह दोषी था ?', 'ममता का विष' आदि बहुत से मनोवैज्ञानिक एकाकी लिखे हैं।

उपर्युक्त एकाकीकारो के अतिरिक्त गिरिजाकुमार माथुर, गोविन्दवल्लभ पन्त, हरिकृष्ण प्रेमी, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अमृतलाल नागर, श्री जगन्नाथ नलिन, डॉ० सत्यप्रकाश सगर आदि एकाकीकारो ने भी हिन्दी-साहित्य की इस विधा की समृद्धि मे बहुमुखी योगदान दिया है।

आज रेडियो नाटको की भी धूम मची हुई है। रेडियो नाटको को एकाकी का ही एक रूप माना जा सकता है।

उपसहार

थोडे ही दिनो मे हिन्दी-एकाकी ने जो प्रगति की है, उससे इस विधा की और भी अधिक समृद्धि की आशा है। यदि रगमच के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया तो एकाकी बहुत अधिक उन्नति करेगा, इसमे कोई सन्देह नही।

दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिन्हें टाइप कहा जाता है और जो किसी विशिष्ट वर्ग के प्रतीक होते हैं। दूसरे वे जो अपनी निजी विशेषताओं को लेकर उपन्यास के पन्नों पर अवतरित होते हैं। आदर्श पात्र वे माने जाते हैं जो वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करते हुए भी अपनी निजी विशेषताओं से पहिचान लिये जाते हैं। 'गोदान' का होरी एक आदर्श पात्र है जो भारतीय कृषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता हुआ भी अपनी निजी विशेषताएं रखता है। उसकी आकृति उसके बातचीत करने का ढंग समाज के प्रति उसका व्यवहार आदि सभी कुछ उसके अपने हैं।

संवाद भी उपन्यास का बहुत ही आवश्यक तत्व है। यह उपन्यास में दो मुख्य कार्यों की पूर्ति करता है। एक तो यह कथानक को आगे बढ़ाता है और दूसरे इससे पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। पात्रों के वार्तालाप में स्वाभाविकता का होना बहुत अधिक आवश्यक है।

उपन्यासकार को अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त सरल और सरस भाषा-शैली को अपनाना चाहिए। भाषा प्रयोग यदि सामाजिक वातावरण के अनुकूल हो तो अच्छा है किन्तु उसमें बहुरूपियापन नहीं होना चाहिए। उपन्यास की रचना शैली यथा सम्भव एक जैसी रखनी चाहिए। हिंदी में उपन्यास लेखन की चार शैलियां प्रचलित हैं—(१) कथा शैली जैसे प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' (२) आत्मकथा शैली जैसे इलाचन्द्र जोशी का 'घृणामयी' (३) पत्र शैली जैसे उग्र जी का 'चन्द हसीनों के खतूत' (४) डायरी शैली जैसे 'शोषित तर्पण'।

पात्रों के चित्रण को पूर्णता देने और स्वाभाविकता की रक्षा के लिए देश-काल अथवा वातावरण का निर्माण अति आवश्यक है। उपन्यास रचना के समय उपन्यासकार को घटना का स्थान समय तथा तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान नितान्त अपरिहार्य है। बिना इस ज्ञान के उपन्यास में स्वाभाविकता नहीं आ सकेगी।

उपन्यास के पीछे एक उद्देश्य होना चाहिए किंतु यह उद्देश्य ऐसा न हो कि उपदेश सा जान पड़े। उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त कलात्मक ढंग से की जानी चाहिए। उपन्यासकार को चाहिए कि वह अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन अप्रत्यक्ष रूप से पात्रों के वार्तालाप अथवा घटनाओं के माध्यम से करे। यदि वह सीधे ढंग से अपने सिद्धांत का उपस्थापन करेगा तो उसमें नीरसता और अरोचकता आ जायेगी।

उपन्यास के भेद या प्रकार

विद्वानों ने विभिन्न आधार मानकर उपन्यास के अनेक प्रकार से भेद किये हैं। तत्वों के आधार पर अधिकांश विद्वानों ने उपन्यास के केवल तीन भेद किये हैं—(१) घटना प्रधान ( ) चरित्र प्रधान और (३) नाटकीय। किंतु डा० गणपतिचन्द्र गुप्त इस वर्गीकरण से सहमत नहीं हैं। उन्होंने उपन्यास के सात तत्व माने हैं—छः तो वे ही हैं जिन्हें ऊपर गिनाया जा चुका है सातवां तत्व उन्होंने भाव स्वीकार किया है और इसीलिए वे तत्वों के आधार पर उपन्यासों के सात भेद मानते हैं—(१) कथा वस्तु प्रधान या घटना प्रधान (२) चरित्र प्रधान (३) कथोपकथन प्रधान या

उपन्यास से वास्तविक अभिप्राय तथा उसकी परिभाषा

आज उपन्यास से अभिप्राय बृहत् आकार के उस गद्य आख्यान अथवा वृत्तान्त से है जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रो और कार्यों का चित्रण किया जाता है । वस्तुत हिन्दी मे यह शब्द बगला से लिया गया है । बगला मे 'उपन्यास' शब्द अग्रेजी 'नॉवल' (Novel) का समानार्थी है ।

विभिन्न विद्वानो ने उपन्यास को विभिन्न परिभाषाओ मे आबद्ध करने का प्रयास किया है । इन परिभाषाओ मे शब्दगत अन्तर होते हुए भी कोई मूलभूत अन्तर नही है, प्राय सभी परिभाषाए एक-दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नही । डाक्टर श्याम-सुन्दरदास के अनुसार 'मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा' उपन्यास है । प्रेमचन्द जी 'मानव-चरित्र के चित्र' को उपन्यास मानते हैं । उनका कथन है—"मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है ।" बाबू गुलाबराय ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए लिखा है—"उपन्यास कार्य-कारण शृखला मे बँधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमे अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियो से सम्बन्धित वास्तविक काल्पनिक घटनाओ द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है ।" स्पष्ट है कि उपर्युक्त परिभाषाओ मे कोई तात्विक अन्तर नही है । हम इन्हें परिनिष्ठित परिभाषाएँ मान सकते हैं । यो तो नपे-तुले शब्दो मे साहित्य की किसी भी विधा को बाँधना सम्भव नही ।

उपन्यास के तत्व

एक-दो को छोडकर प्राय सभी आचार्यों ने उपन्यास के छ तत्व निर्धारित किये हैं—(१) कथावस्तु, (२) चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन अथवा सवाद, (४) भाषा-शैली, (५) देश काल तथा (६) उद्देश्य । उपन्यास की कथावस्तु का चयन इतिहास, पुराण, जीवनी आदि कही से भी किया जा सकता है । आज उपन्यास मे महत्व केवल उसी कथानक को दिया जाता है जो सामान्य जीवन से सम्बद्ध हो । उपन्यास की कथावस्तु मे प्रमुख कथानक के साथ-साथ कुछ प्रासगिक कथाए भी चल सकती हैं, किंतु ये सभी प्रासगिक कथाए अधिकारिक कथा के साथ सुसम्बद्ध होनी चाहिए । घटनाचक्र की एकता और सगठन पर बल देते हुए भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है—"कहानी के उस विस्तार मे कला की दृष्टि से रस का सचरण और परिपाक होता है । घटनाचक्र की एकता या अनेकमुखी जीवनधारा का स्वस्थ विलयन ही उसका पाक है । घटनाचक्र की एकता वस्तु गठन के रूप मे, उपन्यास के रस को कलात्व प्रदान करती है ।" उपन्यास के कथानक के तीन आवश्यक गुण माने गये हैं—रोचकता, स्वाभाविकता तथा प्रवाह अथवा गतिशीलता । वस्तुत उपन्यास का आरम्भ ही कुछ इस प्रकार से होना चाहिए कि वह पाठक के हृदय मे कौतूहल उत्पन्न कर दे और वह उपन्यास को तब तक न छोडे जब तक उसे पूरा पढ़ न डाले ।

उपन्यास के चरित्र-चित्रण मे स्वाभाविकता और सजीवता का होना अत्यन्त आवश्यक है । साथ ही पात्रो का क्रमिक विकास दिखाया जाना चाहिए । चरित्र प्राय

प्रतीत होता है कि हिन्दी में उपन्यासों का वास्तविक आरम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय से ही हुआ जिस पर बंगला-उपन्यास का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यासों में मानव-जीवन के प्रति उस व्यापक दृष्टिकोण का परिचय नहीं मिलता जिसको लेकर अंग्रेजी-उपन्यास का आविर्भाव हुआ। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों का उद्देश्य पाठकों को अधिकांशतः कल्पना लोक में विचरण कराना तथा उनका मनोरञ्जन ही मात्र था। साहित्य-जगत् में मुंशी प्रेमचन्द के अवतीर्ण होने पर ही उपन्यासों में सामाजिक परिस्थितियों की ओर ध्यान दिया गया। प्रेमचन्द के उपरान्त जिस उपन्यास-साहित्य का निर्माण हुआ है उसका तो प्रमुख लक्ष्य ही मनुष्य के सामाजिक जीवन का विश्लेषण है। ऐसी स्थिति में विवेचन में सौकार्य की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को उपन्यास सम्राट मुन्शी प्रेमचन्द को केन्द्र बिन्दु मानकर तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रेमचन्द-पूर्व युग (सन् १८८२ से सन् १९१८ तक) (२) प्रेमचन्द-युग (सन् १९१९ से सन् १९३६ तक) तथा (३) प्रेमचन्दोत्तर युग (सन् १९३७ से आज तक)। यह युग विभाजन केवल सुगमता के विचार से है; वस्तुतः इनके बीच किसी निश्चित व्यावर्तक रेखा को नहीं खींचा जा सकता।

(अ) प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास—बहुसंख्यक विद्वानों की मान्यता है कि लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास है; किन्तु आचार्य शुक्ल ने पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी-विरचित 'भाग्यवती' को हिन्दी का प्रथम उपन्यास घोषित किया है। अतः यद्यपि यह उपन्यास (सन् १८७७ ई०) हमारे अध्येतव्य युग से पूर्व आता है (हमारे अध्ययन की परिधि में इसलिये नहीं आता क्योंकि यह एक साहित्यकार द्वारा नहीं वरन् समाज-सुधारक द्वारा लिखा गया उपन्यास है जिसकी रचना भारत खण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के उद्देश्य से हुई है) तथापि आचार्य प्रवर के आग्रहवश उसका उल्लेख कर देना असंगत न होगा। 'भाग्यवती' वस्तुतः सामाजिक उपन्यास है जिसकी नायिका भाग्यवती में ही नहीं वरन् समस्त पात्रों में आदर्श गुणों की स्थापना की गई है। उपन्यासकार ने सद्-असद् का द्वन्द्व दिखाने का अच्छा प्रयास किया है।

जब 'भाग्यवती' पर विचार कर लिया तो भारतेन्दु बाबू की एक कहानी 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' पर भी विहंगम दृष्टिपात करना अप्रासंगिक न होगा। भारतेन्दु जी की इस अपूर्ण रचना का थोड़ा सा ही अंश प्राप्त है। यह कहानी भी सामाजिक है जिसका धनी नायक दुर्गुणों का केन्द्र है। भारतेन्दु जी वास्तव में इस रचना द्वारा इस शाश्वत सत्य की ओर संकेत करना चाहते थे कि अविवेकी युवक धनाधिक्य के कारण प्रायः अवगुणों के शिकार हो जाते हैं।

इन दो उपन्यासों के अनन्तर हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षागुरु' आता है जिसकी रचना लाला श्रीनिवासदास ने सन् १८८२ ई० में पाश्चात्य ढंग पर की। परीक्षा ही मनुष्य को अपने मित्रामित्र का ज्ञान कराती है जिसकी प्राप्ति पर ही मानव यह जान पाता है कि उसका वास्तविक हितैषी कौन है यही इस उपन्यास का

सवादात्मक, (४) देश काल प्रधान या वातावरण प्रधान, (५) शैली प्रधान, (६) उद्देश्य प्रधान या विचारात्मक अथवा समस्या प्रधान और (७) रस प्रधान अथवा भावात्मक । विषय वस्तु के आधार पर तो उपन्यासो के न जाने कितने भेद किये गये हैं, जैसे वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि । परन्तु तत्व, वर्ण्य विषय, शैली आदि सभी विशेषताओं को ध्यान मे रखकर विद्वानो ने उपन्यासों के चार प्रधान भेद माने हैं—(१) घटना प्रधान, (२) चरित्र-प्रधान, (३) नाटकीय और (४) ऐतिहासिक । वस्तुत मानव-वृत्तिया और मानव-जीवन मे घटित होने वाली घटनाओ की अनन्तता के कारण उपन्यासो को कुछ गिने चुने कठघरो मे बन्द नही किया जा सकता । कोई भी वर्गीकरण आत्यन्तिक सिद्ध होगा, यह नही माना जा सकता ।

उपन्यास का उद्भव

भारतीय सस्कृति के प्रति अगाध निष्ठा रखने वाले विद्वान् हिन्दी-साहित्य की लगभग प्रत्येक विधा का उत्स ऋग्वेद मे खोज निकालते हैं, अतः यदि इन्होंने हिन्दी उपन्यास का भी आधार ऋग्वेद मे पाये जाने वाले यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी आदि के सवादो को स्वीकार किया, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? ये मनीषी 'वृहत्कथा', 'पञ्चतन्त्र', जातक कथा-साहित्य 'दशकुमार चरित', 'अवन्तिसुन्दरी-कथा', वासवदत्ता,' 'हर्षचरित', 'कादम्बरी', 'हितोपदेश', 'तिलकमञ्जरी', 'वृहत्कथा मञ्जरी,' 'कथासरित्सागर', 'पृथ्वीराज-रासो', 'वीसलदेवरासो,' 'पद्मावत', 'ढोला मारू रा दूहा' आदि आख्यानक ग्रन्थो को हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठभूमि बतलाते हैं, किन्तु वस्तुस्थिति यदि इसके नितान्त विपरीत नही तो कुछ भिन्न अवश्य है । वस्तुत हिंदी मे 'उपन्यास' शब्द जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, बगला से लिया गया है तथा हिंदी-उपन्यास ने आरम्भिक अवस्था मे बगला-उपन्यासो से सामग्री भी ग्रहण की है । बगला मे भी इस विधा के साहित्य का सर्जन, बगाल मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सत्ता स्थापित हो जाने के पश्चात्, आग्ल भाषा के नॉवल-साहित्य से प्रभावित होकर ही हुआ है । वैसे तो अँग्रेजी साहित्य के नॉवल (Novel) का उद्गम-स्थल जोसेफ एडीसन तथा रिचर्ड स्टील के रोजर डि कॉवर्ली, विल हॉनीकूम्ब, सर एण्ड्रयू फ्रीपोर्ट आदि के व्यक्ति-विवरणो (character-sketches) को स्वीकार किया जाता, किन्तु अँग्रेजी मे भी इस नॉवल का वास्तविक आरम्भ सेम्युएल रिचर्डसन के 'पमेला', 'क्लेरिसा हार्लो' आदि तथा हेनरी फील्डिग के 'जोसेफ एण्ड्रयूज' 'जॉनाथन वाइल्ड', 'टाम जोन्स' प्रभृति उपन्यासो से ही होता है । इन उपन्यासो मे सामाजिक जीवन के चित्र चित्रित किये गये हैं । यह बात दूसरी है कि रिचर्डसन ने अपने उपन्यासो मे आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है और फील्डिग ने यथार्थवाद की । इस प्रकार बगला-उपन्यास अँग्रेजी के उपन्यासो से तथा हिन्दी-उपन्यास-साहित्य बगला से प्रभावित होने के कारण हिन्दी के उपन्यासो पर, अस्पष्ट रूप से ही सही, अँग्रेजी के उपन्यासो का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । भारतेन्दु युग मे प्रथम बार हिन्दी मे बगला के प्रतिष्ठित उपन्यासकार बङ्किमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, चण्डीचरण सेन आदि के उपन्यासो का अनुवाद किया गया तथा कुछ मौलिक उपन्यास भी लिखे गये । ऐसी स्थिति मे यही मान लेना [illegible]

इन्होंने 'विरजा' तथा 'मृण्मयी' उपन्यासों का सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया है। राधाकृष्णदास ने बंकिम बाबू की 'दुर्गेशनन्दिनी' संजीवचन्द्र का 'रामेश्वर का अदृष्ट' तथा तारकनाथ की 'स्वर्णलता' के अनुवाद किये हैं। 'निस्सहाय हिन्दू' इनका मौलिक उपन्यास है। मुन्शी उदितनारायणलाल वर्मा ने कई उपन्यासों का अनुवाद किया जिनमें स्वर्णकुमारी का 'दीपनिर्वाण' तथा श्री रमेशचन्द्र दत्त का 'जीवन-सन्ध्या' प्रमुख है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने कुछ उपन्यासों का अनुवाद किया जिनमें बंकिम बाबू के उपन्यास 'कृष्णकान्त का दानपत्र' का अनुवाद अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध है। इन्होंने दो मौलिक उपन्यासों की भी रचना की — 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल'। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में केवल सवर्णता को आधार मानकर सम्पन्न हुये अनमेल विवाह के कुपरिणाम चित्रित किये गये हैं। 'अधखिला फूल' में नारी-जीवन की समस्या का अंकन है। इन उपन्यासों के वर्णन बड़े रम्य एवं भावुकतापूर्ण हैं।

देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' जैसे तिलस्मी उपन्यास ने पाठकों पर जादू का काम किया। 'कुसुमकुमारी' 'काजर की कोठरी' आदि अन्य अनेक उपन्यास भी इनकी लेखनी से प्रस्तुत हुये हैं। 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' के आधार पर ही इन्होंने 'भूतनाथ' लिखना आरम्भ किया किन्तु इसके छः भाग लिखने के उपरान्त इनका शरीरान्त हो गया। खत्री जी की भाषा अत्यधिक सरल है।

देवकीनन्दन खत्री के पुत्र दुर्गाप्रसाद ने भी आश्चर्यजनक विवरणों से युक्त 'रक्त मण्डल' 'लाल पन्जा' 'प्रतिशोध' 'सफेद शैतान' आदि उपन्यासों की रचना की।

देवकीनन्दन खत्री के पश्चात् सामाजिक ऐतिहासिक तथा तिलस्मी इन तीन प्रकार के उपन्यासों के रचयिता किशोरीलाल गोस्वामी का नाम आता है। इन्होंने पाँच दर्जन से भी अधिक उपन्यासों की रचना की। 'त्रिवेणी' या 'सौभाग्यश्रेणी' 'लीलावती या आदर्श सती' 'राजकुमारी' 'चपला या नव्य समाज चित्र' 'पुनर्जन्म या सौतियाडाह' 'माधवी-माधव या मदन मोहिनी' 'अंगूठी का नगीना' आदि इनके सामाजिक उपन्यास हैं। 'तारा या क्षत्र-कुल-कमलिनी' 'सुल्ताना रजिया बेगम या रंग महल में हलाहल' 'हृदयहारिणी या आदर्श रमणी' 'लवंगलता या आदर्श बाला' 'मल्लिका देवी या बंगसरोजिनी' 'सोना और सुगन्ध या पन्नाबाई' 'गुलबहार या आदर्श भ्रातृस्नेह' 'लखनऊ की कब्र या शाहीमहलसरा' 'कनककुसुम या मस्तानी' आदि ऐतिहासिक तथा 'खूनी औरत का सात खून' आदि तिलस्मी उपन्यास हैं। साहित्याचार्य होने के कारण गोस्वामी जी को भाषा पर अच्छा अधिकार था अतः वे बड़ी सजीव भाषा लिखते थे किन्तु कहीं-कहीं पर इन्होंने उर्दू का मनमाना प्रयोग किया है जो बहुत अधिक खटकता है।

किशोरीलाल गोस्वामी की ही भांति गोपालराम गहमरी भी विराट् प्रतिभा लेकर उपन्यास क्षेत्र में अवतीर्ण हुये। इन्होंने सामाजिक ऐतिहासिक तथा तिलस्मी इन तीनों ही प्रकार के लगभग दो सौ उपन्यास लिखे। 'घटना घटाटोप' 'खूनी कौन'

वर्ण्य विषय है। इसकी भाषा दिल्ली के रहने वालो की साधारण बोलचाल की भाषा है।

ठाकुर जगमोहन सिंह की 'श्यामा स्वप्न' नाम को उपन्यास के रूप मे निबद्ध भावुकतापूर्ण कल्पना पर प्रसिद्ध जर्मन नाटककार गेटे के 'फाउस्ट' का प्रभाव दिखाई पडता है। यह एक प्रेम कहानी है। प्रकृति की क्रोड मे पले होने के कारण ठाकुर साहब ने उसकी भावमयी रूपमाधुरी का सम्यक् पर्यवेक्षण किया था, 'श्यामास्वप्न' इस बात का सुन्दर निदर्शन है।

'परीक्षागुरु' के प्रकाशन के चार वर्ष पश्चात् प० बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' का प्रकाशन हुआ। 'बालक अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त कर देश को उन्नति के शिखर' तक पहुचावें, यही इस उपन्यास की रचना का उद्देश्य है। भट्ट जी का दूसरा उपन्यास 'सौ अजान एक सुजान' है। दुष्टो के सग मे पडकर किस प्रकार धनी युवक बिगडते हैं तथा सज्जन शुभचिन्तको द्वारा किस प्रकार उनका उद्धार होता है, यही इस उपन्यास मे प्रदर्शित किया गया है। भट्ट जी के दोनो ही उपन्यासो मे कथापकथनो का वैरल्य तथा वर्णनो का आधिक्य पाया जाता है। भाषा सामान्यत बैसवाडी प्रभाव से अकित खडी बोली है।

सन् १८९३ मे रामनगर (चम्पारन) राज्य के प० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय ने 'सुन्दर सरोजिनी' नाम का एक रोचक उपन्यास लिखा। इस उपन्यास की मुख्य कथा नायक सुन्दर और नायिका सरोजिनी के स्वप्न-दर्शन-जन्य सफल प्रेम की कहानी है। यहा भी कथोपकथनो की विरलता दृष्टिगोचर होती है। भाषा कही-कही काव्य-मयी होने के कारण उपन्यास के उपयुक्त नही है।

गौरीदत्त का 'गिरिजा' नामक उपन्यास सन् १९०४ ई० मे प्रकाशित हुआ। साथ ही इन्होने कुछ विस्तृत कहानिया, जैसे 'देवरानी जिठानी की कहानी', 'कहानी टको कमानी' आदि भी लिखी हैं, किन्तु उन्हे उपन्यास की कोटि मे नही रखा जा सकता।

कार्तिक प्रसाद जी का हिन्दी तथा बगला पर समान अधिकार था, अत बगला से हिन्दी मे अनूदित इनके उपन्यास पूर्ण सफल हुए हैं। 'ईला', 'प्रमीला', 'दीनानाथ' 'दलित कुसुम', 'जया', 'कुलटा', 'रोशन आरा' आदि इनके अनुवादो मे प्रमुख हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने बकिम बाबू के उपन्यास 'राजसिंह', 'इन्दिरा' 'राधारानी', 'युगलाङ्गलीय', 'देवी चौधरानी' के सफल अनुवाद प्रस्तुत किए। बाबू गदाधर सिंह ने 'कादम्बरी' का सक्षिप्त अनुवाद किया। इसके अनन्तर इन्होंने बंकिमचद्र चट्टोपाध्याय की 'दुर्गेशनन्दिनी', रमेशचद्र दत्त के 'बगविजेता आदि उपन्यासो का अनुवाद अत्यन्त सरल बोल-चाल की भाषा मे किया। रामकृष्ण वर्मा ने 'ठगवृत्तान्तमाला' तथा 'पुलीसवृत्तान्तमाला' लिखी। साथ ही साथ काजी अजीजुद्दीन अहमद के 'समरे दियानत' का 'अमला वृत्तान्तमाला' के नाम से उर्दू-मिश्रित हिन्दी मे अनुवाद किया। वर्मा जी का अन्तिम प्रयास सोमदेव-रचित 'कथासरित्सागर' का हिन्दी अनुवाद है। गोस्वामी राधाचरण के तीन प्रमुख उपन्यास हैं—'जाविश्री', 'विधवा-विपत्ति' तथा 'सौदामिनी'

तक हिन्दी उपन्यास मानो किसी अविकसित कलिका की भांति मौन निस्पन्द एवं चेतनाहीन सा हो रहा था दिवाकर की प्रथम रश्मियों की भांति प्रेमचंद की पावन कला का पुनीत स्पर्श पाकर मानो वह जग उठा खिल उठा और मुस्कराने लगा। वास्तव में प्रेमचंद से पूर्व जितने भी उपन्यास लिखे गये उनका अपना ऐतिहासिक महत्व तो है किन्तु प्रेमचंद तथा उनके पश्चात् के उपन्यासकारों के उपन्यासों की तुलना में वे नगण्य से ही हैं।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों को मानव-जीवन की पृष्ठ भूमि पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अपने उपन्यासों द्वारा किसानों की आर्थिक व्यवस्था ग्रामीण जीवन की दुर्बलता विधवाओं तथा वेश्याओं की समस्या समाज की कुरीतियाँ हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य जमींदारों तथा पुलिस के अत्याचार आदि तत्कालीन प्रश्नों पर प्रकाश डाला है। 'सेवासदन' में उन्होंने सुमन पात्र द्वारा तत्कालीन वेश्याओं के जीवन की समस्या का चित्रण कर उनके सुधार के उपाय भी बतलाये हैं। नारी-जीवन की इस प्रमुख समस्या पर विचार करते समय उन्होंने विवाह के अवसर पर दहेज की समस्या समाज की रूढ़िवादिता झूठा नैतिकवाद विधवाओं की समस्या आदि प्रश्नों पर भी विचार किया है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन की ओर मुड़े हैं। इसमें ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित जमींदार पटवारी मुंशी वकील डाक्टर पुलिस अफसर आदि वर्ग का चित्रण ऐसे ढंग से किया है कि यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके द्वारा ग्रामीण जनता भयंकर रूप से आक्रान्त है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द की कला का पर्याप्त विकसित रूप मिलता है। इस उपन्यास में उन्होंने सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं पर प्रकाश डालते समय नगर ग्राम कर्त्तव्य प्रेम सुख-दुःख आशा आकांक्षा ध्येय अधिकार आदि को लेकर भारतीय जीवन में क्रान्ति की भावना के बीज बोये हैं। उनके इस उपन्यास पर गाँधीवादी विचार धारा की स्पष्ट छाप है। 'कायाकल्प' में तत्कालीन साम्प्रदायिक सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का चित्रण हुआ है। 'निर्मला' विधुर-विवाह के दुष्परिणाम की एक करुण कहानी है। प्रेम की साधना तथा कर्त्तव्य-पथ के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए प्रेमचन्द ने 'प्रतिज्ञा' की रचना की। स्त्रियों में प्रायः गहनों के प्रति आकर्षण रहता है इसी एक समस्या को लेकर प्रेमचन्द जी ने 'गबन' में एक स्त्री के पति के जीवन में भयंकर आन्दोलन की सृष्टि की है। उन्होंने 'रंगभूमि' की राजनैतिक समस्याओं पर फिर एक बार 'कर्मभूमि' में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। इसमें हमारे पिछले राजनीतिक आन्दोलन (१९३१-३२) का व्यापक चित्र मिल सकता है। 'गोदान' हिन्दी उपन्यास-साहित्य की एक अमर कलाकृति है। वर्ग-वैषम्य का चित्रण इसका मूल उद्देश्य है। नायक होरी भारत के दीन-हीन कृषक-वर्ग का प्रतिनिधि है। होरी का चरित्रांकन प्रेमचन्द ने अपने हृदय के रक्त से किया है।

प्रेमचन्द-युग में ही प्रसाद जी भी आये हैं। इन्होंने 'कंकाल' 'तितली' तथा 'इरावती' इन तीन उपन्यासों को लिखकर हिन्दी उपन्यास की श्री वृद्धि में योग दिया। 'कंकाल' के द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय स्त्रियों की असहाय परिस्थितियों का चित्रण

है ?', 'जमुना का खून', 'जासूस का भूल', 'देवरानी जिठानी', 'जासूस की चोरी', 'अन्धे की आँख' आदि इनके प्रख्यात उपन्यास हैं। इन्होने अपने उपन्यासो मे सरल सुगम तथा सुबोध हिन्दी का प्रयोग किया है।

हरिकृष्ण जौहर ने रेनॉल्ड्स के 'ब्रॉज स्टेच्यु' का 'पीतल की मूर्ति' के नाम से अनुवाद किया। इस अनुवाद कार्य के साथ ही साथ उन्होने 'कमलकुमारी', 'आश्चर्य प्रदीप', 'छाती का छुरा' आदि मौलिक उपन्यास भी लिखे। इनके कथोपकथन रोचक तथा भाषा सजीव है।

'धूर्त रसिकलाल', 'कपटी मित्र', 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पत्ति', 'बिगडे का सुधार', 'आदर्श हिन्दू' आदि उपन्यासो मे मेहता लज्जाराम शर्मा ने प्राचीन हिन्दू मर्यादा तथा सनातम धर्म की प्रतिष्ठा की है।

'अद्भुत लाश', 'अनारकली' तथा पानीपत' बल्देव प्रसाद मिश्र के उपन्यास हैं जो १६०० ई० के आसपास रचे गये। गगाप्रसाद गुप्त ने 'नूरजहाँ' नाम का मौलिक उपन्यास लिखा तथा रेनॉल्ड्स के 'द यग फिशरमैन का 'किले की रानी' के नाम से अनुवाद प्रस्तुत किया। मुन्शी व्रजनन्दन सहाय के प्रसिद्ध उपन्यास 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकात 'लालचीन', 'विस्मृत सम्राट्', 'विश्वदर्शन' तथा 'अरण्यबाला' है। पात्रो के भावो की सफल अभिव्यक्ति मे इनका अच्छा नैपुण्य दृष्टिगोचर होता है। 'ससार-चक्र' जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का मौलिक उपन्याम है। इसकी रचना के पश्चात् इन्होने 'वसन्त-मालती' का भी अनुवाद किया।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के पश्चात् हिन्दी मे उपन्यासो की बाढ-सी आ गई। इनमे ईश्वरीप्रसाद के 'कोकिला' तथा 'नवाबनन्दिनी', कमलानन्दसिह का वकिम बाबू के आनन्दमठ' का अनुवाद, कलाप्रसाद का 'कुलकलकिनी', केदारनाथ शर्मा का 'तारामती', चन्द्रसेन जैन का 'बुढापे का ब्याह', चुन्नीलाल खत्री का 'जबरदस्त की लाठी' जनार्दन झा का 'नौका डूबी या आश्चर्य घटना', जयरामदास गुप्त के 'चम्पा', 'कनकलता', 'कलावती', 'कालाचोर', 'कश्मीर-पतन', 'किशोरी', 'चन्द्रलोक की छाया' 'जहर का प्याला', 'दो खून' 'नवाबी परिस्तान' आदि, नाथूराम प्रेमी का 'फूलो का गुच्छा', निहालचन्द वर्मा का 'प्रेम का फल या मिस जोहरा', बसन्तलाल शर्मा का 'नामी ऐयार', बाँकेलाल चतुर्वेदी का 'धूल भरा हीरा', बालमुकुन्द वर्मा के 'एक रात मे बीस खून', कामिनी आदि, महावीर प्रसाद का 'जयन्ती', रामजीदास के 'धोखे की टट्टी' तथा 'फूल का काँटा', प्रेमचन्द-पूर्व युग के प्रसिद्ध उपन्यासकार रामलाल वर्मा के 'काला कुत्ता', खूनी खजर', 'चोर चौकडी पर', 'जासूसी चक्कर' 'जासूसी पिटारा', 'डबल जासूस','बनारसी दुपट्टा' आदि, शालिग्राम गुप्त का 'आदर्श रमणी', हजारीलाल के 'आफत की बुढ़िया','तीन बहिन', 'दो स्त्री का पति', हरिनारायण टण्डन का 'चाचा का खून' आदि प्रसिद्ध हैं।

प्रेमचन्द युगीन हिन्दी उपन्यास—वास्तव मे हिन्दी उपन्यास को प्रौढता मुन्शी प्रेमचन्द के हाथो मिली। उनसे पूर्व का उपन्यास-साहित्य मात्र कौतूहल की सृष्टि करने वाला था। उपन्यास को मानव-जीवन के अत्यधिक निकट लाने का श्रेय प्रेमचन्द ही को है। एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है—'प्रेमचद के पदार्पण के पूर्व

तक हिन्दी उपन्यास मानो किसी अविकसित कलिका की भांति मौन निस्पन्द एवं चेतनाहीन सा हो रहा था दिवाकर की प्रथम रश्मियों की भांति प्रेमचन्द की पावन कला का पुनीत स्पर्श पाकर मानो वह जग उठा खिल उठा और मुस्कराने लगा। वास्तव में प्रेमचन्द से पूर्व जितने भी उपन्यास लिखे गये उनका अपना ऐतिहासिक महत्त्व तो है किन्तु प्रेमचंद तथा उनके पश्चात् के उपन्यासकारों के उपन्यासों की तुलना में वे नगण्य से ही हैं।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों को मानव-जीवन की पृष्ठ भूमि पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अपने उपन्यासों द्वारा किसानों की आर्थिक व्यवस्था ग्रामीण जीवन की दुखलता विधवाओं तथा वेश्याओं की समस्या समाज की कुरीतियाँ हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य जमींदारों तथा पुलिस के अत्याचार आदि तत्कालीन प्रश्नों पर प्रकाश डाला है। सेवासदन में उन्होंने सुमन पात्र द्वारा तत्कालीन वेश्याओं के जीवन की समस्या का चित्रण कर उनके सुधार के उपाय भी बतलाये हैं। नारी-जीवन की इस प्रमुख समस्या पर विचार करते समय उन्होंने विवाह के अवसर पर दहेज की समस्या समाज की रूढ़िवादिता झूठा नैतिकवाद विधवाओं की समस्या आदि प्रश्नों पर भी विचार किया है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन की ओर मुड़े हैं। इसमें ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित जमींदार, पटवारी मुंशी वकील डाक्टर पुलिस अफसर आदि वर्ग का चित्रण ऐसे ढंग से किया है कि यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके द्वारा ग्रामीण जनता भयकर रूप में आक्रान्त है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द की कला का पर्याप्त विकसित रूप मिलता है। इस उपन्यास में उन्होंने सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं पर प्रकाश डालते समय नगर ग्राम कर्त्तव्य प्रेम सुख-दुख आशा आकांक्षा ध्येय अधिकार आदि को लेकर भारतीय जीवन में क्रान्ति की भावना के बीज बोये हैं। उनके इस उपन्यास पर गाँधीवादी विचार धारा की स्पष्ट छाप है। 'कायाकल्प' में तत्कालीन साम्प्रदायिक सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का चित्रण हुआ है। 'निर्मला' विधुर विवाह के दुष्परिणाम की एक करुण कहानी है। प्रेम की साधना तथा कर्त्तव्य-पक्ष के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए प्रेमचन्द ने 'प्रतिज्ञा' की रचना की। स्त्रियों से प्रायः गहनों के प्रति आकर्षण रहता है इसी एक समस्या को लेकर प्रेमचन्द जी ने 'गबन' में एक स्त्री के पति के जीवन में भयंकर आन्दोलन की सृष्टि की है। उन्होंने 'रंगभूमि' की राजनैतिक समस्याओं पर फिर एक बार 'कर्मभूमि' में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। इसमें हमारे पिछले राजनीतिक आन्दोलन (१९३१-३२) का व्यापक चित्र मिल सकता है। 'गोदान' हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की एक अमर कलाकृति है। वर्ग-वैषम्य का चित्रण इसका मूल उद्देश्य है। नायक होरी भारत के दीन-हीन कृषक-वर्ग का प्रतिनिधि है। होरी का चरित्रांकन प्रेमचन्द ने अपने हृदय के रक्त से किया है।

प्रेमचन्द-युग में ही 'प्रसाद' जी भी आते हैं। इन्होंने 'कंकाल' 'तितली' तथा 'इरावती' इन तीन उपन्यासों को लिखकर हिन्दी उपन्यास की श्री वृद्धि में योग दिया। 'कंकाल' के द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय स्त्रियों की असहाय परिस्थितियों का चित्रण/

करके मन्दिरो के ढोगो पर प्रकाश डाला है। 'तितली' मे ग्राम-सुधार की भावना को प्राधान्य दिया गया है तथा मध्यवर्गीय समाज के विरुद्ध भी आन्दोलन किया गया है। 'इरावती' प्रसाद जी का अधूरा उपन्यास है। यदि वह पूरा हो जाता तो ऐतिहासिक उपन्यासो मे उसका प्रमुख स्थान होता।

(इ) प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यास—प्रेमचन्द के युग तक जो उपन्यास लिखे गये, उनमे विभिन्न प्रवृत्तियो के कोई स्पष्ट लक्षण नही मिलते थे, किन्तु प्रेमचन्द के वाद जो उपन्यास लिखे गये, उनमे विभिन्न प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आयी। वस्तुत प्रवृत्तियो के लक्षण तो प्रेमचन्द से ही मिलने लग गये थे। अत यहाँ पर प्रवृत्तियो को आधार मानकर ही प्रेमचन्दोत्तर उपन्याम-साहित्य का विवेचन किया जायेगा।

(क) सामाजिक उपन्यास - डॉ० सुषमा धवन के शब्दो मे सामाजिक उपन्यास-कला की आधारभूत विचारधारा व्यक्ति-चिन्तन से सम्बद्ध न होकर समाज-मगल की भावना से अनुप्रेरित होती है। प्रेमचन्दोत्तर काल मे इस कोटि के प्रमुख उपन्यासकार सियारामशरण गुप्त, विश्वम्भरनाथ कौशिक, अमृतलाल नागर तथा फणीश्वरनाथ रेणु हैं।

सियारामशरण गुप्त द्वारा विरचित 'गोद', 'अन्तिम आकाक्षा' तथा 'नारी' उपन्यासो के प्राय सभी पात्र भारतीय सस्कृति के उपासक हैं। गगाप्रसाद पाण्डेय का मन्तव्य है कि इन पात्रो के निर्माण मे लेखक के आस्थामय जीवन और सरल व्यक्तित्व का स्पष्ट आभास मिलता है। 'गोद' मे समाज की उस कुत्सित नीति का उद्घाटन किया गया है, जिसके कारण एक अवोध कन्या का जीवन विनष्ट हो सकता है। 'अन्तिम आकाक्षा' में एक उपेक्षित, श्रद्धालु, सत्यपरायण तथा स्वामिभक्त सेवक के प्रति समाज का अपवाद हृदय विदारक है। 'नारी' मे लोकापवाद के कारण एक परित्यक्ता नारी के अस्त-व्यस्त जीवन की कहानी है। इस प्रकार गुप्त जी ने अपने तीनो उपन्यासो मे लोकापवाद की घातक शक्ति का परिचय देकर, सामाजिक नीति की कडी आलोचना कर सामाजिक विधान की रक्षा की है। उनकी भाषा सरल अतएव सुगम्य है।

'माँ' नामक उपन्यास मे विश्वम्भरनाथ कौशिक का उद्देश्य पथभ्रष्ट पात्रो का सुधार है। उनके द्वितीय उपन्यास 'भिखारिणी' मे एक जीर्ण शीर्ण आवरण के भीतर छिपे एक महान् हृदय का स्पन्दन मुखरित हुआ है। इन दोनो ही उपन्यासो मे यथार्थ तथा आदर्श का एक विशिष्ट सम्मिश्रण है। समाज मे नव जागरण तथा सुधार की चेतना को अभिव्यक्ति देना इन उपन्यासो का मूल उद्देश्य है। कथोपकथनो का विधान भावपूर्ण नाटकीय ढग पर किया गया है।

अपनी पहली रचना 'महाकाल' मे अमृतलाल नागर ने वगाल के दुर्भिक्ष की पृष्ठभूमि पर व्यक्तिगत स्वार्थ और सामाजिक कल्याण के द्वन्द्व की समस्या का चित्रण तथा उसका समाधान प्रस्तुत किया है। 'सेठ बाँकेमल' मे अमृतलाल जी ने विनोदात्मक ढग से सामाजिक अनाचारो पर छीटे कसे हैं। 'बूँद और समुद्र' मे लेखक का विश्वास उस मानव के प्रति है जो लघु होने के साथ-साथ अपने प्रति जागरूक है।

पिछले महासमर और उसके वाद की घटनाओ ने, विशेषकर स्वतन्त्रता-

प्राप्ति ने देश को बहुत गहराई तक झकझोर दिया है। फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' उपन्यास में उन्हीं घटनाओं के परिणामस्वरूप देहातों की आत्मा में होने वाले आलोड़न और विक्षोभ की झाँकी है।

(ख) व्यक्तिवादी उपन्यास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी उन सभी कला कृतियों को व्यक्तिवादी उपन्यास की संज्ञा देते हैं जिनमें व्यक्तिगत जीवन-घटना व्यक्तिगत चरित्र व्यक्तिगत जीवन दर्शन व्यक्तिगत मनोविज्ञान या व्यक्तिगत जीवन-समस्या का निरूपण या निर्देश सर्वोपरि रहता है। इस वर्ग के भगवती प्रसाद वाजपेयी उपेन्द्रनाथ 'अश्क' रामेश्वर शुक्ल अंचल उपादेवी मित्रा तथा कुछ अन्य उपन्यासकार आते हैं।

'पतिता की साधना' में भगवती प्रसाद वाजपेयी ने नन्दा तथा हरी के चरित्रों में उच्चादर्श की प्रतिष्ठा की। 'दो बहनें' में रायसाहब के प्रति ज्ञानप्रकाश का विद्रोह दिखाकर ज्ञानप्रकाश लता तथा आशा के जीवन में प्रेम करने की स्वतन्त्रता व्यक्ति वादी विचारधारा का परिणाम है। 'चलते चलते' में एक आधुनिक चिन्तनशील युवक की जीवन-यात्रा का विवरण है जो अपने मनोभावों का विश्लेषण करने में निरत रहता है। राजनीतिक स्वाधीनता के स्वर में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का उद्घोष 'निमन्त्रण' का प्रमुख लक्ष्य है। व्यक्ति अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थायी बनाने के लिए समाज से संग्राम करता रहा है यथार्थ से आगे इसी धारणा का साकार रूप है। स्पष्ट है वाजपेयी जी अत्यन्त सजग कलाकार हैं।

अश्क के उपन्यासों में नायकों तथा नायिकाओं के जीवन की मूल समस्या व्यक्ति के संघर्ष तथा विकास की समस्या है।। 'गिरती दीवारें' के चेतन 'गर्म राख' के जगमोहन 'बड़ी-बड़ी आँखें' के संदीप तथा 'सितारों के खेल' के नायक अमीनाल के चरित्र एक ही साँचे में ढाले गये।

रामेश्वर शुक्ल अंचल ने 'चढ़ती धूप' की ममता 'नई इमारत' की मालती तथा असीम 'उल्का' की मंजरी तथा 'मरु-प्रदीप' की शान्ति के चरित्रों में व्यक्तिगत सुख-दुख आशा-आकांक्षा की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है।

उपादेवी मित्रा द्वारा रचित 'वचन का मोल' 'पिया' 'जीवन की मुस्कान' तथा 'नष्ट नीड़' उपन्यासों के नारी की स्वतन्त्र सत्ता का स्वर स्पष्ट रूप से ध्वनित हुआ है।

लक्ष्मी नारायण के 'धरती की आँखें' तथा 'बया का घोंसला और साँप' में ग्रामीण जीवन का चित्रण व्यक्तिवादी चेतना को समाहित किये हुए है। 'काले फूल का पौधा' नागरिक जीवन का विवेचन अतिशय व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से किया गया है।

इन उपन्यासकारों तथा उपन्यासों के अतिरिक्त इलाचन्द्र भिक्षु के 'आदमी का बच्चा' 'अशान्ति' तथा 'भँवरजाल' अनादेश मुक्ति के 'मथुरा' उपन्यास विष्णु प्रभाकर के 'निशिकान्त' आदि उपन्यासों में समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि पर ही अधिक आग्रह है।

(ग) **समाजवादी उपन्यास**—प्रगतिवादी अथवा समाजवादी उपन्यास का मूलाधार वह समाजवादी चेतना है, जो आदर्शवाद से आरम्भ होकर यथार्थवाद की ओर अग्रसर हुई है। यशपाल, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, रागेय राघव तथा कुछ अन्य उपन्यासकारो ने अपने विवेचन का विषय यही समाजवादी यथार्थ बनाया है।

यशपाल ने 'दादा कॉमरेड' मे तत्कालीन 'राजनीतिक धारणाओ तथा सामाजिक मान्यताओ को चुनौती देकर नवीन चेतना को 'अभिव्यक्त किया है। 'देशद्रोही' मे यशपाल का मूल उद्देश्य राजनीतिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन मे समाजवादी चेतना को उभारना तथा पुष्ट करना है। 'पार्टी कॉमरेड' मे एक चरित्र-हीन व्यक्ति का क्रमश परिवर्तन दिखाकर अत मे उसका उत्सर्ग दिखाया गया है। 'मनुष्य के रूप' मे मनुष्य की महानता तथा हीनता का यथार्थ चित्रण समाजवादी दृष्टिकोण से किया गया है।

'रतिनाथ की चाची', 'वलचनमा', 'नई पौध', और 'बाबा बटेसरनाथ', इन चारो उपन्यासो मे मिथिला के देहाती जीवन को चित्रित करते हुए नागार्जुन ने उस नवीन समाजवादी चेतना की ओर सकेत किया है, जो धीरे-धीरे बल पकडती जा रही है। भैरवप्रसाद गुप्त 'मशाल' तथा 'गगा मैया' मे उदयशील चेतना की अभिव्यक्ति मे पर्याप्त सफल रहे है। रागेय राघव के 'घरौंदे', 'विषाद-मठ' तथा 'हुजूर' उपन्यासो मे समाजवादी चेतना का आभास मिलता है।

महेन्द्रनाथ के 'आदमी और सिक्के' तथा 'रात अँधेरी है', राजेन्द्र यादव के 'प्रेत बोलते हैं', और 'उखडे हुए लोग', अमृतराय का 'बीज' नित्यानन्द वात्स्यायन का 'केलावाडी' आदि ऐसे उपन्यास हैं, जिनमे समाजवादी चेतना उपन्यासकारो के मस्तिष्क पर चढकर बोल रही है।

(घ) **ऐतिहासिक उपन्यास**—वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, राहुल साकृत्यायन, रागेय राघव तथा यशपाल ने अपने-अपने उपन्यास के माध्यम से अतीत के भव्य चित्र उपस्थित किये हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा के प्रथम उपन्यास 'गढ कुण्डार' मे बुन्देलखण्ड मे होने वाली चौदहवी शताब्दी की राजनीतिक उथल-पुथल की पृष्ठ भूमि मे खगारो के पतन और बुन्देलो के अभ्युदय का वर्णन किया गया है। 'विराटा की पद्मिनी' तथा 'मुसाहिबजू' का भी घटना-स्थल बुन्देलखण्ड ही है। 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' मे वर्मा जी का ध्येय भारतीय सस्कृति के प्रति आस्था जगाना तथा राजनीतिक स्वातन्त्र्य की भावनाओं को उद्बुद्ध करना है। 'कचनार' में राजगोडो का चित्रण है। 'मृगनयनी' मे दाम्पत्य जीवन को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रखकर देखा गया है। वर्मा जी के अन्य उपन्यासो, जैसे, 'अहिल्याबाई' 'माधव जी सिन्धिया', 'भुवन विक्रम' आदि का भी आधार ऐतिहासिक ही है।

'वैशाली की नगरवधू,' सोमनाथ' तथा 'वय रक्षाम' चतुरसेन शास्त्री के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्म कथा' की भी पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है।

राहुल साकृत्यायन के 'सिंह सेनापति', जय यौधेय' तथा 'विस्मृत यात्री' मे

साम्यवादी विचार-दर्शन तथा बौद्ध धर्म की जीवन-दृष्टि में सामञ्जस्य द्वारा भारतीय जन-जीवन की भावी प्रगति को बल देने का प्रयत्न किया गया है।

रांगेय राघव ने 'मुर्दों का टीला' में मोहन-जो-दड़ो के सांस्कृतिक जीवन तथा यशपाल ने 'दिव्या' में बौद्धकालीन भारत के सामन्ती जीवन को चित्रित किया है।

(ङ) मनोविश्लेषणवादी उपन्यास — व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के चरम विकास की स्थिति में विशेष रूप से मध्यमवर्गीय व्यक्ति अन्तर्मुखी तथा आत्मकेन्द्रित होने के कारण बाहर से भीतर की ओर आता है सामाजिक यथार्थ से मनोवैज्ञानिक यथार्थ की ओर उन्मुख होता है और इस प्रकार उसके दमित भाव कुण्ठा का रूप धारण कर लेते हैं। व्यक्ति की इन्हीं कुण्ठाओं का विश्लेषण करने वाला उपन्यास मनोविश्लेषणवादी कहलाता है इस श्रेणी के उपन्यास लिखने वालों में जैनेन्द्र कुमार इलाचन्द्र जोशी 'अज्ञेय' तथा कुछ अन्य उपन्यासकारों के नाम आते हैं।

जैनेन्द्र कुमार का 'परख' एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रधान उपन्यास है। कट्टो सत्यधन आदि प्रधान पात्रों के मानस की गहराई में पैठने पर हमें एक अविराम संघर्ष दृष्टिगत होता है। 'सुनीता' में भी जैनेन्द्र का काम्य जीवन चित्रों के माध्यम से सत्य का दर्शन करना तथा कराना है 'त्याग-पत्र' एक नारी के अतृप्त जीवन की करुण कहानी है। 'कल्याणी' में परिस्थितियों के बन्धन में जकड़ी हुई आत्मा का क्रन्दन सुनाई पड़ता है। जैनेन्द्र जी के 'सुखदा' और 'व्यतीत' भी मनोविश्लेषण प्रधान उपन्यास हैं।

इलाचन्द्र जोशी ने कई मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों की रचना की है जिसमें 'सन्यासी' 'प्रेत और छाया' 'निर्वासित' 'लज्जा' 'मुक्ति-पथ' 'सुबह के भूले' तथा 'जहाज का पंछी' मुख्य हैं।

'अज्ञेय' जी के 'शेखर : एक जीवनी' में सेखर विध्वंसशील नायक के रूप में हमारे समक्ष आता है 'अज्ञेय' जी के अपने ही शब्दों में 'शेखर : एक जीवनी' एक घनी भूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए Vision को शब्द-बद्ध करने का प्रयास है। इनका दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' भी मनोविश्लेषण प्रधान है।

डा. देवराज के 'पथ की खोज' तथा 'बाहर भीतर', धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' तथा 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', अनन्त गोपाल शेवड़े के 'निशा गीत' और 'मृगजल', प्रभाकर माचवे के 'छाया' एवं 'साँचा', यादवचन्द्र जैन का 'पत्थर-पानी', नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' तथा गिरिधर गोपाल का 'चाँदनी के खंडहर' आदि अन्य मनोविश्लेषणवादी प्रमुख उपन्यास हैं।

उपसंहार

हिन्दी-उपन्यास की उपर्युक्त आधुनिक प्रमुख प्रवृत्तियों का सम्यक् विवेचन करने से पता चलता है कि आज का हिन्दी उपन्यास चेतन प्रवाहवादी धारा की टैकनीक (St eam of consciousness Technique) की ओर बढ़ रहा है जिसे जेम्स ज्वाइस ने अपने 'यूलिसिस' तथा 'फिनेगन्स वेक' में और वर्जीनिया वुल्फ ने विशेषतः ईवोवे नामक उपन्यास में अपनाया है। यह प्रवृत्ति हिन्दी के उन मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों में अधिक स्पष्ट है जिनमें अवचेतन के चित्रण का प्राधान्य है। भविष्य में हिन्दी उपन्यास कौन-सा मोड़ लेगा यह नहीं कहा जा सकता।

: ७८ :

ऐतिहासिक उपन्यास

१ इतिहास के प्रति विभिन्न दृष्टिया
२ इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास
३ ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की मूल प्रेरणाए
४ ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक रोमान्स
५ हिन्दी ऐतिहसिक उपन्यासों का प्रवृत्तिगत अध्ययन
६. उपसहार

इतिहास के सम्बन्ध मे तीन प्रकार के मत-विश्वास प्रचलित हैं। हीगेल के आदर्शवादी इतिहास-दर्शन के अनुसार इतिहास की पुनरावृत्ति होती है, "History repeats itself" इतिहास मे मानवजाति पुन लौटकर वही पहुँच जाती है जहाँ वह पहले थी। इस दर्शन को मानने वालो के अनुसार रामराज्य पुन स्थापित होगा, कलियुग के वाद पुन प्रलय होगी और मनु फिर से अवतरित होगे। यह इतिहास-दर्शन भले ही आदर्शवादी हो, पर वह इतना अवैज्ञानिक और अयथार्थ है कि लोग उस पर हसे विना नही रह सकते। एगेल्स ने इसीलिये हीगेल के इस आदर्शवादी इतिहास-दर्शन के विरोध मे एण्टी-डूहरिंग में लिखा है,

"The Hegelian system as such was a colossal miscarriage It suffered from an internal and insoluble contradiction"

टायनवी ने, जो एक प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता हो गया है, इतिहास के सम्बन्ध मे दूसरी दृष्टि रखी, जिसे हम उत्थान-पतन की आवृत्ति कह सकते हैं। उसके अनुसार इतिहास का सत्य यह है कि मनुष्य केवल तरगो पर फेन-बुद्‌वुद की भाति उठकर फूट जाते हैं और घटनाए समुद्र की लहरो के समान मानवजाति को उठाती-गिराती रहती हैं। इतिहास मे उत्थान के वाद पतन और पतन के बाद उत्थान आता है। यह दर्शन भी निराशावादी है और इसमे मानव जाति की प्रगति के लिये कोई प्रयोजन नही दिखाई देता।

इतिहास के प्रति तीसरी दृष्टि इतिहास और व्यक्ति-मानव या मानव-समूह के सम्बन्धो को अधिक वैज्ञानिक ढग से देखने का यत्न करती है। उसके अनुसार इतिहास मनुष्य द्वारा निर्मित, सुनिदिष्ट, दिशायुक्त गति-विधि है। मानव स्वय अपने भाग्य का निर्माता है, वह काल रूपी मिट्टी को स्वय रूपाकार प्रदान करता है।

"The sands of time
Art plasticene in my hand,"

और यह इतिहास बनाने वाला मानव कोई महापुरुष मात्र नहीं होता वर्ग का वर्ग उसको दिशा प्रदान करता है। यह इतिहास-दर्शन इतिहास की गति को द्वन्द्वात्मक मानता है।

इतिहास का अर्थ है इति–ह–आस अर्थात् 'यह ऐसा हुआ'। इतिहास में घटना का यथार्थ वर्णन होता है। उधर उपन्यास के लिये मराठी में novel और गुजराती में 'नवल-कथा' या 'नवलिका' शब्दों का प्रयोग इस बात का सूचक है कि उसमें कल्पना का रम्य विलास होता है। इस दृष्टि से देखने पर इतिहास और उपन्यास में संगति नहीं बैठती दोनों में मौलिक विरोध दृष्टिगत होता है। इसी धारणा के कारण पामर ने ऐतिहासिक उपन्यासों को इतिहास का शत्रु कहा

"Historical novel are mortal enemies to history"

और दूसरे एक विद्वान ने उपन्यास के लिये ऐतिहासिक विषयों को अनुपयुक्त ठहराया

"Historical theme is inimical to good fiction."

पर क्या वस्तुतः ऐसा है ? क्या इतिहास केवल यथार्थ से सम्बद्ध और विशुद्ध तथ्योन्मुखी और उपन्यास कल्पनारम्य तथा भावना के क्षेत्र में विचरण करने वाला होता है? वस्तुतः इतिहास घटनाओं और तथ्यों की सूचीमात्र नहीं होता और न उपन्यास ही केवल मनोरंजन का साधन। हमारी कल्पना का आधार भी यथार्थ होता है और हमारी कल्पना का हमारे स्वप्नों का प्रभाव यथार्थ के निर्माण पर पड़े बिना नहीं रह सकता। फिर उपन्यास एक कला-कृति भी है और उपन्यासकार अपनी मेधा और मानिस भावना से तथ्यों और घटनाओं को एक विशिष्ट आलोक प्रदान कर नया समाज-दर्शन प्रस्तुत करता है। इसीलिये केमट ने कहा है कि इतिहास हमारे लिये केवल भूमियों से भरा या लुण्ठित धाराओं से भरा ममायबघर नहीं है। वह बहते हुए जल-प्रवाह में पड़ी हुई प्राचीन युग-मीनार की छाया के समान है। मीनार पुरानी रहने पर भी पानी नया रहता है अतः एक ही ऐतिहासिक विषय पर विभिन्न लेखक विभिन्न प्रकार से लिख सकते हैं। सारांश यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास अपने आप में कोई असंविरोधी वस्तु नहीं है। वह एक ऐसी कलाकृति है जिसका आधार इतिहास होता है। फिर भी इतिहास लेखक और ऐतिहासिक उपन्यासकार या यों कहिये कि इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास की रचना प्रक्रिया दृष्टि आदि में पर्याप्त अन्तर होता है।

यद्यपि दोनों कल्पना का आश्रय ग्रहण करते हैं पर जहाँ इतिहासकार की कल्पना पतंग की तरह नियमित रहती है वहाँ उपन्यास में मुक्त कल्पना-विलास के लिये पर्याप्त अवकाश रहता है इतिहास नामों तिथियों आदि पर अधिक ध्यान देता है जबकि उपन्यास मानवीय सत्य की चरम उपलब्धि पर बल देता है। वह तथ्यों की उपेक्षा तो नहीं करता पर वे उसके लिये बन्धन नहीं बनते उपकरण-मात्र रहते हैं। उनके माध्यम से वह किसी मौलिक सनातन मानवी सत्य को प्रस्तुत करता है। इतिहासकार का सत्य कठोर शुष्क तथ्यगत होता है जबकि उपन्यासकार संवादित सत्य भावना के सत्य को भी उतना ही और कभी २ उससे भी अधिक महत्त्व प्रदान करता है। उसके लिए तथ्य और सत्य दो ही नहीं एकाकार भी हो जाते हैं। इतिहासकार की दृष्टि राष्ट्रपरक होती है वह देश जाति और राष्ट्र की दृष्टि से घटनाओं और उत्थान-पतन का आकलन करता है जबकि उपन्यास लेखक की दृष्टि व्यक्तिपरक होती

: ७८ :

ऐतिहासिक उपन्यास

१ इतिहास के प्रति विभिन्न दृष्टिया
२ इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास
३ ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की मूल प्रेरणाए
४ ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक रोमान्स
५ हिन्दी ऐतिहसिक उपन्यासों का प्रवृत्तिगत अध्ययन
६. उपसहार

इतिहास के सम्बन्ध मे तीन प्रकार के मत-विश्वास प्रचलित हैं। हीगेल के आदर्शवादी इतिहास-दर्शन के अनुसार इतिहास की पुनरावृत्ति होती है, "History repeats itself" इतिहास मे मानवजाति पुन लौटकर वही पहुँच जाती है जहाँ वह पहले थी। इस दर्शन को मानने वालो के अनुसार रामराज्य पुन स्थापित होगा, कलियुग के बाद पुन प्रलय होगी और मनु फिर से अवतरित होगे। यह इतिहास-दर्शन भले ही आदर्शवादी हो, पर वह इतना अवैज्ञानिक और अयथार्थ है कि लोग उस पर हसे बिना नहीं रह सकते। एगेल्स ने इसीलिये हीगेल के इस आदर्शवादी इतिहास-दर्शन के विरोध मे एण्टी-डूहरिंग मे लिखा है,

"The Hegelian system as such was a colossal miscarriage It suffered from an internal and insoluble contradiction"

टायनबी ने, जो एक प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता हो गया है, इतिहास के सम्बन्ध मे दूसरी दृष्टि रखी, जिसे हम उत्थान-पतन की आवृत्ति कह सकते हैं। उसके अनुसार इतिहास का सत्य यह है कि मनुष्य केवल तरगो पर फेन-बुद्बुद की भाति उठकर फूट जाते हैं और घटनाए समुद्र की लहरो के समान मानवजाति को उठाती-गिराती रहती हैं। इतिहास मे उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान आता है। यह दर्शन भी निराशावादी है और इसमे मानव जाति की प्रगति के लिये कोई प्रयोजन नही दिखाई देता।

इतिहास के प्रति तीसरी दृष्टि इतिहास और व्यक्ति-मानव या मानव-समूह के सम्बन्धो को अधिक वैज्ञानिक ढग से देखने का यत्न करती है। उसके अनुसार इतिहास मनुष्य द्वारा निर्मित, सुनिदिष्ट, दिशायुक्त गति-विधि है। मानव स्वय अपने भाग्य का निर्माता है, वह काल रूपी मिट्टी को स्वय रूपाकार प्रदान करता है।

"The sands of time
Art plasticene i[illegible]and."

उपन्यासकारों को यह बात चुभ गई और उन्होंने न्याय भावना से प्रेरित हो अपने ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा उन ऐतिहासिक वीरों को गौरवमंडित किया।

वर्तमान विचारधारा को प्रस्तुत करने और किसी नवीन जीवन पद्धति को प्राचीन सिद्ध करने की प्रेरणा से भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाते हैं। हिन्दी यशपाल और राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यासों में यही दृष्टि पाई जाती है। इन दोनों ने साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रतिपादन और समर्थन तथा साम्यवादी जीवन-पद्धति को प्राचीन सिद्ध करने के लिए ही अतीत का आश्रय ले अपने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं इस प्रकार पूर्वजों के प्रति कुतूहल अतीत के प्रति श्रद्धा आदर का भाव वर्तमान से पलायन न्याय भावना और किसी विशिष्ट विचारधारा के समर्थन या जीवन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए हैं।

विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक रोमान्स दोनों उपन्यास के प्रकार होते हुए भी कतिपय बातों में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास का अभिप्राय बौद्धिक होता है जबकि ऐतिहासिक रोमान्स में बौद्धिक अभिप्राय की बजाय काव्यमय अनुभूति की प्रधानता होती है। इस काव्यमय अनुभूति के लिए वह प्राकृतिक भी काव्यमय भाषा मानव हृदय की कोमल भावनाओं-प्रणय पीड़ा करुण आत्मोत्सर्ग आदि का आयोजन करता है। विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास में लेखक की दृष्टि तथ्यपरक या वस्तुन्मुख होती है। उसमें पात्र घटनाएँ, वातावरण सभी इतिहास पर आधारित होती हैं वह अपनी बात की पुष्टि के लिए विभिन्न प्रामाणिक स्रोतों-शिलालेख पुराने दस्तावेज् इतिहास-ग्रन्थ आदि—का आश्रय लेता है और पाद टिप्पणियों द्वारा अपने काव्य को प्रामाणिक एवं इतिहास सम्मत बनाने के प्रयत्न में कभी-कभी ऊब पैदा कर देता है। वृन्दावनलाल वर्मा का सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'झाँसी की रानी' ऐसी ही पाद टिप्पणियों एवं इतिहास के उद्धरणों के कारण उपन्यास रस खो बैठा है। ऐसी स्थिति में उसमें कल्पना रंजन के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसके विपरीत ऐतिहासिक रोमान्स का लेखक विगत युग के वातावरण को पृष्ठभूमि के रूप में चुन तथा दो चार ऐतिहासिक पात्रों को अवतरित करने के बाद किंवदन्तियों अनुमान कल्पना आदि का सहारा ले अपनी रचना में मुक्त विहार करता है। उसकी स्वच्छन्द कल्पना रंजना ही उसकी कृति को मोहक एवं आकर्षक बनाती है। उसके अधिकांश पात्र और प्रसंग काल्पनिक या अनुमान पर आश्रित होते हैं। उसकी दृष्टि शौर्य के साथ साथ को प्रणय वचना भाव और आत्मोत्सर्ग पर भी रहती है। इन्हीं भावों का समावेश इस रचना को साहित्यिक गौरव प्रदान करता है। विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक रोमान्स का अन्तर बताते हुए डॉ सत्येन्द्र ने ठीक ही कहा है कि प्रथम का लेखक इतिहास की तीलियों पर हाड़-मांस चढ़ाकर प्राण भरने की चेष्टा करता है जब कि दूसरे का लेखक इतिहास की तीलियों का सहारा भर लेकर जीवन की रंगीनियों में से शौर्य के लिए प्रतिष्ठा का मार्ग बनाता चलता है। हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रवृत्तिगत अध्ययन राजपूत काल पर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी में ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं म भी पाई जाती है क्योंकि राजपूतों के शौर्य साहस बलिदान और प्रणय की गाथाएँ सम्पूर्ण देश में बड़े गर्व से कही-सुनी जाती थीं अत प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाने वाले इन वीरों पर

है, वह व्यक्ति-विशेष को दृष्टि में रखकर, मानव-हृदय और मानव-संवेदना को केन्द्र मे रखकर अपनी रचना का निर्माण करता है। इतिहासकार की दृष्टि मे यदि वाह्य घटनाओ का महत्त्व होता है और वह अपनी कृति मे उनको ही सर्वाधिक स्थान देकर उनका विस्तारपूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है, तो उपन्यासकार मानव मनोजगत को महत्त्व देते हुये उसमे विहार करने वाली भाव-तरगो का विश्लेषण करता है । इतिहासकार के लिये तटस्थ, निरपेक्ष, पूर्वाग्रहहीन दृष्टि का होना अभीष्ट ही नही, अत्यंत आवश्यक है, जबकि उपन्यास मे रचनाकार की जीवनदृष्टि मुक्त क्रीडा करती है और उसे अनुचित या हानिकर नही माना जाता। यही कारण है कि वह सत्य मे स्वप्न वास्तव मे कल्पना और व्यवहार मे आदर्श का समाहार कर सकता है । इतिहासकार दृष्टा है, तो उपन्यासकार दृष्टा एव सृष्टा दोनो है। पहला तिथियो घटनाओ और उनके परिणामो का निरपेक्ष दृष्टा की तरह वर्णन करता है, जबकि दूसरा उनका निर्माण करता है। वह सामाजिक और सास्कृतिक जीवन पर बल देता है, उसकी दृष्टि विगत पर ही न होकर वर्तमान और भविष्य पर भी रहती है । गुलाबराय जी के शब्दो में वह 'कि कुर्वन्ति' का ही चित्र प्रस्तुत नही करता, अपितु 'कि विचारयन्ति' का भी लेखा-जोखा पेश करता है, एक की क्रिया बौद्धिक और व्यवस्थाश्रित होती है, तो दूसरे की अन्तश्चेतनात्मक। इतिहासकार की रुचि घटना-विशेष मे होती है, जबकि उपन्यास कार की रुचि मनुष्य की समग्र नियति मे होती है, इसीलिये वह एक घटना, एक व्यक्ति और एक काल-विशेष के माध्यम से सम्पूर्ण मानव का उद्घाटन करता है। इतिहासकार के लिये कथ्य प्रमुख होता है,कला गौण, जबकि उपन्यास लेखकके लिये कथ्य की अपेक्षा कला प्रमुख होती है। वह अपनी कृति को कला का सौरभ प्रदान करने के लिये सचेष्ट रहता है, यही कारण है कि उसकी कृति पाठक के हृदय को अधिक स्पर्श करती है।

अपने पूर्वजो के जीवन, उनकी आशाओं-आकाक्षाओं उनके जीवन-सघर्षों आदि के विषय मे कुतूहल होना और उस कुतूहल की तृप्ति करना मानव का जन्मजात स्वभाव है। इसी जिज्ञासातृप्ति की सहज भावना मे ऐतिहासिक शोध व ऐतिहासिक उपन्यास-रचना के बीज निहित हैं। कतिपय विद्वानो का मत यह है कि ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना ऐसे समय मे गत इतिहास के लिए आदर और श्रद्धा का भाव होता है, पर यह बात सदा नही देखी जाती । इसके विपरीत वर्तमान हत-बल और हत-वीर्य अवस्था में, वर्तमान से पलायन करने के लिए भी प्राचीन की पूजा की जाती है। अतीत की ओर दृष्टि मोडी जाती है और पुनरुज्जीवन का नारा लगाया जाता है। अतीत जो वर्तमान से अधिक श्रेष्ठ व महत्त्वपूर्ण समझ उसके पुनर्मस्थापन की आकाक्षा उपन्यास लेखक को ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रेरणा प्रदान करती है कारण कुछ भी हो इन ऐतिहासिक उपन्यासो मे अतीत की गौरव-गाथा, राज्य-प्रेम और वीर-पूजा के भाव उपलब्ध होते हैं। मराठी मे हरिनारायण आप्टे और हिन्दी मे वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास इसके प्रमाण हैं।

विदेशी इतिहासकारो मे भारतीय इतिहास को विकृत करने का, हमारे प्रतिष्ठित आत्म-बलिदानी वीरो और जन-अधिनायको को काली-कूची से रगने का बडा प्रयास किया—उन्होने शिवाजी को 'पहाडी चूहा और रानी लक्ष्मीबाई के देशप्रेम को विवशता की स्थिति से उत्पन्न शौर्य' कहकर उनके महत्त्व को कम किया । हमारे

उपन्यासकारों को यह बात चुभ गई और उन्होंने न्याय भावना से प्रेरित हो अपने ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा उन ऐतिहासिक वीरों को गौरवमंडित किया।

वर्तमान विचारधारा को प्रस्तुत करने और किसी नवीन जीवन पद्धति को प्राचीन सिद्ध करने की प्रेरणा से भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाते हैं। हिन्दी यशपाल और राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यासों में यही दृष्टि पाई जाती है। इन दोनों ने साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रतिपादन और समर्थन तथा साम्यवादी जीवन-पद्धति को प्राचीन सिद्ध करने के लिए ही अतीत का आश्रय ले अपने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं इस प्रकार पूर्वजों के प्रति कुतूहल अतीत के प्रति श्रद्धा-आदर का भाव वर्तमान से पलायन न्याय भावना और किसी विशिष्ट विचारधारा के समर्थन या जीवन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए हैं।

विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक रोमान्स दोनों उपन्यास के प्रकार होते हुए भी कतिपय बातों मे एक दूसरे से भिन्न होते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास का अभिप्राय बौद्धिक होता है जबकि ऐतिहासिक रोमान्स में बौद्धिक अभिप्राय की बजाय काव्यमय अनुभूति की प्रधानता होती है। इस काव्यमय अनुभूति के लिए वह प्राकृतिक भी काव्यमय भाषा मानव हृदय की कोमल भावनाओं प्रणय पीड़ा करुण आत्मोत्सर्ग आदि का आयोजन करता है। विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास में लेखक की दृष्टि तथ्यपरक या वस्तुन्मुख होती है। इसमें पात्र घटनाएँ वातावरण सभी इतिहास पर आधारित होती हैं वह अपनी बात की पुष्टि के लिए विभिन्न प्रामाणिक स्रोतों-शिलालेख पुराने दस्तावेज, इतिहास-ग्रन्थ आदि—का आश्रय लेता है और पाद टिप्पणियों द्वारा अपने काव्य को प्रामाणिक एवं इतिहास सम्मत बनाने के प्रयत्न मे कभी-कभी ऊब पैदा कर देता है। वृन्दावनलाल वर्मा का सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'झाँसी की रानी' ऐसी ही पाद टिप्पणियो एवं इतिहास के उद्धरणों के कारण उपन्यास रस खो बैठा है। ऐसी स्थिति मे उसमे कल्पना रजन के लिए कोई स्थान नही होता। इसके विपरीत ऐतिहासिक रोमान्स का लेखक विगत युग के वातावरण को पृष्ठभूमि के रूप मे चुन तथा दो चार ऐतिहासिक पात्रो को अवतरित करने के बाद किंवदन्तियो अनुमान कल्पना आदि का सहारा ले अपनी रचना मे मुक्त विहार करता है। उसकी स्वच्छन्द कल्पना रचना ही उसकी कृति को मोहक एवं आकर्षक बनाती है। उसके अधिकांश पात्र और प्रसग काल्पनिक या अनुमान पर आश्रित होते हैं। उसकी दृष्टि शौर्य के साथ साथ ही प्रणय अबला त्राण और आत्मोत्सर्ग पर भी रहती है। इन्ही भावो का समावेश इस रचना को साहित्यिक गौरव प्रदान करता है। विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक रोमान्स का अन्तर बताते हुए डॉ. सत्येन्द्र ने ठीक ही कहा है कि प्रथम का लेखक इतिहास की सीढ़ियों पर हाड़ मांस चढ़ाकर प्राण भरने की चेष्टा करता है जब कि दूसरे का लेखक इतिहास की सीढ़ियों का सहारा भर लेकर जीवन की रमणीयता में स शौर्य के लिए प्रतिष्ठा का मार्ग बनाता चलता है। हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रवृत्तिगत अध्ययन राजपूत काल पर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी मे ही नही अन्य भारतीय भाषाओं मे भी पाई जाती है क्योंकि राजपूतो के शौर्य साहस बलिदान और प्रणय की गाथाएँ सम्पूर्ण देश मे बड़े गर्व से कही-सुनी जाती थी अतः प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाने वाले इन वीरों पर

ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना होना स्वाभाविक ही था। पर खेद है कि इनमें लेखको ने अद्भुत, काल्पनिक श्रृ गार एव विलास-चित्रण के मोह मे पडकर इतिहास की उपेक्षा की है हिन्दी मे इस काल पर लेखनी उठाने वाले सर्वप्रथम उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी थे और उनके सन्मुख आदर्श रूप मे बगाल के ऐतिहासिक उपन्यास थे। उनका उद्देश्य अपने पाठको को इतिहास से परिचित करना भी था, "पढने वाले उपन्यास के साथ ही कुछ-कुछ इतिहास का भी आनन्द लें।" अत उन्होंने जहाँ कही अवसर मिला है - उपन्यास के उपोद्घात मे' उसके कलेवर मे, पाद-टिप्पणियो मे— इतिहास दिया है। 'रजिया' का उपोद्घप्त तथा 'तारा' के तीसरे भाग का चौथा परिच्छेद इसका प्रमाण है। इतनी सावधानी वरतने पर भी उनकी रचनाओ मे ऐतिहासिक उपन्यास की आत्मा के दर्शन नही होते—प्रेम-व्यापारो, नायिका-भेद और नख शिख वर्णन विरह की तडपन, षड्यन्त्र और राजनीतिक दाव-पेचो ने उसे आच्छन्न कर लिया है। कही कल्पना का चमत्कार है, तो कही धार्मिक पूर्वाग्रह। उनका यह दोष और भी खटकता है, जब हम उन्हे यह सब जान बूझ कर करते देखते हैं "हमने अपने उपन्यासो मे ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कही कही तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर से ही नमस्कार कर लिया है।" यही कारण है कि उनके उपन्यासो मे कई जगह देश-काल सम्बन्धी विसगतिया—अकवर के सामने पेचवान रखा जाना, रजिया के समय 'गीत गोविन्द' का पाठ, रोशनारा का 'फिरट' शब्द बोलना—आ गई हैं। गोस्वामी जी अपने युग की समस्याओ से भी प्रभावित थे अत उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासो मे इन सामाजिक समस्याओ का भी चित्रण किया है जिससे विसगतिया आ गई हैं। गोस्वामी जी के अतिरिक्त हिन्दी के जिन उपन्यास लेखको—बलदेव मिश्र, गगाप्रसाद गुप्त बलभद्रसिंह आदि ने इस काल पर उपन्यास लिखे—उनमे भी वे ही दोष पाये जाते हैं। उनकी रचनाएँ भी अद्भुत प्रसगो, शृगारपूर्ण चित्रो, नाम-मात्र की ऐतिहासिकता, काल-विपर्यय और शिल्प-गत दोषो तथा शिथिल भाषा-शैली आदि दोषो से आक्रान्त हैं।

बुन्देलखण्ड के इतिहास पर लिखने की प्रवृत्ति—बुन्देलखण्ड के गौरवपूर्ण इतिहास को उपन्यास के माध्यम से सजीव एव सप्राण वनाने का श्रेय वृन्दावनलालवर्मा को है। उन्होने अपने अधिकाश उपन्यास इसी भू-खण्ड की वीरतापूर्ण घटनाओ और उत्सर्गमय प्रसगो पर लिखे हैं। उनके उपन्यासो मे इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय है। उनके उपन्यासो की अधिकारिक कथा कोई सबल रोमास होती है जिसके आधार पर वह तत्कालीन युग का चित्र उतारते हैं। इसके लिए वह अपनी विषय-वस्तु का गहरा और सन्निकट परिचय प्राप्त करते हैं। उनकी अध्ययनशीलता, गवेषणा-प्रवृत्ति और अध्यवसाव इसमें उनकी सहायता करते हैं। वह जानते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास को यथार्थता प्रदान करने के लिए अनुकूल वातावरण की सृष्टि करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए वह युग-विशेष के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एव राजनीतिक वातावरण का अङ्कन करते हैं। 'झासी की रानी' मे साम्प्रदायिक झगडा एव वर्ण-व्यवस्था का सकेत जनेऊ-प्रसग द्वारा दिया गया है, तो सामाजिक रीति-रिवाजो, त्यौहारो, उत्सवो, वस्त्राभूषणो के चित्रण द्वारा बुन्देलखण्ड

के सांस्कृतिक जीवन की झांकी प्रस्तुत की गई है। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण भी अनरस रोज की मक्कारी और अंग्रेजों की दुर्नीति के माध्यम से किया गया है। 'मृगनयनी' और 'गढ़कुंडार' को पढ़ते समय भी हम स्वयं को उस देश-काल में विचरण करता हुआ पाते हैं। इस प्रकार वर्मा जी देश और काल विशेष के वातावरण का पुनर्निर्माण करने में पूर्ण सफल रहे हैं।

उनकी यथार्थवादी दृष्टि पात्रों को कहीं भी अतिमानुष नहीं होने देती चरित्र-चित्रण में वह पात्रों के परस्पर सम्बन्धों का बराबर ध्यान रखते हैं उनके पात्रों की रेखाएं दृढ़ और स्पष्ट होती हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास के नायक नायिकाओं की चकाचौंध में भ्रमित नहीं होता अपितु छोटे-छोटे सामान्य पात्रों को भी नवीन गरिमा प्रदान करता है उनके द्वारा मानव-हृदय की झांकी प्रस्तुत करता है। वर्मा जी इन सामान्य पात्रों के चित्रण में पूर्ण सफल रहे हैं। लाखी अटल कचनार सुन्दर-मुन्दर मक्कारी कोरिन ऐसे ही पात्र हैं।

उपन्यास की रोचकता के लिए वह एक ओर आवश्यक कुतूहल बनाए रखने वाली घटनाओं का गुम्फन करते हैं और दूसरी ओर प्राकृतिक दृश्यों और युद्ध षड्यन्त्र आदि घटनाओं का सम्यक् चित्रण करते हैं। ये चित्र आवश्यक विस्तार से मुक्त हैं अतः पाठक उनमें पर्याप्त रस लेता है। भड़कीले रंगों के स्थान पर सौम्य रंगों का प्रयोग उनके भाव-चित्रण को पर्याप्त हृदयस्पर्शी बनाता है। देश की स्वाधीनता की चेतना का ध्यान रखने के कारण उनके उपन्यास पाठकों को प्रेरणा देते हैं सन्देश प्रदान करते हैं भविष्य की ओर हमें आशावादी बनाते हुए स्फूर्तिदायक इंगित देते हैं।

उनकी भाषा-शैली में प्रादेशिक रंग होता है मिट्टी की सोंधी महक रहती है जिसके फलस्वरूप वे अधिक हृदयग्राही हो उठते हैं। इन गुणों के होते हुए भी वर्मा जी के उपन्यास पूर्णतः निर्दोष नहीं हैं। एक ओर अपने युग की समस्याओं से अत्यधिक प्रभावित रहने के कारण वह काल-विपर्यय दोष कर बैठे हैं तो दूसरी ओर काव्यात्मकता की कमी और वर्णन-शैली की इतिवृत्तात्मकता के परिणामस्वरूप उनके उपन्यास कहीं-कहीं ऊब पैदा करने लगते हैं। कहीं कहीं उनका इतिहासकार का रूप उपन्यासकार की अपेक्षा प्रधान हो गया है। 'झांसी की रानी' में लेखक का मन ऐतिहासिक विवरण देने में इतना अधिक रम गया है कि वह रचना उपन्यास ही नहीं लगती और पाठक थकान अनुभव करने लगता है। एक अन्य दोष उनमें यह है कि उनके संवाद अत्यधिक नाटकीयता के कारण कृत्रिम हो गये हैं पर कुल मिलाकर वर्माजी गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से हिन्दी के सर्वाधिक अच्छा लिखने वाले ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। उनकी रचनाओं में यशपाल या राहुल का मत प्रचार नहीं हजारीप्रसाद द्विवेदी का वाग्वैदग्ध्य नहीं रांगेय राघव या भगवतशरण उपाध्याय का सा इतिहास के प्रति निर्मम प्रामाणिकता का आग्रह भी नहीं। अपनी शक्ति और मर्यादा को जानते हुए उन्होंने हमें बुन्देलखण्ड के शौर्यपूर्ण इतिहास से अवगत कराया है, यही उनकी विशेषता है।

पत्र-रागों पर लिखने की प्रवृत्ति—प्राचीन भारतीय पत्र रागों पर

ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वालो मे यशपाल, राहुल और चतुरसेन शास्त्री के नाम उल्लेखनीय है। इन सभी के उपन्यासो मे गणतन्त्र काल के सजीव चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। 'वैशाली की नगरवधू' मे नगरवधू बनाने तथा नियोग की प्रथा, वाणिज्य व्यापार, जल, थल और आटविक सेना तथा युद्ध-वर्णन, जैन और बौद्ध धर्म की स्थिति विष-कन्या और पर-शरीर-प्रवेश आदि के चित्रो द्वारा यदि ईसा-पूर्व ५००-६०० वर्ष के युग का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है, तो यशपाल के 'दिव्या' मे बौद्धकालीन गणराज्यो की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियो के सफल चित्रण के लिये तात्कालिक शोषण, वर्ण-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था कला-प्रेम, यौन-सम्बन्ध, दास-प्रथा, विवाह-नियम, तत्कालीन वेष-भूषा, आदि का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इन उपन्यासो मे प्राचीन समाज का तो सुन्दर, सजीव और प्रभावशाली चित्राकन हुआ है, पर कुछ तो मार्क्सवादी सिद्धातो के प्रचार के कारण और कुछ आधुनिक समस्याओ के प्रवेश एव अद्भुत-तत्व के समावेश के कारण इन रचनाओ मे काल-विसगति दोष आ गया है। इसी को लक्ष्य कर रागेय राघव ने 'मुर्दो का टीला' की भूमिका मे लिखा था, "आजकल हिन्दी मे ऐसे बहुत से उपन्यास निकल रहे हैं जिनमे अद्भुत बातें साबित कर दी जाती हैं। मैं समझता हू कि इतिहास को इतिहास की सफल-झलक करके देना ठीक है।" उनका यह कटाक्ष यशपाल और राहुल के उपन्यासो पर है। इन दोनो ने आधुनिक मार्क्सवादी ऐतिहासिक व्याख्या को अपने उपन्यासो मे समाहित किया है। 'दिव्या' का मारिश, राहुल के 'मधुर स्वप्न' के अन्दर्जगर और दिद्दिगवान लेखको की व्यक्तिगत धारणाओ के ही प्रतिबिम्ब हैं। वे कम्यूनिस्टो की भाषा बोलते है और शोषित-शोषक की बातें करते हैं। वर्गचेतना और वर्गसघर्ष की जो बातें इनमे कही गई हैं, वे काल विसगत हैं। इसी प्रकार चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' मे प्रकारातर से आज की युद्ध समस्या पर प्रकाश डाला गया है और रासायनिक तथा कृमि-युद्ध की बात कही गई है, जो काल-विसगत ही है। उनके उपन्यासो मे चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है जिसके कारण वे तिलस्मी एव ऐयारी उपन्यासो का स्मरण दिलाते प्रतीत होते हैं। सारांश यह है कि ये उपन्यास इतिहास रस तो प्रदान करते हैं, परन्तु वे पूर्णत निर्दोष नही कहे जा सकते।

यद्यपि हिंदी मे प्रागैतिहासिक काल, बौद्धकाल, राजपूत काल, मुगल-काल व आधुनिक काल पर भी उपन्यास लिखे गए हैं, तथापि अभी-भी अनेक ऐतिहासिक क्षेत्र खुले पडे हैं—मध्यभारत—राजस्थान की गाथाए बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश के प्राचीन आख्यायें को लेकर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। फिर भी जो कुछ कार्य हुआ है और हो रहा है, उसे देखकर निराश होने की कोई आवश्यकता नही क्योकि विगतकाल के प्रति आत्मीयता, काव्य दृष्टि व तत्वदर्शन जो ऐतिहासिक उपन्यास के लिए आवश्यक उपकरण हैं, वे वर्तमान हैं। अत हमे विश्वास है कि नवीन क्षेत्र एव आत्मीयता को स्थान मिलने पर और प्राचीन वैभव के नवीन दर्शन से नये-नये ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जाते रहेगे क्योकि आज का हिंदी उपन्यासकार अपने दायित्व को भली भांति समझ चुका है।

७९

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास

भूमिका।

२ आंचलिक उपन्यास के मूल तत्व
३ रेणु-पूर्व हिन्दी उपन्यास में आंचलिकता
४ हिन्दी के आंचलिक उपन्यास
५ ग्रामीण अंचल से सम्बद्ध उपन्यास
६ नागरिक अंचल से सम्बद्ध उपन्यास
७. आंचलिक उपन्यास और कथा
८ आंचलिक उपन्यास की शक्ति
९ आंचलिक उपन्यास की सीमाएं
१० उपसंहार

पिछले दशक मे हिंदी उपन्यास का एक नया रूप हमारे सामने आया है जिसे 'आंचलिक उपन्यास' कहा जाता है। यद्यपि हिंदी उपन्यासो में आंचलिकता का तत्व पर्याप्त पुराना है—प्रेमचंद वृन्दावनलाल वर्मा नागार्जुन आदि की रचनाओ मे यह पहले से ही मिलता है पर (उपन्यास को आंचलिक कहने तथा उसकी महत्ता पर लेखको और आलोचको का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय फणीश्वर नाथ रेणु और उनके 'मैला आंचल' को है। सन् १९५४ में प्रकाशित इस उपन्यास की भूमिका मे लेखक ने लिखा था—

यह है मैला आंचल एक आंचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया। मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गांव को पिछड़े गांवों का प्रतीक मानकर इस उपन्यास का कथा क्षेत्र बनाया है।

अंचल का अर्थ है जनपद या क्षेत्र। जिन उपन्यासो मे किसी विशिष्ट प्रदेश के जनजीवन का समग्र बिम्बात्मक चित्रण हो उन्हें आंचलिक उपन्यास कहा जाता है। पाश्चात्य देशो मे ऐसे उपन्यास तो लिखे गये थे जिनमे प्रदेश विशेष की भौगोलिक पृष्ठभूमि पर वहां की कतिपय विशेषताओ का चित्रदर्शन किया गया हो जैसे हार्डी के Wessex Novels पर उन्हें आंचलिक नहीं कहा गया। ऐसे उपन्यासो की समीक्षा करते हुये आलोचको ने Regional touch अर्थात् प्रादेशिक रंग शब्द का प्रयोग किया था। कारण यह था कि इन उपन्यासों मे प्रादेशिकता तो थी पर लेखक का ध्यान प्रदेश विशेष से हटकर अन्यत्र भी गया था और उसने क्षेत्र विशेष की संस्कृति सामाजिक धार्मिक राजनीतिक आर्थिक स्थिति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित

—

ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वालो मे यशपाल, राहुल और चतुरसेन शास्त्री के नाम उल्लेखनीय है। इन सभी के उपन्यासो मे गणतन्त्र काल के सजीव चित्र प्रस्तुत किये गये है। 'वैशाली की नगरवधू' मे नगरवधू बनाने तथा नियोग की प्रथा, वाणिज्य व्यापार, जल, थल और आटविक सेना तथा युद्ध-वर्णन, जैन और बौद्ध धर्म की स्थिति विप-कन्या और पर-शरीर-प्रवेश आदि के चित्रो द्वारा यदि ईसा-पूर्व ५००-६०० वर्ष के युग का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है, तो यशपाल के 'दिव्या' मे बौद्धकालीन गणराज्यो की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियो के सफल चित्रण के लिये तात्कालिक शोषण, वर्ण-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था कला-प्रेम, यौन-सम्बन्ध, दास-प्रथा, विवाह-नियम, तत्कालीन वेष-भूषा, आदि का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इन उपन्यासो मे प्राचीन समाज का तो सुन्दर, सजीव और प्रभावशाली चित्राकन हुआ है, पर कुछ तो मार्क्सवादी सिद्धातो के प्रचार के कारण और कुछ आधुनिक समस्याओ के प्रवेश एव अद्भुत-तत्व के समावेश के कारण इन रचनाओ मे काल-विसगति दोप आ गया है। इसी को लक्ष्य कर रागेय राघव ने 'मुर्दो का टीला' की भूमिका मे लिखा था, "आजकल हिन्दी मे ऐसे बहुत से उपन्यास निकल रहे हैं जिनमे अद्भुत बातें साबित कर दी जाती हैं। मैं समझता हू कि इतिहास को इतिहास की सफल-झलक करके देना ठीक है।" उनका यह कटाक्ष यशपाल और राहुल के उपन्यासो पर है। इन दोनो ने आधुनिक मार्क्सवादी एतिहा-हासिक व्याख्या को अपने उपन्यासो मे समाहित किया है। 'दिव्या' का मारिश, राहुल के 'मधुर स्वप्न' के अन्दर्जगर और दिद्दिगवान लेखको की व्यक्तिगत धारणाओ के ही प्रतिबिम्ब हैं। वे कम्यूनिस्टो की भाषा बोलते हैं और शोषित-शोषक की बाते करते हैं। वर्गचेतना और वर्गसघर्ष की जो बातें इनमे कही गई हैं, वे काल विसगत हैं। इसी प्रकार चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' मे प्रकारातर से आज की युद्ध समस्या पर प्रकाश डाला गया है और रासायनिक तथा कृमि-युद्ध की बात कही गई है, जो काल-विसगत ही है। उनके उपन्यासो मे चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है जिसके कारण वे तिलस्मी एव ऐयारी उपन्यासो का स्मरण दिलाते प्रतीत होते हैं। साराँश यह है कि ये उपन्यास इतिहास रस तो प्रदान करते हैं, परन्तु वे पूर्णत निर्दोष नहीं कहे जा सकते।

यद्यपि हिंदी मे प्रागैतिहासिक काल, बौद्धकाल, राजपूत काल, मुगल-काल व आधुनिक काल पर भी उपन्यास लिखे गए हैं, तथापि अभी-भी अनेक ऐतिहासिक क्षेत्र खुले पडे हैं—मध्यभारत—राजस्थान की गाथाए बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश के प्राचीन आख्यायें को लेकर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। फिर भी जो कुछ कार्य हुआ है और हो रहा है, उसे देखकर निराश होने की कोई आवश्यकता नही क्योकि विगतकाल के प्रति आत्मीयता, काव्य दृष्टि व तत्वदर्शन जो ऐतिहासिक उपन्यास के लिए आवश्यक उपकरण हैं, वे वर्तमान हैं। अत हमे विश्वास है कि नवीन क्षेत्र एव आत्मीयता को स्थान मिलने पर और प्राचीन वैभव के नवीन दर्शन से नये-नये ऐति-हासिक उपन्यास लिखे जाते रहेंगे क्योकि आज का हिंदी उपन्यासकार अपने दायित्व को भली भाँति समझ चुका है।

७९
हिन्दी के आंचलिक उपन्यास

पिछले दशक मे हिंदी उपन्यास का एक नया रूप हमारे सामने आया है जिसे 'आंचलिक उपन्यास' कहा जाता है। यद्यपि हिंदी उपन्यासों मे आंचलिकता का तत्व पर्याप्त पुराना है—प्रेमचन्द वृन्दावनलाल वर्मा नागार्जुन आदि की रचनाओं मे वह पहले से ही मिलता है, पर (उपन्यास को आंचलिक कहने तथा उसकी महत्ता पर लेखकों और आलोचकों का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय फणीश्वर नाथ रेणु और उनके 'मैला आंचल' को है। सन् १९५४ मे प्रकाशित इस उपन्यास की भूमिका मे लेखक ने लिखा था—

यह है मैला आंचल एक आंचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया।' मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गांव को पिछड़े गांवों का प्रतीक मानकर इस उपन्यास का कथा क्षेत्र बनाया है।

अंचल का अर्थ है जनपद या क्षेत्र। जिन उपन्यासों मे किसी विशिष्ट प्रदेश के जनजीवन का समग्र बिम्बात्मक चित्रण हो उन्हें आंचलिक उपन्यास कहा जाता है। पाश्चात्य देशों मे ऐसे उपन्यास तो लिखे गये थे जिनमे प्रदेश विशेष की भौगोलिक पृष्ठभूमि पर वहां की कतिपय विशेषताओं का दिग्दर्शन किया गया हो जैसे हार्डी के Wessex Novels पर उन्हें आंचलिक नहीं कहा गया। ऐसे उपन्यासों की समीक्षा करते हुये आलोचकों ने Regional touch अर्थात् प्रादेशिक रंग शब्द का प्रयोग किया था। कारण यह था कि इन उपन्यासों मे प्रादेशिकता तो थी पर लेखक का ध्यान प्रदेश विशेष से हटकर अन्यत्र भी गया था और उसने क्षेत्र विशेष की संस्कृति सामाजिक धार्मिक राजनीतिक आर्थिक स्थिति पर ही अपना ध्यान केंद्रित

नही किया था। उनके लैंस का फोकस केवल उसी बिन्दु पर नही पडा था। अत हिंदी मे आचलिक उपन्यास विशुद्ध भारतीय विधा है, उसे प्रेरणा भले ही पश्चिम से मिली हो, पर उसका स्वरूप और आकार भारतीय ही है।

आचलिक उपन्यासो का परिचय देते कहा गया कुछ उपन्यासो मे किसी प्रदेश विशेष का यथातथ्य बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है, उन्हें प्रादेशिक या आचलिक उपन्यास कहा जाता है। परन्तु ये उपन्यास भी सामाजिक या ऐतिहासिक ही होते है और चारित्रिक के अन्तर्गत आते हैं क्योकि पात्रो के चरित्र-चित्रण को यथार्थता प्रदान करने के लिये ही उनकी वाह्य परिस्थिति को जीवन रूप मे चित्रित कर यथार्थता प्रदान करने के लिये ही उनकी वाह्य परिस्थिति को जीवन्त रूप मे चित्रित किया जाता है। आचलिक उपन्यास की इस व्याख्या से हम कई बातो मे सहमत नही हैं। इसमे अचल विशेष के यथातथ्य चित्रण की बात की ओर तो सकेत किया गया है, पर कतिपय उपन्यास ऐसे भी हो सकते हैं जिनमे अचल विशेष की जगह जाति-विशेष का समग्र जीवन प्रस्तुत किया गया हो और यह जाति जन्मगत भी हो सकती है और व्यवसायगत भी। उदाहरण के लिये, रागेय राघव के 'कब तक पुकारू' मे नटो के जीवन का चित्रण किया गया है। यदि हम यह मान भी लें कि अचल विशेष के अन्तर्गत जाति-विशेष भी आ जाती हैं, तो भी अन्य कई बातो पर आपत्ति होती है। इस व्याख्या मे आचलिक उपन्यासो को चरित्र प्रधान कहा गया है जबकि वस्तुत इन उपन्यासो मे लेखक का ध्यान पात्रो, पर इतना नही होता जितना अचल की सस्कृति को प्रस्तुत करने पर। इसीलिये कुछ लोग उसे नायक विहीन उपन्यास (Novel without Hero) कहते हैं और अधिक से अधिक अचल को ही उसका नायक मानते हैं। यह सत्य है कि उनमे पात्र होते हैं, उनका चरित्र-चित्रण भी यथार्थवादी होता है फिर भी केवल चरित्रो को प्रस्तुत करना उनका उद्देश्य नही होता, अत वे चारित्रिक उपन्यासो की परिधि मे नही बाधे जा सकते। हमारी दूसरी आपत्ति यह है कि न तो उन्हे सामाजिक ही कहा जा सकता है और न ऐतिहासिक ही। यह ठीक है कि उनमे सामाजिक समस्याओ का चित्रण होता है पर उसके प्रणयन की प्रेरणा और प्रक्रिया सामाजिक उपन्यासो की सृजन प्रक्रिया तथा प्रणयन-प्रेरणा से सर्वथा भिन्न होती है। सामाजिक उपन्यास मे लेखक की दृष्टि सामाजिक समस्याओ के विशद चित्रण और विवेचन पर रहती है जवकि आचलिक उपन्यासकार मामाजिक समस्याओ का चित्रण अंचल विशेष को उभारकर प्रस्तुत करने के लिये करता है। पथम मे मामाजिक समस्याए प्रधान होती हैं, दूसरे मे गौण, सहायक उपकरण मात्र। ऐतिहासिक तो वे हो ही नही सकते। यह सच है कि वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासो में बुन्देलखण्ड की सस्कृति, वहा का जन-जीवन, वहाँ के रीति-रिवाज चित्रित किये गये हैं पर उनका सीमा-विस्तार अधिक है। ऐतिहासिक उपन्यासो मे काल-विशेष के जन-जीवन का चित्रण तो किया जाता है उनके धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि का भी चित्रण होता है पर वह पुस्तकीय ज्ञान का अनुमान पर आधारित होता है, स्वानुभव पर नही और आचलिक उपन्यास के लिये स्वानुभव, प्रत्यक्ष-दर्शन आवश्यक है। आचलिक उपन्यासकार

अपनी कृति में अचल विशेष की संस्कृति का आँखों देखा चित्र प्रस्तुत करता है उसमें यथार्थ की स्थिति महत्वपूर्ण और विश्वसनीय होती है। अत वह ऐतिहासिक नहीं हो सकता। ऐतिहासिक उपन्यासों में आंचलिकता हो सकती है जैसे वर्मा जी के उपन्यासों में पर वे पूर्णत आंचलिक नहीं हो सकते। ऐतिहासिक उपन्यासों में काल्पनिक तत्व भी प्रचुर मात्रा में होता है जबकि आंचलिक उपन्यासों में उसके लिये कोई स्थान नहीं है।

सारांश यह है कि आंचलिक उपन्यास वह उपन्यास है जिसमें लेखक आंचलिक दृष्टि अपनाकर किसी विशिष्ट अंचल या जनपद या जाति (जन्मगत और व्यवसायगत) के समग्र जीवन का विशद और वैविध्यपूर्ण चित्रण करता है। उसमें आंचलिकता का विशेष आग्रह रहता है परिवेश को सजीवता से प्रस्तुत किया जाता है। इसके लिये वह उस जनपद के भूगोल सभ्यता संस्कृति रहन-सहन वेशभूषा धार्मिक विश्वास रूढ़ियां सामाजिक परम्पराएं, त्यौहार, पर्व नृत्य-गीत जीवन-स्तर रीति-रिवाज लोक-गीत लोक-भाषा लोकोक्ति मुहावरे राजनैतिक चेतना आर्थिक कठिनाइयों आदि का सूक्ष्म निरीक्षण व उपयोग करता है।

आंचलिक उपन्यास के मूल तत्व

हमने ऊपर की पंक्तियों में आंचलिक उपन्यास की कतिपय विशेषताओं का निर्देश किया। अब उन मूल तत्वों का विवेचन कर लिया जाय जिनके आधार पर कोई उपन्यास आंचलिक उपन्यास कहा जा सकता है। (ये मूल तत्व हैं—(१) भौगोलिक स्थिति का अंकन और वहाँ की प्रकृति का काव्यमय चित्रण (२) कथानक का आंचलिक आधार। (३) लोक-संस्कृति का चित्रण (४) वहा की राजनैतिक चेतना सामाजिक धार्मिक और आर्थिक स्थिति का चित्रण (५) जन जागरण की नई चेतना।

भौगोलिक स्थिति का अंकन—वैसे तो सभी उपन्यासों में यथार्थवादिता लाने और वातावरण को सजीव बनाने के लिये भौगोलिक स्थिति का अंकन और प्रकृति की सजीव तथा मर्मस्पर्शी चित्रण किया जाता है पर आंचलिक उपन्यासों में तो उसकी अवस्थिति अनिवार्य है। फणीश्वर नाथ रेणु के 'मैला आंचल' की भूमिका में लेखक ने मैरीगंज की भौगोलिक सीमाएं बताते हुए लिखा था उसके एक ओर है नेपाल दूसरी ओर पाकिस्तान और पश्चिमी बंगाल। विभिन्न सीमा-रेखाओं से इसकी बनावट मुकम्मल हो जाती है जब हम दक्खिन में सथाल परगना और पश्चिम में मिथिला की सीमा रेखाएँ खींच देते हैं।

इस भौगोलिक स्थिति की जानकारी करा कर लेखक पाठक के मन पर न केवल अंचल विशेष का नक्शा ही उतार देता है और उसके विश्वास पर विजय पा लेता है पर तु यह भी बताना चाहता है कि इन्हीं भौगोलिक परिस्थितियों के कारण वहाँ का जन जीवन वैसा है जैसा उपन्यास में चित्रित किया गया है। जहा तक इन उपन्यासों के प्रकृति चित्रण का सम्बन्ध है उसमें काव्यात्मकता और चित्रात्मकता अधिक होती है। वह एक ओर पाठक के मर्म को छूती है और दूसरी ओर पाठक

वहा की मिट्टी की सोधी महक और ताजगी का अनुभव करता है। बिना प्रकृति चित्रण और भौगोलिक स्थिति के अकन के वह उपन्यास मे अचल का ज्वलत चित्र प्रस्तुत ही नही कर सकता। वास्तविकता तो यह है कि आचलिक उपन्यास मे प्रकृति के पदार्थ ही जीते जागते पात्र होते हैं क्योकि उनका महत्त्व पात्रो के महत्त्व से कम नही होता। जैसे अन्य उपन्यासो के पात्र और उनका कृतित्व एक दूसरे को प्रभावित करता है, वैसे ही नदी और उसकी बाढ, बजर भूमि और उसका बजरपन वहा के जन-जीवन को प्रभावित करते हैं।

कथानक का आचलिक आधार—आचलिक उपन्यास का कथानक किसी जनपद विशिष्ट से सम्बद्ध होता है। उसी जनपद की परिस्थितिया—राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि—उपन्यास की घटनाओ को और पात्रो को जन्म देती हैं, उनके विकास के लिये उत्तरदायी होती हैं। 'मैला आचल' मे मैरीगज की विभिन्न टोलियो—मालिक टोली, सिपैहिया टोली, गहलौत टोली आदि के सघर्ष का कारण मैरीगज की भूमि है, जिसने इन विभिन्न दलो को उत्पन्न किया। वैसे तो सभी उपन्यासो मे किसी न किसी प्रदेश का वर्णन होता है जैसे प्रेमचन्द के उपन्यासो मे बनारस और उसके समीपवर्ती ग्रामीण प्रदेश का, पर जिस सूक्ष्मता से आचलिक उपन्यासकार का कथानक अचल विशेष से सम्बद्ध रहता है, वैसा अन्य उपन्यासो का नही। अन्य उपन्यासो मे सार्वदेशिक समस्याओ, विचारो तथा तथ्यो के कारण आचलिक तत्त्व विशेष हो जाता है जबकि आचलिक उपन्यास मे अचल विशेष से सम्बन्धित समस्याओ, तथ्यो और विचारो पर दृष्टि केन्द्रित की जाती है। उसका कथानक और पात्र अचल की देन होते हैं, वे सार्वदेशिक या सार्वभौम नही होते। इसीलिए उसका कथानक और पात्र अन्य उपन्यासो के कथानक और पात्रो से भिन्न होते हैं।

लोक सस्कृति का चित्रण—आचलिक उपन्यासो की मूलभूत विशेषताओ मे सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व लोक-सस्कृति का जीवन्त चित्रण है। लोक सस्कृति से हमारा तात्पर्य है वहाँ के निवासियो के रीति-रिवाज, रहन-सहन, वेशभूषा, त्योहार-पर्व, परम्परागत मान्यताएँ, धार्मिक रूढिया और विश्वास, उनके लोक-गीत और नृत्य, उनके मनोरजन की विविध प्रणालियाँ, उनकी भाषा, कलाएँ आदि। अचल मे होने वाले मेले—तमाशे और उनकी पृष्ठभूमि मे पल्लवित विश्वासो का चित्रण आचलिक उपन्यासकार अपने वास्तविक अनुभव के आधार पर करता है। 'मैला आचल' मे सुराजी कीर्तन, सुरगा सदाब्रिज की कथा, जाट जट्टिन का खेल, विदापद नाच, सयाल नृत्य, भूतप्रेत मे विश्वास, होली पर भडोवा आदि के चित्र प्रस्तुत कर लेखक ने मैरीगज की सस्कृति का ही ज्वलन्त चित्र प्रस्तुत किया है। आचलिक उपन्यासकार प्रदेश विशेष के लोगो की सामाजिक स्थिति और उनके जीवन स्तर के चित्र प्रस्तुत करना भी नही भूलता। प्रदेश विशेष के विभिन्न लोगो का रहन-सहन समाज मे उनकी प्रतिष्ठा आदि का अंकन कर वह अचल विशेष के सामूहिक जीवन की झाकी प्रस्तुत करता है।

अचल की रा

उपन्यास के लिए प्रदेश विशेष को ही नहीं चुनता, एक विशिष्ट काल-खण्ड को ही चुनता है और तब प्रदेश विशेष में किसी विशिष्ट काल-खण्ड के अन्तर्गत होने वाली राजनीतिक उथल-पुथल तथा आर्थिक स्थिति का चित्रांकन करता है। भौगोलिक स्थिति और लोक संस्कृति के साथ साथ राजनैतिक चेतना और आर्थिक स्थिति के चित्रों को समन्वित करने पर ही आंचलिकता अपने पूर्ण उत्कर्ष के साथ प्रकटित होती है। राजनैतिक स्थिति के अन्तर्गत क्षेत्र विशेष की शासन-व्यवस्था, राजनैतिक चेतना, उथल-पुथल, विभिन्न विचारधाराओं के मध्य संघर्ष आदि आते हैं। उदाहरण के लिये 'मैला आंचल' में पूर्णिया के बदलते हुए (सन् १९४२ के बाद से स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ समय बाद तक के) राजनीतिक वातावरण के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। शासकों के प्रति जनता के विचार और उनके कार्यों का विवरण दिया गया है। जनता की आर्थिक स्थिति से पाठकों को अवगत कराने के लिये लेखक कहीं पात्रों की वेषभूषा का वर्णन करता है, कहीं उनके रहन-सहन का और कहीं उनकी शिक्षा का। वह यह भी बताता है कि आर्थिक स्थिति के कारण ही वर्गों का निर्माण हुआ है और जन्म या जाति से उच्च होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से विपन्न प्राणी को समाज में प्रतिष्ठा नहीं होती।

जन-जागरण के संकेत— अंचल विशेष की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थितियों का चित्रण करने के साथ-साथ आंचलिक उपन्यासकार उन स्थितियों के प्रति जनता की प्रतिक्रिया और नये विचारों के सम्पर्क के कारण होने वाली उनकी चेतना का वर्णन भी करता है। रूढ़ अन्ध विश्वासों, सामाजिक अनीतियों, प्रशासन की ज्यादतियों, अनाचार, रिश्वत, बेईमानी, स्वार्थपरता आदि के विरुद्ध उत्क्रान्ति की लहर का संकेत कर वह जागरूक और सजग जनता को करवट लेती हुई चित्रित करता है। कहीं पर यह लहर अंचल से संबद्ध होती है तो कहीं सार्वदेशिक दिखाई देती है। उपन्यासकार को इस विषय में केवल इतना ध्यान रखना चाहिये कि जन जागरण की यह चेतना प्रथम तो यथार्थ पर आधारित हो और दूसरे जो जन-जागरण का संदेश वह देना चाहता है, वह सार्वदेशिक होते हुए भी अंचल की परिस्थितियों से असम्बद्ध न हो। उदाहरण के लिए 'मैला आंचल' में बावनदास की मृत्यु से सम्बद्ध घटना द्वारा लेखक यह बताना चाहता है कि जनता इस तथ्य को समझने लगी है कि उसके तथाकथित रक्षक अपना कर्तव्य पालन नहीं कर रहे हैं। स्वार्थ-साधन में रत वे न नीति की चिंता करते हैं और न देश-हित की। तस्कर-व्यापार के विरुद्ध आन्दोलन करते हुए बावनदास पर तस्कर-व्यापारी अपनी सामान भरी गाड़ियाँ चढ़ा देते हैं और उसकी लाश को पाकिस्तान की सीमा में फेंक देते हैं। पाकिस्तान वाले उसे नागर नदी में फेंक देते हैं। यह घटना निश्चय ही जनता की प्रतिक्रिया को व्यक्त करने में सफल हुई है। इसी प्रकार 'परती परिकथा' में अशिक्षा और जनता के शोषण के विरुद्ध, रांगेय राघव के 'काका' में धार्मिक भ्रष्टाचार और व्यभिचार के विरुद्ध तथा 'पानी के प्राचीर' में तहसीलदार और दरोगा के कारनामों के विरुद्ध आक्रोश प्रकट किया गया है। जनता को उन सबके प्रति सजग चित्रित किया गया है और उनके उन्मूलन का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संदेश

वहा की मिट्टी की सोधी महक और ताजगी का अनुभव करता है। विना प्रकृति चित्रण और भौगोलिक स्थिति के अकन के वह उपन्यास मे अचल का ज्वलत चित्र प्रस्तुत ही नही कर सकता। वास्तविकता तो यह है कि आचलिक उपन्यास मे प्रकृति के पदार्थ ही जीते जागते पात्र होते हैं क्योकि उनका महत्त्व पात्रो के महत्त्व मे कम नही होता। जैसे अन्य उपन्यासो के पात्र और उनका कृतित्व एक दूसरे को पभावित करता है, वैसे ही नदी और उसकी वाढ, वजर भूमि और उसका वजरपन वहा के जन-जीवन को प्रभावित करते हैं।

कथानक का आचलिक आधार—आचलिक उपन्यास का कथानक किसी जनपद विशिष्ट से सम्बद्ध होता है। उसी जनपद की परिस्थितिया—राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि—उपन्यास की घटनाओ को और पात्रो को जन्म देती हैं, उनके विकास के लिये उत्तरदायी होती हैं। 'मैला आचल' मे मैरीगज की विभिन्न टोलियो—मालिक टोली, सिपैहिया टोली, गहलौत टोली आदि के सघर्ष का कारण मैरीगज की भूमि है, जिसने इन विभिन्न दलो को उत्पन्न किया। वैसे तो सभी उपन्यासो मे किसी न किसी प्रदेश का वर्णन होता है जैसे प्रेमचन्द के उपन्यासो मे वनारस और उसके समीपवर्ती ग्रामीण प्रदेश का, पर जिस सूक्ष्मता से आचलिक उपन्यासकार का कथानक अचल विशेष से सम्बद्ध रहता है, वैसा अन्य उपन्यासो का नही। अन्य उपन्यासो मे सार्वदेशिक समस्याओ, विचारो तथा तथ्यो के कारण आचलिक तत्त्व विशेप हो जाता है जबकि आचलिक उपन्यास मे अचल विशेष से सम्बन्धित समस्याओ, तथ्यो और विचारो पर दृष्टि केन्द्रित की जाती है। उसका कथानक और पात्र अचल की देन होते है, वे सार्वदेशिक या सार्वभौम नही होते। इसीलिए उसका कथानक और पात्र अन्य उपन्यासो के कथानक और पात्रो मे भिन्न होते हैं।

लोक सस्कृति का चित्रण—आचलिक उपन्यासो की मूलभूत विशेषताओ मे सवसे महत्वपूर्ण तत्त्व लोक-सस्कृति का जीवन्त चित्रण है। लोक सस्कृति से हमारा तात्पर्य है वहाँ के निवासियों के रीति-रिवाज, रहन-सहन, वेशभूषा, त्योहार-पर्व, परम्परागत मान्यताएँ, धार्मिक रूढिया और विश्वास, उनके लोक-गीत और नृत्य, उनके मनोरजन की विविध प्रणालियाँ, उनकी भाषा, कलाएँ आदि। अचल मे होने वाले मेले—तमाशे और उनकी पृष्ठभूमि मे पल्लवित विश्वासो का चित्रण आचलिक उपन्यासकार अपने वास्तविक अनुभव के आधार पर करता है। 'मैला आचल' मे सुराजी कीर्तन, सुरगा सदाब्रिज की कथा, जाट जट्टिन का खेल, विदापद नाच, सथाल नृत्य, भूतप्रेत मे विश्वास, होली पर भडोवा आदि के चित्र प्रस्तुत कर लेखक ने मैरीगज की सस्कृति का ही ज्वलन्त चित्र प्रस्तुत किया है। आचलिक उपन्यासकार प्रदेश विशेप के लोगो की सामाजिक स्थिति और उनके जीवन स्तर के चित्र प्रस्तुत करना भी नही भूलता। प्रदेश विशेष के विभिन्न लोगों का रहन-सहन समाज मे उनकी प्रतिष्ठा आदि का अकन कर वह अचल विशेष के सामूहिक जीवन की झाकी प्रस्तुत करता है।

अचल की राजनीतिक तथा आर्थिक स्थिति—आचलिक उपन्यासकार अपने

की कथा समानान्तर गति से चलती है। उनमें ग्रामीण प्रदेशों के चित्र यथातथ्य नहीं कहे जा सकते उनके पीछे वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं ब्यौरे की बारीकियां नहीं, धरती की सौंधी महक नहीं जो आंचलिक उपन्यास में आवश्यक है। यह नहीं कि प्रेमचंद ऐसा करने में असमर्थ थे वस्तुतः उनका उस ओर ध्यान ही नहीं था। उनकी दृष्टि सामाजिक राजनीतिक धार्मिक समस्याओं पर थी अञ्चल की संस्कृति या प्रकृति पर नहीं। ये समस्याएं भी किसी एक वर्ग या जाति या प्रदेश से सम्बद्ध न होकर अखिल भारतीय थी। यद्यपि गोदान में कहीं-कहीं पात्रों के मुख से ग्रामीण बोली बुलवाई गई है— 'आकर सीसे में मुंह देखो। तुम जैसे मर्द साठे पर पाठे नहीं' पर अधिकांश उपन्यासों में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह गांवों की भाषा तो है नहीं नगरों में भी उनकी भाषा है जो सुशिक्षित हैं। लोकगीत भी कहीं-कहीं ही देखने में आते हैं जैसे प्रेमाश्रम में 'मैं अपने राम को रिझाऊं' या 'रघुपुर ने मोरी गह लई बांह नहीं रे मैं तो जान बचा' या रंगभूमि में सूरदास द्वारा गाया गया कबीर का गीत पर ये गीत भी शुद्ध लोकगीत नहीं हैं। लोकोक्तियों का प्रयोग भी कम है। तात्पर्य यह है कि प्रेमचंद ने आंचलिक तत्वों का प्रयोग या तो रोचकता बनाये रखने के लिए अथवा स्वाभाविकता के लिये किया है उनमें वह विशिष्ट रस नहीं है जिसे हमने 'आंचलिक रस' कहा है। उनमें अञ्चल की विशिष्टताओं का विशद वर्णन नहीं स्थानीय रंग कम उभरा हुआ है उनके पात्र कम चरित्र हैं। अतः अधिक से अधिक प्रेमचंद को यही श्रेय दिया जा सकता है कि उनके उपन्यासों में आंचलिकता के अंकुर हैं जो आगे चलकर समय और लेखकों की प्रतिभा का खाद-जल पाकर पल्लवित हुए।

वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी आंचलिक तत्व—प्रकृति का विशेषतः नदियों टौरियों और जंगलों का काव्यमय वर्णन अञ्चल की भौगोलिक विशेषता बुन्देलखंड के नर-नारियों की वेशभूषा उनके रीति-रिवाज उनका भोजन उनके हरदी कुंकुम जैसे त्योहार उनका हास विनोद उनकी धार्मिक स्थिति आदि तो हैं पर प्रथम तो वे ऐतिहासिक हैं दूसरे उनमें सीमा विस्तार बहुत अधिक है। इसीलिये हम यह तो स्वीकार करते हैं कि उनमें आंचलिक तत्व हैं पर उन्हें विशुद्ध आंचलिक उपन्यास नहीं मान सकते।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास

यद्यपि 'आंचलिक उपन्यास' शब्द हिन्दी में रेणु के 'मैला आंचल' के प्रकाशित होने पर ही प्रयोग में आया पर उससे पूर्व भी आंचलिक उपन्यास थे इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनमें त्रुटियाँ हो सकती हैं पर आंचलिक उपन्यास का मूल तत्व अञ्चल विशेष के जन जीवन का समग्र चित्रण उनमें है। वे आंचलिक नहीं कहे गये उनमें कदाचित् आंचलिकता पर आग्रह भी उतना नहीं था जितना रेणु के उपन्यासों में तथापि उनकी आंचलिकता असंदिग्ध है। इन उपन्यासों को हम दो वर्गों में बांट लेते हैं—नागरिक जीवन से सम्बद्ध तथा ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध।

दिया गया है।

आंचलिक उपन्यासो के सम्बन्ध मे प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या आचलिक उपन्यास ग्रामीण अचल से ही सम्बद्ध होता है या वह नगर के अचल पर भी लिखा जा सकता हैं। नगर के अञ्चल पर लिखे जाने वाले उपन्यासो को आचलिक उपन्यास नाम न देने वालो का तर्क यह है कि नगर के कथानक से सम्वद्ध उपन्यास मे प्राय लेखक या तो सामाजिक समस्याओ मे उलझ जाता है या पात्रो के मनोविश्लेषण मे। अत नगर के अञ्चल का जीवन्त चित्र उसमे उपस्थित नही हो पाता। पर यह तर्क अपने आप मे लचर है। यदि अब तक लिखे गये उपन्यासो मे यह त्रुटि पायी जाती है, तो यह उपन्यास विशेष का दोष है। वस्तुत नगर के अञ्चल से सम्बद्ध उपन्यास मे भी यदि वे ही विशेषताए आ जाए, जो ग्रामीण अञ्चल से सवद्ध आचलिक उपन्यासो मे होती हैं, तो उन्हे भी आचलिक कहने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। अमृतलाल का 'सेठ बाकेमल', उदयशकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'बूद और समुद्र' आदि ऐसे उपन्यास हैं जिनमे नगर की सस्कृति, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति का चित्रण बडी सजीवता के साथ किया गया है। उनमें दोष अवश्य हैं फिर भी आचलिकता के तत्त्व इतने पुष्ट हैं कि उन्हें आचलिक उपन्यास कहने मे सकोच नही होता। यदि किसी उपन्यास मे चित्रित भूमि की सोंधी महक और ताजगी है, जाति विशेष के जीवन और सस्कृति का जीवन्त चित्रण है, परिवेश की सजीवता है, तो वह उपन्यास चाहे उसका आधार ग्रामीण अञ्चल हो या नागरिक आचलिक उपन्यास कहलाने का अधिकारी है। बस उपन्यासकार को यह सावधानी बरतनी होगी कि वह केवल जीवन के एक पक्ष को ही उभार कर प्रस्तुत न करे अपितु जनजीवन के विभिन्न पक्षो को उजागर करे।

'रेणु' व हिन्दी के उपन्यासो में आंचलिक तत्त्व

हिन्दी उपन्यासो मे आचलिक तत्त्व कोई नया तत्त्व नही है। 'रेणु' से बहुत पहले प्रेमचद, वृन्दावनलाल वर्मा, नागार्जुन आदि उपन्यासकारो के उपन्यास मे वह वर्तमान था। हाँ, उनके उपन्यास आचलिक तत्त्व धारण करते हुए भी विशुद्ध आचलिक उपन्यास नही कहे जा सकते क्योकि उनकी दृष्टि अधिक व्यापक है, चित्रफलक अधिक विस्तारपूर्ण है और उनकी कृतियो मे वह रस नहीं जिसे हम 'आचलिक रस' कह सकें। प्रेमचद के 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रगभूमि' और 'गोदान' मे बनारस और उसके समीपवर्ती ग्रामीण अञ्चल से सजीव चित्र मिलते हैं, उनके पात्र अपनी धरती के पुत्र हैं, उनकी वेश-भूषा ग्रामीण तो है ही, अञ्चल विशेष की परिचायक भी है। उन्होंने धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति के भी चित्र प्रस्तुत किये है—'प्रेमाश्रम' मे लखनपुर के जन-जीवन, कारिन्दे के हथकण्डो, अधिकारियो के अत्याचार, महाजन की दुष्प्रवृत्ति के चित्र, किसानो द्वारा बडो की नकल, 'गोदान' मे महाजनो की दुष्टता, समाज की रूढ़ियो, किसानो की आर्थिक हीनता और समाज-भीरुता, धनुप-यज्ञ और झिगुरीसिंह की नकल, धार्मिक मान्यताओ के वर्णन इसके प्रमाण हैं। पर यह सब होते हुए भी वे आचलिक नही कहे जा सकते। उनका चित्रफलन विशाल है—लगभग सभी उपन्यासो मे ग्रामीण कथा के साथ-साथ नगर

की कथा समानान्तर गति से चलती है। उनमे ग्रामीण प्रसंगों के चित्र यथातथ्य नहीं कहे जा सकते उनके पीछे वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं ब्यौरे की बारीकियां नहीं, धरती की सोंधी महक नहीं जो आंचलिक उपन्यास में आवश्यक है। यह नहीं कि प्रेमचन्द ऐसा करने मे असमर्थ थे वस्तुतः उनका उस ओर ध्यान ही नहीं था। उनकी दृष्टि सामाजिक राजनीतिक आर्थिक समस्याओं पर थी अञ्चल की संस्कृति या प्रकृति पर नहीं। ये समस्याएं भी किसी एक वर्ग या जाति या प्रदेश से सम्बद्ध न होकर अखिल भारतीय थी। यद्यपि 'गोदान' में कहीं-कहीं पात्रों के मुख से ग्रामीण बोली सुनवाई गई है— 'काहे सीस म मुंह बलो। तुम जैसे मर्द साठे पर पाठे नहीं' पर अधिकांश उपन्यासों म जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह गांवों की भाषा तो है नहीं नगरों मे भी उनकी भाषा है जो सुशिक्षित हैं। लोकगीत भी कहीं-कहीं ही देखने म आते हैं जैसे 'प्रेमाश्रम' मे 'मैं अपने राम को रिझाऊं' या 'सद्गुरु ने मोरी गह लई बांह नहीं रे मैं तो जात बहा' या 'रंगभूमि' मे सूरदास द्वारा गाया गया कबीर का गीत पर ये गीत भी शुद्ध लोकगीत नहीं हैं। लोकोक्तियों का प्रयोग भी कम है। सारांश यह है कि प्रेमचन्द ने आंचलिक तत्त्वों का प्रयोग या तो रोचकता बनाये रखने के लिए अथवा स्वाभाविकता के लिये किया है उनमे वह विशिष्ट रस नहीं है जिसे हमने 'आंचलिक रस' कहा है। उनमे अञ्चल की विशिष्टताओं का विशद वर्णन नहीं स्थानीय रंग कम उभरा हुआ है, उनके पात्र वर्ग चरित्र हैं। अतः अधिक से अधिक प्रेमचन्द को यही श्रेय दिया जा सकता है कि उनके उपन्यासों मे आंचलिकता के अंकुर हैं जो आगे चलकर समय और लेखकों की प्रतिभा का खाद-जल पाकर पल्लवित हुए।

वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों मे भी आंचलिक तत्त्व—प्रकृति का विशेषतः नदियों टौरियों और जंगलों का काव्यमय वर्णन अञ्चल की भौगोलिक विशेषता बुन्देलखण्ड के नर-नारियों की वेशभूषा उनके रीति-रिवाज उनका भोजन उनके हरदी कुंकुम जैसे त्योहार उनका हास विनोद उनकी धार्मिक स्थिति आदि तो हैं पर प्रथम तो वे ऐतिहासिक हैं दूसरे उनमें सीमा-विस्तार बहुत अधिक है। इसीलिये हम यह तो स्वीकार करते हैं कि उनमे आंचलिक तत्त्व हैं पर उन्हें विशुद्ध आंचलिक उपन्यास नहीं मान सकते।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास

यद्यपि आंचलिक उपन्यास शब्द हिन्दी में 'रेणु' के 'मैला आंचल' के प्रकाशित होने पर ही प्रयोग मे आया पर उससे पूर्व भी आंचलिक उपन्यास थे इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनमें त्रुटियां हो सकती हैं पर आंचलिक उपन्यास का मुख्य लक्ष्य अञ्चल-विशेष के जन जीवन का समग्र चित्रण उनमे है। वे आंचलिक नहीं कहे गये उनमे कदाचित् आंचलिकता पर आग्रह भी उतना नहीं था जितना 'रेणु' के उपन्यासों में तथापि उनकी आंचलिकता असंदिग्ध है। इन उपन्यासों को हम दो वर्गों में बाँट लेते हैं—नागरिक जीवन से सम्बद्ध तथा ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध।

ग्रामीण अंचल से सम्बद्ध उपन्यास

हिन्दी मे आंचलिक उपन्यास लिखने का श्रेय वस्तुत बिहार के उपन्यासकारो को है। इस क्षेत्र मे सर्वप्रथम पदार्पण करने वाले थे नागार्जुन। यद्यपि कुछ आलोचक उनकी कृतियो को आंचलिक मानने मे सकोच करते हैं, पर हमारी दृष्टि मे उनके 'वलचनमा' तथा 'वरुण के वेटे' मे आंचलिक तत्व इतने प्रधान हैं कि उन्हे आंचलिक उपन्यास कहने मे तनिक भी सकोच नही होता। यद्यपि उनके अन्य उपन्यास 'रतिनाथ की चाची', 'वावा वटेसरनाथ' तथा 'नई पौध मे भी कथानक विहार के दरभंगा या पूर्णिया जिलो से ही सम्बद्ध है, तथापि आंचलिकता पर कम आग्रह के कारण हमे वे आंचलिक प्रतीत नही होते पर, 'वलचनमा' तथा वरुण के वेटे' निस्सदेह आंचलिक उपन्यास कहलाने के अधिकारी हैं। चरित्र-चित्रण, कथा की अन्विति, कथानक का आंचलिक आधार, वातावरण की सजीवता, जनजीवन तथा सस्कृति का विशद चित्रण भाषा-सभी दृष्टि मे उसमे सफल आंचलिक उपन्यास के गुण विद्यमान हैं। वलचनमा का चरित्र आंचलिक वातावरण की देन है, उसके व्यक्तित्व का निर्माण अचल का योगदान है। दरभगा जिले मे एक ग्रामीण का चरित्र ग्रामीण वातावरण के यथातथ्य चित्रो के साथ उभर कर प्रस्तुत किया गया है जिसमे जमीदार और किसान-मजदूर की दशा, वहाँ की राजनीतिक स्थिति, आर्थिक विषमता बडी वारीकी से अकित की गयी है। लोकगीतो का प्रयोग भी 'वलचनमा' मे मिलता है—

सखि हे मजरल आमक वाग
कुहू कुहू चिकररा कोईलिया
झींगुर गावण फाग
कत हमर परदेश बसइ छथि
बिसरि राग अनुराग

इन गीतों की भाषा ही नही पात्रो की भाषा भी जनभाषा है, विहार के ग्रामीण क्षेत्रो मे वोली जाने वाली भाषा है। साराश यह है कि 'वलचमना' मे भौगलिक स्थिति के चित्रण के अतिरिक्त (जिसमे वह सफल नहीं हुए हैं) अन्य आंचलिक तत्व पूरी सफलता के साथ प्रस्तुत किए गये हैं, अत उसमे आंचलिक रस का स्रोत अविरल वेग से प्रवाहित होता है।

नागार्जुन का दूसरा आंचलिक उपन्यास है 'वरुण के वेटे' जिसमे मलाही-गोंढियारी ग्राम के अचल से सम्बद्ध मछुओ की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। ये मछुए किस प्रकार मछली पकड कर शहर मे वेचने ले जाते हैं उन्हें वेच अपनी आजीविका कमाते हैं, दिन भर परिश्रम करके भी दोनो जून खाना नही खा पाते, आदि का चित्रण कर जहाँ लेखक ने उनकी आर्थिक विपन्नता का सकेत किया है, वहाँ जमीदारो द्वारा मछुओ से रुपये ऐंठने, सरकार द्वारा उनकी उपेक्षा करने की प्रतिक्रिया मे उनके जागरण का प्रसग प्रस्तुत कर लेखक ने राजनीतिक चेतना का भी उल्लेख किया है। उनके मछली पकडते समय के गीत—

'ऊपर ताल हुइयो
पीछे हट के हुइयो
चाल संभाल हुइयो
× × ×
भारत माता हुइयो
बाँह परोसर हुइयो

स्त्रियों के गीत, लोकभाषा, अंचल की भौगोलिक स्थिति के चित्रण आदि ने इसे और भी सफल आंचलिक उपन्यास बना दिया है। स्त्री-पुरुषों की वेश भूषा, मछुओं के सामाजिक सम्बन्ध, उनका आचरण सभी 'वरुण के बेटे' को आंचलिक उपन्यास बनाते हैं। 'वरुण के बेटे' के समान ही देवेन्द्र सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास है जिसमें ब्रह्मपुत्र नदी के तटवर्ती लोगों के जनजीवन और वहाँ की भौगोलिक स्थिति का सजीव चित्रण किया गया है।

जाति-विशेष को लेकर जो आंचलिक उपन्यास लिखे गये हैं और जिनका सम्बन्ध ग्राम या जन प्रदेश से है, उनमें रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' और देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये' उल्लेखनीय हैं। प्रथम में करनटों (नटों का एक विशेष) के जीवन का रीति-रिवाज का—उनके दैनिक कार्यक्रम, आजीविका के साधनों नट-कौशल, स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों, शराब पीने, तम्बुओं में रहने आदि का वर्णन है। यद्यपि प्रस्तुत उपन्यास में ब्रज प्रदेश के एक निश्चित भूभाग की कथा ही प्रमुख है, फिर भी प्रसंगानुसार अन्य वर्गों—चमारों, ठाकुरों, जमींदार, सिपाही आदि का वर्णन भी अत्यंत स्वाभाविक है। यद्यपि लेखक ने कथान्तर कथाओं की भरमार नहीं की है घटना-संगठन पर भी सतर्कतापूर्वक ध्यान दिया है, नटों की भाषा की झलक भी दिखायी गयी है, पात्र भी अंचल की देन हैं, तथापि ठकुरानी की कथा चंदा की कहानी उसे रहस्यात्मक बना देती है। अधूरे किस्से की रहस्यपूर्ण कहानी तो देवकी नन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यासों का स्मरण दिलाती है अतः उससे आंचलिकता को आघात पहुँचा है। देवेन्द्र सत्यार्थी के 'रथ के पहिये' में मध्य प्रदेश के करंजिया जनपद और वहाँ की गोंड जाति का जीवन चित्रित किया गया है। उनके सामाजिक रीति-रिवाज और परम्पराओं धार्मिक जीवन के चित्रों के साथ ही साथ लेखक ने लामसेनी प्रथा, करमा-नृत्य आदि के विवरण देकर उनके सांस्कृतिक जीवन की झाँकी भी प्रस्तुत की है। साधुओं के जीवन, उनकी आशा-निराशा, आकर्षण विकर्षण, दुर्बलता—शक्ति आदि को चित्रित करने वाला उदयशंकर भट्ट का 'शेष-अशेष' भी इन आंचलिक उपन्यासों में परिगणित किया जायेगा जिसका विषय वर्ग विशेष का जीवन-चित्रण है। लेखक ने स्त्री सम्बन्धी साधुओं की दुर्बलता का चित्र प्रस्तुत कर यदि इस वर्ग के कुत्सित जीवन-पक्ष की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है तो स्वातंत्र्य-संग्राम में उनके सक्रिय भाग का चित्रण कर उनकी सबलता तथा राष्ट्रीयता का संकेत भी किया है। कुल मिलाकर इसे भट्ट जी का सफल आंचलिक उपन्यास कहा जा सकता है।

आचलिक उपन्यासो के जन्मदाता हैं फणीश्वर नाथ रेणु, जिन्होने विहार के जनजीवन से सम्बन्धित दो उपन्यास 'मैला आचल' और 'परती परिकथा' लिखकर आचलिक उपन्यासो के क्षेत्र मे क्राति उपस्थित कर दी। प्रथम उपन्यास मे लेखक ने १९४२ ई० से गांधी जी के निधन तक की मेरीगज के जन-जीवन की परिस्थितियो का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। इस गाँव के विभिन्न वर्गों का—जिन्हे उसने टोली कहा है—जीवन और उनका सघर्ष बडी सूक्ष्मता से अकित किया गया है। इसमे अनुस्यूत विभिन्न कथाओ द्वारा लेखक ने इस जनपद के वातावरण का, वहाँ के धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक जीवन का विस्तृत वर्णन किया है। मेरीगज की लोक-सस्कृति का सजीव चित्रण तो इस उपन्यास की अप्रतिम देन है। विदापद नाच, जाट-जट्टिन का खेल सथाल नृत्य, गाँव वालो की वेशभूषा, रहन-सहन, उनके धार्मिक विश्वास—ज्योतिषी जी की बातो पर पूर्ण आस्था, भूत-प्रेत मे विश्वास आदि ने मेरीगज को पूरी यथार्थता से प्रस्तुत किया है। जहाँ एक ओर लेखक ने वडी जाति वालो के नीच जाति की स्त्रियो से अवैध सम्बन्धों की चर्चा कर उनका नैतिक पतन दिखाया है, वहा दूसरी ओर राजनैतिक पतन और आर्थिक हीनता के चित्र भी अकित किये हैं। लोक भाषा, लोक गीत और लोक्तियो के प्रयोग से स्थानीय रग और भी भास्वर हो उठे हैं। कही सुराजी कीर्तन होता है—

कथि जे चढिये आयेल
भारत माता
कथि जे चढ़ल सुराज
चलु सखी देखन को
कथि जे चढ़िये आयेल
वीर जमाहिर
कथि पर गधी महराज।

तो कही सुरगा सदाब्रिज की कथा सुनायी जाती है—

नहीं तोरा आहे प्यारी तेग तरवरिया से
कौनहि चीजवा से मारलू बहोहिया के
धरती लोटा वेला वेपीर जो ई ई ई।

कही होली का भडोवा होता है—

अरे हो बुडभक बभना अरे हे बुडभक बभना,
चुम्मा लेवे मे जात नहीं रे जाये।

तो कही खेतो के गीत सुनाई देते हैं—

आम जे कटहल, तत जे वड्हल
नेबुआ अधिक सूरवे।
मास असाढ़ हो रामा।

स्थानीय लोक-भाषा का प्रयोग लेखक ने दो प्रकार से किया है वातावरण के यथातथ्य चित्रण मे और पात्रों के सवाद मे। इससे स्वाभाविकता तो आ गयी है, पर शब्दो या

अर्थ फुटनोट में देने पर भी दुरुहता और बोझिलता पूरी तरह जा नहीं पायी है। प्रकृति चित्रण और भौगोलिक स्थिति के निर्देश ने उसकी आंचलिकता को और भी गहरा कर दिया है। आंचलिक उपन्यास का एक तत्व हमने यह माना था कि वह जन जागरण सन्देश दे। इस दृष्टि से भी मैला आंचल' सफल उपन्यास कहा जायेगा। तस्कर-व्यापार जमींदार-तहसीलदार के अत्याचार अनैतिक सम्बन्ध राजनीतिक नेताओं की धांधली वर्ग-संघर्ष आदि के चित्रों द्वारा लेखक ने अप्रत्यक्ष रूप से इन सब बुराइयों से बचने का संदेश दिया है।

इतनी अच्छाइयां होते हुए भी मैला आंचल पूर्णत निर्दोष नहीं कहा जा सकता। प्रथम तो पात्रों में विशेषत तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद तथा डॉ प्रशान्त में जो भावुकता उत्पन्न की गई है वह अस्वाभाविक है। विश्वनाथ प्रसाद जो जीवन भर किसानों पर अत्याचार करते रहे अंत में ७ बीघा जमीन को जनता में बांट देते हैं; यह हृदय-परिवर्तन स्वाभाविक नहीं लगता। डॉ प्रशान्त का चरित्र भी आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी हो जाने के कारण अविश्वसनीय हो गया है। ग्रामीण उत्सवों का वर्णन भी अपनी अनुपातहीनता के कारण बोझिल हो उठा है। गाने-बजाने के विस्तृत विवरण थकाने वाले हो गये हैं जो कला की दृष्टि से दोष ही कहे जायेंगे। गांव के चिनकचिम्ना से परिचित होना एक बात है पर उसी को सब कुछ बना देना और उसके कारण औपन्यासिकता को आघात पहुंचाना उचित नहीं।

रेणु का 'परती परिकथा उनका दूसरा आंचलिक उपन्यास है जिसमें पूर्णिया जिले के परानपुर' गांव और उसके आसपास के अंचल का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमें जमींदारी प्रथा के अन्त नये बन्दोबस्त भूमिदान मंत्री नेताओं का मन्सूबा उनकी बेईमानी स्वार्थ परायणता घूस दलाली राजनीतिक पार्टियों का संघर्ष समाचार पत्रों की शक्ति और उनकी अनैतिकता के ऐसे चित्र प्रस्तुत किये गये हैं कि अचल का राजनीतिक जीवन साकार हो उठा है। राजनीतिक वातावरण की तरह ही ग्रामीण अन्न—व्यापारों के प्रसगो द्वारा वहां का सामाजिक जीवन मूर्तिमान किया गया है। जहां तक लोक संस्कृति के चित्रण की बात है वह इस उपन्यास में मैला आंचल' से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बना दी गई है। लोक कथाएं—कोशी मैया की कथा लोक-गीत कथा जैसे सुन्दरी नैका की कथा लोक गीत जैसे—

हां रे मन कजवा
सावन-भादव केर उमडल नदिया
भीसि डोल मैया केर बेड़ वा रे मन कजवा।

लोक प्रथाएं—श्यामा चकेवा का खेल तथा लोकभाषा अंग्रेजी के अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग जनपद की संस्कृति को साकार कर देते हैं परन्तु कहीं-कहीं यह सब खटकने लगता है। उदाहरण के लिए जब लेखक चिड़ियाओं की निरर्थक ध्वनियों को भी ज्यों का त्यों उतार देने का प्रयास करता है— 'गुर गुतु उ ए गु उ गू " तो पाठक ऊबने लगता है कहीं-कहीं झुंझलाने भी लगता है।

आंचलिक उपन्यासो के जन्मदाता हैं फणीश्वर नाथ रेणु, जिन्होने विहार के जनजीवन से सम्बन्धित दो उपन्यास 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' लिखकर आंचलिक उपन्यासो के क्षेत्र मे क्रांति उपस्थित कर दी। प्रथम उपन्यास मे लेखक ने १९४२ ई० से गाँधी जी के निधन तक की मेरीगंज के जन-जीवन की परिस्थितियो का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। इस गाँव के विभिन्न वर्गों का—जिन्हे उसने टोली कहा है—जीवन और उनका संघर्ष बडी सूक्ष्मता से अंकित किया गया है। इसमे अनुस्यूत विभिन्न कथाओ द्वारा लेखक ने इस जनपद के वातावरण का, वहाँ के धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक जीवन का विस्तृत वर्णन किया है। मेरीगंज की लोक-संस्कृति का सजीव चित्रण तो इस उपन्यास की अप्रतिम देन है। विदापद नाच, जाट-जट्टिन का खेल संथाल नृत्य, गाँव वालो की वेशभूषा, रहन-सहन, उनके धार्मिक विश्वास—ज्योतिषी जी की बातो पर पूर्ण आस्था, भूत-प्रेत मे विश्वास आदि ने मेरीगंज को पूरी यथार्थता से प्रस्तुत किया है। जहाँ एक ओर लेखक ने बडी जाति वालो के नीच जाति की स्त्रियो से अवैध सम्बन्धो की चर्चा कर उनका नैतिक पतन दिखाया है, वहा दूसरी ओर राजनैतिक पतन और आर्थिक हीनता के चित्र भी अंकित किये हैं। लोक भाषा, लोक गीत और लोक्तियो के प्रयोग से स्थानीय रंग और भी भास्वर हो उठे है। कही सुराजी कीर्तन होता है—

कथि जे चढ़िये आयेल
भारत माता
कथि जे चढ़ल सुराज
चलु सखी देखन को
कथि जे चढ़िये आयेल
बीर जमाहिर
कथि पर गंधी महराज।

तो कही सुरंगा सदाब्रिज की कथा सुनायी जाती है—

नहीं तोरा आहे प्यारी तेग तरबरिया से
कौनहि चीजवा से मारलू बढोहिया के
धरती लोटा बेला बेपीर जो ई ई ई।

कही होली का भडोवा होता है—

अरे हो बुडभक बभना अरे हे बुडभक बभना,
चुम्मा लेवे मे जात नहीं रे जाये।

तो कही खेतो के गीत सुनाई देते हैं—

आम जे कटहल, तत जे बडहल
नेबुआ अधिक सूरवे।
मास असाढ़ हो रामा।

स्थानीय लोक-भाषा का प्रयोग लेखक ने दो प्रकार से किया है वातावरण के यथातथ्य चित्रण मे और पात्रो के संवाद मे। इससे स्वाभाविकता तो आ गयी है, पर शब्दो का

को वाणी दी गई है। काशी की मस्ती उसका पौरुष उसके सामाजिक मूल्य धार्मिक विश्वास उसकी दुर्बलताएँ अलौकिक गुण मान-बान व्यवसाय रूप विन्यास आचार विचार आदि इस उपन्यास मे साकार हो उठे हैं। इनकी भाषा में तनिक भी मिलावट नहीं है वह सीधी मुहावरेदार, सरस सूक्तियों और लहरियादार शब्दावली से भरी तथा भावानुकूल है।

आंचलिक उपन्यास और भाषा

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय भाषा का प्रयोग आंचलिक उपन्यासों की विशेषता है। वातावरण के यथार्थ चित्रण तथा स्थानीय रंग लाने के लिए उसका प्रयोग शुभ है। उससे उपन्यास की प्रभविष्णुता बढ़ती है उसमे हिन्दी के शब्द भंडार को हिन्दी की अभिव्यञ्जना—शक्ति बढ़ाने की अपार संभावनाएँ हैं पर साथ ही उसका आधिक्य कई समस्याएँ उपस्थित करता है। वस्तुत लोक-भाषा का प्रयोग तीन उद्देश्यों से किया जाता है—(क) स्थानीय रंग उत्पन्न करने के लिए (ख) यथार्थवाद का कलात्मक पुट देने के लिए तथा (ग) हास्य-विनोद और व्यंग्य की सृष्टि के लिए। यदि लोकभाषा का प्रयोग इन तीनो उद्देश्यों की पूर्ति करता है तो वह स्वागमीय है पर यदि वह दुरूहता उत्पन्न करता है पाठक के मन मे ऊब उत्पन्न करता है तो निश्चय ही त्याज्य है। उपन्यास की रोचकता और बोधगम्यता की अवहेलना कभी भी सराहनीय नहीं हो सकती। अत आंचलिक उपन्यासकार को सतर्क रहना चाहिए कि उपन्यास स्थानीय बोलियो का अव्यवस्थाहीन और अराजकतापूर्ण जमघट बनकर न रह जाय। यदि उपन्यास के सभी पात्र स्थानीय भाषा बोलने लगेगे तो लगभग वही समस्या उठ खड़ी होगी जो प्रेमचंद के मुसलमान पात्रो की भाषा के सम्बन्ध मे उठ खड़ी हुई थी जो ठकीक उर्दू बोलते थे।

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। उसके उपन्यासो का दूसरी भाषाओ मे और दूसरी भाषाओ के उपन्यासो का हिन्दी मे अनुवाद होना है और हो भी रहा है। आंचलिक उपन्यासो की भाषा देखकर अनुवाद की समस्या और भी क्लिष्ट हो जाती है। कितने मे फुटनोट या टिप्पणियां दी जाय आंचलिक भाषा को दूसरी भाषा में उतार पाना कठिन हो जाता है। अत आंचलिक उपन्यास की सतर्कतापूर्वक और अनुपात दृष्टि मे रखकर ही स्थानीय भाषा का प्रयोग करना चाहिए। स्थानीय भाषा के शब्दों का प्रयोग तो आंचलिक उपन्यास के लिए आवश्यक है (उनका पूर्ण बहिष्कार तो उसकी आंचलिकता पर ही आघात करेगा) अतः हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि उसका विवेकपूर्वक प्रयोग हो।

आंचलिक उपन्यासों की शक्ति और सीमाएँ

उपन्यास मे आंचलिकता मानवीय संवेदन को उभारती है। जन-जीवन की जिस व्यापकता के साथ आंचलिक उपन्यास चित्रित करता है उतनी व्यापकता अन्य उपन्यासो मे नहीं देखी जाती। वह हम अचल विशेष की संस्कृति धार्मिक विश्वास प्रथाओं रहन-सहन रीति रिवाज भौगोलिक सीमाओ से परिचित करता है। वर्तमान

ग्रामीण अचलो मे सम्बद्ध अन्य उल्लेखनीय उपन्यास हैं—रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर' और शैलेश मटियानी का 'होल्दार'। पहले मे गोरखपुर जिले के राप्ती और गोरी नदियो मे घिरे भूभाग के कल्पित गाव पाँडेपुरवा की कथा है—वहा की अशिक्षा, आर्थिक हीनता, बाढ के कारण दुर्दशा, अन्धविश्वास, त्योहार मेलो, भूत-प्रेत पर आस्था, पारम्परिक झगडो आदि का वर्णन है, तो दूसरे मे कुमायूँ के पर्वतीय अचल की झाकी प्रस्तुत की गई है वहा की सस्कृति का सजीव चित्रण किया गया है। दोनो उपन्यासो मे आचलिक उपन्यास के अन्य तत्त्व— स्थानीय भाषा, लोकगीत, भौगोलिक स्थिति का चित्रण आदि भी उपलब्ध होते हैं।

नागरिक अचल मे सम्बद्ध आचलिक उपन्यासो मे उल्लेखनीय उपन्यास हैं—रागेय राघव का 'काका', उदयशकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य', और शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गगा'। 'काका' मथुरा के जन-जीवन का सामाजिक चित्र है। उसके पात्रो का चरित्र-विकास अचल के कारण ही होता है। वातावरण तथा प्रकृति के चित्र, (यमुना तट आदि के) स्थानीय भाषा का प्रयोग—'आज लाला कही चोट खाकर आये हो, तभी यहाँ इतनी उसके दिखा रहे हो' अथवा "अरे तेरे मुँह पै आग बराऊँ" आदि भी उसे आचलिक बनाने मे सहायक होते हैं। अत नागरीय अचल से सम्बद्ध प्रथम उपन्यास होने के कारण उसका अपना महत्त्व है।

'सागर लहरें और मनुष्य' मे लेखक ने बम्बई के उपनगर वारसोवा' के मछुवो और 'माहीम' के कोलियो का जीवन चित्रित किया है। इन दोनो जातियो का रहन-सहन, स्वभाव, रीति-रिवाज, त्योहार जैसे नारियल-पूर्णिमा यौन-सम्बन्ध, आर्थिक स्थिति—गरीबी, सिनेमा का प्रभाव आदि इस सजीवता के साथ चित्रित किये गये हैं कि ऐसा लगता है कि हम उपन्यास न पढकर बम्बई के समुद्र तट पर खडे मछुओ को देख रहे हैं। उनके गीत और नृत्य उनके सास्कृतिक जीवन की झाकी प्रस्तुत करते हैं, तो शराब, गाँजा आदि मादक द्रव्यो का प्रयोग, उनके सेवन के बाद लडाई-झगडे, मार-पीट गाली-गलौज उनकी हीन दशा का सकेत करते हैं। इस तरह उपन्यास मे मछुओ का जीवन चित्र पूरी तरह उतर आया है। इसकी कहानी भी सुगठित है और पाठक ऊबता नही। केवल उपन्यास के उत्तरार्ध को पढते हुए हम ऐसा अनुभव करते हैं जैसे फिल्मी जीवन पर उपन्यास पढ़ रहे हो— इससे आचलिक तत्त्व निश्शेष हो गया है। इसमे प्रकृति का काव्यमय चित्रण भी उतना नही है जितना रेणु के उपन्यासो मे। भाषा के प्रयोग मे लेखक ने सतुलित दृष्टि से काम लिया है। स्थानीय भाषा का प्रयोग करते हुए भी वह दुरूह नही हो पाई है। वस्तुत 'सागर लहरें और मनुष्य' मे कुछ तत्त्व तो आचलिक हैं, पर कथानक का फैलाव, बम्बई के फिल्मी जगत का चित्रण, काव्यात्मक प्रकृति-चित्रण का अभाव आदि उसकी आंचलिकता को आघात पहुँचाते हैं।

रुद्र का 'बहती गगा' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया आंचलिक उपन्यास है जिसमे काशी की लगभग २०० वर्ष की (१७५०-१६५० ई०) सामाजिक सास्कृतिक एव राजनीतिक चेतना का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमे काशी के समग्र समाज—राजा-रक, व्यापारी, मजदूर, पण्डे-पुरोहित आदि—की विकासोन्मुख चेतना

आंचलिक उपन्यास पहले उपन्यास है, बाद में कुछ और। उसका प्रधान उद्देश्य कथा कहना है। यह ठीक है कि वह जन-जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करता है पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह किसी प्रदेश का समाज शास्त्र प्रस्तुत करे। वह सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करते हुए भी प्रदेश विशेष की Photographic Copy नहीं होता। लोक संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करने के लिए लोक-गीत, लोक नृत्य और लोक-भाषा का उपयोग तो होना चाहिए, पर गाने-बजाने के विस्तृत विवरण को पाठक को थका दें कला की दृष्टि से दोष हैं। गांव के चितकबरे से परिचय कराना एक बात है पर जब वह स्वयं 'बाद' बन जाय तो निश्चय ही अवांछनीय है उसे होमयूमैट्री मान नहीं बनना है। इसी प्रकार प्रकृति चित्रण पात्रों का अंचल की धरती से लगाव घोषित करता है किन्तु जब यह लम्बा हो जाता है या अत्यधिक चित्रात्मक हो उठता है तो पाठक ऊबने लगता है। किसी किसी आंचलिक उपन्यास में चिड़ियों की ध्वनि को कई-कई पंक्तियों मे बांधने का प्रयास किया गया है। नदी सरोवर, मैदान धूलभरे रास्तों का इतना विस्तृत वर्णन है कि वह बोझिल हो उठा है संस्कृति के समग्र चित्रण के कारण ही उपकथाओं की संख्या बढ़ गयी है उसमें अनावश्यक विस्तार आ गया है जो मूल कथा के प्रवाह में अवरोध उपस्थित करता है तथा प्रभावाभिव्यक्ति में बाधक हो गया है। आंचलिक उपन्यासों की भाषा के सम्बन्ध में हम ऊपर बता ही चुके हैं कि स्थानीय भाषा के अनुपातविहीन प्रयोग से क्या कठिनाई पैदा होती है।

आंचलिक उपन्यासकारों को दो खतरों से सावधान रहने की भी आवश्यकता है। प्रथम तो आंचलिकता पर अत्यधिक बल देने और समग्र भारत को ध्यान मे न रखने के कारण प्रान्तीयता की प्रवृत्ति बढ़ सकती है और दूसरे समसामयिक वास्तविकताओं के तटस्थ चित्रण मे लेखक सन्तुलन न खो बैठे अपने राजनीतिक सैद्धान्तिक आग्रहों के कारण किसी वाद का प्रचारक न बन जाय। यह दोष नागार्जुन के उपन्यासों मे मिलता है। लेखकों को उससे सावधान रहना है। आंचलिक उपन्यासकार तभी सफल हो सकता है जब स्थानीय के साथ सार्वभौम का भी समन्वय करे जैसे हार्डी ने अपने वैसेक्स नॉविलों मे किया है।

आंचलिक उपन्यास के सम्बन्ध मे कतिपय आलोचकों ने कुछ प्रश्न उठाये हैं जैसे क्या आंचलिक उपन्यास का अध्ययन अलग से होना चाहिए अथवा सामाजिक कथा-साहित्य के साथ ही उसका अध्ययन वांछनीय है? इस सम्बन्ध में हमारा मत है कि जिस प्रकार सामाजिक कथा-साहित्य मे लेखक एक विशिष्ट दृष्टिकोण से समाज को उपस्थित करता है उसी प्रकार आंचलिक उपन्यासकार भी आंचलिक उपन्यास मे एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि अपनाता है। उसके प्रणयन की प्रेरणा भी बिल्कुल वैसी नहीं होती जैसी सामाजिक उपन्यास के प्रणयन मे होती है। उसकी सृजन-प्रक्रिया सामाजिक उपन्यास की सृजन प्रक्रिया से भिन्न होती है। अतः आंचलिक उपन्यास का अध्ययन सामाजिक उपन्यासों के साथ न होकर अलग से होना चाहिए।

दूसरा प्रश्न जो इस सम्बन्ध मे उठाया गया है वह यह है कि क्या नगर का जीवन आंचलिक उपन्यास का विषय हो सकता है? हमारी दृष्टि मे यदि नगर के

जनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं का चित्रण करता है। राजनीतिक क्षेत्र की उथल यल, चेतना, नेताओ की स्वार्थ-परायणता, आर्थिक शोषण और जनता के गठन का चित्र प्रस्तुत कर जनता को जागरूक बनाता है, उसमें लोकतन्त्रात्मकता ी भावना उत्पन्न करता है, अनीति के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा देता है। अंचल के माजिक सगठन और स्वरूप की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। भारत की भिन्न आचलिक सस्कृतियो के भेद मे अभेद दिखाकर सास्कृतिक एकीकरण और ावात्मक एकता (Emotional integration) का स्तुत्य प्रयास करता है। कति- य आलोचको का मत है कि आचलिक उपन्यास कुछ विशेष रुचि के पाठको को ही मुदित कर सकते हैं, पर यह ठीक नही। अब तक जो देश-विदेश मे आचलिक उप- ास लिखे गये हैं, उन्हें देखकर यह नही कहा जा सकता। हार्डी के वैसेक्स नाविल ार्क ट्वेन का 'लाइफ आन मिसीसिपी', फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आचल' इसके माण हैं। अत आचलिक उपन्यास ने न केवल साहित्यकार के लिए नए क्षितिज ोले हैं, अपितु उसकी शक्ति भी असीम हैं।

इन शक्तियो के बावजूद आचलिक उपन्यास की कुछ सीमाएँ हैं जिनमे से कुछ ा सम्बन्ध तो उसके रूप-विधान और शिल्प से है और कुछ का हिन्दी उपन्यासकारो ा। आचलिक उपन्यासकार की दृष्टि अचल-विशेष पर रहने के कारण वह ऐसे ात्र की सृष्टि नही कर पाता है जो साधारण का प्रतिनिधि होते हुये भी असाधारण ो, देश-काल को उपज होकर भी देश-काल की सीमाओ से बधा न हो, मानव दुर्बल- ाएँ होते हुये भी उनसे ऊपर उठा हुआ हो। उसकी दृष्टि समाज के समय चित्रण पर र होती है, अत वह ऐसे चरित्र का निर्माण भी नही कर पाता जो मनोवैज्ञानिक ाधार पर प्रामाणिक तथा गहराई के साथ चित्रित हो तथा जो पाठक की चेतना पर ठा जाय।

सीमित परिवेश के कारण ही आचलिक उपन्यासो मे प्राय गम्भीर तात्त्विक विवेचन का अभाव होता है, पर यह आवश्यक नही। यदि उपन्यासकार चाहे तो सीमित पटल पर भी वह सार्त्रे तथा मामूँ की तरह तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत कर अपनी कृति को महान् बना सकता है।

हिन्दी के आचलिक उपन्यासकारो मे दृष्टि की स्वस्थता का अभाव पाया जाता है। उनकी वृत्ति जितनी अनैतिक, स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धी के चित्रण मे रमी हैं, उतनी अन्यत्र नही, इससे अश्लीलता आ गई है। वस्तुत यह दोष हिन्दी के आचलिक उप- न्यास मे ही नही, सभी प्रकार के उपन्यासो मे पाया जाता है और इसका कारण है— यथार्थवाद के प्रति मिथ्याधारणा, फ्रायड आदि का प्रभाव तथा लेखक की निजी कुठाए हैं इनका उपचार होना आवश्यक है। इसके विपरीत कुछ लेखकों ने अतिशय भावुकता और आदर्शवादिता के कारण अपनी कृतियो को दूषित बना दिया है। जितनी अवाछ- नीय नग्न अश्लीलता है उतनी ही भावुकता तथा आदर्शवादिता। उससे भी यथार्थ धुँधला पड जाता है। कुछ उपन्यासो मे जैसे 'कब तक पुकारू' मे रहस्यात्मकता चमत्कारपूर्ण प्रसग, तिलिस्मी गूढता ने भी यथार्थ ही नही आचलिकता को विनष्ट कर दिया है। यह प्रवृत्ति तो [illegible] है।

हिन्दी कहानी स्वरूप एवं विकास

१ कहानी की परिभाषा तथा स्वरूप
  कहानी के तत्व
३ कहानी और उपन्यास में अन्तर
४ कहानी के भेद
५ कहानी का उद्भव एवं विकास—(अ) हिंदी पूर्व कहानी परम्परा, (आ) हिंदी में कहानी का विकास—(क) भारतेन्दु युग (ख) द्विवेदी युग (ग) प्रेमचन्द युग (घ) आधुनिक युग।
६ उपसंहार

कहानी की परिभाषा तथा स्वरूप

यों 'कहानी' का सामान्य अर्थ 'कहना' होता है किन्तु आज हिन्दी-साहित्य में यह शब्द विधा विशेष के लिए रूढ़ हो गया है। अतः यहाँ पर कहानी का विवेचन उसे साहित्य की एक विधा के रूप में ही मानकर किया जायेगा।

साहित्य की किसी भी विधा के स्वरूप को निश्चित शब्दों में बाँध पाना बड़ा ही दुष्कर कार्य है; किन्तु फिर भी विभिन्न आलोचक साहित्य की विभिन्न विधाओं की परिभाषाएँ देते ही रहे हैं। कहानी की भी परिभाषा अनेक प्रकार से दी गई है। पाश्चात्य साहित्य-जगत् में एडगर एलन पो ने कहानी को रसोद्रेक करने वाला एक ऐसा आख्यान माना है जो एक ही बैठक में पढ़ा जा सके। एच॰ जी॰ वेल्स ने भी पो से ही मिलती-जुलती बात कही है। उनका कहना है—"कहानी तो बस वही है जो लगभग बीस मिनट में साहस और कल्पना के साथ पढ़ी जाय। स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों परिभाषाएँ प्रमुख रूप से कहानी के आकार पर ही प्रकाश डालती हैं। हडसन ने कहानी को उपन्यास का पाने वाला रूप कहकर उपन्यास और कहानी के बीच विषय और शिल्पगत अभेदत्व स्थापित किया है। बाबू गुलाबराय ने हडसन के इस कथन का बड़े ही व्यंग्यात्मक ढंग से विरोध करते हुए लिखा है— ऐसा कहना वैसा ही असंगत होगा जैसा चौपाया होने की समानता के आधार पर मेंढक को एक छोटा बैल और बैल को एक बड़ा मेंढक कहना। वास्तव में उपन्यास तथा कहानी के बीच आकार प्रकार के भेद के साथ ही साथ वस्तु, शिल्प और शैली में भी पर्याप्त अन्तर है। कहानी के विवेचन में बाबू श्यामसुन्दरदास ने लिखा है— आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर लिखा गया नाटकीय आख्यान है।" इस परिभाषा को स्वीकार कर लेने पर एकांकी तथा कहानी के बीच व्यावर्तक-रेखा नहीं

किसी विशिष्ट अचल (Suburb) का, उसमें रहने वाले किसी विशिष्ट वर्ग का जीवन अपने मे वे सब विशिष्टताएँ रखता है, जो उसे नगर के अन्य वर्गों से विशिष्ट बना दे, तब तो वह निश्चय ही आचलिक उपन्यास का विषय बन सकता है, जैसे 'सागर, लहरें और मनुष्य' में बारसोवा के मछुओं का जीवन। पर यदि ऐसा नही है, तो केवल एक मुहल्ला या अचल का जीवन चित्रित कर देने मात्र से वह आचलिक नहीं हो सकता। फिर उस वर्ग विशेष के जीवन को शेष नगर के जीवन से मिला देने पर भी आचलिक तत्त्व को आघात पहुचेगा जैसा कि 'सागर, लहरें और मनुष्य' में रत्ना के जीवन की परिणति सिनेमा-जगत की तारिका के रूप मे करने से उसकी आचलिकता को आघात पहुँचा है।

तीसरा प्रश्न है क्या आचलिक उपन्यास व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक उपन्यास की प्रतिक्रिया का फल है? हमारी दृष्टि में ऐसा नहीं है। आचलिक उपन्यास के तत्त्व बहुत पहले, जैसे प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो मे आने लगे थे, व्यक्तिवादी उपन्यासो के कारण वे दब अवश्य गये थे। अत आचलिक उपन्यास प्रतिक्रिया का फल नही है। हिन्दी लेखक कुछ तो नए विषयो के अभाव के कारण, कुछ अपने-अपने अचल विशेष के सौन्दर्य और सस्कृति पर मुग्ध होने तथा उसको प्रस्तुत करने की अभिलाषा के कारण आचलिक उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त हुए।

उपसहार

आचलिक उपन्यासो की शक्ति महान् है, वे अचल विशेष के जनसमाज की विषमताओ का चित्रण कर उसकी मुक्ति का सदेश दे सकते हैं, जागरण की भावना फैला सकते हैं, सांस्कृतिक एकीकरण का अभियान आरम्भ कर सकते हैं। भारत एक विशाल देश है जिसके हर अचल के क्रोड मे एक विशिष्ट सस्कृति पनपती है। इन सब अछूते विषयो को अपनाकर साहित्यकार विशाल साहित्य का सर्जन कर सकते हैं। अत उनका भविष्य उज्ज्वल है। अब तक हिन्दी आचलिक उपन्यासों की उपलब्धि भी सतोषजनक है, उसे देखकर हम कह सकते हैं कि हिन्दी का आचलिक उपन्यास भारत की अन्य भाषाओं के उपन्यास के कधे से कधा मिलाकर चल रहा है। बगला के माणिक बन्दोपाध्याय या ताराशकर, मराठी के पेंडसे और माडकगूल कर, कन्नड और मलयालय के उपन्यासो से वह किसी भी प्रकार पीछे नही है।

(३) उसमे मनोरंजनात्मक प्रतिपादन शैली के साथ कल्पना का यथोचित योग रहता है।

(४) उसका अन्त प्रभावपूर्ण आकार संक्षिप्त और संवाद नाटकीय प्रभाव वाले होते हैं। तथा

(५) उसमे नैतिकता और यथार्थवाद का प्रदर्शन भिन्न भिन्न रूप और परिभाषा मे होती है।

मानव-मनोवृत्तियो की अनन्तता के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सभी कहानीकार कुछ विशेष प्रकार की ही कहानियां लिखेंगे वे किसी भी प्रकार की कहानियां लिख सकते हैं। ऐसी स्थिति मे कहानी के भले ही अनन्त वर्ग न किये जायें प्रत्येक प्रकार की कहानी पर फिर नहीं हो सकते किन्तु इतना होने पर भी डॉ शर्मा के उपर्युक्त निष्कर्षों को मान्यता दी जा सकती है। डॉ सत्येन्द्र के भी निष्कर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कहानी के तत्व

अधिकाश विद्वानो ने कहानी के भी वे ही छ तत्व माने हैं जो उपन्यास के। किन्तु जिस प्रकार कुछ विद्वानों ने उपन्यास के तत्वों की संख्या में घटा-बढ़ी की है उसी प्रकार कहानी के तत्वों में भी। सामान्यत उपन्यास तथा कहानी के जो छः तत्व स्वीकार किये गये हैं वे हैं—(१) कथावस्तु, (२) पात्र (३) संवाद (४) वातावरण (५) भाषा-शैली और (६) उद्देश्य। कुछ विद्वानों ने 'भाव' नामक सातवें तत्व को भी स्वीकार किया है। वस्तुत इस तत्व को अलग माना जाना चाहिए। यह तो एक ऐसा तत्व है जो उपर्युक्त सभी तत्वों में अनुस्यूत रहता है। इसके अभाव मे शेष छहो तत्व नीरस और निर्जीव हो जायेंगे अत इसकी अवस्थिति उन सभी में है अलग से यह कोई तत्व नहीं। डा बह्मदत्त शर्मा ने कहानी के आठ तत्व माने हैं। उन्होने जिन दो तत्वो की वृद्धि की है, वे हैं—(१) शीर्षक तथा (२) प्रारम्भ और (३) अन्त। वास्तव मे शीर्षक को तत्व नहीं माना जा सकता क्योंकि वह तो कहानी के कथानक का आभास देने वाला है अत वह कथावस्तु से अलग कोई वस्तु नहीं। इसी प्रकार प्रारम्भ और अन्त' नामक तत्व भी शैली के ही अग हैं उनकी अलग सत्ता नहीं। निष्कर्ष यह कि कहानी के वे ही छः तत्व स्वीकार किये जाने चाहिए जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

कहानी और उपन्यास में अन्तर

कुछ विद्वान् कहानी को छोटा-छोटा उपन्यास और उपन्यास को विस्तारपूर्वक कही गयी कहानी मानने की भूल करते बैठे हैं। यह ठीक है कि कहानी तथा उपन्यास दोनो ही कथात्मक गद्य साहित्य के रूप हैं दोनो में कथा की प्रधानता होती है दोनो की कथावस्तु श्रोताओ अथवा पाठकों में कुतूहल जगाकर उनको अपनी ओर आकर्षित करती है दोनो मे वस्तु, पात्र संवाद आदि का सौन्दर्य रहता है किन्तु फिर भी इन दोनो साहित्य-विधाओ मे पर्याप्त अन्तर है। क्योंकि आकार की दृष्टि से उपन्यास विस्तृत और कहानी लघु रचना है। उपन्यास में जीवन के व्यापक अगों पर

खीची जा सकेगी। कहानी के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए मु शी प्रेमचन्द ने कहा है—"कहानी (गल्प) एक रचना है, जिसमे जीवन के लिये एक अग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उपन्यास की भाति उसमे मानव-जीवन का सम्पूर्ण तथा वृहद् रूप दिखाने का प्रयास नही किया जाता। न उसमे उपन्यास की भाति सभी रसो का सम्मिश्रण ही होता है। वह एक रमणीय उद्यान नही, जिसमे भाति-भाँति के फूल-वेल-वूटे सजे हुए हैं, वल्कि एक ऐसा गमला है जिसमे एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप मे दृष्टिगोचर होता है।" `मचद जी की इस व्याख्या से निस्सन्देह ही कहानी का रूप वहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है। यदि आधुनिक आलोचना की पदावली मे कहना चाहे तो कह सकते हैं कि कहानी जीवन के किसी एक अग अथवा मनोभाव को प्रदर्शित करने वाली वह गद्य-वद्ध रचना है जो मनोरजक तथा कौतूहलवर्द्धक हो तथा जिसके अन्त मे किसी चमत्कारपूर्ण घटना की योजना की जाय।

कहानी की विभिन्न परिभाषाओ को दृष्टिपथ मे रखकर अनेक आलोचको ने अपने-अपने ढग से कहानी के लक्षण निर्धारित किये हैं। डा० सत्येन्द्र ने कहानी का स्वरूप स्थिर करते हुए निम्नांकित निष्कर्ष निकाले हैं—

(क) कहानी मे एक तथ्यता होती है, एक घटना आत्मा की एक झलक एवं मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रदर्शन, जो भी हो वह एक हो, विविध न हो।

(ख) घटना का स्थान अनुभूति ले सकती है, अनुभूति वाली कहानिया ऊचे दर्जे की होती हैं।

(ग) कहानी का आधार मनोवैज्ञानिक होता है।

(घ) वह मनोरजन करती है पर उसमे मानसिक तृप्ति के लिए भावों को जागृत करने के लिये भी कुछ होता है।

(ङ) कहानी घटना प्रधान हो सकती है और चरित्र प्रधान भी। पिछले प्रकार की कहानिया उच्च कोटि की समझी जाती हैं।

(च) यह आवश्यक है कि कहानी जो परिणाम या तत्व निकाले, वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ वारीकी हो।

(छ) कहानी में तीव्रता हो, ताज़गी हो, कुछ भी ऐसा न हो, जो आवश्यक कहा जा सके।

(ज) कहानी की भाषा वहुत ही सरस और सुवोध होनी चाहिये।

(झ) 'घटनाएँ' पात्रो की मनोगति से स्वय उद्भूत हो, वे प्रधानता न ग्रहण कर लें।

डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा हिन्दी-कहानियो पर लिखे गये अपने शोध-प्रवन्ध मे कहानी के स्वरूप के विषय मे जिन निष्कर्षों पर पहुचे हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) 'कहानी' साहित्य का एक अग है।

(२) उसकी विषय वस्तु तथा कथोपकथन आदि मे अर्थ वोध की प्रधानता तथा भावोत्कर्ष और उक्ति-वैचित्र्य की अप्रधानता रहती है।

(उत्कर्ष) कालीन।

कहानी का उद्भव एवं विकास

(अ) हिन्दी-पूर्व कहानी-परम्परा — रचना-काल की दृष्टि से भारतीय कथा साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। उसका विस्तार वैदिक संस्कृत संस्कृत पालि प्राकृत अपभ्रंश आदि भाषाओं में मिलता है। वैदिक साहित्य में आर्यों और दस्युओं तथा 'उर्वशी-पुरुरवा' जैसे उपाख्यान मिलते हैं। वेदों के बाद ब्राह्मणों और उपनिषदों में भी यत्र तत्र कहानियाँ और उपाख्यान मिलते हैं। कहानी का पुराना रूप आख्यायिकाओं आख्यानकों जातक कथाओं पौराणिक कथाओं धर्म कथाओं लोक कथाओं आदि के रूपों में मिलता है। महाभारत के 'शकुन्तलोपाख्यान सावित्री उपाख्यान' आदि में आर्य-जाति का इतिहास संस्कृत धर्म आदि का सुन्दर विश्लेषण मिलता है। पंच तन्त्र हितोपदेश गुणाढ्य की बृहत्कथा कथा सरित्सागर वैताल-पंचविंशतिका सिंहासन द्वात्रिंशिका शुक-सप्तति आदि ग्रन्थों का संस्कृत के कहानी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है।

संस्कृत की कहानियों का सम्बन्ध मुख्यतया पशु पक्षियों तथा अलौकिक चरित्रों से रहा है पशु-पक्षियों की कथाओं द्वारा सुकुमार-मति बालकों को व्यावहारिक जीवन-सम्बन्धी शिक्षा देना तथा कल्पना जगत् से सम्बन्ध रखने वाले यक्ष गन्धर्व अप्सराओं और बेताल आदि की कथाओं द्वारा पाठकों का मनोरंजन करना संस्कृत की कहानियों का मुख्य उद्देश्य सिद्ध होता है। इन कहानियों का स्वरूप आधुनिक हिन्दी-कहानियों को आधुनिक हिन्दी-कहानी का मूलाधार नहीं माना जा सकता। डॉ. जगपतिचन्द्र गुप्त ने प्राचीन तथा आधुनिक कहानी में अन्तर बताते हुए लिखा है— प्राचीन कहानियों का क्षेत्र इतना व्यापक होता था कि उसमें पशु-पक्षियों तक का भी पात्रों के रूप में समावेश होता था किन्तु आधुनिक कहानी सामान्यतः मनुष्य वर्ग तक सीमित है। दूसरे प्राचीन कहानी में उच्च-वर्ग — राजा रानी सेठ-सेठानी आदि—के जीवन की काल्पनिक घटनाओं का वर्णन अधिक होता था जबकि आधुनिक युग में जन-साधारण के जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का अंकन होता है। प्राचीन कहानियों में पात्रों के चरित्र का विश्लेषण नहीं होता था और न ही उनके चरित्र में क्रमिक विकास प्रस्तुत किया जाता था जबकि आधुनिक कहानियों में ऐसा होता है। उनमें देश-काल के वातावरण का भी चित्रण अपेक्षित नहीं था। वस्तुतः प्राचीन कहानी में अलौकिकता अस्वाभाविकता आदर्शवादिता एवं कल्पनात्मकता का आग्रह अधिक था जबकि आधुनिक कहानी में लौकिकता स्वाभाविकता यथार्थ वादिता एवं विचारात्मकता पर अधिक बल दिया जाता है। प्राचीन कहानी स्वर्ग-लोक की कल्पना थी जबकि आधुनिक कहानी हमें धरती के सुख-दुःख का स्मरण कराती है।

(आ) हिन्दी में कहानी का विकास—हिन्दी में कहानियों का आरम्भ प्रायः गोकुलनाथ द्वारा रचित 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' से माना जाता है। इन दोनों ही ग्रन्थों में वैष्णव भक्तों की कथाएं वर्णित हैं। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-कहानी के जिन मानदण्डों को स्थिर किया जा चुका है, उन

काश डाला जाता है और कहानी मे जीवन के एक अग की झाँकी रहती है। उपन्यास मे पात्रो की सख्या अधिक और मवाद लम्बे होने है, पात्र इन-गिने तथा मवाद सक्षिप्त होते हैं, कहानी का एक रूप भावात्मक होता है परन्तु भावप्रधान उपन्यास प्राय देखने मे नही आते। डा० गणपति चन्द्र गुप्त ने उपन्यास और कहानी मे अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—"उपन्यास की कथावस्तु मे एक से अधिक कथानको का गुम्फन किया जाता है किन्तु कहानी मे केवल एक ही कथानक रहता है। उपन्यासकार के कथानक का मार्ग लम्बा होता है, उसके बीच-बीच मे अनेक मोड, अनेक विश्राम-स्थल एव अनेक घटना-स्थल उपस्थित होते हैं जबकि कहानीकार की यात्रा छोटी-सी होती है जिसमें विभिन्न मोडो, विश्राम-स्थलो और घटना, स्थलो की सभावना ही नही होती। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार की मति शिथिल होती है, बैलगाडी मे बैठे हुए राहगीर की भाँति वह अपने दाएँ-बाएँ झाँकता हुआ धीरे-धीरे आगे बढता है जबकि कहानीकार वायुयान की चाल से अपने लक्ष्मी की सीधा दौडता है, उसके दाएँ-बाएँ क्या हो रहा है, इसे देखने का अवकाश उसे नही रहता। उपन्यास मे पात्रो की सख्या कहानी से कई गुणा अधिक होती है और वह सभी के व्यक्तित्व की प्राय सभी विशेषताओ का चित्रण करता है, जबकि कहानीकार कुछ पात्रो को लेकर उनकी कुछ विशेषताओ का या किसी एक प्रमुख प्रवृत्ति का ही उद्घाटन कर पाता है। कहानी के कथोपकथन मे लम्बे-लम्बे व्याख्यानों या दीर्घ बहस-बाजी के लिए स्थान नही होता। सभी कहानीकार अपने देश-काल के समस्त वातावरण को प्रस्तुत करना आवश्यक नही समझते। उपन्यासकार की भाँति कहानीकार अपनी रचना मे अनेक समस्याओ का या अनेक सिद्धान्तो का चित्रण नही करता, अपितु वह अपना सारा ध्यान किसी एक विचार, सिद्धान्त या समस्या पर ही केन्द्रित करता है।"

कहानी के भेद

विभिन्न आधार मान कर कहानी के विभिन्न भेद किये गये है। विषयवस्तु के आधार पर कहानियो को आठ वर्गो मे विभक्त किया गया है (१) घटना प्रधान, (२) पात्रप्रधान, (३) विचारप्रधान,, (४), भावप्रधान, (५) कल्पनाप्रधान, (६) हास्यप्रधान, (७) काव्यात्मक और (८) प्रतीकात्मक।

प्रतिपादन-शैली के आधार पर कहानियो के पाँच प्रमुख वर्ग बनाये गये हैं—(१) उत्तम पुरुष प्रधान, (२) अन्य पुरुष प्रधान, (३) पत्र पद्धति मे लिखित, (४) वार्तालाप पद्धति मे लिखित और (५) डायरी पद्धति में लिखित।

विषय के आधार पर कहानियों को कुछ अन्य प्रमुख वर्गों मे भी रखा गया है, जैसे धार्मिक कहानियाँ, राजनीतिक कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ वैज्ञानिक कहानियाँ, सामाजिक कहानियाँ आदि।

रचना-लक्ष्य के आधार पर कहानी के तीन वर्ग स्थिर किये गये हैं—(१) आदर्शवादी, (२) यथार्थवादी तथा (३) आदर्शोन्मुख)४) यथार्थवादी।

स्वरूप-विकास के आधार पर कहानियो के चार भेद स्वीकार किये गये हैं—(१) निर्माण कालीन, (२) प्रयोग कालीन (३) विकास कालीन, और (४) समुन्नति

प्रारम्भ कर दी थी जबकि प्रेमचन्द ने हिन्दी में कहानी लिखना सन् १९१५ से प्रारम्भ किया यद्यपि इससे पूर्व भी प्रेमचन्द ने कहानियाँ लिखी हैं किन्तु उर्दू में। इस प्रकार हिन्दी कहानी-जगत् म प्रसाद भले ही प्रेमचन्द से कुछ ही समय पूर्व अवतरित हुए किन्तु इस क्षेत्र में पहले आने का श्रेय उन्हें ही है। ऐसी स्थिति म इस युग का प्रारम्भ प्रसाद की ही कहानियों के विवेचन से किया जाना चाहिए। प्रसाद की सर्वप्रथम कहानी 'ग्राम' इन्दु नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई। इसके उपरान्त उन्होंने अन्य अनेक उच्च कोटि की कहानियाँ लिखी जिनमें छाया' प्रतिध्वनि' आकाशदीप 'आँधी' 'बिसाती' 'इन्द्रजाल' मधुआ' पुरस्कार 'स्वर्ग के खण्डहर' आदि हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। प्रसाद की कहानियों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए एक आलोचक ने लिखा है— उनकी (प्रसाद की) प्रारम्भिक कहानियों पर बंगला का प्रभाव है किन्तु बाद मे वे अपनी स्वतन्त्र शैली का विकास कर सके। उनके दृष्टिकोण में भावात्मकता की एकांगी होने के कारण उनकी कहानियाँ भी इसी से ओत-प्रोत हैं। उनमे भावनाओं का सूक्ष्म चित्रण वातावरण की सघनता एवं शैली की गम्भीरता अधिक है धूम समस्याओं एवं सरल विचारों का प्रतिपादन उनमें कम हुआ है। प्रसाद जी की कहानियों में रहस्यवाद की अस्पष्टता दर्शन की जटिलता एवं विचारों की दुरूहता के कारण मनोरंजन की मात्रा कम हो गयी है।

तीन सौ से भी अधिक कहानियाँ लिखने वाले मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी कहानी साहित्य के विकास-मार्ग के प्रमुख प्रकाश-स्तम्भ हैं। इनकी सभी कहानियाँ 'मान सरोवर' के ८ भागों मे संकलित हैं। मुंशी जी के कुछ स्फुट कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं जिनमे सप्त-सरोज' 'नव-निधि' प्रेम पचीसी 'प्रेम-पूर्णिमा' 'प्रेम द्वादसी' प्रेम-तीर्थ' सप्त-सुमन' आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनकी सबसे पहली कहानी 'पंच परमेश्वर' है। इसके अतिरिक्त उनकी 'आत्माराम' 'बड़े घर की बेटी' 'शतरंज के खिलाड़ी' वज्रपात' 'रानी सारंधा' 'ईदगाह' पूस की रात' 'सुजान भगत' कफन' 'पं मोटेराम' 'मुक्तिमार्ग' आदि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। प्रेमचन्द ने जनसाधारण के जीवन को अत्यन्त निकट से देखा था इसीलिए उनकी कहानियों म मानव-जीवन के जीवन्त चित्र अंकित हुए हैं। समाज का मध्यम तथा निम्न कोटि का वर्ग उनकी सहानुभूति का विशेष पात्र रहा है। कृषक जीवन को अंकित करने में मुंशीजी को असाधारण सफलता मिली है। उनकी शैली मे ऐसी सरलता स्वाभाविकता एवं रोचकता है कि पाठक के हृदय को वह जीत कर लेती है। एक आलोचक के शब्दों मे 'प्रेमचन्द यथार्थवादी परम्परा के कर्णधार हैं' अतएव इनकी कहानी-कला मे सबरत शिल्पगत प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं जो वस्तुतः कहानी-कला की आधार शिलाएँ हैं। इनके शिल्प-विधान मे कथानक चरित्र और शैली—तीनों मे आकर्षणजन्य सुघड़ता और कला का सहज आकर्षण मिलता है।"

केवल तीन कहानियाँ लिखकर ही अमर हो जाने वाले कहानीकार चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का हिन्दी-कहानी-साहित्य मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी इन तीन कहानियों के नाम हैं— उसने कहा था सुखमय जीवन तथा बुद्ध का काँटा'। 'उसने कहा था नामक कहानी किशोरावस्था मे प्रेमांकुर के विकास तथा त्याग और

पर ये कहानियाँ खरी नही उतरती है। इसी प्रकार जटमल की 'गोरा-बादल की कथा' मे भी कहानी के तत्त्वो का अभाव है। अठारहवी शताब्दी के आरम्भ मे मुशी सदासुखलाल ने 'सुखसागर', लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। किन्तु इन सभी कथाओ मे मौलिकता का नितान्त अभाव है। डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा ने अपने हिन्दी-कहानी-विषयक शोध-प्रबन्ध मे इशा अल्लाहखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी माना है, किन्तु आधुनिक कहानी के तत्त्व इसमे भी उपलब्ध नही होते। आगे चलकर राजा शिवप्रसाद ने 'राजा भोज का सपना' नामक कहानी की रचना की, किन्तु कहानी कला की दृष्टि से इसका भी कोई विशेष मूल्य नही है। राधाचरण गोस्वामी ने 'यमलोक की यात्रा' नाम की कहानी लिखी, किन्तु यह भी रूपक-पद्धति पर रचित है, कहानी के प्रमुख तत्त्व इसमे भी नही पाये जाते। हिन्दी मे कहानी का वास्तविक आगमन भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से होता है।

(क) भारतेन्दु-युग—भारतेन्दु-युग मे सर्वप्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' नामक कहानी की रचना की। यद्यपि यह कहानी कहानी-कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट कोटि की नही कही जा सकती तथापि इसमे कहानी-जैसी रोचकता मिलती है। 'हमीरहठ', 'राजसिंह', 'मदालय', 'सीलवती', 'सुलोचना' आदि इनके और कई आख्यान मिलते हैं परन्तु उनमे भी कहानी के सब तत्त्व विद्यमान नही हैं। प० गौरीदत्त शर्मा इस युग के एक अन्य प्रसिद्ध कहानीकार हैं जिन्होने 'कहानी टका कमानी', 'देवरानी जिठानी की कहानी' जैसी कहानियाँ लिखी। इनकी कहानियो मे उपदेशात्मकता तथा रोचकता है।

(ख) द्विवेदी-युग—'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादन से आधुनिक ढग की कहानियो को जन्म मिला। इसमे सर्वप्रथम किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी प्रकाशित हुई। इस कहानी पर शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' की स्पष्ट छाप है। इसी पत्रिका मे प्रकाशित होने वाली स्वामी जी की दूसरी कहानी 'गुलबहार' है जिस पर बगला शैली का प्रभाव है। बाबू गिरिजाकुमार घोष ने 'पार्वती नन्दन' नाम से तथा एक बगाली महिला ने 'बगमहिला' नाम से अनेक बगला-कहानियो के अनुवाद हिन्दी मे प्रस्तुत किये। द्विवेदी युग मे ही मास्टर भगवानदास ने 'प्लेग की चुडैल', रामचन्द्र शुक्ल ने 'ग्यारह वर्ष का समय', गिरिजादत्त वाजपेयी ने 'पडित और पडितानी' तथा बग-महिला ने 'दुलाई वाली' नामक कहानियो की रचना की और ये सभी कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। वैसे तो आगे चलकर भी 'सरस्वती' मे अनेक कहानियाँ प्रकाशित हुई, किन्तु द्विवेदी-युग की इतिश्री यही समझनी चाहिए।

(ग) प्रेमचन्द-युग—हिन्दी-कहानियो के विकास के इतिहास मे प्रेमचन्द का आविर्भाव एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के कहानीकार जयशकर 'प्रसाद' भी इसी युग मे आते हैं। प्रेमचन्द और प्रसाद ने लगभग साथ ही साथ कहानी लिखना प्रारम्भ किया। बल्कि कहना चाहिए कि हिन्दी-कहानी-क्षेत्र मे प्रसाद प्रेमचन्द से चार वर्ष पूर्व आये, क्योकि प्रसाद ने सन् १९११ ई० मे हिन्दी-कहानियाँ लिखनी

(ख) आधुनिक युग—कहानी क्षेत्र में जैनेन्द्र जी के अवतरित होते ही कहानी के इतिहास का एक नया युग प्रारम्भ हो जाता है। दार्शनिक गम्भीरता बौद्धिकता तथा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवेचन जैनेन्द्र की कहानी कला की प्रमुख विशेषताएं हैं। उन्होंने व्यक्ति के अतिरिक्त जीवन की उथल-पुथल का चित्रण पूर्ण सफलता के साथ किया है। उनकी कहानियों में घटनाओं का प्राय: अभाव रहता है। उनका दृष्टिकोण समाजवादी की अपेक्षा व्यक्तिवादी भौतिकवादी की अपेक्षा अध्यात्मवादी अधिक है। 'वातायन' 'स्पर्धा' 'फाँसी' पाजेब' 'नव सधि' 'एक रात' 'दो चिड़ियां' आदि जैनेन्द्र जी के प्रमुख कहानी-संग्रह हैं। तमाशा 'पत्नी' 'घुंघरू' ब्याह' भाभी' परदेसी 'चलित चित्त' कथम्या आदि कहानियों को अच्छी प्रसिद्धि मिली है।

श्री ज्वालादत्त शर्मा ने थोड़ी कहानियां लिखकर भी हिन्दी कहानी जगत् में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की है। भाग्य चक्र' अनाथ बालिका आदि उनकी उल्लेखनीय कहानियां हैं। जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' के प्रमुख कहानी-संग्रहों के नाम किसलय' 'मृदुदल' मधुमयी' आदि हैं। करुणा रस की मौलिक ढंग से अभिव्यक्ति इनकी कहानियों का प्रधान वैशिष्ट्य है। श्रीचंडीप्रसाद 'हृदयेश' के कहानी संग्रह नन्दन-निकुंज' 'वनमाला' आदि नामो से प्रकाशित हुये हैं। इनका दृष्टिकोण आदर्शवादी रहा है इसीलिए इनकी कहानियों में त्याग सेवा बलिदान जैसी उदात्त वृत्तियों का प्रतिपादन मिलता है।

यथार्थ की कटुता तथा कल्पना की मधुर रंगीनी के सुन्दर समन्वय के लिए श्रीगोविन्दवल्लभ पन्त की कहानियो को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। सियारामशरण गुप्त ने भी कहानी-लेखन में अच्छी सफलता प्राप्त की है। उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी 'झूठ-सच' मानी जाती है। इस कहानी में उन्होंने आधुनिक यथार्थवादी लेखको पर करारा व्यंग्य किया है। उनके कहानी-संग्रह का नाम मानुषी है।

यद्यपि बाबू वृन्दावनलाल वर्मा ने साहित्य जगत् में ख्याति तो मुख्य रूप से उपन्यासकार के ही रूप में पाई है तथापि हिन्दी कहानी के विकास मे भी उन्होंने पर्याप्त योग दिया है। इनकी कहानियां 'कलाकार का दड' नामक संग्रह मे संकलित हैं। इतिहास तथा कल्पना मे इन्होंने सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया है। सरलता और स्वाभाविकता इनकी शैली की मुख्य विशेषता है।

जैनेन्द्र जी के कुछ ही समय बाद हिन्दी-कहानी में मनोविश्लेषण की परम्परा का प्रवर्तन हुआ। यद्यपि इस परम्परा को प्रौढ़ता देने वाले को इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय तथापि भगवती प्रसाद वाजपेयी ने भी अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिक तत्वों का अच्छा उद्घाटन किया है। हिलोर' पुष्करिणी' खाली बोतल' आदि उनके मुख्य कहानी-संग्रह हैं। 'मिठाई वाला' 'भाभी' 'त्याग' बंसी-वादन' आदि उनकी अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की कहानियां हैं। भगवती चरण वर्मा ने अपनी कहानियों मे मनोविश्लेषण के साथ ही साथ मार्मिकता और रोचकता जैसे गुणों का भी समावेश हुआ है। हिन्दी-कहानीकार के रूप मे वर्मा जी को पर्याप्त ख्याति मिली है। इनके कहानी संग्रहों में 'खिलते फूल' 'इन्स्टालमेन्ट' दो बांके' आदि उल्लेख्य हैं। अज्ञेय जी पर

वलिदान की पूत भावना से ओत-प्रोत होने के कारण हिन्दी-कहानी साहित्य का क्रोश-स्तम्भ (mile stone) मानी गयी है। इस कहानी के विषय मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है—"इसमे यथार्थवाद के वीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित है। इसकी घटनाएँ ही वोल रही हैं पात्रो के बोलने की अपेक्षा नही।"

जिस प्रकार प्रेमचन्द उर्दू-लेखन से हिन्दी-क्षेत्र मे प्रविष्ट हुए, उसी प्रकार विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक भी आरम्भ मे उर्दू मे ही लिखते थे। वाद मे ही उन्होने हिन्दी-लेखन को अपनाया। उनकी प्रथम कहानी 'रक्षा वन्धन' है जो १६१३ ई० मे प्रकाशित हुई थी। कहानी-कला मे कौशिक जी प्रेमचद के अनुयायी हैं। इन्होने भी लगभग तीन सौ कहानिया लिखी हैं। इनके कहानी-सग्रहो मे 'गल्प मन्दिर' और 'चित्रशाला' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'वह प्रतिभा' और 'ताई' नामक इनकी कहानियो को वहुत अधिक ख्याति प्राप्त हुई है। इनकी कहानियो मे समाज-सुधार की भावना प्रमुख है। सरसता, सरलता एव रोचकता इनकी शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

कहानी-जगत् प० बद्रीनाथ भट्ट को 'सुदर्शन' को भी वही प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है जो कौशिक जी को। इनकी प्रथम कहानी का नाम 'हार की जीत' है जो सन् १६२० में सरस्वती मे प्रकाशित हुई। 'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थयात्रा', 'पुष्प-लता', 'गल्पमजरी', 'सुप्रभात', 'चार कहानिया', 'नगीना', पनघट' आदि इनके प्रसिद्ध कहानी-सग्रह हैं। 'कमल की वेटी', 'कवि की स्त्री', 'ससार की सबसे बडी कहानी, आदि कहानियाँ उनकी कीर्ति का स्तम्भ है। इनकी कहानियो मे भी प्रेमचद की कहानियो की ही भाति समाज-सुधार की भावना की प्रधानता है। इनकी शैली अत्यन्त सरल और रोचक है।

पाण्डेय वेचन शर्मा उग्र ने हिन्दी-कहानी-जगत् मे आते ही एक क्रान्ति मचा दी। इनकी उग्रता के कारण ही आलोचको ने इनकी उपमा उल्कापात धूमकेतु तूफान ववडर आदि से दे डाली है। उन्होने अपनी रचनाओ मे राजनीतिक परि-स्थितियो सामाजिक रूढियो और राष्ट्र को हानि पहुचाने वाली प्रवृत्तियो के प्रति गहरा विद्रोह व्यक्त किया है। उसकी मा सनकी अमीर जल्लाद आदि उग्र जी की अत्यन्त सुंदर कहानिया हैं। रेशमी इद्रधनुष चिनगारिया वलात्कार दोजख की आग शैतान मण्डली आदि इनके प्रसिद्ध कहानी-सग्रह प्रकाश मे आ चुके हैं। चरित्र-चित्रण मे उग्र जी का ध्यान मनोभावो के चित्रण की अपेक्षा पात्रो के वाह्य स्वरूप की ओर अधिक गया है। इनकी भाषा अत्यन्त सशक्त ओजमयी और प्राजल है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री भी इस युग के प्रसिद्ध कहानीकार हैं। अपनी कहानियो के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों के चित्र प्रस्तुत करना उनका प्रमुख लक्ष्य रहा है। ऐतिहासिक कहानियो में युगानुरूप वातावरण की सृष्टि सुंदर ढग से हुई है। दुखवा कासो कहों, मोरी सजनी, भिक्षुराज, दही की हाडी, दे खुदा की राह पर आदि चतुरसेन जी की प्रसिद्ध कहानिया हैं। रजकण, अक्षत आदि इनके प्रसिद्ध कहानी-सग्रह हैं।

पिछले कुछ वर्षों में जो महत्वपूर्ण कहानी-संग्रह प्रकाश में आये हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—'ठुमरी' (फणीश्वरनाथ रेणु) 'भूदान' (मार्कण्डेय) 'कस्बे का आदमी' (कमलेश्वर) 'हुस्नाबीबी तथा अन्य कहानियाँ' (रामकुमार) 'अभिमन्यु की आत्महत्या' (राजेन्द्र यादव) 'धरती घूम रही है' (विष्णु प्रभाकर) 'वापसी' तथा 'तीन दिन' (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार) 'गीली मिट्टी' (अमृतराय) 'नये बादल' (मोहन राकेश) 'यशपाल की श्रेष्ठ कहानियाँ' (यशपाल) 'जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानियाँ' (जैनेन्द्र) 'पाँच गधे' (रांगेय राघव) 'जमेन बाबू' (मोहनसिंह सेंगर) 'कंटीले फूल लजीले काँटे' (इलाचन्द्र जोशी) 'हम इश्क के बन्दे हैं' (रामानुज लाल श्रीवास्तव) आदि। 'सारिका' 'कादम्बिनी' 'धर्मयुग' 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' 'ग्रामोदय' 'मनोहर कहानियाँ' आदि पत्रिकाओं ने भी हिन्दी कहानी के विकास में बहुत अधिक योग दिया है। आज के कहानीकारों में शिवप्रसाद सिंह मन्नू भण्डारी रमेश बक्षी नरेश मेहता अनन्तकुमार पाषाण मनहर चौहान सत्यप्रकाश संगर लाजसीमोहन रामावतार चेतन आनन्दप्रकाश जैन शैलेश मटियानी मनमोहन सरल श्याम व्यास आदि मुख्य हैं।

जिस प्रकार आज नई कविता के क्षेत्र में विभिन्न प्रयोग चल रहे हैं उसी प्रकार कहानी के क्षेत्र में भी अभिनवात्यभिनव प्रयोग हो रहे हैं। आज का कहानीकार मानव के अन्तःकरण तक प्रविष्ट हो उसके अवचेतन का चित्रण कर रहा है। वह आज के मानव के संघर्षमय जीवन की उलझी अनुभूतियों को यथावत् प्रस्तुत कर देना चाहता है। वह अश्लील और कुत्सित के चित्रण से विचलित नहीं होता। कहने का अभिप्राय यह कि आधुनिक युग का कहानीकार मानव-जीवन के बहुत निकट है। नयी कहानी की विशेषताओं का उल्लेख करते हुये एक आलोचक ने लिखा है—'नई कहानी में आज का युग-बोध है सामाजिक जीवन का पूर्ण प्रतिबिम्ब है आज की प्रति आधुनिक अनुभूति है। उसमें लेखक की वैयक्तिकता महत्त्वपूर्णता तो मिलती ही है, व्यक्ति की अनुभूतियों में गहराई तक जाने की प्रवृत्ति भी है एक बौद्धिक (Intellectual) प्रवीण भी है। यद्यपि वह मध्यवित्तीय होकर कहानी लिखता है पर मूलतः वह मीडियम का ही कार्य करता है—युग की सामान्य प्रवृत्तियों को अपने माध्यम से व्यक्त करना चाहता है। कभी-कभी वह एक पग और भी बढ़ जाता है और जाति धर्म राष्ट्र आदि के संकुचित घेरों को तोड़कर वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में उसके पारस्परिक सम्बन्धों को मनोवैज्ञानिक गहराई के साथ उपस्थित करता है। वह जीवन को उसकी जटिलता तथा कुटिलता में पकड़ पाने और उसे आकार देने को आकुल है। अतः आज की कहानी आधुनिक जीवन की खरी ही तीखी यथार्थ चेतना है क्योंकि कहानीकार जीवन के प्रति ईमानदार है। पर कहीं कहीं असामान्य व्यक्ति की असामान्य मानसिक स्थिति के विश्लेषण की ओर उन्मुख हुआ है मनोविश्लेषण के चक्कर में पड़कर केवल कुण्ठाओं वर्जनाओं और यौन की बात करता है व्यक्तित्व की एकांगिकता के चक्कर में पड़ा है वहाँ उसकी कहानी सार-गर्भित कला बनने की जगह असामान्य मनोविज्ञान का अध्ययन बन गई है।

फ्रायड की मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का प्रभूत प्रभाव है। इनके प्रमुख कहानी-सग्रहो मे 'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात', 'जयदोल' आदि के नाम आदर के साथ लिये जा सकते हैं। इलाचन्द्र जोशी के प्रमुख कहानी-सग्रहो के नाम हैं—'रोमाटिक छाया', 'आहुति', 'दीवाली और होली' आदि। मनोवैज्ञानिक तत्वो का उद्‌घाटन अत्यन्त मर्मस्पर्शी रूप मे करना इनकी बहुत बडी विशेषता है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने अपनी कहानियो की रचना सामाजिक विषयो को लेकर की है। 'पिंजरा', 'पाषाण', 'मोती', 'दूलो', 'मरुस्थल', 'गोखरू' 'खिलौने', 'चट्टान' 'जादूगरनी', 'चित्रकार की मौत' आदि उनकी कहानियो को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई है। 'अश्क' जी की कहानियो मे विषय-वस्तु, शैली तथा रोचकता वैसी ही है जैसी प्रेमचन्द की कहानियो की। आधुनिक समाज की विशेषताओ पर तीखा व्यग्य करने वाले श्री यशपाल कहानी-जगत् के लब्ध-प्रतिष्ठ कलाकार हैं। 'हलाल का टुकडा' 'कुछ न समझ सका', 'पराया सुख', 'ज्ञानदान'' 'बदनाम', 'जबरदस्ती' आदि उनकी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

चन्द्रगुप्त विद्यालकार के कहानी-सग्रहो 'चन्द्रकला', 'अमावश' आदि तथा रामप्रसाद 'पहाडी' के कहानी सकलनो पर 'सडक पर', 'मौली', 'बरगद की जडे' आदि ने भी हिन्दी-कहानी-साहित्य की पर्याप्त श्रीवृद्धि की है।

जी० पी० श्रीवास्तव, हरिशकर शर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड, बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानन्द, मिर्जा अजीम बेग चुगताई, जयनाथ'नलिन' आदि ने हास्य-रस की कहानिया लिखकर हिन्दी कहानी-विकास मे बहुत बडा योग दिया है। 'गुदगुदी', 'भडाम सिह शर्मा', 'पिकनिक', 'लतखोरीलाल' आदि जी०पी० श्रीवास्तव की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं ? अन्नपूर्णानन्द की कहानियो मे 'मेरी हजामत', 'महाकवि चच्चा', 'मगन रहु चोला आदि उल्लेखनीय हैं। इनका हास्य श्रीवास्तव जी की कहानियो की अपेक्षा अधिक परिष्कृत स्तर का है। 'गीदड का शिकार', 'लेफ्टिनेन्ट', 'कोलतार' आदि मिर्जा जी की कहानिया हैं। 'नलिन' जी के कहानी-सग्रह 'नवाबी सनक', 'शतरज के मोहरे', 'जवानी का नशा', 'टीलो की चमक' आदि नामो से प्रकाशित हुए हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी, विष्णु प्रभाकर, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, अचल, गजानन माधव मुक्तिबोध, जिज्ञासु, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवपूजन आदि इस युग के अन्य लब्ध प्रतिष्ठ कहानीकार हैं।

हिन्दी-कहानी को आगे बढाने मे महिला लेखिकाओं ने भी पर्याप्त सहयोग दिया है। स्त्री-कहानीकारो मे सुभद्राकुमारी चौहान, उमा नेहरू, शिवरानी देवी तेज रानी पाठक, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मलिक, कमलादेवी चौधरानी, महादेवी वर्मा, चन्द्रप्रभा, तारा पाँडेय, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, रामेश्वरी शर्मा, पुष्पा महाजन, विद्यावती शर्मा आदि के नाम आदरपूर्वक लिये जा सकते हैं। 'इनकी कहानियो मे प्राय पारिवारिक जीवन और हिन्दू समाज में नारी की दारुण स्थिति के चित्र हैं फिर भी वे जीवन के उस गरिमामय द्वन्द्व को उस व्यापक दृष्टि से नही आंक सकी है जैसा कि विश्व की महान् कहानी लेखिकाओ ने ... है।"

८१

हिन्दी-निबन्ध स्वरूप एवं विकास

१ निबन्ध की विभिन्न परिभाषाएँ तथा उनका विश्लेषण
२ निबन्ध की प्रमुख विशेषताएँ
३ निबन्धों का वर्गीकरण
४ हिन्दी-निबन्धों का विकास—(अ) भारतेन्दु युग (आ) द्विवेदी युग (इ) शुक्ल युग (ई) आधुनिक युग
५ उपसंहार

निबन्ध की विभिन्न परिभाषाएं तथा उनका विश्लेषण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबन्ध को अत्यन्त प्रौढ़ प्रतिभा की सृष्टि स्वीकार करते हैं। उनका कथन है— 'यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।' साहित्य में निबन्ध का इतना अधिक महत्त्व देखकर हृदय में यह जिज्ञासा स्वत ही जागृत होती है कि 'वस्तुत' निबन्ध है क्या। निबन्ध का शाब्दिक अर्थ तो 'बाँधना' अथवा 'रोकना' है, किन्तु आज हिन्दी-साहित्य में यह शब्द अंग्रेजी 'एसे' (Essay) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अनेक पाश्चात्य एवं प्राच्य विद्वानों ने 'निबन्ध' अथवा 'एसे' की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। आधुनिक निबन्ध के जनक मोन्ताइन का कथन है— निबन्ध विचारों उद्धरणों और कथाओं का मिश्रण है। मोन्ताइन स्पष्ट ही निबन्ध को क्रमबद्ध स्वीकार नहीं करते। डॉ जानसन ने भी निबन्ध की असम्बद्धता का उल्लेख करते हुये लिखा था— 'निबन्ध मन का आकस्मिक और उच्छृंखल आवेग—असम्बद्ध और चिन्तनहीन बुद्धि विलास मात्र है।' एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् ने तो निबन्ध को बड़ी ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। उसके विचार से निबन्ध साहित्य की अत्यन्त हल्की और छिछली विधा है। उसके शब्द हैं— निबन्ध लेखन-कला का बहुत प्रिय साधन है। जिस लेखक में न प्रतिभा है और न ज्ञान-वृद्धि की जिज्ञासा वही निबन्ध-लेखन में प्रवृत्त होता है। तथा विविधता एवं हल्की रचनाओं में आनन्द लेने वाला पाठक ही उसे पढ़ता है।

अब तक जितने भी विद्वानों की परिभाषाएँ दी जा चुकी हैं उनमें से एक ने भी निबन्ध को गम्भीर साहित्य-विधा के रूप में नहीं स्वीकार किया है। वे सभी निबन्ध में असम्बद्धता तथा हल्केपन को उसके आवश्यक तत्त्वों के रूप में मानते हैं।

उपसंहार

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी-कहानी ने बहुत अधिक प्रगति की है। उसकी वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि वह शीघ्र ही हिन्दी-साहित्य मे शीर्षस्थ स्थान प्राप्त कर लेगी, किन्तु आधुनिक हिन्दी-कहानी के विषय मे ठाकुरप्रसाद सिंह ने जो चेतावनी दी है, उसे याद रखना आवश्यक है। उन्होंने कहा है—'हिन्दी के कथा-साहित्य ने बड़ी ही तन्मयता से अपना कार्य पूरा किया है, उत्तरदायित्व का ज्ञान उसे अपेक्षाकृत और शैलियो से अधिक रहा है। यद्यपि प्रेमचद का कोई व्यक्तित्व इस बीच नही हुआ किन्तु समस्याओ का निराकरण बड़ी ही शक्ति से किया गया है। आज आवश्यकता है कि समाज-शक्ति वर्तमान कुण्ठा का स्थान शीघ्र से शीघ्र ले। जीवन की व्याख्या के नये मूल्यो के प्रति विश्वास की भावना और दृढ होने से यह सम्भव हो सकेगा।'

विश्व की तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु भी निबन्ध का विषय बन सकती है हाँ ! उसके लिये आवश्यक यह है कि उसका प्रतिपादन साहित्यिक स्तर पर होना चाहिये और निबन्धकार अपने हृदय की तरल अनुभूतियों का उसमें योग देता चले।

निबन्ध की प्रमुख विशेषताएं

बाबू गुलाबराय ने निबन्ध की विशेषताओं का उल्लेख करते हुये लिखा है—

(१)—निबन्ध अपेक्षाकृत आकार मे छोटी गद्य रचना के रूप मे होता है। अधिकाश निबन्ध गद्य में ही लिखे जाते हैं परन्तु कुछ निबन्ध पद्य में भी लिखे गये हैं, जैसे— Popes Essay on man और महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'हे कविते' नामक निबन्ध। निबन्ध के आकार की कोई सीमा नही निर्धारित की जा सकती। वह बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी।

(२) निबन्ध में लेखक के निजीपन और व्यक्तित्व की झलक होती है। साहित्य की अन्य विधाओं में लेखक का व्यक्तित्व कुछ अशो तक ओझल रह सकता है किन्तु निबन्ध म नही। कारण यह है कि निबन्ध म लेखक जो कुछ लिखता है उसको अपने निजीपन के अनुरूप अथवा अपने विशेष दृष्टिकोण से लिखता है। उसमें उसके व्यक्तिगत अनुभव रहते हैं।

(३) निबन्ध मे अपूर्णता और स्वच्छन्दता के रहते हुये भी वह स्वत पूर्ण होता है। उसे कुछ अंशो में गद्य या मुक्तक काव्य भी कह सकते हैं जिसमें प्रगीत काव्य का निजीपन और तन्मयता रहती है। जिस प्रकार कहानी जीवन के अ श की झांकी है, उसी प्रकार निबन्ध भी जीवन का एक दृष्टिकोण है। वह जीवन की एक नई झलक लेकर आता है। उसके लिए यह आवश्यक नही कि वह विषय का पूर्ण प्रतिपादन ही करे। वह अपनी रुचि के अनुसार विषय का कोई एक पक्ष चुन लेता है।

(४) निबन्ध साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक और सजीव होता है। वह केवल कथनमात्र न होकर लेखक की प्रतिभा की चमक-दमक से पूर्ण होता है। यहाँ तक कि दार्शनिक या सैद्धान्तिक निबन्ध दर्शन और सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक सजीव होता है। उसमे उत्तम शैली का उभार लाने के लिये ध्वनि हास्य व्यग्य लाक्षणिकता और कुछ चमत्कारो का प्रयोग भी होता है। वह अपनी प्रतिभा से सामान्य विषय को भी असामान्य और नगण्य को महान् बना देता है।

(५) निबन्ध को हम गद्य मे अभिव्यक्ति एक प्रकार का 'स्वगत भाषण' भी कह सकते हैं। निबन्ध म लेखक का व्यक्तित्व प्रधान होने के कारण ऐसे निबन्धो को साहित्य क अन्तर्गत ग्रहीत नही किया जा सकता जिनमे दार्शनिक वाद-विवाद विधान अथवा राजनीति का तथा विवेचन किया गया हो कि उसमे लेखक का व्यक्तित्व प्रतिफलित न हो सका हो। इसलिय आत्म-निवेदन अथवा निजी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति म ही निबन्ध कला का चरम उत्कर्ष माना गया है। इसम लेखक को अपनी वैयक्तिक प्रतिभा के प्रकाशन का पूर्ण अवसर मिलता है।

इन सभी विद्वानो के विपरीत वेकन तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान् निवन्ध को अत्यन्त गम्भीर विचारो की अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करते हैं।

निवन्ध के विषय मे उपर्युक्त दो आत्यन्तिक विरोधी धारणाओ से एक प्रश्न स्वत ही हमारे मन मे आता है और वह यह कि इन दोनो ही प्रकार की धारणाओ मे कौन सी धारणा उपयुक्त है, अथवा क्या दोनो ही प्रतिवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य है ? यदि हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि निवन्ध अत्यन्त हल्का तथा असम्बद्ध होता है तो फिर एक निवन्ध और पागल के प्रलाप मे कोई अन्तर न रह जायेगा और निवन्ध को गम्भीरतम विचारो की अभिव्यक्ति मान लेने पर निवन्ध और दर्शन शास्त्र मे भेद करना कठिन हो जायेगा। जहाँ हम 'साहित्यिक निवन्ध' की चर्चा करते हैं, वहाँ हम उसमे एक तत्त्व को स्वय ही स्वीकार कर लेते हैं। यह तत्त्व भाव तत्त्व है जिसका साहित्य की लगभग प्रत्येक विधा मे होना अपरिहार्य माना गया है। ऐसी स्थिति मे साहित्यिक निवन्ध मे भावो का प्रतिपादन होते हुये भी उसमे भावोत्तेजना की क्षमता होनी आवश्यक है। निवन्ध में भावोत्तेजना तभी आ सकती है जवकि लेखक ने उसके लेखन मे अपनी रागात्मक अन्तवृत्तियो का योग दिया हो। यही कारण है कि निवन्ध मे लेखक के व्यक्तित्व का होना अनिवार्य स्वीकार किया गया है। यदि निवन्ध पर लेखक के व्यक्तित्व की छाप न पडी तो वह निर्जीव हो जायेगा। व्यक्तित्व की प्रधानता के कारण ही निवन्ध मे तीन वातो की समाहिति आवश्यक मानी गयी है—(१) वैयक्तिक अनुभूतियो से समन्वित विचारो का प्रतिपादन (२) पाठक के मस्तिष्क को ही नही, उसके हृदय को गुदगुदाने की क्षमता, (३) साहित्यिक गुणो से कुछ लोगो का यह भ्रम है कि विचारात्मक निवन्ध पाठक के केवल मस्तिष्क को ही छूते हैं, वे उसके हृदय का स्पर्श नही करते। "साहित्य की श्रेणी मे आने वाले निवन्ध चाहे कितने ही गभीर या गभीर विषय पर क्यो न हो, वे हमारे हृदय की भाव-वीचियो को अवश्य उद्वेलित करते है। वे औत्सुक्य, चिन्ता, वितर्क, विवोध, हर्ष आदि सचारियो को उद्दीप्त करते हुये उस भाव-दशा का विकास करते हैं जिसे रस-सिद्धान्त के आचार्यों ने 'शान्त-रस' कहा है। बौद्धिक विपयो की भावात्मक अनुभूति या पूर्ण तन्मयता का नाम ही शान्त-रस है जो उत्कृष्ट साहित्यिक निवन्धो द्वारा प्राप्य है।"

प्रस्तुत सभी बातो को ध्यान मे रखते हुये हम वाबू गुलाबराय द्वारा दी गयी निवन्ध की परिभाषा को आदर्श-रूप में स्वीकार कर सकते हैं। उनके विचारानुसार निवन्ध की परिभाषा है—"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते है जिसमे सीमित आकार के भीतर किसी विपय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सगीत और सम्वता के साथ किया गया हो।"

साहित्यिक निवन्ध के विषय मे वात करते समय एक प्रश्न और हमारे समक्ष आता है। प्रश्न है, क्या साहित्यिक निवन्ध में साहित्यिक विषय ही लिये जा सकते हैं अथवा विषयो का चयन राजनीति, समाज-शास्त्र आदि से भी किया जा सकता है ? उत्तर वडा ही स्पष्ट है। निवन्ध का विपय कहीं से भी लिया जा सकता है,

ये सभी प्रकार के निबन्ध अनेक प्रकार की शैलियों में लिखे जाते हैं। वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक निबन्धों के लिये व्यास-शैली का आश्रय लिया जाता है विचारात्मक निबन्धों में समास-शैली तथा भावात्मक निबन्धों में धारा-शैली तरंग-शैली तथा विक्षेप-शैली को अपनाया जाता है। उद्दिष्ट निबन्धों के लिए उद्दिष्ट प्रकार की शैली को अपनाया ही जाय यह कोई अकाट्य नियम नहीं। निबन्धकार किसी भी प्रकार के निबन्ध के लिए किसी भी प्रकार की शैली को अपना सकता है। अब तक प्रायः निबन्धकार जिस प्रकार के निबन्ध के लिये जिस प्रकार की शैली को अपनाते रहे हैं उसी का उल्लेख करना यहाँ पर प्रयोजन है। व्यास-शैली में विषय का विस्तार से वर्णन किया जाता है। समास-शैली में लेखक विषय को कम-से-कम शब्दों में समाहित कर देना चाहता है। धारा शैली में भावों की धारा प्रवाहमय रहकर प्रायः एक गति से चलती है किन्तु तरंग-शैली में वे भाव लहराते हुए प्रतीत होते हैं—तरंग की भाँति उठते और गिरते प्रतीत होते हैं। विक्षेप शैली में वह कुछ-कुछ उखड़ी हुई रहती है, उसमें तारतम्य और नियंत्रण का अभाव रहता है।

हिन्दी निबन्धों का विकास

निबन्ध हिन्दी साहित्य की अत्यंत नूतन विधा है। संस्कृत-वाङ्मय में इस साहित्य विधा के कहीं बीज तक नहीं दिखायी देते। वस्तुतः हिन्दी में निबन्ध का विकास पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित होकर हुआ है। यही कारण है हिन्दी-निबन्ध भारतेन्दु से पूर्व दिखलायी नहीं पड़ता।

(अ) भारतेन्दु-युग—भारतेन्दु के साहित्य-जगत् में प्रवेश करते ही देश में सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना उदित हुई। परिणामतः साहित्य के क्षेत्र में विभिन्न नयी विधाओं का जन्म हुआ। निबन्ध भी इसी युग में अस्तित्व में आया। इस युग के अधिकांश निबन्धकार विभिन्न पत्रिकाओं के सम्पादक भी थे अतः उन्होंने स्वयं तो निबन्ध लिखे ही औरों को भी निबन्ध-लेखन के लिये प्रोत्साहित किया।

भारतेन्दु जी ने जिस प्रकार अपनी सशक्त लेखनी से साहित्य की अन्य विधाओं को सम्पन्न बनाया उसी प्रकार उन्होंने निबन्ध-साहित्य की श्रीवृद्धि में भी बहुत बड़ा योग दिया है। भारतेन्दु जी के अधिकांश निबन्ध 'भारतेन्दु मैगजीन' 'कविवचनसुधा' तथा 'बालबोधिनी' पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। 'नाटक या दृश्यकाव्य' 'हिन्दी भाषा' 'अंग्रेजों से हिन्दुस्तानियों का जी क्यों नहीं मिलता' 'स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन' 'परिहास' 'वैष्णवता और भारतवर्ष' 'ईशू ख्रिष्ट या ईश कृष्ण' 'हिन्दी कुरानशरीफ' 'वैष्णव सर्वस्व' 'अष्टादश पुराण की उपक्रमणिका' 'पाँच पंच स्तोत्र' 'कंकड़ स्तोत्र' आदि भारतेन्दु जी के प्रसिद्ध निबन्ध हैं। निबन्ध-लेखन में उनका दृष्टिकोण प्रचारात्मक अधिक रहा है साहित्यिक कम। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों पर करारा व्यंग्य प्रहार करना भारतेन्दु जी का मुख्य लक्ष्य रहा है। उनकी भाषा-शैली के विषय में डॉ॰ केसरीनारायण शुक्ल ने लिखा है—"भारतेन्दु जी शैलियों के विविध प्रयोग उनके वर्णनात्मक और व्यंग्यात्मक निबन्धों में देखने को मिलते हैं। उनकी आलंकारिक शैली और प्रवाह शैली के दर्शन

प्रो० जयनाथ 'नलिन' ने निवन्ध की विशेषताओ पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि निवन्ध का कोई निश्चित विषय नही होता। सभी स्थानो पर निवन्ध स्वतंत्रता विचरण कर सकता है। 'सर्व भूमि गोपाल की जामे अटक कहा' वाली वात निवध विषय मे स्वत सिद्ध है। निवन्ध मे महत्त्व विषय का नहीं, उस आत्मा का है जो ील रही है, उन प्राणो का है जो उसमे सक्रिय है। निवन्ध नमक-मिर्च पर भी लिखा ा सकता है और कृष्ण महाराज की कपडे की कगाली पर भी जो फुटपाथो पर डी अनेक द्रौपदियो को एक इच कपडा भी नही दे सकता। निबन्ध के स्वरूप की दूसरी विशेषता है—आकार-लघुता। निवन्ध सामान्यत पन्द्रह-वीस पृष्ठो के आकार का होता है, अधिक वडा निबन्ध, निवन्ध न होकर प्रबन्ध हो जायगा। तीसरी विशेपता है—निवन्ध मन के स्वाधीन विचरण एव चिन्तन पर आधारित होता है। इसी को दूसरे शव्दो मे लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यजना कह सकते हैं। चौथी विशेषता है—निवन्ध की शैली मे सक्षिप्तता, रोचकता एव व्यग्यात्मकता का होना।

उपर्युक्त दोनो विद्वानो द्वारा प्रस्तुत की गयी निवन्ध की विशेषताओ मे कोई मौलिक अन्तर न होने के कारण, इन्हें वहुमत से स्वीकार किया जा सकता है।

निवन्धो का वर्गीकरण

निवन्धो को सामान्यत चार कोटियों में विभक्त किया जाता है—(१) वर्णनात्मक, (२) विवरणात्मक, (३) विचारात्मक तथा (४) भावात्मक। वर्णनात्मक निवन्धों मे प्राकृतिक उपकरणो तथा भौतिक पदार्थों को स्थिर रूप मे देखकर वर्णन कर दिया जाता है। विवरणात्मक निवन्धो के वर्ण्य-विषय आखेट, पर्वतारोहण, साहसपूर्ण कार्य आदि होते हैं। एक आलोचक ने वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक निवन्धो मे अन्तर करते हुए लिखा है—वर्णनात्मक निबन्धो मे प्राय॰ भूगोल, यात्रा, वातावरण, ऋतु, तीर्थ, दर्शनीय स्थान, मेले-तमाशे, पर्व-त्यौहार, सभा सम्मेलन आदि विषयो का वर्णन होता है जवकि विवरणात्मक मे किसी वृत्तान्त या घटना का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। वर्णनात्मक निवन्धो मे दृश्यो का चित्रण अधिक होता है जवकि विवरणात्मक मे घटनाओ का। वर्णनात्मक में स्थानगत वर्णन होता है जवकि विवरणात्मक मे कालगत, दूसरे शव्दो में वर्णनात्मक निवन्ध में अधिकतर स्थिर क्रियाहीन पदार्थ का चित्र रहेगा जवकि विवरणात्मक मे क्रियाशीलता का। अत वर्णनात्मक और विवरणात्मक मे मोटा भेद घटनात्मकता या कथात्मकता का होता है।" विचारात्मक निवन्धो मे वौद्धिक विवेचन का प्राधान्य रहता है। आचार्य शुक्ल के शव्दों मे—'शुद्ध विचारात्मक निवन्धो का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ मे विचार दवा-दवाकर ठूँसे गये हो और एक-एक विचार किसी सम्वद्ध विचार-खण्ड को लिए हो।" भावात्मक निवन्धो मे रागात्मकता का प्राचुर्य रहता है। यो तो विचारात्मक निवन्ध मे भी रागात्मकता रहती है और भावात्मक निवन्ध मे भी वौद्धिक विवेचन, किन्तु इन दोनो प्रकार के निवन्धो मे अन्तर यह है कि विचारात्मक निवन्धो मे विचार अधिक और हार्दिकता कम मात्रा मे होती है जवकि भावात्मक निवन्धो मे भाव का अश अधिक और विचार-तत्त्व न्यून होता है।

इस युग के निबंध-लेखकों की शैली का विश्लेषण करते हुए एक आधुनिक आलोचक ने कहा है— वस्तुतः भारतेन्दु-युग के सभी निबंधकारों में वैयक्तिकता के साथ-साथ सामाजिकता का समन्वय मिलता है। उनके विषय-क्षेत्र में व्यापकता और विविधता मिलती है। हास्य और व्यंग्य का पुट उन्होंने दिया है किन्तु यह हास्य और व्यंग्य सोद्देश्य है— उसका उद्देश्य किसी सामाजिक या राजनीतिक विषमता पर चोट करना है। गूढ़ से गूढ़ विषयों को भी इस युग के लेखकों ने सरल सुबोध एवं मनोरंजक शैली में प्रस्तुत किया है। उनकी भाषा-शैली में व्याकरण की दृष्टि से स्वच्छता या शुद्धता भले ही न हो किन्तु पाठक के हृदय को गुदगुदाने उसके मस्तिष्क को झंकृत करने व उनकी आत्मा को स्पर्श करने में वह पूर्णतः समर्थ है। उनके निबंध शुद्ध वैज्ञानिक निबंध नहीं अपितु वे आदर्श साहित्यिक निबंध हैं जिनमें विचारों के साथ-साथ भावनाओं का भी उद्वेलन होता है।

(आ) द्विवेदी-युग—द्विवेदी-युग के निबंधों में गम्भीरता एवं शालीनता आने लगी और उनका मुख्य सम्बंध सभ्य एवं शिक्षित समाज से हो गया। द्विवेदी जी ने भाषा का संस्कार करके उसे भावाभिव्यंजन की शक्ति से समन्वित किया और अपने समय के लेखकों को शिष्ट संस्कृत एवं व्याकरण-सम्मत भाषा में विचारों को व्यक्त करने की प्रेरणा दी। इस युग में अनेक प्रकार के निबंध लिखे गए, जैसे सामयिक सामाजिक, विचारात्मक साहित्यिक आलोचना-सम्बंधी आदि।

द्विवेदी जी ने निबंध-लेखन में बेकन के आदर्श को अपने सामने रखा। साथ ही बेकन विचार-रत्नावली के नाम से बेकन के निबन्धों का अनुवाद भी किया। आलोचनात्मक साहित्यिक निबंधों का सूत्रपात द्विवेदी जी के निबंधों से आरम्भ होता है। कविता' 'कवि और कविता' 'कवि-कर्तव्य 'उपन्यास 'नाटक' 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' जैसे साहित्यिक निबंधों में भी द्विवेदी जी ने अत्यन्त साधारण एवं सरल शैली को अपनाया है। उन्होंने कुछ ऐसे निबंध भी लिखे हैं जिनमें सरसता रोचकता और भावमयता के साथ आत्मीयता भी दृष्टिगत होती है। ऐसे निबंधों में नल का दुस्तर दूत-कार्य' 'हंस सन्देश 'गोपियों की भगवद् भक्ति' 'प्रभु देव का आत्मनिवेदन' आदि मुख्य हैं। द्विवेदी जी की व्यंग्यात्मक शैली देखते ही बनती है। 'कवि और कविता लेख में छायावादी लेखकों पर तीक्ष्ण व्यंग्य-बाण छोड़ते हुए वे लिखते हैं – 'छायावादियों की रचना तो कभी-कभी समझ में भी नहीं आती। ये बहुधा बड़े ही विलक्षण छन्दों या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छ पदे कोई ग्यारह पदे तो कोई तेरह पदे। किसी की चार सतरें गज-गज लम्बी तो दो सतरें दो ही अंगुल की फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधंधा हो जाती है न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवाह करने वाले। इनका मूल-मन्त्र है—हम चुनी दीगरे नस्त। द्विवेदी जी की शैली में विषय के अनुरूप गम्भीरता भी बहुत है। उदाहरण के लिए उनके 'मेघदूत' नामक निबन्ध से ये पंक्तियाँ दी जा सकती हैं—"कविता

भी यही होते हैं। प्रत्येक परिस्थिति, पात्र और भाव के अनुरूप अभिव्यजन की क्षमता उनमे पूरी-पूरी थी। इसी से उनके निवधो मे कही चलती भाषा की छटा दिखायी पडती है, कही मुहावरो की वदिश है और कही शब्द-क्रीडा या चमत्कार की प्रवृत्ति है।"

प० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी-प्रदीप' नामक पत्रिका के सम्पादक के साथ ही साथ वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक एव भावात्मक सभी प्रकार के निवध भी लिखे। इनके प्रमुख निवधो के नाम हैं—'मेला-ठेला', 'वकील', 'सहानुभूति', 'आशा', 'खटका', 'इगलिश पढे तो बाबू होय।', 'रोटी तो किसी भाँति कमा खाय 'मुछन्दर', 'आत्म-निर्भरता', 'माधुर्य', 'शब्द की आकर्षण शक्ति', 'चन्द्रोदय' आदि। 'साहित्य सुमन', भट्ट निबधावली', 'भट्ट निवधमाला' आदि भट्ट जी के निवध-सग्रह हैं। इन्होंने अपने निबधो में विनोद-प्रियता को अच्छा स्थान दिया है। जटिल विषय को सरल ढग के अभिव्यक्ति कर देने की इनकी शैली रही है विश्लेषणात्मक, भावात्मक, व्यग्यात्मक आदि कई प्रकार की शैलियो का इन्होने आश्रय लिया है

प्रतापनारायण मिश्र 'ब्राह्मण' के सम्पादक थे। उन्होने इस पत्रिका का सम्पादन भी किया और निवध भी लिखे। उनके निबधो के विषय विविध हैं। 'भौं', 'दाँत', 'पेट', 'पुच्छ', 'नाक', 'वृद्ध', 'प्रताप-चरित', 'दान', 'जुआ', 'अपव्यय', 'नास्तिक', 'ईश्वर की मूर्ति', 'शिव, मूर्ति', 'सोने का डडा', 'मनोवेग', 'वात', आदि उनके अत्यत प्रसिद्ध निवध हैं। कहावतो और मुहावरो के प्रयोग तथा अनुप्रास और श्लेष के चमत्कार से वे अपने पाठक के साथ पूर्ण आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। उनके 'वात' नामक निवध मे मुहावरो की झडी देखते ही वनती है—'डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से वात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त वात बनती है, बात बिगडती है, बात आ पडती है, बात जाती रहती है, वात जमती है, बात उखडती है, बात खुलती है, वात छिपती है, वात चलती है, वात अडती है ।' आदि।

भारतेन्दु जी के मित्र चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन', 'आनद कादम्विनी' (मासिक) और 'नागरी-नीदर' (साप्ताहिक), इन दो पत्रिकाओ के सम्पादक थे। इन्हीं पत्रिकाओ मे उनके निवध भी प्रकाशित हुए। 'नेशनल कांग्रेस की दुर्दशा', 'भारतीय प्रजा के दल', हिन्दी भाषा का विकास', 'परिपूर्ण प्रवास', उत्साह-आलम्वन' आदि उनके अत्यत प्रसिद्ध निवध हैं। इनकी शैली मे काव्यमयता और आलकारिकता वहुत अधिक है।

वालमुकुन्द गुप्त ने भी 'वगवासी', 'भारत मित्र' आदि पत्रिकाओ का सपादन कार्य भी किया और निवध भी लिखे। निवध-लेखन मे इन्होंने अपना उपनाम 'शिव-शम्भू' रखा।' इनके निवध 'शिव-शम्भू' का चिट्ठा' नाम से प्रसिद्ध हैं। विदेशी शासको पर इन्होंने वडे ही मीठे व्यग्य कसे हैं।

भारतेन्दु-युग के अन्य निवधकारो मे राधाचरण गोस्वामी, श्रीनिवासदास, अम्बिकादत्त व्यास आदि ने भी अच्छी ख्याति अर्जित की है।

"चिंतामणि' के निबन्धों का विषय अत्यंत सूक्ष्म एवं गम्भीर—मनोविज्ञान एवं रसानुभूति है तथा उनका प्रतिपादन भी प्रौढ़तम शैली में हुआ है। उनमें एक ओर चिंतन की मौलिकता विवेचन की गम्भीरता विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं शैली की प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है तो दूसरी ओर उनमें लेखक की वैयक्तिकता भावात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता का दर्शन भी स्थान-स्थान पर होता। उनके निबन्धों में व्यक्ति एवं विषय का ऐसा सफल समन्वय हुआ है कि इस बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उन्हें व्यक्ति प्रधान कहें या विषय प्रधान ? ईर्ष्या श्रद्धा लज्जा क्रोध लोभ आदि मनोवृत्तियों का विश्लेषण उन्होंने अत्यंत पैनी दृष्टि से किया है। इन निबन्धों में एक ओर उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का परिचय मिलता है तो दूसरी ओर उनका समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण भी स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। एक मनोवैज्ञानिक समाज शास्त्री एवं साहित्यकार दोनों के कार्य भार का निर्वाह अकेले शुक्ल जी ने 'चिंतामणि' में सफलतापूर्वक किया है।

यदि शुक्ल जी की प्रौढ़ प्रतिभा एवं स्वतन्त्र चिंतन को देखना हो तो उनके 'कविता क्या है ? साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' 'रसात्मक बोध के विविध रूप' 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' नामक निबन्धों को देखा जा सकता है। साधारणीकरण की समस्या को शुक्ल जी ने संस्कृताचार्यों की परम्परा से हटकर अपने ढंग से सुलझाया है।

शुक्ल जी की निबन्ध-शैली के विषय में एक आलोचक का मत है—"निबन्धकार शुक्ल जी की शैली में भी निजी विशिष्टता मिलती है। भारतेन्दु-युग की सी मौलिकता उसमें है किन्तु वे उसके छिछलेपन से दूर हैं। द्विवेदी-युग की सी विचारात्मकता उसमें है किन्तु वैसी शुष्कता का उनमें अभाव है। विचारों की गम्भीर कड़ियों के बीच-बीच में उतरती हास्य-व्यंग्य से ओत-प्रोत उक्तियाँ किसी स्वच्छ शीतल निर्झर के कोमल-मधुर कल-कल-कल स्वर की तरह सुनाई पड़ती हैं। वस्तुतः गम्भीर विषयों के निबंधों के लिये शैली के जिन गुणों की अपेक्षा हम करते हैं शुक्ल जी की शैली में वे सभी गुण पाये जाते हैं। उनके कुछ निबन्ध अत्यंत गम्भीर प्रौढ़ एवं सूक्ष्म होने के कारण सामान्य पाठकों के लिये दुरूह अवश्य हो गये हैं।

निबन्धकार के रूप में बाबू गुलाबराय ने पर्याप्त कीर्ति अर्जित की है। उनके निबंध-संग्रहों में 'फिर निराशा क्यों ?' 'मेरी असफलताएँ' तथा 'मेरे निबंध' को बहुत अधिक प्रसिद्धि मिली है। व्यक्तित्व की सरलता अनुभूति का सम्मिश्रण विचारों की स्पष्टता एवं भाषा की सुबोधता उनके निबंधों की प्रमुख विशेषताएं हैं। उनकी शैली में हास्य और व्यंग्य का पुट स्थान-स्थान पर मिलता है। किन्तु इस हास्य अथवा व्यंग्य का लक्ष्य उन्होंने किसी अन्य को नहीं बरन् अपने ही को बनाया है। उदाहरण के लिये 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ' से कुछ पंक्तियां यहाँ प्रस्तुत हैं—"खैर, फाउंटेन पेन (मैन) का दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी पिला न सकने की विवशता की अनुभव के होते हुए भी उसके लिये भूसा लाना अनिवार्य हो जाता है। वहाँ साधारणीकरण और अभिव्यंजनावाद की चर्चा और कहाँ भूसे का भाव ! भूसा शरीर पर भूसे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है, जैसे बहुत से

कामिनी के कमनीय नगर मे कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य भवन के सदृश है, जिसमे पद्य-रूपी अनमोल रत्न जडे हुए हैं—ऐसे रत्न जिनका मोल ताजमहल मे लगे हुए रत्नो से भी कही अधिक है।"

द्विवेदी-युग के निबध-लेखको मे प० माधवप्रसाद मिश्र का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। मिश्र जी पुरानन सस्कृति और सनातन धर्म के सच्चे समर्थक थे। देश के प्रति उनके हृदय मे अगाध अनुराग था। यही कारण है कि उन्होने अपने अधिकांश निबध धार्मिक विपयो पर लिखे। 'रामलीला', 'पर्व-त्योहार', 'तीर्थस्थान' आदि ऐसे ही निबध हैं। 'धृति', 'क्षमा' जैसे विचारात्मक निबध लिखने मे भी उनको पर्याप्त सफलता मिली है। उनकी भाषा सस्कृत-गर्भित, प्रौढ एव सशक्त है।

गोविन्दनारायण मिश्र की शैली अलकार-बहुला एव सस्कृतमयी होने के कारण पर्याप्त दुरूह हो गई है। साहित्य की परिभाषा दते हुए उन्होने लिखा है—'मुक्ताहारी नीर-क्षीर-विचार, सुचतुर-कवि-कोविद-राज हिम-सिहासनी, मदहासिनी त्रिलोक प्रकाशिनी सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणो से प्यारे पुत्रो की अनुपम, अनोखी, अतुलवाली, परम प्रभावशाली सुजन मन-मोहिनी नवरस भरी सरस सुखद-विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य है।"

आलोचक होने के कारण बाबू श्यामसुन्दरदास ने मुख्य रूप से साहित्यिक विपयो पर ही निबध लिखे। उनके प्रमुख निबधो के नाम हैं—'भारतीय साहित्य की विशेषताए', 'समाज और साहित्य', 'हमारे साहित्योदय की प्राचीन कथा' आदि। उनकी शैली प्रौढ़ होते हुए भी कही अस्पप्ट नही हो पाई है।

पद्मसिह शर्मा के निबधो मे महापुरुषो के जीवन का चित्रण, समकालीन व्यक्तियो के सस्मरण या उनको श्रद्धांजली साहित्य-समीक्षा आदि विपयो को ग्रहण किया गया है। उनके दो निबध-सग्रह प्रकाश मे आये हैं— पद्मपराग' और 'प्रबन्ध-मजरी'। उनकी शैली मे वैयक्तिकता और सरसता है।

अध्यापक पूर्णसिह के निबन्धो में स्वतन्त्र चिंतन, भाव-प्रवणता और मधुरता को विशेष स्थान मिला है। लाक्षणिकता एव व्यग्य इनकी शैली की प्रमुख विशेपताए हैं। प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के निबध सख्या मे कम होते हुए भी गुणो की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। गम्भीर से गम्भीर विषयो के प्रतिपादन मे भी गुलेरी जी की विनोद प्रियता झलक उठी है। कछुआ धग्म' नामक निबध मे हिंदुओ की रूढिवादिता पर करारे व्यग्य कसे हैं।

स्पष्ट है कि द्विवेदी-युग के निबन्ध प्राय विचार-प्रधान हैं। इनमे भारतेन्दु युगीन निबधो की अपेक्षा गम्भीरता अधिक है। इस युग के निबन्धो की एक बहुत बडी विशेषता यह है कि उनकी भापा अत्यन्त परिष्कृत एव व्याकरण के विपय मे बँधी हुई है।

(इ) शुक्ल युग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध सग्रह 'चिंतामणि' से हिंदी-निबध एक नूतन दिशा की ओर मुडता है। शुक्ल जी ने 'चिंतामणि' के निबधो के माध्यम मे पाठको के समक्ष नये विचार, नई अनुभूति तथा नई शैली प्रस्तुत की।

लोग अकल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं।' लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने मे उतना ही आनद आता है जितना कि पलायनवादी को जीवन मे भागने मे।"

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'उत्सव', 'रामलाल पण्डित', 'नाम', 'समाज-सेवा', विज्ञान आदि निबध लिखकर मौलिक विचारो एव नूतन शैली के आदर्श को उपस्थित किया है। राय कृष्णदास, वियोगी हरि, शातिप्रिय द्विवेदी आदि निबध-लेखको ने भी अपने निबधो मे हृदय की तरल अनुभूतियो को प्रस्तुत किया है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के निबध अधिकतर सास्कृतिक विषयो पर हैं।

शुक्ल-युग के निबधो के विवेचन से यह स्पष्ट है कि सूक्ष्मता एव गम्भीरता इनकी प्रमुख विशेषताए हैं। मौलिकता के प्रति इस युग के निबधकारो का विशेष आग्रह है। निबध-शैली मे जिस व्यक्तित्व की झलक की अपेक्षा होती है, वह भी इनमे है। भाषा अत्यत प्रौढ है।

(ई) आधुनिक युग —यहाँ पर आधुनिक युग से तात्पर्य उस काल से है जो शुक्ल जी के उपरान्त आता है। इस युग ने अत्यन्त उच्च कोटि के निबन्ध-लेखको को जन्म दिया है। इन निबन्धकारो मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, डा० नगेन्द्र, महादेवी वर्मा, डा० रामविलास शर्मा शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय, नन्ददुलारे वाजपेयी नलिन विलोचन शर्मा, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, डॉ० देवराज आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भारतीय सस्कृति एव इतिहास के पुजारी हैं ; उनके निबन्ध इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। 'अशोक के फूल,' 'कल्पलता,' 'विचार और वितर्क' आदि उनके निबन्ध-सग्रहो के नाम हैं। 'धर्मस्य तत्त्व निहित गुहायाम्,' 'भाततीय सस्कृति की देन,' 'अशोक के फूल' 'मेरी जन्म भूमि,' 'वसन्त आ गया,' 'आम फिर बौरा गये' आदि उनके प्रसिद्ध निबन्ध हैं। गम्भीर से गम्भीर विषय पर भी लेखनी उठाने पर उनका पाण्डित्य पाठक के समक्ष सरस और मनोहर रूप धारण कर व्यग्य-विनोद के साथ प्रस्तुत होता है। उनकी भाषा में सर्वत्र उनका व्यक्तित्व झाँकता है। यदि एक ओर उनकी भाषा मे सस्कृति वैभव है तो दूसरी ओर जनसाधारणोपयोगी सरलता और सुबोधता विद्यमान है। द्विवेदी जी के सभी निबन्ध उनकी रचनात्मक प्रतिभा, गम्भीर अध्ययन और प्रगाढ पाण्डित्य के परिचायक हैं।

जैनेन्द्रकुमार के निबन्ध अधिकतर दार्शनिक विषयो पर हैं। डा० नगेन्द्र ने मुख्यरूप से साहित्यिक विषयो पर लेखनी उठायी है। उनके निबन्ध 'विचार और विवेचन,' 'विचार और विश्लेषण,' विचार और अनुभूति' आदि निबन्ध-सग्रहो से प्रकाशित हुए हैं। डा० नगेन्द्र के निबन्धो के विषय मे डा० गणपतिचन्द्र गुप्त का मत है—आपके निबन्धो में आचार्य शुक्ल की-सी मौलिकता, डा० हजारी प्रसाद की-सी रोचकता एव गुलाबराय जी की-सी स्पष्टता एव सरलता होती है उन्होने एक ओर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का गम्भीर अनुशीलन किया है तो दूसरी ओर वे प्राचीन भारतीय आचार्यों की काव्यशास्त्रीय परम्परा से परिचित हैं, अत उनके दृष्टिकोण मे एक अपूर्व सामञ्जस्य एव सन्तलुन मिलता है। आचार्य शुक्ल एव हजारी प्रसाद जी की निबन्ध लेखक परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय डा० नगेन्द्र को ही है।"

महादेवी वर्मा के निबन्ध प्राय संस्मरणात्मक हैं । 'प्रतीत के चल चित्र' 'स्मृति की रेखाएँ' तथा 'शृंखला की कड़ियाँ' नाम से उनके निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं । अपने निबन्धों में उन्होंने वैयक्तिक अनुभूतियों सामाजिक विषमता तथा शोषित वर्ग की दीन-हीन दशा का चित्रण अत्यन्त मार्मिक एवं काव्यमय शैली में किया है । इन निबन्धों मे चित्रकार की तूलिका और निबन्धकार की लेखन-शैली दार्शनिक की अन्तर्दृष्टि एवं कवि की वाणी गद्य की सी विचारात्मकता एवं पद्य की-सी भावात्मकता का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है ।

डा रामविलास शर्मा शिवदानसिंह चौहान अमृतराय आदि निबन्धकारों के निबन्धों पर प्रगतिवादी विचारधारा की स्पष्ट छाप है ।

साहित्यिक निबन्ध-लेखकों में प नन्ददुलारे वाजपेयी का प्रमुख स्थान है। 'आधुनिक साहित्य' 'हिन्दी साहित्य बीसवीं सदी' आदि पुस्तकों में उनके उच्च कोटि के निबन्ध पाये जाते हैं । नलिनविलोचन शर्मा धर्मवीर भारती प्रभाकर माचवे आदि के निबन्ध अनेक उच्च कोटि के पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होते रहते हैं । इन सभी के निबन्धों में गम्भीरता के दर्शन होते हैं । डा देवराज के निबन्ध दृष्टि की सूक्ष्मता और विचारों की मौलिकता के लिए प्रसिद्ध हैं । शान्तिप्रिय द्विवेदी भी आधुनिक काल के प्रमुख निबन्धकार हैं। 'सचारिणी' 'सामयिकी' 'युग और साहित्य' 'परिव्राजक की यात्रा' 'धरातल' आदि आपकी प्रमुख निबन्ध रचनाएँ हैं ।

प्रस्तुत निबन्धकारों के अतिरिक्त आधुनिक युग के निबन्धकारों में सियाराम शरण गुप्त लक्ष्मीकान्त झा डा वीरेन्द्र वर्मा डा सत्येन्द्र सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय चन्द्रबली पाण्डेय प्रकाशचन्द्र गुप्त राहुल सांकृत्यायन सेठ गोविन्ददास रांगेय राघव डॉ नामवरसिंह आदि भी प्रसिद्ध निबन्ध लेखक हैं । इन सभी निबन्धकारों ने विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिखे हैं ।

उपसंहार

प्रस्तुत विवेचन इस बात का साक्ष्य भर रहा है कि हिन्दी-निबन्ध ने अत्यल्प काल मे बहुत अधिक प्रगति की है । आज अनेक निबन्धकार विभिन्न शैलियों मे निबन्ध लिख रहे हैं । वर्तमान निबन्ध-लेखक-कला मे एक खटकने वाली बात यह है कि अधिकांश निबन्ध प्रायः आलोचनात्मक विषयों पर ही लिखे जा रहे हैं सामाजिक राजनीतिक मनोवैज्ञानिक आदि विषयों पर निबन्ध लिखना प्राय बन्द सा ही हो गया है । इससे निबन्धों के विषयों में एकरूपता आती है और विषय की इस एक रूपता के कारण पाठक निबन्धों के पढ़ने मे ऊब सा-सा अनुभव करता है । आज निबन्ध के लिए विषय वैविध्य की आवश्यकता है । यदि निबन्ध-लेखकों ने इस ओर ध्यान दिया तो हिन्दी का भी निबन्ध-साहित्य विश्व के समुन्नत निबन्ध-साहित्य मे स्थान प्राप्त कर सकेगा ।

: ८२ :

हिन्दी-आलोचना स्वरूप एवं विकास

१ आलोचना की परिभाषा

२ आलोचना का उद्देश्य ।

३ आलोचना की विभिन्न पद्धतिया—(अ) सस्कृत की आलोचना-पद्धतिया, (आ) हिन्दी की आलोचना-पद्धतिया

४. आलोचना का विकास—(अ) सस्कृत में आलोचना, (आ) हिन्दी आलोचना का विकास—(क) भक्ति काल, (ख) रीतिकाल, (ग) भारतेन्दु युग, घ) द्विवेदी युग (ङ) शुक्ल युग (च) शुक्ल जी के परवर्ती प्रमुख आलोचक, (छ) हिंदी आलोचना की बहुमुखी प्रगति ।

५ उपसहार

आलोचना की परिभाषा

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'आलोचना' शब्द आ उपसर्गपूर्वक' 'लोच्' धातु मे 'ल्युट्' और तदनन्तर स्त्री-अर्थ मे 'टाप्' प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है । इसका शब्दगत अर्थ गुण-दोप का विवेचन', 'परख', 'समीक्षा' आदि है । इस प्रकार यद्यपि 'आलोचना' शब्द सस्कृत-व्याकरण के अनुरूप है तथापि हिन्दी-साहित्य मे विधा-विशेष के रूप मे इस पर अग्रेजी के 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (Literary Criticism) की छाप है । अग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म' शब्द की निष्पत्ति ग्रीक शब्द 'क्रिटिकोस' से मानी गई है जिस का अर्थ विवेचन करना अथवा निर्णय देना है । स्पष्ट ही सस्कृत तथा ग्रीक शब्दो के अर्थों में कोई मूलभूत अन्तर नही है, वे दोनो ही प्राय एक ही अर्थ का विवेचन करते हैं ।

आलोचना की परिभाषा देते हुए बाबू श्यामसुन्दरदास ने लिखा है—'साहित्य क्षेत्र मे ग्रन्थ को पढकर उसके गुणो और दोषो का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है । यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पडेगा ।' डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा प्रकट आलोचना की यह परिभाषा ऐसी है, जिसे स्वीकार करने मे कदाचित् किसी भी विद्वान् को विप्रतिपत्ति नही हो सकती । इसीलिए उनकी इस परिभाषा को परिनिष्ठित स्वीकार किया जा सकता है ।

आलोचना का उद्देश्य

बाबू गुलाबराय ने आलोचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते 'आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणो से

को उस प्रकार के आस्वादन में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति निर्धारित करने में योग देना है। विभिन्न विद्वानों द्वारा आलोचना के सामान्यतः दो मुख्य उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं—(१) सद् साहित्य के निर्माण को प्रोत्साहन तथा (२) असद् साहित्य का निराकरण। किन्तु इन उद्देश्यों के अतिरिक्त भी आलोचना का कुछ उद्देश्य होता है। एक अच्छा आलोचक अपने समकालीन कवि या लेखक की कृतियों की स्पष्ट आलोचना कर उसके मार्ग को प्रशस्त करता है; जैसे कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ की आलोचना कर वर्ड्सवर्थ के मार्ग को प्रशस्त किया। किन्तु इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि आलोचक सहृदय हो अन्यथा वह कवि अथवा लेखक के साथ अन्याय भी कर सकता है जैसा कि कीट्स के साथ हुआ। कीट्स के समकालीन आलोचकों ने कीट्स की अत्यन्त कटु आलोचना की। संवेदनशील कवि होने के नाते कीट्स के हृदय को ठेस लगी। परिणामतः वे केवल चौबीस वर्ष की आयु में ही इस संसार से चल बसे। यदि वे कुछ और समय तक जीवित रहे होते तो उन्होंने अंग्रेजी-साहित्य की अभिवृद्धि में और भी न जाने कितना बड़ा योग दिया होता! वस्तुतः आलोचक को बड़े ही निष्पक्ष भाव से किसी कृति का गुण-दोष विवेचन करना होता है, तभी वह अपने कृतिकार तथा पाठक के साथ न्याय कर सकता है, अन्यथा यदि उसमें कहीं पूर्वाग्रह हुआ तो वह किसी कला-कृति के साथ न्याय नहीं कर पायेगा। उदाहरण के लिए डॉ॰ जानसन जैसा महान् आलोचक भी अपने पूर्वाग्रहों के कठघरों में बन्द होने के कारण मिल्टन जैसे विश्व विश्रुत कवि के साथ भी न्याय न कर सका। इसीलिए आलोचक के आवश्यक गुणों की ओर निर्देश करते हुए एक आलोचक ने लिखा है—"उसका (आलोचक का) दोनों (पाठक तथा लेखक) के प्रति उत्तरदायित्व है। एक ओर वह कवि की कृति का सहृदय व्याख्याता और निर्णायक होता है तो दूसरी ओर वह अपने पाठक का विश्वासपात्र और प्रतिनिधि समझा जाता है। कवि की भाँति वह द्रष्टा और स्रष्टा—दोनों ही होता है। लोक-व्यवहार तथा शास्त्र का ज्ञान प्रतिभा और अभ्यास आदि साधन—जैसे कवि के लिए अपेक्षित हैं उसी प्रकार समालोचक के लिए भी।

आलोचना की विभिन्न पद्धतियाँ

संस्कृत-साहित्य में आलोचना का अत्यन्त प्रौढ़ रूप उपलब्ध होता है अतः सर्वप्रथम संस्कृत की आलोचना-पद्धतियों को देख लेना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

(अ) संस्कृत की आलोचना-पद्धतियाँ संस्कृत में छः प्रकार की आलोचना पद्धतियाँ प्रचलित थीं—(१) आचार्य-पद्धति (२) टीका-पद्धति (३) शास्त्रार्थ पद्धति (४) सूक्ति-पद्धति (५) खण्डन-पद्धति तथा (६) लोचन-पद्धति। उत्कृष्ट समझे जाने वाले काव्य-ग्रन्थों को रस अलंकार आदि के सुन्दर उदाहरणों के रूप में और निकृष्ट समझे जाने वाले ग्रन्थों को अधम काव्य या दोषों के रूप में उद्धृत करके उनके गुण-दोषों की यथोचित समीक्षा आचार्य-पद्धति के अन्तर्गत मानी जाती थी। आलोचना की टीका-पद्धति में किसी साहित्यिक कृति की टीका करते समय टीकाकार कवि के भाव को तो स्पष्ट करता ही था साथ ही उसे उसकी पंक्तियों की

: ८२ :

हिन्दी-आलोचना स्वरूप एवं विकास

१ आलोचना की परिभाषा

२ आलोचना का उद्देश्य ।

३ आलोचना की विभिन्न पद्धतिया—(अ) सस्कृत की आलोचना-पद्धतिया, (आ) हिन्दी की आलोचना-पद्धतिया

४ आलोचना का विकास—(अ) सस्कृत में आलोचना, (आ) हिन्दी आलोचना का विकास—(क) भक्ति काल, (ख) रीतिकाल, (ग) भारतेन्दु युग, घ) द्विवेदी युग (ङ) शुक्ल युग (च) शुक्ल जी के परवर्ती प्रमुख आलोचक, (छ) हिंदी आलोचना की बहुमुखी प्रगति ।

५ उपसहार

आलोचना की परिभाषा

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'आलोचना' शब्द आ उपसर्गपूर्वक 'लोच्' धातु मे 'ल्युट्' और तदनन्तर स्त्री-अर्थ मे 'टाप्' प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है। इसका शब्दगत अर्थ 'गुण-दोष का विवेचन', 'परख', 'समीक्षा' आदि है। इस प्रकार यद्यपि 'आलोचना' शब्द सस्कृत-व्याकरण के अनुरूप है तथापि हिन्दी-साहित्य मे विधा-विशेष के रूप मे उस पर अग्रेजी के 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म' (Literary Criticism) की छाप है। अग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म' शब्द की निष्पत्ति ग्रीक शब्द 'क्रिटिकोस' से मानी गई है जिस का अर्थ विवेचन करना अथवा निर्णय देना है। स्पष्ट ही सस्कृत तथा ग्रीक शब्दो के अर्थों मे कोई मूलभूत अन्तर नही है, वे दोनो ही प्राय एक ही अर्थ का विवेचन करते हैं।

आलोचना की परिभाषा देते हुए बाबू श्यामसुन्दरदास ने लिखा है—'साहित्य क्षेत्र मे ग्रन्थ को पढकर उसके गुणो और दोषो का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पडेगा।' डॉ० श्यामसुन्दरदास द्वारा प्रकट आलोचना की यह परिभाषा ऐसी है, जिसे स्वीकार करने मे कदाचित् किसी भी विद्वान् को विप्रतिपत्ति नही हो सकती। इसीलिए उनकी इस परिभाषा को परिनिष्ठित स्वीकार किया जा सकता है।

आलोचना का उद्देश्य

बाबू गुलाबराय ने आलोचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुये लिखा है—'आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणो से आस्वाद कर पाठको

ऐतिहासिक आलोचना में कवि की आत्मा का मूल स्रोत ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों में खोजा जाता है और तदनन्तर उस पर उन परिस्थितियों के प्रभाव को आँका जाता है साथ ही साहित्यिक परम्पराओं के बीच उसकी स्थापना भी की जाती है।

तुलनात्मक आलोचना के अन्तर्गत पूर्ववर्ती समकालीन तथा परवर्ती साहित्यकारों के साथ कवि और उसके साहित्य की तुलना कर उसके महत्त्व को स्थापित किया जाता है। इस प्रकार की आलोचना में कवि के साथ अन्याय भी हो सकता है क्योंकि यह भी तो संभव है कि आलोचक अपनी रुचि विशेष से परिचालित होकर निर्णय दे रहा हो। हिन्दी में देव बड़े कि_बिहारी_को लेकर बहुत बड़ा विवाद खड़ा हुआ है और आलोचकों ने अपनी-अपनी रुचियों के अनुरूप एक-दूसरे को एक-दूसरे से बड़ा सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रकार की आलोचना लाभप्रद तभी हो सकती है कि आलोचक निर्णय करने में निष्पक्ष भाव से वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम ले।

जहाँ कवि के वैयक्तिक स्वभाव परिस्थितियों एवं प्रभाव को उसकी कृति के आधार पर परखा जाता है वहाँ मनोवैज्ञानिक आलोचना होती है। मनोवैज्ञानिक आलोचक कवि के स्वभावादि के ऊहापोह में इतना खो जाता है कि कृति की उपेक्षा हो जाती है। इस प्रकार के आलोचकों की भाषा-शैली अत्यंत दुरूह होती है।

समाजवादी आलोचना में पहले साहित्य को वर्ग विशेष की उपज स्वीकार किया जाता है और फिर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन किया जाता है। स्पष्टता इस आलोचना का मुख्य गुण है। इस प्रकार की आलोचना में सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें प्राय राजनीति के दर्पण में ही कृति को देखा जाता है। समाजवादी आलोचक सर्वदा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा साम्यवाद के आधार पर आलोचना करते हैं। इससे साहित्यिकता की उपेक्षा हो जाती है।

तीसरे प्रकार की व्यावहारिक समीक्षा, अर्थात् निर्णयात्मक समीक्षा में सामान्य शास्त्रीय नियमों के आधार पर आलोच्य ग्रन्थ के गुण-दोषों का विवेचन कर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य आँका जाता है और उन्हीं के अनुकूल उनको श्रेणीबद्ध भी कर दिया जाता है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक की स्थिति एक न्यायाधीश की भाँति होती है। वह निर्णय देता है। उसकी जिज्ञासा 'यह काव्य कैसा होना चाहिये था' के रूप में होती है।

आलोचना का विकास

पीछे बताया जा चुका है कि संस्कृत का आलोचना-साहित्य अत्यंत समृद्ध रहा है, अत हिन्दी-आलोचना पर विचार करने से पूर्व संस्कृत-आलोचना पर विहंगम दृष्टिपात कर लेना उचित प्रतीत होता है।

(क) संस्कृत में आलोचना – संस्कृत में अधिकांशत सैद्धान्तिक आलोचना का विकास हुआ है। इस प्रकार की आलोचना के ग्रन्थों में संस्कृत में जो प्राचीनतम ग्रन्थ उपलब्ध होता है वह भरत मुनि का नाट्यशास्त्र है। इस ग्रन्थ में नाट्य-नियमों

विशेषताओ तथा रस, ध्वनि, अलकार आदि का भी उल्लेख करना पडता था। शास्त्रार्थ पद्धति में आचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्य से असहमत होने की स्थिति मे उसकी उक्तियो का अत्यन्त प्रबल तर्कों से खण्डन करता था और अपने मत का मण्डन करता था। सूक्ति-पद्धति के अन्तर्गत सस्कृत काव्यो एव कवियो के विषय मे प्रशसात्मक उक्तिया आती हैं। खण्डन-पद्धति पूर्णरूपेण दोष-दर्शन की प्रणाली है। लोचन-पद्धति मे आलोचक आलोच्य विषय के अर्थ को पूर्णतया हृदयगम करा के रचना की अन्त-र्दृष्टि की विशद समीक्षा करता था। थोडे-बहुत अशो मे हिन्दी मे आज भी ये पद्धतिया प्रचलित हैं।

(आ) **हिन्दी की आलोचना-पद्धतियां**—हिन्दी-आलोचना का विकास अत्यन्त आधुनिक युग मे हुआ है। विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ दूरस्थ देश एक-दूसरे के प्रतिवेशी-से बन गये हैं। ऐसी स्थिति मे एक देश की सभ्यता, सस्कृति एव साहित्य का दूसरे देश पर प्रभाव पडना स्वाभाविक ही है। हिन्दी आलोचना भी पश्चिम से प्रभावित हुई है और उसने सस्कृत की आलोचना-परम्परा तथा पाश्चात्य आलोचना-परम्परा के बीच सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया है। परिणामस्वरूप उसमे विभिन्न पद्धतियो का जन्म अनिवार्य है। सामान्यत तो हिन्दी-आलोचना को दो ही वर्गों मे रखा गया है (१) सैद्धान्तिक तथा (२) व्यावहारिक। "जहाँ साहित्य-रचना के सामान्य नियमो का विवेचन होता है उसे सैद्धान्तिक आलोचना कहते हैं जबकि इन नियमो के आधार पर किसी कृति या रचना की समीक्षा करना व्यावहारिक आलो-चना है।" व्यावहारिक आलोचना के अन्य अनेक प्रभेद किये गये हैं, जिनमे मुख्य हैं—(१) आत्मप्रधान या प्रभाववादी समीक्षा, (२) व्याख्यात्मक समीक्षा तथा (३) निर्णयात्मक समीक्षा।

आत्मप्रधान अथवा प्रभाववादी समीक्षा मे आलोचक किसी साहित्यकार की कृति का अध्ययन करते समय उस कृति की भाव-लहरी मे बह जाता है और फिर उस पर जैसा प्रभाव पडता है उसे अपनी रुचि के अनुरूप व्यक्त कर देता है। इस प्रकार की समीक्षा मे आलोचक किसी लक्षण-ग्रन्थ के नियमो का कायल नही होता। हिन्दी मे जैनेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि इसी प्रकार के आलोचक हैं। इस प्रकार की आलोचना मे आलोच्य-ग्रन्थ के साथ न्याय की आशा कम रहती है, क्योकि इसमे आलोचक अपनी ही रुचियो अरुचियो मे प्रचालित होता है।

दूसरे प्रकार की व्यावहारिक आलोचना, अर्थात् व्याख्यात्मक समीक्षा मे आलोचक सिद्धान्तों और आदर्शों को त्याग कर एक अन्वेषक के रूप मे कवि की अन्तरात्मा मे प्रविष्ट होकर अत्यन्त सहृदयतापूर्वक उसके आदर्शों, उद्देश्यो तथा विशेषताओ की व्याख्या और विवेचन करता है। इस प्रकार की आलोचना मे कवि के साथ न्याय होने की बहुत अधिक सभावना रहती है।

बाबू गुलाबराय ने व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक-रूप मे उपस्थित होने वाली चार अन्य आलोचना-पद्धतियो को स्वीकार किया है। इनके नाम हैं—(अ) ऐतिहासिक, (ब) तुलनात्मक, (स) मनोवैज्ञानिक और (द) समाजवादी।

एवं रसिक-प्रिया की रचना सामान्य लोगों को काव्यशास्त्र के सामान्य नियमों एवं सिद्धांतों को समझाने के उद्देश्य से की। केशव के उपरांत इस काल में रीति-परम्परा का जो विकास हुआ उसे चार वर्गों में बाँटा गया है—काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के रचयिता—अनेक कवियों ने काव्य शास्त्र के सभी अंगों का प्रतिपादन किया जिसमें आचार्यत्व की झलक मिलती है। (२) रस और नायिका भेद सम्बन्धी ग्रन्थों के रचयिता - इस वर्ग के कवियों का लक्ष्य आचार्यत्व कम था मनोरंजन के निमित्त काव्यशास्त्र की आड़ में कामुकता और रस को प्रवाहित करना अधिक था। (३) अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थों के रचयिता—कुछ कवियों ने केवल अलंकारों का प्रतिपादन किया है। इनका उद्देश्य विद्यार्थियों को अलंकार ज्ञान के निमित्त काव्यमय शैली में 'पाठ्य-पुस्तकों' का निर्माण करना था। उस युग में मुद्रक-यंत्र का अभाव था अतः किसी एक ही पुस्तक का सर्वत्र प्रचार नहीं हो पाता था विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न ग्रन्थों की रचना होती थी। (४) कुछ कवियों ने केवल नख शिख एवं षड्ऋतु-वर्णन को लेकर काव्य-ग्रन्थों की रचना की। इनमें भी विशुद्ध रसिकता का दर्शन मिलता है।

इन मध्यकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। एक तो इनका आधार संस्कृत काव्य-शास्त्र है जिसका ब्रज भाषा-पद्य में अनुवाद कर देना ही इनका लक्ष्य रहा है। इनमें मौलिकता नहीं मिलती। दूसरे इनमें विवेचन की प्रौढ़ता गम्भीरता या स्पष्टता का अभाव है और तीसरे इनमें गद्य का प्रयोग न होने के कारण ये समीक्षा के सच्चे स्वरूप को प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं।

इन ग्रन्थों का यदि कुछ महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है तो केवल इतना ही कि इन्होंने संस्कृत न जानने वाली जनता को काव्यशास्त्र के सामान्य नियमों से परिचित कराया और संस्कृत की परम्परा को जीवित रखा।

(ग) भारतेन्दु-युग हिन्दी की आधुनिक आलोचना का जन्म भारतेन्दु-युग में ही माना जाना चाहिये। जिस प्रकार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने हिंदी की कुछ अन्य नूतन विधाओं पर सर्वप्रथम अपनी लेखनी उठायी उसी प्रकार आलोचना के क्षेत्र में वे ही सर्वप्रथम अवतरित हुए। उन्होंने नाटक नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ की रचना की जो सन् १८८३ ई० में प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ में उनकी मूल दृष्टि पौरस्त्य एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रचलित नाटकों के नियमों में सामञ्जस्य स्थापित कर अपने युग के नाटककारों के लिये सामान्य नियम निर्धारित करने की रही है। कहीं-कहीं पर उनकी मौलिक उद्भावनाएँ भी देखने को मिलती हैं। नाटककार के माग का निर्देशन करते हुए वे लिखते हैं—'नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें यह आवश्यक नहीं किन्तु वर्तमान समय में इस काल में कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्ति-संगत नहीं बोध होता। नाटक की अर्थ प्रकृतियों, सन्धि आदि के विषय में उनका मत है—"संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटकों में इनका अनुसन्धान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी

के साथ ही साथ रस-सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। भरत ने रस को नाटक साहित्य का मूल तत्त्व माना है और बताया है कि स्थायी भाव के साथ वि अनुभाव एव सचारी भावो के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत के रस-सिद्धात के जो प्रमुख व्याख्याता आचार्य हुए उनमे भट्ट लोल्लट, शकुक, भट्ट अभिनवगुप्त, पण्डितराज जगन्नाथ आदि मुख्य हैं। इन्होने रस की व्याख्या अपने दृष्टिकोणो से प्रस्तुत की है। सस्कृत के कुछ आचार्यों ने काव्य की आत्मा रस मानकर अलकार को माना है। इन आचार्यों के अन्तर्गत भामह, उद्भट दण्डी आचार्य आते हैं। इन्होने अलकार को अत्यत व्यापक अर्थ मे ग्रहण किया और 'सौन्दर्य' का पर्यायवाची माना। जिस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न आचार्यों द्वारा की आत्मा के रूप मे रस तथा अलकार की अलग-अलग रूप से प्रतिष्ठा हुई प्रकार वामन ने रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन कर रीति को, कुन्तक ने वक्रोक्ति-स का प्रवर्त्तन कर वक्रोक्ति को, तथा आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रवर्त्त ध्वनि को काव्य की आत्मा बताया। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इन सभी के उचित प्रयो बल देते हुए औचित्य-सम्प्रदाय की स्थापना की और औचित्य को काव्य की आ पद पर प्रतिष्ठित किया।

स्पष्ट है कि सस्कृत के आचार्य सिद्धान्त-स्थापना मे ही लगे रहे, सिद्ध प्रयोग की ओर उन्होंने कोई विशेष ध्यान नही दिया। कुछ काव्यशास्त्री अव हुए जिन्होंने 'काव्य-दोष-निरूपण' प्रसग मे अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन कवि आडे हाथो लिया है।

(आ) हिन्दी-आलोचना का विकास — आलोचना को हम जिस अर्थ मे स करते हैं, उसका वास्तविक विकास तो आधुनिक युग मे, पाश्चात्य आलो प्रभावित होकर ही हुआ है, किन्तु फिर भी भक्तिकाल तथा रीतिकाल में थोड़ आलोचना मिल ही जाती है। इस भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन आलोच आधुनिक आलोचना के सदर्भ मे भले ही कुछ महत्त्व न हो, किन्तु उसके ऐति महत्त्व को अस्वीकारा नही जा सकता। ऐसी स्थिति में इन दोनो युगो की आ पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

(क) भक्तिकाल—भक्तिकाल मे आलोचना के केवल गिने-चुने ग्र लिखे गये। ये ग्रन्थ भी सस्कृताचार्यों की सैद्धान्तिक आलोचना से प्रभावित हैं बात दूसरी है कि इनकी मूल प्रेरणा सिद्धात-विवेचन की लालसा न होकर भ शृगार अथवा काव्य-रचना मे निहित है। सूरदास ने 'साहित्य-लहरी' मे और न ने 'रस-मजरी' में नायिकाभेद का प्रतिपादन तो किया है, किन्तु इनका आधार के काव्य-शास्त्री ग्रन्थ नही हैं। इनका लक्ष्य नायिका-भेद को समझाना न अपने इष्टदेव कृष्ण की प्रेम-लीलाओ मे योग देना है। करणेश, रहीम, गोपा आदि अकबर के दरबारी कवियो ने भी काव्य का विवेचन किया है, किन्तु उन मे रसिकता का ही पोषण है।

(ख) रीतिकाल—रीतिकाल मे तो लक्षण-ग्रन्थो का ताँता ही लग इस काल के प्रवर्त्तक आचार्य केशव माने जाते हैं। सर्वप्रथम उन्होने ही 'कवि

त्मक समीक्षा के लिये मार्ग प्रस्तुत कर दिया।

पं पद्मसिंह शर्मा देव की महत्ता से सन्तुष्ट न हुये और उन्होंने बिहारी को सर्वोत्कृष्ट शृंगारी कवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया। बिहारी-सतसई की भूमिका भाग लिखकर शर्मा जी ने संस्कृत प्राकृत उर्दू एवं हिन्दी के कवियों से बिहारी की तुलना करते हुये शृंगारी कवियों में उन्हें सर्वोच्च स्थान प्रदान किया।

शर्मा जी की बिहारी विषयक प्रशंसापूर्ण उनकी आलोचना के उत्तर में पं कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक में देव और बिहारी की तुलनात्मक गंभीर आलोचना करते हुये देव को बिहारी से उत्कृष्ट कवि सिद्ध किया। इसी पुस्तक की प्रत्यालोचना के रूप में लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक में बिहारी को देव से ऊँचा स्थान देने का प्रयत्न किया।

द्विवेदी-युग के अंत में बाबू श्यामसुन्दरदास आलोचना के क्षेत्र में आये। उन्होंने हिन्दी में सर्वप्रथम शास्त्रीय आलोचना-पद्धति का सूत्रपात किया। साहित्यालोचन में अपने पौरस्त्य एवं पाश्चात्य साहित्य-सिद्धांतों का तुलनात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करके आधुनिक साहित्य के मानमूल्यों तथा सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। काव्य नाटक उपन्यास कहानी आदि साहित्यिक रूपों का 'साहित्यालोचन' में शास्त्रीय ढंग से विवेचन किया गया है। सैद्धांतिक समीक्षा के क्षेत्र में साहित्यालोचन में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त बाबू श्यामसुन्दरदास ने कबीर तुलसी सूर आदि कवियों पर भी विस्तृत आलोचनाएँ लिखी हैं।

(घ) शुक्ल युग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल समीक्षा का एक निश्चित मानदंड और उसकी एक विकसित पद्धति को लेकर हिन्दी-जगत् में आये। उन्होंने स्थूल नैतिकता या भौतिक लाभ-हानि के प्रश्न को छोड़कर साहित्य की सूक्ष्म शक्ति—भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति—को साहित्य की कसौटी के रूप में अपनाया। उन्होंने भारत प्राचीन रस सिद्धान्त को फिर से जीवन दान दिया और काव्य में रस की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की। उनकी दृष्टि में समाज-हित साहित्य का साध्य तो नहीं था। एक ऐसा साधन अवश्य है जो साहित्य को व्यापकता प्रदान करता है।

आचार्य शुक्ल द्वारा रचित समीक्षा ग्रन्थों में जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' 'गोस्वामी तुलसीदास' तथा 'चिन्तामणि' के कुछ निबंध मुख्य है। तुलसीदास को उन्होंने आदर्शकवि के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने जितना महत्त्व तुलसी को दिया जितना सूक्ष्म अध्ययन तुलसी की कृतियों का किया उतना न तो किसी कवि को उन्होंने महत्त्व ही दिया और न ही उतना सूक्ष्म अध्ययन अन्य किसी कवि की रचनाओं का किया। सूक्ष्मता गंभीरता एवं प्रौढ़ता शुक्ल जी की शैली की प्रमुख विशेषतायें हैं।

शुक्ल युग में ही पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी हुये जिन्होंने 'विश्व-साहित्य' की रचना कर विश्व-साहित्य का सामान्य परिचय दिया है।

(च) शुक्लजी के परवर्ती प्रमुख आलोचक—शुक्लजी की आलोचना पद्धति को बढ़ाने वाले आलोचकों में पं विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृष्णशंकर शुक्ल रामकृष्ण

नाटक लिखना व्यर्थ है।" पारसी नाटको की तो उन्होंने अत्यन्त भर्त्सना की है। इन नाटको के विषय मे वे कहते हैं—"काशी मे पारसी नाटकवालो ने नाचघर मे जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमे धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटे-वासियो की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डॉक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आये कि अब देखा नही जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे अनुवादो की होती है। बिना पूर्व-कवि के हृदय से हृदय मिलाए अनुवाद करना शुद्ध झख मारना ही नही, कवि की लोकान्तर स्थित आत्मा को नरक-कष्ट देना है।"

भारतेन्दु-युग मे ही चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' ने अपनी 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका मे 'सयोगिता-स्वयम्बर' और 'बग-विजेता' पुस्तको की विस्तृत रूप मे आलोचना की। बालकृष्ण भट्ट ने भी 'हिन्दी-प्रदीप' मे 'सच्ची समालोचना' नामक शीर्षक से 'सयोगिता-स्वयबर' की आलोचना की।

भारतेन्दु-युगीन आलोचना के विषय में एक बात ध्यान देने की है और वह यह कि इस युग के आलोचको का ध्यान आलोच्य ग्रन्थ के दोष-निरूपण पर ही लगा रहा, उसके गुणो की ओर उनकी दृष्टि ही न गयी।

(घ) द्विवेदी युग—सन् १९०० ई० मे 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में प० महावीरप्रसाद द्विवेदी आलोचना-क्षेत्र मे अवतरित हुये। किन्तु द्विवेदी जी के भी आगमन से पूर्व गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' (१८९६ ई०), अम्बिकादत्त व्यास की 'गद्य काव्य की मीमासा' आदि कुछ छोटी-छोटी आलोचना पुस्तिकाएँ प्रकाशित हो चुकी थी। द्विवेदी जी कवियो तथा लेखको की साधारण सी त्रुटि की भी आलोचना कर दिया करते थे। उन्होने हिन्दी-कालिदास की आलोचना' नामक पुस्तक मे लाला सीताराम बी० ए० द्वारा अनूदित कालिदास के नाटको की भाषा सम्बन्धी त्रुटियों का विवेचन किया। इसके उपरात उन्होने 'विक्रमाकदेव चरित-चर्चा' और 'नैषधचरित चर्चा' जैसी परिचयात्मक पुस्तको द्वारा व्याख्यात्मक समीक्षा का सूत्रपात किया। 'कालिदास की निरकुशता' नामक ग्रन्थ मे उन्होने कालिदास के काव्यो की भाषा में व्याकरण विषयक व्यक्त भ्रमो पर प्रकाश डाला है। द्विवेदी जी का महत्त्व इस बात मे विशेष रूप से है कि उन्होने अपनी समीक्षाओं द्वारा हिन्दी-काव्य को शृगारिकता के दलदल से निकालकर उसे देश प्रेम और समाज-सुधार की भावनाओ से अनुप्राणित कर दिया।

द्विवेदी-युग मे ही मिश्रबन्धुओ ने 'मिश्रबन्धुविनोद' और हिन्दी नवरत्न' की रचना द्वारा हिन्दी आलोचना को विकास की ओर उन्मुख करने मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 'मिश्रबन्धुविनोद' मे हिन्दी के कवियो की परिचयात्मक समीक्षाए प्रस्तुत की गई हैं और 'हिन्दी-नवरत्न' मे हिन्दी के नौ प्रमुख कवियो के काव्य की विशेषताओ का विस्तृत वर्णन किया गया है। हिन्दी-नवरत्न' की रचना करके मिश्रबधुओ ने व्याख्यात्मक एव विश्लेषणात्मक आलोचना के साथ-साथ तुलनात्मक आलोचना को भी गति प्रदान की। उन्होंने देव को बिहारी से ऊँचा स्थान देते हुए हिन्दी मे तुलना

तीस सम्बन्ध का उद्‌घाटन करती है और सचेतन रूप में समाज की बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की और लेखक का ध्यान आकर्षित करती है। इस आलोचना का सबसे बड़ा दोष यह है कि मार्क्सवादी आलोचक उसी साहित्य को श्रेष्ठ समझते हैं जो मार्क्स के सिद्धांतों का प्रचारक समाजवाद का समर्थक तथा पूंजीवाद की निन्दा करने वाला हो। इसस साहित्य उन गुणों से मण्डित होने से वञ्चित रह जाता है, जिन्हें हम स्थायी कह सकते हैं।

(ह) हिन्दी आलोचना की बहुमुखी प्रगति—आज हिन्दी आलोचना अत्यंत तीव्र गति से आगे बढ़ रही है। अनेक आलोचकों ने साहित्य के विभिन्न अंगों विविध साहित्यकारों तथा उनकी विभिन्न कृतियों पर गवेषणापूर्ण विश्लेषणात्मक एवं विवेचनात्मक आलोचनाएं प्रस्तुत की हैं। विविध कवियों तथा लेखकों की विशेषताओं तथा उनकी प्रवृत्ति प्रकृति की खोज से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हिंदी में प्रकाशित हो चुके हैं। तुलसी सूर जायसी कबीर आदि कवियों पर अनेक आलोचनाएँ लिखी जा चुकी हैं। तुलसी पर रामचन्द्र शुक्ल श्यामसुन्दरदास माताप्रसाद गुप्त चन्द्रबली पाण्डेय राजपति दीक्षित रामनरेश त्रिपाठी और बलदेवप्रसाद की आलोचनाएं प्रमुख स्थान रखती है। सूरदास पर मुन्शीराम शर्मा का सूर-सौरभ' नन्ददुलारे वाजपेयी का 'सूरदास' व्रजेश्वर वर्मा का सूरदास प्रभुदयाल मित्तल का 'सूर-निर्णय' जनार्दन मिश्र का सूरदास' शुक्लजी का सूरदास' हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'सूर साहित्य' आदि अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। कबीर पर हजारी प्रसाद द्विवेदी रामकुमार वर्मा श्यामसुन्दरदास तथा डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने उच्च कोटि की आलोचनाएं लिखी हैं। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल तथा परशुराम चतुर्वेदी ने क्रमशः सन्त-साहित्य और सूफी-साहित्य पर अत्यन्त गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। जायसी तथा सूफी-काव्य पर भी डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ डॉ० जयदेव तथा चन्द्रबली पाण्डेय आदि आलोचकों ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण आलोचनाएं लिखी हैं। केशव पर पं० कृष्णशंकर शुक्ल का 'केशव की काव्यकला' चन्द्रबली पाण्डेय का केशवदास' डॉ० हीरालाल दीक्षित का आचार्य केशवदास' आदि अनेक आलोचना ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं। बिहारी पर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की बिहारी की वाग्विभूति' भूषण पर भगीरथप्रसाद दीक्षित का भूषण-विमर्श और देव पर डॉ० नगेन्द्र का 'देव और उनकी कविता' आदि अनेक सारगर्भित आलोचनाएं लिखी जा चुकी हैं। भारतेन्दु से सम्बन्धित व्रजरत्नदास का भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' डॉ० रामविलास शर्मा का भारतेन्दु-युग तथा किशोरीलाल गुप्त का भारतेन्दु और उनके अन्य सहयोगी कवि' आदि उत्कृष्ट समीक्षा ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। प्रसाद के काव्य तथा नाटकों पर रामनाथसुमन की 'कवि प्रसाद की काव्य-साधना रामरतनसिंह का कामायनी अनुशीलन' डॉ० फतेहसिंह का कामायनी-सौन्दर्य डॉ० द्वारिका प्रसाद का 'कामायनी में काव्य' संस्कृति और दर्शन' जगन्नाथप्रसाद शर्मा का प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन तथा रामकृष्णशुक्ल 'शिलीमुख' की प्रसाद की नाट्यकला विशेष महत्त्व रखती हैं। मैथिली शरण गुप्त पर डॉ० सत्येन्द्र का गुप्त जी की कला' डॉ० नगेन्द्र का साकेत : एक अध्ययन' गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश की 'गुप्त जी की काव्यधारा डॉ० उमाकान्त गोयल का मैथिली

शुक्ल शिलीमुख चद्रवली पाडेय, बाबू गुलाबराय, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा मुख्य हैं।

आज के आलोचको मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'सूर-साहित्य', 'कबीर' 'नाथ-सम्प्रदाय', 'हिंदी-साहित्य का आदि काल', 'हिंदी-साहित्य' प्रभृति आलोचनात्मक ग्र थ लिखकर हिंदी आलोचना को बहुत आगे बढाया है। द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य के आदिकाल, भक्ति आदोलन तथा निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के स्पष्टीकरण मे बहुत बडा योग दिया है। उनकी शैली जहा एक ओर प्रौढ है वही दूसरी ओर सरल, रोचक और व्यग्यात्मक भी है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने मौलिक दृष्टिकोण को आधुनिक साहित्यकारो की समीक्षा की है और अपने निष्कर्षो से समीक्षा-जगत् मे एक खलबली मचा दी है। प्रेमचद के दोषो का उद्घाटन सर्वप्रथम वाजपेयी जी ने किया। आपके आलोचनात्मक ग्र थो मे 'हिन्दी-साहित्य बीसवी सदी', 'आधुनिक साहित्य', सूरदास' आदि के विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। डॉ० नगेन्द्र को पहले फ्रायडवादी आलोचक समझ लिया गया था, किंतु अब उन्हे विशुद्ध भारतीय समीक्षा का पोषक मान लिया गया है। वास्तव मे डॉ० नगेन्द्र ने पौरस्त्य एव पाश्चात्य काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थो का गम्भीर अध्ययन कर तथा उनके बीच समन्वय स्थापित कर हिंदी मे एक अत्यत प्रौढ समीक्षा-पद्धति को जन्म दिया है। उनकी प्रमुख आलोचनात्मक कृतियो मे 'सुमित्रानदन पत', 'साकेत एक अध्ययन', 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'महा-कवि देव', 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', 'कामायनी केअध्ययन की समस्याए' आदि उल्लेखनीय हैं। उनके सद्य' प्रकाशित ग्रन्थ 'रस-सिद्धात' ने तो हिंदी-जगत् मे क्रांति ही मचा दी है। डॉ० नगेन्द्र मे 'अध्ययनशीलता के साथ-साथ मौलिकता गम्भीरता के साथ साथ सरलता एव भावात्मकता के साथ-साथ बौद्धिकता का उचित समन्वय मिलता है।

डॉ० इद्रनाथ मदान पाश्चात्य समीक्षा का गम्भीर अध्ययन कर हिंदी-समीक्षा मे अवतरित हुए हैं। उन्होने अपने आलोचनात्मक ग्रन्थ 'मॉडर्न हिंदी लिटलेचर' मे आधुनिक साहित्य की अनेक प्रवृत्तियो का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'प्रेमचद एक विवेचना' उनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण समीक्षात्मक कृति है।

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षाकारो के इलाचद्र जोशी और सच्चिदानद हीरानद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'अज्ञेय' जी तो समग्र साहित्य को ही कुण्ठा से उत्पन्न मानते हैं। उनका कथन है—'आज का हिन्दी साहित्य अधिकाश में अतृप्ति का, या कह लीजिए लालसा का इच्छित विश्वास (Wishful thinking) का साहित्य है।' इन मनोविश्लेषणवादी आलोचको पर फ्रायड, एडलर, युग आदि के विचारो का सघन प्रभाव है।

मार्क्सवादी आलोचको मे डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाश चद्रगुप्त, अमृतराय आदि के नाम आदरपूर्वक लिये जा सकते हैं। मार्क्सवादी आलोचक समग्र साहित्य का मूल्याकन समाज की उपयोगिता की दृष्टि से करता है। अमृतराय के शब्दो मे मार्क्सवादी आलोचना का रूप इस प्रकार है—"मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाजशास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गति-

प्रसाद मिश्र का 'काव्यांग कौमुदी' डॉ० नगेन्द्र के 'भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा' तथा 'रस सिद्धान्त' कन्हैयालाल पोद्दार की 'अलंकार मंजरी' और 'रसमंजरी' डॉ० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' डॉ० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य शास्त्र' डॉ० गुलाबराय के 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' नलिनी मोहन सान्याल का 'समालोचना तत्त्व' रमाशंकर शुक्ल का 'आलोचनादर्श' डॉ० सत्येन्द्र का 'समीक्षा के सिद्धांत' सीताराम चतुर्वेदी का 'समीक्षाशास्त्र' क्षेमचन्द्र सुमन का 'साहित्य विवेचन' डा० लीलाधर गुप्त का 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त' डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत का 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत' आदि अनेक सैद्धान्तिक समीक्षा के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धांतों का गम्भीर अध्ययन कर अनेक नई स्थापनाएं भी की गई हैं।

उपसंहार

प्रस्तुत विवेचन इस बात का साक्षी है कि हिन्दी-आलोचना ने अल्पस्य काल में आशातीत प्रगति की है; किन्तु आधुनिक आलोचना में कुछ कमियां भी हैं जिनकी ओर आलोचकों का ध्यान नहीं जा रहा है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में 'इस समय हिन्दी आलोचना के पास कोई ऐसा सर्वसम्मत मानदण्ड नहीं है जो साहित्य को आगे बढ़ाने या ऊंचा उठाने में अधिक योग दे सके। दूसरे कुछ आलोचकों की शैली में ऐसी दुरूहता अस्पष्टता एवं जटिलता आती जा रही है जो पाठक के दिमाग को स्पष्ट करने के स्थान पर उलझा देती है। वस्तुतः यदि हिन्दी-आलोचना एक सर्वसम्मत मानदण्ड स्थापित कर सकी और यदि कुछ आलोचक अपने विवेचन में अस्पष्टता का परित्याग कर सके तो हिन्दी आलोचना और भी तीव्र गति से उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होगी।

शरण गुप्त कवि तथा भारतीय सस्कृति के आख्याता' आदि अनेक आलोचना-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। मुन्शी प्रेमचद पर डॉ० रामविलास शर्मा का 'प्रेमचन्द और उनका युग', जनार्दन द्विज का 'प्रेमचन्द की उपन्यास कला', मन्मथनाथ गुप्त का 'कलाकार प्रेमचन्द' और डॉ० इन्द्रनाथ मदान का 'प्रेमचन्द-एक विवेचन' आदि ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-साहित्य के विविध रूपो एव प्रवृत्तियो पर भी अनेक शोधपूर्ण आलोचनाए प्रकाश मे आ चुकी हैं। रहस्यवाद तथा छायावाद के समीक्षको मे डॉ० नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, शम्भूनाथसिंह और गंगाप्रसाद पाण्डेय मुख्य हैं। प्रगतिवाद पर डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ने अच्छी आलोचनाए लिखी हैं।

नाटको पर डॉ० सोमनाथ गुप्त का 'हिन्द-नाट्य साहित्य', डॉ० दशरथ ओझा का 'हिन्दी-नाटक उद्भव और विकास' तथा डॉ० नगेन्द्र का 'आधुनिक हिन्दी-नाटक' आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उपन्यासो पर शिवनारायण—कृत 'हिन्दी-उपन्यास' तथा यज्ञदत्त का 'हिन्दी के उपन्यास' जैसे ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। कहानी-साहित्य का विवेचन केसरीकुमार की 'हिन्दी-कहानीकार', छविनाथ त्रिपाठी की 'कहानी-कला और उसका विकास' और डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल की 'हिन्दी-कहानियो की शिल्पविधि का विकास' जैसी पुस्तको मे भली प्रकार किया गया है। निबन्ध-साहित्य के विवेचन के लिए जनार्दन स्वरूप की हिन्दी मे निबन्ध-साहित्य' तथा ब्रह्मदत्त शर्मा की 'हिन्दी-साहित्य मे निबन्ध' जैसी पुस्तकें द्रष्टव्य है। आलोचना पर डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र की 'हिन्दी-आलोचना उद्भव और विकास' सुन्दर पुस्तक हैं।

सम्प्रति विभिन्न विश्वविद्यालयो मे पी-एच० डी० तथा डी० लिट० की उपाधियो के लिए स्वीकृत अनेक शोध-ग्रन्थ प्रकाश मे आ रहे हैं। इन शोध-ग्रन्थो मे आलोचना का अत्यन्त परिष्कृत रूप देखने को मिलता है। डॉ० दीनदयाल गुप्त का 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डॉ० नगेन्द्र का 'रीति काव्य की भूमिका', डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल का हिन्दी-काव्य मे निर्गुण-सम्प्रदाय', डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का 'राधा वल्लभ-सम्प्रदाय सिद्धांत और अध्ययन', डॉ० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास', डॉ० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', डॉ० हरिवश कोछड का 'अपभ्रश साहित्य', डॉ० भोलानाथ तिवारी का 'हिन्दी-नीतिकाव्य', डॉ० शम्भूनाथ सिंह का 'महाकाव्य का स्वरूप-विकास', डॉ० विपिनविहारी त्रिवेदी का 'चन्दवरदायी और उनका काव्य', डॉ० रघुवश का 'प्रकृति और काव्य' आदि शोध प्रवन्धो की गणना अत्यन्त उच्च कोटि के आलोचना ग्रन्थो मे की जाती है। 'साहित्य सन्देश', 'सम्मेलन पत्रिका', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' 'आलोचना' आदि पत्रिकाओ मे भी समय-समय पर महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक निवन्ध प्रकाशित होते रहते हैं।

आधुनिक युग मे सैद्धान्तिक आलोचना की अच्छी प्रगति हुई है। इस क्षेत्र मे सबसे पहला प्रयास डॉ० श्यामसुन्दरदास का ही माना जायेगा। वस्तुत उन्ही के 'साहित्यालोचन' मे आधुनिक सैद्धान्तिक आलोचना का विकास हुआ। इसके उपरान्त प० रामदहिन मिश्र का 'काव्यदर्पण', हरिशकर शर्मा का 'रसरत्नाकर', विश्वनाथ

प्रसाद मिश्र का 'काव्यार्थ कौमुदी' डॉ नगेन्द्र के 'भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा' तथा 'रस सिद्धान्त' कन्हैयालाल पोद्दार की 'अलंकार मंजरी' और 'रसमंजरी' डॉ० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' डॉ बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य शास्त्र' डॉ गुलाबराय के 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' नलिनी मोहन सान्याल का 'समालोचना तत्त्व' रमाशंकर शुक्ल का 'आलोचनादर्श' डॉ सत्येन्द्र का 'समीक्षा के सिद्धान्त' सीताराम चतुर्वेदी का 'समीक्षाशास्त्र' क्षेमचन्द्र सुमन का 'साहित्य विवेचन' डा लीलाधर गुप्त का 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त' डॉ गोविन्द त्रिगुणायत का 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' आदि अनेक सैद्धान्तिक समीक्षा के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तो का गम्भीर अध्ययन कर अनेक नई स्थापनाए भी की गई हैं।

उपसंहार

प्रस्तुत विवेचन इस बात का साक्षी है कि हिन्दी-आलोचना ने अत्यल्प काल मे आशातीत प्रगति की है; किन्तु आधुनिक आलोचना मे कुछ कमिया भी हैं जिनकी ओर आलोचको का ध्यान नही जा रहा है। डॉ गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दो म 'इस समय हिन्दी आलोचना के पास कोई ऐसा सर्वसम्मत मानदण्ड नही है जो साहित्य को आगे बढाने या ऊ चा उठाने मे अधिक योग दे सके। दूसरे कुछ आलोचको की शैली में ऐसी दुरूहता अस्पष्टता एव जटिलता आती जा रही है जो पाठक के दिमाग को स्पष्ट करने के स्थान पर उलझा देती है। वस्तुत यदि हिन्दी-आलोचना एक सर्व सम्मत मानदण्ड स्थापित कर सकी और यदि दुरूह आलोचक अपने विवेचन मे अस्पष्टता का परित्याग कर सके तो हिन्दी आलोचना और भी तीव्र गति से उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होगी।

: ८३ :

हिन्दी-गद्य की अन्य विधाएं

१. भूमिका
२ जीवनी-साहित्य का स्वरूप विकास
३ आत्मकथा का स्वरूप एव विकास
४ पत्र-साहित्य के गुण तथा विकास
५. गद्य-काव्य का स्वरूप एव विकास
६ रेखाचित्र का स्वरूप एव विकास
७ सस्मरण का स्वरूप एव विकास
८ रिपोर्ताज का स्वरूप एव विकास
९ उपसहार

भूमिका

उपन्यास, कहानी, निवन्ध, आलोचना, नाटक तथा एकाकी के अतिरिक्त आंग्ल-साहित्य के सम्पर्क के परिणाम-स्वरूप हिंदी मे अन्य वहुत सी गद्य-विधाएँ विकसित हो गयी हैं। जीवनी, आत्मकथा, पत्र-साहित्य, गद्य-काव्य, रेखाचित्र, सस्मरण तथा रिपोर्ताज ऐसी ही विधाए हैं जिनका आधुनिक रूप पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित है। यहाँ पर इन्ही विभिन्न गद्य-विधाओ के स्वरूप तथा विकास का विवेचन हमारा उद्देश्य है।

जीवनी साहित्य का स्वरूप एव विकास

साहित्य के विषय मे प्राय कहा जाता है कि वह समाज का प्रतिविम्व है। समाज का निर्माण मनुष्य से होता है। स्पष्ट है कि मनुष्य साहित्य का प्रमुख आकर्षण केन्द्र है। साहित्य-सर्जन भी मानव ही होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है मानव मानव के अध्ययन का विषय है। अग्रेजी के प्रसिद्ध कवि पोप ने ठीक ही तो कहा था—"The Proper Study of man is man" जैसा कि अभी वताया गया कि साहित्य का केन्द-विन्दु मानव है, किंतु साहित्य की कतिपय विधाएँ तो ऐसी हैं जो मुख्य रूप से मानव का ही अध्ययनन प्रस्तुत करती हैं। उदाहरण के लिये समग्र जीवनी साहित्य पर मानव-जीवन की वास्तविकता की गहरी छाप रहती है। यो तो कुछ ऐसे उपन्यास भी लिखे जा चुके हैं जो जीवनी-साहित्य के अधिक निकट हैं। उदाहरणार्थ चार्ल्स डिकिन्स का 'डेविड कापरफील्ड' हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'वाणभट्ट की आत्म कथा' सच्चिदानन्द हीरानद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का 'शेखर एक जीवनी'। इन उप-

न्यासों में उपन्यासकार का व्यक्तित्व कहीं तो स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता रहता है किन्तु फिर भी उपन्यास उपन्यास ही है और जीवनी जीवनी ही। इन दोनों के बीच मुख्य अन्तर यह कि उपन्यास में रचनात्मक कल्पना का कुछ अधिक पुट रहता है जबकि जीवनीकार कल्पना का प्रयोग तो करता है, किन्तु केवल सामग्री के संयोजन और प्रकाशन की विधि में। इस प्रकार जीवनीकार की कल्पना वास्तविकता से सीमित रहती है। साथ ही जीवनीकार उपन्यासकार की भांति सर्वज्ञता का भी दावा नहीं करता है। वह द्रष्टा के रूप में रहता है। वह अपने चरित्र नायक के बहुत से रहस्यों को जानता है किन्तु फिर भी वह उसके मन की सब बातों को पूरी दृढ़ता के साथ नहीं कह सकता है। अज्ञात विषयों के सम्बन्ध में वह अनुमान ही से काम लेता है।

जीवनीकार जिस व्यक्ति की जीवनी लिख रहा है उसकी छोटी-छोटी बातों पर भी उसे दृष्टि रखनी पड़ती है क्योंकि ये छोटी-छोटी बातें उसके व्यक्तित्व उद्घाटन वाली होती हैं। हंसी-मजाक चाबुक-टाने भूतप्रेत में विश्वास कपड़ों की लापरवाही अथवा अधिक परवाह सिगरेट या बीड़ी में किसको अधिक पसन्द करना पान या अन्य नशीली वस्तुओं के प्रतिमोह कंधों का हिलाना पलकों का जल्दी-जल्दी मारना सिर खुजलाना तेज चलना या धीरे चलना अथवा लम्बा कूब आदि को झुके हुए चलना आदि छोटी छोटी बातों का जीवनीकार के लिये बड़ा महत्त्व है। आंग्ल साहित्य में बोसवेल द्वारा लिखी गयी डॉ जॉनसन की जीवनी अत्यन्त उच्चकोटि की मानी जाती है। एक बार बोसवेल डॉ जॉनसन से मिलने गये उस समय डॉ जॉनसन के सामने नारंगी के कुछ छिलके पड़े हुए थे। बोसवेल को देखते ही डॉ जॉनसन नारंगी के उन छिलकों को बड़ी शीघ्रता के साथ एक तरफ रखे हुये लकड़ी के सन्दूक में फेंक दिया। बोसवेल ने डॉ जॉनसन की जीवनी में इस घटना को यथावत् अंकित कर दिया है। इससे डॉ जॉनसन के व्यक्तित्व के उद्घाटन में सहायता मिलती है और पता लगता है कि डॉ जॉनसन ऐसी स्थिति कभी नहीं आने देना चाहते थे जिससे उनके गौरव को धक्का लगे। वे यह नहीं चाहते थे कि उनके पास आने वाला व्यक्ति यह सोचे कि यह कैसा व्यक्ति है जिसके चारों ओर कूड़ा-करकट पड़ा है। कहने का अभिप्राय यह कि जीवनीकार ने जिस व्यक्ति को जीवनी के लिये चुना है उसकी दिनचर्या की छोटी-छोटी बातों पर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

जीवनी के साहित्यिक गुणों की चर्चा करते हुये बाबू गुलाबराय ने लिखा है—"जीवनी घटनाओं का अंकन नहीं वरन् चित्रण है। वह साहित्य की विधा है और उसमें साहित्य और काव्य के सभी गुण हैं। वह एक मनुष्य के अन्तर और बाह्य स्वरूप का (अर्थात् आपा या पर्सनेलिटी का) कलात्मक निरूपण है जिस प्रकार चित्रकार अपने विषय का एक ऐसा पक्ष पहचान लेता है जो उसके विभिन्न पक्षों में ओत-प्रोत रहता है और जिसमें नायक की सभी कलाएँ और छटाएँ समन्वित हो जाती हैं उसी प्रकार जीवनीकार अपने नायक के मर्म की कुंजी समझकर उसके आलोक में सभी घटनाओं का चित्रण करता है इस विषय में भी रामनाथ सुमन का कथन है—"जीवनी की घटनाओं के विवरण का नाम जीवनी नहीं है। लेखक वहाँ नायक के जीवन में छिपे उसके विकास के उसके व्यक्तित्व के रहस्य को उसकी मुख्य जीवन-धारा

को खोलकर पाठको के सामने रख देता है वहा जीवनी-लेखन, कला सार्थक होती है। ऊपर से दिखाई पडने वाले रूप को दिखाकर ही जीवनी-लेखन-कला सन्तुष्ट नही होती, वह उस आवरण को भेदकर अन्त स्वरूप और आन्तरिक सत्य को प्रत्यक्ष करती है।''

जीवनी की विशेषता इस बात मे है कि उसमे नायक का आपा (personality) पूर्ण रूप से उभर आये। जीवनीकार का कर्त्तव्य यह है कि न तो वह दरबारी कवियों की भाति नायक की प्रशसा के पुल बाँधता चला जाय और न ही निन्दको की भाँति बुराइयो को तिल का ताड बना दे। उसे सदैव आनुपातक दृष्टि रखने की आवश्यकता है।

जीवनीकार के नायक मे त्रुटियो का होना सामान्य बात है, किन्तु उसका कर्त्तव्य यह है वह नायक के दोषो का इस प्रकार अनावरण करने न लग जाय कि वह उसके गुणो को विस्मृत ही कर बैठे। साथ ही जीवनीकार को अपने नायक की बुराइयाँ भी दबानी अथवा छिपानी नही चाहिए। मानव की दुर्बलताएँ भले ही उसका गौरव न हो किन्तु वे उसके व्यक्तित्व का परिचय अवश्य देती हैं। कहा जाता है कि राजकवि टेनीसन को विक्टोरिया की जुबली के अवसर पर दिनभर सिगरेट पीने को नही मिली तो उन्होने कही छिपकर सिगरेट पी। इस प्रकार की दुर्बलताओ का उद्घाटन मनुष्य को मनुष्य बनाये रखता है और उसके चरित्र मे मिथ्या देवत्व का भान नही होने देता। दोषो का वर्णन भी सहृदयता पूर्ण ढग से होना चाहिए। इस दृष्टि से प० बनारसीदास द्वारा लिखित कविवर सत्यनारायण जी की जीवनी अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की है।

जीवनी-लेखन मे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई अनावश्यक बात न आने पाये और न ही कोई आवश्यक बात छूट जाय। लिटनस्ट्रेची का कथन है—
"A brevity that excludes ererythings that is redundant and leaves nothing that is significant

स्ट्रेची ने जीवन-लेखन का दूसरा गुण यह बताया है कि लेखक को अपनी स्वतन्त्रता न खो देनी चाहिए, किन्तु अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने का यह अर्थ कदापि नहीं कि जीवन-लेखक नायक के दोषो के अन्वेषण को ही अपना उद्देश्य मान बैठे। लेखक को सदैव इस बात का ध्यान होना चाहिए कि उसकी अपेक्षा नायक का महत्त्व अधिक है।

जीवनी मे शैली का बहुत अधिक महत्त्व है। बाबू गुलाबराय ने जीवनी-लेखन में शैली का स्थान निर्धारित करते हुए लिखा है—"शैली साधारण चरित्र-नायक की जीवनी को भी आकर्षक बना देती है। सफल जीवनी के लिए या तो चरित्र नायक इतना महान हो कि रामचन्द्र जी की भाँति उसका चरित्र ही काव्य हो और किसी का कवि बन जाना गुप्त जी के शब्दो मे 'सहज सभाव्य हो या लेखक महान् हो जिसके पारस-स्पर्श और कलम के जादू मे लोहा भी सोना हो जाय। डॉ० सूर्यकान्त जी शास्त्री ने पहले प्रकार के उदाहरण मे बौस वेल की लिखी हुई जॉनसन की जीवनी बताई है और दूसरे प्रकार में जॉनसन द्वारा लिखी हुई सेवेज की जीवनी' की ओर सकेत किया है। पहले का चरित्र नायक महान् था। जहाँ पर चरित्र नायक

और लेखक दोनों ही महान् हों वहाँ तो सोने मे सुगन्ध की बात ही हो जायगी। यह बात तो टैगोर गांधी और जवाहरलाल नेहरू के आत्मचरित्र मे ही पाई जाती है।

जीवनी-लेखक अपने चरित्र-नायक के अन्तर बाह्य स्वरूप का चित्रण कलात्मक ढंग से करता है। इस चित्रण में वह अनुपात और शालीनता का पूरा ध्यान रखता हुआ सहृदयता स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के साथ अपने चरित्र नायक के गुणदोषमय सजीव व्यक्तित्व का एक आकर्षक शैली में उद्घाटन करता है।

जीवनियों के मुख्यतः दो प्रकार हो सकते हैं। एक तो ऐसी जीवनियाँ जिनमें लेखक चरित्र नायक के गुण-दोषों का यथावत् वर्णन कर दे और पाठक अपनी रुचि के अनुकूल निष्कर्ष निकाल ले। दूसरी वे जीवनियाँ जिन्हें लेखक एक विशेष दृष्टिकोण से लिखता है। ऐसी जीवनियाँ ही अधिक मात्रा मे लिखी गयी हैं तथा लिखी जा रही हैं। प्रथम प्रकार की जीवनी कम ही देखने में आती है। बौसवेल द्वारा लिखित डॉ जॉनसन की जीवनी प्रथम प्रकार की जीवनियों का अच्छा उदाहरण है।

जहाँ तक जीवनियों के विकास का प्रश्न है उसकी परम्परा पर्याप्त प्राचीन है। पाश्चात्य देशों मे साहित्य की इस विधा की बड़ी प्रगति हुई है। यूनान में प्लूटार्क की जीवनियाँ ईसा की प्रथम शताब्दी ई पूर्व मे लिखी गयी थी। पाश्चात्य जगत् मे तो जीवनी की लेखन-कला के क्षेत्र मे भिन्न भिन्न प्रयोग भी हुए हैं। उदाहरणार्थ लुडविग ने नाइल नदी की जीवनी लिखी है। हिन्दी का जीवन-साहित्य पाश्चात्य देशों की अपेक्षा नवीन है। यहाँ जो प्राचीनतम जीवनियाँ उपलब्ध होती हैं उनमे 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' भक्तमाल तथा प्रियादास द्वारा उसकी टीका प्रमुख हैं। अश्वघोष का 'बुद्ध चरित' आदि कुछ प्राचीन चरित काव्य भी मिलते हैं किन्तु इनमे कवित्व प्रधान हो गया है। वार्ताओं मे साम्प्रदायिकता की भावना अधिक है। महात्मा तुलसी के भी दो पद्यमय जीवन निकले थे किन्तु आज उन्हें अप्रमाणिक माना जाता है।

आधुनिक युग मे कई जीवनियाँ लिखी गयी हैं। बनारसी दास चतुर्वेदी द्वारा लिखित प सत्यनारायण की जीवनी का उल्लेख पहले हो ही चुका है। ब्रजरत्नदास ने 'भारतेन्दु' नाम से भारतेन्दु जी की जीवनी ही नही लिखी वरन् उसम उन्होंने उनके साहित्य का भी विवेचन किया है। इनके अतिरिक्त जीवनी और संस्मरण-साहित्य म श्री घनश्याम दास बिड़ला का बापू श्री श्यामनारायण कपूर का भारतीय वैज्ञानिक श्री मन्नारायण अग्रवाल का सेगाँव का सन्त गौरीशंकर चटर्जी का हर्षवर्द्धन रूपनारायण पाण्डेय का 'सम्राट् अशोक' आदि पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आजकल जीवनी-साहित्य मे राजनीतिक नेताओं की जीवन-कथाओं को विशेष महत्त्व मिल रहा है। श्री सुभाषचन्द्र बोस के जीवन से सम्बन्धित बहुत सा साहित्य निकला है। मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद की भी जीवनी का हिन्दी अनुवाद प्रकाश मे आ चुका है। यात्रा की पुस्तकों मे महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के तिब्बत मे तीन वर्ष और सोवियत भूमि' तथा मौलवी महेश प्रसाद का 'मेरी ईरान यात्रा' आदि पुस्तकें मुख्य हैं।

को खोलकर पाठको के सामने रख देता है वहा जीवनी-लेखन, कला सार्थक होती है। ऊपर से दिखाई पडने वाले रूप को दिखाकर ही जीवनी-लेखन-कला सन्तुष्ट नही होती, वह उस आवरण को भेदकर अन्त स्वरूप और आन्तरिक सत्य को प्रत्यक्ष करती है।"

जीवनी की विशेषता इस बात मे है कि उसमे नायक का आपा (personality) पूर्ण रूप से उभर आये। जीवनीकार का कर्त्तव्य यह है कि न तो वह दरबारी कवियो की भाति नायक की प्रशसा के पुल बाँधता चला जाय और न ही निन्दको की भाँति बुराइयो को तिल का ताड बना दे। उसे सदैव आनुपातक दृष्टि रखने की आवश्यकता है।

जीवनीकार के नायक मे त्रुटियो का होना सामान्य बात है, किन्तु उसका कर्त्तव्य यह है वह नायक के दोषो का इस प्रकार अनावरण करने न लग जाय कि वह उसके गुणो को विस्मृत ही कर बैठे। साथ ही जीवनीकार को अपने नायक की बुराइयाँ भी दबानी अथवा छिपानी नही चाहिए। मानव की दुर्बलताएँ भले ही उसका गौरव न हो किन्तु वे उसके व्यक्तित्व का परिचय अवश्य देती हैं। कहा जाता है कि राजकवि टेनीसन को विक्टोरिया की जुबली के अवसर पर दिनभर सिगरेट पीने को नही मिली तो उन्होने कही छिपकर सिगरेट पी। इस प्रकार की दुर्बलताओं का उद्घाटन मनुष्य को मनुष्य बनाये रखता है और उसके चरित्र मे मिथ्या देवत्व का भान नही होने देता। दोषो का वर्णन भी सहृदयता पूर्ण ढग से होना चाहिए। इस दृष्टि से प० बनारसीदास द्वारा लिखित कविवर सत्यनारायण जी की जीवनी अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की है।

जीवनी-लेखन मे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई अनावश्यक बात न आने पाये और न ही कोई आवश्यक बात छूट जाय। लिटनस्ट्रेची का कथन है—"A brevity that excludes ererythings that is redundant and leaves nothing that is significant

स्ट्रेची ने जीवन-लेखन का दूसरा गुण यह बताया है कि लेखक को अपनी तन्मता न खो देनी चाहिए, किन्तु अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने का यह अर्थ :ापि नही कि जीवन-लेखक नायक के दोषो के अन्वेषण को ही अपना उद्देश्य मान ऽ। लेखक को सदैव इस बात का ध्यान होना चाहिए कि उसकी अपेक्षा नायक का हत्त्व अधिक है।

जीवनी मे शैली का बहुत अधिक महत्त्व है। बाबू गुलाबराय ने जीवनी-लेखन शैली का स्थान निर्धारित करते हुए लिखा है—"शैली साधारण चरित्र-नायक की ावनी को भी आकर्षक बना देती है। सफल जीवनी के लिए या तो चरित्र नायक ःतना महान हो कि रामचन्द्र जी की भाँति उसका चरित्र ही काव्य हो और कसी का कवि बन जाना गुप्त जी के शब्दो मे 'सहज सभाव्य हो या लेखक हान् हो जिसके पारस-स्पर्श और कलम के जादू से लोहा भी सोना हो जाय। डॉ० पूर्यकान्त जी शास्त्री ने पहले प्रकार के उदाहरण मे बौस वेल की लिखी हुई जॉनसन की जीवनी बताई है और दूसरे प्रकार मे जॉनसन द्वारा लिखी हुई सेवेज की जीवनी की ओर सकेत किया है। पहले का ... नायक महान् था। जहाँ पर चरित्र नायक

इस क्षेत्र में गोस्वामी जी का प्रयास अधिक सफल हुआ। उनकी जीवनी से पता चलता है कि गोस्वामी जी को अपने स्वतन्त्र विचारों के लिए अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा था। उनके पिता ने भारतेन्दु जी से मिलने के लिए उन्हें मना कर रखा था क्योंकि उनके पिता भारतेन्दु जी को नास्तिक समझते थे। एक बार वे भारतेन्दु जी से मिलने के लिए आधी रात को घर से निकले और इसके लिए उन्हें अपने दरबान को रिश्वत भी देनी पड़ी थी। सदानन्द द्वारा लिखित कल्याण मार्ग के पथिक का भी विशेष सम्मान है। भाई परमानन्द जी की लिखी हुई आप बीती एक साहसपूर्ण जीवन के घात-प्रतिघातों की कहानी है। वियोगी हरि की आत्मकथा 'मेरा जीवन प्रवाह' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है। देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद जी की आत्मकथा सच्चे साधक की आत्मोन्नति के कण्टकाकीर्ण पथ की क्रमशील गाथा का वर्णन है।

पत्र-साहित्य के गुण तथा विकास

पत्र वस्तुतः एक प्रकार से आत्मकथा के ही समानापन्न हैं। अन्तर केवल इस बात में है कि आत्म कथा में व्यक्ति का इतिहास रहता है जबकि पत्रों में आत्म कथा जैसी सम्बद्धता नहीं मिलती। पत्र-साहित्य का महत्त्व बतलाते हुए गुलाब राय जी ने लिखा है कि पत्रों के द्वारा हमको लेखक के सहज व्यक्तित्व का पता चल जाता है। उसमें हमको बने-ठने सजे-सजाये मनुष्य का चित्र नहीं वरन् एक चलते-फिरते मनुष्य का स्नैप-शाट (Snap Shot) मिल जाता है लेखक के वैयक्तिक सम्बन्ध उसके मानसिक और बाह्य संघर्ष तथा उसकी रुचि और उस पर पड़ने वाले प्रभावों का हमको पता चल जाता है। पत्रों में कभी-कभी तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक या साहित्यिक इतिहास की झलक भी मिल जाती है। आत्मकथा की भाँति कुछ पत्रों का महत्त्व उनके विषय पर निर्भर रहता है कुछ का शैली पर किन्तु पत्रों के विषय और शैली दोनों ही महत्त्वपूर्ण हो तो वे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बन जाते हैं।

यह तो ठीक है कि पत्र-लेखक पत्र किसी एक व्यक्ति को लिखता है किन्तु फिर भी वे सर्व-साधारण के मनोरञ्जन के साधन बन सकते हैं। पत्रों में पत्र-लेखक के व्यक्तित्व की छाप साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा कहीं अधिक रहती है। पत्रों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह होती है कि पत्र लेखक पत्रों को कभी सोचकर नहीं लिखता। वह कभी यह विचार नहीं करता कि जिस व्यक्ति के लिए पत्र लिखा गया है उसके अतिरिक्त कोई अन्य भी उसे पढ़ेगा। इसीलिए पत्र-लेखन में सचेतन कला का अभाव रहता है किन्तु फिर भी कुछ लोग ऐसे सिद्धहस्त होते हैं कि उनके द्वारा किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न न किये जाने पर भी उनके लेखों में अतीव साहित्यिकता आ जाती है।

जो बात हम साहित्य की अन्य विधाओं में पाते हैं वही पत्रों में भी। साहित्य की विभिन्न विधाओं में लेखक अपने हृदय की उमंग को अभिव्यक्ति प्रदान करता है और इस प्रकार वह अपनी उमंग अथवा उत्साह को अपने पाठक तक संचरित कर देता है। पत्र में भी लेखक अपने हृदय की सचाई पेश करता है। वस्तुतः यदि वह ईमानदार है, यदि उसकी लेखनी में कुछ भी शक्ति है तो वह अपनी सचाई में सफल हो जायेगा और उसके द्वारा लिखे गये पत्र साहित्य का रूप धारण कर लेंगे।

आत्मकथा का स्वरूप एव विकास

आत्मकथा तथा जीवनी मे कुछ भिन्नता होती है। आत्मकथा-लेखक जितना अपने विषय मे जान सकता है। उतना जीवनी लेखक अपने चरित नायक के विषय मे नही। आत्मकथा लिखने मे पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता पडती है। आत्मकथाकार का यह कर्त्तव्य है कि वह आत्मश्लाघा के चक्कर मे पडकर आत्मकथा को अपने गुणो ही गुणो से आपूरित न कर दे और न ही वह आत्म-प्रकाश मे शील-सकोच दिखाए। उसे बडे ही शुद्ध हृदय से अपने विषय मे सब कुछ साफ-साफ कह देना चाहिए। आत्मकथा-लेखन के विषय मे अब्राहम काउली का विचार है—"किसी आदमी को अपने बारे मे खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी क्योकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमे बुरा मालूम होता है और अगर हम अपनी तारीफ करें तो पाठक को उसे सुनना नागवार मालूम होता है।'

आत्मकथा कई प्रकार से लिखी जा सकती है—सम्बद्ध रूप मे, जैसे, महात्मा गाधी की आत्म कथा या डॉ० श्यामसुन्दरदास की आत्म कहानी, अथवा स्फुट निबन्धो के रूप मे, जैसे, सियारामशरण के 'बाल्यस्मृति' आदि 'झूठ-सच' के कुछ लेख। निराला जी ने 'कुल्ली भाट' की जीवनी के सहारे अपनी आत्मकथा का भी कुछ अश अस्पष्ट रूप से दे दिया है, किन्तु वस्तुत यह कहानी की कोटि मे ही आयेगी। महादेवी जी के 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नाम की कृतियो के लेख वास्तव मे आत्मकथा और निबन्ध के बीच की विधाए हैं। इनमे घटना का अश थोडा और उससे सम्बन्वित भाव और विचार कुछ अधिक मात्रा मे हैं। इनमे आत्म कथा का भी अश केवल इतना ही है कि उससे सम्बन्धित भाव और विचार कुछ अधिक मात्रा मे हैं। श्यामसुन्दरदास की जीवनी अत्यन्त सुगठित है।

हिन्दी मे जो सबसे पहली आत्मकथा मिलती है वह अकबर के समकालीन जैन कवि बनारसीदास की आत्मकथा है जो 'अर्द्ध कथानक' नाम से कविता मे लिखी गयी है। इसमे उन्होने अपनी बुराइयो और दुर्बलताओ का बिना किसी सकोच के उद्घाटन किया है—

"भयो बनारसिदास तन, कुष्ट रूप सरब ग।
हाड-हाड उपजी व्यथा, केस रोम भुव-भग॥
बिस्फोटिक अगणित भये, हस्त चरन चौरग।
कोऊ नर साला ससुर, भोजन करइ न सग॥
ऐसी असुभ दशा भई, निकट न आवै कोइ।
सासू और विवाहिता, करहिं सेव तिय दोइ॥
जल भोजन को लेहि सुख, देहि आनि मुख माहि।
ओखद ल्यावहि अग मे, नाक मूँदि उठि जाहि॥"

आगरा मे तेल की कचौडी उधार लेकर खाने की बात भी उन्होने लिखी है। भारतेन्दु-युग मे भी आत्मकथा-साहित्य का कुछ विस्तार हुआ। प० प्रतापनारायण मिश्र ने अपनी आत्मकथा लिखनी प्रारम्भ की थी, किन्तु वह अधूरी ही रह गयी।